खोज करके पता लगाया है कि सृष्टि विभिन्न गैसों तथा ठोस पदार्थों के मिश्रण से बनी है। सृष्टि में ऐसे 108 मौलिक तत्त्व (Elements) हैं जिनकी खोज हो चुकी है। वैज्ञानिकों ने इन मौलिक तत्त्वों को भी टुकड़े कर इनकी रचना को समझने की चेष्टा की है। ये मौलिक तत्त्व भिन्न-भिन्न परमाणुओं से बने हैं। परमाणु पदार्थ के उस कल्पनातीत छोटे भाग को कहते हैं जिसके फिर टुकड़े नहीं हो सकें। किन्तु वैज्ञानिकों ने परमाणु के भी टुकड़े कर डाले और तब एक नवीन रहस्य का
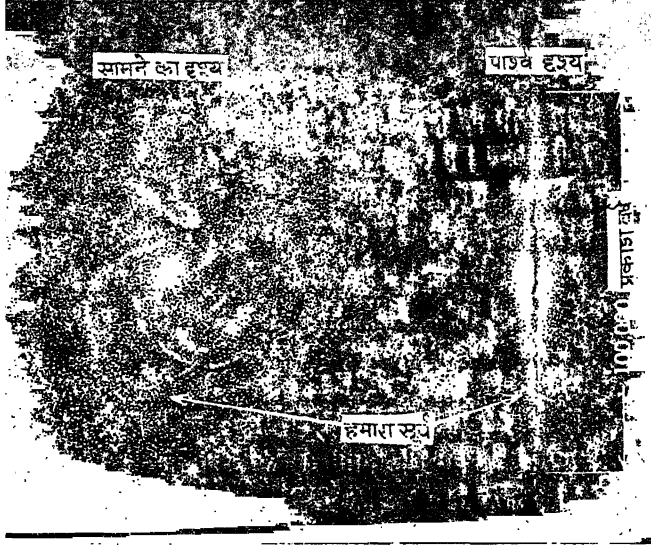
चित्र 5—आकाश-गंगा में सूर्य की स्थिति

पता चला। परमाणु में बड़ी भारी विद्युत-शक्ति निहित होती है जो उसे तोड़ने पर प्राप्त होती है। जिस प्रकार विद्युत में धनात्मक (Positive) और ऋणात्मक (Negative) दो तत्त्व होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक परमाणु में भी दो तत्त्व होते हैं। एक धनात्मक नाभिकण (Proton) और दूसरे विद्युतकण (Electron) होते हैं। इनमें नाभिकण केन्द्र में बड़े वेग से घूमते हुए विद्युत कणों को सतत् अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक परमाणु अपने आप में एक-एक ब्रह्माण्ड है। जिस प्रकार असीम अन्तरिक्ष में अरबों-खरबों सूर्य ग्रहों, उपग्रहों को अपनी ओर आकर्षित करते हुए ब्रह्माण्ड में चक्कर लगा रहे हैं उसी प्रकार सूक्ष्म सृष्टि में ये नाभिकण विद्युत कणों को आकर्षित करते हुए सतत् चक्कर काट रहे हैं।

उपरोक्त विश्लेषण के बाद अब यह स्पष्ट है कि अन्तरिक्ष या अखिल विश्व या सृष्टि अथवा यूनीवर्स किसी एक वस्तु का नाम नहीं है अपितु जो कुछ भी स्थूल अथवा सूक्ष्म पदार्थ इस विराट शून्य में हमें दृष्टिगोचर होते हैं उन सबके समुच्चय को ही सृष्टि अथवा अन्तरिक्ष की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः यह सृष्टि बड़ी अचरज भरी है। इसको पूरी तरह समझ पाना मानव बुद्धि के परे की बात है फिर भी आज से हजारों वर्ष पूर्व ऋग्वेद के दृष्टा ऋषियों ने सृष्टि के सम्बन्ध में यह कहकर कि 'अरगोर रगीयान महतो महीयान' अर्थात सृष्टि विशाल से विशाल और सूक्ष्म से सूक्ष्म है, रहस्य का उद्घाटन कर दिया था। इसके आगे आज के मानव भी कुछ कह सकने में असमर्थ हैं। वैज्ञानिकों ने इस सृष्टि में दूर तक झाँकने की चेष्टा की है किन्तु इसका ओर-छोर बताने में कोई समर्थ नहीं हो सका है। वस्तुतः यह सृष्टि अनादि है, असीम है और अनन्त है।

है उसे हम अपना सौर मण्डल कहते हैं। इस सौर मण्डल में पृथ्वी सहित नौ ग्रह हैं, ग्रहों के कई उपग्रह हैं, हजारों क्षुद्रग्रह हैं, असंख्य उल्काएँ हैं तथा अनेक पुच्छलतारे और नीहारिकाएँ हैं। गुरुत्वा-

चित्र 6—सौर मण्डल के ग्रहों का तुलनात्मक आकार और उनकी दूरी
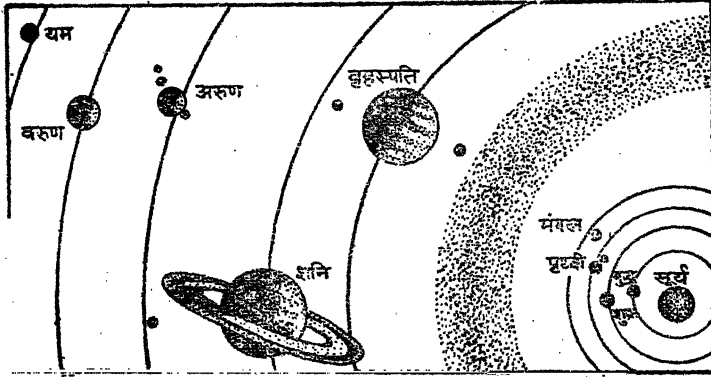
कर्षण शक्ति के कारण ये सब अपने परिवार से बँधे हुए हैं। सूर्य इन सबका केन्द्र है। ये सब सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाते हैं। इस प्रकार सूर्य और उसके ग्रहों, उपग्रहों, क्षुद्रग्रहों, उल्काओं, पुच्छलतारों और नीहारिकाओं के परिवार को ही सौर मण्डल कहा जाता है। इस सौर मण्डल का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :

सूर्य (Sun)

सूर्य एक विशालकाय प्रज्ज्वलित तारा है। सूर्य कितना बड़ा है इसका पूर्ण रूप से अनुमान करना बड़ा कठिन है। गणितज्ञों का कहना है कि सूर्य पृथ्वी के वजन से 3,30,000 गुना अधिक है। सूर्य के समस्त ग्रह-उपग्रह उसके अन्दर भर दिये जाएँ तो भी सब मिलकर इस महान पिण्ड का 1/100वाँ भाग ही भर सकेंगे। इस महान पिण्ड के सामने पृथ्वी का पिण्ड तो नहीं के बराबर है। सम्पूर्ण पृथ्वी सूर्य के 13 लाखवें भाग के बराबर है। सूर्य का व्यास लगभग 14,00,000 किलोमीटर है जो पृथ्वी के व्यास से 109 गुना ज्यादा बड़ा है। अर्थात अगर ऐसी ही एक सौ नौ पृथ्वियाँ रखी जाएँ तो सूर्य के एक सिरे से दूसरे सिरे तक आ जाएँ। परन्तु सूर्य इतना ठोस नहीं है जितनी कि पृथ्वी। इसका संगठन अधिकतर वाष्पीय है इसलिए इसकी सघनता पृथ्वी की सघनता की एक-चौथाई है। अतः सूर्य की तोल हमारी पृथ्वी से 13 लाख गुनी न होकर केवल 3 लाख 30 हजार गुनी है। यदि सूर्य पृथ्वी की भाँति ठोस होता
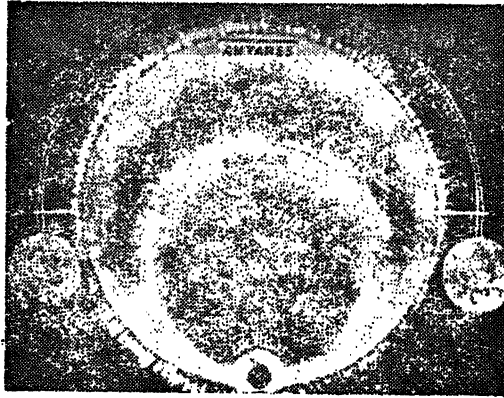
चित्र 7—सूर्य का तुलनात्मक आकार

तो इसका आकार वर्तमान आकार का केवल एक-चौथाई भाग मात्र रहता। यह जानकर आश्चर्य होगा कि 2 अंक पर 27 शून्य रखने पर जितने टन होते हैं, उतना सूर्य का वजन है। अपने महान आकार के कारण सूर्य की आकर्षण शक्ति पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से 28 गुनी अधिक है। पृथ्वी

कक्षा छोटी है। इसका एक वर्ष 225 वर्ष के बराबर होता है और इसका दिन 23 घण्टे 21 मिनट का। पृथ्वी की तरह शुक्र पर भी वायुमण्डल है, इसमें बादल भी उठते हैं जिसके कारण उस पर कभी-कभी हल्के रंग के भद्दे धब्बे दिखाई पड़ते हैं। शुक्र का कोई उपग्रह नहीं है।

(3) **पृथ्वी** (Earth)—इसकी उत्पत्ति सूर्य से हुई है। अतः यह सौर-परिवार का ही अंग है। यह सूर्य के नौ ग्रहों में से एक है। इसकी आकृति गोलाकार है। अन्य ग्रहों के समान इसकी भी एक अण्डाकार कक्षा (Orbit) है जिस पर यह घूमती है। अपनी कक्षा पर घूमते हुए यह सूर्य का एक वर्ष में चक्कर लगाती है। कक्षा पर आगे बढ़ने के साथ-साथ यह अपनी धुरी पर भी घूमती है। धुरी पर घूमने में इसको एक दिन लगता है। इसका दिन 24 घण्टे का और वर्ष 365 दिन का होता है। पृथ्वी का व्यास 12,872 किलोमीटर है। व्यास की दृष्टि से बृहस्पति पृथ्वी से 11 गुना, शनि 9 गुना, अरुण 4 गुना, शुक्र लगभग समान और बुध आधा है। यदि सूर्य
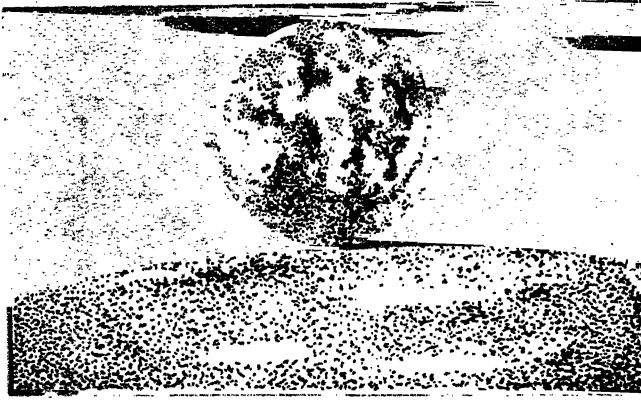
चित्र 10—अन्तरिक्ष में हमारी पृथ्वी

को हम एक बड़ी नारंगी मान लें तो पृथ्वी आलपिन के सिर के बराबर ठहरेगी। अनुमान है कि पृथ्वी की तोल 5,920 शंख क्विण्टल है। यदि पृथ्वी का वजन 1 किग्रा मान लिया जाय तो उस अनुपात से सूर्य का वजन 2,960 क्विण्टल होगा। इसी पैमाने से बृहस्पति 2 75 क्विण्टल, शनि 77·45 किलोग्राम, शुक्र 758 ग्राम, मंगल 87 ग्राम, बुध 525 ग्राम और चन्द्रमा 12 ग्राम का होगा। पृथ्वी की रचना सूर्य से अलग होकर पदार्थ के धीरे-धीरे ठण्डे होने से हुई है। फलस्वरूप इसमें स्वयं में कोई प्रकाश नहीं है। यह प्रकाश और गर्मी सूर्य से ही प्राप्त करती है। पृथ्वी की सबसे बड़ी विशेषता इसका वायुमण्डल है जो मंगल को छोड़कर अन्य ग्रहों पर नहीं है। सौर-परिवार के ग्रहों में पृथ्वी को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी ऐसा उन्नत जीवन सम्भवतः नहीं है।

(4) **मंगल** (Mars)—यह दहकते हुए अंगारे के समान लाल चमकता हुआ दिखाई देता है। सूर्य से इसकी दूरी 2268·63 लाख किलोमीटर है। मंगल एक छोटा ग्रह है। इसका व्यास केवल 7014 किलोमीटर है जो चन्द्रमा से दुगुना है। यह अपनी कक्षा पर 68·7 दिनों में घूम जाता है, अतः यहाँ का एक वर्ष हमारे 2 वर्ष 22 दिन के बराबर होता है और इसका दिन $24\frac{1}{2}$ घण्टे का। मंगल पृथ्वी के 9वें भाग के बराबर है, अतः उसकी आकर्षण शक्ति पृथ्वी की अपेक्षा केवल एक-तिहाई ही है।

दूरबीन से देखने से ज्ञात हुआ है कि मंगल पर धरातल है। उस पर वायुमण्डल भी है। मंगल की सतह का अधिकांश भाग लाल दिखाई देता है। ज्योतिषियों का कहना है कि यह मरुभूमि है जो लाल दिखाई देती है। इस मरुभूमि प्रदेश में कहीं-कहीं हरी-हरी घाटियाँ दिखाई पड़ती हैं

(2) इसके द्वारा ग्रहों और उपग्रहों में गति का उत्पन्न होना भी सिद्ध नहीं होता।
(3) ग्रहों और उपग्रहों का बनना वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य सिद्ध नहीं हुआ है।
(4) कई आलोचक इस साध्य को काल्पनिक ही मानते हैं।
(5) यह साध्य अभी अपूर्ण है।

ओटो श्मिड की परिकल्पना
(Hypothesis of Otto Schimidt)

प्रसिद्ध रूसी विद्वान ओटो श्मिड ने सन् 1943 में काण्ट एवं लाप्लास के विचारों को आधार मानकर सौरमण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक नवीन मत का प्रतिपादन किया। श्मिड ने गैस एवं धूल-कणों को सौरमण्डल की उत्पत्ति का आधार मानकर अपनी परिकल्पना को चार भाषणों में प्रकट किया। बी० लेविन ने इसका संक्षिप्त वर्णन अपनी पुस्तक 'The Origin of the Earth and Planets' में किया है।

चित्र 28—कणों के संगठित होने से ग्रहाणुओं का निर्माण

श्मिड का कहना है कि ब्रह्माण्ड में पर्याप्त मात्रा में धूल-कण एवं गैसीय पदार्थों के पुंज बिखरे हुए देखे जाते हैं। धूल एवं गैस के ये धुँधले मेघ बहुत सम्भव है उल्काओं से बने हों अथवा तारों से निःसृत परमाणुओं के घनीभूत हो जाने से बने हों। श्मिड की मान्यता है कि प्रारम्भ में जब सूर्य आकाश-गंगा के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के समीप होकर गुजर रहा था तो उसने कुछ गैस एवं धूल-कण अपनी ओर आकर्षित कर लिये। गैस एवं धूल-कणों का यह मेघ आवरण बाद में सूर्य की परिक्रमा लगाने लगा। प्रारम्भ में इस मेघ के भिन्न-भिन्न आकार के कण एक झुण्ड के रूप में सूर्य का चक्कर अव्यवस्थित रूप से लगा रहे थे। इनके मार्ग भी पृथक-पृथक और अनिश्चित थे।

गैस धूल-पुंज में गैस हल्की और अल्प मात्रा में थी और धूल कण अधिक मात्रा में और भारी थे। इस कारण धूल-कणों की अव्यवस्थित गतियाँ गैस कणों से कम थीं। फलस्वरूप धूल-कण मेघ के केन्द्रीय तल के निकट एकत्रित होते गये और घनीभूत होकर उन्होंने एक विशाल चपटी तश्तरी का रूप धारण कर लिया। गैस के कण प्रत्यास्थ (Elastic) रूप से टकराते हैं अतः उनकी गति मन्द नहीं होने पाती और वे घनीभूत नहीं हो पाते। इसके विपरीत धूल के कण अप्रत्यास्थ (Non-Elastic) रूप से टकराते हैं जिससे उनकी गति मन्द पड़ जाती है और वे संगठित होने लगते हैं। संगठित होने पर धूल-कण प्रथम अवस्था में ग्रहों के भ्रूण रूप (Embryos) बने और बाद में परिपक्व होकर क्षुद्रग्रहों (Asteroids) का रूप धारण कर लिया। ये क्षुद्रग्रह उस धूल की तश्तरी में उसकी दिशा के अनुरूप परिक्रमा लगाने लगे। सूर्य की परिक्रमा लगाते हुए इन क्षुद्रग्रहों ने बिखरे हुए पदार्थों को आकर्षित कर आत्मसात कर लिया, जिससे ये क्रमशः बड़े होते गये और ग्रह बन गये। ग्रहों के निर्माण के उपरान्त भी काफी पदार्थ अपरिपक्व अवस्था में शेष था। यह पदार्थ ग्रह के समीप होने से उनकी परिक्रमा लगाने लगा। कालान्तर में वह घनीभूत होकर उपग्रहों में परिवर्तित हो गया।

कोयला, सोना, लोहा एवं पेट्रोलियम तथा यूरोप में लोहा और ताँबे के भण्डार पाये गये हैं। इस कल्प के अन्तिम चरण में भू-पटल पर जल तथा स्थल के वितरण और जलवायु में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ, जिससे पृथ्वी पर जीवों की प्राचीन जातियाँ विलीन हो गयीं और उनके स्थान पर नवीन जीवों का उद्भव हुआ। इस महाकल्प के दो भाग हैं—(क) प्राचीन पुराजीव महाकल्प, और (ख) नवीन पुराजीव महाकल्प।

(क) प्राचीन पुराजीव महाकल्प—इस महाकल्प के अन्तर्गत कैम्ब्रियन, ओर्डोविसियन और सिल्यूरियन कल्प सम्मिलित हैं।

चित्र 34—**प्राचीन पुराजीव महाकल्प का जीवन**

कैम्ब्रियन कल्प (Cambrian Period)—यह कल्प करीब 10 करोड़ वर्ष लम्बा था जो 50 करोड़ वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होकर 40 करोड़ वर्ष पूर्व तक रहा। भू-गर्भवेत्ताओं के अनुसार उषः महाकल्प में पृथ्वी के जन्म के बाद महाद्वीप और महासागरों का आविर्भाव हुआ। भू-पटल की गतियों से स्थल भागों पर पर्वतों का निर्माण हुआ। कालान्तर में स्थल समूह पर समुद्रों का अतिक्रमण हुआ। अनाच्छादन की शक्तियों से धरातल का अनवरत रूप से अपरदन होता रहा। फलस्वरूप इस कल्प में प्राचीनतम अवसादी शैलों का निर्माण हुआ। इस कल्प में बनी शैलें अधिक विस्तृत हैं। इस कल्प की शैलों में सर्वप्रथम चूने के पत्थर, बाद में बलुआ पत्थर तथा शेल और अन्त में चूने के पत्थर की पतली परत है। इन शैलों में बिना रीढ़ की हड्डी वाले बहुत ही निम्न श्रेणी के जीवाश्म पाये जाते हैं। भारत में इस कल्प की बनी शैलें पंजाब में स्पीता तथा कश्मीर में बारामूला में पायी जाती हैं।

ढेर लग गया हो। यह आकाश-गंगा उत्तरी आकाश में क्षितिज से क्षितिज तक फैली हुई है। इसका वृत्त दक्षिणी आकाश में जाकर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार आकाश-गंगा मेखला की तरह समूचे आकाश को दो बराबर भागों में बाँट देती है। यह अपनी पूरी लम्बाई तक एकसी चमक की नहीं है। 'हंस' तारा समूह से लेकर 'नराश्व' तारा समूह तक यह यह बहुत अधिक चमकीली है।

आकाश-गंगा की तुलना एक चौरस चकती से की गयी है जिसका व्यास एक लाख प्रकाश वर्ष और मोटाई पाँच हजार प्रकाश वर्ष है[1]। इस चकती के केन्द्र पर एक गाँठ के समान रचना है जिसे आकाश-गंगा का केन्द्रक (Nucleus) कहते हैं। असंख्य तारे इस केन्द्रक के चारों ओर चक्राकार भुजाओं में चक्कर लगा रहे हैं। इस आकाश-गंगा की लम्बाई लगभग 30 हजार पारसेक और चौड़ाई 15 हजार पारसेक[2] है। इस प्रकार इसकी लम्बाई चौड़ाई से अधिक है।
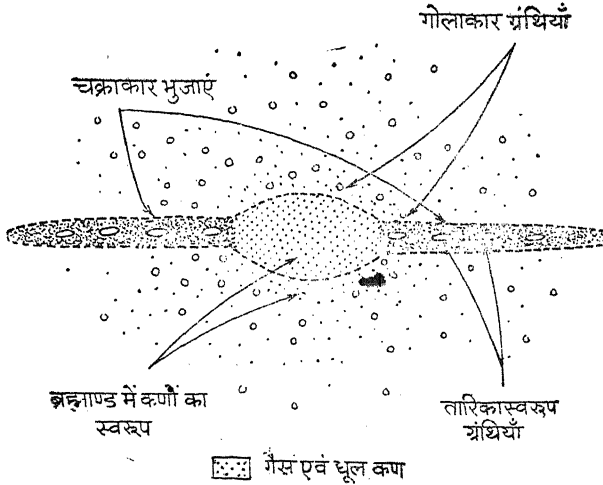
चित्र 4—आकाश-गंगा और उसकी नाभि

प्रसिद्ध वैज्ञानिक जेम्स जीन्स का अनुमान है कि हमारी आकाश-गंगा में तीन खरब तारे विद्यमान हैं। हमारा सूर्य एक साधारण तारे की भाँति आकाश-गंगा की एक भुजा पर स्थित है। विद्वानों का मत है कि इस सृष्टि में कोई स्थिर नहीं है। सूर्य जिसे हम स्थिर मानते हैं स्वयं आकाश-गंगा के केन्द्रक के चारों ओर 25 करोड़ वर्ष में एक परिक्रमा पूरी करता है। आकाश-गंगा के सभी तारे समान गति से परिक्रमा नहीं कर रहे हैं। केन्द्र के समीप वाले तारे दूर स्थित तारों की अपेक्षा तीव्र गति से परिक्रमा करते हैं। समूची आकाश-गंगा स्वयं अपने केन्द्र पर घूमती है और पचास करोड़ वर्ष में एक परिक्रमा पूरी करती है।

अन्तरिक्ष में नीहारिकाएँ द्वीपों की भाँति फैली हुई हैं। इसी कारण इन्हें विश्व-द्वीप के नाम से भी पुकारा जाता है। इन नीहारिकाओं में से कुछ निर्माणाधीन होती हैं। ऐसी नीहारिकाओं में तारे नहीं होते अपितु ये अरबों-खरबों किलोमीटर के बीच फैला हुआ गैस एवं धूल के कणों का समूह मात्र होता है। कुछ नीहारिकाएँ पूर्ण होती हैं। इनमें तारे, ग्रह, उपग्रह आदि बन चुके होते हैं। ये हमें दूरी के कारण धुँधले प्रकाश पुंज के सदृश्य दृष्टिगोचर होती हैं। हमारी आकाश-गंगा एक पूर्ण नीहारिका है। नीहारिकाओं के निर्माण से इस अन्तरिक्ष का उसी प्रकार विस्तार हो रहा है जिस प्रकार हवा भरने पर एक गुब्बारे का होता है। इसी कारण विश्व (universe) को वर्धिष्णु कहा जाता है। उपरोक्त विवरण से अब आप इस अन्तरिक्ष की अनन्तता और विराटता की सहज ही कल्पना कर सकते हैं।

पर आश्चर्य तो यह है कि सृष्टि जितनी विशाल है उतनी ही सूक्ष्म भी है। वैज्ञानिकों ने

---

1 Hytheeton, R. A., 'The Modern Universe', p. 143

2 अन्तरिक्ष में बड़ी-बड़ी दूरियों को नापने के माप को पारसैक कहा जाता है। एक पारसैक एक प्रकाश वर्ष की दूरी से 3·258 गुना बड़ा होता है।

(3) यदि हम जल और स्थल के पूर्व वितरण और बनावट को देखें तो यह ज्ञात होगा कि पहले पृथ्वी के ऊपर जल की मात्रा आज की तुलना में काफी कम थी।

(4) पूर्व-काल में गम्भीरसागरीय मैदानों (deep sea plain) के उन्मज्जन से महाद्वीप कभी नहीं बने। जब कभी नवीन द्वीप अस्तित्व में आये हैं, तो वे उथले महाद्वीपीय मग्नतट के ऊपर ही बने।

(5) समुद्रों में ज्वालामुखी उद्‌गार के समय पैठिक लावा (Basic lava) अर्थात बेसाल्ट चट्टानों से निर्मित लावा ही अधिक मिलता है। भूकम्प की लहरों के प्रमाण तथा आकर्षण-शक्ति के निरीक्षणों से भी यह प्रकट होता है कि महासागरों की तली भारी बेसाल्ट चट्टानों से बनी है। महाद्वीपीय चट्टानें इनकी तुलना में हल्की हैं। ऐसी दशा में यदि महासागरों की तली महाद्वीप का भाग बनाती हैं तो उसमें भारी रासायनिक और भौतिक परिवर्तन अवश्य होंगे।

(6) सन्तुलन सिद्धान्त के अनुसार हल्के महाद्वीपीय भागों का भारी सीमा के नीचे डूबना भौतिक रूप से असम्भव लगता है।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर भू-गर्भशास्त्रियों को यह विश्वास हो गया था कि महासागरीय द्रोणियाँ निश्चय ही स्थायी रही हैं। परन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महासागरीय द्रोणियों के स्थायित्व के सम्बन्ध में भू-गर्भशास्त्रियों एवं प्राणिकीविदों (Biologists) का विश्वास जाता रहा। उस समय प्राकृतिक चुनाव (natural selection) द्वारा जीवन विकास (organic evolution) का सिद्धान्त मान्य हो चुका था। अतएव जीव-जन्तुओं (organisms) के भौगोलिक वितरण का संसारव्यापी अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के फलस्वरूप कई ऐसे तथ्य सामने आये जिनको कि महासागरों के स्थायी होने के सिद्धान्त पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता था। उदाहरणत: अन्धे सर्प और कुछ विशेष जाति की तितलियाँ केवल दक्षिणी महाद्वीपों में ही पायी जाती हैं। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया का थैली वाला विशेष जीव (कंगारू) चिली में जीवित अवस्था में पाया गया तथा दक्षिणी अमरीका के अन्य भागों में उसके जीवाश्म (fossils) प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत उत्तरी गोलार्द्ध में इस जीव के कोई चिह्न नहीं मिलते। इन्हीं तथ्यों से प्रभावित होकर तथा महाद्वीपीय वहन की आलोचना के समाधान हेतु **ग्रेगरी** (J. W. Gregory) ने सन् 1929 में महाद्वीपों के बीच **स्थल सेतुओं** (Land bridges) की उपस्थिति का सुझाव रखा। उसने नयी और पुरानी दुनिया में वनस्पति और जीव-जन्तुओं के वितरण की व्याख्या हेतु कई स्थल सेतुओं पर विस्तार से विचार किया। उसने उत्तरी तथा दक्षिणी अन्ध महासागर की उत्पत्ति स्थल सेतुओं के अवतलन द्वारा ही मानी है।

चित्र 73—महाद्वीपों के बीच स्थल सेतु

प्रमाण

(1) उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में भ्रंशन तथा अवतलन के प्रमाण मिलते हैं। आइसलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में लावा प्रवाह भ्रंशन और अवतलन का ही परिणाम है। अन्ध महासागर

धरातल पर प्राप्त गर्मी में घनिष्ठ सम्बन्ध है। धरातल से सूर्य की जितनी अधिक ऊँचाई होगी; धरातल पर प्राप्त गर्मी भी उतनी ही अधिक होगी। क्योंकि धरातल से सूर्य की ऊँचाई के साथ ही सूर्य की किरणों द्वारा बनने वाला कोण निर्भर करता है। जब सूर्य धरातल के ऊपर ठीक लम्बवत् होता है तो किरणें सीधी पड़ती हैं और अधिक गर्मी देती हैं। परन्तु सूर्य की किरणें जब तिरछी पड़ती हैं तो कम गर्मी देती हैं। तिरछी किरणों से कम गर्मी प्राप्त होने के दो कारण हैं। पहला तिरछी किरणें सीधी किरणों की अपेक्षा धरातल के अधिक भाग को घेरती हैं, इसलिए उन्हें धरातल के अधिक भाग को गरम करना पड़ता है। दूसरा, तिरछी किरणों को वायुमण्डल का अधिक भाग पार करना पड़ता है जिससे वायुमण्डल में उनकी अधिक गर्मी नष्ट हो जाती है। यह बात इस उदाहरण से और भी स्पष्ट है। गंगा नदी के डेल्टा में सूर्य की किरणें धरातल पर 21 दिसम्बर को 45° और 21 जून को 90° का कोण बनाती हैं। दूसरे शब्दों में, कलकत्ता के आसपास के भाग में

चित्र 79—वायुमण्डल द्वारा नष्ट गर्मी

21 दिसम्बर को 21 जून को प्राप्त होने वाली गर्मी की 70 प्रतिशत गर्मी ही प्राप्त होती है।[1] इस तरह तिरछेपन के साथ किरणों की शक्ति घटती जाती है। वायुमण्डल में नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा को **अंगोट** ने अपने ग्राफ में भली प्रकार स्पष्ट किया है।

(2) **दिन और रात की लम्बाई का अन्तर**—परिभ्रमण और परिक्रमण पृथ्वी की दो गतियाँ हैं। परिभ्रमण गति द्वारा पृथ्वी अपनी धुरी पर बराबर चक्कर लगाती है और परिक्रमण द्वारा वह अपने कक्ष (orbit) पर $66\frac{1}{2}°$ का कोण बनाती हुई सूर्य के चारों ओर घूमती है। इन गतियों के कारण ही पृथ्वी पर दिन-रात तथा ऋतु-परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दों में, इसका

चित्र 80—अक्षांश तथा दिन की लम्बाई

प्रभाव धरातल से सूर्य की ऊँचाई, मौसम तथा अक्षांश के अनुसार सूर्य प्रकाश के घण्टों (Duration of Sun-shine) पर होता है। अर्थात् भिन्न-भिन्न ऋतुओं में विभिन्न अक्षांशों पर दिन और रात की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है, जिसका प्रभाव पृथ्वी पर सूर्याभिताप की न्यूनाधिक मात्रा पर पड़ता है। किसी स्थान पर जितना ही सूर्य ऊँचा और अधिक देर तक चमकता है वहाँ उतना

---

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, pp. 372-73

अनुमान लगाया गया है कि कलंकों के घटते-बढ़ते रहने से धरातल पर पहुँचने वाली सूर्याभिताप की मात्रा में सौर-स्थिरांक (solar constant) की औसत से तीन प्रतिशत तक का अन्तर पड़

चित्र 83—सूर्य-कलंक और सूर्य-ताप

(6) पृथ्वी से सूर्य की दूरी—पृथ्वी की कक्ष जिस पर कि वह सूर्य की परिक्रमा करती है, गोल न होकर कुछ अण्डाकार है। अतः सूर्य से पृथ्वी की दूरी सदैव एकसमान नहीं होती। उपसौरिका (perhelion) की अपेक्षा अपसौरिका (aphelion) की दशा में सूर्य से पृथ्वी की दूरी अधिक होती है। अपसौरिका की अवस्था में पृथ्वी पर सूर्य से कम शक्ति प्राप्त होती है और उपसौरिका की दशा में अधिक। 21 जून को पृथ्वी से सूर्य की दूरी 9,40,00,000 मील रहती है और 22 दिसम्बर को यह दूरी 9,15,00,000 मील रहती है। अतः जून की अपेक्षा दिसम्बर में पृथ्वी पर प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा 7 प्रतिशत अधिक होती है। यही कारण है कि दक्षिणी गोलार्द्ध अपनी ग्रीष्मऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्मऋतु की अपेक्षा अधिक सूर्याभिताप प्राप्त करता है। किन्तु चूँकि उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्मकाल अधिक लम्बा होता है, इसलिए दोनों गोलार्द्धों में वर्ष-भर की अवधि में प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा लगभग समान होती है।

चित्र 84—पृथ्वी की सूर्य से दूरी और सूर्य-ताप

(7) धरातल का रंग—सौर-ताप के वितरण पर धरातल के रंग का भी प्रभाव होता है। जहाँ धरातल की मिट्टी काले अथवा गहरे रंग की होती है वहाँ वह अधिक सौर-ताप को ग्रहण करती है। इसके विपरीत हल्के रंग अथवा रंगहीन मिट्टी वाला धरातल अपेक्षतया कम ताप सोखता है।

(8) धरातल की प्रकृति—धरातल की प्रकृति भी सौर-ताप के वितरण को बहुत अधिक प्रभावित करती है। धरातल की कुछ वस्तुएँ सौर-ताप को अधिक प्रतिबिम्बित करती हैं और कुछ कम। अतः जिन भागों में प्रतिबिम्बन अधिक होता है वहाँ सौर-ताप की मात्रा कम रहती है और जहाँ प्रतिबिम्बन कम होता है वहाँ सौर-ताप की मात्रा अधिक होती है। यही कारण है कि साधारण मिट्टी वाला धरातल पथरीले एवं बर्फीले धरातल की अपेक्षा शीघ्र गरम हो जाता है क्योंकि पथरीले और बर्फीले भागों का धरातल चिकना और चमकदार होता है जो ताप को अधिक प्रतिबिम्बित करता है।

किन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि स्थानीय अथवा कालिक रूप से ऊँचाई के बढ़ने पर तापमान घटने की अपेक्षा बढ़ते जाते हैं। इस अवस्था को **ऋणात्मक ताप-पतन-दर** (negative lapse rate) कहा जाता है। इस अवस्था में नीचे अपेक्षाकृत ठण्डी वायु की परत और उसके ऊपर गर्म वायु की परत स्थित होती है। इस दशा को तापमान का प्रतिलोमन' (inversion of temperature) कहा जाता है। ट्रिवार्था महोदय के शब्दों में, 'The condition in which the colder air is nearer the earth and the warmer air is aloft, is called a temperature inversion.'[1]

चित्र 92—तापमान की विलोमता

तापमान के प्रतिलोमन की यह दशा अधिकांशतः धरातल के निकट पायी जाती है, परन्तु कई बार धरातल से कुछ सौ मीटर की ऊँचाई पर भी यह स्थिति देखी जाती है। सामान्यतः ऊँचाई पर होने वाला प्रतिलोमन अधिक स्थायी होता है जबकि धरातल के निकट होने वाला प्रतिलोमन अल्पकालिक होता है। इसका कारण यह है कि विकिरण द्वारा धरातल के निकट ठण्डी परत का शीघ्र लोप हो जाता है जबकि पार्थिव विकिरण के द्वारा ऊपरी गर्म परत को ठण्डा करने में काफी समय लग जाता है। तापीय प्रतिलोमन की दशा घाटियों, हिमाच्छादित प्रदेशों, ध्रुवीय प्रदेशों, मध्य अक्षांशो तथा गर्म एवं ठण्डी जलधाराओं के संगम स्थलों पर अधिक देखी जाती है।

तापमान की विलोमता के प्रकार
(Kinds of Inversion of Temperature)

(1) **धरातलीय विलोमता** (Surface Inversion)—साधारणतः समतापमण्डल के निचले तल तक ऊँचाई के अनुसार तापमान कम होता जाता है। परन्तु जब कभी जाड़े की स्वच्छ और शान्त रात्रि को धरातल बर्फ से ढक जाता है तो वायुमण्डल की निचली हवा कई सौ फुट तक ऊपरी हवा से अधिक शीतल हो जाती है। ऐसी दशा में वायुमण्डल की सामान्य दशा उल्टी हो जाती है। धरातल के निकट अधिक ठण्डी वायु और ऊपर अपेक्षतया उष्ण वायु रहती है। इस प्रकार वायुमण्डल के निचले भाग में ऊँचाई के अनुसार तापमान घटने के स्थान पर बढ़ने लगते हैं। वायुमण्डल में तापमान की स्थिति को ही तापमान की विलोमता (inversion of temperature) कहते हैं।

सामान्यतः तापमान की विलोमता शीतोष्ण कटिबन्ध के मैदानों में होती है परन्तु इसका स्पष्ट रूप पर्वतीय भागों में देखने को मिलता है। विकिरण द्वारा रात्रि को पृथ्वी का धरातल बहुत अधिक ठण्डा हो जाता है, किन्तु पहाड़ी सिरे और घाटियों से ढाल अपनी ऊँचाई के कारण और भी भयानक रूप से ठण्डे हो जाते हैं। इस कारण पहाड़ी सिरों और घाटियों के ढालों से लगी हुई वायु बहुत अधिक ठण्डी हो जाती है। परन्तु इसके विपरीत घाटियों के निचले भाग तथा मैदान में वायु इतनी अधिक ठण्डी नहीं होने पाती। घाटियों की वायु पहाड़ी ढालों की वायु की अपेक्षा गरम

---

1 Finch & Trewartha ; *Elements of Physical Geography.*

बाद जल और जल के बाद स्थल दिखाई पड़ता है, वायुदाब की पेटियों का बराबर बने रहना कठिन होता है। जल और स्थल की विभिन्नता से महाद्वीपों और महासागरों के तापमान में बड़ा अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अतः उत्तरी गोलार्द्ध में वायुदाब की पेटियों की अपेक्षा वायुदाब के अलग-अलग केन्द्र मिलते हैं।

पृथ्वी के गोले पर वायुदाब की जो सात पेटियाँ हैं उनमें से चार उच्चदाब की पेटियाँ हैं और तीन न्यून वायुदाब की। ये सब पेटियाँ जो समुद्र-तल पर दुनिया की औसत वायुदाब की अवस्थाएँ बताती हैं, निम्न हैं :

(1) **विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब की पेटी** (Equatoiial Low Pressure Belt)—इस पेटी का विस्तार विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° अक्षांशों तक पाया जाता है। किन्तु सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन होने के साथ-साथ इस पेटी का भी स्थानान्तरण होता रहता है जिससे इसकी स्थिति स्थायी नहीं रहती। भूमध्य रेखा पर वर्ष भर सूर्य लम्बवत् चमकता है और यहाँ दिन-रात भी सदैव एक समान होते हैं। अतः यहाँ वर्ष भर उच्च तापमान बना रहता है जिससे यहाँ हवाएँ गर्म होकर फैलती हैं और ऊपर उठती रहती हैं। फलस्वरूप यहाँ सदैव न्यूनदाब बना रहता है। वहाँ वायुमण्डल में अधिक आर्द्रता भी न्यूनदाब का कारण है। स्पष्ट है कि यह पेटी सीधी तापमान से सम्बन्धित है। इसीलिए इसे तापजन्य न्यून वायुदाब की पेटी (Thermally induced low pressure belt) कहा जाता है। इस पेटी में धरातल पर हवाओं में गति कम होने से वातावरण शान्त रहता है। इस कारण इस पेटी को डोलड्रम अथवा शान्त क्षेत्र (Doldrum or region of calm) कहा जाता है। धरातल से कुछ ऊँचाई पर इसके विपरीत पवन प्रवाह सक्रिय होता है और शान्त वातावरण भंग हो जाता है।

(2) **उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटियाँ** (Tropical High Pressure Belts)—दोनों गोलार्द्धों में 30° से 35° अक्षांशों के मध्य उच्च वायुदाब की पेटियाँ पायी जाती हैं। वस्तुतः

चित्र 102—धरातल पर वायुदाब की स्थायी पेटियाँ

इस भाग में शीतऋतु के दो महीनों को छोड़कर वर्ष भर ऊँचा तापमान बना रहता है। तापमान की अवस्थाओं के अनुसार यहाँ भी न्यून वायुदाब होना चाहिए था किन्तु इसके विपरीत

दाब और तापमान में यह परिवर्तन ध्रुव प्रदेश के भीतरी भागों को प्रभावित करते हैं। शीत-ऋतु में ध्रुवों की अपेक्षा उत्तरी यूरेशिया और उत्तरी अमरीका पर उच्च वायुदाब रहता है। बर्फ से ढका हुआ ग्रीनलैण्ड प्रदेश ध्रुव प्रदेश की अपेक्षा आर्कटिक प्रदेश में उच्च वायुदाब का स्थायी केन्द्र है। उत्तरी अन्ध महासागर में आइसलैण्ड (Iceland) और उत्तरी प्रशान्त में एल्यूशियन द्वीपसमूह (Alucian Ils) के न्यून वायुदाब केन्द्र उप-ध्रुवीय न्यून वायुदाब पेटी के विभिन्न भाग हैं।

वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन
(Seasonal Change of Pressure)

वायुदाब तापमान पर निर्भर है और तापमान सूर्य की ऊँचाई पर। आकाश में सूर्य की ऊँचाई ऋतुओं के अनुसार बदलती रहती है। इस कारण धरातल पर तापमान कभी भी स्थायी नहीं होता। तापमान सदा ऋतुओं के अनुसार बदलता रहता है। तापमान के इस परिवर्तन के कारण ही वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन होता है।

जिस प्रकार दैनिक तापमान अन्तर से वार्षिक तापान्तर महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार वायुदाब के दैनिक परिवर्तन से वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन अधिक महत्त्वपूर्ण है। वायुदाब के ऋतुवत् परिवर्तन के फलस्वरूप ही एक स्थान की वायु-राशि दूसरे स्थान को चलती है जिससे न केवल उस स्थान का वायुदाब ही बदल जाता है वरन् उस स्थान के मौसम पर भी अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता है।

वायुदाब के ऋतुवत् परिवर्तन को भलीभाँति समझने के लिए जनवरी और जुलाई के वायु-दाब मानचित्रों का ज्ञान आवश्यक है। इन मानचित्रों के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वायुदाब की पेटियाँ सूर्य के उत्तर और दक्षिण की ओर खिसकने के साथ ही साथ ऊपर-नीचे भी खिसकती रहती हैं। ग्रीष्मऋतु में जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है तो उत्तरी

चित्र 103—वायुदाब की पेटियों का खिसकना

गोलार्द्ध का अधिकतर भाग गरम हो उठता है। इस कारण विषुवत्‌रेखीय न्यून वायुदाब वाली पेटी कुछ उत्तर की ओर खिसक जाती है। इसी के अनुसार अन्य पेटियाँ भी कुछ ऊपर सरक जाती हैं। शीतऋतु में सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है। परिणामस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध ठण्डा और दक्षिणी गोलार्द्ध गरम हो जाता है। अतः विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब वाली पेटी इस समय कुछ दक्षिण को खिसक जाती है। इसके खिसकने के साथ-साथ अन्य पेटियाँ भी खिसक जाती हैं। वायुदाब की पेटियों के इस प्रकार स्थान परिवर्तन से भिन्न-भिन्न पेटियों की सीमा वाले प्रदेशों में

अतिरिक्त महाद्वीपों पर स्थल रचना की अनेक विभिन्नताओं तथा वार्षिक तापमान के अन्तर के कारण स्थायी हवाओं की व्यवस्था बड़ी उलट-पुलट हो जाती है जिससे हवा की पेटियों का खिसकना बहुत अधिक मालूम नहीं देता।

हवा की पेटियों के सूर्य के साथ ऊपर-नीचे खिसकने का जलवायु की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है। विशेष तौर पर उन भागों में जो भिन्न हवाओं और असमान तापमान वाली वायु-राशियों के बीच स्थित होते हैं। उदाहरणतः सन्मार्गी हवाओं और विषुवतरेखीय प्रशान्तमण्डल के बीच के भाग। ऐसे भागों में भिन्न ऋतुओं मे विपरीत वायु-राशियों का प्रभाव रहता है जिससे वहाँ होने वाला मौसम भी भिन्न-भिन्न होता है। प्रत्येक गोलार्द्ध में सामान्यतः ऐसे तीन प्रदेश मिलते हैं :

चित्र 110—**वायुदाब की पेटियों और हवाओं का सम्बन्ध**

(1) भूमध्य रेखा के दोनों ओर 5° अक्षांश से 15° अक्षांश के बीच का प्रदेश ऐसा ही है जो एक ओर भूमध्यरेखीय आर्द्र वायु और दूसरी ओर शुष्क सन्मार्गी हवाओं के बीच स्थित है। अतः ग्रीष्म में यहाँ विषुवतरेखीय प्रशान्तमण्डल से आर्द्र हवाएँ चलती हैं और जाड़े में शुष्क सन्मार्गी हवाएँ। इस प्रकार यहाँ एक आर्द्र और एक शुष्क मौसम होता है।

(2) 30° और 40° अक्षांशों के बीच के भाग पछुआ हवाओं और अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब के प्रदेश के बीच स्थित हैं। जब ग्रीष्म में सूर्य की किरणों का प्रभाव ध्रुव तक होने लगता है तो शुष्क अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब केन्द्र इन प्रदेशों के ऊपर फैल जाते हैं। इसके विपरीत जाड़ों में जबकि सूर्य दूसरे गोलार्द्ध में सीधा चमकता है तो यहाँ पछुवा हवाओं का प्रभाव रहता है। इस व्यवस्था के कारण यहाँ ग्रीष्म ऋतु शुष्क और जाड़ों की ऋतु तर होती है। पूर्वी भागों तथा महाद्वीपों के बीच के भागों में मानसून हवाएँ अवश्य इस व्यवस्था को भंग कर देती हैं। अतः इस पेटी के खिसकने का पूरा प्रभाव केवल समुद्रों तथा पश्चिमी तटों पर ही दिखाई पड़ता है।

(3) लगभग 60° और 70° अक्षांशों के बीच वाले प्रदेश तूफानी पछुवा हवाओं और ध्रुवीय हवाओं के बीच स्थित हैं। अतः इस प्रदेश में दोनों ही प्रकार की हवाओं का प्रभाव देखा जाता है। इस भाग में चक्रवात अधिक आते हैं। इस कारण यहाँ हवा की पेटी के खिसकने का प्रभाव कुछ प्रतीत नहीं होता। इन उच्च अक्षांशों में जाड़ों में ठण्डी ध्रुवीय हवाओं का जोर रहता है, किन्तु ग्रीष्म में उष्ण दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं का प्रभाव रहता है।

सामयिक हवाएँ (Peridoical Winds)

धरातल पर कुछ ऐसी हवाएँ चलती हैं जो सदैव एक ही दिशा में नहीं चलतीं। समय के अनुसार इनकी दिशा बदलती रहती है। अतः ये **सामयिक हवाएँ** (periodical winds) कहलाती हैं। इन पवनों के अन्तर्गत मानसून पवनें आती हैं।

उष्ण कटिबन्ध के बाहर 30° अक्षांशों के निकट उच्चदाब की पेटी स्थित है। यहाँ पर सदा ही हवाएँ ऊपर से नीचे उतरती रहती हैं। परिणामस्वरूप यहाँ कोई वर्षा नहीं होती। यह पूर्णतः शुष्क प्रदेश है। संसार के मुख्य-मुख्य मरुस्थल इसी भाग में पाये जाते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि वर्षा का सम्बन्ध ताप से अधिक है। इस कारण धरातल पर होने वाली अधिकतर वर्षा ग्रीष्म ऋतु में ही होती है। यही नहीं पृथ्वी के अधिकांश भागों में वर्षा का मौसम भी ग्रीष्म ऋतु में ही अधिक रहता है। किन्तु धरातल पर कुछ ऐसे भाग भी हैं जहाँ ग्रीष्म में कोई वर्षा नहीं होती। ग्रीष्म की ऋतु वहाँ शुष्क ऋतु होती है। ग्रीष्म की अपेक्षा जाड़े में वहाँ वर्षा के अनुकूल अवस्थाएँ पायी जाती हैं। ऐसे प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध के भूमध्य-सागरीय जलवायु वाले प्रदेश हैं। इन प्रदेशों में वर्षा हवाओं की दिशा पर निर्भर करती है। जाड़े की ऋतु में ये प्रदेश समुद्र से आने वाली आर्द्र पछुआ हवाओं के प्रभाव में रहते हैं। इस कारण जाड़े की ऋतु यहाँ वर्षा की ऋतु रहती है। ग्रीष्म की ऋतु में ये प्रदेश धरातली हवाओं के परिवर्तन के कारण सन्मार्गी हवाओं के प्रभाव में आ जाते हैं, जो केवल महाद्वीपों के पूर्वी भागों में ही वर्षा करती हैं। चूँकि ये हवाएँ न्यून ताप वाले क्षेत्रों की ओर चलती हैं इसलिए इनकी भाप ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है।

चित्र 122—उत्तरी गोलार्द्ध में वर्षा का वितरण

शीतोष्ण कटिबन्ध में संवहन का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ ध्रुवों से आने वाली शीतल वायु-राशि उष्ण प्रदेशों से आने वाली उष्ण वायु-राशि के सम्पर्क में आती है जिससे यहाँ अधिकतर वर्षा चक्रवातों और गर्त-चक्रों द्वारा होती है। यहाँ पर होने वाली वर्षा पूर्णतः चक्रवाती (cyclonic) कही जा सकती है।

शीतोष्ण कटिबन्ध पछुवा हवाओं के प्रवाह मार्ग में पड़ता है। अतः इन क्षेत्रों में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग अधिक वर्षा के प्रदेश हैं। जाड़े की ऋतु में पछुआ हवाएँ महाद्वीपों के भीतरी भागों तक नहीं पहुँच पातीं, क्योंकि इस ऋतु में भीतरी भाग उच्च दाब (high pressure) के क्षेत्र बने रहते हैं। गर्मी की ऋतु में वहाँ थोड़ी-बहुत वर्षा हो जाती है, पर सबसे अधिक वर्षा शीतकाल में ही होती है।

शीतोष्ण कटिबन्ध के बाहर ध्रुवीय प्रदेशों में निम्न ताप के कारण कोई वर्षा नहीं होती। ये पृथ्वी के अत्यन्त शीतल भाग हैं। अतः ताप की कमी से न तो यहाँ वायु में भाप की अधिक मात्रा ही पायी जाती है और न वाष्पीकरण ही होता है। अतः यहाँ कोई वर्षा नहीं होती। जाड़े की ऋतु में हिमपात (snowfall) अवश्य होता रहता है।

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट विदित होगी कि अधिक ताप के कारण जहाँ वाष्पीकरण अधिक होगा वहीं वर्षा अधिक होगी। इस प्रकार धरातल पर वर्षा की सही मात्रा वाष्पीकरण की मात्रा पर निर्भर करती है। वाष्पीकरण द्वारा धरातल से जितना जल वायुमण्डल में पहुँचता है उतना ही जल वर्षा द्वारा वायुमण्डल से धरातल पर आ जाता है। यह बात अगली तालिका से और भी स्पष्ट होती है।

वर्षा के अग्रलिखित विवरण के आधार पर हम बहुत संक्षेप में पृथ्वी के प्रत्येक गोलार्द्ध को चार भागों में बाँट सकते हैं :

वृष्टि द्योतक मानचित्रों का अध्ययन

वृष्टि द्योतक मानचित्रों के अध्ययन में दो बातों की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है :

(1) वर्षा अधिक, मध्यम, कम और बहुत कम भागों में बाँटी जाती है। अतः यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह स्थान इनमें से कौनसे भाग में आता है। वर्षा के इन विभागों का सामान्य विभाजक नियम यह है :

उष्ण कटिबन्ध में

(क) 80″ से ऊपर वाली वर्षा को भारी वर्षा (heavy rainfall) के अन्तर्गत गिना जाता है।

(ख) 40″ से 80″ तक की वर्षा मध्यम वर्षा (moderate rainfall) कहलाती है।

(ग) 15″ से 40″ तक की वर्षा कम अथवा अल्प वृष्टि (*light rain*) होती है।

(घ) 15″ से कम वर्षा बहुत कम (poor rain) गिनी जाती है। ऐसे भाग मरुस्थल होते हैं।

शीतोष्ण कटिबन्ध में

(क) 40″ से अधिक वर्षा वाले क्षेत्र भारी वर्षा (heavy rainfall) वाले क्षेत्र माने जाते हैं।

(ख) 25″ से 40″ तक वर्षा वाले भाग मध्यम वृष्टि वाले होते हैं।

(ग) 5″ से 20″ तक की वर्षा को कम वर्षा माना जाता है।

(घ) 5″ से कम वर्षा बहुत ही कम वर्षा (poor rain) में शामिल की जाती है।

(2) वृष्टि द्योतक मानचित्रों के अध्ययन के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वर्षा किस ऋतु में अधिक होती है। वनस्पति के लिए गर्मी होना आवश्यक है। अतः कृषि की दृष्टि से गर्मी में होने वाली वर्षा अधिक लाभप्रद होती है।

यदि हम विश्व के वृष्टि द्योतक मानचित्र का अध्ययन करें तो निम्न बातें ज्ञात होंगी :

(1) भूमध्य रेखा से ज्यों-ज्यों ध्रुवों की ओर दूर हटते जाते हैं वर्षा निरन्तर कम होती जाती है।

चित्र 123—**संसार में वर्षा का वितरण**

(2) महाद्वीपों के भीतरी भागों की अपेक्षा समुद्रतटों पर अधिक वर्षा होती है।

झंझावात के समय आने वाली तेज हवाओं से यहाँ थोड़ी राहत मिलती है। निम्न अक्षान्तरों में समुद्र तटों के समीप समुद्री पवनें यहाँ की महत्त्वपूर्ण जलवायु घटना है। दिन को समुद्र से आने वाली शीतल हवा तटों के ऊपर रहने वाले लोगों के लिए वरदानस्वरूप होती है। यही कारण है कि उष्ण कटिबन्ध में महाद्वीपों के भीतरी भागों की अपेक्षा तटवर्ती भाग मानव निवास के अधिक अनुकूल होते हैं।

प्रतिनिधि क्षेत्र—उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु मुख्यतः दक्षिणी अमरीका में अमेजन बेसिन, अफ्रीका में कांगो बेसिन व गिनीतट और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के तटीय प्रदेशों (पूर्वी द्वीपसमूह और फिलीपाइन सहित) में पायी जाती है। कुछ परिवर्तित रूप में यह जलवायु ब्राजील के पवनाभिमुख पूर्वी तट, मध्य अमरीका, पश्चिमी द्वीपसमूह, मेडागास्कर द्वीप तथा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट पर कोलम्बिया में पायी जाती है।

उष्ण मानसूनी जलवायु
(Monsoon Rainforest Climate) [Am]

उष्ण मानसूनी जलवायु उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु का ही एक उपभाग है। इसमें उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु की अपेक्षा वार्षिक वर्षा की मात्रा अधिक होती है। किन्तु इसमें विषुवत रेखीय प्रदेशों की भाँति वर्षा का वितरण साल भर एक जैसा नहीं रहता। इसमें एक छोटी शुष्क ऋतु अवश्य होती है। वार्षिक वर्षा के वितरण की दृष्टि से यह सवाना प्रदेश से मिलती है, यद्यपि यहाँ वर्षा की मात्रा अधिक रहती है और शुष्क मौसम की अवधि भी ज्यादा लम्बी नहीं होती। इस जलवायु वाले भागों में अधिकतम वर्षा प्रायः ग्रीष्म में होती है जबकि मानसून जल से स्थल की ओर चलते हैं। यद्यपि यहाँ निश्चित शुष्क ऋतु होती है किन्तु फिर भी वर्षा इतनी अधिक होती है कि भूमि साल भर काफी नम बनी रहती है जिससे प्रचुर तथा सघन वनस्पति पैदा होती है। यहाँ प्रायः अधिकतम तापमान उस समय होते हैं जबकि भारी वर्षा वाले मौसम के प्रारम्भ होने के पूर्व आकाश स्वच्छ रहता है। इस प्रकार की जलवायु मुख्यतः उष्ण कटिबन्धीय दक्षिणी-पूर्वी एशिया के मानसून प्रदेशों और अफ्रीका के पश्चिमी गायना तट पर पायी जाती है।

चित्र 146

उष्ण मानसूनी जलवायु के प्रतिनिधि स्थान के जलवायु अंक
कोचीन (भारत)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	77·8	79·8	81·6	83·6	83·1	78·5	76·7	77·4
वर्षा	0·3	0·2	0·6	3·2	9·5	35·0	29·8	15·3

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	78·3	79·1	79·5	78·3	79·5	6·9
वर्षा	8·4	10·3	4·9	1·1	118·6	—

उष्ण सवाना जलवायु
(Tropical Savanna Climate) [Aw]

स्थिति तथा विस्तार—सवाना जलवायु उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु और शुष्क सहारा जलवायु के मध्य स्थित है। इनका विस्तार सामान्यतः विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° से 15° अक्षान्तर तक पाया जाता है परन्तु महाद्वीपों के पूर्वी भागों में ये 30° अक्षान्तर तक फैले हुए भी पाये जा सकते हैं, इस प्रकार ये प्रदेश एक ओर विषुवत रेखा के समीप डोलड्रम की आर्द्र और अस्थिर वायु-राशियों तथा दूसरी ओर उपोष्ण उच्च वायुदाब के क्षेत्रों की शुष्क और स्थिर वायु-राशियों के बीच आ गये हैं। इनके एक छोर पर निरन्तर आर्द्र और दूसरे छोर पर निरन्तर शुष्क जलवायु वाले प्रदेश हैं। अतः सवाना प्रदेश में दोनों ही जलवायु की विशेषताएँ पायी जाती है। विषुवतरेखीय भाग की ओर स्थित सवाना प्रदेश में भारी वर्षा होती है और शुष्क ऋतु छोटी होती है। तापमान और वनस्पति भी उष्ण विषुवत-रेखीय जलवायु से मिलती-जुलती होती है। किन्तु ध्रुवों की ओर बढ़ने पर वर्षा ऋतु छोटी होती जाती है, तापान्तर बढ़ता जाता है और वृक्षों के स्थान पर घास अधिकाधिक स्थान लेती जाती है।

चित्र 147

संसार में सवाना प्रदेश दक्षिणी अमरीका में ओरीनीको घाटी के लानोज (कोलम्बिया और वेनेजुएला), गायना के उच्च पठारी भाग, ब्राजील के कम्पाज, अफ्रीका में सूडान और वेल्ड (जेम्बेजी का ऊपरी बेसिन एवं जंजीबार बेसिन) तथा आस्ट्रेलिया के उत्तरी व भीतरी भाग में फैले हुए पाये जाते हैं।

तापमान—उष्ण विषुवत-रेखीय जलवायु और सवाना जलवायु में तापमान में बहुत अधिक विभेद नहीं मिलता। यहाँ लगातार ऊँचे तापमान बने रहते हैं। क्योंकि यहाँ मध्याह्न में सूर्य कभी भी तिरछा नहीं चमकता और रात-दिन की लम्बाई में भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ वार्षिक तापान्तर 5° से 15° तक रहता है। इस तापान्तर का प्रभाव यह होता है कि अधिक तापमान वाले महीने गरम तथा कम तापमान वाले महीने कम गरम होते हैं। गर्मियों में तापमान का औसत 80° फा० रहता है। मार्च, अप्रैल और मई गरम महीने होते हैं। शीतकाल का औसत तापमान 68° फा० होता है।

उष्ण सवाना प्रदेश के प्रतिनिधि स्थानों के जलवायु अंक

टिम्बो (Timbo) **फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका** (10° 40′ उ०)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	72	76	81	80	77	73	72	72
वर्षा	0·0	0·0	1·0	2·4	6·4	9·0	12·4	14·7

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	72	73	72	71	74	9·7
वर्षा	10·2	6·7	1·3	0·0	64·1	—

हवाएँ—भूमध्यसागरीय जलवायु की एक अन्य विशेषता यहाँ कई स्थानों पर चलने वाली स्थानीय हवाएँ हैं। भूमध्यसागरीय प्रदेश में उत्तरी अफ्रीका के मरुस्थलों में अत्यन्त गरम तथा शुष्क हवाएँ चलती हैं। ये बड़ी कष्टदायक होती हैं। इन्हें अल्जीरिया में **सिरोको**, स्पेन में **लेवेची** व मिस्र में **खामसिन** कहते हैं। जब ये हवाएँ ऊँचे पठार से उतरती हैं तो बहुत अधिक गरम और शुष्क हो जाती हैं। कभी-कभी तापमान को 45° सें० तक पहुँचा देती हैं। इसी प्रकार दक्षिणी फ्रांस में ठण्डी **मिस्ट्रल** व एड्रियाटिक प्रदेशों में **बोरा** हवाएँ चलती हैं। दक्षिणी अफ्रीका, चिली व आस्ट्रेलिया के भूमध्यसागरीय प्रदेशों में भी इसी प्रकार की हवाएँ चलती हैं।

चीन तुल्य अथवा आर्द्र-उपोष्ण जलवायु
(Humid Sub-tropical Climate) [Ca]

स्थिति—यह जलवायु भी उन्हीं अक्षांशों में स्थित है जिनमें भूमध्यसागरीय जलवायु पायी जाती है। यह जलवायु 30° से 45° अक्षांशों के बीच महाद्वीपों के पूर्वी तटों पर स्थित पायी जाती है। इसका सर्वाधिक विस्तार चीन में पाया जाता है। इसलिए इसको चीन तुल्य प्रदेश भी कहते हैं। चीन के अतिरिक्त इसका विस्तार कोरिया, दक्षिणी जापान, दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य अमरीका, दक्षिणी ब्राजील और यूरेग्वे तथा दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया के तटीय भागों में मिलता है।

मध्यवर्ती अक्षांशों में महाद्वीपों के पूर्वी किनारों की यह जलवायु पश्चिमी किनारों की भूमध्यसागरीय जलवायु से भिन्न है। इन भागों में सन्मार्गी हवाओं द्वारा समान रूप से वर्षा होती रहती है। ग्रीष्म में मानसून का प्रभाव रहता है। विषुवत रेखा की ओर यह जलवायु उष्ण एवं आर्द्र जलवायु में लुप्त हो जाती है और आर्द्र अवस्थाएँ पश्चिमी किनारे की अपेक्षा अधिक दूर तक पायी जाती हैं। ध्रुवों की ओर भूमध्यसागरीय जलवायु आर्द्र पश्चिमी तटीय समुद्री जलवायु में मिल जाती है, परन्तु आर्द्र उपोष्ण जलवायु महाद्वीपों के भीतरी भागों की शुष्क प्रकार की जलवायु में मिलती है।

तापमान—तापमान में यह जलवायु भूमध्यसागरीय जलवायु से मिलती-जुलती है। किन्तु इनके तटों पर गरम धाराएँ बहती हैं, इसलिए यहाँ कुहरे का अभाव रहता है। तटीय भाग गरम और आर्द्र बने रहते हैं। महाद्वीपों के भीतर की ओर जलवायु विषम हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु का औसत तापमान 75° से 80° रहता है। तटों के समीप तापमान कम रहते हैं जैसे दक्षिणी गोलार्द्ध में। अन्यत्र तापमान काफी ऊँचे रहते हैं, विशेषतः एशिया और उत्तरी अमरीका में। ग्रीष्म का औसत तापमान चार्ल्सटन में 81°, शंघाई में 80°, ब्रिस्बेन में 77°, डर्बन में 77° और ब्यूनसआयर्स में 74° रहते हैं। यहाँ दैनिक उच्चतम तापमान 100° से 110° तक पाये जाते हैं।

चित्र 150

यहाँ केवल तापमान ही ऊँचे नहीं होते, अपितु वायु की निरपेक्ष और सापेक्ष आर्द्रता भी अधिक होती है। इस प्रकार ग्रीष्म में

खुले समुद्रों में जल की लवणता
(Salinity in Open Seas)

भिन्न-भिन्न समुद्रों में जल की लवणता की भिन्नता के दो प्रमुख कारण हैं :

(1) ताजे जल का निरन्तर प्राप्त होते रहना।

(2) वाष्प बनने की क्रिया।

महासागरों में नमक का सबसे अधिक अनुपात (36%) कर्क और मकर रेखाओं के समीप पाया जाता है। इन रेखाओं के उत्तर और दक्षिण की ओर लवणता क्रमशः कम होती जाती है। अयनवृत्तीय भागों (tropical) में लवणता की अधिकता का कारण वाष्प बनने की तीव्रता है।

चित्र 168—समुद्र-जल की लवणता का वितरण

ये भाग अधिक वायुदाब की पेटियों में स्थित हैं। जहाँ आकाश सदा स्वच्छ रहता है और सूर्य की किरणें बड़ी प्रखर होती हैं। धूप की तेजी से वाष्प अधिक बनती है। यहाँ से चलने वाली सन्मार्गी पवनें इस भाप को उठाकर अन्यत्र ले जाकर वर्षा करती हैं, परन्तु यह भाग स्वयं वर्षा से अभाव-ग्रस्त रहते हैं। खुले समुद्रों में लवणता का सबसे अधिक अनुपात वायु के अधिक दाब वाले क्षेत्रों में ही पाया जाता है।

भूमध्य रेखा के निकट जल की लवणता कम (34‰) होती है। यहाँ सूर्य की किरणें तेज होते हुए भी आकाश सदैव मेघाच्छन्न रहता है जिससे वाष्पीकरण क्रिया कम होती है। सदैव होती रहने वाली घनघोर वर्षा और विश्वविख्यात अमेजन, कांगो और नाइजर नदियों द्वारा समुद्र में बराबर स्वच्छ जल उँडेलते रहना आदि सब ऐसे कारण हैं जो यहाँ की लवणता को कम करने में योग देते हैं। वर्षा तथा नदियों का स्वच्छ हल्का पानी समुद्र-जल पर दूर-दूर तक तैरता रहता है और समुद्र-जल की लवणता को कम करने में सफल होता है।

सन्मार्गी पवनों की पेटी से ध्रुवों की ओर बढ़ने पर समुद्र की लवणता क्रमशः कम होती जाती है। उत्तरी अन्ध महासागर में समुद्र-जल की लवणता 34‰ ही पायी जाती है। यहाँ लवणता कम होने का कारण यह है कि यहाँ के समुद्रों में ध्रुवों से स्वच्छ और ठण्डा पानी तथा बर्फ के बड़े-बड़े हिमखण्ड (Icebergs) आकर मिलते रहते हैं। ध्रुवीय सागरों में लवणता का अनुपात और भी कम होता जाता है। यहाँ लवणता का अनुपात 20‰ से 30‰ तक रहता है। इस प्रदेश में भाप बनने की शिथिलता, वर्षा की अधिकता, अधिक नदियों का समुद्र में प्रवेश तथा पिघलते हुए बर्फ के द्वारा स्वच्छ पानी का मिलते रहना आदि सब कारण मिलकर समुद्र-जल की लवणता को अधिक नहीं बढ़ने देते।

20

महासागरीय निक्षेप
(MARINE DEPOSITS)

वे समस्त पदार्थ जो समुद्र नितल पर एकत्र होते रहते हैं, महासागरीय निक्षेप कहलाते हैं। समुद्रों में ये निक्षेप कई साधनों से प्राप्त होते हैं। कुछ निक्षेप स्थल से नदियों, लहरों तथा हवा द्वारा अवसाद (sediments) रूप में प्राप्त होते हैं। कुछ निक्षेप समुद्री पौधों और जानवरों के अवशेष रूप होते हैं।

समुद्रों में अवसादों का निक्षेप बहुत बड़े परिमाण में होता है। अधिकांश अवसादी शैलों का जन्म, पूर्ववर्ती समुद्रों में अवसादों के निक्षेप द्वारा ही हुआ है। इसी प्रकार खड़िया (chalk)

चित्र 169—फोरामिनीफेरा

स्वच्छ जल में सूक्ष्म फोरामिनीफेरा (Foraminifera) के अवशेषों का निक्षेप-मात्र है। इसके विपरीत ग्रिट (grit) पत्थर समुद्रतट के निकट उथले पानी में बालू के मोटे कणों का निक्षेप है।

महासागरीय निक्षेप का वर्गीकरण

महासागरीय निक्षेप को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है :

(1) भूमिज निक्षेप (Terrigenous deposits),

(2) गम्भीरसागरीय निक्षेप (Pelagic deposits)।

(1) **भूमिज निक्षेप**—ये निक्षेप मुख्यतः महाद्वीपीय मग्नतट और मग्नढाल पर मिलते हैं। इन निक्षेपों में स्थल से प्राप्त पदार्थों की अधिकता रहती है। इनमें नदियों से प्राप्त अवसाद मुख्य होते हैं। अवसाद के साथ-साथ ज्वालामुखी पदार्थ और समुद्री जीव-जन्तु तथा पौधों के अवशेष भी विद्यमान रहते हैं। इन निक्षेपों में स्फटिक (Quartz) के कणों की मात्रा अधिक मिलती है। कई बार मग्नढालों पर गम्भीरसागरीय निक्षेप भी देखे जाते हैं।

(2) **गम्भीरसागरीय निक्षेप**—ये निक्षेप सामान्यतः अगाधसागरीय तल और महासागरीय गर्त में मिलते हैं। इन निक्षेपों में समुद्री जीव-जन्तुओं तथा पौधों के अवशेषों की प्रमुखता होती है। अन्य पदार्थों में ज्वालामुखी राख व झामक तथा उनसे उत्पन्न लोहा व एल्यूमिनियम के सिलीकेट व लोहा-मैंगनीज मिश्रित कण मुख्य हैं।

महासागरीय निक्षेपों का वितरण

मग्नतट और मग्नढाल के निक्षेप—इन भागों के निक्षेप में उन पदार्थों की अधिकता होती है जो नदियाँ धरातल से बहाकर लाती हैं। समुद्री लहरों के प्रभाव से तटों के अपरदित पदार्थ भी इसमें मिले रहते हैं। प्रायः स्थूल पदार्थ तट के समीप और सूक्ष्म पदार्थ तट से दूर पाये जाते हैं। पदार्थों की आकार के अनुसार छँटनी होती रहती है। पहले किनारों से टूटकर गिरने वाले शिलाखण्ड, फिर बट्टड़, कंकड़, बालू तथा अन्त में पंक रहता है। इस प्रकार पदार्थों के निक्षेप में क्रम बना रहता है—स्थूल पहले और सूक्ष्म बाद में। किन्तु जिस दूरी तक ये पदार्थ यात्रा करते हैं वह इनके आकार पर ही निर्भर नहीं करता वरन् लहरों तथा धाराओं की तीव्रता भी उसको प्रभावित करती है। लहरों की शक्ति घटती-बढ़ती रहती है इसलिए पदार्थों की छँटनी भी कभी पूर्ण नहीं होती। इन पदार्थों का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग कभी मग्नढाल से परे नहीं पहुँच पाता। यहाँ मुख्यतः तीन प्रकार के पदार्थों के निक्षेप होते हैं :

(1) **स्थलीय पदार्थों के निक्षेप**—मग्नतट और मग्नढाल के निक्षेप में अधिकतर बालू और पंक ही देखा जाता है। बालू धरातल के अपरदन से प्राप्त होता है और उसमें उन सभी शैलों तथा खनिजों के कण होते हैं जो कि भूमि की रचना करते हैं। इसके अधिकतर कण कठोर स्फटिक के होते हैं जो रासायनिक परिवर्तन से कम प्रभावित होते हैं। परन्तु कुछ कण मुलायम और शीघ्र क्षय होने वाले होते हैं जो पंक के निर्माण में योग देते हैं।

चित्र 170—महासागरीय निक्षेपों का वितरण

पंक में बालू से भी सूक्ष्म पदार्थ रहते हैं। इसमें अधिकतर सूक्ष्म खनिज तत्त्व एवं बड़ी मात्रा में चिकनी मिट्टी मिली हुई रहती है। समुद्रों में निम्न प्रकार के पंकों का निक्षेप देखा जाता है :

(क) नील पंक (Blue Mud)—यह पंक लगभग सभी समुद्रों में पाया जाता है। यह मुख्यतः तटों के समीप उथले समुद्री भागों में मिलता है। किन्तु जहाँ कहीं नदी की तीव्र धारा समुद्र में प्रवेश करती है वहाँ यह किनारों से 400-500 मील की दूरी तक फैला हुआ पाया

तत्वों से बनी होती है। अतः ऊज अथवा पंक को भी चूना प्रधान (calcareous) और सिलिका-प्रधान (siliceous) दो भागों में बाँटा गया है। चूना-प्रधान पंक की रचना मुख्यतः फोरामिनीफेर द्वारा होती है। सिलिका-प्रधान पंक डायमट व रेडियोलेरिया जीवों से बनता है। पी० लेक ने गम्भीरसागरीय निक्षेप (pelagic deposits) को निम्न प्रकार से विभाजित किया है :[1]

कार्बनिक निक्षेप
(Organic Deposits)

ग्लोबिजेरिना पंक (Globigerina Ooze)—इस पंक में ग्लोबिजेरिना व अन्य जीवों के घुलनशील शारीरिक खोल रहते हैं। ये सब चूना-प्रधान होते हैं। ग्लोबिजेरिना का आकार पिन की नोंक के सदृश बहुत ही सूक्ष्म होता है। इन्हीं की प्रधानता के कारण इस पंक को ग्लोबिजेरिना पंक कहा जाता है। जब इस पंक को सुखाया जाता है तो यह मटमैले सफेद चूर्ण के समान प्रतीत होता है। इसमें अधिकांशतः चूना पाया जाता है जो जीवों तथा अन्य प्राणिज अवशेषों, धातु अंश एवं लाल मृत्तिका द्वारा बना होता है।

चित्र 171—ग्लोबिजेरिना पंक

साधारणतः ग्लोबिजेरिना जीव 1500 से 2000 फैदम गहराई के मध्य पाया जाता है। परन्तु इसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। जहाँ कहीं भूमिज पदार्थों का अभाव पाया जाता है वहाँ ये कम गहराई पर भी मिल जाते हैं। गहराई के साथ ये सामान्यतः लुप्त होते जाते हैं, किन्तु अन्ध महासागर में कहीं-कहीं ये 5000 फैदम की गहराई तक भी पाये जाते हैं।

यह पंक उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम जल में अधिक विकसित होता है। ठण्डे ध्रुवीय सागरों में यह कम मिलता है। इसका सर्वाधिक विस्तार अन्ध महासागर में पाया जाता है। यहाँ इनका विस्तार 72° उत्तरी अक्षांश से 60° दक्षिणी अक्षांश तक मिलता है। उत्तर की ओर अधिक विस्तार होने का कारण उष्ण समुद्री धाराओं का प्रभाव है। हिन्द महासागर में यह एशिया व आस्ट्रेलिया महाद्वीपों के मग्नतटों के पूर्वी भागों को छोड़कर सर्वत्र मिलता है। प्रशान्त

---

1 P. Lake : *Physical Geography*, p. 215

महासागर से यह पूर्वी भाग में अधिक मिलता है। यह पंक महासागरीय गर्तों में बिलकुल नहीं पाया जाता।

टेरोपोड पंक (Pteropod Ooze)—इस पंक में टेरोपोड नामक जीवों की अधिकता पायी जाती है। इसके शारीरिक ढाँचे पतले, नुकीले और शीघ्र टूटने वाले होते हैं। इनकी लम्बाई आधे इंच से पौन इंच तक होती है। इनका शरीर चूने से बना होता है। अतः यह पंक चूना-प्रधान होता है।

ऐसा देखा गया है कि जिन स्थानों पर सतह का पानी गरम होता है और वार्षिक तापान्तर भी अधिक नहीं होता, वहाँ ये जीव बहुत शीघ्र बढ़ते हैं। अतः इनका विकास उष्ण कटिबन्धीय तथा उपोष्ण कटिबन्धीय समुद्रों में ही होता है। प्रायः ये जीव स्थल से दूर छिछले-जल में पनपते हैं, इसलिए यह पंक सामान्यतः 800 से 1500 फैदम गहराई तक पाया जाता है। कहीं-कहीं यह कम गहराई पर भी दृष्टिगोचर होता है। इसके निक्षेप समुद्र-तल से ऊपर उठे हुए पठार एवं पहाड़ियों पर अधिक मिलते हैं। मध्य अटलाण्टिक की पहाड़ी पर यह कई स्थानों पर पाया जाता है। भूमध्य सागर और प्रशान्त महासागर के पश्चिमी और मध्यवर्ती क्षेत्रों में प्रवाल द्वीपों के आसपास यह दो-तीन टुकड़ों में मिलता है। यह पंक लगभग 5 लाख वर्गमील में फैला हुआ है। सूख जाने पर यह खुरदरे, श्वेत चूर्ण के सदृश प्रतीत होता है। मिश्रण के फलस्वरूप यह पंक धीरे-धीरे ग्लोबिजेरिना पंक में परिवर्तित हो जाता है।

डायटम पंक (Diatom Ooze)—यह पंक डायटम नामक जीवों तथा रेडियोलेरिया के ढाँचों, स्पंज के नुकीले भागों और मृत्तिका के कुछ मिश्रण से बना होता है। यह पंक सिकता-प्रधान होता है और सामान्यतः 600 से 2000 फैदम गहराई तक पाया जाता है। कभी-कभी यह 4000 फैदम गहराई तक भी मिलता है। डायटम जीव ठण्डे समुद्रों में पनपते हैं, इसलिए इनका विस्तार मुख्यतः प्रशान्त महासागर में अलास्का से लेकर जापान तक अथाह सागरों वाली पेटी और दक्षिणी ध्रुव महासागर में अण्टार्कटिक महाद्वीप के चारों ओर भूमिज निक्षेप की पेटी के बाहर एक चौड़ी मेखला के रूप में मिलता है। इन दोनों क्षेत्रों में समुद्र के ऊपर उठने के फलस्वरूप डायटम जीवों के लिए बड़ी मात्रा में खाद्य-पदार्थ प्राप्त होता है। उत्तरी अमरीका के पश्चिमी-तट पर केलीफोर्निया की खाड़ी भी इसका एक क्षेत्र है, जहाँ पर जल स्वयं लाल दिखाई पड़ता है। इसीलिए इस खाड़ी को लाल सिन्दूर सागर (Vermillion Sea) कहा जाता है।

रेडियोलेरियन पंक (Radiolarian Ooze)—यह पंक लाल मृत्तिका का ही एक रूप है। इसमें रेडियोलेरिया और डायटम जीवों के ढाँचे और मृत्तिका पायी जाती है। यह भी एक
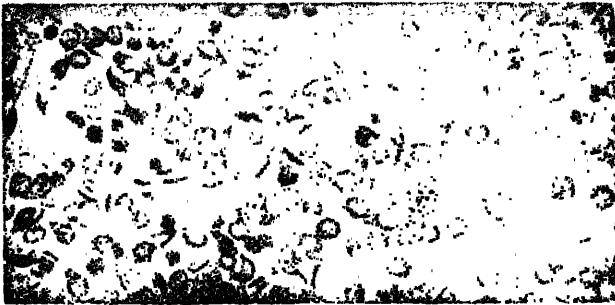
चित्र 172—रेडियोलेरियन पंक

सिलिका-प्रधान पंक है। इसके जीव सदैव गहरे समुद्रों में मिलते हैं, अतः यह पंक सामान्यतः

परिभ्रमण के कारण ही सम्भव है। धाराओं की दिशा पर चन्द्रमा के आकर्षण का प्रभाव भी होना माना गया। बाद में धाराओं की उत्पत्ति के लिए तापमान का अन्तर एवं स्थायी हवाओं को उत्तरदायी ठहराया गया। वर्तमान समय में समुद्र-विज्ञान की बड़ी प्रगति हुई है, जिससे इस विषय पर अधिक प्रभाव पड़ा है। आजकल समुद्र-विज्ञान के नये परिवेश में धाराओं की उत्पत्ति के लिए निम्न कारणों को स्वीकार किया गया है :

(1) पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण एवं परिभ्रमण,
(2) वायुदाब और हवाएँ,
(3) वाष्पीकरण और वर्षा,
(4) घनत्व में अन्तर,
(5) तापमान की भिन्नता,
(6) महाद्वीपों का आकार।

(1) **पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण एवं परिभ्रमण**—पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से अभिकेन्द्र बल (centripetal force) और परिभ्रमण के कारण अपकेन्द्र बल (centrifugal force) की उत्पत्ति होती है। अभिकेन्द्र बल से पृथ्वी की समस्त वस्तुएँ केन्द्र की ओर आकर्षित होती हैं और अपकेन्द्र बल से प्रत्येक वस्तु पृथ्वी से बाहर की ओर खिंचती है। पृथ्वी एक धुरी पर परिभ्रमण करती है। परिभ्रमण करते समय सबसे बड़ा वृत्त विषुवत रेखा के निकट होता है। अतः अभिकेन्द्र बल विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ता जाता है। समुद्रों में गहराई के साथ भी गुरुत्व में वृद्धि होती जाती है। समुद्रों के भीतर गुरुत्व में इस वृद्धि का जल की गति पर निश्चित प्रभाव होता है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर निरन्तर पश्चिम से पूरब को परिभ्रमण करती रहती है। महासागरों का जल तरल होने से वह ठोस पृथ्वी की गति की समानता नहीं कर सकता। अतः महासागरीय जल में शनैः-शनैः पश्चिम की ओर गति उत्पन्न हो जाती है जो धारा का रूप ले लेती है। विपरीत विषुवतरेखीय धारा जो पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती है, बहुत कुछ पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण ही उत्पन्न होती है।

पृथ्वी के परिभ्रमण से समुद्र जल में विक्षेप (deflection) उत्पन्न होता है। फलस्वरूप समुद्र का गतिशील जल उत्तरी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर घूम जाता है। इसी विक्षेप से महासागरों के मध्य में भँवर (eddy) की उत्पत्ति होती है।

चित्र 179—धाराओं का प्रचलित पवनों से सम्बन्ध

(2) **वायुदाब और हवाएँ**—हम जानते हैं कि समुद्र-तल पर वायु का प्रति वर्ग इंच लगभग 15 पौण्ड दाब पड़ता है। किन्तु वायु का दाब धरातल पर सर्वत्र समान नहीं है। कहीं अधिक वायुदाब और कहीं कम वायुदाब मिलता है। वायुदाब की इस भिन्नता का समुद्र-जल की सतह पर भी प्रभाव होता है। वायु के दबाव से समुद्र-जल उसी प्रकार नीचे दबता है जिस प्रकार वायुदाबमापी में पारा अधिक दबाव से नीचे दबता है। अतः कम वायुदाब वाले समुद्री क्षेत्रों में जल की सतह ऊँची

है तो सन्मार्गी हवाओं के प्रभाव से उत्तर की ओर मुड़ जाती है। फिर दक्षिणी मध्यचीन के सहारे बहती हुई जापान के पूर्वी तट को पहुँचती है। यहाँ इसे क्यूरोशिवो धारा कहते हैं। इसका रंग गहरा नीला होने के कारण जापानी लोग इसे काली धारा (Black Stream of Japan) भी कहते हैं। जापान-तट के सहारे बहती हुई यह क्यूराइल द्वीपसमूह के पास क्यूराइल नामक ठण्डी धारा से मिल जाती है। यहीं यह पछुवा हवाओं के प्रभाव में आ जाने से पूर्व को मुड़ जाती है। यहाँ से धारा का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है और यह **उत्तरी प्रशान्त प्रवाह** (North Pacific Drift) कहलाने लगती है। यह प्रवाह पूर्व को बहता हुआ उत्तरी अमरीका के पश्चिमी-तट से जा लगता है। वैंकुअर द्वीप के निकट यह दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक शाखा उत्तर की ओर अलास्का तट के सहारे बहती हुई पुनः उत्तरी प्रशान्त प्रवाह में मिल जाती है। इस उत्तरी शाखा को **अलास्का की धारा** कहते हैं। दक्षिण की ओर जाने वाली धारा केलिफोर्निया की ठण्डी धारा से मिल जाती है।

चित्र 182—प्रशान्त महासागर की धाराएँ

(3) **सुशीमा धारा** (Tsushima Current)—क्यूरोशिवो धारा की एक शाखा जापान के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर में जापान सागर में चली जाती है जो सुशीमा धारा के नाम से प्रसिद्ध है।

(4) **अलास्का की धारा** (Alaskan Current)—उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर पहुँचने पर उत्तरी प्रशान्त महासागरीय प्रवाह की एक शाखा अलास्का की खाड़ी में चली जाती है। यहाँ यह धारा पश्चिम की ओर अलास्का के तट के साथ बहती है। इसी को अलास्का की धारा कहते हैं। गरम धारा होने से यह तट को गरम बनाये रखती है।

(5) **क्यूराइल जलधारा**—यह एक ठण्डी जलधारा है जो बैरिंग जलडमरूमध्य से होती हुई दक्षिणी साइबेरिया-तट के साथ बहती है और क्यूराइल द्वीपसमूह के निकट क्यूरोशिवो गरम धारा से मिल जाती है। इसे **ओयाशियो धारा** भी कहते हैं।

(6) **केलिफोर्निया जलधारा**—यह एक ठण्डी धारा है जो यहाँ ध्रुव से प्राप्त ठण्डे जल के ऊपर उठने से उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह उत्तरी प्रशान्त प्रवाह की दक्षिणी शाखा का ही भाग है। यह केलिफोर्निया के पश्चिमी तट के साथ बहकर दक्षिण में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है।

उपरोक्त सब धाराओं से उत्तरी प्रशान्त महासागर में एक पूरा चक्र बन जाता है।

(7) **दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा**—यह एक गरम धारा है जो दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक पवनों के कारण उत्पन्न होती है। यह धारा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी-तटों से पश्चिम की ओर आस्ट्रेलिया को जाती है। न्यूगिनी द्वीप के समीप यह दो भागों में विभक्त हो जाती है।

(7) **मिश्रित ज्वार-भाटा** (Mixed Tides)—जब किसी समुद्र में दैनिक तथा अर्द्ध-दैनिक दोनों प्रकार के ज्वार-भाटे आते हैं तो उन्हें **मिश्रित ज्वार-भाटा** कहा जाता है। मिश्रित ज्वार-भाटे में एक ज्वार अधिक ऊँचा तथा दूसरा कम ऊँचा; और एक भाटा अधिक नीचा तथा दूसरा कम नीचा होता है। अर्थात् प्रातःकाल के ज्वार की ऊँचाई तथा मध्याह्न के ज्वार की ऊँचाई में बहुत अन्तर रहता है।

चित्र 197—मिश्रित ज्वार-भाटे की ऊँचाई और अन्तर (होनोलूलू में)

ज्वार-भाटे पर भौगोलिक बातों का प्रभाव

उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी स्थान पर ज्वार उसी समय आना चाहिए जबकि चन्द्रमा उस स्थान के ठीक सामने पड़ता हो। इसके अतिरिक्त उस स्थान के देशान्तर पर स्थित सभी स्थानों पर ज्वार का समय भी एक ही हो। साथ-साथ यह भी आशा की जाती है कि ज्वार की लहर पूरब से पश्चिम को चन्द्रमा के साथ-साथ आगे बढ़ती जाय, किन्तु व्यवहार में ऐसा कभी नहीं होता। लिवरपूल और लीथ दोनों ही ग्रीनविच के 3° पश्चिम में स्थित हैं, परन्तु दोनों स्थानों के ज्वार के समय में 3 घण्टे का अन्तर रहता है। अन्ध महासागर में ज्वार की लहर पूरब से पश्चिम की अपेक्षा सदैव पश्चिम से पूरब की ओर ही चला करती है। ज्वार-भाटे के इस विपरीत व्यवहार के कई कारण हैं। ज्वार की लहर, ज्वार की ऊँचाई और ज्वार के समय पर समुद्रतट की बनावट, समुद्र की गहराई और समुद्र के धरातल का गहरा प्रभाव पड़ता है।

(1) **ज्वार की लहर**—ज्वार की लहर पर महाद्वीपों की बनावट का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी यदि चारों ओर जल से घिरी हुई होती तो ज्वार की लहर पूर्व से पश्चिम को अबाध रूप से चक्कर लगाया करती। परन्तु उत्तर से दक्षिण को फैले हुए महाद्वीप जगह-जगह ज्वार की लहर के बीच अवरोध खड़े कर देते हैं, जिससे ज्वार की लहर एक हिलोर के रूप में पृथ्वी का चक्कर न लगाकर, भिन्न-भिन्न समुद्रों में भिन्न-भिन्न रूप से ज्वार उत्पन्न करती है।

(2) **ज्वार की ऊँचाई**—ज्वार की ऊँचाई और उसकी गति पर समुद्र की गहराई और उसकी तली का अत्यधिक प्रभाव देखा जाता है। समुद्र सभी जगह समान रूप से गहरा नहीं है।

चित्र 198—फण्डी की खाड़ी (ज्वार के समय)

कहीं वह छिछला और कहीं गहरा है। समुद्र की तली भी इसी तरह ऊँची-नीची है। पहाड़ियाँ,

क्रम लग जायेगा। ऐसा प्रायः उस समय होता है जबकि ज्वार-लहर किसी नदी के मुहाने पर पहुँच जाती है। नदी के संकीर्ण मुँह तथा तेज प्रवाह के कारण ज्वार-लहर आगे बढ़ने से रुक जाती है और जल की वहाँ एक दीवार खड़ी हो जाती है। ज्वार की शक्ति से जल की यह दीवार नदी में आगे घुस जाती है और प्रवाह उल्टा हो जाता है। जल की इसी ऊँची दीवार को ज्वार-भीति (Tidal Bore) कहा जाता है।

संसार की अनेक नदियों में इस प्रकार की ज्वार-भीति (tidal bore) आया करती है। हुगली नदी में प्रायः नियमित रूप से ऐसी ऊँची ज्वार-भीति आया करती है, जिससे बड़े-बड़े जहाज कलकत्ता के बन्दरगाह तक पहुँच जाते हैं। जब किसी नदी की धारा की चौड़ाई अपने मुहाने से उद्गम स्थान की ओर एकसी होती है अर्थात उसकी चौड़ाई धीरे-धीरे घटती है तो घर्षण (friction) के कारण ज्वार की ऊँचाई धीरे-धीरे कम होती जाती है। उदाहरणतः, मोलमीन नदी में जनवरी में एमहर्स्ट नामक स्थान पर ज्वार की ऊँचाई 19 फुट और 5 फुट के बीच में और इसी महीने में मोलमीन नामक स्थान पर 10 से 5 फुट के बीच रहती है। वर्षाऋतु

चित्र 201—सेवर्न नदी में ज्वार-भीति

के सितम्बर मास में जबकि नदियाँ बाढ़ से पूर्ण रहती हैं, एमहर्स्ट स्थान पर ज्वार की ऊँचाई 22 से 5 फुट और मोलमीन में 12 से 3 फुट तक रहती है। थेम्स नदी में ज्वार की औसत ऊँचाई शीरनेस (Sheerness) पर 20 फुट, लन्दन-ब्रिज पर 15 फुट और क्यू-ब्रिज पर 7 फुट रहती है। इसके विपरीत, जब नदी की धारा की चौडाई एकदम घट जाती है तो ज्वार की ऊँचाई उसके मुहाने से उद्गम की ओर बढ़ती जाती है। इस प्रकार ब्रिस्टल की धारा (Bristal Channel) के मुहाने पर ज्वार की ऊँचाई लगभग 18 फुट, स्वान सी (Swan Sea) पर 30 फुट और चेप्सटो (Chepstoue) पर करीब 50 फुट होती है। शुष्क महीनों में अर्थात मार्च से मई के बीच हुगली नदी में ज्वार की ऊँचाई सागर द्वीप पर 11 फुट से 4 फुट, डायमण्ड बन्दरगाह पर 15 से 7 फुट और किडरपुर पर 15 से 7 फुट तक रहती है। लेकिन वर्षाऋतु के सितम्बर मास में जब नदी में बाढ़ आती है तो ज्वार की ऊँचाई सागर द्वीप पर 18 से 4 फुट, डायमण्ड बन्दरगाह पर 20 से 7 फुट और किडरपुर पर 16 से 4 फुट के बीच रहती है।[1] चीन की चांगटिसी-

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 354

जीव नहीं रहते हैं, क्योंकि यहाँ इनको भोजन-सामग्री प्राप्त नहीं होती। भित्ति का ढाल समुद्र की ओर तीव्र एवं स्थल की ओर मन्द रहता है। फ्लोरिडा, अण्डमान व निकोबार द्वीप के निकट ऐसी भित्तियाँ देखी जाती हैं।

चित्र 202—तटीय प्रवाल भित्ति

(2) **अवरोधक प्रवाल भित्ति** (Barrier Reef)—जो प्रवाल समुद्रतट से कुछ दूर हटकर बनी होती है, उसे अवरोधक प्रवाल भित्ति कहते हैं। ये तट के समान्तर काफी लम्बाई में एक भित्ति के रूप में बनी होती हैं। चौड़ाई में भी ये बहुत होती हैं। इनकी चौड़ाई 1000 फुट तक हो सकती है। इनके बीच अनेक घाटियाँ भी हो सकती हैं। इन भित्तियों और तट के मध्य चौड़े तथा गहरे अनूप होते हैं। कभी-कभी ये अनूप तीन-चार मील तक चौड़े तथा 250 फुट तक गहरे भी देखे जाते हैं। इन भित्तियों का प्रसार बाहर की ओर अधिक नहीं होता। कभी-कभी एक भित्ति के सहारे दूसरी भित्ति भी बन जाती है। जब कभी ये समुद्र-जल की सतह से ऊपर उठ जाती हैं तो बाहर दृष्टिगोचर होने लगती हैं। विद्वानों की मान्यता है कि इन भित्तियों की रचना निम्न आधार पर हुई है या इनके निर्माण के बाद समुद्र की गहराई बढ़ गयी है।

चित्र 203—अवरोधक प्रवाल भित्ति

संसार में अवरोधक प्रवाल भित्तियाँ कई स्थानों पर मिलती हैं। सबसे बड़ी अवरोधक भित्ति
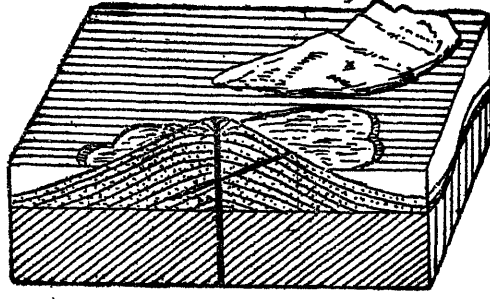
चित्र 204—ग्रेट बेरियर रीफ (आस्ट्रेलिया)

सकते, क्योंकि उनके अपने वातावरण की वे सीमाएँ और विभिन्न आकार तथा पैदावार वाले प्रदेशों की उनसे दूरी उनको किसी के लाभ उठाने का मौका नहीं देती।

समुद्र-जल में प्रवाल भित्तियों की कुछ ही ऊँचाई के कारण उनको हमेशा भूकम्प की लहरों द्वारा द्वीप के पददलित हो जाने का डर रहता है। कभी-कभी खुले समुद्रों से बिना बाधित आने वाले भयंकर तूफानों (हरीकेनों) का भी प्रकोप हो जाता है जिससे भीषण लहरें तटों पर तांडव नृत्य उपस्थित कर देती हैं। तूफान के साथ आने वाली हवाएँ एक के बाद एक नारियल के पेड़ों को धराशायी कर देती हैं जो कि उनके जीवन का एकमात्र अवलम्ब होता है। उनके भोजन तथा छोटी-मोटी अनेक कलात्मक वस्तुओं की आवश्यकताएँ उन्हीं से पूरी होती हैं। इन द्वीपों पर नदी-नाले नहीं होते, अतः उन्हें पीने के पानी का बड़ा भारी कष्ट रहता है। वर्षा का जल ही इनका सहारा रहता है जो कि छोटे-छोटे खड्डों आदि में भर जाता है। परन्तु शुष्क मौसम में फिर जल की बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। बरमूडा (Bermuda) जैसे द्वीपों में जहाँ काफी आबादी है, पानी की बड़ी कठिनाई रहती है। अभी हाल में वहाँ कुछ कुएँ खोदे गये हैं।

यहाँ भूमि पर मिट्टी की बहुत हल्की परत पायी जाती है, अतः मिट्टी में बहुत ही कम उपजाऊ तत्त्व होते हैं। इसलिए भूमि किसी भी उपज के लिए अच्छी नहीं होती। ज्वालामुखी उभाड़ से निकले झामक (pumic) प्रायः तटों पर आकर एकत्रित हो जाते हैं।

कुछ लोगों ने तैरते हुए झामक (pumic) (जो कि प्रायः तटों पर आकर एकत्रित हो जाते हैं) को एकत्रित करना और उनका अपने छोटे खेतों में खाद के रूप में प्रयोग करना सीख लिया है। मछलियों के अवशेष और समुद्री घास (sea weed) का भी इसी तरह प्रयोग होता है और यहाँ केले, टमाटर आदि कुछ फल पैदा हो जाते हैं।

चित्र 212—प्रशान्त महासागर की हो एटोल

कभी-कभी अन्य स्थानों से तैरकर आये हुए पेड़ और लट्ठों के साथ कंकड़, पत्थर लगे रहते हैं। अतः यहाँ के सब निवासी सदा इन तैरती हुई जड़ों और वनस्पति चीजों को ढूंढ़ने में लगे रहते हैं, जिससे वे उन पत्थरों को प्राप्त कर सकें। पत्थरों के द्वारा ये लोग अपने औजार और हथियार बनाते हैं। कुछ द्वीपों में तो ऐसी वस्तुओं की खोज राज्य करने वाले राजा की सम्पत्ति समझी जाती है।[1]

---

1 A. K. Loback : *Geomorphology*

(Magama) कहते हैं। जब किसी कारणवश यह मैगमा उमड़ता है तो उसकी कुछ मात्रा धरातल पर बाहर आ जाती है और कुछ भीतर ही रह जाती है। अतः जो द्रव-पदार्थ पृथ्वी के गर्भ में ही जमकर ठोस हो जाता है उसे **अन्तर्भेदी चट्टान** कहा जाता है। भू-गर्भ में बनने के कारण ये चट्टानें बहुत धीरे-धीरे ठण्डी होती हैं। अतः इनमें बनने वाले रवे बहुत बड़े आकार के होते हैं। ग्रेनाइट, स्फटिक तथा फेल्सपार इस प्रकार की चट्टानों के विशिष्ट उदाहरण हैं। भू-पटल के उत्थापन अथवा अपरदन के बाद ही ये चट्टानें भूमि के ऊपर दृष्टिगोचर होती हैं।

चित्र 225—ग्रेनाइट शैल (आग्नेय चट्टान)

पृथ्वी के आन्तरिक भाग का पिघला हुआ पदार्थ जब कतिपय कारणों से बाहर निकलने को प्रेरित होता है तो वह पृथ्वी के कमजोर स्थलों को फोड़कर भारी विस्फोट के साथ धरातल पर बाहर आता है। भू-गर्भ से निकलने वाले इस द्रव-पदार्थ को लावा (Lava) कहते हैं।

प्रायः धरातल पर लावा का उभाड़ ज्वालामुखी अथवा अन्य विवरों द्वारा होता है। भू-गर्भ से धरातल की ओर आने वाला यह लावा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में शीतल होता है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं :

(1) लावा बिना ऊपर उठे अपने आधार-स्थल में ही शीतल हो जाता है।

(2) भू-पटल की ओर अग्रसर होते समय मार्ग में प्राप्त सन्धियों अथवा संस्तरण-तलों (bedding planes) में ही जम जाता है।

(3) भू-गर्भ से निकलकर धरातल पर घनीभूत हो जाता है।

इस प्रकार लावा के भिन्न भिन्न अवस्थाओं और भिन्न-भिन्न गहराइयों में शीतल होने के कारण उसमें लगने वाला समय भी भिन्न होता है। लावा के शीतल होने की अवधि के आधार पर अन्तर्भेदी आग्नेय चट्टानों को तीन उप-भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) **पातालीय चट्टानें** (Plutonic Rocks)—'प्लूटो' (Pluto) यूनानी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ 'पाताल देवता' है। उसी से 'प्लूटोनिक' (Plutonic) शब्द बना है। अतः जो लावा भू-पटल पर बाहर न आकर भू-गर्भ की अतल गहराई में ही जमकर ठोस हो जाता है तो ऐसी चट्टानों को **पातालीय चट्टानें** (Plutonic rocks) कहा जाता है। अधिक गहराई में शीतल होकर जमने के कारण इन चट्टानों के निर्माण में बहुत अधिक समय लगता है अतः इनमें बनने वाले स्फाट (crystal) बहुत बड़े आकार के होते हैं। भू-गर्भ की इन पूर्णरूप से स्फाटीय चट्टानों का सबसे अच्छा उदाहरण ग्रेनाइट है।

चित्र 226—आग्नेय चट्टानों के विभिन्न रूप

होती है। ये ठोस पिण्ड रूप में उपलब्ध होती हैं। इनके ऊपर ऋतु-अपक्षय (weathering) का बहुत कम प्रभाव होता है। अतः इन चट्टानों का इमारतों के निर्माण में उपयोग किया जाता है। ग्रेनाइट इसी प्रकार की चट्टान है। इन चट्टानों में बालू सिलिका की मात्रा अधिक होती है, अतः इनका पिघला हुआ पदार्थ शीघ्र जम जाता है। फलस्वरूप इनसे पर्वतों की रचना होती है।

(ब) पैठिक आग्नेय चट्टानें (Basic Igneous Rocks)—इन चट्टानों में सिलिका की मात्रा अम्ल चट्टानों से कम होती है। जब आग्नेय चट्टानों में सिलिका की मात्रा 45 से 55 प्रतिशत तक होती है तो उन्हें **पैठिक आग्नेय चट्टानें** कहते हैं। जिन चट्टानों में सिलिका की मात्रा 45 प्रतिशत से भी कम होती है तो उन्हें अति-पैठिक आग्नेय चट्टानें (ultra-basic igneous rocks) कहा जाता है।

ये चट्टानें अम्ल चट्टानों से भारी होती हैं। अतः ये पृथ्वी के सीमा वाले भाग में मिलती हैं। इन चट्टानों में क्षार पदार्थ का अभाव होता है। इनमें लोहे के ऑक्साइड, एल्यूमीनियम एवं चूने की अधिकता होती है। इनका रंग गहरा और काला होता है। इन चट्टानों में बालू और सिलिका की मात्रा कम होती है जिससे पिघली हुई अवस्था में ये चट्टानें बहुत देर से जमती हैं। विलम्ब से जमने के कारण ये धरातल पर फैल जाती हैं और इनसे पर्वतों की रचना नहीं होती। इसके विपरीत ये पठारों की रचना करती हैं। दकन का पठार, आस्ट्रेलिया का पठार और अबीसीनिया का पठार इसके उदाहरण हैं। बेसाल्ट मुख्य पैठिक चट्टान है। यह ग्रेनाइट से अधिक ऊँचे तापमान पर पिघलती हैं, परन्तु यह ऋतु-अपक्षय से बहुत शीघ्र और अधिक प्रभावित होती है। ये चट्टानें शीघ्र टूट जाती हैं इसीलिए भवन-निर्माण में इनका बहुत कम उपयोग होता है।

प्रमुख आग्नेय चट्टानों का परिचय

ग्रेनाइट (Granite)—यह एक कठोर चट्टान है जो भू-गर्भ में मैगमा के जमने से बनती है। इसमें अभ्रक, फेल्सपार और स्फटिक आदि खनिज मिलते हैं। इसमें सैकता की मात्रा 65 से

चित्र 227—ग्रेनाइट चट्टानों में जोड़

80 प्रतिशत तक होती है। इसके खनिज-कण खुरदुरे होते हैं। इसकी सतह पर सन्धियाँ पायी जाती हैं। यह भवन-निर्माण के लिए विशेष उपयोगी है। हार्नब्लेण्ड, रायोलाइट, प्यूमिस, आब्सीडियन तथा पिचस्टोन ग्रेनाइट वर्ग की मुख्य चट्टानें हैं।

में जीवों के अवशेष अधिक मिलते हैं। यह एक मुलायम चट्टान है और चाकू से काटी जा सकती है। यह विभिन्न रंगों की होती है।

डोलोमाइट (Dolomite)—यह चूने के पत्थर से अधिक कठोर और भारी चट्टान है। यह कैल्शियम के द्विगुणित कार्बोनेट और मैग्नेशियम के योग से बनती है। इस पर तेजाब का सरलता से प्रभाव नहीं होता।

(ग) कायान्तरित चट्टानें (Metamorphic Rocks)

वे चट्टानें जो अन्य चट्टानों के रूप परिवर्तन द्वारा बनी होती हैं, कायान्तरित चट्टानें कहलाती हैं। अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाला 'मेटामोरफिक' (metamorphic) शब्द 'मेटा' (meta) और 'मोरफे' (morphe) शब्दों से मिलकर बना है। इसमें 'मेटा' का अर्थ परिवर्तन से है और 'मोरफे' का रूप से। अतः 'मेटामोरफिक' का आशय परिवर्तित रूप से है। अस्तु **"जिन चट्टानों में गर्मी, दबाव अथवा रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप उनके रूप, बनावट एवं खनिजों का पूर्ण कायान्तरण हो जाता है, वे कायान्तरित चट्टानें कहलाती हैं।"**[1]

कायान्तरण के समय चट्टानों का रूप परिवर्तन दो प्रकार से सम्भव होता है, 'भौतिक कायान्तरण' (Physical Metamorphism), अथवा 'रासायनिक कायान्तरण' (Chemical Metamorphism)। कभी-कभी दोनों साथ-साथ भी होते हैं। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि कायान्तरण के समय किसी चट्टान का पूर्ण आकार (form) बदल सकता है, उसमें खनिजों का रूप परिवर्तित हो सकता है, चट्टान रवेदार बन सकती है परन्तु चट्टान में विघटन तथा वियोजन (Disintegration and Decomposition) नहीं हो सकता।

चित्र 230—**बेण्डेड नीस (कायान्तरित शैल)**

पृथ्वी के भीतरी ताप, दबाव, खनिज-मिश्रित जल, वाष्प एवं भू-संचालन आदि के प्रभाव से आग्नेय, अवसादी तथा प्राचीन कायान्तरित शैलों के मूल रूप, रंग, खनिज एवं रवे आदि सभी गुणों में पूर्णतया परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन के कारण मूल चट्टान की कठोरता बढ़ जाती है।

गर्मी तथा दाब की न्यूनाधिकता के अनुसार इन चट्टानों में अनेक प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं। चट्टान के पूर्णरूप से बदल जाने पर वैज्ञानिक भी यह बताने में असमर्थ हो जाते हैं कि इसका मूल रूप क्या था। कायान्तरित चट्टानें अपने निर्माण में अवसादी चट्टानों के बिलकुल विपरीत होती हैं। इसलिए इनकी रचना में सदा
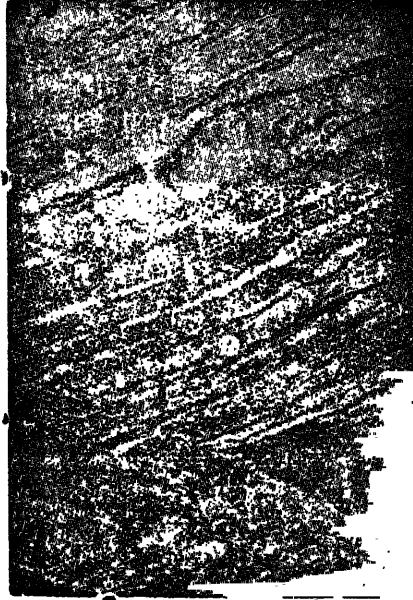
---

1 "Metamorphic rocks include those rocks that have changed either in form or composition without disintegration."—P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 77

सबसे अधिक खनिजों की समान्तर दिशा में सरलता से फटकर अलग हो जाती हैं, **शिस्ट** कहलाती हैं। इनका नाम प्रायः उस खनिज के आधार पर होता है जिससे वह पृथक होने का गुण प्राप्त करती हैं जैसे **अभ्रक शिस्ट, हार्नब्लेड शिस्ट** आदि। जब इनका निर्माण आग्नेय चट्टानों के कायान्तरण से होता है तो उन्हें **आर्थोशिस्ट** कहते हैं किन्तु जब निर्माण अवसादी चट्टानों से होता है तो उन्हें **पारा शिस्ट** कहते हैं। कायान्तरित चट्टानों में यह बहुत ही व्यापक रूप से मिलने वाली चट्टान है। भारत में दकन के पठार पर यह अधिक मिलती है।

नीस (Gneiss)—यह एक खुरदरे कणों वाली कायान्तरित चट्टान है। इसमें खनिजों के

चित्र 233—स्लेट की धारीदार सतह

जोड़ पर अलग होने का गुण नहीं होता। इसका निर्माण करने वाले खनिज प्रायः एक-दूसरे के समान्तर होते हैं। फलतः इसमें क्रमरहित स्पष्ट धारियाँ होती हैं। यह आग्नेय अथवा अवसादी

चित्र 234—शैल चट्टान का स्लेट में परिवर्तन

दोनों प्रकार की चट्टानों के कायान्तरण से बनती हैं। इसमें स्फटिक, फेलसपार और अभ्रक की मात्रा अधिक पायी जाती है। ग्रेनाइट नीस इसी प्रकार की चट्टान है। यह सभी प्राचीन क्षेत्रों में मिलती है।

हो जाने से अपक्षय की गति भी तीव्र हो जाती है। ऊँचे पर्वतीय शिखरों के निकट तथा खड़े ढाल वाले चट्टानी भागों में इसी कारण चट्टानों का विघटन अधिक होता है।

(4) **वनस्पति का प्रभाव**—किसी भी स्थान पर वनस्पति की उपस्थिति का अपक्षय के स्वभाव पर अवश्य प्रभाव होता है। वनस्पति के आवरण से विहीन भागों में ताप की प्रचण्डता के कारण चट्टानों का विघटन शीघ्र होता है। लेकिन जहाँ वनस्पति उगी हुई रहती है वहाँ वनस्पति अपनी जड़ों से चट्टानों को जकड़े रहती है जिससे उनका संगठन मजबूत रहता है और वे शीघ्र नहीं टूटतीं। वनस्पति से ढके हुए भागों पर सूर्य-ताप का भी प्रभाव नहीं होता। कई बार पेड़-पौधों की जड़ें चट्टानों में प्रवेश कर जाती हैं जिससे उनकी सन्धियाँ चौड़ी हो जाती हैं और चट्टानें ढीली पड़ जाती हैं।

(क) भौतिक अथवा यान्त्रिक अपक्षय
(Physical or Mechanical Weathering)

जब चट्टानें बिना किसी रासायनिक परिवर्तन के अपने आप विघटित हो जाती हैं तो उसे भौतिक अपक्षय कहा जाता है। चट्टानों का यह विघटन मुख्यतः सूर्यताप, हवा और पाले द्वारा होता है। ये दोनों ही साधन चट्टानों में सम्पीड़न और तनाव की क्रियाओं से यान्त्रिक परिवर्तन कर देते हैं। इसका सबसे अधिक प्रभाव शुष्क तथा ठण्डी जलवायु वाले प्रदेशों में होता है। चट्टानों का विघटन निम्न प्रकार से होता है :

ताप परिवर्तन द्वारा विघटन (Disintegration by Temperature Changes)—चट्टानों के भौतिक अपक्षय में सूर्यताप (insolation) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गर्मी और सर्दी

चित्र 235—चट्टानों के अपक्षय पर ताप और वर्षा का प्रभाव

के कारण चट्टानें फैलती और सिकुड़ती हैं। इस प्रक्रम (process) से चट्टानों का विघटन होता है। शुष्क मरुस्थली प्रदेशों में जहाँ दैनिक तापान्तर बहुत अधिक होता है, चट्टानों का इस प्रकार

डीसिलिकेशन (Desilication)—चट्टानों में पर्याप्त मात्रा में सिलिका पाया जाता है। चट्टानों से रासायनिक विधि से इसके अलग होने को ही डीसिलिकेशन कहा जाता है। अवसादी चट्टानों की अपेक्षा आग्नेय चट्टानों में सिलिका का अंश अधिक रहता है। सिलिका शीघ्र घुलकर बह जाता है। सिलिका के चट्टानों से पृथक हो जाने से वे निर्बल हो जाती हैं। पैंठिक आग्नेय शिलाओं का इसी कारण रासायनिक अपक्षय अधिक होता है।

रासायनिक अपक्षय का यान्त्रिक प्रभाव (Mechanical Effect of Chemical Weathering)

चट्टानों की सँधों एवं दरारों से जब वर्षा-जल उनके भीतर पहुँचता है तो उससे चट्टानों में रासायनिक परिवर्तन होता है। इससे चट्टानों का ऊपरी भाग आयतन में बढ़ जाता है और मुख्य चट्टान से यान्त्रिक विधि से पृथक हो जाता है। सँधि तलों (joint plane) के सहारे अलग हुई चट्टानों की परतें छोटे-छोटे असमान टुकड़ों में विभक्त हो जाती हैं। तदनन्तर ये पहाड़ी ढालों के सहारे खिसककर नीचे आधार में भग्नाश्म राशि (Talus) के रूप में जमा हो जाती हैं। चट्टानों के कोने तथा किनारे तीनों ओर से खुले होने के कारण अधिक प्रभावित होते हैं और धीरे-धीरे गोलाकार आकृति ग्रहण कर लेते हैं। इसे **गोलाश्म अपक्षय** (Spheroidal Weathering) कहते हैं। उष्ण तथा आर्द्र प्रदेशों में भारी व खुरदरे दानों वाली चट्टानें प्रायः गोलाकार रूप ग्रहण कर लेती हैं। जैसे छोटा नागपुर के पठार पर ग्रेनाइट व ग्रेनाइट नीस की पहाड़ियाँ गुम्बदाकार रूप की हैं।

(ग) जैविक अपक्षय
(Biological or Organic Weathering)

धरातल पर जैविक अपक्षय वनस्पति, जीव-जन्तु एवं मनुष्य तीनों साधनों द्वारा होता है :

(1) **वनस्पति** (Vegetation)—चट्टानों के अपक्षय में वनस्पति का भी योग रहता है। वनस्पति से चट्टानों का भौतिक एवं रासायनिक दोनों प्रकार से अपक्षय होता है। पेड़-पौधों की

चित्र 236—वृक्ष द्वारा ग्रेनाइट चट्टानों का विखण्डन

जड़ें चट्टानों की सँधों में प्रवेश कर निरन्तर भीतर घुसने का प्रयास करती हैं। ज्यों-ज्यों जड़ें भीतर प्रवेश करती हैं और मोटी होती जाती हैं, वे चट्टानों की सँधों पर अधिकाधिक दबाव डालती

भी ज्वार उठे जिससे उपग्रहों की रचना हुई। रसेल की धारणा है कि इस विशालकाय तारे का सूर्य पर बहुत ही नगण्य प्रभाव रहा, क्योंकि सूर्य उस तारे से बहुत अधिक दूर था।

चित्र 22—रसैल की द्वै-तारक परिकल्पना
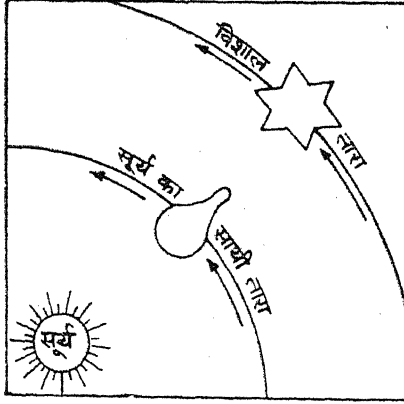
विवेचना

(1) इस सिद्धान्त में युग्म तारों का सुझाव न तो कल्पना ही है और न आश्चर्य करने की बात ही है। अन्तरिक्ष में कई युग्म तारे हैं। क्वीपर के अनुसार अन्तरिक्ष के कुल तारों में से 80% युग्म दो या दो से अधिक समूहों में हैं। यदि रूढ़िवादी विचार को ही मानें तो भी अन्तरिक्ष में 10 प्रतिशत से अधिक युग्म तारे हैं।

(2) ग्रहों का अधिक कोणीय संवेग साथी तारे के अधिक कोणीय संवेग के कारण स्पष्ट हो जाता है।

(3) इस सिद्धान्त से ग्रहों के बीच अत्यधिक दूरियाँ होना भी स्पष्ट हो जाता है।

दोष

(1) सूर्य के साथी तारे से ग्रहों की रचना के पश्चात् जो अवशेष भाग रहा वह अनन्त में कैसे लुप्त हो गया। इसकी कोई व्याख्या इस सिद्धान्त में नहीं है।

(2) इस परिकल्पना में इस बात का भी कोई स्पष्टीकरण नहीं है कि सूर्य के साथी तारे से निर्मित ग्रह जो आकाश में दूर-दूर तक फैले हुए थे, विशालकाय तारे के सुदूर चले जाने पर हमारे सूर्य के आकर्षण क्षेत्र में आ जाते हैं, और उसकी परिक्रमा करने लगते हैं परन्तु सूर्य के साथी तारे का अवशेष भाग उसके प्रभाव में नहीं आता जबकि यह उन ग्रहों की अपेक्षा सूर्य के अधिक निकट था।

(3) अनन्त में दूर-दूर फैले हुए ग्रह किस प्रकार अपनी वर्तमान स्थिति तथा परिक्रमा-पथ में आ गये, इसका भी कोई सन्तोषप्रद हल इस परिकल्पना में नहीं मिलता।

डा० आफवेन की विद्युत-चुम्बकीय परिकल्पना
(The Electromagnetic Hypothesis of Dr. Hannes Alfven)

सौरमण्डल के ग्रहों की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए अधिकांश वैज्ञानिकों ने गुरुत्वाकर्षण शक्ति अथवा ज्वारीय शक्ति को ही आधार मानकर उनका उपयोग किया। डा० आफवेन ने सन् 1942 में विद्युत चुम्बकीय शक्ति का प्रयोग कर सौरमण्डल की उत्पत्ति को समझाने के लिए एक नवीन साध्य को प्रस्तुत किया। अब यह ज्ञात हो चुका है कि पृथ्वी के समान सूर्य के चारों ओर भी चुम्बकीय क्षेत्र (Magnetic Field) है। डा० आफवेन की मान्यता है कि सूर्य का यह चुम्बकीय क्षेत्र आदिकाल में वर्तमान समय की अपेक्षा कई हजार गुना अधिक शक्तिशाली रहा होगा। इस प्रकार सूर्य का चुम्बकीय आकर्षण उसके गुरुत्वाकर्षण से अधिक प्रभावशाली होगा।

डा० आफवेन की धारणा है कि सूर्य पहले बड़ी तेजी से परिभ्रमण करता था। तीव्र गति से परिभ्रमण करता हुआ सूर्य एक समय ऐसे परमाणुओं के मेघ में जा पहुँचा जिसके अणु विद्युत की दृष्टि से तटस्थ थे। ये अणु सूर्य के चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभाव में आकर सूर्य की परिक्रमा करने लगे। इसके द्वारा निर्मित मेघ का विस्तार वर्तमान समस्त ग्रहों के कुल फैलाव के बराबर था। सूर्य के निकट आने से अणुओं की शक्ति बढ़ती गयी जिससे उनकी गति तीव्र हो

गयी और वे परस्पर टकराने लगे। उसके उपरान्त वे आयनीकृत (Ionized) हो गये। फलस्वरूप सूर्य उनको अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सका और वे सूर्य के विषुवत-रेखीय तल पर एकत्रित होकर उसकी परिक्रमा करने लगे। सूर्य के चारों ओर एकत्रित इस अणु पदार्थ के परिभ्रमण से सूर्य की दैनिक गति न्यून हो गयी, इसके उपरान्त अणुओं और परमाणुओं के घनीभूत होने से ग्रह बने। इन ग्रहों के चुम्बकीय क्षेत्रों ने अन्य अणुओं को आकर्षित किया जिससे उनके उपग्रह बन गये।

यह सिद्धान्त भीतरी ग्रहों के निर्माण को स्पष्ट करने में असमर्थ है। अतः यह सिद्धान्त अभी अपूर्ण है।
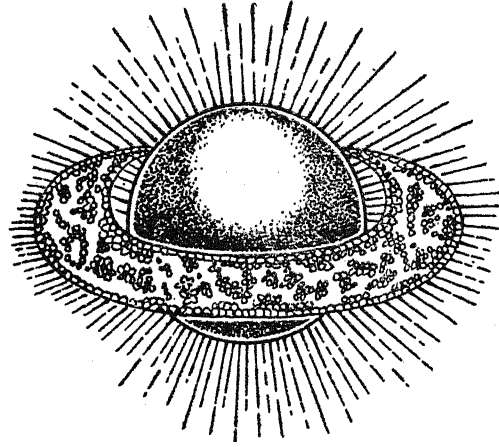
चित्र 23—डॉ० आफवेन की विद्युत चुम्बकीय परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति

डा० वोन विसेकर की परिकल्पना
(Hypothesis of Dr. Von Weitzsacker)

जर्मन विज्ञानवेत्ता डा० विसेकर ने भौतिक-विज्ञान के आधार पर सौरमण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सन् 1943 में एक नवीन परिकल्पना का प्रतिपादन किया।

डा० विसेकर के अनुसार सौरमण्डल की उत्पत्ति अन्तरिक्ष में फैले हुए एवं धूल के बारीक कणों के घनीभूत हो जाने से हुई है। आकाश में आज भी ऐसी कई नीहारकाएँ जैसे ओरियन की विशाल नीहारिका, काले समूह की नीहारिका (Coal Sack Nebula) आदि पायी जाती हैं जो गैस एवं धूल के मेघ-निर्मित मेघ के सदृश हैं। डा० विसेकर के अनुसार किसी समय नीहारिका मेघ अत्यन्त विस्तृत था। एक समय सूर्य इस नीहारिका मेघ में प्रविष्ट हो गया और सैकड़ों वर्षों तक इसमें घिरा रहा। सूर्य ने अपने गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीहारिका मेघ का कुछ पदार्थ आकर्षित कर लिया और शेष भाग अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। नीहारिका मेघ का जो पदार्थ सूर्य के प्रभाव में आ गया वह उसके चारों ओर वलय रूप में परिक्रमा करने लगा। नीहारिका मेघ के धूल-कणों के परस्पर टकराने से शनैः-शनैः वे घनीभूत हो गये और ग्रह बन गये।
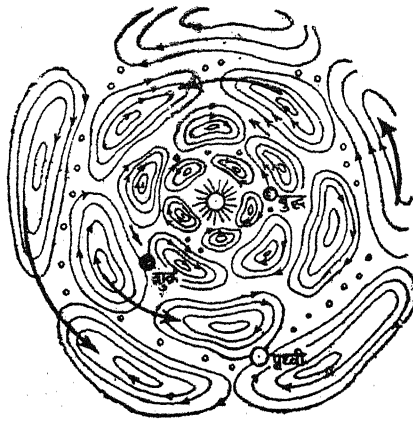
चित्र 24—प्रत्येक हार में पाँच चन्द्राकार भँवर

सूर्य के चारों ओर बड़े पिण्डों के रूप में घनीभूत धूल के कणों की तुलना डा० विसेकर ने एक हार (Necklace) से की थी। चूँकि धूल के कण विभिन्न दूरियों पर घनीभूत हो रहे थे, इसलिए कई हारों की कल्पना की जानी चाहिए। ऐसे प्रत्येक हार में पाँच गोलाकार मोती अथवा

'चक्राकार भँवर' होंगे ।[1] इन भँवरों के कारण ही धूल-कणों को परिक्रमा लगाने के लिए सुरक्षित पथ प्राप्त हो जाते हैं। भँवरों की बाह्य सीमा पर कणों का घनीभूत हो जाना भी सुगम हो जाता है। ग्रहों के समान ही उपग्रहों की रचना हुई होगी।

गुण

(1) सूर्य के चारों ओर तीव्र गति से घूमते हुए गैस एवं धूल के मेघ की कल्पना विसेकर के सिद्धान्त की बड़ी विशेषता है। तीव्र गति से घूमते हुए ऐसे पदार्थ में ही छोटे व बड़े भँवरों की कल्पना की जा सकती है। छोटे भँवरों का सूर्य के पास और बड़े भँवरों का सूर्य से दूर निर्माण होगा। इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा सूर्य से ग्रहों की अत्यधिक दूरियों की बात समझ में आ जाती है।

(2) ग्रहों के निर्माण में हल्के तत्त्वों का 99 प्रतिशत और भारी तत्त्वों का केवल 1 प्रतिशत योग है। धूल हल्की होती है। इसलिए विसेकर की हल्के तत्त्वों की बात मैक्सवेल की खोज के अनुकूल है।[2]

(3) विसेकर ने गैस एवं धूल की परिकल्पना करके एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया। इसी के आधार पर क्वीपर, फैसनकोल व श्मिड आदि विद्वानों ने आगे कार्य किया।

दोष

(1) इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक आधार सुदृढ़ नहीं है।
(2) धूल के हारों की बात बड़ी काल्पनिक लगती है।
(3) भँवरों का उचित प्रणाली में व्यवस्थित होना किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

प्रो० होयल तथा लिटिलटन का नव-तारा सिद्धान्त
(The Nova Hypothesis of Prof. F. Hoyle and R. A. Lyttleton)

सौरमण्डल के ग्रहों एवं उपग्रहों की उत्पत्ति को समझाने के लिए प्रो० होयल तथा लिटिलटन ने नव-तारा परिकल्पना का प्रतिपादन किया। वैज्ञानिक खोजों से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सौरमण्डल के ग्रहों का निर्माण भारी तत्त्वों से हुआ है। इनके निर्माण में 98 प्रतिशत से भी अधिक भाग ऑक्सीजन, सिलिका, लोहा, कैल्शियम व एलुमीनियम आदि भारी तत्त्वों का तथा 1 प्रतिशत से कम भाग हाइड्रोजन व हीलियम जैसे हल्के तत्त्वों का पाया जाता है। इसके विपरीत अन्तरिक्ष में हाइड्रोजन और हीलियम जैसे हल्के तत्त्वों की ही प्रधानता पायी जाती है। तारों की रचना में भी हाइड्रोजन व हीलियम जैसे तत्त्व ही प्रमुख होते हैं। अतः सौरमण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी सभी परिकल्पनाओं के साथ यह आक्षेप पाया जाता है कि ग्रहों एवं उपग्रहों में भारी तत्त्व कहाँ से आये। इसी आक्षेप से
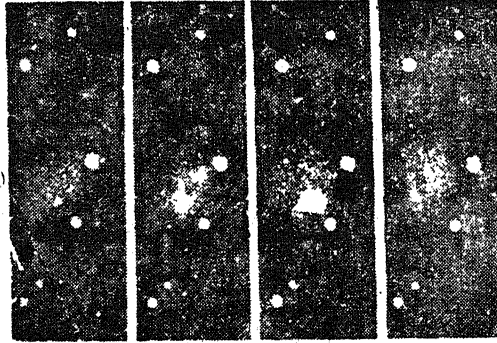
चित्र 25—अधिनव तारा

---

[1] G. Gamow : *Creation of the Universe*, p. 107

[2] G. Gamow : *The Creation of the Universe*, p. 103

बचने तथा इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने हेतु प्रो० होयल तथा लिटिलटन ने नव-तारा साध्य को प्रस्तुत किया।

नव-तारा परिकल्पना (Nova Hypothesis) के अनुसार सौर ग्रहों की रचना अधिनव तारे (Super Nova) के विस्फोट के कारण हुई है। कोई तारा अधिनव तारा उसी अवस्था में बनता है, जबकि उसमें हाइड्रोजन तत्त्व की कमी हो जाती है।[1] हाइड्रोजन ताप और शक्ति का प्रमुख स्रोत है। हाइड्रोजन के जलने से ही भारी तत्त्व बनते हैं। किन्तु सूर्य जैसे तारे में निहित तापमान पर हाइड्रोजन के जलने पर केवल हीलियम ही बनती है। भारी तत्त्वों की उत्पत्ति हाइड्रोजन के बहुत ऊँचे तापमान पर जलने से होती है अतः जब किसी तारे में हाइड्रोजन की कमी हो जाती है तो उसे शक्ति उत्पन्न करने के लिए सिकुड़ना पड़ता है। तारे के सिकुड़ने से उसके केन्द्र का तापमान कई लाख डिग्री सेण्टीग्रेड हो जाता है। यही तारे की अधिनव अवस्था होती है। ऊँचे ताप के कारण भारी तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। ताप के बढ़ने से केन्द्र पर दबाव बढ़ता जाता है जिससे अन्ततः तारा अस्थिर हो उठता है। तारे के सिकुड़ने से उसकी परिभ्रमण गति भी बढ़ जाती है। परिभ्रमण वेग के बढ़ने से तारे में अपकेन्द्रीय शक्ति की वृद्धि होती है जिससे पदार्थ तारे से बाहर फेंक दिया जाता है। इस प्रकार तारे से प्रारम्भ में बाहरी पदार्थ और बाद में भारी तत्त्व बाहर फेंके जाते हैं। भारी तत्त्वों के बाहर फेंकने के बाद तारे के केन्द्र में दिव्य प्रकाश दिखाई पड़ता है जो हमारे सूर्य से कई गुना होता है। ऐसे प्रकाश वाले तारों को ही नव-तारा (Nova) कहा जाता है।

चित्र 26—होयल तथा लिटिलटन की नव-तारा परिकल्पना के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति

होयल की मान्यता है कि अन्तरिक्ष में प्रतिवर्ष साधारणतः 15 से 20 नवतारे दिखाई पड़ते हैं। जब कोई तारा सूर्य से एक अरब गुना प्रकाश उत्पन्न करता है तो वह अधिनव तारा (Super Nova) होता है। अन्तरिक्ष में ऐसे तारे दो-तीन शताब्दियों में कभी-कभी ही प्रकट होते हैं। कुछ बहुत अधिक ज्योतिशील नीहारिकाएँ भी इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। वर्तमान समय में आकाश में देखी जाने वाली **क्राब नीहारिका** (Crab Nebula) ऐसी ही नीहारिका है। इसे प्रति सैकण्ड 800 मील की गति से पदार्थ को बाहर फेंकते हुए देखा गया है। इस नीहारिका के मध्य एक अधिनव तारा है जो पृथ्वी से दुगुना बड़ा है किन्तु इसमें

1 R. A. Lyttleton : *The Modern Universe*, p. 169

पट्ट (Glacial Table) कहा जाता है। अन्ततोगत्वा जब हिम-पट्ट पिघल जाते हैं तो शिलाखण्ड भी गिर जाते हैं।

ढाल (Slope)—विभिन्न हिमानियों के ऊपरी तल के ढाल में बड़ी भिन्नता देखी जाती है। पर्वत-शिखरों से निकलने वाली कुछ छोटी हिमानियों का ढाल 25° से 30° तक होता है। स्थानीय रूप से प्रपाती हिमानियाँ और भी अधिक ढालू होती हैं। स्विट्जरलैण्ड और अलास्का की कई लम्बी हिमानियों का नीचे की ओर ढाल 100 प्रति फुट मील पाया गया है।

चित्र 260—हिमानी पट्ट

अपवाह (Drainage)—ग्रीष्मकाल में तापमान के बढ़ जाने के कारण हिमानी की ऊपरी सतह पिघलने लगती है। फलस्वरूप पिघला हुआ हिम जल हिमानी की सतह पर ढाल के अनुकूल होने पर धाराओं के रूप में बहने लगता है। ये धाराएँ या तो हिमानी के दोनों किनारों के पास बहती हैं या हिम-विदरों में गिरकर लुप्त हो जाती हैं। हिम-विदरों में जाकर धाराओं का जल पुनः जम जाता है। कई स्थानों पर हिमानी के ऊपर हिमोढ़ जमा हो जाने से छोटी-छोटी झीलें बन जाती हैं। कई बार हिमानी के ऊपर बहने वाली धाराएँ अपने साथ कंकड़, पत्थर व गोलाश्म आदि को प्रवाहित करती हैं। कई स्थानों पर इन पदार्थों के भँवरदार कार्य से हिम में बेलनाकार गर्त बन जाते हैं। इन गर्तों को **हिमानी भँवर** (Moulines) कहा जाता है। ऐसे गर्त कभी-कभी हिमानी तल की चट्टानों तक पहुँच जाते हैं और उन पर भी जलगर्तिका के चिह्न (pot-hole marks) बन जाते हैं। कभी-कभी ये गर्त हिमानी में बनी कन्दराओं में विलीन हो जाते हैं।

हिम के पिघलने से बनी वे धाराएँ जो हिमानी के ऊपर तल पर बहती हैं, **ऊर्ध्व हिम-धाराएँ** (Super glacial streams) कहलाती हैं। किन्तु कई धाराएँ हिमानी के नीचे कन्दराओं में बहती हैं। ऐसी धाराओं को **अधो हिम-धाराएँ** (Sub glacial streams) कहा जाता है। ये जल-धाराएँ कन्दराओं में होकर हिमानी के अगले भाग में नीचे से बाहर प्रकट होती हैं। ये धाराएँ अपने साथ प्रचुर मात्रा में अपोढ़ एवं घुलित पदार्थ बहाकर लाती हैं। कई बार घुलित पदार्थों से धाराओं का जल दूधिया (milky) हो जाता है। अतः हिमानी के नीचे से निकलने वाली धारा से प्रवाहित ऐसे जल को **हिमानी दूध** (Glacial milk) कहते हैं।

सतही अपोढ़ (Surface Debris)—प्रायः बड़ी घाटी हिमानियाँ अपने साथ बड़े परिमाण में हिमोढ़ को बहा ले जाती हैं। यह हिमोढ़ अधिकांशतः हिमानी के किनारों के निकट या उसके ऊपर स्थित रहता है। हिमानी के मुहाने के समीप बर्फ पिघलने के कारण अधिकांश हिमोढ़ हिमानी की सतही धाराओं के द्वारा हिमानी के ऊपर फैला दिया जाता है। अलास्का में कई हिमानियों के निचले भाग का लगभग एक वर्गमील क्षेत्र पूर्णतः हिमोढ़ की परत से ढका हुआ पाया जाता है।

घाटी हिमानी का अनुप्रस्थ-खण्ड चित्र

सामान्यतः यह कहा जाता है कि हिमनदी की घाटियाँ यू-आकार की होती हैं। इस

चित्र 261—एक आदर्श यू-आकार की घाटी—निलम्बी घाटियों सहित

कथन का हेत्वाभास (fallacy) इस बात में निहित है कि हम हिमानी की धारा (channel) की नदी की घाटी (valley) से तुलना करते हैं। किन्तु वास्तव में हिमानियों और नदियों दोनों की धाराएँ (channels) यू-आकार की होती हैं। लेकिन नदियाँ घाटी के अनुप्रस्थ-खण्ड का बहुत थोड़ा-सा भाग घेरती हैं, जबकि हिमानियाँ सम्पूर्ण घाटी को घेर लेती हैं। अतः हिमानी की धारा ही प्रभावशाली रूप बन जाता है।

समीक्षा

सौरमण्डल की उत्पत्ति सम्बन्धी नवीन परिकल्पनाओं में श्मिड के सिद्धान्त को बड़ी मान्यता प्राप्त हुई। श्मिड ने अपने सिद्धान्त के तथ्यों को बड़े ही तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है, जो निम्न हैं :

(1) यह सिद्धान्त ग्रहों के विशिष्ट कोणीय संवेग को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। श्मिड के अनुसार ग्रहों की रचना सूर्य से नहीं अपितु गैस एवं धूल के मेघ से होती है। अतः सूर्य और ग्रहों के कोणीय संवेग में अन्तर होना स्वाभाविक है। फिर स्वयं ग्रहों में जो संवेग का अन्तर पाया जाता है वह धूल-कणों के घनीभूत होते समय उनके कोणीय संवेग (Angular Momentum) के पुनः वितरण का फल है। श्मिड ने गणित द्वारा यह भी सिद्ध किया है कि जिस ग्रह के ग्रह-पथ का अर्द्धव्यास कम है उसका कोणीय संवेग कम और जिसका ज्यादा है उसका संवेग भी अधिक होगा।

(2) सौरमण्डल में सूर्य के निकट भारी तत्त्वों—सिलिका, लोहा, एलुमीनियम आदि से निर्मित ग्रह हैं जो भीतरी ग्रह कहलाते हैं। सूर्य से दूर हल्के तत्त्वों के ग्रह हैं; जैसे बृहस्पति, शनि आदि। ग्रहों के उपरोक्त वितरण को स्पष्ट करते हुए श्मिड ने बताया है कि जिस समय गैस धूल-कण तश्तरी के रूप में सूर्य के चारों ओर संगठित हो गये, तो सूर्य की किरणें तश्तरी को बेधकर अधिक दूर नहीं जा सकती थीं। अतः तश्तरी के भीतरी भाग की ओर उष्णता की अधिकता से भारी तत्त्वों वाले ग्रह बने। तश्तरी के बाहरी भाग की ओर जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पाती होंगी वहाँ अत्यन्त न्यून तापमान (—270° सें०) के कारण हल्के गैसीय पदार्थ रहे होंगे जो शीत से जम गये होंगे। इस प्रकार सूर्य से दूर बाहर की ओर हल्के तत्त्वों के ग्रह बन गये।
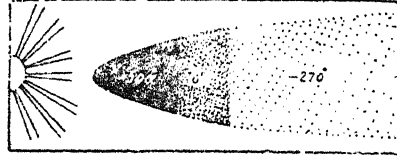
चित्र 29—सूर्य के चारों ओर तश्तरी में ताप का वितरण

(3) श्मिड ने ग्रहों के बीच की दूरियों को स्पष्ट करते हुए बताया है कि विभिन्न परिमाण और गति वाले पिण्ड सूर्य की परिक्रमा करते हुए भिन्न-भिन्न दूरियों पर ही संगठित होंगे। श्मिड ने ग्रहों के मध्य की दूरियों को निर्धारित करने में सांख्यिकीय नियम (Statistical Law) को आधार बनाया।
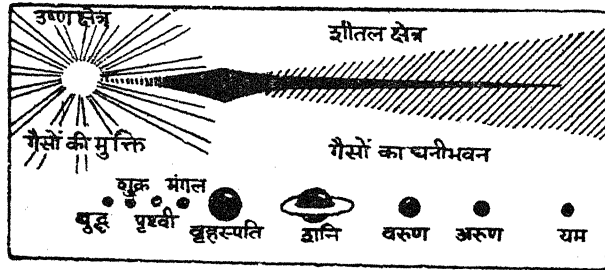
चित्र 30—ग्रहों का वर्गीकरण

(4) सौरमण्डल के ग्रहों का परिक्रमा-पथ वृत्ताकार पाया जाता है। श्मिड के अनुसार इसका कारण विभिन्न कणों का टकराकर अपनी गति का औसत परिणाम (Average Motion) प्राप्त करना है। गति के औसत परिणाम प्राप्त करने से दो अवस्थाएँ पैदा होती हैं। एक तो ग्रहों का एक ही कक्षा में परिक्रमा लगाना और दूसरा एक ही दिशा में घूमना। यद्यपि ग्रहों की कक्षा सूर्य की कक्षा के साथ 6° का कोण बनाती है फिर भी यह ग्रहों का निर्माण करने वाले कणों की

स्वतन्त्र गतिविधि का फल है। **सी** नामक विद्वान ने ग्रहों के परिक्रमा-पथ का वृत्ताकार हो जाने के सम्बन्ध में एक समाधान दिया है। उसका कहना है कि ग्रहों की उत्पत्ति के पश्चात् सूर्य के चारों ओर बची हुई गैस धूल का **बाधक माध्यम** (Resisting Medium) उपस्थित था। इस बाधक माध्यम से होकर गुजरने के कारण ग्रहों का परिक्रमा-पथ वृत्ताकार हो जाना सम्भव है। **रोशे के सीमा सिद्धान्त** (Theory of Roche's Limit) के द्वारा भी इसकी पुष्टि होती हैं।

चित्र 31—**ग्रहाणुओं से क्षुद्रग्रहों एवं ग्रहों का निर्माण**

दोष—यद्यपि सौरमण्डल की उत्पत्ति को समझाने में श्मिड का सिद्धान्त बहुत ही अच्छा है। इसके द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त हो जाता है। **विक्टर सेफ्रोनोव** ने इस सिद्धान्त को अंशतः सत्य भी माना है, किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त में कुछ कमियाँ रह जाती हैं।

(1) अन्तरिक्ष में धूल और गैस के बादल की उत्पत्ति कैसे हुई? इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर यह सिद्धान्त नहीं देता।

(2) आकाशीय नक्षत्रों के बीच बहुत अधिक दूरियाँ होने पर भी वह बादल सूर्य की ओर क्यों और कैसे आकर्षित हुआ?

(3) शिथिल गैस और धूल के बादल को सूर्य जैसा तारा कैसे उसका अपहरण कर सका?[1]

रासजन की आवर्तन और ज्वारीय परिकल्पना (Rossgunn's Rotational and Tidal Hypothesis)

यह परिकल्पना लाप्लास और जेम्स जीन दोनों की परिकल्पनाओं पर आधारित है और दोनों मूलभूत तत्त्वों में समन्वय स्थापित करती है। इस परिकल्पना के अनुसार बहुत तीव्र गति से घूमने पर तारा लगभग विस्फोटक दशा को पहुँच जाता है। रासजन की मान्यता है कि सूर्य भी प्रारम्भ में घूमते-घूमते इसी अवस्था को पहुँच गया था। जब सूर्य इस अवस्था को पहुँच गया तो उसी समय दूसरा तारा उसके समीप पहुँचा। इससे दोनों में ज्वार उठने लगे। ज्वार की क्रिया से दोनों ही विकृत हो गये और विकृत होकर अलग हो गये। परन्तु ज्वारीय भाग पीछे ही छूट गया। यह ज्वारीय पदार्थ धीरे-धीरे घना होने लगा जिससे नक्षत्रों की रचना हुई।
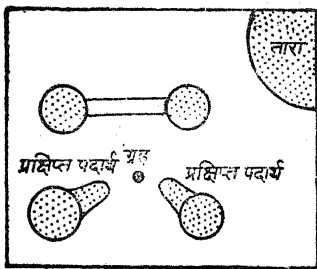
चित्र 32—**रासजन का सिद्धान्त**

इस परिकल्पना में रासजन ने सूर्य की जिस गति को

[1] B. Levin : *The Origin of the Earth and Planets*, p. 49

है। ये श्रेणियाँ अपनी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई में विभिन्न होती हैं। ये सैकड़ों फुट ऊँची और पर्याप्त चौड़ी होती हैं। परस्पर मिले हुए मेहराब की भाँति हिमोढ़ की ये श्रेणियाँ सैकड़ों और

चित्र 273—हिमोढ़ और हिमोढ़-निर्मित झीलें

हजारों मील तक फैली रहती हैं। हिमोढ़ के इन निक्षेपों का ऊपरी तल बहुत ही ऊँचा-नीचा और असमान होता है। इनके तल पर असंख्य छोटे-छोटे गर्त, पहाड़ियाँ और कटकें होती हैं।

अग्रान्तस्थ हिमोढ़ अपनी संरचना और मिश्रण से एक जैसे नहीं होते। विभिन्न स्थानों पर निक्षेपित इन हिमोढ़ों में भिन्नता पायी जाती है। कुछ स्थानों पर अपोढ़ केवल ठोस चीका-मात्र
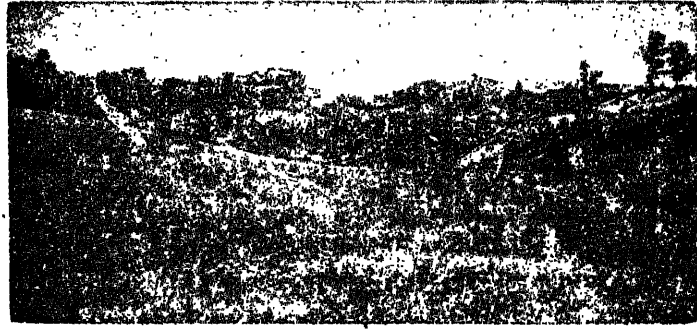
चित्र 274—टीले एवं गर्त भू-आकार

होती है, कुछ स्थानों पर चीका के साथ गोलाश्म मिले हुए पाये जाते हैं और कुछ स्थानों पर बालू या बालू और गोलाश्म मिलते हैं। ये सब पदार्थ समस्त सम्भावित अनुपातों में एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं। सस्केचवान, अलबर्टा और बड़ी झीलों के क्षेत्र में ऐसे हिमोढ़ के तल पर प्रति वर्गमील हजारों गोलाश्म पाये जाते हैं। मिशीगन के समीप 8 से 10 फुट बड़े गोलाश्म ही मिलते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि इन हिमोढ़ों की कुल मोटाई में कैसे पदार्थ मिल सकते हैं। सामान्यतः ये हिमोढ़ स्तरहीन होते हैं और पदार्थों का कोई क्रम नहीं होता। लेकिन अनेक स्थानों पर विशेषतः हिमोढ़ के छोरों पर झीलों में निक्षेपित मिट्टी की असम्मित किन्तु

नीचे की कोमल चट्टानों का घर्षण कर वहाँ गर्त का निर्माण कर देते हैं। धीरे-धीरे ये गर्त काफी बड़े होकर कुण्ड बन जाते हैं। अतः ऐसे कुण्डों को ही आनति गर्त (plung pools) कहा जाता है।

सामान्यतः जहाँ कहीं नदी प्रपात बनाती है वहाँ प्रपात के नीचे ऐसे गर्त बन जाते हैं। किन्तु इनकी रचना ऐसे क्षेत्रों में अधिक होती है जहाँ ऊपर बालू-पत्थर या चूना-पत्थर की तहें हों और उनके नीचे शेल चट्टान की परतें बिछी हों।

(4) **गार्ज** (Gorge)—सामान्यतः नदी की गहरी एवं संकरी घाटियों को गार्ज अथवा कन्दरा कहा जाता है। ऐसी नदी-घाटियों के पार्श्व अत्यन्त ढालू होते हैं। इन ढालों के ऊपरी भाग

चित्र 311—**नर्मदा नदी का गार्ज**

ऋतु-अपक्षय के द्वारा कटते रहते हैं किन्तु निचले भाग ऋतु-अपक्षय के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। इसलिए ये घाटियाँ ऊपर से अपेक्षतया चौड़ी होती हैं। कभी-कभी गार्ज की दीवारें एकदम खड़ी होती हैं। जब कभी नदी घाटी को चौड़ा करने की अपेक्षा गहरा करने का कार्य अधिक तीव्रता से करती है तभी ऐसी संकीर्ण घाटियाँ बनती हैं। गार्ज की रचना कठोर चट्टानी भागों में होती है। भारत में नर्मदा, चम्बल, कृष्णा, सतलज, सिन्धु आदि नदियाँ कई स्थानों पर गार्ज बनाती हैं। भारत का सबसे ऊँचा भाखड़ा बाँध सतलज नदी के भाखड़ा गार्ज पर ही बनाया गया है।

(5) **कैनियन** (Canyon)—वस्तुतः कैनियन गार्ज का ही बड़ा रूप है। रचना की दृष्टि से एक गार्ज और कैनियन में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं होता। इसीलिए **वारसेस्टर** ने कैनियन और गार्ज की परिभाषा करते हुए कहा है कि "These are valleys whose walls are very steep and high in proportion to their width."[1] किन्तु सामान्यतः कैनियन एक गार्ज से बड़ी होती है। ऊँचे पहाड़ी और पठारी भागों में जब नदी-घाटी के चौड़े होने की अपेक्षा गहरे होने की क्रिया तेज होती है तो ऐसी संकीर्ण घाटियाँ बनती हैं। साधारणतः एक कैनियन की रचना निम्न अवस्थाओं में सुगमता से होती है :

(1) **ऊँचा पहाड़ी अथवा पठारी भाग**—ताकि नदी चरमस्तर को पहुँचने के पूर्व घाटी को काफी गहरा काट सके।

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 174

(1) फ्रांसीसी वैज्ञानिक **जार्ज बफन** ने 18वीं शताब्दी में एक अनोखा प्रयोग करके पृथ्वी की आयु का अनुमान लगाया। उसने धातु की दो बड़ी गेंदें लीं और उन्हें लाल गरम कर लिया। इसके बाद उसने प्रयोग करके देखा कि ये गेंदें किस गति से ठण्डी हो रही हैं। जिस गति से ये गेंदें ठण्डी हुईं उसकी तुलना उसने पृथ्वी से की और पता लगाया कि पृथ्वी की आयु 75 हजार वर्ष से ज्यादा है।

पृथ्वी की आयु निश्चित रूप से 75 हजार वर्ष से ज्यादा है। लेकिन यह कितनी ज्यादा है? यह प्रश्न शेष रह जाता है।

(2) **लॉर्ड कैल्विन** के अनुसार पृथ्वी 4500° सेण्टीग्रेड तापमान से ठण्डी हुई है। इस आधार पर पृथ्वी को ठोस अवस्था प्राप्त किये 10 करोड़ वर्ष से अधिक नहीं हुए हैं। किन्तु इस मत को मान लेने में निम्न कठिनाइयाँ हैं :

(क) पृथ्वी के ठण्डे होने की गति का पता लगाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है।

(ख) इस मत को स्थिर करते समय चट्टानों में उपस्थित तेजोद्गार पदार्थों का ध्यान नहीं रखा गया जो कि चट्टानों की संचालकता को प्रभावित करते हैं।

(ग) धरातल के विभिन्न स्थानों पर विभिन्न समय में सूर्य-ताप की मात्रा भिन्न होती है।

(3) **चन्द्रमा के आधार पर**—चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण के द्वारा पृथ्वी पर ज्वार उत्पन्न होता है। ज्वार से उत्पन्न लहरें पृथ्वी के परिभ्रमण में बाधा उपस्थित करती हैं, जिससे पृथ्वी के परिभ्रमण का समय बढ़ता जा रहा है। पृथ्वी की परिभ्रमण गति में वृद्धि के साथ-साथ चन्द्रमा की परिभ्रमण गति में भी वृद्धि हो रही है। परिभ्रमण गति में इस परिवर्तन के कारण चन्द्रमा पृथ्वी से दूर हटता जा रहा है। प्रसिद्ध खगोलशास्त्री **जार्ज डार्विन** के अनुसार प्रतिवर्ष चन्द्रमा पृथ्वी से 13 सेमी दूर हट जाता है। वर्तमान में चन्द्रमा पृथ्वी से 3 लाख 84 हजार किलोमीटर दूर है। 13 सेमी प्रतिवर्ष की दर से चन्द्रमा को इतनी दूरी हटाने में 400 करोड़ वर्ष का समय लगेगा।[1] इस आधार पर पृथ्वी की आयु 4 अरब वर्ष ठहरती है।

(4) **अवसादन के आधार पर**—प्रारम्भ में जब पृथ्वी द्रव अवस्था से ठोस अवस्था को प्राप्त हुई तो उस पर कठोर आग्नेय चट्टानों का आवरण निर्मित हुआ होगा। तदनन्तर बाह्य शक्तियों के द्वारा इसका अपक्षय और अपरदन प्रारम्भ हुआ। अपरदन के कारण ठोस भू-पटल का कटाव होने लगा और कटा हुआ पदार्थ अवसाद (Sediments) रूप में समुद्रों में जमा होने लगा। यदि नदियों व हिमनदियों आदि साधनों के द्वारा समुद्रों में अवसाद जमा करने की दर और अवसाद रूप में निक्षेपित मलवे की अर्थात अवसादी शैलों की मोटाई किसी प्रकार ज्ञात की जा सके तो पृथ्वी की आयु का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में **आर्थर होम्स** (Arthur Holms) की जानकारी उल्लेखनीय है। होम्स ने ज्ञात किया है कि टेम्स नदी प्रतिवर्ष 10 से 20 लाख मीट्रिक टन अवसाद अन्ध महासागर में पहुँचाती है। इस आधार पर होम्स ने अनुमान लगाया कि संसार की नदियों द्वारा प्रति वर्ष लगभग 600 करोड़ मीट्रिक टन अवसाद समुद्रों में पहुँचाया जाता होगा।[2] होम्स ने अवसाद के निक्षेप की अधिकतम मोटाई का भी पता लगाया है। यह मोटाई 112 किलोमीटर के क़रीब आँकी गयी है। इस प्रकार अवसादों के निक्षेप के आधार पर पृथ्वी की आयु 40 करोड़ वर्ष अनुमानित की गयी है, किन्तु यह सत्य प्रतीत नहीं होता। इस विधि द्वारा आयु निर्धारण के विरोध में अग्रलिखित आपत्तियाँ हैं।

---

1 G. Gamow : *The Creation of the Universe*, pp. 21-23

2 M. W. Smart : *The Origin of the Earth*, p. 114

(क) अवसादन की गति प्रत्येक समय एकसमान नहीं होती।

(ख) अवसादित पदार्थ के अपरदन का इसमें कोई ध्यान नहीं रखा गया है।

(ग) डा० हटन का कहना है कि समुद्र-जल के लवणयुक्त होने से अवसाद अधिक नीचे धँस गये होंगे।

वैज्ञानिकों ने कई प्रकार के परीक्षण करके अब यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी के जन्म से एक अरब वर्ष तक उसके धरातल पर बहते हुए जल द्वारा कोई अपरदन नहीं हो सकता। इसी सन्दर्भ में **अमरीका की भू-गर्भशास्त्र की अमरीकन संस्था** ने पृथ्वी की प्राचीन शैलों का अध्ययन कर यह बताया है कि बहते हुए जल द्वारा अपरदन की क्रिया लगभग 4 अरब वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुई थी। इस नवीन मत के अनुसार पृथ्वी की आयु 5 अरब वर्ष के लगभग ठहरती है।

(5) **समुद्रों की लवणता के आधार पर**—समुद्रों का जल खारा होता है। इनका यह खारापन नदियों द्वारा बहाकर लाये गये लवण पदार्थों के कारण होता है। नदियों के प्रवाहित जल में सदैव नमक के तत्त्व घुले रहते हैं। प्रतिवर्ष नदियाँ पर्याप्त मात्रा में नमक लाकर समुद्रों में उँडेलती रहती हैं जिससे शनैः शनैः महासागर अधिकाधिक खारे होते जा रहे हैं। किसी समुद्र के जल का आयतन तथा उसमें लवणता की औसत मात्रा निकालकर पूरे समुद्र की लवणता की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। प्रतिवर्ष लवणता कितनी बढ़ती है यह भी ज्ञात किया जा सकता है। इस प्रकार लवणता की कुल मात्रा में एक वर्ष की लवणता की मात्रा से भाग देने पर पृथ्वी की आयु ज्ञात हो सकती है।

लगभग दो शताब्दी पूर्व **एडमण्ड हैली** नामक वैज्ञानिक ने समुद्र-जल का परीक्षण कर यह मत स्थिर किया कि समुद्रों में नमक की कुल मात्रा नदियों द्वारा ही पहुँचायी गयी है। हैली का अनुसरण कर सन् 1899 में **जोली** ने गणना करके यह बताया कि समुद्रों में कुल नमक की मात्रा 1260 करोड़ मीट्रिक टन है।[1] और संसार की समस्त नदियाँ प्रतिवर्ष 15·6 करोड़ मीट्रिक टन नमक समुद्रों में पहुँचा देती हैं। समुद्रों में नमक के पहुँचने की उपरोक्त दर के आधार पर कुल नमक पहुँचने में लगभग 8 करोड़ वर्ष लगे होंगे। यद्यपि इस आगणन से केल्विन के मत को समर्थन मिलता है, लेकिन आजकल के भू-वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं हैं। **जार्ज गेमोव** के अनुसार समुद्र में जल की कुल राशि लगभग 1 अरब 50 करोड़ घन किलोमीटर है[2] और इस जल-राशि में 3% नमक मिला हुआ है। जल में घुले हुए इस सम्पूर्ण नमक को यदि हम निकाल सकें तो उससे 2 करोड़ घन किमी ऊँचा पर्वत खड़ा हो जायगा और उसका वजन 40,000,000,000,000,000 टन से अधिक होगा।[3] कुछ भू-गर्भवेत्ताओं के अनुसार प्रत्येक वर्ष नदियाँ समुद्र में 40 करोड़ टन नमक बहा ले जाती हैं। इस गणना के आधार पर समुद्रों की आयु लगभग 100 करोड़ वर्ष ठहरती है।[4]

आपत्तियाँ

इस विधि से पृथ्वी की आयु को स्थिर करना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि नदियों द्वारा अपरदन की गति सदैव एक समान नहीं होती। अपरदन कभी अधिक और कभी कम होता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष समुद्र में एक निश्चित मात्रा में नमक की उपलब्धि को मानकर पृथ्वी की आयु का अनुमान लगाना उचित नहीं है।

---

1 W. M. Smart : *The Origin of the Earth*, p. 113
2 G. Gamow : *Biography of the Earth*, p. 3
3 *Ibid.*
4 *Ibid.*

संसार की सभी नदियों की कोई रासायनिक परीक्षा नहीं हुई है अतः कौन-सी नदी समुद्र में प्रतिवर्ष कितना नमक उँडेलती है यह ठीक से ज्ञात नहीं है।

इस विधि में यह मान लिया गया है कि समुद्र जल प्रारम्भ में मीठा था परन्तु पुराजीव कल्प के घोंघों तथा अन्य जीवाश्मों से ज्ञात होता है कि समुद्र का जल प्रारम्भ में भी लवणयुक्त था, क्योंकि इसका आधार नमक ही था।

समुद्रों की लवणता कई बातों पर निर्भर करती है परन्तु इस परिकल्पना में उन सब बातों की अवहेलना की गयी है।

(6) **तेजोद्‌गार पदार्थों के आधार पर**—भू-पटल पर पायी जाने वाली चट्टानें पृथ्वी के इतिहास के पृष्ठ हैं। अतः यदि हम भू-पटल की सबसे प्राचीन शिला की आयु निश्चित कर लें तो उससे पृथ्वी की आयु का सहज ही अनुमान हो सकता है। वैज्ञानिकों ने चट्टानों की आयु ज्ञात करने की कुछ विधियाँ ज्ञात की हैं।

वैज्ञानिकों ने यह बताया है कि भू-पटल में अन्य तत्त्वों के साथ-साथ अनेक तेजोद्‌गार पदार्थ भी पाये जाते हैं। इन तेजोद्‌गार पदार्थों के अणुओं का स्वतः विच्छेदन होता रहता है। अणुओं के विच्छेदन से प्रभूत मात्रा में ताप विकसित होता है जिससे इनके तत्त्वों का रूप परिवर्तन होता रहता है। सभी तेजोद्‌गार पदार्थ अन्ततः सीसे अथवा हीलियम में बदल जाते हैं।

यह ज्ञात हुआ है कि एक ग्राम यूरेनियम $\frac{1}{7,600,000,000}$ ग्राम सीसा पैदा करता है; इसी तरह एक ग्राम थोरियम $\frac{1}{28,000,000,000}$ ग्राम सीसा देता है। इस आधार पर यह आगणन करना सरल है कि किसी भी मात्रा के यूरेनियम और थोरियम को अपने आधे आकार में आने में क्रमशः 450 करोड़ और 1650 करोड़ वर्ष लगते हैं और अपने एक-तिहाई आकार में उससे दुगुना समय तथा अपने $\frac{1}{8}$वें आकार में उससे तिगुना समय लगेगा। यूरेनियम के ध्वस्त होने की गति आश्चर्यजनक रूप से एक समान रहती है। इसके ऊपर समय तथा दबाव व तापमान और अपने समीपीय रासायनिक रचनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः तेजोद्‌गारक पदार्थ संसार में पृथ्वी की आयु निर्धारण का सर्वश्रेष्ठ साधन है।[1]

तेजोद्‌गार पदार्थों के आधार पर शिलाओं की आयु ज्ञात करने के निम्नलिखित दो सूत्र हैं :

$$\text{होम्स के अनुसार शिलाओं की आयु} = \frac{\text{सीसा} \times 660 \text{ करोड़ वर्ष}}{\text{यूरेनियम}}$$

$$\text{रदरफोर्ड के अनुसार शिलाओं की आयु} = \frac{\text{हीलियम} \times 9,600,000 \text{ वर्ष}}{\text{यूरेनियम}}$$

उपरोक्त नियमों की सहायता से यदि विभिन्न भागों की प्राचीनतम चट्टानों की आयु ज्ञात कर लें तो पृथ्वी की आयु का अनुमान किया जा सकता है। भू-गर्भ-शास्त्रियों ने विभिन्न भागों एवं भिन्न गहराइयों की चट्टानों के शीतल होने के आधार पर भू-पटल के विभिन्न भागों के ठोस होने के समय का पता लगाया है। इस आधार पर संसार की प्राचीनतम चट्टानें फिनलैण्ड में कोरेलिया की चट्टानें 1,850,000,000 वर्ष और दक्षिणी डकोटा में ब्लैक हिल्स की चट्टानें 1,460,000,000 वर्ष पुरानी हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि धरातल पर किसी भी प्रकार की चट्टान की आयु 2 अरब वर्ष से अधिक नहीं है। The soild crust of the Earth

---

1 George Gamow : *Biography of the Earth*, p. 5

was formed from previously molten matter not more than about two billion years ago.[1]

दो अरब वर्ष पूर्व पृथ्वी तरल अवस्था में रही होगी और पृथ्वी की उत्पत्ति लगभग 3 अरब वर्ष पूर्व हुई होगी।[2]

जौली ने कई खनिजों में संकेन्द्रीय (Concentric) वृत्तों की खोज की है। खनिजों में इन वृत्तों के व्यास और उनके अणुओं के टूटने की गति का ज्ञान करने पर उस खनिज की आयु भी निकाली जा सकती है। इस आधार पर पृथ्वी की आयु स्थिर हो सकती है।

(7) **अन्य गणनाओं के आधार पर पृथ्वी की आयु—पौल्टन** ने प्राणीशास्त्र के आधार पर हिसाब लगाकर बताया है कि वनस्पति-जगत तथा प्राणी-जगत के वर्तमान समय तक के विकास में कम से कम 50 करोड़ वर्ष लगे होंगे जिससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी 50 करोड़ वर्ष से भी अधिक पुरानी है। फ्रांस के प्रसिद्ध ज्योतिषी **लाप्लास** ने पृथ्वी की धुरी की दीर्घवृत्तता (ellipticity) के आधार पर पृथ्वी की आयु 2 करोड़ 10 लाख वर्ष आँकी है।

अब यह पता लग चुका है कि जिस तत्त्व से सौरमण्डल के ग्रह बने हैं वे अणु कास्मिक धूल से 500 करोड़ वर्ष पूर्व बने थे। इससे यह निश्चित हो चुका है कि पृथ्वी की आयु 350 करोड़ वर्ष से अधिक लेकिन 500 करोड़ वर्ष से कम है।

रेडियोधर्मी तत्त्व जब खण्डित होते हैं तो उसके साथ कुछ गैसें भी उत्पन्न होती हैं। विखण्डन के समय गैसों के निकलने से चट्टानों की आयु-गणना में निश्चित ही अन्तर पड़ेगा। अतः कुछ वैज्ञानिकों ने रेडियोधर्मी तत्त्वों के आधार पर चट्टानों की आयु ज्ञात करने की विधि में कुछ संशोधन किया है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार यूरेनियम अथवा थोरियम जैसे पदार्थों के स्थान पर **रूबीडियम** (Rubidium) नामक तत्त्व के विखण्डन के आधार पर चट्टानों की आयु की अधिक सही गणना की जा सकती है।[3] रूबीडियम एक ठोस पदार्थ है और लगभग 43 करोड़ वर्ष में यह स्ट्रौंशियम (Strontium) में रूपान्तरित हो जाता है। दोनों ही ठोस पदार्थ होने से इनमें गैस के बनने तथा विखण्डन के मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। इसलिए जितना भी रूबीडियम स्ट्रौंशियम में बदलेगा वह चट्टानों की सही आयु को बतायेगा। इस आधार पर चट्टानों की आयु 400 करोड़ वर्ष ठहरती है जो पृथ्वी की भी सम्भावित आयु होगी।

कुछ वर्षों पूर्व दो रूसी वैज्ञानिकों **ए० पोलकानोव** और **इ० गेर्लिंग** ने बताया कि रेडियो सक्रिय पोटैशियम आर्गन में बदलता रहता है। भू-पटल में इस खनिज के आर्गन में बदलने की गति के आधार पर उन्होंने पृथ्वी की आयु कम से कम 310 करोड़ और अधिक से अधिक 500 करोड़ वर्ष निश्चित की है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उल्काओं और पृथ्वी की आयु लगभग समान बैठती है। इससे इस सम्भावना की पुष्टि होती है कि पृथ्वी सहित सौरमण्डल के सभी ग्रहों का निर्माण एक साथ हुआ होगा।

पृथ्वी का इतिहास
(History of the Earth)

हमारी पृथ्वी सौरमण्डल का एक अंग है। सौरमण्डल के साथ ही इसका जन्म हुआ है। इसका जन्म हुए दो अरब वर्ष से अधिक समय हो गया है। अपने जन्म के समय पृथ्वी बहुत ही

---

1 *Ibid*, p. 6

2 W. M. Smart : *The Origin of the Earth*, p. 146

3 G. Gamow : *Biography of the Earth*, p. 8

उत्तप्त वायव्य पिण्ड के रूप में थी। धीरे-धीरे पृथ्वी ठण्डी हुई और उत्तरोत्तर ठोस होती गयी। ठोस चट्टानों से इसके कठोर धरातल का निर्माण हुआ जिससे इसका वर्तमान स्वरूप सामने आया।

किन्तु पृथ्वी के वर्तमान रूप में आने से पूर्व अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। आन्तरिक शक्तियों के वशीभूत पृथ्वी का धरातल कई बार ऊपर उठा है और नीचे धँसा है। कई बार इस पर समुद्र और हिम का अतिक्रमण हो चुका है। कई बार इसके गर्वीले उच्च पर्वत-शिखरों को बाह्य शक्तियों ने काट-काटकर समुद्र में डुबोया है। ज्वालामुखी तथा भूकम्पों ने इसके अचल रूप को विचलित किया है। समुद्रों ने अपने क्रोड़ में निक्षेपित पदार्थों से नवीन भू-रूपों की रचना की है। इस प्रकार अपने आदिकाल से ही पृथ्वी का इतिहास भूमि के उठाव और धँसाव, उसके अनाच्छादन और निक्षेपण और समुद्र के अतिक्रमण और निवर्तन (retreating) आदि घटनाओं का अभिलेख रहा है। जैसा कि **जेम्स पार्क** ने लिखा है, "The geological history of the earth from the earliest times is a record of uplift and subsidence of retreating and advancing seas of denudation and deposition."

पृथ्वी पर मानव का उदय 50 हजार वर्ष पूर्व की घटना है, अतः पृथ्वी के अति दीर्घ जीवन की लम्बी कहानी का बहुत कम अंश मनुष्य को ज्ञात हो सका है। ,वस्तुतः पृथ्वी के जन्म के बाद बहुत लम्बा समय बिना किसी अभिलेख का समय रहा है। इसलिए पृथ्वी की उत्पत्ति के प्रथम डेढ़ अरब वर्ष का इतिहास बिलकुल निराधार है। विभिन्न युगों की चट्टानों और उनमें अवस्थित जीवाश्मों (fossils) के आधार पर भू-गर्भशास्त्रियों ने यद्यपि 1·74 करोड़ वर्ष पूर्व से पृथ्वी के इतिहास को लिखने का प्रयास किया है। परन्तु अन्तिम 50 करोड़ वर्ष के इतिहास को ही वे पूर्ण सत्यता के साथ उद्घाटित कर सके हैं।

वस्तुतः चट्टानें ही पृथ्वी के इतिहास के पृष्ठ हैं। चट्टानों की परतों और उनमें दबे जीवाश्मों के द्वारा ही भू-गर्भित कालों का निर्णय होता है। जिस प्रकार मानव इतिहास की लम्बी कहानी को अध्ययन की सुविधा के लिए विभिन्न युगों और कालों में विभाजित किया जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी के भू-गर्भित इतिहास को भी अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न महाकल्पों (eras) और कल्पों (periods) में बाँटा गया है :

1. उषः या आद्य महाकल्प (Eozoic or Archaean Era)
2. पुराजीव या प्रथम महाकल्प (Palaeozoic or Primary Era)
3. मध्यजीव या द्वितीय महाकल्प (Mesozoic or Secondary Era)
4. नवजीव या तृतीय एवं चतुर्थ महाकल्प (Neozoic or Cainozoic Era)

महाकल्पों का विभाजन

1. आद्य महाकल्प
2. पुराजीव महाकल्प
   - (क) प्राचीन पुराजीव
     - कैम्ब्रियन कल्प (Cambrian Period)
     - ओर्डोविसियन कल्प (Ordovician Period)
     - सिल्यूरियन कल्प (Silurian Period)
   - (ख) नवीन पुराजीव
     - डिवोनी कल्प (Devonian Period)
     - कार्बन कल्प (Carboniferous Period)
     - परमियन कल्प (Permian Period)
3. मध्यजीव महाकल्प
   - ट्रियासिक कल्प (Triassic Period)
   - जुरैसिक कल्प (Jurassic Period)
   - क्रिटेशस कल्प (Cretaceous Period)

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त ऋतु-परिवर्तन और हवाओं की प्रवाह दिशा एवं गति का भी इन पर गहरा प्रवाह होता है। इस प्रकार लहरों की शक्ति समय और स्थान तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है।

लहरों में अपरदन की अपरिमित शक्ति होती है। लहरों की शक्ति का कुछ आभास निम्नांकित तथ्यों से हो जाता है। स्कॉटिश लाइट हाउस बोर्ड के मतानुसार अटलांटिक तट की लहरों का ग्रीष्मऋतु के पांच महीनों में औसत दाब 611 पौण्ड प्रति वर्ग फुट रहता है। यही शक्ति शीतकाल के 6 महीना में 2,086 पौण्ड हो जाती है। इनका सबसे अधिक दबाव 6·083 पौण्ड प्रति वर्ग फुट नापा गया है। पूर्वी-तट पर जल का प्रहार 6,000 पौण्ड से भी अधिक शक्तिशाली होता है। समुद्र की इन दीर्घकाय लहरों के तट से टकराने और फिर ऊँचाई से स्थल पर धड़ाम से गिरने से जल के दबाव का निम्न-तल पर कितना भयंकर प्रहार होता होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। लहरों के इस भीषण प्रहार से तटवर्ती चट्टानें खण्ड-खण्ड ही नहीं वरन् कई स्थानों पर तट-भूमि मीलों समुद्र में लीन हो जाती है। निश्चय ही इन शक्तिशाली तरंगों की चोटों का प्रभाव बड़ा अद्भुत होता है। सन् 1836 में एक भीषण आँधी के वेग से उठने वाली लहरों ने फ्रांस के तट पर 20 फुट ऊँची दीवार के ऊपर से $3\frac{1}{3}$ टन भार वाले पत्थर बहा दिये थे। इसी प्रकार हॉर्लीहेड नामक बन्दरगाह के सामने हिलोरें रोकने वाली दीवार में लगे हुए बड़े-बड़े पत्थरों को आँधी के वेग से उठने वाली तरंगों ने बात की बात में इधर-उधर छितरा दिया। स्कॉटलैण्ड के उत्तरी-पूर्वी छोर के विक नामक स्थान पर सागर जल के थपेड़ों से रक्षा करने के लिए बन्दरगाह के सामने कंकरीट का एक विशाल स्तूप-सा बनाया गया था। इस स्तूप को स्थिर रखने के लिए बड़े भारी-भारी शिलाखण्डों को $3\frac{1}{3}$ इंच मोटी लोहे की छड़ों से बाँधकर लंगर डाला गया था। सन् 1873 के दिसम्बर मास में कंकरीट का यह विशाल पिण्ड जिसका भार 1350 टन से अधिक था, सागर की लहरों द्वारा फूल की भाँति ऊपर उठाकर फेंक दिया गया। उसके स्थान पर उससे भी अधिक भारी 2600 टन का पिण्ड रखा गया परन्तु वह भी सन् 1877 के एक तूफान की लहरों द्वारा बहा दिया गया। एक बार रोमन लोगों ने राइन नदी के मुहाने पर एक बड़ा भवन बनाया। सन् 1520 में लहरें तट को काटती-काटती वहाँ तक आ पहुँची और सन् 1694 में लहरों ने इस भवन को बिलकुल ही ध्वंस कर दिया।

भीषण तूफान के दिनों में समुद्र की लहरों में जिस दैवी-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है उसके वेग को रोकने की सामर्थ्य थोड़ी ही वस्तुओं में होती है। इन लहरों की पहुँच ज्वार की सर्वोच्च जल-रेखा के परे तक होना भी साधारण-सी बात है। स्कॉटलैण्ड के पश्चिमी तट पर एक बार तूफान से उत्पन्न लहरों ने एक प्रकाश-स्तम्भ से 14 टन के भार वाले पत्थर तोड़कर बहा दिये और सो भी उस स्थान से जो ज्वार के सर्वोच्च स्थान से 37 फुट अधिक ऊँचा था। इसी प्रकार इंगलिश चैनल के बिशप की चट्टान वाले प्रकाश स्तम्भ से 325 पौंड का घण्टा सागर जल से 100 फुट ऊँचे स्थान से लहरों द्वारा तोड़कर बहा दिया गया। अन्यत्र इसी तरह भारी तूफान की लहरों से एक ऊँची दीवार ध्वस्त हो गयी और समुद्र-तल से 1176 फुट की ऊँचाई पर एक खिड़की लहर के वेग से टूटकर खुल गयी। उपरोक्त इन सभी उदाहरणों से लहरों की शक्ति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) **तटीय शिलाओं की बनावट** (Structure of Rocks)—तट-भूमि का कटाव चट्टानों की बनावट पर बहुत निर्भर करता है। यदि तट-भूमि पर सब कहीं एकसी चट्टानें बिछी होती हैं तो लहरों द्वारा चट्टानों का क्षय भी एक समान होता है। जैसे यदि तटवर्ती चट्टानें मुक्त या अबद्ध कणों (loose particles) से निर्मित हुईं तो लहरें स्वयं तट को काटने में समर्थ होती हैं पर

आदि सब इन्हीं शैलों में पायी जाती हैं । मध्य प्रदेश में पाये जाने वाले हीरे-पन्ने और संगमरमर इन्हीं चट्टानों की देन हैं ।

(ख) **कड्डप्पा क्रम की शैलें** (Cuddapah System of Rocks)—धारवाड़ काल की शैलों के निर्माण के बाद एक लम्बे समय तक उनका बाह्य शक्तियों द्वारा अपरदन होता है । इन शैलों का अपरदित पदार्थ समुद्र एवं नदियों की निम्न घाटियों में निक्षेपित होता रहा । कालान्तर में ये ही निक्षेपित पदार्थ अवसादी शैलों में परिवर्तित हो गये जिनसे कड्डप्पा क्रम की शैलों का निर्माण हुआ । कड्डप्पा क्रम की शैलें क्वार्टजाइट, शेल, स्लेट एवं चूने के पत्थर के रूप में पायी जाती हैं । इन शैलों में कायान्तरण हुआ है, किन्तु धारवाड़ शैलों से कम । इन शैलों में भी जीवाश्मों का अभाव पाया जाता है । कहीं-कहीं ये शैलें 6,000 मीटर तक मोटी पायी गयी हैं ।

ये शैलें प्राचीन धारवाड़ शैलों के ऊपर एक विषम विन्यास (unconformity) के बाद मिलती हैं जिन्हें निचली कड्डप्पा (lower cuddapah) शैलों के नाम से पुकारते हैं । इनमें पापाधनी व चेयार श्रेणी की शैलें आती हैं । निचली कड्डप्पा शैलों के उपरान्त शैल-स्तरों में पुनः विषम विन्यास देखा जाता है और फिर उनके ऊपर ऊपरी कड्डप्पा (upper cuddapah) शैलें मिलती हैं जिनमें कृष्णा एवं नल्लामलाई श्रेणियों की शैलें आती हैं ।

दक्षिण में पापाधनी, चेयारी कृष्णा और नल्लामलाई श्रेणियों के अतिरिक्त ये शैलें पूर्वी राजस्थान और उत्तरी-पश्चिमी मध्य प्रदेश में दिल्ली श्रेणी के नाम से तथा कुछ कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, नेपाल और फुटकर रूप से उत्तरी मैसूर तथा गोदावरी की मध्य घाटी में पायी जाती हैं ।

(ग) **विन्ध्य क्रम की शैलें** (Vindhyan System of Rocks)—ये शैलें भी नदियों द्वारा निक्षेपित अवसादों से बनी हैं । इनका निर्माण कड्डप्पा क्रम की शैलों के बाद हुआ है । इनका विस्तार मुख्यतः विन्ध्याचल पर्वत-श्रेणियों में है अतः इन्हें विन्ध्य क्रम की शैलों के नाम से पुकारते हैं । ये शैलें बिहार में सहसराम क्षेत्र से राजस्थान में चित्तौड़गढ़ तक फैली हुई हैं । इनकी अधिकतम चौड़ाई आगरा और नीमच के बीच पायी जाती है ।

कड्डप्पा क्रम की भाँति ये शैलें भी दो भिन्न परतों में पायी जाती हैं । निचली विन्ध्य शैलें जिनमें क्वार्टजाइट, शेल और चूने के पत्थर मिलते हैं और ऊपरी विन्ध्य शैलें जिनमें बालू का पत्थर, शेल और सपिण्डाश्म चट्टानें पायी जाती हैं ।

निचली विन्ध्य शैलें मुख्यतः दकन के पठार पर मिलती हैं । इसके मुख्य क्षेत्र निम्न हैं : (1) सोन नदी की घाटी में सेमरी श्रेणी, (2) दक्षिणी-पश्चिमी आन्ध्र में करनूल श्रेणी, (3) भीमा नदी की घाटी में भीमा श्रेणी, और (4) राजस्थान में जोधपुर और चित्तौड़गढ़ में पलनी श्रेणी । इसके अतिरिक्त गोदावरी घाटी, मालवा और बुन्देलखण्ड में इसके विशिष्ट क्षेत्र हैं ।

ऊपरी विन्ध्य शैलें माण्डेर, रीवाँ और कैमूर श्रेणियों के रूप में पायी जाती हैं । हिमालय क्षेत्र में ये शैलें पीर पंजाल व धौलागिरि श्रेणियों तथा शिमला और सिप्ती में भी पायी जाती हैं ।

विन्ध्य क्रम की शैलों में यद्यपि खनिज कम पाये जाते हैं, परन्तु इनमें इमारती पत्थर मुख्यतः बालू का पत्थर और चूने का पत्थर विशेष रूप से मिलता है ।

2. पुराजीव महाकल्प
(Palaeozoic Era)

यह महाकल्प 50 करोड़ वर्ष पूर्व से 22 करोड़ वर्ष पूर्व तक रहा । सर्वप्रथम इसी कल्प में पृथ्वी पर वनस्पति एवं जीवों का विकास हुआ । इस कल्प में अधिकांश बिना रीढ़ वाले जीवों के जीवाश्म पाये जाते हैं । शेल, स्लेट, कठोर बलुआ पत्थर और चूने का पत्थर इस कल्प की मुख्य शैलें हैं । इन शैलों में मूल्यवान खनिज पाये जाते हैं । इस काल की शैलों में उत्तरी अमरीका में

समुद्रतट के किसी भी स्थान पर भृगु का सही आकार शैलों की संरचना और उनकी प्रकृति, शैलों के स्तर और सन्धियों के क्रम तथा भ्रंश-स्तरों के निकट कमजोर स्थलों की उपस्थिति आदि कई बातों पर निर्भर करता है। प्राचीन लाल बलुआ पत्थर व ग्रेनाइट जैसी कठोर शैलें धीरे-धीरे घिसती हैं और बहुत ही खड़े ढाल की भृगु को जन्म देती हैं। किन्तु भृगु की रचना केवल कठोर शैलों के द्वारा ही नहीं होती। चाक जैसी शैलें भी उनकी रचना करती हैं। डोरसेट, पूर्वी केण्ट, वाइट द्वीप तथा ससेक्स के तटों पर चाक के द्वारा खड़ी भृगुओं की रचना हुई है।

भृगु का आकार ऋतु-अपक्षय (weathering) और सामुद्रिक अपरदन की सापेक्षिक गति पर भी निर्भर करता है।

यदि समुद्र की अपेक्षा ऋतु-अपक्षय प्रभावी होता है तो भृगु समुद्र की ओर ढालू होगी परन्तु यदि ऋतु-अपक्षय के विपरीत समुद्र अधिक तीव्रता से कटाव करता है तो भृगु समुद्र की ओर लटक जायेगी।

अन्त में, हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सभी भृगुएँ समुद्री अपरदन का फल नहीं हैं। जिन क्षेत्रों में समुद्र-तल परिवर्तित होता रहा है वहाँ भृगु केवल भूमि के तीव्र ढाल के रूप में विद्यमान हो सकती है। बाद में समुद्री अपरदन से इसकी आकृति में रूपान्तर हो सकता है। इसी प्रकार भ्रंशन के कारण भी शैलों का समुद्र की ओर खड़ा ढाल बन जाता है। स्कॉटलैण्ड में ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं।

खाड़ियाँ तथा समुद्राभिमुख कगारों का क्रम (Bays and Promontaries)

सामान्यतः कोमल चट्टानें कठोर चट्टानों की अपेक्षा बड़ी सरलता से कट जाती हैं। जब किसी तट पर कोमल तथा कठोर शैल-स्तर लम्ब रूप में साथ-साथ स्थित होते हैं तो समुद्र की लहरें कोमल शैलों को शीघ्रता से काट देती हैं, परन्तु कठोर शैलें बहुत कम घिसती हैं। फलस्वरूप कोमल शैलों में खाड़ियाँ (bays) बन जाती हैं और कठोर शैल-स्तर कगारों के रूप में समुद्र में आगे निकले हुए रह जाते हैं। इस प्रकार जो तट भिन्न प्रकार की चट्टानों से निर्मित होते हैं वहाँ खाड़ियों तथा समुद्राभिमुख कगारों का क्रम बन जाता है।

खाड़ियों के स्थल की ओर विस्तार की एक सीमा होती है, क्योंकि खाड़ियों में स्थित जल हवा के प्रभाव से मुक्त रहता है और उनके सिरों पर लहरें बहुत कमजोर होती हैं। खाड़ी जितनी अधिक गहरी होती है उसके सिरे पर पहुँचने वाली लहरें उतनी ही कमजोर होती हैं, जिससे अपरदन बहुत धीमा होता है। इसके अतिरिक्त इनके शान्त जल में बालू तथा बट्टड़ आदि पदार्थ एकत्र हो जाते हैं जो तट की रक्षा करते हैं। दक्षिणी-पश्चिमी आयरलैण्ड के तट पर स्थित खाड़ियाँ सम्भवतः इसी प्रकार बनी हैं। यहाँ कार्बोनिफेरस काल के चूने के पत्थरों के स्तर के सहारे खाड़ियाँ बन गयी हैं और प्राचीन लाल बलुआ पत्थरों के स्तर कगार रूप में स्थित हैं।

अण्डाकार कटान (Coves)—जब किसी समुद्रतट पर कोमल व कठोर शैलों की स्थिति तट के समान्तर होती है तो समुद्री लहरें सम्मुख पड़ने वाली कठोर शैलों की सन्धियों के मार्ग से भीतर घुस जाती हैं और वहाँ शनैः-शनैः कोमल शैलों का अपरदन करती हैं। इस प्रकार कोमल शैलों में खोखले स्थान बन जाते हैं। इन खोखले स्थानों का आकार अण्डे के समान होता है। अतः ऐसे कटान को **अण्डाकार कटान** (Cove) कहा जाता है। जब कभी समीपवर्ती अण्डाकार कटानों के मध्य की कोमल शैल घुलकर नष्ट हो

चित्र 351—अण्डाकार कटान

जाती है तो कठोर शैल छोटे-छोटे टापुओं के सदृश समुद्र में खड़े रह जाते हैं। इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर इस प्रकार की स्थलाकृतियाँ देखी जाती हैं।

समुद्रतटीय गुफाएँ (Sea Caves)—जब किसी कठोर तटीय कगार के निचले भागों में कोई कमजोर स्थल होता है तो समुद्री लहरें उस कमजोर स्थल को शीघ्र ही घिसकर खोखला बना देती हैं। लहरों के आक्रमण के समय उस खोखले स्थान के भीतर की वायु दब जाती है और लहरों के पीछे हटने से फैल जाती है। वायु के इस प्रकार बार-बार सिकुड़ने और फैलने से खोखला गड्ढा गहरा होता जाता है और कालान्तर में एक गुहा का आकार ग्रहण कर लेता है। इन गुहाओं की रचना लहरों की शक्ति और तटीय शिलाओं की स्थिरता पर निर्भर करती है।

चित्र 352—समुद्री गुहाएँ

लहरों के अपरदन से समुद्रतटीय गुहा कटकर बहुत दूर स्थल की ओर चली जाती है। कालान्तर में इन गुहाओं की छत टूटकर नष्ट हो जाती है और गुहाएँ लम्बी संकीर्ण खाड़ियों का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार की छतविहीन गुहाओं को स्कॉटलैण्ड तथा फेरो द्वीप के समुद्री तटों पर **ज्यो** (geo) कहा जाता है। यहाँ ज्यो का तात्पर्य छोटी खाड़ी (creek) से होता है।

धमि छिद्र (Blow Holes or Gloup)—जब समुद्रतटीय गुहाओं पर लहरों का आक्रमण होता है तो उस समय उनका द्वार जल भर जाने से बन्द हो जाता है। इस समय गुहा के भीतर की वायु बहुत ही संकुचित हो जाती है और बाहर निकलने का प्रयास करती है। गुहा के भीतर की यह वायु कभी-कभी गुहा की छत को फाड़कर छिद्र बनाने में सफल हो जाती है। ऐसे छिद्रों को धमि छिद्र (blow holes) कहते हैं। प्रायः ये छिद्र चट्टानों के भ्रंश-स्तर या सँध पर बनते हैं। गुहा के भीतर वायु के संकोचन और दबाव के कारण चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े उखड़कर गिर जाते हैं और छिद्र अधिकाधिक चौड़े हो जाते हैं। कभी-कभी ये छिद्र सैकड़ों फुट लम्बे होते हैं। ज्वार के समय इनमें लहरों द्वारा धकेली गई हवा सीटी बजाती हुई बाहर निकलती है और साथ ही पानी फव्वारे के रूप में बाहर निकलता है। इसलिए इन छिद्रों को **उगलने वाले छिद्र** (spouting horns) भी कहते हैं। इंगलैण्ड के वाइट द्वीप के निकट ऐसे दृश्य देखे जाते हैं।

मेहराब (Arch)—जब किसी तट पर तटीय-शैल का कुछ भाग समुद्र के भीतर फैला हुआ हो और उसके मध्य में कोई निर्बल अंश हो, तो लहरों के सतत प्रहार से उसका निर्बल अंश कट जाता है और उस शैल के आर-पार छिद्र बन जाता है। कालान्तर में ये छिद्र चौड़े होकर एक विशाल द्वार का रूप ले लेते हैं जिन्हें मेहराब कहते हैं। इंगलैण्ड के डन्कन्सबी के प्राचीन लावा बलुआ पत्थर में ऐसे मेहराब देखे जाते हैं।

अलग्न स्तम्भ (Stack and Skarries)—समुद्र में बनी मेहराब की छत जब लहरों के अपरदन अथवा अन्य कारणवश टूटकर गिर जाती है तो मुख्य शैल से उसका एक अंश अलग खड़ा रह जाता है। इसे **अलग्न स्तम्भ** अथवा **चिमनी** (Stack and Skarries) कहते हैं। इन स्तम्भों के, शैलों की बनावट के अनुसार कई आकार होते हैं। कहीं-कहीं ये स्तम्भ टापू का रूप ले लेते हैं परन्तु ये स्थायी नहीं होते। वाइट द्वीप के पश्चिम में ऐसे भू-आकार मिलते हैं।

तरंग-घर्षित महावेदी (Wave Cut Platform)—समुद्री लहरें तटीय कगार पर जब निरन्तर प्रहार करती हैं तो उसके निचले भाग में कटान बन जाती है। धीरे-धीरे कटान बड़ी

होती है जिससे कगार का आधार नष्ट हो जाता है। अब कगार का ऊपरी भाग निराश्रित हो जाने से टूटकर गिर पड़ता है। लहरें इन टूटे हुए शिलाखण्डों को बहा ले जाती हैं। तट पर लहरों द्वारा इस प्रकार के अपरदन से महावेदी की रचना हो जाती है। इसे तरंग-घर्षित महावेदी (wave cut platform or bench) कहते हैं।

चित्र 353—मेहराब

अपतटीय सोपान (Off-shore Benches or Terraces)—कभी-कभी समुद्रतट के उथले भागों पर लहरों द्वारा समान्तर कटाव होता रहता है। धीरे-धीरे यह कटाव बढ़ता जाता है जिससे सीढ़ीनुमा कटाव हो जाता है। ऐसे कटाव को अपतटीय सोपान या वेदिका कहा जाता है।

सन्तुलित पार्श्विका
(The Profile of Equilibrium)

उपयुक्त परिस्थितियों में मार्ग में कुछ अवसाद तरंग-घर्षित महावेदी (wave cut platform) के आगे गहरे जल में एकत्र होता है जिससे पुलिन वेदिका (shoreface terrace) की रचना होती है। धीरे-धीरे इस पुलिन-वेदिका का विकास होता रहता है जिससे वह एक चौड़ी दीवार का रूप ग्रहण कर लेती है। इस दीवार का ऊपरी भाग महावेदी के समान ही समतल होता है। सभी परिस्थितियों में समुद्रतट का तटीय एवं अपतटीय (off-shore) धरातल अपरदन और निक्षेप की सम्मिलित क्रियाओं का प्रतिफल होता है। अपरदन और निक्षेप दोनों ही क्रियाओं में स्थान और समय के अनुसार बड़ा विभेद देखा जाता है। उदाहरणतः, अवसाद (sediment) की प्राप्ति अपनी मात्रा और वितरण दोनों ही दृष्टियों से अनियमित होती है क्योंकि अवसाद की प्राप्ति, भृगु के क्षय, महावेदी के घर्षण तथा नदियों और धाराओं से होती है। किन्तु ये सभी साधन ऐसे हैं जिनसे अवसाद की प्राप्ति बराबर घटती-बढ़ती रहती है। अवसाद को हटाने की प्रक्रिया में भी बड़ी परिवर्तनशीलता देखी जाती है। यह प्रक्रिया प्रमुखतः तट के ढाल और समुद्र की ओर उसकी अविच्छिन्नता से प्रभावित होती है। अपेक्षाकृत तीव्र ढाल होने पर स्थल की ओर से अवसाद बड़ी शीघ्रता से हटते हैं जिससे ढाल मन्द पड़ जाता है। इसके विपरीत, मन्द ढाल होने पर स्थल की ओर पुलिन निक्षेप (beach deposition) होता है। परिणामस्वरूप ढाल तीव्र हो जाता है। इस प्रकार

प्रचण्ड रूप से बहती है तो वह अपने साथ पर्याप्त मात्रा में बालू को स्थल के भीतर परिवहित करती है।

सामुद्रिक निक्षेप
(Marine Deposition)

समुद्र के तटवर्ती भू-भाग से जो अपरदित पदार्थ प्राप्त होते हैं वे प्रायः समुद्र में निक्षेपित होते हैं। इस निक्षेपण में लहरों के साथ-साथ धाराएँ भी सहायता करती हैं। समुद्र में लहरों का प्रभाव कम गहराई तक सीमित होता है। इसलिए भूमि से प्राप्त पदार्थ समुद्र में गहराई तक नहीं पहुँच पाते। अधिकांश पदार्थ ज्वार की नीची जल-सीमा से परे नहीं पहुँच पाते। कभी-कभी बारीक पदार्थ ज्वार के नीचे जल में दूर पहुँच जाते हैं, जिससे मग्नतटों की रचना होती है।

समुद्र में पदार्थों का निक्षेपण क्रम से होता है। पहले भारी शिलाखण्ड जमा होते हैं और बाद में छोटे, अन्त में बालू और मिट्टी रहती है। किन्तु लहरों के वेग में अन्तर पड़ने पर कभी-कभी यह क्रम भग हो जाता है। समुद्र में पदार्थों के निक्षेप के स्तर बिछते जाते हैं जो कालान्तर में अवसादी शैलों का रूप ले लेते हैं।

सामान्यतः नदियों द्वारा बहाकर लाये गये पदार्थ और तट-भूमि के अपरदन से प्राप्त पदार्थ लहरों द्वारा समुद्र में जमा किये जाते हैं, परन्तु सदा ही ऐसा नहीं होता। यदि कोई धारा तट से सटकर बहती है तो बालू, मिट्टी आदि पदार्थ तट के सहारे उसके साथ बहेंगे। इस प्रकार यद्यपि पदार्थ भूमि के एक भाग से हटा दिये जाते हैं परन्तु वे भूमि के दूसरे भाग में जमा कर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड के पूर्वी-तट पर समुद्र कई स्थानों पर भूमि की ओर आगे बढ़ रहा है परन्तु वाश (Wash) और रोमनी मार्श (Romeny Marsh) आदि स्थानों पर समुद्र में भूमि का विस्तार हो रहा है। यहाँ भूमि का यह विस्तार कुछ अंशों में समुद्र के प्रभाव के फलस्वरूप ही हो रहा है। धाराओं द्वारा पदार्थों का तट के सहारे बहाव इंगलैण्ड के पूर्वी और दक्षिणी तट पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

समुद्र मे लहरों और धाराओं द्वारा पदार्थों के निक्षेपण से अनेक आकृतियाँ बन जाती हैं। ये आकृतियाँ निक्षेप की स्थिति एवं ज्वार-भाटा तथा लहरों और धाराओं की परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। निक्षेप की कुछ विशेष आकृतियों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

चित्र 354—तरंग-जनित महावेदी

तरंग-जनित महावेदी (Wave-built Platform)—लहरें तटीय कगार एवं तट के अपरदन से जो पदार्थ प्राप्त करती हैं उसका कुछ अंश समुद्र के भीतरी भाग को परिवहित हो जाता है और कुछ समुद्र के उथले तट पर इस निक्षेप से वेदिकाएँ बन जाती हैं। ये वेदिकाएँ प्रायः जलमग्न रहती हैं, परन्तु कभी-कभी ये जल की सतह के ऊपर भी निकल आती हैं। समुद्र में बनी इस प्रकार की वेदिकाओं को **तरंग-जनित महावेदी** कहते हैं।

पुलिन कूट (Beach Ridges)—जिन पुलिन तटों पर निरन्तर पदार्थों का निक्षेपण होता रहता है वहाँ पुलिन कूटों की रचना हो जाती है। गिलबर्ट के मतानुसार जब प्रवाहित बालू लहरों द्वारा पुलिन के समुद्राभिमुख भाग की ओर धकेल दी जाती है तो कूट की रचना हो जाती है, किन्तु ऐसा तूफान के समय ही होता है। ये कूट कहीं-कहीं पिछले गड्ढों द्वारा अलग कर दिये जाते हैं। इन गड्ढों को स्वेल्स (swales) कहा जाता है। जब प्रचुर मात्रा में पदार्थ उपलब्ध होता है तो पुलिन कूटें शीघ्रता से बढ़ती हैं। संलग्न भित्तियों के सिरों पर इसका विस्तार और भी तेजी से होता है। न्यूयार्क के निकट रोकवे पुलिन के सिर पर तेईस वर्ष की अवधि में पाँच कटें

मध्य प्रदेश में ग्वालियर के निकट बाघ नामक गाँव से गुजरात में बाघवान नगर तक खटीकालीन शैलें यत्र-तत्र फैली हुई देखी जाती हैं। इन शैलों में खटी कल्प के जीवाश्म पाये जाते हैं। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि इसी काल में दक्षिणी भारत में लावा का उद्‌भेदन हुआ जो लगभग ढाई लाख वर्गमील भूमि पर फैल गया था। लावा प्रदेश की इन स्तरीय शैलों में मछली, मेंढक व कछुआ आदि जीवों तथा डाइकोटिलेडन्स व ताड़ आदि पेड़-पौधों के जीवाश्म पाये जाते हैं।

इस काल में उरगों का पूर्ण विकास हो गया था और उनकी प्रधानता रही। उरगों के साथ मछलियों और स्तनपोषी जीवों का भी विकास होता रहा।

4. नवजीव महाकल्प
(Neozoic Era)

पृथ्वी के इतिहास का यह अन्तिम महाकल्प है। भू-वैज्ञानिकों के अनुसार इस महाकल्प का प्रारम्भ सात करोड़ वर्ष पूर्व हुआ था। यह महाकल्प ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस काल में पृथ्वी का ताप कम होने लगा जिससे धरातल के कई भाग हिम से ढक गये। इससे धरातल की सभी दिशाओं में भारी परिवर्तन हुए। प्राचीन जीव-जन्तु भी नष्ट हो गये और उनके स्थान पर नवीन स्तनपोषी जीवों एवं चिड़ियों का विकास हुआ। हरसीनियन और एल्पाइन भू-हलचलें भी इसी काल में हुईं, जिन्होंने भू-पटल का रूप ही बदल दिया। भू-विज्ञान की दृष्टि से इस काल की शैलों का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन हुआ है। इस अध्ययन से इस महाकल्प का इतिहास बहुत ही स्पष्ट हो गया है। अध्ययन की सुविधा के कारण इस महाकल्प को भी दो भागों में बाँटा गया है : (क) प्राचीन नवजीव महाकल्प, और (ख) नवीन नवजीव महाकल्प।

(क) प्राचीन नवजीव महाकल्प—यह महाकल्प पृथ्वी पर 7 करोड़ वर्ष पूर्व से 10 करोड़ वर्ष पूर्व तक रहा। इसको निम्न कल्पों में विभक्त किया गया है : (क) आदि नूतन कल्प, (ख) अल्प नूतन कल्प, (ग) मध्य नूतन कल्प, और (घ) अति नूतन कल्प।

भू-गर्भिक इतिहास में प्राचीन नवजीव महाकल्प का विशेष महत्त्व है। इस महाकल्प के प्रारम्भ में धरातल की गर्मी धीरे-धीरे कम होती गयी, जिससे जलवायु बहुत ही शीतल हो गयी। शीतल जलवायु के कारण भू-पटल का बहुत बड़ा भाग हिम से ढक गया।

इस परिवर्तन से पृथ्वी पर विद्यमान जीवों को भारी जीवन-संघर्ष करना पड़ा और अन्त में सबके सब नष्ट हो गये। ऐसे ही जीवों में दक्षिणी अमरीका का जन्तु देव **मेगाथेरियम**, मध्य एशिया में बलूचिस्तान का **बलूचीथेरियम** और शिवालिक में **शिवाथेरियम** नामक जीव विशेष उल्लेखनीय हैं। ये जीव दैत्याकार रूप के थे। जैसे बलूचीथेरियम गेंडा 12 फुट ऊँचा और 25 फुट लम्बा होता था। स्थलीय जीवों में इससे बड़ा कोई दूसरा जीव नहीं हुआ है। जलवायु की कठोरता के कारण इन विशालकाय उरगों के नष्ट होने के उपरान्त लाखों वर्षों तक पृथ्वी पर किसी भी प्रकार के जीव के चिह्न अवशेष नहीं रहे।

इस काल में भूमि पर वनों के साथ-साथ घास के मैदानों का प्रादुर्भाव हुआ। फल-फूल वाले पौधे इस काल की मुख्य विशेषता है। इसी समय पृथ्वी पर छोटे-छोटे वर्गों में कई स्तनपोषी जीवों का उदय हुआ। मानव का आगमन इस काल की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है।

प्राचीन नवजीव महाकल्प भीषण भू-गर्भिक हलचलों का काल रहा है। इन हलचलों से संसार के रूप में भारी उलट-फेर हुआ। इस समय यूरोप में हरसीनियन पर्वतों के उत्तर की ओर दक्षिणी-पूर्वी इंगलैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, उत्तरी फ्रांस और उत्तरी जर्मनी समुद्र में डूबे हुए थे और दक्षिण की ओर विशाल टेथिस महासागर विद्यमान था। मध्य नूतन काल की एल्पाइन हलचलों ने इटली को छोड़कर समस्त यूरोप को ऊपर उठा दिया जिससे एक ओर आल्पस पर्वतमाला

(4) **समनत वलन** (Isoclinal Fold)—जब सम्पीडन के कारण दोनों दिशाओं से समान दबाव पड़ता है तो मोड़ की दोनों भुजाएँ एक ही दिशा में झुक जाती हैं और एक-दूसरी के समान्तर भी होती हैं। शैलों के ऐसे वलन **समनत वलन कहलाते हैं।**

चित्र 367—**समनत वलन**

(5) **परिवलन** (Recumbent Folding)—जब किसी शिला-स्तर पर सम्पीडन के कारण विपरीत दिशा से इतना अधिक दबाव पड़े कि उसकी एक भुजा दूसरी भुजा के ऊपर चढ़ जाय तो उससे परिवलन की रचना हो जायगी। वस्तुतः जब वलन की दोनों भुजाएँ प्रायः क्षैतिज दिशा में झुक जाती हैं तो उसे **परिवलन** कहते हैं।

(6) **पंखाकार वलन** (Fan Folding)—जब किसी क्षेत्र में दोनों ओर से सम्पीडन का दीर्घकाल तक प्रभाव होता रहता है तो उसका मध्यवर्ती भाग मेहराब के रूप में ऊपर उठ जाता है और उसके दायें-बायें मोड़ों का प्रसार हो जाता है। शिलाओं में मोड़ों की इस प्रकार रचना हो जाने से उसका रूप पंखाकार हो जाता है। अतः ऐसे वलन **पंखाकार वलन** कहलाते हैं।

चित्र 368—**पंखाकार वलन**

(7) **अधिक्षिप्त वलन** (Overthrust Fold)—जब भू-पटल की शैलों पर सम्पीडन अत्यधिक बढ़ जाता है तो परिवलन मोड़ अपनी धुरी पर टूट जाता है और उसका एक वृहत शिलाखण्ड खिसककर दूसरे खण्ड पर आरोपित हो जाता है। इस प्रकार शैलों के क्रम में उलट-पुलट हो जाने को **उत्क्रम** (Thrust) कहते हैं। जिस तल से होकर शिलाखण्ड आगे बढ़ता है उसे **उत्क्रम तल** (Thrust plane) कहते हैं। वलन का ऊपरी उठा हुआ भाग **अधिक्षिप्त वलन** कहा जाता है। शैलों में इस प्रकार के वलन पड़ जाने से प्राचीनकाल की शैलें नवीन शैलों के ऊपर पहुँच जाती हैं।

चित्र 369—**अधिक्षिप्त वलन**

(8) **ग्रीवाखण्ड** (Nappes)—फ्रांसीसी भाषा में 'नापे' का अर्थ मेजपोश से होता है। जिस प्रकार मेजपोश अपनी मेज से भिन्न होता है, उसी प्रकार नापे (ग्रीवाखण्ड) की चट्टानें अपने नीचे की चट्टानों से भिन्न होती हैं। जब कभी सम्पीडन के अधिक बढ़ जाने से परिवलित मोड़ का शिलाखण्ड समूह टूटकर अपने मूल स्थान से बहुत दूर पहुँच जाते हैं तो उसे **नापे** अर्थात् **ग्रीवाखण्ड या प्रच्छेद** कहा जाता है। इसमें परिवर्तित मोड़ों की ऊपरी शिलाएँ विभंग तल (plane of fracture) के सहारे मीलों दूर खिसक जाती हैं। अतः इनकी शैलों का उस स्थान की शैलों की रचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आल्प्स तथा हिमालय पर्वतों में ऐसे अनेक ग्रीवाखण्ड पाये जाते हैं।

चित्र 370—**ग्रीवाखण्ड**

भू-गर्भिक समय मापक[1]
(Geological Time Scale)

महाकल्प		कल्प	आयु	अन्य विशेषताएँ
नवजीव महाकल्प (Neozoic Era) 7 करोड़ वर्ष पूर्व	नवीन नवजीव अथवा चतुर्थ महाकल्प	अभिनव कल्प (Recent)	25,000 वर्ष पूर्व	आधुनिक सभ्य मानव
		अधिनूतन कल्प (Pleistocene)	10 लाख वर्ष पूर्व	पाषाणकालीन आदि मानव
	प्राचीन नवजीव अथवा तृतीय महाकल्प	अति नूतन कल्प (Pliocene)	1 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व	प्रथम मानव, स्तनपोषी जीव एवं वनस्पति का विकास
		मध्य नूतन कल्प (Miocene)	3 करोड़ 50 लाख वर्ष पूर्व	वर्तमान दिशा में प्रगति
		अल्प नूतन कल्प (Oligocene)	5 करोड़ वर्ष पूर्व	वर्तमान दिशा की ओर अग्रसर
		आदि नूतन कल्प (Eocene)	7 करोड़ वर्ष पूर्व	उरगों का ह्रास, छोटे-छोटे स्तनपोषी जीवों की अधिकता, फल-फूल वाले पौधों का विकास
मध्यजीव महाकल्प (Mesozoic Era) 19 करोड़ वर्ष पूर्व		क्रिटेशस कल्प (Cretaceous)	12 करोड़ वर्ष पूर्व	बलुआ पत्थर एवं चाक शैलों का निर्माण, उरगों का पूर्ण विकास, मछलियों एवं स्तनपोषियों का जन्म,
		जुरैसिक कल्प (Jurassic)	15 करोड़ वर्ष पूर्व	जल-थल और आकाशीय उरगों की बहुलता, वनों का विकास
		ट्रियासिक कल्प (Triassic)	19 करोड़ वर्ष पूर्व	लाल बलुआ पत्थर की रचना, उरगों की प्रधानता, हल्के स्तनपोषी जीवों का उदय

देखे जाते हैं। तरल लावा हवा में काफी ऊँचाई तक फेंका जाता है जो ठण्डा एवं ठोस होकर पुनः कुछ ज्वालामुखी में और कुछ उसके ढालों पर गिर पड़ता है। स्ट्राम्बोली में लगभग निरन्तर उद्गार होता रहता है। इससे धुएँ के बादल नहीं उठते अपितु प्रज्ज्वलित गैसें बाहर निकलती रहती हैं। इसी कारण स्ट्राम्बोली को **भूमध्य सागर का प्रकाश-गृह** कहा जाता है।
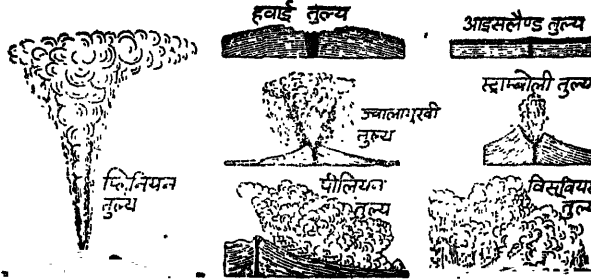
चित्र 378—ज्वालामुखी उद्भेदन के विभिन्न रूप

(3) **वलकेनो तुल्य** (Vulcanian Type)—स्ट्राम्बोली के निकट ही लिपारी द्वीप में वलकेनी ज्वालामुखी स्थित है। इसी के आधार पर इस समूह के ज्वालामुखियों का नामकरण किया गया है। इस प्रकार के ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा बहुत गाढ़ा होता है जिससे प्रत्येक लावा-प्रवाह के उपरान्त मुख बन्द हो जाता है। अतः प्रत्येक नये उद्गार के साथ भीषण विस्फोट होता है और लावा की जमी ठोस ऊपरी पपड़ी तोड़ दी जाती है। इस कारण उद्भेदन के बाद प्रायः शैलखण्ड बाहर फेंके जाते हैं। इसके अतिरिक्त उद्भेदन के समय बड़ी मात्रा में बाष्प और धूल बाहर निकलती है, जिससे 'गोभी के फूल की भाँति' (cauliflower-like) काला बादल ज्वालामुखी के ऊपर छा जाता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी स्ट्राम्बोली की भाँति प्रज्ज्वलित नहीं होते। इनमें आम्लिक और पैठिक दोनों प्रकार का लावा निकलता हुआ देखा जा सकता है किन्तु ऐसा एक ही ज्वालामुखी से नहीं होता। इन ज्वालामुखियों में भीषण विस्फोट बहुत होते हैं।
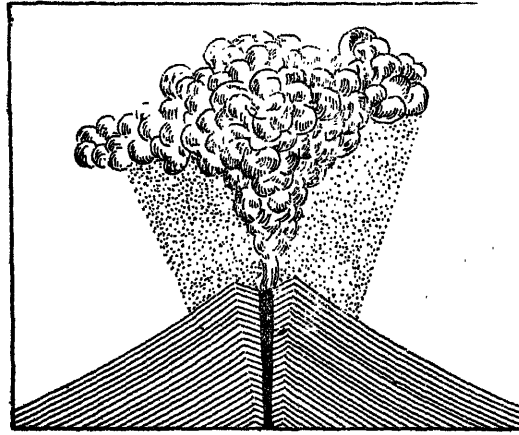
चित्र 379—वेलकेनो तुल्य ज्वालामुखी

(4) **पीलियन तुल्य** (Pelean Type)—पीली पश्चिमी द्वीपसमूह में मार्टिनिक द्वीप का ज्वालामुखी है। इसमें सर्वाधिक भीषण विस्फोट होता है। इसमें से निकलने वाला लावा बहुत लसदार होता है, इस कारण ज्वालामुखी ग्रीवा में कठोर पट्टी पड़ जाती है। उद्गार के समय गैसों के प्रसार से धड़ाके की आवाज होती है। इससे निकलने वाली गैसें इतनी संतृप्त होती हैं कि आकाश में मँडराते हुए बादल प्रकाशवान हो जाते हैं। ज्वालामुखी के निकट अनेक रंगों में प्रज्ज्वलित गैसें देखी जाती हैं। विस्फोट के समय बड़ी मात्रा में धूल व अन्य शिला प्रकार के शिलाखण्ड बाहर निकलते हैं जिससे समस्त वातावरण धूलमय हो जाता है। 8 मई, 1902 ई० में पीली के उद्गार

4

भू-गर्भ की झाँकी

(INTERIOR OF THE EARTH)

यद्यपि भू-गर्भ की संरचना का अध्ययन भूगोल के क्षेत्र के बाहर है, पर चूँकि पृथ्वी के ऊपरी धरातल का स्वरूप उसकी आन्तरिक संरचना से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, इसलिए भूगोल में भी इसका अध्ययन आवश्यक है। पृथ्वी की भीतरी रचना कैसी है? यह आज भी एक रहस्य है। इस रहस्य को जानने के लिए मनुष्य सदा से ही उत्सुक रहा है परन्तु उसके पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसकी सहायता से वह भू-गर्भ की थोड़ी झाँकी देख सके। भू-गर्भ के बारे में मनुष्य का ज्ञान बहुत कम गहराई तक सीमित है। भू-गर्भ का प्रत्यक्ष ज्ञान कुओं, खदानों तथा भू-पृष्ठ पर किये गये संछिद्रों (bore holes) द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु इन साधनों द्वारा अधिक से अधिक ढाई-तीन मील की गहराई का ही ज्ञान प्राप्त हो पाया है। जब हम इस गहराई को पृथ्वी के अर्द्धव्यास के समक्ष रखते हैं (जो लगभग 4,000 मील है) तो हमें यह अनुभव होता है कि भू-गर्भ के अध्ययन के लिए यह अत्यन्त ही नगण्य है। अतः भू-गर्भ की झाँकी प्राप्त करने के लिए हमें अनिवार्यतः परोक्ष रीतियों (indirect method) की शरण लेनी पड़ती है। यद्यपि यह सही है कि मनुष्य ने खानें खोदकर रत्नगर्भा पृथ्वी की अतुल धनराशि को ढूँढ़ निकाला है और भू-गर्भ के रहस्यों को समझने का सूत्र भी प्राप्त किया है, परन्तु पृथ्वी के भीतरी रहस्यों को खोलने वाले सन्देश हमें ज्वालामुखी उद्गार तथा भूकम्प-तरंगों और पृथ्वी के धरातल का ऊपर-नीचे होना आदि अदृश्य भू-गर्भिक घटनाओं द्वारा सदा भू-तात्विक भाषा में ही प्राप्त होते हैं।

वर्तमान समय में यद्यपि वैज्ञानिकों ने पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के बारे में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर ली है, फिर भी भू-गर्भ के सम्बन्ध में कई ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान अभी तक ढूँढ़ा नहीं जा सका है। जैसे पृथ्वी भीतर से ठोस है अथवा द्रवित, पृथ्वी की भौतिक तथा रासायनिक रचना कैसी है? भू-गर्भ में तापमान की क्या अवस्था है आदि? वस्तुतः मनुष्य के पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसकी सहायता से वह भू-गर्भ में झाँककर देख सके और उसकी प्रामाणिक जानकारी दे सके। पृथ्वी की आन्तरिक संरचना के सम्बन्ध में जिन साधनों से जानकारी प्राप्त की जा सकती है उसके निम्न प्रकार हैं :

1. अप्राकृतिक साधन (Artificial Sources)
   (i) घनत्व (Density), (ii) दबाव (Pressure), (iii) तापक्रम (Temperature)।
2. पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों के प्रमाण (Evidences from the Theories of the Origin of the Earth)
3. प्राकृतिक साधन (Natural Sources)
   (i) ज्वालामुखी के साक्ष्य (Volcanic evidences), (ii) भूकम्पीय साक्ष्य (Seismological evidences)

चित्र 389—एक ज्वालामुखी केलडेरा का हवाई दृश्य

हरकुलेनियम नगर पूर्णतः नष्ट हो गये थे। विसूवियस पिछले 700 वर्षों से शान्त था। वर्तमान समय में चिली का अकांकागुआ और इक्वेडोर का चिम्बरोजो प्रसुप्त ज्वालामुखी के उदाहरण हैं।

(3) **निर्वापित ज्वालामुखी** (Extinct Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनसे अब कोई उद्गार नहीं होता और न उद्गार होने की कोई आशा ही रहती है उन्हें निर्वापित ज्वालामुखी

चित्र 392—**निर्वापित ज्वालामुखी**

कहते हैं। इनके छिद्र ज्वालामुखी पदार्थों के भर जाने एवं लावा के जम जाने से बन्द हो जाते हैं। ज्वालामुखी का मुख बन्द हो जाने से कालान्तर में वह झील में बदल जाता है। ऐसे ज्वालामुखी के शिखर पर पेड़-पौधे उग आते हैं। इस प्रकार के ज्वालामुखी विश्व में कम पाये जाते हैं। बर्मा का पोपा ज्वालामुखी निर्वापित ज्वालामुखी है।

(4) **विस्फोटीय ज्वालामुखी** (Explosive Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनमें उद्भेदन भीषण विस्फोट के साथ होता है, विस्फोटीय ज्वालामुखी कहलाते हैं। इनमें गैसें, वाष्प एवं अन्य पदार्थ धड़ाके के साथ बाहर निकलता है। माउण्ट पीली, क्रैकाटोआ और माउण्ट ताल विस्फोटीय ज्वालामुखी के उदाहरण हैं।

(5) **निःस्रावी ज्वालामुखी** (Effusive Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनमें लावा तथा गैसों का उद्गार बिना किसी विस्फोट के होता है, निःस्रावी ज्वालामुखी कहलाते हैं। इनमें लावा का निःस्रण बिना किसी ध्वनि के होता है। हवाई द्वीप के कई ज्वालामुखी इस वर्ग में आते हैं।

(6) **मिश्रित ज्वालामुखी** (Mixed Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनमें उद्गन कभी विस्फोट के साथ और कभी शान्त रूप से होता है, मिश्रित ज्वालामुखी होते हैं। विसूवियस, एटना व केनिया आदि ज्वालामुखी इसी वर्ग में आते हैं।

उष्णोत्स अथवा गेसर (Geysers)

गेसर ज्वालामुखी क्रिया का एक गौण रूप है। उद्गार के समय जिस प्रकार ज्वालामुखी से गर्म लावा निकलता है उसी प्रकार गेसर से समय-समय पर गर्म जल तथा वाष्प निकला करती है। वस्तुतः 'गेसर' शब्द आइसलैण्ड की भाषा के 'गेसिर' (geysir) से बना है जिसका अर्थ 'तेजी से उछलता हुआ' (gusher) अथवा 'फुहार छोड़ने वाला' (spouter) होता है। इससे स्पष्ट है कि 'गेसर' गरम पानी के उन स्रोतों को कहते हैं जिनसे समय-समय पर उष्ण जल और वाष्प फुहारों के रूप में बड़ी तीव्रता से ऊपर उठती है। कभी-कभी इनकी ऊँचाई 250 से 300 फुट तक होती है। **आर्थर होम्स** ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि "Geysers are hot springs from

32 मीटर गहराई के बाद 1° से तापमान बढ़ जाता है। इस हिसाब से लगभग 96 किमी की गहराई पर तापमान में इतनी अधिक वृद्धि हो जायगी कि वहाँ कोई भी खनिज ठोस अवस्था में नहीं रह सकता। इसी आधार पर तथा ज्वालामुखी उद्गार के समय द्रव लावा को निकलता देखकर **लाप्लास** आदि विद्वानों ने सहज ही यह अनुमान लगाया कि पृथ्वी का ऊपरी धरातल ठोस है, परन्तु केन्द्रीय भाग द्रव अवस्था में है। उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लेने से दो अड़चनें हमारे सम्मुख हैं। पहली यह है कि ज्वार के समय समस्त पृथ्वी पिण्ड एक ठोस गोले के समान बना रहता है। यदि पृथ्वी भीतर से द्रव अवस्था में होती तो सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से प्रभावित अवश्य होती। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। दूसरी अड़चन यह है कि भूकम्प की तरंगें पृथ्वी में बहुत अधिक गहराई तक उसी प्रकार चली जाती हैं जिस प्रकार कि वे एक ठोस पिण्ड से होकर गुजरती हैं। अतः इन दोनों ही कारणों से उपर्युक्त विचार त्याग देना पड़ा। बाद में यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो गयी कि भू-गर्भ में द्रव पदार्थों की कल्पना करते समय उसके ऊपर पड़ने वाले भारी दबाव का कोई विचार नहीं किया गया है। दबाव से प्रत्येक पदार्थ का द्रवणांक बिन्दु (melting point) बढ़ जाता है, अर्थात् उसको पिघलाने के लिए अधिक तापमान की जरूरत होती है। इस तरह पदार्थों का द्रवणांक बिन्दु अधिक होने से ही पदार्थ ठोस अवस्था में बने रहते हैं। इस आधार पर लोगों ने पृथ्वी को ठोस ठहराया।

चित्र 37—पृथ्वी का भौतिक व रासायनिक स्वरूप

उपर्युक्त सुझाव को कुछ लोगों ने यह कहकर मिथ्या घोषित कर दिया कि तापमान के बढ़ जाने पर ऐसी अवस्था आ सकती है जब दबाव के अधिक होने पर भी पदार्थ का ठोस या द्रव बने रहना असम्भव हो जाता है। अतः लोगों ने यह सुझाया कि पृथ्वी के केन्द्रीय भाग में वायव्य पदार्थ भरे हैं। परन्तु प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता। यदि यह मान भी लिया जाय कि केन्द्रीय भाग में पदार्थ वायव्य अवस्था में होंगे तो भी उनमें धरातल के वायव्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न गुण होंगे। उन गुणों में एक परिदृढ़ता (rigidity) भी होनी चाहिए, जिससे वे पदार्थ वायव्य होते हुए भी स्थिर बने रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो ज्वार-भाटा के समय समस्त पृथ्वी भी द्रव पदार्थों की भाँति ही खिंच जाय।

जब तक बहुत ऊँचे तापमान और भारी दबाव की अवस्थाओं में अभी और बहुत अधिक परीक्षण नहीं हो जाते तब तक अनेक प्रश्नों का न तो सही हल ही ज्ञात हो सकता है और न उनके बारे में कोई निष्कर्ष ही निकाला जा सकता है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि वायुमण्डल के नीचे किये गये परीक्षणों से पदार्थों का वास्तविक गुण मालूम नहीं होने पाता। अतः 'ठोस', 'द्रव' और 'वायव्य' शब्दों का जो हम साधारण अर्थ लगाते हैं वह भू-गर्भ में पदार्थों के लिए उचित नहीं है। हम अपने साधारण अनुभव से यह जानते हैं कि धरातलीय अवस्थाओं में भी कुछ पदार्थों में ठोस और द्रव दोनों ही गुण पाये जाते हैं। इस प्रकार डामर और चपड़ी (pith and sealing wax) यकायक भारी चोट पड़ने पर 'ठोस' तथा चटकने वाले (brittle) पदार्थों के अनुरूप आचरण करता है पर जब उसके ऊपर लगातार लम्बे समय तक धीरे-धीरे चोट पड़ती है तो वह 'द्रव' के अनुरूप

आचरण करने लगता है। इस उदाहरण द्वारा भू-गर्भ की अवस्था को भली प्रकार समझा जा सकता है।

पृथ्वी की भौतिक अवस्था के सम्बन्ध में हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

(1) सम्पूर्ण पृथ्वी, कम से कम जब उस पर यकायक चोट पड़ती है तो ठोस पिण्ड की भाँति आचरण करती है।

(2) पृथ्वी के कुछ परत अनुकूल अवस्थाओं में गाढ़े द्रव पदार्थों (viscous liquids) के अनुरूप आचरण कर सकते हैं।

(3) भीतरी परत का कुछ भाग अधिक तापमान अथवा ऊपरी दबाव के कम हो जाने पर द्रव रूप में हो सकता है। वह ज्वालामुखी को जन्म देता है।

2. पृथ्वी की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्तों के प्रमाण (Evidences from the Theories of the Origin of the Earth)

पृथ्वी की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धान्तों में कुछ विद्वानों ने पृथ्वी के मूल रूप को ठोस, कुछ ने वायव्य तथा कुछ ने द्रव अवस्था में माना है। उदाहरणतः चैम्बरलिन ने अपनी 'ग्रहाणु परिकल्पना' में पृथ्वी की उत्पत्ति को ठोस ग्रहाणुओं के एकत्रीकरण के द्वारा स्पष्ट किया है। इस मत के अनुसार पृथ्वी की आन्तरिक संरचना ठोस होनी चाहिए। किन्तु जेम्स जीन्स की 'ज्वारीय परिकल्पना' के अनुसार पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से निकले ज्वारीय पदार्थ से हुई है। इस आधार पर पृथ्वी का भू-गर्भ द्रव अवस्था में होना चाहिए। इसके विपरीत लाप्लास ने 'नीहारिका परिकल्पना' में पृथ्वी की उत्पत्ति को वायव्य नीहारिका द्वारा स्पष्ट किया है। इस मत के अनुसार पृथ्वी का भीतरी भाग वायव्य अवस्था में होना चाहिए। **जोयपरिज** तथा **रिटर** ने भी पृथ्वी के अन्तरम (core) को वायव्य पदार्थों से निर्मित माना है। पृथ्वी की उत्पत्ति के उपरोक्त विरोधी मतों के परिप्रेक्ष्य में भू-गर्भ की संरचना का स्पष्टीकरण कर पाना बड़ा कठिन है। अतः हमें अन्य साक्ष्यों के द्वारा ही इसका समाधान ढूँढ़ना होगा।

3. प्राकृतिक साधन (Natural Sources)

(i) **ज्वालामुखी के साक्ष्य** (Volcanic evidences)—जब ज्वालामुखी का उद्गार होता है तो पृथ्वी के भीतर से गर्म एवं तरल लावा उमड़ कर धरातल के ऊपर फैल जाता है। ज्वालामुखी से तरल लावे का उद्गार हमें यह मानने को विवश करता है कि पृथ्वी के भीतर एक विशाल लावे का भण्डार विद्यमान है। विद्वानों ने इसी को **मैगमा-भण्डार** (Magma Chamber) कहा है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी का भीतरी कुछ भाग अवश्य ही तरल अवस्था में होना चाहिए। किन्तु पूर्व में किये गये विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग पर पड़ने वाले ऊपरी अत्यधिक दबाव के कारण चट्टानें वहाँ पिघल नहीं पातीं। इस प्रकार पृथ्वी का भीतरी भाग ठोस ही होगा। यह सम्भव है कि जब कभी पृथ्वी के ऊपरी भाग में दरारें आदि पड़ जाएँ तो भीतरी चट्टानों का दबाव घट जाता है। फलस्वरूप चट्टानों का द्रवणांक बिन्दु भी गिर जाता है। इसी से पृथ्वी के भीतर की चट्टानें पिघलकर ज्वालामुखी उद्गार के रूप में बाहर आ जाती हैं। स्पष्ट है कि ज्वालामुखी के उद्गार के आधार पर पृथ्वी की संरचना का स्पष्टीकरण प्राप्त करना सम्भव नहीं है।
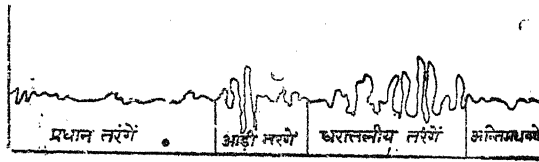
चित्र 38—भूकम्प की तरंगें

(ii) **भू-गर्भशास्त्र के प्रमाण**—जब किसी अदृश्य घटना के परिणामस्वरूप पृथ्वी के किसी भाग में भूकम्प आता है तो न केवल वह भाग अचानक ही काँप उठता है, वरन् उस स्थान से भू-पटल को कँपा देने वाली लहरें चारों ओर चलने लगती हैं। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि यदि हम ज्वालामुखी आदि कारणों से उत्पन्न स्थानीय धक्कों को छोड़ दें तो भूकम्प वास्तविक रूप में पृथ्वी की आन्तरिक हलचलों से उत्पन्न होते हैं। इन भूकम्पों के कारण भू-गर्भ की चट्टानों को किसी प्रकार का धक्का लगता है जिससे वे ग्लेशियर की तरह आगे खिसकने लगती हैं। चट्टानों के इस प्रकार खिसकने से उनमें मोड़ पड़ जाते हैं। पर जब वे किसी कारणवश आगे नहीं खिसक पातीं तो टूट जाती हैं। भू-गर्भ में चट्टानों की इस प्रकार की गति यद्यपि बहुत ही सीमित क्षेत्र में होती है परन्तु उनके आपसी संघर्ष से कम्पन लहरें (earthquake waves) सभी दिशाओं को अग्रसर होती हैं। भूकम्प की ये लहरें तीन प्रकार की होती हैं :

(1) **प्राथमिक या लम्बी लहरें** (Longitudinal, Primary or 'P' waves)—प्राथमिक अथवा लम्बात्मक लहरें वे भूकम्पीय लहरें हैं, जो ठीक ध्वनि तरंगों के अनुरूप होती हैं। इनमें पदार्थ के कण गति की दिशा में ही प्रदोलित होते हैं। ये ठोस भाग में अत्यधिक गति से चलती हैं। ये सबसे तीव्र चलने वाली लहरें हैं। अंग्रेजी में ये 'P' Waves के नाम से पुकारी जाती हैं।
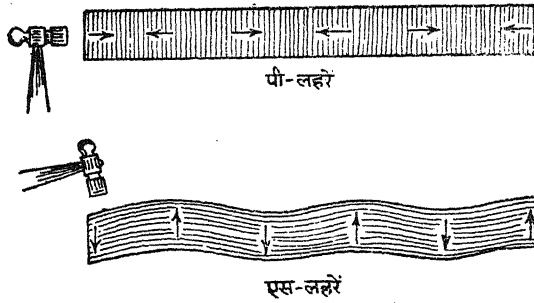
चित्र 39—'पी' व 'एस' तरंगें

(2) **गौण या आड़ी लहरें** (Transverse, Secondary or 'S' waves)—ये लहरें जल तरंगों अथवा प्रकाश तरंगों से मिलती-जुलती होती हैं। इनमें पदार्थ के कणों की गति लहर की दिशा के प्रति समकोण बनाते हुए होती है। इसी कारण इन्हें आड़ी लहरें कहते हैं। अंग्रेजी में इन्हें 'S' Waves कहा जाता है। ये लहरें पृथ्वी के भीतर अत्यधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं। ये द्रव पदार्थों में प्रायः लुप्त हो जाती हैं।

(3) **धरातली लहरें** (Surface waves)—ये लहरें धरातल के ऊपर तक ही सीमित रहती हैं। भू-गर्भ में ये प्रवेश नहीं हो पातीं। इनके प्रदोलन का आवृत्तिकाल अपेक्षाकृत लम्बा होता है। भूकम्पशास्त्र की भाषा में साधारणतः ये 'L' waves कहलाती हैं। ये लहरें गति में बहुत कमजोर होती हैं परन्तु अत्यन्त प्रभावशाली होती हैं।

चित्र 40—पी-तरंगों का वक्राकार होना

साधारणतः भूकम्प की लहरें भूकम्प-केन्द्र (epi-centre) से प्रारम्भ होकर सभी दिशाओं में धरातल की ओर चलती हैं। यदि पृथ्वी अपनी रचना में सर्वत्र समान होती तो ये लहरें सीधे रूप में ही आगे बढ़तीं। परन्तु वस्तुतः पृथ्वी की रचना सर्वत्र समान नहीं है। इसमें भिन्न-भिन्न घनत्व वाले अनेक स्तर हैं। अतः भू-गर्भ में जहाँ कहीं दो भिन्न घनत्व के स्तर मिलते हैं वहीं इन लहरों में वर्तन (refraction) और परावर्तन (reflection) हो
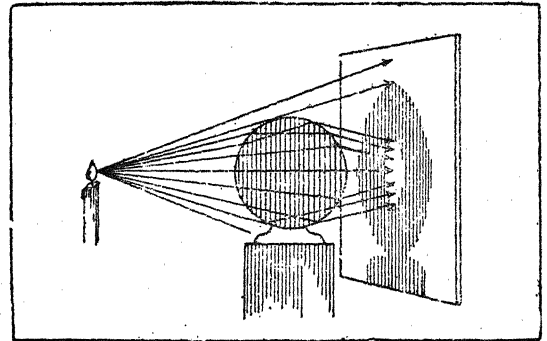
जाता है। भू-गर्भ में ऐसे समतलों को जो भिन्न घनत्वों के स्तरों को अलग करता है, विचालिता तल (anamoly plane) कहा जाता है। भू-गर्भ में बार-बार पदार्थों का घनत्व बदल जाने से लहरों के मार्ग और गति पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

चित्र 41—भूकम्पीय लहरों का भ्रमणपथ

लगभग 1900 ई० तक लोगों ने भूकम्प की तीन प्रकार की लहरों की पूरी जानकारी प्राप्त कर ली थी, परन्तु हाल ही में भूकम्प के निरीक्षणों से दो नवीन प्रकार की लहरों का उद्घाटन और हुआ है। 1909 ई० में क्रोशिया (Croatia) में कुल्पा की घाटी (Kulpa valley) में आने वाले भूकम्प के निरीक्षण से 'P' और 'S' लहरों से मिलती-जुलती 'Pg' और 'Sg' लहरों का पता चला है। ये लहरें ठीक 'P' और 'S' लहरों के समान ही पायी गयी हैं, परन्तु इनकी गति उनकी अपेक्षा कम थी। इसी तरह सन् 1923 के टयूर्न (Tauern) के भूकम्प के विश्लेषण से नवीन लहरों का पता चला। इन लहरों की गति 'P' व 'S' और 'Pg' व Sg' लहरों की गतियों के बीच पायी गयी। इन लहरों को बाद में 'PQ' और 'SQ' लहरों के रूपों में पहचाना गया।
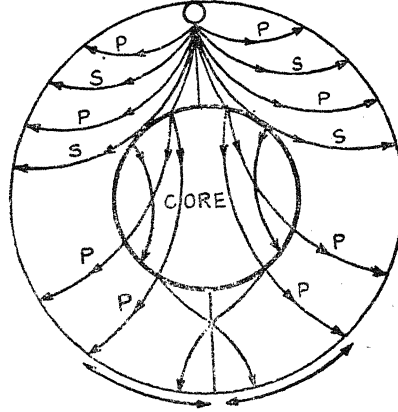
भू-गर्भ में लहरों के मुड़ जाने से कुछ प्रदेश उनसे बिलकुल ही प्रभावित नहीं होते। भू-गर्भ के ऐसे प्रदेशों को **छाया प्रदेश** (Shadow Zone) कहा गया है।

भूकम्प की कम्पन लहरों के सम्बन्ध में सबसे बड़ी ध्यान देने योग्य बात यह है कि उनकी चाल उनके माध्यम के घनत्व के अनुसार बढ़ती जाती है। अर्थात् उनके माध्यम का घनत्व जितना ही अधिक होगा उनकी चाल उतनी ही अधिक तेज होती चली जायेगी। लहरों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि पृथ्वी के अभ्यन्तर में जाने वाली लहरों की चाल गहराई के अनुसार बढ़ती जाती है। धरातल से लगभग 1,800 मील की गहराई तक तो लहरों की चाल निरन्तर बढ़ती जाती है। पर उसके उपरान्त लहरों की चाल में यकायक परिवर्तन होने लगता है। आड़ी लहरें 1,800 मील की गहराई तक पहुँचकर समाप्त हो जाती हैं। उससे आगे वे पहुँचने में असमर्थ रहती हैं। आड़ी लहरें चूँकि द्रव पदार्थ में होकर नहीं गुजर सकतीं, इसलिए यह अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी का केन्द्रीय पिण्ड जहाँ ये लहरें नहीं जा पातीं, द्रव अवस्था में होना चाहिए।
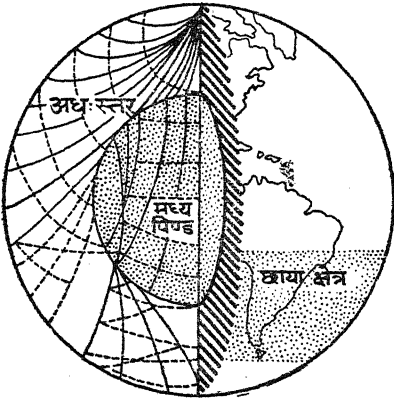
चित्र 42—भूकम्पीय लहरों का मध्य पिण्ड एवं छाया चित्र

आड़ी लहरों के विपरीत प्रधान या लम्बी लहरें पृथ्वी के केन्द्र तक सरलता से प्रवेश कर जाती हैं। परन्तु इनकी चाल केन्द्रीय पिण्ड में घट जाती है। फिर केन्द्रीय पिण्ड के भीतर एकदम सीधे चले जाना इनके लिए असम्भव होता है। अतएव वे वहाँ मुड़कर बाहर निकल आती हैं।

धरातलीय लहरें प्रारम्भ में उत्पत्ति स्थान से कम्प-केन्द्र तक पहुँचती हैं और फिर धरातल की परिक्रमा करती हैं। यह देखा गया है कि धरातलीय लहरें महाद्वीपों की अपेक्षा सागर नितल में

विस्तार होता जाता है और ये मुख्य नदी के मैदान से जा मिलते हैं। अतः ऐसे मैदानों को **'दोआब'** —दो नदियों के बीच का मैदान—कहा जाता है।

चित्र 410—बाढ़ का मैदान

नदियों की बाढ़ द्वारा बने ये मैदान अत्यन्त उपजाऊ होते हैं क्योंकि नदियाँ प्रतिवर्ष उपजाऊ मिट्टी ला-लाकर मैदान में बिछाती रहती हैं। यही कारण है कि ये मैदान संसार के घने बसे हुए भाग हैं।

(स) डेल्टा मैदान (Delta Plains)—नदी अपनी अन्तिम अवस्था में जब समुद्र में प्रवेश करती है तो उसकी प्रवाह गति बिलकुल ही शिथिल हो जाती है। इस अवस्था में उसका भार (load) बहुत अधिक बढ़ जाता है। यहाँ नदी का क्षय-कार्य प्रायः समाप्त हो जाता है। अतः नदी अपना समस्त भार मुहाने के समीप पटकती जाती है। धीरे-धीरे मुहाना इतना अधिक भर जाता है कि वह जीभ की तरह समुद्र में बढ़ जाता है। काँप के धीरे-धीरे जमा होते रहने से इसका विस्तार भूमि की ओर भी बढ़ता जाता है और एक त्रिभुजाकार आकृति का रूप बन जाता है। संसार की सभी बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने मुहानों पर इस प्रकार के डेल्टाओं का निर्माण करती हैं।

डेल्टा मैदान प्रायः समतल और सपाट होता है। यत्र-तत्र दलदल और उथली झीलें पायी जाती हैं। इसकी ऊँचाई-निचाई बहुत ही कम होती है। यहाँ नदियों के तटों के समीप तट बाँध (levees) पाये जाते हैं। इनके कारण बहुधा नदी अनेक वितरक धाराओं में बँट जाती है। गंगा, सिन्धु, नील, पो, ह्वांगहो और मिसीसिपी आदि नदियों ने मुहानों पर बड़े-बड़े डेल्टाओं का निर्माण किया है। ये मैदान ऊपजाऊ होने के कारण घनी आबादी के केन्द्र बन गये हैं।

(2) **अपोढ़ के मैदान** (Drift Plains)—बड़े-बड़े हिमनद जब पहाड़ों से नीचे उतरते हैं तो अपने साथ बड़ी मात्रा में कंकड़, पत्थर, शिलाखण्ड और बालू, बजरी आदि बहा लाते हैं। जब ये हिमनद हिम-रेखा (snow line) को पहुँचते हैं तो वे पिघलने लगते हैं। अतः उनके साथ आया हुआ सब पदार्थ वहीं छूट जाता है। धीरे-धीरे इन पदार्थों का निक्षेप बढ़ता जाता है और कालान्तर में मैदान का रूप धारण कर लेता है। धरातल पर इस प्रकार के मैदान अधिकतर उस समय बने जब महाद्वीप हिम-चादरों से ढके हुए थे और हिम चादरें आगे-पीछे हटने लगी थीं।

उत्तरी-पश्चिमी यूरोप और मध्य कनाडा में ऐसे मैदानों के सर्वोत्तम उदाहरण मिलते हैं। अपनी उत्पत्ति और रचना-विधि के अनुसार ये मैदान तीन प्रकार के होते हैं :

(अ) बट्टड़ मृत्तिका मैदान, (ब) अपक्षेप मैदान, और (स) हिमोढ़ के मैदान।

(अ) **बट्टड़ मृत्तिका मैदान** (Till Plains)—ये मैदान हिम के नीचे पड़े हुए निक्षेप से बनते हैं। ये अपनी रचना में लहरदार होते हैं। यहाँ मैदान में लम्बे-चौड़े तथा कम ऊँचे टीले पाये जाते

चित्र 411—अपोढ़ का मैदान

हैं। इन टीलों के बीच-बीच में उथले गर्त बने हुए रहते हैं। अतः इस प्रकार के मैदान में दलदल बहुतायत से पाये जाते हैं। इस प्रकार के मैदान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण न्यू इंगलैण्ड का प्रदेश है।

(ब) **अपक्षेप मैदान** (Outwash Plains)—इस प्रकार के मैदान पिघलते हुए हिम से बनी धाराओं द्वारा फैलाये गये निक्षेप से बनते हैं। जल द्वारा बनने के कारण इन मैदानों में बालू, बजरी और मिट्टी की परतें पायी जाती हैं। क्रम रूप से तहों का होना इन मैदानों की विशेषता है। परतों के बीच में छोटे-मोटे गोलाश्म भी पाये जाते हैं। इन मैदानों की मोटाई भिन्न-भिन्न होती है। इन मैदानों में कहीं पत्थरों की अधिकता होती है और कहीं ये केवल बालू के ही बने हुए होते हैं। स्थान-स्थान पर मैदानों में केटली के आकार के छोटे-छोटे गर्त (kettle ponds) पाये जाते हैं। प्रायः ये मैदान उपजाऊ कम होते हैं। किन्तु इन मैदानों में आलू की खेती अच्छी होती है।

(स) **हिमोढ़ के मैदान** (Moraine Plains)—ये मैदान हिम-नदी के अन्तिम अथवा पार्श्ववर्ती हिमोढ़ के निक्षेप से बनते हैं। ये निक्षेप चन्द्राकार अथवा अर्द्धचन्द्राकार श्रेणियों में होते हैं। इनका आकार तथा विस्तार विभिन्न प्रकार का होता है। ये बहुत ही ऊबड़-खाबड़ होते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा में ऐसे मैदान बहुत मिलते हैं।

चित्र 412—झीलकृत मैदान हॉलैण्ड के पोल्डर्स

(3) **झील के मैदान** (Lacustrine Plains)—झीलों में गिरने वाली नदियाँ प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में झीलों के पेटे में अवसाद का निक्षेप करती रहती हैं। जब कभी अवसाद के निक्षेप से झीलों की तली भर जाती है और झील सूख जाती है तो वह मैदान में बदल जाती है। ऐसे मैदान प्रायः शुष्क प्रदेशों और हिम प्रवाहित क्षेत्रों में अधिक देखे जाते हैं। ये मैदान अपने रूप में ठीक तटीय मैदानों के अनुरूप लगते हैं। इन मैदानों में मिट्टी, बालू और तलछट की परतें होती हैं। जल प्रवाह ठीक न होने से इन मैदानों के बहुत से भाग दलदली होते हैं और कुछ भाग जल से आर्द्र रहते

के अनुसार होता है। यदि तटीय भू-भाग पहले से ही मैदानी है तो नवीन उत्थापित तटवर्ती मैदान चौड़ा होगा। किन्तु यदि तटीय भू-भाग पर्वतीय है तो नवीन तटवर्ती मैदान एक सँकरी पट्टी के रूप में होगा।

रचना की दृष्टि से तटीय मैदान साधारण और मिश्रित दोनों ही प्रकार के होते हैं। साधारण मैदानों में निरन्तर क्रमिक तहें विद्यमान होती हैं। मिश्रित मैदान समुद्र के बार-बार आगे-पीछे हटते रहने से बनते हैं। इस कारण मिश्रित मैदानों में भिन्न-भिन्न पदार्थों वाली अनुक्रमिक तहें देखी जाती हैं। कुछ तटीय मैदान धरातल की निम्न भूमि पर और कुछ धरातल की ऊँची या विषम प्रकृति वाली भूमि पर आधारित होते हैं।

चित्र 413—तटीय मैदान

तटीय मैदान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः समतल होते हैं परन्तु उनमें स्पष्ट ढाल का अभाव रहता है। स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े गर्त (depression) विद्यमान रहते हैं। सम्पूर्ण मैदान आकृतिहीन और नीचा होता है। मैदान में सर्वत्र छिछली झीलें और दलदल देखे जाते हैं। इनमें जल-प्रवाह पूर्णतः अविकसित होता है। उच्च ज्वार के समय इन मैदानों में समुद्र का जल भर जाता है। मैदान में सर्वत्र बालू और काँप की समान्तर और लहरदार पट्टियाँ देखी जा सकती हैं।

तटीय मैदान अधिक दिनों तक समतल नहीं बने रहते। जल-प्रवाह के विकसित होते ही इनके रूप में परिवर्तन होने लग जाता है। अतः कालान्तर में नदियों और लहरों के प्रभाव से इनका समतल रूप नष्ट हो जाता है। ढीली काँप और बालू से बनी होने के कारण ऋतु-अपक्षय और अपरदन का इन पर शीघ्र प्रभाव होता है।

समुद्री लहरों द्वारा कहीं-कहीं तटीय मैदानों पर बालू व मिट्टी आदि एकत्र होती रहती है जिससे तटीय मैदान का समुद्र की ओर विस्तार होता जाता है। कहीं-कहीं तटों के समीप बालू की भित्तियाँ खड़ी हो जाती हैं जो मैदानों के विस्तार को समुद्र में दूर तक पहुँचा देती हैं। इन भित्तियों के कारण यहाँ जहाजों के ठहरने के लिए सुरक्षित स्थान बन जाते हैं। स्थल की ओर ये मैदान जहाँ पुरानी तट-रेखा के समीप मिलते हैं वहाँ यकायक ढाल होता है। इन पुराने तटों के अधिक ढालू होने के कारण यहाँ बहने वाली नदियों में जल-प्रपात बन जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में अटलाण्टिक तट पर बनी हुई प्रपात रेखा (fall line) इसका उदाहरण है।

तटीय मैदान यों तो प्रायः सभी महाद्वीपों में पाये जाते हैं परन्तु महत्त्वपूर्ण तटीय मैदानों के उदाहरण बेल्जियम, हॉलैण्ड और जर्मनी में देखने को मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उत्तरी

है । फेरियम, लोहे का ही रूप है । इस प्रकार पृथ्वी की इस अन्तिम परत में लोहे की प्रधानता होने से ही उसमें चुम्बकीय गुण विद्यमान है । इसी से पृथ्वी में स्थिरता (rigidity) भी है ।

पृथ्वी की विभिन्न परतों की मोटाई तथा गहराई
(Thickness and Depth of Different Layers of the Earth)

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी की संरचना विभिन्न घनत्व के पदार्थों से हुई है । भू-गर्भ में एक समान घनत्व वाले पदार्थों को एक परत (layer) की संज्ञा दी गयी है । पृथ्वी के भीतर विभिन्न घनत्व वाले ऐसे कई परत हैं । इन परतों की संख्या और उनकी गहराई के सम्बन्ध में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं । कुछ विद्वान पृथ्वी के तीन और कुछ चार परत मानते हैं । इसके केन्द्र के सम्बन्ध में सब एक मत हैं । पृथ्वी की संरचना के सम्बन्ध में डेली (Daly), होम्स (Holmes), ग्राकट (Gracht) व जेफरीज (Jeffreys) आदि विद्वानों के मतों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

(1) **डेली का मत**—डेली महोदय ने घनत्व के आधार पर पृथ्वी की तीन परतें बतायी हैं :

(क) **बाहरी परत** (Outer zone)—यह परत पूर्णतः सिलिकेटों द्वारा बनी हुई है । इसका औसत घनत्व 3 है और मोटाई 1600 किलोमीटर है ।

(ख) **मध्यवर्ती परत** (Intermediate zone)—पृथ्वी के केन्द्र और बाह्य परत के मध्य लोहे तथा सिलिकेटों के मिश्रण की एक मध्यवर्ती परत है । इसका घनत्व 4·5 से 9 तक है और मोटाई 1280 किलोमीटर है ।

(ग) **केन्द्रीय परत** (Central zone)—यह तीसरी और अन्तिम परत है जो मूलतः लोहे से बनी है । इसका घनत्व 11·6 है और व्यास 7040 किलोमीटर है ।

(2) **जैफरीज का मत**—जैफरीज ने भूकम्प की लहरों के अनुसार पृथ्वी के निम्न चार परत सुझाए हैं :

(क) **बाह्य अथवा प्रथम परत** (Outer layer)—यह परत परतदार चट्टानों से निर्मित है ।

(ख) **द्वितीय परत**—यह परत ग्रेनाइट चट्टानों से निर्मित है ।

(ग) **तृतीय अथवा मध्यवर्ती परत**—इस परत का निर्माण थैचीलाइट अथवा डायोराइट पदार्थों से हुआ है ।

(घ) **चतुर्थ अथवा अन्तिम परत**—इस परत का निर्माण डूनाइट, पेरीडोटाइट तथा इकलोजाइट नामक चट्टानों से हुआ है ।

(3) **होम्स का मत**—होम्स ने संरचना की दृष्टि से सम्पूर्ण पृथ्वी के दो भाग माने हैं । प्रथम परत को उन्होंने पपड़ी (crust) नाम दिया है । इसमें सम्पूर्ण सियाल का भाग और सीमा का ऊपरी भाग सम्मिलित किया गया है । दूसरी परत को अधः स्तर (substratum) की संज्ञा दी गयी है । इसमें सीमा का निचला भाग और सम्पूर्ण अन्तिम परत सम्मिलित है । होम्स के मत को निम्न प्रकार से स्पष्ट समझा जा सकता है :

सियाल→ऊपरी परत }
{ मध्यवर्ती परत }→पपड़ी या क्रस्ट
सीमा→{ निचली परत →अधःस्तर या सबस्ट्रेटम

होम्स ने महाद्वीपों के नीचे सियाल की मोटाई को विभिन्न प्रमाणों के आधार पर निम्न प्रकार बताया है :

1. तापीय तर्कों के आधार पर—20 किमी तक या कम
2. धरातलीय लहरों के आधार पर—15 किमी से अधिक
3. प्राथमिक लहरों के आधार पर—20 से 30 किमी के बीच
4. सबसे गहरी भूसति के धँसाव के आधार पर—20 किमी से अधिक

W. D. Thornbury : Principles of Geomorphology.
Von Engeln : Geomorphology.
W. G. Worcester : A Text Book of Geomorphology
C. A. Cotton : Geomorphology.
N. E. A. Hinds : Geomorphology.
B. W. Spark : Geomorphology.
Woolridge and Morgan : An Outline of Geomorphology.
R. D. Salisbury : Physiography.
R. S. Tarr and L. Martin : College Physiography.
C. E. Tolman : Ground Water.
C. R. Longwell, A. Knopf and R. F. Flint : A Text Book of Geology.
Gilluly, Waters and Woodford : Principles of Geology.
R. F. Flint : Glacial and Pleistocene Geology
W. B. Wright : The Quaternary Ice Age.
R. A. Bagnold : The Physics of Blown Sand and Desert Dunes.
M. N. Hill : The Sea-Ideas and Observation, Vol. I.
D. W. Johnson : Shore Processes and Shoreline Development.
V. Cornish : Ocean Waves and Kindred Geophysical Phenomena.
A. Rittmann : Volcanoes and Their Activity.
Guilcher : Coastal and Submarine Morphology.
C. A. Cotton : Volcanoes as Landscape Forms.
J. D. Dana : Characteristics of Volcanoes.
R. A. Daly : Igneous Rocks and Their Origin.
G. W. Tyrell : Volcanoes
N. H. Heck : Ehrthquakes.
P. Byerly : Seismology.
R. A. Daly : Our Mobile Earth.
J. Milne : Eearthquakes and Other Earth Movement
H. Jeffreys : Earthquakes and Mountains.
J. Joly : Surface History of the Earth.
J. A. Steers : Unstable Earth.
B. Gutenberg : Internal Constitution of the Earth.
Miller : The Skin of the Earth.
Gregory : Earthquakes and Volcanoes.
White : Study of the Earth-Geophysical Science.
Roderick Peattie : Mountain Geography.
J. Geikie : Mountains—Their Origin, Growth and Decay.
J. W. Gregory : Geography—Structural, Physical and Comparative.
J. E. Marr : The Scientific Study of Scenery.
Finch and Trewartha : Physical Elements of Geography.
Freeman : Essentials of Geography.
Defant : Physical Geography.
Kellaway : A Background of Physical Geography.
N. K. Horrocks : Physical Geography and Climatology.

खोज करने से वैज्ञानिकों को पता चला है कि तेजोद्गार या रेडियोधर्मी तत्त्वों में यूरेनियम और थोरियम दो तत्त्व मुख्य हैं। ये दोनों ही तत्त्व धरातल पर बिछी चट्टानों में विस्तृत रूप से पाये जाते हैं। इन तत्त्वों के अणु स्वतः टूटते रहते हैं। टूटने पर ये पृथ्वी के भीतर प्रचुर गर्मी पैदा कर देते हैं। टूटने के उपरान्त इनके अवशिष्ट भाग अन्य खनिजों में बदल जाते हैं; जैसे यूरेनियम
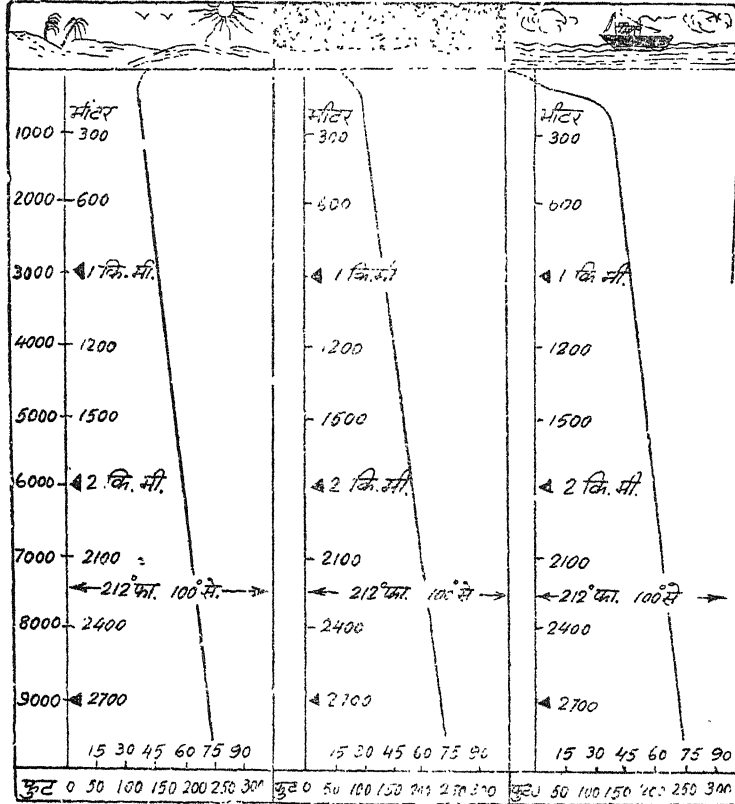
चित्र 47—मरुस्थलों, ध्रुवों तथा समुद्रों के नीचे गहराई के अनुसार ताप-वृद्धि की दरें

और थोरियम टूटकर नष्ट हो जाने पर हीलियम और सीसे में बदल जाते हैं। परन्तु इस अन्तिम अवस्था के पूर्व कई मध्यवर्ती खनिज भी देखे गये हैं जिनमें रेडियम का सरलता से नाम लिया जा सकता है।

तेजोद्गार तत्त्वों की क्रिया धरातलीय इतिहास और धरातलीय रूपों को भली प्रकार समझने के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। एक ओर जहाँ रेडियोधर्मी तत्त्वों की खोज ने पृथ्वी की आयु और उसके शीतल होने के इतिहास की पुरानी समस्याओं का रूप ही बदल दिया है, वहाँ दूसरी ओर भू-गर्भिक काल के निर्णय के लिए बड़ा ही सीधा और सरल आधार प्रदान करती है। किसी भी खनिज में तेजोद्गार पदार्थ एक निश्चित अनुपात में ही होते हैं। इन तत्त्वों के विखण्डन से अन्त में हीलियम और सीसा बनता है। यदि यह मान लिया जाय कि प्रारम्भ में खनिजों में हीलियम और सीसा थे ही नहीं और वे उनमें धीरे-धीरे एकत्र हुए हैं तो किसी भी खनिज अथवा आग्नेय चट्टानों (जिनमें वे जम गये हैं) में यूरेनियम और सीसे का अनुपात देखकर यह सरलता से बताया जा सकता है कि उस खनिज का निर्माण-काल क्या है। फिर खनिजों के स्फट (crystals) भी किसी चट्टान के शीतल होने पर बने होंगे, अतः यह भी बताया जा सकता है कि चट्टान बनने का समय

क्या है ? इस गणना के आधार पर प्राचीनतम आग्नेय चट्टानें करीब 150 करोड़ वर्ष पुरानी ठहरती हैं । इस दृष्टि से पृथ्वी की आयु उसके वास्तविक जन्म से गणना करने पर उपरोक्त संख्या (150 करोड़ वर्ष) से अधिक ही होगी ।

भू-गर्भ में तेजोद्गार तत्त्वों की कितनी मात्रा है ? इस प्रश्न के सही उत्तर के द्वारा ही पृथ्वी के भीतर गर्मी और उसके शीतल होने की अवस्था का सही अनुमान हो सकता है । धरातल की चट्टानों का विश्लेषण करने पर इन तत्त्वों का जो अनुपात उनमें मिला है, यदि उसी अनुपात में ये तत्त्व भू-गर्भ में भी वर्तमान हैं तो भू-गर्भ में उत्पन्न गर्मी संचालन द्वारा धरातल पर आकर नष्ट होने वाली गर्मी की अपेक्षा कई गुना अधिक होती होगी । उस पहेली को बुझाने के लिए विद्वानों ने कई हल प्रस्तुत किये हैं । कुछ विद्वानों की मान्यता है कि चूँकि चट्टानें ताप की उत्तम संचालक (good conductor) नहीं हैं, इसलिए भू-गर्भ में अधिक उत्पन्न हुई गर्मी फैलकर नष्ट नहीं हो सकेगी और परिणामस्वरूप पृथ्वी उत्तरोत्तर गरम होती जायगी । परन्तु पृथ्वी के अधिकाधिक गरम होने की कल्पना अनेक तथ्यों से मेल नहीं खाती । फलत कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वयं विखण्डित होने वाले तत्त्व हल्के हैं, और इसलिए ये पृथ्वी की ऊपरी परतों में ही अधिक पाये जाते हैं । ग्रेनाइट अथवा सिआल प्रकार की चट्टानों के विश्लेषण से भी इस मत की पुष्टि हो जाती है । सिआल चट्टानों में पृथ्वी के निम्न-स्तर की लौह-मिश्रित चट्टानों की अपेक्षा तेजोद्गार तत्त्व अधिक मात्रा में पाये जाते हैं । भू-गर्भ में विभिन्न परतों की कल्पना भी इस आधार पर स्पष्ट हो जाती है । यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि पृथ्वी प्रारम्भ में द्रव अवस्था में थी । पृथ्वी की उस अवस्था में लोहे और निकिल जैसी भारी धातुएँ नीचे बैठ गयीं और सिलीकेटों के परत से अलग हो गयीं । सिलीकेटों के परत में से भी दो या दो से अधिक परत अलग हो गये । पृथ्वी के हल्के तत्त्व, धातु शोधन की भट्टी में जिस प्रकार मैल ऊपर जमा हो जाता है, उसी प्रकार ऊपर आकर जमा हो गये होंगे । इस प्रकार धरातल के समीप अधिकाधिक तेजोद्गार तत्त्व एकत्रित हो गये । इस विचारधारा के अनुसार यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी के भीतरी भागों में इन तत्त्वों की इतनी कमी है कि उससे जितनी गर्मी निकलती है उससे अधिक धरातल पर आकर नष्ट हो जाती है तो पृथ्वी के शीतल होने की क्रिया की गति **केलविन** (Kelvin) के अनुमान से भी कम हो सकती है ।

जैफ्रे ने गहराई के साथ तेजोद्गार पदार्थों के शीघ्रता से कम होते जाने वाली उपर्युक्त धारणा के आधार पर पृथ्वी के शीतल होने का अनुमान लगाया । उसके मतानुसार प्रारम्भ में पृथ्वी ठीक एक गरम कढ़ाहे के समान थी जिसमें धातुएँ और खनिज भीषण रूप से उबाल खाते थे । उबाल खाने से ज्योंही पदार्थ ऊपर आते थे उनकी गर्मी कम हो जाती थी । इस तरह ऊपर के ठण्डे कण भारी होने से नीचे बैठते थे और नीचे के गरम कण हल्के होने से ऊपर उठते थे । संवहन (convection) की इस क्रिया से पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी होने लगी । अन्त में जब पृथ्वी का तापमान द्रवणांक बिन्दु पर पहुँच गया तो द्रव पदार्थ के तापमान में थोड़ी-सी कमी होते ही ठोस अवस्था में बदलने लग जाते हैं । इस अवस्था में समस्त पृथ्वी के भीतर तापमान समान रूप से कम होता रहा । परन्तु उनके पश्चात परिस्थितियाँ बदल गयीं । बाद में जिस तापमान पर धरातल पर द्रवणांक होता था उस तापमान पर भू-गर्भ में द्रवणांक नहीं हो सकता था । भू-गर्भ के पदार्थों पर चूँकि ऊपर का भारी बोझ लदा रहता है, इस कारण वहाँ द्रव पदार्थ धरातल से कुछ भिन्न तापमान पर ही ठोस रूप में बदल सकते हैं । फलतः यह माना जा सकता है कि पदार्थों के ठोस अवस्था में बदलने की क्रिया धरातल से कुछ नीचे ही शुरू हो गयी होगी और वह बराबर धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़ी होगी, जिससे अन्त में ठोस धरातल का निर्माण हुआ । पृथ्वी के ठोस

बनने की क्रिया के साथ ही उसके शीतल होने की रीति भी बदल गयी। अब पृथ्वी संवहन (convection) के स्थान पर संचालन (conduction) विधि द्वारा शीतल होने लगी। जहाँ तक ऊपरी परत का प्रश्न है वह उसी प्रकार ठण्डी हुई होगी जिस प्रकार कि गरम दूध में पहले मलाई पड़ जाती है और फिर वह धीरे-धीरे मोटी होती जाती है। जैफ्रे ने गणना करके यह बताया है कि मध्य स्तर के 30 किलोमीटर नीचे द्रवणांक तापमान के उपरान्त पृथ्वी 800° सेण्टीग्रेड तक अवश्य ठण्डी हुई होगी, परन्तु इस तरह से 600 किलोमीटर नीचे कुछ ही अंश तक शीतल हुई होगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस गहराई पर और इससे भी कुछ कम गहराई के भू-पदार्थों में यद्यपि परिदृढ़ता (rigidity) मौजूद है, परन्तु उनमें ठोस पदार्थों जैसी कठोरता (strength) नहीं है। इसके विपरीत उनमें द्रव पदार्थों जैसा लचीलापन है। फलतः अधिक दबाव पड़ने पर वह द्रव पदार्थ की भाँति बह सकता है। परिदृढ़ता के कारण इस भाग पर ज्वार-भाटे का कोई प्रभाव नहीं होता। इस लचीले भाग में भूकम्प की लहरें उसी तरह प्रवेश कर जाती हैं जिस प्रकार वे ठोस पदार्थ में से होकर गुजरती हैं। ऊपरी ठोस परत और इस लचीले भाग में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। सम्भवतः दोनों में धीरे-धीरे ही अन्तर पड़ता होगा। इसके अतिरिक्त हम स्थलमण्डल की निश्चित मोटाई भी नहीं बता सकते। जैफ्रे के अनुसार इसमें भूकम्पविदों के 'ऊपरी', 'मध्य' और 'निचले' स्तर का अज्ञात भाग सम्मिलित है।
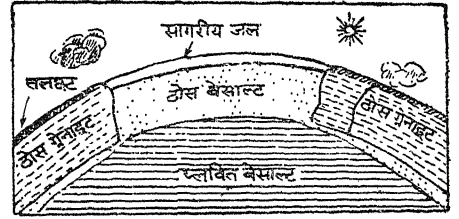
चित्र 48—ठोस भू-पटल की संरचना

पृथ्वी के शीतल होने के इतिहास और उसके भीतर वर्तमान तापमान की अवस्थाओं के बारे में जैफ्रे के विचारों को यद्यपि लोग आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु फिर भी विद्वानों ने इस बारे में शंकाएँ प्रकट की हैं। जैफ्रे ने माना है कि तेजोद्गार पदार्थ गहराई के साथ उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं। परन्तु इस बारे में वैज्ञानिकों ने अपना मतभेद प्रकट किया है। सभी लोग इस बात को मानते हैं कि यदि तेजोद्गार पदार्थ पृथ्वी में समान रूप से पाये जाते हों तो पृथ्वी के शीतल होने का तरीका जैफ्रे के बताये हुए तरीके से बिलकुल भिन्न होगा। ऐसी दशा में अतिरिक्त गर्मी के कारण पृथ्वी का भीतरी भाग धरातल से कुछ ही गहराई पर द्रव अवस्था में होता। अतः पृथ्वी में तेजोद्गार पदार्थों के समान रूप से पाये जाने वाली बात को मान लेने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। परन्तु यदि गहराई की परतों में तेजोद्गार पदार्थों की मात्रा जैफ्रे के द्वारा बतायी हुई मात्रा से थोड़ी-सी अधिक हुई तो भू-गर्भ में इतनी गर्मी हो जायगी कि वह द्रव अवस्था में बनी रहे। प्रो० होम्स ने तेजोद्गार तत्त्वों के धरातल के समीप एकत्र होने वाले मत का जोरदार खण्डन किया है। उसने इसको असम्भव-सी घटना बताया है। उसकी मान्यता है कि भू-पृष्ठ (crust) अर्थात ऊपरी और मध्य परत में मौजूद तेजोद्गार तत्त्वों से इतनी गर्मी उत्पन्न होती रहती है जितनी कि धरातल से निकलकर शून्य में नष्ट हो जाती है। होम्स का यह भी कहना है कि यदि भू-पृष्ठ की साधारण बेसाल्ट चट्टानों में पाये जाने वाले तेजोद्गार तत्त्वों का केवल 1/700वाँ भाग भी अधःस्तर (substratum)
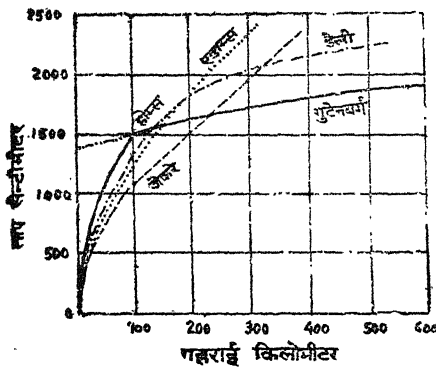
चित्र 49—गहराई पर ताप-वृद्धि के बारे में विभिन्न मत

की चट्टानों में मौजूद हो तो इस थोड़ी-सी मात्रा से भी वहाँ इतनी गर्मी उत्पन्न होगी कि अधःस्तर के पदार्थ सदा द्रव अवस्था में बने रहेंगे। यही नहीं, इस भाग में धीमी-धीमी संवहन (convection) धाराओं द्वारा गर्मी ऊपर की ओर भू-पृष्ठ (crust) की निचली सतह (base) तक पहुँचती रहेगी। यदि हम प्रो० होम्स के द्वारा सुझाये गये इस मत को स्वीकार कर लें तो महाद्वीपों के खिसकने और पर्वतों के निर्माण के लिए उचित शक्ति की समस्या हल हो जाती है। क्योंकि इनके लिए उचित शक्ति अधःस्तर की संवहन तरंगों द्वारा प्राप्त हो सकती है। यद्यपि होम्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की सत्यता गणितीय प्रमाणों द्वारा होना शेष है, परन्तु फिर भी यह पृथ्वी के मुख्य रूपों को समझाने के लिए सबसे उत्तम और मान्य सिद्धान्त है।[1]

---

1 Woolridge and Morgan : *Physical Basis of Geography*, p. 22

5

भू-सन्तुलन का सिद्धान्त
(THEORY OF ISOSTASY)

यदि पृथ्वी के इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि इसके धरातल का रूप कभी एक जैसा नहीं रहा। इसके रूप में परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन पृथ्वी की बाह्य और आन्तरिक शक्तियों के योग से होता है। इसमें भू-गर्भ की आन्तरिक हलचलें विशेष महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली होती हैं। अतः धरातल के रूप परिवर्तन में ये अधिक सार्थक होती हैं। **भू-गर्भ** में ये हलचलें **क्यों** घटित होती हैं, और धरातल पर ये किस प्रकार परिवर्तन उपस्थित करती हैं, इन सब प्रश्नों का समाधान **भू-सन्तुलन** (Isostasy) के विचार के बिना कदापि सम्भव नहीं है।

यदि हम पृथ्वी के वर्तमान स्वरूप पर दृष्टि डालें तो विदित होता है कि इसके धरातल पर पर्वत, पठार, मैदान, झीलें, सागर, महासागर एवं द्वीप आदि अनेक भू-रूप विद्यमान हैं। ये सब भू-रूप अपने आकार-प्रकार में पर्याप्त भिन्न हैं। इस भिन्नता के विपरीत ये सब धरातल पर स्थित हैं। इससे प्रकट होता है कि ये सब आकृतियाँ किसी न किसी व्यवस्था के अनुसार सन्तुलित हैं, अन्यथा ये सब अपने वर्तमान रूप में भूपटल पर कदापि स्थिर नहीं रहतीं। अतः जिस नियम के अनुसार ये सब भू-रूप स्थिर हैं उसे भू-सन्तुलन की संज्ञा दी गयी है। अँग्रेजी में भू-सन्तुलन के लिए आइसो-स्टेसी (Isostasy) शब्द काम में लिया जाता है। यह आइसोस्टेसी (Isostasy) ग्रीक शब्द 'Isostasias' से बना है जिसका अर्थ सम-स्थिति (in equipoise) से होता है। अर्थात् परिभ्रमण करती हुई पृथ्वी पर ऊपर उठे पर्वत, पठार एवं मैदानी क्षेत्रों तथा गहराइयों में स्थित सागर व महासागर आदि क्षेत्रों के मध्य भौतिक अथवा यान्त्रिक स्थिरता की दशा को भू-सन्तुलन कहा जाता है। "Isostasy simply means a mechanical stability between the up standing parts and low lying basins on a rotating earth." **आर्थर होम्स** के अनुसार, "सन्तुलन की वह दशा जो स्थल के बड़े-बड़े भागों में पायी जाती है, जो विभिन्न सतह पर पर्वत, पठार और मैदान आदि के रूप में फैले रहते हैं, भू-सन्तुलन कहलाते हैं।"[1] इसका आशय यह है कि पृथ्वी के विशाल भू-भागों के बीच सन्तुलन की स्थिति उनकी चट्टानों के पृथक घनत्व के कारण होती है। **जे० ए० स्टीयर्स** ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए बताया है कि "**पृथ्वी के धरातल पर जहाँ कहीं**

---

1 "Isostasy is the corresponding state of balance which exists between extensive blocks of the earth's crust which rise to different levels and appear at the surface as mountain ranges widespread plateaus or plains."—A. Holms, *Principles of Physical Geology*, p. 15.

भी सन्तुलन विद्यमान है, समान धरातलीय क्षेत्रों के नीचे पदार्थ की मात्रा (mass) **भी समान होगी।**''[1] अर्थात् एक महाद्वीपीय भू-खण्ड जो कि समुद्र की औसत गहराई से दो-तीन मील ऊँचा है, समुद्र-तल की तुलना में अवश्य ही हल्के पदार्थों का बना होगा और इसकी अधिक औसत ऊँचाई के सन्तुलन के लिए हल्के पदार्थों का विस्तार इसके नीचे काफी गहराई तक होगा, ताकि महाद्वीप और महासागर स्थायी सन्तुलन की अवस्था में रह सकें।

भू-सन्तुलन के सिद्धान्त की सर्वप्रथम **डटन** नामक एक अमरीकी भू-गर्भशास्त्री ने व्याख्या की। उसने इस शब्द का प्रयोग सन् 1889 में धरातल के असमतल भागों—महाद्वीप और महासागर—के बीच वर्तमान सन्तुलन और उनके द्रव-स्थैतिक सन्तुलन (hydrostatic balance) को प्राप्त करने के सम्बन्ध में किया था। अर्थात् उसका तात्पर्य यह स्पष्ट करना था कि धरातल के असमतल भागों—ऊँचे पर्वतों, पठारों, मैदानों और समुद्रों के नीचे पदार्थ का भार बराबर है। उसकी यह धारणा थी कि ऊँचे उठे हुए भाग कम घनत्व की तथा निचले भाग अधिक घनत्व की चट्टानों से बने हुए हैं। यदि ऐसा न हो तो निरन्तर भ्रमणशील पृथ्वी पर एक ओर ऊँचे पर्वतों तथा दूसरी ओर गहरे समुद्रों का पाया जाना कदापि सम्भव नहीं होगा। किसी कारणवश जब कभी पृथ्वी के इस भार में घट-बढ़ होती है तो धरातल पर अवश्य ही परिवर्तन होते हैं। ये परिवर्तन प्रायः इतने सामान्य होते हैं कि उनका हमें कोई अनुभव नहीं होता। भू-गर्भवेत्ताओं ने बताया है कि अधि-नूतन हिमयुग (pleistocene ice age) में उत्तरी अमरीका एवं यूरोप के उत्तरी भागों पर हिम की मोटी चादर बिछ गयी थी जिसके दबाव से वहाँ की भूमि नीचे धँसक गयी। कालान्तर में जब हिम पिघल गया तो दबाव की कमी हो गयी और वहाँ की भूमि पुनः ऊपर उठ गयी। इस प्रकार यह उदाहरण सन्तुलन की प्रक्रिया को प्रमाणित करने के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

पृथ्वी के भीतर सन्तुलन की प्रक्रिया किस प्रकार सम्पन्न होती है, इसको स्पष्ट करने के लिए **डटन** ने भू-गर्भ में एक ऐसे तल की कल्पना की है जिस पर ऊँचे उठे हुए भागों तथा नीचे धँसे हुए भागों का दबाव एकसमान होगा। इस तल को **भू-सन्तुलन तल** (isostatic level) अथवा **समदाब तल** (level of uniform pressure) कहा जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस तल के ऊपर सभी भागों की चट्टानों का दाब एकसमान रहता है, चाहे कोई भाग कितना ही ऊँचा क्यों न हो और उसकी बनावट कैसी भी क्यों न हो। जो भाग जितना ऊँचा होता है उसका घनत्व उतना ही कम और जो भाग जितना नीचा होता है उसका घनत्व उतना ही अधिक होता है, जिससे दोनों भागों का दाब भू-सन्तुलन तल पर समान हो जाता है। अतः किसी क्षेत्र के ऊपर जब किसी प्रकार निक्षेप अथवा लावा के उद्गार से दबाव बढ़ जाता है या बर्फ के पिघलने अथवा अपरदन के फलस्वरूप दबाव कम हो जाता है तो सन्तुलन भंग हो जाता है। भू-गर्भ में इसकी पूर्ति मैग्मा के इधर-उधर हटने अथवा ऊपर-नीचे होने से होती है। इसको **भू-सन्तुलन पूर्ति** (isostatic compensation) कहते हैं। पृथ्वी के भीतर सन्तुलन पूर्ति की अधिकतम गहराई सन्तुलन-तल है। इस प्रकार डटन के विचारों से **क्षतिपूर्ति की अवधारणा** (concept of compensation) का जन्म हुआ। इसको प्रमाणित करने में भू-गणितवेत्ताओं (geodesists) ने पर्याप्त सहायता पहुँचायी और इसको सिद्धान्त रूप में आगे विकसित भी किया।

सन्तुलन के सिद्धान्त का प्रतिपादन

भू-सन्तुलन के विचार का जन्म सर्वप्रथम भारत में हिमालय के दक्षिण में सिन्धु-गंगा के मैदान में भू-सर्वेक्षण (geodetic survey) करते समय हुआ। सन् 1859 में भारतीय भू-मापन

---

1 "Wherever equilibrium exists on the earth's surface, equal mass must underline equal surface."—J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 71

विभाग के अध्यक्ष **जे० एच० प्राट** यहाँ भू-मापन कार्य करा रहे थे। भू-मापन करते समय यह ज्ञात हुआ कि कल्याणपुर और कल्याण दो स्थानों के अक्षांशों का अन्तर ज्योतिष की रीति से तथा त्रिकोणीकरण की रीति से एकसमान नहीं आता। दोनों प्रकार की नापों में 5·236″ अर्थात् 5 सेकण्ड का अन्तर रहा।[1] इन स्थानों में से कल्याण गाँव हिमालय पर्वत से केवल 96 किमी की दूरी पर था। आकर्षण पर प्रभाव डालने वाली सभी बातों (अर्थात् अक्षान्तर, देशान्तर, ऊँचाई व
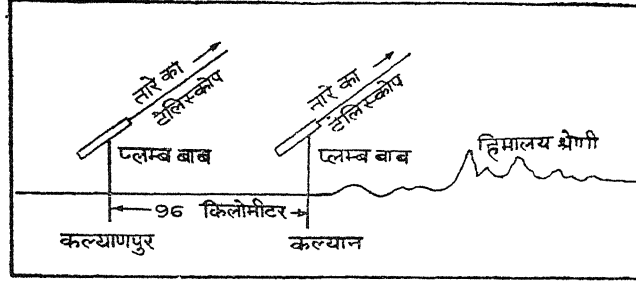
चित्र 50—**प्राट का प्रयोग**

भू-आकार आदि) पर विचार कर जब हिसाब लगाया गया तब भी उस स्थान से आकर्षण की गणना और वास्तविक आकर्षण की दशा में कुछ अन्तर बना ही रहा। कभी दोनों के मूल्य समान नहीं हुए जिससे समस्या बड़ी जटिल हो गयी। इस अन्तर का कोई मूल कारण ज्ञात नहीं हो सका। अतः इस अन्तर को **आकर्षण की असंगति** (gravity anomoly) कहा गया। धीरे-धीरे इस असंगति का कारण ढूँढ़ने की चेष्टा होने लगी।

जब यह समस्या **एयरी महोदय** के सामने रखी गयी तो उन्होंने हिमालय पर्वत की निकटता को देखकर यह मत व्यक्त किया कि दोनों नापों में अन्तर का मूल कारण हिमालय की आकर्षण शक्ति है। हिमालय अपनी आकर्षण शक्ति से सीस-रेखा को आकर्षित कर रहा था जिससे यह अन्तर उपस्थित हुआ है।

जब यह समस्या **प्राट महोदय** के सामने रखी गयी तो उसने अनुमान लगाया कि हिमालय की भारी चट्टानों ने सीस रेखा (plumb line) को अपनी ओर आकर्षित कर लिया होगा।

परन्तु जब उसने समस्त पर्वत पिण्ड का घनत्व 2·7 मानकर (जो कि भू-पटल की चट्टानों का औसत घनत्व है) गणना की तो उसके आश्चर्य की सीमा न रही, क्योंकि सीस-रेखा का झुकाव उसकी गणना से बहुत कम था। उसकी गणना के अनुसार कल्याणपुर और कल्याण के बीच अन्तर 5·236″ की अपेक्षा 15·885″ अर्थात् 15 सेकण्ड होना चाहिए था। स्पष्ट है कि हिमालय सीस-मुण्ड को उतना आकर्षित नहीं कर रहा है जितना कि उसे करना चाहिए था। अतः इस सम्बन्ध में दो विकल्प सामने रखे गये :

(i) पर्वतीय भाग बहुत ही हल्के पदार्थों से निर्मित हैं, अतः उनका घनत्व इतना अधिक नहीं है जितना कि अनुमान किया गया है।

(ii) भू-पटल के ऊँचे भू-भागों एवं पर्वतों में पदार्थ की अधिकता का सन्तुलन धरातल के नीचे के पदार्थों के घनत्व की कमी से हो जाता है।

प्रथम धारणा के अनुसार कई विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पर्वत पूर्णतः अथवा आंकिक रूप से खोखले हैं। कुछ विद्वानों ने तो यहाँ तक कह डाला कि पर्वत केवल पानी के

---

1 Gilluly, Waters and Woodford : *Principles of Geology*, p. 159

बुलबुलों के समान हैं। किन्तु इनके विचारों को कोई समर्थन प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि भू-विज्ञान के प्रमाण इसके बिलकुल विपरीत हैं। अतः दूसरी धारणा को ही लोगों ने सही माना और यह निष्कर्ष निकाला गया कि पृथ्वी के प्रधान भू-आकारों के कारण उत्पन्न आकर्षण की स्थानीय अधिकता का सन्तुलन धरातल के नीचे पदार्थ के घनत्व की कमी के कारण हो जाता है।

"Local excess of attraction, due to major relief features was compensated for by some deficiency of density below the surface."

इस प्रकार सन्तुलन के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। इस विषय में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं जो निम्न प्रकार हैं :

भू-सन्तुलन के सम्बन्ध में प्राट का मत

प्राट महोदय ने हिमालय के भू-सर्वेक्षण के समय उसके आकर्षण की असंगति का हल ढूँढ़ने का बहुत प्रयास किया था। उसने हिमालय पर्वत की चट्टानों तथा समीपवर्ती मैदानी भाग की चट्टानों के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि पर्वत कम घनत्व वाले पदार्थों से निर्मित हैं। इसी प्रकार उसने यह भी बताया कि पर्वतों का घनत्व पठारों से, पठारों का घनत्व मैदानों से तथा मैदानों का घनत्व समुद्री तलों से कम होता है। दूसरे शब्दों में घनत्व और ऊँचाई में विपरीत अनुपात होता है। इसके अतिरिक्त प्राट ने एक क्षतिपूर्ति तल (level of compensation) की धारणा को भी प्रस्तुत किया। उसके अनुसार भू-गर्भ में एक क्षतिपूर्ति तल होता है, जिसके ऊपर घनत्व में अन्तर पाया जाता है। इस तल के नीचे घनत्व समान रहता है। उसने यह भी प्रतिपादित किया कि एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ में घनत्व में अन्तर हो सकता है किन्तु एक-ही स्तम्भ (column) में घनत्व नहीं बदलता। इस प्रकार प्राट ने 'uniform depth with varying density' की धारणा को स्पष्ट किया।

प्राट ने क्षतिपूर्ति तल को स्पष्ट करते हुए यह समझाने का भी प्रयास किया है कि क्षतिपूर्ति रेखा के सहारे धरातल के बराबर क्षेत्र के नीचे समान भार (mass) होता है। (Equal mass must underlie equal surface area.) इस तथ्य को उसने प्रयोग द्वारा सिद्ध कर यह बताया है कि क्षतिपूर्ति रेखा के सहारे किन्हीं भू-भागों का भार बराबर होगा। साथ ही उसने यह भी प्रतिपादित किया कि घनत्व तथा ऊँचाई में उल्टा अनुपात होगा : ऊँचे स्तम्भ में कम घनत्व और नीचे स्तम्भ में अधिक घनत्व। ("Bigger the column lesser the density, smaller the column greater the density.") उसके अनुसार घनत्व में अन्तर केवल स्थल मण्डल में ही होता है, न कि पाइरोस्फीयर व बैरीस्फीयर में। प्राट ने इस प्रकार तैराव के नियम (Law of Floatation) को पूरी तरह निरस्त कर दिया और अपना पूर्ण विश्वास क्षतिपूर्ति तल के नियम में व्यक्त किया। प्राट ने यह भी स्पष्ट किया कि पृथ्वी के विभिन्न उच्चावचन इसलिए स्थिर हैं कि उनका घनत्व समान नहीं है, परन्तु उनका भार सन्तुलन-रेखा के सहारे बराबर होता है, जैसा कि संलग्न चित्र से स्पष्ट होता है।
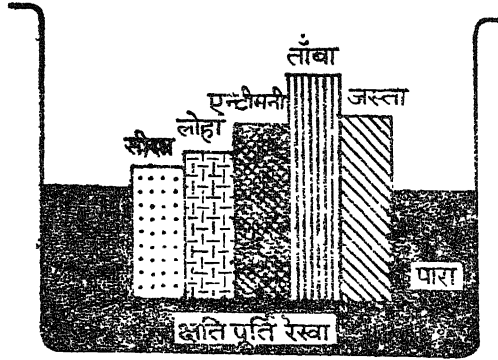
चित्र 51—प्राट का सन्तुलन सिद्धान्त

एअरी तथा प्राट के मतों पर विचार करते हुए **बोवी** (Bowie) ने बताया है कि यद्यपि प्राट प्रत्यक्ष रूप में तैराव के नियम में विश्वास नहीं करते फिर भी उसके मत में तैराव के नियम (Law of Floatation) तथा जड़-निर्माण (root formation) के विचार की झलक देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसने यह भी बताया कि दोनों के विचार एक समान प्रतीत होते हैं। यद्यपि उनमें पूर्ण एकता नहीं है किन्तु समानता है। (Both the views appear to him similar, but not the same.)

भू-सन्तुलन के सम्बन्ध में हेफोर्ड व बोवी का मत

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका के समुद्रतट और आकार की खोज करते समय हेफोर्ड और बोवी नामक वैज्ञानिकों ने इस महान कार्य को अपने हाथों में लिया और इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया। हेफोर्ड ने इस सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया कि भू-पटल के नीचे एक ऐसा तल (level) है जिसके नीचे समस्त पृथ्वी का घनत्व एक-समान है, किन्तु इस तल के ऊपर पदार्थों के घनत्व में अन्तर पाया जाता है। इस तल का नाम उसने **समतोल चित्र** (compensation level) रखा। इस अन्तर को समझाने के लिए उसने यह बताया कि यदि इस तल के ऊपर एकसमान आकार बनाने वाले स्तम्भ (columns of equal cross section) खड़े कर दिये जायँ तो उनका घनत्व उनकी ऊँचाई के विलोम के अनुपात में होगा। उदाहरण के लिए, दिये हुए चित्र में अलग-अलग घनत्व वाले चार स्तम्भ दिखाये गये हैं जो क्रमशः आन्तरिक मैदान, पठार, तटीय मैदान और अनुतटीय क्षेत्र को प्रकट करते है। ये सब इस प्रकार खड़े हैं कि समतोल तल पर बराबर-बराबर दबाव डाल रहे हैं। परन्तु इन सब स्तम्भों का घनत्व इनकी ऊँचाई के विलोम के अनुपात में है। इस प्रकार ये सब एक-दूसरे को सन्तुलित बनाये हुए हैं। **बोवी** ने 'समतोल तल' की धारणा को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया। उसने विभिन्न धातुओं के एक समान मोटाई व चौड़ाई के आठ टुकड़े लिये जो लम्बाई में भिन्न थे। इन सब टुकड़ों को उसने पारे से भरे बर्तन में रखा तो सभी टुकड़ों का निचला तल एक सीधी रेखा में रहा। इस प्रयोग में कम घनत्व के टुकड़े अधिक ऊँचे तथा अधिक घनत्व के टुकड़े कम ऊँचे स्थित थे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ऊँचाई तथा घनत्व में विलोमता का अनुपात होता है तथा समान क्षेत्रफल वाले भाग के नीचे का भार समान होता है। (Equal mass under equal surface area.) इस प्रकार बोवी ने यह स्पष्ट किया कि
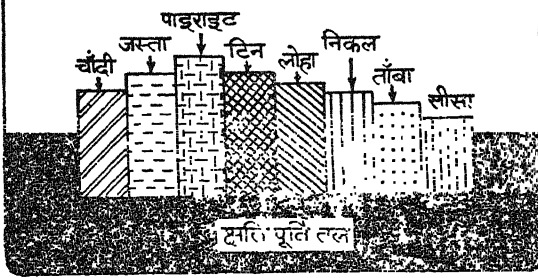
चित्र 52—**बोवी का सन्तुलन सिद्धान्त**
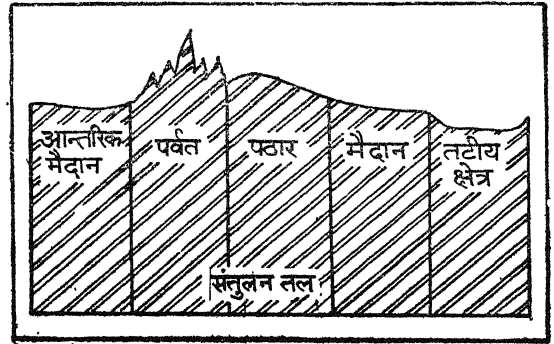
चित्र 53—**सन्तुलन की व्यवस्था का काल्पनिक रूप**

विभिन्न आयतन वाले भाग अपने विभिन्न घनत्व से सन्तुलित होकर इस प्रकार खड़े हैं कि 'समतोल तल' पर उन सबका भार बराबर है।

आकर्षण के गणितीय मूल्य को ठीक करने के लिए हेफोर्ड के उपरोक्त विचार का व्यावहारिक प्रयोग क्षतिपूर्ति तल की अनुमानित गहराई पर आधारित है। हेफोर्ड ने इस सम्बन्ध में यह सुझाव दिया कि यदि हम सन्तुलन के तल को 100 किलोमीटर से अधिक गहराई पर मान लें तो आकर्षण सम्बन्धी अन्तर 80 प्रतिशत कम हो जाता है। यह बात केवल संयुक्त राज्य अमरीका के लिए ही सही है। वस्तुतः प्रत्येक बड़े प्रदेश के लिए सन्तुलन के तल की भिन्न गहराई का अनुमान आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यदि हम हेफोर्ड द्वारा सुझायी गयी क्षतिपूर्ति तल की गहराई को मान लें तो उस गहराई पर चट्टानों का द्रवणांक बिन्दु (melting point) आ जाता है। ऐसी अवस्था में वहाँ क्षतिपूर्ति तल कैसे सम्भव हो सकता है ?

हेफोर्ड ने अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए जिन स्तम्भों की कल्पना की है, उनका पृथ्वी की वास्तविक संरचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः स्तम्भों की कल्पना गणित में सही हो सकती है किन्तु पृथ्वी की संरचना के लिए यह यथार्थ नहीं है। यह कहना सही होगा कि साहित्य और वाद-विवाद में इसके प्रयोग से पृथ्वी की हलचलों के सम्बन्धों में बड़ी गलत धारणाएँ पैदा हो गयी हैं।

अतः अब हम स्तम्भ अवधारणा (column concept) की दृष्टि से यह विचार करेंगे कि यदि स्तम्भों के सन्तुलन में कुछ व्यतिक्रम हो जाय तो उसका क्या प्रभाव होगा। यदि अपरदन (erosion) द्वारा किसी पर्वत-स्तम्भ का अपरदित पदार्थ परिवहित होकर समुद्र में निक्षेपित हो जाता है तो एक ओर जहाँ पर्वत-स्तम्भ का भार कम हो जायगा, दूसरी ओर समुद्र में भार बढ़ जायगा। फलस्वरूप पर्वत-स्तम्भ ऊपर उठेगा और समुद्र का पेंदा नीचे धँसेगा। पर्वत-स्तम्भ के ऊपर उठ जाने से जो स्थान रिक्त होगा, उसकी पूर्ति के लिए भू-पृष्ठ के नीचे का पदार्थ (Sima) अन्य स्थानों से उस ओर प्रवाहित होगा। भू-गर्भ में वस्तुतः इस प्रकार की क्रिया होती है जिसकी पुष्टि भू-गर्भशास्त्र करता है। किन्तु यह सोचना कि पृथ्वी का धरातल स्तम्भों से बना है और स्तम्भ स्वतन्त्र रूप से ऊपर-नीचे होते हैं, बिलकुल सही नहीं है। यह विचार वास्तविक तथ्यों के एकदम विपरीत है। इस विचार को मान लेने से भू-गर्भशास्त्र में जहाँ इससे कुछ समस्याएँ सुलझेंगी वहाँ अन्य कई समस्याएँ खड़ी हो जायेंगी। इसके अतिरिक्त यह धारणा एक ओर जहाँ क्षैतिज-गतियों (horizontal movements) की उपेक्षा करती है तो दूसरी ओर उदग्र गतियों (vertical movements) का अतिरंजन करती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भू-गणितवेत्ता (geodesists) पृथ्वी की रचना से पूरी तरह परिचित नहीं हैं। इस विचार को फिर भी एकदम गलत मानकर अस्वीकार कर देना असंगत होगा। क्योंकि इसने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य हल किया है। इससे प्रयोग में जो कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं, वे इसको अशुद्ध रूप से समझने और गलत प्रयोग के कारण हुई हैं।

भू-सन्तुलन के सम्बन्ध में एअरी का मत

हम यह बात भली प्रकार जानते हैं कि भू-पृष्ठ पर विभिन्न प्रकार की चट्टानें बिछी हैं और वे सब अपने घनत्व में भिन्न हैं। ये सब चट्टानें अथवा भू-प्रदेश पृथ्वी पर स्तम्भों के रूप में विद्यमान नहीं हैं, बल्कि परतों (layers) और कर्परों (shells) के रूप में देखी जाती हैं। अतः इस तथ्य पर सन्तुलन की धारणा के साथ विचार करना आवश्यक है। सन् 1895 में **एअरी** (Airy) ने प्राट की खोजों पर अपने विचार प्रकट करते हुए यह बताया कि जिस प्रकार प्लावी **हिम** (iceberg) का **नौ** गुना भाग जल में **डूबा** रहता है **और** एक भाग जल के **बाहर** रहता है

उसी प्रकार पर्वतों के मूल घने व लचीले लावा में धँसे हुए हैं। इस अवस्था के बिना ऊँचे पर्वत कभी भी धरातल पर टिके हुए नहीं रह सकते। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ कि ऊँचे भू-भागों के नीचे बहुत अधिक गहराई तक हल्के पदार्थ ही होते हैं, जिससे कम घनत्व वाले पर्वत-

चित्र 54—एअरी की लकड़ी के टुकड़ों का प्रयोग
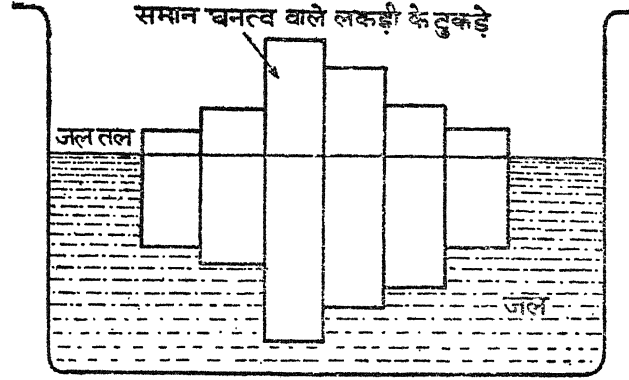
मूल अधिक घनत्व वाले लावा में प्रविष्ट होकर उसके आकर्षण को घटा देते हैं। इसी आधार पर एअरी ने यह बताया कि सीस-रेखा का हिमालय की ओर आकर्षण गणना से इसीलिए कम रहा कि इन ऊँचे पर्वतों के नीचे के हल्के पदार्थों ने अधिक घनत्व वाले द्रव पदार्थों को हटा दिया है, जिससे आकर्षण में कुछ न्यूनता आ गयी है। भौतिक दृष्टि से यह कहना उचित होगा कि पर्वतीय भाग तैरते रहते हैं। इस धारणा के अनुसार जो भाग अधिक ऊँचा है उसका अधिक भाग तथा जो भाग कम ऊँचा है उसका कम भाग अधः स्तर में डूबा हुआ है। इसको प्रमाणित करने के लिए एअरी ने लोहे के भिन्न-भिन्न आकारों के टुकड़े लेकर उन्हें पारे में डुबोया। ये टुकड़े अपने आकार के अनुसार
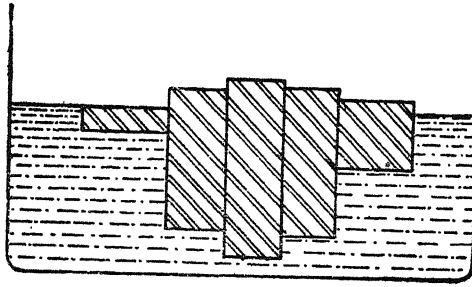
चित्र 55—एअरी का ताँबे के टुकड़ों का सन्तुलन परीक्षण
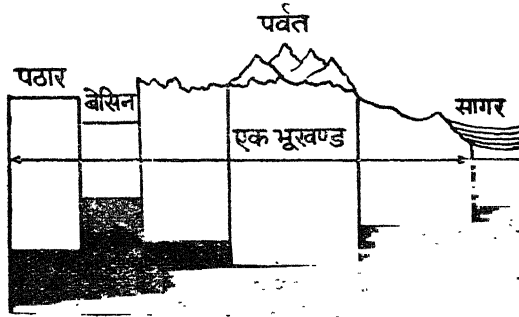
चित्र 56—एअरी का हिमालय सम्बन्धी सन्तुलन प्रयोग

सन्तुलन रखने के लिए भिन्न-भिन्न गहराई तक डूबते हुए उसी अनुपात में बाहर दिखाई देते रहे।

एअरी का यह मत हेफोर्ड तथा बोवी के मतों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। एअरी के विचार अधिक पुष्ट हैं क्योंकि हेफोर्ड तथा बोवी ने विभिन्न भू-भागों को लम्बवत भू-आकारों के रूप में माना है जो अवास्तविक हैं, जबकि एअरी ने विभिन्न भू-भागों को सीमा में तैरता हुआ माना है। एअरी की यह धारणा अनेक तथ्यों के अनुकूल पायी गयी है। यही नहीं, इससे भू-सन्तुलन का वास्तविक भौतिक अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। अतः आजकल अधिकांश लोगों ने एअरी की उपरोक्त व्याख्या को स्वीकार कर लिया है।[1] यद्यपि एअरी के मत को बहुत अधिक मान्यता प्राप्त हुई है फिर भी यह पूर्ण दोष-मुक्त नहीं है। एअरी के अनुसार भू-परत के ऊपर स्थित प्रत्येक भाग अपनी ऊँचाई के अनुपात में नीचे की ओर जड़ रखते हैं। एअरी के इस मत को यदि मान लिया जाय तो हिमालय की जड़ 30,000 × 9 = 2,70,000 फीट गहरी होगी। किन्तु हम जानते हैं कि भू-पटल के नीचे प्रति 32 मीटर गहराई पर 1° सेण्टीग्रेड तापमान बढ़ जाता है। इस हिसाब से हिमालय की इतनी लम्बी जड़ वहाँ अत्यधिक ताप के कारण ठोस अवस्था में नहीं रह सकती। अतः एअरी का यह मत भ्रामक लगता है।

भू-सन्तुलन के सम्बन्ध में जोली का मत

सन् 1925 में **जोली** (Joly) ने बताया कि एअरी, हेफोर्ड तथा बोवी की कल्पनाओं में कोई ऐसा विशेष अन्तर नहीं है जैसा कि पहले-पहल देखने पर मालूम होता है। उसका कहना कि **हेफोर्ड** तथा **बोवी** ने जहाँ पृथ्वी की संरचना को गणितीय दृष्टिकोण के अनुसार माना है, वहाँ उन्होंने समान क्षेत्रफल के नीचे समान पदार्थ के हट जाने के मौलिक सिद्धान्त को भी स्वीकार किया है। जोली ने ऐसे भू-पृष्ठ को जिसमें क्षति-सन्तुलन तल (compensation level) के ऊपर घनत्व और ऊँचाई विलोम के अनुपात में हों, नितान्त ही असम्भव माना है। दूसरे शब्दों में, जोली ने हेफोर्ड तथा बोवी के उस 'क्षतिपूर्ति तल' का खण्डन किया है जिसके ऊपर तो घनत्व बदलता है किन्तु उसके नीचे घनत्व समान होता है। उसकी मान्यता है कि यदि ऐसा सम्भव भी हो तो भी भू-गर्भ की प्रक्रियाएँ उस साधारण अवस्था को शीघ्र ही नष्ट कर देंगी। साथ ही उसने हेफोर्ड द्वारा प्रस्तुत एक अन्य उप-कल्पना की ओर ध्यान दिलाया है जिसके अनुसार सबसे ऊपरी समान घनत्व वाले स्तर के नीचे लगभग 16 किमी मोटा एक ऐसा स्तर है जिसमें पदार्थों का घनत्व समान नहीं है, क्योंकि इस स्तर में ऊपर के कम घनत्व वाले पदार्थ के कुछ भाग घुसे हुए हैं। इस प्रकार इस असमान घनत्व वाली परत में विभिन्न घनत्व वाले भागों का निचला तल एक समान न होकर भिन्न-भिन्न होता है। वस्तुतः यह महाद्वीपीय कर्पर के असमान आधार का सरल प्रदर्शन-मात्र है जिसमें कोई एक निश्चित सन्तुलन का तल नहीं है, अपितु इसमें एक ऐसा कटिबन्ध है जिसमें एक-दूसरे के घनत्व को पूरा करने वाले पदार्थों का वितरण है।[2] इस प्रकार जोली ने क्षतिपूर्ति तल को एक रेखा के रूप में न मानकर समूची 16 किमी मोटी परत को ही 'क्षतिपूर्ति कटिबन्ध' (compensation zone) माना है।

चित्र 57—जौली के अनुसार सन्तुलन की स्थिति

---

[1] Joly : *The Surface History of the Earth*, p. 21

[2] "It is in fact merely a simplified presentation of irregular base, of continental shell and involves a single level of compensation, but rather a zone in which the compensating masses are distributed."

वस्तुतः जोली का मत तैरने के सिद्धान्त (Law of Floatation) पर आधारित है। जब कोई वस्तु पानी पर तैरती है तो वह अपने भार के बराबर पानी को हटा देती है। उदाहरणतः, जब प्लावी हिम (iceberg) जल में तैरता है तो उसका 1 भाग जल के बाहर और 8 भाग जल के भीतर डूबा रहता है। इसी आधार पर सन्तुलन की व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि भू-पटल के समस्त रूप जो हल्के पदार्थों के बने हुए हैं, अधिक घनत्व वाले भारी पदार्थों पर तैर रहे हैं और इस क्रिया में उनका ऊपर दिखाई पड़ने वाले भाग का आठ गुना भाग भीतर डूबा रहता है। इस प्रकार अपनी स्थिरता के लिए वे सन्तुलित हैं।

जोली का मत जिन कल्पनाओं पर आधारित है उससे सभी विद्वान सहमत नहीं हैं। अतः जोली के विचारों को भली प्रकार समझने के लिए यह ध्यान रखना जरूरी है कि उसने प्लावी हिम का उदाहरण अपने मत को स्पष्ट करने के लिए दिया था, न कि किसी निश्चित तथ्य की पुष्टि के लिए। यदि हम यहाँ यह मान लें कि धरातल की ऊपरी शैलों का औसत घनत्व 2·67 है तथा सघन अधःस्तर की शैलों का घनत्व 3·00 है जिसे जोली बेसाल्टिक मानता है, और यदि यह तथ्य सही है तो यह सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है कि अधःस्तर की ऊपरी सीमा के ऊपर भू-पटल के प्रत्येक बाहर उठे हुए भाग का 8 गुना भीतर डूबा हुआ है।[1] यद्यपि यह केवल एक साधारण अनुमान है, किन्तु फिर भी इसके द्वारा सन्तुलन के सिद्धान्त को भली प्रकार समझा जा सकता है। यदि इस सिद्धान्त का हिमालय के सम्बन्ध में प्रयोग करें तो विदित होगा कि बाहर दिखाई पड़ने वाला पर्वत-समूह जिस प्रभूत पदार्थ राशि से बना है, वह नीचे से आठ गुने पदार्थ से तुलित है। नीचे घनत्व की कमी के कारण ही हिमालय सीस-मुण्ड के ऊपर अपना पूरा गुरुत्वाकर्षण प्रभाव नहीं डालता है। यहाँ मुख्य बात यह है कि वे पूर्णरूप से तुलित हैं। (They are compensated as a whole.) अतः इस उदाहरण को इस प्रकार से लेना गलत होगा कि यदि माउण्ट एवरेस्ट का शिखर 30,000 फुट ऊँचा है तो उसके नीचे 2,40,000 फुट की गहराई तक हल्के पदार्थ होंगे। पर्वतीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में सन्तुलन का विचार करते समय यह मान लिया गया है कि पर्वत एक बहुत बड़ा पठार है जिसकी ऊँचाई उस पर्वत-श्रृंखला की औसत ऊँचाई के समान है।[2] महाद्वीपों के लिए भी यही तर्क प्रयोग में लाया जाना चाहिए। जोली ने इनकी औसत ऊँचाई पर विचार कर यह निष्कर्ष निकाला है कि महाद्वीपीय हल्के पदार्थ औसत रूप से लगभग 31 किलोमीटर मोटे हैं।

भू-पटल में अतुल शक्ति है। यह बिना स्थानीय सन्तुलन के भी एक पर्वत के भार को वहन कर सकता है। इस प्रकार यह सोचना बिलकुल उचित है कि पर्वत-श्रृंखलाएँ, विस्तृत पठार तथा महाद्वीप सन्तुलन के द्वारा पूरी तरह तुलित हैं, किन्तु किसी एकांगी पर्वत-शिखर अथवा किसी छोटे क्षेत्र का स्थानीय रूप से कोई सन्तुलन सम्भव नहीं।

होम्स का मत—भू-सन्तुलन के सम्बन्ध में **होम्स** के विचार **एअरी** महोदय के समान ही हैं। होम्स की भी मान्यता है कि ऊँचे उठे हुए भू-भागों की रचना कम घनत्व वाले हल्के पदार्थों से होती है और अपना सन्तुलन बनाये रखने के लिए उनका अधिकांश भाग भू-पटल में काफी गहराई तक डूबा रहता है। होम्स ने अपनी यह धारणा भूकम्पीय लहरों के अध्ययन के आधार पर स्थिर की है। भूकम्पीय लहरों के अध्ययन से उसने यह निष्कर्ष निकाला है कि पृथ्वी के भीतर विभिन्न घनत्व की अलग-अलग कई परतें हैं। इस निष्कर्ष के आधार पर उसने बताया है कि पर्वतीय भागों के नीचे सियाल की परत 40 किलोमीटर या इससे अधिक गहराई तक रहती है।

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 72

2 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 73

मैदानों के नीचे सियाल की गहराई 10 से 12 किलोमीटर तक होती है और समुद्र की तली के नीचे या तो सियाल की परत होती ही नहीं और यदि कहीं होती है तो वह अत्यन्त पतली होती है। इस प्रकार होम्स ने यह स्पष्ट किया है कि भू-पटल पर ऊँचे उठे हुए भू-भाग इसीलिए स्थिर हैं कि उनके नीचे काफी गहराई तक कम घनत्व के हल्के पदार्थ पाये जाते हैं। होम्स ने स्वीकार किया है कि प्रत्यक्ष में पृथ्वी पर सन्तुलन की पूर्ण स्थिति नहीं पायी जाती, किन्तु पूर्ण सन्तुलन स्थिति की ओर सन्तुलन की दिशा दृष्टिगोचर होती है।
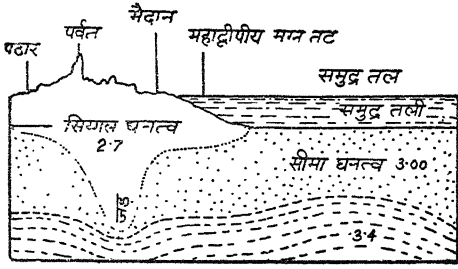
चित्र 58—होम्स के अनुसार भू-सन्तुलन की स्थिति

भू-सन्तुलन और भू-गर्भिक हलचल

कई लोग समस्त भू-गर्भिक हलचलों का कारण भू-सन्तुलन को समझ लेने की भूल करते हैं।
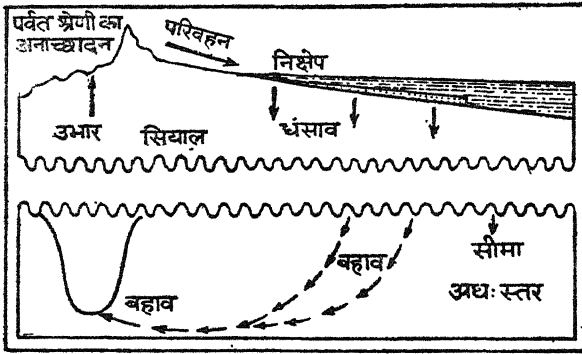
चित्र 59—होम्स के अनुसार सन्तुलन की लगातार स्थिति

किन्तु यह स्पष्ट विदित होना चाहिए कि भू-सन्तुलन कोई शक्ति नहीं है। यह कोई भू-गर्भिक साधन भी नहीं है। वस्तुतः भू-सन्तुलन तुला की एक दशा है,[1] जो कदाचित ही साम्यावस्था में रहती है। धरातल के ऊपर होने वाले अपरदन और निक्षेपण के कारण सन्तुलन की दशा स्थिर नहीं रहने पाती। धरातल के जिस भाग में अनाच्छादन की क्रिया तीव्र होती है वहाँ भूमि कट-कटकर नीची होती जाती है और दबाव घटता जाता है, परन्तु जिस भाग में निक्षेपण होता है वहाँ दबाव बढ़ जाता है। फलस्वरूप दो भिन्न भू-भागों के बीच सन्तुलन की दशा
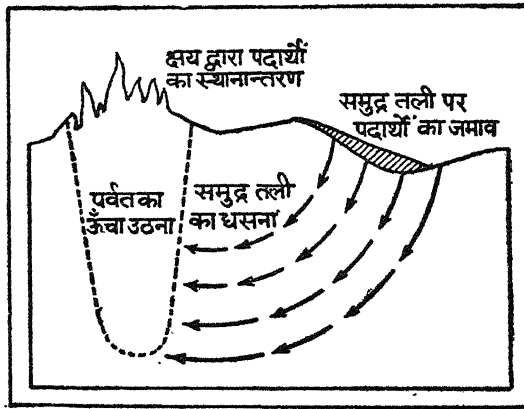
चित्र 60—सन्तुलन स्थापित होने का ढंग

1 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 34

बिगड़ जाती है। ऐसी अवस्था में अपरदित भू-भाग ऊपर उठता है और निक्षेप वाला भू-भाग नीचे धँसता है और पुनः दोनों भागों के बीच साम्यावस्था कायम हो जाती है। साम्यावस्था के लिए भू-गर्भ में लावा अथवा मैग्मा भार-परिवर्तन के अनुसार इधर-उधर हटता है। अतः धरातल के ऊपर जिस क्रिया द्वारा भू-सन्तुलन स्थापित होता है, उसे **भू-सन्तुलन पुनः समंजन** (Isostatic re-adjustment) कहा जाता है।

कभी-कभी भू-पटल पर ऐसी क्रियाएँ होती हैं जो किसी भाग के सन्तुलन की दशा को शीघ्रता से बिगाड़ देती हैं, जिससे वहाँ पुनः सन्तुलन कायम होने में बड़ा समय लग जाता है। ऐसे क्षेत्रों में भू-सन्तुलन साम्य कठिनाई से हो पाता है। उदाहरण के लिए, लगभग 25 हजार वर्ष पूर्व अधि-नूतन हिम युग के समाप्त होने पर यूरोप और उत्तरी अमरीका के हिम-मण्डित क्षेत्रों से हिम की मोटी परतें पिघलने लगीं जिससे यह क्षेत्र हिम-भार से मुक्त हो गये। फलस्वरूप ये क्षेत्र उसी समय से अब तक बराबर ऊपर उठ रहे हैं। हिमालय पर्वतीय-क्षेत्र और पामीर क्षेत्र भी ऊपर उठ रहे हैं। अतः स्पष्ट है कि ये क्षेत्र अभी भी भू-सन्तुलन-साम्य के बाहर हैं। इनको साम्यावस्था प्राप्त करने में लम्बा समय आवश्यक होगा। इस प्रकार अपरदन और निक्षेपण के फलस्वरूप जब भू-सन्तुलन बिगड़ जाता है तो भू-गर्भिक हलचलें एवं आग्नेय क्रियाएँ क्रियाशील हो उठती हैं और वे ऐसी गुरुत्वाकर्षण शक्ति को जन्म देती हैं जो बिगड़े हुए सन्तुलन को पुनः ठीक करती हैं। सन्तुलन के पुनः स्थापन से भू-पटल में उदग्र गतियाँ (vertical movements) होती हैं जो पृथ्वी की उन हलचलों में योग देती हैं जो भू-गर्भिक क्रियाओं द्वारा स्वयं जन्म लेती हैं।[1]

संसार में भू-सन्तुलन की अवस्थाएँ

पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण और भू-सन्तुलन में घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुरुत्वाकर्षण के कारण पैण्डुलम झूलता है। इसलिए पैण्डुलम की सहायता से भू-सन्तुलन की अवस्था को सरलता से ज्ञात किया जा सकता है। **डा० मीनेज** (Dr. Meinesz) ने सन् 1932 में पैण्डुलम की सहायता से संसार के विभिन्न भागों में भू-सन्तुलन की अवस्था को ज्ञात करने की चेष्टा की थी।[2] उसने संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, भारत, अफ्रीका, यूरोप तथा विभिन्न महासागरीय द्वीपों में भू-सन्तुलन का निरीक्षण किया। इन निरीक्षणों से ज्ञात हुआ कि महाद्वीपों और महासागरों के बीच पूर्ण सन्तुलन है। साथ ही बड़े प्रदेशों के मध्य भी सन्तुलन की अवस्था पायी गयी। हिन्द महासागर के विषुवत-रेखीय प्रदेश में भू-सन्तुलन की अवस्था का निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि हिन्द महासागर पूर्ण सन्तुलन अवस्था में है। पनामा और जावा के निकट भी समुद्रों को पूर्ण सन्तुलन की दशा में पाया गया।[3] समस्त संसार में भू-सन्तुलन की असंगतियाँ (anomalies) केवल उन द्वीपों तथा तटवर्ती भागों में पायी गयीं जहाँ ज्वालामुखी एवं भूचाल का प्रकोप होता है।

भारत में भू-सन्तुलन की अवस्थाएँ

भारत एक विशाल देश है। इसकी रचना में हमें कई विभेद देखने को मिलते हैं। इसी से इनमें कई विशेषताएँ पायी जाती हैं। संसार के किसी भी भाग में आकर्षण के गणितीय मूल्य में इतना अन्तर नहीं पाया जाता जितना कि भारत के उत्तरी भाग में। **कर्नल बुरार्ड** ने कहा है कि द्रव पदार्थ का तल क्षैतिज दिशा से इतना अधिक कहीं भी विचलित नहीं होता जितना कि भारत में होता है। फिर भारत की नाप-खोज से ही सन्तुलन की अवधारणा का सूत्रपात हुआ। सर्वप्रथम भारत में ही यह ज्ञात हुआ कि :

---

[1] A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 34

[2] J. Joly : *Surface History of the Earth*, p. 26

[3] C. A. V. Meinesz : *Gravity Expeditions at Sea*, p. 30

(1) हिमालय पर्वत के नीचे कम घनत्व के पदार्थ हैं।

(2) बड़े मैदान (सिन्धु-गंगा का मैदान) के नीचे अधिक घनत्व के पदार्थ हैं।

(3) पूर्वी और पश्चिमी घाटों में सीस-रेखा का झुकाव दक्षिण के पठार की अपेक्षा समुद्र की ओर ही होता है।

भारत में इन्हीं अनुसन्धानों के कारण भू-सन्तुलन के सिद्धान्त का विकास हुआ। उपरोक्त अनुसन्धानों से यह विदित होता है कि भू-सन्तुलन की अवस्थाएँ हिमालय की अपेक्षाकृत दक्षिण के पठार में अधिक सम्पन्न हैं। इसी कारण दक्षिणी पठार पर भूकम्प आदि का कदाचित ही प्रभाव होता है।

भू-सन्तुलन के विचार से भारत के हिमालय प्रदेश में असाधारण अवस्था पायी जाती है। यहाँ विभिन्न स्थानों में सीस-रेखा के वास्तविक आकर्षण और आकर्षण के गणितीय मूल्यों में बड़ा भारी विभेद मिलता है। यह बात नीचे की तालिका से स्पष्ट है :

स्थान	उत्तर की ओर आकर्षण	
	आकर्षण का गणितीय मूल्य	वास्तविक आकर्षण
1. देहरादून	86 सेकण्ड	31 सेकण्ड
2. मरी	45 ,,	12 ,,
3. कलियाना	58 ,,	1 ,,

उपरोक्त सारणी से यह स्पष्ट है कि हिमालय के कारण बहुत अधिक क्षतिपूर्ति हो जाती है। क्षतिपूर्ति मध्य हिमालय में अधिक तथा बाह्य हिमालय में कम होती है।

हिमालय प्रदेश के विपरीत सिन्धु-गंगा के मैदान में आकर्षण का झुकाव दक्षिण की ओर देखा जाता है। लगभग 23° उत्तरी अक्षांश तक यह दक्षिण की ओर बढ़ता जाता है। इसके पश्चात विक्षेप उत्तर की ओर होने लगता है। **कर्नल बुरार्ड** ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए बताया कि इस मैदान के नीचे घने पदार्थों की एक श्रृंखला है जो उड़ीसा से जबलपुर होती हुई कलाट तक चली गयी है। इसी कारण यहाँ आकर्षण में यह विभेद देखा जाता है। भारत के प्रसिद्ध भू-गर्भशास्त्री **डा० राजनाथ** ने भी इस मत की पुष्टि की है।

दक्षिण के पठार की रचना अपेक्षाकृत भारी पदार्थों से हुई है, किन्तु आकर्षण सम्बन्धी निरीक्षण से पता चला है कि इसके नीचे कम घनत्व के पदार्थ हैं। इसी तरह पश्चिमी तट पर सीस-रेखा का झुकाव पश्चिमी घाट के पहाड़ों की ओर न होकर समुद्र की ओर होता है।

निष्कर्ष—सन्तुलन के सिद्धान्त में यद्यपि कई दोष पाये गये हैं, परन्तु फिर भी यह अनेक ऐसे तथ्यों का स्पष्टीकरण कर देता है जो अन्य किसी भी भाँति समझ में नहीं आ सकते। इसी विशेषता के कारण **जोली** और **बैरल** आदि विद्वानों ने इस सिद्धान्त की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। **जोली** ने तो यहाँ तक कहा है कि सम्भवतः लोग इस सिद्धान्त से कुछ मतभेद रखते हों, किन्तु कोई भी इसे पूर्णरूप से अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि यह एक तथ्य है।[1] वस्तुतः भू-सन्तुलन एक सत्य है और आज संसार में सभी इसे स्वीकार करते हैं।

1 J. Joly : *The Surface History of the Earth*, p. 33

6
महाद्वीप एवं महासागर
(CONTINENTS AND OCEANS)

भू-पटल के मुख्य दो रूप हैं—जल और स्थल। भू-पटल का लगभग तीन-चौथाई भाग जल और एक-चौथाई भाग स्थल है। जल और स्थल का यह विन्यास भू-पृष्ठ पर भिन्न-भिन्न महाद्वीपों और महासागरों के रूप में देखा जाता है। ये महाद्वीप और महासागर भू-पटल के प्रारम्भिक स्थलरूप (land forms) हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता वह विपर्यास (contrast) है जो इनके विशाल गड्ढों और गगनचुम्बी ऊँचाइयों के बीच विद्यमान है। भू-पृष्ठ के इन विशाल गड्ढों को महासागरीय द्रोणियाँ (Ocean Basins) और विस्तृत ऊँचाइयों को महाद्वीपीय भू-खण्ड (Continental platforms) कहते हैं।
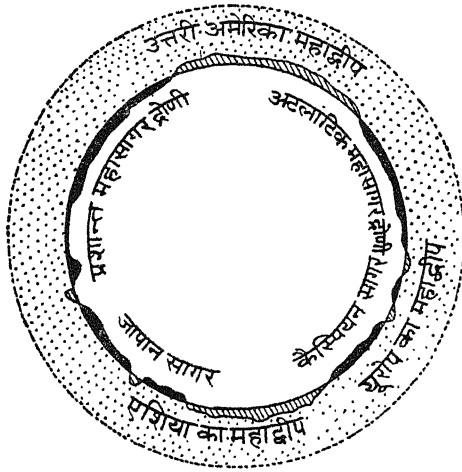
चित्र 61—भू-पटल के प्रमुख रूप

महाद्वीप तथा महासागरों की उत्पत्ति

भू-पटल में इन प्रारम्भिक स्थल रूपों की उत्पत्ति कैसे हुई? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं है। पृथ्वी की उत्पत्ति के समान यह प्रश्न भी अत्यन्त गूढ़ है। सूर्य से अलग होकर जिस अवस्था में पृथ्वी बनी उसका इन प्रारम्भिक स्थल रूपों—महाद्वीप और महासागर—की रचना पर अवश्य ही प्रभाव पड़ा होगा। प्रारम्भ में इसी आधार पर महासागरीय द्रोणियों एवं महाद्वीपीय भू-खण्डों की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों ने अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं, बाद में पृथ्वी की संरचना के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों अधिक ज्ञान प्राप्त होता गया, विद्वानों ने पृथ्वी के अधःस्तर की अवस्था के आधार पर कई नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन सब सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना नीचे दी जा रही है :

कैलविन का मत—लॉर्ड कैलविन (Lord Kelvin) के अनुसार जब पृथ्वी वायव्य अवस्था में थी, उस समय आद्य पदार्थ (primordial matter) कहीं अधिक मात्रा में संगृहीत हुए और

कहीं कम। वायव्य अवस्था की समाप्ति पर जहाँ इनका जमाव अधिक था, वहाँ महाद्वीप बन गये। किन्तु जहाँ आद्य पदार्थों की न्यूनता रही वहाँ महासागर बने।

केलविन का यह मत कल्पना पर आधारित है, उसने इसको स्पष्ट करने के लिए कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया।

सोलास का मत—सोलास (Sollas) की धारणा है कि भू-पटल के प्रमुख वर्द्धन (bulges) और गर्त (depressions) वायुमण्डल के दबाव के प्रारम्भिक (original) वितरण के द्योतक हैं। प्रारम्भिक अवस्था में पृथ्वी के जिस भाग में वायुदाब अधिक था वह नीचे दब गया और गर्त बन गया। इन्हीं गर्तों में वायु के द्रवीभूत होने पर जल एकत्र हो गया और महासागर बन गये। पृथ्वी के जिन भागों में वायुदाब कम था वहाँ भू-पटल ठोस होने पर महाद्वीप बन गये। किन्तु सोलास की इस कल्पना का कोई ठोस आधार नहीं है।

चेम्बरलेन और मोल्टन का मत—चेम्बरलेन व मोल्टन के अनुसार पृथ्वी का प्रारम्भिक उच्चावचन (earth's initial relief)—महाद्वीप और महासागर—ग्रहाणुओं (Planetesimals) के असमान रूप से गिरने के कारण बना है। पृथ्वी के धरातल पर जहाँ ग्रहाणु अधिक मात्रा में गिरे वहाँ महाद्वीप बन गये और जहाँ ग्रहाणुओं की मात्रा कम रही वहाँ महासागर बन गये।

उपरोक्त सभी परिकल्पनाएँ कम से कम इस बात को स्पष्ट करती हैं कि जल और स्थल के वितरण में कुछ क्रम अवश्य है।

लोथियन ग्रीन का चतुष्फलक सिद्धान्त
(Tetrahedral Theory of Lothian Green)

लोथियन ग्रीन ने सन् 1875 में महाद्वीप और महासागरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चतुष्फलक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसको अपने इस मत के प्रतिपादन में ज्यामितीय आकृति (Geometrical Figure) से विशेष प्रेरणा मिली। अतः बहुत-से विद्वान इस सिद्धान्त को **ज्यामिति सिद्धान्त** के नाम से भी पुकारते हैं। ग्रीन का चतुष्फलक सिद्धान्त ज्यामिति के निम्न दो तथ्यों पर आधारित है :

(1) एक गोलाकार पिण्ड अपने धरातलीय क्षेत्र के अनुपात में सर्वाधिक आयतन रखता है।

(2) एक चतुष्फलक अपने धरातलीय क्षेत्र के अनुपात में न्यूनतम आयतन धारण करता है।

उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों के सन्दर्भ में काफ़ी विचार और परीक्षण करने के उपरान्त ग्रीन ने यह धारणा बनायी कि यदि किसी गोलाकार पिण्ड को चारों ओर से समान दाब के द्वारा दबाया जाय तो उसकी आकृति चतुष्फलक हो जायगी। ग्रीन की यह धारणा प्रसिद्ध वैज्ञानिक **फेयर बर्न** (Fair Burn) की इस खोज पर आधारित है कि यदि एक पाइप को चारों ओर से समान दाब के द्वारा दबाया जाय तो उसकी आकृति त्रिभुजाकार हो जायगी। **फेयर बर्न** ने ग्रीन की चतुष्फलक धारणा की पुष्टि की। अतः ग्रीन ने इस तर्क को महाद्वीप और महासागरों की उत्पत्ति की व्याख्या करने के लिए पृथ्वी के सम्बन्ध में प्रतिपादित किया।

ग्रीन यह मानकर चला है कि पृथ्वी अपने जन्म से शनैः-शनैः शीतल होती जा रही है। पृथ्वी के शीतल होने पर उसका आन्तरिक भाग बाह्य पटल की अपेक्षा अधिक सिकुड़ गया। पृथ्वी के इस प्रकार सिकुड़ने से उसका आयतन कम हो गया। पृथ्वी के शीतल होने पर उसके चारों ओर समान दबाव रहा जिससे गोलाकार पृथ्वी पिण्ड ने चतुष्फलक रूप धारण कर लिया। किन्तु

पृथ्वी की संरचना के विभेद तथा अन्य कई कारणों से यह माना गया कि पृथ्वी के सिकुड़ने से उसका पूर्ण चतुष्फलक रूप सम्भव नहीं है।[1]

चतुष्फलक वह ठोस आकृति है जो चार समत्रिबाहु त्रिभुजों के मिलाने से बनती है। यदि एक समत्रिबाहु त्रिभुज को आधार मानकर उसकी तीनों भुजाओं पर एक-एक समत्रिबाहु त्रिभुज खड़ा करें और फिर इन तीनों के शीर्षों को एक साथ मिला दें तो उससे चतुष्फलक की आकृति बन जायगी। यदि इस चतुष्फलक को उलटकर उसे शीर्ष पर खड़ा कर दिया जाये तो उससे जो आकृति बनेगी वह बहुत कुछ पृथ्वी की आकृति से मिलती-जुलती होगी। **फेयर बर्न** ने इसकी पुष्टि करते हुए बताया है कि चतुष्फलक के कोने जो गोलाकार पृथ्वी के बाह्य पटल के ठण्डे होने से
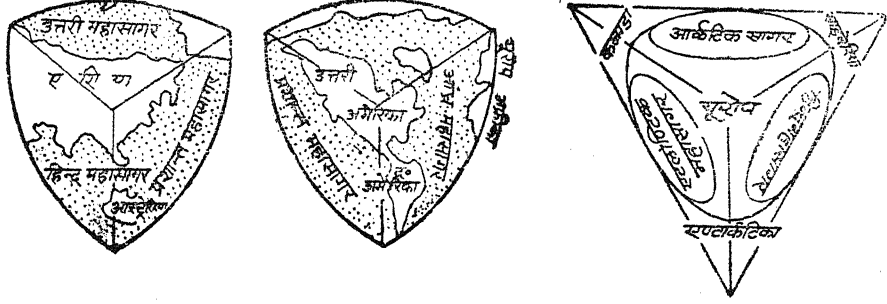
चित्र 62—**गोले पर रखा एक चतुष्फलक** चित्र 63—**चतुष्फलक पृथ्वी**

ऊँचे उठेंगे वे भूमि का त्रिभुजाकार रूप बनायेंगे और इस चतुष्फलक के मुख जो पानी में डूबे रहेंगे, क्रमशः महासागरीय तल के रूप में होंगे। उसने चतुष्फलक के एक कोने पर दक्षिणी ध्रुव और अन्य कोनों को उत्तरी गोलार्द्ध में केन्द्रित किया। दक्षिणी ध्रुव का कोना अण्टार्कटिका महाद्वीप और उसके सामने का भाग आर्कटिक महासागर है। अन्य तीनों कोनों पर भूमि के जो त्रिभुजाकार भाग हैं वे क्रमशः उत्तरी व दक्षिणी अमरीका, यूरोप व अफ्रीका तथा एशिया व आस्ट्रेलिया के रूप में स्थित हैं। इन तीनों महाद्वीपीय समूहों के मध्य अन्ध, प्रशान्त एवं हिन्द महासागर स्थित हैं।

विवेचना

ग्रीन का चतुष्फलक सिद्धान्त संसार में बड़ा ही सम्मानित सिद्धान्त रहा है। यह महाद्वीप और महासागरों के रूप और उनके वितरण की अनेक समानताओं को दर्शाता है।

आपत्तियाँ

कई एक आपत्तियों के कारण आजकल इसकी मान्यता घट गयी है :

(1) कई वैज्ञानिकों की मान्यता है कि पृथ्वी की परिभ्रमण गति इतनी अधिक है कि वह कदापि चतुष्फलक रूप धारण नहीं कर सकती और मुख्यतः ऐसी अवस्था में जबकि पृथ्वी की संरचना बड़ी ही जटिल है।

(2) एक शीर्ष बिन्दु पर भ्रमण करती हुई पृथ्वी का चतुष्फलक रूप में सन्तुलित रहना भी सम्भव नहीं है।

(3) **जे० ए० स्टीयर्स** के अनुसार इस सिद्धान्त का अपने आप में इतना महत्त्व नहीं है जितना कि यह विद्वानों में वाद-विवाद और विचार को उत्प्रेरित करती है। "Its value lies not so much in itself as in the discussion which it provokes."[2]

1 "On account of the variation in the earth's structure and for other reasons, it was assumed that no approach to a regular tetrahedron was possible."
—*J. A. Steers*

2 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 4

चतुष्फलक सिद्धान्त में ग्रेगरी द्वारा संशोधन

आधुनिक समय में ग्रेगरी चतुष्फलक सिद्धान्त का सबसे बड़ा समर्थक रहा है। ग्रीन द्वारा प्रतिपादित चतुष्फलक सिद्धान्त में जे० डब्ल्यू० ग्रेगरी (J. W. Gregory) ने सन् 1930 में अनेक संशोधन कर उसे नवीन आवरण देने का प्रयास किया। ग्रेगरी ने अपने मत को प्रतिपादित करने के लिए अनेक भौगोलिक तथ्य उपस्थित किये :

(1) यदि पृथ्वी को जल और स्थल गोलार्द्धों में विभक्त किया जाय तो जल गोलार्द्ध का केन्द्र न्यूजीलैण्ड के निकट और स्थल गोलार्द्ध का केन्द्र ब्रिटेन के समीप होगा। सम्पूर्ण पृथ्वी का 81 प्रतिशत स्थल भाग 'स्थल गोलार्द्ध' में स्थित पाया जाता है जिसमें उत्तरी अमरीका, यूरोप, एशिया, अफ्रीका और आधे से अधिक दक्षिणी अमरीका सम्मिलित हैं। इसके विपरीत जल गोलार्द्ध में सम्पूर्ण पृथ्वी का 90·5 प्रतिशत जल भाग स्थित है। जल और स्थल का यह वितरण गुरुत्वाकर्षण के वितरण द्वारा भी सत्य प्रतीत होता है।

(2) स्थल और जल प्रायः दोनों का ही विस्तार विषम त्रिभुजाकार है। स्थल त्रिभुजों के आधार उत्तर की ओर हैं और वे दक्षिण की ओर पतले और नुकीले हो गये हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, एशिया व यूरोप इसके प्रमाण हैं। इसके विपरीत प्रशान्त महासागर, दक्षिणी अन्ध महासागर, हिन्द महासागर आदि जल-खण्डों का आधार दक्षिण की ओर है तथा शीर्ष उत्तर की ओर है।

(3) संसार के स्थल प्रदेश उत्तरी गोलार्द्ध में आर्कटिक महासागर के चारों ओर पूर्ण मुद्रा बनाते हुए हैं जिनके दक्षिणी भाग अमरीका, यूरोप, अफ्रीका, एशिया तथा आस्ट्रेलिया के रूप में दक्षिण की ओर लटके हुए हैं।

(4) स्थल गोलार्द्ध के तीनों प्राचीन भू-खण्ड बाल्टिक शील्ड, लॉरेंशियन शील्ड एवं अंगारा शील्ड 120° देशान्तर के अन्तर पर स्थित हैं।

(5) पृथ्वी के गोले पर जो स्थान एक-दूसरे के विपरीत स्थित होते हैं, वे प्रति-ध्रुवस्थ (Antipodal) कहलाते हैं। पृथ्वी पर जल और स्थल की स्थिति लगभग प्रति-ध्रुवस्थ है। आस्ट्रेलिया उत्तरी अन्धमहासागर का, अफ्रीका व यूरोप मध्य प्रशान्त महासागर का, उत्तरी अमरीका हिन्द महासागर का, एशिया अन्ध महासागर का, अण्टार्कटिका आर्कटिक महासागर का प्रति-ध्रुवस्थ है। इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी का 95 प्रतिशत स्थल भाग जल के प्रति-ध्रुवस्थ है। समुद्रों का 44·6 प्रतिशत भाग समुद्रों के ही प्रति-ध्रुवस्थ है लेकिन स्थल का केवल 1·4 प्रतिशत भाग ही स्थल के प्रति-ध्रुवस्थ है।[1]

ग्रेगरी ने संसार के पुरा-भौगोलिक (Palaegeographical) मानचित्र बनाकर यह प्रमाणित किया है कि कैम्ब्रियन कल्प में महाद्वीप और महासागरों का वितरण वर्तमान वितरण से बहुत कुछ मिलता-जुलता ही था। उस समय उत्तर में एक विशाल त्रिभुजाकार महाद्वीप था जिसका शीर्ष कोण दक्षिणी गोलार्द्ध में था। महासागरीय निक्षेपों के निरीक्षण से विदित होता है कि उस समय आर्कटिक महासागर वर्तमान आर्कटिक के कुछ पूर्व में स्थित था। चतुष्फलक सिद्धान्त के अनुसार महाद्वीपों का फैलाव देशान्तरों एवं महासागरों का फैलाव अक्षान्तरों के समान्तर होना चाहिए। ग्रीन ने इस बात की पुष्टि की है और बताया है कि कालान्तर में महाद्वीपों और महासागरों के आकार में परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों में महासागरों का विस्तार पूर्व-पश्चिम और महाद्वीपों का उत्तर-दक्षिण दिशा में हुआ। किन्तु ग्रेगरी ने इसमें संशोधन प्रस्तुत कर यह बताया है कि चतुष्फलक के लम्बवत किनारे लगभग स्थिर रहे, परन्तु उसकी चपटी सतह को घेरने

---

1 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 18

वाले उत्तल किनारे परिवर्तनशील रहे। ये किनारे कभी उत्तर और कभी दक्षिण को खिसकते रहे जिसमे महाद्वीपों और महासागरों के आकार और उनके क्रम में परिवर्तन होता रहा। ग्रेगरी के इस मत का समर्थन पुरा-भूगोलविद् **फ्रेंक महोदय** ने भी किया। इन संशोधनों ने चतुष्फलक सिद्धान्त को बहुत ही आकर्षक और मान्य बना दिया।

आलोचना

ग्रीन तथा ग्रेगरी के चतुष्फलक सिद्धान्त को फ्रांसीसी, अंग्रेज एवं जर्मन वैज्ञानिकों द्वारा विशेष मान्यता प्राप्त हुई। किन्तु यह मान्यता समाप्त हो गयी है। यद्यपि इस सिद्धान्त के पक्ष में अनेक प्रमाण दिये गये हैं परन्तु दुर्भाग्य से गणित का एक ही तथ्य इस सिद्धान्त को गलत कर देता है :

(1) गणितज्ञों का कहना है कि चतुष्फलक का विरूपण (Tetrapedral deformation) समोत्तल की आकृति (Figure of equilibrium) के अनुरूप नहीं है।

(2) कुछ विद्वानों की धारणा है कि घूमती हुई पृथ्वी कदापि चतुष्फलक आकृति धारण नहीं कर सकती। यदि किसी प्रकार चतुष्फलक आकृति बन भी जाये तो वह अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती।

(3) चतुष्फलक भू-सन्तुलन की स्थिति को नहीं दर्शाता।

लैपवर्थ एवं लव का सिद्धान्त
(Theory of Lapeworth and Love)

भू-पटल पर संकुचन द्वारा बने भू-अपनतियों (Geo-anticlines) और भू-अभिनतियों (Geo-syncline) की प्रधानता देखी जाती है। इन्हीं को देखकर लैपवर्थ ने यह निष्कर्ष निकाला कि महाद्वीप और महासागर भू-अपनतियों और भू-अभिनतियों के ही विस्तृत रूप हैं। उसने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए यह बताया कि महाद्वीप और महासागर एक बड़े पैमाने पर वलन सिद्धान्त (folding principle) को प्रकट करते हैं। उसके अनुसार महाद्वीप शीर्ष (crest) और महासागर द्रोणी (trough) के द्योतक हैं। लैपवर्थ ने अपने मत की पुष्टि के लिए उत्तरी अमरीका के धरातल का विशेष अध्ययन कर यह बताया कि इस महाद्वीप का निर्माण पूर्वी और पश्चिमी किनारे पर खड़ी दो भू-अपनतियों और मध्य में विशाल अभिनति के द्वारा हुआ है। मध्यवर्ती अभिनति मैदान की द्योतक है। इसके विपरीत अन्ध महासागर के मध्य में एक विशाल भू-अपनति है और दोनों ओर किनारों पर विस्तीर्ण अभिनतियाँ हैं। इस वलन सिद्धान्त के अनुसार ही धरातल पर महाद्वीप और महासागरों की उत्पत्ति हुई है।

लैपवर्थ की यह मान्यता है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग के ताप में कमी होने से भू-पटल में सिकुड़न होती है जिससे उसके ऊपर विशाल मोड़ों की उत्पत्ति होती है। किन्तु वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में अनेक आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं :

(1) कुछ वैज्ञानिकों का यह कहना है कि लैपवर्थ ने जिस प्रकार की कल्पना की है उसके पक्ष में ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता हो कि महाद्वीप और महासागर वस्तुतः वलन (fold) के ही रूप हैं। फिर यदि इनको वलन का रूप मान भी लिया जाये तो उनके बनने की क्रिया स्पष्ट नहीं की जा सकती।

(2) जिस शक्ति के द्वारा उसने मोड़ पड़ने की कल्पना की है उससे भू-पटल पर इतने विशाल मोड़ों की रचना असम्भव है।

(3) लैपवर्थ का यह सिद्धान्त आधुनिक भौगोलिक ज्ञान के सर्वथा विपरीत है।

सन् 1907 में **लव** (A. E. H. Love) ने लैपवर्थ के सिद्धान्त में संशोधन कर उसे पुनः जीवन प्रदान किया। लव ने गणित के विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट किया है कि यदि पृथ्वी पिण्ड

का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र (centre of gravity) और उसका आकृति केन्द्र (centre of form) जब एक ही बिन्दु पर नहीं होता तो उसमें विरूपण (deformation) होता है, जिससे उसका कुछ भाग ऊपर उठ जाता है और कुछ भाग नीचे धँस जाता है। यह ज्ञात किया गया है कि पृथ्वी के विभिन्न भागों का गुरुत्वाकर्षण केन्द्र पृथ्वी के भौगोलिक केन्द्र से सामंजस्य नहीं रखता, जिससे भू-पटल के रूप में विरूपण देखा जाता है। महाद्वीप और महासागर भू-पटल के इस विरूपण का ही फल है। लव के इन संशोधनों के उपरान्त भी यह सिद्धान्त दोषमुक्त नहीं हो सका।

(1) इस सिद्धान्त के द्वारा महासागरों के नितल की बनावट में अन्तर की व्याख्या नहीं की जा सकती।

(2) प्रशान्त महासागर और अन्ध महासागरों के तटों की रचना में जो अन्तर है वह भी इस सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

(3) आधुनिक ज्ञान के द्वारा लव की गणितीय परिकल्पना गलत सिद्ध हो चुकी है।

(4) यह सिद्धान्त वर्तमान भू-भौतिक धारणाओं के अनुरूप भी नहीं है।

जीन्स तथा सोलास के सिद्धान्त
(The Theory of Jeans and Sollas)

आदि-अवस्था में पृथ्वी उष्ण और वायव्य अवस्था में थी। धीरे-धीरे शीतल होने से वह ठोस अवस्था को प्राप्त हुई। यदि पृथ्वी इसी प्रकार ठोस अवस्था में पहुँची है तो उसके भीतरी
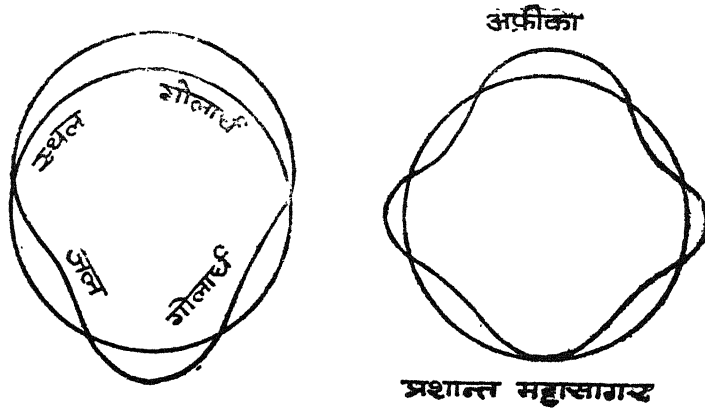
चित्र 64—पृथ्वी का विरूपण

भाग में निश्चित मोटाई के परत (sl.ells) मिलने चाहिए। साथ ही उसका सम्पूर्ण पटल एक जैसी मोटाई के सियाल द्वारा बना हुआ होना चाहिए और उसके ऊपर समुद्र की गहराई भी समान होनी चाहिए।[1] किन्तु इसके विपरीत धरातल पर सियाल की परत सर्वत्र एकसी नहीं पायी जाती। प्रशान्त महासागर में तो सियाल चट्टानें कहीं मिलती ही नहीं हैं। प्रशान्त महासागर का नितल पूर्णतः बेसाल्ट द्वारा निर्मित है। अन्ध व हिन्द महासागर के नितल पर ग्रेनाइट की हल्की परत पायी जाती है। संसार के महासागरों में प्रशान्त महासागर की तट-रेखा अन्य महासागरों से बिलकुल नहीं मिलती। प्रशान्त महासागर की आकृति वृत्ताकार है। भू-पटल की इन्हीं विशेषताओं को देखकर जीन्स ने पृथ्वी से चन्द्रमा की उत्पत्ति का विचार किया और उसके धरातल पर महाद्वीप और महासागरों के जन्म की कल्पना की।

[1] G. Gamow : *Biography of the Earth*, p. 58

जीन्स ने ग्रहों के परिभ्रमण की स्थिरता (Rotational Stability of Planetary bodies) का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि चन्द्रमा की उत्पत्ति के बाद निरन्तर परिभ्रमण करते रहने से पृथ्वी ने **नाशपाती जैसी** (Pear-like) आकृति धारण कर ली। ऐसी दशा में पृथ्वी के प्रधान अंगों का रूप और वितरण निम्न प्रकार होगा :

(1) नाशपाती की ग्रीवा के नितल भाग में महासागर होंगे।

(2) नाशपाती के उत्तल भाग में स्थल गोलार्द्ध होगा।

(3) स्थल गोलार्द्ध के प्रति-ध्रुवस्थ नाशपाती के डण्ठल के रूप में एक छोटा महाद्वीप होगा।

(4) छोटे महाद्वीप को घेरे हुए कोई समुद्र होगा।

पृथ्वी की प्रारम्भिक रचना के उपरोक्त रूप को मान लेने के बाद जीन्स ने यह अनुमान लगाया कि पृथ्वी के शीतल होते समय दोनों स्थल भाग पारस्परिक आकर्षण के कारण एक-दूसरे के निकट आने लगे। इस पारस्परिक खिंचाव के कारण विषुवतरेखीय भाग में धरातलीय उभार पैदा हो गया। इस प्रकार उभरे हुए भाग महाद्वीप और नीचे धँसे हुए भाग महासागर बन गये। विषुवतरेखीय भाग में स्थलीय उभार से दो अन्य महाद्वीप बने।[1]

सन् 1908 में **सोलास** (S. W. Sollas) ने जीन्स के मत का समर्थन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पृथ्वी पर जल और स्थल का वर्तमान वितरण ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार जीन्स ने बताया है। इसके अनुसार अफ्रीका महाद्वीप स्थल गोलार्द्ध के केन्द्र में स्थित है और उसका प्रति-ध्रुवस्थ प्रशान्त महासागर है। यद्यपि काल्पनिक नाशपाती के डण्ठल के स्थान पर आज कोई छोटा महाद्वीप नहीं है, किन्तु सोलास ने पूर्व समय में ऐसे महाद्वीप के होने को प्रमाणित करने की चेष्टा की है। संकुचन के कारण पृथ्वी के मध्यवर्ती भाग में स्थल का जो वलय (Ring of land) बना, वही आज अमरीका, आस्ट्रेलिया व अण्टार्कटिका के रूप में विद्यमान है। यह प्रशान्त महासागर को अन्ध महासागर और हिन्द महासागर से अलग करता है। अन्ध महासागर तथा हिन्द महासागर स्थल गोलार्द्ध में द्रोणीस्वरूप हैं।

ओसमण्ड फिशर (Osmond Fisher) ने सन् 1910 में जीन्स तथा सोलास के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए यह मत व्यक्त किया कि प्रशान्त महासागरीय बेसिन का निर्माण चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग होने से हुआ है। फिशर का मत पृथ्वी की धरातलीय रचना में विशाल असंमति (asymmetry) को स्पष्ट करता है। यह प्रशान्त महासागर और अन्ध महासागर की तट-रेखा के अन्तर की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी कारण इस मत ने आधुनिक भू-भौतिक विचारों में बड़ा महत्त्व प्राप्त कर लिया है।

समीक्षा

(1) निरीक्षण तथा खोज द्वारा ज्ञात हुआ है कि चन्द्रमा का क्षेत्रफल प्रशान्त महासागर के क्षेत्रफल के बराबर है।

(2) चन्द्रमा का घनत्व 3·46 है जो पृथ्वी के सियाल पिण्ड (2·75) से थोड़ा-सा ही अधिक है। यदि चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग होते समय सियाल के साथ थोड़ा सीमा पदार्थ का अंश भी मिला हुआ मान लिया जाय तो यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है।

(3) चन्द्रमा की रचना में प्रशान्त महासागर की 60 किलोमीटर मोटी परत अलग हुई है जो इस मत के अनुकूल है।

---

1 S. W. Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline of Geomorphology*, p. 33

आपत्तियाँ

(1) जीन्स ने पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस परिकल्पना का आश्रय लिया वही जब अमान्य घोषित हो चुकी है तो उस पर आधारित अन्य मत कैसे मान्य हो सकते हैं।

(2) वर्तमान में अनेक वैज्ञानिकों ने पृथ्वी से चन्द्रमा की उत्पत्ति का होना असम्भव सिद्ध कर दिया है। यदि पृथ्वी से कोई पिण्ड अलग हुआ है तो इससे उसकी परिभ्रमण गति काफी कम हो जानी चाहिए थी, किन्तु पृथ्वी की परिभ्रमण गति में कोई अन्तर नहीं पाया जाता।

(3) **जैफ्रे** ने सन् 1930 में यह बताया कि पृथ्वी जैसे द्रव पिण्ड पर ज्वार का उठना उसके अर्द्धव्यास में $\frac{1}{17}$ ऊँचाई तक ही सम्भव है।[1]

(4) **मोल्टन व चेम्बरलेन** ने पृथ्वी से चन्द्रमा के अलग होने की सम्भावना को माना है। तीव्र गति से परिभ्रमण करती हुई तरल पृथ्वी से उसके कुछ पदार्थ का अलग हो जाना सम्भव है। परन्तु विद्वानों ने यह बताया है कि इसके लिए पृथ्वी में वर्तमान से बहुत अधिक कोणीय संवेग होना आवश्यक है।

(5) सन् 1931 में **एफ० नोके** (F. Nolke) नामक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि पृथ्वी पिण्ड से कोई भाग पृथक होता है तो वह पुनः पृथ्वी में मिल जायगा।[2]

(6) पृथ्वी से चन्द्रमा के पृथक होने के लिए यह आवश्यक है कि पृथ्वी की श्यानता (viscosity) अर्थात बहने योग्य गुण एक लम्बे समय तक बने रहना चाहिए, लेकिन यह सम्भव नहीं माना जाता।

(7) सन् 1938 में **आर० ए० लिटिलटन** ने यह सुझाया कि एक ग्रह से अलग होने वाला भाग एक ग्रह ही बन सकता है, न कि उपग्रह।

(8) यह सिद्धान्त महासागरीय तटों की रचना के अन्तर को तो स्पष्ट कर देता है, किन्तु प्रशान्त महासागर के द्वीपीय चाप की व्याख्या करने में यह असमर्थ है।

(9) पर्वतों की रचना भी इससे सिद्ध नहीं की जा सकती।

स्वैस का सिद्धान्त
(Theory of Suess)

प्रसिद्ध भू-गर्भशास्त्री स्वैस ने पृथ्वी के भू-पटल को दो भागों में विभक्त किया है: (1) प्रतिरोधक भाग (Resistant part), और (2) अप्रतिरोधक भाग (Non-resistant part)। उसने प्रतिरोधक भाग कठोर शैलों और अप्रतिरोधक भाग मुलायम शैलों से बना हुआ माना है। कठोर शैलों से बने हुए भाग टूट सकते हैं परन्तु मुड़ नहीं सकते। पृथ्वी के प्राचीन कठोर पिण्डों को देखने से यह प्रमाणित होता है। वर्तमान में कठोर शैलों के प्राचीन भाग अवशेष रूप में पाये जाते हैं। ये भाग क्रमशः **लारेंशिया शील्ड**—जिसमें मुख्यतः रॉकीज के पूर्व में स्थित कनाडा का भाग और स्कॉटलैण्ड के पश्चिमी द्वीप आते हैं; **बाल्टिक शील्ड**—जिसमें बाल्टिक सागर का निकटवर्ती भाग सम्मिलित है; **अंगारालैण्ड**—जिसमें पूर्वी साइबेरिया आता है; और **गोंडवाना लैण्ड**—जिसमें ब्राजील, अधिकांश अफ्रीका, अरब, सीरिया, भारत का प्रायद्वीप, हिन्दचीन व पश्चिमी आस्ट्रेलिया के भाग सम्मिलित हैं।

भू-पटल के उपरोक्त कठोर भागों के मध्य कमजोर भाग स्थित हैं, जो बाह्य दबावों को सहन न कर सकने के कारण कई बार मुड़ चुके हैं। मुड़ने के साथ-साथ ये भाग ऊपर भी उठते रहते हैं। भू-पटल पर मुड़ाव पड़ने तथा ऊपर उठने का क्रम लगातार नहीं होता। यह क्रिया निश्चित अन्तर पर होती थी। अन्तरिम अवस्था में पृथ्वी पर शान्ति बनी रहती थी।

---

1 H. Jeffreys : *The Earth*, p. 248

2 *Ibid.*, p. 249

शान्तिकाल में कठोर भागों के टूटने और भीतर को धँसने की क्रिया होती थी। इस प्रकार जहाँ कठोर भाग टूटकर नीचे धँस गये, वहाँ महासागर बन गये और जहाँ कमजोर भाग दबाव के कारण धरातल के ऊपर उठ गये, वहाँ महाद्वीप बन गये। लॉरेंशिया एवं गोंडवानालैण्ड के टूट जाने से वर्तमान अन्ध महासागर की रचना हुई। प्राचीन टेथिस महासागर जो एशिया, यूरोप और अफ्रीका के कठोर भागों के मध्य में स्थित था, दोनों ओर के कठोर भागों के सम्पीडन के कारण छिन्न-भिन्न हो गया। वर्तमान भूमध्यसागर उसी का अवशेष है। टेथिस महासागर के तल में बिछी हुई कोमल चट्टानें दबाव से मुड़कर ऊपर उठ गयीं जिससे उसके स्थान पर नवीन वलित पर्वतों की रचना हो गयी।

संक्षेप में, स्वैस के अनुसार भू-पटल के कठोर तथा मुलायम भाग जो मोड़ पड़ने की क्रिया के समय ऊपर उठ गये वहाँ महाद्वीप बन गये और कठोर भाग में भ्रंशन के कारण जो भाग नीचे धँस गये वहाँ महासागर बन गये।

जोली का तापीय चक्र सिद्धान्त

(The Thermal Cycle Theory of Joly)

पृथ्वी के धरातलीय इतिहास पर जोली द्वारा प्रस्तुत विचार इतने सरल और तर्कसम्मत हैं कि वर्तमान समय में उनको बड़ी मान्यता प्राप्त हुई है। उसने धरातल की रूपरेखा के बारे में सन् 1925 में तापीय चक्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त को उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *The Surface History of the Earth* में प्रस्तुत किया है।

स्वैस की भाँति जोली भी महाद्वीपों को हल्के सियाल पदार्थों से और महासागरीय तलों को भारी सीमा पदार्थों से निर्मित मानता है। सियाल का औसत घनत्व 2·67 है जो ग्रेनाइट के बराबर है और सीमा का औसत घनत्व 3·0 है। कम घनत्व वाला सियाल सीमा के ऊपर आधारित है। भू-सन्तुलन की भाषा में सियाल द्वारा निर्मित महाद्वीपीय खण्ड सीमा के अधःस्तर में तैरते हुए सन्तुलित हैं। **एअरी** के अनुसार सीमा पर तैरते हुए सियाल खण्ड के बाहर निकले हुए ऊपरी भाग का आठ गुना भाग सीमा के अन्दर घुसा रहता है। इसी आधार पर जोली ने यह निष्कर्ष निकाला कि सियाल की मोटाई 30 किलोमीटर है।[1]

जोली के सिद्धान्त में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह भू-पटल की समस्त चट्टानों को रेडियोधर्मी (radio-active) मानता है। उसके अनुसार सियाल सीमा की अपेक्षा अधिक रेडियोधर्मी हैं।[2] चट्टानों में उपस्थित प्रमुख रेडियोधर्मी तत्त्व थोरियम (Thorium) और यूरेनियम (Uranium) हैं। ये तत्त्व स्वतः विखण्डित होकर ताप उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार से उत्पन्न ताप यद्यपि नगण्य होता है, किन्तु धीरे-धीरे संचित होते रहने से कालान्तर में इसकी मात्रा अधिक हो जाती है जो कि पृथ्वी की रचना में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में समर्थ होती है।

जोली के अनुसार, पृथ्वी के भू-पटल से बड़ी मात्रा में ताप निकलता रहता है। उसकी धारणा है कि सियाल में रेडियोधर्मिता द्वारा जितना ताप उत्पन्न होता है उससे अधिक ताप भू-पटल से बाहर निकल जाता है। यदि सियाल परत की औसत मोटाई 30 किमी ही है तो इस गहराई पर सियाल के आधार का तापमान लगभग 1050° सेण्टीग्रेड होना चाहिए। चूँकि भू-पटल से निकलने वाले ताप की मात्रा सियाल में रेडियोधर्मिता द्वारा उत्पन्न ताप से अधिक रहती है, अतः यह स्पष्ट है कि अधःस्तर से कोई ताप इसकी पूर्ति हेतु सियाल में नहीं पहुँचता। इस प्रकार जब अधःस्तर से कोई ताप सियाल में नहीं पहुँचता तो महाद्वीपों के नीचे तापमान की प्रवणता (Temperature

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 180

2 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 181

gradient) शून्य होगी। इस आधार पर सीमा के ऊपरी भाग का तापमान भी 1050° सेण्टीग्रेड होना चाहिए। महासागरों के नीचे भिन्न अवस्था पायी जाती है। महासागरीय तलों पर सम्भवतः सियाल नहीं पाया जाता। अतः सीमा के ऊपरी भाग में रेडियोधर्मिता के कारण जो भी ताप उत्पन्न होता है वह संचालन द्वारा समुद्री जल में विलीन हो जाता है। किन्तु अधिक गहराई पर ऐसी अवस्था नहीं मिलती। एक निश्चित गहराई पर अधःस्तर का तापमान बेसाल्ट के द्रवणांक बिन्दु के बराबर होगा। इसलिए गहराई के नीचे सभी परतें द्रव अवस्था में होंगी और अपने ताप का संचय करने में समर्थ होंगी। इस प्रकार यदि सीमा से सियाल अथवा महासागरों के नीचे के स्तरों से ऊपरी स्तर में कोई तापमान नहीं पहुँचता तो सीमा में बिना किसी ह्रास के ताप का संचय होता रहेगा। शनैः-शनैः सीमा में ताप का संचय इतना अधिक हो जायगा कि वह बेसाल्ट को पिघला देगा। बेसाल्ट का द्रवणांक बिन्दु 1050° सेण्टीग्रेड है जो अधःस्तर के ऊपरी भाग के अनुमानित तापमान से 100° अधिक है। अतः जब अधःस्तर (सीमा) का तापमान रेडियोधर्मिता के कारण उत्पन्न ताप के फलस्वरूप 1050° सें० से बढ़कर 1150° सें० हो जाता है तो वह पिघलने की अवस्था में हो जाता है।[1] जोली का अनुमान है कि रेडियोधर्मिता के कारण इतनी मात्रा —100° सेण्टीग्रेड में ताप के संचय के लिए 3,30,00,000 से 5,60,00,000 वर्ष लगेंगे।[2]

यदि अधःस्तर ताप की वृद्धि से पिघलने की अवस्था में पहुँच जाता है तो पृथ्वी के भू-पटल पर अनेक परिवर्तन उत्पन्न होंगे। सर्वप्रथम, सीमा के पिघलने से उसके आयतन में वृद्धि होगी जिससे पृथ्वी का व्यास बढ़ जायगा। इस कारण महाद्वीपीय खण्ड ग्लोब के केन्द्र के सापेक्ष ऊँचे उठेंगे। सीमा के पिघलने के कारण उसका घनत्व कम हो जायगा और सियाल के महाद्वीप उसमें अधिक धँस जायेंगे। परिणामस्वरूप महासागर महाद्वीपों के तटीय भागों का अतिक्रमण कर उन्हें डुबो देंगे। यह समुद्रों के अतिक्रमण का युग (Period of Transgressional Seas) कहलाता है। इस युग में महाद्वीपीय तटों के समीप छिछले जल में प्रभूत मात्रा में स्थल से प्राप्त अवसाद का निक्षेप होता है, जो भू-अभिनतियों (Geo-synclines) का रूप धारण कर लेता है। यह सिद्धान्त इस प्रकार भू-अभिनतियों के जन्म और उनमें निक्षेपित तलछट के कालान्तर में मुड़ने, ऊपर उठने और पर्वत-श्रेणियों का रूप धारण करने की व्याख्या करता है। "The theory accounts for the geo-synclines, with their included sediments, which are later to be folded and uplifted as mountain chains."[3]

महासागरीय तलों में अवस्था बिलकुल भिन्न होती है। पृथ्वी के व्यास और उसकी परिधि में वृद्धि के कारण महासागर के तलों में इस समय तनाव उत्पन्न होगा जिससे तली में दरारें पड़ जायेंगी। इन दरारों से पिघला हुआ बेसाल्ट (लावा) बाहर निकलेगा। इसके द्वारा महासागरीय द्वीपों की रचना होगी। प्रशान्त महासागर के लावा के द्वीपों का निर्माण इसी प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। भू-पटल पर ये सब घटनाएँ बहुत ही धीरे-धीरे लाखों वर्षों में जाकर घटित होती हैं।

अधःस्तर को इस पिघली हुई अवस्था में, जबकि महाद्वीप उस पर तैर रहे होंगे तो उन पर ज्वारीय शक्ति का बहुत ही प्रभाव पड़ा होगा। ज्वारीय शक्ति के फलस्वरूप महाद्वीप (सियाल पिण्ड) पश्चिम दिशा की ओर गतिशील होंगे। यह जोली के सिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार है, क्योंकि इस माध्यम से ताप निकल जाता है।[4] महाद्वीपों के खिसकने से उनके स्थान पर

---

1 J. Joly : *The Surface History of the Earth*, p. 85
2 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 182
3 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 182
4 J. Joly : *The Surface History of the Earth*, p. 200

महासागर बन गये होंगे। इस प्रकार महाद्वीपों के नीचे सीमा में संचित ताप महासागरीय तलों के द्वारा पूर्णतः बाहर निकल जायगा।

अतःस्तर के ताप का उपरोक्त विधि से ह्रास होने पर वह पुनः शीतल होकर ठोस हो जायगा। अधःस्तर के पुनः ठोस रूप धारण करने पर सर्वप्रथम पृथ्वी का व्यास घटकर पूर्ववत हो जायगा। पृथ्वी के व्यास में कमी हो जाने से महाद्वीप पृथ्वी के केन्द्र की ओर अग्रसर होंगे। चूँकि नवीन घनीभूत सीमा का घनत्व उसकी द्रवित अवस्था से अधिक है, परिणामस्वरूप महाद्वीप सीमा की ऊपरी सतह के सापेक्ष में ऊपर उठे हुए होंगे और इसी कारण से वे समुद्र-तल (ocean level) की तुलना में भी ऊपर उठे रहेंगे। इस प्रकार महासागरों का अतिक्रमण समाप्त हो जायेगा। इस समय महाद्वीपों के किनारों पर निक्षेपित अवसाद दृष्टिगोचर होंगे। यह **महासागरों के प्रतिक्रमण का युग** (Period of regressional seas) होता है।[1]

जोली ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अधःस्तर के पिघलने से ग्लोब का जो विस्तार हुआ वह पूर्णतः समुद्र की तली द्वारा ग्रहण कर लिया गया। अतः पुनः ठोस होते समय सर्वाधिक संकुचन भी उन्हीं भागों में होगा। फलस्वरूप महाद्वीप निकटवर्ती महासागरीय तलों के सिकुड़ने से सम्पीडित होंगे। इस सम्पीडन का प्रभाव महासागरीय प्रतिक्रमण-काल में निक्षेपित कोमल अवसादों पर अपेक्षाकृत अधिक होगा, जिससे वह अत्यधिक मुड़ जायगा। वलित पर्वतों की रचना का यह प्रथम चरण है। सीमा के शीतल होने एवं महासागरीय तलों के दबाव की क्रिया सीमा के ठोस होने के पूर्व ही घटित हो चुकी थी। इसके फलस्वरूप पर्वत-निर्माण की दो दिशाएँ स्पष्ट की जा सकती हैं। प्रथम पार्श्विक दबाव के कारण वलन (folding) तथा ग्रीवा खण्डों (nappe) की रचना हुई। दूसरी वलन के पश्चात पर्वत समूह ऊपर उठे। पर्वतों का ऊपर उठना अधःस्तर के ठोस होने पर भू-सन्तुलन प्राप्ति (isostatic recovery) के कारण हुआ। यह जोली के सिद्धान्त का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण बिन्दु है जो प्रायः अन्य सिद्धान्तों द्वारा छोड़ दिया जाता है।[2]

समीक्षा

(1) जोली के अनुसार पर्वतों की रचना एक निश्चित अवधि के बाद चक्रवत (cyclic) होती है। किन्तु **शेपर्ड** (Shepard) ने यह प्रमाणित किया है कि पर्वतों की रचना चक्रवत न होकर निरन्तर होती रहती है। यदि जोली की कल्पना को ही मान लिया जाय तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर प्रत्येक क्रान्ति (revolution) के बाद सम्पीडन द्वारा वलन (folding) उत्पन्न होने चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इसके विपरीत, आल्प्स क्षेत्र में जब सम्पीडन हलचलें तीव्रतर थीं, उस समय आइसलैण्ड क्षेत्र में तनाव (tension) द्वारा भ्रंशन हुआ था।[3]

(2) जोली के अनुसार पर्वत-निर्माण की घटनाएँ समान अन्तर से होती हैं। पर्वतीकरण के दो कालों के मध्य 3,30,00,000 से 5,60,00,000 वर्ष का अन्तर रहता है, जबकि रेडियोधर्मी कण सीमा को पिघलाने में समर्थ होते हैं।[4] किन्तु अनेक विद्वानों ने भौगोलिक तथ्यों के आधार पर इसे अमान्य सिद्ध कर दिया है।

(3) **जैफ्रे** ने जोली द्वारा सीमा के ठोस होने की कल्पना से असहमति प्रकट की है। जैफ्रे की मान्यता है कि रेडियोधर्मी तत्त्वों से इतना ताप उत्पन्न हो सकता है कि सीमा सदैव द्रव अवस्था में बनी रहे।

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 183
2 *Ibid* : p. 184
3 *Ibid.*
4 *Ibid.*

(4) यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत अंशों तक इस बात का प्रतिपादन करता है कि **संसार के विशाल पर्वत विशाल महासागरों के सम्मुख स्थित हैं।**[1] (The greatest mountains face the greatest oceans.) किन्तु यह अन्ध महासागर तथा प्रशान्त महासागर के तटों की भिन्नता को स्पष्ट नहीं करता। जहाँ प्रशान्त महासागर के तटों की पर्वत-श्रेणियाँ सम्पीडन द्वारा बनी हो सकती हैं वहाँ अन्ध महासागरीय तटों की पर्वत-श्रेणियाँ तनाव को इंगित करती हैं।[2]

(5) पूर्व-पश्चिम दिशा में फैली हुई पर्वत-शृंखलाओं को महाद्वीप और महासागरों की वर्तमान स्थिति के द्वारा कदापि स्पष्ट नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि मेसोजोइक कल्प के टेथीज की उपस्थिति को मान लिया जाय तो आल्प्स एवं हिमालय पर्वत-क्रमों को प्रमाणित किया जा सकता है।[3]

(6) जोली के अनुसार प्रशान्त महासागरीय द्वीपीय चाप (Island arcs) की उत्पत्ति महासागरीय तली में तनाव द्वारा उत्पन्न दरारों से सीमा के निकलने से हुई है। उसकी मान्यता है कि ये दरारें प्रशान्त महासागर के सर्वाधिक विस्तार से समकोण बनाती हुई स्थित हैं। **लेक** ने इस बात से असहमति प्रकट करते हुए बताया है कि महासागर की सर्वाधिक चौड़ाई चीन से चिली के मध्य है अर्थात उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर। अतः द्वीपीय चाप को उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम को स्थित होना चाहिए।[4]

(7) जोली के सिद्धान्त की सबसे कठोर आलोचना **जैफ्रे** ने की है। जोली द्वारा सियाल की अनुमानित 30 किलोमीटर मोटाई को जैफ्रे उचित नहीं मानता। उसने भूकम्प की लहरों के प्रमाण द्वारा सिद्ध कर दिया है कि सियाल की मोटाई 16 किलोमीटर से अधिक नहीं है।[5]

(8) **जोली** ने यह कल्पना की है कि सीमा की द्रव अवस्था में महाद्वीप पश्चिम की ओर गतिशील हुए। किन्तु गणित द्वारा यह बताया जा सकता है कि ऐसी कोई ज्ञात शक्ति नहीं है जो महाद्वीपों को खिसकाने में समर्थ हो सके।[6]

(9) **होम्स** के अनुसार अधःस्तर में ताप की संचित मात्रा को निकालने के लिए जोली ने जो विधि बतायी है, वह अपूर्ण तथा संदिग्ध है।

(10) जैफ्रे ने इस भौतिक नियम 'Latent heat of change of state expresses a purely conservative tendency' के आधार पर यह आपत्ति प्रस्तुत की है कि रेडियोधर्मी तत्त्वों के द्वारा सीमा के एक बार द्रवित हो जाने के बाद वह पुनः ठोस नहीं होना चाहिए।[7]

जैफ्रे का तापीय संकुचन सिद्धान्त
(The Thermal Contraction Theory of Jeffreys)

पृथ्वी के धरातलीय रूपों की उत्पत्ति को स्पष्ट करने वाले सिद्धान्तों में जैफ्रे द्वारा प्रतिपादित तापीय संकुचन का सिद्धान्त एकदम नवीन और बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जब महाद्वीपों के विस्थापन के लिए आवश्यक शक्ति का कोई स्पष्ट आधार नहीं बताया जा सका तो जैफ्रे ने महाद्वीपों एवं पर्वतों की रचना को पृथ्वी के संकुचन द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार कुछ तो पृथ्वी के शीतल होने और कुछ पृथ्वी की परिभ्रमण गति में कमी हो जाने से संकुचन हुआ जिसके फलस्वरूप ही भू-पटल पर महाद्वीप, महासागर एवं पर्वतों की रचना हो सकी। जैफ्रे ने अपने मत का ऐसे तर्क-सम्मत और गणितीय सिद्धान्तों के आधार पर प्रतिपादन किया है कि सामान्य व्यक्ति के लिए उसके विचारों को समझ पाना कठिन है।

---

1 *Ibid* : p. 185
2 *Ibid.*
3 *Ibid.*
4 *Ibid.*
5 *Ibid* : p. 186
6 *Ibid.*
7 H. Jeffreys : *The Earth*, p. 323

जैफ्रे यह मानकर चला है कि पृथ्वी अनेक सकेन्द्रीय खोलो (concentric shells) से बनी है। ये खोल विभिन्न गति से शीतल हुए है। उसके अनुसार पृथ्वी के केन्द्र से 700 किलोमीटर तक की दूरी के प्रदेश मे न तो तापमान मे ही विशेष अन्तर पड़ा है और न उसके आयतन में ही कोई परिवर्तन आया है। किन्तु पृथ्वी के बाह्य (outer) 700 किलोमीटर तक के भाग मे संकुचन का अधिक प्रभाव पड़ा। इस भाग में प्रत्येक ऊपर का खोल अपने नीचे के खोल से अधिक ठण्डा हुआ है। पृथ्वी का सबसे ऊपर का खोल सर्वप्रथम शीतल हुआ। इस कारण उसमे संकुचन अधिक हुआ, जिससे उसका आयतन घट गया। इसके नीचे का खोल शनै:-शनै: शीतल होने से अपेक्षाकृत कम ठण्डा हुआ और उसमें संकुचन भी कम हुआ। अतः इस खोल के व्यास मे भी विशेष कमी नही हुई। किन्तु ऊपरी खोल का व्यास नीचे के खोल के अनुसार ही निश्चित होना चाहिए। अतः उसके आयतन मे कमी होने पर भी उसके व्यास में विशेष परिवर्तन नही होगा। फलस्वरूप ऊपरी खोल पतला हो जायेगा। फिर चूंकि यह खोल कमजोर होता है इसलिए इसके पदार्थ सम्पीडन द्वारा उत्पन्न दबाव के अनुरूप हो जायेगा और सम्भवतः द्रव स्थैतिक अवस्था को प्राप्त कर लेगा।

दूसरी अवस्था में जब ऊपरी खोल पूर्ण रूप से ठण्डा हो चुकेगा तो उसमें अधिक संकुचन नही हो पायेगा किन्तु इसके विपरीत नीचे का खोल शीतल होता रहेगा। अत. ऊपरी खोल नीचे वाले खोल से बडा रह जायेगा। फलस्वरूप ऊपरी खोल को नीचे के खोल से पूरी तरह सटे रहने के लिए मुडना और टूटना पड़ेगा। जैफ्रे ने इन दोनो खोलों के मध्य एक ऐसे प्रदेश की कल्पना की है जहाँ न तनाव होगा न खिचाव (level of no strain) ही होगा। यह प्रदेश ऊपरी और नीचे के खोलों के मध्य संकुचन में सामंजस्य उत्पन्न करेगा।[1] इस प्रदेश के नीचे के खोल में बराबर सकुचन होता जायेगा, इस कारण इसे ऊपरी खोल से सटे रहने के लिए फैलना पड़ेगा। फैलने से इसमें दरारें उत्पन्न हो जायेंगी जो सम्भवतः नीचे के उष्ण और द्रव पदार्थों से भर जायेंगी। इसके विपरीत ऊपरी खोल में पृथ्वी के अर्द्धव्यास में कमी हो जाने से संकुचन होगा जिससे विशाल मोड़ों का जन्म होगा। गणितीय आधार पर जैफ्रे ने यह बताया कि पृथ्वी के धरातल में संकुचन द्वारा 200 किलोमीटर तक सिकुड़न हुई है जिससे धरातल के क्षेत्रफल में 5×10^{16} cm^2 कमी हुई है।[2]

महाद्वीपो की अपेक्षा महासागरों के नीचे धरातल अधिक गहराई तक और शीघ्र ठण्डा हुआ। महासागरीय तलों की चट्टानें अधिक घनत्व की बनी हुई है। इसलिए सम्भवतः इन चट्टानों ने कठोर तल का कार्य किया होगा, जिससे क्षैतिज सम्पीडन द्वारा मोड़ केवल निकटवर्ती महाद्वीपों पर ही पड़े। प्रशान्त महासागर के चारों ओर तटों के समीप बनी हुई पर्वत श्रेणियाँ इसकी पुष्टि करती हैं।

जैफ्रे ने पर्वत-निर्माण की क्रिया को चक्र रूप में (cycle of mountain building) प्रस्तुत करने का भी प्रयत्न किया है। भू-गर्भिक इतिहास पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि भू-पटल पर पर्वत-निर्माण की क्रिया कई बार हुई है। किन्तु यह विचार संकुचन के सभी सिद्धान्तों में कठिनाई पैदा करता है। किन्तु जैफ्रे के अनुसार संकुचन द्वारा उत्पन्न दबाव तब तक बढता जायगा जब तक वह चट्टानों की शक्ति से अधिक नहीं हो जायगा। दबाव से चट्टानों की शक्ति के बढ़ जाने पर धरातल पर मोड़ तथा दरारें उत्पन्न होंगी और जब तक दबाव समाप्त नही हो जायेगा धरातल पर पर्वत-निर्माण का कार्य चलता रहेगा। पर्वत-निर्माण की क्रिया से जब दबाव कम हो जायगा

---

1 H. Jeffreys : *The Earth*, p. 321

2 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 153

तो पुनः धरातल पर **शान्ति का समय** (Period of quiescence) होगा। शान्तिकाल के बाद दबाव के बढ़ जाने पर फिर पर्वत-निर्माण क्रिया प्रारम्भ हो जायगी। इस प्रकार पर्वत-निर्माण चक्र चलता रहेगा। जैफ्रे ने चट्टानो की शक्ति के आधार पर पर्वतीकरण के पाँच चक्रों को माना है जो अन्य तथ्यों के अनुसार पर्वत निर्माणकारी युगो की संख्या के अनुकूल है।

यदि पर्वत-निर्माण उपरोक्त मत के अनुसार ही मान लिया जाय तो तनावहीन स्तर (level of no strain) के नीचे की परत का पतला होना आवश्यक है। गुरुत्वाकर्षण के वशीभूत बाह्य खोल नीचे की पतली तह की ओर खिच जायगी और जब एक बार सम्पीडन के कारण सतह पर मोड़ पड़ने प्रारम्भ होकर पर्वत-निर्माण होने लगेगा तो इस पतली तह पर दबाव बढ़ता जायगा। इस प्रकार पर्वतों के नीचे से द्रव पदार्थ बाहर फूट पड़ेंगे। इस तरह पर्वतों का निर्माण और उनकी क्षतिपूर्ति साथ-साथ चलती रहती है।[1]

समीक्षा

(1) जैफ्रे ने साधारण संकुचन द्वारा पृथ्वी के धरातल पर जिन विशाल मोड़ों एवं दरारो के निर्माण की कल्पना की है, वह असम्भव है। इस प्रकार के सकुचन से तो केवल साधारण मोड़ ही पड़ सकते है।

(2) यदि पर्वतों की रचना पृथ्वी के भीतरी सकुचन के कारण हुई है तो फिर पर्वत-निर्माण की क्रिया निरन्तर होती रहनी चाहिए, किन्तु भू-गर्भिक इतिहास से पता चलता है कि पर्वत-निर्माण एक निश्चित अवधि के बाद ही होता है।

(3) जैफ्रे ने ग्रेनाइट शैलो के आधार पर पर्वत-निर्माण के पाँच युग माने है। यद्यपि उसकी यह कल्पना सही प्रतीत होती है किन्तु **होम्स** का कहना है कि ज्यो-ज्यो पृथ्वी शीतल होती गयी त्यो-त्यो पर्वत-निर्माण के युगो का अन्तर भी बढता जाना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत पृथ्वी पर पर्वत-निर्माण के युगो का अन्तर एकसा रहा है।[2]

(4) यदि पर्वत-निर्माण सकुचन के कारण ही हुआ है तो यह क्रिया धरातल के सभी भागों मे होनी चाहिए। किन्तु भौगोलिक तथ्य इसका समर्थन नही करते।

(5) जैफ्रे की इस कल्पना को कि पृथ्वी की भीतरी गर्मी धीरे-धीरे कम होती जा रही है, विद्वानों ने असत्य सिद्ध कर दिया है।

(6) क्या कुछ विशाल पर्वत-श्रेणियों के निर्माण से ही भू-पटल की नीचे की चट्टानों पर पड़ने वाला दबाव घट जायगा अर्थात् सम्पीडन शक्ति भू-पटल की शैलों की परिदृढ़ता से कम हो जायगी? यदि पृथ्वी चपटी होती और सम्पीडन का एक जैसा प्रभाव वर्गाकार महाद्वीप पर पडता तो सम्भव था कि पर्वत-श्रेणियाँ वर्ग की भुजाओ के समान्तर बनतीं और दबाव मे कमी हो जाती। इसी प्रकार यदि पृथ्वी अण्डाकार होती और उस पर वृत्ताकार महाद्वीप होता तो दो पर्वत-श्रेणियाँ उसके केन्द्र पर एक-दूसरे को काटती हुई हो सकती थी। किन्तु पृथ्वी के स्वरूप मे कोई एकरूपता नही है। अतः उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देने मे यह सिद्धान्त असमर्थ है।

(7) इस सिद्धान्त के द्वारा महाद्वीप और महासागरों की उत्पत्ति को स्पष्ट नही किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी वायव्य अवस्था से ठण्डी होकर वर्तमान अवस्था मे पहुँची है तो सबसे बड़ी कठिनाई यह आती है कि जल और स्थल किस प्रकार अलग हुए। यदि जल और स्थल पृथ्वी की द्रव अवस्था में अलग हुए है तो महासागरों मे जल कैसे एकत्र हो गया, जबकि पृथ्वी की वायव्य और द्रव अवस्था मे उसका ऊपरी तल चिकना और समतल होना ही सम्भव

---

1 *Ibid* : p. 156

2 B. Gutenberg : *Internal Constitution of the Earth*, p. 162

है ।[1] यदि पृथ्वी के ठोस अवस्था को प्राप्त हो जाने के उपरान्त महाद्वीप और महासागर बने है तो स्थल पदार्थ किस प्रकार इस भाँति एकत्र हो सके जिससे कि महाद्वीपो का निर्माण हो सका, जबकि पृथ्वी की परिदृढता के कारण पदार्थ का इस प्रकार एकत्र होना सम्भव नही है । ऐसा केवल विस्थापन (drift) द्वारा ही सम्भव हो सकता है, किन्तु यह विचार सकुचन सिद्धान्त के विपरीत है ।[2]

उपरोक्त आलोचनाओं से मुक्ति पाने के लिए जैफ्रे ने अपने मत की पुष्टि मे कुछ नवीन आधार खोजने का प्रयत्न किया है जो निम्न प्रकार है :

(1) ज्वार-भाटे के कारण पृथ्वी की धुरी का झुकाव परिक्रमण तल पर बदलता रहा है ।

(2) चुम्बकीय अन्तर के कारण पृथ्वी पर ग्रेनाइट का संग्रह असमान रूप से हुआ । जिन स्थानो पर ग्रेनाइट एकत्रित हुआ वहाँ महाद्वीप बन गये और जहाँ ग्रेनाइट एकत्रित नही हुआ वहाँ महासागर बने ।[3]

(3) **सी० एफ० एस० हिल** ने बताया है कि उबलते हुए पदार्थ मे 'झाग' केवल कुछ स्थानों पर ही एकत्रित होता है ।[4] इसी आधार पर जैफ्रे ने यह माना कि द्रव अवस्था से ठोस होते समय पृथ्वी के धरातल पर ग्रेनाइट केवल कुछ स्थानों पर ही एकत्रित हो पाया ।

(4) ध्रुवो का भी स्थानान्तरण हुआ है ।

(5) पर्वत एवं ज्वालामुखी आदि के अतिरिक्त भी भू-पटल पर फैलने व सिकुड़ने का प्रभाव पड़ा है । किन्तु इससे महाद्वीपों के वहन की बात सिद्ध नही होती ।

वेगनर का महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त
(Wegner's Theory of Continental Drift)

महाद्वीपों की रचना के सम्बन्ध में प्रतिपादित महाद्वीपीय विस्थापन सिद्धान्त यद्यपि वेगनर के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु इसका सूत्रपात वस्तुतः **एन्टोनियो स्नाइडर** (Antonio Snider) और **एफ० जी० टेलर** (F. G. Taylor) के हाथो ही हुआ । स्नाइडर ने सन् 1858 और टेलर ने सन् 1908 में महाद्वीपीय विस्थापन के सम्बन्ध मे विचार प्रकट किये थे। किन्तु उस समय ये लोग अपने विचारो को स्पष्ट रूप नही दे सके थे । महाद्वीपीय विस्थापन को स्पष्ट रूप देने और इसकी पुष्टि मे अनेक प्रमाण एकत्रित करने का कार्य श्री वेगनर ने ही सम्पादित किया । अतः इस सिद्धान्त का समस्त श्रेय वेगनर को ही दिया जाता है । वेगनर ने सर्वप्रथम सन् 1912 मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, परन्तु उस समय प्रथम महायुद्ध के कारण वैज्ञानिको ने इस ओर ध्यान नही दिया । अतः वेगनर ने सन् 1924 मे इस सिद्धान्त को पुनः संशोधित कर उसे जर्मन भाषा में प्रकाशित किया । इसके पश्चात सन् 1924 में उसका अंग्रेजी संस्करण निकला । तभी से यह सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत में सबसे अधिक वाद-विवाद का विषय बना हुआ है ।

एल्फ्रेड वेगनर मूलतः ऋतु विज्ञानवेत्ता था । वह वस्तुतः पृथ्वी की जलवायु सम्बन्धी गुत्थियो को सुलझाने की चेष्टा कर रहा था । उसे अनेक स्थानों पर भू-गर्भशास्त्र के ऐसे प्रमाण (जीवाश्म) प्राप्त हुए जिनसे यह प्रमाणित होता था कि पृथ्वी के सभी भागो की जलवायु में विशेष परिवर्तन हुए हैं । उदाहरणतः, राजस्थान के मरुस्थल में हिमानियों के चिह्न प्राप्त होते है जिनसे यह प्रकट होता है कि वहाँ कभी न कभी अत्यन्त शीतल जलवायु रही है । इसी तरह अण्टार्कटिका प्रदेश में कोयले का पाया जाना वहाँ किसी समय उष्ण जलवायु होने को प्रकट करता है । मध्य यूरोप और संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसे चिह्न मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि किसी समय

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 156

2 *Ibid.*

3 H. Jeffreys : *The Earth*, p. 349

4 *Ibid.* : p. 351

ये भाग हिमावरण से ढके हुए थे। पृथ्वी के विभिन्न भागों मे जलवायु के इन महान विभेदों के क्या कारण हो सकते है, इनका स्पष्टीकरण करना ही वैज्ञानिकों के समक्ष एक समस्या थी। अतः इस सम्बन्ध मे दो विकल्प प्रस्तुत किये गये :

(1) महाद्वीप स्थिर रहे है और जलवायु के कटिबन्धो मे ही परिवर्तन होता रहा है, अथवा

(2) जलवायु के कटिबन्ध स्थिर रहे है और महाद्वीप एक स्थान से दूसरे स्थान को हटते रहे है।

वेगनर का सिद्धान्त उपरोक्त दूसरी सम्भावना पर ही आधारित है। वेगनर द्वारा प्रतिपादित महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धान्त की रचना पूर्वकालीन जलवायु के विभेदों को स्पष्ट करने के लिए ही हुई।

सिद्धान्त की रूपरेखा—वेगनर ने ससार के भिन्न-भिन्न भागो की जलवायु के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए, समस्त महाद्वीपों और संसार के सम्पूर्ण मानचित्र का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। इस अध्ययन मे उसने महाद्वीपों के विपरीत भागो मे अभूतपूर्व समानता देखी। इस समानता को स्पष्ट करने के लिए उसने 'साम्य-स्थापन' (Jigsaw Fit) की कल्पना की। इस कल्पना के आधार पर उसने बताया कि दक्षिणी अमरीका का ब्राजील का उभरा हुआ भाग अफ्रीका की गिनी की खाड़ी मे भली प्रकार सटाया जा सकता है। अन्ध महासागर के दोनो ओर उत्तरी अमरीका की तट रेखा तथा पश्चिमी यूरोप की तट रेखा को भी इसी तरह सम्बद्ध किया जा सकता है। इसी भाँति अफ्रीका के पूर्वी तट इथोपिया तथा ईरीट्रिया का उभरा हुआ भाग पश्चिमी भारत तथा पाकिस्तान की तट रेखा से सयुक्त किया जा सकता है। धीरे-धीरे इसी तरह उसने सभी महाद्वीपों को परस्पर सम्बन्धित बताया।

वेगनर ने 'साम्य-स्थापन' की कल्पना को स्पष्ट करने के लिए अन्ध महासागर के दोनों ओर की भूमि का रचना तथा भू-गर्भिक इतिहास आदि अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया।
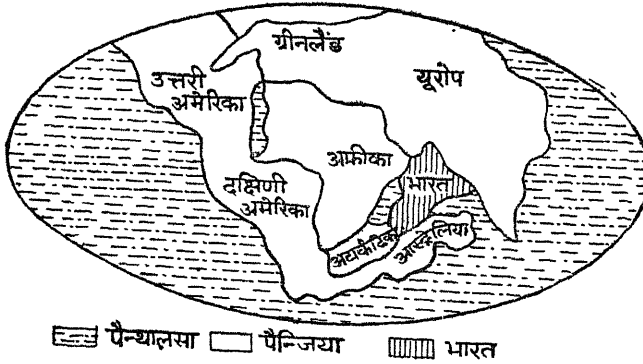
चित्र 65—पैन्जिया

इस अध्ययन से उसने पाया कि दोनो तटो की भूमि अपनी संरचना और भू-गर्भिक इतिहास मे समान है। यही नही, उसने दोनों ओर के जीवाश्मों, वनस्पति और जीव-जन्तुओ में भी समानता देखी। इन सब तथ्यों के आधार पर वेगनर इस परिणाम पर पहुँचा कि धरातलीय इतिहास के प्रारम्भिक काल अर्थात पुराजीव महाकल्प मे अनेक महाद्वीप परस्पर जुड़े हुए थे। एक ओर आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, दक्षिणी अमरीका, प्रायद्वीपीय भारत और अण्टार्कटिका सब मिले हुए रूप में दक्षिणी महाद्वीप का निर्माण करते थे, जो गोण्डवाना लैण्ड (Gondwana land) कहलाता था। दूसरी ओर उत्तरी अमरीका, यूरोप और एशिया उत्तरी महाद्वीप का निर्माण करते थे जो 'अंगारा

लैण्ड' (Angara land) कहलाता था। इन दोनों महाद्वीपों के मध्य मे एक संकीर्ण महासागर था था जो टेथिस (Tethys) महासागर कहलाता था। यद्यपि अंगारा लैण्ड और गोडवाना लैण्ड दोनों ही टेथिस महासागर के कारण मध्य मे अलग-अलग थे, परन्तु दोनो ही वस्तुत. एक ही भू-महाद्वीप के भाग थे। वेगनर ने इस संयुक्त भू-महाद्वीप का नाम पैन्जिया (Pangea) रखा।

पुराजीव कल्प मे पैंजिया महाद्वीप के कुछ भाग उथले समुद्रों से ढके हुए थे। किन्तु इसके चारो ओर पृथ्वी के शेष भाग पर एक ही भू-महासागर फैला हुआ था। यह स्थल-पिण्ड उस समय 'सीमा' (Sima) मे उसी प्रकार तैरता था जिस प्रकार समुद्र मे प्लावी हिम शैल (ice-bergs) तैरा करते है। इस समय इस भू-महाद्वीप की स्थिति ऐसी थी कि दक्षिणी-ध्रुव अफ्रीका के दक्षिण मे नेटाल के समीप स्थित था।[1] वेगनर के अनुसार कालान्तर में इस भू-महाद्वीप के विभिन्न भाग विदीर्ण होकर विस्थापित होने लगे। कार्बन युग (Carboniferous period) मे पैन्जिया के उत्तरी और दक्षिणी दो भाग हो गये। तदनन्तर मध्यजीव कल्प (Mesozoic era) के अन्त मे इसके पूर्वी और पश्चिमी भाग भी अलग हो गये। पैन्जिया का इस प्रकार विघटन और विस्थापन अवकल गुरुत्वाकर्षण शक्ति (differential gravitational force) के कारण हुआ। महाद्वीपो का विस्थापन सामान्यत: दो दिशाओं की ओर उन्मुख हुआ। एक ओर महाद्वीपो का विस्थापन विषुवत रेखा की ओर हुआ जो गुरुत्वाकर्षण केन्द्र और महाद्वीपो की प्लवनशीलता (buoyancy) के केन्द्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर आश्रित था। इस विस्थापन से यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीप प्रभावित हुए। दूसरी ओर महाद्वीप पश्चिम दिशा को विस्थापित हुए जो मूलतः ज्वारीय शक्ति पर आधारित था। पश्चिम की ओर विस्थापन से उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका प्रभावित हुए। महाद्वीपो का वर्तमान विन्यास पैन्जिया के विभिन्न भागों के टूटने और उनके विस्थापन से ही अस्तित्व मे आया है। इस प्रकार यह सिद्धान्त यह प्रमाणित करने की चेष्टा करता है कि महाद्वीपों की स्थिति कभी भी स्थायी नही रही है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त पर्वतों की उत्पत्ति पर भी प्रकाश डालता

चित्र 60—पैन्जिया द्वारा महाद्वीपों व महासागरों का निर्माण

[1] "Wegner has suggested that the Poles have been assumed not always to be in the same places relative to the continental masses. The North Pole in the Silurian period was in Lat. 14° N., Long. 124° W.; in the Carboniferous period in Lat. 16° N., Long. 147.° W., in the Teritiary period in Lat. 51° N., Long. 153° W. The South Pole and Equator obviously moved into accordant positions."

—J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 166

है। इस सिद्धान्त के अनुसार यूरोप के आल्प्स पर्वत की रचना अफ्रीका और यूरोप के सिरों के निकट आने से हुई तथा रॉकीज और एण्डीज पर्वत अमरीकी व प्रशान्त महासागर की तली के आपस मे टकराने से बने है।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन मे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं जो निम्न प्रकार है :

(1) महाद्वीपीय विस्थापन के सम्बन्ध मे वेगनर द्वारा प्रस्तुत अनेक प्रमाणों मे भौगोलिक प्रमाण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वेगनर ने बताया है कि अन्ध महासागर के दोनों ओर के महाद्वीपों के तट अपनी रचना मे समान है। इससे इनका अलग होना स्पष्ट प्रतीत होता है। दक्षिणी अमरीका के पूर्वी तट का आगे निकला हुआ भाग अफ्रीका के पश्चिमी तट (गिनी-तट) से भली प्रकार सटाया जा सकता है। इसी प्रकार ग्रीनलैण्ड, बैफिनलैण्ड एवं एल्समीरलैण्ड, पूर्वी-उत्तरी अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप के भाग से भली प्रकार सम्बद्ध हो सकता है। इस प्रकार के निर्णय मे जलमग्न तट की बनावट का ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

(2) भू-गर्भशास्त्रियो ने अन्ध महासागर के दोनों तटों के चट्टानों एवं पर्वत-श्रेणियों का अध्ययन किया है। इस अध्ययन से वे इस परिणाम पर पहुंचे है कि दोनों तटों की चट्टानो और पर्वत-श्रेणियो में बड़ा भारी साम्य है। वे न केवल भू-गर्भिक इतिहास अपितु सरचना की दृष्टि से भी समान है। यह समानता चट्टानो के नमन (dip) और मोड़ रेखाओं (fold lines) की दिशा आदि से भी स्पष्ट प्रतीत होती है। यूरोप, अफ्रीका और अमरीका के पर्वतों की बनावट के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि इन सब पर्वतों के निक्षेप लगभग एक-से है। यही नही, ब्राजील के पठार, दक्षिणी अफ्रीका, दकन के पठार एवं आस्ट्रेलिया के पठार की बनावट मे भी बहुत समानता पायी जाती है। दक्षिणी अमरीका और दक्षिणी अफ्रीका से निकलने वाले खनिजों की समानता (विशेषकर हीरे की) से भी यह सिद्ध होता है कि ये भू-भाग किसी समय एक थे।

(3) साम्य स्थापना का समर्थन करते हुए **ई० बी० बैली** (E B. Baily) ने अन्य कई प्रमाण प्रस्तुत किये है। यूरोप तथा उत्तरी अमरीका मे फैले हुए हरसीनियन मोड़ (Hercynian folds) एक ही रेखा पर आकर बैठते है। उत्तरी ब्रिटेन के केलिडोनियन मोड़ (Caledonian folds) पश्चिम में हरसीनियन श्रेणियों की ओर झुकते हैं। दक्षिणी वेल्स तथा आयरलैण्ड में ये श्रेणियाँ एक-दूसरे से मिलती हैं और एक-दूसरे को पार करने लगती है। एक-दूसरे को पार करने की यह क्रिया उत्तरी अमरीका में पेन्सिलवेनिया में पूरी होती है। इसी प्रकार पश्चिमी स्विट्सबर्जन की केलिडोनियन श्रेणी पूर्वी ग्रीनलैण्ड तक फैली हुई देखी जाती है।[1]

(4) **डु टोइट** (A. L. Du Toit) ने सन् 1927 मे दक्षिणी अन्ध महासागर के दोनो तटों का भू-गर्भित अध्ययन करते समय उनमे गहरी समानता पायी। उसने देखा कि ब्राजीलाइड (Braxilides) नामक केलिडोनियन मोड ब्राजील से शुरू होते हुए दक्षिणी अफ्रीका के तट तक फैले हुए है। इसी प्रकार गोण्डवानाइड (Gondwandise) नामक मोड़ अर्जेण्टाइना से प्रारम्भ होकर दक्षिणी अफ्रीका के केप प्रान्त तक चले गये है।[2] दक्षिणी अमरीका और दक्षिणी अफ्रीका के दोनों तटों की भू-रचना सम्बन्धी उपरोक्त साम्यता का समाधान विस्थापन द्वारा ही किया जा सकता है। डु टोइट ने यह भी बताया है कि जहाँ भू-गर्भिक समानता नही पायी जाती है तो सम्भव है कि दोनों महाद्वीपों के बीच 400 से 800 किलोमीटर चौड़ा स्थल अपरदन अथवा अवतलन द्वारा विलीन हो गया हो। अन्धमहासागर मे सियाल की उपस्थिति अवतलन की पुष्टि करती है।

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 172

2 *Ibid* : p. 169

(5) महाद्वीपो के विस्थापन के लिए वेगनर ने जिन शक्तियों का उल्लेख किया, उसकी बडी आलोचना की गयी है किन्तु **श्वेडर** (Schweydeı) ने 1916 में महाद्वीपीय विस्थापन का समर्थन करते हुए एक तीसरी शक्ति की खोज की। यह शक्ति **पृथ्वी की धुरी का अग्रचलन** (Precession of the Earth's Axis) सम्बन्धी है। इस शक्ति के द्वारा उसने महाद्वीपों का विस्थापन पश्चिम की ओर तथा विषुवत रेखा की ओर सम्भव बताया।[1]

(6) अन्ध महासागर के दोनो ओर के तटों से **मेसोसौर** (Masosaurs) जन्तु तथा **ग्लोसोपेट्रिस** (Glossopteris) वनस्पति के जो जीवाश्म प्राप्त हुए है, उनमें बहुत अधिक साम्य पाया गया है। ये जीवाश्म भूमि मे जिन चट्टानो से मिले हैं उनमे एकसमान क्रम पाया जाता है। इस प्रकार उत्तरी-पश्चिमी यूरोप एव पूर्वी अमरीका के भागों मे लगभग एकसी वनस्पति और जीवो के अवशेष मिलते है। दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका मे मेसोसौर नामक मछली के जो जीवाश्म प्राप्त हुए है, वे इस बात की ओर निर्देशन करते है कि ये दोनों भू-भाग एक-दूसरे से 4000 मील की दूरी तक जुड़े हुए थे, अन्यथा इनके मध्य मे एक ऐसा स्थल-सेतु था जिसके द्वारा ये जीव स्वतन्त्रता से इधर-उधर आया-जाया करते थे।

√(7) यूरोप मे कुछ ऐसे जीव-जन्तु (जैसे लेमिग्ज) पाये जाते है जो ऋतु विशेष मे पश्चिम की ओर यात्रा करते है। पश्चिम की ओर बहुत दूर पहुँचकर ये अन्ध महासागर के तट पर पहुँच जाते है और इसमे कूदकर अपनी आत्माहुति दे देते है। इन जीवो के इस प्रकार के आचरण मे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ये जीव किसी ऐसे भू-खण्ड की ओर जाना चाहते है जिनसे उनके पूर्वज परिचित थे। किन्तु वह भू-खण्ड अब वहाँ नही है, अत इन जीवो की लीला उस प्रयत्न मे समुद्र मे ही समाप्त हो जाती है। वस्तुत इन जीवो की यह आदत उस समय से चली आ रही है, जबकि उत्तरी अमरीका और यूरोप परस्पर जुड़े हुए थे। उस समय ये जीव ऋतु विशेष में यूरोप से उत्तरी अमरीका को चले जाते थे। आज भी यह देखा जाता है कि कई भारतीय पक्षी ऋतु विशेष मे हिमालय की ओर चले जाते है।

/ (8) वर्तमान समय मे यह ज्ञात हुआ है कि ग्रीनलैण्ड बहुत मन्दगति से कनाडा की ओर विस्थापित हो रहा है। यह निष्कर्ष सन् 1823, 1870 और 1917 मे ग्रीनलैण्ड तथा कनाडा के बीच की दूरी नापकर निकाला गया है। इन निरीक्षणों से यह पता चला है कि ग्रीनलैण्ड और कनाडा के मध्य की दूरी प्रति वर्ष 35 गज कम होती जा रही है। इस आधार पर यह सोचना युक्तियुक्त है कि यदि ग्रीनलैण्ड जैसा विशाल द्वीप खिसक सकता है तो अन्य महाद्वीपों के विस्थापित होने में कौन-सी आश्चर्य की बात है।

√(9) कार्बन कल्प के उत्तरार्द्ध में दक्षिणी भारत, दक्षिणी अमरीका, दक्षिणी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के बहुत-से भाग हिम से ढके हुए थे, जिसके चिह्न आज भी इन महाद्वीपों मे पाये जाते हैं। वर्तमान समय में ये सब एक-दूसरे से हजारों मील दूर है। वेगनर ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए बताया है कि उस समय ये सब महाद्वीप एक ही भू-महाद्वीप पैन्जिया के अंग थे। उस समय दक्षिणी ध्रुव डरबन के समीप था अर्थात पैन्जिया के मध्य मे स्थित था। अत ये सभी स्थल खण्ड सरलता से प्रभावित हो सकते थे। महाद्वीपीय विस्थापन के द्वारा पूर्वकालीन जलवायु के विभेद इस तरह भली प्रकार स्पष्ट हो जाते हैं।

आलोचना

यद्यपि वेगनर ने महाद्वीपीय विस्थापन के द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान प्राप्त करने की चेष्टा की है, किन्तु सभी शंकाओं का समाधान इससे सम्भव नहीं है। फिर भी इतना तो

---

1 *Ibid* : p. 165

मानना ही पड़ेगा कि वेगनर ने हमारे विचारों को नवीन दिशाबोध प्रदान किया है। विद्वानों ने महाद्वीपीय विस्थापन के सम्बन्ध में निम्न आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं :

(1) कई आलोचकों ने इस सिद्धान्त में **साम्य-स्थापन** (Jigsaw-fit) के तत्त्व को दोषी ठहराया है। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न महाद्वीप एक-दूसरे के साथ एक निश्चित सीमा तक ही मिलाये जा सकते हैं। आधुनिक खोजों के अनुसार यदि दक्षिणी अमरीका को अफ्रीका के गिनी-तट से मिलाया जाये तो उनमें 15° का अन्तर रह जाता है।[1] **शूशर्ट** (Schuchert) ने अन्ध महासागर के विपरीत तटों में साधारण साम्य ही माना है जो बिना विस्थापन के भी स्पष्ट किया जा सकता है।

(2) अन्ध महासागर के मध्य में एक अन्त:-समुद्री कटक (Submarine Ridge) पायी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि अमरीका का पूर्वी तट तथा यूरोप एवं अफ्रीका के पश्चिमी तट आपस में सम्बद्ध थे तो फिर यह कटक कहाँ थी ? वस्तुत: यह एक ऐसा भौगोलिक तथ्य है जिससे महाद्वीपों का परस्पर सम्बद्ध होना किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं होता।

(3) विस्थापन के लिए वेगनर ने जिन दो शक्तियों का प्रतिपादन किया है उसकी कई विद्वानों ने बड़ी आलोचना की है। महाद्वीपों के पश्चिम की ओर विस्थापन के लिए ज्वारीय शक्ति का सहारा लिया गया है। किन्तु महाद्वीपों का विस्थापन केवल ऐसी ज्वारीय शक्ति के द्वारा ही हो सकता है जो वर्तमान ज्वारीय शक्ति से 1,000 करोड़ गुनी अधिक हो। प्रथम तो यह नितान्त ही असम्भव है और यदि इसे सम्भव मान भी लिया जाय तो उससे पृथ्वी का परिभ्रमण बन्द हो जायगा।[2]

(4) वेगनर के अनुसार एक प्रवाह विषुवत रेखा की ओर हुआ। यदि यह सही है तो महाद्वीपों को विषुवत रेखा के समीप एकत्रित हो जाना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं पाया जाता।

(5) कई विद्वान वेगनर के इस प्रतिपादन से अब सहमत नहीं हैं कि महाद्वीपों का विस्थापन केवल विषुवत रेखा एवं पश्चिम दिशा को ही हुआ। **एफ० बी० टेलर** (F. B. Taylor) ने दोनों ध्रुवों को विस्थापन का केन्द्र माना है। उसके अनुसार हिमालय, आल्प्स व रॉकीज पर्वत-श्रेणियाँ तथा पूर्वी एवं पश्चिमी द्वीपसमूह सब ऐसे विस्थापन की ही बाह्य सीमाएँ हैं।

(6) **जे० डब्ल्यू० इवान्स** (J. W. Evans) ने अफ्रीका महाद्वीप को ही महाद्वीपों का केन्द्र माना है। उसके अनुसार पैन्जिया के विघटन के बाद महाद्वीपों का विस्थापन अफ्रीका से पूर्व, दक्षिण एवं पश्चिमी प्रशान्त महासागर की ओर हुआ।

(7) भू-गर्भशास्त्रियों का कहना है कि आलगत्व (viscosity) के कारण महाद्वीपों का विस्थापन कदापि सम्भव नहीं है।

(8) वेगनर ने पश्चिमी विस्थापन के कारण रॉकीज तथा एण्डीज पर्वत-श्रेणियों तथा विषुवतरेखीय विस्थापन से आल्प्स तथा हिमालय पर्वत-श्रेणियों की रचना मानी है। किन्तु **विलिस** (Willis) ने यह आपत्ति प्रस्तुत की है कि सियाल से सीमा अधिक दृढ़ है, किन्तु सियाल में शक्ति अधिक है। अत: पश्चिमी विस्थापन द्वारा रॉकीज तथा एण्डीज का निर्माण कदापि सम्भव नहीं है। **बोवी** ने भी सीमा को शक्तिहीन माना है और बताया है कि सियाल का सीमा से टकराकर भंजित होना और वलित पर्वतों का रूप धारण करना यथार्थ प्रतीत नहीं होता। **होम्स** ने यद्यपि पश्चिमी विस्थापन के द्वारा रॉकीज तथा एण्डीज के निर्माण की पुष्टि की है, किन्तु इसमें होम्स की मान्यता वेगनर से भिन्न है। होम्स इन पर्वतों की रचना सियाल के सीमा से टकराने से

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 169

2 S. W. Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline o f Geomorphology*, p. 40

नहीं मानता, अपितु सियाल के विस्थापन के समय विशद भू-अभिनति (Geosyncline) में एकत्रित तलछट के भिंच जाने से ही उनकी रचना हुई है।[1]

(9) वेगनर ने कार्बन कल्प के हिम प्रवाह के साथ-साथ उस काल की ग्लेसो पेट्रिस वनस्पति के वितरण का समाधान करने की भी चेष्टा की। उसके अनुसार यह वनस्पति दक्षिणी अमरीका, दक्षिणी अफ्रीका, फाकलैण्ड द्वीप, भारत, अण्टार्कटिका और आस्ट्रेलिया मे पायी जाती है, क्योकि ये ही स्थल-खण्ड गोडवाना लैण्ड का निर्माण करते थे। किन्तु लेक (Phillip Lake) ने नवीन खोजों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि यह वनस्पति वेगनर द्वारा बताये गये स्थानों के अतिरिक्त कश्मीर, अफगानिस्तान, ईरान तथा साइबेरिया मे भी पायी जाती है।[2] वेगनर का सिद्धान्त इससे असत्य सिद्ध हो जाता है।

(10) कुछ विद्वानो ने यह भी सुझाया है कि यदि वर्तमान वलित पर्वत-श्रेणियो को अपने मूल रूप मे फैला दिया जाये तो महाद्वीपो का जो स्वरूप बनेगा, वह इस सिद्धान्त के अनुरूप नहीं होगा।

(11) कुछ आलोचको का यह प्रश्न कि पैन्जिया का विघटन पुराजीव कल्प मे ही क्यों हुआ ? ऐसा उसके पूर्व अथवा बाद मे क्यों नही हुआ ?

(12) वेगनर ने इस सिद्धान्त की रचना मूलत: पूर्वकालीन जलवायु के विभेदो को स्पष्ट करने के लिए की थी। इस सिद्धान्त से यद्यपि पूर्वकालीन जलवायु के अनेक विभेद स्पष्ट हो जाते है, परन्तु समस्त भेद स्पष्ट नहीं किये जा सकते।

उपरोक्त आलोचना से यह स्पष्ट विदित होता है कि वेगनर का मत काल्पनिक अधिक है और उसमें वास्तविकता कम है। वेगनर द्वारा प्रतिपादित लगभग सभी बातों को असत्य सिद्ध किया जा सकता है। अतः महाद्वीपीय विस्थापन के सिद्धान्त को आज मूल रूप में कोई भी मानने को तैयार नही है, परन्तु फिर भी इसने जो नवीन दिशा-बोध दी है, उसके कारण भूगोल तथा भू-गर्भशास्त्र के क्षेत्र में इसका सदा-सदा के लिए महत्त्व बना रहेगा। जैसा कि स्टीयर्स ने कहा है, "Even if all the matter of his theory is wrong, geologists and other can but remember that it is largely to him that the new orientation of our outlook on world tectonics is due."

डेली का महाद्वीपीय सर्पण का सिद्धान्त
(Daly's Theory of Sliding Continents)

डेली ने सन् 1926 में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *Our Mobile Earth* में धरातल के मुख्य रूपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये। महाद्वीपीय सर्पण (sliding continent) उसके विचारों का केन्द्र-बिन्दु है। उसने अपने मत के प्रतिपादन में गुरुत्वाकर्षण शक्ति का आश्रय लिया जो ज्वारीय शक्ति, पुरस्सरण गति (precessional motion) तथा अन्य शक्तियों से सर्वथा भिन्न है। डेली के विचार बहुत ही सरल और सुलझे हुए है तथा समस्या के समाधान में एक नवीन दिशा प्रदान करते हैं।

डेली की मान्यता है कि प्राचीन समय में धरातल पर अनेक कठोर पिण्ड थे जो कि सामान्यत: विषुवत रेखा और ध्रुवों के निकट स्थित थे। इन तीनों कठोर भू-खण्डों के मध्य मे महासागरीय भाग थे। उत्तरी गोलार्द्ध में टेथिस महासागर भू-गर्भिक काल के अधिकांश समय तक वर्तमान था। दक्षिणी गोलार्द्ध के विषय में बहुत कम ज्ञान है। स्थल भागों के अतिरिक्त संसार

---

1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 166

2 *Ibid*, p. 173

हो जायगा और गुम्बद पर विशेष तनाव उत्पन्न होगा। फलस्वरूप गुम्बद के कुछ भाग खण्डित होकर भू-अभिनति की ओर खिसकने लगेंगे।

"If this is so, a great part of the support of the dome disappears and strong tentional movements must be set up in it, so that large blocks of continental dimensions, may be caused slowly to slide towards geosynclines."[1]

इस प्रकार भू-अभिनति मे महाद्वीपीय खण्डो के फिसलने से उसके अवसाद पर खिंचाव उत्पन्न होगा जिससे अवसाद में मोड पड जायेंगे। कुछ अवसाद मुड़कर बाहर निकल आयगी। यही पर्वतो की रचना का श्रीगणेश होगा।

डेली ने अधःस्तर को गरम कांच की प्रकृति के समान बेसाल्ट से निर्मित माना है। ऐसा पदार्थ महाद्वीपीय खण्डो के फिसलने मे नगण्य-सा अवरोध डालेगा। वस्तुत: अधःस्तर को फिसलन (slippery) वाला ही माना गया है। डेली के अनुसार अधःस्तर भू-पटल की अपेक्षा कम सघन है। अत: जब भू-अभिनति की तली टूट जायगी तो महाद्वीपीय खण्ड टूटकर भू-अभिनति मे फिसल जायेंगे और अधःस्तर में डूब जायेंगे। महाद्वीपीय खण्ड के डूब जाने पर उनके आयतन के समान अधःस्तर का बेसाल्ट ऊपर आ जायगा। बेसाल्ट तत्त्व स्निग्ध होने के कारण फिसलन क्रिया के अनुकूल आचरण करेगा, क्योकि भू-अभिनति का अवसाद बेसाल्ट से हल्का होगा जिससे वह उसमे तैरता रहेगा। इस प्रकार फिसलने की क्रिया जितनी अधिक होगी उनमे मोड़ पड़ने की क्रिया भी उतनी अधिक होगी।

समीक्षा

भू-पटल के अध्ययन से इस सिद्धान्त की सत्यता के अनेक प्रमाण ज्ञात होते हैं। जैसे .

(1) पृथ्वी के संकुचन के अतिरिक्त पृथ्वी की परिभ्रमण गति में कमी होना भी भूपटल के रूप को निर्धारित करने में योग देता है। डेली के सिद्धान्त को इस प्रमाण से अतिरिक्त बल प्राप्त होता है।

(2) धरातल की मुख्य पर्वत-श्रेणियों के वितरण की व्याख्या इस सिद्धान्त द्वारा सरलता से हो जाती है। आल्प्स एवं हिमालय पर्वत-श्रेणियाँ मध्य अक्षांशीय भू-अभिनति की ओर स्थल पिण्डों के फिसलन के कारण और प्रशान्त महासागर के चारों ओर की तटीय पर्वत-श्रेणियाँ स्थल पिण्डों के प्रशान्त महासागर की ओर फिसलन के कारण हुई है।[2]

(3) पर्वत-निर्माण का एक और तथ्य इस सिद्धान्त द्वारा प्रमाणित होता है। यदि भू-अभिनति के अवसाद सम्पीडित होते हैं और उसका कुछ भाग अधःस्तर में धकेल दिया जाता है तो उसके नीचे के भाग गरम होकर फैलेंगे। फलस्वरूप सम्पीडित पदार्थ ऊपर उठेगा और इस तरह पर्वत-निर्माण की दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रिया पूर्ण होगी। इसकी तुलना जोली की योजना से करना बड़ा ही रोचक है। पर्वतों के निकट धँसे पिण्डों पर वैसा ही प्रभाव होगा। अर्थात पर्वतों की जड़ों के फैलने से ऊपरी सतह मे उत्थान होगा। इससे मोड़दार (tilted) मैदानों की उत्पत्ति होती है जो प्राय: पर्वत-श्रेणियों के निकट पाये जाते है।[3]

(4) अन्ध महासागर, हिन्द महासागर एवं आर्कटिक महासागर में पूर्वकालीन तनाव के चिह्न मिलते है। इससे प्रकट होता है कि इन स्थानों पर गुम्बदाकार महाद्वीपीय खण्ड तनाव द्वारा खण्डित हुए थे। इसके विपरीत प्रशान्त महासागर मे सम्पीडन के प्रमाण मिलते है। स्पष्ट है कि इस ओर महाद्वीपीय खण्डों का फिसलन हुआ है।

1 *Ibid.*, p. 188
2 *Ibid.*, p. 190
3 *Ibid.*, p. 190

(5) एशिया के पूर्वी तट पर स्थित द्वीपमालाओं की उत्पत्ति भू-अभिनति के अवसाद में मोड़ पडने से हुई है।[1]

(6) द्वीपों के सम्मुख महासागरीय गर्त (ocean deeps) भू-अभिनति के तल में दबाव पड़ने एवं स्थल खण्डों के फिसलने के कारण बने है। ये अग्र गर्त (fore deep) पृथ्वी के पपड़े की शक्ति के कारण विद्यमान है।[2]

(7) विभिन्न महाद्वीपों मे एकसमान जीव तथा वनस्पति के वितरण को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त के अनुसार स्थल सेतुओं (land bridges) की आवश्यकता नही है।

(8) इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्व-काल मे स्थल भाग अलग-अलग महाद्वीपो में विभाजित नही था। दक्षिणी गोलार्द्ध में गोण्डवाना एक स्थल-खण्ड था। इसी कारण कार्बन कल्प के हिमावरण के चिह्न दूरस्थ महाद्वीपो पर पाये जाते है। गोण्डवाना के कुछ भाग टूटकर अलग हुए होगे।

(9) डेली ने प्रशान्त महासागर की रचना को अन्य महासागरो से भिन्न बताकर एक बड़ी समस्या का नवीन समाधान प्रस्तुत किया है।

(10) महाद्वीप और महासागरों की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए डेली ने महाद्वीपों के वहन (drift) को अस्वीकार किया है। इसके विपरीत उसने बताया है कि किसी स्थान पर गुरुत्व बढ़ जाने से महाद्वीप खण्डित होते है। इस प्रकार खण्डित महाद्वीप के खण्डों के मध्य महासागर बने। अन्ध व हिन्द महासागर के तलो में उपस्थित हल्का सियाल पदार्थ सम्भवतः महाद्वीपीय फिसलन के अवशेष अंश ही है।

(11) डेली ने भू-पटल की विषमताओ की व्याख्या महाद्वीपीय फिसलाव से की है। जीन्स तथा जैफ्रे के अनुसार आकर्षण-शक्ति एवं परिभ्रमण के कारण भू-पटल को समतल होना चाहिए परन्तु वास्तव में भू-पटल विषम होता है। इस प्रकार जीन्स तथा जैफ्रे के सिद्धान्त की त्रुटियों का समाधान डेली के इस मत से हो जाता है।

आपत्तियाँ

(1) यह सिद्धान्त एक प्रकार से संकुचन (contraction) पर ही आधारित है, क्योंकि तनाव, भिचाव और फिसलन आदि क्रियाएँ संकुचन के ही विभिन्न रूप है। संकुचन पर आधारित होने से इस सिद्धान्त मे भी वे सारे दोष है जो सकुचन सिद्धान्तो में पाये गये है।

(2) पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कम हो जाने से पृथ्वी के भू-पटल का जिस ढंग से विकास हुआ है उसको कही नही समझाया गया। भूकम्प-विज्ञान के प्रमाण डेली की परिकल्पना के विपरीत है।

(3) पैन्जिया और पेन्थालेसा की उपस्थिति एक कल्पना लगती है।

(4) डेली ने भू-पटल के विघटन के लिए जिन शक्तियो का आश्रय लिया उसने उनकी कोई व्याख्या नहीं की।

(5) भू-गर्भ की आन्तरिक संरचना के सम्बन्ध में डेली के विचार आधुनिक वैज्ञानिक धारणाओ से मेल नहीं खाते। डेली ने भू-पटल का घनत्व पृथ्वी के भीतरी बेसाल्ट से अधिक माना है जो आधुनिक भू-गर्भित विचार के बिलकुल विपरीत है।

अन्त मे स्टीयर्स के शब्दों मे यही कहना उचित होगा कि "There much that is extremely speculative in this theory : Daly would not claim more for it. But it is highly suggestive. In the present state of our knowledge is practically

---

1 *Ibid.*, p. 191

2 *Ibid.*

impossible to make any pertinent criticisms of his suggested Pangaea and Panthalasa, at best it can only be said that their existence is possible."

होम्स का संवहन धारा सिद्धान्त
(Holm's Convection Current Theory)

भू-गर्भ मे होने वाली रेडियोधर्मिता (radio-activity) के आधार पर होम्स ने सन् 1928-29 में एक नवीन मत का प्रतिपादन किया। यह मत संवहन धारा सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। भू-पटल के प्रमुख भू-आकारों की उत्पत्ति को स्पष्ट करने वाले मतों मे होम्स का मत बड़ा ही तर्कपूर्ण और नवीनतम है।

होम्स के विचार भू-पटल की शैलों में पाये जाने वाले रेडियोधर्मी पदार्थो पर आधारित है। रेडियोधर्मी तत्त्व स्वतः विखण्डित होकर भू-गर्भ मे ताप उत्पन्न करते है। इन तत्त्वो मे यूरेनियम, थोरियम और पोटैशियम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये तत्त्व पृथ्वी के अध स्तर की अपेक्षा भू-पटल में अधिक पाये जाते है। होम्स के अनुसार भू-पटल की रचना दो परतो से हुई है, ऊपरी सियाल परत तथा निचली सियाल परत। इन दोनों परतो के नीचे अध.स्तर (substratum) है जो द्रवित अवस्था मे है। महासागरो की तली मे सियाल की ऊपरी परत कहीं नही पायी जाती। अन्ध महासागर एव हिन्द महासागर की तली मे यत्र-तत्र कही ऊपरी सियाल के चिह्न दृष्टिगोचर होते है। सियाल की निचली परत तथा अध.स्तर होम्स के अनुसार महाद्वीप और महासागरों के नीचे समान रूप से फैले हुए है।[1]

होम्स की मान्यता है कि भू-गर्भ मे रेडियोधर्मिता के कारण इतना ताप विकसित होता है कि उसके फलस्वरूप अधःस्तर मे सवहन धाराएँ चलने लगती है। यही होम्स के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु है। सामान्यतः पृथ्वी की ऊपरी सियाल परत से प्रतिवर्ष 60 कैलोरी ताप प्रति वर्ग सेण्टीमीटर विकीर्ण होकर शून्य मे नष्ट होता रहता है। शून्य मे नष्ट होने वाले इस ताप की मात्रा 14 किलोमीटर मोटी ग्रेनाइट परत, 16·5 किलोमीटर मोटी ग्रेनोडोराइट परत, 52 किलोमीटर मोटी बेसाल्ट या ग्रेबो परत तथा 60 किलोमीटर मोटी पीरिडोटाइट परत के द्वारा उत्पन्न रेडियोधर्मी ताप के बराबर होती है।[2] चूँकि रेडियोधर्मी पदार्थ पृथ्वी के भू-पटल के समीप अधिक केन्द्रित है, अतः भू-पटल से नष्ट होने वाले ताप की क्षतिपूर्ति 60 किलोमीटर मोटी धरातलीय परत के द्वारा हो सकती है।[3] जैफ्रे ने बताया है कि यदि पृथ्वी के भीतर 2900 किलोमीटर की गहराई तक रेडियोधर्मी पदार्थ समान रूप से वितरित हो तो 50 किलोमीटर के नीचे का भाग कदापि ठोस नही हो सकेगा। होम्स की धारणा है कि पृथ्वी के अध स्तर में भी अल्प मात्रा में रेडियोधर्मी पदार्थ उपस्थित हैं। यदि इनकी मात्रा बेसाल्ट की 1/700वाँ भाग भी हो तब भी अधःस्तर मे संवहन धाराएँ उत्पन्न हो जायेगी। दूसरे शब्दो में, भू-पटल से नष्ट होने वाले ताप की मात्रा अध.स्तर मे उत्पन्न ताप की मात्रा से कम होगी जिससे अध.स्तर में ताप का संचय होने लगेगा। यदि ये सब मान्यताएँ सत्य हैं तो धरातल पर कुछ ऐसी हलचल होनी चाहिए ताकि अतिरिक्त ताप धरातल से नष्ट हो जाये, अन्यथा पृथ्वी के ऊपर किसी भी समय महाविनाश हो जायगा।

भू-पटल में अधिक काल तक ताप के संचय से तापमान की प्रवणता (Temperature gradient) मे वृद्धि होगी। भू-पटल के ऊपर तब तक स्थिर अवस्था बनी रहेगी जब तक कि

---

1 *Ibid.*, p. 193
2 *Ibid.*
3 *Ibid.*

तापमान की प्रवणता 3° सें० प्रति किलोमीटर से बढ नहीं जाती। जब तापमान की प्रवणता इस सीमा से अधिक हो जायगी तो अध स्तर में संवहन धाराएँ चलनी प्रारम्भ हो जायेंगी। ये धाराएँ नीचे से ऊपर को चलेगी। इन संवहन धाराओं का प्रवाह निम्न दो बातों पर आधारित होगा—(1) भूमध्य रेखा से ध्रुवो तक अध.स्तर की विभिन्न मोटाई, (2) भू-पटल की विभिन्न मोटाई और उसमें रेडियोधर्मी पदार्थो की मात्रा।

हमारी पृथ्वी ध्रुवो पर चपटी है। अत. ध्रुवों की अपेक्षा विषुवतरखीय भाग में भू-पटल अधिक मोटा है। फलस्वरूप सवहन धाराएँ यहाँ नीचे से ऊपर को तथा ध्रुवों पर ऊपर से नीचे को चलेंगी। विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर चलने वाली सवहन धाराएँ अपने साथ भू-पटल को भी बहा ले जायेंगी। चूँकि निचली धाराओ की अपेक्षाकृत ऊपरी धाराओ की गति मन्द होती है, इसलिए ऊपरी भाग मे दरारें पड़ जायेंगी। मेसोजोइक कल्प में 'टेथिस' की उत्पत्ति सम्भवत: मूल विषुवतरेखीय महाद्वीप के सवहन धाराओ द्वारा दो भागों मे विभाजित हो जाने से ही हुई होगी। "The Tethys is regarded as being due to a force tending to pull the original equatorial continents apart, and that force may be the 'planetary, convective currents."[1]

महाद्वीपीय भागों के नीचे महासागरों की तली की अपेक्षाकृत रेडियोधर्मी ताप अधिक होगा। अत. महाद्वीपो के नीचे संवहन धाराओ का आविर्भाव हो जायगा। ये धाराएँ नीचे से ऊपर को उठेगी तथा महासागरो की ओर अग्रसर होगी। महासागरो के नीचे भी इसी प्रकार निर्बल संवहन धाराएँ उत्पन्न होगी, जो महासागरों के तटो की ओर गतिशील होंगी। महाद्वीपो के नीचे से तथा महासागरों के नीचे से आने वाली धाराएँ महाद्वीपीय मग्नतट के नीचे परस्पर मिलकर ऊपर से नीचे को चलेगी। इस प्रकार संवहन धाराओ मे जटिलता बढ़ती जायगी और उनकी उत्पत्ति एक से अधिक स्थानो पर सम्भव हो सकेगी। संवहन धाराओं का इस प्रकार विश्वव्यापी क्रम (Planetary convective currents) स्थापित हो जायगा।

चित्र 68—संवहन धाराओं का प्रवाह

महाद्वीपीय मग्नतटों के समीप जहाँ दो भिन्न दिशाओं (महाद्वीपों एवं महासागरों) से आने वाली संवहन धाराएँ परस्पर मिलती हैं, वहाँ अत्यधिक भिचाव उत्पन्न हो जायगा। इस भिचाव से एम्फीबोलाइट (Amphibolite) परत की मोटाई बढती जायगी। फलस्वरूप दबाव मे वृद्धि होगी जिससे चट्टानें कायान्तरित होकर अधिक घनत्व (3 से 3·4) की हो जायेंगी। ग्रेनाइट चट्टाने अधिक घनत्व वाली इक्लोगाइट (Eclogite) में परिणत हो जायेंगी। भू-सन्तुलन के नियमानुसार इस प्रक्रिया से अवतलन (subsidence) होगा, जिससे नीचे की ओर चलने वाली धाराएँ और भी तीव्र हो
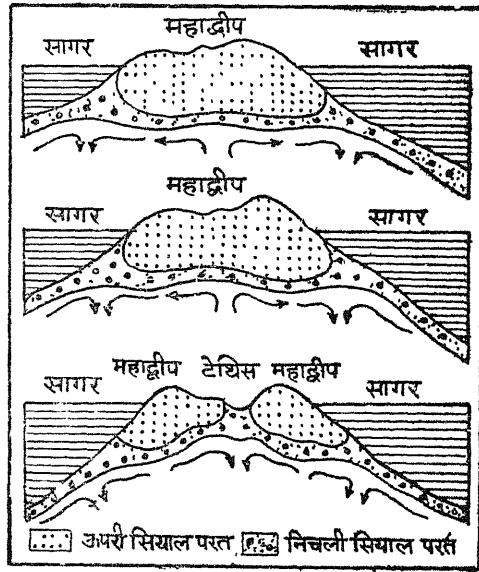
1 J. A. Steers : *The Unstable Earth*, p. 194

जायेंगी । महाद्वीपों के नीचे से चलने वाली धाराएँ महाद्वीपों के सीमावर्ती भागों मे सियाल का उत्तरोत्तर निक्षेप करती जायेंगी । इस प्रकार पर्वत-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो जायगा । किन्तु पर्वतो के मूल (mountain 1oots) का घनत्व अध.स्तर से कम होगा इसलिए वे उसमें डूब नही सकेंगे और स्वय द्रव की अवस्था मे परिवर्तित होकर सम्भवत· प्रशान्त महासागर के चारो ओर होने वाली ज्वालामुखी क्रिया के समान आग्नेय क्रिया को जन्म देगे । इस प्रकार पर्वतो का निर्माण चट्टानों के प्रवाह द्वारा होता है । होम्स के शब्दों मे, "Mountain-building occurs as a result of rock-flowage set in operation by the underlying current, it will generally occur provided that the horizontal component of flowage is greater from behind that in front."[1]

महाद्वीपो के नीचे-ऊपर उठने वाली धाराएँ एक-दूसरे से पृथक होगी, वहाँ भारी उथल-पुथल होगी । महाद्वीप के दो भाग एक-दूसरे के विपरीत दिशा मे वह जायेंगे । इस प्रकार महाद्वीप
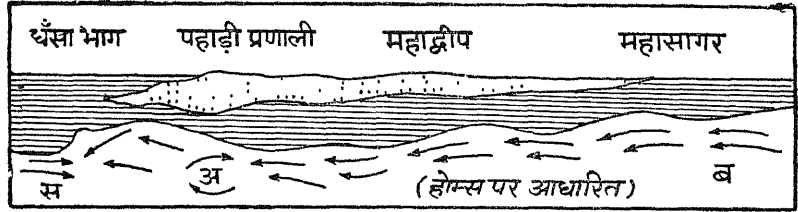
चित्र 69—संवहन धाराओं की उत्पत्ति

क्रमशः पतले होकर खण्डित हो जायेगे, जिससे अधःस्तर मे एकत्रित ताप बाहर निकल जायगा । खण्डित स्थान पर भू-अभिनति (Geo-syncline) की दशा उत्पन्न होगी । इस भू-अभिनति में महाद्वीप के खण्डित भागों की तलछट का निक्षेप होने लगेगा । तलछट के उत्तरोत्तर निक्षेप से अवतलन होगा । संवहन धाराओं का प्रवाह महाद्वीपों से महासागरों की ओर तथा महासागरों
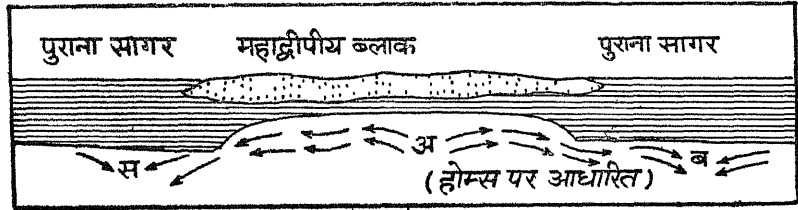
चित्र 70—संवाहन धाराओं का महाद्वीपों से सम्बन्ध
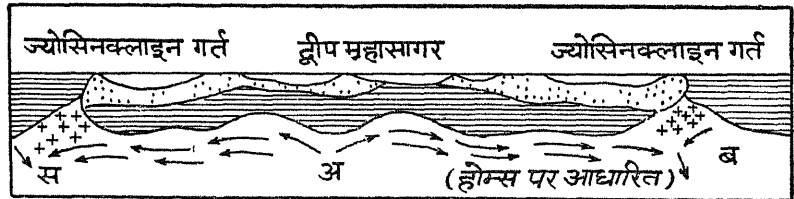
चित्र 71—संवाहन धाराओं का महासागरों से सम्बन्ध

से महाद्वीपों की ओर होने के कारण भू-अभिनति पर धरातलीय दबाव पड़ेगा जिससे उसमें एकत्रित तलछट मुड़कर पर्वतों का निर्माण करेगी ।

---

1 *Ibid.* : p. 196

इस प्रकार पर्वत-निर्माण हो जाने के पश्चात पर्वतों की जड़ें नीचे अध.स्तर में धँसेंगी जिससे तापमान की प्रवणता बढ़ जायेगी। फलस्वरूप महाद्वीप के किनारों की ओर ताप का संचालन तीव्र गति से होगा। इस प्रकार महाद्वीपो के तटवर्ती भाग आगे की ओर खिंच जायेंगे और पतले हो जायेंगे। कालान्तर में महाद्वीपों के ये परवर्ती भाग धाराओ की गति से अवतलित होकर पूर्णतः लुप्त हो जायेंगे।

धाराओं द्वारा बाहर की ओर तापमान संचालन के तीव्र हो जाने पर इक्लोगाइट का निर्माण बन्द हो जायगा। जब इक्लोगाइट का निर्माण नही होगा तो अवतलन की क्रिया भी समाप्त हो जायगी। फलस्वरूप भू-अभिनति ऊपर उठ जायगा अथवा समाप्त हो जायेगा और उसमे निर्मित मोड़ों का भी उत्थान हो जायगा। इक्लोगाइट का निर्माण समाप्त हो जाने पर तापमान की प्रवणता घट जायगी जिससे धाराओं की गति पुनः कम हो जायगी। पर्वतों के मूल के नीचे एक लघु तरग-क्रम का आविर्भाव होगा। साथ ही साथ महासागरो की बनी नवीन तली के शीतल होने से इसके नीचे-ऊपर उठने वाली धाराएँ भी क्षीण हो चलेगी। इस प्रकार सवहन धाराओ का आदि-क्रम समाप्त हो जायगा। इसके स्थान पर एक नवीन तरग-क्रम का जन्म होगा जो नवीन परिस्थितियो के अनुकूल स्थापित हो जायगा। यह सब हो जाने के उपरान्त महाद्वीप पुनः एक-दूसरे के निकट लाये जा सकते है। इस सिद्धान्त के अनुसार टेथिस महासागर की उत्पत्ति संवहन धाराओं द्वारा मूल विषुवतरेखीय स्थल-खण्ड के खण्डित हो जाने के कारण हुई। इस स्थल-खण्ड के टूटने पर अफ्रीका और यूरोप दो अलग महाद्वीप बने। कालान्तर में इन दोनों महाद्वीपों के नीचे दो भिन्न तरंग-क्रमों का जन्म हुआ जिसके कारण ये दोनो महाद्वीप पुनः निकट आने लगे। इन दोनों के निकट आने से टेथिस भू-अभिनति पर भिचाव पड़ा जिससे आल्प्स तथा हिमालय पर्वतों की रचना हुई।[1]
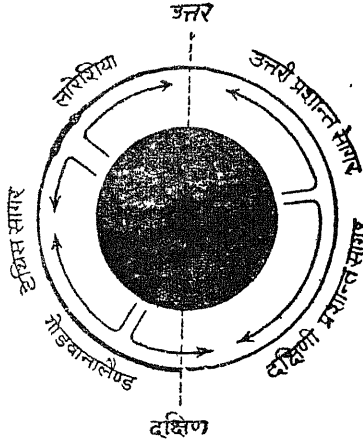
चित्र 72—होम्स के अनुसार महाद्वीपों की स्थिति

होम्स ने महाद्वीपीय वहन में विश्वास करते हुए इस विचार को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत किया है। अन्य विचारकों के विपरीत होम्स ने महाद्वीपीय वहन का कारण संवहन धाराओं को माना है। होम्स का पूर्ण विश्वास है कि महाद्वीपीय वहन के बिना कुछ समस्याओं का समाधान कदापि सम्भव नहीं है।

आलोचना

(1) होम्स के अनुसार पुराजीव महाकल्प (Paleozoic Age) के अन्त मे भू-पटल पर लॉरेंशिया तथा गोंडवाना नामक दो स्थल-खण्ड थे। इनके मध्य मे टेथिस महासागर था। शेष भू-पटल पर प्रशान्त महासागर विस्तृत था। दोनों स्थल-खण्डो के नीचे संवहन धाराओं का क्रम प्रारम्भ हुआ जिनकी गतिशीलता टेथिस और प्रशान्त महासागर की ओर थी। इन सवहन धाराओं के कारण ही स्थल-खण्ड उत्तर की ओर खिसके तथा जल-खण्ड दक्षिण की ओर (दक्षिणी गोलार्द्ध में जल की ही अधिकता है)।

---

1 *Ibid.*, p. 198

(2) इस समय दक्षिणी ध्रुव वर्तमान नेटाल के समीप था। इसी कारण कार्बन युग में हुए हिम-प्रवाह के चिह्न दक्षिणी गोलार्द्ध के लगभग सभी स्थल भागो मे पाये जाते है।

(3) गोण्डवाना स्थल-खण्ड के विघटन से हिन्द महासागर बना। भारत का प्रायद्वीप उत्तर की ओर तथा आस्ट्रेलिया और अण्टार्कटिका दक्षिण की ओर खिसके।

(4) लॉरेशिया के खण्डित होने से अन्ध महासागर की उत्पत्ति हुई और स्थल के वहन से रॉकीज पर्वत-क्रम तथा पश्चिमी द्वीपसमूह का आविर्भाव हुआ।

(5) हिमालय तथा एण्डीज का उत्थान भी गोण्डवाना स्थल-खण्ड के टेथिस और प्रशान्त की ओर प्रवाहित होने से हुआ। इनका उत्थान आज भी जारी है।

इस प्रकार होम्स ने महाद्वीप और महासागरो की उत्पत्ति तथा पर्वतों की रचना के सभी तथ्यों को संवहन धाराओ के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त को ज्यो का त्यों मान लेने मे विद्वानो ने कई आपत्तियाँ प्रस्तुत की है।

आपत्तियाँ

(1) गोण्डवाना स्थल-खण्ड मे पायी जाने वाली ग्लोसोपेट्रिस (Glossopetris) वनस्पति अफगानिस्तान तथा साइबेरिया मे पायी गयी है। इसके वितरण को इस सिद्धान्त के आधार पर प्रमाणित कर सकना कठिन है।[1]

(2) होम्स ने भू-पटल के अनेक भू-आकारो जैसे भू-अभिनति, मध्य पिण्ड तथा भ्रंश-घाटियों के निर्माण को संवहन धाराओ के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है, किन्तु यह निर्विवाद है कि उसके कुछ सुझाव बहुत ही सत्य है।[2]

(3) यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत ही रोचक है, किन्तु यह ऐसी बातो पर आधारित है जिसके बारे में बहुत कम ज्ञान प्राप्त है।

(4) होम्स का सिद्धान्त संवहन धाराओं पर आधारित है, किन्तु अभी भी अधःस्तर में इनकी उपस्थिति के बारे मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता है।[3]

(5) यदि अधःस्तर मे इनकी उपस्थिति मान भी ली जाय तो क्या धाराएँ इतनी प्रबल हैं कि वे महाद्वीपों को खण्डित करके बहा सकें।

उपरोक्त आपत्तियों को देखते हुए इस सिद्धान्त को स्वीकार कर सकना कठिन है। फिर भी अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा यह अधिक पूर्ण है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता को स्टीयर्स ने इंगित किया है : "The attractiveness of the theory lies in the almost unlimited movements which are made possible by it."[4]

महासागरीय द्रोणियों का स्थायित्व
(Permanency of Ocean Basins)

भू-पटल के प्रारम्भिक स्थल रूप—महाद्वीप और महासागर—क्या आदि अवस्था से अपनी वर्तमान स्थिति मे रहे हैं? उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक लोगों की आम धारणा इसके पक्ष मे ही रही। लोगों का यह विश्वास था कि जब सर्वप्रथम पृथ्वी के स्थायी भू-पटल का निर्माण हुआ तो वह विशाल ऊँचाइयों और अतल गहराइयों के रूप में विभक्त हो गया। उस समय के वायुमण्डल मे विद्यमान वाष्प सघन होकर धरातल की अतल गहराइयों को जल में

---

1 *Ibid* : p. 200
2 *Ibid* : p. 120
3 *Ibid*
4 *Ibid*

प्लावित करने लगी, जो बाद में महासागरों के रूप में सामने आये। उसी समय में ये महासागर पृथ्वी की आवर्तन की धुरी की दृष्टि से (with respect to the earth's axis of rotation) आज भी अपनी उसी प्राचीन जगह को घेरे हुए है।

उपरोक्त धारणा के अनुसार यह सोच लेना गलत होगा कि पृथ्वी के भू-पटल पर जल और थल का वितरण और उनका आकार सदा से वही रहा है जो आज हमे दिखाई देता है, क्योंकि यह सबको विदित है कि स्थल के बहुत-से भाग ऐसी चट्टानो—चूने की चट्टानें (lime stone), बालू का प्रस्तर (sand stone) और पंक-निर्मित चट्टाने (mud stone) आदि से बने हुए है जो अवसादी चट्टाने कहलाती है और जिनका निर्माण समुद्र के छिछले भागो मे तलछट के निक्षेप के कारण हुआ है। फिर कुछ अवसादी चट्टानो मे ऐसे जन्तुओं के अवशेष पाये जाते है जो स्पष्ट ही अपने स्वभाव मे समुद्री रहे है। अत. ऐसी सब चट्टाने अवश्य ही समुद्र की तली में बिछी होगी। आज अवसादी चट्टानो के विस्तृत क्षेत्र सभी महाद्वीपो के ऊपर फैले हुए है। यही नही, वे गिरि पदो और गिरि शिखरो पर भी समान रूप से पायी जाती है। अत. यह स्पष्ट है कि बहुत सारे प्रदेश जो शुष्क भूमि रहे है और है, विगत काल में कभी न कभी अवश्य ही समुद्र के अक मे सोये रहे होगे।

अतीत मे कई बार समुद्र का स्थल पर अतिक्रमण हुआ था। भू-गर्भिक इतिहास से विदित होता है कि उत्तरी अमरीका का बहुत-सा भाग क्रिटेशस युग (Cretaceous Period) मे समुद्र का केन्द्र-स्थल रहा। इन समस्त परिवर्तनों के बाद भी महासागरो के अथाह गहरे नितल (deep ocean beds) सदा ही समुद्र के अग रहे है अर्थात पृथ्वी के विशाल निम्न प्रदेश (regions of earth depression) रहे है। इसके विपरीत महाद्वीपीय भू-खण्ड कभी भी समुद्र द्वारा पददलित नही हुए। उपरोक्त तथ्यो के आधार पर भू-गर्भवेत्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि महासागरीय द्रोणियो की तुलना में महाद्वीपीय भू-खण्ड सदा से पृथ्वी के उच्च भू-भाग रहे है। महाद्वीपीय मग्नतट सदैव से अस्थायी प्रदेश रहा है। कभी वह समुद्र के तले के रूप मे और कभी शुष्क भूमि के रूप मे बदलता रहा। इस प्रकार जल और स्थल की सही रूपरेखा और आकार मे बड़े-बड़े परिवर्तन होते रहे है, किन्तु जहाँ तक धरातल के प्रमुख भू-आकारो—महाद्वीपों और महासागरों—का प्रश्न है वे आज भी अपने मूल स्थान पर स्थित है।

महाद्वीपीय और महासागरीय द्रोणियों के स्थायित्व का प्रतिपादन सर्वप्रथम 1846 में **डाना** (Dana) नामक भू-गर्भशास्त्री ने किया था। उसने बताया कि महाद्वीपों और महासागरों में स्थानान्तरण कभी नही हुआ। पृथ्वी के इन प्रधान स्थल रूपो का विन्यास सदा स्थायी रहा है। जिन प्रमाणों से महासागरीय द्रोणियों के स्थायित्व का समर्थन होता है, उनमें कुछ इस प्रकार है :

(1) महासागरीय द्रोणियों में मूलतः पेट्रोपोड, ग्लोबीजरीना, डाइटम और रेडियोलेरियन पंक (oozer) एव लाल मृत्तिका (red clay) के निक्षेप मिलते है। किन्तु भू-पटल पर ऐसी कोई अवसादी चट्टाने नहीं पायी जाती जो इन पकों (oozer) और मृत्तिकाओ से बनी हुई हो। धरातल पर ऐसी चट्टानो का चिह्न भी देखने को नही मिलता। अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि महासागरीय द्रोणियाँ भू-गर्भिक कालो के बीच कभी भी शुष्क स्थल नही रही।

(2) प्रायः सभी महाद्वीपो मे प्राचीन कठोर भूमि (shield lands or nuclear regions) विद्यमान देखी जाती है। उदाहरणत, उत्तरी अमरीका, ब्राजील, साइबेरिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया सभी महाद्वीपों मे ऐसी भूमि है। ये भू-पृष्ठ के ऐसे प्रदेश है जो बहुत अधिक कठोर हैं और जिनके ऊपर पर्वत-निर्माणकारी शक्तियो—जिनसे पृथ्वी के कमजोर भागो मे अधिकतर पर्वतों का निर्माण हुआ है—का कोई प्रभाव नही हुआ। अतः भू-पृष्ठ के ये कठोर भू भाग ऐसे चिह्न है जो यह सिद्ध करते है कि ये प्रदेश अपने स्थान पर स्थिर रहते है।

(3) यदि हम जल और स्थल के पूर्व वितरण और बनावट को देखें तो यह ज्ञात होगा कि पहले पृथ्वी के ऊपर जल की मात्रा आज की तुलना में काफी कम थी।

(4) पूर्व-काल में गम्भीरसागरीय मैदानों (deep sea plain) के उन्मज्जन से महाद्वीप कभी नहीं बने। जब कभी नवीन द्वीप अस्तित्व में आये हैं, तो वे उथले महाद्वीपीय मग्नतट के ऊपर ही बने।

(5) समुद्रों मे ज्वालामुखी उद्‌गार के समय पैठिक लावा (Basic lava) अर्थात बेसाल्ट चट्टानों से निर्मित लावा ही अधिक मिलता है। भूकम्प की लहरो के प्रमाण तथा आकर्षण-शक्ति के निरीक्षणों से भी यह प्रकट होता है कि महासागरों की तली भारी बेसाल्ट चट्टानों से बनी है। महाद्वीपीय चट्टानें इनकी तुलना मे हल्की है। ऐसी दशा में यदि महासागरो की तली महाद्वीप का भाग बनाती है तो उसमे भारी रासायनिक और भौतिक परिवर्तन अवश्य होंगे।

(6) सन्तुलन सिद्धान्त के अनुसार हल्के महाद्वीपीय भागों का भारी सीमा के नीचे डूबना भौतिक रूप से असम्भव लगता है।

उपरोक्त प्रमाणों के आधार पर भू-गर्भशास्त्रियों को यह विश्वास हो गया था कि महासागरीय द्रोणियाँ निश्चय ही स्थायी रही है। परन्तु 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे महासागरीय द्रोणियो के स्थायित्व के सम्बन्ध में भू-गर्भशास्त्रियो एवं प्राणिकीविदो (Biologists) का विश्वास जाता रहा। उस समय प्राकृतिक चुनाव (natural selection) द्वारा जीवन विकास (organic evolution) का सिद्धान्त मान्य हो चुका था। अतएव जीव-जन्तुओं (organisms) के भौगोलिक वितरण का संसारव्यापी अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के फलस्वरूप कई ऐसे तथ्य सामने आये जिनको कि महासागरों के स्थायी होने के सिद्धान्त पर स्पष्ट नही किया जा सकता था। उदाहरणत: अन्धे सर्प और कुछ विशेष जाति की तितलियाँ केवल दक्षिणी महाद्वीपो में ही पायी जाती है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया का थैली वाला विशेष जीव (कंगारू) चिली मे जीवित अवस्था मे पाया गया तथा दक्षिणी अमरीका के अन्य भागों में उसके जीवाश्म (fossils) प्राप्त हुए है। इसके विपरीत उत्तरी गोलार्द्ध में इस जीव के कोई चिह्न नही मिलते। इन्ही तथ्यो से प्रभावित होकर तथा महाद्वीपीय वहन की आलोचना के समाधान हेतु **ग्रेगरी** (J. W. Gregory) ने सन् 1929 मे महाद्वीपों के बीच **स्थल सेतुओं** (Land bridges) की उपस्थिति का सुझाव रखा। उसने नयी और पुरानी दुनिया में वनस्पति और जीव-जन्तुओं के वितरण की व्याख्या हेतु कई स्थल सेतुओं पर विस्तार से विचार किया। उसने उत्तरी तथा दक्षिणी अन्ध महासागर की उत्पत्ति स्थल सेतुओं के अवतलन द्वारा ही मानी है।

चित्र 73—महाद्वीपों के बीच स्थल सेतु

प्रमाण

(1) उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में भ्रंशन तथा अवतलन के प्रमाण मिलते है। आइसलैण्ड तथा स्कॉटलैण्ड में लावा प्रवाह भ्रंशन और अवतलन का ही परिणाम है। अन्ध महासागर

के मध्य-पूर्वी भाग मे स्थित ज्वालामुखी द्वीप तथा पश्चिम अफ्रीका के ज्वालामुखी भी भ्रंशन के कारण ही बने है ।[1]

(2) दक्षिणी अन्ध महासागर के द्वीप, जैसे सेण्टपाल तथा फॉकलैण्ड, भी एक बड़े विस्तृत स्थल भाग के अवशेष ही है । सम्भवतः इस स्थल भाग का मेसोजोइक कल्प मे अवतलन हुआ ।[2]

(3) **डा० मीनेज** (Dr. Meinesz) की खोजो के आधार पर यह ज्ञात हुआ है कि सभी महासागरो के तल एक समान भारी पदार्थो से नही बने हुए है । जहाँ-तहाँ हल्के पदार्थ भी पाये जाते है । ये कम घनत्व के हल्के पदार्थ (चट्टाने) स्थल सेतुओ के अवतलन के कारण ही महासागरीय तलों मे पहुँचे है ।

(4) प्रशान्त महासागर के कई द्वीपों मे रायोलाइट तथा ट्रेचीलाइट जैसी ज्वालामुखी चट्टानें पायी जाती है । इससे प्रकट होता है कि प्रशान्त महासागर का सम्पूर्ण तल बेसाल्ट द्वारा निर्मित नही है ।

(5) प्रशान्त महासागर के अनेक प्रवाल द्वीप अवतलन के कारण ही बने हैं । डार्विन तथा डेविस ने अवतलन का पूर्ण समर्थन किया । इसमे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रशान्त महासागर मे पहले स्थल भाग विद्यमान था, जिसका बाद में बड़े पैमाने पर अवतलन हुआ है ।

आपत्तियाँ

(1) प्रशान्त महासागर के पूर्वी और पश्चिमी किनारे पर खड़े ढाल पाये जाते है । इससे सिद्ध होता है कि प्रशान्त महासागरीय तल स्थायी रहा है ।

(2) ग्रेगरी का विचार इसलिए भी भ्रामक प्रतीत होता है कि हल्के पदार्थों से निर्मित स्थल सेतु अधिक घनत्व के अध स्तर में कदापि नही डूब सकते ।

(3) स्थल सेतुओ द्वारा दूर-दूर स्थित देशो का हिमानियो द्वारा एक साथ प्रभावित होना भी स्पष्ट नहीं किया जा सकता ।

(4) यह भी विचारणीय है कि इस प्रकार के स्थल सेतु पृथ्वी के सन्तुलन को बिगाड़कर किस प्रकार महासागरो की भारी तली पर स्थित रह सकते है ।

आधुनिक गवेषणाओं के आधार पर अब यह विचार पक्का होता जा रहा है कि महाद्वीप और महासागर सदा से उसी जगह स्थायी नही है, अपितु उनका वहन हुआ है । आजकल महाद्वीप और महासागरों के वितरण को वहन के आधार पर ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

महाद्वीप वहन के सम्बन्ध में नवीन परिकल्पनाएँ

वेगनर के महाद्वीपीय वहन के सिद्धान्त की कठोर आलोचनाओ के बावजूद आज भी कई वैज्ञानिक उसमे विश्वास करते है । उनकी मान्यता यह है कि महाद्वीपीय वहन को स्वीकार किये बिना अनेक समस्याओं का उचित समाधान प्राप्त करना सम्भव नही है । अतः महाद्वीपीय वहन को सिद्ध करने के लिए कुछ नवीन तथ्यों की खोजकर उन्होने नयी परिकल्पनाओ को स्थिर किया है जो निम्न है :

विचलित चुम्बकत्व की परिकल्पना—इस परिकल्पना के प्रतिपादक इम्पीरियल कॉलेज, लन्दन में भौतिकशास्त्र के विद्वान **प्रोफेसर ब्लैकिट** (Prof. Blackett) है । उन्होंने अपना मत स्थिर करते हुए बताया है कि जिस समय पृथ्वी पर चट्टानो की रचना हुई, प्रारम्भ मे उस समय

---

1 *Ibid.*, p. 175
2 *Ibid.*

पदार्थ की अवस्था तरल होगी। इस तरल पदार्थ मे लोहा-ऑक्साइड के चुम्बकीय कण भी होंगे जो किसी भी दिशा को आकर्षित हो सकते है। चट्टानो के ठोस बनने के पूर्व इन कणो का झुकाव उत्तर दिशा मे चुम्बकीय ध्रुव की ओर होगा, क्योकि वहाँ चुम्बकीय आकर्षण विद्यमान है। इस प्रकार प्राचीन चट्टानों के चुम्बकीय आकर्षण के अध्ययन द्वारा एक स्थान की चट्टानो के ठोस होने का समय तथा उनका अक्षाश व देशान्तर मालूम किया जा सकता है। इसी आधार पर ब्लैकिट ने ससार की प्राचीन चट्टानो का अध्ययन कर उनके चुम्बकीय आकर्षण को नापा। इन शैलो के अध्ययन से विदित हुआ कि ये शैले स्वतन्त्रतापूर्वक लटकने पर उस दिशा मे नही रुकती जिस दिशा में आजकल की शैले रुकती है। दूसरे शब्दो में, इन प्राचीन शैलो का चुम्बकत्व भिन्न है। इस अध्ययन के आधार पर ब्लैकिट ने यह निष्कर्ष निकाला कि चुम्बकीय आकर्षण की दिशा विभिन्न समयों मे भिन्न-भिन्न रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि चुम्बकीय ध्रुव समय के साथ-साथ अपने स्थान से हटता रहता है। चूँकि चुम्बकीय ध्रुव सदैव भौगोलिक ध्रुव के निकट ही रहता है, इस लिए चुम्बकीय ध्रुव के साथ-साथ भौगोलिक ध्रुव भी अपने स्थान से हटता रहता है। शैलों के चुम्बकत्व के विचलित होने के आधार पर यह बताया जा सकता है कि भौगोलिक ध्रुव उस समय कहाँ स्थित था। ब्लैकिट ने भौगोलिक ध्रुवो के विस्थापन (Displacement) का अध्ययन करके यह स्पष्ट किया कि महाद्वीप सदैव अपने स्थान पर स्थिर नही रहे, अपितु समय के साथ-साथ सरकते रहे हैं। इस प्रकार ब्लैकिट महोदय ने महाद्वीपीय वहन का नवीन प्रमाण प्रस्तुत किया।

ब्लैकिट ने अपने अध्ययन के आधार पर यह बताया कि लगभग 20 करोड़ वर्ष से उत्तरी अमरीका, यूरोप, अफ्रीका एवं भारत आदि बराबर उत्तर की ओर खिसक रहे है। अनुमान है कि 30 करोड वर्ष पूर्व यूरोप भूमध्य रेखा के निकट और भारत विपुवत रेखा के दक्षिण मे स्थित था। 40 करोड़ वर्ष पूर्व आस्ट्रेलिया भूमध्य रेखा मे दक्षिण की ओर खिसक रहा था किन्तु पिछले 20 करोड़ वर्षो से यह पुनः उत्तर की ओर सरकने लगा।

प्राचीन जलवायु-विज्ञान के तथ्यों द्वारा ब्लैकिट के अध्ययन की पुष्टि होती है। इस प्रकार 20 करोड वर्ष पूर्व दक्षिणी ध्रुव के निकट दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, भारत व आस्ट्रेलिया की स्थिति सच मालूम पडती है।

अधःस्तर में संवहन धाराओं के खोलों की परिकल्पना—हाल ही में महासागरीय तलों के अध्ययन से कुछ नवीन तथ्यों का पता चला है। जैसे :

(1) प्रायः सभी महासागरों के तलो मे तलछट का अभाव पाया जाता है।

(2) सभी महासागरों के तलों मे उभरी हुई क्रमबद्ध पर्वत-श्रेणियाँ स्थित है।

(3) केलीफोर्निया का तटवर्ती स्थल भाग कई सौ किलोमीटर पश्चिम की ओर खिसक गया है।

उपरोक्त तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए अमरीकी विद्वान **हेस** (H. H. Hess) तथा **डीज** (R. S. Dietz) ने सन् 1962 मे महाद्वीपीय वहन एवं होम्स की संवहन धाराओं की पुष्टि करते हुए **संवहन धाराओं के खोलों** की परिकल्पना प्रस्तुत की। इनके अनुसार संवहन धाराएँ महासागरों के नीचे उत्पन्न होती है। इन धाराओ के कारण महासागरीय तलो की चट्टाने बदलती रहती है। धाराओ के कारण नीचे का तरल पदार्थ ऊपर एव ऊपर का पदार्थ नीचे अधःस्तर में स्थानान्तरित होता रहता है। इसीलिए महासागरों के तलो पर तलछट का निक्षेप नही देखा जाता।

इन वैज्ञानिकों का मत है कि अधःस्तर में संवहन धाराओं के चक्र विभिन्न 'खोलों' (Cells) में पृथक-पृथक रूप से कार्य करते है। संवहन धाराओं के इन चक्रो की विशेष स्थितियों के अनुसार ही पृथ्वी पर महाद्वीप आदि भू-खण्डों में विशेषताएँ पैदा हो जाती हैं। इनमे से कुछ **विशेषताएँ अग्रलिखित है**:

(1) **स्थायी महाद्वीप**—जिन स्थानों पर ऊपर आकर फैलने के बाद नीचे को उतरने वाली दो संवहन धाराएँ मिल जाती है वहाँ स्थायी महाद्वीप बन जाते है।

(2) **महासागरीय पर्वत-श्रेणी एवं दरार**—नीचे से ऊपर आकर फैलने वाली संवहन धारा के ऊपर यदि कोई भू-खण्ड स्थित हो तो वह फट जायगा और वहाँ एक ऐसा समुद्र बन जायेगा जिसमें एक पर्वत-श्रेणी डूबी हुई हो। अन्ध महासागर की मध्यवर्ती पहाड़ी और उसमे स्थित दरार एव अफ्रीका भ्रश घाटी (Rift Valley) इसके अच्छे प्रमाण है।
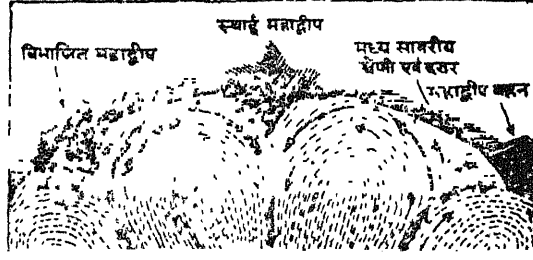
चित्र 74—अधःस्तर में संवहन धाराओं के चक्र एवं खोल

(3) **महाद्वीपीय वहन**—यदि किसी महाद्वीप के नीचे से सवहन धारा ऊपर आ रही हो तो वह महाद्वीप उस धारा की दिशा मे बहने लगता है। विभिन्न महाद्वीपों का वहन इसी परि-कल्पना के आधार पर स्पष्ट हो जाता है।

इन वैज्ञानिकों का यह भी मत है कि विभिन्न खोलो में संवहन धाराओ के चलने का क्रम स्थायी नही होता। इनके अनुसार समय-समय पर पुराने 'खोल' (cells) नष्ट होते रहते है और नवीन स्थानो पर नवीन खोल बनते रहते है। Some convection cells may die out fiom time to time and new ones form. प्रमाणस्वरूप केलीफोर्निया की खाडी की रचना एक नवीन खोल का परिणाम है। इस खोल मे धाराओ के ऊपर आकर फैलने से लासऐंजिल्स तथा सेन-फ्रासिस्को नगर महाद्वीप से अलग-अलग हो रहे है। हिन्द महासागर मे विद्यमान श्रेणी भी एक नवीन संवहन प्रणाली का फल है।

महासागरीय तलों मे किये जा रहे नवीन अन्वेषणों से इन समस्याओ के हल के लिए कुछ अधिक प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होने की आशा है।

द्वितीय खण्ड

वायुमण्डल

7

वायुमण्डल
(THE ATMOSPHERE)

प्राणी-मात्र के जीवित रहने के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनमें वायु सबसे मुख्य है। वायु एक या एक से अधिक गैसो का सम्मिश्रण है। पृथ्वी के चारो ओर रंगहीन, गन्धहीन और स्वादहीन गैसो का एक विशाल आवरण है। पृथ्वी के चतुर्दिक गैसो के इस
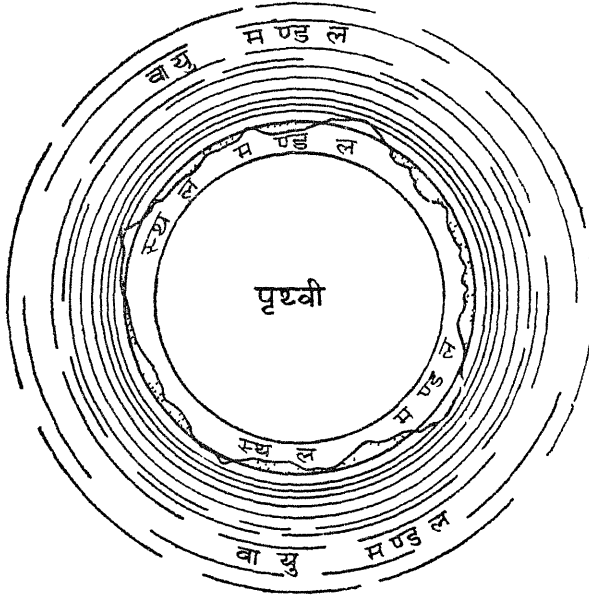
चित्र 75—**वायुमण्डल**

मोटे आवरण को ही **वायुमण्डल** कहा जाता है। प्रसिद्ध जलवायु विज्ञानवेत्ता **ट्रिवार्था** (Trewartha) के शब्दो मे, 'The solid and liquid earth is surrounded by a gaseous sphere several hundred miles thick called the atmosphere. The atmosphere is not to be thought of as above or beyond the earth proper; it is just as integral a part of the planet as the land and water.'[1]

---

[1] Finch & Trewartha : *Elements of Geography*, p. 23

वायुमण्डल की उपरोक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि **पृथ्वी से परिवेष्टित सैकड़ों मील मोटे गैसों का आवरण जो पृथ्वी का अभिन्न अंग है और उसे चारों ओर से घेरे हुए है, वायुमण्डल कहलाता है।**

यह वायुमण्डल हमारी पृथ्वी की विशेषता है। सामान्यत: अन्य ग्रहों पर वायुमण्डल का अभाव है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण ही यह इसके साथ टिका हुआ है। पृथ्वी के साथ ही वायुमण्डल भी सूर्य की परिक्रमा करता है। पृथ्वी पर जल और स्थल का असम विन्यास है, किन्तु वायु का आवरण लगातार है। समस्त पृथ्वी वायु के अथाह समुद्र मे डूबी हुई है। पृथ्वी पर स्थलचर, जलचर और नभचर कोई भी वायुमण्डल के प्रभाव से मुक्त नहीं है। वायुमण्डल हमारे कार्यकलापों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। हम वायु से श्वास लेते हैं। यह दिन को हमें सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश और ऊँचे तापमान तथा रात्रि को गर्मी के ह्रास से बचाकर एक कम्बल के समान कार्य करता है। वस्तुतः वायुमण्डल के बिना पृथ्वी पर न बादल होंगे, न वर्षा होगी, न जल का प्रवाह होगा और न हवा होगी। अर्थात वायुमण्डल के अभाव मे पृथ्वी पर कोई जीवन सम्भव नहीं है।[1]

मनुष्य वैसे स्थलचर है, परन्तु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसके जीवन को प्रभावित करने मे वायुमण्डल की कोई समता नही रखता। वायुमण्डल मे जो कुछ परिवर्तन होते है उनका मनुष्य जीवन पर तत्क्षण प्रभाव होता है। निश्चय ही उन बहुत सारे तत्त्वो (elements) मे जो कि किसी प्रदेश की भौतिक अवस्था (जलवायु, वनस्पति, भू-आकार, खनिज और मिट्टी) का निर्माण करते है, जलवायु सबसे महत्त्वशाली है। क्योंकि जलवायु ही किसी प्रदेश विशेष की उपादेयता को निर्धारित करती है। विभिन्न प्रदेशों के बीच भिन्नता भी जलवायु पर आधारित है। इस प्रकार जलवायु एक प्रदेश की भौतिक अवस्था को बनाने वाला मुख्य अवयव ही नही, वरन् प्रत्यक्ष रूप से इसका वनस्पति, मिट्टी, अपवाह प्रणाली (Drainage system) और भू-आकारों पर भी प्रभाव पड़ता है। अत: भूगोल में वायुमण्डल का ज्ञान नितान्त ही आवश्यक है।

वायुमण्डल का संघटन
(Composition of Atmosphere)

वायुमण्डल अनेक गैसों का यान्त्रिक सम्मिश्रण है। इसमें नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन डाइऑक्साइड, आर्गन, हाइड्रोजन, हीलियम, नियोन, क्रिप्टोन, जेनोन व ओषोण आदि गैसें पायी जाती है। किन्तु धरातल के समीप की वायु की जाँच से ज्ञात हुआ है कि इनमे ऑक्सीजन और नाइट्रोजन गैसें ही मुख्य हैं। वायुमण्डल का 99 प्रतिशत भाग इन्ही दो गैसों से निर्मित है। शेष 1 प्रतिशत में अन्य सभी गैसे सम्मिलित हैं। वायु मे गैसो के साथ अशुद्धियो के रूप मे गन्धक का तेजाब, शोरे का तेजाब तथा अन्य कई पदार्थ सूक्ष्म मात्रा में मिलते है। इन गैसों के अतिरिक्त वयु में कुछ आवेशित कण भी हैं जो भिन्न-भिन्न अनुपात मे पाये जाते हैं। बहुत ऊँचाई पर तो स्वतन्त्र ऋणाणु भी यथेष्ट मात्रा में मिलते है। पृष्ठ 129 पर दी हुई सारणी में जो गैसें पृथ्वी के धरातल के निकट वायु में विद्यमान हैं, अपने प्रतिशत आयतन के साथ दिखायी गयी हैं।
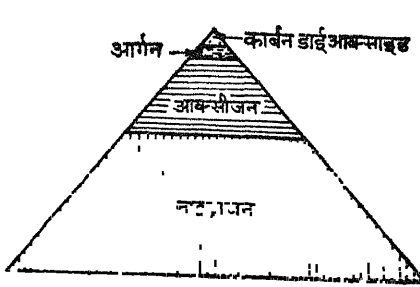
चित्र 76—वायुमण्डल में विभिन्न गैसों का अनुपात

1 R. S. Sharma ; *The Nature of Physical World*, p. 109

वायुमण्डल में गैस की मात्रा[1]

भारी गैसें :	प्रतिशत आयतन
नाइट्रोजन	78·03
ऑक्सीजन	20·99
आर्गन	0·9323
कार्बन डाइऑक्साइड	0·03
हाइड्रोजन	0·01
हल्की गैसें :	
नियोन	0·0018
हीलियम	0·0005
क्रिप्टोन	0·0001
जेनोन	0·000005
ओषोण	0·000001

वायुमण्डल की उपरोक्त रचना 6 किलोमीटर की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसके उपरान्त भारी गैसो की मात्रा विभिन्न ऊँचाइयो पर कम और हल्की गैसों की मात्रा बढती जाती है। सामान्यतः भारी गैसे वायुमण्डल के निचले स्तरों मे और हल्की गैसे ऊपरी स्तरो मे मिलती है। जैसे कार्बन डाइऑक्साइड गैस वायुमण्डल मे 20 किलोमीटर की ऊँचाई तक, ऑक्सीजन और नाइट्रोजन 100 किलोमीटर की ऊँचाई तक और हाइड्रोजन 125 किलोमीटर की ऊँचाई तक मिलती है। इसके बाद बहुत अधिक ऊँचाई पर हीलियम, नियोन, क्रिप्टोन व जेनोन जैमी हल्की गैसें मिलती है।

यद्यपि वायु भिन्न-भिन्न गैसों का एक सम्मिश्रण है, तथापि जलवाष्प को छोड़कर वायु की प्रतिशत बनावट धरातल के समीप सब जगह एकसी रहती है। वैसे ऑक्सीजन और कार्बन डाइऑक्साइड गैसो की प्रतिशत मात्रा कुछ बदलती रहती है। ऑक्सीजन गैस आयतन मे 20·81 से 21·00 प्रतिशत तक बदलती रहती है। कार्बन डाइऑक्साइड गैस भी ·03 से ·04 प्रतिशत तक बदलती है। यह हरियाली वाले स्थानों पर कम होती है, परन्तु समुद्र पर तथा औद्योगिक नगरो एव बन्द कमरो मे जहाँ वहुत सारे मनुष्य एकत्र हों, यह 24 से ·95 प्रतिशत तक बदलती हुई पायी जाती है। जलवाष्प की मात्रा मे भी काफी परिवर्तन होता रहता है किन्तु यह 5·0 प्रतिशत से कभी अधिक नही होता। आर्द्र अयन-वृत्तों के समीप वायु मे जलवाष्प की मात्रा औसत 2·6 प्रतिशत के लगभग रहती है। परन्तु 50° अक्षाश पर 0·9 और 70° अक्षांश के समीप 0·2 प्रतिशत के लगभग ही पायी जाती है।

विभिन्न अक्षांशों पर गैसों का प्रतिशत

अक्षांश	नाइट्रोजन	ऑक्सीजन	आर्गन	जलवाष्प	कार्बन डाइऑक्साइड
भूमध्य रेखा	75·99	20·44	0·92	2·63	0·02
50° उत्तर	77·32	20·80	0·94	0·92	0·02
70° उत्तर	77·87	20·94	0·94	0·22	0·03

---

[1] C. E Koeppe and G. C. Delong : *Weather and Climate*, p. 22

वायुमण्डल की गैसों के कार्य और उपयोग
(Functions and Uses of Gases)

वायुमण्डल की गैसो मे नाइट्रोजन प्रधान है, किन्तु यह बहुत अधिक क्रियाशील तत्त्व नही है। इसका प्रमुख कार्य ऑक्सीजन का तनुकरण (dilution) है। साथ ही यह उस गति को कम करती है जिस पर ओपजनीकरण होता है। कुछ पौधो द्वारा यह नाइट्रोजन-चक्र (Nitrogen Cycle) की स्थापना मे भी प्रयोग की जाती है। ऑक्सीजन प्राणी-मात्र के लिए बहुत ही आवश्यक है। यह श्वास लेने के काम आती है। वायुमण्डल मे कार्बन डाइऑक्साइड यद्यपि बहुत ही अल्प मात्रा मे पायी जाती है, किन्तु यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। इसके बिना पेड़-पौधे पनप ही नही सकते; पौधे, पशु जीवन का आधार है। कार्बन डाइऑक्साइड जल, सूर्य, प्रकाश और पत्तियो के हरे तत्त्व क्लोरोफिल की उपस्थिति मे शीघ्र प्रतिक्रिया कर कार्बोहाइड्रेट में परिवर्तित हो जाती है।

वायुमण्डल में जलवाष्प बहुत ही अल्प मात्रा मे होती है, किन्तु इसका अद्‌भुत महत्त्व है। यह वायुमण्डल मे वाष्पीकरण द्वारा समुद्रों, नदियो व झीलों आदि के द्वारा पहुँचती है। इसकी मात्रा वायुमण्डल के तापमान पर निर्भर करती है। जहाँ ताप अधिक रहता है, वहाँ इसकी मात्रा अधिक और जहाँ ताप कम रहता है, वहाँ इसकी मात्रा कम पायी जाती है। वायुमण्डल मे ऊँचाई के साथ भी जलवाष्प की मात्रा घटती जाती है। लगभग 8 किलोमीटर की ऊँचाई पर वायु मे बहुत कम अशो में जलवाष्प मिलती है। **हम्फ्रीज** ने बताया है कि वायुमण्डल में 5 किलोमीटर की ऊँचाई तक जलवाष्प की मात्रा कम होती है, परन्तु 11 से 80 किलोमीटर तक पुन: इसकी मात्रा बढ़ती है। वायु मे मिली हुई समस्त जलवाष्प की मात्रा को यदि निकाल दिया जाय तो उससे सम्पूर्ण पृथ्वी पर 1 इंच मोटी जल की परत खड़ी हो सकती है।

मौसम की ठीक-ठीक जानकारी के लिए वायुमण्डल मे जलवाष्प की मात्रा को जानना अत्यन्त आवश्यक है। इसके कारण ही ओस, कुहरा, धुन्ध एवं बादल बनते है और वर्षा, ओले तथा हिम गिरती है, जिसका पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों एवं मानव-जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। बादलो मे धूल-कणो एवं जल-कणों के भीतर से सूर्य-प्रकाश के गुजरने से भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग, इन्द्रधनुष (Rainbow) तथा परिवेश (Halo) आदि मनोहारी दृश्य उपस्थित होते है। बादलो में विद्युत-प्रकाश एव घन-गर्जन भी जलवाष्प का ही फल है।

वायुमण्डल मे धूल-कणो का भी विशेष महत्त्व है। वायुमण्डल की बहुत-सी घटनाओं में इनका प्रमुख भाग रहता है। इन्ही के कारण आकाश मे धुँधलापन छा जाता है तथा जलवाष्प इन्ही की सहायता से कुहरा व बादल आदि बनाती है। सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय आकाश में भिन्न-भिन्न प्रकार के रग, नीला आकाश, गो-धूलि प्रकाश और सन्ध्या का गौरवमय सौन्दर्य सब इन्ही के कारण होते है। वायुमण्डल मे इन सूक्ष्म कणो की उपस्थिति के कई कारण है। ये पृथ्वी के धरातल पर पवन चलने से, ज्वालामुखी पर्वतों के उद्‌गार से, उल्काओं के वायुमण्डल में आकर जल जाने और टुकड़े-टुकड़े हो जाने से, समुद्री लहरों के उछले हुए पानी के छीटों के वाष्प बन जाने पर, नमक के सूक्ष्म कणो के रह जाने और कोयले के धुएँ से उत्पन्न होते है। आजकल इन सूक्ष्म कणो की सख्या भी ज्ञात की जा सकती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि जिन नगरो मे काफी धूल उड़ती हो वहाँ ये 1,00,000 प्रति घन सेण्टीमीटर तक पाये जाते है तथा एक सिगरेट के धुएँ की फूँक में लगभग 40 करोड़ सूक्ष्म कण होते है।

पृथ्वी के धरातल के समीप वायुमण्डल में ओषोण की बहुत कम मात्रा मिलती है। यह प्रायः एक करोड़ मे एक भाग के बराबर होते हैं। ऊपरी वायुमण्डल में इसकी मात्रा धरातल की अपेक्षा काफी अधिक है। वायुमण्डल में ओषोण की उपस्थिति बहुत महत्त्व रखती है। सूर्य से आने

वाली पराबैगनी किरणो (ultra-violet rays) का बहुत-सा भाग इसके द्वारा सोख लिया जाता है और पृथ्वी तक नही पहुँचने पाता। यदि ये सब किरणे पृथ्वी तक पहुंच पाती तो गर्मी की प्रचण्डता से प्राणी-मात्र का रहना असम्भव हो जाता। ओषोण की मात्रा घटती-बढती रहती है। इसका मौसम पर काफी प्रभाव पडता है यही नही, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति मे भी इसके कारण उलट-फेर होते देखा गया है।

वायुमण्डल की संरचना
(Structure of Atmosphere)

वायुमण्डल के सम्वन्ध मे मनुष्य की जानकारी प्राचीन समय से है। किन्तु इसकी प्रामाणिक जानकारी वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारो द्वारा ही सम्भव हुई है। वर्तमान युग में आधुनिक परिवहन के साधनो—वायुयान तथा जहाज—का संचालन और उनके द्वारा यात्रा एव चक्रवात और प्रभंजन जैसे भौतिक उत्पातो से मनुष्य की रक्षा के प्रयत्नो ने इसके ज्ञान को आवश्यक बना दिया है। वायुमण्डल की जानकारी के लिए सामान्यत पर्वत-शिखर, वायुयान, पतग व गुब्बारा आदि साधन प्रयोग मे लाये जाते है, परन्तु वायुमण्डल की अनन्त गहराई को देखते हुए उसके अन्दर पहुँचने के लिए ये साधन अपर्याप्त है। इन साधनों द्वारा वायुमण्डल का अधिक से अधिक 36 किमी ऊपर तक का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस ऊँचाई के बाद हमे गोधूलि-प्रकाश (twilight); पुच्छल तारा (shooting stars), विद्युत-प्रकाश (lighting), ध्वनि तरंगे (sound waves), रेडियो तरगे (radio waves), और ध्रुव-प्रकाश (auroras), आदि भौतिक दृश्यों का सहारा लेना पड़ता है।

गत 150 वर्षो मे वायुमण्डल सम्बन्धी ज्ञान मे यथेष्ट उन्नति हुई है। अनेक वैज्ञानिकों ने आधुनिक आविष्कारो का लाभ उठाकर वायुमण्डल की साहसपूर्ण यात्राएँ की है। इनमे लैफ्टीनेण्ट एडम, कैप्टिन स्थीनन्स, कैप्टिन एण्डरसन, मेजर फाडनी, मेजर वेन्सकी, डा० पिकार्ड एव अमरीकी अन्तरिक्ष-यात्री कूपर, कारपेण्टर, आर्मस्ट्रोंग और रूमी अन्तरिक्ष यात्री यूरी गगारिन, पोपोविच, मेजर तितोव व लियोनोव आदि का नाम विशेप उल्लेखनीय है। आजकल वायुमण्डल की जानकारी के लिए परम्परागत साधनो के विपरीत राकेट यान तथा स्पूतनिक (कृत्रिम उपग्रह) का उपयोग किया जाने लगा है। स्पूतनिक अत्यन्त सूक्ष्म यन्त्रो से सज्जित होते है। वे वायुमण्डल की ऊपरी तहों के तापमान और उनके घनत्व के सम्बन्ध मे धरातल पर सन्देश भेजते है। रूस एव अमरीका द्वारा छोड़े गये वोसखोद तथा जैमिनी स्पूतनिको ने वायुमण्डल की ऊपरी सरचना के सम्बन्ध मे समुचित रहस्योद्घाटन किया है।

वायुमण्डल की ऊँचाई
(Height of the Atmosphere)

वायुमण्डल की ऊँचाई के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम सन् 1714 में प्रसिद्ध अन्तरिक्ष विज्ञानवेत्ता **एडमण्ड हेले** ने अपना विचार प्रस्तुत किया और वायुमण्डल की ऊँचाई 75 किमी बतायी। बाद मे अनेक वैज्ञानिको ने इस ओर अपना ध्यान दौड़ाया। द्वितीय विश्व युद्ध तक कुछ विद्वानों ने अपनी खोजो के आधार पर वायुमण्डल की ऊँचाई 300 किमी अनुमानित की। कुछ समय बाद यह ऊँचाई 1,000 किमी आँकी गयी। तदनन्तर मौसम सम्बन्धी यन्त्रों, उल्काओ, ध्रुवीय ज्योतिषियों, गुब्बारों तथा रेबिन सौंडे आदि के आधार पर वायुमण्डल की ऊँचाई 1,300 किमी बताई गयी। वर्तमान समय मे स्पूतनिक तथा कृत्रिम उपग्रह जैसे वेनगार्ड (Vanguard) व एक्सप्लोरर्स (Explorers) आदि पृथ्वी के आकर्षण के घेरे को भी पार कर गये। इन आधुनिक यन्त्रो की सहायता से आजकल वैज्ञानिको ने वायुमण्डल की ऊँचाई 16 हजार किमी से 32 हजार किमी तक मानी है। हम अपने दैनिक प्रयोगों के लिए वायुमण्डल की ऊँचाई केवल 800 किमी ही मानकर चलते है।

वायुमण्डल की भौतिक संरचना अथवा स्तरीकरण
(Physical Structure or Stratification of the Atmosphere)

भौतिक संरचना की दृष्टि से वायुमण्डल विभिन्न गैसो का सम्मिश्रण मात्र है। किन्तु विज्ञान की नवीन खोजों एवं आधुनिक धारणाओ के अनुसार वायुमण्डल मे वायु की अनेक परतें है। वायुमण्डल की ये परते वायु के तापमान और दाब पर आधारित है। वायुमण्डल को निम्न छः परतो में विभक्त किया गया है :

(1) परिवर्तन मण्डल (Troposphere),
(2) मध्य स्तर (Tıopopause),
(3) समताप मण्डल (Startosphere),
(4) ओषोण मण्डल (Ozonosphere),
(5) आयन मण्डल (Ionosphere),
(6) आयतन मण्डल (Exosphere)।

(1) **परिवर्तन मण्डल** (Troposphere)—यह वायुमण्डल का सबसे नीचे का भाग है। पृथ्वी के धरातल से इसकी औसत ऊँचाई $7\frac{1}{2}$ मील है। ध्रुवो की अपेक्षा विषुवत रेखा पर इसकी ऊँचाई अधिक है। विषुवत रेखा पर यह 16 किमी ऊँचा है परन्तु ध्रुवों पर इसकी ऊँचाई 6 किमी ही है। वायुमण्डल के इसी भाग मे हम रहते है, इसलिए इसका अध्ययन हमारे लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वायुमण्डल की अधिकांश स्थूलता इसी भाग मे है। जलवाष्प, धूलकण और भारी गैसे इस भाग मे अधिक पायी जाती हैं। परिवर्तन मण्डल की ऊपरी सीमा पर वायुदाब भी धरातल की अपेक्षा $\frac{1}{4}$ रह जाता है।
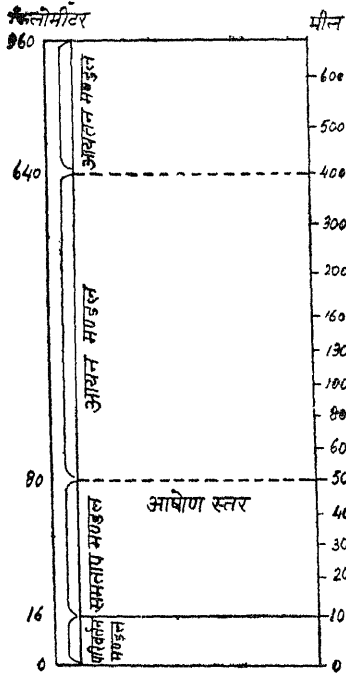
वायुमण्डल के इस भाग मे वायु कभी शान्त नही रहती। इसमे निरन्तर हवाएँ और सवहनीय धाराएँ चला करती है जो ताप और आर्द्रता को काफी ऊँचाई तक वितरित करती रहती है। इस भाग मे ऊँचाई के अनुसार बराबर ताप गिरता जाता है। प्रति 300 फुट की ऊँचाई पर 9° फा० तापमान कम होता जाता है। यह भाग विकिरण (radiation), सचालन (conduction) और संवहन (convection) द्वारा गरम और ठण्डा होता है। भाग मे सवहनीय धाराएँ अधिक चलती है। अतः इस भाग को **संवहनीय प्रदेश** (Convectional Zone) या **उद्वेलित संवहन स्तर** (Turbulent Convective Stratum) भी कहते हैं।

चित्र 77—वायुमण्डल का विभाजन

यह भाग सभी प्रकार की मौसमी घटनाओं (weather phenomena) का स्थल है। तापमान के दैनिक और मौसमी परिवर्तनो का अध्ययन इसी भाग मे किया जाता है। हमारे रेडियो में भड़भड़ाहट की आवाज उत्पन्न करके सुरीले गानों के सुनने में विघ्न डालने वाले अन्तरिक्ष विक्षोभ भी इसी मे उत्पन्न होते है। आँधी-तूफान, घन-गर्जन और विद्युत-प्रकाश आदि का स्थान भी यही है। इसके आगे ये कोई हलचलें नहीं दिखाई देती।

(2) **मध्य स्तर** (Tropopause)—यह वायुमण्डल का वह भाग है, जहाँ परिवर्तन मण्डल की पेटी समाप्त होती है और समताप मण्डल की नयी पेटी प्रारम्भ होती है। अत. वायुमण्डल के इस भाग मे परिवर्तन मण्डल और समताप मण्डल दोनों के गुण विद्यमान है। वायुमण्डल के इस भाग की चौड़ाई लगभग $1\frac{1}{2}$ किमी है। इस भाग में परिवर्तन मण्डल की हवाएँ तथा संवहनीय धाराएँ चलना बन्द हो जाती है। वस्तुत· यह वायुमण्डल का वह क्षेत्र है जहाँ सभी प्रकार के मौसमी परिवर्तन समाप्त हो जाते है। इस पेटी के वाद समताप मण्डल की पेटी प्रारम्भ हो जाती है।
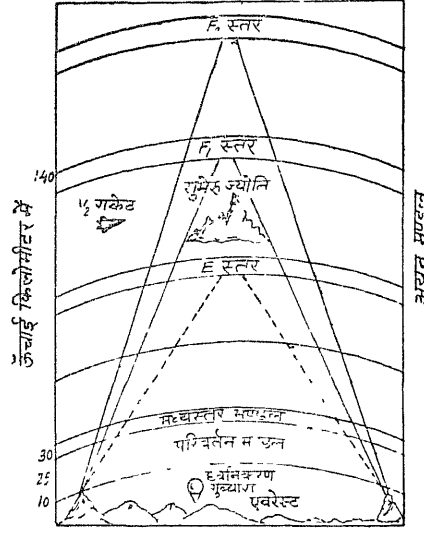
चित्र 78—वायुमण्डल के स्तर

(3) **समताप मण्डल** (Stratosphere)—मध्य स्तर के ऊपर स्थित वायुमण्डल के भाग को समताप मण्डल (Stiatosphere) कहते है। वायुमण्डल के इस भाग मे तापमान लगभग एकसमान रहते है। अप्रैल 1888 मे **तिसरा डी बोर्ट** ने इस बात का पता लगाया कि इस भाग मे विकिरण द्वारा प्राप्त गर्मी प्रस्तुत विकिरण के समान होती है। इस प्रकार इस कटिबन्ध में तापमान के अपरिवर्तित रहने के कारण ही इसे समताप मण्डल (Isothermal zone) कहा जाता है।

कुछ समय पूर्व समताप मण्डल की ऊँचाई 13 से 32 किमी तक मानी जाती थी, किन्तु स्पूतनिको द्वारा की गयी खोजों के द्वारा अब इसकी ऊँचाई 16 से 80 किमी तक आँकी गयी है। समताप मण्डल की ऊँचाई अक्षांश तथा ऋतुओं के अनुसार बदलती रहती है। ध्रुवों की अपेक्षा विषुवत रेखा पर इसकी ऊँचाई अधिक है। इसी प्रकार ग्रीष्मऋतु मे जाड़े की अपेक्षा इसकी ऊँचाई अधिक होती है। यह भाग पूर्णत. सवहन रहित (Non-convective) होता है। यहाँ क्षैतिज रूप की हवाएँ चला करती है। सम तापमान, बादलों का अपेक्षाकृत अभाव और हल्की वायु इस मण्डल की अन्य विशेषताएँ है। वायुमण्डल के इस कटिबन्ध में आँधी, तूफान, हिम एवं घन-गर्जन नही होता। वायुदाब धरातल की अपेक्षा $\frac{1}{1500}$ ही रहता है। जलवाष्प और धूल-कण बहुत ही कम होते हैं। सवहनीय धाराओ तथा बादलो का पूर्ण अभाव पाया जाता है।

(4) **ओषोण मण्डल** (Ozonosphere)—समताप मण्डल के ऊपर जिस नवीन भाग की खोज हुई है उसे **ओषोण मण्डल** (Ozonosphere) कहते है। कुछ विद्वान इसे समताप मण्डल का ऊपरी हिस्सा ही मानते है। वायुमण्डल का यह भाग 32 से 80 किमी की ऊँचाई तक फैला हुआ है। इस भाग में ओषोण गैस की प्रधानता रहती है। यह गैस सूर्य से निकलने वाली अत्यन्त गरम पराबैगनी किरणो (ultra-violet rays) को सोख लेती है। इसका पृथ्वी की जलवायु पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(5) **आयन मण्डल** (Ionosphere)—ओषोण मण्डल के ऊपर वायु की कई तहें हैं। इन्ही कुल तहो को आयन मण्डल कहा गया है। वायुमण्डल का यह भाग 80 से 640 किमी तक विस्तृत है। इस भाग मे स्वतन्त्र आयन की संख्या प्रभूत मात्रा मे पायी जाती है। फलस्वरूप इस क्षेत्र मे बड़ी ही विस्मयकारी विद्युतकीय एवं चुम्बकीय घटनाएँ घटित होती है। सुमेरु ज्योति, कुमेरु ज्योति एवं उल्काओं की चमक इस भाग की विशेष घटनाएँ है। अभी इस भाग की पूर्ण जानकारी नही है। रेडियो तरंगो एवं ध्वनि तरंगों की सहायता से इसका ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है।

आयन मण्डल कई तहों में बॅटा हुआ है। इस मण्डल की सबसे नीचे की तह 'डी तह' कहलाती है। वस्तुतः यह ऊपरी समताप मण्डल मे पायी जाती है। यह केवल लम्बी रेडियो तरगों को परिवर्तित करती है। आयन मण्डल की अन्य दो महत्त्वपूर्ण तहे E_1 और E_2 है। ये 80 किमी से लेकर 140 किमी की ऊँचाई तक मिलती है। रेडियो की मीडियम तरगे इन्ही तहों से परिवर्तित होती है। इन तहो के ऊपर 140 किमी की ऊँचाई पर F_1 तह और 248 किमी की ऊँचाई पर F_2 तह या एप्लीटन तह पायी जाती है। ये तहे रेडियो की लघु तरंगो को परिवर्तित करती है। इस आयन मण्डल के अभाव मे रेडियो तरंगे भूतल पर न आकर आकाश मे चली जाती है।

(6) **आयतन मण्डल** (Exosphere)—पृथ्वी के वायुमण्डल का यह सबसे ऊपरी भाग है। यह 640 किमी से अधिक ऊँचाई पर विस्तृत है। सक्षेप मे, वायुमण्डल की सीमा का दूसरा नाम ही आयतन मण्डल या सीमा-प्रदेश (Fringe-region) है। इस भाग के बारे मे अभी बहुत ही कम जानकारी प्राप्त है।

वायुमण्डल का तहों में विभाजन और प्रत्येक भाग के सम्बन्ध में जानकारी अभी अपूर्ण है। इस दिशा मे अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है। वायुमण्डल के ऊपरी भाग के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान नगण्य है।

वायुमण्डल के यो तो सभी भागो का प्रभाव पृथ्वी पर होता है, परन्तु हमारे ऊपर प्रथम दो भागों का प्रभाव ही अधिक पड़ता है। अत. भौगोलिक दृष्टि से वायुमण्डल के केवल इन भागों का अध्ययन ही विशेष महत्त्व रखता है। वायुमण्डल की ऊपरी तहो के अध्ययन को वायु विज्ञान (Aerology) और निचली परतों के अध्ययन को ऋतु-विज्ञान (Meteorology) कहा जाता है।

वायुमण्डल की रासायनिक संरचना

रासायनिक संरचना की दृष्टि से वायुमण्डल को दो परतों मे विभक्त किया जाता है—(1) सममण्डल (homosphere) तथा (2) विषम मण्डल (heterosphere)।

(1) **सममण्डल** (Homosphere)—इस मण्डल की रचना मुख्यतः नाइट्रोजन (78·084%) तथा ऑक्सीजन (20·946%) दो गैसो से हुई है। ये दोनों गैसे वायुमण्डल के 99 प्रतिशत भाग को घेरे हुए है। शेष 1 प्रतिशत भाग मे कार्बनडाइ ऑक्साइड, आर्गन, नियोन, हीलियम, क्रिप्टान, जेनोन व हाइड्रोजन आदि गैसे सम्मिलित है। समुद्र तल से इस मण्डल की ऊँचाई 90 किलोमीटर मानी गयी है। तापक्रम के आधार पर इस मण्डल के तीन उपभाग किये गये हैं—(i) परिवर्तन मण्डल (troposphere), (ii) समताप मण्डल (stratosphere) एव (iii) मध्य मण्डल (mesosphere)। रासायनिक सरचना की दृष्टि से इन तीनो उपमण्डलों मे गैसों के अनुपात मे कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नही होता इसीलिए इन सभी भागों को सममण्डल कहा जाता है।

(2) **विषम मण्डल** (Heterosphere)—इस मण्डल की रचना विभिन्न गैसों की परतों से हुई है। इन परतो को बनाने वाली गैसों का अनुपात भी एक समान नही है। इसीलिए इस मण्डल को विषम मण्डल कहा जाता है। इस मण्डल की ऊँचाई 90 किलोमीटर से 10,000 किलोमीटर तक अनुमानित की गयी है। इस मण्डल मे विभिन्न गैसों की निम्न चार परतें है :

(i) **आणविक नाइट्रोजन परत** (Molecular Nitrogen Layer)—यह परत 90 से 200 किमी तक ऊँची है। इसमे मुख्यत. नाइट्रोजन के अणु पाये जाते है।

(ii) **आणविक ऑक्सीजन परत** (Atomic Oxygen Layer)—इस परत की ऊँचाई 200 से 400 किमी तक है। इसमे मुख्यतः ऑक्सीजन के अणु पाये जाते है।

(iii) **हीलियम परत** (Helium Layer)—यह परत 1,100 से 3,500 किमी की ऊँचाई तक फैली हुई है। इस परत में हीलियम अणु पाये जाते हैं।

(iv) **आणविक हाइड्रोजन परत** (Atomic Hydıogen Layer)—इस परत में हाइड्रोजन अणुओं की प्रधानता पायी जाती है। इस परत की ऊपरी सीमा को निश्चित रूप से नही बताया जा सकता, किन्तु मोटे तौर पर इसका विस्तार 10,000 किमी तक माना गया है। यह परत सबसे हल्की होने मे वायुमण्डल के सबसे ऊपरी भाग मे स्थित है।

वायुमण्डल का महत्त्व

मनुष्य वैसे स्थलचर है, परन्तु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उसके जीवन को प्रभावित करने में वायुमण्डल की कोई समता नही रखता। वायुमण्डल हमारे कार्यकलापों को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। हम वायु से श्वास लेते है। यह दिन को हमे सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश और ऊँचे तापमान तथा रात्रि को गर्मी के ह्रास से बचाकर एक कम्बल के समान कार्य करता है। वस्तुत. वायुमण्डल के बिना पृथ्वी पर न बादल होंगे, न वर्षा होगी, न जल का प्रवाह होगा और न हवा होगी। संक्षेप में वायुमण्डल के अभाव मे पृथ्वी पर कोई जीवन सम्भव नही है।

वायुमण्डल में जो कुछ परिवर्तन होते है उनका मनुष्य जीवन पर तत्क्षण प्रभाव होता है। निश्चय ही उन बहुत सारे तत्त्वो (elements) में जो कि किसी प्रदेश की भौतिक अवस्था (जलवायु, वनस्पति, भू-आकार, खनिज और मिट्टी) का निर्माण करते है, जलवायु सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जलवायु ही किसी प्रदेश विशेष की उपादेयता को निर्धारित करती है। विभिन्न प्रदेशो के बीच भिन्नता भी जलवायु पर आधारित है। इस प्रकार जलवायु एक प्रदेश की भौतिक अवस्था को बताने वाला मुख्य अवयव ही नही, वरन् प्रत्यक्ष रूप से इसका वनस्पति, मिट्टी, अपवाह प्रणाली और भू-आकारो पर भी प्रभाव पड़ता है। अत. भूगोल मे वायुमण्डल का ज्ञान नितान्त ही आवश्यक है।

8

सूर्याभिताप और तापमान

(INSOLATION AND TEMPERATURE)

सूर्य वायुमण्डल की शक्ति का आदि-स्रोत है। जब हम अपने घर मे अथवा कारखानो में लकड़ी, तेल अथवा कोयला जलाते है तो वस्तुत हम एकत्रित सूर्य शक्ति का ही प्रयोग करते है। क्योकि लकडी, तेल और कोयला परोक्ष रूप मे सूर्य-प्रकाश का ही परिवर्तित रूप है। प्राणी-मात्र के जीवन का आधार ही सूर्य है। मनुष्य का अपना स्वय का अस्तित्व भी सूर्य के बिना कुछ नही। सूर्य के अभाव में न धरातल पर पेड-पौधे उग सकते है, न समुद्रों मे मछलियाँ पनप सकती है और न भूमि पर पशु-पक्षी ही जीवन ग्रहण कर सकते हैं। भू-तल पर समस्त प्रकार का जीवन (वनस्पति, पशु और मानव) सूर्य देव की ही कृपा का फल है।

सूर्य प्रचण्ड रूप से चलती हुई गैसों का प्रकाश-पुंज है और पृथ्वी से सैकडों गुना बड़ा है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सूर्य के धरातल पर लगभग 10,000° फा० से भी अधिक तापमान रहता है। इस प्रकार परम तेजस्वी सूर्य से निरन्तर शून्य मे ताप तरंगों के रूप में शक्ति प्रसारित होती रहती है। प्रति वर्ग गज सूर्य के धरातल से निकलने वाली गर्मी लगभग 1,00,000 अश्व शक्ति के बराबर होती है। यद्यपि पृथ्वी सूर्य से 9,30,00,000 मील ही दूर है, परन्तु धरातल पर प्राप्त अंश सूर्य से प्रसारित शक्ति का केवल दो-अरबवाँ भाग ही होता है। पृथ्वी के समस्त धरातल पर प्रति मिनट इतनी शक्ति प्राप्त होती है जितनी कि मनुष्य जाति एक वर्ष मे उपयोग में लाता है। सूर्य की कुल शक्ति का इतना स्वल्प अंश प्राप्त होते हुए भी पृथ्वी की समस्त भौतिक और जीवन सम्बन्धी घटनाएँ इसी शक्ति पर निर्भर है। संक्षेप मे, सूर्य एक विशाल इजन है, जो कि धरातल की हवाओं और समुद्री धाराओं को चलाता है; मौसम को जन्म देता है और पृथ्वी को मनुष्य जाति के रहने योग्य बनाता है।[1]

पृथ्वी के धरातल और वायुमण्डल की गर्मी का प्रधान स्रोत सूर्य ही है। सूर्य की तुलना में चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे और पृथ्वी के गर्भ से प्राप्त अंश एकदम नगण्य होते है। यह इस बात से विदित है कि साधारणतः दिन मे सूर्य के प्रभाव से तापमान बढ जाता है, परन्तु रात्रि मे जबकि दूसरे सब कारण (चन्द्रमा, नक्षत्र और तारे आदि) कार्यशील रहते हैं फिर भी तापमान घट जाता है। अतः **सूर्य से आने वाली शक्ति को ही सूर्याभिताप** (Insolation) **के विशेष नाम से पुकारा जाता है।** **केण्ड्रू** (Kendrew) महोदय के अनुसार, "The sun is constantly radiating into space the complex of energy which is called insolation." **टार** एवं **मार्टिन** के शब्दों मे, "The radiant energy from the sun which reaches the earth is called

---

1 Trewartha; *Introduction to Weather and Climate*, p. 9

insolation." बायर्स के अनुसार, "Insolation is the rate at which direct solar radiation energy is received on a horizontal surface."[1] ट्रीवार्था ने सूर्यातप की व्याख्या करते हुए कहा है "The radiant energy received from the sun, transmitted in a form analogous to short waves (1/250 to 1/6700 m m. in length) and travelling at the rate of 1,86,000 miles a second, is called solar radiation or insolation."[2] अर्थात् सूर्य से प्राप्त वह शक्ति जो कि लघु तरंगों के रूप मे प्रति सेकण्ड 1,86,000 मील की गति से चलकर भूतल पर पहुँचती है, सौर्य विकिरण अथवा सूर्यातप कहलाती है।

साधारणतः सूर्य से आने वाली शक्ति दिखाई नही देती। सूर्य से प्रसारित शक्ति का कुछ ही अंश हमें प्रकाश के रूप मे दिखाई पड़ता है। प्रकाश वस्तुतः सात विभिन्न लहरों के संयोग का सामूहिक परिणाम है जो कि सात विभिन्न रंगो मे—अर्थात् लाल, नारगी, पीला, हरा, नीला, इण्डिगो और बैगनी मे प्रकट होता है। इनमे लाल रग की लहरे सबसे लम्बी और बैगनी रंग की लहरें सबसे छोटी होती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ बहुत ही सूक्ष्म लहरे होती है जिन्हे पराबैगनी किरणें (Ultra-violet rays) कहा जाता है और कुछ बहुत ही वडी होती हैं जिन्हें परालाल किरणें (Infra-red rays) कहा जाता है। ये किरणें दिखाई नही देती। परन्तु इनका प्रभाव बड़ा दूरगामी होता है। जब किसी पदार्थ का तापमान बहुत ऊँचा होता है तो उससे विकिरण (radiation) बड़ा तीव्र होता है परन्तु उसकी लहरों की लम्बाई छोटी होती है। सूर्य भी इस प्रकार गर्मी का प्रचण्ड पुंज होने से उससे निकलने वाली गर्मी छोटी लहरों के रूप मे प्रकट होती है। **संक्षेप में, धरातल पर प्राप्त सूर्य से प्रसारित शक्ति को ही, जो कि छोटी लहरों के रूप में प्रकट होती है** (1/250 **से** 1/6700 **किमी की लम्बाई से) और जो प्रति सेकण्ड** 1,86,000 **मील की गति से चलकर आती है, सूर्याभिताप** कहा जाता है।[3]

सूर्य से बड़े परिमाण मे चारों ओर शक्ति प्रसारित होती है। परन्तु सूर्य से प्रसारित इस शक्ति का कुछ ही अंश धरातल को प्राप्त होता है। क्योंकि सूर्य से निकलने वाली शक्ति जब धरातल पर पहुँचती है तो उसे वायु के महासमुद्र को पार करके आना पड़ता है। इसलिए धरातल पर आने वाली शक्ति का लगभग आधा भाग मार्ग में ही नष्ट हो जाता है। सूर्य शक्ति का कुछ भाग वायुमण्डल की गैसे हड़प कर लेती हैं, कुछ जलवाष्प और धूल-कण सोख लेते है और कुछ बादलो और वायुमण्डल की ऊपरी तहो से प्रतिबिम्बित होकर पुन शून्य मे चली जाती है। **किम्बॉल** ने नष्ट होने वाली शक्ति का आगणन निम्न प्रकार दिया है :

कुल 100% मे से (1/2 अरबवाँ भाग) 42% प्रतिबिम्बित होकर वापस शून्य में चली जाती है।

11% जलवाष्प सोख लेती है।

4% गैसे और धूल के कण हड़प कर लेते है।

कुल नष्ट 57%

इस प्रकार सूर्य से आने वाली शक्ति का केवल 43 प्रतिशत भाग ही पृथ्वी के धरातल पर पहुँच पाता है।

---

1 Byres : *General Meteorology*

2 Trewartha G. T. : *An Introduction to Climate*, p. 7

3 Byres : *General Meteorology*.

सूर्य से निकलने वाली गर्मी का यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म अंश पृथ्वी पर पहुँच पाता है, फिर भी धरातल पर प्राप्त गर्मी की मात्रा काफी बडी होती है। एबट तथा अन्य विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि वायुमण्डल की बाहरी सीमा पर सूर्य से प्रति मिनट प्रति वर्ग सेण्टीमीटर पर 1·94 कैलोरी गर्मी प्राप्त होती है। सूर्य से आने वाली गर्मी की इस मात्रा में प्राय कोई घटा-बढी नहीं होती। अतएव यह सूर्य की अपरिवर्तनशील शक्ति (solar constant) कहलाती है। परन्तु आधुनिक खोजबीन से यह स्पष्ट हो गया है कि सूर्य से निकलने वाली शक्ति सदा एकर्सा नही रहती। यह अपरिवर्तनशील शक्ति सूर्य के धब्बों (sun spots) के साथ घटती-बढती रहती है। कुछ ही वर्षो की अवधि में इस अपरिवर्तनशील शक्ति में लगभग तीन प्रतिशत का अन्तर पड़ जाता है।

चूँकि वायुमण्डल की गर्मी का एकमात्र बड़ा साधन सूर्य ही है इसलिए जलवायु और मौसम की घटनाओ को भली प्रकार समझने के लिए धरातल पर सूर्याभिताप के वितरण का ज्ञान नितान्त ही आवश्यक है। वायुमण्डल की समस्त घटनाओं और गतियो का एकमात्र अन्तिम कारण सूर्याभिताप मे ही देखा जा सकता है। सूर्य वस्तुत. जलवायु का अकेला सबसे बड़ा निर्णायक है।

धरातल पर सूर्याभिताप का वितरण
(Distribution of Insolation)

पृथ्वी के धरातल पर सूर्यातप का वितरण सर्वत्र एक समान नही पाया जाता। सर्वाधिक सूर्यातप भूमध्य रेखा के 10° उत्तर तथा दक्षिण के मध्यवर्ती क्षेत्र को प्राप्त होता है, क्योंकि यहाँ सूर्य वर्ष भर सीधा चमकता है। ध्रुवों की ओर सूर्यातप की मात्रा कम होती जाती है। ध्रुवों पर तो विषुवत रेखा का केवल 40 प्रतिशत ही सूर्यातप प्राप्त होता है। इस प्रकार धरातल पर सूर्यातप का वितरण अक्षांशो के अनुसार अलग-अलग होता है। सूर्यातप के वितरण पर वायुमण्डल के परावर्तन (reflection), प्रकीर्णन (scattering) तथा अवशोषण (absorption) आदि बातों का भी बड़ा प्रभाव पडता है। इसके बाद जो शेष सूर्यातप पृथ्वी तल पर पहुँचता है, वह पृथ्वी की दैनिक गति तथा अक्षांशो के अनुसार वितरित होता है। यदि पृथ्वी पर वार्षिक सूर्यातप के वितरण को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसको स्पष्ट तीन क्षेत्रों में बाँटा जा सकता है

(i) **निम्न अक्षांशीय मण्डल**—इसका विस्तार कर्क और मकर रेखाओं के मध्य पाया जाता है। इस भाग मे वर्ष भर ऊँचा सूर्यातप प्राप्त होता है। सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने के साथ इस क्षेत्र में प्रत्येक स्थान वर्ष मे दो बार अधिकतम और दो बार न्यूनतम सूर्यातप प्राप्त करता है।

(ii) **मध्य अक्षांशीय मण्डल**—इसका विस्तार $23\frac{1}{2}°$ से $66\frac{1}{2}°$ अक्षांशों के मध्य है। यह क्षेत्र वर्ष मे कभी भी सूर्यातप से शून्य नही रहता। इस क्षेत्र के प्रत्येक स्थान पर वर्ष में एक बार अधिकतम और एक बार न्यूनतम सूर्यातप प्राप्त होता है।

(iii) **ध्रुवीय मण्डल**—यह मण्डल $66\frac{1}{2}°$ अक्षांश से ध्रुवो तक विस्तृत है। इस क्षेत्र में वर्ष में एक बार अधिकतम और एक बार न्यूनतम सूर्यातप प्राप्त होता है। वर्ष के कुछ महीनों में सूर्य के अभाव के कारण यहाँ सूर्यातप शून्य रहता है।

धरातल के किसी भी भाग पर प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा निम्न बातों पर निर्भर करती है:

(1) **धरातल से सूर्य की ऊँचाई**—धरातल पर सूर्य की किरणों द्वारा निर्मित कोण अक्षांश तथा वर्ष और दिन के समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। कर्क और मकर रेखाओं के बीच सभी स्थानों पर प्रतिवर्ष सूर्य एक या दो दिन ही लम्बवत् चमकता है और साधारणत: सभी ऋतुओं में अपेक्षतया ऊँचा रहता है। परन्तु कर्क और मकर रेखाओं के बाहर कभी भी सूर्य लम्बवत् नही चमकता। अक्षांशो की ऊँचाई के साथ ही साथ धरातल से सूर्य की ऊँचाई भी घटती जाती है। ऋतुओं के साथ इसमें और भी परिवर्तन आ जाता है। अतः धरातल से सूर्य की ऊँचाई और

धरातल पर प्राप्त गर्मी मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। धरातल से सूर्य की जितनी अधिक ऊँचाई होगी, धरातल पर प्राप्त गर्मी भी उतनी ही अधिक होगी। क्योकि धरातल से सूर्य की ऊँचाई के साथ ही सूर्य की किरणो द्वारा बनने वाला कोण निर्भर करता है। जब सूर्य धरातल के ऊपर ठीक लम्बवत् होता है तो किरणे सीधी पड़ती है और अधिक गर्मी देती है। परन्तु सूर्य की किरणें जब तिरछी पडती है तो कम गर्मी देती है। तिरछी किरणो से कम गर्मी प्राप्त होने के दो कारण है। पहला तिरछी किरणें सीधी किरणो की अपेक्षा धरातल के अधिक भाग को घेरती हैं, इसलिए उन्हें धरातल के अधिक भाग को गरम करना पड़ता है। दूसरा, तिरछी किरणो को वायुमण्डल का अधिक भाग पार करना पडता है जिससे वायुमण्डल मे उनकी अधिक गर्मी नष्ट हो जाती है। यह बात इस उदाहरण से और भी स्पष्ट है। गंगा नदी के डेल्टा में सूर्य की किरणे धरातल पर 21 दिसम्बर को 45° और 21 जून को 90° का कोण बनाती है। दूसरे शब्दो मे, कलकत्ता के आसपास के भाग मे 21 दिसम्बर को 21 जून को प्राप्त होने वाली गर्मी की 70 प्रतिशत गर्मी ही प्राप्त होती है।[1] इस तरह तिरछेपन के साथ किरणो की शक्ति घटती जाती है। वायुमण्डल में नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा को अंगोट ने अपने ग्राफ मे भली प्रकार स्पष्ट किया है।

चित्र 79—वायुमण्डल द्वारा नष्ट गर्मी

(2) **दिन और रात की लम्बाई का अन्तर**—परिभ्रमण और परिक्रमण पृथ्वी की दो गतियाँ है। परिभ्रमण गति द्वारा पृथ्वी अपनी धुरी पर बराबर चक्कर लगाती है और परिक्रमण द्वारा वह अपने कक्ष (orbit) पर $66\frac{1}{2}°$ का कोण बनाती हुई सूर्य के चारो ओर घूमती है। इन गतियो के कारण ही पृथ्वी पर दिन-रात तथा ऋतु-परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दो मे, इसका

चित्र 80—अक्षांश तथा दिन की लम्बाई

प्रभाव धरातल से सूर्य की ऊँचाई, मौसम तथा अक्षांश के अनुसार सूर्य प्रकाश के घण्टों (Duration of Sun-shine) पर होता है। अर्थात् भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे विभिन्न अक्षांशों पर दिन और रात की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है, जिसका प्रभाव पृथ्वी पर सूर्याभिताप की न्यूनाधिक मात्रा पर पड़ता है। किसी स्थान पर जितना ही सूर्य ऊँचा और अधिक देर तक चमकता है वहाँ उतना

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, pp. 372-73

ही अधिक सूर्याभिताप प्राप्त होता है। भूमध्य रेखा पर दिन-रात सदा ही बराबर होते है, परन्तु भूमध्य रेखा से दूर दिन-रात की लम्बाई का अन्तर बराबर बढता जाता है। केवल 21 मार्च और 22 सितम्बर को अर्थात् बसन्त-विषुव (Spring Equinox) और शरद्-विषुव (Autumn Equinox) की तिथियों को पृथ्वी पर सर्वत्र ही दिन और रात बराबर होते है। लेकिन 21 दिसम्बर के बाद अर्थात् मकर-सक्रान्ति (Winter solstice) के पश्चात् 21 जून तक अर्थात् कर्क-सक्रान्ति (Summer solstice) तक क्रमशः उत्तरी गोलार्द्ध मे दिन बड़े और दक्षिणी गोलार्द्ध मे छोटे होते जाते है। परन्तु 21 जून के बाद 21 दिसम्बर तक पुनः दक्षिणी गोलार्द्ध मे दिन धीरे-धीरे बडे होने लगते है और उत्तरी गोलार्द्ध मे क्रमशः छोटे।

चित्र 81—रात्रि, गो-धूलि तथा दिन में सम्बन्ध

विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर ग्रीष्म में दिन की लम्बाई और जाड़े मे रात की लम्बाई उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :

भिन्न-भिन्न अक्षांशो पर दिन की अधिकतम लम्बाई[1]

अक्षांश	अधिकतम लम्बा दिन अथवा रात
0	12 घण्टे
17	13 ,,
31	14 ,,
41	15 ,,
49	16 ,,
58·5	18 ,,
63·4	20 ,,
66·5	24 ,,
67·4	1 महीना
69·8	2 ,,
78·2	4 ,,
90·0	6 ,,

धरातल से सूर्य की अधिक ऊँचाई और सूर्य-प्रकाश के अधिक घण्टे दोनों ही मिलकर उष्ण कटिबन्ध के बाहर ग्रीष्मऋतु मे अधिक सूर्याभिताप पहुँचाते है। उदाहरणतः, 21 जून को उत्तरी ध्रुव पर सूर्य द्वारा प्राप्त गर्मी इतनी अधिक होती है जितनी वर्ष मे किसी भी दिन विषुवत रेखा पर भी प्राप्त नही होती।[2] परन्तु इस ऋतुवत परिवर्तन के विपरीत विषुवत रेखा

---

1 Blair : *Climatology*, p. 9
2 *Ibid.* : p. 10

पर वर्ष-भर मे सबसे अधिक गर्मी प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यो विषुवत रेखा से हम उत्तर या दक्षिण को जाते है गर्मी की यह मात्रा घटती जाती है। नीचे की तालिका से यह तथ्य प्रकट है।[1]

अक्षांश	0°	10°	20°	30°	40°	50°	60°	70°	80°	90°
प्रतिशत	100	99	95	88	79	68	57	47	43	42

(3) **वायुमण्डल की मोटाई**—ऊपर बताया जा चुका है कि तिरछी किरणे न केवल धरातल के अधिक भाग को घेरती है, वरन् उन्हें वायुमण्डल के अधिक भाग को पार करके आना पड़ता है। अतएव उनकी बहुत अधिक शक्ति वायुमण्डल मे ही नष्ट हो जाती है। वायु मे मिली वाष्प और
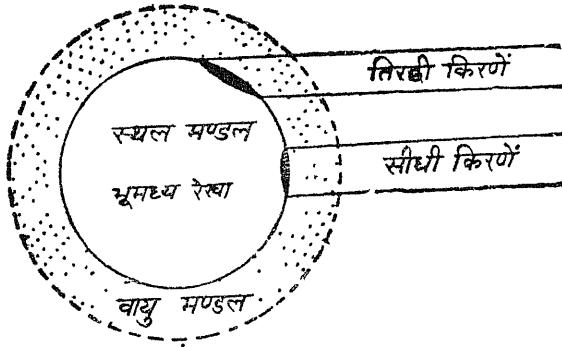
चित्र 82—वायुमण्डल की मोटाई

कार्बन गैस सूर्य-किरणों की बहुत अधिक शक्ति स्वयं सोख लेती है जिससे धरातल के उस भाग में अपेक्षतया कम गर्मी मिल पाती है। यही कारण है कि उष्ण कटिबन्ध के बाहर कम और उसके अन्दर अधिक गर्मी प्राप्त होती है।

पाटर्सन के अनुसार भिन्न-भिन्न अक्षांशों पर सूर्य की ऊँचाई और वायुमण्डलीय मार्ग की आपेक्षिक लम्बाई[2]

सूर्य की ऊँचाई	वायुमण्डल की आपेक्षिक लम्बाई
90° (भूमध्य रेखा पर)	1
60°	1·15
30°	2
10°	5·7
0° (ध्रुवों पर)	44·7

1 *Ibid.*
2 Dubey : *Physical Basis of Geography*, p. 50

(4) **वायुमण्डल की अवस्था**—धरातल पर प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा बहुत कुछ वायुमण्डल की अवस्था पर निर्भर करती है। वायुमण्डल द्वारा सूर्य से आने वाली शक्ति के प्रतिबिम्बित और हड़प करने की मात्रा के अनुसार पृथ्वी पर पहुँचने वाली मात्रा मे भी अन्तर पड़ जाता है। आकाश की मेघाच्छन्नता (cloudiness), आर्द्रता (humidity) और धूल आदि वायुमण्डल की परिवर्तनशील दशाएँ धरती पर पहुँचने वाली सूर्याभिताप की मात्रा को निरन्तर बदलती रहती है। सन् 1784 मे बी० फ्रेंकलिन ने बताया कि सन् 1783-84 के कठोर जाड़े का कारण हवा में अपार धूल की राशि का पाया जाना था। वायुमण्डल मे छायी हुई धूल सूर्य शक्ति को धरती पर पहुँचने मे बाधा उपस्थित करती है। वायुमण्डल में यह धूल ज्वालामुखी के विस्फोट अथवा भीषण उल्काओं के विनाश से प्राप्त होती है। ज्वालामुखी विस्फोट से धूल की बहुत बड़ी राशि आकाश में छा जाती है और उसको पुनः धरती पर आने और जमने मे एक से तीन साल लग जाते है। **हम्फ्रीज** ने गणना करके यह बताया है कि ज्वालामुखी धूल के कारण सूर्य से आने वाली शक्ति और धरातल से निकलने वाली शक्ति मे 30 : 1 के अनुपात मे कमी पड़ जाती है। सन् 1912 मे किये गये परीक्षण से पता चला है कि कटमाई (Katmai) विस्फोट के कारण आकाश में जो धूल फैल गयी थी, उसके कारण पृथ्वी पर पहुँचने वाली सूर्याभिताप की मात्रा मे 20 प्रतिशत की कमी पड़ गयी। यदि वह धूल आकाश में लम्बे समय तक छायी रहती तो पृथ्वी का औसत तापमान इतना नीचे चला जाता कि भू-तल पर एक नवीन हिमयुग का सूत्रपात सम्भव हो जाता।[1]

आकाश की मेघाच्छन्नता भी सूर्याभिताप पर गहरा प्रभाव डालती है क्योंकि मेघ सूर्याभिताप को पुनः प्रतिबिम्बित करने में बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते है। इस कारण धरातल पर आने वाली सूर्य-शक्ति में कुछ न्यूनता आ जाती है। अत. किसी भी स्थान का औसत वार्षिक तापमान वहाँ की मेघाच्छन्नता पर निर्भर करता है। उदाहरणत., अफ्रीका में सबसे ऊँचे औसत वार्षिक तापमान भूमध्य रेखा पर नही पाये जाते जहाँ कि सूर्य से आने वाली शक्ति की मात्रा सबसे अधिक रहती है, परन्तु वे भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण मरुस्थलो पर पाये जाते है जहाँ कि आकाश सदा स्वच्छ रहता है। अफ्रीका मे भूमध्य रेखा पर औसत वार्षिक तापमान 82° फा० रहते है परन्तु 20° उत्तरी अक्षाश पर स्थित सहारा मे तापमान का वार्षिक औसत 89° फा० रहता है। यद्यपि यहाँ सूर्य की किरणो द्वारा निर्मित कोण अपेक्षतया छोटा होता है किन्तु भूमध्य रेखा (5·5 दशाश) की अपेक्षा सहारा (2·4 दशाश) पर मेघो की मात्रा की कमी उसको भूमध्य रेखा से 6° मे 7° फा० तक अधिक गरम कर देती है।[2] हारविज (Haurwitz) ने काफी खोजबीन करके यह पता लगाया है कि मेघाच्छन्नता की विभिन्न अवस्थाओं मे सूर्याभिताप का वार्षिक औसत प्रतिशत निम्न प्रकार रहता है :[3]

मेघाच्छन्नता (दशांश)	0;	1-3	4-7	8-9	10
सूर्याभिताप (प्रतिशत)	100;	93	82	68	41

(5) **सौर कलंकों की संख्या**—चन्द्रमा के समान सूर्य के पृष्ठ पर भी कलंक है। इनका कोई निश्चित स्वरूप नही है। कुछ कलंक गहरे काले और कुछ उथले दिखाई पड़ते है। ये बराबर बनते और मिटते रहते हैं। धरातल पर प्राप्त होने वाली सौर-शक्ति और सूर्य-कलंकों की संख्या मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब सूर्य-कलंकों की सख्या अधिक होती है तो सौर-शक्ति भी अधिक प्राप्त होती है। कलंकों की संख्या कम होते ही सौर-शक्ति की मात्रा भी कम हो जाती है। ऐसा

---

[1] C. E. P. Brooks : *Climate Through the Ages*, p. 118

[2] *Ibid.*, p. 124

[3] Haurwitz : *Climatology*, p. 122

अनुमान लगाया गया है कि कलंकों के घटते-बढ़ते रहने से धरातल पर पहुँचने वाली सूर्याभिताप की मात्रा मे सौर-स्थिरांक (solar constant) की औसत से तीन प्रतिशत तक का अन्तर पड़ जाता है।

चित्र 83—**सूर्य-कलंक और सूर्य-ताप**

(6) **पृथ्वी से सूर्य की दूरी**—पृथ्वी की कक्ष जिस पर कि वह सूर्य की परिक्रमा करती है, गोल न होकर कुछ अण्डाकार है। अतः सूर्य से पृथ्वी की दूरी सदैव एकसमान नही होती। उपसौरिका (perhelion) की अपेक्षा अपसौरिका (aphelion) की दशा मे सूर्य से पृथ्वी की दूरी अधिक होती है। अपसौरिका की अवस्था में पृथ्वी पर सूर्य से कम शक्ति प्राप्त होती है और उपसौरिका की दशा में अधिक। 21 जून को पृथ्वी से सूर्य की दूरी 9,40,00,000 मील रहती है और 22 दिसम्बर को यह दूरी 9,15,00,000 मील रहती है। अतः जून की अपेक्षा दिसम्बर में पृथ्वी पर प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा 7 प्रतिशत अधिक होती है। यही कारण है कि दक्षिणी गोलार्द्ध अपनी ग्रीष्मऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्मऋतु की अपेक्षा अधिक सूर्याभिताप प्राप्त करता है। किन्तु चूँकि उत्तरी गोलार्द्ध मे ग्रीष्मकाल अधिक लम्बा होता है, इसलिए दोनों गोलार्द्धों में वर्ष-भर की अवधि मे प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा लगभग समान होती है।

चित्र 84—**पृथ्वी की सूर्य से दूरी और सूर्य-ताप**

(7) **धरातल का रंग**—सौर-ताप के वितरण पर धरातल के रंग का भी प्रभाव होता है। जहाँ धरातल की मिट्टी काले अथवा गहरे रंग की होती है वहाँ वह अधिक सौर-ताप को ग्रहण करती है। इसके विपरीत हल्के रंग अथवा रंगहीन मिट्टी वाला धरातल अपेक्षतया कम ताप सोखता है।

(8) **धरातल की प्रकृति**—धरातल की प्रकृति भी सौर-ताप के वितरण को बहुत अधिक प्रभावित करती है। धरातल की कुछ वस्तुएँ सौर-ताप को अधिक प्रतिबिम्बित करती है और कुछ कम। अतः जिन भागों मे प्रतिबिम्बन अधिक होता है वहाँ सौर-ताप की मात्रा कम रहती है और जहाँ प्रतिबिम्बन कम होता है वहाँ सौर-ताप की मात्रा अधिक होती है। यही कारण है कि साधारण मिट्टी वाला धरातल पथरीले एवं बर्फीले धरातल की अपेक्षा शीघ्र गरम हो जाता है क्योकि पथरीले और बर्फीले भागों का धरातल चिकना और चमकदार होता है जो ताप को अधिक प्रतिबिम्बित करता है।

लैण्ड्सबर्ग के अनुसार प्रतिबिम्बन से ताप-तरंगों का प्रतिशत ह्रास निम्न प्रकार रहता है :

धरातल	प्रतिबिम्बन से प्रतिशत ह्रास
हिम	80 से 90
बालू	13 से 18
वनस्पति	7 से 9
समुद्र जल	3 से 40

धरातल के जिन भागों मे जल की प्रधानता होती है, वे सौर-ताप को कम सोखते है। स्थल प्रधान भाग सौर-ताप को अधिक ग्रहण करते है। इसी तरह कठोर भूमि वाले भाग वनस्पतिहीन भुरभुरी भूमि वाले भागों की तुलना में कम ताप प्राप्त करते हैं। मरुस्थलीय प्रदेश इसी कारण अधिक गरम होते है।

(9) **जल और स्थल का प्रभाव**—जल और स्थल भिन्न-भिन्न तापमान पर गरम और ठण्डे होते हैं। अतः धरातल पर जल और स्थल का वितरण भी सौर-ताप की मात्रा को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।

सौर-ताप के वितरण का प्रभाव

पृथ्वी के धरातल पर सौर-ताप का वितरण असमान है। इस असमान वितरण का कई बातो पर प्रभाव पड़ता है। ध्रुव प्रदेशों की अपेक्षा विषुवतरेखीय प्रदेश अधिक गरम होते हैं। समुद्रो की अपेक्षा स्थल भाग अधिक गर्मी प्राप्त करते है। इसी तरह दिन को रात्रि की अपेक्षा और ग्रीष्म में शीतऋतु की अपेक्षा अधिक गर्मी प्राप्त होती है। मैदानी और मरुस्थलीय भाग अधिक गरम किन्तु पहाड़ी भाग कम गरम होते है।

वायुमण्डल का तापमान
(Air Temperature)

यद्यपि पृथ्वी के धरातल पर ताप का सबसे बडा साधन सूर्य ही है, परन्तु वायुमण्डल की हवा सूर्याभिताप द्वारा अंशतः ही गरम हो पाती है। सूर्याभिताप के सीधे सम्पर्क में आने वाली वायुमण्डल की हवा सूर्याभिताप की केवल 15 प्रतिशत शक्ति ही ग्रहण करती है। इसका कारण यह है कि सूर्य से आने वाली शक्ति सूक्ष्म लहरों (short waves) के रूप में आती है जिसे वह ग्रहण नही कर पाती। अतः सूर्य से आने वाली शक्ति पहले पृथ्वी के धरातल द्वारा ग्रहण की जाती है जो उसे पार्थिव शक्ति (Terrestrial eneıgy) में बदल देती है। यही पार्थिव शक्ति पुनः धरातल से लम्बी लहरों (long waves) के रूप मे बाहर निकलती है और अपने आसपास की वायु को गरम कर देती है। वायुमण्डल इस प्रकार सूर्य द्वारा परोक्ष रूप से तथा पृथ्वी द्वारा प्रत्यक्ष रूप से गरम होता है। इस तरह वायुमण्डल को गरम करने का मुख्य साधन पार्थिव ताप ही है।

पृथ्वी के धरातल की सरचना और उसकी अवस्थाएँ सर्वत्र एकसमान नही हैं। धरातल पर कहीं बड़े-बड़े समुद्र है और कही बड़े-बड़े महाद्वीप। कही लम्बे-चौड़े मरुस्थल है और कही विशाल बर्फ के मैदान। अतः पृथ्वी की ये भिन्नताएँ धरातल पर सूर्याभिताप को भिन्न प्रकार से प्रभावित करती हैं। इसलिए पृथ्वी के धरातल के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न प्रकार से ही गरम और ठण्डे होते है। धरातल की इन भिन्नताओं में जल और स्थल का विभेद ही प्रधान है। अतः इनके गरम और ठण्डे होने की विधियाँ भी भिन्न हैं जिसके निम्न कारण है :

(1) थल की अपेक्षा जल में सूर्य की रश्मियाँ बहुत अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं। इस कारण उन्हें जल के अधिक भाग को गरम करना पड़ता है। परन्तु ठोस पृथ्वी पर सूर्य की किरणे धरातल के समीप ऊपरी भाग में केन्द्रित रहती हैं जिससे स्थल का तापमान दिन में

बहुत शीघ्र बढ जाता है और रात्रि को पुनः शीघ्रता से घट जाता है। इसके विपरीत जल सूर्य-रश्मियों के अधिक गहराई तक पहुँचने के कारण धीरे-धीरे ही गरम होता है और धीरे-धीरे ही ठण्डा।

(2) धरातल के समुद्रों का बहुत-सा जल वाष्पीकरण द्वारा सदैव उडता रहता है। परन्तु धरातल के भू-खण्डों मे वाष्प बनने की ऐसी कोई व्यवस्था नही देखी जाती। जल के वाष्प रूप मे बदलने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। अस्तु, स्थल की अपेक्षा जल को गरम करने के लिए अपेक्षतया कम शक्ति प्राप्त होती है।

(3) समुद्र का जल चंचल है। वह कभी शान्त नही रहता। धाराएँ, लहरे और ज्वार-भाटा जैसी समुद्र की गतियाँ जल की उष्णता को एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा ऊपरी धरातल से निम्न धरातल को पहुँचाती रहती है। इस कारण समुद्र जल के उष्ण तथा ठण्डे होने मे विलम्ब हो जाता है। यही कारण है कि समुद्र जल के ऊपर की वायु का दिन-रात अथवा गर्मी व जाड़े के तापमान का अन्तर बहुत ही कम होता है। परन्तु स्थल भाग स्थिर होने के कारण गर्मी एक ही स्थान पर एकत्रित होती रहती है, जिससे धरातल के कुछ भागो मे तापमान का दैनिक अन्तर बहुत ही अधिक होता है।

(4) जल का सापेक्षिक घनत्व अधिक होने से थल की अपेक्षा जल को गरम करने में अधिक ताप शक्ति की जरूरत होती है। उदाहरणत एक घन फुट पानी को एक अंश गरम करने में एक घन फुट भूमि से दुगने ताप की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार यदि जल एक अंश ठण्डा होता है तो स्थल उसी समय मे दुगुना ठण्डा हो जायगा।

(5) समुद्र का जल पूर्णरूप से गरम या ठण्डा तभी होता है जबकि सम्पूर्ण जल पिण्ड गरम या ठण्डा नही हो जाता। जल की ऊपरी सतह जब ठण्डी होने लगती है तो निचली गरम सतहों से सवहन धाराएँ आकर ऊपरी सतह को भी गरम बनाये रखती है।

(6) स्थल की अपेक्षा जल मे प्रतिबिम्बन शक्ति अधिक है। इसलिए जल पर पड़ने वाली सूर्य-किरणों की अधिकतर शक्ति प्रतिबिम्बित होकर नष्ट हो जाती है और जल को गरम करने में किसी प्रकार का योग नही देती। परन्तु पृथ्वी के धरातल से सूर्य-किरणों का बहुत कम प्रति-बिम्बन होता है। इस तरह धरातल को गरम करने मे अधिक सूर्य-शक्ति प्राप्त होती है।

(7) सामान्यत समुद्र बादलों से घिरे रहते है। बादल सूर्याभिताप को धरातल तक पहुँचने तथा पार्थिव शक्ति के पुनः निकलने मे अवरोध उपस्थित करते है। इसका जल के गरम होने तथा ठण्डा होने दोनों पर प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप समान सूर्याभिताप मिलने की अवस्था मे जल भागों की अपेक्षा स्थल भाग बहुत शीघ्र और अधिक गरम होते है और उसी प्रकार ठण्डे भी। इस अन्तर के कारण धरातल पर महाद्वीपीय और महासागरीय दो प्रमुख जलवायु प्रकट होती है। महाद्वीपीय जलवायु अधिक तापमान भेद के कारण 'विषम' (extreme) और महासागरीय जलवायु न्यून तापान्तर के कारण 'सम' (equable) कहलाती है।

वायुमण्डल का गरम तथा ठण्डा होना

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वायुमण्डल को गरम करने का सबसे बड़ा साधन पार्थिव शक्ति (terrestrial energy) ही है। परन्तु वे कौनसी भौतिक क्रियाएँ है जिनसे वायु ताप ग्रहण करती है और पुनः छोडती है, उन पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। जिन भौतिक क्रियाओं द्वारा वायुमण्डल गरम तथा ठण्डा होता है वे निम्न है :

(1) **सीधे सूर्याभिताप के प्रभाव से हवा का गरम होना**—सूर्य से प्रसारित शक्ति सूक्ष्म लहरों के रूप मे प्रकट होकर आती है। अतएव वायुमण्डल द्वारा सौरताप अपेक्षतया कम ही ग्रहण

किया जाता है। वायु द्वारा इस तरह ग्रहण किया गया ताप कुल सौर-ताप का केवल 15 प्रतिशत ही होता है। इसका भी आधा ताप धरातल के ऊपर दो किलोमीटर ऊँचाई तक की वायु द्वारा ग्रहण किया जाता है और शेष आधा वायुमण्डल के ऊपरी भाग मे फैला रहता है। इस प्रकार
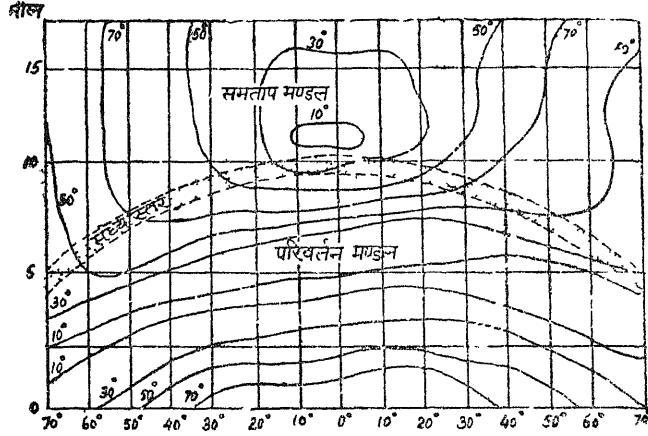
चित्र 85—वायुमण्डल में ताप का वितरण

उपरोक्त विधि से धरातल के समीप दिन का तापमान अंशतः ही बढ पाता है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि प्रायः जाड़े के दिनों मे जबकि पृथ्वी का धरातल प्रतिबिम्बित बर्फ की चादर से ढका रहता है तो हवा का तापमान सूर्य की प्रखर किरणों के उपरान्त भी बहुत कम रहता है। सूर्य से आने वाली शक्ति का अधिकतर भाग वायु मे मिली जलवाष्प और धूल-कणो द्वारा ग्रहण किया जाता है।

(2) **संचालन** (Conduction)—सचालन एक ऐसी भौतिक क्रिया है जिसके द्वारा ताप-शक्ति किसी पदार्थ द्वारा एक अणु से दूसरे अणु को स्थानान्तरित होती है। जैसे यदि लोहे की छड़ का एक सिरा गरम किया जाय तो सचालन द्वारा छड़ का दूसरा सिरा भी गरम हो जाता है। संचालन सदैव गरम पदार्थ से ठण्डे पदार्थ मे होता है और जब तक दोनो पदार्थो का एक ही तापमान नही हो जाता, यह क्रिया चलती रहती है। दिन के समय पृथ्वी का धरातल सौर-ताप द्वारा गरम हो जाता है। इस कारण जब वायुमण्डल की शीतल वायु तप्त धरातल के सम्पर्क में आती है तो संचालन के द्वारा वह भी गरम हो जाती है। सर्दी की ऋतु मे रात्रि के समय जब निर्मल आकाश होता है तो धरती से शीघ्र ही बहुत अधिक ताप शून्य मे प्रसारित हो जाता है। इससे धरातल का तापमान ऊपर की वायु के तापमान से भी बहुत अधिक गिर जाता है। अत: धरातल से लगी हुई वायु वायुमण्डल के ऊपर की वायु से अधिक शीतलता प्राप्त कर लेती है। सामान्यत: वायु में संचालन बहुत कम मात्रा में होता है। एक दिन अथवा रात मे इसके द्वारा धरातल से कुछ फुट ऊपर तक ही प्रभाव हो पाता है। पर चूँकि वायुमण्डल मे कई विक्षोभ होते रहते है जिससे यह प्रभाव वायुमण्डल मे बहुत दूर तक पहुँच जाता है। संचालन द्वारा वायु का गरम होना मुख्यतः ग्रीष्मऋतु तथा दिन की क्रिया है। वायुमण्डल मे ताप स्थानान्तरण की अन्य विधियो की तुलना में संचालन विधि बहुत कम महत्त्वपूर्ण है।

(3) **संवहन** (Convection)—किसी स्थान की वायु जब सचालन और विकिरण द्वारा बहुत अधिक गरम हो जाती है तो गर्मी पाकर वायु हल्की हो जाती है। परन्तु इसके आसपास ठण्डी और भारी वायु विद्यमान रहती है। आसपास की यह शीतल और भारी वायु इस उष्ण और हल्की वायु को ऊपर की ओर धकेलती है। इस प्रकार उष्ण वायु ऊपर उठती है और ठण्डी वायु

उसका स्थान लेने के लिए नीचे आती है। गरम और ठण्डी वायु के क्रमश ऊपर-नीचे चलने की क्रिया से जो तापमान का स्थानान्तरण होता है, उस क्रिया को ही सवहन कहा जाता है। संवहन धाराएँ न केवल निचले वायुमण्डल में ही ताप को स्थानान्तरित करती है, अपितु ऊपरी वायुमण्डल को गरम करने मे भी मदद करती है।

वायु की इस साधारण सवहन विधि के अतिरिक्त कभी-कभी वायुमण्डल मे अन्य ढंगो से भी भारी उथल-पुथल हो जाती है जिससे वायु बड़ी शीघ्रता से ऊपर-नीचे चलने लगती है।

सवहन से सम्बन्धित दूसरी महत्त्वपूर्ण क्रिया वाष्पीकरण और सघनन है। जब धरातल से जल वाष्प रूप मे परिणत होता है तो इस क्रिया मे व्यय होने वाली बहुत अधिक ताप-शक्ति धरातल मे जलवाष्प में गुप्त ताप-शक्ति (latent heat) के रूप मे ऊपर पहुँच जाती है। जब जलवाष्प
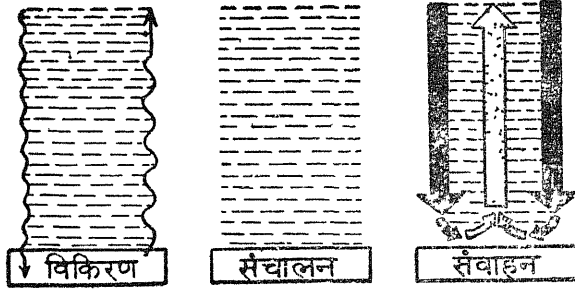
चित्र 86—वायु के गरम होने की विधियाँ

ऊपर सघन होकर बादल बनने लगती है तो यह गुप्त ताप-शक्ति (latent heat) पुनः वायुमण्डल में छोड़ दी जाती है जिससे वायुमण्डल की हवा गरम हो जाती है।

(4) **विकिरण** (Radiation)—सूक्ष्म लहरों के रूप में आने वाली सौर-शक्ति पहले पृथ्वी के धरातल द्वारा ग्रहण की जाती है। धरातल इसे ग्रहण कर ताप मे बदल देता है। सूर्याभिताप को इस प्रकार ग्रहण करने और उसे ताप मे बदल देने से पृथ्वी का धरातल गरम हो उठता है। फलतः उत्तप्त धरातल ताप को पुन: शून्य मे प्रसारित करने लगता है। यद्यपि वायुमण्डल सूक्ष्म लहरों के रूप मे आने वाली सौर-शक्ति को अपेक्षाकृत बहुत ही कम मात्रा (15%) मे सीधे तौर पर ग्रहण कर पाता है परन्तु वह लम्बी लहरो के रूप मे निकलने वाली धरातल की पार्थिव शक्ति का 90 प्रतिशत भाग ग्रहण कर लेता है। जैसा कि पहले बताया गया है, जलवाष्प ताप को ग्रहण करने वाली प्रमुख गैस है। जलवाष्प द्वारा ताप ग्रहण करने की इस शक्ति का धरातल से प्रसारित होने वाली शक्ति (heat) पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हम देखते है कि मरुस्थलो मे जहाँ वायु प्राय: शुष्क और आकाश स्वच्छ रहता है रात्रि को बहुत शीघ्र तापमान गिर जाते है। वस्तुतः वायुमण्डल का प्रभाव उस खिड़की के काँच के समान है जो सूक्ष्म लहरों के रूप में आने वाली सूर्य शक्ति को तो निकलने देता है परन्तु धरातल से लम्बी लहरो के रूप मे निकलने वाली शक्ति को रोक देता है। इस तरह यह धरातल के तापमान को काफी ऊँचा बनाये रखता है। इस क्रिया को इस कारण वायुमण्डल का **ग्रीन हाउस इफेक्ट** (Green House Effect) कहा जाता है।

वायुमण्डल के ऊपरी भाग मे कई प्रकार की गैसे—कार्बन, ऑक्सीजन और ओजोन आदि —और धूल-कण भी स्वतन्त्र रूप से सूर्याभिताप को ग्रहण करते है और फिर गरम होकर स्वयं ताप-शक्ति को प्रसारित करते है। इनके द्वारा प्रसारित ताप पृथ्वी के धरातल को गरम करने मे महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। इस प्रकार यह पृथ्वी से नष्ट होने वाली ताप-शक्ति को बनाये रखने में सहयोग देता है। उष्ण कटिबन्ध के बाहर जाड़े के मौसम मे गरमी का सबसे बड़ा साधन होता है।

ताप के स्थानान्तरण में संचालन, संवहन तथा वायु-वहन आदि कई विधियाँ प्रयोग में आती है। इन समस्त विधियो द्वारा ताप स्थानान्तरण मे किसी भौतिक साधन की आवश्यकता होती है। परन्तु इन सबके प्रतिकूल विकिरण एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा शून्य में ताप का स्थानान्तरण बिना किसी भौतिक साधन के ही सरलता से हो सकता है। अत. यही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सूर्य से गर्मी प्राप्त की जा सकती है या पृथ्वी अपनी समस्त शक्ति पूरी तरह शून्य मे प्रसारित कर सकती है। चूंकि पृथ्वी सदा ही अपेक्षतया स्थिर तापमान (constant temperatuıes) बनाये रखना चाहती है, इसलिए यह आवश्यक है कि वह सूर्य से जितनी शक्ति प्राप्त करती है वह धरातल से निकलकर शून्य मे नष्ट होने वाली शक्ति के बराबर हो जाय।

(5) **वायु-वहन**—धरातल पर प्राय: एक स्थान की वायु दूसरे स्थान की ओर प्रवाहित होती रहती है। हवा के प्रवाह के साथ उसका तापमान भी रहता है। अत· जब कोई वायु राशि एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचती है तो वह उस स्थान के तापमान को भी परिवर्तित कर देती है। गरम स्थानों से आने वाली हवा का प्रभाव गरम और ठण्डे स्थानो से आने वाली हवा का प्रभाव ठण्डा होता है।

सम्पूर्ण पृथ्वी को ध्यान मे रखते हुए ताप स्थानान्तरण की यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधि है। यही नही, मध्य अक्षाशों में जहाँ दिन-प्रतिदिन मौसम बदलता रहता है और जाडो मे बहुत तूफान आया करते है, उन सबका एकमात्र कारण धरातल पर चलने वाली ये हवाएँ ही है। पवनो का यह वहन उन स्थानों पर विशेष महत्त्वपूर्ण होता है जहाँ उन्हें रोकने के लिए कोई पहाड़ आदि नही होते। उत्तरी अमरीका के पूर्वी भाग मे जहाँ मैदान ही मैदान है, उत्तर से चलने वाली ठण्डी हवाएँ मेक्सिको की खाड़ी तक पहुँच जाती हैं, जिससे वहाँ कई बार भीषण पाला गिरने लगता है।

(6) **दाब परिवर्तन** (Adiabatic Change)—जब वायु ऊपर उठती है तो वह नीचे के अधिक दाब वाले प्रदेश से ऊपर के कम दाब वाले प्रदेश को पहुँच जाती है। इसलिए ज्यों-ज्यो वायु ऊपर उठती है वह नीचे की वायु के दाब से मुक्त होती जाती है। वायु के दाब मुक्त होने से वह फैलती है। वायु के इस प्रकार फैलने मे उसको अपने आसपास की वायु को धकेलना पड़ता है जिससे उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। फलत वायु के ऊपर उठकर फैलने से वह ठण्डी हो जाती है। इस क्रिया के द्वारा प्रति 1000 फुट की ऊँचाई पर वा‍ु का लगभग 5·3° फा० तापमान तक हो जाता है।

जिस प्रकार ऊपर उठती हुई वायु ठण्डी होती है उसी प्रकार नीचे उतरती हुई वायु गरम होती है। क्योंकि वायु जब ऊपर से नीचे आती है तो वह कम वायुदाब के प्रदेश से अधिक वायुदाब के प्रदेश को स्थानान्तरित हो जाती है। ऊपर से आने वाली हल्की वायु को नीचे आने पर घनी और अधिक दाब वाली वायु-तहो को पार करना पड़ता है जिससे उसके ऊपर बराबर सम्पीडन (compression) बढता है। सम्पीडन के कारण उसका तापमान बढ जाना है। इस सम्पीडन द्वारा वायु के गरम होने और फैलाव द्वारा ठण्डा होने मे किसी प्रकार ताप का स्थानान्तरण नही होता, बल्कि वायु के तापमान मे यह परिवर्तन वायु के दबाव के घटने-बढ़ने से होता है।

तापमान का दैनिक परिवर्तन
(Daily Range of Temperature)

पृथ्वी की दैनिक गति और उसकी गोलाई के कारण प्रत्येक समय उसका केवल आधा भाग सूर्य के सामने रहता है और आधा अन्धकार में। सामने वाले भाग मे सूर्य का प्रकाश प्राप्त होने से दिन और विपरीत भाग मे रात्रि होती है। दिन के समय सूर्य-प्रकाश अथवा सूर्य की किरणों के कारण धरातल का तापमान बढ़ता है और रात्रि को वह घटता है। दिन को जितना ही तापमान पृथ्वी को प्राप्त होता है रात्रि को वह पुन· निकल जाता है। इससे रात और दिन के तापमान का

अन्तर क्रमशः कम होता जाता है। पर सदा ही ऐसा नहीं होता। दैनिक तापमान अन्तर के इस सामान्य नियम पर कई भौगोलिक बातों का प्रभाव पड़ता है।[1]

समुद्र से दूरी, समुद्र-तल से ऊँचाई, धरातल की विशेषताएँ और मेघाच्छन्नता आदि सब ऐसे कारण है जो तापमान के अन्तर पर प्रभाव डालते हैं

(1) जो स्थान समुद्र से दूर महाद्वीपो के भीतर स्थित होते है, वहाँ का दैनिक तापान्तर समुद्र के निकट वाले स्थानो से अधिक रहता है।

(2) ऊँचे पहाड़ी अथवा पठारी भागो मे हवा के हल्के होने के कारण दिन को भूमि शीघ्र ही गरम हो जाती है और रात्रि को जल्दी ही ठण्डी। इसलिए ऊँचे स्थानो पर मैदानी भागो की अपेक्षा तापान्तर ज्यादा पाया जाता है।

(3) जो भू-भाग बर्फ से ढके रहते हैं वहाँ तापान्तर अधिक रहता है। इसी प्रकार खुले हुए उष्ण मरुस्थलो मे शुष्क वायु तथा निर्मल आकाश रहने के कारण तापान्तर बहुत अधिक बढ जाता है।

(4) जब आकाश बादलो से ढका रहता है, उन दिनो तापान्तर कम हो जाता है क्योंकि बादल सूर्याभिताप को पृथ्वी तक पहुँचने और पार्थिव ताप को विकिरण द्वारा नष्ट होने मे बाधा डालते है।

तापमान का वार्षिक अन्तर

(Annual Range of Temperature)

जैसा कि हमे ज्ञात है, पृथ्वी अपने कक्ष पर झुकी हुई है और उसी झुकी हुई अवस्था मे वह सूर्य का चक्कर लगाती है। इन विशेषताओ के फलस्वरूप पृथ्वी के भिन्न-भिन्न अक्षाशो पर सूर्य की किरणे कभी सीधी और कभी तिरछी चमकती है और साथ ही दिन की लम्बाई भी घटती-बढती रहती है। इस कारण प्रत्येक स्थान पर तापमान बदलता रहता है अर्थात ऋतु-परिवर्तन होता रहता है। धरातल पर यह ऋतु-परिवर्तन ही वार्षिक तापान्तर का मुख्य आधार है। ग्रीष्मकाल मे सूर्य आकाश मे काफी ऊँचा चमकता है जिससे धरातल पर सूर्य की किरणे अपेक्षतया सीधी गिरती है। साथ ही भूमध्य रेखा से दूर स्थित प्रदेशों में भी सूर्य अधिक देर तक चमकता है। इन दोनों ही कारणो से ग्रीष्मऋतु मे अधिक ताप मिलता है और मौसम गरम हो जाता है। इसके विपरीत शीतऋतु मे न तो सूर्य ही अधिक देर तक चमकता है और न सूर्य की किरणे ही सीधी गिरती है। परिणामस्वरूप जाडे के मौसम मे धरातल को सूर्य से बहुत कम उष्णता प्राप्त होती है जिससे मौसम ठण्डा हो जाता है। इस प्रकार किसी भी स्थान पर उच्चतम तापमान ग्रीष्मऋतु में और निम्नतम तापमान शीतऋतु मे ही होते है। अत ग्रीष्मकाल के उच्चतम और शीतकाल के निम्नतम तापमान के बीच का अन्तर ही वार्षिक तापान्तर (Annual Range of Temperature) कहलाता है।

ऋतु-परिवर्तन के अतिरिक्त वार्षिक तापान्तर पर कई स्थानीय कारणों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे जल और स्थल का विस्तार, समुद्रों में उष्ण और ठण्डी जल-धाराओं का प्रवाह, वायुमण्डल का बादलो से ढका रहना और पवनों का चलना आदि। इन सभी कारणो से वार्षिक तापान्तर में परिवर्तन आ जाता है।

वार्षिक तापमान परिवर्तन की प्रमुख विशेषताएँ

(1) सामान्यतः भूमध्य रेखा के समीप लगभग 10° उत्तर तथा 10° दक्षिण के बीच सूर्य की किरणे सदा ही सीधी चमकती है जिससे यहाँ साल-भर औसत तापमान एकसे रहते है। अतः इस भाग में वार्षिक तापान्तर नही पाया जाता।

---

1 A. F. M. Geddes : *Meteorology*, pp. 69-72

(2) भूमध्य रेखा से अयन रेखाओं के बीच मे अर्थात उष्ण कटिबन्ध में सूर्य की किरणों से बनने वाले कोण में अधिक अन्तर नही पड़ता। इसलिए उष्ण कटिबन्ध मे वार्षिक तापान्तर बहुत कम रहता है।

(3) सबसे अधिक तापमान का वार्षिक अन्तर शीतोष्ण कटिबन्ध और शीत कटिबन्ध में पाया जाता है। इन भागों मे जब सूर्य आकाश मे काफी ऊँचा होता है तो दिन बड़े होते है और तापमान अधिक मिलता है। पर जब सूर्य आकाश मे कम ऊँचा होता है तो दिन छोटे और रातें लम्बी होती हैं। इससे तापमान भी बहुत नीचे रहते हैं। अत: इन भागो में वार्षिक तापमान के बीच भारी अन्तर उपस्थित हो जाता है।

(4) समुद्रतटो के समीप भीतरी भागो की अपेक्षा समुद्र के सम प्रभाव के कारण वार्षिक तापान्तर कम रहता है। विशेषकर जिन तटो पर गरम धाराएँ बहती है वहाँ यह अन्तर और कम हो जाता है।

(5) दक्षिणी गोलार्द्ध मे स्थल की अपेक्षा जल का विस्तार अधिक होने से वार्षिक तापान्तर कम रहते है। परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध मे जल से थल की अधिकता होने से वार्षिक तापान्तर अधिक रहते है।

वायुमण्डल में तापमान का सन्तुलन
(Heat Balance in the Atmosphere)

पृथ्वी का औसत तापमान लगभग एकसा रहता है, न कभी वह बढता है और न कभी घटता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी जितनी मात्रा मे सूर्य से ताप ग्रहण करती है, उतनी ही मात्रा मे वह विकिरण द्वारा पुन: शून्य मे प्रसारित कर देती है। तापमान का यह
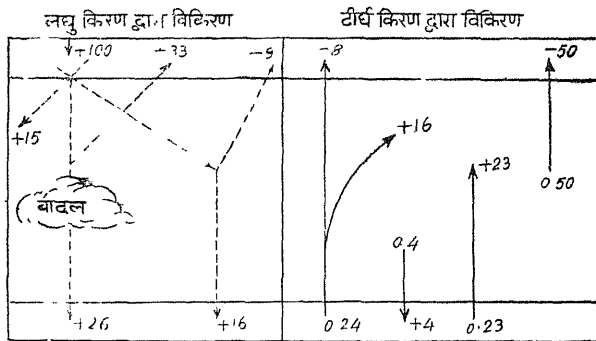
चित्र 89—उत्तरी गोलार्द्ध में औसत ताप सन्तुलन (प्राप्त होने वाले सूर्यताप के अनुसार प्रतिशत आँकड़ों में)

सन्तुलन यद्यपि सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए ठीक है परन्तु विशेष अक्षांशो के लिए यह सही नही है। निम्न अक्षांशों में 37° अक्षांशों से विषुवत रेखा की ओर सूर्य से प्राप्त शक्ति पृथ्वी से विकिरण द्वारा नष्ट होने वाले ताप से अधिक होती है। पर 37° अक्षांश से ध्रुवों की ओर इसकी ठीक विपरीत अवस्था होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि निम्न अक्षाशों मे तापमान बराबर बढ़ते रहने चाहिए और मध्य तथा उच्च अक्षांशो मे बराबर घटते रहने चाहिए। किन्तु धरातल पर कही भी उपरोक्त अवस्था नही देखी जाती। अत: इस व्यवस्था के प्रभावित करने वाले निश्चय ही कोई दूसरे कारण होने चाहिए। पृथ्वी पर तामपान की समानता तभी सम्भव हो सकती है जबकि निम्न अक्षाशो से ताप उच्च अक्षाशो को स्थानान्तरित होता रहे। धरातल पर तापमान का यह

स्थानान्तरण पवनो द्वारा होता है । वस्तुतः विभिन्न अक्षाशो पर सौर-ताप का असमान वितरण ही धरातल पर पवनो के चलने तथा वायुमण्डल की अनेक प्रक्रियाओ व ऋतु-परिवर्तन का कारण है ।[1]

निम्न तालिका मे पृथ्वी और वायुमण्डल मे ताप का सन्तुलन बताया गया है :

पृथ्वी के धरातल पर ताप का सन्तुलन

प्राप्त सूर्य-ताप		नष्ट हुआ सूर्य-ताप	
सीधे विकिरण द्वारा	27 प्रतिशत	विकिरण द्वारा	24 प्रतिशत
विसरित विकिरण द्वारा	16 प्रतिशत	सघनन तथा वाष्पीकरण द्वारा	23 प्रतिशत
विक्षुब्ध स्थानान्तर द्वारा	4 प्रतिशत		
योग	47 प्रतिशत		47 प्रतिशत

वायुमण्डल का ताप सन्तुलन

प्राप्त सूर्य-ताप		नष्ट हुआ सूर्य-ताप	
सोखने की क्रिया द्वारा	15 प्रतिशत	विकिरण द्वारा	50 प्रतिशत
भू-विकिरण द्वारा	16 प्रतिशत	मिश्रण द्वारा	4 प्रतिशत
सघनन द्वारा	23 प्रतिशत		
योग	54 प्रतिशत		54 प्रतिशत

तापमान का लम्बवत वितरण
(Vertical Distribution of Temperature)
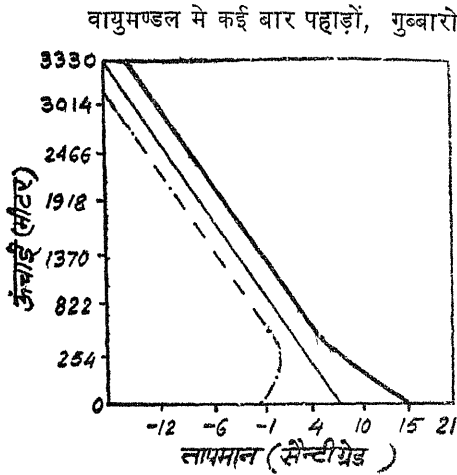
वायुमण्डल मे कई बार पहाड़ों, गुब्बारो, हवाई जहाजो तथा पतगों द्वारा तापमान का निरीक्षण करने से पता चला है कि सामान्य अवस्थाओ मे ऊँचाई के साथ बराबर तापमान कम होता जाता है । यद्यपि ऊँचाई के साथ तापमान घटने की कोई समान गति नहीं है । वह मौसम, स्थिति तथा दिन के अनुसार कम-अधिक होती रहती है, परन्तु इसका औसत लगभग समान रहता है । प्रति एक हजार फुट की ऊँचाई पर 3·3° फा० तापमान कम हो जाता है ।[2] तापमान के इस प्रकार कम होने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वायुमण्डल प्रत्यक्ष रूप से धरातल द्वारा ही गरम होता है । सूर्य का प्रभाव अप्रत्यक्ष होता है । अतः धरातल के समीप वायु अधिक गरम रहती है ।

चित्र 90—तापमान का लम्बवत वितरण

---

[1] Finch and Trewartha : *Elements of Geograpy*, p. 37

[2] हॉन के अनुसार तापमान का ह्रास इस प्रकार है :

प्रथम	180 मीटर तक	1° से०
उसके ऊपर	200 मीटर तक	1° से०
उसके ऊपर	250 मीटर तक	1° से०
अर्थात	630 मीटर में	3° से०

परन्तु धरातल के समीप वायु के अधिक गरम होने का यही एक कारण नही है। वहाँ वायु के अधिक गरम होने का एक बड़ा कारण यह भी है कि वह भारी होती है और उसमे जलवाष्प तथा धूल-कण आदि अधिक मात्रा मे रहते है। फलतः धरातल के समीप की वायु पार्थिव शक्ति को ऊपरी शुष्क, हल्की तथा स्वच्छ वायु की अपेक्षा ग्रहण करने मे अधिक सफल होती है। अतः वायु-मण्डल के निचले भागों मे वायु की सघनता तथा गर्मी को सुरक्षित रखने वाली गैसो की अधिकता से वायु अधिक उष्ण रहती है और ज्यों-ज्यो हम ऊपर उठते जाते है, गर्मी कम होती जाती है। परन्तु ऊँचाई के साथ तापमान कम होने के इस सामान्य नियम मे दो अपवाद है—पहला, समताप-मण्डल और दूसरा, तापमान की विलोमता की दशाएँ।

सन् 1899 व 1902 में **टेसेराइन** (Teisserene) व **आसमन** (Asman) नामक वैज्ञानिकों ने गुब्बारो की सहायता से पता लगाया कि वायुमण्डल मे लगभग 7 मील की ऊँचाई पर तापमान का कम होना यकायक रुक जाता है और उसके ऊपर तापमान लगभग एकसे रहते है। उन्होने बताया कि इस ऊँचाई के बाद तापमान सदैव समान रूप से —65° फा० रहते है। परन्तु स्थिर तापमान वाले मध्यस्तर (tropopause) की ऊँचाई सब जगह समान नही होती। इसकी ऊँचाई अक्षांशो के अनुसार घटती-बढती है। विषुवत रेखा पर यह ऊँचाई लगभग 10 मील, 45 से 50 अक्षाशो के बीच 6 मील और ध्रुवो पर 4 मील ही है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर इन ऊँचाइयो के उपरान्त तापमान का कम होना बन्द हो जाता है और तापमान की अवस्थाएँ दूसरे 12 मील तक लगभग अपरिवर्तनशील रहती है। किन्तु हाल ही मे ऐसी ऊँचाइयों पर जहाँ गुब्बारे आदि नही पहुँच सकते उल्काओ की गति, चमक और उनके मार्ग की लम्बाई आदि बातो के आधार पर गणना करने से जो परिणाम सामने आये है, वे आशा के विपरीत बड़े ही आश्चर्यजनक है। ऐसा ज्ञात होता है कि मध्य अक्षांशो में 6 या 7 मील से 34 मील तक तापमान लगभग 65° फा० ही रहते है, परन्तु 37 मील की ऊँचाई के उपरान्त तापमान पुनः बहुत ऊँचे हो जाते है। उनकी तुलना धरातल के तापमान से की जा सकती है।[1]
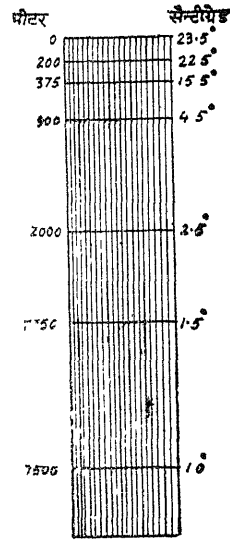
चित्र 91—ताप का लम्बवत वितरण

यद्यपि 7 मील की ऊँचाई तक प्रति 3000 फुट पर औसत रूप से 1° फा० तापमान कम हो जाता है परन्तु समस्त दूरी तक तापमान के कम होने की एक ही गति नहीं होती। **गोल्ड** (Gold) ने बताया है कि 2 किलोमीटर ($1\frac{1}{2}$ मील) तक तापमान के कम होने की गति बहुत अधिक पवन की दिशा और वर्ष के समयानुसार होती है। पतंगों के द्वारा प्राप्त परिणामों से यह ज्ञात होता है कि 3 किलोमीटर तक तापमान 388 फुट पर 1° फा० कम होता है।

भारत मे कुछ स्थानों पर ऊँचाई के अनुसार वायु के शीतल होने की गति किस प्रकार रहती है ? यह अग्र तालिका में दिया गया है[2] :

---

1 G. M. B. Dobson : *The Uppermost Regions of the Earth's Atmosphere (The Halley Lecture)*, (Oxford University Press).

2 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 377

महीने	दार्जिलिंग 6941 फुट गोलपारा 386 फुट		चकराता 7051 फुट रुड़की 886 फुट		पंचमढ़ी 3504 फुट होशंगाबाद 1020 फुट	
	तापमान का अन्तर (फा० मे)	ऊँचाई प्रति (1° फा०)	तापमान का अन्तर (फा० मे)	ऊँचाई प्रति (1° फा०)	तापमान का अन्तर (फा० मे)	ऊँचाई प्रति (1° फा०)
जनवरी	21 5	305	16 0	385	9·1	373
फरवरी	23·6	278	17·6	350	8 8	282
मार्च	23·2	282	20·3	304	8·6	289
अप्रैल	20·9	313	20·8	296	8·9	279
मई	18·4	356	22·3	276	9·7	256
जून	17·1	383	21·6	285	10·8	230
जुलाई	17·5	374	19·4	318	9·4	264
अगस्त	17·8	368	19·6	314	9 3	267
सितम्बर	18·4	356	19·9	310	9·2	270
अक्टूबर	20·3	322	17 3	356	10 4	239
नवम्बर	20·9	313	12 1	509	11·2	224
दिसम्बर	21·2	309	12 5	493	9 2	270
वर्ष का औसत	20 1	330	18·3	350	9 5	262

साधारणतः सभी इस बात से परिचित है कि भारत जैसे उष्ण देश मे समुद्रतल से ऊँचाई का वहाँ की जलवायु पर बड़ा गहरा प्रभाव होता है। ऊँचाई के प्रभाव से जलवायु कुछ बदल जाती है। यही कारण है कि ग्रीष्मऋतु मे बहुत-से लोग पहाडी स्थानो—शिमला, नैनीताल, उटकमण्ड आदि—पर चले जाते हैं, क्योकि वहाँ अवस्थाएँ अधिक अनुकूल और स्वास्थ्यवर्द्धक होती है।

साथ-साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि विषुवत' रेखा से ध्रुवों की ओर जिस प्रकार वनस्पति बदल जाती है उसी प्रकार का क्रम हम उष्ण प्रदेशो मे भी पहाड़ो पर ऊँचाई के साथ देख सकते है। सिक्किम हिमालय की घाटियों मे अयनवृत्तीय पेड-पौधो (tropical plants) की प्रचुरता पायी जाती है जबकि दार्जिलिंग की ऊँचाई पर शीतोष्ण कटिबन्ध के पाइन (pine) के वृक्ष देखे जाते है। किन्चिनजंगा के निम्न ढालों पर जो हिमरेखा के आसपास है—केवल ध्रुवीय अथवा एल्पाइन वनस्पति ही पायी जाती है। कुमायूँ हिमालय के लिए भी यही बात सही है, परन्तु दक्षिण के पठार, बड़े मैदान और असम की पहाड़ियो पर—जहाँ कि हिमरेखा नही पहुँचती—पूर्णत. उष्ण कटिबन्ध की वनस्पति ही पायी जाती है।[1]

तापमान का प्रतिलोमन
(Inversion of Temperatures)

सामान्यतः परिवर्तन मण्डल मे ऊँचाई के साथ तापमान घटता जाता है। इसलिए धरातल के ऊपर वायु-तहों की सामान्य व्यवस्था उष्ण शीतल और अधिक शीतल के रूप में पायी जाती है।

---

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 378

किन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि स्थानीय अथवा कालिक रूप से ऊँचाई के बढ़ने पर तापमान घटने की अपेक्षा बढ़ते जाते है। इस अवस्था को **ऋणात्मक ताप-पतन-दर** (negative lapse rate) कहा जाता है। इस अवस्था मे नीचे अपेक्षाकृत ठण्डी वायु की परत और उसके ऊपर गर्म वायु की परत स्थित होती है। इस दशा को 'तापमान का प्रतिलोमन' (inversion of temperature) कहा जाता है। ट्रिवार्था महोदय के शब्दो मे, 'The condition in which the colder air is nearer the earth and the warmer air is aloft, is called a temperature inversion.'[1]

चित्र 92—**तापमान की विलोमता**

तापमान के प्रतिलोमन की यह दशा अधिकांशत. धरातल के निकट पायी जाती है, परन्तु कई बार धरातल से कुछ सौ मीटर की ऊँचाई पर भी यह स्थिति देखी जाती है। सामान्यत. ऊँचाई पर होने वाला प्रतिलोमन अधिक स्थायी होता है जबकि धरातल के निकट होने वाला प्रतिलोमन अल्पकालिक होता है। इसका कारण यह है कि विकिरण द्वारा धरातल के निकट ठण्डी परत का शीघ्र लोप हो जाता है जबकि पार्थिव विकिरण के द्वारा ऊपरी गर्म परत को ठण्डा करने मे काफी समय लग जाता है। तापीय प्रतिलोमन की दशा घाटियों, हिमाच्छादित प्रदेशो, ध्रुवीय प्रदेशो, मध्य अक्षांशो तथा गर्म एव ठण्डी जलधाराओं के सगम स्थलो पर अधिक देखी जाती है।

तापमान की विलोमता के प्रकार
(Kinds of Inversion of Temperature)

(1) **धरातलीय विलोमता** (Surface Inversion)—साधारणत: समतापमण्डल के निचले तल तक ऊँचाई के अनुसार तापमान कम होता जाता है। परन्तु जब कभी जाड़े की स्वच्छ और शान्त रात्रि को धरातल बर्फ से ढक जाता है तो वायुमण्डल की निचली हवा कई सौ फुट तक ऊपरी हवा से अधिक शीतल हो जाती है। ऐसी दशा मे वायुमण्डल की सामान्य दशा उल्टी हो जाती है। धरातल के निकट अधिक ठण्डी वायु और ऊपर अपेक्षतया उष्ण वायु रहती है। इस प्रकार वायुमण्डल के निचले भाग मे ऊँचाई के अनुसार तापमान घटने के स्थान पर बढ़ने लगते है। वायुमण्डल मे तापमान की स्थिति को ही तापमान की विलोमता (inversion of temperature) कहते है।

सामान्यत: तापमान की विलोमता शीतोष्ण कटिबन्ध के मैदानों मे होती है परन्तु इसका स्पष्ट रूप पर्वतीय भागो मे देखने को मिलता है। विकिरण द्वारा रात्रि को पृथ्वी का धरातल बहुत अधिक ठण्डा हो जाता है, किन्तु पहाड़ी सिरे और घाटियो से ढाल अपनी ऊँचाई के कारण और भी भयानक रूप से ठण्डे हो जाते है। इस कारण पहाड़ी सिरों और घाटियों के ढालों से लगी हुई वायु बहुत अधिक ठण्डी हो जाती है। परन्तु इसके विपरीत घाटियों के निचले भाग तथा मैदान में वायु इतनी अधिक ठण्डी नही होने पाती। घाटियों की वायु पहाड़ी ढालो की वायु की अपेक्षा गरम

[1] Finch & Trewartha ; *Elements of Physical Geography.*

रहती है। अतः पहाडी ढालों की ठण्डी और भारी वायु ढालों से नीचे घाटियों की ओर खिसकने लगती है और घाटी में एकत्रित हो जाती है। घाटियों की गरम और हल्की वायु ठण्डी वायु का स्थान लेने के लिए ऊपर उठकर पहाडी ढालो पर चली जाती है। यह वायु चूँकि वहाँ ठण्डे धरातल के अधिक सम्पर्क में नही आ पाती है अतएव अपेक्षतया गरम रहती है और वही ठहरी रहती है। पहाडी ढालो पर छायी हुई इस गरम वायु के ऊपर पुनः वायु का तापमान ऊँचाई के अनुसार घटता रहता है। वायुमण्डल में विकिरण द्वारा जब तापमान की ऐसी विपरीत स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उसे **अप्रवाही विलोमता** (static inversion) कहते है।

धरातली अथवा अप्रवाही विलोमता ध्रुवीय प्रदेशो की एक सामान्य दशा है। यहाँ ग्रीष्म एवं शीत दोनो ऋतुओ में ऐसी दशा मिलती है। यहाँ विलोमता की पेटी की औसत मोटाई लगभग 0 6 मील होती है। ऊँचे मध्यवर्ती अक्षाशो मे हिमाच्छादित स्थल भागो मे भी शीतऋतु मे अप्रवाही विलोमता एक सामान्य बात है, किन्तु ध्रुवो की अपेक्षा यहाँ विलोमता-पेटी की मोटाई बहुत कम होती है। समुद्री भागो मे जहाँ दिन के धरातलीय तापमान में विशेष परिवर्तन नहीं होता, वहाँ रात्रि को तापमान का उत्क्रमण होता है।

अप्रवाही विलोमता की आदर्श अवस्थाएँ

(i) **लम्बी रातें**—जाडो मे लम्बी रातो के कारण पृथ्वी से विकिरित ताप की मात्रा धरातल पर दिन को प्राप्त सौर-ताप की मात्रा से अधिक हो जाती है।

(ii) **स्वच्छ आकाश**—आकाश के स्वच्छ होने पर दिन को प्राप्त सौयिक विकिरण ताप रात्रि को पार्थिव विकिरण द्वारा शीघ्रता से नष्ट हो जाता है।

(iii) **शीतल और शुष्क वायु**—वायु के शीतल और शुष्क होने पर वह पृथ्वी से विकिरित ताप को सोख लेती है।

(iv) **शान्त वायु**—वायु के शान्त होने पर हवाएँ परस्पर मिल नही पाती और धरातल को विकिरण और सचालन द्वारा शीतल होने का समय मिल जाता है।

(v) **बर्फ से आच्छादित प्रदेश**—जब धरातल बर्फ से आच्छादित रहता है तो वह दिन मे कम सूर्य-ताप प्रदान करता है और तापमान का कुचालक (bad conductor) होने से धरातल की गर्मी को वायुमण्डल में ऊपर जाने से रोक देता है।

(2) **उच्च धरातलीय विलोमता** (Upper Surface Inversion)—तापमान की विलोमता वायुमण्डल की ही निचली अवस्था नही है और न केवल यह विकिरण का ही फल है। धरातल से काफी ऊँचाई पर ठण्डी अथवा गरम वायु के ऊपर-नीचे बहने के कारण भी तापमान की विलोमता उत्पन्न हो जाती है। वायुमण्डल मे काफी ऊँचाई पर यह विलोमता वायु की अस्थिरता का परिणाम है।
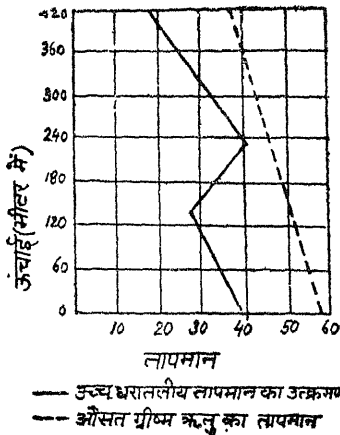
चित्र 93—उच्च धरातलीय विलोमता

जब कभी वायु में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है तो वायुमण्डल में बड़ी भारी उथल-पुथल होने लगती है। इस उथल-पुथल के कारण वायु बड़ी तेजी से ऊपर-नीचे चलने लगती है। ऊपर पहुँचने वाली वायु कदाचित ऐसे ऊँचे क्षेत्रों में पहुँच जाती है जहाँ उसके चारों ओर अधिक शीतल वायु होती है। ऊपर की इस शीतल वायु का कुछ भाग उथल-पुथल मे ऊपर पहुँची हुई उस गरम हवा के नीचे आ जाता है जिससे वायुमण्डल में तापमान की विलोमता उत्पन्न हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जब कभी शुष्क वायु वायुमण्डल की अस्थिरता के कारण ऊपर से धरातल की ओर नीचे उतरती है तो वह वायु की सघनता की अधिकता के कारण नीचे उतरते समय सम्पीडन (compression) के फलस्वरूप गरम हो जाती है। ऐसी स्थिति मे निरन्तर वृद्धि होने से एक समय बहुत व्यापक क्षेत्र में हवा का तापमान अधिक हो जाता है जिससे नीचे उतरते समय यह मार्ग मे ही स्थिर हो जाती है और उसमे परत (layer) बन जाती है। यह परत इतनी सघन और मोटी होती है कि धरातल से उठकर आने वाली वायु उसको भेद नही सकती। ऐसी दशा मे इस परत के नीचे धरातल से आने वाली वायु मे स्थित वाष्प से स्तरी (stratus) बादल बनकर छा जाते है जो न्यून तापमान के सूचक होते हैं। इस प्रकार परत के नीचे वायु का तापमान नीचा और उसके ऊपर वायु का तापमान ऊँचा रहता है। वायुमण्डल मे तापमान की यह विलोमता वायु की अस्थिरता के कारण उत्पन्न होती है, अत. इसे तापमान की **गतिशील विलोमता** (Dynamic inversion of temperature) भी कहते है। प्रति-चक्रवात मे हमेशा हवा ऊपर से नीचे उतरती है। नीचे उतरते समय वह गरम होती है जिससे धरातलीय हवा और ऊपरी हवा के बीच विलोमता उत्पन्न हो जाती है।
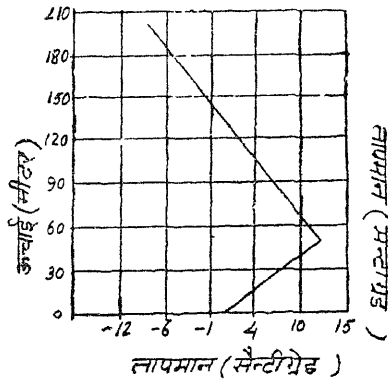
चित्र 94—तापमान की गतिशील विलोमता

तापमान का अस्थिर परिवर्तन स्थिर परिवर्तन की अपेक्षा बहुत अधिक विस्तृत क्षेत्र में होता है। सामान्यतः कनाडा के झील प्रदेशो के उत्तरी भाग एवं मध्य एशिया का मैदान जाड़े एवं बसन्त ऋतु में अस्थिर विलोमता से प्रभावित रहते है।

(3) **सम्पर्कीय विलोमता** (Advectional Inversion)—तापमान की ऐसी विलोमता चक्रवातों मे मिलती है। चक्रवातो मे सदैव गरम और ठण्डी हवाएँ परस्पर मिलती हैं। इस सम्पर्क में उष्ण वायु अपने हल्केपन के कारण शीतल वायु के ऊपर चढती रहती है जिससे तापमान उलट जाता है। चक्रवात मे तापमान की ऐसी दशा प्रायः अग्रभाग अथवा पृष्ठभाग मे मिलती है। अग्र भाग तथा पृष्ठभाग में ध्रुवों से आने वाली ठण्डी वायु दक्षिण से आने वाली उष्ण वायु को नीचे से काटती है। परिणामस्वरूप उष्ण वायु धीरे-धीरे बढती हुई ठण्डी हवाओं के ऊपर चली जाती है। इस प्रकार धरातल के निकट ठण्डी वायु और ऊपर गरम वायु फैली हुई रहती है। ताप की ऐसी विलोमता मे स्थानीय उत्क्रमण (local inversion) की अपेक्षा अधिक स्थायित्व और घनत्व पाया जाता है। प्रायः मध्य अक्षांशों के चक्रवातीय प्रदेशों मे तापमान की ऐसी अवस्थाएँ देखी जाती है।
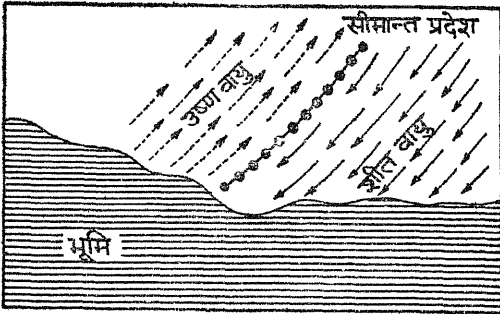
चित्र 95—सम्पर्कीय विलोमता

तापमान की विलोमता वायुमण्डल की एक अस्थायी अवस्था है। यह अवस्था कभी भी अधिक समय तक नही रहती। तापमान की विलोमता प्रायः शीतोष्ण कटिबन्ध के देशों में अधिक

होती है। उष्ण प्रदेशों में ऐसा कदाचित ही होता है। तापमान के उलट जाने पर प्राय घाटियाँ जम जाती है और हिम-वर्षा की शिकार हो जाती है। परन्तु घाटियो से काफी ऊँचाई पर तापमान के ऊँचे रहने के कारण हिम का कोई प्रभाव नही पाया जाता। इस बात का फलों के बगीचो अथवा गाँवो की स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राय बगीचे और गाँव ठण्ड और पाले से ग्रसित घाटियो की अपेक्षा घाटियो के ढालों पर काफी ऊँचाई पर स्थित पाये जाते है। संयुक्त राज्य अमरीका मे केलीफोर्निया में फलो के बगीचे घाटी मे न लगाये जाकर ऊपरी ढालो पर लगाये जाते है। इसी प्रकार ब्राजील मे कहवा के बगीचे भी ऊपरी ढालो पर पाये जाते हे। स्विट्जरलैण्ड के निवासी हिम और कुहरे से ढकी घाटियों को छोड़कर उष्ण ढालो पर अपने होटल बनाते है।

(4) **वायु प्रवाहन ताप-विलोमता** (Air Drainage type of Temperature Inversion)—वायु मे घनत्व के अन्तर के कारण प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। वायु जब ठण्डी होती है तो उसका घनत्व बढ जाता है। धरातल पर जहाँ कही स्थल बहुत अधिक असम होता है वहाँ ढाल की वायु अधिक घनत्व के कारण नीचे खिसक जाती है। सामान्यत. ऊँचे पर्वत शिखरो की वायु ठण्डी और अधिक घनत्व वाली होती है जिससे वह नीचे घाटियो की ओर खिसकने लगती है। इसी को वायु प्रवाहन (Air Drainage) कहते है। इस प्रकार के वायु प्रवाहन से घाटी ठण्डी वायु से भर जाती है और घाटी की गरम वायु ऊपर उठ जाती है। पर्वतीय प्रदेशो मे सामान्यत· घाटी मे ठण्डी हवा तथा घाटी से ऊपर दोनो ओर के ढालो पर अपेक्षाकृत गरम वायु और फिर शिखरो पर ठण्डी वायु मिलती है। लेकिन तापमान की इस प्रकार की विलोमता के लिए ऊँचे पर्वतीय शिखरो पर हिम का होना आवश्यक है ताकि वायु ठण्डी होकर नीचे फिसल सके। पर्वतीय ढालो पर फलो के बगीचे लगाने के लिए तापमान की ऐसी विलोमता बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। हमारे देश मे हिमाचल प्रदेश की कुल्लू घाटी तथा कश्मीर घाटी मे रसदार फलो के बगीचे इसीलिए घाटियो मे न लगाकर ऊँचे ढालो पर लगाये जाते है जहाँ उनके पकने के लिए आवश्यक ऊँचा तापमान प्राप्त हो सके।
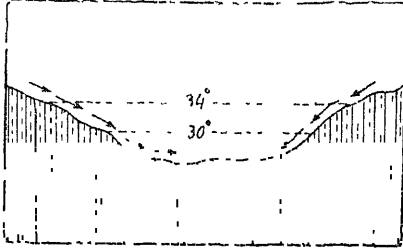
चित्र 96—वायु प्रवाहन ताप-विलोमता

(5) **यान्त्रिक प्रतिलोमन** (Mechanical Inversion)—यान्त्रिक प्रतिलोमन धरातल से ऊपर वायुमण्डल मे काफी ऊँचाई पर होता है। इसमें न तो गैसो के अवशोषण तथा पवन के सम्पर्क का ही हाथ होता है और न पार्थिव या सौर्य विकिरण का ही। यह प्रतिलोमन मूलतः वायुमण्डल में वायु के ऊपर-नीचे गतिशील होने का फल है। यह दो प्रकार से होता है :

(i) कभी-कभी धरातल की गर्म वायु हल्की होने से तेजी से ऊपर उठ जाती है और वहाँ की ठण्डी तथा भारी वायु को अपने नीचे कर देती है जिससे वहाँ प्रतिलोमन की दशा उत्पन्न हो जाती है।

(ii) कभी-कभी जब वायु नीचे उतरती है तो सम्पीडन के कारण गर्म होने लगती है। इस क्रिया के लम्बे समय तक होते रहने पर तापमान इतना अधिक हो जाता है कि नीचे उतरती हुई वायु के मार्ग मे एक गर्म व स्थिर वायु परत का आविर्भाव हो जाता है। इस परत के नीचे कम तापमान होने से प्रतिलोमन की दशा प्रकट हो जाती है। ऐसी दशा मध्य अक्षांशों में प्रति चक्रवातों के साथ अधिक देखने को मिलती है।

तापमान का क्षैतिज वितरण
(Horizontal Distribution of Temperature)

भू-पटल पर तापमान का क्षैतिज वितरण अक्षांश रेखाओ का अनुसरण करता हुआ पाया जाता है । सामान्यत: भूमध्य रेखा से ध्रुवो की ओर तापमान घटता जाता है । धरातल पर सर्वाधिक तापमान निम्न अक्षाशो मे तथा न्यूनतम तापमान उच्च अक्षाशों मे पाया जाता है । यद्यपि भूमध्य रेखा पर सूर्य सदैव सीधा चमकता है किन्तु इन भागो मे आकाश हमेशा बादलों से आच्छादित रहता है इसलिए सूर्य से प्राप्त होने वाली उष्मा धरातल को गर्म करने के लिए पूरी तरह प्राप्त नही हो पाती । फिर सूर्य से प्राप्त अधिकांश उष्मा यहॉं वाष्पीकरण मे खर्च हो जाती है । इस कारण अधिकतम तापमान कभी भी भूमध्य रेखा के समीप नही पाया जाता । इसके विपरीत धरातल पर अधिकतम तापमान कर्क तथा मकर रेखाओ के समीप पाये जाते है, क्योंकि यहॉं आकाश सदैव स्वच्छ रहता है । बादलों के अभाव के कारण सूर्य से प्राप्त उष्मा अबाध गति से धरातल पर पहुँच जाती है । सामान्यत भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर विशेषकर उच्च अक्षांशों में तापमान बडी तेजी से कम होता जाता है । उच्च अक्षाशो मे तापमान के घटने की दर को **ताप प्रवणता** (temperature gradient) कहा जाता है । यह ताप प्रवणता कर्क तथा मकर रेखाओ के मध्य प्राय: नही देखी जाती । यहाँ ताप प्रवणता प्राय: नगण्य होती है । इस प्रकार तापमान का क्षैतिज वितरण हम दो प्रकार से करते है—(1) प्रादेशिक वितरण, तथा (2) समताप रेखाओ के आधार पर ।

(1) **प्रादेशिक वितरण**—यह तापमान का क्षैतिज वितरण ही है जो सर्वप्रथम ग्रीक लोगों ने बताया । ग्रीक लोगों ने तापमान के आधार पर सम्पूर्ण ग्लोब को तीन कटिबन्धो मे विभक्त किया जो निम्न प्रकार है .

(i) उष्ण कटिबन्ध, (ii) शीतोष्ण कटिबन्ध तथा (iii) शीत कटिबन्ध । इन तीनो का वर्णन जलवायु के अध्याय मे विस्तार से किया गया है ।

(2) **समताप रेखाओं के आधार पर**—धरातल पर तापमान का क्षैतिज वितरण का प्रदर्शन तथा अध्ययन समताप रेखाओ (isotherms) द्वारा किया जाता है ।

भू-पटल पर तापमान का विस्तार समताप रेखाओ द्वारा दिखाया जाता है । समताप रेखाएँ वे रेखाएँ है जो समान औसत तापमान वाले स्थानो को जोड़ती है । इन रेखाओं को खीचने के पूर्व प्रत्येक स्थान के तापमान को समुद्र-तल के तापमान के रूप मे घटा लिया जाता है । यदि ऐसा न किया जाय तो समताप रेखाएँ खींचने मे इतनी उलझने पैदा हो जायेंगी कि उनका खींचना ही असम्भव हो जायगा और यदि खीच भी ली गयी तब भी उन पर होने वाले अक्षाश, जल और स्थल के विन्यास और धाराओं का प्रभाव स्पष्ट नही हो सकेगा । अत. केवल ऊँचाई (Altitude) के प्रभाव को नष्ट कर देने से अन्य भौगोलिक कारणों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगता है । इस प्रकार समताप रेखाओं के बारे मे दो बाते उल्लेखनीय है :

(1) ये रेखाएँ किसी भी स्थान का औसत तापमान बताती है ।

(2) ये रेखाएँ किसी भी स्थान के समुद्र-तल का तापमान दिखाती हैं ।

इस तरह ये रेखाएँ जिन स्थानो को जोड़ती है उनका कभी भी वास्तविक तापमान प्रदर्शित नही करती, बल्कि ये वहॉं का औसत और समुद्र-तल से घटाया हुआ तापमान बताती हैं । इसलिए समतापदर्शक मानचित्र कृपकों और इंजीनियरो—जिनके लिए वास्तविक तापमान वितरण ज्ञान जरूरी है—के लिए विशेष लाभप्रद सिद्ध नही होते । समतापदर्शक मानचित्र तापमान का यथार्थ रूप न देते हुए भी किसी भी स्थान के तापमान का सामान्य ज्ञान करा देने मे समर्थ होते है । इस कारण इनका महत्त्व है । जब ये रेखाएँ पास-पास होती है तो तीव्र ताप प्रवणता को इंगित करती है । इसके विपरीत उनका दूर-दूर होना क्षीण ताप प्रवणता को बताता है ।

समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन

संसार के समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन करने पर निम्न बाते ज्ञात होती है :

(1) साधारणतः समताप रेखाएँ अक्षाशो के समान्तर पूर्व से पश्चिम को खीची हुई होती है। इसका कारण यह है कि धरातल पर तापमान सूर्याभिताप पर निर्भर करता है और सूर्याभिताप अक्षांशों पर। अतएव अक्षांशो के अनुसार तापमान घटता-बढता रहता है। सामान्यत भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर तापमान क्रमश: घटता जाता है।

(2) समताप रेखाएँ सामान्यतः सीधी होती है। परन्तु समुद्रतट के समीप उनकी दिशाओ में परिवर्तन हो जाता है। स्थल से समुद्र की ओर जाते समय ये रेखाएँ ग्रीष्मकाल मे भूमध्य रेखा की ओर तथा शीतकाल मे ध्रुवो की ओर झुक जाती है, क्योकि जल और स्थल के तापमान मे अन्तर पड़ता है। महासागरो में चलने वाली धाराएँ और स्थायी हवाएँ भी इन रेखाओ की दिशा को प्रभावित करती है।

(3) उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध मे ये रेखाएँ अधिक सीधी होती है क्योकि दक्षिणी गोलार्द्ध मे स्थल की अपेक्षा जल का विस्तार अधिक है। इसके विपरीत उत्तरी गोलार्द्ध मे स्थल का विस्तार अधिक है।

(4) ग्रीष्म मे समताप रेखाएँ महाद्वीपो पर ध्रुवों की ओर तथा समुद्रो पर विषुवत रेखा की ओर झुकी रहती है। शीतकाल में इसकी ठीक विपरीत दशा होती है।

जनवरी और जुलाई के तापमान

पृथ्वी पर जलवायु की विषमता को प्रकट करने वाले जनवरी और जुलाई के महीने है। जनवरी का महीना उत्तरी गोलार्द्ध मे ठण्डा और दक्षिणी गोलार्द्ध मे गरम होता है। इसके विपरीत जुलाई उत्तरी गोलार्द्ध में गरम और दक्षिणी गोलार्द्ध मे ठण्डा होता है।
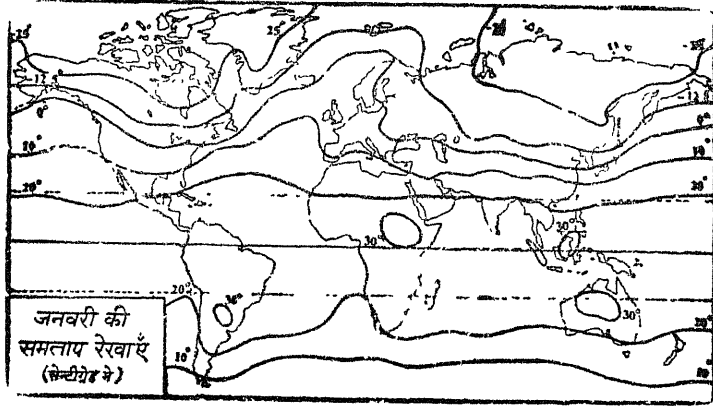
चित्र 97—जनवरी की समताप रेखाएँ

जनवरी का समतापदर्शक मानचित्र देखने से प्रकट होता है कि इस समय उच्चतम तापमान दक्षिणी गोलार्द्ध में है। आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका मे 90° फा० से भी अधिक तापमान पाया जाता है। किन्तु इस समय न्यूनतम तापमान उत्तरी गोलार्द्ध मे साइबेरिया, ग्रीनलैण्ड और उत्तरी कनाडा में पाया जाता है। साइबेरिया में स्थित वर्खोयान्सक नामक स्थान पर इस ऋतु में तापमान —50° फा० तक नीचे उतर जाता है। संसार का सबसे ठण्डा स्थान यही है।

इसके विपरीत जुलाई के समतापदर्शक मानचित्र से यह स्पष्ट होता है कि इस समय सबसे अधिक तापमान उत्तरी गोलार्द्ध मे और न्यूनतम तापमान दक्षिणी गोलार्द्ध मे है। इस समय
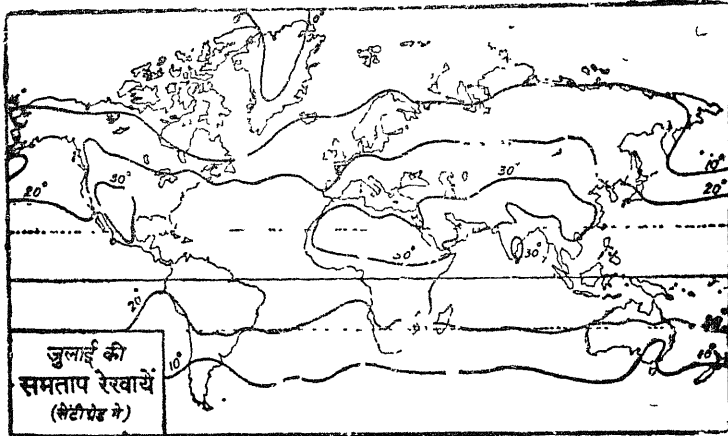
चित्र 98—जुलाई की समताप रेखाएँ

90° फा० वाली समताप रेखा उत्तरी गोलार्द्ध के बहुत बडे भाग को घेरे हुए है। उत्तरी अमरीका,
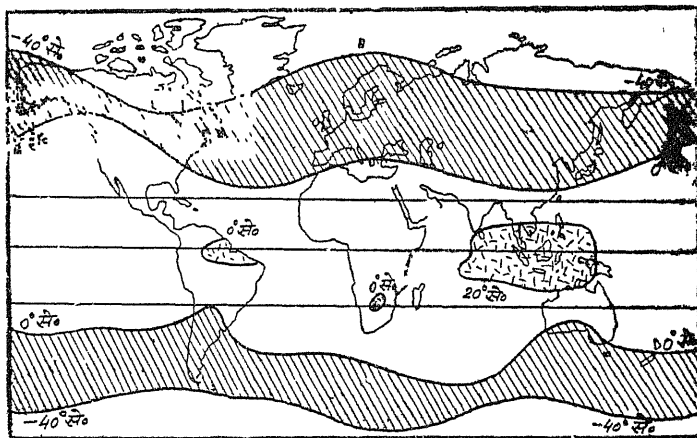
चित्र 99—संसार का न्यूनतम तापमान

अफ्रीका और एशिया के सभी मरुस्थली भागो मे इस समय 90° फा० से भी अधिक तापमान रहता है। इस ऋतु मे सबसे कम तापमान दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में पाया जाता है।

सम्पूर्ण पृथ्वी तथा दोनो गोलार्द्धो मे भिन्न-भिन्न ऋतुओ और वर्ष के औसत तापमान किस प्रकार रहते है ? यह निम्न तालिका में बताया गया है :

सम्पूर्ण पृथ्वी तथा दोनों गोलार्द्धों के औसत तापमान[1]

गोले का भाग	वर्ष	जनवरी	जुलाई	वार्षिक अन्तर
उत्तरी गोलार्द्ध	59·3	46·5	72·3	25·8
दक्षिणी गोलार्द्ध	56 0	62·7	49·5	13·2
सम्पूर्ण पृथ्वी	57·7	54·6	60 8	6·2

1 Haurwitz and Austin : *Climatology*, p. 26

तापान्तर
(Range of Temperature)

किसी विशेष समय मे एक स्थान के अधिकतम और न्यूनतम तापमान के अन्तर को वहाँ का तापान्तर कहते है। परन्तु 'तापान्तर' शब्द कई अर्थो मे प्रयुक्त होता है। जैसे :

(1) **दैनिक तापान्तर** (Daily Range of Temperatuie)—किसी भी स्थान पर दिन के उच्चतम और न्यूनतम तापमान का अन्तर।

(2) **मासिक तापान्तर** (Monthly Range of Temperature)—किसी महीने के अधिकतम और न्यूनतम तापमान का अन्तर।

(3) **वार्षिक तापान्तर** (Annual Range of Temperaturc)—वर्ष के अधिकतम और न्यूनतम तापमान का अन्तर।

(4) **वार्षिक माध्यम तापान्तर** (Mean Annual Range of Temperature)—वर्ष के सर्वाधिक गरम और ठण्डे महीनो के औसत तापमान का अन्तर।

यहाँ हमारा सम्बन्ध वार्षिक माध्यम तापान्तर से ही है। जलवायु के तुलनात्मक विवेचन में साधारणतया वार्षिक माध्यम तापान्तर का ही प्रयोग होता है।

धरातल के भिन्न-भिन्न स्थानो का वार्षिक माध्यम तापान्तर कई बातों से प्रभावित होता है। वार्षिक माध्यम तापान्तर को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्त्व निम्न हे :

1. अक्षाश,
2. समुद्र-तल मे ऊँचाई,
3. समुद्र से दूरी,
4. मेघ एवं वर्षा,
5. भूमि का ढाल,
6. हवाएँ,
7. धाराएँ।

अनुभूत तापमान
(Sensiole Temperature)

कभी-कभी तापमापी द्वारा अंकित तापमान शरीर को अनुभव होने वाले तापमान से अधिक होता है। जो तापमान मनुष्य शरीर को अनुभव होता है, वह बहुत कुछ हवा की नमी और गति पर निर्भर करता है। साइबेरिया निवा ी शीतकाल के —60° तापमान को भी किसी तरह सह लेते हैं परन्तु जब कभी प्रचण्ड बर्फीली अ।धी चलती है तो उस समय का 0° तापमान भी वहाँ के निवासियो के लिए असहनीय हो जाता है। इसी तरह विषुवतरेखीय नम प्रदेशो में 80° तापमान. लोगों के लिए असहनीय होता है, परन्तु सिन्ध, राजस्थान और अरब की शुष्क जलवायु मे 100° तापमान भी अधिक नही मालूम पड़ता। इसका मुख्य कारण यह है कि थर्मामीटर का अपना कोई तापमान नही होता परन्तु इसके विपरीत मानव-शरीर एक तरह का इंजन है जो हमेशा एक निश्चित गति से श ्न पैदा करता रहता है। अतः जो कोई कारण मनुष्य शरीर से निकल कर नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा को प्रभावित करता है वह मानव-शरीर की सुविधा (comfort) को भी प्रभावित करता है। ऐसे कारणों मे हवाएँ, हवा की नमी और सूर्य का प्रकाश मुख्य है।

9

वायुदाब एवं हवाएँ

(ATMOSPHERIC PRESSURE AND WINDS)

वायुदाब और हवाओ का ज्ञान भौगोलिक दृष्टि से बडा ही महत्त्वपूर्ण है। यों तापमान और वर्षा की तुलना मे वायुदाब और हवाओ का कम ही महत्त्व है, क्योंकि मानव-जीवन पर प्रत्यक्ष रूप से इनका कोई प्रभाव नही होता। फिर भी धरातल पर चलने वाली हवाएँ वायुदाब पर ही निर्भर है। वायुदाब मे थोड़ा-सा परिवर्तन हो जाने से हवाओ की गति और उनकी दिशा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हवाएँ बदले मे तापमान और वर्षा को प्रभावित करती हैं जो दोनो ही (सम्मिलित रूप से) काफी सीमा तक जलवायु और मौसम के रूप (character) को निर्धारित करती है। इस प्रकार वायुदाब और हवाएँ, जो प्रत्यक्ष रूप से विशेष महत्त्वपूर्ण नही मालूम पड़तीं—दोनो ही अप्रत्यक्ष रूप से मानव-जीवन की परिस्थितियो पर बड़ा भारी नियन्त्रण रखती है। समुद्र से स्थल की ओर चलने वाली हवा स्थल से समुद्र की ओर चलने वाली हवा से जलवायु की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है, क्योकि दोनो में तापमान और आर्द्रता की दृष्टि से बड़ा भेद होता है। फिर हवाएँ वायुमण्डल मे तापमान का सन्तुलन बनाये रखती है। इसके अतिरिक्त हवाएँ महासागरों से जलवाष्प को स्थल-खण्डों की ओर आकर्षित करती है जहाँ भाप घनीभूत होकर वर्षा के रूप मे गिरती है। इस तरह धरातल पर वर्षा का वितरण वायुदाब तथा वायु प्रवाह से जुड़ा हुआ है।[1] यद्यपि जलवायु और मौसम के तत्त्वो के रूप मे वायुदाब और हवाओं का विशेष महत्त्व नही है, परन्तु इनका सर्वाधिक महत्त्व इस बात मे निहित है कि ये तापमान और वर्षा पर अभूतपूर्व नियन्त्रण रखती है।

सामान्य भौतिक पदार्थो की भाँति वायु भी एक भौतिक वस्तु है। इसमें जलवाष्प, गैसें और धूल-कण जैसी कई वस्तुएँ मिली रहती है। इसलिए अन्य पदार्थो की भाँति वायु भी भारयुक्त होती है। महान वैज्ञानिक **गैरिक** (Guericke) ने इस सम्बन्ध मे परीक्षण कर इस सच्चाई पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वायु भारयुक्त होती है इसलिए पृथ्वी के धरातल पर उसका दबाव पड़ता है। पृथ्वी के धरातल पर वायु का यह दबाव ही वायुदाब कहलाता है।
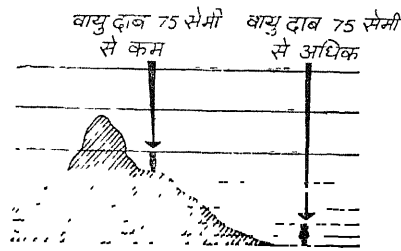
चित्र 100—**वायुदाब**

साधारणत: वायु का हमें कोई भार अनुभव नहीं होता, परन्तु ऐसा अनुमान लगाया गया है कि एक घन फुट वायु में लगभग $1\frac{1}{4}$ औस वजन होता

[1] G. T. Trewartha : *Introduction to Weather and Climate*, p. 73

है। वायु का सबसे अधिक दबाव समुद्र-तल के समीप पाया जाता है। समुद्र-तल के समीप प्रति वर्ग इंच भूमि पर लगभग 15 पौण्ड दबाव होता है। वायु का यह दबाव समुद्र-तल से ऊँचाई बढ़ने पर घटता जाता है।

वायुदाब की निर्भरता

पृथ्वी के धरातल पर वायुदाब कभी भी स्थिर नही रहता। ऊँचाई, तापमान, जलवाष्प और पृथ्वी की आवर्तन गति आदि कई बातों का वायुदाब पर प्रभाव पड़ता है। अतः वायुदाब सदैव बदलता रहता है।

वायुदाब और ऊँचाई
(Pressure and Altitude)

सामान्य पदार्थों की भाँति वायु भी सम्पीडक (compress) होती है। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ऊँचाई बढ़ने के साथ वायुदाब मे शीघ्रता से कमी होती जायगी। वायुमण्डल के निचले भागो मे वायुदाब अधिक पाया जाता है, क्योकि वायुमण्डल के समस्त ऊपरी स्तरो (layers) का दबाव नीचे के स्तरो पर पड़ता है। परन्तु ज्यों-ज्यों ऊपर उठते जायेंगे वायुदाब मे कमी होती जायगी। लगभग 900 फुट की ऊँचाई पर 1 इंच अथवा 34 मिलीबार वायुदाब कम हो जाता है। किन्तु ऐसा कुछ हजार फुट की ऊँचाई तक ही होता है। तदनन्तर वायुदाब शीघ्र गिरता चला जाता है और वायु हल्की होती जाती है। यदि कोई 18,000 फुट की ऊँचाई पर खड़ा हो तो वायुमण्डल का लगभग आधा दबाव उसके पैरों के नीचे होगा। ऊँचाई पर वायुदाब की कमी के साथ-साथ ऑक्सीजन की भी कमी पायी जाती है। ऑक्सीजन की कमी और न्यून वायुदाब मे मनुष्य भली प्रकार नही रह सकता। यही कारण है कि पर्वतारोही आरोहण के समय अपने साथ ऑक्सीजन के थैले रखते है। बहुत ऊँचाई पर वायुदाब की कमी के कारण पार्वत्य रोग (Mountain sickness) हो जाया करता है। ऊँचाई पर चढने पर पहले श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगती है और फिर मूर्च्छा, वमन और नकसीर बहने लगती है। बहुत अधिक ऊँचाई पर तो शरीर की चमड़ी नीली पड़ जाती है, मानसिक शक्तियाँ असमर्थ हो जाती है, हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते है और अधिक सर्दी के कारण मृत्यु तक हो जाती है।

ऊँचाई के अनुसार वायुदाब मे कमी निम्न प्रकार होती है :[1]

(2000 फुट का अन्तर)

फुट	मिलीबार
समुद्र-तल	1013·2
2,000	942
4,000	875
6,000	812
8,000	753
10,000	697
20,000	465
30,000	301
40,000	187

1 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 106

वायुदाब और तापमान
(Pressure and Temperature)

वायुदाब और तापमान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वायु का तापमान बढ़ जाने पर उसका आयतन बढ़ जाता है और वह फैलकर इधर-उधर चलने लगती है। इससे वायु का दबाव कम हो जाता है। पर जब तापमान घट जाता है तो वायु सिकुड़कर एक जगह एकत्रित होने लगती है, जिससे वायुदाब बढ़ जाता है। इस तरह तापमान परिवर्तन के साथ ही साथ वायुदाब घटता-बढ़ता रहता है। वायुदाब और तापमान में सदा प्रतिकूल सम्बन्ध रहता है। अर्थात् यदि तापमान अधिक हुआ तो वायुदाब कम होगा और यदि तापमान कम हुआ तो वायुदाब अधिक होगा। दूसरे शब्दों में; थर्मामीटर जितना ही ऊँचा होगा बैरोमीटर उतना ही नीचा होगा और थर्मामीटर जितना ही नीचा होगा बैरोमीटर उतना ही ऊपर होगा। (The lower the thermometer, the higher the barometer and vice-versa.)

तापमान परिवर्तन के साथ वायुदाब में जो वृद्धि या ह्रास होता है उसका मूल कारण धरातल के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में तापमान की भिन्नता है। उष्ण प्रदेशों में वायु गरम होकर फैलती है और फिर ऊपर उठती है। ऊपर उठकर वह अपने समीपीय ठण्डे प्रदेश की ओर नीचे उतरती है। वायु के इस स्थानान्तरण से गरम प्रदेश में वायु के कम हो जाने से वायुदाब कम हो जाता है और ठण्डे प्रदेश में वायु के एकत्रित होने से वायुदाब बढ़ जाता है। धरातल पर तापमान स्थिर नहीं है इसलिए वायुदाब भी स्थिर नहीं है बल्कि तापमान के साथ घटता-बढ़ता रहता है। यही कारण है कि पृथ्वी पर वायुदाब न तो एक समान ही है और न सदा एकसा ही रहता है।

वायुदाब और जलवाष्प
(Pressure and Water Vapour)

जलवाष्प हवा से हल्की होती है। इसलिए हवा में जितनी ही वाष्प मिली रहेगी हवा उतनी ही हल्की होगी और हवा जितनी हल्की होगी उसका दबाव उतना ही कम होगा। इस कारण यदि किसी स्थान पर वायु में जलवाष्प अधिक मात्रा में मिल जाती है तो उस स्थान पर वायुदाब कम हो जाता है। शुष्क हवा आर्द्र हवा से भारी होती है। वर्षा ऋतु में वायु में जलवाष्प मिले रहने के कारण ही वायुदाब कम रहता है। मौसम के अनुसार हवा में वाष्प की मात्रा कम-ज्यादा होती रहती है, इस कारण वायुदाब भी घटता-बढ़ता रहता है। समुद्र के ऊपर वायु में अधिक भाप मिली रहती है इसलिए समुद्री हवा का दबाव स्थलीय हवा के दबाव से कम होता है।

वायुदाब और पृथ्वी की दैनिक गति
(Pressure and Rotation of Earth)

वायुदाब पर पृथ्वी की दैनिक गति का भी प्रभाव देखा जाता है। पृथ्वी की दैनिक गति के कारण वायुदाब बदलता है। पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण आकर्षण शक्ति का जन्म होता है जो धरातल की समस्त वस्तुओं को पृथ्वी के केन्द्र की ओर खींचती है और उन्हें पृथ्वी से अलग नहीं होने देती। यही कारण है कि अधिक ताप के कारण विषुवत रेखा से उठी हुई वायु पुनः मध्य अक्षांशों के निकट नीचे उतर आती है।

पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण विषुवत रेखा के समीप वायु केन्द्र से दूर हटती है परन्तु ध्रुवों की वायु केन्द्र की ओर खिंचती है। इसलिए वायु का अधिकतर भाग मध्य अक्षांशों में एकत्रित होता जाता है और वहाँ वायु का दबाव बढ़ जाता है। परन्तु विषुवत रेखा के समीप और ध्रुवों पर वायु का दबाव कम होता है।

वायुदाब का दैनिक परिवर्तन
(Diurnal Change of Pressure)

वायुदाब और तापमान मे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह पहले बताया जा चुका है। धरातल पर तापमान का सबसे अधिक प्रभाव दिन में मध्याह्न के उपरान्त होता है और यह रात के 10 बजे तक बना रहता है। रात्रि मे सूर्य के अभाव मे तापमान घट जाता है और उसका प्रभाव सुबह के 10 बजे तक रहता है। तापमान के इस परिवर्तन के साथ वायुदाब भी सदा घटता-बढता रहता है। प्रतिदिन सूर्य की गर्मी के अनुसार वायुदाब दिन के 10 बजे से 4 बजे तक और रात के 10 बजे से सुबह के 4 बजे तक घटता है और सुबह के 4 बजे से दिन के 10 बजे तक तथा सायंकाल 4 बजे से रात के 10 बजे तक बढता है। वायुदाब के इस प्रकार घटने-बढने को **बैरोमीटर का ज्वार-भाटा** (Barometric tide) कहा जाता है। चित्र 101 से वायुदाब घटने और बढने का तापमान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।
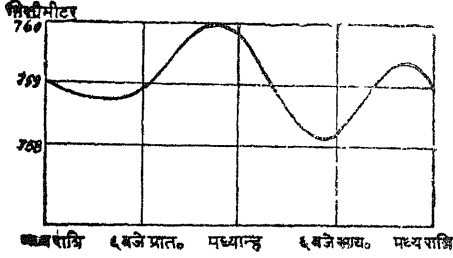
चित्र 101—बैरोमीटर का ज्वार-भाटा

बैरोमीटर का उतार-चढ़ाव अधिकतर भूमध्यरेखीय प्रदेशों तक ही सीमित है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर बैरोमीटर का ज्वार-भाटा क्षीण होता जाता है। यहाँ तक कि 60° उत्तर और दक्षिण अक्षांश के आगे इसका कोई प्रभाव नही होता। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वायुदाब का दैनिक परिवर्तन उष्ण-खण्डों मे ही अधिक होता है।

यदि बैरोमीटर के माप के उच्चतम और न्यूनतम बिन्दुओ को देखा जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि बैरोमीटर पर स्थल का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। स्थल के भीतरी भागो मे दिन के समय बैरोमीटर का उतार-चढाव समुद्र के निकटवर्ती भागो से अधिक होता है। इसके विपरीत समुद्र के निकटवर्ती स्थानो में यह उतार-चढाव स्थल के भीतरी भागों के रात्रि के उतार-चढाव से अधिक होता है। इसका कारण यह है कि स्थल और जल पर तापमान का भिन्न प्रभाव होता है। इसी प्रकार पर्वतों और मैदानों का वायुदाब भी उल्टा देखा जाता है। दिन मे जब मैदान गरम होते हैं तो वहाँ वायुदाब कम होता है, परन्तु पहाड़ों पर इस समय वायुदाब अधिक होता है क्योकि मैदानों से उठी हुई वायु पर्वतों पर जाकर एकत्रित हो जाती है। रात्रि को वायुदाब की यह दशा बिलकुल विपरीत होती है। अतः वायुदाब सभी अवस्थाओ में तापमान के अनुसार परिवर्तनशील होता है।

वायुदाब की पेटियाँ
(Pressure Belts)

धरातल पर कहीं भी वायुदाब एक समान नहीं है। वायुदाब तापमान, जलवाष्प और पृथ्वी की परिभ्रमण गति आदि कई बातो से प्रभावित होता है। अतः पृथ्वी के धरातल पर कही तो न्यून वायुदाब और कहीं उच्च वायुदाब मिलता है। धरातल पर वायुदाब की कुल सात आदर्श पेटियाँ हैं। ये पेटियाँ केवल उसी समय सम्भव हो सकती है, जबकि पृथ्वी पर किसी प्रकार की विभिन्नता न हो। जैसे जल और स्थल की विभिन्नता। वायुदाब की ये पेटियाँ पृथ्वी के एक ऐसे गोले पर सम्भावित मानी गयी हैं, जो सम्पूर्ण रूप से स्थल ही स्थल हो या फिर जल ही जल। वायुदाब की पेटियों की यह व्यवस्था दक्षिणी गोलार्द्ध मे—जहाँ समुद्र की प्रधानता है—जनवरी और जुलाई के वायुदाब मानचित्रो में देखी जा सकती है। भूमध्य रेखा के उत्तर में जहाँ स्थल के

बाद जल और जल के बाद स्थल दिखाई पड़ता है, वायुदाब की पेटियों का बराबर बने रहना कठिन होता है। जल और स्थल की विभिन्नता मे महाद्वीपो और महासागरो के तापमान में बड़ा अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अत उत्तरी गोलार्द्ध में वायुदाब की पेटियों की अपेक्षा वायुदाब के अलग-अलग केन्द्र मिलते है।

पृथ्वी के गोले पर वायुदाब की जो सात पेटियाँ है उनमे से चार उच्चदाब की पेटियाँ हैं और तीन न्यून वायुदाब की। ये सब पेटियाँ जो समुद्र-तल पर दुनिया की औसत वायुदाब की अवस्थाएँ बताती है, निम्न है·

(1) **विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब की पेटी** (Equatorial Low Pressure Belt)—इस पेटी का विस्तार विषुवत रेखा के दोनो ओर 5° अक्षाशो तक पाया जाता है। किन्तु सूर्य के उत्तरायण तथा दक्षिणायन होने के साथ-साथ इस पेटी का भी स्थानान्तरण होता रहता है जिससे इसकी स्थिति स्थायी नही रहती। भूमध्य रेखा पर वर्ष भर सूर्य लम्बवत् चमकता है और यहाँ दिन-रात भी सदैव एक समान होते है। अत यहा वर्ष भर उच्च तापमान बना रहता है जिससे यहाँ हवाएँ गर्म होकर फैलती है और ऊपर उठती रहती है। फलस्वरूप यहाँ सदैव न्यूनदाब बना रहता है। वहाँ वायुमण्डल मे अधिक आर्द्रता भी न्यूनदाब का कारण है। स्पष्ट है कि यह पेटी सीधी तापमान से सम्बन्धित है। इसीलिए इसे तापजन्य न्यून वायुदाब की पेटी (Thermally induced low pressure belt) कहा जाता है। इस पेटी मे धरातल पर हवाओ मे गति कम होने से वातावरण शान्त रहता है। इस कारण इस पेटी को डोलड्रम अथवा शान्त क्षेत्र (Doldrum or region of calm) कहा जाता है। धरातल से कुछ ऊँचाई पर इसके विपरीत पवन प्रवाह सक्रिय होता है और शान्त वातावरण भग हो जाता है।

(2) **उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटियाँ** (Tropical High Pressure Belts)—दोनों गोलार्द्धों मे 30° से 35° अक्षाशो के मध्य उच्च वायुदाब की पेटियाँ पायी जाती है। वस्तुतः

चित्र 102—धरातल पर वायुदाब की स्थायी पेटियाँ

इस भाग मे शीतऋतु के दो महीनो को छोड़कर वर्ष भर ऊँचा तापमान बना रहता है। तापमान की अवस्थाओं के अनुसार यहाँ भी न्यून वायुदाब होना चाहिए था किन्तु इसके विपरीत

यहाँ उच्च वायुदाब पाया जाता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ उच्चदाब होने के भिन्न कारण हैं। यहाँ उच्चदाब वस्तुत पृथ्वी की दैनिक गति और वायु के अवतलन से सम्बन्ध रखता है। विषुवत रेखा तथा ध्रुव वृत्तो के समीप की न्यून वायुदाब की पेटी से ऊपर उठी हुई इन अक्षांशों में नीचे उतरती हैं जिससे वायुदाब बढ जाता है। इस प्रकार इन अक्षांशो मे उच्च वायुदाब की पेटियाँ गति जन्य (Dynamically induced) होती है। इन पेटियो को **अश्व अक्षांश** (Hoise Latitudes) भी कहा जाता है, क्योंकि प्राचीनकाल में एक व्यापारी अपने जहाज मे इंगलैण्ड से आस्ट्रेलिया को घोडे भरकर ले जा रहा था। किन्तु आस्ट्रेलिया के समीप मकर रेखा की प्रशान्त पेटी (Doldrum) मे जाकर फँस गया। अत जहाज को बचाने के लिए बहुत-से घोड़े समुद्र मे फेंक दिये गये। तभी से इन अक्षांशो को अश्व अक्षांश पुकारा जाने लगा है।

(3) **उपध्रुवीय न्यून वायुदाब की पेटियाँ** (Polar Low Piessuie Belts)—अयन रेखाओं पर स्थित उच्च वायुदाब की पेटियों से ध्रुवो की ओर वायुदाब घटता जाता है। वायुदाब में यह कमी उत्तरी ध्रुव वृत्त और दक्षिणी ध्रुव वृत्त तक होती है जहाँ न्यून वायुदाब की पेटियाँ स्थित है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध मे न्यून वायुदाब की यह पेटी अधिक गहरी और व्यवस्थित है। इन वृत्तों के समीप न्यून वायुदाब की पेटियों के बनने के सम्भावित कारण निम्न है :

(क) इन पेटियों के दोनो ओर अधिक वायुदाब मिलता है। ध्रुवों की ओर शीत के कारण और विषुवत रेखा की ओर मध्य अक्षांशों के समीप पृथ्वी की गति के कारण।

(ख) इन पेटियों में स्थित समुद्रों मे गरम जल-धाराएँ चला करती है जिनसे यहाँ तापमान बढ़ जाता है और वायुदाब कम हो जाता है।

(ग) पृथ्वी की आवर्तन गति के कारण ध्रुवों के ऊपर भँवर (whirl) उत्पन्न हो जाती हैं। वायु की इस भँवर से ध्रुवो पर गड्ढा बन जाता है। फलस्वरूप ध्रुवों के ऊपर वायु की कमी से न्यून वायुदाब की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। परन्तु यहाँ इतनी भीषण ठण्ड पड़ती है कि जिससे तापमान के प्रभाव के सम्मुख पृथ्वी की गति का प्रभाव नगण्य हो जाता है। तापमान के प्रभाव से ध्रुवो पर उच्च दाब बना रहता है और न्यून वायुदाब की पेटी अन्ततः ध्रुव वृत्तो के ऊपर अथवा ठीक उनके बाहर बनती है।

इस प्रकार यहाँ ये पेटियाँ पृथ्वी की परिभ्रमण गति और तापमान दोनो के सम्मिलित प्रभाव से बनती हैं।

(4) **ध्रुवीय उच्च वायुदाब की पेटियाँ** (Polar High Pressuie Belts)—ध्रुव वृत्तों से ध्रुवों की ओर जाने पर वायुदाब बढ़ता जाता है। ध्रुवो के निकट तो उच्च वायुदाब का एक विशेष क्षेत्र बन जाता है। जिस प्रकार विषुवत रेखा के निकट न्यून वायुदाब का कारण तापमान की अधिकता है उसी प्रकार ध्रुवों के समीप उच्च वायुदाब का कारण तापमान की न्यूनता है।

ध्रुवों के निकट वायुदाब की व्यवस्था और उनकी प्रकृति (character) कुछ कम ही समझ मे आता है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे जल और स्थल भागों की एक समान व्यवस्था (symmetrical arrangement) है। ध्रुव के ऊपर बर्फ से ढका हुआ एक महाद्वीप है और उनके चारों ओर बाधा रहित समुद्र फैले हुए है। इन सब कारणों से यहाँ वायुदाब एक समान पाये जाते हैं। अण्टार्कटिक महाद्वीप के ऊपर सदा उच्च वायुदाब रहता है और उसके चारों ओर उप-ध्रुवीय न्यून वायुदाब की पेटी फैली रहती है। इसके विपरीत उत्तरी गोलार्द्ध मे वायुदाब की ऐसी सरल व्यवस्था नहीं दिखाई पड़ती है। उत्तरी ध्रुव के समीप समुद्र है जो अधिकतर समय बर्फ (pack ice) से ढका रहता है। उत्तरी ध्रुव सागर के समीप यूरेशिया और उत्तरी अमरीका के महाद्वीप फैले हुए है जहाँ ऋतुओं के साथ वायुदाब और तापमान में बड़ा भारी अन्तर पड़ता रहता है। वायु-

दाब और तापमान में यह परिवर्तन ध्रुव प्रदेश के भीतरी भागों को प्रभावित करते है। शीत-ऋतु मे ध्रुवों की अपेक्षा उत्तरी यूरेशिया और उत्तरी अमरीका पर उच्च वायुदाब रहता है। बर्फ से ढका हुआ ग्रीनलैण्ड प्रदेश ध्रुव प्रदेश की अपेक्षा आर्कटिक प्रदेश मे उच्च वायुदाब का स्थायी केन्द्र है। उत्तरी अन्ध महासागर में आइसलैण्ड (Iceland) और उत्तरी प्रशान्त मे एल्यूशियन द्वीपसमूह (Alucian Ils) के न्यून वायुदाब केन्द्र उप-ध्रुवीय न्यून वायुदाब पेटी के विभिन्न भाग है।

वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन
(Seasonal Change of Pressure)

वायुदाब तापमान पर निर्भर है और तापमान सूर्य की ऊँचाई पर। आकाश मे सूर्य की ऊँचाई ऋतुओं के अनुसार बदलती रहती है। इस कारण धरातल पर तापमान कभी भी स्थायी नही होता। तापमान सदा ऋतुओ के अनुसार बदलता रहता है। तापमान के इस परिवर्तन के कारण ही वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन होता है।

जिस प्रकार दैनिक तापमान अन्तर से वार्षिक तापान्तर महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार वायुदाब के दैनिक परिवर्तन से वायुदाब का ऋतुवत् परिवर्तन अधिक महत्त्वपूर्ण है। वायुदाब के ऋतुवत् परिवर्तन के फलस्वरूप ही एक स्थान की वायु-राशि दूसरे स्थान को चलती है जिससे न केवल उस स्थान का वायुदाब ही बदल जाता है वरन् उस स्थान के मौसम पर भी अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता है।

वायुदाब के ऋतुवत् परिवर्तन को भलीभाँति समझने के लिए जनवरी और जुलाई के वायु-दाब मानचित्रो का ज्ञान आवश्यक है। इन मानचित्रों के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वायुदाव की पेटियाँ सूर्य के उत्तर और दक्षिण की ओर खिसकने के साथ ही साथ ऊपर-नीचे भी खिसकती रहती है। ग्रीष्मऋतु में जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध मे सीधा चमकता है तो उत्तरी

चित्र 103—**वायुदाब की पेटियों का खिसकना**

गोलार्द्ध का अधिकतर भाग गरम हो उठता है। इस कारण विषुवत्‌रेखीय न्यून वायुदाब वाली पेटी कुछ उत्तर की ओर खिसक जाती है। इसी के अनुसार अन्य पेटियाँ भी कुछ ऊपर सरक जाती है। शीतऋतु मे सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है। परिणामस्वरूप उत्तरी गोलार्द्ध ठण्डा और दक्षिणी गोलार्द्ध गरम हो जाता है। अतः विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब वाली पेटी इस समय कुछ दक्षिण को खिसक जाती है। इसके खिसकने के साथ-साथ अन्य पेटियाँ भी खिसक जाती है। वायुदाब की पेटियो के इस प्रकार स्थान परिवर्तन से भिन्न-भिन्न पेटियों की सीमा वाले प्रदेशों में

कभी न्यून वायुदाब की पेटी का प्रभाव रहता है और कभी उच्च वायुदाब की पेटी का। जैसे अयनवृत्तीय प्रदेश (कर्क और मकर रेखा के समीपस्थ क्षेत्र) गर्मी मे न्यून वायुदाब के प्रभाव मे और सर्दी मे उच्च वायुदाब के प्रभाव मे रहते है। यही बात मध्यवर्ती अक्षांशों के लिए भी सही है। इस तरह सूर्य की किरणो के कभी उत्तर और कभी दक्षिण को सीधा चमकने के कारण वायुदाब की पेटियाँ ऊपर-नीचे खिसकती रहती है। परन्तु इसका अधिकतर प्रभाव स्थल भागो पर ही होता है जिससे वहाँ ग्रीष्म व शीत मे प्रतिकूल वायुदाब रहता है।

वायुदाब पर जल और स्थल के विन्यास का अत्यधिक प्रभाव पडता है। उत्तरी गोलार्द्ध में जल की अपेक्षा स्थल अधिक है। स्थल की अधिकता का वायुदाब पर बहुत प्रभाव पड़ता है। शीतऋतु मे स्थल खण्ड इतना ठण्डा हो जाता है कि अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब की पेटी अविच्छिन्न रूप से समस्त स्थल खण्ड पर फैल जाती है। परन्तु ग्रीष्मऋतु में यही भाग इतने अधिक गरम हो जाते हैं कि उच्च दाब की पेटी बिलकुल नष्ट हो जाती है। उच्च दाब के स्थान पर वहाँ न्यून दाब की पेटी स्थापित हो जाती है। इसी समय इनके समीपीय समुद्रो मे जाड़ो मे न्यून दाब और ग्रीष्म मे उच्च दाब बन जाया करता है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे स्थल की अपेक्षा जल बहुत अधिक है। अत यहाँ वायुदाब में ऐसा कोई परिवर्तन देखने को नही मिलता। दक्षिणी गोलार्द्ध मे वायुदाब की पेटियाँ अक्षांशों के समान्तर होती है परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध मे वायुदाब की पेटियाँ बहुत अधिक वक्रता लिए हुए रहती है।

जनवरी का वायुदाब
(Pressure in January)

जनवरी मास के समदाब दर्शक मानचित्र को देखने से यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि इस समय वायु का सबसे अधिक दबाव यूरेशिया के मध्य मे है। यहाँ इस समय वायु का दाब लगभग 30 6 इंच रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक दबाव के अन्य क्षेत्र इस समय 30° उत्तरी अक्षाश के समीप केलिफोर्निया के पश्चिम मे प्रशान्त महासागर, कोलम्बिया का पठार, सहारा मरुस्थल और अन्ध महासागर मे पाये जाते है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे इस ऋतु मे उच्च दाब के केन्द्र दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट के समीप प्रशान्त महासागर, अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास अन्ध महासागर
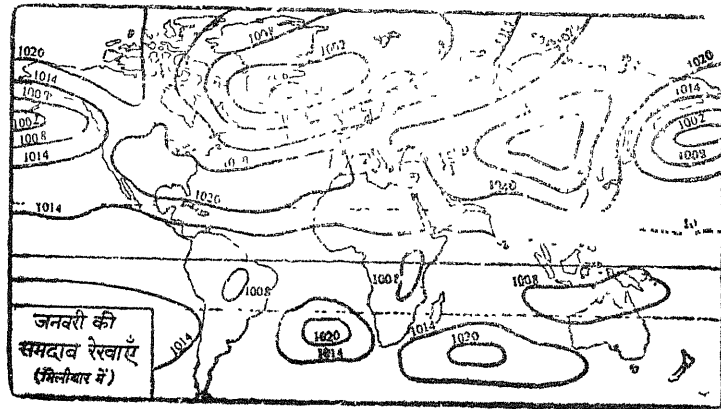
चित्र 104—जनवरी की समदाब रेखाएँ

और आस्ट्रेलिया के पश्चिम में हिन्द महासागर में पाये जाते है। इसी समय कम दबाव के क्षेत्र उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तरी अन्ध महासागर में आइसलैण्ड और उत्तरी प्रशान्त में एल्यूशियन द्वीपों में फैले रहते है। यहाँ वायुदाब लगभग 29·7 इंच रहता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में कम दबाव के

क्षेत्र विषुवत रेखा के समीप दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पूर्वी द्वीप समूह के भीतरी भागों मे पाये जाते है ।

जुलाई का वायुदाब
(Pressure in July)

जुलाई के समदाब दर्शक मानचित्र का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इस समय दक्षिणी गोलार्द्ध में वायु का दबाव बहुत बढा हुआ है । 30° दक्षिणी अक्षाश के आसपास उच्च दाब की पेटी बिना किसी रुकावट के विस्तृत भाग मे फैली हुई पायी जाती है । उत्तरी गोलार्द्ध मे
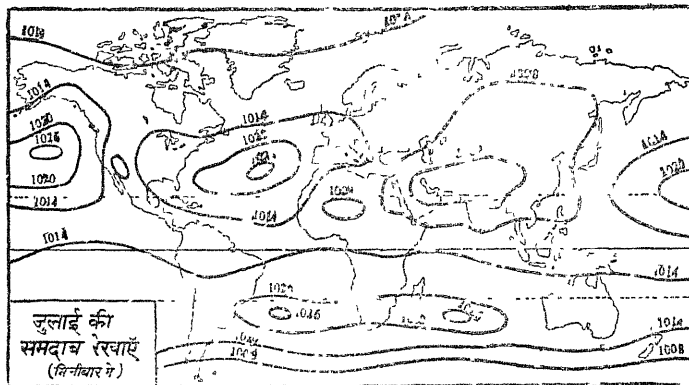
चित्र 105—जुलाई की समदाब रेखाएँ

इस ऋतु मे उच्च दाब के क्षेत्र उत्तरी अन्ध महासागर मे एजोर्स द्वीप और उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट के समीप उत्तरी प्रशान्त महासागर मे स्थित है । इसके विपरीत न्यून वायुदाब यूरेशिया के मध्य भाग, आइसलैण्ड और कनाडा के उत्तर मे बेफिन की खाड़ी आदि स्थानों मे फैले पाये जाते है । इस प्रकार इस गोलार्द्ध मे उच्च वायुदाब समुद्र पर और न्यून वायुदाब स्थल-खण्डो पर पाया जाता है ।

हवाएँ
(Winds)

सूर्य शक्ति का मुख्य स्रोत है । वायुमण्डल की शक्ति का कारण भी सूर्य ही है । वायुमण्डल में घटित होने वाली समस्त घटनाएँ इसी शक्ति का परिणाम है । इसी से वायुमण्डल गरम होता है, बादल बनते है, वर्षा होती है और बिजली चमकती है । धरातल पर चलने वाली हवाओ का कारण भी भू-तल का असमान ताप है । इस प्रकार धरातल की समस्त गतिविधियों के पीछे आदि कारण सूर्याभिताप ही है । यह बात **सर नेपियर शॉ** (Sir Napier Shaw) जैसे प्रबुद्ध ऋतु-विज्ञान वेत्ता के कथन से और भी स्पष्ट हो जाती है । उसका कहना है कि "सृष्टि के प्रारम्भ से धरती पर जब भी कोई वर्षा की बूँद गिरी या किसी पवन ने जहाज को गति प्रदान की अथवा नष्ट किया तो उसके पीछे कार्य करने वाली ताप शक्ति ही थी ।"[1]

धरातल पर हवाओ के चलने का मुख्य कारण तापमान का असमान वितरण है । वायु भूमि के ताप द्वारा गरम होती है । किन्तु भूमि का तापमान कही अधिक और कही कम होता है । इसलिए वायु कही गरम और कही ठण्डी होती है । वायु के गरम और ठण्डे होने से पवन प्रवाह का गहरा सम्बन्ध है ।

1 Trewartha : *Introduction to Weather and Climate*, p. 57

ताप से हर एक वस्तु फैलती है और ठण्डक से सिकुड़ती है। वायु भी भौतिक वस्तु होने से गर्मी पाकर फैलती है और अपने आयतन (density) मे बढ जाती है। इस प्रकार गर्मी से वायु का प्रसार होता है जिससे उसका दाब कम हो जाता है। गर्मी फैलकर आयतन मे बढी हुई वायु का तापमान जब घट जाता है तो वह ठण्डी हो जाती है। ठण्डी होने पर वायु सिकुडती है जिससे उसका आयतन घटता है। दूसरे शब्दो मे, उसका दबाव बढ जाता है। इस प्रकार जब कभी वायुमण्डल के किसी भाग मे दबाव बढ जाता है तो वहाँ से हवा कम दबाव वाले स्थान की ओर चलने लगती है। इस चलती हुई वायु को ही **पवन** (Wind) कहा जाता है। **फिन्च एवं ट्रिवार्था महोदय** के शब्दो मे, "It (wind) represents nature's attempt to correct pressure in equalities" or "The maintenance of heat balance between the higher and lower latitudes in spite of their radiation unbalance."[1] धरातल पर चलने वाली हवाएँ इस प्रकार भू-तल पर वायुदाब मे अन्तर होने से चलती है। अतः हवाओं की उत्पत्ति के लिए ऐसी हवाओ का होना जरूरी है, जिनके दबाव मे अन्तर हो। यहाँ यह कह देना भी उपयुक्त होगा कि जो हवा इधर से उधर धरातल के समान्तर चलती है उसी को पवन कहा जाता है। वायुमण्डल मे लम्बवत् या ऊपर-नीचे चलने वाली हवा को वायुतरग अथवा वायु धारा (air current) कहा जाता है।

दाब-प्रवणता—धरातल पर वायु-प्रवाह का सम्बन्ध वायुदाब के अन्तर रो है। वायुदाब के अन्तर को वायुदाब का ढाल (Pressure gradient) या बैरीमीटर का ढाल (Barometrice slope) कहा जाता है। धरातल पर चलने वाली पवनों की प्रवाह-दिशा और गति वायुदाब के ढाल से ही ज्ञात होती है। वायुदाब और हवाओ के सम्बन्ध मे दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण नियम है। पहला, पवन प्रवाह सदैव उच्च दाब से निम्न दाब की ओर होता है। दूसरा, पवन की प्रवाह गति वायुदाब के अन्तर की न्यूनाधिकता पर निर्भर करती है। जब वायुदाब का ढाल प्रपाती होगा तो हवाएँ तेज गति से चलेंगी और जब वायुदाब का ढाल कम होगा तो हवाएँ धीमी गति से चलेंगी।

चित्र 106—दाब-प्रवणता और उसकी दिशा

वायुदाब के ढाल (Pressure gradient) तथा हवाओ की प्रवाह गति का ज्ञान समदाब रेखाओ के अध्ययन से किया जा सकता है। यदि समदाब रेखाएँ पास-पास हों तो ढाल (gradient) प्रपाती (steep) होगा और हवाएँ तीव्र गति से चलेंगी किन्तु यदि समदाब रेखाएँ काफी दूर-दूर हुईं तो वायुदाब का ढाल बहुत मन्द होगा जिससे हवाओ की गति भी धीमी होगी। जब कभी एक लम्बे-चौड़े क्षेत्र मे वायुदाब के ढाल का अभाव-सा होता है तो उस समय वहाँ पूर्ण शान्ति (calms) रहती है।
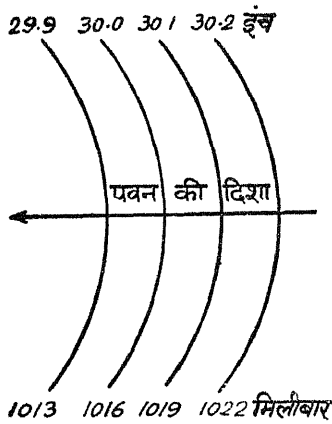
यदि पृथ्वी स्थिर होती और उसके ऊपर सब जगह जल ही जल अथवा स्थल ही स्थल होता तो सूर्य की किरणें सदैव विषुवत रेखा पर सीधी चमकतीं। ऐसी अवस्था में विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर तापमान बराबर घटता जाता, जिससे ध्रुवों पर सदैव ही उच्च दाब (high pressure) और भूमध्य रेखा पर न्यून दाब (low pressure) बना रहता। भूमध्य रेखा पर

---

[1] V. C. Finch & G. T. Trewartha : *Elements of Geography*, p. 46

प्रचण्ड ताप के कारण उष्ण हवा फैलकर बराबर ऊपर उठेगी और वायुमण्डल में ऊपर ही ऊपर ध्रुवों की ओर चलेगी। ध्रुव प्रदेशों मे यह धरातल पर नीचे उतरेगी और ठण्डी धरातली हवाओं में मिलकर पुनः भूमध्य रेखा की ओर चल पड़ेगी। ऐसी परिस्थिति मे धरातल पर दो बड़ी संवहन धाराएँ (convectional currents) बन जायेंगी जो प्रत्येक गोलार्द्ध मे भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर चलेंगी। पर हम देखते है कि धरातल पर तापजनित हवाओं की ऐसी कोई व्यवस्था नही पायी जाती। क्योंकि न तो पृथ्वी ही स्थिर है और न धरातल पर सब ही जगह जल ही जल अथवा स्थल ही स्थल है।

ग्रहीय अथवा स्थायी हवाएँ
(The Planetary Wind System)

धरातल पर हवाओं की व्यवस्था को समझने के लिए यदि हम किसी तरह धरातल को समरूप (Homogeneous) और पृथ्वी को घूमती हुई मान ले तो दो बहुत बड़े भेद स्पष्टतः ज्ञात होंगे।

(1) पृथ्वी की गति के कारण धरातल पर अयन रेखाओ के समीप—लगभग 30° से 35° अक्षांश—उच्च वायुदाब की पेटियाँ और 60° से 65° अक्षांशों के समीप न्यून वायुदाब की पेटियाँ स्थापित हो जायेंगी जिससे भूमध्य रेखा और ध्रुवों के बीच पवनो की कई विभिन्न पेटियाँ बन जायेंगी।

(2) पृथ्वी की गति से उत्पन्न विक्षेप बल (Deflective force) के कारण हवाएँ वायुदाब के ढाल के अनुरूप सीधी उत्तर-दक्षिण दिशा को न चलकर कुछ मुड जायेंगी।

उपरोक्त व्यवस्था के अनुसार धरातल पर 6 बड़ी पवन धाराएँ चलने लगेंगी। इनमें से प्रत्येक वायु धारा उच्च वायुदाब क्षेत्र मे उत्पन्न होती है और गुरुत्वाकर्षण शक्ति से वायुदाब के ढाल के अनुरूप निम्न वायुदाब की ओर प्रवाहित होती है। विषुवत रेखा के दोनो ओर उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटियो (Sub-tropical high pressure belts) से दो बड़ी पवन धाराएँ उत्पन्न होती है जो वायुदाब के ढाल के अनुसार भूमध्यरेखीय न्यून दाब की ओर प्रवाहित होती है। ये हवाएँ सन्मार्गी हवाएं कहलाती है। इसी तरह उपोष्ण उच्च दाब की पेटियो से हवाओं की दो धाराएँ उपध्रुवीय निम्न वायुदाब (Sub-polar low) की ओर चलती है। ये पछुवा हवाएँ (Westerlies) कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त हवा की दो धाराएँ ध्रुवीय उच्च दाब (Polar highs) से उपध्रुवीय न्यून दाब की पेटियों की ओर चलती है, जहाँ ये निम्न अक्षांशो से आने वाली पछुवा हवाओ से मिलती है। उच्च अक्षांशो से चलने वाली ये हवाएँ जिनके बारे में बहुत कम ज्ञान है, ध्रुवीय हवाएँ (Polar winds) कहलाती है। धरातल के ऊपर उच्च वायुदाब और निम्न वायुदाब की पेटियों मे वायुदाब का ढाल अत्यन्त ही मन्द (weak) और अस्थिर रहता है। अतः इन भागों मे हवाओं की कोई समुचित व्यवस्था नही देखी जाती है। यहाँ अधिकतर शान्ति (calms) रहती है। कभी-कभी अस्थिर हवाएँ (Variable Winds) भी चला करती है। इस प्रकार सन्मार्गी हवाओ और विषुवत-रेखीय न्यून दाब की पेटी के बीच भूमध्यरेखीय शान्त मेखला या डोल्ड्रम स्थित है। विषुवत रेखा के दोनों ओर उपोष्ण उच्च दाब की पेटी के समीप सन्मार्गी हवाओं और पछुआ हवाओ के बीच उपोष्ण शान्त मेखला (Sub-tropical belts of variable winds and calms) है जिसे **अश्व अक्षांश** (Horse latitudes) भी कहा जाता है। इसी प्रकार उपध्रुवीय निम्न दाब प्रदेशों के समीप पछुआ हवाओं और ध्रुवीय हवाओ के बीच कुछ अस्थिर हवाओं के प्रदेश है। इन प्रदेशों का कोई विशिष्ट नाम नहीं है।

धरातल की ऊपर वर्णित हवाओं को यदि किसी मानचित्र पर चित्रित किया जाय तो उनकी प्रवाह दिशा ठीक समदाब रेखाओं से समकोण बनाती हुई सीधी उत्तर से दक्षिण होगी।

परन्तु धरातल पर चलने वाली हवाएँ कभी भी सीधे उत्तर से दक्षिण को नही चला करती। चलते समय उनकी प्रवाह दिशा कुछ बदल जाती है। अत. सन्मार्गी हवाएँ उत्तर या दक्षिण से चलने की अपेक्षा उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पूर्व से चलती है। इसी तरह अयनवृत्तीय उच्च दाब की पेटियों से ध्रुवों की ओर चलने वाली पछुवा हवाएँ उत्तर या दक्षिण को सीधी न चलकर उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम से चलती है। ध्रुवो से आने वाली ध्रुवीय हवाएँ भी इसी प्रकार उत्तरी-पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी होती है। धरातल पर चलने वाली इन हवाओं की प्रवाह दिशा मे परिवर्तन पृथ्वी की परिभ्रमण गति के प्रभाव से उत्पन्न होता है। पृथ्वी की परिभ्रमण गति के प्रभाव से समस्त हवाएँ उत्तरी गोलार्द्ध मे दायी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध मे बायी ओर मुड जाती है। पृथ्वी की परिभ्रमण गति के प्रभाव से हवाओ क इस प्रकार दिशा बदल देने की सर्वप्रथम खोज फैरल (Ferral) नामक अमरीकी वैज्ञानिक ने की थी। अत हवाओ के सम्बन्ध मे इस नियम को **फैरल का नियम** (Ferral's law) कहते है। इस नियम के अनुसार हवाओ का झुकाव भूमध्य रेखा के समीप बहुत कम होता है। परन्तु भूमध्य रेखा से ज्यो-ज्यो हम उच्च अक्षांशों की ओर जाते है, हवाओ का यह झुकाव बराबर बढता जाता है। पृथ्वी के धरातल से 3000-4000 फुट की ऊँचाई पर जहाँ अवरोध (friction) प्राय नहीं होता, हवाएँ समदाब रेखाओ के बिलकुल समान्तर चलती है। किन्तु स्थल भागो पर प्रायः धरातली हवाएँ समदाब रेखाओ से 30° से 40° का कोण बनाती है। समुद्रो पर यह कोण 90° तक ही रहता है। पृथ्वी के धरातल से कई हजार फुट की ऊँचाई पर जहाँ हवाएँ समदाब रेखाओ के ठीक समान्तर चलती है, हवाओ की प्रवाह दिशा इस तरह रहती है कि उत्तरी गोलार्द्ध मे निम्न वायुदाब उसके बायी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध मे दायी ओर रहता है। हवाओं की प्रवाह दिशा और वायुदाब सम्बन्धी यह नियम **बाइज बैलट** नामक विद्वान ने स्थापित किया था। इसलिए इस नियम को **बाइज बैलट का नियम** (Buys Bellat's Law) कहते हैं।
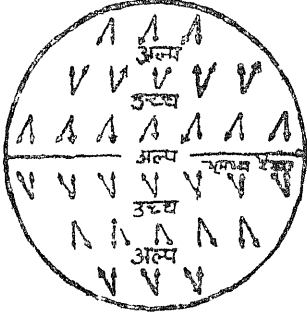
चित्र 107—फैरल के नियमानुसार हवाओं का मुड़ना

असमान धरातल पर वायु प्रवाह

समरूप धरातल और भ्रमणशील पृथ्वी के ऊपर जिस प्रकार की कल्पना हमने वायुदाब और हवाओ के सम्बन्धो में ऊपर की है वह इतनी सीधी और सरल है कि वायुदाब तथा हवाओं की वैसी व्यवस्था धरातल पर वस्तुत दिखाई नही देती। इसका प्रमुख कारण यह है कि पृथ्वी का धरातल कही भी समरूप नही है। पृथ्वी के धरातल पर जल और स्थल के रूप मे कई विभेद है। अत. जल और स्थल के विन्यास का वायुदाब और हवाओ के प्रवाह पर बहुत प्रभाव पड़ता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में जहाँ स्थल का अभाव-सा है और जल की बहुत कुछ एकसी परत विद्यमान है, हवाओ का प्रवाह बहुत अशो तक ऊपर वर्णित पेटियों के अनुसार ही होता है। परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में जहाँ स्थल और जल खण्ड दोनो ही समान रूप से विद्यमान हैं, उच्च वायुदाब और निम्न वायुदाब की पेटियाँ अलग-अलग केन्द्रों मे बँट जाती है। इन केन्द्रो के चारों ओर चक्रवात तथा प्रति-चक्रवात हवाओ की व्यवस्था पायी जाती है। जाड़े की ऋतु में ऐसे 6 अर्द्ध-स्थायी केन्द्र देखे जा सकते है जो निम्न प्रकार है :[1] (1) आइसलैण्ड न्यून दाब केन्द्र, (2) एल्यूशियन न्यून दाब

[1] V. C. Finch and G. T. Trewartha : *Elements of Geography*, p. 56

केन्द्र, (3) प्रशान्त का उच्च दाब केन्द्र, (4) एजोर्स उच्च दाब केन्द्र, (5) उत्तरी अमरीका का उच्च दाब केन्द्र, तथा (6) एशिया का उच्च दाब केन्द्र ।

विषुवत प्रशान्तमण्डल अथवा डोलड्रम
(The Doldrums or Equatorial Belt of Calms)

विषुवत रेखा के आसपास हमेशा सूर्य लम्बवत चमकता है जिससे वहाँ साल भर ऊँचा तापमान रहता है। ऊँचे तापमान होने के कारण यहाँ हवा गरम होकर हल्की हो जाती है एवं ऊपर की ओर फैलती है। इसके अतिरिक्त यहाँ सदैव अपेक्षाकृत ठण्डी सन्मार्गी हवाएँ आकर जमा होती है जो यहाँ की गरम हवा को ऊपर उठने को प्रेरित करती हैं। अत. इस भाग मे संवहन धाराओ की गति, व्यापारिक हवाओं का जमाव, ये दोनों ही ऐसे कारण है जिसके फलस्वरूप यहाँ वायुवहन धरातल के अनुरूप न होकर धरातल के ऊपर की ओर होता है। यहाँ हवाओं के ऊपर उठने का प्रमाण हमे आकाश मे घने कपासी (cumulus) बादलो के तड़ित झझा (thunder storm) तथा भारी सवहन वर्षा (convectional rain) से मिलता है।

भूमध्य रेखा के इस प्रदेश मे वायुदाब के ढाल (Barometric gradients) का सर्वथा अभाव पाया जाता है। अत यहाँ स्थायी धरातली हवाओ का प्रभाव बड़ा ही क्षीण रहता है। यहाँ साल मे अधिकांशतः हवाएँ शान्त रहती है। इसलिए इसको प्रशान्तमण्डल कहा गया है। यहाँ प्रवाहित हवाएँ बहुत ही हल्की तथा धीमी चलने वाली होती है जो सामान्यत सभी दिशाओ से समान गति से आती है। व्यापारिक हवाएँ यहाँ एकत्रित होकर ऊपर उठती है। इस कारण इस प्रशान्तमण्डल मे कभी तूफान आते है, कभी बिजली चमकती है, कभी वर्षा होती है और कभी शान्ति रहती है। कभी-कभी हल्की हवाएं चलती रहती है। साधारणत: यहाँ का मौसम बड़ा अच्छा होता है। हवा से खेये जाने वाले जहाज हमेशा इस प्रदेश से बचकर निकलने की चेष्टा करते है, क्योंकि यदि कोई जहाज हवाओं की इस शान्त पेटी मे फँस जाय तो बहुत दिनो तक इससे निकलना कठिन हो जाता है।

भूमध्य रेखा की अनियमित हवाएँ और प्रशान्तमण्डल वास्तव मे विषुवत रेखा के चारो ओर स्पष्ट एक पेटी के रूप मे नहीं हैं। इसका विस्तार ऋतुओ के अनुसार बदलता रहता है। कई स्थानो तथा समयो पर यह व्यापारिक और मानसून हवाओ के प्रभाव से बिलकुल नष्ट हो जाता है। इसकी उत्तरी तथा दक्षिणी सीमा कुछ दिनों की अवधि मे कई अंश इधर-उधर हो जाती है।

यद्यपि विषुवतरेखीय अनियमित पवनों के इस प्रदेश को ही प्राय प्रशान्तमण्डल कहा जाता है, परन्तु वास्तव मे यहाँ ऐसी अवस्थाएँ नही पायी जाती। विस्तार मे यह पेटी बहुत ही अनिश्चित है परन्तु इसकी औसत चौडाई 320 से 480 किमी है। कभी-कभी यह कई स्थानों पर भूमध्य रेखा से 10° तक फैल जाती है। परन्तु कई अन्य स्थानों पर विशेषत. मानसूनी खण्डो मे यह पूरी तरह अदृश्य हो जाती है। अन्ध महासागर के ऊपर जुलाई महीने मे यह प्रशान्तमण्डल 3° से 11° अक्षांश के बीच तथा जनवरी मे 0° से 3° अक्षांश के बीच फैला हुआ पाया जाता है। किन्तु इसका अधिकतर भाग 5° उत्तर तथा 5° दक्षिण अक्षाश के बीच पाया जाता है। आधुनिक वायु-राशि भाषा में इस प्रदेश की आर्द्र हवा को विषुवतरेखीय वायु-राशि (Equatorial air-mass) अथवा उष्ण अस्थिर वायु-राशि कहा जाता है।

व्यापारिक हवाएँ
(Trade Winds)

प्रत्येक गोलार्द्ध में अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब से विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब की ओर

चलने वाली हवाओं को व्यापारिक हवाएँ कहा जाता है। ये हवाएँ 30° या 35° से 5° या 10° अक्षाशो के बीच चलती है। ये स्थायी और निरन्तर चलने वाली हवाएँ है। इन हवाओ की गति की निश्चित एकरूपता (steadiness) इनकी विशेषता है। प्राचीन-काल मे इस कारण इन हवाओ के द्वारा जहाज और नावें चलाने में बड़ी सहायता मिलती थी। अत. उपरोक्त विशेषता के कारण ही इनका नाम सन्मार्गी हवाएँ अथवा व्यापारिक हवाएँ पड़ा। उत्तरी गोलार्द्ध मे ये हवाएँ फैरल के नियमानुसार दायी ओर मुड़ जाती है। इस कारण ये उत्तर की अपेक्षा उत्तर-पूर्व से चलने लगती है। अत. उत्तरी गोलार्द्ध मे इनको उत्तरी-पूर्वी व्यापारिक हवाएँ कहते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध मे ये दक्षिण-पूर्व से चलने के कारण दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक हवाएँ कहलाती है। उत्तरी-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवाएँ दोनो पृथ्वी के जल-खण्ड का लगभग 30·6% भाग घेरे हुए है। जब ये हवाएँ महाद्वीपो के ऊपर तथा उनके समीप होकर चलती है तो इनकी दिशा और गति मे बड़ा अन्तर पड़ जाता है।
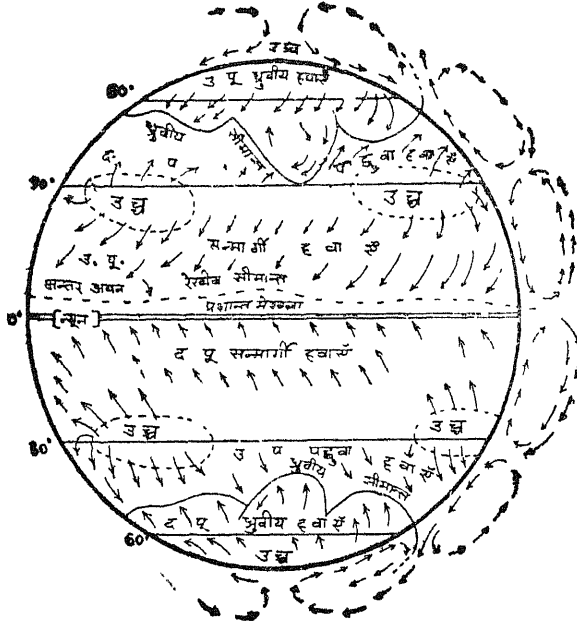
चित्र 108—धरातल की स्थायी वायुदाब की पेटियाँ और स्थायी हवाओं का प्रवाह

धरातल पर चलने वाली हवाओं में व्यापारिक हवाएँ ही सबसे अधिक नियमित रूप से चलने वाली हवाएँ है। समुद्रो पर इनकी प्रवाह गति बड़ी निश्चित होती है। अधिकतर इनकी प्रवाह गति 16 से 24 किमी प्रति घण्टा होती है। दक्षिणी अन्ध महासागर इन हवाओ के चलने का केन्द्र है। वहाँ ये हवाएँ साल भर अबाध रूप से दिन-रात अपनी निश्चित दिशा और गति से चलती रहती है। दक्षिणी अन्ध महासागर में स्थित सेण्ट हेलिना (St. Halena) नामक द्वीप के ऊपर विभिन्न दिशाओं से आने वाली हवाओं का औसत निम्न प्रकार से रहता है :[1]

	उ०	उ०-पू०	पू०	द०-पू०	द०	द०-पू०	शान्त
दिसम्बर से फरवरी	—	—	3	56	39	2	—
जनवरी से अगस्त	—	2	4	47	37	4	6

समुद्रों की अपेक्षा स्थल-खण्डों के ऊपर और हवाओं की पेटियो के समीप व्यापारिक हवाएँ कम चुस्त होती है। सर्दी की ऋतु में उनका रूप बड़ा निश्चित होता है और गति भी तीव्र होती है। ग्रीष्म में चूँकि अयनवृत्तीय उच्चदाब की पेटी महाद्वीपों के अत्यधिक गरम हो जाने से टूट जाती है इसलिए इस मौसम मे व्यापारिक हवाओं की पेटी छिन्न-भिन्न हो जाती है। इनका प्रवाह भी इसलिए कमजोर पड़ जाता है। विशेषत: दक्षिणी-पूर्वी एशिया और कुछ अंशों में संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिण और पूर्व के समुद्रों पर ग्रीष्मऋतु के मानसून व्यापारिक हवाओं को कमजोर

1 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 133

कर देते है और कभी-कभी उनको समाप्त भी कर देते है। जाड़े की ऋतु मे इसके विपरीत महाद्वीपों से चलने वाली मानसून हवाएँ व्यापारिक हवाओ को गतिशील और मजबूत बना देती है। भूमध्यरेखीय भागो को छोड़कर व्यापारिक हवाओं के प्रदेश मे बहुत ही उम्दा और स्वच्छ मौसम रहता है। यदाकदा कुछ तूफान अवश्य आ जाया करते हैं। व्यापारिक हवाओ से सम्बन्धित सबसे भयंकर तूफान **हरीकेन** होते है जो ग्रीष्म के अन्त अथवा जाड़े के प्रारम्भ में हवाओ के पश्चिमी किनारे समुद्रों पर आते है।

उपोष्ण प्रशान्तमण्डल अथवा अश्व अक्षांश
(The Sub-tropical Belts of Calms or the Horse Latitude)

भूमध्य रेखा से जो गरम हवाएँ ऊपर उठती है वे हल्की होकर फैलती है। फैलने से गर्मी कुछ कम हो जाती है। ऊपर की ठण्डी हवाएँ भी उनको ठण्डा करने मे सहयोग देती है। इस प्रकार शीतल होने से वह भारी हो जाती है और नीचे उतरने की चेष्टा करती हैं। परन्तु निरन्तर भूमध्य रेखा के समीप ऊपर उठती हुई गरम हवाएँ उन्हे नीचे उतरने का अवसर नही देती। अतः ये हवाएँ प्रचलित सन्मार्गी हवाओ की उल्टी दिशा मे चलने लगती है और 30° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश रेखाओ के समीप धरातल पर नीचे उतरती है जिससे यहाँ हवा का दबाव बढ जाता है और विषुवत रेखा के दोनो ओर 30° और 90° अक्षाशों के बीच उच्च दाब की पेटियाँ स्थापित हो जाती है। इन प्रदेशों मे हवाएँ ऊपर से नीचे धरातल पर उतरती है अतः हवाएँ बिलकुल शुष्क होती है। यद्यपि यहाँ चलने वाली हवाएँ विषुवतरेखीय प्रशान्तमण्डल के अनुरूप ही होती है, परन्तु यहाँ का मौसम विषुवतरेखीय प्रशान्तमण्डल से बिलकुल विपरीत होता है। चूंकि इन प्रदेशो मे हवाएँ बराबर ऊपर से उतरकर जमा होती रहती है और फिर धरातल के अनुरूप चला करती है। इसलिए यहाँ चलने वाली हवाएँ एकदम शुष्क होती है। यहाँ आकाश सदैव स्वच्छ रहता है। प्रचुर मात्रा मे सूर्यताप मिलता है, वर्षा अपेक्षतया कम होती है और मौसम अधिकतर अच्छा रहता है। उपोष्ण प्रशान्तमण्डल के ये प्रदेश 30° और 40° अक्षांशो के समीप पाये जाते है। कभी-कभी ये भूमध्यसागरीय अक्षांश भी कहलाते है, क्योकि ये भूमध्यसागर के ऊपर ही स्थित है। इस प्रदेश मे वायुदाब का ढाल (Barometric gradient) मन्द रहता है। अतः यहाँ चलने वाली स्थायी हवाएँ बिलकुल शान्त रहती है। हवाएँ सभी दिशाओ से चलती है। हवाएँ चलने की अवधि मे 15-20 प्रतिशत समय मे पूर्ण शान्ति रहती है और शेष समय मे बहुत हल्की और अस्थिर हवाएँ चला करती है।

हवा के अभाव मे इन अक्षाशो में भारी नावो तथा जहाजों को खेना बड़ा ही कठिन होता है। प्राचीन समय मे जब घोड़ो के व्यापारियो के जहाज इनमें फँस जाते थे तो अपना बोझ हल्का करने के लिए घोड़ों को समुद्र मे फेंक देते थे। इसी कारण इन अक्षाशों को **अश्व अक्षांश** (Horse latitude) कहा जाता है।

पछुआ हवाएँ (Westerlies)

अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब की पेटी से ध्रुववृत्तीय निम्न वायुदाब की पेटी की ओर चलने वाली हवाओ को पछुवा हवाएँ कहा जाता है। उत्तरी तथा दक्षिणी दोनो गोलार्द्धो मे ये हवाएँ 35° या 40° अक्षांशों से 60° या 65° अक्षाशो के बीच चला करती हैं। पृथ्वी की दैनिक गति के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में इनकी प्रवाह दिशा दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध मे उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर होती है। सन्मार्गी हवाओं की अपेक्षा पछुवा

---

1 V. C. Finch and G. T. Trewartha : *Elements of Geography*, p. 60

हवाओ का प्रवाह क्षेत्र बहुत बडा है। मौसम के अनुरूप इनका प्रवाह क्षेत्र बदलता रहता है। ये प्रायः शीतोष्ण कटिबन्ध और शीत कटिबन्ध मे चला करती है।

धरातल पर चलने वाली स्थायी हवाओं मे पछुवा हवाएँ सबसे अधिक विचित्र है। न तो इनकी प्रवाह-गति एकसी रहती है और न प्रवाह दिशा ही। कभी ये धीमे-धीमे और कभी तीव्र वेग से चलती है। कभी-कभी विशेषकर जाडे की ऋतु मे प्रचण्ड तूफान की गति से चलती हे और कभी-कभी मन्द पवन के रूप मे बहती है। बहुत कम अवसरो पर शान्त मौसम देखा जाता है। मौसम की परिवर्तनशीलता इनकी विशेषता है।

यद्यपि पछुवा हवाओ की पेटी मे प्रायः चलने वाली द्रुतगामी हवाएँ पश्चिमी दिशा से ही चलती है, फिर भी इनमे हवाएँ सभी ओर से आती है जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट होता है :

के.ण्ड्यू के अनुसार सिसली द्वीप में वायु प्रवाह की वार्षिक औसत दिशाएँ[1]

उत्तरी	11	दक्षिणी	12
उत्तरी-पूर्वी	9	दक्षिणी-पूर्वी	14
पूर्वी	12	पश्चिमी	17
दक्षिणी-पूर्वी	19	उत्तरी-पश्चिमी	15

इन हवाओ के प्रदेश मे चक्रवात और प्रति-चक्रवात चलते रहने के कारण बड़ी अनियमित अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिससे हवाओं की प्रवाह दिशा और गति मे बड़ा अन्तर पड़ जाता है। चक्रवात अपनी स्थानीय हवाओ की व्यवस्था से पछुवा हवाओं के प्रवाह को विच्छिन्न कर देते है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्द्ध मे विशाल स्थल-खण्डो के कारण हवाओ की व्यवस्था बड़ी जटिल हो जाती है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध मे हवाओ का प्रवाह अधिक स्थायी और निश्चित होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध के 40° और 60° अक्षांशो के बीच स्थल-खण्डो के प्रवाह से पछुवा हवाओं के प्रवाह मार्ग मे कोई रुकावट पैदा नही होती। इन अक्षाशो के बीच स्थल-खण्डो के प्रवाह से पछुवा हवाओ के प्रवाह मार्ग मे कोई रुकावट पैदा नही होती। इन अशांक्षो के बीच फैले विशाल समुद्रों पर हवाएँ ग्रीष्म और जाड़े की ऋतु मे समान रूप से प्रचण्ड गति से चलती रहती हैं। प्रचण्ड वेग के कारण ही इन हवाओं को 40° से 50° अक्षांशों के बीच **गरजने वाली चालीसा** (roaring forties) या **वीर पछुवा पवनें** (brave west winds), 50° के पास **भयंकर पचासा** (fuiious fifties) तथा 60° के पास चिखती साठा (shrieking sixties) आदि नामो से पुकारा जाता है।

सन्मार्गी हवाओ की अपेक्षा पछुवा हवाओं में जहाजो को खेना बड़ा जटिल तथा कठिन होता है, क्योकि ये हवाएँ बड़ी तूफानी और परिवर्तनशील होती है। पछुवा हवाएँ चूँकि गरम अक्षाशों से ठण्डे अक्षाशो की ओर चलती हैं। अत. मार्ग मे अपने साथ काफी नमी ले लेती हैं और ठण्ड पाकर वर्षा कर देती है। उष्ण कटिबन्ध के बाहर महाद्वीपो के पश्चिमी तटो पर (पश्चिमी यूरोप, पश्चिमी कनाडा, दक्षिणी-पश्चिमी चिली आदि), जहाँ ये हवाएँ पहुँचती है, साल भर वर्षा होती है और पूर्वी तट बिलकुल शुष्क रहते है।

ध्रुवीय हवाएँ
(Polar Winds)

ध्रुवीय उच्च वायुदाब से ध्रुववृत्तीय न्यून वायुदाब की ओर चलने वाली हवाओं को ध्रुवीय हवाएँ कहते हैं। ये ध्रुवों से 70° या 80° अक्षाशों तक चला करती हैं। यद्यपि ये प्रायः निश्चित

---

1 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 151

अक्षांशो में ही चलती हैं, परन्तु इनका प्रवाह सूर्य की प्रत्यक्ष गति से बराबर सम्बन्ध बनाये रखता है। जब सूर्य उत्तरी गोलार्द्ध मे चमकता है तो इनका क्षेत्र कुछ उत्तर की ओर खिसक जाता है और जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध मे चमकता है तो इनका क्षेत्र भी दक्षिण की ओर खिसक जाता है।

ध्रुवो से आने वाली हवाएँ बहुत ठण्डी होती है और बड़े वेग से चलती है। उत्तरी गोलार्द्ध मे चलने वाली नॉर-ईस्टर (Nar Easter) नामक हवाएँ बड़ी प्रचण्ड गति से चलती है। ध्रुवों के भीतरी प्रदेश जहाँ उच्च दाब के कारण हवाएँ आकर जमा हो जाती है, तूफानो से प्राय रहित होती है। वहाँ हवाएँ भी बड़ी मन्द-गति से बहती है। जहाँ इन ठण्डी ध्रुवीय हवाओं का सम्पर्क शीतोष्ण कटिबन्ध की हवाओं से होता है, वहाँ भयकर चक्रवात और प्रति-चक्रवात उत्पन्न हो जाते है।

उत्तरी गोलार्द्ध मे ध्रुव के समीप स्थल-खण्डो की निकटता के कारण ध्रुवीय प्रदेश में चलने वाली स्थायी हवाओं की व्यवस्था दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा अधिक जटिल और बड़ी होती है। उत्तरी गोलार्द्ध मे ग्रीनलैण्ड का उच्च वायुदाब ही दक्षिणी गोलार्द्ध मे दक्षिणी ध्रुववृत्तीय उच्च वायुदाब की भाँति हवाओ के चलने का केन्द्र है। इस केन्द्र से तथा जाड़े की ऋतु मे यूरेशिया और उत्तरी अमरीका के महाद्वीपीय बाह्य चक्रवातों से चलने वाली हवाएँ कई दिशाओ से चलती है। उत्तरी ध्रुव प्रदेश मे हवाओ की ऐसी कोई नियमित व्यवस्था नही है जो कि वर्ष भर उत्तरी ध्रुव से ध्रुव वृत्तो की ओर एक ही दिशा में चला करती हो।

हवा की पेटियों का खिसकना
(Latitudinal Shifting of Wind Belts)

पृथ्वी का अपनी कक्ष (*orbit*) पर झुकी हुई होने तथा अण्डाकार मार्ग पर सूर्य की परिक्रमा करने के फलस्वरूप धरातल पर सूर्य की किरणें कभी एकसी नही चमकतीं। सूर्य कभी कर्क रेखा और कभी मकर रेखा पर सीधा चमकता है। सूर्य के इस प्रकार कभी उत्तरायण और कभी दक्षिणायण होने के कारण वायुदाब तथा हवाओ की पेटियाँ भी कुछ उत्तर और दक्षिण को खिसकती रहती है। हवा की पेटियों के खिसकने की क्रिया इतनी साधारण नही है जितनी कि यह दिखाई पड़ती है। पृथ्वी के विभिन्न भागों मे इनके खिसकने की मात्रा और गति मे बड़ा अन्तर पाया जाता है। साधारणतः सूर्य और इन पेटियो के खिसकने के बीच एक या दो महीनों का अन्तर रहता है। समुद्रों के ऊपर तथा तटो के समीप जहाँ पेटियो का स्थान परिवर्तन बड़ा शीघ्र मालूम पड़ता है, पेटियाँ बहुत कम खिसकती है। प्रायः 10° से 15° अक्षांशों के ऊपर पेटियों के खिसकने की क्रिया बहुत ही कम होती है। इसके विपरीत, महाद्वीपों के ऊपर पेटियों के खिसकने की क्रिया अधिक होती है और समुद्रो की अपेक्षा समय का अन्तर भी बहुत कम रहता है। इसके
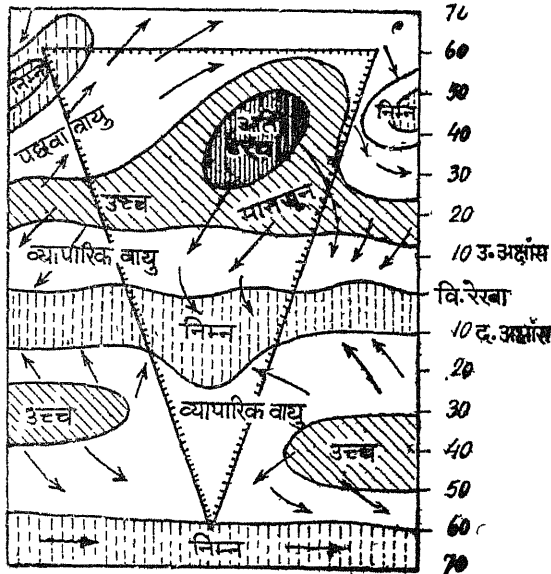
चित्र 109

अतिरिक्त महाद्वीपों पर स्थल रचना की अनेक विभिन्नताओ तथा वार्षिक तापमान के अन्तर के कारण स्थायी हवाओ की व्यवस्था बड़ी उलट-पुलट हो जाती है जिससे हवा की पेटियो का खिसकना बहुत अधिक मालूम नही देता ।

हवा की पेटियो के सूर्य के साथ ऊपर-नीचे खिसकने का जलवायु की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है । विशेष तौर पर उन भागो मे जो भिन्न हवाओ और असमान तापमान वाली वायु-राशियो के बीच स्थित होते है । उदाहरणत सन्मार्गी हवाओ और विषुवतरेखीय प्रशान्तमण्डल के बीच के भाग । ऐसे भागो मे भिन्न ऋतुओ मे विपरीत वायु-राशियो का प्रभाव रहता है जिससे वहाँ होने वाला मौसम भी भिन्न-भिन्न होता है । प्रत्येक गोलार्द्ध मे सामान्यत ऐसे तीन प्रदेश मिलते है ·

चित्र 110—**वायुदाब की पेटियों और हवाओं का सम्बन्ध**

(1) भूमध्य रेखा के दोनों ओर 5° अक्षाश से 15° अक्षाश के बीच का प्रदेश ऐसा ही है जो एक ओर भूमध्यरेखीय आर्द्र वायु और दूसरी ओर शुष्क सन्मार्गी हवाओ के बीच स्थित है । अत· ग्रीष्म मे यहाँ विषुवतरेखीय प्रशान्तमण्डल से आर्द्र हवाएँ चलती है और जाड़े में शुष्क सन्मार्गी हवाएँ । इस प्रकार यहाँ एक आर्द्र और एक शुष्क मौसम होता है ।

(2) 30° और 40° अक्षाशो के बीच के भाग पछुआ हवाओ और अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब के प्रदेश के बीच स्थित है । जब ग्रीष्म मे सूर्य की किरणों का प्रभाव ध्रुव तक होने लगता है तो शुष्क अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब केन्द्र इन प्रदेशों के ऊपर फैल जाते है । इसके विपरीत जाड़ों में जबकि सूर्य दूसरे गोलार्द्ध मे सीधा चमकता है तो यहाँ पछुवा हवाओ का प्रभाव रहता है । इस व्यवस्था के कारण यहाँ ग्रीष्म ऋतु शुष्क और जाडो की ऋतु तर होती है । पूर्वी भागों तथा महाद्वीपों के बीच के भागो मे मानसून हवाएँ अवश्य इस व्यवस्था को भंग कर देती है । अतः इस पेटी के खिसकने का पूरा प्रभाव केवल समुद्रों तथा पश्चिमी तटों पर ही दिखाई पड़ता है ।

(3) लगभग 60° और 70° अक्षाशों के बीच वाले प्रदेश तूफानी पछुवा हवाओं और ध्रुवीय हवाओ के बीच स्थित है । अत· इस प्रदेश मे दोनों ही प्रकार की हवाओं का प्रभाव देखा जाता है । इस भाग में चक्रवात अधिक आते है । इस कारण यहाँ हवा की पेटी के खिसकने का प्रभाव कुछ प्रतीत नही होता । इन उच्च अक्षांशो में जाड़ो मे ठण्डी ध्रुवीय हवाओं का जोर रहता है, किन्तु ग्रीष्म में उष्ण दक्षिणी-पश्चिमी हवाओं का प्रभाव रहता है ।

सामयिक हवाएँ (Peridoical Winds)

धरातल पर कुछ ऐसी हवाएँ चलती है जो सदैव एक ही दिशा मे नही चलती । समय के अनुसार इनकी दिशा बदलती रहती है । अत. ये **सामयिक हवाएँ** (periodical winds) कहलाती है । **इन पवनों के अन्तर्गत मानसून पवनें आती है ।**

मानसून हवाएँ
(Monsoon Winds)

मानसून धरातल पर चलने वाली वे हवाएँ है जो गर्मी और सर्दी के बीच अपनी प्रवाह दिशा बदल देती है। डॉ० सिम्पसन के अनुसार, "Monsoon is a flow of air, directly associated with the northward or southward swing of great air streams the trades and westerlies" अत ऐसी हवाएँ जो मौसम के अनुसार अपनी प्रवाह दिशा बदल देती है मानसून हवाएँ कहलाती है।

'मानसून' शब्द मूल रूप से अरबी भाषा के 'मौसिम' शब्द से बना है जिसका तात्पर्य 'मौसम' से होता है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अरब सागर पर चलने वाली हवाओं के लिए किया गया था, जो कि 6 महीने उत्तर-पूर्व दिशा से और 6 महीने दक्षिण-पश्चिम दिशा से चला करती थी। इसी आधार पर ससार के उन सभी भागो की हवा को जिनकी दिशा में ऋतुवत परिवर्तन हो जाता है 'मानसून' कहा गया। किन्तु ससार मे कतिपय ऐसे क्षेत्र भी है जहाँ हवाओं की दिशा मे ऋतुवत परिवर्तन हो जाता है, फिर भी उन्हे 'मानसून' नही कहा जाता। उदाहरणतः 60° से 70° अक्षाश वाले भाग मे जाड़ो मे उत्तरी-पूर्वी ध्रुवीय हवा (उ० गो०) तथा गर्मी मे दक्षिणी-पश्चिमी हवा चलती है। इसी प्रकार भूमध्य सागरीय भागो मे जाडो मे दक्षिणी-पश्चिमी पछुआ हवा (उ० गो०) चलती है तथा गर्मी मे उत्तरी-पूर्वी व्यापारिक हवा चलती है। स्पष्ट है कि दिशा परिवर्तन ही मानसून हवाओ की एकमात्र विशेषता नही है। वस्तुत मानसून हवाएँ धरातल का सवहनीय क्रम है जिसका आविर्भाव स्थल और जल के भिन्न स्वभाव एव तापीय विभिन्नता के कारण होता है। वे भाग जहाँ पर मानसून हवाओं का आधिपत्य पाया जाता है 'मानसूनी जलवायु' प्रदेश कहे जाते है। ससार मे मानसूनी जलवायु का सर्वाधिक विकास दक्षिणी-पूर्वी एशिया, चीन एव जापान मे हुआ है। इसके अतिरिक्त ये हवाएँ कुछ संशोधित रूप मे दक्षिणी-पूर्वी सयुक्त राज्य अमरीका, अयनवृतीय पूर्वी अफ्रीका, गायना की खाड़ी का समीपवर्ती भाग, अयनवृतीय उत्तरी आस्ट्रेलिया मे भी चला करती है।

उत्पत्ति सम्बन्धी विचारधाराएँ

मानसून हवाओ की उत्पत्ति केवलमात्र तापमान की विभिन्नता के कारण होती है या किसी अन्य कारण से, इस पर पर्याप्त मतभेद है। वैज्ञानिको ने मानसून की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्न दो प्रकार की सकल्पनाएँ प्रस्तुत की है—(1) तापीय सकल्पना एव (2) नवीन सकल्पना।

(1) **तापीय संकल्पना** (Thermal Concept)—इस विचारधारा के अनुसार मानसून हवाओ की उत्पत्ति का एकमात्र कारण धरातल पर जल एव स्थल का विन्यास और उनके गर्म तथा ठण्डा होने का विरोधी स्वभाव है। यदि पृथ्वी पर सर्वत्र जल ही जल अथवा स्थल ही स्थल होता तो मानसून हवाओ का आविर्भाव कदापि सम्भव नही होता। वास्तव मे देखा जाय तो मानसून हवाएँ स्थल और जल समीर का ही विस्तृत रूप होती है। गर्मियो मे तापमान की अधिकता के कारण स्थलीय भाग समुद्रों की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाने के कारण न्यून वायुदाब के क्षेत्र हो जाते है तथा समुद्रो से हवाएँ स्थल की ओर चलने लगती हैं। इन्हे 'ग्रीष्मकालीन मानसून' कहते हैं। इसके विपरीत जाडो मे स्थल भाग उच्च वायुदाब के एवं समुद्री भाग न्यून वायुदाब के केन्द्र बन जाते है जिससे हवाएँ स्थल से समुद्रो की ओर चलने लगती है। इन्हे 'शीत-कालीन मानसून' कहा जाता है।

जाड़े का मानसून—जाड़े की ऋतु मे एशिया महाद्वीप का मध्य भाग अपने आसपास के समुद्रों से बहुत अधिक ठण्डा हो जाता है, जिससे वहाँ वायुदाब बढ जाता है। महाद्वीप के पूर्व और दक्षिण मे फैले विशाल प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर अपेक्षाकृत बहुत गरम रहते

है, इससे यहाँ वायुदाब कम रहता है। वायुदाब की ऐसी व्यवस्था के कारण इस ऋतु मे हवाएँ महाद्वीप से महासागर की ओर चलने लगती है। स्थल से चलने वाली इन्ही पवनो को जाड़े का मानसून कहते है।

एशिया से चलने वाले जाड़े के मानसून विषुवत रेखा के दक्षिण में हिन्द महासागर और आस्ट्रेलिया के भीतर स्थित निम्न वायुदाब की ओर चलते है। इस प्रकार धरातल की हवा और वाष्प का बहुत बड़ी राशि मे उत्तरी गोलार्द्ध से दक्षिणी गोलार्द्ध को स्थानान्तरण होता है। जाड़े मे चलने वाली मानसून हवाएँ पूर्वी और दक्षिणी एशिया के विभिन्न भागों मे सदा एक ही दिशा से नही चलती। इन हवाओ की दिशा उत्तरी चीन और जापान मे पश्चिमी और उत्तरी-पश्चिमी, मध्य चीन में उत्तरी और दक्षिणी एशिया मे उत्तरी-पूर्वी होती है। ये हवाएँ स्थल से समुद्र की
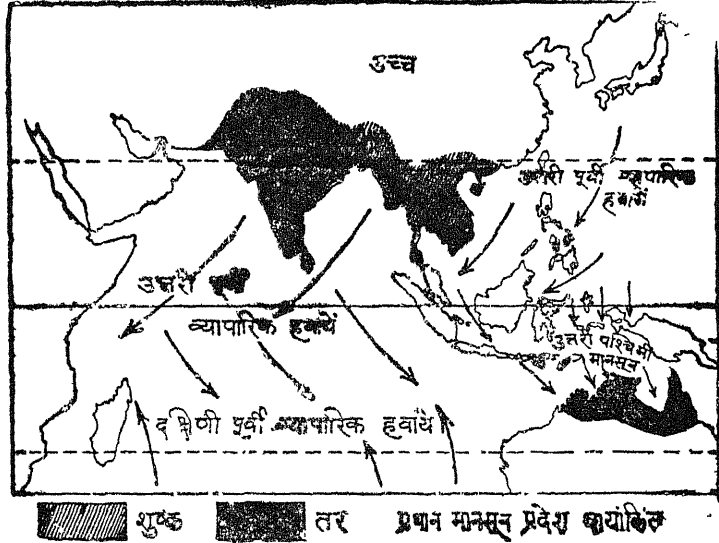
चित्र 111—शीतकालीन मानसून

ओर चलती है, इसलिए शुष्क और ठण्डी होती है। मानसून प्रदेशों मे इस कारण जाड़े की ऋतु बिलकुल शुष्क होती है।

मध्य अक्षांशों में चक्रवाती तूफान जाड़े के मानसून मे कई बाधाएँ खड़ी कर देते है। इन तूफानो के कारण जाड़े में कुछ वर्षा हो जाती है। इन चक्रवातों का हवा की दिशा और गति पर जो प्रभाव पड़ता है, वह नीचे की तालिका से ज्ञात होगा :

उत्तरी चीन में हवाओं के चलने का प्रतिशत[1]

	उ०	उ०-पू०	पू०	द०-पू०	द०	द०-प०	प०	उ०-प०
सर्दी	17	8	5	6	6	8	8	32
गर्मी	10	9	12	26	16	10	7	10

यद्यपि जाडे की ऋतु में स्थलीय हवाओं का सर्वाधिक प्रभाव होता है किन्तु कुछ हवाएँ विपरीत दिशाओं से भी आती हैं। गर्मी में इसीलिए समुद्री हवाओं की प्रबलता होते हुए भी स्थलीय हवाओ का बिलकुल अभाव नहीं होता। **कोनार्ड** के अनुसार पूर्वी एशिया में जाड़े के मानसून की औसत मासिक गति 7 से 9 मील प्रति घण्टा के लगभग पायी जाती है परन्तु कभी-

1 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 97

कभी इनकी गति तूफान के समान 40 से 45 मील प्रति घण्टा हो जाया करती है। समीपीय समुद्रों मे इनकी गति 65 से 75 मील प्रति घण्टा भी देखी जाती है।

गर्मी का मानसून—ग्रीष्मकाल मे जब सूर्य कर्क रेखा पर प्रचण्ड रूप से चमकता है तो समस्त एशिया महाद्वीप गरम हो उठता है। एशिया भू-खण्ड के इस प्रकार उत्तप्त हो उठने से यहाँ वायुदाब घट जाता है। किन्तु महाद्वीप के आसपास महासागर अपेक्षाकृत शीतल रहते है, जिससे वहाँ वायुदाब भी अधिक रहता है। इस प्रकार गर्मी की ऋतु में वायुदाब का ढाल जाड़े की ऋतु के विपरीत समुद्रों से स्थल की ओर रहता है। ऐसी दशा मे हवाएँ भी समुद्र से स्थल की ओर चलती है। वायुदाब के अनुसार समुद्रो से स्थल की ओर चलने वाली इन हवाओ को ही ग्रीष्म का मानसून कहा जाता है। अधिकांशत: मानसून हवाओं का विकास सन्मार्गी हवाओ की पेटी मे होता है। गर्मी मे चलने वाली मानसून हवाएँ चूंकि विषुवत रेखा के दक्षिण से बड़े-बड़े महासागरों की दूरी को पार करके आती है, अत: ये हवाएँ भाप से लदी रहती है और भारी वर्षा करती हैं। ग्रीष्म का मौसम इस प्रकार मानसून प्रदेशों मे तर मौसम होता है। ग्रीष्म की मानसून हवाओं की प्रवाह दिशा सदा एकसी नही होती परन्तु प्राय: ये समुद्र की ओर से चला करती है। समुद्रो पर इनकी प्रवाह दिशा दक्षिणी-पश्चिमी होती है। इस कारण इन्हे दक्षिणी-पश्चिमी मानसून हवाएँ
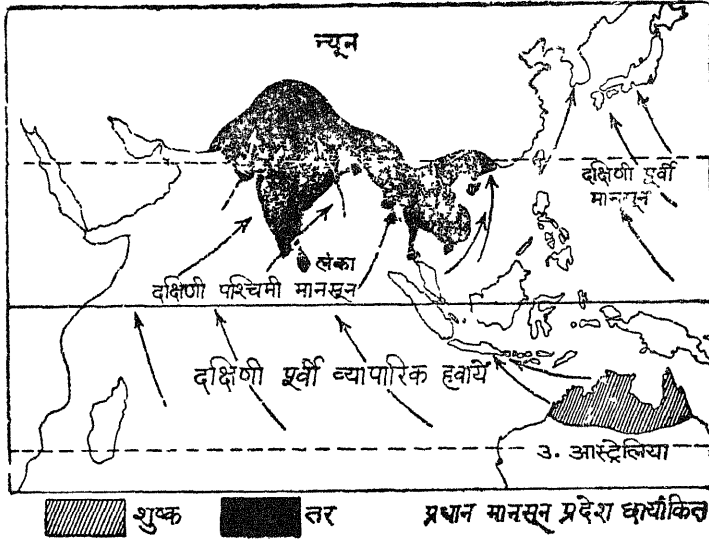
चित्र 112—ग्रीष्मकालीन मानसून

भी कहा जाता है। जब ये हवाएँ स्थल के भीतरी भागो में प्रवेश करती है तो इनकी प्रवाह दिशा बदल जाती है। चीन मे इनकी प्रवाह दिशा दक्षिणी-पूर्वी होती है। यदाकदा चक्रवाती तूफान इनके मार्ग को भ्रष्ट कर देते है। मानसून हवाओं के प्रदेश मे मानसून के प्रभाव के कारण धरातल से सन्मार्गी और पछुवा हवाओ की व्यवस्था समाप्त हो जाती है। मध्य अक्षाशो मे अधिकतर भागों मे मानसून हवाओ की व्यवस्था के कारण उष्ण और आर्द्र ग्रीष्म ऋतु और अपेक्षाकृत शीतल और शुष्क जाड़े की ऋतु वहां की विशेषता बन गयी है।

एशिया भू-खण्ड की विशालता के कारण मानसून हवाओ का पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भली प्रकार विकास होता है। इस प्रकार की मानसून हवाएँ पृथ्वी के अन्य भागो मे नही चला करती। अन्य स्थानो पर मानसून हवाओं का कुछ परिवर्तित रूप अवश्य देखा जा सकता है। जैसे दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य अमरीका, उत्तरी आस्ट्रेलिया, स्पेन और दक्षिणी अफ्रीका आदि सब

प्रदेशों मे मानसूनी प्रवृत्तियाँ पायी जाती है। इन भू-भागो मे एशिया की भाँति हवाओं की दिशा मे पूर्ण परिवर्तन नही हो पाता परन्तु ये कुछ न कुछ रूप मे मानसूनी प्रवृत्तियाँ उपस्थित कर देते है जिसका मौसमी वर्षा की दृष्टि से बड़ा भारी महत्त्व है।

मानसून हवाओ का सर्वाधिक प्रभाव प्राय महाद्वीपो के पूर्वी किनारों पर ही होता है। मध्य अक्षाशों के लिए यह बात और भी सही है, क्योंकि इन अक्षांशो मे तापमान मे विशेष अन्तर है।

(2) **नवीन संकल्पना** (New Concept)—मानसून की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उपरोक्त प्राचीन संकल्पना मे मानसून हवाओ के क्रम को बहुत ही साधारण रूप में प्रस्तुत किया गया है। किन्तु वास्तव मे मानसून हवाओ के क्रम इससे कही अधिक जटिल है। अत वर्तमान मे मानसून की तापीय उत्पत्ति को अस्वीकृत किया जा रहा है। तापीय संकल्पना के विरुद्ध निम्न तथ्य प्रस्तुत किये गये है: (i) ग्रीष्मकाल मे महाद्वीपों पर विकसित निम्न दाब के केन्द्र तापजन्य नही होते। यदि इन निम्न दाब केन्द्रो का सम्बन्ध वास्तव मे उच्च तापमान से होता तो, कम से कम कुछ समय तक इन दाब केन्द्रो को अपने स्थानो पर स्थायी बने रहना चाहिए, किन्तु दैनिक ऋतु मानचित्रो को देखने से स्पष्ट होता है कि ये कभी भी स्थायी नही होते। इनमे आकस्मिक और व्यापक स्थानान्तरण होता रहता है। स्पष्ट ही इन निम्न दाब केन्द्रों का सम्बन्ध उच्च तापमान से न होकर दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के साथ आने वाले चक्रवातो से प्रतीत होता है। अत. ये ग्रीष्मकालीन निम्नदाब केन्द्र तापजन्य न होकर चक्रवातीय होते है। (ii) यदि मानसून हवाएँ तापजन्य होती तो वायुमण्डल के ऊपरी भाग मे उनके विपरीत हवाओ का क्रम होना चाहिए जैसा कि व्यापारिक हवाओं वाले भाग मे ऊपर प्रति व्यापारिक हवाएँ चला करती है। (iii) इन हवाओं की वर्षा की क्षमता के प्रति भी सन्देह प्रकट किया गया है। यद्यपि ये हवाएँ हिन्द महासागर एवं प्रशान्त महासागर के ऊपर से आने के कारण आर्द्रता से परिपूर्ण होती है किन्तु वर्षा मुख्यत. इन हवाओं से सम्बन्धित वायुमण्डलीय तूफानों (चक्रवात व संवहनीय धारा क्रम आदि) से होता है।

उपरोक्त आपत्तियों के आधार पर फ्लान महोदय ने मानसून की तापीय उत्पत्ति के स्थान पर गतिक उत्पत्ति (dynamic origin) की नवीन सकल्पना को प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार मानसून हवाओ की उत्पत्ति केवल वायुदाब तथा हवाओं की पेटियो के स्थानान्तरण के कारण होती है। भूमध्य रेखा के पास व्यापारिक हवाओ के मिलने से अन्तर उष्ण कटिबन्धीय समवाय (Inter Tropical Convergence—ITC) का आविर्भाव होता है। इसकी उत्तरी सीमा को NITC एव दक्षिणी सीमा को SITE कहते है। इस अन्तर उष्ण कटिबन्धीय समवाय ITC के मध्य डोलड्रम की मेखला आती है, जिसमे विषुवतरेखीय पछुवा हवाएँ चलती है। ग्रीष्मकाल में सूर्य के उत्तरायण होने पर NITC खिसककर 30° अक्षांश तक फैल जाती है और दक्षिणी-पूर्वी एशिया इसके अन्तर्गत आ जाता है। अतः इन क्षेत्रों मे डोलड्म की विषुवत रेखीय पछुवा हवाएँ स्थापित हो जाती है जो कि ग्रीष्मकाल्नीन दक्षिणी-पश्चिमी मानसून हवाएँ होती हैं। इस NITC के साथ चक्रवात आदि का आविर्भाव हो जाता है जो कि दक्षिणी-पश्चिमी मानसून की विशेषता है।।

ग्रीष्मकालीन मानसून की भाँति शीतकालीन मानसून की उत्पत्ति भी दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित निम्न दाब के कारण नही होती। किन्तु सूर्य के दक्षिणायन होने से वायुदाब की पेटियाँ दक्षिण को खिसक आती है। इसी के परिणामस्वरूप दक्षिणी-पूर्वी एशिया से NITC हट जाती है जिससे उत्तरी-पूर्वी व्यापारिक हवाओं की पुनर्व्यवस्था हो जाती है। इन्ही को जाड़े का मानसून कहा जाता है।

दक्षिणी तथा पूर्वी एशिया की मानसून में अन्तर

महाद्वीप एशिया की विशालता के कारण इसके विभिन्न भागों में चलने वाली मानसून

हवाओं मे काफी अन्तर आ जाता है । (i) दक्षिण एशिया की मानसून उष्ण कटिबन्धीय प्रदेश मे जबकि पूर्वी एशिया की मानसून (चीन तथा जापान) मध्य अक्षाशो मे पायी जाती है । इन दोनों मानसून क्षेत्रों का विभाजन हिमालय पर्वत के कारण होता है । (ii) पूर्वी एशिया मे जाडे की मानसून हवाएँ ध्रुवीय प्रदेशो से आने के कारण अत्यन्त ठण्डी होती है और प्रभावित भागो मे हिमपात भी करती है किन्तु दक्षिण एशिया मे ऐसा नही होता । हिमालय के कारण यहाँ ध्रुवीय हवाएँ नही पहुँच पाती । (iii) पूर्वी एशिया मे जाडे की मानसून अधिक शक्तिशाली और स्थायी होती है । इसके विपरीत दक्षिण एशिया मे ग्रीष्मकालीन मानसून अधिक शक्तिशाली और स्थायी होते है । (iv) पूर्वी एशिया मे जाड़े की मानसून अत्यधिक प्रचण्ड और तीव्र गति से चलती है जबकि दक्षिणी एशिया मे ये हवाएँ प्राय. निर्बल और शान्त होती है । इसके विपरीत ग्रीष्मकालीन मानसून प्रचण्ड होते है ।

स्थलीय एवं समुद्री समीर
(Land and Sea Breeze)

धरातल पर अनेक जगह छोटे रूप मे वायुदाब की भिन्नता और उनसे उत्पादित हवाएँ देखी जाती है । तापमान की विभिन्नता के फलस्वरूप ही ऐसा होता है । ऐसे रूप समुद्री किनारो के समीप होने वाली जल और स्थल समीर की क्रिया (mechanism) मे अच्छी तरह देखे जा सकते है । जिस प्रकार मौसम के अनुरूप जल और स्थल के तापमान की भिन्नता से मानसून हवाएँ बदलती है उसी प्रकार तापमान के दैनिक परिवर्तन से हवाओं का दैनिक परिवर्तन देखा जाता है । इनको हम जलीय और स्थलीय समीर अथवा दैनिक मानसून कहते है । समुद्रतटो के समीप रात्रि को प्राय. भारी ठण्डी हवा स्थल से समुद्र की ओर और दिन को समुद्र से स्थल की ओर विपरीत दिशा मे चला करती है । इन हवाओं का प्रभाव समुद्रतट से 24 32 किमी के भीतर ही देखा जाता है । दूरी के साथ इनका प्रभाव क्षीण होता जाता है । ये हवाएँ वायुमण्डल मे बहुत ऊँचाई तक नही मिलती । ये धरातल से कुछ ऊँचाई तक ही सीमित रहती है । अधिक से अधिक इनकी ऊँचाई 200 फुट तक हो सकती है ।[1] इससे ये हवाएँ वर्षा विहीन होती है । जल और स्थल समीर सीधी मकर रेखा के आरपार अथवा लम्ब रूप मे चलती है । इसका कारण यह है कि इसका प्रभाव क्षेत्र इतना सीमित होता है कि फैरल के नियम का इनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता । अस्तु पृथ्वी के घूमने से इनकी भौतिक दिशा में कोई परिवर्तन नही होता ।

स्थल समीर
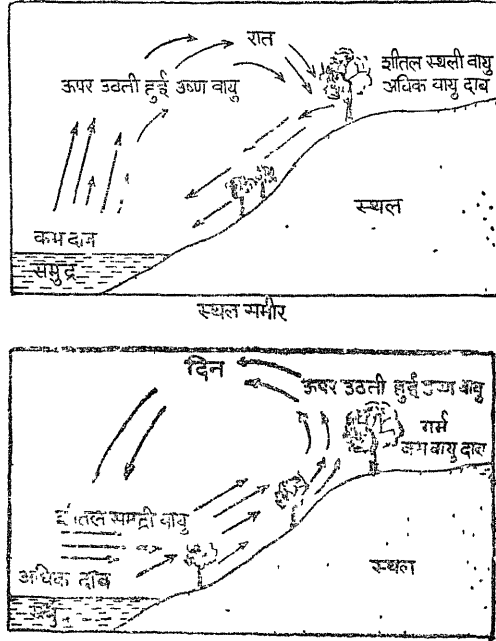
चित्र 113—स्थलीय एवं समुद्री समीर

---

1 D. Blunt : *Physical Meteorology*, p. 381.

समुद्री हवाओं का सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये हवाएँ तभी तक चलती हैं जब तक सूर्य चमकता है। सूर्य अस्त होने के बाद इन हवाओं का प्रवाह भी रुक जाता है। ये हवाएँ प्राय सुबह 11-12 बजे से प्रारम्भ होती है और सूर्यास्त तक चलती रहती है। उष्ण कटिबन्ध के समुद्रतटो पर समुद्री हवाएँ जलवायु की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि ये हवाएँ उन स्थानों को अधिक रहने योग्य और स्वास्थ्यप्रद बना देती है।[1] समुद्री हवाओं के साथ ही कभी-कभी आध-पाव घण्टे के भीतर तापमान 15° से 20° फारेनहाइट नीचे उतर जाता है। दिन का सबसे अधिक असुविधाजनक समय प्रायः दोपहर के पहले का होता है जबकि समुद्री हवाएँ आरम्भ नही होती है। जिन समुद्रतटों पर समुद्री हवाओं का अनुकूल प्रभाव होता है, वहाँ पर कुछ परिवर्तित समुद्री जलवायु मिलती है। वहाँ तापमान की अधिकता भी कम हो जाती है।

समुद्री हवाओं का प्रभाव उन स्थानों पर सर्वाधिक होता है जहाँ स्थल भाग दिन मे बहुत अधिक गरम हो उठता है। निम्न अक्षांशों मे ऐसी अवस्थाएँ अधिक पायी जाती है। यहाँ किसी भी महीने मे शायद ही कोई दिन ऐसा निकलता हो जबकि समुद्री हवाएँ न चलती हों। प्रायः शुष्क मौसम में एक भी दिन ऐसा नही होता। बड़ी-बड़ी झीलों और समुद्र के किनारे ये नियमित रूप से चला करती हैं। ऊँचे अक्षांशो में ये इतनी अनियमित और प्रायः इतनी मन्द होती है कि इनके चलने का किसी को अनुभव ही नही होता है।

समुद्री हवाएँ अपने साथ में शीतल समुद्री वायु लाती है जो उष्ण प्रदेशों में बडी स्वागत योग्य होती है। ये अपने साथ कभी-कभी बडी मात्रा में नमी भी ले आती है जिससे दोपहर के बाद बादल छा जाते हैं और भारी वर्षा होती है। इसके विपरीत, जहाँ स्थलीय हवाओं का समुद्री हवाओं से सम्पर्क होता है वहाँ घने बादल और घनघोर वर्षा होती है। इसीलिए कुछ उष्ण समुद्रतटों पर कुछ महीनों मे प्रातःकाल सबसे अधिक वर्षायुक्त और दोपहर एकदम उष्ण और चमकीला समय होता है।[2]

स्थलीय और समुद्री समीर का अध्ययन सैद्धान्तिक (theoretical) और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियो से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उष्ण कटिबन्धीय समुद्रतटो पर समुद्र से आने वाली शीतल और ताजी हवा तापमान को एकदम ऊँचा उठने नही देती है। यूरोप के निवासी अपने मकानों के लिए सदा ऐसा स्थान देखते है जहाँ समुद्री हवा बिना किसी रुकावट के आ सके और इसलिए खिड़कियाँ सदा खुली रखते है। समुद्रतटों पर बसे शहरो मे ऐसी सड़के जिनसे समुद्री हवाएँ बहती है, सुरक्षित गलियो की अपेक्षा ज्यादा पसन्द की जाती हैं। कुछ किनारों पर दोपहर के समय इतनी जोर से हवाएँ चलती है कि जहाज अपना घाट नही छोड पाते और नावे चलना असम्भव हो जाता है।

पर्वतीय और घाटी समीर
(Mountain and Valley Breeze)

स्थलीय और समुद्री समीर की भाँति पर्वत और घाटी की भी स्थानीय हवाएँ है। दिन के समय घाटी की वायु गरम होकर फैलती है और फैलकर ऊपर उठती है। ऊपर उठी हुई वायु पर्वतीय ढालो अथवा शिखरों पर छा जाती है। दिन में घाटी से ऊपर चढ़ती हुई वायु ही घाटी समीर (Valley breeze) कहलाती है। घाटी से वायु के ऊपर उठने का प्रमाण उन कपसीले बादलों से मिलता है जो कि गर्मी के दिनों में पर्वत-शिखरों पर एकत्रित हो जाते है। वे ऊपर चढ़ती हुई अदृश्य वायु-राशि के दिखाई पड़ने वाले शिखर हैं। पर्वतीय भागों मे इसीलिए प्रायः दोपहर के पश्चात वर्षा एक साधारण-सी बात है। रात्रि में घाटी की अपेक्षा पर्वतीय ढाल तीव्र

---

1 Trewartha : *Introduction to Weather and Climate*, p. 125
2 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 119

विकिरण के कारण बहुत शीघ्र ठण्डे हो जाते है। इस कारण उनसे लगी हुई हवा भी ठण्डी हो जाती है। ठण्डी हो जाने पर हवा अपने दाब मे बढ जाती है। यही ठण्डी और दाबयुक्त हवा फिर पर्वतीय ढालों से घाटी को खिसकने लगती है। पर्वतीय ढालो से घाटी की ओर चलने वाली इस हवा को पर्वतीय समीर (mountain breeze) कहते है। पर्वतों से घाटी की ओर बहने वाली इस हवा को गुरुत्वाकर्षण पवन (gravity wind) या उत्प्रेक्षक पवन (catabatic wind) भी
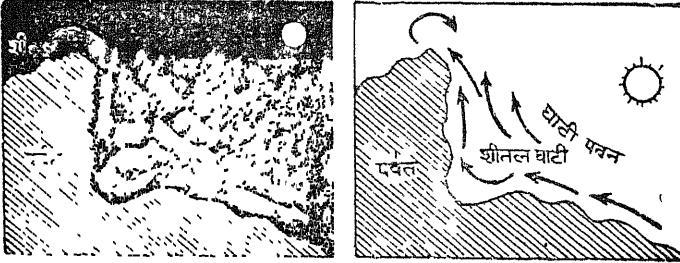
चित्र 114—पर्वतीय तथा घाटी पवन

कहते है। कभी-कभी ग्रीष्मऋतु मे कैम्प (camps) इसलिए घाटियों के मुँह पर लगाये जाते है कि जिससे वहाँ के शीतल प्रभाव और पर्वतीय समीर का आनन्द उठाया जा सके। कभी-कभी घाटियों के निचले भागों मे वसन्त एव पतझड़ के समय अधिक ठण्ड के कारण पाला गिरता है। इसके प्रभाव से बचने के लिए कैलीफोर्निया में फलो के बगीचे तथा ब्राजील में कहवे के बागान ऊँचे ढालों पर लगाये जाते है। कभी-कभी घाटियो मे ठण्डी हवा अवरुद्ध हो जाती है। साइबेरिया की घाटियो मे प्रायः ऐसी घटना होती है।

स्थानीय पवनें
(Local Winds)

कई स्थानो पर कुछ विशेष प्रकार की हवाएँ चलती हुई देखी जाती है। ये हवाएँ गरम अथवा ठण्डी दोनो प्रकार की होती है। इन हवाओ का सम्बन्ध कभी-कभी स्थायी हवाओ के वायु-दाब की व्यवस्था से होता है। परन्तु इन पर प्रायः स्थानीय धरातल की रचना का प्रभाव ही अधिक देखा जाता है। जिन स्थानों पर ये हवाएँ चलती है वहाँ के मानव-जीवन और व्यवसाय पर ये बड़ा प्रभाव डालती है। इसी कारण स्थानीय हवाएँ बडी प्रसिद्ध हो गयी है। कुछ प्रमुख स्थानीय हवाएँ इस प्रकार है·

(1) **चिनूक** (Chinook)—उत्तरी अमरीका के रॉकी पर्वत-श्रेणियो पर होकर जब कोई आर्द्र वायु या चक्रवात गुजरता है तो पर्वतीय प्रदेश की सारी वायु को अपनी ओर खीच लेता है। परिणामस्वरूप रॉकी पर्वत के पश्चिमी ढालों पर वर्षा करके जब यह वायु पूर्वी ढालो पर उतरती है तो गरम और शुष्क हो जाती है। इस तरह की गरम और शुष्क वायु को कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका मे 'चिनूक' कहा जाता है। ये हवाएँ यूरोप के आल्प्स प्रदेश मे बहने वाली फाहन हवाओं से बहुत कुछ मिलती है। परन्तु फाहन की तुलना मे चिनूक हवाओं का प्रभाव-क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत होता है।

वास्तव में, चिनूक हवाएँ रॉकी पर्वतों के पश्चिमी ढालों पर स्थित घाटियों से उठती है और फिर पर्वत-शिखरों को पार कर दूसरी ओर उतरने लगती है। बहुत अधिक ऊँचाई से उतर

कर आने के कारण ये हवाएँ गरम और शुष्क हो जाती है। ये गरम हवाएँ जब मैदान मे पहुँचती है तो वहाँ के तापमान को एकदम बढा देती है। इनके आगमन से दस-पन्दह मिनट मे ही तापमान 30°-40° बढ जाता है। जब ये हवाएं कनाडा और सयुक्त राज्य अमरीका के प्रेरीज के मैदानो मे पहुँचती है तो वहाँ की बर्फ पिघलने लगती है, परन्तु पिघलने के साथ ही पानी नही फैलता। इसका कारण यह है कि बर्फ के पिघलते ही पानी वाष्प बनकर इन्ही हवाओ में मिल जाता है। इन हवाओ को इसलिए हिम-हारिणी (Snow eaters) भी कहते है।
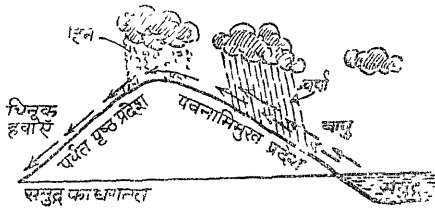
चित्र 115—चिनूक हवाएं

कनाडा और सयुक्त राज्य अमरीका के प्रेरीज के मैदानो के लिए यह हवाएँ वरदान स्वरूप सिद्ध हुई है। क्योकि इन हवाओ से केवल बर्फ ही नही पिघल जाती, अपितु वहाँ का तापमान भी बढ जाता है। इस कारण जाडे मे भी वहाँ पशु-चारण हो सकता है और गेहूँ की खेती को बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। कनाडा मे गेहूँ की फसल को पकाने मे ये अत्यधिक सहायता करती है। अत इन चिनूक हवाओ का विशेष आर्थिक महत्त्व है।

सयुक्त राज्य अमरीका की कोलोरैडो की घाटी से लेकर कनाडा की मेकेन्जी नदी की घाटी तक का समस्त क्षेत्र जाड़ो मे बर्फ के नीचे दबा रहता है जिससे न तो वहाँ पशु-चारण ही हो सकता है और न कोई अन्य धन्धा ही। परन्तु चिनूक हवाओ के वेग से जाड़ा कम हो जाता है और बर्फ पिघल जाती है। इसीलिए यहाँ पशु-चारण बराबर साल भर तक सम्भव हो पाता है। जिस वर्ष चिनूक हवाओ का वेग कम होता है उस वर्ष जाड़ा अधिक पड़ता है और पशुओ को भारी क्षति पहुँचती है।

ये हवाएँ बसन्त तथा जाड़े की ऋतु मे ही अधिक चला करती हैं।

(2) **फाहन** (Fohn)—आल्प्स पर्वत की ऊँची श्रेणियो से उतरकर उस पर्वत प्रदेश की उत्तरी घाटियों मे प्रवाहित होने वाली गरम और शुष्क वायु को फाहन कहा जाता है। मध्य यूरोप से होकर जब कभी कोई प्रबल चक्रवात गुजरता है, वह वायु की प्रबल धारा को अपनी ओर खीच लेता है। इसलिए आल्प्स पर्वत के दक्षिणी ढालो पर जब कोई वायु-राशि ऊपर उठती है तो फैलकर ठण्डी हो जाती है और वर्षा कर देती है। वर्षा करने के बाद जब यह हवा आल्प्स पर्वत के दूसरी ओर उत्तरी ढालो पर नीचे उतरती है तो दबाव के कारण गरम और शुष्क हो जाती है। इनके कारण आल्प्स प्रदेश की उत्तरी घाटियो मे तापमान एकदम 15-20° बढ जाता है जिससे वहा की बर्फ पिघल जाती है और पौधे व मकान आदि प्रायः सूख जाते है। ये हवाएँ प्रायः पहाड़ी घाटियो की दिशाओं मे ही बहती हैं। उत्तर से दक्षिण की ओर फैली हुए घाटियो मे इन हवाओ का प्रभाव बड़ा प्रवल रहता है।

स्विट्जरलंण्ड के उत्तरी भाग मे ये हवाएँ बसन्त और पतझड़ के मौसम में अधिक चला करती है। इनके प्रभाव से यहाँ घास के मैदानों पर जमी बर्फ पिघल जाती है और इनकी शुष्कता और ताप के कारण फसलो के पकने मे बडी सहायता मिलती है। विशेषत अंगूर की बेलो के लिए ये बड़ी ही लाभदायक होती है।

(3) **सिरोको** (Sirocco)—जब कभी चक्रवातीय व्यवस्था के कारण भूमध्य सागर पर निम्न दाब और सहारा प्रदेश मे अपेक्षाकृत उच्च दाब रहता है तो सहारा से भूमध्यसागर की ओर शुष्क, गरम और धूल से भरी हवाएँ चलने लगती है। भूमध्यसागर के ऊपर गुजरते समय इनमे कुछ आर्द्रता आ जाती है। ऐसी आर्द्र हवाएँ इटली और सिसली मे चलती है। सहारा से

चलने के कारण उत्तरी अफ्रीका, सिसली और दक्षिणी इटली मे इनकी दिशा दक्षिण मे रहती है। इन्ही हवाओ को इटली मे सिरोको और सहारा मे 'सिमूम' कहते है।

एटलस पर्वत-श्रेणियो से नीचे उतरने के कारण इनकी शुष्कता और गर्मी दोनो ही बहुत बढ जाती है। ये हवाएँ प्राय भूमध्यसागर को पार करने में सफल होती है। इस कारण दक्षिणी इटली तक पहुँचते-पहुँचते ये गरम और आर्द्र हो जाती है। इटली मे इन हवाओ के कारण मौसम बडा कष्टप्रद हो जाता है। शरीर शिथिल हो जाता है और काम करने को बिलकुल जी नही चाहता।

साधारणत. ये हवाएँ सभी मौसम मे चलती है परन्तु बसन्त ऋतु मे इनका जोर अधिक रहता है, क्योकि इस मौसम मे भूमध्यसागर मे चक्रवात अधिक शक्तिशाली रहते है और सहारा मे भी गर्मी की ऋतु प्रारम्भ हो चुकी होती है। ग्रीष्म में इन हवाओं का कोई नियमित प्रवाह नही होता।

इन हवाओं की प्रमुख विशेषता यह है कि ये एक-दो दिन तक लगातार चलती ही रहती है। इन हवाओ के प्रभाव मे वनस्पति सूख जाती है और खडी हुई फसलों को विशेष हानि पहुँचती है। इटली और सिसली मे अगूर की बेलो और जैतून के वृक्षो मे जब फूल निकल रहे होते हैं, उस समय यदि ये हवाएँ चलने लगती हैं तो सम्पूर्ण फूलो को नष्ट कर देती है।

(4) **खमसिन** (Khamsin)—उत्तरी अफ्रीका मे चलने वाली सिरोको हवा की तरह मिस्र मे उष्ण और शुष्क हवा को खमसिन कहा जाता है। अरबी भाषा मे खमसिन का अर्थ 50 से होता है। मिस्र मे यह हवा दक्षिण से चलती है और अप्रैल से जून तक कोई 50 दिन तक चलती रहती है। इसीलिए इनका नाम 'खमसिन' पड गया है। यह हवा प्राय. अपने साथ बहुत-सी धूल उड़ाकर भीतरी भागो तक पहुँचा देती है।

(5) **सिमूम** (Simoom)—सहारा और अरब के मरुस्थलो मे गर्मी और बसन्त मे चलने वाली गरम, शुष्क व तूफानी हवा को सिमूम कहते है। यह हवा बवण्डर की भाँति चलती है। इसके चलने पर साँस लेना कठिन हो जाता है। इसके साथ रेत के घने बादल भी उठा करते है, जिसके फलस्वरूप कुछ मीटर की दूरी तक देखना भी कठिन हो जाता है। इसके मार्ग मे पडने वाले रेत के टीलो का आकार बिलकुल बदल जाता है।

(6) **हरमाटन** (Harmattan)—पश्चिमी अफ्रीका मे पूर्व या उत्तर-पूर्व से चलने वाली हवाओं को हरमाटन कहा जाता है। सहारा मरुस्थल से आने के कारण ये हवाएँ उष्ण, शुष्क और धूल से भरी होती है। ये इतनी अधिक गरम और शुष्क होती है कि कभी-कभी इनके कारण पेड के तने तक फट जाते हैं। जब ये हवाएँ गिनी तट पर पहुँचती है तो वहाँ की उष्णतर गर्मी मे इनकी शुष्कता बडी भली लगती है। यहाँ यह हवा स्वास्थ्यप्रद समझी जाती है। इसलिए यहाँ इसको 'डॉक्टर' भी कहा जाता है।

जाड़ो की अपेक्षा गर्मियो मे इनका विस्तार अधिक होता है। ये अपने साथ बडी मात्रा मे धूल उड़ाकर लाती है जिससे सम्पूर्ण वातावरण मे धुँधलापन छा जाता है।.

इस प्रकार की उष्ण स्थानीय हवाओ को दक्षिणी-पूर्वी स्पेन मे **लेवेची** (Leveche), ट्यूनिस में **चिली** (Chili), लीबिया मे **गिबली** (Gibli) और आस्ट्रेलिया मे **ब्रिकफील्डर** (Brickfielder) नाम से पुकारा जाता है।

(7) **मिस्ट्रल** (Mistral)—भूमध्यसागर के उत्तरी-पश्चिमी भाग के तटीय प्रदेशों मे विशेषकर फ्रांस की रोन नदी के डेल्टे मे उत्तर-पश्चिम से आकर बहने वाली ठण्डी हवा को मिस्ट्रल कहा जाता है। यह ठण्डी हवा अधिकतर जाड़े की ऋतु मे चलती है। क्योकि इस समय यूरोप महाद्वीप पर अपेक्षाकृत अधिक वायुदाब और पश्चिमी भूमध्यसागर पर कम वायुदाब रहता है।

जब ये हवाएँ फ्रांस के पठार से नीचे उतरती है तो अधिक शुष्क और ठण्डी हो जाती है । साथ ही रोन नदी की सकीर्ण घाटी से होकर निकलने के कारण इनकी गति बड़ी तीव्र और प्रचण्ड हो जाती है ।

साधारणतः इनकी गति 35 से 40 मील प्रति घण्टा होती है, परन्तु कभी-कभी ये 80 मील प्रति घण्टा से भी अधिक तेज गति से चलने लगती है । इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेने पर कभी-कभी रेलगाड़ियाँ तक उलट जाती है । इन हवाओं के चलने के समय आकाश साफ और मेघरहित हो जाता है परन्तु तापमान हिमांक बिन्दु (Fıeezıng poınt) से भी नीचे पहुँच जाता है ।

इसके प्रचण्ड और उग्र रूप से बचने के लिए रोन की घाटी के निचले भाग मे दक्षिण-पूर्व की ओर वृक्षो की कई कतारे लगा दी गयी है । वृक्षों की ये पक्तियाँ स्थायी है । इस प्रदेश के उद्यान व बगीचों को बचाने के लिए लोग साइप्रस की झाड़ियाँ लगाकर बचाव करते है ।

(8) **बोरा** (Bora)—एड्रियाटिक सागर के पूर्वी किनारे पर और इटली के उत्तरी भाग मे जाड़े मे उत्तर और उत्तर-पूर्व से चलने वाली ठण्डी और शुष्क हवाओ को 'बोरा' कहा जाता है । स्थल से चलने के कारण ये हवाएँ शुष्क और ठण्डी होती है और मौसम साफ रहता है । एड्रियाटिक सागर पर होकर निकलते समय इनमे कुछ नमी आ जाती है जिससे कभी-कभी वर्षा हो जाया करती है ।

कभी-कभी ये हवाएँ लगातार कई दिनों तक चलती रहती है जिससे बहुधा इनकी प्रचण्डता बढ जाती है । सामान्यतया इनका वेग बहुत अधिक होता है । कभी-कभी इनकी गति 100 मील प्रति घण्टे से भी अधिक हो जाती है । तीव्र गति और प्रचण्डता के कारण यह बहुधा अपने मार्ग मे पड़ने वाली इमारतों आदि को बड़ी हानि पहुँचाती है । ये अपने प्रभाव मे दक्षिणी फ्रांस की मिस्ट्रल हवा से बहुत कुछ मिलती-जुलती होती है ।

(9) **हिम झंझावात** (Blızzard)—बर्फ की आँधी को हिम झंझावात (Blızzard) कहते है । हिम झझावात में कभी तो बर्फ का चूर्ण पाया जाता है, कभी बर्फ के नुकीले टुकड़े और कभी केवल अति शीतल हवा का झोंका ही रहता है । इस प्रकार की आँधी मे किसी भी वस्तु का ठहरना कठिन हो जाता है, क्योंकि इसकी गति बड़ी तेज होती है । कभी-कभी इनकी गति 50-60 मील प्रति घण्टा तक होती है । बर्फ के कणों और हवा की तेजी से इनमे कुछ भी दिखाई नहीं पडता । इस प्रकार के झझावात पहाड़ों की ऊँची बर्फ से ढकी हुई चोटियों, अति शीतल ध्रुवीय प्रदेशों (उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव) और कनाडा व साइबेरिया के बर्फीले मैदानों में चला करते है । ध्रुवीय प्रदेशों मे ऐसे झझावात बहुधा आया करते हैं और कभी-कभी कई दिनों तक लगातार चलते रहते है । दक्षिणी गोलार्द्ध मे एडीलेलैण्ड इतने अधिक और प्रचण्ड बर्फीले तूफान आते हैं कि उसे **'हिम झंझावात का घर'** (Home of the Blizzard) कहा जाता है । कनाडा और उत्तरी सयुक्त राज्य अमरीका में भी ऐसे झंझावात आया करते है और जब आते हैं तो शीत की एक प्रचण्ड लहर दौड़ जाती है । जाड़ों मे इन झंझावातों से अचानक तापमान बढ जाता है और गर्मियों मे घट जाता है । मध्य एशिया मे इस प्रकार के झंझावातों को **बुरान** (Buıan) कहते है ।

(10) **धूल का भूत** (Dust Devil)—धूल का भूत से तात्पर्य धूल के भँवर से है । यह एक स्थानीय घटना है जो प्रायः मरुस्थलों में घटित होती है । इस प्रकार की धूल की भँवरें अत्यधिक तापमान के कारण ही उत्पन्न होती हैं । जब कभी किसी स्थान पर अत्यधिक गर्मी बढ़ जाती है तो वायु गरम होने पर हल्की होकर बड़ी तेजी से ऊपर उठने लगती है और प्रचण्ड संवहन धाराएँ बन जाती हैं । परिणामस्वरूप धूल का एक चक्र-सा बनकर ऊपर की ओर उठने लगता है । इनका रूप चक्करदार एक बवण्डर के अनुरूप होता है । ये बवण्डर स्थानीय कारणों से ही उत्पन्न होते है और स्थान विशेष तक ही सीमित रहते है । धूल के ये बवण्डर 2-4 या 5 मीटर तक ही

फैले होते है परन्तु केन्द्र मे चारों ओर धूल के कण उठते-उठते कभी-कभी पृथ्वी से 2-3 हजार फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाते है।

मरुस्थलों मे धूल के ये बवण्डर 5 से 15 मील प्रति घण्टा की गति से चलते है। कभी-कभी इनकी गति 50 मील प्रति घण्टा हो जाती है। स्थानीय दशाओं के अनुसार कभी-कभी मरुस्थलों मे धूल के पाँच-छह बवण्डर एक साथ उठते हुए दिखाई देते है।

(11) **शीत लहर** (Cold Wave)—जब कभी निम्न अक्षांशो मे ध्रुव प्रदेशों की अति शीतल वायु का झोका-सा आ जाता है तो उसे शीत लहर कहते है। प्रायः चक्रवात के निकल जाने के बाद शीत सीमान्त के पीछे के भाग मे शीतल हवा का झोका आ जाया करता है। साधारणतया ऐसी शीतल वायु ध्रुवीय प्रदेशो में उत्पन्न होती है और उत्तरी अमरीका व साइबेरिया में प्रायः चला करती है। जाड़े के मौसम मे बड़े-बड़े भूखण्डों पर शीतल वायु की विशाल राशि एकत्रित हो जाती है। अत. शीत लहर के लिए प्रति-चक्रवात की अवस्थाएँ और विशाल भू-भाग का होना आवश्यक है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे भू-खण्डों के विस्तार की कमी के कारण वहाँ शीतल वायु की विशाल राशि नही बन पाती। साथ ही वहाँ प्रति-चक्रवात की अवस्थाएँ भी उतनी विकट नही पायी जाती जितनी कि उत्तरी गोलार्द्ध मे। फलतः दक्षिणी गोलार्द्ध मे शीतल हवा अपेक्षाकृत कम तीव्र होती है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर शीत लहर को भिन्न-भिन्न नाम से पुकारा जाता है और भिन्न अर्थो मे इसका प्रयोग होता है। संयुक्त राज्य अमरीका मे जब तापमान चौबीस घण्टो के भीतर एक निश्चित निम्न सीमा के नीचे चला जाता है तो वायुमण्डल की दशा को 'शीत लहर' कहते हैं। तापमान के नीचे गिरने से उसकी निश्चित सीमा सदैव एकसी और स्थायी नही होती। मौसम व स्थान विशेप की स्थिति के अनुसार इसमें अन्तर होता है।

कभी-कभी जाड़े के मौसम में जब किसी प्रदेश विशेष में अत्यधिक सर्दी बढ जाती है तो लोग उसे शीत-लहर का प्रभाव कहते है। यह शीत-लहर वास्तव मे समीपवर्ती पर्वतीय प्रदेशों की वायु होती है जो आकर मैदानी भागों को ठण्डा कर देती है।

शीत-लहर अपने प्रभाव मे बड़ी तीव्र होती है। जब यह चलती है तो तापमान को एकदम नीचा कर देती है। जब इसका भयकर प्रकोप होता है तो इसकी प्रचण्डता से खडी फसले नष्ट हो जाती हैं।

ऊपरी वायु का प्रभाव
(Upper-air Movement)

अब तक जिन हवाओं का वर्णन किया गया है वे केवल धरातलीय पवने है। धरातल के ऊपर वायुमण्डल के ऊपरी भागो मे वायु का विशेष प्रवाह देखा जाता है। सामान्यतः यह प्रवाह दोनो गोलार्द्धो मे पूर्व की ओर होता है।

वायुमण्डल के ऊपरी भाग मे वायु प्रवाह का कारण वहाँ का वायुदाब ही है। ऊपरी वायु का दाब ध्रुवों के निकट न्यूनतम और विषुवत रेखा के निकट अधिकतम होता है। इस प्रकार प्रत्येक गोलार्द्ध मे न्यून वायुदाब का एक विस्तृत क्षेत्र है जो प्रत्येक ध्रुव पर केन्द्रित है और ध्रुवो से यह विषुवत रेखा की ओर फैला रहता है। ऊपरी वायुदाब की इस दशा के कारण उत्तरी गोलार्द्ध मे हवा घड़ी की सुइयों की दिशा के विपरीत ध्रुव के चारों ओर चलती है और दक्षिणी गोलार्द्ध मे यह घड़ी की सुइयो की दिशा के अनुकूल चलती है।

परिवर्तन मण्डल मे ऊपरी वायु का प्रवाह बहुत कुछ धरातलीय हवाओं के विपरीत दिशा मे होता है। यही कारण है कि अश्व अक्षांशो के अपसृत क्षेत्रो मे वायु एकत्रित होती है। यह एकत्रित वायु धरातल की सन्मार्गी और पछुवा हवाओं को निरन्तर गति प्रदान करती है।

पिछले कुछ वर्षों में यह ज्ञात हुआ है कि उच्च वायुमण्डलीय पश्चिमी वायु प्रवाह कुछ निश्चित पट्टियों (belts) मे केन्द्रित है। वायु के इस प्रकार के प्रवाह को जेट स्ट्रीम के नाम से पुकारा जाता है। ये जेट स्ट्रीम 100 से 300 मील तक चौडी एक बडी नदी के समान होती है और धरातल से 5-7 मील की ऊँचाई पर ससार का चक्कर काटती है। वायु की ये जेट पट्टियाँ वहाँ पायी जाती है जहा ठण्डे तथा उष्ण अग्रमुख (fionts) मिलते है। अतः ध्रुव वृत्तों के निकट एवं उपोष्ण भागो मे उन्हे अलग-अलग देखा जा सकता है। इन जेट पवनो की अधिकतम गति मध्यस्तर (trapopause) के निकट होती है। निरीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि ग्रीष्मऋतु मे इनकी गति 50 से 60 मील और जाड़ो मे 95 से 120 मील प्रति घण्टा होती है। उपरोक्त जेटो के अतिरिक्त वायुमण्डल मे स्थानीय महत्त्व की अन्य कई जेट स्ट्रीम मिलती है।

उच्च वायुमण्डलीय इन जेट पवनो का वायुयान-चालकों के लिए बड़ा महत्त्व है। यह एक विश्वसनीय पवन है और वायुयान-चालक इनका समुद्रो मे सन्मार्गी पवनों की भाँति ही उपयोग कर सकते है। जेट स्ट्रीम का उपयोग करते हुए वायुयान-चालक अन्ध महासागर को पार करने मे 20 से 30 मिनट तक और प्रशान्त महासागर का पार करने मे एक घण्टा या उससे भी अधिक समय बचा सकते है। एक वर्ष मे जिसमे हजारों उड़ाने होती है, इसका अर्थ लाखो डालर की बचत है। इसीलिए वायुयान-चालकों के लिए जेट स्ट्रीम बडी उत्साहदायक है।[1]

जेट स्ट्रीम का धरातल की मौसम की अवस्थाओ से गहरा सम्बन्ध होता है, यद्यपि अभी तक उनका महत्त्व पूरी तरह नही समझा गया है। लगता है कि जेटे तथा अन्य उच्च पवने पृथ्वी पर मौसम की खिवैया है। अनुमान किया जाता है कि वे तूफानो तथा ववण्डरो की चोटी पकड़ कर उन्हे अपने नियमित पथों से खीच लेती है। भू-भौतिकीविद इन उच्च पवनो तथा मौसम के अन्तर सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दिशा मे प्रयत्नशील है।[2]

---

1 अलक्जेण्डर मारशैक : **पृथ्वी और अन्तरिक्ष**, पृ० 101

2 वही : पृ० 105-106

10

वायुमण्डल की आर्द्रता
(HUMIDITY OF THE ATMOSPHERE)

वायुमण्डल अनेक गैसो का प्रतिरूप है। जलवाष्प भी इसका एक अंग है। वायुमण्डल में जलवाष्प की औसत मात्रा दो प्रतिशत से भी कम है, फिर भी जलवायु और मौसम की दृष्टि से यह वायु का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग है। वायुमण्डल मे मिली अन्य गैसो का अनुपात प्रायः सभी स्थानो पर एकसा रहता है, परन्तु जलवाष्प अपने अनुपात मे निरन्तर बदलती रहती है। जलवाष्प के अनुपात का यह अन्तर 0 से लेकर 5% तक देखा जा सकता है। वायुमण्डल में जलवाष्प की मात्रा का समय और स्थान परिवर्तन कई दृष्टियो से बडा महत्त्वपूर्ण है। वायुमण्डल मे जलवाष्प की मात्रा पर ही वर्षा की न्यूनाधिकता, वायु-राशि की स्थिरता और अस्थिरता, चक्रवातो और झझावातों का जन्म और विकास तथा धरातल के ऊपर तापमान की अवस्था निर्भर करती है। अस्तु, यदि देखा जाय तो जलवाष्प का परोक्ष रूप से वनस्पति, पशु-पक्षी और मानव-जीवन पर गहरा प्रभाव होता है।

जलवाष्प के स्रोत

वायुमण्डल मे मिली अन्य गैसो के समान जलवाष्प भी अदृश्य होती है। परन्तु वायु दशा के परिवर्तन होने पर जलवाष्प बादल, कुहरा, ओस, हिम, ओला तथा वर्षा के रूप मे देखी जा सकती है। वायुमण्डल की यह महत्त्वपूर्ण गैस (जलवाष्प) स्थल पर विद्यमान जलाशयों से प्राप्त होती है। धरातल पर प्राप्त होने वाली सूर्य की गर्मी निरन्तर जल को वाष्प रूप मे बदलती रहती है। फिर यही जलवाष्प हवाओ और प्रसार के ढगो से महाद्वीपों के ऊपर ले जायी जाती है। धरातल के तीन-चौथाई भाग पर फैले हुए महासागर इस प्रकार जलवाष्प के अक्षय स्रोत है। महासागरों के अतिरिक्त आर्द्र भू-स्थल, पेड़-पौधे और गौण जलाशय—झील, नदी, तालाब, कुएँ आदि—वायुमण्डल की वाष्प के अन्य प्रमुख साधन है। वायुमण्डल मे जलवाष्प का बराबर उलट-फेर (turn-over) होता रहता है। सूर्य की गर्मी से पानी वाष्प रूप मे परिवर्तित होकर वायुमण्डल मे वाष्प की मात्रा को बढाता रहता है। परन्तु वही वाष्प दूसरी ओर संघनन और वर्षा के द्वारा वायुमण्डल से नष्ट होती जाती है। घनीभवन क्रिया से जलवाष्प पुन तरल अथवा ठोस रूप में बदल जाती है, जबकि वाष्पीभवन से तरल जल अदृश गैस रूप मे परिवर्तित हो जाता है। जैसे हवाएँ आर्द्रता को गैस मे समुद्रों से स्थल की ओर ले जाती है उसी तरह हवाएँ, नदियाँ और हिमनदियाँ इसको पुनः गैसीय, तरल अथवा ठोस रूप में समुद्रो को पहुँचाती है। वाष्प और जल का यह क्रम बराबर चलता ही रहता है।

जलवाष्प में गुप्त ताप-शक्ति

सामान्यतः सभी इस बात से परिचित है कि बर्फ को जल मे और जल को भाप मे बदलने के लिए ताप के रूप मे शक्ति की आवश्यकता होती है। जल के ठोस रूप को द्रव और द्रव को गैसीय रूप मे बदलने मे शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। इससे यह स्पष्ट है कि जलवाष्प मे जल से और जल मे बर्फ से अधिक ताप-शक्ति (potential energy) विद्यमान रहती है। जलवाष्प मे एकत्रित यह अतिरिक्त शक्ति ही गुप्त-ताप (latent heat) अथवा गुप्त-शक्ति (latent energy) कहलाती है। गुप्त-ताप-शक्ति बहुत अंशो मे बदलती हुई सौर-शक्ति ही है जो बर्फ और जल के भवन मे प्रयुक्त होती है जिससे वे जलवाष्प में परिवर्तित हो जाते है। वाष्पीभवन के समय जल पर प्रयुक्त शक्ति बनने वाली गैस को गरम नही करती, वरन् वह जल को तरल अवस्था से गैसीय अवस्था मे बदलने मे खर्च होती है। थल की अपेक्षा जल के देर से गरम होने के पीछे भी यही तथ्य है। सूर्य की अधिकतर शक्ति जल की ऊपरी परत के वाष्पीभवन मे ही खर्च हो जाती है। यदि वाष्पीभवन क्रिया मे शक्ति प्रयुक्त होती है तो दूसरे रूप मे शक्ति संघनन के समय पुन प्राप्त होनी चाहिए। जलवाष्प द्वारा पुन. निकाली गयी यह ताप-शक्ति संघनन की गुप्त-ताप-शक्ति (Latent heat of condensation) कहलाती है। संघनन की यह गुप्त-ताप-शक्ति चक्रवातो और तूफानो को उत्पन्न करने और वर्षा को जन्म देने का महत्त्वपूर्ण साधन है। रात्रि के समय जब सघनन क्रिया प्रारम्भ होती है तो तापमान बहुत अधिक नही गिरने पाते, क्योंकि अपरिमित मात्रा मे छोडी गयी गुप्त-ताप-शक्ति तापमान को नीचे जाने से रोक देती है।

वायुमण्डल की आर्द्रता
(Humidity of the Atmosphere)

प्रतिदिन धरातल का जल सूर्याभिताप से वाष्प मे परिणत होता रहता है। भाप मे बदलकर जल वायुमण्डल मे मिल जाता है। वायुमण्डल मे विद्यमान जल का यह परिवर्तित रूप (वाष्प) ही उसकी आर्द्रता कहलाता है।

वायु मे भाप ग्रहण करने की क्षमता बहुत अंशों मे उसके तापमान पर निर्भर करती है। वायु का तापमान जितना ही अधिक होगा उसमे भाप धारण करने की शक्ति उतनी ही बढती जायगी। यह तथ्य नीचे दी तालिका से विदित हो जाता है :

एक घन फुट वायु में तापमान के अनुसार निम्न मात्रा में भाप रह सकती है[1]

वायु का तापमान	भाप की मात्रा	तापमान में 10° फा० अन्तर होने पर भाप धारण करने की शक्ति में अन्तर
30° फा०	1·9 ग्रेन	……..
40° ,,	2·9 ,,	1·0
50° ,,	4·1 ,,	1·2
60° ,,	5·7 ,,	1·6
70° ,,	8·0 ,,	2·3
80° ,,	10·9 ,,	2·9
90° ,,	14·7 ,,	3·8
100° ,,	19·7 ,,	5·0

[1] V. C. Finch and G. T. Trewartha : *Elements of Geography*, p. 73

पीछे दी गयी तालिका से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गरम हवा में ठण्डी हवा की अपेक्षा भाप धारण करने की शक्ति कही अधिक होती है। ज्यो-ज्यो तापमान मे वृद्धि होती जाती है वायु मे भाप धारण करने की शक्ति भी बढती जाती है। जैसे यदि एक घन फुट के तापमान को 10° फा० बढा दिया जाय अर्थात 30° से 40° फा० कर दिया जाय तो उस वायु में केवल 1 ग्रेन भाप मिला लेने की शक्ति बढती है। परन्तु यदि 90° फा० तापमान वाली हवा को 10° बढाकर 100° फा० कर दिया जाय तो उसमे प्रति घन फुट 5 ग्रेन भाप धारण करने की शक्ति बढ जाती है। इससे यह प्रकट होता है कि गर्मी के दिनो मे हवा सर्दी के दिनो की अपेक्षा अधिक भाप ग्रहण कर सकती है और इससे उसमे वर्षा की शक्ति भी अधिक होती है। उष्ण खण्डो मे तापमान की अधिकता से सदा ही वायु मे जलवाष्प की मात्रा अधिक रहती है। किन्तु शीतोष्ण तथा ध्रुव के निकटवर्ती भागो मे तापमान की न्यूनता से वायु मे भाप की मात्रा बहुत ही अल्प होती है। तापमान के अतिरिक्त वायु मे भाप की मात्रा जल और स्थल के विस्तार तथा हवाओ की किसी स्थान तक पहुँच पर भी निर्भर करती है। यही कारण है कि समुद्रों पर तथा समुद्रतटीय भागों मे वायु मे भाप की मात्रा अधिक देखी जाती है। समुद्रो से दूर महाद्वीपों के भीतरी भागो मे वायु मे भाप की मात्रा कम होती है। इसलिए ससार के समस्त उष्ण मरुस्थल समुद्री हवाओ के प्रभाव से दूर उष्ण कटिबन्ध मे महाद्वीपो के भीतर पाये जाते हे।

वायु कभी भी शुष्क दशा मे नही रहती। वायु मे कुछ न कुछ अशो मे भाप अवश्य मिली रहती है। वायु मे पाया जाने वाला भाप का अश इतना कम हो सकता है कि वह नापा भी न जा सके जैसा कि समतापमण्डल मे देखा जाता है। परन्तु वायु मे भाप का अंश होता अवश्य है। वायुमण्डल के प्रति घन फुट वायु मे किसी भी तापमान और दबाव पर भाप की एक निश्चित मात्रा ही रह सकती है। तापमान और दबाव के अनुसार यदि भाप की यह सब मात्रा उसमे वर्तमान हो तो वह वायु की संतृप्त (satuıated) अवस्था होती है। ऐसी अवस्था परिवर्तनमण्डल मे प्राय· देखने को मिलती है।

निरपेक्ष आर्द्रता
(Absolute Humidity)

किसी भी समय वायु के विशिष्ट अंश में भाप की जो मात्रा विद्यमान होती है उसे वायु की निरपेक्ष आर्द्रता (absolute humidity) कहते है। उदाहरणतः, यदि एक घन फुट वायु से 50° फा० तापमान पर 3 ग्रेन भाप वर्तमान है तो उसे हम वायु की निरपेक्ष आर्द्रता कहेगे। वायु की यह आर्द्रता प्रति घन फुट वायु मे पाये जाने वाले भाप के दबाव मे प्रकट की जाती है। भाप का दबाव प्रति घन फुट वायु मे ग्रेन के अनुसार बताया जाता है। निरपेक्ष आर्द्रता चूँकि वायु मे भाप की वास्तविक आर्द्रता को प्रकट करती है, अतः इससे वर्षा के सम्बन्ध मे अनुमान लगाने मे सहायता मिलती है। तापमान के घटने-बढ़ने का निरपेक्ष आर्द्रता पर कोई प्रभाव नही पड़ता। वायु की निरपेक्ष आर्द्रता में अन्तर तभी आता है जबकि वाष्पीकरण द्वारा वायु में भाप की मात्रा बढ जाय अथवा वर्षा द्वारा उसमे से मात्रा कम हो जाय। वायु ऊपर उठकर फैलती है और नीचे उतरकर सिकुड़ती है। वायु के इस प्रकार फैलने और सिकुड़ने पर वायु मे भाप की मात्रा घटाये-बढाये बिना भी वायु की निरपेक्ष आर्द्रता बदल जाती है। इस प्रकार वायु की निरपेक्ष आर्द्रता कभी भी स्थिर नही होती। वायुमण्डल की दशाओ के परिवर्तन पर वह भी परिवर्तित रहती है।

निरपेक्ष आर्द्रता प्रायः भूमध्य रेखा के निकट सबसे अधिक पायी जाती है। ध्रुवों की ओर बढ़ने पर वह क्रमशः कम होती जाती है। समुद्रों से दूरी बढ़ने पर भी इसकी मात्रा मे बड़ा भारी

अन्तर पड़ जाता है। साधारणतः यह सर्दी की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु मे तथा रात्रि की अपेक्षा दिन में अधिक रहती है। जुलाई के उष्णतर मानसून के समय कलकत्ता मे औसत निरपेक्ष आर्द्रता 34 मिलीबार रहती है परन्तु जनवरी मे इसकी मात्रा 15 मिलीबार ही होती है। जलवाष्प की सबसे कम मात्रा ध्रुव प्रदेशो मे शीत ऋतु मे पायी जाती है। फ्रेम (Fram) नामक जहाज ने ध्रुव प्रदेशो की यात्रा के समय देखा कि वहाँ जनवरी माह मे जलवाष्प की मात्रा पूरे 24 घण्टों मे 0·3 मिलीबार ही रही।[1]

आपेक्षिक आर्द्रता
(Relative Humidity)

वायुमण्डल मे रहने वाली जलवाष्प और वायु के तापमान मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वायु मे किसी तापमान और दबाव पर भाप की एक निश्चित मात्रा ही रह सकती है। उसके बाद जलवाष्प पानी मे बदलने लगती है। वायु मे उसके तापमान और दबाव के अनुसार जलवाष्प धारण करने की जो अधिकतम शक्ति विद्यमान होती है और उसकी जितनी प्रतिशत जलवाष्प हवा में वस्तुत· मौजूद होती हे, उसे हवा की आपेक्षिक आर्द्रता (relative humidity) कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, **किसी तापमान पर वायु के किसी आयतन** (volume) **में उपस्थित जलवाष्प की मात्रा तथा उसी ताप पर वायु को संतृप्त करने के लिए आवश्यक जलवाष्प की मात्रा के अनुपात को उस तापमान पर वायु की आपेक्षिक आर्द्रता कहते है**। उदाहरण के लिए, 70° फा० तापमान पर एक घन फुट वायु मे कुल 8 ग्रेन जलवाष्प रह सकती है। यदि इस तापमान पर एक घन फुट वायु में केवल 6 ग्रेन जलवाष्प ही मौजूद हे तो उसकी आपेक्षिक आर्द्रता 75 प्रतिशत ही होगी। इसी प्रकार यदि 60° फा० तापमान पर एक घन फुट मे 9 ग्रेन भाप है तो उसकी आपेक्षिक आर्द्रता 68 प्रतिशत होगी, क्योकि 60° फा० तापमान पर एक घन फुट वायु को सतप्त अवस्था मे पहुँचने के लिए 13·3 ग्रेन जलवाष्प की आवश्यकता होती है। वायु के तापमान परिवर्तन और उसमे भाप की मात्रा की घटा-बढ़ी होने के साथ ही हवा की आपेक्षिक आर्द्रता बदल जाती है। तापमान वृद्धि के साथ किस प्रकार आपेक्षिक आर्द्रता बदलती है नीचे की तालिका से प्रकट हो जाता है .

तापमान	निरपेक्ष आर्द्रता	आपेक्षिक आर्द्रता का प्रतिशत
40° फा०	2·9 ग्रेन	100
50° ,,	,,	70
60° ,,	,,	50
70° ,,	,,	35
80° ,,	,,	26
90° ,,	,,	19

साधारणतः रात्रि और प्रातःकाल मे सभी स्थानों पर आपेक्षिक आर्द्रता 90% से ऊपर रहती है। परन्तु दिन मे प्रचण्ड सूर्य के प्रभाव से यह बहुत शीघ्र नीचे उतर जाती है। उष्ण मरुस्थलो मे यह 5 प्रतिशत से भी कम हो जाया करती है। आर्द्र अयनवृत्तीय भागों में भी शुष्क ऋतु मे दिन के समय आपेक्षिक आर्द्रता 60 प्रतिशत ही पायी जाती है। वर्षा ऋतु मे इसका अनुपात बढकर 70 प्रतिशत हो जाता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओ मे धरातल के भिन्न-भिन्न भागो मे आपेक्षिक आर्द्रता का परिवर्तन किस प्रकार होता है यह आगे की तालिका से स्पष्ट है .

[1] W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 209

आपेक्षिक आर्द्रता के वार्षिक परिवर्तन का प्रतिशत[1]

किस्म	स्थान	सर्दी	बसन्त	ग्रीष्म	पतझड़
महाद्वीपीय	साल्टलेक सिटी (ऊँटाहा)	67	51	37	47
महासागरीय	थोर्स हेवन (फेरोस)	83	81	85	85
मानसून	ब्लाडीवोस्टक (रूस)	72	75	87	71
अयनवृत्तीय	प्यूबला (मेक्सिको)	58	53	71	61

आपेक्षिक आर्द्रता का महत्त्व—आपेक्षिक आर्द्रता का हमारे जीवन पर बडा प्रभाव होता है। अतः इसका हमारे लिए कई दृष्टियो से बडा महत्त्व है :

(1) आपेक्षिक आर्द्रता का वाष्पीकरण की मात्रा और उसकी गति पर बडा प्रभाव पड़ता है। आपेक्षिक आर्द्रता और वार्ष्पाकरण मे उलटा सम्बन्ध है। वाष्पीकरण का पेड-पौधों व फसलो की वृद्धि तथा पशुओ के स्वरूप पर बड़ा प्रभाव होता है। अतः आपेक्षिक आर्द्रता का ज्ञान कृषको के लिए बड़ा जरूरी है।

(2) मानव-शरीर से निकलने वाली गर्मी और आर्द्रता पर इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। अत जिन स्थानों पर आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है वहाँ के निवासियो का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। आपेक्षिक आर्द्रता की बहुत अधिक कमी भी मनुष्य के स्वभाव को चिडचिडा बना देती है। इसकी कमी से शरीर की त्वचा फटने लग जाती है। सामान्यत· 60 प्रतिशत आर्द्रता स्वास्थ्य के लिए आदर्श रहती है। मनुष्य की कार्यक्षमता पर इसका गहरा प्रभाव होता है। इस कारण हमारे लिए इसका अध्ययन बडा लाभप्रद होता है।

(3) सापेक्षिक आर्द्रता की सहायता से वर्षा की सम्भावना का ज्ञान किया जा सकता है। वर्षा होने के पूर्व सापेक्ष आर्द्रता बढ जाया करती है। इसी आधार पर मौसम विभाग आने वाले मौसम की भविष्यवाणी करते है।

(4) सापेक्ष आर्द्रता का विद्युत यन्त्रों, रेडियो तथा अन्य वैज्ञानिक यन्त्रों पर भी बड़ा प्रभाव होता है। कई रासायनिक पदार्थ और दवाएँ आर्द्रता अधिक बढ जाने पर खराब हो जाती है।

(5) इमारतों के निर्माण मे भी आर्द्रता का ज्ञान बडा जरूरी होता है। अधिक आर्द्रता में कई वस्तुएँ सड़ जाती है जबकि कम आर्द्रता मे प्लास्टर चटक जाता है। अतः किसी भी स्थान पर इमारतों के निर्माण के समय आपेक्षिक आर्द्रता का अध्ययन करके ही इमारती सामान का चुनाव किया जाता है।

संघनन
(Condensation)

अदृश्य रूप मे भाप सदा ही हवा मे मिली हुई रहती है। परन्तु इसकी मात्रा हवा के तापमान और दाब के अनुसार निरन्तर बदलती रहती है। हवा के एक निश्चित तापमान पर परिमित अवस्था मे ही भाप समा सकती है। इस सीमा तक भाप ग्रहण कर लेने पर हवा में अधिक भाप ग्रहण करने की क्षमता नही रहती। तब वह सतृप्त (saturated) हो उठती है। इस सतृप्त हवा मे यदि थोड़ी और भाप मिला दी जाय तो सघनन (condensation) की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिससे भाप गैसीय रूप से जल रूप मे बदलने लगेगी। भाप के गैस रूप से जल रूप मे बदलने की क्रिया को ही सघनन (condensation) कहा जाता है।

---

1 Haurwitz and Austin ; *Climatology*, p. 92

वायुमण्डल मे भाप हवा के ठण्डे होने पर भी वायव्य रूप से जल रूप में बदल जाती है। यह सघनन की दूसरी विधि है। वायुमण्डल मे अधिकतर जलसीकर, बादल तथा कुहरा इसी विधि से बनते है। एक विशेष तापमान वाली हवा का जो कि सतृप्त नही है, यदि इतना तापमान घटा दिया जाय कि उसकी आनुपातिक आर्द्रता 100% हो जाय तो उस तापमान पर वह सतृप्त हो जायगी। इस प्रकार बिना भाप के घटाये-बढाये ही जिस तापमान पर हवा संतृप्त हो जाती है उस तापमान को **ओस बिन्दु** (Dew Point) कहा जाता है। यदि हवा का तापमान ओस बिन्दु से भी नीचे गिर जाय तो उसकी अतिरिक्त भाप छोटे-छोटे जलसीकरो मे बदलने लगेगी अर्थात सघनन (condensation) की क्रिया प्रारम्भ हो जायगी। उदाहरणतः, यदि हवा का तापमान 80° फा० है और उसकी वास्तविक आर्द्रता प्रति घन फुट 8 ग्रेन है तो उसकी आपेक्षिक आर्द्रता 73 प्रतिशत होगी। अब यदि इस वायु-राशि का क्रमश. तापमान घटाया जाय जिससे उसकी भाप धारण करने की शक्ति घट जाय तो वह 70° फा० तापमान पर ओस बिन्दु (dew point) पर पहुँच जायगी और इस प्रकार उस तापमान पर संतृप्त हो उठेगी। वायु-राशि के इस तापमान के नीचे शीतल होने पर सघनन क्रिया शुरू हो जायगी। सघनन के कारण जो भाप जल-कणों मे बदलती है वह भिन्न तापमानो की क्षमता के बीच के अन्तर के बराबर होती है। इस प्रकार यदि एक घन फुट संतृप्त हवा का तापमान 70° फा० से घटाकर 60° फा० कर दिया जाय तो उसके भाप रखने की शक्ति 8 ग्रेन से कम होकर 5·7 ग्रेन हो जायगी जिससे 2·3 ग्रेन अतिरिक्त भाप सघन होकर जल रूप मे बदल जायगी। किन्तु संतृप्त हवा के इसी प्रकार भिन्न-भिन्न तापमान पर ठण्डे होने पर इतनी ही मात्रा मे जल-राशि प्राप्त नही होती। यह मात्रा भिन्न तापमान पर भिन्न होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वायु की आपेक्षिक आर्द्रता और ओस बिन्दु में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब वायु में आपेक्षिक आर्द्रता अधिक होती है तो वह थोड़ी शीतल होने पर ओस बिन्दु पर पहुँच जाती है और उसमे संघनन होने लगता है। किन्तु यदि आपेक्षिक आर्द्रता कम हुई—जैसा कि मरुस्थलों मे होता है—तो उसके ओस बिन्दु तक पहुँचने के लिए काफी मात्रा मे तापमान घटाना आवश्यक होगा। भाप के सघनन होने के लिए इस प्रकार दो बातों की आवश्यकता होती है। पहले, हवा का ठण्डा होना और दूसरे, वायु की आपेक्षिक आर्द्रता की मात्रा। यदि हवा 32° फा० तापमान पर ही ओस बिन्दु पर पहुँच जाती है तो भाप जल-बिन्दुओं के नीचे ओस मे बदल जायगी (जैसे—ओस, कुहरा और बादल) और यदि हवा 32° फा० तापमान के नीचे ओस बिन्दु पर पहुँचती है तो भाप सघन होकर सूक्ष्म हिम सीकरों में प्रकट होगी (जैसे—पाला, हिम और कुछ बादल)।

संघनन की विधियाँ
(Process Leading to Condensation)

वायुमण्डल की भाप तभी जल रूप धारण करती है जबकि वायुमण्डल ठण्डा हो जाय। वायुमण्डल के ठण्डे होने की कई विधियाँ है, जो निम्न हैं :

(1) **विकिरण** (Radiation)—जाड़ो मे दिन के समय धरातल पर सूर्य से जो उष्णता प्राप्त होती है वह रात्रि को शीघ्रता से परावर्तित हो जाती है और धरातल अपने ऊपर की हवा से भी ठण्डा हो जाता है। अत. धरातल से लगी हुई हवा का तापमान ठण्डे धरातल के ससर्ग से ओस बिन्दु पर पहुँच जाता है। ठण्डे धरातल के फलस्वरूप जब हवा ओस बिन्दु को पहुँच जाती है तो हवा मे विद्यमान भाप ओस व पाला आदि रूप मे प्रकट हो जाती है।

(2) **संचालन** (Conduction)—जब दो भिन्न तापमान और आर्द्रता वाली वायु-राशियाँ आपस मे मिलती हैं तो संचालन के कारण उष्ण वायु-राशि शीतल वायु-राशि के संसर्ग

से ठण्डी हो जाती है और उसकी भाप जल-कणों मे बदल जाती है। इस प्रकार जब उष्ण और आर्द्र हवा ठण्डे धरातल, ठण्डे जल और ठण्डी धारा के ऊपर होकर चलती है तो शीघ्र ही शीतल हो जाती है और भाप जल रूप धारण कर लेती है। कुहरा (fog) इसी प्रकार बनता है।

वाष्पीकरण
(Evaporation)

वाष्पीकरण वह क्रिया है जिससे पानी द्रव अवस्था से गैसीय अवस्था मे बदल जाता है। वर्षा की मात्रा के समान वाष्पीकरण की मात्रा और उसकी गति का भी बड़ा महत्त्व है। वाष्पीकरण की गति मुख्यत. वायु की आपेक्षिक आर्द्रता पर निर्भर करती है। वायु की आपेक्षिक आर्द्रता जितनी कम होगी वाष्पीकरण उतना ही तीव्र होगा। वाष्पीकरण का सम्बन्ध सदैव वायु के तापमान से रहता है। यदि अन्य सब बाते समान रहे तो तापमान के बढने पर वाष्पीकरण की क्रिया बढ जाती है। यदि समुद्रो का तापमान वायु के तापमान से अधिक है तो वाष्पीकरण बराबर होता रहेगा। किन्तु यदि वायु का तापमान समुद्रो के तापमान से अधिक है तो वाष्पीकरण के स्थान पर सघनन की क्रिया होगी, परन्तु यह आपेक्षिक आर्द्रता पर निर्भर करेगी। वाष्पीकरण की क्रिया पर हवा की गति का भी प्रभाव पड़ता है। हवा की गति बढ जाने पर वाष्पीकरण की क्रिया भी तीव्र हो जाती है। यदि कही समुद्रो पर वायु स्थिर हो जाती है तो हवा की आपेक्षिक आर्द्रता बढ जायगी। ऐसी दशा मे वास्तविक आर्द्रता और संतृप्त बिन्दु मे अन्तर कम हो जाने से वाष्पीकरण की क्रिया मन्द पड़ जायगी। इसके विपरीत, यदि हवा निरन्तर चलती रहे तो समुद्रो पर नयी शुष्क वायु के आते रहने से उसमे वाष्प धारण करने की शक्ति बढ़ जायगी। फलस्वरूप समुद्रो पर वाष्पीकरण की क्रिया बढ़ जायगी। वाष्पीकरण की गति पर धरातल की प्रकृति का भी बड़ा प्रभाव होता है। आवरणयुक्त भूमि की अपेक्षा नग्न भूमि से वाष्पीकरण तेजी से होता है।

वाष्पीकरण की क्रिया महाद्वीपो की अपेक्षा समुद्रो पर अधिक तीव्र होती है। समुद्रो पर 10° से 20° अक्षांशो के बीच वाष्पीकरण सबसे अधिक होता है। विषुवत रेखा के 10° उत्तर और 10° दक्षिण के बीच वाष्पीकरण समुद्रो की अपेक्षा महाद्वीपो पर अधिक होता है क्योकि यहाँ घनी वनस्पति, वर्षा की अधिकता और ऊँचे तापमान के कारण वाष्पीभवन की क्रिया बराबर होती रहती है। समुद्रो पर ग्रीष्मऋतु मे वाष्पीकरण न्यूनतम होता है, जबकि महाद्वीपों पर अधिकतम होता है।

पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धो मे भिन्न-भिन्न अक्षांशों पर समुद्र एवं महाद्वीपो पर वाष्पीकरण का औसत किस प्रकार रहता है यह नीचे तालिका मे बताया गया है.

वाष्पीभवन का कटिबन्धीय वितरण[1]

अक्षांश	60°-50°	50°-40°	40°-30°	30°-20°	20°-10°	10°-0°
उत्तरी गोलार्द्ध						
महाद्वीप	14·2	13 0	15 0	19·7	31 1	45·3
समुद्र	15·7	27 6	37·8	45 3	42·7	39·4
औसत	15·0	20·1	28·0	35·8	49·2	40·6

1 Haurwitz and Austin; *Climatology*, p. 85

दक्षिणी गोलार्द्ध

महाद्वीप	(7·9)	(19·7)	20·1	16 1	35·4	48·0
समुद्र	9·1	22·8	35·0	44·1	47·2	44·9
औसत	8·7	22 8	33·5	39 0	44·5	45·7

ससार मे सर्वाधिक वाष्पीकरण उष्ण मरुस्थलो मे होता है। यहा वाष्पीकरण की गति ऊँचे तापमान, स्वच्छ और तीव्र हवाओं और नग्न चट्टानों अथवा बालूयुक्त धरातल के कारण बहुत अधिक रहती है। सूडान मे अतबारा और खारतूम मे वाष्पीकरण का वार्षिक औसत क्रमश: 246 और 213 इंच है। मिस्र मे हलवान का औसत 94 इच है। वाष्पीकरण की इस मात्रा मे बहुत अधिक मौसमी अन्तर मिलता है। जैसे हलवान (Helwan) मे जून का औसत 13 इच है जबकि दिसम्बर और जनवरी का औसत केवल 3 5 इच ही।[1]

विषुवतरेखीय मेखला मे भी वाष्पीकरण की गति मन्द रहती है। यहाँ का मासिक औसत 2 से 3 इंच रहता है। शीतल शीतोष्ण अक्षाशो मे भी वाष्पीकरण की गति कम पायी जाती है। उदाहरणतः, लन्दन का वार्षिक औसत केवल 13 इच ही है।

वायु-राशियों की आर्द्रता
(The Humidity of Air-Masses)

वायु में वाष्प की उपस्थिति के कारण वायु का घनत्व घट जाता है। जलवाष्प की कोई मात्रा उसी परिमाण की शुष्क वायु से हल्की होती है। हल्केपन का यह औसत 5 से 8 के लगभग रहता है। जब शुष्क वायु वाष्पीकरण द्वारा जलवाष्प को ग्रहण करती है तो उसमे किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती। वस्तुतः वह जितनी वाष्प ग्रहण करती है उतनी ही वायु को निकाल देती है। परिणामस्वरूप आर्द्र वायु उसी तापमान और दाब पर समान आयतन वाली शुष्क वायु से हल्की होती है।

सम्पीडन के कारण न केवल वायु का घनत्व ही बदलता है, अपितु उसका तापमान भी बदल जाता है। जब हम साइकिल में हवा भरते हैं तो उसका वॉल्व (valve) भी अत्यधिक गरम हो जाता है, क्योंकि सम्पीडन के कारण दाब बढ जाता है, जिससे वह गरम हो उठता है। इसके विपरीत, जब वायु फैलती है तो दाब कम हो जाता है जिससे वह शीतल हो जाती है। वायु का फैलना तभी सम्भव होता है, जबकि वह वायुमण्डल मे बहुत अधिक ऊँचाई तक ऊपर चली जाय। वायुमण्डल के ऊपरी भाग में बहुत कम मात्रा में वायु होती है जिससे वहाँ वायुदाब कम रहता है। वायुदाब की इस कमी से ही वहाँ वायु का फैलना सम्भव होता है। सामान्यत समुद्रतट पर स्थित शुष्क वायु, जिस पर लगभग 1016 मिलीबार दाब होता है, 17,500 फुट की ऊँचाई तक ऊपर उठ जाने पर उसका दाब घटकर आधा हो जायगा, परन्तु अपने आयतन में वह दुगुनी हो जायगी। जब ऊपर उठकर वायु फैलती है तो उसे अपने आसपास की वायु को हटाना पड़ता है। वायु को हटाने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। यह शक्ति ऊपर उठती हुई वायु की गर्मी के नष्ट होने से प्राप्त होती है। फलस्वरूप ऊपर उठकर फैलने पर वायु का तापमान कम हो जाता है। इस प्रकार जब किसी वायु-राशि मे बाहर से बिना ताप के छोड़े अथवा ग्रहण किये ही ताप परिवर्तन हो जाता है तो दाब परिवर्तन द्वारा गरम अथवा शीतल होना (adiabatic heating and cooling) कहा जाता है।

---

[1] Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 375

ऊँचाई के अनुसार तापमान की ह्रास दर
(Lapse Rates)

साधारणत. ऊँचाई के साथ तापमान के घटने [सामान्य ह्रास दर (normal lapse rate) या तापमान का लम्बवत प्रवण (vertical temperature gradient)] की औसत दर लगभग 3·3° फा० प्रति एक हजार फुट है। जब कोई असतृप्त वायु-राशि एकदम सीधी ऊपर चढ़ती है तो ऊपर जाकर फैलती है और फैलकर शीतल हो जाती है। इस प्रकार वायु के ऊपर उठकर फैलकर ठण्डे होने की गति प्रति एक हजार फुट पर 5 4° फा० है जो कि ऊँचाई के अनुसार तापमान घटने की दर से अधिक है। तापमान घटने की इस दर को **शुष्क रुद्धोष्म ह्रास दर** (Dry adiabatic lapse rate) कहा जाता है।

यदि कोई संतृप्त वायु-राशि खडे रूप मे ऊपर उठती है तो वह भी ऊपर जाकर फैलने से ठण्डी हो जाती है। चूँकि यह वायु सतृप्त होती है अत. इसकी कुछ वाष्प शीघ्र ही संघनित (condensed) हो जाती है। इसका अर्थ यह है कि वायु की कुछ गुप्त-ताप-शक्ति छूट जाती है, जो उस दर को, जिस पर कि ऊपर उठती हुई वायु-राशि वस्तुत शीतल होती है, कम कर देती है। वायु के इस प्रकार शीतल होने की गति को **संतृप्त रुद्धोष्म ह्रास दर** (Saturated adiabatic lapse rate) कहते है जो कि 2 7° फा० प्रति एक हजार फुट है। किन्तु वायु के शीतल होने की यह दर सघनित जलवाष्प की मात्रा के अनुसार बदलती रहती है। नीचे दी गयी तालिका मे विभिन्न ह्रास दरो की अवस्थाओ को बताया गया है[1] .

(फारेनहाइट अशो में)

फुट	वायुमण्डल की औसत अवस्थाएँ	ऊपर उठती हुई शुष्क वायु	ऊपर उठती हुई संतृप्त वायु
4000	46·8	34·4	49·2
3000	50·1	43·8	51 9
2000	53·4	49·2	54·6
1000	56·7	54·6	57·3
समुद्र-तल	60·0	60·0	60·0

अस्थिरता
(Instability)

वायु-राशि कई प्रकार से ऊपर उठने को प्रेरित होती है। जब धरातल का कोई भाग गरम होता है तो उसके ऊपर की वायु-राशि सचालन द्वारा गरम हो जाती है और उसमें उदग्र संवहन धाराएँ चलने लग जाती है। इसी प्रकार जब हवा किसी पर्वत के खिलाफ चलती है तो वायु-राशि को ढाल के ऊपर चढना पड़ता है। चक्रवात मे भी अग्रमुख धरातल (frontal surface) के समीप उष्ण वायु-राशि ठण्डी वायु के ऊपर चढती है। उष्ण कटिबन्धीय तूफान मे वायु सीधी ऊपर उठती है।

जब कोई वायु-राशि अपने आसपास की हवा से अधिक उष्ण और हल्की होती है तो वह ऊपर उठती है। ऐसी वायु-राशि को **नितान्त अस्थिर** (absolutely unstable) वायु-राशि कहा जाता है। इसका अस्थिर सन्तुलन (unstable equilibrium) होता है। वायु की अस्थिरता

1 Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 371

असतृप्त वायु की अपेक्षा संतृप्त वायु मे अधिक रहती है। क्योंकि सतृप्त वायु बहुत ही धीरे-धीरे ठण्डी होती है और फलस्वरूप उसके आसपास की वायु से गरम बनी रहती है। इसी कारण उष्ण और आर्द्र वायु-राशि बहुत अधिक ऊँचाई तक ऊपर उठ जाती है और अस्थिर वायु दशा उत्पन्न कर देती है। परिणामस्वरूप ऐसी वायु-राशि के द्वारा घने बादल बनते है और भारी वर्षा होती है। इससे ओला एव झझावात भी उत्पन्न हो जाते है। जब उष्ण वायु-राशि ऐसी ऊँचाई को पहुँच जाती है जहाँ आसपास की हवा का तापमान उसके समान होता है तो उसका ऊपर उठना रुक जाता है। अब वह **उदासीन सन्तुलन** (Neutıal equilıbrıum) अवस्था मे होती है।
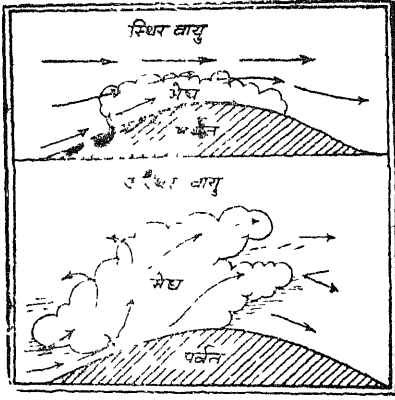
चित्र 116—संतृप्त वायु में स्थिरता और अस्थिरता

यदि कोई शुष्क वायु-राशि पर्वत के ऊपर चढती है तो जब तक वह ओस बिन्दु (dew poınt) तक नही पहुँच जाती, शुष्क रुद्धोष्म ह्रास दर (dry adiabatic lapse rate) की गति से शीतल होती जायगी। ओस बिन्दु पर पहुँच जाने पर उसमे संघनन प्रारम्भ हो जाता है जिससे वह सतृप्त रुद्धोष्म ह्रास दर (saturated adıabatic lapse rate) की गति से शीतल होने लगती है। अर्थात् 5·4° फा० प्रति हजार फुट के स्थान पर 2·7° फा० प्रति हजार फुट की दर से शीतल होती है। इस प्रकार प्रारम्भ मे वायु-राशि यद्यपि भौतिक रीति (mechanical) से ऊपर उठती है, किन्तु ठण्डे होने की शीतल गति के कारण वायु-राशि अपने समीप की हवा की अपेक्षाकृत उष्ण बनी रहती है। परिणामस्वरूप वायु-राशि अपने ही गुण से ऊपर उठती जायगी। वायु की इस अवस्था को **प्रतिबन्धी अस्थिरता** (condıtıonal instabılıty) कहा जाता है। वायु मे प्रचुर मात्रा मे वाष्प की उपस्थिति इसकी अस्थिरता के लिए आवश्यक शर्त है। जहाँ कहीं वायु के ताप परिवर्तन की सामान्य गति शुष्क रुद्धोष्म एव संतृप्त रुद्धोष्म ह्रास दर के बीच होती है, वही इस प्रकार की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था मे सामान्यतः भीषण तूफानों और भारी वर्षा का जन्म होता है।

यदि कोई शुष्क वायु-राशि पवन के रूप मे ऊपर उठ रही है और उसकी ताप परिवर्तन (lapse rate) की गति अपने आसपास की हवा से अधिक है और वह ओस बिन्दु को प्राप्त नही करती है तो समयान्तर में वह आसपास की हवा से अधिक शीतल हो जायगी। ज्योंही उसकी भौतिक शक्ति (mechanical force) समाप्त हो जायगी, वह अपनी समीपवर्ती हवा से अधिक शीतल और भारी होने से पुनः नीचे चली आयेगी। वायु की इस अवस्था को **स्थिर सन्तुलन** (stable equilibrium) कहते हैं।

वायुमण्डल के सन्तुलन की विभिन्न अवस्थाएँ अग्र पृष्ठ पर दी तालिका में बतायी गयी है।[1]

मेघ अथवा बादल
(Clouds)

जब उष्ण वायु किसी प्रकार ठण्डी हो जाती है तो उसमें आर्द्रता को धारण करने की शक्ति घट जाती है। इसलिए वायुमण्डल में ऊपर उठती हुई हवा का तापमान जब ओस बिन्दु के नीचे गिर जाता है तो शीतलता के कारण जलवाष्प अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकरों और हिमसीकरों मे बदल

1 F. J. Monkhouse : *Ibld*, p. 373

जाती है। ये जल-कण वायु मे भाप ही की तरह निलम्बित रहकर कुहरे का रूप धारण कर लेते हैं। इनके समूह का विस्तार और गहराई दोनों अधिक होने पर ये घने होकर जिस रूप मे हमे दिखाई देते है, उसे हम 'मेघ' अथवा 'बादल' कहते है। सक्षेप मे, धरातल से कुछ ऊँचाई पर लटकती हुई जलवाष्प की द्रवीभूत राशि ही मेघ कहलाती है।

(तापमान फारेनहाइट मे)

फुट	उदासीन सन्तुलन		स्थिर सन्तुलन		अस्थिर सन्तुलन		प्रतिबन्धी अस्थिरता	
	क	ख	क	ख	क	ख	क	ख
4000	38·4	38·4	46·8	38·4	46·8	49 2	44 0	46·5
3000	43·8	43·8	50·1	43·8	50 1	51·9	48·0	49·2
2000	49·2	49·2	53·4	49·2	53·4	54·6	52·0	51·9
1000	54·6	54·6	56·7	54·6	56·7	57·3	56·0	54·6
समुद्र-तल	60·0	60·0	60 0	60 0	60·0	60·0	60 0	60·0
ताप परिवर्तन की दर प्रति 1000 फुट	5 4	5·4	3·3	5·4	3·3	2·7	4 0	1000 फुट तक 5 4° फा० बाद में 2·7° फा०

क=आसपास की हवा का तापमान
ख=उदग्र वायु-राशि का तापमान

बादल वास्तव मे धूल-कणो पर रुके जल-बिन्दुओ या हिम-कणों का समूह-मात्र होते है। इन बादलो की ऊँचाई अक्षाश के अनुसार भिन्न होती है। उष्ण कटिबन्ध मे बादल अधिक ऊँचाई पर बनते है, परन्तु शीत कटिबन्ध मे कम ऊँचाई पर ही द्रवीभवन होने लगता है और कम ऊँचाई पर ही बादल बन जाते हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध मे 8000 फुट की ऊँचाई पर पाये जाने वाले बादलों को 'निम्न मेघ' कहते है। 'मध्यम मेघ' 8000 से 15,000 फुट की ऊँचाई पर मिलते है और 15,000 फुट से अधिक ऊँचाई पर बनने वाले बादल 'उच्च मेघ' कहलाते है। उष्ण कटिबन्ध में निम्न, मध्यम और उच्च मेघो की ऊँचाई क्रमश 10,000 फुट, 25,000 फुट और 35,000 फुट तक होती है।

चित्र 117—विभिन्न प्रकार के बादल और उनकी ऊँचाई
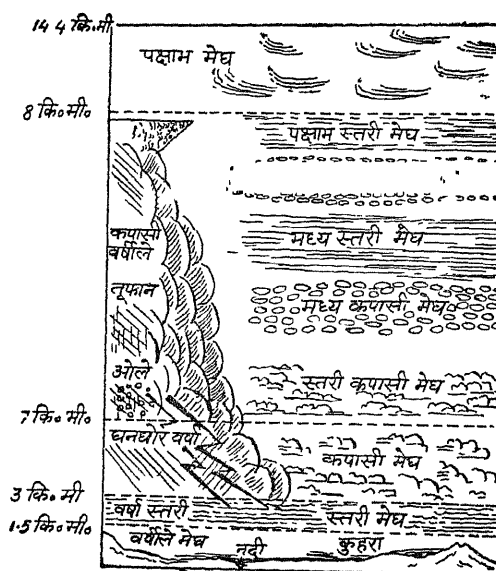
धरातल से बादल अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। प्रकाश के सीधे या आड़े-तिरछे पड़ने तथा धूप-छाँह के तारतम्य से इनमें तरह-तरह के रूप बन जाते है। ये अपनी ऊँचाई, फैलाव, घनत्व तथा पारदर्शकता के

अनुसार भी भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं। अत. बादलों के नाम भी भिन्न-भिन्न तरह के रखे गये है। साधारणतया बादलों को उनकी ऊँचाई और रूप के आधार पर चार भागो मे बाँटा गया है

(1) पक्षाभ मेघ (Cirrus Clouds),
(2) कपासी मेघ (Cumulus Clouds),
(3) स्तरी मेघ (Stratus Clouds),
(4) वर्षी मेघ (Nimbus Clouds)।

अन्तरराष्ट्रीय ऋतु-विज्ञान परिषद् (International Meteorological Congress) ने मेघो का निम्न वर्गीकरण दिया है

(1) **पक्षाभ मेघ** (Cirrus)—पक्षाभ मेघ आकाश मे सबसे अधिक ऊँचाई पर पाये जाते है। ऐसे मेघ कोमल और कम घने होते है। ये सफेद रेशम की तरह होते है। इनमे हिम के छोटे-छोटे कण पाये जाते है, जिनमें से होकर सूर्य और चन्द्रमा की किरणें चमकती है। दिन मे इसीलिए ये सफेद परो के समान होते हैं। परन्तु सूर्यास्त के समय चमकदार रग के बन जाते है। इनके रूप के अनुसार इनका नाम भी 'घोड़े की पूँछ' (horse's tail) रखा गया है। इन मेघों की आकृति बडी ही अनिश्चित होती है। कभी-कभी वक्रवात के अग्रभाग मे ये बादल इतने अधिक हो जाते है कि सारे आसमान पर वे एक चादर के समान फैल जाते है और आकाश का रंग दूधिया हो जाता है। ऐसे समय सूर्य व चन्द्रमा के चारो ओर एक प्रकाश-वृत्त बन जाता है। कभी-कभी ये बादल घुँघराले बालो की तरह दिखाई पडते है और कभी पतली महीन जाली की भाँति। आकाश मे अधिक समय तक ऐसे बादलों के छाये रहने पर खराब मौसम की चेतावनी समझनी चाहिए।

(2) **पक्षाभ-स्तरी मेघ** (Cirro-Stratus)—जब पक्षाभ मेघ चिडिया के पंख के समान न रहकर एक चादर की तरह सम्पूर्ण आकाश में फैल जाते है तो उन्हें पक्षाभ-स्तरी (cirro-stratus) मेघ कहा जाता है। साधारणत. ये पतले स्तर के श्वेत बादल होते है। इन बादलो के दूर फैल जाने पर आकाश का रग दूधिया (milky) हो जाता है। कभी-कभी ये उलझे हुए जाले (web) से प्रतीत होते है। इन बादलों से सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश कम तो नही होता परन्तु उनके चारों ओर प्रभामण्डल (haloes) जरूर बन जाते है। प्राय ये मेघ 23,000 फुट से 33,000 फुट की ऊँचाई तक पाये जाते है।

(3) **पक्षाभ-कपासी मेघ** (Cirro-Cumulus)—ये भी अधिक ऊँचाई पर पाये जाने वाले मेघ है और पक्षाभ तथा वर्षी मेघो के मिलने पर बनते है। साधारणत ये 23,000 से 33,000 फुट की ऊँचाई पर मिलते हैं। इनका रूप कभी तो गोलाकार धब्बो की तरह और कभी समुद्रतट की बालू पर पड़ी लहरों की तरह होता है। दोनों ही अवस्थाओं मे ये पंक्तियो अथवा समूह मे पाये जाते है।

(4) **उच्च-कपासी मेघ** (Alto-Cumulus)—ये मध्यवर्ती मेघो के ही एक प्रकार है। ये मेघ पतले गोलाकार धब्बों की तरह दिखाई देते हैं। ये बादल श्वेत और भूरे रग के अशत: छायादार होते है। कभी-कभी ये बादल आपस में गुँथे रहते है जिससे इनके किनारे स्पष्ट दिखाई नही देते और पूरे आसमान पर एक हल्की महीन चादर-सी फैली दिखाई देने लगती है। कभी इनका रूप सामूहिक हो जाता है, कभी इनकी पक्ति बन जाती है और कभी ये लहर से फैले दिखाई पड़ते है। साधारणतया ये मेघ 10,000 से 25,000 फुट की ऊँचाई तक पाये जाते है।

(5) **उच्च-स्तरी मेघ** (Alto-Stratus)—ये भूरे अथवा नीले रग के छोटे स्तरों के बादल होते है। ये लगातार चादर की तरह फैले नजर आते है। कभी यह चादर इतनी पतली होती है

कि पीछे का आसमानी रग साफ नजर आता है पर कभी-कभी यह चादर इतनी घनी होती है कि सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश तक नही मिल पाता। सामान्यतः जब ये बादल आकाश मे छाये रहते है तो सूर्य व चन्द्रमा का प्रकाश धुँधला व अस्पष्ट दिखाई देता है। किन्तु इनसे सूर्य और चन्द्रमा के चारो ओर प्रभामण्डल नही बनता। प्रायः इस प्रकार के सघन बादलों से लगातार वर्षा भी होती है। ये 10,000 से 20,000 फुट की ऊँचाई तक पाये जाते है।

(6) **स्तरी-कपासी मेघ** (Strato-Cumulus)—ये एक प्रकार के निम्न मेघ होते है जो 10,000 फुट की ऊँचाई तक पाये जाते है। इनका आकार एक परत की तरह होता है जिसमे बादल गोलाकार या लहरों की तरह बने रहते है। ये बादल कुछ काले रग के होते है। जाडो मे ये बादल सम्पूर्ण आकाश को ढक लेते है।

(7) **वर्षी मेघ** (Nimbus)—ये बादल काले और घने पिण्ड के समान होते है जो धरातल से एक मील की ऊँचाई तक बनते है। ये इतने नीचे होते है कि कभी-कभी धरती को छूते नजर आते है। ये कुँज रूप से छाये हुए रहते है और इनका आकार कोई विशिष्ट नही होता। इनके किनारे आपस मे मिले रहते है। ये प्राय इतने सघन होते है कि सूर्य की किरणे इनमे प्रवेश कर धरती पर नही आ सकती। अत इन बादलों के छाये रहने पर अन्धकार-सा छा जाता है और वायुमण्डल नम हो जाता है। इनसे बड़ी शीघ्र वर्षा होती है।

(8) **कपासी-मेघ** (Cumulus)—बहुत अधिक घने और काफी ऊँचे लम्ब-रूप स्तम्भ की भाँति बने बादल कपासी-मेघ कहलाते है। इनका आधार तो समतल होता है परन्तु शीर्ष हवा की ऊपरी उठती हुई धाराओ के धक्को से गुम्बदाकार या गोभी के फूल की तरह बन जाता है। इनकी मोटाई प्राय एक मील तक होती है। इनके ऊपरी शिखर और भी ऊँचे होते है। कभी-कभी वे भी तीन मील की ऊँचाई पर स्थित रहते है। कभी-कभी इनसे गरजने वाले बादल भी बन जाते है। ये प्राय: दो प्रकार के होते है। एक तो वे कपासी-मेघ जो साफ मौसम में दिखाई पड़ते हैं। इनका रूप छोटा, श्वेत और रुई की तरह होता है। दूसरे प्रकार के मेघ भारी कपासी होते है। इनका रूप गहरा और घना होता है और रग मे ये काले होते है।

(9) **कपासी-वर्षी मेघ** (Cumulo-Nimbus)—कपासी-वर्षी मेघ अति गहरे काले रग वाले भारी बादल होते है। इन्हे गर्जन मेघ (thunder clouds) भी कहते है। ये नीचे से ऊपर को विशाल मीनार की तरह उठे रहते है। इनका विस्तार बहुत अधिक होता है। इसलिए इनकी आकृति कभी-कभी पहाड़ों के सदृश लगती है। इनके आधार और शीर्ष मे 15,000 फुट या उससे भी अधिक का अन्तर पाया जाता है। इनके ऊपरी सिरे पर रेशेदार कई परत बन जाते है जिन्हें हम 'मिथ्या पक्षाभ मेघ' (false cirrus) कह सकते है। इनके आधार के नीचे कटे-फटे बादल पैदल तैरते रहते हैं जो वर्षी मेघों से मिलते-जुलते होते हैं। इन बादलों से बहुधा भारी वर्षा या ओले बरसते है। इनके सम्बन्ध मे अंग्रेजी की निम्न कहावत प्रसिद्ध है :

"A round topped cloud with flattened base, carries rainfall in its face."

(10) **स्तरी मेघ** (Stratus)—ये एक प्रकार के निम्न मेघ है जो धरती से 1 या 2 मील की ऊँचाई पर बनते है। जैसा कि इनके नाम से प्रकट है, इन मेघो मे कई परतें होती है। इनकी सरचना सब जगह एकसी रहती है। ये अपने रूप मे ऐसे लगते हैं जैसे कुहरा भूमि से ऊपर उठ गया हो। परन्तु ये आकाश मे पूरी तरह छा जाते है। ऐसे बादल शीतोष्ण कटिबन्ध में प्राय. जाड़े की ऋतु मे अधिक बनते है। ये मेघ बहुधा स्थानीय होते है और इनके खण्डित होते ही नीला आकाश दिखाई पड़ने लगता है। इनका निर्माण दो भिन्न प्रकार की हवाओ के मिलने से होता है।

हमारे देश मे बादलों के उपरोक्त वर्गीकरण के विपरीत भिन्न वर्गीकरण अपनाया गया है। यहाँ बादलो को कुल (family) और जाति (genera) के आधार पर विभाजित किया जाता है। भारतीय ऋतु-विभाग (Indian Meteorological Deptt) ने कुलों और जातियों के आधार पर बादलो का निम्न वर्गीकरण किया है[1] :

कुल 'क' ऊँचे मेघ

औसत ऊपरी तल	(Mean upper level)	12 किलोमीटर
औसत निचला तल	(Mean lower level)	7 किलोमीटर
(1) जाति—पक्षाभ-मेघ	(Cirrus)	
(2) जाति—पक्षाभ-स्तरी	(Cirro-stratus)	
(3) जाति—पक्षाभ-कपासी	(Cirro-cumulus)	

कुल 'ख' मध्यवर्ती मेघ

औसत ऊपरी तल	(Mean upper level)	7 किलोमीटर
औसत निचला तल	(Mean lower level)	3 किलोमीटर
(4) जाति—उच्च-कपासी	(Alto-cumulus)	
(5) जाति—उच्च-स्तरी	(Alto-stratus)	

कुल 'ग' निम्न मेघ

औसत ऊपरी तल	(Mean upper level)	4 किलोमीटर
औसत निचला तल	(Mean lower level)	धरातल के समीप
(6) जाति—स्तरी-कपासी	(Strato-cumulus)	
(7) जाति—स्तरी	(Stratus)	
(8) जाति—वर्षी-स्तरी	(Nimbo-stratus)	

कुल 'घ' लम्बवत विकास के बादल
(Clouds with vertical development)

औसत ऊपरी तल	(Mean upper level) परिवर्तनशील	कपासी-वर्षी में 10, 12 किलोमीटर तक
औसत निचला तल	(Mean lower level)	0·5 किलोमीटर
(9) जाति—कपासी	(Cumulus)	
(10) जाति—कपासी-वर्षी	(Cumulo nimbus)	

मेघाच्छन्नता
(Cloudiness)

आकाश में मेघों की दशा को मेघाच्छन्नता कहते हैं। ऋतुविज्ञान की भाषा में मेघाच्छन्नता से आशय यह है कि आकाश का कितना भाग बादलों से घिरा हुआ है। इसका अनुमान केवल देखकर ही लगाया जाता है। आकाश की मेघाच्छन्नता को दशमलव अंश द्वारा व्यक्त करते हैं। इस आधार पर 0 से मेघरहित आकाश का बोध होता है और 10/10 से पूर्णतया मेघाच्छन्न आकाश का। मानचित्रों में मेघाच्छन्नता अग्रलिखित अनुसार बतायी जाती है :

---

1 Cloud Atlas, Second Edition, 1937

(1) जब आकाश का 1/10 भाग से भी कम भाग बादलों से ढका होता है तो उस अवस्था को स्वच्छ (clear) कहा जाता है।

(2) जब आकाश के 1/10 से 5/10 भाग में बादल छाये रहते है तो कहा जाता है कि बादल छितराये हुए (scattered clouds) है।

(3) जब आकाश के 9/10 भाग से कम किन्तु 5/10 भाग से अधिक में बादल छाये रहते है तो ऐसी अवस्था को टूटे हुए रूप मे बादलों का छाया जाना (broken clouds) कहते है।

(4) जब आकाश के 9/10 से अधिक भाग मे बादल छाये रहते है तो उस अवस्था को मेघाच्छन्न (overcast) कहते है।

आकाश की मेघाच्छन्नता का हमारे लिए बड़ा महत्त्व है, क्योकि मेघ ही धरातल पर वर्षा करते है। आकाश मे जब बादल अधिक घिरे होते है तो वर्षा अधिक होती है और बादलों के अभाव मे कोई वर्षा नही होती। पृथ्वी पर सभी स्थानो और सब मौसम मे एकसे बादल नही घिरे रहते। बादलो का बहुत अधिक सम्बन्ध तापमान से है। इसलिए मेघाच्छन्नता का वितरण भी अक्षाश के समान्तर रहता है। सबसे अधिक मेघाच्छन्न आकाश भूमध्यरेखीय प्रदेशों मे रहता है। ज्यो-ज्यो हम भूमध्य रेखा के उत्तर और दक्षिण को हटते जाते है मेघाच्छन्नता कम होती जाती है। अयनवृत्तीय उच्च वायुदाब—15° से 35° अक्षाशों के बीच कर्क और मकर रेखाओ के प्रदेश—और ध्रुवीय उच्च वायुदाब के प्रदेशों मे मेघाच्छन्नता सबसे कम रहती है, क्योकि यहाँ हवाएँ बराबर नीचे उतरा करती है। इसके विपरीत अयन सीमाओ और ध्रुवीय वृत्तों के बीच के प्रदेशों में मेघाच्छन्नता अधिक रहती है। सन्मार्गी हवाओं के मार्ग मे पश्चिम की ओर मरुस्थलों के पड़ोस मे आकाश निर्मल रहता है परन्तु पूर्व की ओर बादल हो जाया करते है। शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो मे मेघाच्छन्नता (1) समुद्री भागो की अपेक्षा स्थलीय भागों मे अधिक रहती है, (2) बाह्य चक्रवात की अपेक्षा आन्तरिक चक्रवात से ज्यादा रहती है, और (3) पर्वतो के पवन विमुख भागो की अपेक्षा पवनाभिमुख ढालो पर अधिक होती है। आकाश में कही गर्मी मे अधिक मेघाच्छन्नता रहती है और कही जाड़ों मे। कुछ भागो मे सबेरे के समय बादल घिर जाते है और धूप तेज होने पर पुन. लुप्त हो जाते है। कभी-कभी प्रातःकाल आकाश निर्मल रहता है परन्तु दोपहर के समय समुद्री हवाएँ बादल ले आती है। उष्ण भागो मे मध्याह्न सदा मेघाच्छन्न रहता है। बादलो की औसत अवधि दैनिक, मासिक या वार्षिक हो सकती है।

पृथ्वी के धरातल के ऊपर मेघाच्छन्नता का वार्षिक औसत प्रतिशत नीचे की तालिका मे दिया गया है :

मेघाच्छन्नता का वार्षिक औसत प्रतिशत[1]

अक्षांश	90°-80°	80°-70°	70°-60°	60°-50°	50°-40°	40°-30°	30°-20°	20°-10°	10°-0°
उत्तरी गोलार्द्ध									
समुद्र	63	70	72	67	66	52	49	53	53
भूमि	—	63	62	60	50	40	34	40	52
औसत	—	66	63	62	56	45	41	47	53
दक्षिणी गोलार्द्ध									
समुद्र	—	64	76	72	67	57	53	49	50
भूमि	—	—	—	70	58	48	38	46	56
औसत	—	—	—	72	66	54	48	48	52

[1] Haurwitz and Austin : *Climatology*, p. 93

11
वर्षा और अवक्षेपण
(RAINFALL AND PRECIPITATION)

हवा मे थोडी बहुत वाष्प हमेशा मिली रहती है। जब यह वाष्प बूंदों के रूप में धरातल पर गिरती है तो उसे वर्षा कहते है। वाष्प के जल रूप मे धरातल पर गिरने के पूर्व कई परिवर्तन आवश्यक होते है। जैसे हवा का ठण्डा होना और ओस बिन्दु पर पहुँचना तथा बादल बनना और जल-कणो के समूह का बडी-बड़ी बूंदो का रूप ग्रहण करना। बड़ी-बडी बूंदो का रूप ग्रहण कर लेने के उपरान्त ही जलवाष्प वर्षा के रूप मे भूमि पर गिरती है।

वर्षा की रचना
(Formation of Rain)

वायुमण्डल मे ऊपर उठती हुई हवा का तापमान जब ओस बिन्दु से भी नीचे चला जाता है तो वाष्प जल-कणो मे परिवर्तित होकर बादलो का रूप ले लेती है। परन्तु बादल बनने से ही वर्षा नही होती। बादल छोटे-छोटे जल-कणो अथवा हिम-कणो के समूह-मात्र होते है। जब संघनन प्रारम्भ होता है तो जलवाष्प असख्य छोटे-छोटे धूल-कणों और आर्द्रताग्राही केन्द्रको (Hygroscopic nuclei) के आधार पर ही जलसीकरो मे बदलती है। ये जलसीकर इतने सूक्ष्म आकार के होते है कि वर्षा के रूप मे धरातल पर गिरने में असमर्थ रहते हैं। जब तक ये जलसीकर स्थूल रूप नही ले लेते, हवा मे ही तैरते रहते है। ऐसी अवस्था मे बादल स्थिर (stable) रहता है और कोई वर्षा नही करता। किन्तु जब जलसीकर स्थूल रूप लेकर इतने बड़े हो जाते है कि उनका ऊपर बने रहना असम्भव हो जाता है तो बादल अस्थिर हो उठता है और वर्षा कर देता है।

हवा में सदा ही असख्य धूल-कण रहते है। प्रति घन सेण्टीमीटर हवा मे हजारों आर्द्रताग्राही केन्द्रक वस्तुएँ देखी जा सकती है। अत. पहले पहल बादल बनने वाले जल-कण लगभग $\frac{1}{100}$ मिलीमीटर व्यास वाले होते है। ऐसे सूक्ष्म जल-कणो को ऊपर उठती हुई हल्की हवा भी उनको नीचे गिरने से रोके रहती है। यदि वे किसी प्रकार नीचे गिर भी जाते है तो भूमि पर गिरने के पूर्व वे मार्ग मे ही उष्ण हवा के प्रभाव से पुन: वाष्प रूप मे बदल जाते है। यही कारण है कि कभी-कभी आकाश भूरे बादलों से आच्छादित होने पर भी वर्षा नहीं करता। वर्षा के लिए यह आवश्यक है कि बादलो के जल-कण बहुत बड़े आकार के हो। इन जल-कणों का आकार तब बढता है जब हवा ओस बिन्दु से भी अधिक ऊँचाई पर जाकर ठण्डी होती है। इस प्रकार जल-कणों का आकार ऊँचाई पर $\frac{2}{10}$ मिलीमीटर हो जाता है जो अच्छी गति से नीचे गिरने लगते है। जल-कणों का आकार हवा मे उथल-पुथल होने पर भिन्न तापमान वाले जल-कणों के मिलने पर भी बढ़ जाता है। कभी-कभी बादलों मे विद्युत संचार होने से भी जल-कण बड़े हो जाते है। जब बादलो का रूप घना हो जाता है और अधिक मोटाई लिए आकाश मे छाये रहते हैं

तो ऊपर से गिरने वाली बूँद मार्ग में अन्य बूँदो से टकराने और सम्पर्क मे आने से अधिक ठण्डी हो जाती है और उसका आकार बढ जाता है ।

ब्रुक्स का कहना है कि वर्षा की एक बूँद में लगभग 80,00,000 जल-कण विद्यमान रहते है और वह दो सौ गुना अधिक तेजी से गिरती है। वर्षा की बूँद अधिक से अधिक अपने आकार में $\frac{1}{5}$ इच तक बढ सकती हे । इस आकार में बूँद 18 मील प्रति घण्टे के हिसाब से नीचे गिरती है । इस आकार और गति के बाद बूँद टूटने लग जाती है । जब हवा धीमे-धीमे ऊपर उठती है तो सघनन भी धीरे-धीरे होता है । ऐसी दशा मे छोटी बूंदे भी भूमि पर गिरने में समर्थ होती है । किन्तु जब तेजी से हवा ऊपर उठती है तो सघनन भी तेजी से होता है और हवाएँ बड़ी बूँदों को भी ऊपर उठाये रखने मे समर्थ होती है । ऐसी अवस्था में वर्षा की बूंदे प्राय: अपने व्यास मे $\frac{1}{50}$ इंच होती है । जब हवा स्थिर रहती है तो ये बूंदे 10 फुट प्रति सैकण्ड की गति से भी अधिक तेज गिरती है ।

मेघ कणो के वर्षा की बूँदो के रूप में विकसित होने के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त उल्लेखनीय है :

(1) **बर्जरान का मेघ अस्थिरता सिद्धान्त**—बर्जरान फिण्डीसेन ने सन् 1933 मे इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया जो अभी भी मान्य है। अस्थिर मेघ मे 10° से० से 41° सें० तक अति शीतल जल-कण तथा हिम-कण दोनो साथ-साथ पाये जाते हैं । अति शीतल जल-कणो के ऊपर सतृप्त वाष्प दाब, हिम-कणो के ऊपर के सतृप्त वाष्प दाब से अधिक होता है । फलस्वरूप हिम-कणो के आसपास संतृप्त अवस्था पहले ही स्थापित हो जाती है जबकि जल का वाष्पीकरण होता रहता है । यह वाष्पीकरण हिम-कणो पर अति सतृप्तता की स्थिति उत्पन्न कर देता है जिससे वाष्प उर्ध्वपात द्वारा हिमकणो पर सघनित होता रहता है । इससे हिमकणों की वृद्धि होती रहती है । सामान्यत: 0° से० से 5° से० तापमान हिमकणो की वृद्धि के लिए आदर्श होता है । जब हिमकण अपेक्षित आकार ग्रहण कर लेते है तो वे नीचे गिरने लगते है । मार्ग मे आने वाले हिमकणो के सघटन से इनके आकार मे और वृद्धि होती जाती है। जब ये हिमकण मार्ग मे 0° से० से अधिक गर्म वायु की परत से होकर नीचे गिरते है तो वे वर्षा की बूँदो मे बदल जाते है और वर्षा होने लग जाती है, किन्तु यदि तापमान कम हुआ तो ये हिम-कण भूमि पर तुषार के रूप मे पहुँचते है ।

यद्यपि यह सिद्धान्त पर्याप्त तर्कसम्मत और वैज्ञानिक है फिर भी यह केवल उच्च अक्षाशो मे होने वाली वर्षा की व्याख्या प्रस्तुत करता है । उष्ण कटिबन्धो, महासागरो के ऊपर कपासी मेघो द्वारा होने वाली वर्षा का स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त के द्वारा नही किया जा सकता ।

(2) **संघटन सिद्धान्त**—उष्ण कटिबन्धों में कपासी वर्षी मेघो के अतिरिक्त वर्षा करने वाले सभी मेघ सामान्यतः हिमांक स्तर से बहुत नीचे ही रह जाते हैं और पूर्णतः जलकणो से बने होते है । इन मेघों से होने वाली वर्षा की व्याख्या इसी सिद्धान्त मे होती है ।

इस सिद्धान्त मे यह कल्पना की गयी है कि बूँदों का निर्माण तथा उनका विस्तार **संघटन** (Collision), **समाचयन** (Coolescence) तथा **समेटन** (Sweeping) द्वारा होता है । प्रारम्भ में विद्वानो ने यह बताया कि वायुमण्डलीय विक्षोभ (Turbulence) के कारण मेघ-कण आपस मे टकराते है जिससे वे सचयित होकर आकार में बड़े हो जाते है । काफी बड़े हो जाने पर वायु प्रतिरोध के कारण ये कई छोटे कणों मे टूट कर बिखर जाते है । ये छोटे जल कण ऊर्ध्वधाराओं द्वारा पुनः ऊपर उठने लगते है । आरोही गति में ये कण अन्य कणो के समाचयन द्वारा बड़े होते जाते हैं तथा एक सीमा के बाद पुनः अपने भार से नीचे गिरने लगते हैं तथा उपरोक्त प्रक्रम को

दोहराते है। इस प्रकार केवल कुछ बड़ी बूंदे शृंखला प्रक्रम द्वारा असंख्य बड़ी बूँदें उत्पन्न कर देती है जिससे वर्षा प्रारम्भ हो जाती है।

स्पष्ट है कि इन प्रक्रमो के लिए तीव्र ऊर्ध्व धाराएँ होनी आवश्यक है। ऐसी अवस्था अस्थायी वायुमण्डल मे पायी जाती है।

वर्षा
(Precipitation)

वर्षा के लिए बादल का बनना जरूरी है। वायुमण्डल मे बादल तभी बनते है जब हवा पर्याप्त रूप से ठण्डी हो जाय। अतः हवा किस प्रकार ऊपर उठती है और ठण्डी होती है यह जानना आवश्यक है। हवा निम्न अवस्थाओ मे ठण्डी हो सकती है :

(1) धरातल पर असाधारण ताप के कारण हवा गरम होकर तरंगों के रूप में ऊपर उठती है और फैलती है। बहुत अधिक ऊँचाई पर पहुँचने पर हवा ठण्डी हो जाती है। विषुवतरेखीय भागो मे हवा इसी प्रकार शीतल होती है।

(2) चक्रवात मे पडी हुई गरम हवा ठण्डी हवा के ऊपर चढती है तो ठण्डी हो जाती है।

(3) भिन्न तापमान वाली वायु-राशियाँ जब आपस में मिलती है तो ठण्डी हो जाती है। गरम अक्षांशो से ठण्डे अक्षांशों की ओर चलने वाली हवाएँ इसी प्रकार ठण्डी होती हैं। पछुवा हवाएँ इसका स्पष्ट उदाहरण हैं।

(4) हवा के मार्ग मे यदि कोई पर्वत आ जाता है तो बाध्य होकर उसे चढ़ना पड़ता है जिससे हवा ठण्डी हो जाती है।

वर्षा के भेद
(Types of Rain)

वर्षा मुख्यतः तीन प्रकार की होती है :

(1) संनयनीय वर्षा,
(2) पर्वतीय वर्षा,
(3) चक्रवातीय वर्षा।

(1) **संनयनीय वर्षा** (Convectional Rainfall)—धरातल के असाधारण रूप से गरम हो जाने पर धरातल से लगी हुई हवा गरम हो उठती है। गरम होकर हवा फैलती है और आसपास की ठण्डी तथा भारी हवा उसे ऊपर उठने को बाध्य कर देती है। साधारणतः यह हवा उसी सीमा तक ऊपर उठती है जहाँ तक कि इसका तापमान ऊपर उठने के कारण कम होकर आसपास की हवा के तापमान के अनुरूप नही हो जाता। जब यह अपने तापमान और घनत्व वाली आयु के पास पहुँच जाती है तो यह अधिक ऊँची नही उठती। किन्तु यदि वायु के इस सीमा के पहुँचने के पूर्व ही संघनन प्रारम्भ हो जाता है तो संघनन के कारण छोड़े गये गुप्त-ताप (latent heat) के द्वारा हवा पुनः गरम हो उठती है और बहुत अधिक ऊँचाई तक ऊपर पहुँच जाती है। इस प्रकार ग्रीष्मकालीन दोपहर मे जब धरातल भीषण गर्मी से उत्तप्त हो जाता है तो वायुमण्डल में बड़ी मात्रा में संनयन धाराएँ उठने लगती है। ऊपर उठकर हवा ठण्डी होती है और उसमें संघनन प्रारम्भ हो जाता है जिससे आकाश गहरे
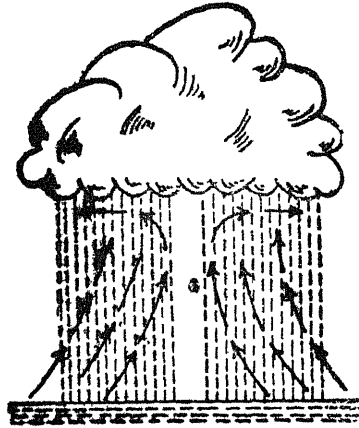
चित्र 118—संनयनी वर्षा

कपासी-वर्षी मेघों (cumulonimbus clouds) से घिर जाता है और फिर घनघोर वर्षा होती है। कभी-कभी ये बादल 10 हजार फुट की ऊँचाई तक आकाश में पाये जाते है। संनयनीय वर्षा का सम्बन्ध सदा ग्रीष्म ऋतु और दिन के उष्णतम समय (warm hours) से है।[1] इस कारण संनयनीय वर्षा उष्ण तथा शीतोष्ण खण्डो के भीतरी भागो मे केवल ग्रीष्मऋतु मे ही होती है। ग्रीष्म में होने वाली सभी वर्षा मे कुछ अश सनयनीय वर्षा का अवश्य रहता है।

चूंकि उष्ण और आर्द्र हवा संनयनीय तरंगो के रूप मे ऊपर उठती है अतः शीघ्र ठण्डी हो जाती है और उससे जो वर्षा होती है, वह भारी बौछार के रूप मे होती है। किन्तु यह वर्षा अधिक समय तक नही ठहरती। धरातल पर जोर से गिरने के कारण यह वर्षा फसलो के लिए बड़ी हानिकारक सिद्ध होती है। वर्षा का अधिकतर जल भूमि मे प्रवेश करने की अपेक्षा धरातल पर बह जाता है। जोते हुए खेतो के लिए तो यह कालस्वरूप ही सिद्ध होती है; क्योंकि इससे खेतों की उपजाऊ मिट्टी बहकर नष्ट हो जाती है। विपुवतरेखीय भागो मे कई जगह इसी प्रकार भूमि का अपरदन (soil erosion) होता है। इसके विपरीत, मध्य और उच्च अक्षांशो मे जहाँ ग्रीष्म-ऋतु मे फसले उगती हुई होती है वहाँ सनयनीय वर्षा बडी लाभप्रद सिद्ध होती है।

(2) **पर्वतीय वर्षा** (Orographic Rainfall)—उष्ण और आर्द्र हवा के मार्ग में जब कोई पर्वत, पठार अथवा ऊँची पहाडी श्रेणी अवरोधस्वरूप आ जाती है तो हवा को बाध्य होकर ऊपर चढना पड़ता है। ऊपर चढने पर वह ठण्डी हो जाती है और वर्षा कर देती है। इस प्रकार की वर्षा को ही पर्वतीय वर्षा कहा जाता है।

पर्वतीय वर्षा उस स्थान पर अधिक होती है जो हवाओ के सामने पड़ता है। जो स्थान आने वाली हवाओं के विपरीत होता है वह बहुत कम वर्षा प्राप्त करता है। यही कारण है कि पर्वतों के पवनाभिमुख (windward) ढालों पर खूब वर्षा होती है। जब हवाएँ पर्वतों के दूसरी ओर नीचे उतरती है तो वे केवल शुष्क ही नही होतीं परन्तु अधिक दबाव के कारण गरम भी हो जाती है जिससे वर्षा करने के स्थान पर उनकी भाप धारण करने की शक्ति बढ जाती है। अतः पर्वतों के दूसरी ओर पवन-विमुख (leeward) ढाल वर्षा से अछूते रह जाते हैं। यह वर्षाविहीन भाग ही **वृष्टि-छाया प्रदेश** (Rain Shadow Area) कहलाता है। पश्चिमी घाट के पहाडों के पूर्व की ओर दक्षिण का पठार वृष्टि-छाया प्रदेश का अच्छा उदाहरण है। ऐसे भागो मे बहुधा अकाल पड़ा करते हैं।
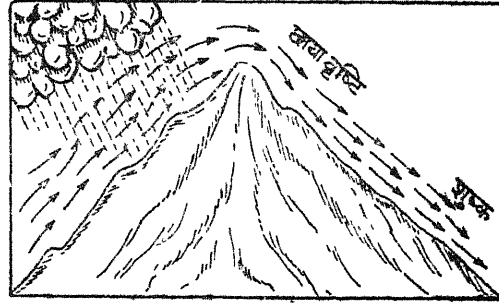
चित्र 119—**पर्वतीय वर्षा**

जहाँ कही ऊँचे पहाड़ों की शृंखलाबद्ध श्रेणियाँ तट के समीप दीवार की भाँति खड़ी हो और उष्ण समुद्रों से आने वाली आर्द्र हवाएँ समकोण बनाती हुई पर्वतों पर मिलती हो तो वह पर्वतीय वर्षा के लिए आदर्श अवस्था होती है। ससार में होने वाली अधिकतर पर्वतीय वर्षा तट के समीप खड़े हुए ऐसे पहाड़ों के सहारे ही होती है, जैसे—ब्राजील के पूर्वी तट, ब्रिटिश कोलम्बिया के पश्चिमी तट पर, रॉकी पर्वतों पर, पश्चिमी घाट के पहाडों पर और वर्मा के अराकान योमा पर। हवा के पर्वतीय चढाव के प्रभाव का अनुभव पर्वत श्रेणियों से कुछ दूरी पर होता है, क्योंकि पर्वत के सामने की स्थिर वायु-राशि रुकावट डालने वाली होती है और भाप से लदी हुई हवाओं को इन बाधक हवाओ के ऊपर होकर जाना पडता है।

1 Trewartha : *Introduction to Weather and Climate*, p. 179

पर्वतों पर ऊँचाई के अनुसार वर्षा की मात्रा बढती जाती है। कभी-कभी ऊँचे पहाड़ो पर पहुँचने के पहले ही वर्षा की मात्रा बढने लगती है। खासी पहाड़ियों से 100 मील दूर ढाका मे 78 इच वर्षा होती है, 60 मील दूर बोगरा मे 92 इच और 30 मील दूर मैमनसिह मे 110 इंच वर्षा होती है। इस प्रकार ऊँचाई के अतिरिक्त समुद्र से दूरी, जल लाने वाली हवाओ का तापमान, ढाल का क्रमिक अथवा सपाट होना और पहाड़ी का टूटा होना आदि कई कारणों का वर्षा पर प्रभाव पडता है।[1] शीतोष्ण कटिबन्ध मे प्रति 100 फुट की ऊँचाई पर दो प्रतिशत वर्षा बढ जाती है। खडे ढाल होने पर 4 या 5 प्रतिशत वर्षा बढ जाती है। उष्ण कटिबन्ध मे 100 फुट की ऊँचाई पर यह प्रतिशत और भी अधिक रहता है। ऊँचाई के अनुसार वर्षा के बढने की भी एक सीमा होती है। उसके बाद वर्षा की मात्रा घटने लग जाती है। अन्त में, ऐसी सीमा आ पहुँचती है जहाँ वर्षा का अभाव हो जाता है।

पर्वतीय प्रदेशो मे अधिकतम वर्षा का तल भी सब स्थानो पर एक समान ऊँचाई पर नही पाया जाता है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर इस तल की ऊँचाई भिन्न होती है। उष्ण कटिबन्ध और आर्द्र जलवायु मे यह तल कम ऊँचाई पर पाया जाता है। परन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध और शुष्क जलवायु मे यह तल अधिक ऊँचाई पर मिलता है। इसी प्रकार ग्रीष्म और जाड़े मे भी इस तल मे परिवर्तन हो जाता है। आल्प्स पहाडो मे यह तल 7,000 फुट ऊँचाई पर पाया जाता है परन्तु हिमालय पर यह 4,000 फुट ही ऊँचा है। पर्वतीय भागों मे अधिकतम वर्षा का यह तल अक्षाश, मौसम और पवनाभिमुख स्थिति पर रहता है।[2]

पर्वतीय वर्षा का मौसमी या दैनिक समय का निर्धारण कम रहता है। मानसूनी प्रदेशों मे स्वभावतः ग्रीष्मकाल में अधिक वर्षा होती है। दूसरे प्रदेशो मे पवनप्रवाह की तीव्रता, जिस कोण पर वे पहाड़ो से टकराती है तथा जल और स्थल के तापमान का अन्तर ही अधिकतम पर्वतीय वर्षा के मौसम को निर्धारित करते हैं।

पृथ्वी के धरातल पर होने वाली अधिकतर वर्षा पर भू-तल की रचना का प्रभाव ही विशेष देखा जाता है।

(3) **चक्रवाती वर्षा** (Cyclonic Rainfall)—जिन प्रदेशो मे कम दाब वाले चक्रवात चला करते है वहाँ विभिन्न दिशाओ से हवाएँ केन्द्र मे जमा होती रहती हैं। केन्द्र में जमा होने वाली हवाएँ भिन्न दिशाओं से आने के कारण अपने तापमान और घनत्व मे भिन्न होती है। चक्रवात के आन्तरिक भाग मे जब भिन्न तापमान वाली हवाएँ आपस में मिलती है तो ठण्डी हवाएँ गरम हवाओं को ऊपर की ओर ढकेलती हैं। ऊपर उठने पर गरम हवा ठण्डी हो जाती है और वर्षा कर देती है। इस प्रकार से होने वाली वर्षा को चक्रवाती वर्षा कहा जाता है।

चित्र 120—चक्रवाती वर्षा
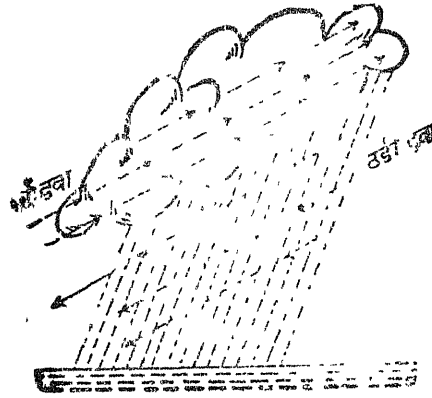
संनयनीय वर्षा में हवा एकदम सीधी ऊपर न उठकर ठण्डी हो जाती है किन्तु चक्रवाती वर्षा में उष्ण हवा एकदम सीधी ऊपर न उठकर मन्द ढाल वाली ठण्डी और भारी वायु-राशि के साथ झुके हुए रूप मे ऊपर चढती है। अतः उसके ऊपर उठने की गति धीमी और शीतल होने

---

1 भूगोल : जलवायु विज्ञान अंक, नवम्बर-दिसम्बर, 1950, पृ० 11

2 Trewartha : *Introduction to Weather and Climate*, p. 181

की क्रिया मन्द होती है। चक्रवाती हवाओ के धीमी गति से ऊपर उठने और धीरे-धीरे ही शीतल होने के कारण वर्षा बहुत समय तक लगातार होती रहती है। मध्य अक्षांशों में जाड़े की ऋतु में टप-टप होने वाली वर्षा और भूरे बादलों से छाया हुआ आकाश प्राय चक्रवातो के कारण ही होता है। अयन रेखाओं तथा मध्य अक्षांशों मे बड़ी मात्रा मे वर्षा चक्रवातों के द्वारा ही होती है। शीतकाल मे उत्तरी भारत में होने वाली वर्षा भी चक्रवाती वर्षा ही होती है।

चक्रवात में वायु धीरे-धीरे ऊपर उठती है। इसलिए उसमें निहित जलवाष्प भी धीरे-धीरे ही बादलो और जलसीकरों मे बदलती है। अत छोटे-छोटे जलसीकर भी वर्षा के रूप में धरातल पर पहुँच जाते है। चक्रवात के अग्रभाग मे जो धीरे-धीरे वर्षा होती है, उसका यही कारण है। चक्रवात के पृष्ठभाग मे शीतल हवा आकर उष्ण हवा को यकायक बहुत ऊपर उठा देती है। उष्ण हवा की भाप से बनने वाले जल-कण बहुत बड़े आकार के होते है जिससे पृष्ठभाग मे वर्षा अधिक जोर से होती है, कभी-कभी बिजली भी चमकती है और बादल का कड़कना भी देखा जाता है।

धरातल पर जल वर्षा का वितरण

(Distribution of Rainfall over the Earth)

वर्षा का सम्बन्ध वायु के तापमान से है। तापमान के अनुसार ही वायु मे भाप ग्रहण करने की शक्ति होती है और वायु मे भाप की मात्रा पर ही होने वाली वर्षा का अश निर्भर करता है। अस्तु, धरातल पर समस्त वर्षा का कारण वायु मे मिली यह भाप ही है। वर्षा वायु के ठण्डे होने से होती है। जैसे-जैसे वायु शीतल होती है उसकी सापेक्ष आर्द्रता घटती जाती है और कालान्तर मे एक ऐसी अवस्था आती है जब जलवाष्प जलसीकरों का रूप ले लेती है। तदनन्तर वर्षा होती है।

वायु के शीतल होने की निम्नलिखित तीन विधियाँ है :

(क) वायु का उष्ण प्रदेश से शीतल प्रदेश की ओर बहना।

(ख) संवहन के कारण वायु का ऊपर उठना अथवा मार्ग मे पहाड़ आदि आ जाने से शीतल होना।

(ग) उष्ण वायु-राशि का शीतल वायु-राशि के सम्पर्क में आना।

उपरोक्त विधियों में से जब किसी भी विधि द्वारा हवा ठण्डी होती है तो वर्षा करती है परन्तु इसके विपरीत जब हवा ऊपर से नीचे उतरती है अथवा शीतल प्रदेशों से उष्ण प्रदेशों की ओर चलती है तो कोई वर्षा नही करती। अतः पृथ्वी के धरातल पर होने वाली वर्षा का सामान्य वितरण उपरोक्त सिद्धान्तों के ऊपर ही आधारित है। यह आगे के विश्लेषण से पूर्णतया स्पष्ट है।

वर्षा ताप से सम्बन्धित है, इसलिए धरातल पर सबसे अधिक वर्षा वही होती है जहाँ तापमान अधिक रहते है। जहाँ तापमान कम पाये जाते है, वहाँ सामान्यतया वर्षा भी कम होती है। धरातल पर सबसे अधिक ताप उष्ण कटिबन्ध में रहता है, इस कारण वर्षा भी सबसे अधिक इसी भाग मे होती है। विपुवतरेखा से
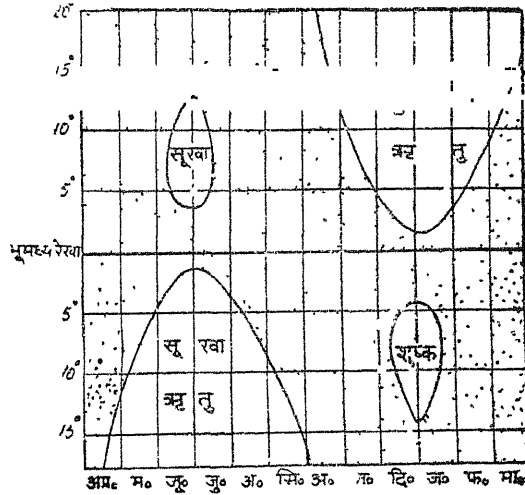
चित्र 121—विषुवतरेखीय वर्षा

दूर जाने पर धीरे-धीरे ताप मे कमी होती जाती है। इसलिए वर्षा भी इसी तरह विषुवत रेखा से दूर हटने पर कम होती जाती है। शीतोष्ण कटिबन्धीय भागों मे वर्षा विषुवतरेखीय भागों से कम होती है। ध्रुवीय भागो में यह वर्षा और भी कम होती है। यहाँ कम वर्षा होने का कारण यह है कि ताप की कमी से न तो यहाँ वाष्पीकरण ही अधिक होता है और न वायु मे भाप की मात्रा ही अधिक होती है।

धरातल पर वर्षा का सबसे अधिक औसत भूमध्यरेखीय प्रदेशों में मिलता है। भूमध्यरेखीय प्रदेश विश्व के उन भागों में से हैं, जहाँ सर्दी-गर्मी सभी ऋतुओं मे वर्षा होती है। यहाँ वर्षा का प्रधान कारण संवहन है जो वर्षा के लिए सबसे अधिक सहायक है। यह प्रदेश निम्न दाब वाले वायु के प्रशान्तमण्डल (Doldrum) पर स्थित है। अतः अधिक ताप और शान्त वायु के कारण वर्ष भर हवा ऊपर उठती रहती है और वर्षा करती है। इस प्रकार यहाँ होने वाली वर्षा पूर्णतः सनयनीय होती है।

उष्ण कटिबन्ध मे संवहन का स्थान प्रधान होता है। किन्तु यहाँ भूमध्यरेखीय प्रदेशों की भाँति केवल संनयन वर्षा ही नही होती। यहाँ संनयनीय तथा चक्रवाती दोनों ही प्रकार की वर्षा होती है। उष्ण कटिबन्ध के बाहर सनयनीय वर्षा बहुत कम होती है। यहाँ वर्षा हवाओं की दिशा पर अधिक निर्भर करती है। मानसूनी प्रदेशो मे भी संवहन का बड़ा महत्त्व रहता है। ग्रीष्म मे भीषण ताप के कारण स्थल की हवा गरम होकर सवहन धाराओं के रूप मे ऊपर उठ जाती है और इस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए समुद्र से हवाएँ दौड़ पड़ती है। परन्तु इन आर्द्र हवाओं द्वारा वर्षा केवल पृथ्वी की बनावट और भौतिक रूपरेखा पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त इन भागों मे ऋतुओं के अनुसार हवाओ की दिशा बदलती रहती है। अतः जिस ऋतु मे हवाएँ समुद्र से स्थल की ओर चलती हैं, उसी ऋतु में वर्षा सबसे अधिक होती है। यहाँ पर्वतीय वर्षा का बड़ा जोर रहता है। इस कारण इन प्रदेशों में जो भाग पर्वतों के पवनाभिमुख (windward) भाग की ओर स्थित होते है वहाँ भारी वर्षा होती है और जो पवन विमुख ढाल (leeward) की ओर स्थित होते हैं वहाँ बहुत ही कम वर्षा होती है। यही कारण है कि विश्व मे सबसे अधिक वर्षा भारत में चेरापूँजी नामक स्थान पर होती है। साधारणतः यहाँ वर्षा का औसत 428 इंच है। परन्तु सन् 1861 में यहाँ इतना पानी गिरा कि वर्ष भर मे वर्षा की मात्रा 905 इंच जा पहुँची।[1] पूर्वी द्वीपसमूह, अमेजन की घाटी, गिनी का तट तथा एण्डीज के निकट भारी वर्षा उपरोक्त कारणों से ही होती है। वर्षा का धरातल की रूपरेखा और पर्वतों की दिशा का प्रभाव नीचे की तालिका से और भी स्पष्ट हो जाता है:[2]

वार्षिक वर्षा

स्थान	ऊँचाई (फुटों में)	वर्षा (इंचों में)	विशेष
चेरापूँजी (भारत)	4309	428″	अत्यधिक वर्षा वाले स्थान
वैलिले (हवाई द्वीप)	5075	400″	
गिलनोरा (ओरगन)		131″	
हैलिवान (मिस्र)		1·33″	न्यूनतम वर्षा वाले स्थान
ग्रीनलैण्ड रैंच (केलिफोर्निया)		1·45″	
अदन (अरब)		1·84″	
ला सैरेना (चिली)		5·39″	

---

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p, 424

2 T. A. Blair : *Weather Elements*, pp. 295-96

उष्ण कटिबन्ध के बाहर 30° अक्षांशों के निकट उच्चदाब की पेटी स्थित है। यहाँ पर सदा ही हवाएँ ऊपर से नीचे उतरती रहती है। परिणामस्वरूप यहाँ कोई वर्षा नहीं होती। यह पूर्णतः शुष्क प्रदेश है। ससार के मुख्य-मुख्य मरुस्थल इसी भाग में पाये जाते हैं।

ऊपर बताया जा चुका है कि वर्षा का सम्बन्ध ताप से अधिक है। इस कारण धरातल पर होने वाली अधिकतर वर्षा ग्रीष्म ऋतु में ही होती है। यही नहीं पृथ्वी के अधिकाश भागो मे वर्षा का मौसम भी ग्रीष्म ऋतु में ही अधिक रहता है। किन्तु धरातल पर कुछ ऐसे भाग भी है जहाँ ग्रीष्म में कोई वर्षा नही होती। ग्रीष्म की ऋतु वहाँ शुष्क ऋतु होती है। ग्रीष्म की अपेक्षा जाड़े में वहाँ वर्षा के अनुकूल अवस्थाएँ पायी जाती है। ऐसे प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध के भूमध्य-सागरीय जलवायु वाले प्रदेश है। इन प्रदेशों मे वर्षा हवाओ की दिशा पर निर्भर करती है। जाड़े की ऋतु में ये प्रदेश समुद्र से आने वाली आर्द्र पछुआ हवाओं के प्रभाव में रहते है। इस कारण जाड़े की ऋतु यहाँ वर्षा की ऋतु रहती है। ग्रीष्म की ऋतु में ये प्रदेश धरातली हवाओं के परिवर्तन के कारण सन्मार्गी हवाओं के प्रभाव में आ जाते है, जो केवल महाद्वीपों के पूर्वी भागो मे ही वर्षा करती है। चूँकि ये हवाएँ न्यून ताप वाले क्षेत्रो की ओर चलती हैं इसलिए इनकी भाप ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है।

चित्र 122—उत्तरी गोलार्द्ध में वर्षा का वितरण

शीतोष्ण कटिबन्ध में संवहन का कोई महत्त्व नहीं है। यहाँ ध्रुवों से आने वाली शीतल वायु-राशि उष्ण प्रदेशों से आने वाली उष्ण वायु-राशि के सम्पर्क में आती है जिससे यहाँ अधिकतर वर्षा चक्रवातो और गर्त-चक्रों द्वारा होती है। यहाँ पर होने वाली वर्षा पूर्णतः चक्रवाती (cyclonic) कही जा सकती हे।

शीतोष्ण कटिबन्ध पछुवा हवाओं के प्रवाह मार्ग मे पडता है। अतः इन क्षेत्रो में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग अधिक वर्षा के प्रदेश है। जाड़े की ऋतु में पछुआ हवाएँ महाद्वीपों के भीतरी भागों तक नही पहुँच पाती, क्योंकि इस ऋतु मे भीतरी भाग उच्च दाब (high pressure) के क्षेत्र बने रहते है। गर्मी की ऋतु में वहाँ थोड़ी-बहुत वर्षा हो जाती है, पर सबसे अधिक वर्षा शीतकाल में ही होती है।

शीतोष्ण कटिबन्ध के बाहर ध्रुवीय प्रदेशों में निम्न ताप के कारण कोई वर्षा नही होती। ये पृथ्वी के अत्यन्त शीतल भाग है। अतः ताप की कमी से न तो यहाँ वायु मे भाप की अधिक मात्रा ही पायी जाती है और न वाष्पीकरण ही होता है। अतः यहाँ कोई वर्षा नही होती। जाड़े की ऋतु मे हिमपात (snowfall) अवश्य होता रहता है।

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट विदित होगी कि अधिक ताप के कारण जहाँ वाष्पीकरण अधिक होगा वहीं वर्षा अधिक होगी। इस प्रकार धरातल पर वर्षा की सही मात्रा वाष्पीकरण की मात्रा पर निर्भर करती है। वाष्पीकरण द्वारा धरातल से जितना जल वायुमण्डल में पहुँचता है उतना ही जल वर्षा द्वारा वायुमण्डल से धरातल पर आ जाता है। यह बात अगली तालिका से और भी स्पष्ट होती है।

वर्षा के अग्रलिखित विवरण के आधार पर हम बहुत संक्षेप में पृथ्वी के प्रत्येक गोलार्द्ध को चार भागों में बाँट सकते है :

जल वर्षा और वाष्पीकरण[1]

अक्षांश	समुद्र पर		स्थल पर		सम्पूर्ण पृथ्वी पर	
	वर्षा	वाष्पीकरण	वर्षा	वाष्पीकरण	वर्षा	वाष्पीकरण
उत्तरी गोलार्द्ध						
90°-80°	0·5	0·2	0·1	0	0 6	0·2
80°-70°	0·4	0 7	0·9	0·3	3·3	1 0
70°-60°	0·7	0·7	4·7	1·6	7·3	2·3
60°-50°	10·4	4·4	7·4	5 3	17·8	9·7
50°-40°	17·6	10 5	8·1	5·5	29·0	15·9
40°-30°	10·7	20 4	8·4	5 9	18·8	25·9
30°-20°	15·5	—	11·9	7·3	17·4	36·4
20°-10°	19·7	37·8	10·7	8·9	30·5	46·6
10°-0°	47·5	34·0	17·4	11·6	64·6	45·6
दक्षिणी गोलार्द्ध						
0°-10°	32·2	38·4	18 8	12·7	51·0	51·2
10°-20°	22·2	40·1	10·3	8·5	32·5	48·5
20°-30°	15·9	34·6	7·3	3·8	21·9	38·4
30°-40°	28·6	28·8	2·3	2·1	30·9	30·8
40°-50°	28·0	17 7	0·9	0 5	28·9	18·2
50°-60°	17·7	5 8	0·2	0	17·9	5·9
60°-70°	5·0	1·5	0·2	0·1	5·2	1·6
70°-80°	0·5	0·2	2 6	0·4	3·1	0·6
80°-90°	0	0	1·2	0·2	1·2	0 2

(1) विषुवतरेखीय भारी वर्षा वाली पेटी (Equatorial heavy rainfall belt),

(2) उपोष्ण शुष्क पेटी (Sub-tropical dry belt),

(3) शीतोष्ण कटिबन्धीय वर्षा की पेटी (Temperate rain belt),

(4) ध्रुव प्रदेश की हल्की हिमपात वाली पेटी (Polar regions of light snow-fall)।

वर्षा की ये पेटियाँ वायुदाब की पेटियों से बिल्कुल मिलती हैं। वायुदाब की पेटियों का विस्तार समुद्रों पर पाया जाता है। यही बात वर्षा के लिए भी सत्य है।

पृथ्वी के सम्पूर्ण धरातल—जल और स्थल—पर वर्षा की औसत वार्षिक मात्रा 40·9 इंच है।[2] भूमि पर वर्षा का यह औसत 26·4 इंच है और समुद्र पर 44·9 इंच है। इसकी कुल मात्रा के अनुसार 19% वर्षा भूमि पर और 18% वर्षा समुद्र पर होती है[3] जबकि धरातल पर जल और स्थल का औसत क्रमशः 29 और 71% है।

---

1 Dr. R. N. Dubey : *Physical Basis of Geography*, pp. 122-23

2 C. E. P. Brooks : *Climate Through the Ages*, p. 168

3 *Ibid*, : p. 168

वृष्टि द्योतक मानचित्रों का अध्ययन

वृष्टि द्योतक मानचित्रों के अध्ययन में दो बातो की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है .

(1) वर्षा अधिक, मध्यम, कम और बहुत कम भागो मे बाँटी जाती है। अत. यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह स्थान इनमे से कौनसे भाग मे आता है। वर्षा के इन विभागों का सामान्य विभाजक नियम यह है :

उष्ण कटिबन्ध में

(क) 80″ से ऊपर वाली वर्षा को भारी वर्षा (heavy rainfall) के अन्तर्गत गिना जाता है।

(ख) 40″ से 80″ तक की वर्षा मध्यम वर्षा (moderate rainfall) कहलाती है।

(ग) 15″ से 40″ तक की वर्षा कम अथवा अल्प वृष्टि (light rain) होती है।

(घ) 15″ से कम वर्षा बहुत कम (poor rain) गिनी जाती है। ऐसे भाग मरुस्थल होते है।

शीतोष्ण कटिबन्ध में

(क) 40″ से अधिक वर्षा वाले क्षेत्र भारी वर्षा (heavy rainfall) वाले क्षेत्र माने जाते है।

(ख) 25″ से 40″ तक वर्षा वाले भाग मध्यम वृष्टि वाले होते है।

(ग) 5″ से 20″ तक की वर्षा को कम वर्षा माना जाता है।

(घ) 5″ से कम वर्षा बहुत ही कम वर्षा (poor rain) मे शामिल की जाती है।

(2) वृष्टि द्योतक मानचित्रो के अध्ययन के सम्बन्ध मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वर्षा किस ऋतु में अधिक होती है। वनस्पति के लिए गर्मी होना आवश्यक है। अतः कृषि की दृष्टि से गर्मी में होने वाली वर्षा अधिक लाभप्रद होती है।

यदि हम विश्व के वृष्टि द्योतक मानचित्र का अध्ययन करें तो निम्न बातें ज्ञात होंगी :

(1) भूमध्य रेखा से ज्यो-ज्यो ध्रुवों की ओर दूर हटते जाते है वर्षा निरन्तर कम होती जाती है।

चित्र 123—**संसार में वर्षा का वितरण**

(2) महाद्वीपों के भीतरी भागों की अपेक्षा समुद्रतटों पर अधिक वर्षा होती है।

(3) भूमध्य रेखा के दोनों ओर 35° और 40° अक्षांशों के बीच पूर्वी तटों पर अधिक वर्षा होती है और पश्चिमी तटों पर कम ।

(4) भूमध्य रेखा के दोनों ओर 45° और 60° अक्षांशों के बीच पछुवा हवाओ द्वारा वर्षा होती है । वर्षा महाद्वीपो के पश्चिमी भागों में अधिक होती है, ज्यों-ज्यों हम पश्चिम से पूर्व की ओर बढते है वर्षा की मात्रा घटती जाती है ।

(5) जहाँ समुद्रतटों के समान्तर पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई है वहाँ तटीय मैदानों तथा पवनाभिमुख (windward) ढालों पर खूब वर्षा होती है और पवन विमुख ढाल (leeward) सूखे रहते है ।

(6) समुद्रों पर वाष्पीकरण अधिक होता है, इसलिए वर्षा भी स्थल भागों की अपेक्षा समुद्रों पर अधिक होती है ।

दृश्यता
(Visibility)

वायुमण्डल की पारदर्शिता को दृश्यता कहते है । वायुमण्डल में जब कभी बादल, कुहरा अथवा धुंध छा जाता है तो वायुमण्डल की पारदर्शिता घट जाती है । इस प्रकार मौसम परिवर्तन के साथ दृश्यता घटती-बढती रहती है । दृश्यता के घटने-बढने का मानव-जीवन पर बडा प्रभाव पड़ता है । वायुमण्डल की दृश्यता घट जाने पर समस्त यातायात पंगु हो जाता है । वर्तमान काल में वायु यातायात के लिए इसका विशेष महत्त्व है । बिना दृश्यता की जानकारी और अध्ययन के हवाई यातायात का सफल प्रबन्ध हो ही नहीं सकता । अत: हवाई उड़ान के पूर्व सदैव भिन्न-भिन्न स्थानो की दृश्यता की नाप और जानकारी प्राप्त कर ली जाती है ।

वायुमण्डल की पारदर्शिता को नापा जा सकता है । दृश्यता को नापने के लिए यह देखा जाता है कि मुख्य स्थलीय रूप—पहाड़, मकान, वृक्ष आदि—नंगी आँखों द्वारा कितनी दूरी से देखे जा सकते है । जब 25 मीटर से अधिक दूरी पर स्थित वस्तुओ को आसानी से नही देखा जा सकता तो दृश्यता को शून्यांश पर मानते है। इसके विपरीत, जब 50 किलोमीटर तक की दूरी पर स्थित वस्तुओं को देख सके तो दृश्यता 9 अंश पर होती है । इस प्रकार शून्यांश और नवांश के बीच मे और भी अंश होते हैं जिन्हें दृश्यता का मानदण्ड कहते है । दृश्यता बताने वाला पैमाना नीचे दिया जा रहा है :

दृश्यता का पैमाना

पैमाने का नम्बर	वितरण	वह दूरी जहाँ तक देखा जा सकता है
0	घना कुहरा	55 गज ($\frac{1}{32}$ मील)
1	अधिक कुहरा	220 गज ($\frac{1}{32}$ से $\frac{1}{8}$ मील तक)
2	कुहरा	550 गज ($\frac{1}{8}$ से $\frac{5}{16}$ मील तक)
3	साधारण कुहरा	1100 गज ($\frac{5}{16}$ से $\frac{5}{8}$ मील तक)
4	धुँध	2200 गज ($1\frac{1}{4}$ मील तक)
5	न्यून दृश्यता	$2\frac{1}{4}$ मील
6	साधारण दृश्यता	$6\frac{1}{4}$ मील
7	अच्छी दृश्यता	$12\frac{1}{2}$ मील
8	बहुत अच्छी दृश्यता	31 मील
9	असाधारण दृश्यता	31 मील तक दिखाई देता है

पीछे बताया गया है कि दृश्यता और मौसम मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। दृश्यता और मौसम में यह सम्बन्ध किस प्रकार रहता है, नीचे की तालिका से ज्ञात होगा :

दृश्यता और मौसम में साधारण सम्बन्ध[1]

पैमाने का नं०	दिन की दृश्यता	कुहरा और धुन्ध	हिम बूंदाबांदी	वर्षा
0	50 मीटर से कम	घना	बहुत भारी....	
1	50 से 200 मी०	मोटा	बहुत भारी या भारी	
2	200 से 500 मी०	मध्यम	....	अयनवृत्तीय भारी
3	500 से 1000 मी०	साधारण	साधारण मोटा	बहुत भारी
4	1 से 2 किमी	धुंध	प्रकाश साधारण	भारी
5	2 से 4 किमी	हल्की धुंध	बहुत हल्का थोड़ा	भारी
6	4 से 10 किमी	हल्की धुंध	बहुत हल्का....	साधारण
7	10 से 20 किमी	....	....	हल्की
8	20 से 50 किमी	....	....	बहुत हल्की
9	50 से ऊपर			

कुहरा
(Fog)

कुहरा बादल का ही एक रूप है। वस्तुतः कुहरा वह बादल है जो धरती को छूता हुआ रहता है। धरती को छूते रहने से धरातल की दृश्यता (visibility) पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। कुहरे की रचना का सम्बन्ध बहुत अधिक आर्द्र वायु-राशि के धरातल के समीप ठण्डे होने से है। अतः रात्रि में जब कभी उष्ण तथा आर्द्र हवा का तापमान ओस बिन्दु से नीचे चला जाता है तो उसमें निहित भाप जलसीकरों मे परिवर्तित हो जाती है। ये जलसीकर अत्यन्त छोटे होने के कारण हवा मे ही बने रहते हैं और धुएँ के बादल के समान वायुमण्डल मे छाये रहते हैं। संक्षेप में, कुहरा जलसीकरो का एक ऐसा समूह है जो अत्यन्त दूर से देखने पर बादलो-सा प्रतीत होता है। जब इसका रूप बहुत घना हो जाता है तो इसके भीतर चलने-फिरने वाले, चाहे छाता लगाये हों, बिना वर्षा के ही पानी मे भीग जाते हैं। बादल और कुहरें में अन्तर केवल इतना ही है कि बादल धरातल से काफी ऊँचाई पर स्थित होते है और कुहरा धरातल से लगा हुआ होता है। जिस प्रकार बादल हवा मे इधर-उधर उड़ते रहते है, उसी प्रकार कुहरा भी उड़ता है। कभी-कभी कुहरा उड़कर बहुत दूर चला जाता है। पश्चिमी यूरोप मे समुद्रतटो से कुहरा प्रायः बीस-पच्चीस मील दूर स्थल मे घुस आता है।

विलिट (Willet) के अनुसार कुहरा मुख्यतः दो प्रकार का होता है :

(1) अन्तर वायु-राशि कुहरा (Intia air-mass fogs)

(2) सीमान्त कुहरा (Frontal fogs)

अन्तर वायु-राशि कुहरे की फिर दो प्रधान जातियाँ होती हैं :

(क) विकिरण कुहरा (Radiation or Ground Inversion fog)

(ख) सम्पर्कीय कुहरा (Advection fog)

---

1 Haurwitz and Austin ; *Climatology*, p. 41

1. (क) **विकिरण कुहरा** (Radiation or Ground Inveision Fog)—विकिरण कुहरा किसी स्थान की वायु के ताप मे कमी हो जाने से उत्पन्न होता है। वस्तुतः यह उस समय उत्पन्न होता है जब भूमि के बहुत अधिक शीतल हो जाने पर भूमि के ऊपर की आर्द्र वायु विकिरण तथा संचालन द्वारा ठण्डी हो जाती है। उच्च अक्षांशों मे जहाँ भूमि सदा वायु की अपेक्षा शीतल रहती है, प्रायः ऐसा कुहरा देखा जाता है। पतझड़ और जाडे के मौसम मे कुहरा अधिक रहता है। क्यू (Kew) (लन्दन के अन्दर) मे जाडे के छह महीनों मे औसतन 43 दिन कुहरा गिरता है जबकि ग्रीष्म के छह महीनो मे केवल 10 दिन ही। रात्रि और सूर्योदय के समय कुहरा घना होता है। सूर्य के प्रभाव के साथ कुहरा हटता जाता है, तापमान बढने के साथ-साथ वायु की उष्णता भी बढती जाती है। अत. जलसीकर पुन· भाप मे परिवर्तित हो जाते है।

सामान्यत· विकिरण कुहरा निम्न अवस्थाओ मे अधिक पड़ता है·

(1) कुहरे के बनने के लिए हवा का अपेक्षाकृत शान्त होना आवश्यक है। हवा मे अधिक गति होने पर वह कुहरे को उडा ले जाती है। मन्द हवा कुहरे मे सहायक होती है किन्तु जब उसका वेग 9 से 16 किलोमीटर प्रति घण्टा हो जाता है तो वह कुहरे के निर्माण मे बाधक हो जाती है।

(2) कुहरे गिरने के एक दिन पूर्व थोड़ी वर्षा का होना और आकाश का बादलो से घिरा हुआ होना कुहरा बनने के लिए बड़ा लाभप्रद होता है। बादलों के कारण भूमि के निकट की हवा अधिक गरम और शुष्क नही हो पायेगी, क्योकि बादल भूमि से निकलने वाली गर्मी को वापस नीचे भेज देते है। वर्षा के कारण वायु की आर्द्रता बढ जाती है जिससे कुहरा पड़ने के लिए वायु मे जलवाष्प की कमी नही रहती।

(3) जिस रात्रि को कुहरा पड़ता है उस रात्रि को आकाश बिलकुल निर्मल होना चाहिए ताकि भूमि विकिरण द्वारा पर्याप्त ठण्डी हो सके। आकाश मे बादल होने पर वे विकिरण की गर्मी को पुनः नीचे लौटाकर भूमि को शीतल होने से रोकते है।

(4) पर्वतीय भागों मे घाटियों के नीचे कुहरे का प्रभाव अधिक रहता है क्योंकि घाटियों की भूमि आर्द्र होती है। लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि पर्वतीय ढालों से अत्यधिक शीतल वायु बहकर घाटियों में एकत्रित हो ताकि ओसांक हिमांक बिन्दु के यथेष्ट नीचे रहे। इससे जल-वाष्प सीधे हिम कणो में बदल जायगी।

(5) नदी अथवा झीलों की समीपता वायु को शीतल और आर्द्र बनाने में सहायक होती है। अतः ऐसे स्थानों पर कुहरा अधिक पडता है।

(6) तापमान की विलोमता की स्थिति भी कुहरे के अधिक समय तक बने रहने में सहायक होती है। तापमान की विलोमता के कारण कुहरा ऊपर नहीं उठ पाता और नीचे ही लटका रहता है।

(7) औद्योगिक बस्तियाँ भी विकिरण कुहरे के बनने मे बड़ी सहायक होती हैं। ऐसे स्थानो पर कारखानों की चिमनियों से निकलने वाला धुआँ आकाश में फैल जाता है। सूर्यास्त के बाद धूल और धुएँ के कण शीघ्र ठण्डे हो जाते हैं और अपने आसपास जलसीकर एकत्रित कर लेते है। इस प्रकार शहरों पर कुहरा इतना घना छा जाता है कि सूर्य का प्रकाश भी धरातल पर नही पहुँच पाता। ऐसी दशा में न केवल यातायात ही रुक जाता है, वरन् पैदल चलने वालों को भी बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। 23 नवम्बर, 1927 को लन्दनवासी जब प्रातः काल उठे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। लन्दन शहर रात्रि से भी अधिक अन्धकार में डूबा हुआ था। दोपहर के बाद कहीं सूर्य का क्षीण प्रकाश पहुँच सका।[1]

---

[1] Kendrew : *Climatology*.

कई बार कारखानो की चिमनियों से निकलने वाले धुएँ में गन्धक के कण होते है जो कुहरे को विषैला बना देते है। इससे गले व फेफड़ों की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती है। ऐसे कुहरे को इगलैण्ड मे Smog कहा जाता है। इस कुहरे के कारण नाक व आँखों से पानी निकलता रहता है। दिसम्बर 1952 मे लन्दन के अन्दर इस कुहरे के दुष्परिणामस्वरूप 4000 व्यक्ति
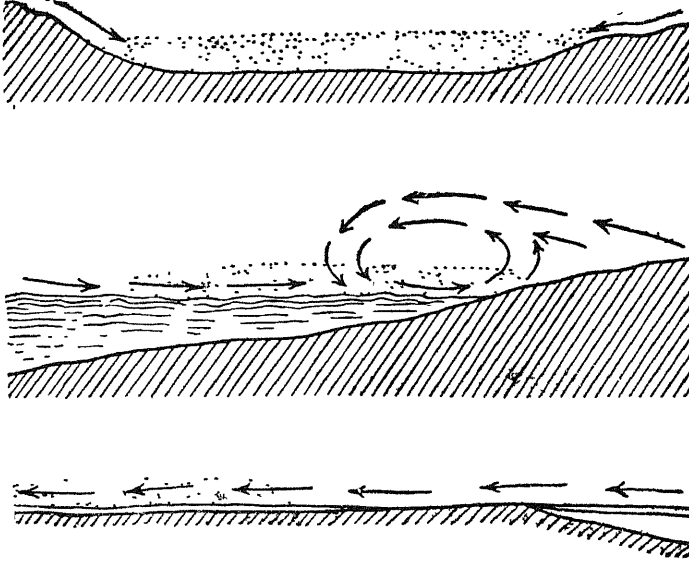
चित्र 124—कुहरे के प्रकार : चित्र का ऊपरी भाग विकिरण कुहरा तथा मध्य भाग एवं अन्तिम भाग सम्पर्कीय कुहरे को बताता है

निमोनिया एवं गले की बीमारियो से मर गये थे। लोगों की स्वास्थ्य-रक्षा और यातायात व्यवस्था को बनाये रखने के लिए ऐसे कुहरे को रोकना बहुत आवश्यक है। इसके लिए ऐसे ईधन का प्रयोग किया जाना चाहिए जिससे गन्धक और कोयले के कण घरों व चिमनियो से बाहर निकल सकें। संयुक्त राज्य अमरीका के एक बड़े औद्योगिक नगर पिट्सबर्ग में उपरोक्त उपायों के प्रयोग करने से छः वर्षो मे कुहरे की घटना 90 प्रतिशत कम हो गयी।

(ख) सम्पर्कीय कुहरा (Advection Fog)—सम्पर्कीय अथवा वायु-मिश्रित कुहरा दो भिन्न तापमान वाली वायु-राशियों के मिलने से पैदा होता है। जब किसी स्थान से आयी हुई उष्ण वायु-राशि ठण्डे धरातल अथवा शीतल वायु-राशि से मिलती है तो कुहरा उत्पन्न हो जाता है। ठण्डे धरातल तथा शीतल वायु-राशि के सम्पर्क से उष्ण वायु-राशि की निचली तहें ओस बिन्दु से भी नीचे ठण्डी हो जाती है। ठण्डी हवा थोड़ी देर धरातल के ऊपर पड़ी रहती है और जब वायुमण्डल स्थिर होता है तो कुछ समय के पश्चात् कुहरा छा जाता है। परन्तु यदि हवा का प्रवाह वेगपूर्ण होता है तो कुहरा पैदा नही हो पाता है। वायु के मिश्रण से ऐसी दशा मे नीचे स्तरीय बादल बनते है। समुद्रों पर छाया रहने वाला कुहरा अधिकतर इसी प्रकार का होता है। परन्तु यह मध्य में उच्च अक्षांशों तक ही सीमित रहता है। उष्ण भागों मे समुद्र का जल अत्यधिक गरम रहने से कुहरा बन ही नहीं पाता। बसन्त ऋतु और ग्रीष्मकाल में यह कुहरा अधिक गिरता है क्योंकि उच्च अक्षांशो मे इस ऋतु में चलने वाली उष्ण हवाओं की अपेक्षा समुद्र का जल ठण्डा रहता है। ब्रिटेन के दक्षिण और पश्चिम मे ऐसा कुहरा होना साधारण-सी बात है।

उत्तरी अमरीका के पूर्वी किनारे न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप गल्फ स्ट्रीम और लेब्रेडोर नाम की उष्ण और ठण्डी धाराओ के मिलने से भी भयंकर कुहरा उत्पन्न होता है। इसी तरह जापान के पूर्वी किनारे पर क्यूरोसिओ की गरम धारा और क्यूराइल की ठण्डी जलधारा के मिलने से घना कुहरा उत्पन्न होता है। गल्फ स्ट्रीम की उष्ण और आर्द्र हवा जब ठण्डे जल के ऊपर चलती है तो घना कुहरा छा जाता है। न्यूफाउण्डलैण्ड के आसपास समुद्रो पर 70 दिन से भी अधिक कुहरा रहता है। यहाँ अधिकतर कुहरा ग्रीष्म और पतझड़ में गिरा करता है। ग्रीनलैण्ड के किनारे प्रायः गर्मी के मौसम में कुहरा छाया रहता है।

कभी-कभी उन देशों मे जहाँ कडाके का जाडा गिरता है वायु-मिश्रण कुहरा उत्पन्न हो जाता है। उष्ण और आर्द्र समुद्री हवाएँ जब बर्फ से ढके हुए धरातल पर चलती हैं तो ठण्डी होकर तर कुहरा पैदा करती है। कभी-कभी कई दिनों तक लगातार कुहरा बना रहता है। शीतोष्ण कटिबन्ध मे उष्ण वायु-राशि के समीप भी यदाकदा कुहरा देखा जाता है।

दृश्यता (visibility) की दृष्टि से वे तमाम बादल जो कि धरातल से कुछ ऊँचाई पर होते है और जो तमाम अक्षांशों मे प्राय. पहाड़ों पर छाये रहते हैं, कुहरा ही समझा जाता है। यद्यपि वे जन्म की दृष्टि से तो बादल ही होते है।

कुहरे मे जल की मात्रा बहुत थोड़ी होती है परन्तु इससे भी कुछ स्थानों की वनस्पति को बड़ा लाभ होता है। कालाहारी मरुस्थल मे समुद्रतट के समीप घना कुहरा होने से ही कुछ वनस्पति उग आयी है। शीतोष्ण कटिबन्ध में जाड़े की ऋतु मे कभी-कभी शहरों मे इतना कुहरा छा जाता है कि कोई वस्तु दिखाई तक नहीं पड़ती। ऐसी दशा में यातायात की दुर्घटनाएँ हो जाना स्वाभाविक है। न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट उष्ण और ठण्डी जल-धाराओं के मिलने के कारण समुद्र पर बराबर इतना कुहरा छाया रहता है कि उसमें कई बार बड़े-बड़े जहाज आपस में टकरा जाते है, जिससे अपार धन-जन की क्षति होती है। सन् 1912 मे **टाइटेनिक** नामक जहाज सामुद्रिक कुहरे के कारण टकराकर टूट गया था।

2. **वाताग्र कुहरा** (Frontal Fog)—वाताग्र कुहरा भिन्न तापमान वाली वायुराशियो के वाताग्रों से सम्बन्धित होता है। इसमें कुहरा हवाओं के ऊपर उठने तथा धरातल के समीप शीतल वायु की तह के काफी ऊँचाई पर बहती हुई गरम हवा के कारण होने वाली वर्षा द्वारा संतृप्त (saturated) हो उठने से पैदा होता है। उष्ण वाताग्र और शीत वाताग्र कुहरे के बीच बहुत कम अन्तर रहता है, क्योंकि दोनो ही गिरती हुई वर्षा के शीतल होने तथा वाष्पीकरण के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होते हैं। वाताग्र कुहरा (Frontal fog) प्रायः बहुत अधिक फैला हुआ और अधिक समय तक टिकने वाला होता है।

कुहरे के ऊपर बताये गये रूपों के अतिरिक्त निम्न रूप और हैं :

(1) **वाष्पीय कुहरा** (Steam Fog)—जब शीतल वायु अत्यधिक गरम पानी की सतह के ऊपर होकर बहती है तो जल भाप छोड़ता हुआ प्रतीत होता है। इसलिए इसे वाष्पीय कुहरा कहते है। उच्च अक्षांशों मे इसे **ध्रुवीय धुआँ** (Arctic Smoke) कहते है। यह कुहरा बहुत ही अल्प समय के लिए ठहरता है।

(2) **पहाड़ी कुहरा** (Hill Fog)—यह कुहरा एक प्रकार का नीचा बादल है जो पहाड़ियों को ढक लेता है। जब आर्द्र हवा स्थल के भीतर बहती है तो पहाड़ियों के ऊपर चढ़ने से फैलकर ठण्डी हो जाती है और संघनन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी दशा में पहाड़ियाँ कुहरे से ढक जाती हैं। शीतोष्ण कटिबन्ध मे स्थित सभी पहाड़ी जिलों में वर्ष के किसी भी समय इस प्रकार का कुहरा (fog) उत्पन्न हो सकता है।

धुँध
(Mist)

धुँध वास्तव में कुहरे का ही एक रूप है। जब कुहरा घना न होकर हल्का-पतला होता है तो उसे हम धुँध कहते हैं। अन्तरिक्ष विज्ञान (Meteorology) की भाषा में वायुमण्डल की पारदर्शिता जब 1000 मीटर से अधिक होती है तो उस अवस्था (phenomenon) को धुँध कहा जाता है।

सामान्यतः स्थल के ऊपर की हवा जल के ऊपर की हवा से जल्दी ठण्डी हो जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि स्थल से विकिरण द्वारा गर्मी बहुत शीघ्र परिवर्तित होती है परन्तु जल से इतनी शीघ्र गर्मी नहीं निकलने पाती। अत स्थल से जल का तापमान सदैव ऊँचा रहता है। जल भागों पर हवा का तापमान अधिक होने से वह ऊपर उठेगी और उसका स्थान लेने के लिए समीप से ठण्डी हवाएँ जल भागों की ओर चलने लगेंगी। किन्तु इस प्रकार से जल के ऊपर हवा ओस बिन्दु (Dew point) से भी नीचे शीतल हो सकती है। ऐसी अवस्था में वह हवा अपने मे इतनी भाप रखने में असमर्थ हो जाती है जितनी कि वह पहले रख सकती थी। इस कारण अतिरिक्त भाप धुँध के रूप मे बदल जाती है अर्थात वायुमण्डल में जल के छोटे-छोटे कण इतनी अधिक मात्रा में फैल जाते है कि उनसे दृश्यता (visibility) घट जाती है। यह कह सकना कठिन है कि कब धुँध कुहरे मे बदल जाती है। परन्तु अधिकतर कुहरा घनी धुँध का प्रतिरूप (Dense Mists) ही होता है। प्रायः धुँध सूर्योदय और सूर्यास्त के समय नदियों तथा अन्य जलाशयों व समुद्र पर छायी हुई देखी जाती है।

ओस
(Dew)

वायुमण्डल में सदा ही न्यूनाधिक रूप मे भाप विद्यमान रहती है। यही भाप ओस आदि का कारण होती है। जब कभी धरातल इतना अधिक शीतल हो जाता है कि उससे लगी हुई हवा का तापमान ओस बिन्दु पर पहुँच जाता है तो हवा मे विद्यमान भाप ओस रूप में बदल जाती है। अतः जो भाप ठण्ड पाकर पृथ्वी के धरातल पर ही जल-कणो मे परिणत हो जाती है उसे ओस कहते है।

आधुनिक काल मे ओस के सम्बन्ध में जो प्रयोग किये गये है उनसे यह सिद्ध होता है कि ओस भूमि तल के निम्न भाग से उठने वाली भाप के द्वारा ही बनती है। इस प्रकार साधारण अवस्था में धरातल पर मिलने वाली घास, वृक्ष और अन्य छोटे पौधे ही ओस बनने के कारण हैं। घास और वृक्ष आदि भूमि से तरी खींचते रहते है। यही तरी हवा की गर्मी से भाप रूप मे बदल जाती है। रात्रि को धरातल की शीतलता के कारण हवा इस भाप को पुन. ओस की बूँदों के रूप मे छोड़ देती है। वर्षा ऋतु मे चारों ओर हरियाली और तरी रहती है, इस कारण शीतलता कम होने से भी ओस बन जाती है। परन्तु जाड़े में अधिक शीतलता के कारण ही ओस गिरती है। वर्ष मे प्रायः जाड़े में ही अधिक ओस पड़ा करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गर्मी की ऋतु में दिन बड़े होने के कारण दिन मे प्राप्त गर्मी रात भर में परावर्तित नहीं हो पाती। फलत. गर्मी बहुत बढ़ जाती है और हवा का तापमान ओस बिन्दु तक नहीं पहुँचता जब तक कि उसमें और भाप न मिला दी जाय। जाड़े में इसके विपरीत रातें बड़ी होती है अतः दिन में प्राप्त गर्मी आसानी से रात्रि में परावर्तित हो जाती है। इस कारण रात्रि को धरातल बहुत अधिक शीतल हो उठता है और उमके सम्पर्क में आने वाली हवा का तापमान ओस बिन्दु से भी कम हो जाता है और ओस गिरने लगती है।

ओस बनने के लिए अग्रलिखित परिस्थितियाँ अनुकूल रहती हैं :

(1) **दिन का गरम होना**—दिन में गर्मी की मात्रा एवं ओस गिरने की क्रिया मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब दिन मे काफी गर्मी पड़ती है तो धरातल का जल अधिक मात्रा मे वाष्पीकरण द्वारा वायु मे मिल जाता है। रात्रि को यही जल ओस के रूप मे बदल जाता है। यदि दिन को गर्मी कम हुई तो वाष्पीकरण कम होगा और फलस्वरूप रात्रि की ओस भी कम पड़ेगी।

(2) **मेघ रहित स्वच्छ आकाश**—रात्रि को भूमि विकिरण द्वारा अपनी गर्मी निकालकर ठण्डी हो जाती है। आकाश के स्वच्छ होने से विकिरण तेजी से होता है जिससे भूमि पर्याप्त ठण्डी हो जाती है। आकाश मे बादल छाये होने पर विकिरण मे बाधा होती है और भूमि ठण्डी नहीं हो पाती। भूमि के ठण्डा न होने पर ओस भी नही गिरती।

(3) **वायु का स्थिर होना**—जब वायु स्थिर होती है तो वह भूमि के सम्पर्क में अधिक देर तक रहकर ओसांक तक ठण्डी हो जायगी और ओस गिरने लगेगी। लेकिन यदि वायु चलती रहे तो वह भूमि के सम्पर्क मे इतनी देर तक नही रह पायेगी कि वह ओसांक तक ठण्डी हो जाये। अतः जिस रात्रि को वायु स्थिर होती है उस रात्रि को अधिक ओस पडती है।

(4) **वनस्पति की उपस्थिति**—वनस्पति होने पर वायु की आर्द्रता मे वृद्धि हो जाती है, क्योंकि श्वासोच्छवास द्वारा वनस्पति जलवाष्प निकालती रहती है। जलवाष्प की अधिकता रहने पर ओस भी अधिक गिरती है।

ओस का नापना बहुत कठिन है। विश्व के उष्णतर खण्डो मे ओस प्राय. अधिक गिरा करती है। बटाविया (Batavia) मे साल भर का औसत 1 इंच से अधिक नही होता। शीतोष्ण प्रदेशों और उच्च अक्षांशों मे तो ओस की मात्रा बहुत ही कम होती है। फिर भी शुष्क मौसम मे पौधे सूखने से बच जाते है और भूमि तर हो जाती है। वस्तुत' पेड़-पौधो के लिए यह बड़ी उपादेय सिद्ध होती है। हमारे देश मे उत्तरी भाग मे शीतकाल में गेहूँ की फसल को ओस से बड़ा लाभ होता है। इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से ओस का हमारे जीवन में बडा महत्त्व है। इजरायल मे कृषक ओस के द्वारा खेतों मे सिंचाई की व्यवस्था कर लेते है। वहाँ मरुस्थल होने से सर्वत्र रेत ही रेत पाया जाता है। किसान लोग मिट्टी के टीलो पर पत्थर डाल देते है। रात्रि को पत्थर पर ओस जम जाती है और वह फिसलकर जल के रूप में मिट्टी में मिल जाती है। वहाँ ऐसे टीलों को **ओस के टीले** (Dew mounds) कहा जाता है। इंगलैण्ड के अन्दर साउथ डाउन्स मे किसान लोग ओस को गड्ढे खोदकर जल के रूप मे एकत्रित कर लेते हैं जो भेड़-बकरियों के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। इसके लिए किसान लोग भूमि मे गड्ढे बना देते है और उन्हें घास-फूँस से ढक लेते हैं। प्रात. इन गड्ढों मे प्रचुर मात्रा में पानी इकट्ठा हो जाता है। रात्रि को समुद्र से जो धुँध वहाँ आती है, वस्तुत उस धुँध की जलवाष्प से ही ये गड्ढे पानी से भर जाते है। वहाँ इन गड्ढों को **ओस ताल** (Dew ponds) कहा जाता है।

पाला
(Hoar-frost)

'पाला' शब्द का प्रयोग धरातल पर अथवा घास-पत्तियों पर भाप के ठोस अवस्था में हल्की चमकदार बर्फ के तह के रूप में जम जाने के लिए किया जाता है। कभी-कभी 32° फा० या उससे नीचे का तापमान भी पाले का द्योतक माना जाता है। यद्यपि सफेद बर्फ जैसी किसी भी वस्तु का जमाव न हुआ हो। ऋतुविज्ञान की दृष्टि से पाला एक प्रकार का ओस है जो कि हिमांक बिन्दु के नीचे जमता है।

सभी अवस्थाएँ जो कि धरातल को शीघ्र और निरन्तर शीतल करने मे योग देती है पाले के लिए आदर्श होती है। शुष्क वायु, स्वच्छ आकाश तथा शान्त राते पाले के लिए अनुकूल अवस्थाएँ हैं। इनके द्वारा ही धरातल की वायु का तापमान संचालन और परावर्तन द्वारा हिमांक

बिन्दु के नीचे पहुँच जाता है। शीतल ध्रुवीय वायु-राशि का आगमन भी बड़ा लाभप्रद होता है। स्वच्छ निर्मल आकाश और शुष्क वायु दिन मे प्राप्त उष्णता को शीघ्र परावर्तित करने मे सहायक होती है और शान्त वायु आयी हुई शीतल वायु को एक ही स्थान पर स्थिर रखने में सहायक होती है। इससे वायु का ताप एकदम गिर जाता है और उसमें निहित वाष्प सघन होकर जम जाती है।

पाला अपने प्रभाव में कई तरह का होता है। कभी-कभी पाले का प्रभाव इतना हानिकर होता है कि उससे वनस्पति तथा पैदावार नष्ट हो जाती है। ऊँचे और मध्य अक्षांशों के अधिकतर भागों मे बसन्त और पतझड मे होने वाला पाला अधिक हानिप्रद होता है। ध्रुवीय प्रदेशों की ओर उत्तरी कनाडा और उत्तरी यूरेशिया मे ग्रीष्म में पडने वाला पाला अनाज की फसलों को अधिक हानि पहुँचाता है। उष्ण प्रदेशो मे कदाचित ही पाला गिरता है। पाला किसी स्थान की रचना के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है।

ओला और बिजली
(Hail and Lightening)

वायुमण्डल मे व्याप्त जलवाष्प कई रूपों में प्रकट होती है। ओला भी उसका एक रूप है। कभी-कभी भयंकर झंझावात के समय होने वाली वर्षा ओलों के रूप में होती है। धरती पर गिरने वाले वड़े-बड़े ओलों की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि ओले बर्फ के पतले परतों से मिलकर प्याज की भाँति बने होते है। ओलो के वनने और धरती तक आने के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि जहाँ हिम-कण बन जाते है वहाँ वायु की वेग धाराएँ ऊपर-नीचे बहती है। ये धाराएँ हिम-कणो को भी ऊपर-नीचे नचाती है। हिम-कणो के वायु धाराओ के साथ ऊपर-नीचे नाचते रहने से परस्पर टकराकर एक-दूसरे से गुँथ जाते है और जब हवा के झोंके उन्हें सँभाल नही सकते तो वे धरती के ऊपर वेग से गिर पड़ते है।

ओले घनी मेघराशि मे उत्पन्न होते है। यहीं से आकाश मे बिजली चमकती है। बादलों के भीतर जल-कण सदा धनात्मक (positive) विद्युत से युक्त होते है। बादलों के शेष भाग में ऋणात्मक (negative) विद्युत वायु को ऊपर उठाती हुई धाराओं के साथ पहुँच जाती है। इस प्रकार बादलो के भीतर जल के कणो पर विद्युत एकत्रित हो जाती है। जब बादल वेग के साथ एकत्रित होते हैं तब बहुत-से छोटे-छोटे जल-कण संयुक्त होकर बड़े हो जाते है। इसलिए इनकी विद्युत-शक्ति भी इतनी बढ़ जाती है कि उनकी बीच की हवा अलग हो जाती है और विद्युत चिनगारी के रूप में बादल के एक सिरे पर टूटती है। यह क्रिया बार-बार होती है और इसमें कड़क भी होती है। जब विद्युत लम्बी धारी के आकार में चमकती है तो उसके बाद कोई गर्जन नहीं सुनाई देती। पर जब विद्युत मुद्राकार और सर्पाकार रूप मे बार-बार चमकती है तो वह अपने आगे की हवा को हटा देती है। तब दूसरी हवाएँ उस रिक्त स्थान को भरने के लिए तेजी से दौड़ पड़ती है, जिससे विशाल एवं तीव्र ध्वनि होती है। इसकी प्रतिध्वनि बादलो के पीछे भी होती रहती है। बिजली की कड़क और चमक में सदव अन्तर रहता है। इसका कारण यह है कि प्रकाश का वेग शब्द के वेग की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक है, अतः सदैव पहले बिजली की चमक दिखाई देती है और उसके कुछ देर बाद गरज सुनाई देती है।

तड़ित-झंझा
(Thunder Storms)

वायुमण्डल में जब नीचे की वायु उष्ण और नम होती है तो स्वभावतः वह ऊपर उठती है। ऊपर उठकर ऐसी वायु घने कपासी मेघों को जन्म देती है जो आकाश में 10 से 50 मील की लम्बाई मे फैल जाते है। इन बादलों का कभी-कभी शिखर एक मील से भी ऊँचा पाया जाता

है। ऊपर उठती हुई वायु की गति जब तीव्र होती है और बादलों का असीमित विस्तार हो उठता है तो प्राय: वे अपने सिरे पर कपासी बादलो की तह के रूप मे फैल जाते है और उसी समय उनके नीचे अर्थात आधार (base) से वर्षा होने लगती है। यदि वर्षा घनघोर रूप मे होती है। तो बीच मे विद्युत-चमक और बादलो की गड़गड़ाहट भी सुनाई पड़ती है। अत. ऐसे ही तूफानों को जो बड़ी गर्जन-तर्जन के साथ आते है, तड़ित-झंझा (Thunder Storms) कहा जाता है।

प्राय. ऐसे झंझावात मेघाच्छन्न शान्त वायु की पेटी (doldrums) में अधिक आते है। वहाँ ये प्रायः दोपहर अथवा सध्या के समय आया करते है। उष्ण ग्रीष्म ऋतु मे स्थल भागों पर भी ऐसे झंझा प्राय· देखने को मिलते है। ग्रीष्म मे जब ऐसी तूफानी आँधियाँ आती है तो पहले जोरदार हवा के झोके आते है अथवा गर्जन सुनाई पड़ती है और धीरे-धीरे बादलों का समूह आगे बढता चला जाता है। वर्षा होने के पूर्व इन बादलो के आगे धूल के बादल उठते है और तेजी से इधर-उधर दौड़ते है।

झंझावातीय बादलों के विकास के समय वायु के जल-कण विद्युतयुक्त हो जाते है। जब जल-कण इतने बडे हो उठते है कि वर्षा के रूप मे गिर जायँ तो बूँदों के टूटने से विद्युत बादल के एक भाग से दूसरे भाग मे अथवा बादल से भूमि तक पहुँच जाती है और तभी बिजली की चमक एक धारा (flash) के रूप में दिखाई पड़ती है। जब बिजली चमकती है तो वह अपने आगे की हवा को हटा देती है जिससे दूसरी हवाएँ उस रिक्त स्थान को भरने के लिए तेजी से दौड़ पड़ती है। विद्युत धारा के साथ हवाओं के इस प्रकार दौड़ने से बड़ा भारी उद्घोष होता है। यही उद्घोष बादलो की गर्जना (thunder) कहलाता है। बादलो में इस गर्जन की तुलना ठीक कोड़े के झटके से उत्पन्न ध्वनि से की जा सकती है। कभी-कभी बादलों से उत्पन्न गर्जन काफी देर तक सुनाई देती है, ऐसी लम्बी गर्जना कुछ तो लम्बी विद्युत धारा के विभिन्न भागों से आने वाली निरन्तर ध्वनि के कारण होती है और कुछ बादलों अथवा पहाड़ियो और गिरि-शृंगों से उत्पन्न प्रतिध्वनि के कारण होती है। इन विकराल तूफानों के साथ प्राय: घनघोर और प्रलयकारी वर्षा होती है, जिसे साधारणतया बादल का फटना (cloud burst) कहा जाता है। जब कभी ऐसी वर्षा का प्रकोप एक छोटे-से क्षेत्र पर होता है तो वहाँ प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

साधारणत: ऐसे झंझावात स्थानीय होते है और प्राय: उस समय आते हैं जबकि चक्रवात उत्पन्न होने को होते है। ये अधिकतर ग्रीष्म ऋतु में गरम और आर्द्र दिनों में आते है। इनकी अवधि बड़ी अल्प होती है। ये आधा घण्टे के भीतर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर लेते है। यद्यपि ये अल्पकालीन होते हैं परन्तु इनकी विध्वंसक शक्ति बड़ी भयंकर होती है।

हिमपात
(Snow-fall)

हिमपात वर्षा का ठोस रूप है। भाप के सघन होते समय जब हवा का तापमान 32° फा० से कम हो जाता है तो भाप हिम-कणों के रूप में प्रकट होती है। हिम बनने की क्रिया में जलवाष्प वायव्य अवस्था से सीधी ठोस अवस्था को प्राप्त हो जाती है। हिम के अति सूक्ष्म कण आपस में मिलकर सुन्दर श्वेत रेशों (flapes) में बदल जाते है और धुँध के समान वायुमण्डल में छाये रहते हैं। ऐसे श्वेत हिम की वर्षा जब धरती पर होती है तो बड़ा ही मनोरम दृश्य उप-स्थित हो जाता है। धरती पर ऐसी हिम-वर्षा तभी होती है जब वायुमण्डल का तापमान 32° फा० के आसपास हो, अन्यथा हिम-कण मार्ग में ही पिघलकर जल-कणों का रूप ग्रहण कर लेंगे। प्राय: ऐसी अवस्था ध्रुव प्रदेशों और शीतोष्ण कटिबन्ध में जाड़े की ऋतु में देखी जाती है। यही कारण है कि इन भागों में हिमपात बड़ी मात्रा में होता है। ऊँचे पर्वतीय भागों में जहाँ हवा में पर्याप्त आर्द्रता रहती है और हवा का तापमान भी कम रहता है, भारी हिमपात होता है।

हिमपात वर्षा का ही दूसरा रूप है। वर्षा के मानचित्र में हिमपात की मात्रा भी सम्मिलित होती है। अनुमानत. 12 इच हिम 1 इच वर्षा-जल के बराबर माना जाता है परन्तु इसका यह अनुपात हिम के घनत्व के अनुसार बदलता रहता है। कभी-कभी 3 इच हिम 1 इंच वर्षा-जल के बराबर होता है। यदि हिम वायुमण्डल में काफी ऊँचाई पर बना हो और धरातल का तापमान 32° फा० से ऊँचा हो तो हिम मार्ग में ही जलसीकरो का रूप धारण कर धरातल पर बूँदों के रूप में बरस पड़ेगा। मध्य अक्षांशों में होने वाली अधिकतर वर्षा का सूत्रपात हिम के रूप में ही होता है।

हिमपात मनुष्य के लिए सुखद भी है और दुखद भी। भारी हिमपात के कारण रेल और सड़क-यातायात एकदम पंगु हो जाते है और हजारों भेड़े तथा पशु दबकर मर जाते है। जब हिमपात के साथ प्रचण्ड हवा चलती है तो उसकी भयंकरता और भी बढ जाती है। हिमपात के कारण जमी बर्फ से ग्रीष्म में नदियों में भयंकर बाढ़े आती है जिससे धन-जन को अपार क्षति उठानी पड़ती है। रूस में प्रति वर्ष ग्रीष्म में ऐसी बाढ़ें आया करती है। सन् 1947 के बसन्त में ग्रेट ब्रिटेन मे बर्फ पिघलने के पश्चात आयी हुई बाढों के कारण किसानों को जो क्षति हुई वह 2,00,00,000 पौण्ड के लगभग आँकी गयी थी।[1] इसके विपरीत कई देशों में जाडे में होने वाला हिमपात स्वागत योग्य समझा जाता है, क्योंकि इससे बिना पहिये की गाड़ियों और लकड़ी के फिसलाने में बड़ी सहायता मिलती है। पूर्वी कनाडा, फिनलैण्ड आदि ठण्डे देशों में लकडी काटने, लट्ठे बहाने और लकड़ी चीरने आदि का व्यवसाय इसी बर्फ पर निर्भर करता है। शीतकाल में हिमपात के कारण धरातल पर जो बर्फ एकत्रित हो जाती है वह धीरे-धीरें पिघलती है। इसलिए जहाँ हिमपात होता है वहाँ कई फुट की गहराई तक भूमि तर हो जाती है। भूमि की इस तरी से खेती में बड़ा लाभ पहुँचता है। कनाडा के प्रेरीज के मैदानों मे भूमि इसी प्रकार तर रहती है, जिससे फसल पैदा करने में बड़ी सहायता मिलती है। बर्फ की तहें अपने नीचे दबी हुई वनस्पति को पाले की विषम ठण्ड से बचाती है। स्टेपी के मैदानों मे जाडे के अन्दर बर्फ नही जमी रहती है। अतएव वहाँ रात्रि के समय बहुत शीघ्र ताप परावर्तित हो जाता है और भूमि शीतल हो जाती है। इसी कारण इस प्रदेश मे पेड़-पौधे नहीं उगते।

---

1 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 227

12

वायु-राशियाँ और वाताग्र

(AIR-MASSES AND FRONTS)

वायु-राशियाँ
(Air-Masses)

वायुमण्डल की दशा कभी एकसी नही रही। वह प्रायः बदलती रहती है। वायुमण्डल की दशाओं को बदलने में तापमान, वायुदाब और वायु की आर्द्रता का ही विशेष हाथ होता है। परन्तु कभी-कभी वायुमण्डल की दशाओ मे असाधारण परिवर्तन देखे जाते है। ये असाधारण परिवर्तन वायुमण्डल मे चलने वाली विभिन्न वायु राशियो के कारण होते है। अनेक स्थानों पर उठने वाले चक्रवात और वहाँ प्रति क्षण परिवर्तित होने वाले मौसम के पीछे इन्ही वायु-राशियों का हाथ होता है। अतः पृथ्वी के विभिन्न भागों में चलने वाले चक्रवातों का समुचित ज्ञान करने तथा जलवायु और मौसम को भली प्रकार समझने के लिए वायु-राशियों का ज्ञान नितान्त ही आवश्यक है।

वायु-राशि वायुमण्डल का ही अंग है। वस्तुतः वायु-राशि वायुमण्डल के उस विस्तृत तथा सघन भाग को कहा जाता है जिसमें विभिन्न ऊँचाई पर क्षैतिज रूप से तापमान और आर्द्रता की अवस्थाएँ एक समान होती हैं। **फिन्च एवं ट्रीवार्था** के शब्दों में, **'वायु-राशि वायुमण्डल का वह विस्तीर्ण भाग है जिसकी तापमान और आर्द्रता सम्बन्धी विशेषताएँ क्षैतिज रूप में अपेक्षाकृत एक समान हों।'**[1]

पेटरसन महोदय ने वायु-राशि की व्याख्या करते हुए कहा है कि "An air mass is a huge body of air whose physical properties, notably temperature and humidity are more or less uniform horizontally."[2] अर्थात वायु-राशि वायु का एक वृहद भाग है जो अपने भौतिक गुणों मुख्यतः तापमान और आर्द्रता मे क्षैतिज रूप से लगभग एक समान होता है। **न्यूबर्जर तथा स्टेपहेन्स** के अनुसार, "वायु का वह वृहद समूह जो प्रत्येक स्तर पर तापमान और आर्द्रता की लगभग समान अवस्थाएँ रखता है, वायु-राशि कहलाता है।"[3]

---

1 "An air-mass is an extensive portion of the atmosphere whose temperature and humidity characteristics are relatively uniform in horizontal direction." —Trewartha : *Fundamentals of Physical Geography*, p. 189

2 Petterson : *Weather Analysis and Forecasting*

3 "A large body of air having more or less uniform temperature and moisture characteristics at each level is called an air mass."—Neuberger and Stephens : *Weather and Man*

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वायु-राशि का तापमान और उसकी आर्द्रता की अवस्थाएँ प्रायः एकसी होती है। ये अवस्थाएँ धरातल पर समान होती है। धरातल से ऊपर उठने पर इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो जाता है। वायु-राशि का विकास उसी अवस्था में होता है जब वायु-मण्डल एक लम्बे-चौड़े समान धरातल वाले भाग पर पर्याप्त काल तक शान्त रूप से बना रहे, जिससे वायु के तापमान और आर्द्रता की अवस्थाओं और उसके नीचे धरातल की अवस्थाओं में साम्य स्थापित हो जाय। इस प्रकार वायु-राशि के तापमान और आर्द्रता के गुण धरातल से ही प्राप्त होते है। धरातल के ऐसे एकसमान क्षेत्र जहाँ वायु-राशियों की उत्पत्ति होती है, वायु-राशि के उत्पत्ति क्षेत्र (source region) कहलाते है।

वायु-राशियों के सम्बन्ध मे यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जब एक बार वायु-राशि का विकास हो जाता है तो वह बहुत समय तक अपने उत्पत्ति क्षेत्र में नही बनी रहती। कभी न कभी वह अपना स्थान छोड़कर अन्य दूसरे स्थानों को चल देती है। दूसरे स्थानो पर पहुँच जाने पर वे वहाँ के मौसम पर अत्यधिक प्रभाव डालती हैं। ऐसी भीमकाय और एकसी वायु-राशि धरातल पर अपने उत्पत्ति क्षेत्र से बहुत दूर-दूर तक पहुँच जाती है। अपने उत्पत्ति क्षेत्र से बहुत दूर निकल जाने पर भी इनमें बहुत अधिक वही भौतिक गुण बने रहते हैं जो कि उत्पत्ति क्षेत्र से ये प्राप्त करती है। वायु-राशि मे परिवर्तन बडा धीरे-धीरे हुआ करता है, अत. इनके भीमकाय आकार और मन्द परिवर्तन के कारण इनकी दिन-प्रतिदिन की गति और नवीन वातावरण—जिस ओर यह चल रही है—के द्वारा किये गये परिवर्तनों को सरलता से ज्ञात किया जा सकता है। जब एक वायु-राशि अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर दूर चली जाती है तो न केवल वह नये वाता-वरण से ही प्रभावित होती है अपितु बदले में उस प्रदेश के मौसम को भी परिवर्तित कर देती है।

वायु-राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र
(Source-Regions of Air-Masses)

वायु-राशियों में एकरूपता (uniformity) का पाया जाना उनका मुख्य लक्षण है। अतः वायुराशियों के मुख्य उत्पत्ति क्षेत्र ससार के उन्हीं भागों मे पाये जा सकते है जहाँ धरातल लगभग एक समान हो। अतः भूतल के ऐसे एक समान क्षेत्र जहाँ वायु-राशियों की उत्पत्ति होती है, वायु-राशि के उत्पत्ति क्षेत्र (source region) कहलाते हैं। एक आदर्श उत्पत्ति क्षेत्र के लिए निम्न दशाएँ होनी चाहिए :

(1) वह क्षेत्र बहुत विस्तृत और समान स्वभाव वाला हो ताकि उस क्षेत्र में तापमान और आर्द्रता की दशाएँ भी समान हो सकें।

(2) उत्पत्ति क्षेत्र या तो पूर्ण रूप से स्थल भाग हो अथवा समुद्री भाग। स्थल एवं जल के मिले-जुले भागों में तापमान और आर्द्रता की दशाओं मे समानता नही रह सकती।

(3) वायुमण्डल की दशाएँ लम्बे समय तक स्थिर होनी चाहिए जिससे कि वायुराशि धरातलीय विशेषताओं को पूरी तरह अपने भीतर ग्रहण कर सके।

(4) उत्पत्ति क्षेत्र मे वायु का अभिसरण (convergence) नहीं होना चाहिए। इस प्रक्रिया के कारण वायु मे तापमान की विषमता उत्पन्न होगी जो वायुराशि के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी।

(5) यदि कहीं वायु में क्षैतिज गति हो तो वह अपसरण (divergence) के रूप में होनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वायु-राशियो की उत्पत्ति के लिए सर्वाधिक अनुकूल अवस्थाएँ उस क्षेत्र में पायी जायेंगी, जहाँ प्रति चक्रवातीय वायु व्यवस्था (Anti-cyclonic wind

system) पायी जाती हो। इस आधार पर हम वायु-राशियों के उत्पत्ति क्षेत्रों को निम्न भागों में बाँट सकते है :

(1) **ध्रुवीय और ध्रुववृत्तीय महाद्वीपीय क्षेत्र** (The Arctic and Polar Continental Source)—जाड़े की ऋतु में ध्रुववृत्तीय बर्फीले मैदान और उत्तरी अमरीका तथा यूरेशिया महाद्वीप के बर्फ से ढके हुए भाग इस क्षेत्र के अधीन होते है। यह क्षेत्र पूर्णतः प्रति-चक्रवातीय पवनों से प्रभावित रहता है। ग्रीष्म ऋतु में इन महाद्वीपो के केवल उत्तरी भाग ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशि के उत्पत्ति क्षेत्र बन जाते है।

(2) **उष्ण कटिबन्धीय समुद्री क्षेत्र** (The Tropical Maritime Source)—इसमें उपोष्ण प्रति-चक्रवात (sub-tropical anti-cyclones) के प्रदेश सम्मिलित है। यहाँ धरातल एकसा पाया जाता है और वायु-व्यवस्था मूलतः प्रति-चक्रवातीय रहती है।

(3) **उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय क्षेत्र** (The Tropical Continental Source)—शीतकाल मे यह उत्तरी अफ्रीका तक ही सीमित रहता है, परन्तु ग्रीष्म मे यह अफ्रीका, एशिया और दक्षिणी यूरोप के विस्तृत भागों तक फैला रहता है। उत्तरी अमरीका में ग्रीष्मकाल में मिसीसिपी के पश्चिम का शुष्क प्रदेश भी इसका क्षेत्र बन जाता है।

(4) **ध्रुवीय समुद्री क्षेत्र** (The Polar Maritime Source)—यह क्षेत्र उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी अन्ध महासागर तथा प्रशान्त महासागर में फैला रहता है। जाड़े के दिनों मे ध्रुवीय महाद्वीपीय क्षेत्रों से समीपीय समुद्रों की ओर बड़ी तीव्रता से हवाएँ चला करती है।

(5) **विषुवतरेखीय क्षेत्र** (The Equatorial Source)—यह क्षेत्र सन्मार्गी हवाओं के बीच विषुवतरेखीय पेटी में फैला रहता है। यहाँ का धरातल बहुत अधिक समरूप पाया जाता है। चूँकि यह पेटी प्रमुखत: समुद्रों पर फैली हुई है, अतः विषुवतरेखीय वायु में जलवाष्प की मात्रा बहुत अधिक रहती है। यहाँ नीचे का धरातल गरम होने से वायु-राशि प्रायः अस्थिर होती है।

(6) **मानसूनी क्षेत्र** (The Monsoon Source)—इसमें एशिया का दक्षिणी और दक्षिणी-पूर्वी भाग शामिल है। शीतकाल में ध्रुवीय महाद्वीपीय (polar continental) क्षेत्र से ठण्डी हवाएँ एशिया की पर्वत-मालाओं को पार कर विषुवत रेखा की ओर चला करती है। परन्तु ग्रीष्म में हवाएँ विषुवतरेखीय प्रदेश से दक्षिणी एशिया के भीतर चलती हैं। फलतः जाड़े की ऋतु अपेक्षाकृत ठण्डी और बहुत अधिक शुष्क होती है परन्तु ग्रीष्मकाल में ऊँचे तापमान, ऊँची सापेक्ष आर्द्रता और भारी वर्षा हुआ करती है।

वायु-राशियों का वर्गीकरण
(Classification of Air-Masses)

वायुराशियों का विचार सर्वप्रथम नार्वे निवासी बी. विजकिन्स ने प्रस्तुत किया था। उसने वायुराशियों को दो प्रकार से वर्गीकृत किया :

(1) भौगोलिक वर्गीकरण
(2) उष्मागतिक वर्गीकरण

(1) भौगोलिक वर्गीकरण

वायुराशियों का भौगोलिक वर्गीकरण उनके उत्पत्ति क्षेत्रों पर आधारित है जिनका वर्णन हम पीछे कर चुके है। भौगोलिक वर्गीकरण संक्षिप्त रूप से आगे दिया जा रहा है :[1]

---

1 Petterssen ; *Introduction to Meteorology*, p. 128

चिह्न	नाम	जाड़े का स्रोत	ग्रीष्म का स्रोत	विशेष
A	ध्रुव वृत्तीय (Arctic)	1	1	ग्रीष्म मे महत्त्वहीन
Pc	ध्रुवीय महाद्वीपीय (Polar cotinental)	2	2	जाड़े मे तीव्र
Pm	ध्रुवीय समुद्री (Polar maritime)	3	3	
Tc	उष्ण महाद्वीपीय (Tropical continental)	6	4	ग्रीष्म में मुख्य
Tm	उष्ण समुद्री (Tropical maritime)	7 से 5	5	
E	विषुवतरेखीय (Equatorial)	8	6	
M	मानसून (Monsoon)	9	7	
S	सुपीरियर (Superior)	मध्य अक्षांशो में स्वच्छ वायुमण्डल में प्रतिचक्रवातों में नीचे उतरती हुई वायु द्वारा बनती है।		

(2) **उष्मागतिक वर्गीकरण**

जब किसी क्षेत्र में वायु-राशि का आविर्भाव हो जाता है तो वह उस क्षेत्र की वायुदशाओं को आत्मसात कर आगे बढ़ जाती है। आगे चलते समय ये अपने मार्ग में पड़ने वाले क्षेत्र के न केवल मौसम को ही प्रभावित करती हैं अपितु उनके तापमान और आर्द्रता में भी परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं। किन्तु ऐसा परिवर्तन निम्न तीन बातों पर निर्भर करता है : (i) स्थलीय अथवा जलीय सतह का स्वभाव, (ii) उत्पत्ति क्षेत्र से प्रभावित क्षेत्र तक वायु-राशि का गमन मार्ग और (iii) उत्पत्ति क्षेत्र से प्रभावित क्षेत्र में पहुँचने की अवधि।

जब किसी वायु-राशि के निचले भाग का तापमान उस सतह से कम होता है जिस पर वह पहुँचती है तो वायु-राशि का निचला भाग सतह के अधिक तापमान के कारण गर्म होने लगता है। फलस्वरूप वायु-राशि मे लम्बवत गति होने लगती है और अस्थिर (unstable) हो जाती है। इसके विपरीत जब वायु-राशि के नीचे के भाग का तापमान उस सतह से अधिक होता हैं, जिस पर वह पहुँचती है तो वायु-राशि नीचे से ठण्डी होती है। परिणामस्वरूप उसमे लम्बवत गति रुक जाती है और वह स्थिर (stable) हो जाती है। उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब वायु-राशि धरातलीय तापमान की अपेक्षा गर्म होती है तो वह **गर्म वायुराशि** (W) कहलाती है, परन्तु जब वह धरातलीय तापमान की तुलना में ठण्डी होती है तो वह **ठण्डी वायुराशि** (K) कहलाती है। इस प्रकार गर्म वायु-राशि का उच्च तापमान और ठण्डी वायुराशि का न्यून तापमान से कोई सम्बन्ध नहीं है। वायु-राशि का गर्म अथवा ठण्डा होना वस्तुतः उसके नीचे स्थित धरातल के तापमान पर निर्भर करता है।

वायु-राशियों में उष्मागतिक परिवर्तन उस समय भी हो जाता है जबकि बाहर से उसमें आर्द्रता का समावेश हो जाता है। जब किसी वायु-राशि में वायु नीचे से ऊपर उठती है तो वह अस्थिर होती है और जब वायु ऊपर से नीचे उतरती है तो वह स्थिर होती है। वायु-राशियों में ऐसा यान्त्रिक परिवर्तन क्रमशः चक्रवात और प्रतिचक्रवातों से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार उष्मागतिक आधार पर वायु-राशियों के दो मुख्य प्रकार है : (i) उष्ण वायु-राशियाँ और (ii) शीतल वायु-राशियाँ। इनके पुनः स्थिर और अस्थिर दो भेद किये जाते है :

(1) **ठण्डी वायु-राशियाँ**—वे वायु राशियाँ जो अपने नीचे के धरातल से अधिक ठण्डी होती है, ठण्डी वायु-राशियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार की वायु-राशियाँ अपने नीचे के धरातल से ताप ग्रहण करती रहती है जिससे शनैः-शनैः उनमे परिवर्तन होता रहता है।

(2) **उष्ण-वायु-राशियाँ** (Warm Air-masses)—वे वायु-राशियाँ जो अपने नीचे के धरातल से अधिक गरम होती है, उष्ण वायु-राशियाँ कहलाती है। वायु-राशियाँ नीचे के धरातल को अपना तापमान छोडती जायेगी और नीचे से शीतल होती चलेगी।

वायु-राशियों के उपरोक्त दोनो वर्गीकरण जो उत्पत्ति क्षेत्रो और वायु-राशि के भिन्न चरित्रो पर आधारित है, वस्तुतः एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के पूरक है। जैसे 'ध्रुवीय समुद्री शीतल वायु-राशि' (a cold mass of maritime polar air) से आशय उस विशाल वायु-राशि से है जो कि ध्रुवों से पैदा हुई है और जो ऐसे समुद्रों से होकर गुजर रही है जो कि वायु से अधिक उष्ण है। जिस ऋतु और समय में यह वायु-राशि समुद्र के प्रभाव मे रहती है यदि उसको हम ध्यान में रखें और विचार करे तो वायु-राशि के उपरोक्त नाम से हमे एक निश्चित मौसम का, जो उस पूरी वायु-राशि का लक्षण है, भान हो जायगा।

शीतल वायु राशि के गुण (Properties of a Cold Air-mass)

साधारणतः शीतल वायु-राशियों के उत्पत्ति क्षेत्र ध्रुववृत्तीय और ध्रुवीय प्रदेश होते है। किन्तु जाड़े की ऋतु में शीतल वायु-राशियाँ 30° उत्तरी अक्षांश तक महाद्वीपो पर भी पनप सकती है। अपने उत्पत्ति क्षेत्रो में वायु-राशियाँ नीचे से शीतल होती है और इनमे निम्न लक्षण देखे जाते हैं :

(1) स्थायी स्तरों का पाया जाना (मुख्यतः नीचे के भाग में),
(2) निम्न सापेक्षिक आर्द्रता,
(3) न्यून तापमान।

जब ऐसी वायु-राशि किसी कारणवश उष्ण भागों की ओर चल देती है तो वह वहाँ उस धरातल से भी न्यून तापमान पर पहुँचेगी जिस पर वह चल रही है। वायु-राशि तब नीचे से गरम होती जायगी और शीघ्र ही नीचे की तहों में अस्थिरता उत्पन्न हो जायगी। यह अस्थिरता शनैः-शनैः ऊपर की ओर पहुँचती रहेगी। यदि वायु राशि में प्रारम्भ ही से तापमान की उल्टी अवस्था हुई तो वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगी और उसमे संवहन धाराएँ चलने लगेंगी।
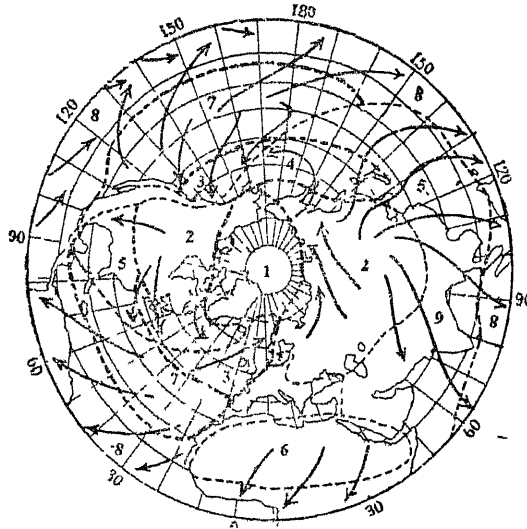
चित्र 125—शीतकालीन वायु-राशियाँ

यदि वायु-राशि समुद्रों पर होकर गुजरती है तो वह नमी धारण कर लेगी और वह नमी सवहन धाराओं द्वारा बराबर ऊपर से ऊपर पहुँचती रहेगी। धीरे-धीरे उससे कपासीवर्षी (cumulonimbus) मेघ पैदा हो जायेंगे। यदि वायु-राशि स्थल से होकर गुजरती है तो यह नीचे से गरम होती जायगी। परन्तु वह बहुत अधिक नमी धारण नहीं करेगी। इस

अवस्था मे उपरोक्त बादलों का निर्माण नही होगा । इस अवस्था मे बादलो की रचना तभी सम्भव है, जबकि अस्थिरता वायु मे बहुत अधिक ऊँचाई तक पहुँच चुकी हो । इसी कारण महाद्वीपीय शीतल वायु-राशियों के पीछे सदैव स्वच्छ मौसम रहता है ।

महाद्वीपो पर चलने वाली शीतल वायु-राशि और समुद्रो पर चलने वाली वायु-राशि में जो मुख्य भेद रहता है वह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा । मान लीजिए, ग्रीष्म की वायु सस्केचवान (Saskatchawan) से दक्षिण की ओर टेक्सास को चलती है । यह वायु-राशि 30° फा० या उससे भी अधिक गरम हो जाने के उपरान्त भी स्वच्छ बनी रहती है और कुछ ही बिखरे हुए कपासी मेघ बन पाते है क्योकि जब यह गरम होती है तो बहुत अधिक नमी धारण नही करती । इसके विपरीत जब शुष्क और शीतल वायु टेक्सास से मेक्सिको की खाडी की ओर चलती है तो तट से 160 किलोमीटर की दूरी पर यद्यपि वायु 15° फा० ही गरम हो पाती है—घने कपासी और कपासी-वर्षी मेघ दिखाई देने लगते है । क्योकि वायु बहुत अधिक गरम होती रही है और साथ ही नीचे बड़ी मात्रा मे नमी धारण करती रही है ।

समुद्री शीतल वायु-राशि (maritime cold mass) अधोलिखित लक्षणो द्वारा पहचानी जा सकती है .

(1) बढ़ती हुई आर्द्रता और तापमान ।

(2) ऊपर उठती हुई वायु के शीतल होने की तीव्र गति और अस्थिरता ।

(3) तूफान, झझावात और झोंके ।

(4) कपासी और कपासी-वर्षी मेघ ।

(5) परिवर्तनशील आकाश (काले से लेकर स्वच्छ और चमकता हुआ आकाश) ।

(6) बौछारो का होना, जो शीघ्र ही प्रारम्भ होती है और शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं।

(7) बौछार के बीच में अच्छी दृश्यता होना ।

(8) बादलो के आधार की ऊँचाई सामान्य होती है, पर कभी भी एक हजार फुट से नीचे नही ।

महाद्वीपीय शीतल वायु-राशि निम्न बातों द्वारा पहचानी जा सकती है :

(1) बढ़ता हुआ तापमान और स्थिर आर्द्रता ।

(2) ऊपर उठती हुई वायु के शीतल होने की तीव्र गति और अस्थिरता ।

(3) बिखरे हुए कपासी बादल और यदाकदा कपासी-वर्षी ।

(4) मध्याह्न के उपरान्त दैनिक मेघाच्छन्नता ।

(5) यदि वर्षा होती है तो बौछारो के रूप मे और बीच-बीच में चमकीले आकाश का दिखाई देना ।

(6) बदलती हुई दृश्यता (पर सामान्यतः अच्छी) ।

(7) बादलों के आधार की ऊँचाई कभी भी 2000 फुट से कम नही होती है ।

जब समुद्री शीतल वायु-राशि ग्रीष्म मे महाद्वीपों से होकर गुजरती है तो उसकी अस्थिरता तीव्र हो जाती है और बौछारों की गति व तीव्रता भी बढ जाती है । किन्तु जब समुद्री शीतल वायु-राशि महाद्वीपो से जाड़े में गुजरती है तो उसकी अस्थिरता घट जाती है और बौछारों की तीव्रता भी कम पड़ जाती है । धीरे-धीरे कपासी बादल फैलने लग जाते है और फैलकर स्तरी, स्तरी-कपासी या वर्षी-स्तरी मेघो के सदृश रूप धारण कर लेते है । यह प्रभाव पहले नीचे की तहो में दृष्टिगोचर होता है और फिर ऊपर की ओर बढता जाता है ।

जब एक महाद्वीपीय वायु-राशि ग्रीष्म में समुद्रो के ऊपर होकर चलती है तो उसमें

स्थिरता पैदा हो जाती है । पर जब महाद्वीपीय वायु-राशि समुद्र से जाड़ों मे गुजरती है तो उसकी अस्थिरता बढ जाती है और बौछारों की गति और तीव्रता भी अधिक हो जाती है ।

शीतल वायु-राशि मे वर्षा की गतिविधि उसकी अस्थिरता के प्रभाव को नष्ट कर देती है । यह अवस्था इसलिए पैदा होती है कि वर्षा के समय छोड़ी गयी गुप्त ताप शक्ति (latent heat) संघनन की सीमा से भी अधिक हो जाती है । इस कारण एक दीर्घकालिक शीतल वायु-राशि क्रमश: स्थिर और सन्तुलित अवस्था को प्राप्त हो जाती है । यही कारण है कि प्राय: एक शीतल वायु-राशि जो संयुक्त राज्य अमरीका से अन्ध महासागर को पार कर पश्चिमी यूरोप को पहुँचती है, बड़ी ही स्थिर अवस्था में पहुँचती है । जो वायु-राशियाँ शीघ्रता से और सीधी ध्रुवीय प्रदेशो से चलकर आती है उनमें सर्वाधिक अस्थिरता पायी जाती है ।

उष्ण वायु-राशियों के गुण (Qualities of Warm Air-Masses)

उष्ण वायु-राशियों के सबसे महत्त्वपूर्ण उत्पत्ति-क्षेत्र समुद्री भागों के उपोष्ण प्रति-चक्रवात है । ग्रीष्म मे उष्ण वायु-राशियाँ दक्षिणी महाद्वीपो—विशेषकर प्रतिचक्रवातीय प्रदेशों—के ऊपर भी पनप जाया करती है ।

उपोष्ण समुद्री प्रति-चक्रवातो की वायु उष्ण और स्थिर होती है । उसमे नमी की मात्रा भी अधिक पायी जाती है। जब ऐसी वायु-राशि ठण्डे प्रदेशों की ओर चलती है तो उसका तापमान अपने नीचे के धरातल से बहुत अधिक होता है । वायु-राशि धीरे-धीरे नीचे से शीतल हो जाती है और उसकी निचली तहें लगातार स्थिर होती जाती है । इस प्रकार की स्थिरता जो वायु-राशि मे बढती जाती है, वायु विक्षोभों मे बाधा पहुँचाती है और संवहन धाराओ को बिलकुल बन्द कर देती है । इस क्रिया का परिणाम यह होता है कि वायु-राशि की निचली तहें ही शीतल हो पाती हैं । वायु की ऊपरी तहें केवल विकिरण द्वारा शनैः-शनैः शीतल होती हैं । परन्तु यह प्रभाव नगण्य होता है ।
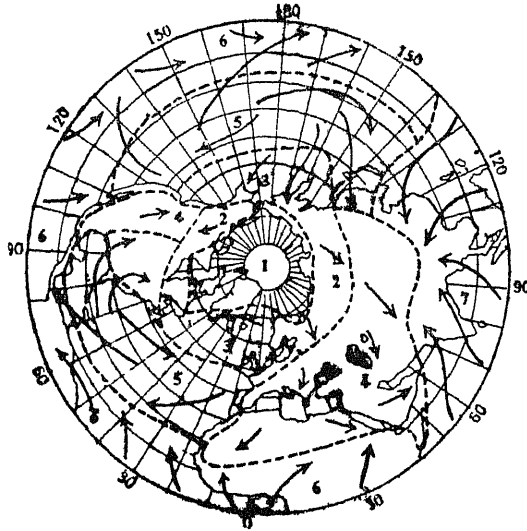
चित्र 126—उष्णकालीन वायु-राशियाँ

नीचे से बराबर शीतल होते रहने के परिणामस्वरूप पृथ्वी के धरातल की वायु ओस-बिन्दु से भी नीचे ठण्डी हो जाती है । ऐसी अवस्था में कुहरा उत्पन्न हो जाता है । यदि पवन की गति तेज हुई तो वायुमण्डल में ऊपर-नीचे वायु-धाराएँ चलने लग जायेंगी और तब कुहरे की अपेक्षा परतीले बादल बनने लगेंगे ।

उष्ण वायु-राशि निम्न लक्षणों द्वारा पहचानी जा सकती है :

(1) ऊपर उठती हुई वायु के शीतल होने की स्थिर गति या निम्न तहों में उल्टे तापमान का पाया जाना ।

(2) सूक्ष्म विक्षोभ, चुस्त पवनें ।

(3) कमजोर दृश्यता ।

(4) ऊँची सापेक्षिक आर्द्रता ।
(5) स्तरी मेघ, धुंध और कुहरा ।
(6) बूंदाबांदी का होना ।

जो हवा शान्त मेखलाओं (doldrums) या उपोष्ण प्रति-चक्रवातों के पश्चिमी भागों से आती है और जो ग्रीष्म मे महाद्वीपों के ऊपर पैदा होती है, प्राय अस्थायी रूप से अस्थिर (conditionally unstable) होती है। जब ऐसी वायु-राशि ठण्डे क्षेत्रों की ओर चलती है तो वह नीचे से स्थिर होगी, परन्तु ऊपर बहुत अधिक ऊँचाई पर वह अस्थायी तौर से अस्थिर बनी रहेगी। अतः इसमे धरातल के निकट उष्ण वायु-राशि के गुण होंगे, परन्तु ऊपर शीतल वायु-राशि के गुण रहेंगे। ऐसा मुख्यत अयन-वृत्तीय वायु के साथ होता है।

जब एक उष्ण वायु-राशि उष्ण महाद्वीप को गर्मी में पार करती है तो उसमे शीघ्रता से अस्थिरता पैदा हो जाती है और वायु उष्ण-राशि से शीतल राशि मे बदल जाती है। इसके विपरीत जाड़ो मे स्थिरता बढ जाती है और विस्तृत भागो में कुहरा छा जाता है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम संसार की समस्त वायु-राशियो को मोटे रूप में 16 प्रकारो में विभक्त कर सकते है, जो निम्न प्रकार है .

महाद्वीपीय ध्रुवीय cP	1.	महाद्वीपीय	ध्रुवीय	शीतल	स्थिर	वायु	राशि	(cPKS)[1]
	2.	,,	,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(cPKU)
	3.	,,	,,	गर्म	स्थिर	,,	,,	(cPWS)
	4.	,,	,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(cPWU)
सागरीय ध्रुवीय mP	5.	सागरीय	ध्रुवीय	शीतल	स्थिर	वायु	राशि	(mPKS)
	6.	,,	,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(mPKU)
	7.	,,	,,	गर्म	स्थिर	,,	,,	(mPWS)
	8.	,,	,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(mPWU)
महाद्वीपीय उष्ण कटिबन्धीय cT	9.	महाद्वीपीय	उष्ण कटिबन्धीय	शीतल	स्थिर	वायु	राशि	(cTKS)
	10.	,,	,, ,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(cTKU)
	11.	,,	,, ,,	गर्म	स्थिर	,,	,,	(cTWS)
	12.	,,	,, ,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(cTWU)
सागरीय उष्ण कटिबन्धीय mT	13.	सागरीय	उष्ण कटिबन्धीय	शीतल	स्थिर	वायु	राशि	(mTKS)
	14.	,,	,, ,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(mTKU)
	15.	,,	,, ,,	गर्म	स्थिर	,,	,,	(mTWS)
	16.	,,	,, ,,	,,	अस्थिर	,,	,,	(mTWU)

विभिन्न महाद्वीपो मे पायी जाने वाली प्रमुख वायु राशियों का वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है :

---

[1] c महाद्वीपीय (continental)
P ध्रुवीय (Polar)
K शीतल (Cold or Kalt)
S स्थिर (Stable)
U अस्थिर (Unstable)
W गर्म (Warm)
T उष्ण कटिबन्धीय (Tropical)
m सागरीय (maritime)

उत्तरी अमरीका की वायु-राशियाँ
(North American Air-Masses)

उत्तरी अमरीका में पायी जाने वाली प्रमुख वायु-राशियाँ निम्न हैं :

(1) **ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशियाँ** (Polar Continental Air-Masses)—ये वायु-राशियाँ शीतकाल मे जन्म लेती है। इनका उत्पत्ति-स्थान आर्कटिक क्षेत्र, कनाडा का उत्तरी भाग तथा अलास्का है। ये वायु-राशियाँ शीतल और शुष्क होती हैं, इसलिए स्थिर रहती है। उत्तर से ये वायु-राशियाँ दक्षिण की ओर चलती है। मिसीसिपी के मैदान मे पहुँचने पर ये अस्थिर हो जाती है। ये वायु-राशियाँ ग्रीष्म ऋतु में धरातल की अपेक्षाकृत शीतल होती है। अतः इनकी निचली तहें उष्ण धरातल के संसर्ग से गरम होकर अस्थिर (CPK) हो जाती हैं।

(2) **ध्रुवीय समुद्री वायु-राशियाँ** (Polar Maritime Air-Masses)—उत्पत्ति क्षेत्र के आधार पर ध्रुवीय समुद्री वायु-राशियों के दो भेद है :

(क) **प्रशान्त महासागरीय ध्रुवीय वायु-राशि** (Polar Pacific Air-Mass)—यह वायु-राशि उत्तरी प्रशान्त महासागर मे उत्पन्न होती है। जाड़ो में यह वायु-राशि बहुत ही शीतल और शुष्क होती है। जब यह वायु-राशि उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट की ओर अग्रसर होती है तो तटीय श्रेणियो के सम्पर्क से खूब वर्षा करती है। पहाड़ी श्रेणियों को पार कर जब वायु-राशि पूर्व की ओर मैदान मे पहुँचती है तो इसमें अत्यधिक परिवर्तन हो जाते है। इस वायु-राशि का प्रभाव मुख्यत उत्तरी अमरीका के पश्चिमी भाग पर होता है।

(ख) **अन्धमहासागरीय ध्रुवीय वायु-राशि** (Atlantic Polar Maritime Air-Mass)—इस वायु-राशि का उत्पत्ति क्षेत्र काड़ अन्तरीप और न्यूफाउण्डलैण्ड का मध्यवर्ती भाग है। इसका प्रभाव उत्तरी अमरीका के पूर्वी तट पर पड़ता है। जाड़ों में पछुवा हवाओं के प्रभाव से यह शिथिल पड़ जाती है। इसका सर्वाधिक प्रभाव बसन्त और ग्रीष्मऋतु मे होता है।

(3) **उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय वायु-राशि** (Tropical Continental Air-Mass)—उत्तरी अमरीका का दक्षिणी भाग ग्रीष्मऋतु मे बहुत गरम रहता है। अतः मेक्सिको एवं संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी भागों में उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय वायु-राशि (CT) का विकास होता है। यहाँ स्थल भाग सकीर्ण होने से इस वायु-राशि का पूर्ण विकास नही हो पाता। यह वायु-राशि ग्रीष्म ऋतु मे अत्यन्त गरम और शुष्क होती है। पूर्व की ओर अग्रसर होने पर यह मिसीसिपी के मैदान की जलवायु को प्रभावित करती है।

(4) **उष्ण कटिबन्धीय समुद्री वायु-राशि** (Tropical Maritime Air-Mass)—इस वायु-राशि के उत्पत्ति-क्षेत्र के आधार पर दो भेद किये जाते है :

(क) **उष्ण अन्ध महासागरीय वायु-राशि** (Tropical Atlantic Air-Mass)—यह एक उष्ण और आर्द्र वायु-राशि है। इसका उत्पत्ति क्षेत्र मेक्सिको की खाड़ी, कैरेबियन सागर, सारगासो समुद्र और पश्चिमी द्वीप समूह है। जाड़ों में यह वायु-राशि स्थल की ओर चलती है जिससे संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी-पूर्वी भाग की जलवायु पर बड़ा प्रभाव होता है। ठण्डे धरातल के सम्पर्क से यह वायु-राशि घना कुहरा और धुँध उत्पन्न करती है।

(ख) **उष्ण प्रशान्त महासागरीय वायु-राशि** (Pacific Tropical Air-Mass)—यह भी एक उष्ण और आर्द्र वायु-राशि है जो उपोष्ण कटिबन्धीय पूर्वी प्रशान्त महासागर में उत्पन्न होती है। ग्रीष्मऋतु मे यह वायु-राशि शिथिल रहती है परन्तु शीतऋतु में प्रति चक्रवातों के प्रभाव में आने के कारण स्थिर बनी रहती है। जाड़ों मे पश्चिमी तटो पर खूब वर्षा होती है।

यूरोप की वायु-राशियाँ
(European Air-Masses)

(1) **ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशि** (Polar Continental Air-Mass)—इस वायु-राशि का उत्पत्ति-क्षेत्र सोवियत रूस और फिनलैण्ड के हिमाच्छादित भाग है। यह कम तापमान और न्यूनआर्द्रता की वायु-राशि है। अत्यधिक स्थिरता इसका प्रधान गुण है। यह मुख्यतः पूर्वी तथा मध्य यूरोप को प्रभावित करती है। पछुवा हवाएँ इसको पश्चिम की ओर बढने से रोक देती हैं, अतः पश्चिमी यूरोप मे इसका कोई महत्त्व नही रहता। ग्रीष्म मे यह उत्तरी यूरोप में केन्द्रित हो जाती है जिससे इसका प्रभाव कमजोर हो जाता है।

(2) **ध्रुवीय समुद्री वायु-राशि** (Polar Maritime Air-mass)—यह एक गरम और आर्द्र वायु-राशि है जो अन्ध महासागर से महाद्वीप के भीतर प्रवेश करती है। इससे तटवर्ती क्षेत्रों और ऊँचे पर्वतीय भागो मे भारी वर्षा होती है। जाड़ों में यह वायु-राशि जैसे-जैसे भीतरी भागों की ओर बढती है, शीतल होती जाती है। फलस्वरूप वायु मे स्थिरता बढती जाती है। ग्रीष्म मे इसके विपरीत भागों की ओर अग्रसर होते समय वायु गरम हो जाती है जिससे वायु-राशि अस्थिर हो जाती है। वस्तुतः यूरोप महाद्वीप विभिन्न वायु-राशियों का संगम स्थल है। विभिन्न वायु-राशियों के संगम मे उनके मूल गुणों मे परिवर्तन हो जाता है।

(3) **उष्ण कटिबन्धीय समुद्री वायु-राशि** (Tropical Maritime Air-Mass)—यह एक शीतल, शुष्क और स्थिर वायु-राशि है। इसकी उत्पत्ति जाड़ो मे अन्ध महासागर के उत्तरी और पूर्वी उच्चदाब के क्षेत्र मे होती है। यह उत्तर दिशा की ओर चलती है। उत्तर की ओर बढ़ने पर यह अधिकाधिक शीतल होती जाती है जिससे इसकी स्थिरता बढ़ती जाती है। ध्रुवीय वायु की अपेक्षा इसमे गर्मी और आर्द्रता अधिक रहती है, परन्तु वायु के स्थिर रहने से वर्षा नही होती। ग्रीष्म-ऋतु में यह शिथिल पड़ जाती है।

(4) **भूमध्यसागरीय वायु-राशियाँ** (Mediterrenean Air-Masses)—भूमध्यसागरीय विभिन्न वायु-राशियों का संगम-स्थल है। यहाँ जाड़ो में ध्रुवीय समुद्री (mP), ध्रुवीय महाद्वीपीय (cP) और उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय (cT) वायु-राशियाँ आकर मिलती है। फलस्वरूप यहाँ प्रभावशाली अग्र (front) स्थापित हो जाता है। विभिन्न वायु-राशियों के सम्मिश्रण से उनके तापमान और आर्द्रता में परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। इन वायु-राशियों के कारण यहाँ घने बादल बनते है, वर्षा होती है और चक्रवाती आँधियाँ चलती हैं। मौसम बड़ा ही अस्थिर रहता है। ग्रीष्म ऋतु में यहाँ प्रति-चक्रवाती अवस्थाएँ रहती है, जिससे यहाँ गरम, शुष्क और स्थायी हवाएँ चलती है।

एशिया की वायु-राशियाँ
(Air-Masses of Asia)

(1) **ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशि** (Polar Continental Air-Mass)—यह एक शीतल और शुष्क वायु-राशि है जिसका उत्पत्ति-क्षेत्र साइबेरिया का उत्तरी बड़ा मैदान है। जाड़ों में यह वायु-राशि मध्य एशिया और पूर्वी एशिया तक फैली रहती है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र प्रति-चक्रवातों से प्रभावित रहता है। यह वायु-राशि ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर बढ़ती है, इसमें परिवर्तन होता जाता है। यह वायु-राशि हिमालय को पार नही कर पाती। अतः भारत इसके प्रभाव से मुक्त रहता है। इसका सर्वाधिक प्रभाव उत्तरी चीन और जापान पर होता है। चीन में यांगटिसी नदी के दक्षिण में उष्ण कटिबन्धीय समुद्री (mT) वायु-राशि के प्रभाव के कारण यह निर्बल हो जाती है। जापान मे पहुँचने के पूर्व यह समुद्र से गुजरती है जिससे गरम और आर्द्र हो जाती है और फलस्वरूप पश्चिमी जापान में भारी वर्षा करती है।

(2) **उष्ण कटिबन्धीय समुद्री वायु-राशि** (Tropical Maritime Air-Mass)—यह एक गरम, अति आर्द्र और अस्थिर वायु-राशि है। इसकी उत्पत्ति उष्ण समुद्रों मे होती है। यह वायु-राशि जैसे-जैसे महाद्वीप की ओर अग्रसर होती है, अस्थिरता बढ़ती जाती है, फलस्वरूप इससे दक्षिणी-पूर्वी एशिया, चीन एवं जापान में भारी वर्षा होती है। इन हवाओं का समूचे दक्षिणी-पूर्वी, पूर्वी और दक्षिणी एशिया की जलवायु पर प्रभाव पड़ता है।

दक्षिणी अमरीका की वायु-राशियाँ
(South American Air-Masses)

दक्षिणी अमरीका के उत्तरी भाग में उष्ण कटिबन्धीय समुद्री वायु-राशि (mP) का प्रसार रहता है। दक्षिण में भूमि के अभाव से ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशि (cP) लगभग अदृश्य रहती है। यहाँ समुद्रों के प्रभाव से ध्रुवीय समुद्री (mP) वायु-राशि प्रबल बनी रहती है। मध्य अक्षांशो में वायु-राशि की स्थिरता मे बड़ा अन्तर रहता है। इस भाग में पश्चिमी तट पर अस्थिर हवाएँ पायी जाती है जिससे वह शुष्क रहता है। इसके विपरीत अन्ध महासागरीय तट पर अच्छी वर्षा होती है।

अफ्रीका की वायु-राशियाँ
(African Air-Masses)

अफ्रीका के उत्तर में सहारा उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीप (cT) वायु-राशि का उत्पत्ति-क्षेत्र है। अफ्रीका के मध्य में विषुवतरेखीय प्रदेश मे वर्षपर्यन्त उष्ण कटिबन्धीय समुद्री (mT) वायु-राशि का प्रभाव रहता है। दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वी तट पर अस्थिर हवाओ के कारण वर्षा होती है परन्तु पश्चिमी तट पर स्थिर हवाओं के प्रभाव से कोई वर्षा नहीं होती। अफ्रीका का सुदूर दक्षिणी भाग ध्रुवीय समुद्री (mP) वायु-राशि के प्रभाव मे रहता है।

आस्ट्रेलिया की वायु-राशियाँ
(Australian Air-Masses)

आस्ट्रेलिया का अधिकांश भाग उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय (cT) वायु-राशि के प्रभाव में रहता है। ग्रीष्म में आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में उष्ण कटिबन्धीय समुद्री (mT) वायु-राशि के प्रभाव से अच्छी वर्षा हो जाती है। यहाँ भी पूर्वी और पश्चिमी तटों की वायु की स्थिरता में अफ्रीका व दक्षिणी अफ्रीका के समान ही अन्तर मिलता है। जाड़ों में दक्षिणी आस्ट्रेलिया ध्रुवीय समुद्री (mP) वायु-राशि से प्रभावित रहता है।

भारत की वायु-राशियाँ
(India Air-Masses)

शीतकाल में भारत के अन्दर उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय (cT) और ध्रुवीय महाद्वीपीय (Pc) वायु-राशियों का प्रभाव रहता है। उष्ण कटिबन्धीय महाद्वीपीय वायु-राशि की उत्पत्ति दक्षिणी-पश्चिमी एशिया में होती है। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग पर इसका अधिक प्रभाव रहता है। ध्रुवीय अथवा उपध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशि ज्यों-ज्यों उष्ण प्रदेश से गुजरती है उसके तापमान, आर्द्रता और स्थिरता में परिवर्तन हो जाते हैं। अतः दक्षिणी भारत में इसको Tc वायु-राशि कहते है। बंगाल की खाड़ी पर पहुँचते-पहुँचते इसमे और अधिक परिवर्तन हो जाते हैं। इसमें समुद्री वायु के गुण विकसित हो जाते है, अतः यहाँ इसको TcTm वायु-राशि कहते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में भारत मानसून (Em) वायु-राशि के प्रभाव मे रहता है। इसका उत्पत्ति-क्षेत्र हिन्द महासागर है। यह दक्षिण-पश्चिम दिशा से भारत में प्रवेश करती है और जैसे-जैसे आगे बढ़ती है इसमे परिवर्तन होते जाते हैं। उत्तरी-पश्चिमी भारत में Tc वायु-राशि और दक्षिणी राजस्थान में EmTc वायु-राशियाँ मिलती हैं।

वाताग्र
(Fronts)

वाताग्र से आशय

ऐसी वायु-राशियाँ जो अपने तापमान और आर्द्रता मे भिन्न होती हैं जब किसी प्रकार एक दूसरे के समीप पहुंच जाती है तो वे स्वतन्त्रतापूर्वक एक-दूसरी से मिल नहीं पाती। वे एक ढालू सीमा द्वारा एक-दूसरी से अलग बनी रहती हैं। इस प्रकार वाताग्र से आशय उस ढलुआ सीमा से है जिसके सहारे दो विपरीत स्वभाव वाली वायु-राशियाँ मिलती है। जहाँ कही दो भिन्न वायु-राशियों का अभिसरण होता है वहाँ उनके बीच एक विस्तृत संक्रमणीय प्रदेश (Transitional zone) स्थापित हो जाता है। इस संक्रमणीय प्रदेश को ही **वाताग्र प्रदेश** (Frontal zone) अथवा **वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र** (Area of frontogenesis) कहा जाता है।[1]

वाताग्र तथा वाताग्र उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई विद्वानों ने अपने मत प्रकट किये है। **पेटरसन** महोदय के अनुसार वाताग्री सतह एवं धरातली सतह को अलग करने वाली रेखा को **वाताग्र** कहते हैं तथा जिस प्रक्रिया द्वारा वाताग्र की उत्पत्ति होती है उसे **वाताग्र उत्पत्ति** (Frontogenesis) कहा जाता है।[2]

ट्रीवार्था के अनुसार, 'वाताग्र कोई रेखा नही होती अपितु वे पर्याप्त चौड़ाई वाले ऐसे क्षेत्र होते है जो 3 से 50 मील तक चौड़े होते हैं। इसके साथ ही वे क्षेत्र जहाँ दो भिन्न स्वभाव वाली वायु-राशियाँ आमने-सामने से आकर अभिसरण (converge) करती है तो उस अभिसरण क्षेत्र को **वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र** (area of frontogenesis) कहा जाता है।[3]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वाताग्र न तो धरातल के ऊपर लम्बवत रूप मे होता है और न धरातली सतह के समानान्तर ही। इसके विपरीत वह कुछ कोण पर झुका हुआ होता है। वाताग्र का ढाल पृथ्वी की घूर्णन गति पर आधारित होता है जो ध्रुवों की ओर बढता जाता है। इस प्रकार वाताग्र विपरीत स्वभाव वाली वायु-राशियो को अलग करने वाली ढलुवा सीमा सतह का ही दूसरा नाम है। जैसा कि ट्रीवार्था ने कहा है, "The sloping boundary surfaces separating contrasting air masses are called surface of discontinuity of front."[4]
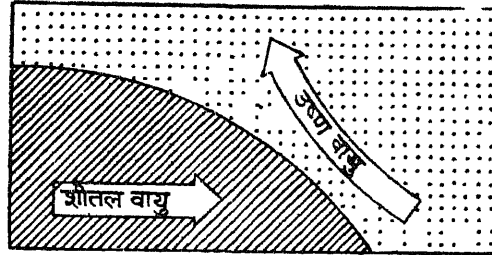
चित्र 127—वाताग्र की उत्पत्ति की दशा

वाताग्र अपनी उत्पत्ति के बाद कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में नष्ट हो जाते हैं। वाताग्रों के इस प्रकार लोप होने की प्रक्रिया को **वाताग्र क्षय** (Frontalysis) कहते हैं। किसी स्थान विशेष की जलवायु तथा मौसम को समझने के लिए आजकल जलवायु विज्ञान में वाताग्रों का अध्ययन बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया है, क्योंकि ये मौसम सम्बन्धी विशिष्ट अवस्थाओं को जन्म देते है जिन्हें चक्रवातीय

---

1 A. N. Strapler : *Physical Geography*, p. 200

2 Petterssen : *Introduction to Meteorology*, p. 200

3 "Fronts are not lines, but rather they are zones of appreciable width, varying from 3 to 50 miles in breadth."—Finch & Trewartha : *Elements of Geography*, p. 89

4 *Ibid*, p. 89

अथवा प्रतिचक्रवातीय अवस्थाएँ कहा जाता है। इस प्रकार वाताग्र चक्रवातों और प्रतिचक्रवातों के पालने कहे जाते है। ("Fronts are cradle of cyclones and anticyclones")

वाताग्र उत्पत्ति
(Frontogenesis)

वाताग्रों के बनने की क्रिया को **वाताग्र-उत्पत्ति** कहा जाता है। वाताग्रो की उत्पत्ति निम्न दो बातों पर आधारित है :

(i) **भौगोलिक कारक** (Geographical Factor)—जब दो भिन्न स्वभाव वाली वायु-राशियाँ एक-दूसरे के समीप आती है तो वाताग्रों की उत्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में वाताग्रों की उत्पत्ति के लिए तापमान और आर्द्रता की दृष्टि से वायु-राशियों में भिन्नता होना आवश्यक है।

(ii) **गतिक कारक** (Dynamic Factor)—वाताग्रों की उत्पत्ति के लिए वायु-राशियो में प्रवाह अर्थात् गति होना अत्यन्त आवश्यक है। पीटरसन (Petterssen) एव **बर्गरॉन** (Bergeron) नामक विद्वानों ने अपने अध्ययन के द्वारा इस बात को प्रमाणित किया है कि वायु-राशियों की गति वाताग्रों को तीव्र बना देती है। इस प्रकार वाताग्र बनने के लिए अभिसरण (convergence) की स्थिति का होना परम आवश्यक है।

वाताग्र उत्पत्ति एवं वाताग्र-क्षय क्षेत्र
(Areas of Frontogenesis and Frontolysis)

जिन क्षेत्रों मे दो भिन्न गुणों वाली वायु-राशियाँ आकर परस्पर मिलती हैं अर्थात् अभिसरण (converge) करती है उन क्षेत्रों को **वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र** (areas of frontogenesis) कहते हैं। उदाहरणत. जाड़े की ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में पूर्वी एशिया, उत्तरी अमेरिका का पूर्वी तट एवं ग्रीनलैण्ड आदि वाताग्र उत्पत्ति क्षेत्र होते हैं।

जिन क्षेत्रों से वायु-राशियाँ अपसरित (diverge) होती हैं उन क्षेत्रों में वाताग्रों का क्षय होने लगता है। अतः ऐसे क्षेत्रों को वाताग्र क्षय क्षेत्र (areas of frontolysis) कहा जाता है। साइबेरिया तथा उत्तरी कनाडा ऐसे ही क्षेत्र हैं।

वाताग्र-उत्पत्ति के लिए आवश्यक दशाएँ

धरातल पर वाताग्रों की उत्पत्ति कुछ विशिष्ट दशाओं मे ही होती है। प्रमुख रूप से ये दशाएँ निम्न है :

(1) **तापमान में भिन्नता**—वाताग्र की उत्पत्ति के लिए दो विपरीत तापमान वाली वायु-राशियों का होना आवश्यक है। इसमें एक वायु-राशि ठण्डी और शुष्क हो तथा दूसरी गर्म तथा आर्द्र हो। ये वायुराशियाँ जब परस्पर मिलती है तो ठण्डी वायु-राशि गर्म तथा हल्की वायु-राशि को ऊपर उठा देती है जिससे वहाँ वाताग्र का निर्माण हो जाता है।

(2) **वायु-राशियों की विपरीत दिशा**—जब कभी विपरीत तापमान वाली दो वायु-राशियाँ विपरीत दिशाओं से आकर आमने-सामने मिलती है तो एक-दूसरे के क्षेत्र में घुसने की चेष्टा करती है। परिणामस्वरूप उनके मिलन क्षेत्र में एक लहरनुमा वाताग्र बन जाता है। इसके विपरीत जब कभी दो भिन्न तापमान वाली वायु-राशियाँ आमने-सामने न मिलकर विपरीत दिशाओं की ओर चलने लगती हैं तो उस अवस्था में वहाँ वाताग्र का निर्माण नही हो सकता। पेटरसन ने विभिन्न पवन प्रवाह क्रमो को स्पष्ट कर यह बताने का प्रयास किया है कि किन अवस्थाओं में वाताग्र के निर्माण की सम्भावनाएँ होती है।

(i) **स्थानान्तरणी प्रवाह** (Translation Circulation)—इस प्रकार के पवन प्रवाह में हवाएँ क्षैतिज रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान को एक ही दिशा मे चलती है। इस दशा में तापमान

की विपरीत अवस्था पैदा नही हो पाती। फलस्वरूप इस प्रकार के पवन प्रवाह से वाताग्र की उत्पत्ति नही हो पाती।

(ii) **घूर्णन प्रवाह** (Rotation)—इसमें हवाएँ चक्रवातीय और प्रतिचक्रवातीय रूप मे प्रवाहित होती है। यद्यपि इस प्रकार के पवन प्रवाह मे विपरीत तापमान की अवस्थाएँ होती है परन्तु फिर भी वाताग्र की उत्पत्ति नही हो पाती। इसका कारण यह है कि हवाएँ विपरीत दिशाओं से आकर आमने-सामने नही मिलती।
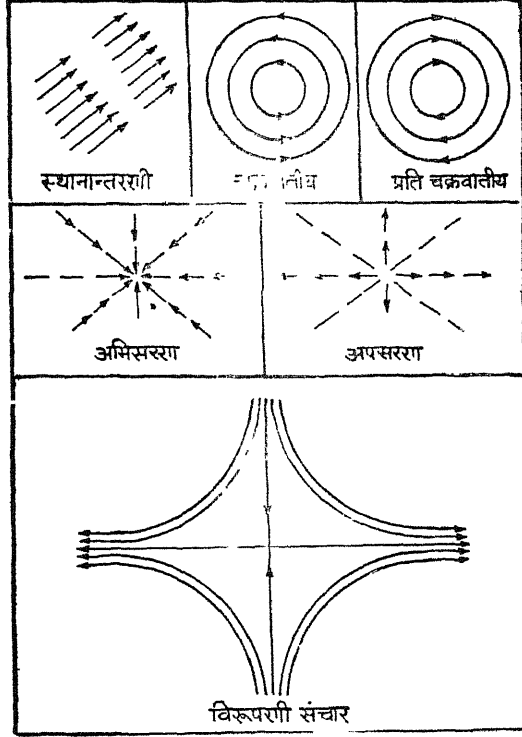
(iii) **अभिसरण तथा अपसरण** (Convergence and Dyvergence)—जब हवाएँ चारो ओर से आकर एक ही बिन्दु पर मिलती है तो वह अभिसरण की स्थिति होती है। इस स्थिति मे यद्यपि विपरीत तापमान की अवस्था रहती है फिर भी वाताग्र का निर्माण नही हो पाता, क्योंकि इस दशा मे विपरीत तापक्रम एक रेखा के सहारे न होकर एक केन्द्र पर होता है जहाँ चारों ओर की हवाएँ आकर तापमान और आर्द्रता की आदर्श दशाओं को भंग कर देती हैं। इसके विपरीत जब हवाएँ एक बिन्दु से चारो ओर को चलती है तो वे परस्पर कभी नहीं मिल पातीं जिससे वहाँ वाताग्र का निर्माण कदापि सम्भव नही होता। हवाओं की इस स्थिति को अपसरण कहते है।

चित्र 128—वायु प्रवाह और वाताग्र उत्पत्ति—
(1) स्थानान्तरणी (2) चक्रवातीय एवं प्रतिचक्रवातीय (3) अभिसरण और अपसरण (4) विरूपणी संचार

(iv) **विरूपणी प्रवाह** (Deformation Circulation)—इस प्रकार के पवन-प्रवाह में दो विपरीत तापमान वाली हवाएँ एक-दूसरे से क्षैतिज रेखा के सहारे आकर मिलती है। इस प्रकार की हवाएँ दो प्रकार की अक्ष-रेखाएँ बनाती है—(i) बाह्य प्रवाह अक्ष (axis of outflow) और (ii) अन्तः प्रवाह अक्ष (axis of inflow)। वाताग्र निर्माण की दृष्टि से पवन प्रवाह का यह क्रम सर्वाधिक अनुकूल होता है। फिर भी वाताग्र का बनना, न बनना स्थान विशेष की प्राकृतिक स्थिति तथा अक्षांशों पर निर्भर करता है।

वाताग्रों के प्रमुख लक्षण

वाताग्र प्रदेशों के मुख्यतः निम्न लक्षण देखे जाते है :

(i) **वाताग्र की गति**—यद्यपि ऋतु मानचित्रों पर वाताग्र स्थिर दृष्टिगोचर होते है किन्तु वस्तुतः वाताग्रों मे गति होती है। ये प्रायः 50 से 80 किलोमीटर प्रति घण्टे की गति से चलते है। इस प्रकार वाताग्र एक दिन-रात अथवा 24 घण्टों में एक विस्तृत क्षेत्र को पार कर जाते है।

(ii) **वाताग्र की ऊर्ध्व गति**—वाताग्र क्षेत्र में वायु सदैव नीचे से ऊपर उठती रहती है। इस प्रकार ऊर्ध्वगति वाताग्रो का एक प्रमुख लक्षण है। इस गति के कारण वाताग्र क्षेत्र मे उष्ण वायु शीतल वायु के ऊपर चढती है, क्योंकि उष्ण वायु हल्की एवं शीतल वायु भारी होती है। उष्ण व आर्द्र वायु के ऊपर उठने से मेघ बनते है और वर्षा होती है।

(iii) **वाताग्रों की गहराई**—वाताग्रों की रचना करने वाली वायु-राशियो मे ऊपरी तलो (upper levels) की अपेक्षा निम्न तलों (low levels) अर्थात् धरातल के समीप गति अधिक होती है। इसीलिए वाताग्रो की रचना ऊपरी भागो मे नही होती। सामान्यत: वाताग्रों की रचना 3000 मीटर के ऊपर बहुत कम और 5000 मीटर के ऊपर तो बिलकुल ही नही होती।

(iv) **वाताग्रों की चौड़ाई**—वाताग्रो की कोई निश्चित चौड़ाई नही होती। ये प्राय 5 से 80 किलोमीटर चौड़े होते है।

(v) **वाताग्रों का भंग होना**—वाताग्र मे दोनो ओर की वायु-राशियो के गुण भिन्न होते है। जब वायु-राशियो के अपने गुणों का फैलाव बहुत विस्तृत क्षेत्र मे हो जाता है तो वाताग्र भग हो जाते है। वायु-राशियो के गुणो मे तापमान, वायुदाब, पवन दिशा, प्रवणता आदि मुख्य है। वायु-राशियों के इन गुणो मे परिवर्तन के साथ ही वाताग्र की समाप्ति हो जाती है।

वाताग्रों के प्रकार

वाताग्रो के मुख्य चार प्रकार है जो निम्न हैं :

(1) **उष्ण-वाताग्र** (Warm Front)—आगे बढती हुई उष्ण वायु-राशि जब किसी ठण्डी वायु-राशि के ऊपर चढती है तो पृथ्वी के धरातल पर इन दोनो को अलग करने वाली रेखा उष्ण-वाताग्र (warm front) कहलाती है। दूसरे शब्दों में, उष्ण-हवा के अन्तिम छोर को उष्ण-वाताग्र कहते है।

उष्ण-वाताग्र कभी भी उतना लहरदार नहीं होता जितना कि शीत-वाताग्र। उष्ण-वाताग्र सदा उष्ण से शीतल भाग **की ओर अथवा दायीं ओर** से बायी ओर बढता है। इस उग्र मे असांतत्य सतह (discontinuity surface) का ढाल अपेक्षाकृत मन्द होता है। यह ढाल प्राय: 1 . 100 से 1 : 400 तक होता है। चूंकि इसमे उष्ण वायु शीतल वायु के ऊपर चढती है इसलिए इसका भार कम हो जाता है जिससे सघनन बढता है और वर्षा होती है। इसमें तापमान और पवन प्रवाह की दिशा का **परिवर्तन एकदम न होकर** धीरे-धीरे होता है। ऊपर उठती हुई उष्ण वायु बड़े विशाल **घने बादलों को जन्म देती** है।
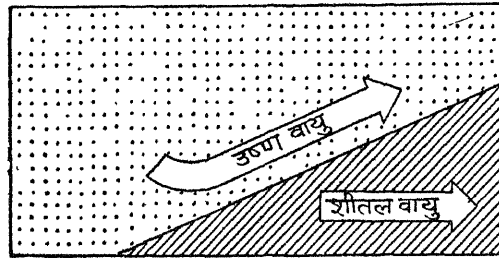
चित्र 129—उष्ण-वाताग्र का पार्श्व चित्र

ऐसे बादलो की चौड़ाई 100 से 300 मील और लम्बाई 1000 मील से अधिक देखी जा सकती है। असांतत्य सतह के मन्द ढाल के कारण बादलों की ऊँचाई 6,000 से 20,000 फुट के बीच मे पायी जाती है। इस प्रकार उष्ण-वाताग्र अथाह ऊँचाई वाले और विस्तृत रूप से फैले हुए बादलों को जन्म देता है। प्राय: ये बादल आकाश में ऐसे भाग मे पहुँच जाते है जहाँ तापमान हिमांक बिन्दु (freezing point) के लगभग होता है। अत: बादलों का ऊपरी भाग इतना अधिक शीतल हो उठता है कि वहाँ बादल सामान्यत: हिमकणों से लदे रहते है। इसी कारण वर्षा हुआ करती है। इस अग्र में बादलो का क्रम निम्न प्रकार रहता है। ऊपर ही ऊपर सदा पक्षाभ (cirrus) अथवा पक्षाभस्तरी (cirro-stratus) बादल रहते है। यदि ऊपर उठती हुई हवा अस्थिर हुई तो पक्षाभ-

कपासी (cirrocumulus) बादल बनेगे । ज्यो-ज्यो अग्र शीतल वृत्तांश की ओर बढता है, बादल नीचे और घने होते जाते है । ऊँचे-स्तरी और ऊँचे-कपासी बादल स्तरी-कपासी बादल मे बदलकर अन्त मे वर्षी मेघो का रूप धारण कर लेते है । ऊँचे-स्तरी बादल बनने के साथ ही वर्षा प्रारम्भ हो जाती है जो धरातलीय अग्र (surface front) के निकल जाने तक होती रहती है । वर्षा प्रारम्भ होने के बाद प्रायः असातत्य रेखा (line of disconti-nuity) के नीचे शीतल वायु-राशि में बादल और कुहरा बनने लग जाता है ।

चित्र 130—उष्ण-वाताग्र

उष्ण-वाताग्र में मौसम का रूप वहाँ चलने वाली उष्ण वायु की प्रकृति पर निर्भर रहता है । यदि वायु शुष्क और स्थिर हुई तो संघनन (conden-sation) के लिए हवा का बहुत ऊँचाई तक ऊपर उठना अनिवार्य हो जाता है । इस प्रकार होने वाली वर्षा बड़ी हल्की होगी । पर यदि वायु कुछ अस्थिर हुई तो शीतल वायु के ऊपर वह बड़ी तेजी से चढेगी जिससे बौछार आयेगी और झंझावात पैदा होंगे ।

असांतत्य रेखा के मन्द ढाल और बहुत अधिक विस्तार के कारण उष्ण-वाताग्र की वर्षा तेज, लगातार और बड़े विस्तृत भाग मे होती है । परन्तु कभी भी बहुत भारी नही होती ।

धरातल पर उष्ण-वाताग्र के निकल जाने पर तथा निरीक्षण करने वाले (observer) के शीतल वायु-राशि से उष्ण वायु-राशि में चले आने पर मौसम का निम्न परिवर्तन देखने को मिल सकता है :

(1) स्वच्छ मौसम, (2) तापमान में अचानक वृद्धि, (3) सापेक्षिक आर्द्रता मे शीघ्र वृद्धि, (4) वायु-दाब की हल्की द्रोणी (trough), और (5) पवन-प्रवाह की दिशा मे हल्का परिवर्तन आदि ।

(2) **शीत-वाताग्र** (Cold Front)—पृथ्वी के धरातल पर जब एक ही दिशा से आती हुई शीतल व उष्ण वायु की धाराएँ आपस मे मिलती है तो उनके बीच की सीमा को शीत-वाताग्र (cold front) कहा जाता है । उष्ण वायु शीतल वायु को अपने सामने पीछे से धक्का देती है और साथ-साथ इसके ऊपर उठ जाती है । उष्ण वायु के नीचे से ठण्डी हवा आगे को जीभ की तरह बढ़ जाती है । इसमें वाताग्र शीतल से उष्ण भाग की ओर अर्थात बायीं ओर से दायी ओर बढता है । जब इस वाताग्र का अच्छी तरह विकास हो जाता है तो उसे अपनी असांतत्य रेखा के द्वारा सरलता से पहचाना जा सकता है ।
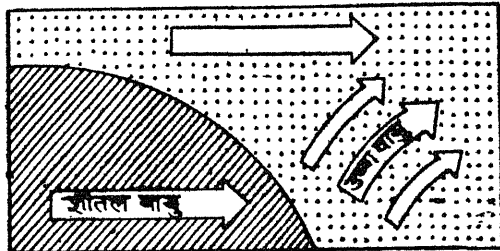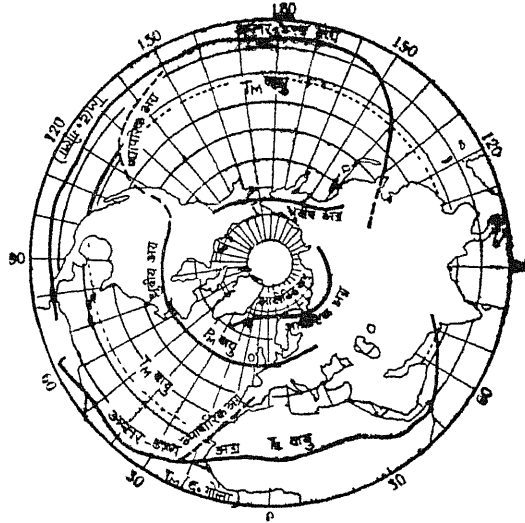
चित्र 131—शीत-वाताग्र का पार्श्व चित्र

उष्ण-वाताग्र की अपेक्षा शीत-वाताग्र का ढाल अधिक तीव्र होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि पवन प्रवाह की गति ऊँचाई के साथ बढ जाती है। परिणामस्वरूप वाताग्र धरातल की अपेक्षा मध्य भाग मे अधिक तेजी से चलता है। साधारणतः शीत-वाताग्र की ऊँचाई प्राय धरातल से 1,500 फुट के लगभग होती है जहाँ पर वाताग्र की गति एकदम धीमी रहती है।

चूंकि शीत-वाताग्र में असातत्य रेखा का ढाल तूफान की प्रवाह दिशा से दूर ऊपर की ओर होता है इसलिए शीत-वाताग्र के पहुंचने पर न कोई बादलों के रूप ही दिखाई पड़ते हैं और न मौसम परिवर्तन ही। ऊपर उठती हुई वायु से सम्बद्ध खराब मौसम का भाग उष्ण वाताग्र की अपेक्षा शीत-वाताग्र मे बहुत अधिक होता है और शीघ्रता से गुजर जाता है। शीत-वाताग्र मे मौसम की दशा उष्ण वायु की बनावट पर निर्भर करती है जो कि अपने स्थान से हटा दी जाती है। यदि हवा शुष्क और स्थिर होती है तो वाताग्र के साथ केवल छितराए हुए बादल (broken clouds) रहते है और कोई वर्षा नही होती। परन्तु यदि हवा उष्ण और आर्द्र हुई तो वाताग्र के साथ कपासी-वर्षी बादल और तूफान उठते है।
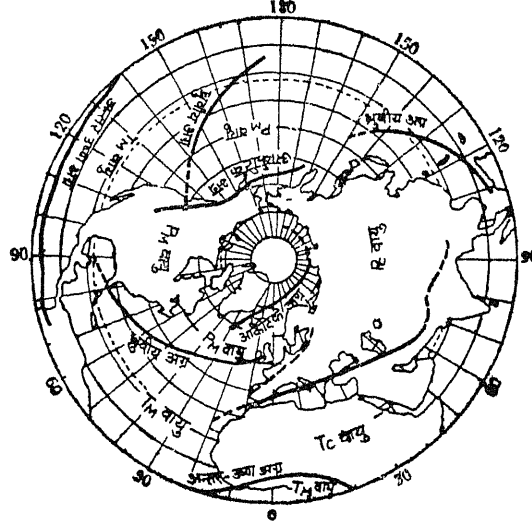
चित्र 132—**शीत वाताग्र**

पूर्ण-विकसित शीत-वाताग्र मे थोड़ी किन्तु घनघोर वर्षा होती है और आकाश कपासी-वर्षी बादलो से ढक जाता है। कभी-कभी अधिकतर वर्षा वाताग्र के अगले भाग मे होती है पर कभी-कभी वह वाताग्र के पिछले भाग तक ही सीमित रहती है।

जब कभी शीत-वाताग्र के पीछे की शीतल वायु-राशि उष्ण समुद्र से होकर निकलती है तो उसकी निचली तहो में अतिरिक्त उष्णता और नमी आ जाती है। ऐसी अवस्था में प्रायः गौण-वाताग्र (secondary fronts) बन जाया करते हैं।

जब किसी स्थान से शीत-वाताग्र निकलता है अथवा निरीक्षण करने वाला (observer) उष्ण वायु-राशि से शीतल वायु-राशि की ओर चला आता है तो उसे निम्न मौसमी परिवर्तन देखने को मिलेंगे—(1) निर्मल आकाश, (2) मौसम की स्वच्छता, (3) तापमान में यकायक परिवर्तन, (4) वायुदाब टंक (wedge), (5) निरपेक्ष आर्द्रता और सापेक्षिक आर्द्रता में भारी कमी और, (6) हवाओं का परिवर्तन आदि।

(3) **अवशिष्ट वाताग्र** (Occluded Front)—जब कभी शीत वाताग्र तीव्र गति से चलकर उष्ण वाताग्र से मिल जाता है तो उष्ण वायु ऊपर उठ जाती है और धरातल से उसका सम्पर्क समाप्त हो जाता है। इसी अवस्था को अवशिष्ट वाताग्र कहते हैं।

(4) **स्थायी वाताग्र** (Stationary Front)—जब कभी दो विपरीत स्वभाव वाली वायु-राशियाँ एक दूसरे के समानान्तर चलकर एक वाताग्र के रूप में अलग हो जाती है तो ऐसी दशा में वायु ऊपर नही उठ पाती जिससे **स्थायी वाताग्र** का निर्माण होता है।

वाताग्र प्रदेश

यदि पृथ्वी के धरातल पर चलने वाली वायु-राशियों और उनके मिलन क्षेत्रो का अवलोकन किया जाये तो धरातल पर वाताग्रों के तीन प्रदेश निश्चित किये जा सकते है। ये प्रदेश निम्न हे :

(1) **ध्रुवीय वाताग्र प्रदेश** (Polar Frontal Zone)—यह प्रदेश दोनों गोलार्द्धो मे 30° से 45° अक्षांशो के मध्य स्थित पाया जाता है। इस प्रदेश में ध्रुवीय ठण्डी वायु-राशि तथा उष्ण कटिबन्धीय गर्म वायुराशि के मिलने से ध्रुवीय वाताग्र का निर्माण होता है। इनका विस्तार उत्तरी अटलाण्टिक महासागर तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर में अधिक होता है। ये वाताग्र जाड़ो में अत्यधिक सक्रिय होते है किन्तु गर्मियो में शिथिल हो जाते है।

(2) **आर्कटिक वाताग्र प्रदेश** (Arctic Frontal Zone)—ध्रुववृत्तीय क्षेत्रों मे महाद्वीपीय ध्रुवीय हवाएँ तथा सागरीय ध्रुवीय हवाएँ परस्पर मिलती है। इसी से यहाँ वाताग्रो का निर्माण होता है। इन दोनो वायुराशियो के तापमान मे विशेष अन्तर नही पाया जाता। परिणामस्वरूप यहाँ वाताग्र अधिक सक्रिय नही होते। इन वाताग्रो का विस्तार मुख्यतः यूरेशिया तथा उत्तरी अमरीका के उत्तरी भागों में पाया जाता है।

(3) **अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय वाताग्र प्रदेश** (Inter Tropical Frontal Zone)—यह प्रदेश विषुवत्‌रेखीय न्यून वायुदाब की पेटी पर विस्तृत है। यहाँ जब कभी उत्तरी-पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक हवाएँ मिलती है तो वाताग्र का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार यहाँ व्यापारिक हवाओं के अभिसरण के कारण वाताग्रों का आविर्भाव होता है। ये वाताग्र प्रदेश मौसम के अनुसार ऊपर-नीचे सरकते रहते है।

13

वायु विक्षोभ

(PRESSURE DISTURBANCES)

पृथ्वी के धरातल पर नियमित रूप से कुछ हवाएँ चला करती हैं। परन्तु इन हवाओं की प्रवाह-दिशा सदैव एकसी नही रहती है। पृथ्वी की विचित्र परिस्थितियों तथा स्थानीय अवस्थाओं का इनकी प्रवाह-दिशा पर गहरा प्रभाव होता है जिससे इनकी प्रवाह-दिशा में भारी अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप ये हवाएँ अस्थिर और परिवर्तनशील हो जाती है। इन अस्थिर और परिवर्तनशील हवाओं का रूप ठीक बहते हुए जल में भँवर (whirl) के समान होता है जो कभी बढ़ते-बढते भयंकर तूफान का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। वायु-प्रवाह की ऐसी भँवरे असाधारण कारणो से अचानक ही उत्पन्न होती है और अनुकूल अवस्थाएँ होने पर एकदम चल देती हैं। इनकी न दिशा स्थिर रहती है और न क्षेत्र निश्चित रहता है। ये बड़े ही अनियमित रूप से चलती है। ये भँवरे दो प्रकार की होती है। एक में हवाएँ भँवर के केन्द्र की ओर वायु के निम्न दाब (low pressure) के कारण वेगपूर्वक दौडती है और दूसरी में वायु के उच्च दाब (high pressure) के कारण हवाएँ केन्द्र से बाहर भागती है। वायु की यही भँवरे क्रमशः **चक्रवात** और **प्रतिचक्रवात** कहलाती है।

उपरोक्त वर्णन से परिवर्तनशील हवाओं (variable winds) के सम्बन्ध में यह भ्रान्ति हो सकती है कि धरातल पर इनका विकास और प्रवाह नितान्त ही अनावश्यक और निरर्थक है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। **एक्सनर** (Exner) नामक वैज्ञानिक ने इन हवाओं की विवेचना करते हुए लिखा है कि "धरातल पर इन हवाओं का प्रवाह उतना ही आवश्यक है जितना कि अन्य किन्हीं हवाओं का।" धरातल पर नियमित रूप से चलने वाली स्थायी हवाओ (permanent winds) के प्रवाह को स्थायी बनाये रखने मे ये हवाएँ बड़ी सहायक होती है। यही नही, पृथ्वी पर दाब की असमानता को दूर करने में भी ये बडी सहायक होती है। पृथ्वी पर सब कही इन हवाओं द्वारा दाब की समानता स्थापित होती है जो धरातल के वायु-प्रवाह को सम रखता है।

चक्रवात

(Cyclones)

सामान्यतः चक्रवात निम्न वायु-दाब का केन्द्र होता है जिसके चारों ओर सकेन्द्रीय सम वायुदाब रेखाएँ फैली हुई होती है। केन्द्र से बाहर की ओर सभी ओर वायुदाब बढता जाता है। फलस्वरूप सभी दिशाओं से हवाएँ भीतर केन्द्र की ओर प्रवाहित होने लगती है। परन्तु फैरल के नियमानुसार उत्तरी गोलार्द्ध में ये हवाएँ दायीं ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध मे अपने बायी ओर मुड़ जाती हैं। अतः ये हवाएँ केन्द्र तक पहुँचने की अपेक्षा उसकी परिक्रमा करने लगती है। उत्तरी गोलार्द्ध मे इन हवाओं की दिशा घड़ी की सुइयों के विपरीत तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अनुकूल होती है।

चक्रवातो की आकृति प्रायः गोलाकार, अण्डाकार अथवा वी आकार के समान होती है। किसी भी स्थान की जलवायु तथा मौसम पर चक्रवातों का गहरा प्रभाव होता है। इसीलिए इनका अध्ययन बडा महत्त्वपूर्ण हो गया है। चक्रवातो को उनकी स्थिति के अनुसार दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है :

(1) शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात

(2) उष्ण कटिबन्धीय चक्रवान

(1) शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात
(Temperate Cyclones)

सामान्य परिचय—शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवात निम्न वायुदाब के तूफान है जो प्रायः गोलाकार, अण्डाकार अथवा वेज के आकार के होते है। इसी कारण ये 'गर्त' (depression), 'निम्नन' (lows) अथवा ट्रफ (tıough) के नाम से भी पुकारे जाते हैं। ये गर्तचक्र अधिकतर मध्य अक्षाशों मे भिन्न वायु-राशियों के सघर्ष के कारण उत्पन्न होते है। अतः ये सदा पछुवा हवाओ की पेटियो से सम्बन्धित रहते है। यही कारण है कि ये बहुधा 35° और 65° अक्षांशों के बीच चला करते है। पछुआ हवाओं से सम्बन्धित होने के कारण इनका प्रवाह पश्चिम से पूर्व की ओर ठीक उसी प्रकार रहता है जैसे कि नदी की धारा में भँवरें (whırls) ऊपर से नीचे चला करती है।
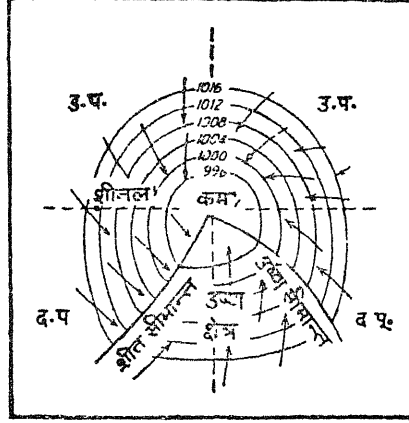
चित्र 133—एक आदर्श चक्रवात (उ० गो०)

आकृति तथा विस्तार—चक्रवात साधारणतः गोल अथवा अण्डे की आकृति वाला होता है। इसमे अल्पदाब ठीक केन्द्र के समीप रहता है। केन्द्र से बाहर की ओर सब तरफ वायुदाब क्रमशः बढता जाता है। सामान्यतः गर्तचक्र में केन्द्र और घेरे के बीच दाब का अन्तर 10 से 20 मिलीबार तक रहता है। कभी-कभी पूर्ण विकसित शीतकालीन गर्तचक्र मे यह अन्तर 35 मिलीवार तक भी देखा जाता है। ग्रीष्मकाल में आने वाले गर्तचक्र सामान्य तौर पर जाड़ों में आने वाले गर्तचक्रों से कम विकसित होते है। उनमे वायुदाब का अन्तर कम रहता है। समदाब रेखाएँ दूर-दूर होती हैं और वे धीमी गति से चलते हैं।

गर्तचत्रों के विस्तार मे बडी भारी भिन्नता देखी जाती है। साधारणतः वे लम्बे-चौड़े क्षेत्र में फैले रहते है। कभी-कभी इनका विस्तार इतना अधिक हो जाता है कि कोई दस लाख वर्गमील क्षेत्र को घेर लेते हैं। परन्तु अधिकतर कम विस्तार वाले ही होते है। ऊँचाई में ये छह-सात मील तक देखे जाते है। ये अपनी आकृति मे उल्टी 'V' के सदृश दिखाई देते है।

प्रवाह-दिशा और गति—चक्रवात कदाचित ही स्थिर रहते है। प्रायः ये प्रचलित पवनों की दिशा मे आगे बढ़ते है। पछुवा हवाओ के प्रदेश मे ये पूर्व की ओर चलते देखे जाते हैं। परन्तु सदा ही ये पूर्व की ओर नही चला करते। विशेप अवसरो पर ये विभिन्न मार्ग अपनाते है। इनकी प्रवाह दिशा और गति में भिन्नता होते हुए भी इनकी साधारण प्रगति पूर्व की ओर होती है।

पछुवा हवाओं अथवा शीतोष्ण प्रदेश के चक्रवातों की गति हमेशा अनिश्चित होती है। गति की यह भिन्नता ऋतु तथा स्थिति पर निर्भर करती है और प्रत्येक चक्रवात के साथ बदलती

रहती है। ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा जाड़ों मे इनकी गति अधिक तेज होती है। संयुक्त राज्य अमरीका मे ये ग्रीष्म मे 20 मील प्रति घण्टा तथा जाड़ों मे 30 मील प्रति घण्टा की चाल से चलते है। जाड़ों में पूर्ण विकसित चक्रवात को समूचे देश को पार करने मे 3 से 5 दिन तक लग जाते है।

तापमान—चक्रवात में तापमान परिवर्तन दिन और वर्ष के समयानुसार होता है। जाड़ो में वाताग्र (fıont) अपेक्षतया गरम रहता है और पृष्ठभाग (ıear) ठण्डा। क्योकि वाताग्र मे उष्ण वायु-राशियाँ और दक्षिणी हवाएँ रहती है जो पृष्ठ-भाग में ऊँचे और ठण्डे अक्षाशो से चलने वाली हवाओ से काफी गरम होती है। पृष्ठभाग मे प्रायः पाला भी गिरता है। ग्रीष्म ऋतु में यह परिवर्तन पिछले दिनों के मौसम पर निर्भर करता है। साधारणतः चक्रवात का अग्रभाग सब ऋतुओ मे उष्णआर्द्र (muggy) रहता है। पृष्ठभाग मे आकाश स्वच्छ रहता है। अत· सदैव स्वच्छ मौसम (fresh weather) रहता है। पृष्ठभाग गर्मियो में कुछ गरम रहता है परन्तु इससे शीतल हवाएँ चला करती है।

हवाएँ—चक्रवात मे हवाएँ अधिकतर बाहर से भीतर की ओर चला करती है। यदि ये हवाएँ भीतरी भाग मे ही जमा होती रहे तो केन्द्र का अल्पदाब धीरे-धीरे समाप्त होकर पूरा चक्रवात ही नष्ट हो जायगा। परन्तु ऐसा कभी नही होता। प्रायः चक्रवात बराबर कई दिनों तक बना रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि भीतरी भाग की ओर चलने वाली हवाएँ वहाँ जमा न होकर पुनः बाहर निकलती रहती है। चक्रवात में हवाएँ ऊपर उठा करती है और ऊपर उठकर पुन. बाहर फैल जाती है। इसी कारण चक्रवात के केन्द्र मे बराबर अल्पदाब बना रहता है।

चक्रवात मे ऊपर उठती हुई हवाएँ मुख्यतः अग्रभाग की ओर चलती है। अतः अग्रभाग पृष्ठभाग की अपेक्षा हवाओं से अधिक प्रभावित रहता है। सम्भवत· इसी कारण अग्रभाग में चक्रवाती वर्षा अधिक होती है।

चक्रवात के अग्रभाग और पृष्ठभाग के बीच तापमान का अन्तर मुख्यतः धरातल पर चलने वाली हवाओ के कारण पड़ता है। अग्रभाग मे हवाएँ दक्षिण से चलती है, इस कारण गरम होती है। ये हवाएँ उष्ण अक्षांशो से ठण्डे अक्षांशो की ओर चलती हैं। अतः इनमें भाप अधिक समय तक नही ठहर पाती। भाप ठण्डी होकर वर्षा के रूप में बरस पड़ती है। ऐसा अधिकतर दक्षिणी चक्रवात के भाग मे होता है। चक्रवात के उत्तरी-पूर्वी भाग मे अधिकतर हवाएँ पूर्व दिशा से चलती है। इस कारण शीत काल मे ये ठण्डी हो सकती है। चक्रवात के पृष्ठभाग मे प्रायः हवाएँ उत्तर से चलती हैं इसलिए ठण्डी होती हैं। ये हवाएँ शीतल प्रदेशों से उष्ण प्रदेशों की ओर चलती है, जिससे ये अधिकाधिक शुष्क होती जाती है। इनकी शीतलता और शुष्कता के कारण ही चक्रवात का पृष्ठभाग 'स्वच्छ' (fresh) रहता है।

चित्र 134—पूर्ण विकसित गर्तचक्र

वायु-दशा—चक्रवातों की अपनी विशेष वायु-दशा होती है। चक्रवात जब कभी एक स्थान से दूसरे स्थान को अग्रसर होते है तो अपने साथ विशेष मौसमी अवस्थाएँ ले जाते हैं। चक्रवातों के इस विशेष मौसम को समझने के लिए इनकी रचना को भली प्रकार समझना आवश्यक है। चक्रवात के केन्द्र मे न्यून दाब होता है। इस केन्द्रीय न्यून दाब के क्षेत्र के उत्तर-पूर्व में उष्ण वाताग्र (warm front) और उत्तर-पश्चिम में शीत-वाताग्र (cold front) रहता है।
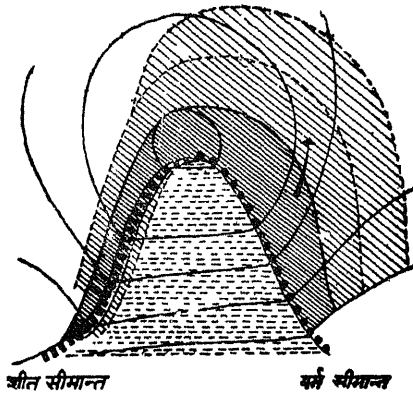
चक्रवात के उष्ण-वाताग्र (warm front) मे लगातार समुद्र से आने वाली उष्ण और तर हवाएँ चलती है। ये हवाएँ यहाँ ठण्डी हवाओं से मिलती है और उनके ऊपर आगे बढ जाती हैं। इन गरम हवाओ के ऊपर उठ जाने के कारण बराबर घने काले वर्षी मेघ (Nimbus Clouds) बनते रहते है जिनसे भारी वर्षा और कभी-कभी हिमपात होता है। ज्यो-ज्यो हम इस उष्ण-वाताग्र के उत्तर-पूर्व की ओर बढते हैं, गरम हवा की कमी होती जाती है। फलत. उष्ण-वाताग्र के समीप वर्षा करने वाले वर्षी मेघो की जगह वर्षी-स्तरी बादल (Nimbo-Stratus Clouds) मिलते है। इससे और आगे अधिक ऊँचाई पर उच्च-स्तरी (Alto-Stratus) मेघ बनते हैं, क्योंकि यहाँ गरम हवा कुछ अधिक ऊँचाई पर होती है। इनके भी ऊपर पक्षाभ-स्तरी (Cirro-Stratus) और अन्त मे केवल पक्षाभ (Cirrus) मेघ रहते है।

उत्तर-पश्चिम के शीत-वाताग्र (cold front) मे ठण्डी हवाएँ बराबर गरम हवा को नीचे की ओर से ऊपर को धकेलती है। गरम हवा के ऊपर धकेले जाने के कारण यहाँ भी बादल बनते है और वर्षा होती है। परन्तु यह संकुचित क्षेत्र होने के कारण बादल और वर्षा सीमित ही होती है। इस भाग मे ठण्डी हवाओ के धक्कों के कारण गरम हवा बड़ी तेजी से ऊपर उठती है जिससे कपासी-वर्षी मेघ बनते है और भारी वर्षा करते है। वर्षा के साथ-साथ बादलों की गर्जन और विद्युत की चमक भी होती है। ठण्डी हवाओं के चलने के कारण यहाँ लगातार तापमान गिरता चला जाता है।

चित्र 135—**चक्रवात का खण्ड चित्र**

चक्रवात के आगमन से पूर्व आकाश मे श्वेत बादलो की लम्बी किन्तु पतली टुकड़ियाँ दिखाई पड़ती है। श्वेत बादलों की इन लम्बी टुकड़ियों से ही चक्रवात के आगमन सम्बन्धी सूचना मिलती है। जब कभी बैरोमीटर मे निरन्तर पारा नीचे गिरता हुआ दिखाई पड़े, हवाएँ अपनी दिशा बदलने लगें, सूर्य और चन्द्रमा के चारो ओर प्रभामण्डल (Halo) बन जाय तथा हवा बन्द हो जाने से नालियों मे बदबू आने लगे तो समझ लेना चाहिए कि चक्रवात आने ही वाला है। चक्रवात ज्यों-ज्यों समीप आता जाता है, बादल फैलकर घने हो जाते है। अन्त मे, कुछ ही समय मे आकाश पक्षाभ-स्तरी बादलो से ढक जाता है। तदनन्तर धीमी-धीमी बौछार होने लगती है, पर शीघ्र ही घनघोर वर्षा की झडी लग जाती है। वर्षा के साथ-साथ प्रचण्ड वायु के झोके भी आते है। बैरोमीटर मे पारा नीचे गिरता चला जाता है। परन्तु उष्ण-वाताग्र के पहुँचते ही बैरोमीटर में पारे का गिरना रुक जाता है और वर्षा बन्द हो जाती है। इससे आकाश बिलकुल स्वच्छ और मौसम बडा सुहावना हो जाता है। सुहावने मौसम से यह प्रकट होता है कि चक्रवात का केन्द्र आ पहुँचा है। चक्रवात का केन्द्र, जब तक उष्ण-वाताग्र
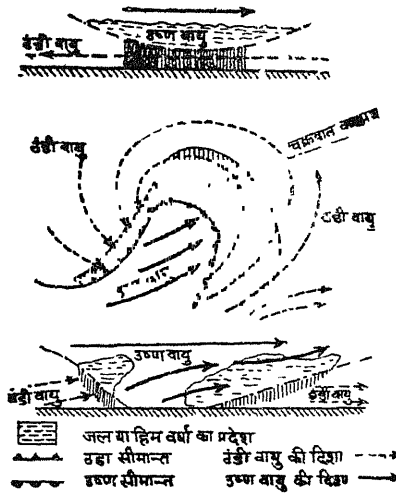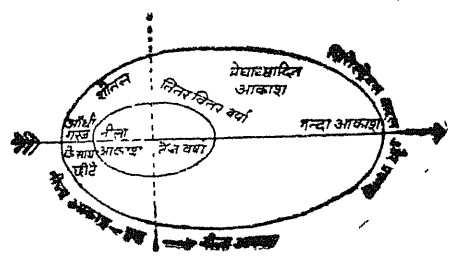
चित्र 136—**चक्रवात का मौसम**

नहीं गुजर जाता, बिलकुल स्वच्छ रहता है। उष्ण-वाताग्र के निकलते ही मौसम बदलने लगता है। तापमान यकायक गिरने लग जाते है जिससे ठण्ड भयानक रूप से बढने लगती है। आकाश घने कपासी बादलो से छा जाता है और वर्षा की झडी लग जाती है। ये सब दशाएँ शीत-वाताग्र के आ पहुँचने की द्योतक होती है। वर्षा के साथ कभी-कभी ओले गिरते है और बादलो की गरज सुनाई देती है। बीच-बीच मे विद्युत भी चमक उठती है। पर थोड़ी ही देर मे वर्षा बन्द हो जाती है जो चक्रवात के अन्त होने की सूचक होती है। चक्रवात के निकल जाने पर बादल शीघ्र ही हटने लगते हैं और पुनः मेघरहित हो जाते है।

उत्पत्ति तथा विकास—चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वैज्ञानिकों ने विभिन्न मत प्रकट किये है, किन्तु आज तक कोई एक मत स्थिर नही हो सका है। इस सम्बन्ध मे प्रचलित दो प्रमुख सिद्धान्त यहाँ दिये जा रहे है :

(1) गतिक सिद्धान्त (Dynamic Theory), और

(2) ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त (Polar Front Theory)।

(1) **गतिक सिद्धान्त** (Dynamic Theory)—गतिक सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता **लेम्पर्ट** तथा **शॉ** है। इन्होंने उत्तरी अन्ध महासागर मे उड़ने वाले अनेक वायु-विक्षोभों का अध्ययन कर इस सिद्धान्त को जन्म दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार शीतोष्ण कटिबन्ध मे आने वाले चक्रवात भिन्न-भिन्न वायु-राशियों के उच्च दाब वाली पेटियों के विरुद्ध एकत्रित हो जाने से उत्पन्न होते है। इस प्रकार उत्पन्न चक्रवातो को भिन्न-भिन्न वायु-राशियो के बीच तापमान के अन्तर होने से शक्ति प्राप्त होती रहती है जिससे वे गतिशील हो जाते है। इस मत के अनुसार ऊपर उठती हुई उष्ण वायु-राशि जब शीतल वायु-राशि से मिलती है तो वह एक भँवर का रूप ले लेती है। इस प्रकार इन चक्रवातो की उत्पत्ति धरातल से काफी ऊँचाई पर होती है। इस सिद्धान्त मे कई दोष होने से आजकल यह मान्य नही है।
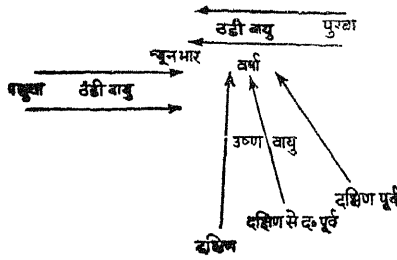
चित्र 137—लेम्पर्ट तथा शॉ द्वारा प्रस्तुत चक्रवात में पवनों का प्रारूप

(2) **ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त** (Polar Front Theory)—इस सिद्धान्त को जन्म देने वाले प्रसिद्ध नॉर्वे निवासी **विजकिन्स** है। अत. यह सिद्धान्त इन्ही के कारण विजकिन्स का सिद्धान्त भी कहलाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार चक्रवात की उत्पत्ति दो भिन्न तापमान वाली वायु-राशियों के मिलने से होती है। ध्रुवों से आने वाली शीतल वायु और उष्ण प्रदेशो से आने वाली गरम वायु जब एक-दूसरे के निकट आती है तो शीतल वायु-राशि वाताग्र प्रदेश (frontal zone) को विषुवत रेखा की ओर धकेलती है। इससे ध्रुवीय शीतल वायु और उष्णप्रदेशीय गरम वायु के बीच असान्तत्य रेखा (line of discontinuity) बन जाती है। वाताग्र प्रदेश में इस असान्तत्य रेखा के सहारे ही चक्रवातों की एक लहर के रूप में उत्पत्ति होती है। जब वायु सीमाग्र लहर (frontal wave) के साथ अपना सन्तुलन स्थापित करने की चेष्टा करती है तो वह वाताग्र के इस गर्त (bulge) की ओर आकर्षित हो जाती है। यहाँ हवाएँ वायुदाब के ढाल, पृथ्वी की गति और घर्षण (friction) आदि के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप एक विशिष्ट चक्रवात के रूप मे बदल जाती है। वायु का यह चक्र कुछ ऐसा रहता है जिससे चक्रवात के एक भाग मे उष्ण प्रदेश की गरम वायु असान्तत्य रेखा को पार कर शीतल वायु के अन्दर घुसने की चेष्टा करती है और चक्रवात के दूसरे भाग मे शीतल वायु उष्ण-वायु का स्थान लेती है। इस प्रकार उष्ण वायु के आगे-पीछे

दोनों ओर शीतल वायु रहती है। इसको शीत-वाताग्र (cold front) कहते है। चक्रवात के अग्रभाग मे उष्ण प्रदेश की वायु को उष्ण-वाताग्र (warm front) कहते है। उष्ण प्रदेशो से उठने वाली

चित्र 138—ध्रुवीय वाताग्र सिद्धान्त के अनुसार चक्रवात का विकास

पछुआ हवाओं और ध्रुवो से आने वाली पूर्वी हवाओं के बीच एक अनियमित (irregular) सीमा-क्षेत्र होता है। इस अनियमित सीमाग्र को ही ध्रुवीय-वाताग्र (polar front) कहा जाता है।

चक्रवात के उपरोक्त सिद्धान्त को यद्यपि आजकल मान्यता प्राप्त है, फिर भी इसको ज्यों का त्यो मान लेने मे कई आपत्तियाँ है। इस सिद्धान्त के अन्दर यह माना गया है कि उष्ण प्रदेश की गरम वायु शीतल वायु के ऊपर चढती है, परन्तु वायु के इस प्रकार चढने का कारण क्या है, इसका कोई सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण नही किया गया है। फिर निम्न वायुदाब को बनाने वाली कौन-सी भौतिक शक्तियाँ है तथा हवाएँ क्यों और किस प्रकार दूर हट जाती है, जिसमे कि चक्रवात में बराबर निम्न वायुदाब बना रहता है, इन प्रश्नों पर भी कोई प्रकाश नही डाला गया है।

अस्तु, इन बातो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चक्रवात और प्रति-चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वर्तमान कोई भी मत पूर्ण नहीं है। चक्रवातो और प्रति-चक्रवातों की कई अलग-अलग जातियाँ है जिनकी उत्पत्ति भी भिन्न कारणो से होती है। इस दृष्टि से चक्रवातों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई एक धारणा बना लेना असगत होगा। इनका सम्पूर्ण ज्ञान तो तभी सम्भव है, जबकि हम प्रत्येक चक्रवात को अलग-अलग लेकर उसकी अवस्थाओं का उचित विश्लेषण करें।[1]

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के प्रकार

शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों को **हम्फ्रीज** (Humphreys) ने चार भागों मे बाँटा है.

(1) **तापीय चक्रवात** (Thermal Cyclones)—तापीय चक्रवात तापमान और वायुदाब की असमानता के कारण उत्पन्न होते हैं। अधिक उष्ण क्षेत्रो मे अपने आस-पास के भागों से वायुदाब अपेक्षाकृत कम रहता है। यही अवस्था इन चक्रवातों के बनने के लिए अनुकूल होती है। परन्तु ये चक्रवात स्थल की अपेक्षा उष्ण-जल पर अधिक उत्पन्न होते हैं। प्राय: ये ऐसे समुद्रों में उत्पन्न होते है जो चारों ओर ठण्डे स्थल भागों से घिरे होते है। इस दृष्टि से उत्तरी गोलार्द्ध मे दक्षिणी-पूर्वी ग्रीनलैण्ड, दक्षिणी-पश्चिमी आइसलैण्ड, नोर्वेजियन सागर और ओखोटस्क सागर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध मे रौस सागर और वेण्डल सागर इन चक्रवातों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। तापीय चक्रवात प्राय: जाड़ों में अधिक आया करते है।

---

1 D. Burnt : *Meteorology*, p. 85

(2) **सूर्याभिताप चक्रवात** (Insolational Cyclones)—सूर्याभिताप चक्रवात प्रायः ऐसे प्रायद्वीपीय क्षेत्रो मे उत्पन्न होते है जो तीन ओर से अपेक्षाकृत ठण्डे समुद्रों से घिरे होते है। सूर्याभिताप की तीव्रता के कारण जब स्थल का कोई भाग बहुत अधिक गरम हो जाता है तो वहाँ वायुदाब घट जाता है। ऐसी अवस्था मे चारों ओर से हवाएँ न्यूनदाब केन्द्र की ओर दौड़ने लगती है जिससे चक्रवात बन जाता है। इस प्रकार के चक्रवात साइबेरिया प्रायद्वीप, अलास्का, सयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी-पश्चिमी भाग तथा उत्तरी-पश्चिमी आस्ट्रेलिया में बहुलता में आया करते है। प्राय. ये अर्द्ध-स्थायी प्रकृति के होते है।

(3) **भ्रमणशील चक्रवात** (Migratory Cyclones)—ऐसे चक्रवात अधिक तापमान से उत्पन्न तीव्र सवहन धाराओ के कारण उत्पन्न होते है। ये बहुत ही कम समय तक बने रहते है। अपने अल्पकालीन जीवन मे ये संघनन (condensation) के समय छोड़ी गयी गुप्त ताप (latent heat) के कारण ही बने रहते है। अवधि की दृष्टि से ये बहुत अस्थायी प्रकृति के होते है।

(4) **संयुक्त सीमान्त** (Occlusions)—वाताग्र गर्तचक्र (fiontal depression) सामान्यत कुछ ही समय ठहरता है। वस्तुत. उसकी जीवन अवधि बड़ी अल्प होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि पश्चिम से आने वाली ठण्डी हवा निरन्तर गरम हवा को दूर हटाती जाती है जिससे उष्ण वृत्तांश (warm sector) लगातार छोटा होता जाता है। धीरे-धीरे शीत-वाताग्र (cold front) इसी प्रकार आगे बढते-बढते अन्त में उष्ण-वाताग्र (warm front) से मिल जाता है, जिससे गर्तचक्र समाप्त हो जाता है। शीत-वाताग्र और उष्ण-वाताग्र के इस प्रकार मिल जाने को ही **सीमान्त मिलन** (occlusion) कहते है। गरम और शीतल सीमाग्रों के मिल जाने से एक तीसरे प्रकार का सीमाग्र बन जाता है जिसे 'संयुक्त वाताग्र' (occluded front) कहते है। अधिधारण के उपरान्त कुछ समय तक शीतल और उष्ण वायु के सम्मिश्रण से अधिविष्ट वाताग्र के पास वर्षा होने लगती है। इसके अतिरिक्त अधिविष्ट वाताग्र के दोनों ओर तापमान मे कुछ अन्तर रहता है।

संयुक्त वाताग्र (occluded front) मे ठण्डी, गरम और अत्यन्त शीतल तीनों ही प्रकार की हवाएँ रहती है। अतः इसकी वायु व्यवस्था के अनुसार अधिविष्ट वाताग्र या तो गरम होता है या ठण्डा। शीतल संयुक्त वाताग्र (cold occluded front) उस समय होता है जब बहुत अधिक शीतल वायु गरम वायु के भाग मे प्रविष्ट हो जाती है। इससे गरम तथा शीतल दोनों ही प्रकार की वायु ऊपर को उठने लगती हैं। शीतल और गरम वायु के ऊपर उठने पर दोनों आपस मे मिल जाती है और दोनों के बीच गरम हवा ऊपर उठी रह जाती है।

चक्रवातों के मार्ग

मध्य अक्षांशों के समस्त भू-भाग चक्रवातों और प्रति-चक्रवातों से प्रभावित रहते है। इन्ही के समान पछुआ हवाओ की पेटी के दोनों ओर के छोर भी इनके प्रभाव से अछूते नहीं रहते। चक्रवाती तूफानो का इन सब भागों पर एक ही समान प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इन तूफानों के चलने के मार्ग निश्चित और बँधे हुए नही है। फिर भी एक ऐसी चौड़ी पेटी है जिसमें तूफान अन्य भागों की अपेक्षा अधिक चला करते हैं। इन तूफानों का प्रभाव इनके केन्द्र के मार्ग से काफी दूर तक होता है। अगले चित्र मे तूफानो के मार्ग दिखाये गये है।

दक्षिणी गोलार्द्ध मे ध्रुव पर स्थित अण्टार्कटिक महाद्वीप पर सदैव बर्फ जमी रहने से शीतल वायु बनी रहती है। इस स्थिर वायु-राशि के प्रभाव म वहाँ वर्ष-भर—ग्रीष्म और शरद ऋतु—चक्रवाती तूफानो का समान रूप से जोर रहता है। वहाँ ये तूफान ध्रुववृत्तीय निम्न दाब की द्रोणिका (trough) का अनुसरण करते दीख पडते है। दक्षिणी अमरीका का हॉर्न अन्तरीप का

प्रदेश वर्ष-भर तूफानों से आक्रान्त रहता है। अर्जेण्टाइना के पैम्पाज क्षेत्र भी शीत ऋतु के चक्रवातो से प्रभावित रहते है।
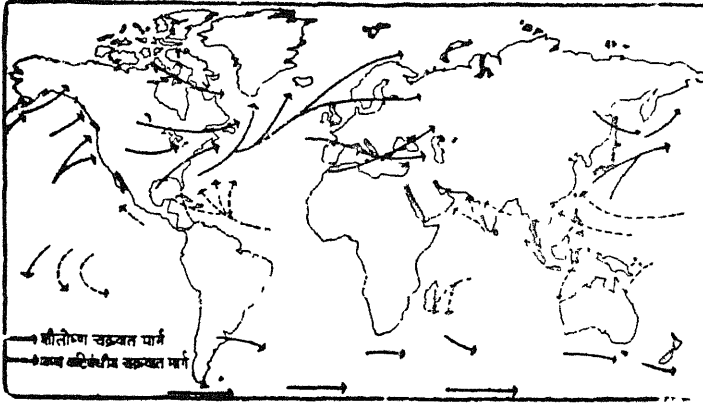
चित्र 139—चक्रवातों के मार्ग

उत्तरी गोलार्द्ध मे जल और स्थल के विशेष वितरण से वहाँ के तापमानों में बड़ा भारी अन्तर पाया जाता है। तापमानों का यह अन्तर समुद्रों में चलने वाली उष्ण जल धाराओं से और भी बढ जाता है। इस अन्तर के फलस्वरूप चक्रवातों का प्रभाव समुद्रो की अपेक्षा स्थल पर कम होता है। इन भागों मे चक्रवात ग्रीष्म की अपेक्षा शीत ऋतु में ही अधिक आया करते है।

उत्तरी गोलार्द्ध में ध्रुवीय और ध्रुववृत्तीय प्रदेशों मे धरातली शीतल वायु-राशि बड़ी ही क्षीण और अस्थिर रहती है। यह उत्तरी गोलार्द्ध के समस्त तूफानों को जन्म देने वाली होती है। फलतः ध्रुवीय और ध्रुववृत्तीय प्रति-चक्रवात अपेक्षतया ग्रीष्म मे कमजोर रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु मे इसी कारण समस्त उत्तरी गोलार्द्ध में तूफानों का उत्पात कम रहता है और उनका मार्ग भी ध्रुवों की ओर खिसक जाता है। इसके विपरीत, जाड़ों मे ध्रुवीय और ध्रुववृत्तीय उच्च वायुदाब केन्द्र भलीभाँति विकसित हो जाते है जिससे जाडों में चक्रवाती तूफान बड़े ही तीव्र और बहुलता से आया करते है। चक्रवातों का प्रभाव मुख्यत· उत्तरी प्रशान्त महासागर (एल्यूसियन का निम्न वायुदाब केन्द्र), उत्तरी संयुक्त राज्य और दक्षिणी कनाडा, उत्तरी अन्ध महासागर (आइसलैण्ड का निम्न वायुदाब केन्द्र) और उत्तरी-पश्चिमी यूरोप पर होता है। सुदूर-पूर्व मे मध्य और उत्तरी चीन तथा जापान मे अपेक्षतया चक्रवातों का प्रभाव पाया जाता है।

चक्रवात प्रायः समस्त पृथ्वी की परिक्रमा करते देखे गये है। ऐसा ही एक चक्रवात जिसका केन्द्र अमरीका के प्रशान्त तट पर था 23 फरवरी, 1925 को चलकर 19 मार्च, 1925 को पूरे विश्व की परिक्रमा करने के बाद वहाँ जा पहुँचा।

(2) उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात
(Tropical Cyclones)

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात जैसा कि नाम से प्रकट होता है, ये मुख्यत· उष्ण कटिबन्ध से सम्बन्धित है। अतएव भूमध्यरेखा के $23\frac{1}{2}°$ उत्तर तथा दक्षिण के मध्य जो चक्रवात उत्पन्न होते हैं, वे उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात कहे जाते है। इन चक्रवातों के अनेक रूप देखे जाते है। ये अपनी गति, आकार तथा मौसम सम्बन्धी बातों मे पर्याप्त भिन्न होते हैं। शीतोष्ण चक्रवातों की भाँति इन चक्रवातो मे समरूपता का अभाव होता है। इन चक्रवातो का अभी तक गहराई के साथ व्यवस्थित अध्ययन नही हो पाया है। अतः इनके सम्बन्ध मे जो भी विवरण उपलब्ध है वह अपूर्ण और

अस्पष्ट है। फिर भी इनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ देखी जाती है जिनके सहारे इनको भली प्रकार पहचाना जा सकता है। इनकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार है :[1]

(1) इन चक्रवातों के आकार मे पर्याप्त अन्तर होता है। सामान्यतः इनका व्यास 80 से 300 किलोमीटर तक होता है। किन्तु कभी-कभी इनका व्यास 50 किलोमीटर से भी कम देखा जाता है।

(2) इन चक्रवातो की गति मे बडा अन्तर होता है। साधारण चक्रवात 32 किलोमीटर प्रति घण्टे की गति से भ्रमण करते है, जबकि हरीकेन तथा टाइफून्स 120 किलोमीटर प्रति घण्टे से भी अधिक गति से यात्रा करते है।

(3) समुद्रो में इन चक्रवातों की गति तेज होती है परन्तु स्थल भागों पर आते-आते इनकी गति क्षीण हो जाती है। स्थल के भीतरी भागों मे पहुँचते-पहुँचते ये समाप्त हो जाते है। यही कारण है कि ये केवल महाद्वीपो के तटीय क्षेत्रो को ही प्रभावित करते है।

(4) ये हमेशा गतिशील नही होते। कभी-कभी ये एक ही स्थान पर कई दिन तक ठहर जाते हैं और वहाँ तीव्र वर्षा करते है।

(5) चूँकि इन चक्रवातों मे विभिन्न वाताग्र (fronts) नहीं होते, इसलिए शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की भाँति इनमे तापक्रम सम्बन्धी विभिन्नता नही पायी जाती।

(6) इन चक्रवातों के केन्द्र मे न्यून वायुदाब होता है। इनकी समदाब रेखाएँ वृत्ताकार होती है, परन्तु सख्या बहुत कम होती है। फलस्वरूप ये मानचित्रों पर सरलता से दिखाई नही पड़ते।

(7) इन चक्रवातो का भ्रमण पथ भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे भिन्न रहता है। सामान्यतः ये व्यापारिक हवाओं के साथ पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हैं। भूमध्य रेखा से 15° अक्षांशों तक इनकी भ्रमण-दिशा पश्चिमी, 15 से 30° तक ध्रुवों की ओर तथा उसके आगे पुनः पश्चिमी हो जाती है। ये चक्रवात उपोष्ण कटिबन्ध में प्रवेश करने के साथ ही समाप्त होने लग जाते हैं।

(8) ये चक्रवात मुख्यतः ग्रीष्मकाल मे आते है। शीतकाल मे ये नहीं देखे जाते। शीतोष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की तुलना में इनका प्रभाव क्षेत्र कम होता है और इनकी सख्या भी कम होती है।

(9) ये चक्रवात अपनी प्रचण्ड गति और तूफानी स्वभाव के कारण अत्यन्त विनाशकारी होते है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के प्रकार

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातो को उनके आकार, स्वभाव, मौसम एवं तीव्रता के आधार पर सामान्यतः निम्न प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है :

(1) उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ (Tropical disturbance),

(2) उष्ण कटिबन्धीय अवदाब (Tropical depressions),

(3) उष्ण कटिबन्धीय तूफान (Tropical storms)।

(1) **उष्ण कटिबन्धीय विक्षोभ** (Tropical Disturbance)—ये विक्षोभ भूमध्यरेखीय न्यून वायुदाब की पेटी [जो कि विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब गर्त (equatorial trough of low pressure) के नाम से पुकारी जाती है] से सम्बन्धित होते है। उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में ये सबसे अधिक विस्तृत होते है। इनमे एक या दो घिरी-घिरी समदाब रेखाएं होती हैं। कभी-कभी घिरी समदाब रेखाओ का अभाव भी देखा जाता है। इनमे हवाएँ बहुत ही क्षीण गति से केन्द्र की ओर चलती है। ये विक्षोभ बड़े मन्द गति से आगे बढते है। कभी-कभी ये एक ही स्थान पर कई

---

[1] G. T. Trewartha : *Introduction to Weather and Climate*, p. 274

दिन तक स्थिर हो जाते है। इस प्रकार के विक्षोभ मे हवाएँ पूर्व से पश्चिम को चलती है। इन हवाओ को **पूर्वी तरंग** (Easterly wave) कहा जाता है। इनकी गति 300 से 500 किलोमीटर प्रतिदिन होती है। इन हवाओ से कही-कही पर हल्की वर्षा हो जाती है।

(2) **उष्ण कटिबन्धीय अवदाब** (Tropical Depressions)—छोटे आकार वाले उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातो को अवदाब कहा जाता है। इनमें एक से अधिक घिरी समदाब रेखाएँ होती है। ये भी विषुवत रेखीय गर्त से सम्बन्धित होते है। इनकी उत्पत्ति व्यापारिक हवाओं के साथ न होकर अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण (inter tropical convergence—ITC) के साथ होता है। इनमे दाब प्रवणता (gradient) बहुत हल्की होती है। अत: इनमें हवाओं की गति 40 से 50 किलोमीटर प्रति घण्टा से अधिक नही होती। इनकी दिशा और गति अनियमित होती है। कभी-कभी ये एक ही स्थान पर कई दिनों तक स्थिर हो जाते है।

ये अवदाब मुख्यत: भारत और आस्ट्रेलिया में ग्रीष्म ऋतु मे अधिक आते है। बगाल की खाड़ी के उत्तरी भाग से उत्पन्न होकर ये अवदाब पश्चिम तथा उत्तर-पश्चिम की ओर चलते है। इनसे पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, बिहार, मध्य प्रदेश तथा उत्तर-प्रदेश में वर्षा होती है। आस्ट्रेलिया में ये पश्चिम की ओर चलते है और उत्तरी-पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे वर्षा करते है। इन अवदाबों से प्रभावित क्षेत्रों मे भारी वर्षा होती है। कभी-कभी इनसे इतनी वर्षा होती है कि नदियों मे बाढ़े आ जाती है तथा धन-जन की अपार क्षति होती है। जापान तथा चीन के दक्षिणी भाग भी इनसे प्रभावित होते है।

(3) **उष्ण कटिबन्धीय तूफान** (Tropical Storms)—उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों में बहुत अधिक विकसित और विस्तृत चक्रवातो को तूफान कहा जाता है। इनमे कई घिरी हुई समदाब रेखाएँ होती है। समदाब रेखाएँ पास-पास होने से इनमे दाब प्रवणता अधिक होती है। इसलिए इनमें हवाओ का वेग लगभग 120 किलोमीटर प्रति घण्टा के होता है। ये तूफान अलग-अलग स्थानो पर अलग-अलग नामो से पुकारे जाते है। उदाहरणत. इन्हे पश्चिमी द्वीप समूह मे **हरीकेन** (Hurricane), चीन सागर मे **टाइफून** (Typhoon), पूर्वी एशिया एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया में **चक्रवात** (Cyclone) तथा संयुक्त राज्य अमेरिका एवं मेक्सिको मे **टोरनेडो** (Tornado) कहा जाता है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों की उत्पत्ति

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानों में बड़ा मतभेद है। वाताग्र सिद्धान्त के मानने वालों का कहना है कि सभी प्रकार के चक्रवातों की उत्पत्ति वाताग्रो के कारण ही होती है। विषुवतरेखीय भागो मे यद्यपि दो विपरीत तापमान वाली वायु-राशियों का अभाव देखा जाता है, फिर भी यहाँ स्थलीय और सागरीय हवाओं के मिलने से वाताग्र का निर्माण हो जाता है और इसी से इन चक्रवातों की उत्पत्ति हो जाती है। किन्तु आजकल इस मत को विशेष मान्यता प्राप्त नही है। कुछ विद्वानों के अनुसार ये चक्रवात गर्मियो मे अन्तरा उष्ण कटिबन्धीय अभिसरण (ITC) के साथ उत्पन्न होते है, जबकि यह अभिसरण क्षेत्र 5° से 30° उत्तरी अक्षांश की ओर खिसक जाता है। यहाँ पृथ्वी की अक्षीय गति के कारण हवाएँ गोलाकार रूप धारण कर लेती है। कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि पूर्वी तरंग (easterly wave) ही आगे चलकर उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातो में परिणत हो जाती है। तथ्य कुछ भी हो उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के जन्म और विकास के लिए निम्न बातें आवश्यक मानी जाती है :

(i) ये केवल ग्रीष्मकाल में ही उत्पन्न होते हैं, जबकि तापमान 80° फा० से ऊपर होता है।

(ii) ये केवल उष्ण समुद्रों मे ही उत्पन्न होते हैं।

(iii) विषुवत रेखा पर ये नही पाये जाते। इनकी उत्पत्ति का क्षेत्र 8° से 15° उत्तर अक्षांशो के मध्य स्थित होता है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात में मौसम

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात के आगमन पर मौसम मे भारी परिवर्तन होता है। इनके आगमन के पहले वायु शान्त हो जाती है। वायुदाब सामान्य से थोड़ा ऊँचा हो जाता है। आकाश में पक्षाभ मेघ छा जाते है और समुद्र मे बडी-बडी तरगे उठती है। चक्रवात के समीप पहुँच जाने पर वायुदाब घटने लगता है और पवनवेग बढ जाता है। हवाएँ तूफान का रूप धारण कर लेती है। आकाश कपासी-वर्षी मेघों से ढक जाता है। और मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। वर्षा सामान्यत: 10 से 25 सेमी तक होती है, कभी-कभी विशेष परिस्थितियो मे वर्षा का औसत 100 सेमी तक पहुँच जाता है। समुद्र मे भीषण तूफान आ जाता है। आकाश पूर्णतया मेघाच्छन्न हो जाता है जिससे दृश्यता (visibility) बिल्कुल समाप्त हो जाती है। यह स्थिति कुछ घण्टो तक रहती है। बाद में अचानक वायु शान्त हो जाती है। आकाश मेघरहित हो जाता है और वर्षा बन्द हो जाती है। यह स्थिति चक्रवात के चक्षु (केन्द्र) (eye of the storm) की परिचायक होती है। वायुदाब न्यूनतम होता है। यह अवस्था थोड़े समय ही रहती है। इसके बाद चक्रवात का पृष्ठ भाग आ जाता है। आकाश पुनः काले बादलो से ढक जाता है। घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। यह दशा कई घण्टे तक बनी रहती है। ज्यों-ज्यों चक्रवात आगे बढता जाता है वायुदाब बढता जाता है और वायु मन्द पड़ जाती है। चक्रवात के निकल जाने पर आकाश से बादल छँट जाते है और मौसम सुहावना हो जाता है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का वितरण

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात दोनो गोलार्द्धो में मुख्यतः 5° से 15° अक्षाशों के मध्य पाये जाते है। इनके छः प्रमुख क्षेत्र हैं जो निम्न प्रकार है :

(1) **उत्तरी अटलांटिक महासागर**—इस महासागर मे इनका क्षेत्र 30° उत्तरी अक्षांश तक फैला हुआ है। प्रतिवर्ष इस भाग में लगभग सात चक्रवात आते है जिनमे से आधे हरिकेन का रूप ग्रहण करते है। इसके कुछ उप-विभाग है जो निम्न प्रकार है :

(i) **वर्डे अन्तरीप द्वीप क्षेत्र**—इस क्षेत्र में अगस्त व सितम्बर मे चक्रवात आते हैं।

(ii) **कैरेबियन सागर क्षेत्र**—इस सागर के उत्तर तथा दक्षिण दोनो भागो मे तूफान आते है। उत्तरी भाग में मई से नवम्बर तक तथा दक्षिणी भाग मे जून से अक्टूबर तक तूफान अधिक आते है।

(iii) **पश्चिमी द्वीप समूह क्षेत्र**—इस क्षेत्र में जून से अक्टूबर तक तूफानों का अधिक प्रकोप रहता है। इन तूफानों से संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी तट का दक्षिणी भाग फ्लोरिडा तट भी प्रभावित होता है।

(iv) **मेक्सिको की खाड़ी का क्षेत्र**—इस क्षेत्र में जून से अक्टूबर तक भीषण चक्रवात आते हैं।

(2) **उत्तरी प्रशान्त महासागर**—यह क्षेत्र मेक्सिको व मध्य अमेरिका के पश्चिमी तट के समीप स्थित है। यहाँ जून से नवम्बर तक 5-6 चक्रवात आते है जिनमे से लगभग 2 हरिकेन का रूप ले लेते है।

(3) **दक्षिणी प्रशान्त महासागर**—यह क्षेत्र आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट से लेकर सोसाइटी द्वीप' क्रिश्चियन द्वीप एव हवाई द्वीप तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र मे दिसम्बर से अप्रैल तक तूफान आते है।

(4) **चीन सागर**—यह क्षेत्र दक्षिणी चीन, वियतनाम, फिलीपाइन द्वीप समूह तथा दक्षिणी जापान तक विस्तृत है। इस क्षेत्र मे मई से दिसम्बर तक तूफान आते है। वर्ष में लगभग 20-21 तूफान आ जाते है। इस क्षेत्र के तूफानो को 'टाईफून' कहते है।

(5) **उत्तरी हिन्द महासागर**—इस क्षेत्र मे बगाल की खाडी और अरब सागर में उत्पन्न होने वाले चक्रवात आते है। यहाँ ये अप्रैल से दिसम्बर तक आते है। बंगाल की खाड़ी मे 6-7 और अरब सागर मे केवल एक-दो चक्रवात प्रतिवर्ष आते है।

(6) **दक्षिणी हिन्द महासागर**—इस क्षेत्र मे मेडागास्कर रियूनियन व मारीशस द्वीपो के आसपास का भाग आता है। यहाँ नवम्बर से अप्रैल तक औसतन एक या दो चक्रवात प्रतिवर्ष आते है।

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों का प्रभाव

उष्ण व टिबन्धीय चक्रवात अपने प्रभाव मे बड़े भीषण होते है। जब ये आगे बढ़ते है तो मार्ग की वस्तुओ को समूल नष्ट करते हुए आगे बढते है। समुद्रों पर जहाँ इनकी प्रगति में कोई बाधा नही पड़ती बड़ा ही विनाशकारी प्रभाव दिखाते है। समुद्रो मे इनके कारण बड़ी-बडी लहरे उत्पन्न होती है जिससे समुद्रो मे चलने वाले जहाजों को बड़ी भारी क्षति उठानी पड़ती है। इनकी विनाश-लीला समुद्रतटों और छोटे-छोटे द्वीपो मे भली-भाँति देखी और अनुभव की जा सकती है। ज्वार की भयकर लहरें समुद्रतटो पर आकर चोट करती है तो अपार धन-जन की हानि होती है। अक्टूबर 1876 ई० मे बगाल के तट पर ऐसा ही एक चक्रवात आया था जिसमे देखते ही देखते 1 लाख मनुष्यों की प्राणाहुति लग गयी। इसी तरह कम विस्तार वाला परन्तु भीषण चक्रवात फाल्स पॉइण्ट पर 19-22 सितम्बर, 1885 ई० को उत्पन्न हुआ था। इस तूफान के समय सबसे कम वायुदाब 27·135″ के अक प्राप्त हुए थे, जो उष्ण कटिबन्ध मे समुद्र पर कभी भी अंकित नही किये गये थे। सन् 1883 में बंगाल की खाड़ी मे एक विशिष्ट चक्रवात 26 जून से 4 जुलाई तक बराबर अपनी भीषणता मे बना रहा। बंगाल की खाड़ी मे उठने वाले चक्रवातों में सबसे अधिक उल्लेखनीय और उष्णप्रदेशीय चक्रवातों का सबसे सुन्दर उदाहरण कोकोनाडा चक्रवात है। मद्रास तट पर कोकोनाडा नामक स्थान पर 17 अक्टूबर, 1933 को बंगाल की खाडी से एक भीषण तूफान आया और उसने वहाँ जो विनाश-लीला फैलायी वह भारतीय चक्रवातों के इतिहास मे सदा स्मरणीय रहेगी। इस तूफान की उत्पत्ति अण्डमान द्वीप के निकट 13 अक्टूबर, 1933 को प्रात काल हुई थी जो क्रमशः प्रगति करता हुआ 20 अक्टूबर को प्रातःकाल लखनऊ पहुँच गया था।[1]

उष्ण कटिबन्धीय चक्रवातों के मुख्य रूप

इन चक्रवातों के उल्लेखनीय रूप निम्न है: (1) हरीकेन या टाईफून, (2) बवण्डर या टोरनेडो व (3) पूर्ण मेघ। इनका परिचय नीचे दिया जा रहा है:

(1) **हरीकेन या टाईफून**—ये एक प्रकार के उष्ण कटिबन्धीय तूफान है जो संयुक्त राज्य अमेरिका में **हरीकेन** तथा चीन में **टाईफून** के नाम से प्रसिद्ध है। ये निम्न अक्षांशो से उठा करते है। ये तूफान बड़े ही भीषण और महाविनाशकारी होते हैं। ऐसे भयंकर तूफान केवल समुद्रों पर ही उठा करते है क्योंकि वहीं बड़ी मात्रा मे भाप उपलब्ध होती है और पवनों के चलने मे कोई बाधा नहीं होती। प्राय: इनकी उत्पत्ति ऐसे समुद्री भागों में होती है जहाँ व्यापारिक पवने डोलड्रम के साथ लुप्त हो जाती हैं। इन तूफानों को जन्म देने में स्थानीय गरमी और भाप ही विशेष सहायता करती है। ग्रीष्म के अन्त मे इन तूफानों की संख्या बढ जाती है। अधिकतर इन तूफानो की दिशा व्यापारिक पवनों के अनुरूप पहले पश्चिम की ओर होती है परन्तु 20° और 25° उत्तरी अक्षांश

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 466

के समीप इनका रुख ध्रुवो की ओर बदल जाता है। ज्योंही वे मध्य अक्षांशों अथवा भू-खण्डो मे प्रवेश करते है इनकी भीषणता कुछ कम हो जाती है। इन तूफानों को बनाये रखने वाली मुख्य शक्ति सघनन के समय छूटी हुई गुप्त ताप (latent heat) होती है। इसी से इनके साथ भयकर वर्षा भी होती है। तूफान की प्रारम्भिक अवस्था मे कुछ शक्ति विपरीत वायु-राशियो के मिलने की प्रतिक्रियास्वरूप मिल जाती है।

वैसे ये प्रभंजन अपने आप मे अनोखे होते है परन्तु कुछ बातों मे वे मध्य अक्षांशों के चक्रवातों से मिलते-जुलते होते है। जैसे इन प्रभंजनो के बीच न्यूनदाब होता है, हवाओं की चक्रवाती व्यवस्था होती है और अपेक्षतया बादलो और वर्षा का लम्बा-चौडा क्षेत्र होता है। परन्तु अन्य दूसरी बातों में ये उच्च चक्रवातों से भिन्न होते है। जैसे इनकी समदाब रेखाएँ प्राय. समान दूरी पर होती है और लगभग गोलाकार रूप रखती हैं। वायु का दाब प्राय अधिक रहता है जिससे हवाएँ बड़ी वेगवती होती है। वास्तविक हरीकेन के लिए आवश्यक है कि तूफान मे हवा का वेग 75 मील प्रति घण्टा तक हो। घनघोर वर्षा इन प्रभंजनों का लक्षण है। केन्द्र मे सर्वत्र समान वर्षा होती है। प्रभंजन के पृष्ठभाग मे तेज हवाओं के कारण अग्रभाग की अपेक्षा कम वर्षा होती है। कभी-कभी इन प्रभजनो मे इतनी वर्षा होती है कि प्रभजन निकल जाने के बाद भूमि पर कमर तक गहरा पानी हो जाता है।[1] केन्द्र के चारों ओर तापमान का वितरण सब दिशाओं मे समान रहता है। इनमे पवनो का बहुत शीघ्र स्थान्तरण नही होता। हवाएँ धीरे-धीरे एकत्रित होकर भँवर में बदल जाती है और केन्द्र से बराबर ऊपर उठा करती है। हरीकेन का केन्द्र एकदम शान्त और वर्षारहित होता है। केन्द्र का व्यास 5 से 30 मील तक होता है। ये प्रभजन जाडे की अपेक्षा गर्मी मे ही अधिक आया करते है।

चित्र 140—पश्चिमी द्वीपसमूह में विकसित प्रभंजन

इन प्रभजनो का कोई निश्चित आकार नही होता। साधारणत: ये छोटे होते है, परन्तु बड़े तीव्र होते है! भँवर का कुल व्यास 100 से 400 मील तक हो सकता है। पवनों का वेग हमेशा ही भीषण नही होता, परन्तु कभी-कभी इनका वेग 90 से 130 मील प्रति घण्टा तक हो जाता है। जब इन तूफानो का भीषण प्रकोप होता है तो ये समुद्रतट की बस्तियों को उजाड देते है, असंख्य लोगो के प्राण ले लेते है और बडी मात्रा मे जहाजों और नावों को समुद्र मे डुबो देते है। इन तूफानो से भीषण विनाश, भारी वर्षा और साथ में आने वाली बाढ, प्रचण्ड वेग से चलने वाली हवाओ और समुद्र के फुफकारती हुई लहरों के कारण होता है। 18 सितम्बर, 1926 में आने वाले ऐसे ही एक विकराल हरीकेन से फ्लोरिडा के मियामी जिले (Miami District) में 144 मनुष्य अकाल ही काल की गोद मे चले गये और जो क्षति सम्पत्ति आदि के रूप मे हुई वह 7,50,00,000 डालर के लगभग थी।[2]

(2) **बवण्डर या टोरनेडो** (Tornadoes)—बवण्डर बहुत ही छोटे आकार के तूफान है। परन्तु विश्व मे इनसे अधिक विनाशक और भयकर कोई अन्य तूफान नही होते। **आर० डी० सी०**

---

[1] Ivan Roy · *Hurricanes, Their Nature and History*, p. 70

[2] Trewartha : *Introduction to Climate and Weather*, p. 281

वार्ड के अनुसार, बवण्डर एक बहुत ही न्यून विस्तार वाली वायु की तीव्र भँवर है जिसमे हवाओ की गति केन्द्र के समीप बड़ी प्रचण्ड हो उठती है और वहाँ से घड़ी की सुई के प्रतिकूल दिशा ग्रहण कर ऊपर उठती है जिससे उनकी भयंकरता दुनिया के ज्ञात किसी भी तूफान से अधिक होती है। टोरनेडो के अतिरिक्त दूसरी कोई महानाशक शक्ति दुनिया मे नहीं है। परन्तु सौभाग्यवश ये दुनिया के एक विशेष भाग तक ही सीमित है और आते भी यदाकदा ही है। इनका विस्तार प्राय. 300 से 1500 फुट तक होता है। शीत-वाताग्र (cold f ont) से इनका गहरा सम्बन्ध रहता है। ऐसे भागो में जहाँ उष्ण प्रदेशों से आने वाली अति गरम और आर्द्र हवा ध्रुवीय शीतल वायु से संघर्ष मे रहती है वहाँ ये अधिक पनपते है। बसन्त और ग्रीष्म के प्रारम्भ मे ये अधिक देखे जाते है। टोरनेडो के आगमन के पूर्व प्रायः काले बादल आकाश मे छाये रहते है। इन घटाटोप बादलों से प्रायः एक कीप के समान (funnel shaped) बादल लटका या टँगा रहता है जो बार-बार इधर-उधर व ऊपर-नीचे होता है। यही बादल बवण्डर या टोरनेडो कहलाता है।

चित्र 141—टोरनेडो

जब बवण्डर आता है तो ऐसी गर्जना करता है जैसे 10,000 मालगाड़ियाँ एक साथ गुजर रही हो। यह हमेशा पश्चिम या दक्षिण-पश्चिम से आता है और उत्तर-पूर्व की ओर बढ जाता है। इसकी गति प्राय. तेज चलने वाली गाडी के समान होती है। इसमे हवाओ की गति 100 से 200 मील प्रति घण्टा होती है। कभी-कभी गति इससे भी अधिक रहती है। इसके उत्पात का क्षेत्र प्रायः $\frac{1}{4}$ मील से भी कम चौडा होता है। इसकी सम्पूर्ण जीवन-लीला एक-आध घण्टे मे ही समाप्त हो जाती है। जब कुछ-कुछ धुँधलापन होता है और बडी घनघोर वर्षा होती है तो यह अपनी प्रलय-लीला फैला देता है और यह प्रलय-लीला कुछ समय मे ही हो जाती है। क्षण भर मे मकानों का ढेर और मनुष्यो की समाधियाँ लग जाती है। मरे हुए पशु चारों ओर फैले रहते है। इन सबको देखकर किसी की समझ मे भी नही आता कि क्या हुआ। ज्योंही किसी स्थान से बवण्डर गुजर जाता है, वहाँ अमिट शान्ति छा जाती है। जब आगे बढ़ता है तो जो भी इसके मार्ग में आता है वहाँ इसी प्रकार ताण्डव नृत्य फैलाता जाता है। यह बडे ही दुर्भाग्य की बात है कि जब कभी बवण्डर के अनुकूल अवस्थाएँ बन जाती है तो एक ही प्रदेश मे कई बवण्डर एक साथ पनप जाते है। 19 फरवरी, 1884 का दिन समस्त तूफानों के इतिहास मे सबसे प्रमुख महा-विनाशक दिन गिना गया है। इस दिन दक्षिणी राज्यों मे लगभग 60 बवण्डर एक साथ आये। इन सबके महाविनाश से 800 मनुष्य काल के गाल मे चले गये, 2500 घायल हो गये तथा 10,000 से अधिक इमारते ध्वस्त हो गयीं।[1]

ये बवण्डर केवल अमरीका तक ही सीमित है। दूसरे भागो मे ये बहुत ही कम देखे जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका मे रॉकी पर्वतो के पूर्व मे मध्य और दक्षिणी राज्यों मे इनका प्रायः उत्पात हुआ करता है। इन बवण्डरों के सम्बन्ध मे **स्ट्रैलर महोदय** (N. Strahler) का यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है—"The smallest but most violent of all known storms is the Tornadoes. It seems to be a typically American storm, being most frequent and violent in United States."[2]

---

[1] W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 334

[2] N. Strahler : *Introduction to Physical Geography*, p. 180

(3) **पूर्ण मेघ अथवा जल-स्तम्भ**—जब कोई तूफान (tornado) समुद्र पर होकर गुजरता है तो उसके प्रभाव से समुद्र मे बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगती है। इस तूफान के मध्य वायुदाब की अत्यधिक न्यूनता के कारण समुद्र का पानी उसके केन्द्रीय भाग मे ऊपर उठ जाता है। कभी-कभी समुद्र-जल इस प्रकार कई सौ मीटर ऊँचा उठ जाता है जो दूर से एक स्तम्भ की भाँति दृष्टिगोचर होता है। इसी को पूर्ण मेघ अथवा जल स्तम्भ कहा जाता है। तूफान के मध्य वायुदाब इतना कम होता है कि जल के साथ मछलियाँ भी ऊपर खिच आती है और स्तम्भ के गिरने के साथ ही नीचे गिर पडती है।

जल स्तम्भ कई सौ मीटर ऊँचाई तक रहता है। यह बनने के बाद आधा घण्टे तक खड़ा रहता है। इसके निकट बड़ी तेज हवाएँ इसके चारों ओर चक्र की भाँति चला करती है। इसके आधार की अपेक्षा इसका शीर्ष अधिक तीव्र गति से आगे बढ़ता है। यह बाद मे मुड़ जाता है और टूटकर विलीन हो जाता है।

चक्रवात के क्षेत्र	चक्रवातों की संख्या
उत्तरी-पश्चिमी प्रशान्त महासागर	30
दक्षिणी हिन्द महासागर	13
आस्ट्रेलिया व तटीय समुद्र	13
बगाल की खाड़ी	8
पश्चिमी भारतीय समुद्र	5
अरब सागर	4

प्रति-चक्रवात
(Anti-Cyclone)

प्रति-चक्रवात अपने गुण, स्वभाव, प्रभाव तथा वायु व्यवस्था में ठीक चक्रवात से उल्टे होते है। प्रति-चक्रवात समदाब रेखाओ की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें उच्च वायु-दाब ठीक केन्द्र में रहता है। केन्द्र से बाहर की ओर सभी तरफ वायुदाब क्रमशः घटता जाता है। इसलिए प्रति-चक्रवात मे समदाब रेखाएँ लगभग गोलाकार होती हैं। स्ट्रैलर महोदय के अनुसार, "An anti-cyclone is an area of high pressure surrounded by close isobars."

आकार तथा विस्तार—सामान्यत. प्रति-चक्रवात वृत्ताकार या गोलाकार होते हैं। कभी-कभी इनका रूप फनाकार (wedge shaped) भी होता है। चक्रवातों की तुलना मे प्रति-चक्रवात बड़े-ही विशालकाय होते हैं। इनकी लम्बाई व चौडाई मे विशेष अन्तर नही होता। सामान्यत: प्रति-चक्रवात का व्यास 3,000 किलोमीटर से अधिक होता है। कभी-कभी इनका विस्तार 9,000 किलोमीटर तक देखा जाता है। शीतोष्ण कटिबन्ध मे यदा-कदा ऐसे प्रति-चक्रवात भी विकसित हो जाते हैं जो आधे सयुक्त राज्य अमरीका अथवा समूचे यूरोप महाद्वीप अथवा सम्पूर्ण साइबेरिया पर विस्तृत हो जाते है।
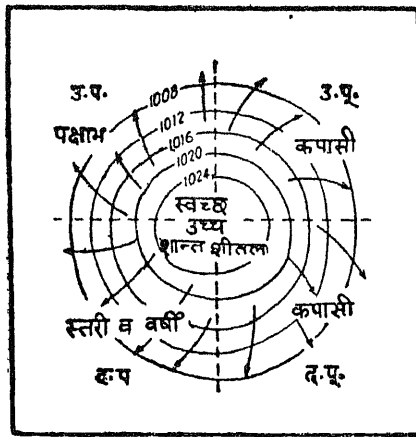
चित्र 143—एक आदर्श-प्रति-चक्रवात

तापमान—प्रति-चक्रवातों की उत्पत्ति या तो गर्म उष्ण कटिबन्धीय पवनो से अथवा शीतल ध्रुवीय पवनो से होती है। अत. इनसे प्रभावित क्षेत्रो के तापमान पर उनका स्पष्ट

उतरती रहती है, जिससे रिक्त स्थान की पूर्ति होती रहती है। ये जब ऊपर से नीचे उतरती है तो इनके तापमान मे वृद्धि हो जाती है। तापमान बढ जाने से हवा शुष्क हो जाती है और वर्षा नही करती। यही कारण है कि प्रति-चक्रवात के मध्य मे मौसम सदा स्वच्छ रहता है।

प्रति-चक्रवातों के भेद

हम्फ्रीज (Humphreys) ने उत्पत्ति के अनुसार प्रति-चक्रवातों का निम्न वर्गीकरण किया है :

(1) घर्षण सम्बन्धी प्रति-चक्रवात (Mechanical Anti-cyclone),

(2) विकिरण सम्बन्धी प्रति-चक्रवात (Radiational Anti-cyclone),

(3) ताप सम्बन्धी प्रति-चक्रवात (Thermal Anti-cyclone)।

(1) **घर्षण सम्बन्धी प्रति-चक्रवात**— विषुवत रेखा से ऊपर उठने वाली हवाएँ सदा ही 30° और 35° अक्षाशों के बीच नीचे उतरकर धरातल पर एकत्रित होती रहती है, जिसमे 30° और 35° अक्षांशो के बीच घर्षणीय सकुचन (Mechanical Squeeze) उत्पन्न हो जाता है और वहाँ उच्चदाब की पेटी बन जाती है। इस उच्चदाब की पेटी का प्रभाव समुद्रों पर अधिक रहता है। यहाँ उत्पन्न चक्रवात बड़े ही अस्थिर होते है।

(2) **विकिरण सम्बन्धी प्रति-चक्रवात**—उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के निकट ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिक पठार के ऊपर सदा उच्चदाब रहता है। यहाँ उच्चदाब दो कारणो से रहता है—(1) विषुवत रेखा से दूरी के कारण, और (2) स्वतन्त्र विकिरण के कारण। ये स्थान विषुवत रेखा से इतने दूर हैं कि सूर्य की किरणे कभी सीधी नही चमकती। अत: यहाँ सूर्य से बहुत ही कम गर्मी प्राप्त होती है। इसके विपरीत, ये दोनों स्थान ऊँचे पठार है इसलिए भी ये अपेक्षतया ठण्डे रहते है। फिर यहाँ जो कुछ गर्मी प्राप्त होती है वह बहुत शीघ्र विकिरण द्वारा नष्ट हो जाती है। फलतः ये स्थान अत्यन्त ठण्डे और बर्फ से ढके रहते है। इन्ही कारणो से यहाँ उच्चदाब रहता है।

ये स्थान उच्चदाब के कारण ही चक्रवातों के केन्द्र बन जाते है जो प्राय: स्थायी होते है। किन्तु जाड़े की ऋतु में ऊँचे और बर्फ से ढके इन प्रदेशो से विकिरण के कारण अस्थायी प्रति-चक्रवात उत्पन्न हो जाते है।

(3) **ताप सम्बन्धी प्रति-चक्रवात**—महासागरों के ऊपर वैसे तो समान तापमान रहते है परन्तु जहाँ कही ठण्डी धाराएँ बहती है वहाँ सतह के पानी का तापमान कम हो जाता है। अतः वहाँ आसपास उच्चदाब का क्षेत्र स्थापित हो जाता है जो प्रति-चक्रवातो के केन्द्र बन जाते हैं। ऐसे प्रति-चक्रवात अर्द्ध-स्थायी प्रकृति के होते है।

हैजिल्क महोदय ने सन् 1909 में प्रति-चक्रवातों को उष्ण व शीतल दो वर्गों में बाँटा था। नवीन खोजों के आधार पर इन्हें निम्नलिखित तीन प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) **गर्म प्रति-चक्रवात** (Warm Anti-cyclone)—भूमध्य रेखा के दोनो ओर कर्क और मकर रेखाओं के समीप उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटियाँ स्थित हैं। यहाँ सदैव उष्ण और शुष्क हवाओं का अपहरण (divergence) होता है। इससे यहाँ गतिक या यान्त्रिक (dynamic or mechanical) रूप से गर्म प्रति-चक्रवातों की उत्पत्ति होती है। ये प्रति-चक्रवात बहुत कम सक्रिय होते हैं। अपने उत्पत्ति स्थान से कदाचित ही बाहर निकलते है। इनकी गति इतनी मन्द होती है कि कभी-कभी तो ये हफ्तों एक ही स्थान पर स्थिर रहते है। इनमें बहुत ही मन्द हवाएँ चलती हैं। स्वच्छ आकाश मेघरहित और मौसम स्वच्छ रहता है। ऐसे प्रति-चक्रवात अधिकाशत: पश्चिमी यूरोप तथा दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य में अधिक प्रभावशील पाये जाते है।

(2) **शीतल प्रति-चक्रवात** (Cold Anti-cyclone)—ये प्रति-चक्रवात एक प्रकार से चक्रवातो के पूरक है। ये उन स्थानों पर उत्पन्न होते हैं जहाँ अत्यधिक ठण्ड रहती है। इसलिए

ध्रुववर्ती क्षेत्र इनके उत्पत्ति क्षेत्र है। इन क्षेत्रों में शीतकाल मे सूर्यातप की मात्रा में कमी होने तथा विकिरण द्वारा बड़ी मात्रा मे ताप ह्रास होने से उच्च वायुदाब स्थापित हो जाता है जो प्रति-चक्रवातों को जन्म देता है। इस प्रकार इन प्रति-चक्रवातों की तापीय उत्पत्ति होती है। गर्म प्रति-चक्रवातों की तुलना मे ये छोटे होते हैं किन्तु गति में अधिक तेज होते है। इनमे से कुछ प्रति-चक्रवात अस्थायी प्रकार के होते है और मार्ग मे ही लुप्त हो जाते है जबकि कुछ अर्ध स्थायी होते है जो प्राय अधिक सक्रिय होते है। ऐसे प्रति-चक्रवात मुख्यत. साइबेरिया मे अधिक आते है जो चीन व जापान को प्रभावित करते है। इसके अतिरिक्त ये उत्तरी पश्चिमी यूरोप, उत्तरी कनाडा एवं उत्तरी-पूर्वी संयुक्त राज्य में भी प्रभावशील पाये जाते है।

(3) **अवरोधी प्रति-चक्रवात** (Blccking Anti-cyclone)—हाल ही मे वैज्ञानिकों ने अपने वायुमण्डलीय निरीक्षणों के द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि परिवर्तन मण्डल के ऊपरी भाग मे वायु संचार में अवरोध के कारण भी प्रति-चक्रवातो की उत्पत्ति होती है। अवरोधस्वरूप बनने के कारण ही इन्हें अवरोधी प्रति-चक्रवात कहा गया है। यद्यपि अभी तक इनके बारे मे विशेष जानकारी प्राप्त नही हो पायी है किन्तु ये गर्म प्रति-चक्रवातों की अपेक्षा छोटे और मन्द गति वाले होते है। मौसम सम्बन्धी विशेषताओ मे ये प्राय. उन्ही के समान होते है। ऐसे प्रति-चक्रवात मुख्यत. उत्तरी पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर के पश्चिमी भाग मे अधिक आते है।

गौण अथवा सहकारी चक्रवात
(Secondary Cyclones)

कभी-कभी प्रधान चक्रवात के शीत-वाताग्र (cold front) पर किसी स्थान पर न्यून दाब उत्पन्न हो जाता है। इस न्यून दाब के आसपास एक अन्य वायु-चक्र बन जाता है, जिसे गौण अथवा सहकारी चक्रवात कहा जाता है। इस प्रकार सहकारी चक्रवात हमेशा किसी बड़े चक्रवात के भीतर ही विद्यमान होता है। इसका प्रमुख लक्षण यह है कि इसके कारण मुख्य चक्रवात का बाहरी भाग किसी एक भाग मे फूल जाता है। वैसे ये मुख्य चक्रवात के किसी भी भाग मे विकसित हो सकते हैं, परन्तु अधिकाशत. वे दक्षिणी किनारे पर ही पाये जाते है। प्राय सहकारी चक्रवात घडी की सुइयो की विपरीत दिशा मे प्रधान चक्रवात का चक्कर लगाते है।
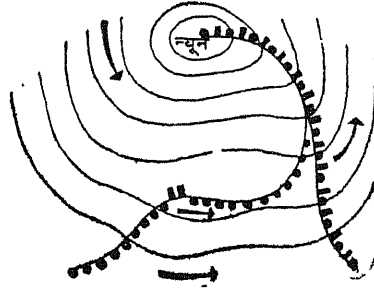
चित्र 143—गौण चक्रवात

इसमे हवाएँ अधिक दाब से न्यूनदाब की ओर चलती हैं, परन्तु वे फैरल के नियम का अनुसरण करती है। सहकारी चक्रवातों मे समदाब रेखाएँ दूर-दूर होती है जिससे हवाएँ बड़ी हल्की होती है। सहकारी चक्रवात का मौसम बहुत कुछ प्रधान चक्रवात के समान ही होता है।

टंक
(Wedge)

जब कभी दो चक्रवातो के बीच प्रति-चक्रवात घुस आता है तो समदाब रेखाओं का रूप अँगूठे की भाँति बन जाता है। समदाब रेखाओं के इसी रूप को **टंक** (wedge) कहा जाता है।

टंक एक अधिक वायुदाब का क्षेत्र है जिसकी आकृति त्रिभुजाकार होती है। इसमे उच्च-दाब आधार के केन्द्र-बिन्दु पर होता है जो क्रमशः तीनों ओर घटता जाता है। यह प्रायः उसी

ओर चलते है, जिधर चक्रवात अग्रसर होते है। शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशो मे ये पूर्व की ओर चलते है। इसमे समदाब रेखाओं की दूरी अधिक होने के कारण हवाएँ बहुत हल्की होती है।

प्राय. टंक का सम्बन्ध स्वच्छ आकाश, मन्द पवन और सुन्दर सुहावने और शुष्क मौसम से होता है। परन्तु मौसम की यह दशा कुछ ही समय तक रहती है, क्योकि इसके समीप चक्रवातों की उष्ण वायु का प्रभाव बहुत शीघ्र इस क्षेत्र मे पहुँच जाता है। उष्ण वायु के आगमन के साथ ही हल्की-हल्की वर्षा भी होने लगती है।

द्विवेणी आकृति के गर्तचक्र
(V-Shape Depression)

यह टंक (wedge) का एकदम उलटा होता है। इसका रूप त्रिभुजाकार होता है जिसमे न्यूनदाब त्रिभुज के आधार के केन्द्र-बिन्दु पर होता है। वायुदाब क्रमशः सभी ओर बढ़ता जाता है। इसमे समदाब रेखाओ के बीच की दूरी कुछ कम होती है, इसलिए हवाएँ बड़े वेग से चला करती है।

द्विवेणी आकृति के गर्तचक्र मे ऋतु बड़ा परिवर्तनशील होता है। बादलो और वर्षा के वितरण मे भी बहुत भेद रहता है। परन्तु सामान्यत. इसका मौसम चक्रवात के अनुरूप ही होता है।

ग्रीवा
(Col)

दो निम्न दाब और दो उच्चदाब के बीच के स्थान को ग्रीवा (col) कहते है। ग्रीवा एक ऐसा तटस्थ प्रदेश है जो चक्रवात और प्रति-चक्रवात किसी से भी सम्बन्धित नही होता। इसमें समदाब रेखाओं का पूर्ण अभाव रहता है। अतः इस भाग मे कोई पवने नही चलती। पवनों की दृष्टि से यह शान्त क्षेत्र होता है। जाड़ो मे इसमे कुहरा अधिक गिरता है और मौसम शान्त रहता है। ग्रीष्म ऋतु मे यहाँ भयंकर आँधियाँ चलने लगती हैं। यह कभी किसी स्थान पर अधिक समय तक नही ठहरता।

सीधी समदाब रेखाएँ
(Straight Isobars)

ऐसी रेखाएँ चक्रवात और प्रति-चक्रवात के बीच पायी जाती हैं। इनसे सम्बन्धित वायु-दशा बड़ी परिवर्तनशील होती है। किसी एक प्रकार का मौसम बहुत अधिक समय तक नही रहता। इनमें हवाएँ उच्च दाब से निम्न दाब की ओर चलती है। यदि इन रेखाओं के बीच की दूरी कम हुई तो हवा तेजी से चलती है, अन्यथा हवाएँ धीरे-धीरे चलती है।

मौसम की भविष्यवाणी
(Weather Forecasting)

प्रत्येक मनुष्य मे मौसम सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। मनुष्य की यही जिज्ञासा उसे भविष्यवक्ता बना देती है। मौसम से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी कई कहावतें हर देश मे प्रचलित हैं जो कि उपरोक्त मत का प्रतिपादन करती हैं। आज यदि कोई अपने स्थान पर चलने वाली पवन, बादलों की जाति और तापमान के घटने-बढने आदि स्थानीय अवस्थाओं का बराबर निरीक्षण करता रहे तो वह बिना किसी यन्त्रों और मानचित्रों की सहायता से भी आने वाले मौसम का हाल बता सकता है। यद्यपि यह सही है कि यन्त्रों की सहायता से आने वाले मौसम के सम्बन्ध में अधिक सही भविष्यवाणी की जा सकती है।

भारत में मौसम की दैनिक भविष्यवाणी का कार्य लगभग 400 छोटी-बडी वेधशालाओं से प्राप्त मौसम के आँकडों पर आधारित होता है। ये वेधशालाएँ प्रतिदिन तापमान, वायुदाब,

वर्षा, मेघ, कुहरा, वायु-दिशा, वायु-गति एवं समुद्र दशा आदि बातो का निरीक्षण कर टेलीफोन, तार एवं ट्रान्समीटर आदि साधनो द्वारा केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय वेधशालाओ को सूचना प्रेषित करती है। इस प्रकार की सूचना प्रतिदिन प्रात 8·30 व सध्या को 5 20 बजे नोट की जाती है। मौसम की भविष्यवाणी करने वाले के लिए वैसे तो समस्त वायुमण्डल ही उसकी प्रयोगशाला है, किन्तु अपने कार्य की सिद्धि के लिए उसे वायुमण्डल की समस्त अवस्थाओ को एक छोटे पैमाने के मानचित्र पर अंकित कर लेना आवश्यक होता है। वायुमण्डलीय अवस्थाओ को बताने वाले ऐसे मानचित्र ऋतु मानचित्र (Weather maps) कहलाते है। भारत की केन्द्रीय वेधशाला, पूना में देश की विभिन्न वेधशालाओ से प्राप्त मौसम सम्बन्धी आँकडो के आधार पर दैनिक ऋतु मानचित्र तैयार किये जाते है।

मौसम के सम्बन्ध मे कुछ भी भविष्यवाणी करना इन्ही मानचित्रों के भली प्रकार समझने पर निर्भर करता है। इन मानचित्रो पर अकित सम वायुदाब रेखाओ और वायु-राशि सीमाओं को ठीक प्रकार से पहचानना और उनके लक्षण, विकास तथा गति के बारे मे ज्ञान करना मौसम का सही हाल बताने के लिए बहुत जरूरी है। वायुमण्डल की ऊपरी हवाओ के बारे में भी कई जानकारियाँ उपलब्ध की जाती है। मौसम का ठीक-ठीक विश्लेषण करते समय इनका ध्यान रखना भी जरूरी होता है। मौसम के सम्बन्ध मे इस प्रकार तैयार की गयी भविष्यवाणी शीघ्र ही रेडियो द्वारा प्रसारित कर दी जाती है और जनता की भलाई के लिए पत्र-पत्रिकाओ में छापी जाती है तथा विशेष बुलेटिन निकाले जाते है।

उपरोक्त विधि से मौसम सम्बन्धी हाल बताने मे यद्यपि अच्छी सफलता मिल जाया करती है, परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा कि मौसम की भविष्यवाणी का कार्य जहाँ वैज्ञानिक है वहाँ यह अनुभव पर भी निर्भर करता है। सोचने तथा अनुमान लगाने मे थोडी-सी गलती का भविष्यवाणी की सत्यता पर बड़ा भारी असर पडता है। वायु-राशि सीमा के मार्ग और गति के बारे मे थोडी-सी भूल से मौसम का सारा हाल गलत हो जाता है। यदि हम मान ले कि एक वायु-राशि सीमा समुद्र पर 600 मील दूर पश्चिम मे है और उसकी गति 20 मील प्रति घण्टा है, पर यदि उसकी गति हमारे अनुमान के प्रतिकूल 20 मील के स्थान पर 25 मील प्रति घण्टा हुई तो सारी भविष्य-वाणी गलत हो जायगी। आजकल मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ करने मे बडी सफलता प्राप्त हुई है किन्तु ये सब भविष्यवाणियाँ अधिक से अधिक 24 या 48 घण्टों के लिए ही होती है। लम्बे समय के लिए बहुत ही कम भविष्यवाणियाँ निकलती है और जो निकलती है वे भी बहुत कम अंशों में सही उतरती है।

साधारणतः चक्रवातों और गर्तचक्रो की बनावट के सम्बन्ध में स्थापित सिद्धान्त काफी सीधे और सन्तोषजनक मालूम पड़ते है परन्तु जब मौसम का वस्तुतः निरीक्षण किया जाता है तो शीघ्र ही उन प्रतिपादित सिद्धान्तो मे बहुत-सी कमियाँ नजर आने लगती है। वस्तुत· बहुत कम ऐसे अवसर होते है जबकि बतायी हुई सभी बाते सही निकलती है। उदाहरणत, कई वाताग्र (fronts) के समीप जहाँ वातावरण की एकसी अवस्थाएँ दिखाई पडती है वहाँ मौसम में कोई समानता नहीं मालूम पड़ती। कई बार परीक्षा से अनुमान और तर्क सही निकलते है।

अस्तु, अन्त मे यही कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति भी मानचित्रो की व्यवस्था (diagrammatic scheme) का अनुसरण करने लग जाय तो मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी एक अधिक सही विज्ञान बन जायगा, जो कि आज सही अर्थो मे विज्ञान नही कहा जा सकता।

14

जलवायु का वर्गीकरण

(CLASSIFICATION OF CLIMATES)

पिछले अध्यायों मे जलवायु के विभिन्न तत्त्वो की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की जा चुकी है। इस अध्ययन से यह ज्ञात होगा कि इन तत्त्वों की मात्रा, तीव्रता और मौसमी वितरण मे परिवर्तन से इनके विभिन्न संयोग (combinations) बनते है जो कि विभिन्न प्रकार की जलवायु के अस्तित्व का कारण है।

जलवायु जो एक बहुत ही जटिल और अमूर्त प्रत्यय (abstract idea) है और जिसका किसी समय तत्क्षण कोई ठोस अस्तित्व नहीं पाया जाता, उसका कोई सही मूल्याकन नही हो सकता। अतः किसी स्थान विशेष की जलवायु का चित्रण करते समय मौसम के परिवर्तनो के सभी प्रभावों को ध्यान मे नही रखा जा सकता और इसलिए उनको सरल बनाना एवं उनको सामान्यीकृत (generalise) करना आवश्यक हो जाता है। जब हम एक बहुत बड़े क्षेत्र की जलवायु का वर्णन करने की चेष्टा करते हैं तो कठिनाई और भी बढ जाती है, क्योकि हर स्थान के साथ जलवायु बदल जाती है और यहाँ तक कि एक छोटे क्षेत्र के सभी भागो मे भी वह यथातथ्य समान नहीं होती। अतः जलवायु का कोई भी वर्गीकरण ठीक नही हो सकता।

जलवायु के वर्गीकरण की कुछ योजनाएँ

यद्यपि जलवायु का कोई सर्वमान्य एवं पूर्ण वर्गीकरण प्रस्तुत करना सम्भव नही है, फिर भी यदि हम मौसम के विभिन्न तत्त्वो—तापमान, वायुदाब, वर्षा और हवाओं को वर्गीकरण का आधार बनाये तो कोई उपयोगी तन्त्र (system) स्थापित किया जा सकता है। प्राकृतिक वनस्पति और मिट्टी भी जलवायु के वर्गीकरण का आधार प्रदान कर सकती है।

तापमान के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण

ताप सम्भवत. जलवायु के वर्गीकरण का प्रथम आधार रहा है। भू-पटल पर ताप के वितरण के आधार पर पृथ्वी को कई ताप कटिबन्धों में विभाजित किया गया है। ताप कटिबन्धों का यह विभाजन सर्वप्रथम यूनानी वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किया। यह विभाजन पूर्व-पश्चिम कटिबन्धीय विभाजन अथवा 'समतल विभाजन' (Horizontal unit zones) कहलाता है। इस विभाजन मे मुख्यतः सूर्याभिताप (insolation) को ही दृष्टिगत रखा गया है। इस प्रकार भू-पटल पर ताप कटिबन्धों की सीमा निर्धारित करने में अक्षाश रेखाओ का सहारा लिया गया है। ताप के आधार पर भू-पटल को मुख्य तीन कटिबन्धों में विभाजित किया गया है :

(1) **उष्ण कटिबन्ध** (Torrid Zone)—इसे विषुवतरेखीय कटिबन्ध (Tropical or Equatorial Zone) भी कहते है। यह भूमध्य रेखा के दोनों ओर $23\frac{1}{2}°$ तक फैला है। इसकी

सीमान्त रेखा को उत्तरी गोलार्द्ध मे कर्क रेखा (Tropic of Cancer) और दक्षिण गोलार्द्ध मे मकर रेखा (Tropic of Capricorn) कहते है। इस कटिबन्ध के सभी क्षेत्र सूर्य से सबसे ज्यादा गर्मी पाते है और एक ही अक्षांश के सभी स्थान सूर्य से बराबर गर्मी पाते है। कर्क और मकर रेखाओं के बीच के स्थानो में सूर्य की सीधी किरणें अन्य स्थानो से ज्यादा पड़ती है और सूर्य साल के दो बार वसन्त और शरद् विषुव (equinox) पर ठीक सिर पर चमकता है। अतः इस पट्टी में इस समय सूर्य से सबसे अधिक गर्मी प्राप्त होने के कारण अत्यन्त गर्मी पडती है। यहाँ जाडो और गर्मी के तापमान में कुछ भी अन्तर नहीं पडता, क्योंकि प्रायः पूरे साल भर तक एकसी गर्मी पड़ती है। यहाँ जाड़े और गर्मी की अपेक्षा रात और दिन के तापमान मे अधिक अन्तर होता है किन्तु किसी भी महीने मे तापमान 68° फा० से नीचे नही उतरता। परन्तु इस कटिबन्ध के उन भागो में, जो भूमध्य रेखा से दूर है, अवस्था बदलने लगती है और जाड़े तथा गर्मी के तापमान में अधिक अन्तर पडने लग जाता है।

(2) **शीतोष्ण कटिबन्ध** (Temperate Zone)—यह कटिबन्ध दोनों गोलार्द्धों मे $23\frac{1}{2}°$ अक्षांश से $66\frac{1}{2}°$ अक्षाशों के बीच फैला हुआ है। उत्तर मे उत्तरी ध्रुववृत्त (Arctic Circle) और दक्षिण मे दक्षिणी ध्रुव-वृत्त (Antarctic Circle) इसकी सीमाएँ बनाते है। इस कटिबन्ध मे सूर्य हर चौबीस घण्टे मे निकलता और डूबता है, किन्तु उसके किसी स्थान पर सूर्य बिलकुल सिर पर नही चमकता। गर्मी मे दिन लम्बे और सूर्य की ऊँचाई अधिक होती है किन्तु सर्दी मे दिन छोटे और सूर्य की ऊँचाई बहुत कम होती है। अतः साल भर सूर्य से प्राप्त होने वाली गर्मी मे कमी-बेशी होती रहती है। इस कटिबन्ध मे जाड़े और गर्मी के तापमान का अन्तर अधिक हो जाना है। यहाँ कम से कम आठ महीने ऐसे होते है जब तापमान 68° फा० से भी कम रहता है। जाड़े और गर्मी के अतिरिक्त यहाँ बसन्त और पतझड़ की दो ऋतुएँ और होती है। पृथ्वी का सबसे अधिक भाग इसी कटिबन्ध मे स्थित है। उत्तर के समशीतोष्ण कटिबन्ध को उत्तरी सम-शीतोष्ण कटिबन्ध और दक्षिण के भाग को दक्षिणी समशीतोष्ण कटिबन्ध कहते है। इनमे से हर एक शीतोष्ण कटिबन्ध 45° उत्तरी और दक्षिणी अक्षाशो से दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। इन्हें क्रमश उष्ण शीतोष्ण कटिबन्ध (Warm Temperate Zone) और शीतल शीतोष्ण कटिबन्ध (Cool Temperate Zone) कहते है।

(3) **शीत कटिबन्ध** (Frigid Zone)—यह कटिबन्ध शीतोष्ण कटिबन्ध के बाद उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों तक फैला है। इस कटिबन्ध मे बहुत अधिक सर्दी पडती है। यहाँ केवल चार ही महीने ऐसे होते है जिनमे ताप 50° फा० से ऊपर रहता है, क्योंकि सर्दी मे सूर्य सदैव ही (रात और दिन) क्षितिज से लगा रहता है और गर्मी मे क्षितिज से कुछ ही ऊपर रहता है। रात और दिन का तापमान भेद बहुत ही कम होता है, किन्तु जाडे और गर्मी के तापमान मे बहुत ही अधिक अन्तर होता है। ध्रुवो पर रात और दिन 6-6 महीने के होते है। ध्रुवों पर दिन मे भी सूर्य ज्यादा ऊँचाई पर नही चढता और हर 24 घण्टे मे एक बार क्षितिज के समान्तर घूमता हुआ मालूम पड़ता है। इस 6 महीने की रात मे गो-धूलि का समय दो महीने तक रहता है। इसी तरह सूर्य के निकलने के पहले की सफेदी दो महीने से अधिक समय तक दिखाई देती है। यह प्रकाश उत्तरी ध्रुव प्रदेश मे 'सुमेरु ज्योति' (Aurora Borealis) और दक्षिणी ध्रुव प्रदेश में 'कुमेरु ज्योति' (Aurora Australis) कहलाती है।

ताप कटिबन्धों के उपरोक्त विवरण से यह न समझ लेना चाहिए कि उष्ण कटिबन्ध मे स्थित सभी स्थान अन्य कटिबन्धों मे स्थित स्थानो की अपेक्षा अधिक गरम होगे। यद्यपि उष्ण कटिबन्ध मे सूर्य की लम्बरूप किरणे साल मे दो बार पड़ती है, किन्तु द्वीपों और समुद्रतटो की जलवायु गरम और तर होती है और भीतरी भागो की गरम और सूखी ऊँची पहाड़ियों की

चोटियाँ तो सर्वदा ही हिमाच्छादित रहती है (किलीमांजरो, रूवेनजोरी, केनिया, पोपोकेटीपीटल, चिम्बराजो, कैंटोपैक्सी आदि)। इस प्रकार शीतोष्ण कटिबन्ध मे पठार और देश के भीतरी निचले मैदानो की जलवायु अत्यन्त शीतोष्ण होती है, लेकिन ऊँचे पहाड ठण्डे होते है। इन कटिबन्धो से किसी अमुक स्थान की जलवायु का तब तक ठीक-ठीक पता नही लग सकता जब तक कि उस स्थान की जलवायु पर प्रभाव डालने वाले अन्य उपकरणों—वायु-प्रवाह का रुख, समुद्र की निकटता अथवा ऊँचाई आदि का पूरा विचार न किया जाय। इसी कारण यह कटिबन्ध **ताप-कटिबन्ध** (Thermal Zones या Zones of Insolation) कहलाते है।

प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक **सूपन** (Supan) ने ताप कटिबन्धों के विभाजन मे अक्षांश रेखाओं की अनुपयुक्तता को समझकर समताप रेखाओ के आधार पर ताप कटिबन्धों की सीमाएँ निर्धारित की है। सूपन के अनुसार पृथ्वी के निम्न ताप मण्डल हैं :

(1) **उष्ण विषुवतरेखीय मण्डल** (Hot Equatorial Belt)—इस मण्डल की सीमा 68° फा० वार्षिक समताप रेखा बनाती है। किन्तु उत्तरी गोलार्द्ध मे यह पेटी बडी अनियमित और उष्ण कटिबन्ध से अधिक चौड़ी है। इस रेखा को उष्ण कटिबन्ध की सीमा मानने से दो लाभ है : (क) प्रथम तो सन्मार्गी हवाएँ इन्ही रेखाओ के बीच चलती है, और (ख) दूसरे इन रेखाओं के बाहर ताड के प्रकार के वृक्ष (जो उष्ण कटिबन्ध की विशेष उपज है) नही पाये जाते।

(2) **शीतोष्ण मण्डल** (Temperate Belt)—इस मण्डल की सीमा दोनों गोलार्द्धों में ग्रीष्म ऋतु की 50° फा० की समताप रेखा बनाती है। उत्तरी गोलार्द्ध मे यह पेटी अलास्का और यूरेशिया के ध्रुव वृत्त से भी परे तक पहुँच जाती है किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध मे इसका विस्तार केवल 55° अक्षाश तक ही है। इन रेखाओ के बाहर अनाज व फल आदि पैदा नही हो सकते।
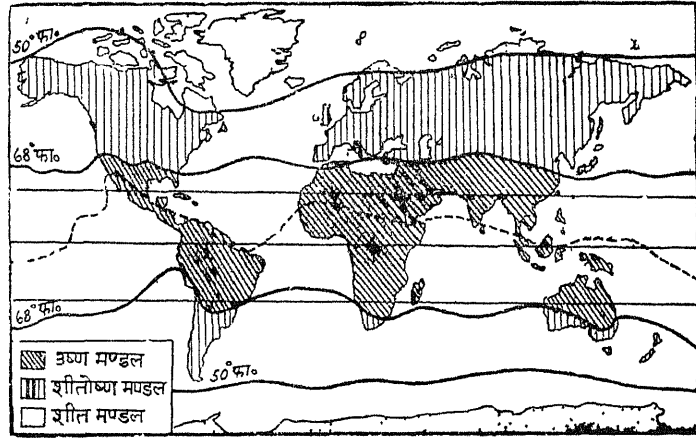
चित्र 144—सूपन के अनुसार ताप कटिबन्ध

(3) **शीत मण्डल** (Cold Cap)—इसकी सीमा बनाने वाली रेखा 32° फा० की समताप रेखा है। इसके पूरे ध्रुव की ओर ठण्ड बढती जाती है और किसी भी प्रकार की उपज कठिन है।

सूपन के विभाजनानुसार विषुवत रेखा के दोनों ओर हमे 5 कटिबन्ध मिलते है। आगे की तालिका मे इन विभिन्न कटिबन्धों में स्थित भू-भागो का विस्तार बताया गया है :[1]

---

[1] देखिए '*Blackies Atlas*'।

कटिबन्ध	उत्तरी गोलार्द्ध	दक्षिणी गोलार्द्ध
शीत कटिबन्ध	70 लाख वर्गमील	—
शीत-शीतोष्ण कटिबन्ध	100 ,,	—
उष्ण शीतोष्ण कटिबन्ध	45 ,,	20 लाख वर्गमील
अर्द्ध-उष्ण कटिबन्ध	80 ,,	40 ,,
उष्ण कटिबन्ध	75 ,,	60 ,,

केवल तापमान के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण कदापि सन्तोषजनक नही हो सकता। क्योंकि ऐसे विभाजन मे आर्द्र और मरुस्थलीय प्रदेशो मे कोई अन्तर नही किया जाता है।

हवाओं के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण

किसी स्थान की जलवायु वहाँ पर चलने वाली हवाओं पर निर्भर है, अतः प्रसिद्ध अमरीकी भूगोलवेत्ता **डेविस** (W M. Davis) ने सम्पूर्ण पृथ्वी को तीन भागो में बाँटा है :

(1) **उष्ण कटिबन्ध**—जिसमे शान्त हवाओ की पेटियाँ स्थित हैं और जहाँ सन्मार्गी हवाएँ चला करती हैं।

(2) **शीतोष्ण कटिबन्ध**—जिसमे पछुवा हवाएँ चला करती हैं।

(3) **शीत कटिबन्ध**—जिसमें ध्रुवीय हवाएँ चला करती है।

किन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन कटिबन्धों की सीमाएँ अनिश्चित-सी रहती हैं, क्योकि सूर्य की स्थिति के साथ-साथ हवा की पेटियाँ भी उत्तर-दक्षिण की ओर खिसकती रहती हैं। भूमध्य रेखा के निकट की (शान्त हवा की) पेटियाँ, सन्मार्गी हवाओं की पट्टी और कर्क व मकर रेखाओ के उच्चदाब कटिबन्ध लगभग 8-10 अंशो तक परिवर्तित हो जाते है। किन्तु उससे दूर की पेटियो (पछुवा व ध्रुवीय हवाओ की पेटियाँ) में यह परिवर्तन नाममात्र का होता है। पेटियों के इस सामयिक परिवर्तन के कारण वे प्रदेश जो पेटियो के किनारों पर स्थित हैं, वर्ष के एक भाग मे एक पेटी के प्रभाव में और वर्ष के दूसरे भाग में दूसरी परिवर्तित पेटी से प्रभावित होते है। उदाहरण के लिए, रेगिस्तानी प्रदेशों मे ग्रीष्म ऋतु में सन्मार्गी हवाओं का प्रभाव होता है किन्तु जाड़े की ऋतु में कर्क रेखा की शान्त पट्टी इस पर अपना अधिकार कर लेती है अतः दोनों ही ऋतुओं में ये प्रदेश सूखे रहते है। इसी पर ध्रुवो के निकटवर्ती भाग साल में एक बार ध्रुवीय हवाओं और दूसरी बार पछुवा हवाओं के प्रभाव में रहते है।

वर्षा के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण

वनस्पति, अपवाह तन्त्र, अधोभूमि जल और भूमि उपयोग पर वर्षा के होने वाले गहरे प्रभाव को दृष्टिगत रखकर वर्षा और हिमपात के मौसमी वितरण एव उसकी मात्रा के आधार पर जलवायु का वर्गीकरण करना उपयोगी हो सकता है। इसीलिए **ब्लेयर** ने वर्षा के आधार पर पृथ्वी के पाँच जलवायु खण्ड किये हैं :[1]

जलवायु का प्रकार	वर्षा का प्रकार	वार्षिक वर्षा (इंचों मे)
शुष्क	कम	0—10
अर्द्ध-शुष्क	हल्की	10—20
अर्द्ध-आर्द्र	मध्यम	20—40
आर्द्र	भारी	40—80
अति आर्द्र	बहुत भारी	80 इंच से ऊपर

[1] Blair : *Climatology*, p. 484

वर्षा के आधार पर जलवायु का उपरोक्त विभाजन नितान्त ही अनुपयुक्त है। क्योंकि इसमे ध्रुवीय तथा उपध्रुवीय जलवायु को निम्न अक्षाशों की शुष्क और गरम मरुस्थलीय जलवायु से मिला दिया गया है। फिर इस विभाजन मे सामान्यत शीतल जलवायु खण्ड बहुत ही आर्द्र है, जबकि वर्षा की उतनी ही मात्रा उष्ण कटिबन्ध मे अति शुष्क मरुस्थलो को जन्म देती है। वर्षा के उपरान्त भूमि पर उसकी जो मात्रा बच रहती है वह वाष्पीकरण द्वारा निर्धारित होती है। वाष्पीकरण का आधार तापमान है। अत तापमान को अलग रखकर जलवायु का कोई भी वर्गीकरण करना युक्तिसगत नही होगा।

जलवायु का जो वर्गीकरण ऊपर दिया गया है वह क्षेत्र विशेषों की भूमध्य रेखा से दूरी अथवा अक्षाश स्थिति के अनुसार है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी किसी स्थान की जलवायु पर वहाँ चलने वाले वायु-प्रवाह, उसकी समुद्रतट से निकटता अथवा दूरी, समुद्र-तल से ऊँचाई आदि बातो का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। अत जलवायु का वर्गीकरण हम इस प्रकार भी कर सकते है :

(1) **समुद्री जलवायु** (Marine or Oceanic Climate)—जो प्रदेश समुद्र से घिरे रहते है, जैसे द्वीपसमूह आदि—वहाँ की जलवायु सम (equable) रहती है अर्थात यहाँ वार्षिक और दैनिक तापमान में बहुत कम भेद रहता है। इन भागो की राते और शीतऋतु साधारण रूप से गरम रहती है और ग्रीष्मकाल तथा दिन ठण्डे रहते है। इस प्रकार यहाँ के जलवायु मे तीव्र परिवर्तन नही होते। चारो ओर जल भागो से घिरे होने के कारण गरम महीनो मे वाष्प की अधिकता होती है तथा आकाश मेघाच्छन्न रहता है और वर्षा भी अत्यन्त भारी हो जाती है।

(2) **तटीय जलवायु** (Littoral or Coast Climate)—समुद्री जलवायु और महाद्वीपीय जलवायु के बीच की जलवायु को तटीय जलवायु कहा जाता है। जिन भागो मे वायु समुद्र की ओर से आती है उनकी जलवायु समुद्री जलवायु से मिलती-जुलती होती है किन्तु जहाँ वायु स्थल से जल की ओर चलती है वहाँ महाद्वीपीय जलवायु की समानता वाली जलवायु मिलती है। इस प्रकार पछुवा हवाओ की पेटियो के क्षेत्रो के पश्चिमी भागों मे तटीय जलवायु और पूर्वी भागों में महाद्वीपीय जलवायु के लक्षण मिलते है। इसी प्रकार सन्मार्गी हवाओं के क्षेत्रों में पूर्वी भाग तटीय जलवायु और पश्चिमी भाग महाद्वीपीय जलवायु वाले होते है।

(3) **महाद्वीपीय जलवायु** (Continental Climate)—समुद्र से दूर स्थित भागों की जलवायु महाद्वीपीय होती है जहाँ ग्रीष्मकाल में कड़ी गर्मी और शीतकाल में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है। गर्मी का तापमान 100° फा० से भी अधिक और सर्दी में 30° फा० से भी कम हो जाता है। तापमान भेद भी अधिक रहता है। समुद्री हवाओं के मार्ग से दूर होने के कारण आकाश स्वच्छ रहता है तथा वायु मे सापेक्षिक आर्द्रता भी कम रहती है। वर्षा की मात्रा साधारण होती है। बीच के अक्षांशो मे इस जलवायु में कड़ी सर्दी और तेज गर्मी पड़ती है, किन्तु ध्रुवों की ओर शीत ऋतु लम्बी तथा कठोर और ग्रीष्म ऋतु छोटी तथा ठण्डी होती है। इस प्रकार की जलवायु उत्तरी अमरीका, यूरोप तथा एशिया के भीतरी भागों में (जो महासागरों से बहुत दूर स्थित है) पायी जाती है।

(4) **पार्वत्य जलवायु** (Mountain Climate)—पहाड़ों और पठारों पर उनकी ऊँचाई के अनुसार तापमान में न्यूनता होती जाती है। प्रत्येक 300 फुट पर 1° फा० तापमान कम होता जाता है और वायुदाब भी कम हो जाता है। पहले 6-7 फुट की ऊँचाई तक तो वर्षा की मात्रा बढ़ती जाती है किन्तु फिर वायु मे सापेक्षिक आर्द्रता की कमी के कारण वर्षा की मात्रा मे भी कमी हो जाती है। ऊपरी भागों मे वायु के शुष्क होने और पतला होने के कारण सूर्य की किरणे धरातल को बड़ा गरम बना देती हैं। अतः हवा से जितनी शीघ्रता से पृथ्वी को दिन में गर्मी

प्राप्त होती है उतनी ही शीघ्रता से रात को वह निकल भी जाती है। लगभग 12 से 15 हजार फुट की ऊँचाई के बीच मे वायु इतनी हल्की हो जाती है कि श्वास लेना भी कठिन हो जाता है। पहाड़ी भागों के वायुमार्ग में पड़ने वाले स्थानो मे वर्षा अधिक होती है। अधिक ऊँचे भागो पर सदैव बर्फ जमी रहने के कारण सर्दी पड़ती है। यहाँ तक कि हिमालय अथवा विषुवत रेखा पर स्थित केनिया पहाड़ की चोटी अथवा एण्डीज की चोटियों पर तो सदैव ही बर्फ जमी रहती है।

थार्नथ्वेट के अनुसार जलवायु का वर्गीकरण
(Thornthwaite's Classification of Climate)

सन् 1931 मे प्रसिद्ध अमरीकी ऋतुविज्ञानवेत्ता **थार्नथ्वेट** ने ससार की जलवायु का एक नवीन विभाजन प्रस्तुत किया है। यह विभाजन प्राकृतिक वनस्पति को ध्यान मे रखकर किया गया है। वनस्पति की उत्पत्ति केवल वर्षा पर निर्भर न होकर वाष्पीकरण की न्यूनाधिकता पर निर्भर करती है। अतः थार्नथ्वेट ने जलवायु के वर्गीकरण मे अन्य तत्त्वों के साथ वाष्पीकरण की मात्रा को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। उसने जलवायु का विभाजन निम्न आधार पर किया है ·

(1) **वर्षण प्रभाविता** (Precipitation Effectiveness),
(2) **तापीय दक्षता** (Temperature Efficiency),
(3) **मौसमी वर्षा का वितरण** (Seasonal Distribution of Precipitation)।

इस प्रकार संक्षेप मे वर्षण प्रभाविता का अनुपात (Precipitation effectiveness ratio)—सम्पूर्ण वर्षा का वह भाग जो वनस्पति की उत्पत्ति को प्रभावित करता है—ही जलवायु के विभाजन का मुख्य आधार है।

वर्षण प्रभाविता वर्षा की मात्रा और वाष्पीकरण का अनुपात होता है। सम्पूर्ण औसत मासिक वर्षा को यदि कुल मासिक वाष्पीकरण से विभाजित कर दिया जाय तो वर्षण प्रभाविता का अनुपात ज्ञात हो जायगा।

तापीय दक्षता को ज्ञात करने के लिए औसत मासिक तापमान को मासिक वाष्पीकरण से विभाजित किया जाता है।

थार्नथ्वेट ने संख्यात्मक मात्राओ के प्रभाव के आधार पर जलवायु प्रदेशों को बाँटा है और जलवायु प्रदेशों को अक्षरों से व्यक्त किया है। उसने जलवायु के मुख्य रूप से आठ भाग किये है। इनमें से प्रथम पाँच भाग ही अधिक मान्य हैं, क्योकि इनमें तापीय दक्षता अधिक होती है। शेष भागों मे तापमान की दक्षता कम रहती है।

वर्षण प्रभाविता के आधार पर भेद

भेद	आर्द्रता का प्रकार	वनस्पति	कार्यशील वर्षा (P. E. Ratio)
A	तर (Wet)	वर्षा के वन (Rain forest)	128″ या अधिक
B	आर्द्र (Humid)	वन (Forest)	64″ से 127″
C	कम आर्द्र (Sub-humid)	घास के मैदान (Grass land)	32″ से 63″
D	अर्द्ध-शुष्क (Semi-arid)	स्टेपी (Steppe)	26″ से 31″
E	शुष्क (Arid)	मरुस्थल (Desert)	16″ से कम

वर्षण प्रभाविता के उपर्युक्त पाँच आर्द्र क्षेत्रों को ऋतु सम्बन्धी पाँच उपभागो मे बाँटा गया है :

1. r=वर्ष भर प्रचुर वर्षा।
2. S=ग्रीष्म ऋतु मे कम वर्षा।

3. w=शीत ऋतु मे कम वर्षा ।
4. w^1=बसन्त ऋतु मे कम वर्षा ।
5. d=वर्ष भर कम वर्षा ।

तापीय दक्षता के आधार पर भेद

भेद	क्षेत्र	तापीय दक्षता
A′	उष्ण कटिबन्धीय (Tropical)	128″ या अधिक
B′	उष्ण (Mesothermal)	64″ से 127″
C′	कम उष्ण (Microthermal)	32″ से 63″
D′	टैगा (Taiga)	16″ से 31″
E′	टुण्ड्रा (Tundra)	1″ से 15″
F	हिमाच्छादित (Frost)	0

थार्नथ्वेट ने जलवायु के मुख्य प्रदेशों को कई उपखण्डों मे बाँटा है । उसने ससार को 32 जलवायु खण्डों मे विभक्त किया है । इस प्रकार थार्नथ्वेट का विभाजन बहुत ही सूक्ष्म और सुव्यवस्थित है । परन्तु यह व्यापक नही है । इसके द्वारा अधिक लम्बे शीतकाल में तापमान की कुशलता प्राप्त करना सम्भव नहीं होता । इसी प्रकार वाष्पीकरण की मात्रा का पता लगाना भी अत्यन्त कठिन है ।

कोपेन के अनुसार जलवायु का विभाजन
(Koppen's Classification of Climates)

प्रसिद्ध जर्मन वैज्ञानिक डा० कोपेन ने सन् 1936 में जलवायु का विशद् विभाजन प्रस्तुत किया । यह विभाजन तापमान और वर्षा पर आधारित है । इसमे तापमान और वर्षा के संख्यात्मक मूल्यों (numerical values) का प्रयोग किया गया है, जो कि वनस्पति की उत्पत्ति के आधार पर निश्चित किये गये हैं । इस विभाजन मे पर्वतीय भागों की अपेक्षा मैदानी भागों का अधिक ध्यान रखा गया है और जलवायु की सीमाओं के निर्धारण में सबसे अधिक गरम और सबसे अधिक ठण्डे महीनो के तापमान को आधार बनाया गया है । कोपेन ने जलवायु को पाँच मुख्य वृहत क्षेत्रो (zones) मे बाँटा है, जिन्हें पुनः प्रदेशों (Provinces) और उपभागों (smaller areas) में विभक्त किया है । कोपेन के ये जलवायु प्रदेश थार्नथ्वेट के समान ही हैं, परन्तु कोपेन ने अक्षरों के मेल से जलवायु प्रदेशों के विभाजन को अधिक व्यापक बना दिया है ।

कोपेन ने संसार को मुख्य पाँच वृहत् भागों में विभाजित किया है, जो निम्न हैं :

(A) **उष्णार्द्र जलवायु** (Tropical Rainy Climate)—इसमें वर्षा तो अधिक होती है किन्तु शीत ऋतु में बिलकुल नहीं होती । यहाँ सबसे ठण्डे महीने का तापमान 64° फा० से ऊपर रहता है ।

(B) **शुष्क जलवायु** (Dry Climate)—इसमें वर्षा से अधिक वाष्पीकरण होता है । यहाँ शीत ऋतु नही होती ।

(C) **मध्य अक्षांशों की आर्द्र समताप जलवायु** (Humid Mesothermal Climate)—यहाँ सबसे ठण्डे महीने का तापमान 64·4° फा० और 26 6° फा० के मध्य मे रहता है । सबसे गरम महीने का औसत तापमान 50° फा० रहता है । वर्षा साल भर होती है, विशेषकर शीत ऋतु मे । शीत ऋतु छोटी और कम ठण्डी होती है ।

(D) मध्य अक्षांशों की शीतल आर्द्र जलवायु (Humid Microthermal Climate)—यहाँ सबसे ठण्डे महीने का तापमान 26·6° फा० से कम और सबसे गरम महीने का तापमान 50° फा० से ऊपर रहता है।

(E) ध्रुवीय जलवायु (Polar Climate)—यहाँ कोई ऋतु गरम नही होती। सबसे गरम महीने का तापमान 50° फा० से भी नीचे रहता है।

उपर्युक्त प्रधान जलवायु-खण्डों को भी वर्षा की मात्रा के अनुसार कई उपभागो मे बाँटा गया है।

(A) प्रधान खण्ड के निम्न उपखण्ड किये गये है—Ab, Am और Aw। इनमे b=वे उपखण्ड जहाँ वर्ष भर ही वर्षा होती है और किसी भी महीने में 2·4 इंच से कम वर्षा नही होती; m=मानसून वर्षा वाले स्थान जहाँ ग्रीष्म मे अधिक वर्षा तथा शुष्क ऋतु छोटी रहती है; w=सूखा मौसम अर्थात जहाँ किसी एक महीने में 2·4" से भी कम वर्षा होती है। ये तीन उपखण्ड क्रमशः विषुवतरेखीय या उष्ण कटिबन्धीय वर्षा वाले भाग (Equatorial or Tropical Rain Forests), उष्ण कटिबन्धीय मानसून प्रदेश (Tropical Monsoon Climates) और उष्ण कटिबन्धीय घास के मैदानी भाग (Tropical Savannahs) है। प्रथम उपखण्ड मे पौधो के उगने के लिए तीव्र ताप और अधिक वर्षा की आवश्यकता होने के कारण सघन वन मिलते है। द्वितीय उपखण्ड में अधिक गर्मी और शुष्कता चाहने वाले वृक्ष पैदा होते है जिनकी पत्तियाँ साल में एक बार झड़ जाती है। तृतीय उपखण्ड मे लम्बी घास होती है।

(B) प्रधान खण्ड के भी ये उपखण्ड किये गये है—Bwh, Csh, Bw और Bsk (जहाँ w वे खण्ड है जो प्रायः मरुस्थलीय है, s=स्टेप्स या घास के मैदान; तथा h=वे भाग जहाँ वार्षिक औसत तापमान 64 4° फा० से ऊपर रहता है और k=वे भाग जहाँ वार्षिक औसत तापमान 64·4° फा० से भी नीचा रहता है।)। ये चार उपखण्ड क्रमशः निचले अक्षांशों के गरम मरुस्थल (Low-latitude Deserts); निचले अक्षाशो के अर्द्ध-मरुस्थलीय स्टेपी प्रदेश (Semi-arid Steppes); मध्य अक्षांशों के ठण्डे मरुस्थल (Middle-latitude Deserts) और मध्यवर्ती अक्षांशों के ठण्डे, अर्द्ध मरुस्थलीय भाग है।

(C) प्रधान खण्ड भी कई उपखण्डों में विभाजित किया गया है यथा—(i) Cs (s=शुष्क ग्रीष्म ऋतु) वे उपखण्ड जहाँ शीतऋतु मे वर्षा होती है जैसे भूमध्यसागरीय प्रदेश, (ii) Cfa और Cwa (जहाँ f=वे स्थान जो वर्ष भर ही आर्द्र रहते है; w=शीत ऋतु में शुष्कता और a=वे स्थान जहाँ गरम महीने का तापमान 71·6° से भी ऊँचा रहता है) क्रमशः वे उपखण्ड है जिनकी जलवायु आर्द्र अर्द्ध-उष्ण कटिबन्धीय जलवायु है जैसे चीनी प्रदेश की जलवायु वाले प्रदेश; (iii) Cfb (जिसमे b=जहाँ ग्रीष्म ऋतु ठण्डी होती है और सबसे गरम महीने का तापमान 71·6° फा० के नीचे रहता है और वर्ष के 4 महीने तक तापमान 50° फा० से ऊपर रहता है) उपखण्ड के अन्तर्गत वे प्रदेश है जो पछुवा हवाओं के क्षेत्रो में महाद्वीपो के पश्चिमी किनारो पर स्थित है (Marine West Coast Climate)।

(D) प्रधान जलवायु खण्ड को कोपेन ने इन उपखण्डो में बाँटा है—(i) Dfa और Dwa (जहाँ ग्रीष्म ऋतु बहुत लम्बी होती है और वर्षा ग्रीष्म में ही होती है)। ये प्रदेश क्रमश. उत्तरी अमरीका और यूरोप मे पाये जाते है जिनमे मकई की पैदावार मुख्य है (इस जलवायु को Corn-belt Climate भी कहते है), (ii) Dfb और Dwb (जिनमें ग्रीष्म ऋतु छोटी किन्तु शीत ऋतु लम्बी होती है) उपखण्ड क्रमशः उत्तरी अमरीका मे 100° पूर्वी देशान्तर, उत्तरी संयुक्त राज्य अमरीका, दक्षिणी कनाडा और यूरेशिया में स्टेपी प्रदेश में मिलता है। (iii) Dfc व Dwc उपखण्ड जिनमें शीत ऋतु मे तापमान 1-3 महीने तक 50° फा० से ऊपर रहता है; जैसे टैगा

प्रदेश; तथा (iv) Dwd वह उपखण्ड है जहाँ सर्दी कडाके की पड़ती है तथा ठण्डे महीने का तापमान —36·4° फा० से भी कम रहता है।

(E) जलवायु खण्ड के अन्तर्गत दो प्रकार के उपखण्ड सम्मिलित है : (i) ET=ध्रुवीय उपखण्ड (Tundra Climate), और (ii) EF=अटूट बर्फ के प्रदेश (Ice Cape Type) जहाँ ग्रीष्म का तापमान भी 32° से नीचे रहता है।

इसके अतिरिक्त (H) पार्वत्य जलवायु के खण्ड भी है।

फिंच एवं ट्रिवार्था के अनुसार वर्गीकरण
(Finch and Trewartha's Classification of Climates)

यद्यपि फिच एव ट्रिवार्था ने अपने जलवायु के वर्गीकरण मे कोपेन का ही अनुसरण किया है, किन्तु इन्होने कोपेन के समान अपने वर्गीकरण मे सख्यात्मक मूल्यों को विशेष महत्त्व नही दिया। इसके विपरीत इन्होंने वर्णनात्मक विवरणो पर अधिक जोर देकर अपने वर्गीकरण को अधिक सुबोध बना दिया है। इस वर्गीकरण के अनुसार संसार को निम्न जलवायु खण्डो मे विभक्त किया गया है :

निम्न अक्षांश (उष्ण कटिबन्ध)

	समूह	प्रकार
(A)	उष्ण कटिबन्धीय वर्षा वाले जलवायु भाग (Tropical rainy climates)	1. उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु—Af 2. उष्ण मानसूनी जलवायु—Am 3. उष्ण सवाना जलवायु—Aw
(B)	शुष्क जलवायु वाले भाग (Dry climates)	4. उष्ण तथा उपोष्ण मरुस्थल—Bwh 5. उष्ण तथा उपोष्ण स्टेपी—Bsh 6. मध्य अक्षाशीय मरुस्थल—Bwk 7. मध्य अक्षांशीय स्टेपी—Bsk
(C)	शीतोष्ण आर्द्र जलवायु वाले भाग (Humid mesothermal climates)	8. भूमध्यसागरीय जलवायु—Cs 9. उपोष्ण आर्द्र जलवायु—Ca 10. पश्चिमी यूरोपीय तुल्य जलवायु—Cb
(D)	शीतल आर्द्र जलवायु वाले भाग (Humid microthermal climates)	11. आर्द्र महाद्वीपीय गरम ग्रीष्मकाल—Da 12. आर्द्र महाद्वीपीय शीतल ग्रीष्मकाल—Db 13. उपध्रुवीय—Dc, Dd
(E)	ध्रुवीय जलवायु वाले भाग (Polar climates)	14. टुण्ड्रा—ET 15. ध्रुवीय हिमाच्छादित जलवायु—EF
(H)	उच्च प्रदेश (High lands)	

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होगा कि कोपेन का वर्गीकरण बहुत ही सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसको समझने मे प्रारम्भ में कुछ कठिनाई होती है परन्तु इसे समझ लेने के बाद पृथ्वी की जलवायु का यथोचित ज्ञान हो जाता है। **स्टाम्प** ने कुछ क्षेत्रो के बारे मे कोपेन से मतभेद प्रकट किया है। उसने कुछ वृहत् क्षेत्रों के किये गये उपभागों की आलोचना की है। **क्रैसी** ने भी कोपेन के वर्गीकरण मे पर्याप्त संशोधन करने की आवश्यकता बतायी है। कोपेन के वर्गीकरण में यद्यपि कुछ कमियाँ हो सकती है, परन्तु फिर भी पृथ्वी की जलवायु को भलीभाँति समझने के लिए यह बड़ा ही उपयोगी है।

15

संसार के जलवायु प्रदेश

(CLIMATIC REGIONS OF WORLD)

उष्ण कटिबन्धीय वर्षा वाले जलवायु भाग

(The Tropical Rainy Climates) [A]

स्थिति—उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु पृथ्वी के चारो ओर विषुवत रेखा के समीप पायी जाती है। इस जलवायु प्रदेश की पेटी बहुत कुछ असमान है जो 20° से 40° तक चौड़ी है। यह प्रदेश सदैव गरम रहता है। यहाँ जाड़े की ऋतु नही होती। यही विशेषता इसको संसार के आर्द्र भागो से अलग करती है। कोपेन के अनुसार सबसे ठण्डे महीने की 64° समताप रेखा ध्रुवों की ओर इस प्रदेश की सीमा निश्चित करती है। तापमान की यह रेखा इसलिए निश्चित की गयी है कि कुछ पौधे जो केवल उष्ण प्रदेशों मे ही पैदा होते है वे तापमान के बहुत अधिक मौसमी परिवर्तन को सहन नही कर सकते। ध्रुवों की ओर उन पौधो के उगने की सीमा उपरोक्त तापमान की रेखा से मिलती है। उष्ण तथा आर्द्र जलवायु की पेटी में महाद्वीपों के ऊपर ऊँचे पहाड़ों और पठारों के कारण बाधा उपस्थित होती है। ये ऊँचे भू-भाग यद्यपि विषुवत रेखा के समीप हैं परन्तु यहाँ का तापमान इतना नीचा रहता है कि इन्हें उष्ण कटिबन्ध में रखना असगत प्रतीत होता है।

साधारणतः उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु का ध्रुवों की ओर सर्वाधिक विस्तार महाद्वीपों के पूर्वी और पवनाभिमुख (windward) दिशा की ओर पाया जाता है। यहाँ उष्ण समुद्री (tropical maritime) वायु-राशियाँ दूरवर्ती गरम समुद्रों से तटों की ओर आती हैं जो चक्रवाती वर्षा एवं झझावात के अनुकूल वायुमण्डल की अवस्थाएँ प्रस्तुत करती है। पूर्वी तटों पर जहाँ उष्ण वायु-राशियों को ऊँची पहाड़ी बाधाओं को पार करना पड़ता है, खूब वर्षा होती है। उष्ण कटिबन्ध के कुछ पूर्वी तटो पर तो प्रभजन (hurricanes) आया करते है। महाद्वीपो के पवनाभिमुख भागों मे उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र जलवायु का विस्तार ध्रुवों की ओर तब तक पाया जाता है जब तक कि मध्य अक्षांशो के उपोष्ण आर्द्र जलवायु वाले भाग नही मिल जाते। महाद्वीपों के पश्चिमी भागो मे उष्ण-आर्द्र जलवायु शुष्क B जलवायु से बँधी है। पश्चिमी भागों मे सन्मार्गी पवनें ज्यों-ज्यों भीतर प्रवेश करती जाती है, शुष्कता बढ़ती जाती है। अतः महाद्वीपो के भीतरी भागों मे शुष्क जलवायु विषुवत रेखा के बहुत कुछ समीप पहुँच जाती है। जहाँ पश्चिमी तटो के समीप ठण्डी महासागरीय धाराएँ पायी जाती हैं वहाँ शुष्क जलवायु विषुवत रेखा के कुछ ही अशों के भीतर तक पहुँच जाती है। महाद्वीपों के ये पश्चिमी भाग पूर्वी भागो की ओर स्थित उपोष्ण उच्च दाब के क्षेत्रों के समान है जहाँ नीचे उतरती हुई वायु स्थिर रहती है और वर्षा के विरुद्ध होती है।

वर्षा—यहाँ अपेक्षाकृत वर्षा अधिक होती है। वर्षा 30 इंच से कदाचित ही नीचे जाती है। अधिकांश वर्षा संवहनीय होती है। भारी बौछारों के साथ प्रायः तीव्र मेघ-गर्जन और विद्युत

प्रकाश होता है । यहाँ चक्रवाती वर्षा भी महत्त्वपूर्ण है । तापमान की एक जैसी दशाओ के विपरीत, वर्षा की मात्रा बडी अनियमित रहती है । वर्षा की भिन्नता मौसम तथा क्षेत्र-वितरण दोनो ही दृष्टियों से पायी जाती है । इस जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत वर्षा के आधार पर दो प्रकार की जलवायु देखी जाती है । उष्ण कटिबन्धीय वर्षा वाले वन जहाँ साल भर खूब वर्षा होती है और सवाना जलवायु जिसमे स्पष्टत: एक शुष्क और एक आर्द्र ऋतु होती है ।

उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु
(Tropical Rainforest Climate) [Af]

स्थिति—उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु अथवा Af जलवायु की प्रमुख विशेषताएँ है—(1) वर्ष भर ऊँचे तापमान, और (2) वर्ष भर भारी वर्षा जिससे वहाँ कोई शुष्क मौसम नही होता । इस प्रकार की जलवायु विषुवत रेखा के दोनो ओर 5° से 10° अक्षान्तर तक फैली हुई पायी जाती है । महाद्वीपो के पवनाभिमुख किनारो के साथ इस जलवायु का विस्तार 15° से 25° अक्षान्तर तक भी देखा जा सकता है ।

तापमान—जैसा कि पूर्व विवरण से स्पष्ट है, इन जलवायु क्षेत्रो का विस्तार विषुवत रेखा के पास है, अत: सूर्याभिताप (Insolation) की सर्वाधिक मात्रा यही प्राप्त होती है । स्वभावत: यहाँ वर्ष भर ऊँचे तापमान होगे । यहाँ तापमान का वार्षिक औसत प्राय: 77° से 80° के बीच रहता है । यहाँ चूँकि सूर्य की किरणे सदैव सीधी चमकती है और वर्ष भर मे दिन-रात की लम्बाई मे भी कोई विशेष अन्तर नही होता, इसलिए यहाँ वार्षिक सूर्याभिताप की वक्र रेखा अपेक्षाकृत एकसी रहती है । फलस्वरूप यहाँ न केवल वर्ष भर ऊँचे तापमान ही रहते है, अपितु उनमे ऋतुवत अन्तर भी बहुत कम रहता है । ऋतुवत तापमान मे जो कुछ थोडा अन्तर मिलता है, वह सूर्याभिताप के कारण नही वरन् मेघाच्छन्नता और वर्षा के कारण होता है । वार्षिक तापान्तर प्राय: 5° से कम रहता है । उदाहरणत: अमेजन बेसिन में बेलम और इक्वीटोस मे वार्षिक तापान्तर क्रमश: 3° और 4·3° रहता है । इसी प्रकार सिंगापुर का 3·2° है । इन्ही अक्षान्तरों मे समुद्रो के ऊपर वार्षिक तापान्तर और भी कम रहता है । प्रशान्त महासागर में मार्शल द्वीप मे स्थित जल्यूट (Jaluit) का वार्षिक तापान्तर केवल 0·8° नापा गया है ।
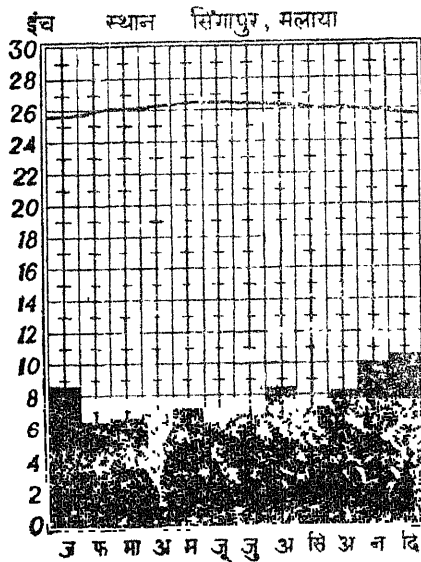
चित्र 145

उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु के प्रतिनिधि के स्थान जलवायु अंक
सिंगापुर (मलाया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	78·3	79·0	80·2	80 8	81 5	81·1	81 0	80·6
वर्षा	8 5	6 1	6 5	6 9	7 2	6 7	6·8	8·5

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	80 4	80 1	79·3	78 6	80 1	3·2
वर्षा	7·3	8 2	10 0	10 4	92 9	—

वार्षिक तापान्तर की अपेक्षा यहाँ दैनिक तापान्तर अधिक रहता है। यहाँ तापमान का दैनिक अन्तर प्राय 10° से 25° तक देखा जाता है। उदाहरणत, कांगो बेसिन बोलोबो (Bolobo) नगर का दैनिक तापान्तर 16° रहता है जबकि यहाँ वार्षिक तापान्तर केवल 2° ही रहता है। यहा साधारणत मध्याह्न के समय तापमान 85° से 93° तक बढ़ जाता है और रात्रि को 70° से 75° तक नीचे उतर जाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि इन जलवायु क्षेत्रों में रातें जाड़े की ऋतु होती है। यहां तापमान के अन्तर मे भी कभी बडा विभेद नहीं रहता। जैसे बेलमनगर का दैनिक अधिकतम औसत तापमान 91 4° और दैनिक न्यूनतम औसत 68° ही रहता है। यद्यपि यहाँ दिन का तापमान बहुत अधिक ऊँचा नही जाता, परन्तु ऊष्मा के साथ तीव्र प्रकाश और बहुत अधिक निरपेक्ष तथा सापेक्ष आर्द्रता के कारण यहाँ की वायु-दशा बडी असहनीय हो जाती है।

वर्षा—इन जलवायु क्षेत्रो मे वर्ष-भर भारी वर्षा होती रहती है। शुष्क मौसम का यहाँ अभाव रहता है। सामान्यतः इन प्रदेशो मे विश्व में सर्वाधिक वर्षा होती है। वार्ड ने अनुमान लगाया है कि डोलड्रम पेटी मे वर्षा का औसत 100 इंच के लगभग रहता है। महाद्वीपीय भागो की अपेक्षा समुद्री भागों मे वर्षा अधिक होती है। वर्षा की प्रचुरता के कारण ही डोलड्रम क्षेत्र में समुद्री सतह का पानी कम खारा होता है। इस प्रदेश मे विषुवत रेखा के समीप वर्षा के लिए आदर्श अवस्थाएँ पायी जाती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह प्रदेश ऊपर उठती हवा (region of rising air) का प्रदेश है। यहाँ कुछ तो सन्मार्गी हवाओ की वायु-राशियो के अभिसरण (convergence) के कारण और कुछ डोलड्रम की उष्ण, आर्द्र तथा अस्थिर वायु मे स्थानीय संवहन के कारण वायु ऊपर उठती रहती है। यहाँ कमजोर चक्रवात तथा झंझावात भी अधिक आते हैं। अत अस्थिर वायु के थोड़े-से ऊपर उठने पर ही भारी वर्षा हो जाती है। यहाँ अधिकांशत कपासी बादल छाये रहते हैं। डोलड्रम क्षेत्र मे मेघाच्छन्नता 58% तक रहती है। अमेजन की घाटी मे मनाओस नगर में प्रति मास मेघाच्छन्नता 6/10 और 7/10 के मध्य रहती है।

यद्यपि इस प्रदेश में कोई शुष्क ऋतु नही होती, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना गलत होगा कि यहाँ वर्षा साल भर एकसमान होती रहती है। साल के कुछ भाग मे वर्षा अधिक और कुछ भाग मे वर्षा कम होती है। अधिक वर्षा के काल मे वर्षा अधिक दिनो तक होती है। कुछ ही दिन ऐसे निकलते है जबकि वर्षा नहीं होती। कम वर्षा के मौसम मे वर्षा के दिन कम रहते हैं और साथ ही प्रतिदिन वर्षा का औसत भी कम रहता है। इस जलवायु-प्रदेश मे वर्ष-प्रतिवर्ष वर्षा के औसत मे अन्तर पाया जाता है, परन्तु यह अन्तर कभी भी ऐसा नही होता जिससे कि फसलो को क्षति हो।

यहाँ होने वाली वर्षा अधिकांशत संवहनीय प्रकार की होती है। कपासी-वर्षी बादलो से वर्षा भारी बौछार के रूप मे होती है। अधिकतम वर्षा दिन के गरम समय मे होती है। प्रात.काल का समय प्राय स्वच्छ रहता है। किन्तु ज्यो-ज्यो सूर्य आकाश में ऊपर उठता जाता है तापमान बढता जाता है और कपासी बादल बनने लगते हैं। मध्याह्न के समय प्रचण्ड झंझावात आते हैं। कभी-कभी एक ही दिन मे कई झंझावात आ जाते है। इनके साथ भारी गर्जन और विद्युत चमक होती है। डोलड्रम की पेटी मे संसार में सबसे अधिक झंझावात आते है। यहाँ वर्ष भर मे औसत रूप से 75 से 150 दिन झंझावात आते हैं।

चक्रवात—यहाँ कमजोर उष्ण चक्रवात भी चला करते है। इन उष्ण चक्रवातो से भी अच्छी वर्षा होती है। चक्रवातीय वर्षा यद्यपि भारी नही होती परन्तु अधिक समय तक गिरती है।

हवाएँ—इन प्रदेशो मे वायुदाब का ढाल बड़ा हल्का होता है, अतः यहाँ वायु का चलन भी हल्का रहता है। वायु प्रवाह के अभाव में यहाँ गर्मी बड़ी कठोर और कष्टदायक प्रतीत होती है।

झंझावात के समय आने वाली तेज हवाओं से यहाँ थोड़ी राहत मिलती है। निम्न अक्षान्तरो में समुद्र तटों के समीप समुद्री पवने यहाँ की महत्त्वपूर्ण जलवायु घटना है। दिन को समुद्र से आने वाली शीतल हवा तटो के ऊपर रहने वाले लोगों के लिए वरदानस्वरूप होती है। यही कारण है कि उष्ण कटिबन्ध मे महाद्वीपो के भीतरी भागों की अपेक्षा तटवर्ती भाग मानव निवास के अधिक अनुकूल होते है।

प्रतिनिधि क्षेत्र—उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु मुख्यत दक्षिणी अमरीका मे अमेजन बेसिन, अफ्रीका मे कांगो बेसिन व गिनीतट और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के तटीय प्रदेशों (पूर्वी द्वीपसमूह और फिलीपाइन सहित) में पायी जाती है। कुछ परिवर्तित रूप मे यह जलवायु ब्राजील के पवनाभिमुख पूर्वी तट, मध्य अमरीका, पश्चिमी द्वीपसमूह, मेडागास्कर द्वीप तथा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट पर कोलम्बिया मे पायी जाती है।

उष्ण मानसूनी जलवायु
(Monsoon Rainforest Climate) [Am]

उष्ण मानसूनी जलवायु उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु का ही एक उपभाग है। इसमें उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु की अपेक्षा वार्षिक वर्षा की मात्रा अधिक होती है। किन्तु इसमें विषुवत रेखीय प्रदेशों की भाँति वर्षा का वितरण साल भर एक जैसा नही रहता। इसमे एक छोटी शुष्क ऋतु अवश्य होती है। वार्षिक वर्षा के वितरण की दृष्टि से यह सवाना प्रदेश से मिलती है, यद्यपि यहाँ वर्षा की मात्रा अधिक रहती है और शुष्क मौसम की अवधि भी ज्यादा लम्बी नही होती। इस जलवायु वाले भागों में अधिकतम वर्षा प्राय: ग्रीष्म में होती है जबकि मानसून जल से स्थल की ओर चलते है। यद्यपि यहाँ निश्चित शुष्क ऋतु होती है किन्तु फिर भी वर्षा इतनी अधिक होती है कि भूमि साल भर काफी नम बनी रहती है जिससे प्रचुर तथा सघन वनस्पति पैदा होती है। यहाँ प्राय अधिकतम तापमान उस समय होते है जबकि भारी वर्षा वाले मौसम के प्रारम्भ होने के पूर्व आकाश स्वच्छ रहता है। इस प्रकार की जलवायु मुख्यत. उष्ण कटिबन्धीय दक्षिणी-पूर्वी एशिया के मानसून प्रदेशों और अफ्रीका के पश्चिमी गायना तट पर पायी जाती है।

चित्र 146

उष्ण मानसूनी जलवायु के प्रतिनिधि स्थान के जलवायु अंक
कोचीन (भारत)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	77·8	79 8	81 6	83·6	83·1	78 5	76 7	77·4
वर्षा	0 3	0·2	0 6	3·2	9 5	35 0	29 8	15·3

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	78 3	79 1	79·5	78·3	79·5	6·9
वर्षा	8·4	10·3	4·9	1·1	118·6	—

उष्ण सवाना जलवायु
(Tropical Savanna Climate) [Aw]

स्थिति तथा विस्तार—सवाना जलवायु उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु और शुष्क सहारा जलवायु के मध्य स्थित है। इनका विस्तार सामान्यतः विषुवत रेखा के दोनों ओर 5° से 15° अक्षान्तर तक पाया जाता है परन्तु महाद्वीपों के पूर्वी भागो मे ये 30° अक्षान्तर तक फैले हुए भी पाये जा सकते है, इस प्रकार ये प्रदेश एक ओर विषुवत रेखा के समीप डोलड्रम की आर्द्र और अस्थिर वायु-राशियों तथा दूसरी ओर उपोष्ण उच्च वायुदाब के क्षेत्रों की शुष्क और स्थिर वायु-राशियों के बीच आ गये है। इनके एक छोर पर निरन्तर आर्द्र और दूसरे छोर पर निरन्तर शुष्क जलवायु वाले प्रदेश है। अत सवाना प्रदेश मे दोनो ही जलवायु की विशेषताएँ पायी जाती है। विषुवतरेखीय भाग की ओर स्थित सवाना प्रदेश मे भारी वर्षा होती है और शुष्क ऋतु छोटी होती है। तापमान और वनस्पति भी उष्ण विषुवत-रेखीय जलवायु से मिलती-जुलती होती है। किन्तु ध्रुवो की ओर बढ़ने पर वर्षा ऋतु छोटी होती जाती है, तापान्तर बढ़ता जाता है और वृक्षो के स्थान पर घास अधिकाधिक स्थान लेती जाती है।

चित्र 147

संसार मे सवाना प्रदेश दक्षिणी अमरीका मे ओरीनीको घाटी के लानोज (कोलम्बिया और वेनेजुएला), गायना के उच्च पठारी भाग, ब्राजील के कम्पाज, अफ्रीका में सूडान और वेल्ड (जेम्बेजी का ऊपरी बेसिन एव जंजीबार बेसिन) तथा आस्ट्रेलिया के उत्तरी व भीतरी भाग मे फैले हुए पाये जाते है।

तापमान—उष्ण विषुवत-रेखीय जलवायु और सवाना जलवायु में तापमान में बहुत अधिक विभेद नही मिलता। यहाँ लगातार ऊँचे तापमान बने रहते है। क्योकि यहाँ मध्याह्न मे सूर्य कभी भी तिरछा नही चमकता और रात-दिन की लम्बाई में भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ वार्षिक तापान्तर 5° से 15° तक रहता है। इस तापान्तर का प्रभाव यह होता है कि अधिक तापमान वाले महीने गरम तथा कम तापमान वाले महीने कम गरम होते है। गर्मियों मे तापमान का औसत 80° फा० रहता है। मार्च, अप्रैल और मई गरम महीने होते है। शीतकाल का औसत तापमान 68° फा० होता है।

उष्ण सवाना प्रदेश के प्रतिनिधि स्थानो के जलवायु अंक

टिम्बो (Timbo) **फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका** (10° 40′ उ०)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	72	76	81	80	77	73	72	72
वर्षा	0·0	0·0	1·0	2·4	6·4	9·0	12·4	14·7

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	72	73	72	71	74	9·7
वर्षा	10·2	6 7	1·3	0·0	64·1	—

कलकत्ता (भारत)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	65	70	79	85	86	85	83	82
वर्षा	0·4	1·1	1·4	2·0	5·0	11·2	12·1	11 5

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	83	80	72	65	78	21
वर्षा	9·0	4·3	0·5	0·2	58·8	—

वर्षा—उष्ण विषुवतरेखीय जलवायु प्रदेश की अपेक्षा यहाँ वर्षा कम होती है। यहाँ वर्षा का वार्षिक औसत 40 इच से 60 इच के बीच रहता है। किन्तु उन स्थानो पर जहाँ ये शुष्क पेटी को छूते हैं वर्षा कम तथा जहाँ से विषुवतरेखीय भागो को लगे हुए है, वर्षा अधिक होती है। सामान्यतः वर्षा की मात्रा ध्रुवो की ओर कम होती जाती है।

यहाँ पर वर्षा का वितरण भी मौसमी है। अधिकाश वर्षा ग्रीष्मऋतु मे होती है। जाड़े की ऋतु शुष्क बीतती है। ग्रीष्म मे विषुवतरेखीय न्यून वायुदाब की पेटी 20° अक्षान्तर तक खिसक आती है, अतः सवहनीय वर्षा अधिक होती है। जाडो मे ये प्रदेश सन्मार्गी हवाओ की पेटी मे रहते है अत. वर्षा नही होती।

यहाँ वर्षा का वितरण अक्षाशीय स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। विषुवतरेखीय प्रदेश से लगे हुए सवाना के भागो मे साल भर वर्षा का मौसम रहता है। विषुवतरेखा से ध्रुवो की ओर बढ़ने पर वर्षा ऋतु की अवधि घटती जाती है और शुष्क मौसम की लम्बाई बढती जाती है। सवाना प्रदेशो के लिए यह कहा जा सकता है कि यहाँ वर्षा सूर्य का अनुगमन करती है।

उष्ण विषुवतरेखीय प्रदेशो की अपेक्षा यहाँ न केवल कुल वर्षा की मात्रा ही कम होती है परन्तु वर्ष भर मे उसका वितरण भी असमान और अनिश्चित रहता है। वर्ष-प्रतिवर्ष वर्षा की मात्रा मे बड़ा अन्तर रहता है। एक वर्ष अत्यधिक वर्षा से फसलें नष्ट हो जाती है तो दूसरे वर्ष सूखे के कारण कोई फसल नही होती। वर्षा की इस अनिश्चितता के कारण सवाना प्रदेशो की मानव-जीवन को पालने (suppoiting) की क्षमता बहुत अधिक घट जाती है।

ऋतुवत मौसम—वर्षा ऋतु से सवाना प्रदेश का मौसम उष्ण विषुवतरेखीय प्रदेशो से मिलता-जुलता होता है। वर्षा ऋतु के प्रारम्भ और अन्तकाल मे यहाँ प्रचण्ड झझावात आते हैं और तेज आँधियाँ चला करती है। जब वर्षा पूरे जोर पर होती है तो झझावात कम आते है। जाड़े की शुष्क ऋतु मे यहाँ का मौसम मरुस्थलों जैसा रहता है। इस समय वायु की आर्द्रता घट जाती है। वर्षा काल का आर्द्र मौसम और कष्टदायक गर्मी के बाद शुष्क मौसम स्वागत योग्य होता है। शुष्क महीनों मे भी यदाकदा वर्षा की बौछारें हो जाया करती है। शुष्क मौसम में सवाना का भू-दृश्य बिलकुल सूखा होता है। घास सूखकर पीली पड जाती है। पेडों की पत्तियाँ गिर जाती है। नदियाँ सूख जाती हैं। मिट्टी मे तिरकनें पड़ जाती है। संक्षेप में समस्त प्रकृति सुप्त-सी जान पड़ती है।

शुष्क जलवायु
(Dry Climate) [B]

ससार के एक बहुत बडे भाग मे शुष्क जलवायु पायी जाती है। इस जलवायु की प्रमुख विशेषता यह है कि वर्षा से अधिक वाष्पीकरण तीव्र होता है। अतः यहा वर्षा की कमी रहती है। वर्षा की कमी से यहाँ अधोभूमि जल की स्थायी रूप से पूर्ति सम्भव नही होती है जिससे इन भागों मे सदा बहने वाली नदियो का विकास नही हो सकता। यद्यपि अधिक आर्द्र भागो से निकलकर

आने वाली नदियाँ इन शुष्क भागो से होकर बह सकती है जैसे नील एवं कोलोरेडो नदियाँ । शुष्क जलवायु के लिए यदि उपरोक्त परिभाषा अर्थात् 'वर्षा से अधिक प्रभावी वाष्पीकरण की तीव्रता' को स्वीकार कर लिया जाय तो कठिनाई यह है कि पृथ्वी के विभिन्न भागो मे वाष्पीकरण की मात्रा मे बडा विभेद मिलता है । अतः ससार मे शुष्क जलवायु क्षेत्रो की सीमा किसी भी प्रकार की मात्रा के द्वारा निश्चित नही की जा सकती ।

शुष्क जलवायु के दो उपभाग है—(क) शुष्क या मरुस्थलीय जलवायु, (ख) अर्द्ध-शुष्क या स्टेपी जलवायु । सामान्यत. स्टेपी जलवायु शुष्क और आर्द्र भागों के बीच एक अन्तरिम अवस्था है ।

तापमान—शुष्क जलवायु प्रदेश सामान्यत महाद्वीपो के भीतर पवन विमुख दिशा की ओर स्थिर पाये जाते है, इसलिए यहाँ तापमान स्वाभाविकतया ऊँचे पाये जाते है । यहाँ मौसमी तापमान मे बडा अन्तर मिलता है अत वार्षिक तापान्तर भी बहुत अधिक रहता है । इन भागो में स्वच्छ आकाश, वनस्पति के अभाव और न्यून आर्द्रता के कारण दिन को प्रचुर मात्रा मे सूर्यताप प्राप्त होता है, परन्तु रात्रि को उसी भाँति पुन. नष्ट भी हो जाता है । अत इन भागो में दैनिक तापान्तर बहुत अधिक रहता है ।

वर्षा—इन भागो मे वर्षा बहुत ही कम होती है । वर्षा का औसत वर्ष-प्रतिवर्ष बदलता भी रहता है । इस प्रकार यहाँ वर्षा विश्वसनीय नही है । वैसे ससार का कोई भाग ऐसा नही है जहाँ वर्षा नही होती हो परन्तु अफ्रीका मे सहारा और उत्तरी चिली मे 17 वर्षों की अवधि मे वार्षिक वर्षा का औसत केवल 0·02 इच रहा ।

शुष्क जलवायु वाले भागो मे सापेक्ष आर्द्रता कम रहती है । दिन को इसका औसत 12 से 30 प्रतिशत तक रहता है । इसलिए यहाँ वाष्पीकरण बहुत ही तीव्र होता है । निरपेक्ष आर्द्रता सदैव कम नही रहती । यहाँ सूर्य की किरणे बडी प्रखर होती हैं । आकाश मे बादल कम छाये रहते है ।

हवाएँ—शुष्क प्रदेशों मे हवाएँ बड़ी तेज होती है । महासागरो की भाँति यहाँ भी हवाओं के मार्ग मे कोई बाधा (वनस्पति) नही होती, जिससे हवाएँ प्रचण्ड हो उठती है । यहां चलने वाली निरन्तर और प्रचण्ड हवाओ के कारण वायु धूल के बारीक कणो से भर जाती हैं और समस्त वातावरण धूलमय हो जाता है । दिन को तेज आँधियो के साथ बालू उडती रहती है जिससे यहाँ यात्रा करने वाले लोगो को बडा कष्ट होता है । नाक, आँख और मुँह सब धूल से भर जाते है और श्वास लेना कठिन हो जाता है । मरुस्थलों से बडी मात्रा मे धूल उड़कर समीपीय प्रदेशों मे लोयस के रूप मे निक्षेपित हो जाती है ।

जलवायु के वर्गीकरण मे यहाँ शुष्क जलवायु के दो बड़े भाग किये गये हैं जो तापमान की भिन्नता पर आधारित हैं—(1) निम्न अक्षाशो के उष्ण मरुस्थल और स्टेपी, तथा (2) मध्य अक्षांशों के ठण्डे मरुस्थल और स्टेपी ।

निम्न अक्षांशों के उष्ण मरुस्थल
(Low Latitude Desert) [Bwh]

स्थिति—निम्न अक्षाशों के उष्ण मरुस्थल सामान्यत. विषुवत रेखा के दोनों ओर महाद्वीपो के पश्चिमी भागो मे 15° से 30° अक्षान्तरों के मध्य स्थित पाये जाते है । चूँकि इन भागो मे उष्ण और शुष्क हवा सदैव नीचे उतरती रहती है इसलिए यहाँ सवहनीय वर्षा के लिए अवस्थाएँ प्रतिकूल रहती है । इन क्षेत्रो से हवा का अपसरण (divergence) भी होता है । इस कारण यहाँ चक्रवाती तूफान और वाताग्रो का विकास भी नही होता । यहां मरुस्थल की वायु इतनी शुष्क होती है कि जब बादलो से कोई वर्षा गिरती है तो प्राय वह भूमि तक पहुँचने के पूर्व

ही वाष्प मे बदल जाती है। फलस्वरूप निम्न अक्षांशों के मरुस्थल पृथ्वी पर लगभग वर्षा विहीन प्रदेश हैं।

तापमान—उष्ण कटिबन्ध मे सर्वाधिक वार्षिक तापान्तर उष्ण मरुस्थलों मे ही मिलता है। यहाँ प्राय वार्षिक तापान्तर 20° से 30° के बीच रहता है। सहारा के अस्वान नगर का जनवरी का औसत तापमान 61° और जुलाई का 95° रहता है। फलस्वरूप वार्षिक तापान्तर से स्पष्ट है कि उष्ण मरुस्थलो में उष्ण तथा आर्द्र विषुवतरेखीय प्रदेशों की अपेक्षा आकाश स्वच्छ रहता है, आर्द्रता कम होती है और भूमि वनस्पतिविहीन होती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जाडो की ठण्ड की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु की गर्मी ही मौसमो के बीच उल्लेखनीय अन्तर पैदा करती है।

यहाँ तापमान का दैनिक अन्तर 25° से 45° के बीच रहता है। कभी-कभी यह औसत 60° से 70° तक पहुँच जाता है। मौसमी तापमान मे यहाँ विशेष अन्तर नही पड़ता। मौसमी तापान्तर 25° के आसपास रहते हैं। ग्रीष्मऋतु मे यहाँ प्रचण्ड गर्मी पड़ती है। ग्रीष्म मे तापमान का औसत 85° से 95° के बीच रहता है (यूमा 91°; टिम्बकटू 94·5°)। ग्रीष्म का अधिकतम तापमान ट्रिपोली से 36 मील दूर अजाजिया नामक स्थान पर 136·4° नापा गया है। यह ससार का नापा गया सर्वाधिक ऊँचा तापमान है। जाड़ों में तापमान का औसत 60° से 70° के बीच रहता है। कभी-कभी यह 80° तक पहुँच जाता है। जाड़ो मे रातें बेहद ठण्डी होती है। जाड़ो मे प्राय: हल्का पाला गिर जाता है। जाड़ों की रात्रि को यहाँ ओस का गिरना भी सामान्य बात है।
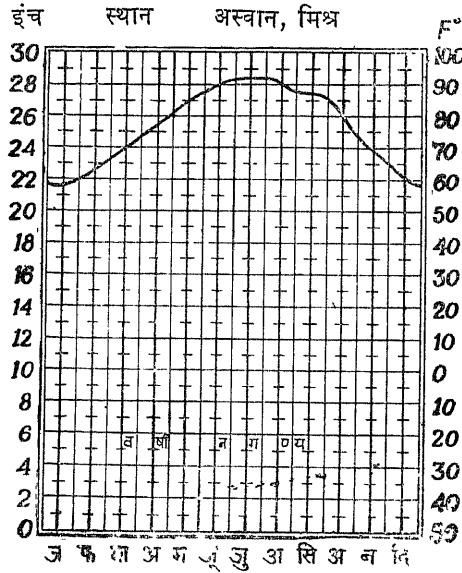
चित्र 148

उष्ण मरुस्थल के प्रतिनिधि स्थानों की वर्षा और तापमान के अंक

जेकोबाबाद (पाकिस्तान)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	57	62	75	86	92	98	95	92
वर्षा	0·3	0 3	0·3	0·2	0·1	0·2	1·0	1 1

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	89	79	68	59	79	41
वर्षा	0 3	0·0	0·1	1·0	4·0	—

विलियम क्रीक (आस्ट्रेलिया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	83	83	76	67	59	54	52	56
वर्षा	0·5	0·4	0·8	0·4	0 4	0 7	0·3	0·3

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	62	70	77	81	68	30·5
वर्षा	0 4	0·3	0·4	0·3	5·4	—

वर्षा—उष्ण मरुस्थलों की बाह्य सीमा को निर्धारित करने मे यद्यपि वर्षा की मात्रा कोई निर्णायक तत्त्व नही है फिर भी 10 से 20 इंच वर्षा इसका औसत माना जा सकता है। सहारा के अधिकाश भागो में वर्षा का औसत 5 इच से कम रहता है। यही अवस्था निम्न अक्षाशो के अन्य उष्ण मरुस्थलों मे भी देखी जाती है। वार्षिक वर्षा का औसत मिस्र में काहिरा का 1·2"; पीरू मे लीमा का 2"; आस्ट्रेलिया मे विलियम क्रीक का 5 4" है। मरुस्थली वर्षा के सही ज्ञान के लिए औसत वर्षा का बहुत कम मूल्य है, क्योकि यहाँ वर्षा का समय बडा अनिश्चित रहता है। उत्तरी चिली के कुछ भागो में कभी-कभी 5 से 10 वर्ष की अवधि तक बिलकुल ही वर्षा नहीं होती। वहाँ इक्यूकी (Iquique) नगर मे एक बार 4 वर्षो तक कोई वर्षा नही हुई, किन्तु पाँचवे वर्ष वहाँ एक ही वर्षा में 2 5 इंच पानी गिर गया।

उष्ण मरुस्थलो में होने वाली वर्षा संवहनीय प्रकार की होती है, अत ऐसी वर्षा का क्षेत्र लम्बा-चौड़ा न होकर सीमित होता है। इन मरुस्थलो के ध्रुववृत्तीय छोरो पर कभी-कभी विस्तृत भागो में वर्षा हो जाती है। ऐसी वर्षा प्रायः जाडो मे मध्य अक्षांशो के चक्रवातों द्वारा होती है।

उष्ण मरुस्थली भागों में आकाश स्वच्छ रहता है इसलिए यहाँ सूर्य खूब तेजी से चमकता है। सूर्य की प्रखरता के कारण यहाँ वाष्पीकरण अधिक होता है। यूमा नगर मे उष्ण मास का वाष्पीकरण का औसत 55 इच रहता है, जबकि उसी अवधि मे वर्षा का औसत 1 इच से भी कम होता है।

निम्न अक्षांशीय स्टेपी जलवायु
(Low Latitude Steppe Climate) [Bsh]

स्थिति—विषुवत रेखा के उत्तर तथा दक्षिण को उष्ण-मरुस्थल और आर्द्र जलवायु के बीच एक अन्तरिम पेटी है जिसे उष्ण तथा उपोष्ण स्टेपी जलवायु प्रदेश कहा जाता है। उष्ण मरुस्थलों के पश्चिमी किनारो को छोड़कर यह सब ओर उन्हे घेरे हुए स्थित है। इन स्टेपी प्रदेशो मे साल के कुछ समय मे वर्षा लाने वाली हवाएँ और तूफान चला करते है। वर्षा की छोटी अवधि के कारण ही यह जलवायु पूर्ण शुष्क न होकर अर्द्ध-शुष्क होती है।

वर्षा—उष्ण-मरुस्थलो की भाँति इन जलवायु भागो मे भी वर्षा बहुत कम होती है। वर्षा की कमी के साथ-साथ उसका वितरण भी असमान और अनिश्चित होता है। वर्षा की अनिश्चितता यहाँ के निवासियों के लिए बड़ी खतरनाक सिद्ध होती है। कभी-कभी कुछ आर्द्र वर्षो के पश्चात् लगातार कई वर्ष सूखे निकल जाते है जिससे यहाँ के लोगो पर विनाश की घटा छा जाती है। जहाँ कही सिचाई की सुविधा उपलब्ध होती है वही खेती सुरक्षित रहती है। अतः पशु-चारण ही यहाँ के लोगो का मुख्य व्यवसाय है।

स्टेपी के जो भाग ध्रुवो की ओर भूमध्यसागरीय जलवायु से लगे हुए है वहाँ समस्त वर्षा जाड़ों मे होती है। यह वर्षा इस ऋतु मे चलने वाले मध्य अक्षांशीय चक्रवात एवं वाताग्रों द्वारा होती है। वर्ष के अधिकांश समय स्टेपी के ये भाग नीचे उतरती हुई शुष्क वायु-राशियो के प्रभाव मे रहते है जिससे वर्षा नही होती। जाडो मे वर्षा होने से वाष्पीकरण कम होता है। फलस्वरूप वर्षा की थोड़ी मात्रा भी यहाँ वनस्पति की पैदावार के लिए अपेक्षाकृत प्रभावी होती है।

निम्न अक्षांशीय स्टेपी जलवायु के प्रतिनिधि स्थान के तापमान और वर्षा के अंक

बेगासी (ट्रिपोली)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	55	57	63	66	72	75	78	79
वर्षा	3·7	1 8	0·7	0·1	0·1	0·0	0·0	0·0

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	78	75	66	59	69	24
वर्षा	0·1	0·3	2·1	3 1	11·9	—

केइज (Kayes) (फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	77	81	89	94	96	91	84	82
वर्षा	0·0	0·0	0 0	0·0	0·6	3·9	8·3	8·3
	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर		
तापमान	82	85	83	77	85	19·2		
वर्षा	5·6	1·9	0·3	0·2	29·1	—		

उष्ण मरुस्थलो के विषुवतरेखीय किनारो की ओर स्थित स्टेपी के भागो मे वर्षा ग्रीष्म-ऋतु मे होती है। यहाँ वर्षा का समय सवाना जलवायु के समान ही होता है, परन्तु यहाँ शुष्क मौसम अधिक लम्बा और वर्षा की मात्रा कम होती है। ग्रीष्म में वर्षा होने से वाष्पीकरण अधिक होता है जिससे वनस्पति की पैदावार के लिए इसका प्रभाव घट जाता है। यहाँ के तापमान समीप के मरुस्थलो की भाँति ही होते है।

मध्य अक्षांशीय मरुस्थल
(Middle Latitude Deserts) [BWk]

मध्य अक्षांशीय मरुस्थल महाद्वीपों के भीतरी भागो मे कम ऊँचाई के तश्तरीनुमा क्षेत्रों मे स्थित है। एशिया महाद्वीप में तारिम बेसिन, गोबी, जूँगेरिया, रूसी तुर्किस्तान एवं मध्यवर्ती ईरान सब ऐसे क्षेत्र है। ये सब ऊँची पर्वत-श्रेणियों से घिरे हुए है। संयुक्त राज्य अमरीका में प्रमुख मरुस्थल भी इसी भाँति पर्वतो से घिरे है। पर्वतो से घिरे होने के कारण ये वृष्टि-छाया प्रदेश है। यहाँ शुष्क हवाएँ ऊपर से नीचे उतरती रहती है जिससे शुष्कता और बढ जाती है। किन्तु ये उष्ण मरुस्थलो की भाँति एकदम शुष्क नही है। यहाँ अधिकांश वर्षा गर्मियों मे होती है। कुछ वर्षा जाडो मे हिमपात के रूप मे भी होती है।

मध्य अक्षांशीय मरुस्थल के प्रतिनिधि स्थानों के तापमान एवं वर्षा के अंक

सान्ताक्रुज (अर्जेण्टाइना)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	59	58	55	48	41	35	35	38
वर्षा	0 6	0·4	0·3	0·6	0·6	0·5	0·7	0·4
	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर		
तापमान	44	49	53	56	47·5	24		
वर्षा	0·2	0·4	0·5	0 9	6·1	—		

फेलन (Fallon) (नेवेदा)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	31	36	41	50	56	65	74	72
वर्षा	0·6	0·5	0·5	0·4	0 6	0·3	0·1	0·2
	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	तापान्तर	वार्षिक		
तापमान	61	51	40	32	50 6	42·7		
वर्षा	0 3	0·4	0·3	0 6	4 7	—		

ग्रीष्म ऋतु मे ये प्रदेश बहुत गरम रहते है। कई बार ग्रीष्म मास का औसत उष्ण मरुस्थलों के औसत से भी अधिक बढ जाता है। मध्य एशिया मे लुकचुन (Luckchun) नामक स्थान पर

जुलाई का औसत तापमान 90° रहता है। जुलाई मे दैनिक औसत 110° से भी ऊपर पहुँच जाता है। इसके विपरीत जनवरी का औसत तापमान केवल 13° ही रहता है।

दक्षिणी अमरीका में अर्जेण्टाइना के दक्षिण मे पेटेगोनिया भी मध्य अक्षाशीय मरुस्थल मे सम्मिलित है, परन्तु यहाँ अवस्थाएँ कुछ भिन्न पायी जाती है। यहाँ तट के समीप ठण्डी धारा बहती है और स्थल भाग भी सँकरा है अतः यहाँ तापमान मे अधिक अन्तर नही पाया जाता है। यहाँ तापमान पर महाद्वीपीय प्रभाव की अपेक्षा समुद्री प्रभाव अधिक देखा जाता है। इसलिए ग्रीष्म ऋतु मे तापमान बहुत ऊँचे नहीं जाते और जाड़ा भी साधारण होता है। जैसे सान्ताक्रुज मे जुलाई का तापमान 35° और जनवरी का 59° ही रहता है।

चित्र 149

मध्य अक्षांशीय स्टेपी

(Middle Latitude Steppes) [Bsk]

ये प्रदेश शीतोष्ण कटिबन्ध मे महाद्वीप के भीतरी भागों मे स्थित है। उष्ण कटिबन्ध के अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो की भाँति ये भी आर्द्र जलवायु और मरुस्थलो के बीच अन्तरिम प्रदेश है।
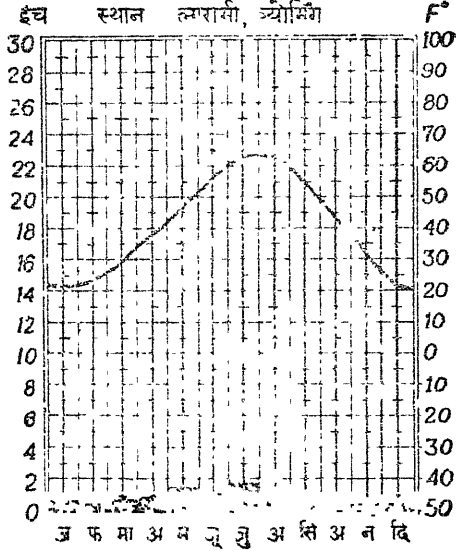
महाद्वीपों के भीतरी भागो में स्थित होने के कारण ये प्रदेश समुद्र के प्रभाव से वचित रहते है। यहाँ ग्रीष्म में तीव्र गर्मी पड़ती है। ग्रीष्म का औसत तापमान 80° के लगभग रहता है। शीत ऋतु में कडाके का जाडा गिरता है। जाड़ों में तापमान हिमाक बिन्दु से नीचे चला जाता है। इस प्रकार यहाँ की जलवायु बहुत विषम होती है। दक्षिणी गोलार्द्ध वाले इन भू-भागों में जलवायु इतनी विषम नही होती।

समुद्र से दूर स्थल के भीतर स्थित होने से यहाँ वर्षा कम होती है। अधिकांश वर्षा ग्रीष्म के प्रारम्भ तथा बसन्त ऋतु मे होती है। वर्षा समुद्रों से आने वाली हवाओ अथवा संवहनीय हवाओं द्वारा होती है। यहाँ वर्षा का वार्षिक औसत 10 इंच से 20 इंच के बीच रहता है। उत्तरी व दक्षिणी अमरीका के इन प्रदेशो मे अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती है। यहाँ वार्षिक औसत 35 इंच रहता है। परन्तु एशिया और आस्ट्रेलिया मे ये प्रदेश पर्वत के पीछे पड़ जाने से शुष्क रहते है। यहाँ वर्षा का औसत लगभग 7 इंच ही रहता है।

स्टेपी जलवायु प्रतिनिधि स्थानों की वर्षा और तापमान के अंक

विलिस्टोन (संयुक्त राज्य अमरीका)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	6	8	22	43	53	63	69	67
वर्षा	0·5	0·4	0·9	1·1	2·1	3·2	1·7	1·7

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	56	44	27	14	39·2	62·7
वर्षा	1·0	0·7	0·6		14·4	—

उर्गा (मंगोलिया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	—16	—4	13	34	48	58	63	59
वर्षा	0·0	0·1	0·1	0·0	0·3	1·7	2·6	2·1

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	48	30	8	—17	28	72
वर्षा	0·5	0·1	0·1	0·1	7·6	—

शीतोष्ण आर्द्र जलवायु वाले भाग
(The Humid Mesothermal Climates) [C]

मध्य अक्षाशो के जलवायु क्षेत्र मे न तो उष्ण कटिबन्ध के समान निरन्तर उष्णता और न शीत कटिबन्ध के समान निरन्तर ठण्डक पायी जाती है। इसके विपरीत इन अक्षाशों में विभिन्न ऋतुओ में तापमान की अवस्थाओ मे निश्चित भेद रहता है। वस्तुतः यहाँ विभिन्न प्रकार की जलवायु को निश्चित करने में तापमान का वही महत्त्व है जो उष्ण कटिबन्ध मे वर्षा का है। उष्ण कटिबन्ध मे ऋतुएँ शुष्क अथवा आर्द्र होती है परन्तु यहाँ ऋतुओ को ग्रीष्म अथवा ग्रीष्म-ऋतु के नाम से पुकारते है। मध्य अक्षाशो मे उष्ण कटिबन्धीय उष्ण वायु-राशियाँ और ध्रुव प्रदेशो की शीतल वायु-राशियाँ परस्पर मिलती हैं, इसलिए यहाँ मौसम बड़ा अनिश्चित रहता है। मौसम की परिवर्तनशीलता उन अक्षांशो की विशेषता है। सामान्यतः मध्य अक्षांशों की उपोष्ण जलवायु मध्यम प्रकार की जलवायु होती है।

भूमध्यसागरीय जलवायु
(Mediterranean Climate) [CS]

भूमध्यसागरीय जलवायु महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में 30° से 40° अक्षांशो के बीच स्थित पायी जाती है। इसका अधिकतर विस्तार भूमध्य सागर के समीपवर्ती भागो मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त यह मध्यवर्ती केलीफोर्निया, मध्यवर्ती चिली, दक्षिणी अफ्रीका के दक्षिणी-पश्चिमी भाग, आस्ट्रेलिया के दक्षिणी भाग और तस्मानिया मे पायी जाती है। ये भाग उपोष्ण उच्चदाब की पेटी में ध्रुवो की ओर स्थित हैं। सूर्य के साथ हवा की पेटियों के उत्तर-दक्षिण खिसकने के कारण भूमध्यसागरीय क्षेत्र वर्ष में एक बार शुष्क अयन रेखाओं के साथ और दूसरी बार आर्द्र मध्य अक्षांशों के साथ रहते है। अतः इन क्षेत्रों में ग्रीष्मऋतु उष्ण कटिबन्ध के समान निरन्तर उष्णता और जाड़ों मे मध्य अक्षांशो की भाँति परिवर्तनशील मौसम होता है। इस प्रकार यह निम्न अक्षाशीय स्टेपी और मरुस्थली प्रदेश और शीतल आर्द्र पश्चिमी तटीय समुद्री जलवायु वाले प्रदेशों के बीच अन्तरिम प्रकार के जलवायु-क्षेत्र है। चिली तथा केलिफोर्निया में यह जलवायु तट के समान्तर ऊँचे पर्वतों तक ही सीमित रहती है। दक्षिणी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया मे स्थल का विस्तार ध्रुवों की ओर अधिक नही है अतः यह जलवायु केवल तटों तक ही सीमित है।

तापमान—भूमध्यसागरीय जलवायु अपनी विशेषताओं के कारण संसार में विशेष प्रसिद्ध है। चमकीला आकाश, जाड़ों की हल्की वर्षा और साधारण गरम ग्रीष्म ऋतु इस जलवायु की प्रमुख विशेषताएं हैं। इन प्रदेशो मे जाडे की ऋतु साधारण होती है। जाडो का औसत तापमान 40° से 50° के बीच मे रहता है। ग्रीष्म का औसत 70° से 80° तक रहता है। अतः वार्षिक औसत तापान्तर 20° से 30° के बीच रहना साधारण बात है। समुद्र के निकटवर्ती स्थानों पर ग्रीष्म ऋतु समुद्री प्रभाव के कारण शीतल रहती है। तटो के समीप ठण्डी धाराओ के बहने के कारण भी गर्मियाँ ठण्डी रहती हैं। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी तट पर सैनफ्रांसिस्को

नगर का ग्रीष्म का तापमान केवल 59° और चिली के बालपेरेजो का 66° तापमान रहता है। समुद्र के निकटवर्ती भागो मे वार्षिक तापान्तर कम रहता है। परन्तु समुद्र से दूरवर्ती भागो मे वार्षिक तापान्तर अधिक पाया जाता है।

भूमध्यसागरीय प्रदेशों की गर्मियाँ उष्ण स्टेपी अथवा मरुस्थलों के समान होती है। यूरोपीय भूमध्यसागरीय देशो मे ग्रीष्म ऋतु का औसत तापमान 75° और उत्तरी अफ्रीका का 80° रहता है। ग्रीष्म ऋतु काफी गरम और शुष्क होती है। ग्रीष्म ऋतु मे आकाश स्वच्छ रहता है। बादलो के अभाव के कारण प्रखर किरणे प्राप्त होती है। इसलिए यहाँ दैनिक औसत तापमान बहुत ऊँचे रहते है। सेक्रामेण्टो की घाटी मे स्थित रेड ब्लफ का जुलाई का औसत तापमान 81·5° है और दैनिक उच्चतम तापमान 115° तक नापा गया है। रात्रि के समय शुष्क वायुमण्डल मे अधिक विकिरण होने से तापमान नीचे गिर जाता है। ग्रीष्म मे दैनिक तापान्तर 16 से 22 तक रहता है।

भूमध्यसागरीय प्रदेशों मे जाड़े की ऋतु चमकीली और बडी मृदुल होती है। जाड़े की साधारण ऋतु होने से ही इन प्रदेशो की अधिक महत्ता है। ऊँचे अक्षांशो के ठण्डे प्रदेशों के निवासी प्रायः जाडो मे स्वास्थ्य लाभ तथा शीत से बचाव से लिए भूमध्यसागरीय प्रदेशो मे आ जाते हैं। जाड़ों का औसत तापमान सेक्रामेण्टो मे 46°, मार्सेलीज मे 43° और रोम मे 44° रहता है। जाड़ो में यहाँ भी पाला गिरता है, परन्तु यह बहुत हल्का होता है। यद्यपि कुछ रातों मे तापमान हिमाक बिन्दु से नीचे चला जाता है परन्तु ऐसा बहुत कम होता है।

वर्षा—यहाँ सामान्य से भी कम वर्षा होती है। वर्षा का औसत 15 से 25 इंच तक रहता है। यहाँ वर्षा की मात्रा की अपेक्षा उसका वितरण विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ अधिकांश वर्षा जाड़ों में होती है। गर्मियाँ प्रायः शुष्क बीतती है। यदि यहाँ वर्षा ग्रीष्म मे प्राप्त होती तो वाष्पीकरण के कारण यहाँ अर्द्ध-मरुस्थली अवस्थाएँ पायी जाती। जाड़ों मे वाष्पीकरण कम होता है, इसलिए वनस्पति के लिए वह वर्षा अत्यन्त सहायक होती है। ध्रुवो की ओर जाने पर वर्षा की मात्रा बढ़ती जाती है। यद्यपि यहाँ वर्षा जाड़ो मे होती है फिर भी बादल अधिक घने नहीं होते जिससे आकाश चमकीला रहता है।

भूमध्यसागरीय जलवायु के प्रतिनिधि स्थानों के तापमान व वर्षा के अंक

रेडब्लफ (केलिफोर्निया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	45	50	54	59	67	75	82	80
वर्षा	4·6	3·9	3·2	1·7	1·1	0·5	0·0	0·1

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	73	64	54	46	62·3	36·3
वर्षा	0 8	1·3	2·9	4·3	24·3	—

पर्थ (आस्ट्रेलिया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	74	74	71	67	71	57	55	56
वर्षा	0·3	0·5	0·7	1·6	4·9	6·9	6·5	5·7

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	58	61	66	71	64	19
वर्षा	3·3	2·1	0·8	0·6	33·9	—

हवाएँ—भूमध्यसागरीय जलवायु की एक अन्य विशेषता यहाँ कई स्थानो पर चलने वाली स्थानीय हवाएँ है। भूमध्यसागरीय प्रदेश में उत्तरी अफ्रीका के मरुस्थलो मे अत्यन्त गरम तथा शुष्क हवाएँ चलती है। ये बड़ी कष्टदायक होती है। इन्हे अल्जीरिया मे **सिरोको**, स्पेन मे **लेवेची** व मिस्र मे **खामसिन** कहते है। जब ये हवाएँ ऊँचे पठार से उतरती है तो बहुत अधिक गरम और शुष्क हो जाती हैं। कभी-कभी तापमान को 45° से० तक पहुँचा देती हैं। इसी प्रकार दक्षिणी फ्रास मे ठण्डी **मिस्ट्रल** व एड्रियाटिक प्रदेशो मे **बोरा** हवाएँ चलती है। दक्षिणी अफ्रीका, चिली व आस्ट्रेलिया के भूमध्यसागरीय प्रदेशो मे भी इसी प्रकार की हवाएँ चलती है।

चीन तुल्य अथवा आर्द्र-उपोष्ण जलवायु
(Humid Sub-tropical Climate) [Ca]

स्थिति—यह जलवायु भी उन्ही अक्षाशों में स्थित है जिनमे भूमध्यसागरीय जलवायु पायी जाती है। यह जलवायु 30° से 45° अक्षांशो के बीच महाद्वीपो के पूर्वी तटो पर स्थित पायी जाती है। इसका सर्वाधिक विस्तार चीन मे पाया जाता है। इसलिए इसको चीन तुल्य प्रदेश भी कहते है। चीन के अतिरिक्त इसका विस्तार कोरिया, दक्षिणी जापान, दक्षिणी-पूर्वी संयुक्त राज्य अमरीका, दक्षिणी ब्राजील और यूरेग्वे तथा दक्षिणी-पूर्वी आस्ट्रेलिया के तटीय भागो मे मिलता है।

मध्यवर्ती अक्षाशो मे महाद्वीपों के पूर्वी किनारो की यह जलवायु पश्चिमी किनारो की भूमध्यसागरीय जलवायु से भिन्न है। इन भागों मे सन्मार्गी हवाओ द्वारा समान रूप से वर्षा होती रहती है। ग्रीष्म मे मानसून का प्रभाव रहता है। विषुवत रेखा की ओर यह जलवायु उष्ण एव आर्द्र जलवायु मे लुप्त हो जाती है और आर्द्र अवस्थाएँ पश्चिमी किनारे की अपेक्षा अधिक दूर तक पायी जाती है। ध्रुवो की ओर भूमध्यसागरीय जलवायु आर्द्र पश्चिमी तटीय समुद्री जलवायु मे मिल जाती है, परन्तु आर्द्र उपोष्ण जलवायु महाद्वीपो के भीतरी भागो की शुष्क प्रकार की जलवायु मे मिलती है।

तापमान—तापमान मे यह जलवायु भूमध्यसागरीय जलवायु से मिलती-जुलती है। किन्तु इनके तटो पर गरम धाराएँ बहती है, इसलिए यहाँ कुहरे का अभाव रहता है। तटीय भाग गरम और आर्द्र बने रहते है। महाद्वीपों के भीतर की ओर जलवायु विषम हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु का औसत तापमान 75° से 80° रहता है। तटों के समीप तापमान कम रहते हैं जैसे दक्षिणी गोलार्द्ध में। अन्यत्र तापमान काफी ऊँचे रहते हैं, विशेषत एशिया और उत्तरी अमरीका में। ग्रीष्म का औसत तापमान चार्ल्सटन मे 81°, शंघाई में 80°, ब्रिस्बेन में 77°, डर्बन मे 77° और ब्यूनसआयर्स मे 74° रहते हैं। यहाँ दैनिक उच्चतम तापमान 100° से 110° तक पाये जाते है।

चित्र 150

यहाँ केवल तापमान ही ऊँचे नही होते, अपितु वायु की निरपेक्ष और सापेक्ष आर्द्रता भी अधिक होती है। इस प्रकार **ग्रीष्म में**

बादल और आर्द्रता के अधिक रहने के कारण रात्रि में भी तापमान नीचे नही उतरते। रात्रि को तापमान धीरे-धीरे कम होता है जिससे दैनिक तापान्तर अधिक नही होता। अधिक आर्द्रता और बादलो के कारण राते असह्य हो जाती है।

जाड़े की ऋतु बडी मृदुल होती है। जाडो का औसत तापमान 40° से 55° के बीच रहता है। जनवरी का औसत तापमान माण्टगुमरी मे 49°, शघाई मे 38°, ब्यूनसआयर्स में 50° और सिडनी मे 52° रहता है। वार्षिक तापान्तर प्राय कम रहते है, परन्तु अक्षाशीय स्थिति और महाद्वीपीय विस्तार के अनुसार इसमे भिन्नता रहती है। जैसे ब्यूनसआयर्स का वार्षिक तापान्तर 23°, सिडनी का 19°, माण्टगुमरी का 32°, और शंघाई का 43° रहता है। वस्तुत. उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल भागो का विस्तार अधिक होने से उस पर महाद्वीपीय प्रभाव अधिक होता है। इस कारण वहाँ जाड़ो मे अधिक जाडा और गर्मियो मे अधिक गर्मी पड़ती है जिससे वार्षिक तापान्तर भी अधिक रहते है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे इस जलवायु वाले भागों पर समुद्री प्रभाव अधिक पड़ता है, जिससे वार्षिक तापान्तर अधिक नही होता। जाडो मे दिन का औसत तापमान 55° से 60° तक रहता है। रात्रि को तापमान 35° से 45° के बीच होता है। जाड़े की ऋतु अपेक्षाकृत शुष्क होती है। अत दैनिक तापान्तर जाड़ो मे अधिक रहता है। जाडो में बहुत कम रातो को तापमान हिमाक बिन्दु से नीचे जाता है। तुषार अल्प मात्रा मे बहुत कम समय गिरता है। फसलो के उगने का समय कम से कम सात महीने का होता है।

उपोष्ण-आर्द्र जलवायु के प्रतिनिधि स्थानों के तापमान और वर्षा के अक

शंघाई (चीन)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	38	39	46	56	66	73	80	80
वर्षा	2·8	2 0	3·9	4·4	3 3	6 6	7·4	4 7

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	73	63	52	42	49	42·8
वर्षा	3 9	3·7	1 7	1 3	4 58	—

सिडनी (आस्ट्रेलिया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	72	71	69	65	59	54	52	55
वर्षा	3·6	4 4	4 9	5 4	5·1	4·8	5·0	3·0

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	59	62	67	70	63	20
वर्षा	2 9	2·9	2 8	2·8	47·7	—

वर्षा—उपोष्ण-आर्द्र अक्षाशो मे यहाँ अपेक्षाकृत अधिक वर्षा होती है। वर्षा का औसत 30 से 65 इंच के बीच रहता है। वर्षा की मात्रा में स्थानीय रूप से भिन्नता पायी जाती है। महाद्वीपीय भागो की ओर वर्षा कम होती है। अधिकाश वर्षा ग्रीष्मऋतु मे होती है। वर्षा सवहनीय हवाओं द्वारा होती है। गर्मी में भीषण झंझावात आया करते है, जो स्थानीय कारणों से उत्पन्न होते है। इनसे वर्षा के साथ-साथ मेघ-गर्जन और विद्युत-प्रकाश भी होता है। उष्ण कटिबन्धीय टाईफून और हरीकेन से भी यहाँ वर्षा होती है। चीन मे मानसून हवाओं से भी वर्षा होती है। जाड़ों में वर्षा हल्की होती है। जाड़ो की वर्षा चक्रवातों के द्वारा होती है। यहाँ हिमपात बहुत

कम होता है। प्राय: हिमपात उस समय होता है, जबकि चक्रवात विषुवत रेखा की ओर खिसकता है अथवा ठण्डी ध्रुवीय हवाओ के पीछे के भाग मे आ जाता है।

ध्रुवों की ओर के मध्य अक्षाशीय भागों की अपेक्षा इन आर्द्र व उपोष्ण भागों मे मौसम का अनियमित और असामयिक परिवर्तन कम होता है। ग्रीष्म मे जबकि तूफानों की पेटी दूर ध्रुवो की ओर स्थित होती है मौसम मे परिवर्तन बहुत कम आते है। परन्तु जाडों में वाताग्रो की पेटी विषुवत रेखा की ओर होती है, इसलिए मौसम में असामयिक और अनियमित रूप से परिवर्तन अधिक होते है। बसन्त मे पुन: यह क्षेत्र चक्रवातों के प्रभाव से मुक्त रहता है, अत मौसम एक जैसा रहता है।

पश्चिमी यूरोपीय अथवा पश्चिमी तटीय समुद्री जलवायु
(Marine West Coast Climate) [Cb]

स्थिति—ये प्रदेश 45° से 60° अक्षांशों के बीच महाद्वीपो के पश्चिमी भागो मे स्थित है। ये प्रदेश समुद्रो से आने वाली पछुआ हवाओं के क्षेत्र मे पड़ते है। इसलिए इन प्रदेशों पर समुद्री प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। महाद्वीपो के उन भागो मे जहाँ भूमि समतल और मैदानी है—जैसे पश्चिमी यूरोप—इस जलवायु का प्रभाव स्थल के बहुत भीतर तक पाया जाता है। परन्तु उत्तरी अमरीका और दक्षिणी अमरीका मे रॉकीज व एण्डीज पर्वत-मालाओ के कारण इसका प्रभाव संकीर्ण तटीय भागो तक ही सीमित है।

ये प्रदेश विषुवत रेखा की ओर भूमध्यसागरीय जलवायु से मिल जाते है और ध्रुवो की ओर इनका समावेश टुण्ड्रा जलवायु मे होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध के मध्य अक्षाशो मे स्थल के कम विस्तार के कारण यह जलवायु केवल पश्चिमी तटों तक ही सीमित नही पायी जाती। यहाँ इसका विस्तार पूर्वी भाग की ओर भी देखा जात ो कि मानसून पवनों की व्यवस्था के कारण अधिक नही हो पाता।

यह जलवायु मुख्यत. पश्चिमी यूरोप मे फैली हुई पायी जाती है। उत्तरी अमरीका मे इसका विस्तार ब्रिटिश कोलम्बिया तथा अलास्का के दक्षिणी-पश्चिमी तटीय भागो मे मिलता है। दक्षिणी चिली, तस्मानिया और न्यूजीलैण्ड मे भी इसी प्रकार की जलवायु देखी जाती है।

तापमान—यद्यपि पश्चिमी यूरोपीय तुल्य प्रदेश शीत-शीतोष्ण कटिबन्ध के उच्च अक्षांशों मे स्थित है जहाँ कम तापमान रहना स्वाभाविक है किन्तु ये जलवायु प्रदेश समुद्री प्रभाव के कारण इतने अधिक ठण्डे नही होते। इसी कारण इन्हे शीत-शीतोष्ण की अपेक्षा शीतोष्ण प्रदेश मे सम्मिलित किया जाता है। यहाँ न अधिक गर्मी पड़ती है और न अधिक जाड़ा। इस विशेषता के कारण ही यह जलवायु अधिक उच्च अक्षांशों में भी सघन जनसख्या को आकर्षित कर सकी है।

यहाँ ग्रीष्मऋतु शीतल अथवा साधारण शीतल होती है। संयुक्त राज्य अमरीका में सीटल का जुलाई का औसत तापमान 64°, आयरलैण्ड में डबलिन का 60°, नार्वे में बर्जिन का 58° और फ्रांस में पेरिस का 66° रहता है। आर्द्र मौसम के कारण रात्रि को तापमान विशेष नहीं घटने पाता। जुलाई मे दैनिक न्यूनतम तापमान का औसत 55° और दैनिक उच्चतम तापमान का औसत 72° रहता है। इस प्रकार दैनिक तापान्तर भी 20° से अधिक नही रहता।

जाडे की ऋतु असाधारण रूप से मृदुल होती है। पश्चिमी यूरोप मे यह बात और भी विशेष रूप से देखी जाती है। इसका कारण उष्ण अन्ध महासागरीय प्रवाह का प्रभाव है। इस ऋतु मे समुद्र एक शक्ति का विशाल भण्डार बन जाता है। पश्चिमी यूरोप के तटीय क्षेत्र अपने

अक्षाश से प्रकट होने वाले तापमान की अपेक्षा 20° से 30° फा० तक अधिक गरम रहते है। जाड़ों का औसत तापमान 35° से 50° के बीच रहता है। समुद्र तट से दूरी बढने पर तापमान अधिक घटने लगता है। जनवरी का औसत तापमान लन्दन मे 39°, सीटल में 40°, वेलेन्शिया मे 45° और वालडिया में 46° रहता है। सीटल का दैनिक न्यूनतम तापमान का औसत 35° है इसलिए अधिकाश रातो को पाला नही गिरता। पेरिस मे तीन माह के जाड़ों मे केवल आधे समय पाला गिरता है। लन्दन मे जनवरी की अधिकाश रातों को तापमान हिमाक बिन्दु से ऊँचा रहता है। जाड़ो में मेघाच्छन्न आकाश और आर्द्र वायु-दशा के कारण दैनिक तापान्तर बहुत कम रहता है। भूमध्यसागरीय जलवायु प्रदेशो की अपेक्षा यहाँ पालारहित मौसम छोटा होता है। यहाँ प्राय: उगने का काल (growing season) 180 से 210 दिन का होता है। कहीं-कही पर पाला बहुत कठोर होता है।
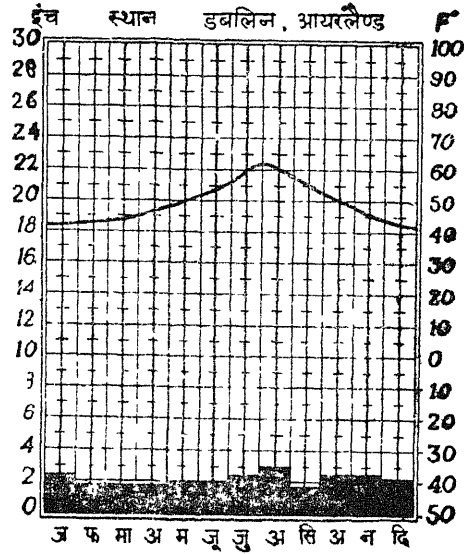
चित्र 15।

जाड़ो में यहाँ प्राय. हिमपात होता है जिससे कई स्थानों पर वनस्पति जीवन शून्यप्राय हो जाता है। कभी-कभी यहाँ कई दिनो तक तापमान हिमांक बिन्दु से नीचे बना रहता है। जब कभी ध्रुवीय स्थलीय हवाएँ महाद्वीपो के भीतरी भागो से इन क्षेत्रों की ओर चलती है तो साथ में ठण्डी हवा के झोंके भी आते है।

वर्षा—ये आर्द्र प्रदेश है। प्रत्येक ऋतु मे यहाँ पर्याप्त वर्षा होती है। वर्षा की मात्रा विभिन्न स्थानो पर वहाँ की धरातलीय दशा के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। पश्चिमी यूरोप के मैदानी भागों में वर्षा का औसत 20 से 35 इच के बीच रहता है। इसके विपरीत नॉर्वे, चिली और ब्रिटिश कोलम्बिया मे तटीय-श्रेणियो के कारण वर्षा की मात्रा 100 से 150 इच तक पहुँच जाती है। किन्तु मैदानी भागों में वर्षा विस्तृत भू-भाग पर प्राप्त होती है, जबकि पर्वतों से घिरे तटीय भागो मे वर्षा केवल तटीय क्षेत्र में ही विशेष रूप से होती है।

पश्चिमी तटीय समुद्री जलवायु के प्रतिनिधि स्थानों के जलवायु अंक

वेलेन्शिया (आयरलैण्ड)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	44	44	45	48	52	57	59	59
वर्षा	5·5	5·2	4·5	3·7	3·2	3·2	3·8	4 8

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	57	52	48	45	50·8	15
वर्षा	4·1	5·6	5·5	6·6	55·6	—

सीटल (संयुक्त राज्य अमरीका)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	40	42	45	50	55	60	64	64
वर्षा	4 9	3 8	3·1	2·4	1·8	1 3	0·6	0·7

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	59	52	46	42	51·4	24
वर्षा	1·7	2·8	4·8	5·5	33·4	—

पेरिस (फ्रांस)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	37	39	43	51	56	62	66	64
वर्षा	1·5	1·2	1·6	1·7	2·1	2·3	2·2	2·2

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	59	51	43	37	50·5	29
वर्षा	2·0	2·3	1·8	1·7	22·6	—

वर्षा सभी ऋतुओं मे पर्याप्त होती है, इसलिए यहाँ वनस्पति को कभी भी शुष्कता का सामना नहीं करना पड़ता। कुछ समुद्रों के निकटवर्ती स्थानो मे ग्रीष्म की अपेक्षा जाड़ो मे अधिक वर्षा होती है। जाड़ो मे वर्षा अधिक होने पर भी हिम बहुत ही कम पडता है। सामान्यतः इन प्रदेशो मे वर्षा की मात्रा पश्चिम से पूर्व की ओर घटती जाती है।

इन प्रदेशो मे अधिकाश वर्षा चक्रवातो अथवा वायु वाताग्रों द्वारा होती है। जाडो मे चक्रवात अधिक चला करते है। इसलिए जाडों मे बदली व वर्षा का मौसम सबसे अधिक रहता है। जाड़ों की वर्षा बूँदाबाँदी के रूप मे काफी समय तक होती है। ग्रीष्म की वर्षा अपेक्षाकृत कम दिनों और तेज बौछार के रूप मे होती है। उदाहरणत., लन्दन में जुलाई के 13 दिनो मे 2 4 इंच वर्षा होती है, जबकि जनवरी के 15 दिनों में 1·9 इच वर्षा ही होती है। यहाँ ग्रीष्मऋतु अधिक चमकीली होती है। झझावात बहुत कम आते है। यहाँ की जलवायु की सबसे बडी विशेषता बदली है। इसलिए इस जलवायु का स्थान ससार की सर्वाधिक बदली वाली जलवायु मे है।

शीतल आर्द्र जलवायु वाले भाग
(The Humid Microthermal Climates) [D]

स्थिति—ठण्डी जाड़े की ऋतु, पाले का लम्बा मौसम, कठोर बर्फ और वार्षिक तापान्तर की अधिकता उष्ण आर्द्र जलवायु वाले भागों को शीतल आर्द्र जलवायु वाले भागों से अलग करती है। जलवायु की यह विषमता महाद्वीपों पर उसकी स्थिति और अक्षाश दोनो कारणों से होती है। शीतल आर्द्र जलवायु वाले प्रदेश उपोष्ण जलवायु क्षेत्रों से ध्रुवो की ओर महाद्वीपों के भीतर पवन विमुख भागो मे स्थित पाये जाते है। चूँकि ये जलवायु प्रदेश स्थल द्वारा नियन्त्रित रहते है अतः यहाँ की जलवायु मूलतः महाद्वीपीय प्रकार की होती है। इस प्रकार की जलवायु पर स्थल का प्रभाव अधिक रहता है इसलिए ये प्रदेश केवल उत्तरी गोलार्द्ध में यूरेशिया और उत्तरी अमरीका मे ही पाये जाते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध मे ऊँचे मध्य अक्षाशो मे स्थल का विस्तार बहुत कम है, इस कारण वहाँ इनका अभाव पाया जाता है। शीतल आर्द्र जलवायु वाले प्रदेश महाद्वीपों के पश्चिमी भागो को छोडकर उनके मध्यवर्ती भागो से लेकर पूर्वी तटीय क्षेत्रो तक विस्तृत होते है। उष्ण आर्द्र जलवायु वाले भागो के विपरीत शीतल आर्द्र जलवायु वाले भाग एक-दूसरे से

केवल तापमान मे ही बहुत कम अंशों मे भिन्न होते है। अतः यहाँ पहले उनका **संयुक्त रूप से** विश्लेषण दिया जा रहा है।

तापमान—इस जलवायु प्रदेश का बहुत अधिक अक्षाशो में विस्तार है इसलिए यहाँ तापमान मे बड़ा विभेद मिलता है। किसी अक्षांश पर यहाँ जलवायु अपेक्षाकृत कठोर पायी जाती है जिनसे वार्षिक तापान्तर बहुत अधिक रहते है। ग्रीष्म और शीत दोनो ऋतुओ मे से यहाँ जाड़े की ऋतु अधिक ठण्डी और भयानक होती है। चूँकि इन प्रदेशो मे भूमि अधिकांश समय हिम से ढकी हुई रहती है इसलिए तापमान पर उसका गहरा प्रभाव होता है।

वर्षा—यहाँ वर्षा ग्रीष्म एवं शीत दोनो ऋतुओ मे होती है परन्तु अधिकाश वर्षा ग्रीष्मऋतु मे ही होती हे। शीतऋतु में भूमि बर्फ मे ढकी रहती है। बर्फ की ठण्डी सतह से वायु-राशियो मे स्थिरता उत्पन्न होती है जिससे वर्षा नही हो पाती। ग्रीष्मऋतु में भूमि के गरम होने से सवहन क्रिया बहुत तीव्र होती है जिसमे वहाँ चलने वाली वायु-राशियाँ अस्थिर हो उठती है। इस ऋतु में चक्रवात भी चला करते है जो स्थल के भीतर काफी दूरी तक पहुँच जाते है। ऋतुवत तापमान मे अत्यधिक भिन्नता से मानसून हवाओ की उत्पत्ति होती है जिससे ग्रीष्म मे उष्ण समुद्री वायु-राशियाँ स्थल की ओर चलती है और खूब वर्षा करती है। जाड़ों मे इसके विपरीत शुष्क और ठण्डी ध्रुवीय महाद्वीपीय वायु-राशियाँ स्थल से चलती है जो कोई वर्षा नही करती। पश्चिमी तटो की ओर तापमान मे अधिक भिन्नता नही होती जिससे वहाँ हवाओ का ऋतुवत परिवर्तन नही होता।

शीतल और कठोर जलवायु मे यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि अधिकाश वर्षा गरम उगने वाले मौसम मे होती है। ठण्डी जलवायु मे जहाँ पालारहित मौसम छोटा होता है और जाड़े की ऋतु पौधो के उगने के लिए बिलकुल अनुपयुक्त होती है तथा वर्षा की कुल मात्रा थोड़ी होती है, यह बहुत ही आवश्यक है कि पर्याप्त वर्षा और पर्याप्त गर्मी का समय एक ही हो।

शीतल आर्द्र जलवायु के अन्तर्गत दो प्रकार की जलवायु सम्मिलित की गयी है: (1) आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु, और (2) उपध्रुवीय जलवायु। आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु विषुवतरेखीय भागो की ओर मिलती है और कृषि के लिए अधिक महत्वपूर्ण होती है। उपध्रुवीय जलवायु कृषि के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण नही होती।

गरम ग्रीष्मऋतु वाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु
(Humid Continental Climate with Warm Summer) [Da]

स्थिति—गरम ग्रीष्मऋतु वाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु को कभी-कभी **मक्का की पेटी की जलवायु** (Corn Belt Climate) भी कहा जाता है, क्योंकि संसार की अधिकांश मक्का की व्यापारिक फसल इसी जलवायु मे पैदा होती है। कभी-कभी इस जलवायु को **ओक-हिकोरी जलवायु** (Oak-hickory Climate) भी कह देते है, क्योंकि यह जलवायु प्रदेश कठोर लकड़ी के वनो के प्रदेश से मिलता है।

यह जलवायु आर्द्र महाद्वीपीय का दक्षिणी भाग है। दक्षिण की ओर स्थित होने से ही यहाँ ग्रीष्मऋतु गरम रहती है। अपनी अक्षाशीय स्थिति के कारण यह जलवायु बहुत कम कठोर होती है और शीतल आर्द्र जलवायु वाले भागो मे यह सबसे अधिक उत्पादक होती है।

इस जलवायु के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमरीका की मक्का की पेटी (जिसमे कन्सास, निब्रास्का, आइवा, मिसौरी, इलीनियोस, दक्षिणी विस्कनसिन, मिशीगन, इण्डियाना, ओहियो, पेन्सिलवेनिया, दक्षिणी न्यूयार्क और इंगलैण्ड से मरीलैण्ड तक के राज्य सम्मिलित है); यूरोप मे डेन्यूब बेसिन, बाल्कन राज्य और इटली मे पो घाटी; एशिया मे उत्तरी चीन, मध्य और दक्षिणी मंचूरिया, कोरिया तथा जापान का मुख्य द्वीप सम्मिलित है।

तापमान—यहाँ ग्रीष्मऋतु काफी लम्बी और गरम होती है। अमरीका की मक्का की पेटी मे जुलाई का औसत तापमान 75° और 77° के आसपास रहता है। ग्रीष्मऋतु न केवल गरम ही होती है, साथ ही आर्द्र भी होती है। इस कारण ग्रीष्म के महीने बड़े ही उमस वाले और कष्टदायक होते है। मक्का की पेटी के मध्य उरबाना (Urbana) का जुलाई का औसत तापमान 76° होता है। यहाँ अधिकतम औसत दैनिक तापमान 86° और उच्चतम तापमान 108° होता है। इसी जलवायु के अन्तर्गत यूरोप में जुलाई का औसत तापमान इतना ऊँचा नहीं रहता। यहाँ सामान्यत तापमान 75° से नीचे रहता है।

चित्र 152
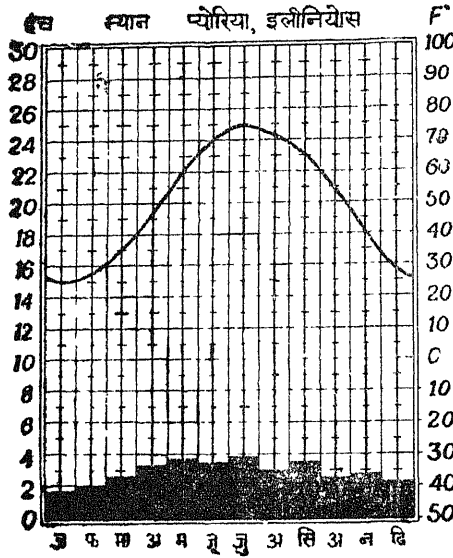
जाड़े की ऋतु अपेक्षाकृत ठण्डी होती है। जाडों की ऋतु में बीच-बीच मे वर्षा भी हो जाती है। उरबाना में ज.वरी का औसत तापमान 27° रहता है। यहाँ न्यूनतम दैनिक तापमान का औसत 18° रहता है। जनवरी मास का औसत तापमान सेण्ट लुइस मे 32°, बुखारेस्ट मे 27° और पीपिग मे 24° रहता है। जाड़े के तापमान मे मासिक औसत तापमान का विशेष मूल्य नहीं है, क्योंकि इनके दोनों ओर तापमान की विपरीत अवस्थाएँ पायी जाती है। उत्तर मे ध्रुवीय और दक्षिण मे उष्ण वायु-राशियों के कारण यहाँ तापमान में बड़ा भारी विभेद उत्पन्न हो सकता है।

गरम ग्रीष्मऋतु वाली शीतल आर्द्र जलवायु प्रदेश के जलवायु अंक

पोरिया

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	24	28	40	51	62	71	75	73
वर्षा	1·8	2 0	2 7	3·3	3·9	3·8	3·8	3·2

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	65	53	39	28	51	52
वर्षा	3·8	2·4	2·4	2·0	34·9	—

बुखारेस्ट

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	26	29	40	52	61	68	73	71
वर्षा	1·2	1·1	1 7	2 0	2 5	3 3	2 8	1 9

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	64	54	41	30	51	48
वर्षा	1·5	1 5	1 9	1 7	23 0	—

वर्षा—इन प्रदेशो मे वर्षा की मात्रा कम रहती है। उत्तरी चीन के मैदान, डेन्यूब के निम्न प्रदेश तथा सयुक्त राज्य अमरीका मे मक्का की पेटी का पश्चिमी भाग सब उप-आर्द्र क्षेत्र है।

इसलिए यहाँ प्राकृतिक वनस्पति के रूप मे केवल घास ही होती है। इस जलवायु प्रदेश में केवल उत्तरी जापान, कोरिया और संयुक्त राज्य अमरीका का मध्यवर्ती और पूर्वी भाग ही ऐसा है जहाँ 30 इंच से अधिक वर्षा होती है। इस प्रदेश मे वर्षा की अधिकाश मात्रा ग्रीष्मऋतु मे प्राप्त होती है। अधिकतर वर्षा संवहनीय होती है। उष्ण ग्रीष्मऋतु मे सूर्य की प्रखर किरणों और गर्मी के साथ-साथ प्रचुर वर्षा होती है जो मक्का की फसल के लिए आदर्श होती है। यहाँ झंझावात भी खूब आते है। मक्का की पेटी मे वर्ष में 40 से 60 तक झझावात आते है।

जाड़ों मे वर्षा की मात्रा प्राय ग्रीष्मऋतु से कम रहती है। केवल जापान, कोरिया, मध्य यूरोप के कुछ भागो और पूर्वी तथा मध्य सयुक्त राज्य अमरीका ही जाडों मे आर्द्र कहे जा सकते है। जाडों की कुछ वर्षा हिम के रूप मे गिरती है। मक्का की पेटी मे वर्ष मे 20 से 40 दिन हिम गिरती है जिसकी मात्रा 10 से 40 इच तक होती है।

शीतल ग्रीष्मऋतु वाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु
(Humid Continental Climate with Cool Summers) [Db]

स्थिति—यह जलवायु आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु की उष्ण ग्रीष्मऋतु के प्रकार की उत्तर की ओर उपध्रुवीय जलवायु से लगी हुई है। कभी-कभी इसको बसन्तकालीन गेहूँ की पेटी की जलवायु भी कहते है। इस जलवायु का विस्तार उत्तरी अमरीका मे 100° पूर्वी देशान्तर के पूर्व की ओर सयुक्त राज्य अमरीका के उत्तरी राज्यो एवं कनाडा के दक्षिणी राज्यो मे मिलता है। यूरेशिया में इसके अन्तर्गत 50° से 60° अक्षांशो के बीच पूर्वी जर्मनी, पोलैण्ड व रूस के मध्यवर्ती मैदान का अधिकांश भाग आता है। यूराल से आगे इसका विस्तार साइबेरिया मे 55° अक्षाश के समीप एक सकीर्ण पट्टी के रूप मे पाया जाता है। उत्तरी-पूर्वी एशिया मे उत्तरी मचूरिया, दक्षिणी-पूर्वी साइबेरिया और जापान का होकेडो द्वीप सम्मिलित है।

तापमान—ये प्रदेश अधिक ऊँचे अक्षांशो में स्थित होने के कारण बहुत ठण्डे रहते है। यहाँ ग्रीष्मऋतु छोटी होती है। जुलाई का औसत तापमान 70° के आसपास रहता है। तापमान का यह औसत सेण्टपाल में 72°, मोण्ट्रियल मे 69° और मास्को में 66° रहता है। सेण्टपाल और विनीपेग मे ग्रीष्मकाल 5 महीने का ही होता है। पाला काफी जल्दी प्रारम्भ हो जाता है और बहुत समय तक रहता है। इसलिए उगने वाला काल यहाँ केवल 3 से 5 महीने का ही होता है। छोटी और शीतल ग्रीष्मऋतु की पूर्ति यहाँ लम्बे दिनो से हो जाती है। ग्रीष्म-ऋतु मे दैनिक उच्चतम तापमान 90° से ऊपर नही जाता।

चित्र 153

शीतऋतु यहाँ की प्रमुख ऋतु है। जाड़ो मे जनवरी का औसत तापमान बरनोल में —2°, हार्बिन में —2°, मोण्ट्रियल मे 13° और वार्सा मे 26° रहता है। किन्तु यहाँ वर्ष-प्रतिवर्ष जाड़े की ऋतु मे बड़ा विभेद देखा जाता है। चक्रवातों एव प्रति-चक्रवातो के प्रभाव के कारण यहाँ तापमान मे अचानक परिवर्तन होते रहते है। कभी-कभी 24 घण्टों मे 40° का
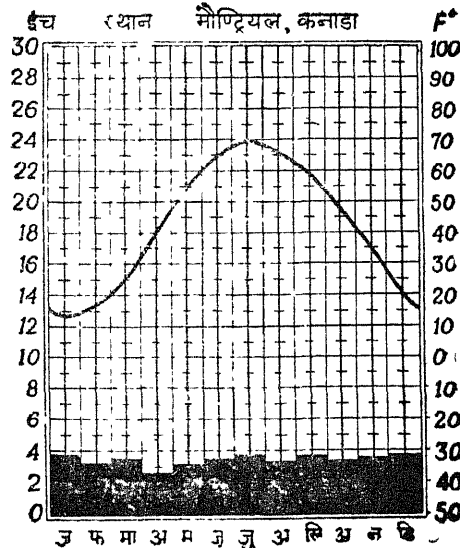
अन्तर हो जाता है। यहाँ तापमान मे यह अन्तर ध्रुवीय एव उष्ण कटिबन्धीय वायु-राशियो के अग्रसर होने तथा पीछे हटने से सम्बन्धित है।

शीतल ग्रीष्मऋतु वाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु के प्रतिनिधि स्थानो के जलवायु अंक

मोण्ट्रियल (कनाडा)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	13	15	25	41	55	65	69	67
वर्षा	3 7	3 2	3 7	2 4	3 1	3·5	3 8	3·4

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	59	47	33	19	42	56
वर्षा	3·5	3 3	3 4	3·7	41	—

हारबिन (मंचूरिया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	—2	5	24	42	56	66	72	69
वर्षा	0·1	0 2	0·4	0 9	1·7	3·8	4·5	4·1

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	58	40	21	3	38	74
वर्षा	1·8	1 3	0 3	0 2	19 3	—

वर्षा—इस जलवायु के सम्बन्ध मे वर्षा की कोई निश्चित मात्रा बताना कठिन है। उत्तरी अमरीका के भीतरी भाग, साइबेरिया और मचूरिया मे साधारणत· 20 से 30 इंच वर्षा होती है। पूर्वी कनाडा, पूर्वी सयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप के शीतल ग्रीष्मऋतु वाले प्रदेश के पश्चिमी भाग अधिक आर्द्र रहते है। ऊपर बताये गये कम आर्द्र भागो मे जाड़े की ऋतु शुष्क नही होती। कनाडा और सयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी भागों मे जाड़ो मे उतनी ही वर्षा होती है जितनी ग्रीष्मऋतु में होती है।

जाड़ो मे तापमान की कमी के कारण वर्षा हिमपात के रूप मे होती है। उत्तरी मिनीसोटा मे 60 से 80 दिन हिमवर्षा होती है। वर्षा की मात्रा 40 से 60 इच तक होती है। इस जलवायु के भीतरी शुष्क भागों मे हिम की मात्रा कम रहती है, परन्तु कम तापमान होने से भूमि काफी लम्बे समय तक बर्फ से ढकी रहती है।

टैगा अथवा उपध्रुवीय जलवायु
(Taiga or Sub-arctic Climates) [Dc, Dd]

स्थिति—शीतल आर्द्र जलवायु वाले भागों में यह जलवायु सबसे विषम है। यहाँ वार्षिक तापान्तर सर्वाधिक रहते है। यह जलवायु स्टेप प्रदेशों के उत्तर मे 50° से 70° अक्षांशों के बीच पायी जाती है। इसकी उत्तरी सीमा जुलाई की 50° समताप रेखा बनाती है। यह समताप रेखा ध्रुवो की ओर वृक्षो के उगने की अन्तिम सीमा है। इस प्रकार ध्रुवो की ओर ये प्रदेश टुण्ड्रा के साथ मिल जाते है।

इस जलवायु प्रदेश का विस्तार केवल उत्तरी गोलार्द्ध मे ही है। दक्षिणी गोलार्द्ध मे इन अक्षांशों मे स्थल भाग नही है, अत वहाँ इनका पूर्ण अभाव है। उत्तरी गोलार्द्ध मे इसका विस्तार उत्तरी अमरीका तथा यूरेशिया मे एक लम्बी सँकरी पट्टी के रूप मे देखा जाता है। यूरेशिया मे

इसका विस्तार सर्वाधिक है। यहाँ ये प्रदेश स्वीडन और फिनलैंड से लेकर समस्त महाद्वीप से साइबेरिया के पूर्वी तट है। इस प्रदेश की मुख्य विशेषता कोणधारी वन हैं जिनको यूरेशिया में 'टैगा' कहा जाता है।

तापमान—इस जलवायु की मुख्य विशेषता लम्बी कठोर जाड़ों की ऋतु, बहुत छोटी ग्रीष्मऋतु और छोटी बसन्त और पतझड़ की ऋतुएँ है। चूँकि 50° समताप रेखा इसकी उत्तरी सीमा को निश्चित करती है अत यहां कम से कम एक महीने का औसत तापमान 50° या इससे अधिक अवश्य होना चाहिए। लगभग 62° उत्तरी अक्षांश के समीप साइबेरिया में याकूटस्क का जुलाई का औसत तापमान 66° रहता है जो कि उसी महीने के लन्दन अथवा बर्लिन के तापमान से अधिक होता है। याकूटस्क मे जुलाई का दैनिक उच्चतम तापमान साधारणतः 80° और कभी-कभी 90° तक पहुँच जाता है। यहाँ जून और अगस्त का औसत तापमान क्रमशः 59° और 59·5° रहता है। इस प्रकार याकूटस्क में तीन महीने तापमान 50° से ऊपर रहता है। यहाँ जुलाई का उच्चतम दैनिक औसत 74° और न्यूनतम दैनिक औसत 46° रहता है। इन प्रदेशो मे ग्रीष्म का औसत तापमान 50° से 60° के बीच रहता है। यहाँ ग्रीष्मकालीन दिन सुहाने गरम होते है, यदाकदा काफी गरम भी हो जाते है।

इन प्रदेशो में यद्यपि ग्रीष्मऋतु छोटी और अधिक गरम नहीं होती अपितु यहां दिन काफी बड़े होते है। इस प्रकार सूर्य की प्रखरता और गर्मी के अभाव में दिन की अधिक लम्बाई उसकी कुछ अशो मे पूर्ति कर देती है। 55° अक्षांश पर जून मे दिन 17 घण्टे, 60° अक्षांश पर लगभग 19 घण्टे और 65° अक्षांश पर लगभग 22 घण्टे लम्बे होते है। ग्रीष्म मे दिन की अपेक्षा रात्रि छोटी होती है, परन्तु ग्रीष्मऋतु की अवधि छोटी होने से यहाँ उगने वाला काल (growing season) बहुत ही छोटा होता है। कनाडा की मेकेन्जी घाटी मे उगने का काल 50 से 75 दिन लम्बा होता है। उगने वाले काल की छोटी अवधि और शीतलता उपध्रुवीय प्रदेशों में कृषि के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। इसके अतिरिक्त ये प्रदेश वर्ष मे बहुत ही कम महीने पाले से मुक्त रहते है।

टैगा अथवा उपध्रुवीय जलवायु के प्रतिनिधि स्थानों के जलवायु अंक

मूजफैक्ट्री (कनाडा)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	—4	—2	10	28	42	54	61	59
वर्षा	1·3	0·9	1·1	1·0	1 8	2·2	2 4	3·3

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	51	39	22	5	30	66
वर्षा	2 9	1·8	1·1	1·1	21 0	—

याकूटस्क (साइबेरिया)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	—46	—35	—10	16	41	59	66	60
वर्षा	0 9	0·2	0 4	0·6	1·1	2·1	1·7	2 6

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	42	16	—21	—41	21	112
वर्षा	1·2	1·4	0·6	0·9	13·7	—

जाड़े की ऋतु काफी लम्बी और भयानक रूप से ठण्डी होती है। साइबेरिया मे बर्खोयान्स्क का जनवरी का औसत तापमान हिमांक में भी 59° नीचे रहता है। याकूटस्क मे जनवरी का औसत —46° होता है। इस प्रकार याकूटस्क का वार्षिक तापान्तर 112° रहता है। यहाँ सात महीने तक तापमान हिमांक से भी नीचे रहते हैं और पाँच महीने तक तापमान शून्य से कम रहते है।

चित्र 154
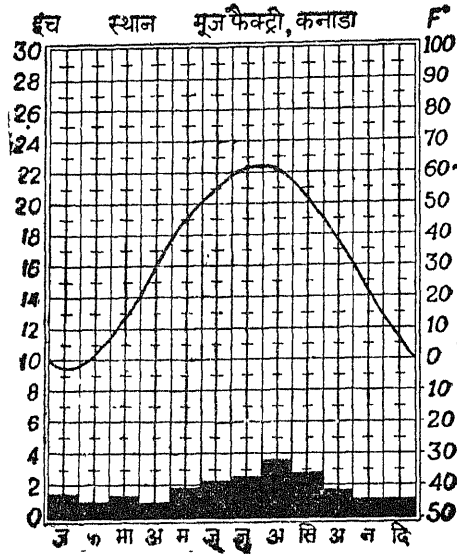
जाड़े की ऋतु साइबेरिया मे भयानक रूप से ठण्डी होती है। यहाँ प्रत्येक वस्तु जमकर कठोर हो जाती है। कनाडा में अपेक्षाकृत कम ठण्ड पड़ती है। बहुत लम्बी और ठण्डी जाडे की ऋतु के कारण इन प्रदेशों के अधिकाश भाग स्थायी रूप से जमे रहते है। जाड़े मे राते बहुत लम्बी होती है। 21 दिसम्बर को 60° उत्तरी अक्षाश मे केवल 5 7 घण्टे को सूर्य चमकता है और 65° अक्षांश पर सूर्य की किरणे केवल 3·3 घण्टे को ही प्राप्त होती है। ये लम्बे अन्धकारमय दिन न केवल कष्टदायक ही होते है वरन् जाड़ो मे कम तापमान होने का बहुत कुछ कारण भी ये ही होते है। बसन्त के समान पतझड़ ऋतु भी यहाँ नगण्य-सी होती है।

वर्षा—टैगा प्रदेशो मे वर्षा प्राय: बहुत कम होती है। साइबेरिया के अधिकाश भागो मे वर्षा 15 इंच से भी कम होती है। कनाडा के अधिकाश भागों का औसत 20 इच से कम रहता है। उत्तरी अमरीका और यूरेशिया दोनों महाद्वीपो के समुद्रतटीय क्षेत्रों मे वर्षा 20 इच से अधिक होती है। मध्य अक्षांशो के अधिकाश जलवायु प्रदेशो मे वर्षा की यह मात्रा अर्द्ध-शुष्क जलवायु की सूचक होगी परन्तु जहाँ तापमान इतने कम रहते हों, वाष्पीकरण की गति मन्द हो और भूमि साल के अधिकाश भाग मे बर्फ से जमी रहती हो, वर्षा की यह मात्रा वनो के उगने के लिए पर्याप्त होती है।

यहाँ वर्षा की अधिकांश मात्रा गर्मियो मे प्राप्त होती है। याकूटस्क में कुल वर्षा 13·7 इंच होती है। यहाँ अगस्त सबसे आर्द्र महीना होता है और फरवरी सबसे शुष्क। अगस्त मे वर्षा का औसत 2·6 इच और फरवरी मे 0·2 इंच रहता है। पूर्वी मध्य साइबेरिया मे जाड़े के तीन महीनों में केवल 10 प्रतिशत और ग्रीष्म के तीन महीनों मे केवल 58 प्रतिशत वर्षा प्राप्त होती है। यहाँ जाड़ों में हिमवर्षा के अतिरिक्त और कोई वर्षा नही होती। मैदानी भागों मे जाड़ों में चक्रवातो से कुछ वर्षा हो जाती है। यहाँ वर्षा शुष्क व कठोर बर्फ के रूप में होती है। ग्रीष्मऋतु मे होने वाली वर्षा अधिकाशतः वाताग्रों (fronts) से सम्बन्धित होती है। इस प्रदेश में झंझावात कम आते है।

ध्रुवीय जलवायु
(Polar Climates) [E]

स्थिति—सामान्यत. ध्रुवीय जलवायु ऊँचे अक्षाशो तक सीमित पायी जाती है। लगभग इसी प्रकार की अवस्थाएँ विभिन्न अक्षाशो मे बहुत अधिक ऊँचाई पर भी पायी जाती है। ये

मे बर्फ पिघलने लगती है। टुण्ड्रा मे स्थित पोण्ड्स इनलेट (Ponds Inlet) नामक स्थान पर जुलाई का औसत तापमान 42° रहता है। दिन का अधिकतम तापमान 49° और रात्रि को न्यूनतम तापमान 36° तक हो जाता है। ग्रीष्म मे दैनिक तापान्तर कम रहता है। जुलाई के अतिरिक्त वर्ष भर यहाँ पाले की घटना होती रहती है।

टुण्ड्रा प्रदेश में यद्यपि ग्रीष्म के तापमान सब जगह एक जैसे रहते है परन्तु जाड़ो के तापमान मे बडा अन्तर पाया जाता है। जैसे साइबेरिया के उत्तरी तट पर जनवरी व फरवरी के तापमान —35° से —40° के आसपास रहते है जबकि उत्तरी अमरीका में कनाडा के पोण्ड्स इनलेट मे जनवरी का औसत —28° और लेब्रेडोर तट पर जनवरी का औसत —४° तक देखा जाता है।

टुण्ड्रा जलवायु के प्रतिनिधि स्थान के तापमान और वर्षा के अंक

उपरनिविक (पश्चिमी ग्रीनलैण्ड)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	—7	—10	—6	6	25	35	41	41
वर्षा	0 4	0·4	0·6	0 6	0·6	0·6	1·0	1 1

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	33	25	14	1	16	61
वर्षा	1·0	1 1	1·1	0·5	9·2	—

वर्षा—टुण्ड्रा के अधिकाश भागो मे वर्षा 10 इच से 12 इच तक होती है। कनाडा के पूर्वी भाग और लेब्रेडोर प्रायद्वीप मे वर्षा कुछ अधिक होती है। अधिकाश वर्षा ग्रीष्म तथा पतझड़ ऋतु में होती है। उन समुद्री भागों मे जहाँ चक्रवात अधिक आया करते है, ग्रीष्म की अपेक्षा जाड़ो में अधिक वर्षा होती है। यहाँ वर्षा मुख्यत चक्रवाती होती है। इसका अधिकांश भाग ग्रीष्म मे वर्षा के रूप मे तथा जाडो मे शुष्क हिमकणों के रूप मे होती है। यहाँ टैगा के समान हवा के प्रभाव को कम करने और बर्फ को बनाये रखने के लिए वन नही पाये जाते। अतः यहाँ की 75 से 90 प्रतिशत भूमि सभी ऋतुओं मे हिम रहित रहती है।

ध्रुवीय हिमाच्छादित जलवायु (Ice-cap Ciimates) [EF]

स्थिति—ध्रुवीय हिमाच्छादित जलवायु उत्तरी ध्रुव के समीप जमे हुए समुद्री भाग एव ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्कटिका के हिममण्डित भागों मे पायी जाती है।

तापमान—ये प्रदेश संसार के सबसे ठण्डे स्थान है। यहाँ साल भर बहुत नीचा तापमान रहता है। तापमान सदैव हिमांक बिन्दु से नीचा रहता है। ग्रीनलैण्ड के भीतरी भागो का वार्षिक औसत तापमान —26°, दक्षिणी ध्रुव का —22° और उत्तरी ध्रुव का —9° रहता है। दक्षिणी ध्रुव का ग्रीष्म का औसत तापमान —9° (दिसम्बर में) और —19° (जनवरी मे) रहता है। अण्टार्कटिका महाद्वीप पर ग्रीष्म का —58° तापमान नापा गया है।

जाड़े की ऋतु मे जबकि सूर्य बराबर क्षितिज के नीचे रहता है, तापमान बहुत ही नीचे चले जाते है। जाड़े की ऋतु भयानक रूप से ठण्डी होती है।

ध्रुवीय हिमाच्छादित जलवायु के प्रतिनिधि स्थान का तापमान और वर्षा

लिटल अमरीका (अण्टार्कटिका)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	22	(9)	(—7)	—24	—27	—29	—34	—34

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	—29	—14	9	24	—11·3	58
वर्षा	आँकडे अप्राप्त					

वर्षा—इन भागो मे वर्षा बिल्कुल नही होती । जो कुछ वर्षा यहाँ होती है वह हिम के रूप मे होती है । इस प्रदेश मे प्रति-चक्रवात अधिक चला करते है । यद्यपि यहाँ हिम के निक्षेप की गति बहुत धीमी होती है परन्तु चूँकि यह निरन्तर होती रहती है, इसलिए हिम की कुल मात्रा बहुत अधिक हो जाती है ।

उच्च प्रदेश की जलवायु (Highland Climates) [H]

जल और स्थल के वितरण के बाद समुद्र-तल से ऊँचाई ही जलवायु को प्रभावित करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है । समान अक्षाशो मे स्थित विभिन्न भागों की जलवायु मे ऊँचाई के कारण बडा अन्तर पड़ जाता है । जलवायु पर पर्वतों और पठारो जैसे ऊँचे भू-भागो का दो प्रकार से प्रभाव होता है—(1) ऊँचाई, और (2) सूर्य तथा पवन सापेक्ष स्थिति । वस्तुत सवाना अथवा भूमध्यसागरीय जलवायु के समान उच्च प्रदेशीय जैसी कोई अलग से जलवायु नही है । अलग-अलग पर्वतों और पठारो पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की जलवायु देखी जा सकती है ।

तापमान—ऊँचे पर्वतो एवं पठारी भागो पर वायु के स्वच्छ, शुष्क और पतली होने से सूर्य का प्रकाश बड़ा तीव्र होता है । अतः उच्च भागों मे सूर्याभिताप न केवल अधिक ही प्राप्त होता है, अपितु वहाँ परा-बैंगनी एव बैंगनी किरणों का प्रभाव भी अधिक रहता है । सूक्ष्म लहरो के रूप मे प्राप्त होने वाले (परा-बैगनी एवं बैगनी किरणो के द्वारा) इस सूर्याभिताप का चिकित्सा सम्बन्धी बड़ा मूल्य है । ऊँचे भागो मे कई जगह आरोग्य आश्रम (Sanatoriums) स्थापित करने के पीछे परा-बैंगनी किरणों का चिकित्सा गुण ही सबसे बडा कारण है ।

ऊँचाई का सबसे बड़ा प्रभाव तापमान पर होता है । प्रति 1000 फुट की ऊँचाई पर 3·3° फा० तापमान गिर जाता है । समुद्र-तल से 9350 फुट की ऊँचाई पर स्थित क्वीटो नगर का वार्षिक औसत तापमान 55° रहता है जो समीपवर्ती अमेजन बेसिन के भागों मे 25° नीचा होता है । ऊँचे भागों में निम्न रहने के कारण यह कहावत प्रसिद्ध हो गयी है कि उष्ण कटिबन्धीय पर्वतो पर सदैव बसन्त ऋतु छायी रहती है ।

उष्ण कटिबन्धीय भागो मे यद्यपि पर्वतों पर तापमान समीपीय मैदानो से कम रहता है परन्तु दोनो जगह मासिक एव दैनिक तापमान लगभग समान रहते है । यहां मैदानो और पर्वतो पर मौसमी तापान्तर बहुत कम रहता है । उदाहरणत क्वीटो का मौसमी तापान्तर 0 7° रहता है जो कि उन्ही अक्षांशो में स्थित अमेजन बेसिन से भी कम होता है । उष्ण कटिबन्ध मे पर्वत और पठार मैदानो की अपेक्षा तापमान की न्यूनता के कारण मानव आवास की दृष्टि से अधिक अनुकूल समझे जाते हे परन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध मे उनकी यही विशेषता प्रतिकूल सिद्ध होती है ।

ऊँचे पर्वतीय भागों मे समीपवर्ती निम्न प्रदेशों की अपेक्षा भारी वर्षा होती है । इसलिए वर्षा के मानचित्रों पर पर्वत भारी वर्षा के 'द्वीपो' के समान प्रतीत होते है । किन्तु वर्षा की मात्रा 6000 फुट की ऊँचाई के पश्चात घटने लगती है । उदाहरणार्थ, लेह मे केवल 2 इच वर्षा होती है । हिम-रेखा के ऊपर का क्षेत्र सामान्यतः हिमयुक्त रहता है ।

उच्च प्रदेशीय जलवायु के प्रतिनिधि स्थान का तापान्तर व वर्षा

क्वीटो (इक्वेडोर)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	54·5	55·0	54·5	54·5	54·7	55·0	54 9	54·9
वर्षा	3·2	3·9	4·8	7·0	4·6	1 5	1·1	2·2

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	55·0	54·7	54·3	54·7	54 7	0·7
वर्षा	2·6	3 9	4·0	3 6	42·3	—

लोंग्सपीक (कोलोरेडो) (मध्य अक्षांश)

	जन०	फर०	मार्च	अप्रैल	मई	जून	जुलाई	अगस्त
तापमान	23	22	26	33	41	51	55	55
वर्षा	0·7	1 2	2 0	2·7	2·4	1 6	3·6	2·2

	सित०	अक्टू०	नव०	दिस०	वार्षिक	तापान्तर
तापमान	48	39	31	24	37	33
वर्षा	1·7	1 7	0 9	0 9	21 6	—

हवाएँ—खुले पर्वतीय ढालो पर प्राय· हवा बडी तीव्र होती है। पर्वतीय घाटियाँ तीव्र हवाओं से सुरक्षित रहती है। विभिन्न प्रकार की स्थलाकृतियो के कारण ऐसे उच्च भागों मे कई प्रकार की स्थानीय हवाएँ पायी जाती है; जैसे चिनूक, फोहन, मिस्ट्रल व बोरा आदि। इन हवाओं का समीपवर्ती मैदानो की जलवायु पर बड़ा प्रभाव पडता है।

16

जलवायु और मौसम

(CLIMATE AND WEATHER)

किसी भी स्थान और समय की वायु दशा मुख्यत वहाँ के तापमान, वायुदाब, आर्द्रता, वर्षा व हवाओं द्वारा प्रकट की जाती है। ये सब जलवायु और मौसम के तत्त्व (elements) कहलाते है, क्योंकि इनके आधार पर ही विभिन्न प्रकार के मौसम और जलवायु बनती है।

मौसम

वायु परिवर्तनशील और अस्थिर (unstable) होती है। सूर्य और पृथ्वी इसको कई प्रकार से प्रभावित करते है। अतः वायु की भौतिक अवस्थाएँ और पृथ्वी पर उसका वितरण निरन्तर बदलता रहता है। **फिन्च** एवं **ट्रिवार्था** के अनुसार थोड़े समय के लिए किसी स्थान की वायुमण्डलीय अवस्थाओं—तापमान, वायुदाब, आर्द्रता और हवाओं—का कुल योग ही वहाँ का मौसम होता है। दूसरे शब्दो में, वायु की प्रतिक्षण बदलने वाली भौतिक दशाओं को ही मौसम कहा जाता है। हम देखते है कि कभी वर्षा होती है और कभी आकाश बिलकुल निर्मल रहता है। कभी वायु गरम और कभी ठण्डी होती है। कभी वायु वेग से और कभी धीमे चलती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मौसम कभी एकसा नही रहता। वह प्रतिदिन, प्रति सप्ताह और प्रति मास बदलता रहता है। संक्षेप में, वायुमण्डल की क्षणिक अवस्थाओ का नाम ही मौसम है। **हारबिच** तथा **आस्टीन** के अनुसार, किसी स्थान के किसी समय विशेष के समस्त वायुमण्डलीय परिवर्तन—जैसे तापमान, वायुदाब, हवा, आर्द्रता, वर्षा और आकाश की दशा—का योग मौसम कहलाता है।

जलवायु

कई कारणो से एक प्रमुख स्थान का मौसम प्राय. कैसा रहता है, यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है, अपेक्षाकृत इसके कि उसका दैनिक मौसम कैसे रहा? दूसरे शब्दों मे, हम यह जानना चाहते है कि वायुमण्डल की औसत अवस्था क्या है? ग्रीष्मऋतु कैसी गरम रहती है, जाड़ो में कैसी ठण्ड गिरती है और वर्ष भर मे कितनी वर्षा तथा हिमपात आदि होता है। इस प्रकार हम प्राय: एक स्थान के मौसम की अपेक्षा जलवायु में विशेष रुचि रखते है। किसी समय विशेष के मौसम को बनाने वाले कई तत्त्व होते है जिनका वर्णन हम ऊपर कर चुके है। किन्तु जलवायु के अन्तर्गत निरन्तर बदलती हुई मौसम की अवस्थाओ का मिश्रण होता है। अत. कई सप्ताह, महीने और वर्ष भर के मौसम की अलग-अलग अवस्थाओं को जोड़कर औसत निकालने और इस औसत को कई वर्षो के औसत से जोड़ने पर स्थायी जलवायु ज्ञात होती है। प्राय: किसी स्थान की जलवायु को समुचित रूप से पहचानने के लिए न्यूनतम 30 वर्षो की अवधि आवश्यक मानी

गयी है। इस प्रकार जलवायु मे वस्तुत. एक विस्तृत क्षेत्र मे काफी लम्बे समय की वायुमण्डल की अवस्थाओ का विवरण होता है। दूसरे शब्दो मे, वायुमण्डल की स्थायी औसत अवस्थाओ का नाम ही जलवायु है। केण्ड्रयू का कहना है कि वस्तुत. जलवायु का कोई भी चित्र तब तक सही नही हो सकता जब तक कि वह नित्य-प्रति बदलने वाले मौसम और ऋतु-परिवर्तन के उन तमाम रगो मे नही बताया जाता जो कि उसके प्रमुख लक्षण (features) है।[1] ससार के कुछ भागो मे जलवायु को औसत रूप मे बताना कठिन होता है। जैसे कभी-कभी यह कहा जाता है कि ब्रिटिश द्वीपसमूह मे जलवायु की अपेक्षा मौसम ही होता है। इसके विपरीत, विषुवतरेखीय जलवायु का वर्णन वर्ष के किसी भी दिन के लिए बिल्कुल सही उतरेगा। अत: फिन्च एव ट्रिवार्था का कहना है कि जलवायु मौसम का कोई औसत नही है। वस्तुत जलवायु विभिन्न दिन-प्रतिदिन के मौसम की अवस्थाओ का सामान्यीकरण (generalisation) है।

जलवायु और मौसम को निर्धारित करने वाले तत्त्व

मौसम परिवर्तनशील है। दिन-प्रतिदिन मौसम बदलता रहता है। जलवायु भी प्रत्येक स्थान पर एकसी नही रहती। इसका कारण वे सब तत्त्व है जो कि जलवायु और मौसम को बनाते है। जलवायु और मौसम के ये तत्त्व समय-समय और स्थान-स्थान पर तथा अपने परिमाण और तीव्रता मे बदलते रहते है। इसी कारण किसी स्थान की जलवायु और किसी समय के मौसम मे अन्तर पडता है। किन्तु इनमे परिवर्तन होने के कई कारण है। प्रकृति के कुछ विशेष नियम वायु के इन गुण-धर्मो को बदलने मे अपना प्रभाव डालते है, जिससे मौसम की स्थायी औसत अवस्थाओ में भी परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। जलवायु और मौसम को निर्धारित करने वाले मुख्य भौतिक अवयव इस प्रकार है

(1) **अक्षांश**—धरातल पर तापमान का वितरण सदा अक्षाश के अनुसार होता है। क्योकि धरातल पर पहुँचने वाली सूर्य की किरणो का कोण (angle) अक्षांश के अनुसार बदलता जाता है। इस तरह अक्षाश रेखाएँ सूर्य की किरणो के रुख तथा गिरने की दशा को निर्धारित करके जलवायु पर नियन्त्रण करती है। सूर्य की तिरछी किरणे धरातल के अधिक भाग पर गिरती है। फलत उनको धरातल के अधिक क्षेत्र को गरम करना पडता है। इसकी अपेक्षा सूर्य की लम्बवत किरणें थोड़े भाग पर गिरती है अत तीव्र होती है। सूर्य की सबसे अधिक सीधी किरणे भूमध्य रेखा पर गिरती है। भूमध्य रेखा से ध्रुवो की ओर सूर्य की किरणो का झुकाव बराबर बढता जाता है। परिणामस्वरूप जितना ही ऊँचा अक्षाश होगा वहां सूर्य से प्राप्त गर्मी उतनी ही कम तीव्र होगी। अत: हम जैसे-जैसे विषुवतरेखा से दूर हटते जाते है, तापमान घटता जाता है और तापान्तर (Range of temperature) बढता जाता है। सक्षेप मे, सूर्य से मिलने वाला ताप भिन्न-भिन्न अक्षाशो पर भिन्न होता है। अक्षाश के अनुसार ही भिन्न-भिन्न स्थानो पर दिन छोटे-बड़े होते है और प्रकाश-घण्टों में अन्तर पड जाता है।

(2) **समुद्र-तल से ऊँचाई**—ऊँचाई का जलवायु पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव गिरता है। तापमान तथा वर्षा दोनो पर ऊँचाई का नियन्त्रण रहता है। यह एक प्रकट सत्य है कि समुद्र-तल ऊँचाई बढने के साथ-साथ तापमान घटता जाता है, क्योंकि ज्यों-ज्यों ऊँचाई बढती जाती है, वायु हल्की होती जाती है। इसके अतिरिक्त ऊँचाई के साथ तापमान घटने का यह भी कारण है कि ऊपर के दबाव के कारण नीचे की हवा ऊपर की हवा से अधिक घनी होती है जिससे उसमे ताप को ग्रहण करने की अधिक क्षमता होती है। सामान्यत. धरातल से प्रति 300 फुट की ऊँचाई पर 1° फा० तापमान कम हो जाता है। अतएव जो स्थान जितना ही ऊँचा होगा वह उतना ही ठण्डा

---

1 W. G. Kendrew : *Climatology*, p. 12

भी रहेगा। इसी कारण भूमध्यरेखीय प्रदेशो में यद्यपि पर्वतशिखर बर्फ से ढके रहते है परन्तु उनकी तलहटी चारों ओर से गरम तथा नम जंगलों से घिरी हुई रहती है।

(3) **पर्वतों की दिशा**—पर्वतो की दिशा का हवाओ पर गहरा प्रभाव पड़ता है और हवाएँ बदले मे तापमान को प्रभावित करती है। इस प्रकार पर्वतो का रुख परोक्ष रूप से तापमान को प्रभावित करता है। जैसे हिमालय पर्वत के दक्षिण की ओर के ढाल उत्तर की ठण्डी हवाओं के प्रकोप से अछूते रहते है जिससे उसका तापमान उतना कम नही होता जितना कि उत्तर के ढाल का। इसी प्रकार सतपुडा की उच्च भूमि से नागपुर के मैदान तक का साधारण ढाल दक्षिण की ओर होने से यह क्षेत्र सूर्य द्वारा बहुत अधिक गरम हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत पश्चिमी घाट के खड़े ढाल जिनकी दिशा पश्चिम मे समुद्र की ओर है बहुत ही कम गरम रहते है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी पर्वत भाप से लदी हवाओ को रोककर वर्षा के कारण बनते हैं। इस प्रकार पर्वतों का जलवायु पर गहरा प्रभाव देखा जाता है।
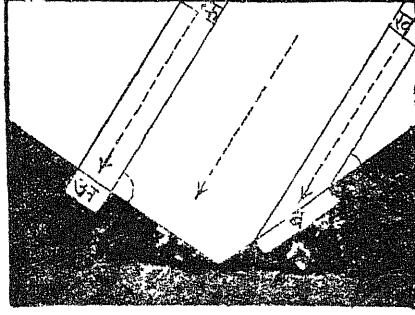
चित्र 156—**पर्वतों की दिशा**

(4) **समुद्र से दूरी**—स्थल की अपेक्षा जल देर से गरम होता है और देर से ही ठण्डा। इसका प्रभाव वहाँ के तापमान पर पड़ता है। गर्मी मे समुद्र स्थल की अपेक्षा ठण्डा रहता है। अतः समुद्र से चलने वाली हवाएँ स्थल के तापमान को घटा देती है। जाडो मे समुद्र स्थल की अपेक्षा गरम रहता है। इसीलिए समुद्र से चलने वाली हवाएँ स्थल के तापमान को बढा देती है। इस प्रकार समुद्रतट के समीप जलवायु समुद्री पवनों के प्रभाव से सम बना रहता है। परन्तु समुद्र से दूर स्थित स्थान समुद्री पवनों के प्रभाव से वंचित रहते हैं। अतः वहाँ की जलवायु विषम (extieme) होती है। जल के देरी से गरम होने के परिणामस्वरूप ही द्वीपों की जलवायु आश्चर्यजनक रूप से सम होती है। चारों ओर जल से घिरे रहने के कारण वहाँ वार्षिक तापान्तर भी बहुत कम रहता है। इस तरह न्यून वार्षिक तापान्तर समुद्री जलवायु की विशेषता है। ग्रेट ब्रिटेन, तस्मानिया और न्यूजीलैण्ड द्वीपो की जलवायु ऐसी ही है। परन्तु मास्को जैसे भीतरी स्थानों की जलवायु महाद्वीपीय होती है। हमारे देश मे बम्बई और नागपुर लगभग समान अक्षाशों पर ही स्थित है। दोनो स्थानो के अक्षांशों में कुछ अशों का ही अन्तर है। परन्तु समुद्रतट के ऊपर बम्बई के औसत तापमान 73° फा० और 83° फा० के बीच रहते है, जबकि नागपुर—जो कि प्रायद्वीप के मध्य मे स्थित है—के औसत तापमान 73° फा० से 100° फा० के बीच रहते हैं।[1]

(5) **धाराएँ**—समुद्र में चलने वाली गरम और ठण्डी धाराएँ अपने ऊपर चलने वाली हवाओं के तापमान को प्रभावित करती हैं। गरम धाराओ पर बहने वाली हवाएँ उष्ण तथा आर्द्र और ठण्डी धाराओं पर बहने वाली हवाएँ शीतल तथा शुष्क होती है। इसलिए जब ये हवाएँ किसी प्रदेश मे चलती हैं तो वहाँ की जलवायु को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। एक ही अक्षांशों मे स्थित लैब्रेडोर और इंगलैण्ड के क्रमशः ठण्डे और गरम होने का यही कारण है। हमारे यहाँ कोंकण और मलाबार तट की उष्ण जलवायु अरब सागर से चलने वाली उत्तरी-पश्चिमी पवनों और दक्षिणी जलधारा के प्रभाव से शीतल हो जाती है परन्तु वर्षाऋतु मे उष्ण मानसून धाराओं का यहाँ विपरीत प्रभाव होता है। जिस समय भारत में दक्षिणी-पश्चिमी मानसून का प्रभाव होता है

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 379

उस समय इटालियन सोमालीलैण्ड और पूर्वी अफ्रीका के तट पर हवाएँ स्थल से समुद्र की ओर चलती है। फलस्वरूप इनके तट पर एक ठण्डी धारा का जन्म होता है। इस ठण्डी धारा के प्रभाव से ये तट बहुत शीतल हो जाते है। अफ्रीका के तट पर इस ठण्डी धारा के कारण वहाँ अरब सागर का तापमान इतना नीचे चला जाता है कि वहाँ किसी प्रकार की प्रवाल रचना सम्भव नहीं होती। किन्तु मलाबार तट से दूर अरब सागर गरम रहता है अतः वहाँ प्रवाल रचनाएँ पायी जाती है। जैसे कि लकादीव (Laccadive) और मालदीव (Maldive) द्वीपसमूहों की वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ (Atoll) है। अतः अफ्रीका तट के समीप प्रवाल रचनाओं का अभाव और मलाबार तट के समीप प्रवाल भित्तियों का बाहुल्य जलधाराओ द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है।[1]

(6) **हवाएँ**—हवाओं की दिशा और उनका वेग बड़ी मात्रा में जलवायु को प्रभावित करता है। ठण्डे स्थानों से आने वाली हवाएँ तापमान को घटा देती है और उष्ण प्रदेशो से आने वाली हवाएँ तापमान को बढ़ा देती है। स्थल और जल से चलने वाली हवाओं का भी इसी प्रकार जलवायु पर प्रभाव होता है। जैसे सहारा मे वर्ष के अधिकतर समय मे चलने वाली हवाएँ जो कि यूरोप के उच्च अक्षांशों से आती है, बड़ी ठण्डी और शुष्क होती है। ये हवाएँ यहाँ के तापमान को भी नीचा कर देती हैं। इसी तरह प्रायद्वीपीय भारत मे पश्चिमी और दक्षिणी-पश्चिमी पवनें जो कि अरब सागर को पार करके आती है, बड़ी गरम और तर हो जाती है। इन गरम और तर हवाओ के कारण हमारे देश के पश्चिमी तट पर मध्यम (mild) जलवायु रहती है। इसी प्रकार पूर्वी और उत्तरी-पूर्वी हवाएँ जो बंगाल की खाड़ी से होकर आती है, कोरोमण्डल तट पर नमी ले जाती है। इन हवाओ तथा नमी के कारण मद्रास राज्य में अक्टूबर से दिसम्बर तक बड़ा तर (wet) मौसम रहता है।

(7) **वायु-विक्षोभ**—वायुमण्डल मे पैदा होने वाले तूफान, आँधी, मेघ और वर्षा आदि वायु-दशाओ मे गहरा परिवर्तन कर देते है। इसका जलवायु पर अत्यधिक प्रभाव होता है।

ऊपर बताये गये मुख्य तथा अन्य कई गौण कारण विभिन्न रूपों और विभिन्न योगों में मिलकर कार्य करते रहते है, जिससे तापमान और वर्षा में परिवर्तन पैदा हो जाता है जो बदले में संसार के प्रत्येक भाग की जलवायु और मौसम को प्रभावित कर धरातल पर जलवायु की अनेक विभिन्नताएँ उत्पन्न कर देते है।

जलवायु का मानव-जीवन पर प्रभाव

हण्टिंगटन के अनुसार मानव पर प्रभाव डालने वाले तत्त्वों में जलवायु का स्थान प्रथम है, यह इसलिए नही कि जलवायु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अपितु यह सबसे अधिक मौलिक है। जलवायु का प्रभाव निस्सन्देह मानव की सभी क्रियाओं पर पडता है। वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और व्यापार मे जलवायु का नियन्त्रण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। जलवायु खेती की प्रणालियों का सूत्रपात करती है। उद्योगों में श्रमिकों की कार्यक्षमता भी जलवायु द्वारा ही निर्धारित होती है। अत. यहाँ जलवायु के प्रभाव का विस्तृत विवेचन करना समीचीन होगा।

जलवायु और वनस्पति—किसी देश की प्राकृतिक वनस्पति न केवल भूमि के धरातल, मिट्टी के गुण आदि पर ही निर्भर रहती है, बल्कि वहाँ के तापमान और वर्षा का भी उस पर प्रभाव पड़ता है क्योंकि प्रत्येक पौधे के लिए वर्षा, गर्मी, प्रकाश और वायु की आवश्यकता पड़ती है। भूमध्यरेखीय प्रदेशों में निरन्तर तेज धूप, कड़ी गर्मी और अधिक वर्षा के कारण ऐसे वृक्ष पैदा होते हैं जिनकी पत्तियाँ घनी, ऊँचाई बहुत और लकड़ी कठोर होती है। इसके अतिरिक्त वृक्षो के नीचे झाड़ियों और घास का भी गहरा जाल-सा बिछा रहता है। किन्तु गरम रेगिस्तानों में कड़ी गर्मी

---

1 *Ibid* : p. 383-84

पड़ने पर भी वर्षा के नितान्त अभाव मे केवल ऐसी झाडियाँ पायी जाती है, जिनमें से उनकी वाष्प या नमी उड़ न सके । जैसे कुछ झाड़ियों मे काँटे होते है तथा जड़े बहुत लम्बी होती है, कुछ के पत्ते मोटे और तनों पर बाल होते है । इन सब युक्तियों के कारण वे साल-भर हरी-भरी रहती है । सूडान और प्रेरी प्रदेशो मे वर्षा की कमी के कारण केवल लम्बी-लम्बी घास तो उगती है किन्तु बड़े-बड़े वृक्षों का वहाँ अभाव-सा रहता है । इसके विपरीत ठण्डे प्रदेशो में कठोर सर्दी पडने के कारण सदैव बर्फ जमी रहती है, इसलिए केवल काई अथवा छोटी-छोटी हल्की झाड़ियो के अतिरिक्त और कोई वृक्ष पैदा नही होता । यही कारण है कि यहाँ के निवासी लकडियो के दर्शन करने को भी तरसते है । मानसूनी जलवायु के प्रदेशो मे जहाँ साल के आठ महीने सूखे बीतते हैं ऐसे वृक्ष पैदा होते है कि जिनकी पत्तियाँ गर्मी के आरम्भ मे ही सूख जाती है । शीतोष्ण कटिबन्धों मे तीव्र सर्दी के कारण कोमल लकड़ियो वाले ऐसे वृक्ष पैदा होते है जिनकी पत्तियाँ नुकीली होती है । ये वृक्ष बर्फ का भार आसानी से सह सकते है । अत· जिन भागों में वन पाये जाते है वहाँ के निवासियो का मुख्य व्यवसाय लकड़ी काटना होता है और साधारण वर्षा वाले भागों मे कृषि और उससे सम्बन्धित उद्योगो का विकास होता है । आगे के चित्रों द्वारा स्पष्ट ज्ञात होगा कि जलवायु के अनुसार ही भूमण्डल पर वनस्पति के खण्ड पाये जाते है ।

जलवायु और कृषि-कार्य—ससार के विभिन्न देशों में जलवायु की विभिन्नता के कारण खेती करने के तरीके भी भिन्न होते है । निम्न तापमान और शुष्कता के कारण पृथ्वी के लगभग 50% से भी अधिक भाग पर पशु-पालन, खाने खोदना अथवा लकड़ी काटने के अतिरिक्त खेती आदि नही की जा सकती । जिन देशो में पर्याप्त वर्षा (40″ से अधिक) और उच्च तापमान पाये जाते है वहाँ खेती, सिचाई की सहायता के बिना ही की जाती है । यह आर्द्र खेती कहलाती है । इस प्रकार की खेती के अन्तर्गत चावल, गन्ना, दाले आदि अधिक पैदा किये जाते है । भारत मे बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास के कुछ भागो तथा विश्व के अधिक वर्षा वाले भागों मे इसी प्रकार की खेती की जाती है । संसार के अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो—सयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भागों, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि में वर्षा के अभाव के कारण फसले सूखी खेती की सहायता से की जाती है । इस प्रकार के ढंग से गेहूँ, जौ; चना आदि बोये जाते है । किन्तु इस ढंग की खेती बड़ी महँगी पड़ती है । उन प्रदेशों में जहाँ मिट्टी उपजाऊ होती है और वर्षा की कमी होती है वहाँ पानी के अभाव की पूर्ति सिंचाई के साधनों द्वारा की जाती है । इस प्रकार की सिंचित खेती के सहारे संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, चीन, मिस्र, फारस और भारत मे गेहूँ, चावल, गन्ना, कपास आदि फसले पैदा की जाती है ।

जलवायु का सबसे अधिक प्रभाव खेती पर पड़ता है, क्योंकि सभी देशों मे एकसी पैदावार उत्पन्न नही की जा सकती । किस देश मे कौन-सी फसल पैदा की जायगी इसका निर्धारण तापमान और वर्षा करते है । यह ठीक है कि गेहूँ की पैदावार विश्व के सभी भागो में थोड़ी बहुत मात्रा मे अवश्य की जा सकती है किन्तु यह कहा जा सकता है कि जिन देशों मे तापमान 57° फा० से कम और वर्षा 10″ से कम किन्तु 40″ से अधिक होती है वहाँ इसकी पैदावार कम होती है । विभिन्न प्रकार की जलवायु वाले प्रदेशों मे विभिन्न प्रकार की फसले पैदा की जा सकती है; जैसे उष्ण प्रदेशों मे चावल, गन्ना, चाय, कॉफी, रबड़, महोगनी, सागौन, साल, गरम मसाले, सिनकोना, केले, अनन्नास, नारियल आदि खूब होते हैं, क्योंकि इन प्रदेशों मे इन फसलो के लिए उपयुक्त जलवायु मिलती है । ठण्डे देशों में गेहूँ, जौ, राई, चुकन्दर, सेब और नाशपाती आदि फल पैदा किये जाते हैं । भूमध्यसागरीय जलवायु में तेज धूप और सर्दी में वर्षा होने के कारण नीबू, नारंगी, जैतून, अंजीर आदि रसदार फल बहुत पैदा किये जाते है । इसी प्रकार मानसूनी जलवायु का मुख्य फल

केला और आम है और गरम रेगिस्तानो का खजूर, उष्ण कटिबन्धीय घास के मैदानों मे कपास, मकई, कहवा; तथा प्रैरी, पम्पाज और स्टैपी मे गेहूँ अधिक पैदा किये जाते है। अत: यह कहा जा सकता है कि ससार के भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न प्रकार की जलवायु के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की फसले व फल पैदा किये जाते है।

जलवायु और उद्योग-धन्धे—भिन्न-भिन्न प्रकार की जलवायु मे भिन्न-भिन्न प्रकार के धन्धे किये जाते है। उदाहरण के लिए, उष्ण प्रदेशों मे बहुधा जंगली पशुओ का शिकार किया जाता है, जबकि मरुस्थलो मे, शुष्क जलवायु के कारण कोई चीज पैदा नही होती, अत. लूटमार, चोरी करने आदि के लिए प्रसिद्ध होते है। शीत और शीतोष्ण कटिबन्धो में मछलियों और बालदार पशुओ का शिकार करना तथा लकडी काटना ही मनुष्य का मुख्य धन्धा होता है। वास्तव मे, यह कहना बिलकुल उपयुक्त है कि प्राथमिक धन्धों पर ही जलवायु का गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, सूती वस्त्र व्यवसाय के लिए तर जलवायु की आवश्यकता है क्योकि शुष्क जलवायु मे सूत का धागा बार-बार टूट जाता है और वह अधिक लम्बा भी नहीं काता जा सकता। आर्द्र जलवायु के कारण ही मैनचेस्टर, ओसाका, बम्बई व अहमदाबाद में सूती वस्त्रों के कारखाने पाये जाते है। इसके विपरीत इगलैण्ड में पिनाईन पर्वत के पूर्व मे स्थित यार्कशायर अपेक्षाकृत सूखा है, इसलिए वहाँ सूती कपड़े के कारखाने नही पाये जाते। आटा पीसने के व्यवसाय के लिए सूखी जलवायु की आवश्यकता होती है, इसलिए करांची, सेण्ट पाल, बुडापेस्ट और मिनियापोलिस मे आटा पीसने की कई बड़ी-बड़ी चक्कियाँ स्थापित की गयी है। सिनेमा व्यवसाय के लिए स्वच्छ आकाश और उज्ज्वल प्रकाश तथा पर्याप्त धूप की आवश्यकता होती है जिससे कि फोटो साफ आ सके। इसी कारण कैलीफोर्निया, इटली और भारत मे बम्बई के निकट तथा फ्रांस में सिनेमा की फिल्म बनाने का व्यवसाय बहुत उन्नति कर गया है। रस्सी बनाना, कागज बनाना और छपाई के धन्धो के लिए भी उपयुक्त जलवायु की आवश्यकता होती है।

जलवायु और व्यापार—जलवायु किसी देश के व्यापार और माल के लाने-ले जाने में भी अपना प्रभाव डालती है, क्योकि न केवल कृषि-पदार्थ ही बल्कि पशु-पदार्थ भी अपनी भौगोलिक परिस्थिति के लिए जलवायु पर ही निर्भर रहते है। यदि पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान मे गेहूँ, पश्चिमी बगाल मे चावल, उत्तर प्रदेश में शक्कर और दक्षिणी भारत में तिलहन का अधिक व्यापार होता है तो उसका मुख्य कारण यही है कि इन भागों मे उपयुक्त जलवायु के कारण ये वस्तुएँ अधिक मात्रा में उत्पन्न होती है। इसी प्रकार गगा की निचली घाटी में जूट और मध्य प्रदेश में कपास के व्यापार की वृद्धि का मुख्य कारण जलवायु ही है। उष्ण भागों में (जो अधिकतर यूरेशिया व अमरीका के उपनिवेश हैं) विदेशी पूँजी, विदेशी प्रबन्ध एवं निरीक्षण मे व्यापारिक पैमाने पर विशेष रूप से बिक्री के लिए मूल्यवान ऊँचे दर्जे की फसलें—शक्कर, चाय, रबड़, कोको, केला, नारियल, लौग आदि—पैदा की जाती हैं। इन्हीं पदार्थों पर शीतोष्ण कटिबन्धों के देशो के कई व्यवसाय निर्भर रहते हैं। पूर्वी देशों के मार्ग का पता लगाने का एकमात्र कारण इन देशों मे पैदा होने वाली उपरोक्त वस्तुएँ थी। पशु-पदार्थ के व्यापार पर भी जलवायु का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, शीतोष्ण प्रदेशो मे उत्तम जलवायु के कारण ही दूध-दही के धन्धे के लिए चौपाये अधिक पाले जाते है। इसी कारण भूमध्यसागरीय प्रदेशो मे ऊन तथा चीन और जापान मे रेशम का व्यापार अधिक होता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे शिकागो में विश्व की सबसे बड़ी मांस की मण्डी है तथा भारत मे कानपुर, मद्रास और आगरा मे जो चमड़े का व्यापार अधिक होता है उसका एकमात्र कारण इनके पृष्ठ-प्रदेशो मे अधिक जानवरों का पाला जाना है।

जलवायु और व्यापारिक मार्ग—व्यापारिक मार्गों का निर्धारण करने में भी जलवायु का बड़ा हाथ रहता है। उदाहरण के लिए, पहाड़ी क्षेत्रो मे शीतकाल मे बर्फ पड़ने के कारण रेलमार्ग कुछ समय के लिए बन्द हो जाते है तथा निम्न भागो मे अधिक वर्षा के कारण रेल की पटरियाँ और पुल आदि नष्ट हो जाते है। रेगिस्तान मे बालू के टीलों के कारण न तो सडके ही बनायी जा सकती है और न रेलमार्ग ही। शीत-प्रधान देश मे बर्फ पडने के कारण नदियाँ जम जाती है (जैसा कि उत्तरी रूस, साइबेरिया व कनाडा में होता है)। अत. वे शीतकाल मे व्यापार के काम की नही रहती। इसी प्रकार बाल्टिक सागर जाडों मे व्यापार के अयोग्य हो जाता है तथा शीतकाल में भारत और तिब्बत के बीच मे होने वाला व्यापार भी ठप्प हो जाता है। प्राचीनकाल मे जहाज हवा की सहायता से ही अपनी यात्रा करते थे। अफ्रीका का चक्कर लगाकर भारत मे आने वाले जहाज वर्षा में अरब सागर को पार करते थे क्योंकि उस समय हवाएँ दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्वी भाग की ओर चली जाती थी किन्तु शीतऋतु में लौटते हुए जहाज अफ्रीका का चक्कर लगाकर जाते थे। किन्तु अब आधुनिक जलयानो पर उन हवाओं का प्रभाव नही पड़ता क्योंकि वे यान्त्रिक शक्ति से चलाये जाते है। अब भी बहुत-से जहाज लिवरपूल से आस्ट्रेलिया जाने के लिए केप मार्ग का अनुसरण करते है, क्योकि पछुवा हवाएँ अनुकूल पड़ती है और स्वेज मार्ग से लौटते है ताकि पछुआ हवाओं की प्रतिकूलता से बचते रहें। जिन भागो में सघन कुहरा घिर जाता है वहाँ जहाजों के टकराने की आशंका रहती है अत. ऐसे भागों से बचने का प्रयत्न किया जाता है। उत्तरी अटलांटिक जलमार्ग न्यूफाउण्डलैण्ड से बचकर जाता है। ग्रीनलैण्ड द्वीप के निकट समुद्र मे बड़े-बड़े हिमपिण्ड तैरते है इसलिए यूरोप से अमरीका जाने वाला समुद्री मार्ग ग्रीनलैण्ड से बचकर दक्षिण की ओर जाता है। वायुयानो के मार्गो पर भी जलवायु का बड़ा प्रभाव पडता है। ऊपरी आकाश मे अधिक ठण्ड होने तथा गहरे बादल तथा बर्फ व बालू की आँधियों और तेज हवा के कारण हवाई जहाज नष्ट होकर गिर पड़ते है। शीतकाल में कुहरा होने के कारण भी हवाई जहाजों को बड़ी हानि होती है। बर्फीले प्रदेशों में बर्फ पर फिसलने वाली बिना पहियों की गाड़ियाँ तथा जल प्रदेशो में पहियो वाली गाड़ियाँ और रेगिस्तान में ऊँट की सवारी आदि का होना जलवायु के ही परिणाम है।

जलवायु और जनसंख्या—जनसंख्या के वितरण मे जलवायु का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मनुष्य उन्ही भागो में रहना पसन्द करता है जहाँ की जलवायु उसके स्वास्थ्य के लिए तथा उद्योग के लिए अनुकूल होती है। यही कारण है कि सबसे पहले मानव का विकास कर्क रेखा और 40° उत्तरी अक्षाशो के बीच के भागों मे हुआ जो न तो अधिक गरम ही है और न अधिक ठण्डे ही, जहाँ न अधिक वर्षा ही होती है और न सूखा ही पड़ता है तथा कार्य करने के लिए तापमान सदैव ही उपयुक्त रहा करता है।[1] किन्तु इसके विपरीत उष्ण कटिबन्धीय जगलो—अमेजन तथा कांगो नदी के बेसिनो, पूर्वी द्वीपसमूह आदि—मे तीव्र गर्मी व सदा वर्षा होने के कारण प्रति वर्ग-मील 10 से भी कम व्यक्ति रहते है। आर्कटिक अथवा अण्टार्कटिक महाद्वीप मे अत्यधिक शीत के कारण प्रतिमील 1 से भी कम मनुष्य रहते है। इन प्रदेशों की जलवायु या तो बहुत गरम और नम है जिसके कारण मानव की कार्यशक्ति पर बड़ा अहितकर प्रभाव पड़ता है अथवा बहुत ही ठण्डी है जिसके कारण एक निश्चित समय तक कोई भी कार्य करना असम्भव हो जाता है। इसके विपरीत अर्द्ध-उष्ण कटिबन्धीय भागो मे जहाँ जलवायु साधारणतया गरम और पर्याप्त वर्षा (4-5 महीनों तक) वाला होता है तथा जहाँ वर्ष मे दो फसलें सुगमतापूर्वक पैदा की जा सकती हैं वहाँ जनसंख्या का जमाव शीघ्र बढता जाता है। सिन्धु और गगा का मैदान शताब्दियो के उत्तम

1 Vidal de La Blache ; *Principles of Human Geography*, p. 75

जलवायु के कारण घना बसा है। इसी प्रकार शीतोष्ण सामुद्रिक जलवायु वाले प्रदेश उत्तरी-पश्चिमी यूरोप, उत्तरी सयुक्त राज्य अमरीका आदि अपनी उत्तम जलवायु के कारण (जिसका कार्यशीलता और मस्तिष्क पर बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है) विश्व के घने बसे हुए भागों मे गिने जाते है। अस्तु, प्रति वर्गमील पीछे बेल्जियम मे 700 और इंगलैण्ड में 500 से भी अधिक व्यक्ति रहते है। न्यून तापमान के कारण ही टुण्ड्रा प्रदेश किसी काम का नही है। ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका के 60 लाख वर्गमील भूमि को न्यून तापमान ने ही व्यर्थ बना दिया है। जुलाई की 50° समताप रेखा कृषि-प्रधान देशो की उत्तरी सीमा बनाती है। अत. कनाडा और अलास्का की लगभग 60 लाख वर्गमील भूमि और यूरेशिया की लगभग 65 लाख वर्गमील भूमि पर जनसंख्या का घनत्व 1 मनुष्य से भी कम रहता है। यदि 10 लाख वर्गमील अन्य भूमि को भी इनमें सम्मिलित कर लिया जाय, जो निम्न तापमान के कारण महाद्वीपीय पहाडों और पठारों पर मिलती है तो केवल तापमान के आधार पर ही संसार की कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र 275 लाख वर्गमील भूमि से घटकर 440 लाख वर्गमील ही रह जाता है।

जलवायु और भोजन—मानव के भोजन पर भी जलवायु का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, गरम देशो में हल्के और कम मात्रा मे भोजन की आवश्यकता होती है किन्तु ठण्डे देशो में शरीर में गर्मी और शक्ति को बनाये रखने के लिए अधिक मात्रा मे भोजन की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि शीतोष्ण कटिबन्धीय देशो मे मॉस, मदिरा, अण्डे, मक्खन और मछली आदि अधिक व्यवहार मे लाये जाते है जबकि भारत जैसे देश मे अधिकांश जनसंख्या निरामिषभोजी (vegetarian) है।

जलवायु और वस्त्र—उष्ण देशो में जलवायु गरम होने के कारण वर्ष भर मे बहुत ही कम वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए, भारत मे प्रति व्यक्ति पीछे कपड़े की वार्षिक खपत 18 गज है, जबकि सयुक्त राज्य मे यह मात्रा 64 गज की है। गरम देशों मे हल्के सूती वस्त्र ही अधिक पहने जाते है, जो काफी ढीले-ढाले भी होते हैं। किन्तु ठण्डे देश मे प्रायः साल भर ही ऊनी वस्त्र, समूर के बाल या मछलियो की खालो के वस्त्र पहनने पड़ते है जो साधारणतया बहुत ही तंग और चुस्त होते हैं।

प्राकृतिक परिस्थितियो मे जलवायु ही एक ऐसी शक्ति है जिसमें मनुष्य अपने लाभ के लिए बहुत कम परिवर्तन कर सकता है। यह सत्य है कि थोड़ी मात्रा मे मनुष्य आजकल 'एयर-कन्डीशन' द्वारा वायु के ताप को घटा-बढ़ा सकता है, परन्तु इसका लाभ अभी तक जनसाधारण के लिए नही है और यदि ऐसा हो भी जाय तो भी इसका लाभ मनुष्य के निवास-स्थान तक ही सीमित रहेगा। बाहरी क्षेत्रों में उसका कार्य जलवायु पर निर्भर रहेगा। मनुष्य के शरीर पर जलवायु का बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ता है। उसका स्वास्थ्य, उसकी कार्य-शक्ति, उसके वस्त्र, निवास स्थान तथा उसका भोजन इत्यादि इसी के फल है। मनुष्य के शरीर का तापमान लगभग 98·6° फा० होता है। इस ताप को बनाये रखने के लिए मनुष्य के शरीर से सदा एक प्रकार की गर्मी निकलती रहती है। जब मनुष्य चुपचाप बैठा रहता है उस समय उसके शरीर के प्रति वर्ग सेण्टीमीटर से प्रति सेकण्ड 1 मिली कैलोरी गर्मी जाती रहती है। परन्तु यदि वह काम करने लगे तो कार्य के अनुसार निकल जाने वाली गर्मी 7 मिली कैलोरी तक बढ़ जाती हैं। इस मात्रा से कम गर्मी निकलने पर शरीर को अधिक गर्मी लगती है और उससे अधिक निकलने पर शरीर को ठण्ड लगने लगती है। शरीर को इन दोनों दशाओं से सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य वस्त्र का प्रयोग करता है। पृथ्वी के उन भागों में जहाँ जलवायु अधिक गरम होती है वहाँ मनुष्य के शरीर से कम गर्मी निकल पाती है। अतः वहाँ बहुत ही कम वस्त्र पहने जाते है। अफ्रीका के मध्य भाग में अथवा हमारे देश के दक्षिण प्रदेश में इसका उदाहरण मिलता है। परन्तु जहाँ जलवायु कम गरम होती

है वहाँ शरीर से अधिक गर्मी निकल जाती है इसीलिए वहाँ अधिक गर्मी को रोकने वाले वस्त्र पहनने की प्रथा है। इसका उदाहरण यूरोप के ठण्डे देशों मे मिलता है। ऋतु-परिवर्तन का प्रभाव भी इसी प्रकार होता है।

संसार को वस्त्र के अनुसार तीन भागों में बाँटा जाता है। पहले वे भाग है जहाँ पूरे वर्ष भर इतनी गर्मी पड़ती है कि न्यूनतम वस्त्रों की आवश्यकता पडती है, दूसरे वे भाग हैं जहाँ जाड़े और गर्मी मे अधिक अन्तर पड़ जाने के कारण ऋतु के अनुसार वस्त्र बदलने पड़ते हैं; और तीसरे वे भाग हैं जहाँ वर्ष भर कठोर सर्दी पडती है और इसलिए केवल गरम वस्त्रों का ही प्रयोग किया जाता है। अधिक उच्चतर जंगलो मे तो मानव आज भी बिलकुल नगे ही रहते है या कमर में पेडों की छाल या घास आदि लपेटते है।

जलवायु और निवास-गृह—किसी देश के निवासियो के रहने के लिए किस प्रकार के मकान होंगे इस पर उस देश की जलवायु का प्रभाव पडेगा। उदाहरण के लिए, कनाडा और रूस के उत्तरी भागो मे जहाँ कठोर सर्दी पड़ती है, वहाँ न तो लकड़ी ही पैदा हो सकती है और भूमि पर सदैव बर्फ जमे रहने के कारण न पत्थर या मिट्टी आदि ही प्राप्त हो सकते है। अतः एस्कीमो, समोयडी, लैप्स और फिन्स आदि बर्फ के ही मकान बनाते है। इनका आकार गुम्बजनुमा और छोटा होता है। इसके भीतर जाने के लिए एक सँकरी गली सी होती है। मकानो मे खिडकियाँ बिलकुल नही रखी जाती। केवल धुआँ निकलने के लिए छोटा-सा सुराख ऊपर की तरफ बना दिया जाता है। अधिक बडी खिडकियाँ और दरवाजे वहाँ इसलिए नहीं रखे जाते क्योंकि वहाँ लगातार बर्फ गिरती रहती है। इसके विपरीत, शुष्क और गरम जलवायु के कारण मरुस्थलों मे या तो तम्बू आदि बनाये जाते हैं अथवा मरुस्थलों के निकट जहाँ मिट्टी, पानी, लकड़ी व पत्थर मिले जाते हैं, पक्के मकान बनाये जाते हैं। किन्तु इनमे भी खिड़कियाँ नहीं रखी जाती क्योकि मरुस्थलों मे तेज बालू की आँधियाँ चलती रहती है। वर्षा कम होने के कारण मकानों की छतें चौरस बनायी जाती है जिससे वर्षा का जल उन पर इकट्ठा न हो सके। सर्दियों मे इन पर बैठने और गर्मियों मे रात्रि में सोने का काम लिया जाता है। उत्तर के शीतोष्ण वनों मे अथवा घास के मैदानों में पत्थर के अभाव मे मकान लकड़ी के लट्ठों के अथवा घास-फूस के बनाये जाते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में निम्न तापमान और अधिक वर्षा से बचने के लिए मकान अधिकतर ईंटों, पत्थर अथवा सीमेण्ट के बनाये जाते है जिनकी छतें इसलिए ढालू रखी जाती है कि अधिक वर्षा का पानी अथवा बर्फ उन पर से नीचे फिसल जायँ। अधिक शीत से बचने के लिए कमरों मे बिजली द्वारा गर्मी पहुँचायी जाती है।। चूँकि आकाश सदा मेघाच्छादित रहता है, इसलिए कमरों को पूरी तरह प्रकाश पहुँचाने के लिए काँच की खिडकियाँ रखी जाती है। इसके विपरीत भूमध्यसागरीय प्रदेशो मे चौरस छतो वाले मकान जिनमे प्रत्येक में खिड़कियाँ और आँगन होते हैं, बनाये जाते है। भारत जैसे गरम देश मे कड़ी धूप से बचने के लिए मकान से बाहर बरामदे बनाना और सूर्य-प्रकाश की प्राप्ति के लिए मकानों मे छोटी-छोटी खिड़कियाँ अथवा रोशनदान बनाना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त गरम देशों में ठण्डे देशों की अपेक्षा सड़कें भी बहुत सँकरी बनानी पड़ती हैं।

जलवायु और प्रवास—संसार के विभिन्न प्रदेशों मे एकसी जलवायु पायी जाती है। अतः यदि किसी देश में जनसंख्या उस देश की भरण-पोषण की शक्ति से अधिक होती है तो वह अपने समान जलवायु वाले देशों में जाकर बस जाती है। अंग्रेज इसी कारण न केवल कनाडा और दक्षिणी अफ्रीका मे ही पहुँचे किन्तु आस्ट्रेलिया में भी जा पहुँचे। जापानी पूर्वी एशिया के देशों और भारतवासी लंका, पूर्वी अफ्रीका और उत्तरी-दक्षिणी अमरीका मे जाकर रहने लगे हैं। जब

अंग्रेज भारत में थे तो यहाँ की तेज धूप से बचने के लिए ग्रीष्मकाल में शिमला, नैनीताल, डलहौजी, उटकमण्ड, पंचमढी, दार्जिलिंग अथवा आबू पर चले जाते थे क्योंकि इस समय वहाँ की जलवायु शीतल होती थी।

जलवायु और सभ्यता—मनुष्य की सभ्यता पर जलवायु का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। विश्व की प्राचीन सभ्यताओं का विकास नदियो के किनारे ही हुआ, क्योंकि नदियो के पानी ने खेतों के कार्य और मनुष्य के विकास को बहुत सरल बना दिया था। उदाहरण के लिए, नील नदी की घाटी मे मिस्र की सभ्यता, फरात नदी की घाटी मे बेबीलोनिया की सभ्यता, सिन्धु नदी की घाटी मे हिन्दुओं की मोहनजोदड़ो की सभ्यता और ह्वांगहो की घाटी मे चीन की सभ्यता फली-फूली। इन सब घाटियों मे लगभग एकसी जलवायु पाये जाने के कारण इनकी सभ्यता में भी समानता थी। इसके पश्चात् रूमसागरीय सभ्यता का विकास हुआ और यह अधिक जलवृष्टि वाले प्रदेशो मे फैली। इस प्रकार जब अधिक वर्षा का होना भी बन्द हो गया तो इस सभ्यता का अन्त हो गया। इसमे कोई सन्देह नही कि मध्य एशिया के लुटेरो के हमले यूरोप के देशो पर इसलिए होते थे कि उनके प्रदेशों मे जल-वृष्टि के अभाव के कारण कोई वस्तु पैदा नही हो सकती थी। रसेल स्मिथ के शब्दो मे, "साधारण कठिनाई वाली जलवायु ही सभ्यता का बीजारोपण करती है और उसे पनपाती है।"[1] वास्तव मे, सभ्यता का जन्म उन्ही प्रदेशो मे हुआ जहाँ प्रकृति ने उत्पादन वर्ष के एक प्रमुख भाग मे सीमित रखा और उस क्षेत्र के निवासियो को परिश्रम करने के लिए प्रेरित किया। विषुवतरेखीय और ध्रुवीय प्रदेशो के बीच मे ऐसे प्रदेश मिलते है जहाँ प्रकृति ने बाधा और सुविधा का समन्वय प्रस्तुत किया है। इन प्रदेशों मे वह परिश्रम करता है, बचत करता है और भविष्य के लिए योजनाएँ बनाता है।

यह सत्य है कि मनुष्य ने गरम भागो मे जन्म लिया किन्तु उसकी वृद्धि शीतोष्ण प्रदेशो मे हुई। गरम प्रदेशों मे पिछड़े हुए मानव ने अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति बिना किसी परिश्रम से ही की, क्योकि इन प्रदेशो में प्रकृति इतनी उदार है कि उसे अपने भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। इसलिए इन प्रदेशों के निवासी साधारणतया बहुत ही सुस्त और असभ्य रह गये हैं। इसका मुख्य उदाहरण हमे पूर्वी द्वीपसमूह, कांगो और अमेजन की घाटियों के जीवन से मिलता है। इन्हे प्रकृति द्वारा बिना किसी प्रयत्न के ही केले, फल, मछलियाँ अथवा पशु भोजन के लिए मिल जाते है। उष्ण तथा तर जलवायु के कारण वस्त्रो की आवश्यकता नही रहती। अस्तु, ये प्राय: नगे ही रहते हे, किन्तु ध्रुव प्रदेश मे रहने वाले एस्कीमो और लैप्स को (जिन्हें बहुत ही कठोर शीत में रहना पड़ता है) पिगमियो, पेपुओ अथवा अमेजन के लोगों की अपेक्षा वस्त्र और भोजन के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इन शीत प्रदेशों मे उस मनुष्य के लिए कोई स्थान नही जो शारीरिक अथवा मानसिक शक्ति से पूर्ण न हो।

जलवायु का मानव की कार्य-शक्ति पर प्रभाव—जलवायु का कार्य-शक्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। भूगोल के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० हण्टिंगटन ने बड़े परिश्रम के बाद अपने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर (जो उन्होने डेनमार्क और सयुक्त राज्य के विद्यार्थियों और मजदूरो के विषय में किये हैं) यह सिद्ध किया है कि शारीरिक श्रम के लिए 60-65° फा० और मानसिक श्रम के लिए 38-40° फा० तापमान की आवश्यकता होती है। प्रो० हण्टिंगटन के अनुसार यदि कोई कारखाना अच्छे से अच्छा सामान तैयार करना चाहता है तो उसे शीतकाल में मशीन की गति धीमी कर देनी चाहिए, और ग्रीष्म में फिर कुछ धीमी कर देनी चाहिए किन्तु पतझड़ मे

[1] "Civilization is the product of Climatic Adversity." —*Russel Smith*

अधिक से अधिक तेज कर देनी चाहिए इसलिए कि शीतोष्ण चक्रवात न केवल स्फूर्ति प्रदान करते हैं, बल्कि कार्यक्षमता को भी बढ़ाते है। इसी कारण ब्रिटिश द्वीपसमूह व पूर्वी सयुक्त राज्य स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत अच्छे समझे जाते है। यही नही किसी स्थान की जलवायु यह भी निर्धारित करती है कि किन क्षेत्रो मे मानव बिना थकान अनुभव किये कार्य कर सकता है और किन स्थानों मे थोड़ी ही देर बाद उसे थकान अनुभव होने लगती है। सच तो यह है कि शीतल जलवायु मे मानव को प्रेरणा मिलती है जबकि उष्ण जलवायु न केवल उसके स्नायुओं को ही शिथिल बना देती है किन्तु उसको कई रोगो का—विशेषकर मलेरिया, पेचिश तथा अन्य प्रकार के रोगों का—शिकार भी बना देती है। शीतल जलवायु के कारण ही अमरीका और इगलैण्ड मे बहुत-से विचारक और उत्तम नेता पैदा हुए है। अधिक गर्मी के कारण हमारे यहाँ चार महीनो तक पूरी तरह कार्य नही हो सकता। भारतीय मजदूर की अकुशलता का मुख्य कारण देश की जलवायु है। उष्ण जलवायु के कारण अफ्रीका के मध्यवर्ती भागो मे मानव शरीर मे गुर्दे, तिल्ली अथवा प्रजनन अगो मे कई प्रकार की बीमारियाँ लग जाती है। यही कारण है कि बहुत समय से ही गिनीतट को अग्रेजों की कब्र (Whitemen's Grave) कहा गया है क्योंकि इस गरम जलवायु में अग्रेज स्वस्थ नही रहते थे। अधिक ठण्डे भागो मे भी कठोर शीत के कारण कार्य बिलकुल नही हो सकता। इसी कारण कुहरे वाली जलवायु भी मनुष्य को काल्पनिक और निराशावादी बना देती है जैसे स्केण्डेनेविया के निवासी। इसी प्रकार गरम जलवायु के कारण ही भारतीय लोग रोगी, निराशावादी और भाग्य पर विश्वास करने वाले होते है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न देशो के निवासियो का स्वभाव उस देश की जलवायु के अनुसार ही बनता है। यदि अग्रेज अधिक प्रसन्नमुख और खेलकूद पसन्द करने वाले है तो उसका मुख्य कारण वहाँ का मेघाच्छन्न आकाश है जो सदैव ही उनको घरो से बाहर जाकर आनन्द मनाने के लिए उत्साहित करता है। पूर्वी देशो के लोगो मे जो उदासीनता और पश्चिमी देशो मे जो चचलता, गम्भीरता और असीम धैर्य पाया जाता है उसका मुख्य कारण जलवायु ही है। मिस्र के निवासी बहुत अच्छे ज्योतिषी और गणितज्ञ माने जाते है, उसका मुख्य कारण वहाँ की जलवायु ही है। वहाँ आकाश सदा साफ रहता है और वहाँ के मरुस्थल में तारे ही मुसाफिरों को रात्रि मे मार्ग का ज्ञान कराते है। ब्रिटिश द्वीपसमूह मे वर्ष के अधिकांश भाग मे जलवायु आर्द्र रहती है। इस कारण वहाँ पक्के रग का बनना मुश्किल है, इसलिए वहाँ के निवासी हल्के रग पसन्द करते हैं, किन्तु भारत जैसे गरम देश मे गहरे रगो का रिवाज है। भूमध्यसागरीय देशो मे तेज धूप पड़ने के कारण चमकीले वस्त्र पहनना पसन्द किया जाता है। भारत के बारे में यह कहा जा सकता है कि मई से अगस्त तक के चार महीनो को छोडकर शेप महीनो मे जलवायु मनुष्य को फुर्तीला और शरीर को सशक्त बनाने वाली है। शारीरिक कार्य करने के लिए पजाब, हिमाचल प्रदेश, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और कश्मीर उत्तम है किन्तु मानसिक कार्यों के लिए बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र की जलवायु उत्तम है।

तृतीय खण्ड

जलमण्डल

17

जलमण्डल

(HYDROSPHERE)

पृथ्वी के धरातल का तीन-चौथाई भाग जल से आवृत्त है। धरातल का यह जलवेष्ठित भाग ही **जलमण्डल** कहलाता है। जल और स्थल का यह विन्यास देखकर लोगों को यह भ्रम हो सकता है कि धरातल पर स्थल की अपेक्षा जल अधिक है। किन्तु भू-तल पर समस्त प्राणी-वर्ग और वनस्पति के विकास के लिए जल-स्थल का यह विन्यास आवश्यक है। समस्त प्राणियों और वनस्पतियों में भी जल का यथेष्ट अश देखा जाता है। मानव शरीर मे 60 से 80 प्रतिशत, पशुओ मे 40 से 50 प्रतिशत, पक्षियों मे 75 प्रतिशत, जल-जीवो मे 80 प्रतिशत और वनस्पतियों मे 60 से 98 प्रतिशत तक जल का अंश पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि पृथ्वी पर हर एक प्रकार के जीवन का आधार जल ही है।

पृथ्वी के स्थल भागों मे पाये जाने वाले सभी जल-स्रोतों—नदी कुएँ, झील व झरने आदि—का आधार महासागर है। स्थल पर सर्वत्र जल का वितरण इन्ही महासागरों से होता है। यदि कुछ समय के लिए जल के वितरण की यह प्राकृतिक व्यवस्था बन्द हो जाये तो स्थल पर पाये जाने वाले नदी, झील, कुएँ आदि स्रोत सूख जायेंगे। इनके अभाव मे जीवन की कल्पना भी दूभर है। फिर महासागर धरातल पर तापमान के सन्तुलन को बनाये रखने में बड़ा भारी योग देते है। यदि जल-स्थल का वर्तमान विन्यास न हो तो धरातल के विभिन्न भागों की जलवायु की विषमता इतनी बढ़ जायगी कि भू-तल पर जीवन-विकास कठिन ही नही असम्भव हो जायेगा।

जलमण्डल की उत्पत्ति

प्राय सभी बातों का प्रारम्भ अस्पष्ट हुआ करता है। यही बात महासागरों के सम्बन्ध में भी है। बहुत-से लोग इस बारे में एकमत नहीं है कि पृथ्वी पर महासागरों का आविर्भाव किस प्रकार हुआ? इस सम्बन्ध में अलग-अलग विद्वानो ने जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की है उनमें से कुछ नीचे दी जा रही हैं:

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि महाद्वीप और महासागरों के जिस रूप को हम आज देख रहे है उसमें चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग होने की घटना का निश्चय ही बहुत बड़ा हाथ रहा होगा। चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग हो जाने पर पृथ्वी पर एक बहुत बड़ा घाव उत्पन्न हो गया और वह आज तक मौजूद है। इसी घाव अथवा रिक्त स्थान में आज प्रशान्त महासागर लहरे मार रहा है। इस प्रकार प्रशान्त महासागर चन्द्रमा की उत्पत्ति का प्रतिफल है। किन्तु चन्द्रमा की उत्पत्ति ने सम्भवतः प्रशान्त महासागर के साथ-साथ संसार के अन्य महासागरों के क्षेत्रों की रूप-रचना

मे भी सहायता दी है। जब भू-पटल का एक अंश पृथ्वी से अलग हुआ होगा तो भू-पटल के अन्य भागों पर जोर पडने से तनाव आया होगा और उसमे जगह-जगह दरारें उत्पन्न हुई होंगी। ये दरारें पृथ्वी के अपनी कीली पर घूमने तथा अण्डाकार मार्ग पर तेजी के साथ दौड़ने के कारण अधिकाधिक चौड़ी होती चली गयीं तथा चट्टानो के पिण्ड नीचे की धीरे-धीरे कडी होती हुई मुलायम पत्थर की परत पर फिसलते हुए एक-दूसरे से दूर हटते चले गये। यह नरम पत्थर की परत गोंद की भाँति चिकनी रही होगी। धीरे-धीरे नरम पत्थर की परत का ऊपरी भाग ठण्डा होकर कड़ा पड़ गया और इधर से उधर घूमते-घूमते उन महाद्वीपो को स्थिरता प्राप्त करके विश्राम करने का अवसर मिला। वे अपने बीच मे महासागरो के विशाल गड्ढे लिये जहाँ के तहाँ जम गये और आज भी अधिकांश महाद्वीप एवं महासागरों के गड्ढे उसी रूप में विद्यमान है, जिस रूप में पृथ्वी के इतिहास की अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में रहे थे।

किन्तु यह कहानी की भूमिका-मात्र है, क्योंकि जब चन्द्रमा का जन्म हुआ था, तब महासागरो का अस्तित्व था ही नही। धीरे-धीरे ठण्डी होती हुई धरती बादलों की मोटी परतों से ढकी थी। उन बादलो मे इस नवीन ग्रह के लिए जल विद्यमान था। एक लम्बे समय तक इसका धरातल इतना गरम रहा कि किसी प्रकार की ओस गिर ही नही सकती थी और अगर गिरती भी थी तो वह तुरन्त भाप मे बदल जाती। अनवरत रूप से नवीन रूप धारण करता हुआ बादलों का यह सकुचित आवरण इतना मोटा अवश्य रहा होगा कि सूर्य की किरणें उसे भेद नही सकती होंगी। इस प्रकार महाद्वीपो और महासागरों के रिक्त गड्ढों की मोटी रूपरेखा पृथ्वी के धरातल से तराशी जाकर निर्मित होती रही होगी। सब ओर गहन अन्धकार, गरम चट्टानों, उमड़ते-घुमड़ते बादलों तथा अवसाद का एक भयानक संसार रहा होगा और उसी में यह निर्माण-कार्य अनवरत चलता रहा होगा।

ज्योंही पृथ्वी का आवरण पर्याप्त ठण्डा हो गया, वर्षा होने लगी। जो बरसातें उस काल मे हुईं वैसी फिर कभी नही हुईं। दिन और रात गुजरते चले गये, दिन महीनो में बदल गये, महीने वर्षो मे परिवर्तित हो गये और वर्षो की शताब्दियाँ बन गयीं—घनघोर वर्षा लगातार होती ही रही। वह वर्षा महासागरो के खाली गड्ढों में समाती रही अथवा जो महाद्वीपों के भू-भागों में पड़ती रही वह प्रवाहित होकर समुद्र का रूप धारण करने लगी।

एक दूसरे मत के अनुसार पृथ्वी का भीतरी भाग निरन्तर ठण्डा होता रहा है, क्योंकि संचालन द्वारा धरातल से बराबर गर्मी नष्ट होती रही है। धरातल के बराबर सिकुड़ने और चटकने का उपरोक्त क्रम तब तक चलता रहा जब तक कि पृथ्वी के ऊपर एक मोटी और कठोर परत का निर्माण नहीं हो गया। इस प्रकार बनी पपड़ी की मोटाई 10 से 100 मील के बीच कुछ भी हो सकती है। पृथ्वी का ऊपरी भाग शीतल हो जाने पर सिकुड़ना बन्द हो गया। किन्तु यह समस्त प्रक्रिया कितनी कठिन है कि पृथ्वी की कुछ गहराई तक धरातल ठण्डा है और उसका सिकुड़ना बन्द हो गया है, पर यदि हम काफी गहराई तक जायें तो हमें ऐसी परत मिलेगी जो अभी भी अपने तापमान में प्रारम्भिक अवस्था के समान है। यह परत उस तापमान पर लगभग स्थिर-सी है और सिकुड़ने आदि की कोई क्रिया नहीं होती। ऊपर की शीतल और नीचे की गरम दोनों परतों—जो अपने तापमान में प्रायः स्थिर है—के मध्य एक ऐसी परत की विद्वान कल्पना करते हैं जो कि अभी भी शीतल हो रही है और सिकुड़ रही है। यह मध्यवर्ती परत ज्यो-ज्यों शीतल होकर सिकुड़ती है ऊपर की ठण्डी व ठोस परत नीचे धँसकती जाती है। इस कारण अतीत में किसी समय हमारा धरातल सिकुड़ते हुए भीतरी भाग के लिए काफी बड़ा हो गया। चूँकि ऊपरी परत अथवा भू-पृष्ठ भीतरी परत पर ही आधारित है, अतः यह आवश्यक है कि वह किसी प्रकार उसके अनुकूल बन जाय। इस प्रकार भू-पृष्ठ के सिकुड़ती हुई भीतरी परत के अनुकूल

बनने के कारण ही पृथ्वी की ऊपरी ठोस परत टूट गयी और उससे महाद्वीप एवं महासागरों का आविर्भाव हुआ।

भू-पटल पर जैसे ही प्रमुख भू-आकारों—महाद्वीप एवं महासागर—का निर्माण हुआ, जलमण्डल की स्थायी परत बननी प्रारम्भ हो गयी। किन्तु यहाँ इस प्रश्न पर विचार करना जरूरी है कि उस समय महासागरों मे जल कहाँ से प्राप्त हुआ। इस प्रश्न का पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ज्ञात किसी भी उपकल्पना के आधार पर ठीक-ठीक उत्तर नही दिया जा सकता। यदि हम यह मान लें कि सूर्य से छिटककर आने वाले पदार्थों—जिससे पृथ्वी बनी है—मे प्रारम्भ से ही जल या जल के तत्त्व वर्तमान थे, परन्तु पृथ्वी अपनी उस प्रारम्भिक अवस्था मे इस जल को धारण नही कर सकती थी। कारण किसी गैसीय पदार्थ को ऊँचे तापमान पर जलवाष्प तथा वायु को ठहराने के लिए यह आवश्यक है कि आकाशीय पिण्ड मे कुछ गुरुत्वाकर्षण शक्ति हो। दूसरे शब्दों में, उस आकाशीय पिण्ड का कुछ न्यूनतम आकार होना चाहिए। हम जानते है कि चन्द्रमा के छोटे आकार के कारण ही उसके ऊपर जलमण्डल का अभाव है। ग्रहाणु सम्बन्धी उपकल्पना के अनुसार पृथ्वी का आदिस्वरूप बहुत छोटा था। अत उस समय उस पर न जल-वाष्प ही ठहर सकती थी और न वायु ही। यह सोचना भी हमारे लिए अस्वाभाविक होगा कि अपने विकास के समय पृथ्वी द्वारा आकर्षित ग्रहाणुओ (planetesimals) के साथ-साथ वायु और पानी भी आ मिले, क्योकि यदि ये पिण्ड उल्काओ के समान हुए जैसा कि हम जानते है तो वे अपने मे कोई गैसीय पदार्थ नही रख सकेंगे।

इन सबके विपरीत कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि पृथ्वी के धरातल पर प्रारम्भ से ही कुछ जल विद्यमान था। जल और द्रव चट्टान सब अवस्थाओं और अनुपातों में घुल सकती हैं। अतः यह मान लेना उपयुक्त होगा कि पृथ्वी के भीतरी द्रवित भाग मे भारी मात्रा में जल विद्यमान था, जैसा कि आज भी है। जब कभी द्रव चट्टान धरातल के ऊपर आती है तो ठण्डी होने पर उसमे से जल छूटता है। इसीलिए ज्वालामुखी विस्फोट के समय बड़ी भारी मात्रा मे जलवाष्प बाहर निकलती है। अतः अब यह पूर्णतः स्पष्ट है कि पृथ्वी पर विद्यमान महासागरों में जल की राशि पृथ्वी के निर्माण के समय से ही बढती रही है।

महासागरीय नितल
(Oceanic Floors)

धरातल पर सर्वत्र न जल ही जल है और न स्थल ही स्थल। कही जल है और कहीं स्थल। जल और स्थल का यह विन्यास समान भी नहीं है। स्थल की अपेक्षा जल अधिक है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी का कुल क्षेत्रफल 20,00,00,000 वर्गमील है। इस क्षेत्रफल के तीन-चौथाई भाग मे जल और एक-चौथाई भाग में स्थल फैला हुआ है। यही नहीं, भू-पृष्ठ पर जलराशि का भण्डार इतना अधिक है कि यदि उसे भूमि पर समतल फैला दिया जाय तो उसके ऊपर सर्वत्र ही दो मील गहरा समुद्र लहराने लगेगा।

कई समुद्रशास्त्रियों ने स्थल की औसत ऊँचाई और समुद्र की औसत गहराई तथा स्थल की विभिन्न ऊँचाइयों और समुद्र की विभिन्न गहराइयो का अनुपात निकालने की भी चेष्टा की है। किन्तु ये सब गणनाएँ एकदम प्रामाणिक नही कही जा सकतीं। **सर जॉन मरे** (Murray) के अनुसार ये अंक अग्रांकित है :[1]

---

1 Sir John Murray : *The Ocean*, pp. 1-2

स्थल भाग

ऊँचाई	क्षेत्रफल	सम्पूर्ण पृथ्वी का प्रतिशत
12000 फुट से अधिक तक	20 लाख वर्गमील	1
6000—12000 फुट तक	40 ,, ,,	2
3000— 6000 ,,	100 ,, ,,	5
600— 3000 ,,	260 ,, ,,	13
0— 600 ,,	150 ,, ,,	8
	कुल 570 ,, ,,	कुल 29%

जल भाग

0— 600 ,,	100 ,, ,,	5
600— 3000 ,,	70 ,, ,,	3
3000— 6000 ,,	50 ,, ,,	2
6000—12000 ,,	270 ,, ,,	15
12000—18000 ,,	810 ,, ,,	41
18000 फुट से अधिक	100 ,, ,,	5
	कुल 1400 ,, ,,	कुल 71%

समुद्र के तल से समस्त भूमि की औसत ऊँचाई 2,400 फुट है। **प्रो० हिण्डस** (Hinds) के अनुसार विभिन्न महाद्वीपों की औसत ऊँचाई इस प्रकार है :[1]

उत्तरी अमरीका	2,300 फुट	एशिया	3,300 फुट
दक्षिणी अमरीका	3,100 ,,	अफ्रीका	2,200 ,,
यूरोप	1,100 ,,	आस्ट्रेलिया	700 ,,

वेगनर (Wegner) के अनुसार धरातल के 71·7% भाग पर जल और 28·3% भाग पर
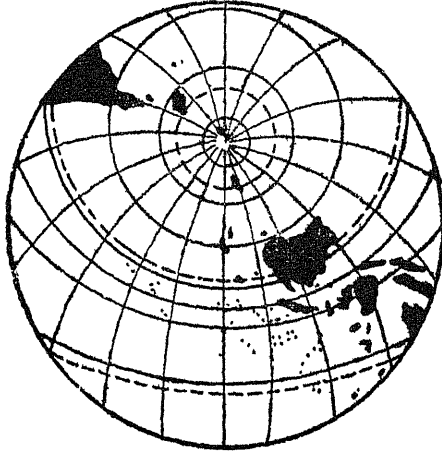
चित्र 157—**जलमण्डल**

चित्र 158—**स्थलमण्डल**

स्थल क्षेत्र विस्तृत है। किन्तु **क्रुमेल** (Krummel) का विचार है कि धरातल के 70·8% भाग पर जल और 29·2% भाग पर स्थल पाया जाता है।[2]

---

[1] N. E. Hinds : *Geomorphology*, 1943, p. 28

[2] P. Lake : *Geography*, 1952, p. 142

स्थल का सबसे बड़ा क्षेत्र उत्तरी गोलार्द्ध में है और जल का सबसे बड़ा भाग दक्षिणी गोलार्द्ध में। जल और स्थल के विस्तार मे अधिकता होने के कारण पृथ्वी को दो भागों में विभक्त किया जाता है, जल गोलार्द्ध (Water hemisphere) और स्थल गोलार्द्ध (Land hemisphere)। स्थल गोलार्द्ध मे 53% जल तथा जल गोलार्द्ध मे 89% जल है।[1] विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिणी गोलार्द्ध मे 81% जल और 19% स्थल है जबकि उत्तरी गोलार्द्धों मे यह प्रतिशत 40 और 60 है। उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्ध मे जल का वितरण अक्षाशों के अनुसार निम्न प्रकार है[2]

अक्षाश	उत्तरी गोलार्द्ध	दक्षिणी गोलार्द्ध
0	—	—
10	79 प्रतिशत	77 प्रतिशत
20	63 ,,	76 ,,
30	58 ,,	78 ,,
40	49 ,,	77 ,,
50	44 ,,	89 ,,
60	30 ,,	97 ,,
70	71 ,,	99 ,,
80	95 ,,	85 ,,
90	—	27 ,,

उपरोक्त गणनाओं के आधार पर भी यह बात स्पष्ट विदित होती है कि पृथ्वी के तीन-चौथाई भाग मे जल और एक-चौथाई भाग मे स्थल फैला हुआ है। साथ ही साथ समुद्र की औसत गहराई स्थल की औसत ऊँचाई से अधिक है। समुद्र की इस असाधारण गहराई के कारण ही
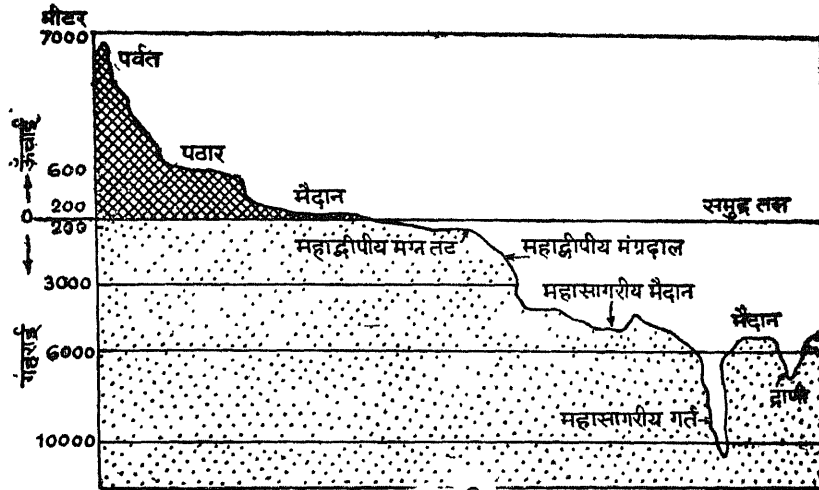
चित्र 159—समुद्र-तल के विभिन्न भाग

समुद्र का ज्ञान अभी तक सीमित है। समुद्र का तल कैसा है, किस प्रकार के जीव-जन्तु यहाँ निवास

1 Klimm, L. E., Starkey, O. P.; and Russel, J. A. : *Introductory Economic Geography*, 1956, p. 28

2 Nazir and Mathur : *Foundations of Geography*, Pt. I, p. 68

करते है और वहाँ कौन-सी वनस्पति पायी जाती है, आदि अनेक ऐसे प्रश्न है जो अभी भी मानव मस्तिष्क को उलझाये हुए है और जिनके बारे मे यथोचित ज्ञान होना शेष है । परन्तु फिर भी यह बात सुनिश्चित-सी जान पड़ती है कि जिस प्रकार स्थल की बनावट ऊँची-नीची है उसी प्रकार समुद्र का तल भी समान नही है । बल्कि वह भी ऊँचा-नीचा है । उसमे भी पहाडियाँ है, मैदान है, पठार है और गहरे गर्त है ।

यदि हम स्थल की ऊँचाई और समुद्र की गहराई को लेकर एक आरेख (Diagram) तैयार करें, जिसमे क्षेत्रफल आधार रेखा (Base line) के सहारे लम्बाई मे और समुद्र-तल से नापी गयी ऊँचाई तथा गहराई इस रेखा से खड़े रूप मे प्रदर्शित करे तो जो वक्र (curve) बनेगा, वह उच्चतामितीय वक्र (Hypsographic curve) होगा । यह वक्र धरातल के उच्चतम रूप—पहाड़ों के शिखर की अधिकतम ऊँचाई से लेकर महासागरो की अतल गहराई तक के क्रमिक ढाल को प्रदर्शित करता है । इस वक्र के रूप के अनुसार समुद्र का तल चार भागो मे बाँटा जा सकता है :

(1) महाद्वीपीय मग्नतट (Continental Shelf),
(2) महाद्वीपीय मग्नढाल (Continental Slope),
(3) गम्भीरसागरीय मैदान (Deep Sea Plain),
(4) महासागरीय गर्त (Ocean Deeps) ।

(1) **महाद्वीपीय मग्नतट** (Continental Shelf)—मग्नतट से अर्थ डूबे हुए तट से होता है । अतः महाद्वीपीय मग्नतट निश्चय ही स्थल के डूबे हुए भाग है । महाद्वीपों के तट के समीप जो भूमि जलमग्न हो जाती है वह मग्नतट बन जाती है । अत. समुद्र के तल का अति मन्द ढाल-युक्त वह भाग जो महाद्वीपो के चारो ओर फैला रहता है, महाद्वीपीय मग्नतट कहलाता है ।

महाद्वीपीय मग्नतट एक प्रकार से छिछले समुद्री मैदान है जो कही भी 180 मीटर (600 फुट) से अधिक गहरे नही होते । किन्तु कुछ भागों मे सीढीदार (Terrace) कटाव के कारण यह गहराई 1200 व 1800 फुट तक पहुँच जाती है । इनका विस्तार भी तटीय भूमि की रचना के अनुसार न्यूनाधिक होता है । यदि तट के समीप समतल मैदान है और उनका ढाल क्रमशः है तो मग्नतट का विस्तार अधिक होगा । किन्तु यदि तटीय भूमि की रचना पर्वतीय हुई तो मग्नतट का विस्तार अपेक्षाकृत कम होगा । जैसे आयर-लैण्ड के पश्चिमी तट के समीप भूमि की रचना समतल होने से मग्नतट 50 मील चौड़ा है, परन्तु दक्षिण अमरीका के पश्चिमी तट पर एण्डीज पर्वत स्थित होने से मग्नतट का विस्तार बहुत ही कम है । प्रायः विस्तृत मग्नतट हिमनदीय तटो से सम्बन्धित पाये जाते है । बड़ी-बडी नदियों के मुहानो के समीप भी चौड़े मग्नतट देखे जाते है, जैसे उत्तरी साइबेरिया, पीला सागर और श्याम की खाड़ी के मग्नतट । परन्तु सभी बड़ी नदियो के समीपीय मग्नतट चौड़े नही होते । उदाहरणतः मिसीसिपी नदी के डेल्टा के निकट कोई बडा मग्नतट नहीं है । मग्नतट के विस्तार पर ही उसका ढाल निर्भर करता है । आयरलैण्ड के पश्चिम मे मग्नतट का ढाल 1° से भी कम है । परन्तु वैसे भी ढाल 2°-3° से कहीं अधिक नहीं होता । जहाँ समुद्र में यकायक ढाल आ जाता है वहीं मग्नतट का अन्त और महाद्वीपीय ढाल का प्रारम्भ होता है ।

चित्र 160—संसार के महाद्वीपीय मग्नतट

महाद्वीपीय मग्नतटो के सम्बन्ध मे **शेपर्ड** (Shepard) का कार्य महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने संसार के लगभग सभी मग्नतटों की पैमाइश और अध्ययन किया। अपने अध्ययन के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि महाद्वीपीय मग्नतट का औसत विस्तार 42 मील और औसत गहराई 72 फैदम[1] है। मग्नतट की सतह लगभग चौरस होती है, इसका औसत 0 07′ होता है परन्तु भीतर की ओर का भाग कुछ अधिक ढालयुक्त होता है।

महाद्वीपीय मग्नतट प्राय: कम गहरे होते है। 600 फुट मे कही भी अधिक गहराई नही पायी जाती। सूर्य की किरणे इतनी गहराई तक सरलता से प्रवेश कर जाती है। सूर्य के प्रकाश और गर्मी के फलस्वरूप यहाँ सामुद्रिक वनस्पति और जीवो की बहुलता रहती है। नदियों द्वारा लायी हुई काँप भी यहाँ बराबर बिछती रहती है। यह समुद्री जीवन की वृद्धि में और भी सहायक होती है। भोजन की प्रचुरता, सूर्य के प्रकाश और कम गहरे पानी के कारण मग्नतट मछलियों के बड़े भण्डार माने जाते है। ससार के वे सभी बडे-बडे स्थल जहाँ बड़ी मात्रा में मछलियाँ पकड़ी जाती है—जैसे ग्राण्ड बैंक और डॉगर बैंक आदि—यही पर स्थित है। अत: मानव उपयोग की दृष्टि से समुद्र के ये स्थान अत्यन्त उपयोगी है।

मग्नतट की रचना किस प्रकार हुई, इस बारे मे कोई एकमत नही है। कई विद्वानो की तो यह मान्यता है कि मग्नतट वस्तुत समुद्र के नीचे भूमितट का ही एक सिलसिला है और इसलिए मग्नतट की अन्तिम सीमा ही महाद्वीपों की सही सीमा समझी जानी चाहिए। साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि प्राचीनकाल मे समुद्र महाद्वीपीय मग्नढाल (continental slope) के ऊपरी सिर तक ही विद्यमान था, किन्तु बाद मे किसी अज्ञात कारणवश समुद्र ऊपर चढ आया और महाद्वीपीय मग्नतटों को अपने अंक मे छिपा लिया। इस मत के पक्ष मे प्राय. यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि नदी-घाटियाँ बिना अपने क्रम को भग किये समुद्र मे प्रवेश कर गयी है और वहाँ मग्नतटों को पारकर महाद्वीपीय मग्न ढालों पर जाकर खुलती है। उपरोक्त मत को यदि सही मान लें तो मग्नतट की रचना समुद्र-तल के ऊपर उठ जाने से अथवा भूमि के नीचे खिसक जाने के कारण हुई है।

कुछ विद्वानों का मत है कि यदि स्थल और समुद्र का सापेक्षिक तल अपरिवर्तित रहे तो लहरे और धाराएँ शनैः-शनैः तट भूमि को काटती रहेंगी। इस क्रिया के फलस्वरूप तट के भीतरी भाग की ओर कटाव होगा जिससे तट पर भृगु (cliffs) की रचना हो जायेगी। धीरे-धीरे इसका अवसाद तट पर बिछता जायगा जो कालान्तर में एक वेदी का रूप धारण कर लेगा। परन्तु इस प्रकार बनी वेदी की चौड़ाई चट्टानो की कठोरता, लहरों और धाराओं की तीव्रता तथा स्थल व समुद्र के तल के अपरिवर्तन की अवधि आदि बातो पर निर्भर होगी। प्राय: ऐसे मग्नतट कम चौड़े होते हैं। नॉर्वे और आयरलैण्ड के चारो ओर ऐसे ही मग्नतट हैं।

अनेक विद्वानों की यह निश्चित धारणा है कि बहुत-से मग्नतटों की उत्पत्ति अन्तिम हिमयुग मे बर्फीली चादरों (Ice Sheets) और हिमनदियो (Glaciers) के आगे-पीछे हटते रहने और समुद्र के तल (level) मे परिवर्तन होते रहने से हुई है। हिमनदियों के आगे खिसकने के समय समुद्र का तल नीचा हो गया। फलस्वरूप मग्नतट बाहर निकल आया जिससे उस पर अपरदन की विधियो का प्रभाव पड़ा। हिमनदियों के पीछे हटते समय बर्फ पिघलने से समुद्र में पुन. जलराशि बढती गयी, जिससे समुद्र का तल ऊपर उठ गया।

हिमयुग में समुद्र-तल (sea level) के नीचे हो जाने के परिणामस्वरूप तटभूमि का एक लम्बे समय तक लहरों द्वारा अपरदन हुआ होगा। इस क्रिया से समुद्र में एक वेदी (platform)

---

[1] 1 फैदम=6 फुट।

का निर्माण सम्भव हो सकता है जो समुद्र-तल के ऊपर उठ जाने पर मग्नतट मे बदल गयी होगी। ससार के हिमघर्षित क्षेत्रो के चारों ओर पाये जाने वाले मग्नतट इसी प्रकार बने है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि ये मग्नतट हिमनदियों की गति से न केवल अधिक गहरे ही हो गये है, अपितु महाद्वीपीय मग्नतट भी घिस गये है। सेण्ट लारेन्स तथा मेन की खाड़ी (Gulf of St. Lawrance and Maine) और दक्षिणी नॉर्वे के मग्नतटों पर पाये जाने वाले विशाल गर्त हिम-नदियो के अपरदन का ही प्रभाव है।

उपरोक्त कारणो के अतिरिक्त मग्नतटो का निर्माण निक्षेप-क्रिया द्वारा भी सम्भव हो सकता है। भूमि का धरातल, वर्षा और नदियो द्वारा तथा भूमि-तट लहरों और धाराओ द्वारा कटता और घिसता रहता है। इस कटान और घिसावट से उत्पन्न पदार्थ भूमि-तट के समीप पानी मे संचित होता रहता है। परिणामस्वरूप महाद्वीपीय तट के समीप समुद्र-जल में एक ऊँची और विशाल वेदिका का निर्माण हो जाता है। इस वेदिका की अन्तिम सीमा वही होती है जिसके आगे लहरो और धाराओ का प्रभाव समाप्त हो जाता है। अतः समस्त पदार्थ इसी सीमा में सचित होते रहते है और वही उनका वितरण भी होता रहता है। किन्तु साथ ही यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह सीमा कभी भी स्थायी नही होती। इस मत के अनुसार नदी-घाटियाँ जो मग्नतट से होकर समुद्र मे भीतर प्रवेश कर गयी है, डूबी हुई नही है अपितु उनका निर्माण समुद्र में नदियों द्वारा पहुँचाये गये पदार्थो के निक्षेप (deposits) के कारण हुआ है। नदी जब समुद्र मे प्रवेश करती है तो मध्य मे सबसे अधिक वेगशाली प्रवाह रहता है। किनारों पर समुद्र के जल के कारण प्रवाह-शक्ति कमजोर पड़ जाती है। अतः किनारों पर प्रवाह की शिथिलता के कारण निक्षेप (deposits) बढते जाते है। परन्तु धारा के मध्य मे प्रवाह वेगशाली होने से कोई भी पदार्थ ठहर नही पाता। मग्नतट के ऊपर धारा (channel) का निर्माण मग्नतट के कटाव से नहीं, वरन मलवे के जमाव के कारण होता है। पश्चिमी अफ्रीका मे कागो (Congo) तट और सयुक्त राज्य अमरीका के अटलाण्टिक तट पर वर्तमान मग्नतट इसी प्रकार बने है।

अन्त मे, यह कह देना सही होगा कि महाद्वीपीय मग्नतट का निर्माण न तो अकेले अपरदन क्रिया के द्वारा ही और न अकेले निक्षेप क्रिया के द्वारा ही होता है। दोनो ही क्रियाएँ साथ-साथ कार्य करती रहती है। अतः महाद्वीपीय मग्नतट का निर्माण दोनो ही क्रियाओ के सामूहिक प्रभाव का फल है।

भारत के मग्नतट—भारत मे 100 फैदम की समोच्च रेखा समुद्र की ओर मग्नतट की अन्तिम सीमा निर्धारित करती है। पूर्वी तट की अपेक्षा पश्चिमी तट की ओर मग्नतट की चौड़ाई अधिक पायी जाती है। पूर्वी तट की ओर मग्नतट की औसत चौड़ाई 50 किलोमीटर ही है जो कि पश्चिमी तट का लगभग एक-तिहाई है। गगा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियो के मुहाने के सम्मुख मग्नतट की चौड़ाई 30 से 35 किलोमीटर ही पायी जाती है जबकि नर्मदा, ताप्ती, माही आदि नदियो के सामने मग्नतट सर्वाधिक चौड़ा है। पूर्वी तट की ओर मग्नतट का ढाल 21′ है जबकि पश्चिमी तट की ओर मग्नतट का ढाल कन्याकुमारी के पास 10′ एवं खम्भात की खाड़ी के पास 1′ पाया जाता है।[1]

(2) **महाद्वीपीय मग्नढाल** (Continental Slopes)—महाद्वीपीय मग्नतट की अन्तिम सीमा से ही मग्नढाल का आरम्भ होता है। मग्नढाल के प्रारम्भ से ही समुद्र में यकायक गहराई बढ़ जाती है। अतः ढाल का कोण ही मग्नतट और मग्नढाल के बीच वास्तविक भेद-रेखा है। सब जगह यह ढाल एक समान नहीं होता। यह कहीं कम और कही अधिक देखा जाता है। आयरलैण्ड

---

1 Enayat Ahmed : *Coastal Geomorphology of India*, 1972, p. 11-16

के समुद्रतट पर ढाल का कोण 5° है जबकि स्पेन के तट पर ढाल का कोण 36° है। इसकी गहराई 600 से 12,000 फुट तक मानी जाती है। परन्तु कहीं-कहीं इनकी गहराई 30,000 फुट तक भी पायी गयी है। ऐसे ढाल पूर्णरूप से पहाडी ढालों से मिलते-जुलते होते है। इनमें भी पहाडो के अनुरूप बडे-बडे खड्ड पाये जाते है। कुछ ढालो पर बीच-बीच में पठार तथा श्रेणियाँ है और कुछ ढालों पर भृगु (cliffs) भी देखी जाती है। प्राय: ढालों का बाहरी सिरा (cuter edge) समतल होता है परन्तु उनमे यत्र-तत्र कैनियन (Canyons) भी देखे जाते है।

वस्तुत. महाद्वीपीय मग्नढाल भू-पृष्ठ के दो धरातलो को—अर्थात मैदानो को जो समुद्र-तल से कुछ ऊँचाई पर होते है और समुद्र नितलो (sea bottom) को जो दो मील से अधिक गहरे होते है—जोडते है। यहाँ यद्यपि गम्भीरसागरीय पदार्थो का निक्षेप ही अधिक देखा जाता है। परन्तु स्थलवर्ती काँप भी यहाँ बिछती रहती है। नदियो द्वारा लाया हुआ कीचड़युक्त पानी इन ढालों पर बह जाता है और समस्त मलबा वहाँ एकत्रित होता रहता है। मलबे के इस एकत्री-करण को देखकर ही एक समय कुछ विद्वानों ने यह विचारधारा प्रचलित की है कि इन ढालो का निर्माण महाद्वीपीय मग्नतटों के नीचे की ओर मुड़ जाने और साथ-साथ उन पर अवसाद की मोटी तहो के जमा हो जाने से हुआ है। परन्तु इन ढालो की स्थिति और उनका खड़ापन अवसाद के निक्षेप द्वारा स्पष्ट नही किया जा सकता। यही नही, बहुत-से ढालो के सिरो के पास ग्रेनाइट का पाया जाना और उस पर अवसाद की पतली परत उपरोक्त मत का पूर्णतया खण्डन कर देती है। स्पेन के तट के समीप महाद्वीपीय मग्नढाल एक बड़े शृंग (crest) की तरह दिखाई पड़ता है और जिसका ढाल 36° तक है, परन्तु पीरू तट के समीप ढाल 6° और आयरलैण्ड तट के समीप केवल 5° ही है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट विदित होता है कि महाद्वीपीय मग्नढाल भू-गर्भिक हलचलों (tectonic featuie) का ही प्रतिफल है। महासागरों के अधिकांश महाद्वीपीय मग्नढाल एक ओर हल्के पदार्थो से बने महाद्वीपों और दूसरी ओर भारी पदार्थो से बने समुद्री भागो के बीच सम्पर्क-स्थल (junction) पर आवर्तक भ्रशनो (recurient faulting) के द्योतक है। अत: इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भ्रश परिकल्पना (fault hypothesis) को मान लेना ही अधिक युक्तिसंगत है। फिर बहुत-से महाद्वीपीय मग्न ढालो पर कैनियन तथा भूचाल-पट्टी का पाया जाना आदि तथ्य भी उपरोक्त मत को मान लेने मे सहायता पहुँचाते है। बहुत-से स्थानों पर अपरदन तथा निक्षेप से महाद्वीपीय मग्नढालो मे बड़ा परिवर्तन हो गया है।

अन्त समुद्री कैनियन (Sub-marine Canyons)—नदी की संकीर्ण और अत्यधिक गहरी घाटी को गम्भीर खड्ड या कैनियन (Canyon) कहा जाता है। ऐसे कैनियन न केवल महाद्वीपों पर वरन् महासागरो मे भी पाये जाते है। समुद्र मे मग्नतट और मग्नढालो पर ये कई जगह देखे जाते है। समुद्र के भीतर होने से ही इन्हें अन्त:समुद्री कैनियन (Sub-marine Canyons) कहा जाता है।

अन्त:समुद्री कैनियन मग्नतट और मग्नढाल दोनो पर फैले हुए पाये जाते है। परन्तु मग्न-ढालो पर पाये जाने वाले कैनियन अपेक्षाकृत बहुत अधिक गहरे होते है। मग्नतटो पर पाये जाने वाले अनेक कैनियन ऐसे स्थानो पर पाये जाते है जहाँ कि समीप ही निकटवर्ती स्थल भागो से नदियाँ आकर मिलती है। उदाहरणत:, सिन्धु, कांगो और हडसन नदियो के मुहानो के पास ऐसे कैनियन वर्तमान हैं। मग्नढालो पर बने कैनियन यद्यपि मग्नतटो पर फैले हुए पाये जाते है परन्तु उनका धरातली अपवाह (Land drainage) से कोई सम्बन्ध नही होता। यद्यपि यह सही है, उनमें धरातली नदियों की घाटियो के अनेक स्वरूप (features) पाये जाते है जैसे सहायक नदियो का टेढ़ा-मेढा मार्ग और निम्न घाटियो की चौड़ाई की अधिकता आदि। किन्तु ये सब चिह्न 6,000 फुट की गहराई तक ही पाये जाते है। यहां पर पाये जाने वाले कैनियन एक मील से लेकर

दस मील तक चौड़े तथा खड़े ढाल वाले होते है। मग्नढालो पर ये बहुत अधिक गहरे दिखाई पड़ते है। यहाँ ये ठोस चट्टानों को काटकर 2,500 फुट तक गहरे हो गये है। बहुत-से खड्ड 6,000 फुट तक और कुछ 10,000 फुट तक भी गहरे देखे जाते है। गम्भीर समुद्रो की तली पर ये कहाँ जाकर समाप्त होते है, यह अभी भी अज्ञात है।

अन्त.समुद्री कैनियन के निर्माण अथवा उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे कई मतभेद है। कई विद्वानो ने समुद्र मे बने इन कैनियन और स्थल पर बने कैनियन के बीच समानता देखकर यह सुझाया है कि इनकी उत्पत्ति निश्चय ही अनाच्छादन के स्थलवर्ती साधनो (Sub-aerial) द्वारा हुई है। किन्तु कुछ विद्वानों ने इसके विपरीत अनाच्छादन के समुद्री साधनो (Sub-oceanic) द्वारा ही इनकी उत्पत्ति को सम्भावित माना है। अनाच्छादन के समुद्री साधनों (Sub-oceanic) द्वारा हुई उत्पत्ति की विचारधारा मे **डेली की घनत्व धारा साध्य** (Suspension or Density Current Theory) विशेष महत्त्वपूर्ण है। डेली के मतानुसार हिमयुग मे मग्नतट 300 फुट की गहराई तक बाहर निकल आये थे। इन पर हवा, लहरे, धाराएँ तथा ज्वार-भाटा आदि का प्रभाव हुआ, जिससे इनके ऊपर की चिकनी मिट्टी, कीचड व बालू आदि हटने लगी। इन सबके हटने से समुद्र के स्वच्छ जल से कीचड़युक्त पानी अपने घनत्व मे अधिक हो गया और वह नीचे तली में बैठने लगा तथा मग्नतट के नीचे बहने लगा। मग्नतट के नीचे बहते समय इसका प्रवाह केन्द्रित हो गया। प्रवाह केन्द्रित हो जाने से वह नालियों मे परिणत हो गया। मग्नतटों के बाहर मग्नढालो पर खड़े ढाल होने से इन उप-सामुद्रिक धाराओ की अपरदन-शक्ति बढ गयी जिससे इनकी गहराई अधिक हो गयी।

समुद्र की तली की भौतिक रचना के सम्बन्ध मे वर्तमान ज्ञात सूचनाएँ **डेली** के मत के प्रतिकूल है। अत: अब **डेली** के विचारों की मान्यता घटती जा रही है। समुद्र-तली की खोज से यह पता चला है कि अन्त.समुद्री कैनियन (Sub-marine Canyons) मग्नतट पर छिछले पानी मे अरूद्ध नदी मुख (Estuaries) तक फैले हुए पाये जाते है जहाँ पर कि घनत्व धारा (Density or Suspension Currents) उत्पन्न ही नही हो सकती। इसके अतिरिक्त कीचड़ का जमाव मग्नतट के बाहर कभी भी अधिक नही होता।

आजकल विद्वानों की यह मान्यता है कि अन्त:समुद्री गर्तो की रचना नदियों द्वारा ही हुई है। बहुत-से ऐसे गर्त नवीन वलित चट्टानों मे बने हुए पाये जाते है। इससे यह प्रकट होता है कि किसी तीव्र विधि द्वारा ही इनका निर्माण हुआ है। **शेपर्ड** ने इस सम्बन्ध मे यह मत प्रकट किया है कि हिमयुग मे समुद्र-तल (sea level) 250 अथवा 300 फुट तक नीचे नही हुआ था, परन्तु बर्फ के परत और हिमनदियाँ इतनी मोटी थी कि समुद्र का तल लगभग 5,000 फुट नीचा हो गया। महाद्वीपो पर बर्फ का दबाव अधिक होने से महाद्वीपों के तट आगे को उभर गये होंगे जिससे मग्नतटों के अधिक खुले हुए भागो पर नदियों को अपरदन का अधिक अवसर मिला होगा। इसी से इन अन्त समुद्री कैनियन की रचना हुई।

(3) **गम्भीरसागरीय मैदान** (Deep Sea Plain)—महाद्वीपीय मग्नढाल के पश्चात गम्भीर-सागरीय मैदान की शुरूआत होती है। समुद्र की तली का लगभग दो-तिहाई भाग गम्भीरसागरीय मैदान से घिरा हुआ है। इसकी औसत गहराई 12,000 से 18,000 फुट है। इसका क्षेत्रफल लगभग 98 लाख वर्गमील है। ये एक प्रकार के ऊँचे-नीचे मैदान है, परन्तु इनका ढाल क्रमिक होता है। धरातल से नदियों द्वारा बहाकर लायी गयी कोई भी वस्तु यहाँ तक नही पहुँच पाती। एल्बेट्रास (Albatross) अन्वेषक-दल को निरन्तर ध्वनीकरण (Echo-sounding) द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि महासागरीय तल का पेंदा आशा के विपरीत बहुत अधिक ऊबड-खाबड़ है। विस्तृत अन्त:समुद्री पठार तथा लम्बी आड़ी-तिरछी कटके (ridges) यत्र-तत्र मिलती है। ऐसी कटकें

कहीं-कहीं समुद्र-तल से ऊपर निकली होती है जो द्वीपों का निर्माण करती है। जापान द्वीप इसी प्रकार की कटक के ऊँचे उठे हुए भाग है। समस्त समुद्रो मे साधारण ऊँचाई की कटके मिलती है। इनके किनारे बड़े ढालू होते है। मैदान से प्राय तीव्र ढाल वाली ज्वालामुखी श्रेणियाँ भी ऊपर उठी हुई देखी जाती है। हाल ही के अन्वेषण से विदित हुआ है कि मुख्यत प्रशान्त महासागर में चपटे सिरे वाले पर्वत जो तल से लगभग आधे मील ऊँचे होते है, पाये जाते है। ऐसे अन्त.समुद्री पर्वतों को ग्यूओट्स (Guyots) नाम दिया गया है।

महासागरीय तल का धरातल ठोस शैलो का बना हुआ नही होता। ये क्षेत्र मूलत· समुद्री जीव-जन्तुओ के अवशेषो, सूक्ष्म वनस्पति पदार्थों तथा कई प्रकार की बारीक पकों (oozes) द्वारा ढके रहते है। अधिक गहरे स्थलो पर लाल-मृत्तिका और ज्वालामुखी राख के निक्षेप पाये जाते है।

(4) **महासागरीय गर्त** (Ocean Deep)—समुद्र की तली मे यत्र-तत्र कई गहरे गर्त विद्यमान है जिन्हे महासागरीय गर्त (ocean deeps) कहा जाता है। इसके किनारे प्राय: एकदम ढालू होते है, परन्तु क्षेत्रफल मे ये बहुत कम है। ये सम्पूर्ण समुद्र का लगभग 10 हजार वर्गमील क्षेत्र ही घेरे हुए है। यह एक आश्चर्य की बात है कि समुद्र के मध्य मे इनका पूर्ण अभाव है। ये प्राय. समुद्र तटो की ओर हटकर पाये जाते है। जिन समुद्र तटों के भागो मे प्राय· भूचाल के धक्के और ज्वालामुखी का प्रकोप होता रहता है वहाँ ये बहुतायत से मिलते है। प्रशान्त महासागर के दोनो किनारो पर (round the Pacific) ऐसे कई गर्त है। ये गहरे गर्त घोर अन्धकार और अत्यन्त शीतल जल से पूर्ण रहते है। इन गर्तो की 18,000 से 30,000 फुट के बीच गहराई पायी जाती है। ससार का सबसे गहरा गर्त फिलीपाइन के निकट 'स्वायर गर्त' है जिसकी गहराई 35,400 फुट है। सन् 1957 में सोवियत अनुसन्धान-पोत **वित्याज** पर सवार सोवियत महासागर-विदो ने पश्चिमी प्रशान्त महासागर मे 6·8 मील गहरा **मेरिआनास गर्त की खोज की है जो महासागरों में गहनतम हो सकता है।**[1]

ससार के समस्त महासागरो मे अब तक लगभग 57 गर्तो की खोज की जा चुकी है। इन गर्तो मे से 32 प्रशान्त महासागर, 19 अन्धमहासागर एव 6 हिन्दमहासागर मे है। कुछ प्रसिद्ध गर्तो का क्षेत्रफल और उनकी गहराई नीचे दी जा रही है।[2]

नाम	स्थान	क्षेत्रफल (हजार वर्गमील)	गहराई (फैदम)
1. टस्काटोरा या जापान	जापान के निकट	908	5,655
2. सुण्डा	पूर्वी हिन्द महासागर	883	3,828
3. पोर्टोरिको	पश्चिमी द्वीपसमूह	697	4,662
4. टोगा	मध्य दक्षिणी प्रशान्त महासागर	613	5,022
5. स्वायर या फिलीपाइन	उ०-प० प्रशान्त महासागर	550	4,767
6. रोमशे	दक्षिणी अन्ध महासागर	468	4,030
7. मरे	मध्य उत्तरी प्रशान्त महासागर	1,033	3,540
8. वलडीविया	दक्षिण अन्ध महासागर	1,136	3,134
9. चैलेन्जर	उत्तरी प्रशान्त महासागर	129	5,269

1 अलक्जेण्डर मारशैक : **पृथ्वी और अन्तरिक्ष,** पृ० 226

2 R. C. Sharma and M. Vatal : *Oceanography for Geographers*, p. 44

संसार के महासागर

पृथ्वी के धरातल पर पाँच बड़े महासागर है जिनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

अन्ध महासागर
(Atlantic Ocean)

अन्ध महासागर अपने विस्तार मे प्रशान्त महासागर का लगभग आधा है। यह विश्व के कुल क्षेत्रफल के 1/6 भाग को घेरे हुए है। इसका क्षेत्रफल लगभग 3,60,00,000 वर्गमील है। इसकी औसत गहराई 2 मील से अधिक है।

अन्ध महासागर अपनी आकृति मे अंग्रेजी के अक्षर S के सदृश है। अत स्वभावत' ही टेढा-मेढा है। यह महासागर विषुवतरेखा पर सँकरा है। सेण्ट रॉक अन्तरीप से अफ्रीका का लाइबेरिया तट केवल 1,600 मील की दूरी पर है। यह चौड़ाई उत्तर की ओर 40° अक्षाश के समीप 3,000 मील तथा दक्षिण मे 35° अक्षाश के निकट 3,700 मील है। उत्तर की ओर अन्ध महासागर पहले चौड़ा होकर पुन' संकुचित हो जाता है। बेविल नामक श्रेणी उत्तरी महासागर और अन्ध महासागर के मध्य सीमा बनाती है। दक्षिण की ओर अन्ध महासागर काफी चौड़ा होकर अण्टार्कटिका महासागर मे मिल जाता है।
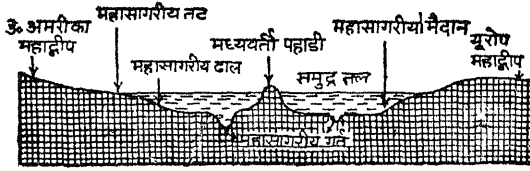
चित्र 161—अन्ध महासागर का नितल

अन्ध महासागर का तल—साधारणत. इस महासागर में मग्नतट सपाट एव चौड़े है। किन्तु यूरोप और अफ्रीका के तटो पर बिस्के की खाड़ी से लगाकर उत्तम आशा अन्तरीप तक और दक्षिणी अमरीका के तट पर रियोग्रेण्डे तक ये अपेक्षाकृत बहुत ही सँकरे है। अन्य स्थानो पर ये काफी अधिक चौड़े है। उदाहरणत' सयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, न्यूफाउण्डलैण्ड, आइसलैण्ड और ग्रीनलैण्ड के तटों पर इनका विस्तार अधिक है। दक्षिणी अन्ध महासागर से भी पेटेगोनिया के पूर्व मे और उत्तम आशा अन्तरीप के चारो ओर मग्नतट पर्याप्त रूप से चौड़े है।
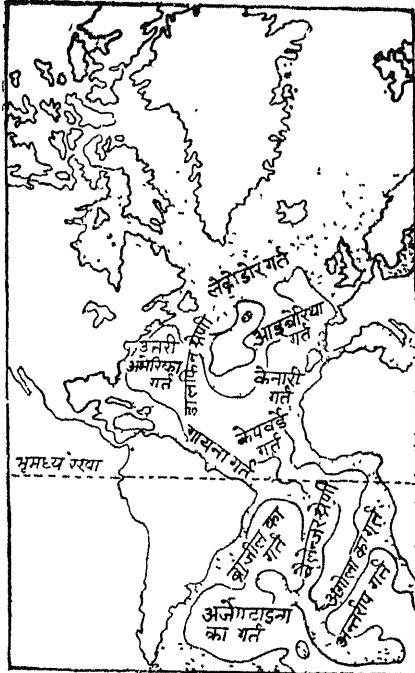
चित्र 162—अन्ध महासागर के गर्त

यद्यपि इस महासागर के मग्नतट सपाट ओर चौड़े है परन्तु गम्भीरसागरीय मैदान (deep sea plain) एकसे गहरे नहीं है। पूर्व और पश्चिम दोनों तरफ से ये सागर-तल धीरे-धीरे बीच की ओर ऊँचे उठते जाते है, यहाँ ये एक लम्बी पहाड़ी का रूप ले लेते हैं। यह पहाड़ी महासागर को दो भागो मे बाँट देती है। उत्तर मे इसे डोल्फियन पहाड़ी (Dolphian Ridge) और दक्षिण में चेलेन्जर की पहाड़ी (Challenger Ridge) का नाम दिया गया है। वैसे इस सम्पूर्ण पहाड़ी को मध्य अन्ध महासागरीय पहाड़ी (Central Atlantic Ridge) कहा जाता है। महासागर मे कहीं-कही यह पहाड़ी समुद्री सतह से भी ऊपर

उठ गयी है। एजोर्स (Azores), एसेन्शन (Ascension), सेण्ट पॉल्स राक्स (St Paul's Rocks) और ट्रिस्टन डी कुन्हा (Tristan de Cunha) आदि द्वीप सब इसी पहाड़ी के अग हैं। इस पहाड़ी के दोनों ओर अधिकाशत: ढाल मन्द है। भूमध्यरेखीय भागो को छोडकर इस पहाड़ी का कोई भी भाग 12,000 फुट से अधिक गहरा नही है। उत्तर की ओर यह पहाडी विस्तृत छिछले पानी के भाग से मिली हुई है जिसे उत्तर मे टेलीग्राफ पठार (Telegraph Plateaux) कहते है। दक्षिण की ओर यह पहाडी काफी चौड़ी होती जाती है और धीरे-धीरे पूर्व की ओर मुड जाती है और वहाँ यह यकायक ही समाप्त हो जाती है। दक्षिणी अन्ध महासागर मे जहाँ यह चौड़ी होती है, यह पश्चिमी अफ्रीका के मग्नतट के साथ वाल्फिश के उत्तरी-पूर्वी उभार (Welfish Ridge) द्वारा जुडी हुई है। उत्तरी अन्ध महासागर मे भी एक आड़ी कटक (transverse ridge) ब्रिटिश द्वीपसमूह को ग्रीनलैण्ड से जोडती है। इसकी गहराई 500 फैदम से भी कम है।

अन्ध महासागर मे अनेक द्रोणियाँ स्पष्ट रूप से देखी जाती है जिनमें से मुख्य-मुख्य यहाँ नीचे दी जा रही है·

(1) **उत्तरी अमरीका की द्रोणी** (North American Basin)—यह द्रोणी पश्चिमी द्वीपसमूह के उत्तर-पूर्व और संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्व में स्थित है। इसको पश्चिमी भारतीय द्रोणी (West Indian Basin) भी कहा जाता है।

(2) **गायना की द्रोणी** (Guina Basin)—यह दक्षिणी अमरीका के गायना तट से कुछ दूर दक्षिण की ओर स्थित है। वस्तुत. यह उत्तरी अमरीका की द्रोणी का ही भाग है। अन्ध महासागर की सबसे अधिक गहराई इसी मे पायी जाती है।

(3) **ब्राजील की द्रोणी** (The Brazilian Basin)—यह दक्षिणी अन्ध महासागर में अंगोला द्रोणी के ठीक विपरीत ब्राजील के पूर्वी तट पर विद्यमान है। इसके अन्दर एक बड़ा गर्त (Deep) है।

(4) **अर्जेण्टाइना की द्रोणी** (Argentina Basin)—यह अर्जेण्टाइना के पूर्वी तट पर स्थित है। इसमें एक बड़ा महासागरीय गर्त (Oceanic Deep) है।

(5) **आइबेरिया की द्रोणी** (Iberian Basin)—यह पुर्तगाल के पश्चिम मे विद्यमान है।

(6) **केप वर्डे की द्रोणी** (Cape Verde Basin)—अफ्रीका महाद्वीप के पश्चिमी तट पर उभरे हुए भाग से कुछ दूर दो द्रोणियाँ है। इनमें उत्तर की ओर कनारी की छोटी द्रोणी है और दक्षिण मे केप वर्डे की द्रोणी है।

(7) **अंगोला की द्रोणी** (Angola Basin)—यह ब्राजील की द्रोणी के ठीक सम्मुख अफ्रीका के पश्चिम मे स्थित है।

(8) **केप-द्रोणी** (Cape Basin)—यह अफ्रीका के दक्षिण-पश्चिम में उत्तम आशा अन्तरीप के निकट स्थित है।

साधारणत महासागरीय गर्तों का अभाव, विस्तृत और चौड़े मग्नतट तथा मध्य की पहाड़ी अन्ध महासागर की विशेषताएँ है।

अन्ध महासागर के द्वीप—वैसे तो इस महासागर मे कई द्वीप है परन्तु **ब्रिटेन** और **न्यूफाउण्डलैण्ड** जैसे 'महाद्वीपीय' द्वीप बहुत ही कम है। ये दोनों द्वीप मग्नतट के ऊपर उठे हुए भाग है और क्रमशः यूरोप तथा उत्तरी अमरीका महाद्वीपो के अग है। **पश्चिमी द्वीपसमूह** की शृखला भी मुख्य स्थल भाग से सम्बन्धित है। उत्तरी अन्ध महासागर मे **आइसलैण्ड** तथा **फेरोस** द्वीप उत्तरी स्कॉटलैण्ड और ग्रीनलैण्ड के बीच अन्त.समुद्री कटक के ऊपर उठे हुए भाग है। इसी प्रकार सुदूर दक्षिण मे **फॉकलैण्ड, दक्षिणी ओरकेनीज, शटलैण्ड, जॉर्जिया** तथा **सेण्डविच** द्वीपसमूह भी अन्तःसमुद्री पठार और जटिल कटकों (ridges) के ऊपर उठे हुए अंश है, जो दक्षिणी अमरीका

के अन्तिम छोर मे अण्टार्कटिक महाद्वीप के ग्राहमलैण्ड प्रायद्वीप के मध्य फैले हुए हैं। वास्तविक महासागरीय द्वीप मध्य अटलाण्टिक कटक से प्रक्षेपित होते है। उत्तर मे **एजोर्स** द्वीप तथा दक्षिण मे **एशेन्सन** और **ट्रिस्टन डी कुन्हा** ऐसे ही द्वीप हैं। मध्यवर्ती कटक के पूर्व मे **सेण्ट हेलिना** और पश्चिम मे **ट्रिनिडाड** दोनों ही द्वीप गम्भीरसागरीय मैदान (deep sea plain) से ऊपर उठे हुए हैं। **बरमूड़ा** द्वीपसमूह प्रवालरचित है जो अन्त.समुद्री ज्वालामुखी शकुओं पर आधारित हैं। मोरक्को तट से दूर **मेडिरिया** द्वीप पूर्णत ज्वालामुखी पदार्थों से निर्मित है। अन्य महासागरों के अन्य कई द्वीप जैसे **कनारी** और **केप वर्डे** द्वीप समुद्र मे मुख्य स्थल के प्रक्षिप्त पठारी भाग मे ही ऊपर उठे हुए है। गायना की खाड़ी मे भी अनेक ऐसे छोटे-छोटे द्वीप है।

तटीय समुद्र—दक्षिणी अन्ध महासागर मे जिस प्रकार मग्नतटों का अभाव-सा है उसी प्रकार तटीय समुद्रो का भी है। इसके विपरीत उत्तरी अन्ध महासागर मे महाद्वीप यूरोप के तटीय भागों के डूब जाने से न केवल वह एक प्रायद्वीप ही बन गया है, अपितु वहाँ कई विस्तृत तटीय समुद्रो की रचना हुई है। **भूमध्यसागर, उत्तरी सागर** और **बाल्टिक सागर** इनमे उल्लेखनीय है। भूमध्यसागर कई स्थानो पर 2,000 फैदम से भी अधिक गहरा है। सर्वाधिक गहरा भाग 2,533 फैदम है जो ग्रीस तथा क्रीट के मध्य मे है। भूमध्यसागर **डार्डिनलस जलसन्धि, मारमरा समुद्र** और **बासफोरस जलसन्धि** द्वारा **कालासागर** से जुड़ा हुआ है। कालासागर की अधिकतम गहराई 1,227 फैदम है। **जिब्राल्टर जलसन्धि** द्वारा भूमध्यसागर अन्ध महासागर से जुड़ा हुआ है। यहाँ इसकी गहराई 200 फैदम है। इटली व यूगोस्लाविया के मध्य **एड्रियाटिक समुद्र** एक गहरा तटीय समुद्र है। उत्तरी सागर एव बाल्टिक समुद्र छिछले समुद्र हैं। इनकी गहराई 100 फैदम से भी कम है।

महासागर के अमरीका वाले भाग की ओर भी कई तटीय समुद्र है। हडसन की खाड़ी और बेफिन की खाड़ी 100 फैदम से भी कम गहरी खाड़ियाँ है। ग्रीनलैण्ड तथा बेफिन द्वीप के मध्य डेविस जलसन्धि अन्ध महासागर को उत्तरी ध्रुव महासागर से जोड़ती है। दक्षिण मे मेक्सिको की खाड़ी स्थित है। इसकी अधिकतम गहराई 2,080 फैदम है। केरेबियन समुद्र की रचना बडी जटिल है। इसमे अनेक द्रोणियाँ तथा पहाड़ियाँ है। यहाँ बार्टलेट गर्त 3,937 फैदम गहरा है।

प्रशान्त महासागर
(Pacific Ocean)

प्रशान्त महासागर विश्व का सबसे बड़ा महासागर है। अपने तटवर्ती समुद्रों सहित यह विश्व के लगभग एक-तिहाई क्षेत्र को घेरे हुए है और विश्व के कुल स्थल भाग से इसका क्षेत्र लगभाग $\frac{1}{8}$ अधिक है। आकार मे यह एक बड़े त्रिभुज के समान है जिसका शीर्ष उत्तर में बेरिग जलसन्धि है और आधार दक्षिण मे अण्टार्कटिका महाद्वीप है। इसकी भुजाएँ सीधी न होकर टेढी-मेढी है। उत्तर से दक्षिण इसकी लम्बाई बेरिग जल सन्धि से अडारे अन्तरीप तक 9300 मील है और विषुवत रेखा के सहारे चौड़ाई 10,000 मील से भी अधिक है। इसका कुल क्षेत्रफल 700 लाख वर्गमील है।
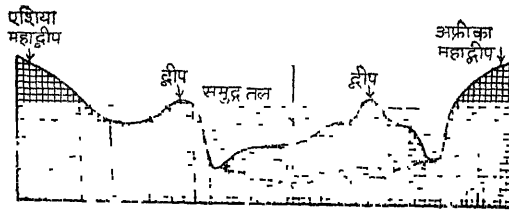
चित्र 163—प्रशान्त महासागर का नितल

प्रशान्त महासागर की तली—प्रशान्त महासागर की तली का अधिकतर भाग गम्भीरसागरीय मैदान (Deep sea plain) से घिरा हुआ है। इस मैदान की औसत गहराई अन्य किसी

भी समुद्र के मैदान की अपेक्षा बहुत अधिक है। इसकी औसत गहराई 4,000 फैदम है। इसका धरातल सामान्यत एकसमान है, किन्तु कुछ भागो मे बड़ी विपरीतता देखी जाती है। यद्यपि यहाँ कोई क्रमबद्ध उभार नही है, परन्तु कई स्थानो पर महासागरीय तली का धरातल पठार के रूप मे ऊपर उठ गया है। एल्बेट्राज पठार इसका अच्छा उदाहरण है।

इस महासागर के दक्षिण तथा मध्यवर्ती भाग मे ऐसे कई बड़े क्षेत्र है जिनकी गहराई 12,000 फुट से भी कम है। मध्य प्रशान्त का उभरा हुआ भाग आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्व मे 40° अक्षाश तक तथा पूर्व मे 150° देशान्तर तक फैला हुआ है। इन उभरे हुए भागो अथवा अन्त समुद्री पठारों (Sub-marine plateaux) पर अनेक द्वीपसमूह स्थित है। मध्य तथा दक्षिणी प्रशान्त के उभरे भागो पर अनेक ज्वालामुखी द्वीप विद्यमान है जो अधिकतर चाप के आकार में फैले हुए है। यहाँ अधिकाश द्वीपो के सिरो पर बडी मात्रा में प्रवाल रचनाएँ (Coral formations) पायी जाती है।

यद्यपि इस महासागर मे अन्त समुद्री कटको (Sub-marine ridges) का अभाव है, परन्तु इसके पूर्वी भाग मे पूर्वी प्रशान्त कटक (East Pacific Ridge) पायी जाती है। यह प्रशान्त के पूर्वी भाग मे मध्य अमरीका से प्रारम्भ होकर दक्षिण पश्चिम की ओर फैलती हुई न्यूजीलैण्ड के दक्षिण में अण्टार्कटिक तक चली गयी है। यह 2,000 फैदम से भी कम गहरी है। यह कटक (ridge) प्रशान्त की मध्यवर्ती द्रोणी (depression) को दक्षिण अमरीका के पश्चिमी तट पर स्थित गहरी द्रोणियों से अलग करती है।

प्रशान्त महासागर के उत्तरी भाग में उत्तरी प्रशान्त नामक एक द्रोणी (North Pacific Basin) है जो 10° उत्तरी अक्षांश से कैरोलिन द्वीप के किनारे पूर्व की ओर फैल गयी है। इस द्रोणी का नितल बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। इसमे यत्र-तत्र नुकीली चोटियाँ है जिनके सिरे घिस-घिसाकर समतल और चिकने हो गये है। इन नुकीली पहाड़ी चोटियो को 'गुयोटस' (Guyots) कहते है।

उत्तरी प्रशान्त द्रोणी (North Pacific Basin) के दक्षिण मे कैरोलिन की द्रोणी तथा उभार (swells) है। कैरोलिन का यह उभार लगभग 100 से 200 मील चौड़ा है। यह 12,000 फुट से 9000 फुट तक ऊपर उठा हुआ है और बहुत मन्द ढालयुक्त है। कैरोलिन के इसी उभार पर कैरोलिन द्वीपसमूह (Caroline Islands) स्थित है। इस उभार का कुछ भाग दक्षिण की ओर फैला हुआ है जो कैरोलिन की पश्चिमी और पूर्वी द्रोणियों को अलग करता है। सोलोमन द्वीपसमूह के उत्तर की ओर एक सोलोमन का उभार है जो कि 15,000 फुट गहरा है।

प्रशान्त महासागर के मध्यवर्ती भाग मे अन्त.समुद्री कूटों तथा द्रोणियो का पूर्ण अभाव है। इस भाग मे बहुत सारी ज्वालामुखी चोटियाँ है जिन पर प्रवाल भित्तियाँ (coral reefs) खड़ी है।

प्रशान्त महासागर की मुख्य-मुख्य द्रोणियो का वितरण नीचे की तालिका मे दिया गया है :[1]

पश्चिमी प्रशान्त	मध्य प्रशान्त	पूर्वी प्रशान्त
(1) फिलीपाइन द्रोणी	(1) उत्तरी प्रशान्त की द्रोणी	(1) ग्वाटेमाला की द्रोणी
(2) कैरोलिन द्रोणी	(2) मौरियाना की द्रोणी	(2) पीरू की द्रोणी
(3) सोलोमन द्रोणी	(3) मध्य प्रशान्त की द्रोणी	(3) प्रशान्त-अण्टार्कटिका द्रोणी
(4) कोरल द्रोणी	(4) दक्षिणी प्रशान्त की द्रोणी (इनमें टौंगा-कर्माडेक का निम्न तथा बार्ड का गर्त भी सम्मिलित है)	
(5) न्यू हैब्राइड्स द्रोणी		
(6) फीजी द्रोणी		
(7) पूर्वी आस्ट्रेलिया की द्रोणी		

[1] S. C. Chatterji : *Physical Basis of Geography*, p. 334

प्रशान्त महासागर की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें मग्नतटों का विस्तार बहुत कम देखा जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक सँकरे तथा गहरे गर्त है जो अधिकाशतः तटों के निकट स्थित है। ये गर्त प्रशान्त महासागर के सबसे गहरे भाग है। अब तक जो किसी भी महासागर मे सर्वाधिक गहराई नापी गयी है वह सोवियत अनुसन्धान-पोत **वित्याज** पर सवार सोवियत महासागरविदों ने नापी है। अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष सन् 1957 में सोवियत वैज्ञानिकों ने पश्चिमी प्रशान्त में **ग्वाम द्वीप** से हटकर **मेरिआनास** खन्दक में 35,958 फुट अथवा $6\frac{4}{5}$ मील की गहराई का पता लगाया है। इस महासागर के अन्य प्रमुख गर्त निम्न है—फिलीपाइन के निकट **एमडम गर्त** (5,902 फैदम), क्यूराइल खन्दक मे **तुस्करोरा गर्त** (4,655 फैदम), जापान खन्दक में **रामपोगर्त** (5,771 फैदम); मेरिना खन्दक मे **मान्शू गर्त** (5,395 फैदम); टोंगा-कर मेडक खन्दक मे **एल्ड्रीच गर्त** (5,155 फैदम); **एल्यूशियन गर्त** (4,199 फैदम) तथा **अटाकामा गर्त** (4,175 फैदम)।

प्रशान्त महासागर के द्वीप—प्रशान्त महासागर में असंख्य द्वीप है। अनुमान है कि इनकी कुल सख्या लगभग 20,000 है, किन्तु इनका क्षेत्रफल अपेक्षाकृत बहुत कम है। अधिकांश बड़े द्वीप मुख्य स्थल भागों के अंग है जो निमज्जित द्रोणियों द्वारा अलग हो गये हैं। इनमे पूर्व की ओर एल्यूशियन, वैंकुअर तथा चिलियन द्वीपसमूह तथा पश्चिम मे क्यूराइल, जापान, फिलीपाइन, हिन्देशिया व न्यूजीलैण्ड द्वीपसमूह है। इनमे से अधिकाश द्वीप वलित पर्व मामलों के अंग है, जिनमें कई ज्वालामुखी शिखर है।

प्रशान्त महासागर के अधिकतर छोटे एव बिखरे हुए द्वीपसमूह दक्षिण-पश्चिम की ओर स्थित है। मोटे तौर पर इनके तीन बडे समूह है—(1) **मलेनेशिया** (जिसमे सोलोमन, न्यू हैब्राइड्स और फिजी द्वीप है), (2) **मिक्रोनेशिया** (केरोलाइन्स, मार्शल, गिलबर्ट और एलिस द्वीप); (3) **पोलिनेशिया** (लाइन समूह, कुक, सोसाइटी एवं टोमाटु द्वीप)। उत्तरी प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप स्थित है। महासागर के पूर्व तथा उत्तर-पूर्व मे द्वीपो का अभाव पाया जाता है। यहाँ कुछ एकाकी द्वीप हैं जैसे मध्य अमरीका के तट से 1,500 मील की दूरी पर स्थित क्लिपर्टन, इक्वेडार तट से 600 मील दूर गेलापागोस द्वीपसमूह और चिली तट से 360 मील दूर ईस्टर द्वीप एवं ज्वान फरनेण्डीज द्वीप है।

प्रशान्त महासागर मे महाद्वीपीय द्वीपों के अतिरिक्त ज्वालामुखी एवं प्रवाल द्वीप भी देखे जाते है। इस प्रकार हवाई द्वीप पाँच विभिन्न युगों के ज्वालामुखियों से बने हुए हैं। महासागर के उष्ण भागो मे अनेक प्रवाल द्वीप स्थित हैं।

तटवर्ती समुद्र (Marginal Seas)—इस महासागर में तटवर्ती समुद्र मुख्यतः पश्चिम की ओर स्थित है। पूर्व की ओर अमरीकन तट की लम्बवत प्रकृति के कारण इनका अभाव पाया जाता है। इस ओर केलीफोर्निया की खाड़ी अपवादस्वरूप है। पश्चिम की ओर एशिया के मुख्य स्थल भाग और तटवर्ती द्वीप शृंखलाओं के बीच कई समुद्र स्थित है; जैसे बेरिंग समुद्र, ओखोटस्क समुद्र, जापान समुद्र, पीत सागर, पूर्वी चीन समुद्र, दक्षिणी चीन समुद्र तथा सेलीबीज तथा बान्दा समुद्र आदि। इनमे से कोई भी समुद्र (पीत सागर के अतिरिक्त) वस्तुतः छिछला नहीं है। अधिकांश समुद्रों का तल 1500 फैदम से भी गहरा है। सेलीबीज समुद्र की गहराई 2795 फैदम तथा जापान सागर की 1955 फैदम नापी गयी है। आस्ट्रेलिया के इर्द-गिर्द कारपेण्ट्रिया खाड़ी, अराफुरा समुद्र तथा बास जलसन्धि स्थित है।

हिन्द महासागर
(Indian Ocean)

आकार तथा विस्तार—हिन्द महासागर अपने क्षेत्रफल और विस्तार मे उपरोक्त दोनो

महासागरों से छोटा है। अपनी आकृति मे यह दोनो से भिन्न है। उत्तर की ओर यह स्थल से घिरा हुआ है और कर्क रेखा से कुछ ही आगे तक फैला हुआ है। दक्षिण मे 20° पूर्व से 115° पूर्वी देशान्तर के बीच अण्टार्कटिक महाद्वीप का तट आ गया है। इसके तट अधिकाशतः प्राचीन पठारी भागों से सम्बन्धित है। केवल उत्तर-पूर्व में यह हिन्देशिया की द्वीप श्रृंखला और बर्मा के तट के सहारे वलित श्रेणियों से घिरा हुआ है।

हिन्द महासागर का तल—हिन्द महासागर अन्य दोनो महासागरों से कम गहरा है। कही भी इसकी गहराई डेढ मील से अधिक नही है। इसकी गहराई की भिन्नता भी बहुत कम है। इस महासागर के कुल क्षेत्रफल का 60 प्रतिशत भाग गम्भीरसागरीय मैदान है जिसकी गहराई 2000 से 3000 फैदम के बीच है। इसमे महासागरीय गर्तो का लगभग अभाव है। केवल जावा के दक्षिण मे सुण्डा द्वीप के चाप के समान्तर सुण्डा द्रोणी मे एक गर्त है जिसकी अधिकतम गहराई 4076 फैदम नापी गयी है।
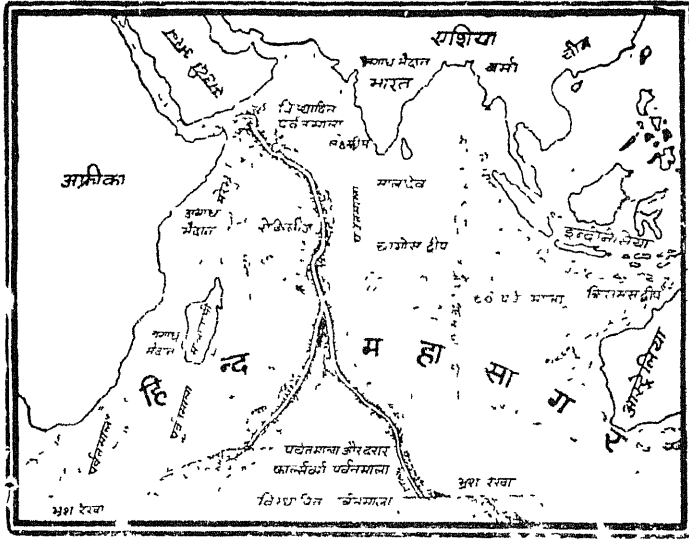
चित्र 164—हिन्द महासागर का धरातल

इस महासागर मे अनेक अन्तःसमुद्री कूट (sub-marine ridges) स्थित हैं, जिनमें मुख्य ये है .

(1) **कारपेण्टर कूट** (Carpenter Ridge)—यह कूट अण्डमान, निकोबार द्वीपों के पश्चिम में स्थित है। यह उत्तर-दक्षिण को फैली हुई है और समुद्र की तली से 2280 मीटर ऊपर उठी हुई है।

(2) **कार्ल्सबर्ग कूट** (Carlsberg Ridge)—यह हिन्द महासागर के पश्चिम में भारत तथा अफ्रीका के मध्य स्थित है। यह एक बड़ी ही वृहत् पहाड़ी है और अपनी लम्बाई के अधिकतर भाग में दोहरी है। यह ग्यार्डाफ्यू अन्तरीप (Cape of Guardafui) और सोकोत्रा द्वीप के पास से प्रारम्भ होती है और दक्षिण-पूर्व दिशा मे चागोज जलसन्धि तक जाती है। वहाँ यह पहले दक्षिण और फिर दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर रोड्रिग्वेज (Rodriguez) द्वीप तक चली जाती है। इस द्वीप के समीप इसकी ऊँचाई समाप्त हो जाती है। किन्तु समुद्र मे दूर तक मध्य हिन्द महासागरीय कूट के रूप मे फैली हुई है। दक्षिण मे यह एक विस्तृत पठार का रूप ले लेती है जिसके ऊपर न्यू एम्सटर्डम (New Amestedam), सेण्ट पॉल (St. Paul), करग्यूलेन (Kergulen), हर्ड (Heard) और मैकडोनाल्ड द्वीप खड़े है। अन्त मे यह पहाड़ी अण्टार्कटिक महाद्वीप से मिल जाती है।

(3) **मरे कूट** (Murray Ridge)—यह कूट कार्ल्सबर्ग कूट के उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित है। यह पहाड़ी भी दोहरी है। इसके बीच मे गहरी घाटी बनी हुई है। यह कूट सिन्ध की किरथर श्रेणी के अन्त:समुद्री विस्तार से सम्बन्धित ज्ञात होती है।

(4) **सेचेलेस-मारिशस कूट** (Seycelles-Mauritius Ridge)—यह कार्ल्सबर्ग पहाड़ी के दक्षिण-पश्चिम मे है।

(5) 90° **पर्वतमाला**—हिन्द महासागर अभियान के अन्तर्गत हाल ही में एक विशाल पर्वत-माला का पता लगाया गया है जो लगभग 3,600 मील लम्बी और 8,000 फुट ऊँची है। यह पर्वतमाला अण्डमान-निकोबार पर्वत-श्रेणी के समान्तर है और भारत समीपस्थ समुद्र को हिन्देशिया समीपस्थ समुद्र से अलग करती है। उत्तर-दक्षिण को फैली यह पर्वतमाला 90° देशान्तर के समान्तर है, इसलिए इसे 90° पर्वतमाला नाम दिया गया है। एक ओर पर्वतमाला अफ्रीका के पूर्वी तट पर पायी गयी है जिसमे मालागासी द्वीप भी शामिल है। अन्य छोटी पर्वतमालाओं का भी पता चला है। वैज्ञानिको का विचार है कि ये पर्वतमालाएँ महाद्वीपों के ही विस्तारित अंश है। ये सभी कुछ समय पहले ही बनी है और मध्यसागरीय पर्वतमालाओं के समान है लेकिन निर्वापित ज्वालामुखियो की तरह इनका निर्माण रुक गया है। ये पर्वतमालाएँ एक बार फिर यह प्रमाण प्रस्तुत करती हैं कि अफ्रीका, भारत, आस्ट्रेलिया और अण्टार्कटिक कभी एक विशाल स्थलखण्ड था जिसे 'गोंडवाना' नाम दिया गया था।[1]

इस महासागर मे कई अन्त समुद्री अवनालिकाएँ (sub-marine gullies) भी देखी जाती है। अरब सागर मे सिन्धु नदी के मुहाने पर सिन्ध की अवनालिका है जो कि मग्नतट के सिरे पर 30 मीटर गहरी है। मुहाने के समीप इसकी गहराई 1134 मीटर तक बढ़ जाती है। बंगाल की खाड़ी मे गगा नदी के मुहाने पर भी ऐसी ही अवनालिका है। इसकी गहराई मग्नतट के सिरे पर 30 मीटर और मुहाने पर 1100 मीटर है। इरावदी नदी के मुहाने पर भी एक अवनालिका देखी जाती है। हाल ही के अभियान के समय आन्ध्र प्रदेश के तट पर तीन घाटियों का पता लगा है—कृष्णा (लगभग 3,884 फुट), महादेवन (लगभग 4,280 फुट) और आन्ध्र (लगभग 3,556 फुट)। आन्ध्र घाटी के दक्षिण में तीन छोटी घाटियाँ भी हैं। दक्षिण भारत और श्रीलंका के पास दो भव्य घाटियाँ है जो अमरीका की सुविख्यात 'ग्रेड कैन्यन' से भी बड़ी और सुन्दर है। इनमे से एक घाटी दो मील चौड़ी और 4,750 फुट गहरी है तथा दूसरी 7,800 फुट गहरी है।[2]

हिन्द महासागर के नितल निक्षेप (bottom deposits) के सम्बन्ध में जो जानकारी प्राप्त हुई है उसके अनुसार इस महासागर के मग्नतट का अधिकतर भाग भूमिज निक्षेप (terrigenous deposits) से ढका है। ज्यों-ज्यो हम दूर गहराई की ओर बढते है गम्भीरसागरीय निक्षेप (pelagic deposits) बढ़ते जाते है। गहराई के अनुसार क्रमशः ग्लोबीजरीना, पेट्रोपाड, रेडियोलेरियन और डाइटम नामक पंक मिलते है। अन्त में लाल मृत्तिका मिलती है।

हिन्द महासागर के द्वीप—हिन्द महासागर मे अनेक द्वीप है। इसके बड़े व छोटे द्वीप महाद्वीपों के ही अश है। जैसे मेडागास्कर, श्रीलंका, सोकोतरा, जंजीवार व कोमोरो सब इसी श्रेणी में आते है। बंगाल की खाड़ी में स्थित अण्डमान व निकोबार द्वीप शृंखला बर्मा के अराकानयोमा पर्वत-श्रेणी के डूबे हुए भाग के अवशिष्ट चिह्न है।

हिन्द महासागर में फैले कई छोटे-छोटे द्वीप अन्त:समुद्री कटकों के ऊपर उठे हुए भाग है। भारत के दक्षिण-पश्चिम मे लकादीव और मालदीव समूह प्रवाल रचनाएँ हैं। दक्षिण में मध्यवर्ती

---

1 **दिनमान**, सागर मन्थन लेख, 31 दिसम्बर, 1965, पृ० 26

2 वही, पृ० 27

कूट पर भी ऐसे प्रवाल द्वीप है। करगुलेन द्वीप-सेण्ट पाल पठार से ऊपर उठा हुआ है, जबकि मारीशस और रियूनियन द्वीप दोनों ही मेडागास्कर के पूर्व मे ढालू ज्वालामुखी शंकुओं के द्योतक है। हिन्द महासागर के पूर्वी भाग मे द्वीपो का लगभग अभाव है। यहाँ केवल छोटे कोकोस समूह और क्रिसमस द्वीप अपवादस्वरूप है।

तटवर्ती समुद्र—हिन्द महासागर के निकटवर्ती पठारी तट अधिकाशत तीव्र ढाल वाले और बिना कटे-फटे हैं अत' महासागर के निकट तटीय समुद्र बहुत ही कम है। अरब सागर और बंगाल की खाडी महासागर के आगे निकले हुए हिस्से हैं जो कि दकन के प्रायद्वीप द्वारा अलग हो गये है। मोजाम्बिक का जलमार्ग एक चौडी जलसन्धि है जो मेडागास्कर को मुख्य स्थल-भाग से अलग करती है। अण्डमान समुद्र वस्तुत. अण्डमान-निकोबार समूह और कारा स्थल-सन्धि के बीच एक द्रोणी है।

हिन्द महासागर के तटवर्ती सागरों मे वस्तुतः लाल समुद्र और फारस की खाडी ही आते हैं। इसमे लाल समुद्र अफ्रीका और अरब के मध्य एक द्रोणी-घाटी का द्योतक है। इसका तट चट्टानी और ढालू है। सिनाय मरुस्थल मे स्वेज और अकावा की खाड़ियाँ इसके भाग है। लाल सागर वाबुल-मन्दप जलसन्धि द्वारा हिन्द महासागर से अलग हो गया है। फारस की खाड़ी एक छिछली द्रोणी है। यह ओमान प्रायद्वीप के कारण ओमान की खाडी और हिन्द महासागर से लगभग अलग हो गयी है।

उत्तरी ध्रुव महासागर

आकार तथा विस्तार—उत्तरी ध्रुव महासागर की आकृति मोटे तौर पर वृत्ताकार है जिसमे उत्तरी ध्रुव ग्रीनलैण्ड के समीप है। इसका क्षेत्रफल लगभग 55 लाख वर्गमील है जो कि प्रशान्त महासागर का केवल 12वाँ हिस्सा है। यह महासागर प्रायः चारो ओर स्थल से आबद्ध है। केवल 170° पश्चिमी देशान्तर के निकट सकीर्ण बेरिग जलसन्धि तथा ग्रीनलैण्ड, आइसलैण्ड तथा ब्रिटिश द्वीपसमूह के बीच यह खुला है। इस महासागर का अधिकांश भाग सदैव हिम से जमा रहता है।

महासागर की तली—इस महासागर की गहराई और उसकी तली के बारे मे बहुत कम ज्ञान प्राप्त है। ऐसा विदित होता है कि वहाँ एक ही विस्तृत द्रोणी फैली हुई है। इस द्रोणी का नाम **उत्तरी ध्रुवीय द्रोणी** है। इसकी औसत गहराई 2000 फैदम है। कुछ ही समय पूर्व सोनिक ध्वनियो द्वारा पता चला है कि 78° उत्तरी अक्षांश और 175° पश्चिमी देशान्तर के निकट इसकी अधिकतम गहराई है। यह गहराई 3076 फैदम है। इस द्रोणी के इर्द-गिर्द तटीय समुद्र है जो 1000 फैदम से भी कम गहरे है।

तटीय समुद्र—उत्तरी गोलार्द्ध मे महाद्वीपो के उत्तरी तटों के समीप छिछले तटीय समुद्र पाये जाते है। इनमें अलास्का के निकट **ब्यूफार्ट समुद्र**, साइबेरिया के निकट **साइबेरियन** और **लेप्टेव समुद्र**, ओब नदी और नोवाया जेम्लिया के बीच **कारा समुद्र** तथा नॉर्वे और स्पिट्सबर्जन के बीच **बारेण्ट्स समुद्र** उल्लेखनीय है।

महासागर के द्वीप—ध्रुवीय महासागर की द्रोणी के चारो ओर अनेक द्वीप है। अधिकांश द्वीप जैसे कैनेडियन द्वीपसमूह, न्यू साइबेरियन द्वीप तथा नोवाया जेम्लिया स्थलखण्डो के डूबे हुए तटों के अग हैं। इनके निकट विस्तृत महाद्वीपीय मग्नतट फैले हुए है। इनके अतिरिक्त स्पिट्सबर्जन वियर द्वीप तथा जेन मेयन द्वीप अन्तःसमुद्री कटक के ऊपर उठे हुए भाग है।

दक्षिणी ध्रुव महासागर

यह महासागर दक्षिणी ध्रुव के चारों ओर स्थित है। इस महासागर के बारे में अभी यथोचित ज्ञान नही हो पाया है। अतः इसके सम्बन्ध में पूरी जानकारी सम्भव नही है। वैसे यह

क्षेत्रफल में उत्तरी ध्रुव महासागर से बडा है। यह अन्ध महासागर, प्रशान्त महासागर और हिन्द महासागर से मिला हुआ है। कठोर शीत के कारण यह ध्रुवो के समीप सदैव जमा हुआ रहता है।

महासागरों का मानव-जीवन पर प्रभाव

समुद्र की रचना बडी ही अलौकिक है। धरती का यह अलौकिक रूप मानव जाति के लिए कितना उपयोगी सिद्ध हुआ है, इससे प्राय. प्रत्येक व्यक्ति परिचित है। किन्तु समुद्रतट से दूर रहने वाले अधिकाश लोग आज भी समुद्र के महत्त्व को समझने मे असमर्थ है। पर यदि तनिक भी गहराई से विचार किया जाय कि सृष्टि के आदिकाल से समुद्रो का जीव-जन्तुओं से कितना गहरा सम्बन्ध रहा है, जगत के बाह्य रूप को स्थिर करने में उनका कितना हाथ रहा है और आज भी हम उनके कितने आश्रित है तो हम महासागरों को अपने सगे-सम्बन्धी, पालक अथवा रक्षक के रूप में पा सकते है। यदि हम यह कहें कि आज धरातल के समस्त जीवन—वनस्पति एवं जीव-जन्तु आदि की सृष्टि का जनक समुद्र ही है तो इसमे कोई अत्युक्ति नहीं होगी, क्योकि पृथ्वी से पहले जीवन समुद्रो से प्रारम्भ हुआ।

समुद्र का रूप बड़ा ही विराट है। धरातल का लगभग तीन-चौथाई भाग समुद्रो से घिरा हुआ है। समुद्र के इस विराट स्वरूप को देखकर लोगो को यह भ्रान्ति होने लगती है कि धरातल पर स्थल की अपेक्षा जल अधिक है। यही नही, जब लोग यह अनुभव करते है कि उनकी प्रमुख अथवा गौण लगभग सभी आवश्यकताएँ स्थल से ही पूरी होती है तो वे धरातल के तीन-चौथाई भाग मे फैली इस विशाल जलराशि को व्यर्थ समझने की भूल भी करते हैं। किन्तु यदि सोचा जाय तो प्राणी और वनस्पति जीवन के विकास के लिए जल और स्थल का यह अनुपात अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न वनस्पतियों और प्राणियों के शरीर में सदा ही प्रचुर मात्रा मे जल विद्यमान रहता है। मनुष्य के शरीर में 60 से 90 प्रतिशत, पशुओ मे 40 से 50 प्रतिशत, पक्षियो में 75 प्रतिशत, जल-जीवों में 80 प्रतिशत तथा वनस्पतियो मे 60 से 98 प्रतिशत तक जल का अंश विद्यमान रहता है। इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जीवन विकास के लिए जल कितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। वस्तुतः हमे मानना पड़ेगा कि समस्त स्थलचरवासियों के लिए समुद्र वरदानस्वरूप है।

मानव-जीवन के लिए समुद्र की महत्ता स्वतः प्रकट है। मानव जीवन के लिए समुद्र उतना ही आवश्यक और लाभदायक है जितना कि स्थल। मानव-जीवन समुद्र द्वारा निम्न बातों से लाभान्वित होता है :

(1) **भूमि पर वर्षा**—मनुष्य जीवन की पहली और अनिवार्य आवश्यकता जल है। 'जल नहीं तो जीवन नही।' मनुष्य की इस आवश्यक पूर्ति का आदि-स्रोत समुद्र ही है। जो कुछ भी वर्षा हमारे धरातल पर होती है वह महासागरों से उठी हुई भाप ही है। महासागरों से भाप के रूप में उठा हुआ जल धरती की प्यास बुझाता है, लोगो की तृष्णा को दूर करता है, पशु-पक्षियों को अमरत्व प्रदान करता है और अनेक प्रकार की वनस्पति तथा फूल-पत्तियो को मुखरित करता है। परोक्ष रूप से संसार की गति का कारण समुद्र ही है।

वर्षा के विचार से धरातल के जलाशय नदी-नद, तालाब, झीलें आदि नगण्य हैं। क्योंकि ये सब सूखकर वाष्प रूप मे बदल भी जाएँ तो उससे होने वाली वर्षा पृथ्वी की औसत वार्षिक वर्षा का केवल पन्द्रहवाँ भाग ही होगी। अतः धरातल पर जल वितरण का एकमात्र साधन ये समुद्र ही है।

(2) **तापमान का सन्तुलन**—धरातल के विभिन्न भागों पर जल का वितरण महासागरों के विशाल भण्डार से हुआ करता है। इस रूप मे महासागरों का महत्त्व ऊपर स्वीकार किया जा

ससार मे कुल पकड़ी गयी मछलियो मे से 5% हिन्द महासागर, 47% अन्ध महासागर और 48% प्रशान्त महासागर मे पकड़ी जाती है ।

(4) **खनिजों के भण्डार**—समुद्र का खारा जल अनेक रासायनिक तत्त्वो का घोल है । समुद्र के जल मे घुले हुए खनिज पदार्थों का हिसाब लगाकर देखा गया है कि उसमे कम या अधिक मात्रा में प्राय अधिकांश तत्त्व विद्यमान मिलते है । उन पदार्थो की लम्बी सूची और सूक्ष्म मात्रा देना यहाँ सम्भव नही है । परन्तु यदि एक घन मील समुद्र के जल की छानबीन की जाय तो उसमे अकेला खाने का नमक ही डेढ अरब मन मिल सकता है । मैगनीशियम खनिज इतनी मात्रा मे उपलब्ध हो सकता है कि वर्षों तक सारे ससार के उपयोग मे आता रहे । ब्रोमाइन लाखो मन मिल सकता है । आयोडीन की मात्रा 5 हजार मन मिलने से फोड़े-फुसी और कटने पर लाखो मनुष्यों का काम निकल सकता है । ताँबा तो इतना निकले कि उसका पतला तार बना लेने पर हम पृथ्वी के चारो ओर लपेट सकते है । शायद उसकी मात्रा 15 हजार मन तक पहुँच जाय । लोहा भी कई लाख मन मिल सकता है । सोना-चाँदी भी क्रमशः 80 मन और $2\frac{1}{2}$ हजार मन मिल सकता है । इन सब वस्तुओ की मात्रा एक औसत के रूप मे बतायी गयी है । ये सब पदार्थ समुद्र-जल में घुल-मिलकर एक रूप मे ही प्राप्त होते है । इनकी मात्रा जल की कुल $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत होती है । अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष 1957 मे कौगडे सागर तल की खोजो से पता चला है कि प्रशान्त महासागर मे एक ऐसा विस्तृत क्षेत्र है जहाँ मैंगनीज, कोबाल्ट, लौह तथा ताम्रयुक्त कीचड़ है । यह कीचड़ कम से कम पाँच लाख डालर प्रति वर्गमील मूल्य की है ।[1]

(5) **अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को लाभ**—आधुनिक सभ्यता के विकास मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का महत्त्वपूर्ण भाग है । आज के युग मे कोई भी देश स्वावलम्बी नही है । प्रत्येक देश एक-दूसरे पर निर्भर है । संसार के देशों के बीच यह अन्तर्निर्भरता और विकसित व्यापारिक सम्बन्ध समुद्री मार्गो के विकास से ही उत्पन्न हुए है । आज आवागमन के साधनों में ऐसा कोई साधन नहीं जो कि समुद्री मार्गो की तुलना कर सके । संसार का 80 प्रतिशत अन्तरराष्ट्रीय व्यापार समुद्रो द्वारा सम्पन्न होता है । इसका प्रमुख कारण यह है कि समुद्री यातायात मे कई सुविधाएँ प्राप्त है; जैसे :

(1) ये ऐसे स्वतन्त्र राजपथ है कि जिन पर किसी का कोई अधिकार नहीं है । कोई भी इनके ऊपर आ-जा सकता है और दूर से दूर स्थानो की यात्रा कर सकता है ।

(2) ये ऐसे मार्ग है कि जिन पर किसी को कोई खर्च करने की जरूरत नहीं होती । रेलों अथवा सड़को की भाँति इनको बनाना नहीं पडता और न इनको सही हालत मे बनाये रखने के लिए कुछ खर्च ही करना पड़ता है ।

(3) अन्य मार्गो की अपेक्षा समुद्र कर (tax) आदि से भी मुक्त है ।

(4) स्थल और वायु-मार्गो की अपेक्षा इनमे शक्ति (power) कम खर्च होती है और आदमियों की कम जरूरत होती है । इसलिए समुद्री यातायात सबसे सस्ता पड़ता है ।

(5) रेलों अथवा हवाई जहाजो की तुलना में समुद्री जहाजो के बनाने में खर्च कम होता है और माल अधिक ढोया जा सकता है । अतः सभी लोग अन्तरराष्ट्रीय व्यापार मे इसी साधन का उपयोग करते हैं ।

उपरोक्त तथा अन्य कई सुविधाओं के कारण समुद्र आज हमारी सभ्यता के केन्द्र-बिन्दु बन गये है ।

---

1 अलक्जेण्डर मारशैक : **पृथ्वी और अन्तरिक्ष**, पृ० 227

(6) **जल-विद्युत के भण्डार**—शक्ति के साधनों मे जलशक्ति सबसे श्रेष्ठ है। पृथ्वी के गर्भ मे छिपा कोयला और पेट्रोल कभी भी समाप्त हो सकते हैं परन्तु समुद्रो के रूप मे जल-शक्ति कभी भी समाप्त नही हो सकती। इस प्रकार समुद्र जल-विद्युत के अक्षय भण्डार है। यही नही, शक्ति के अन्य साधनो की तुलना मे जल-शक्ति सबसे सस्ती और सरलता से उपलब्ध की जा सकती है। समुद्रो द्वारा जल-शक्ति, ज्वार-भाटा, जल-गति और उसके तापमान में भिन्नता होने से प्राप्त होती है।

समुद्र के ज्वार-भाटे मे कितनी शक्ति विद्यमान है यह सब कोई जानता है। ज्वार के समय जब समुद्र का जल जोर से आकर समुद्र तट पर गिरता है तो तट पर अपार शक्ति लगाता है। वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि संसार के भिन्न-भिन्न समुद्रो मे आने वाले ज्वार से लगभग बीस अरब अश्व-शक्ति विद्युत उत्पन्न की जा सकती है। आजकल अमरीका, फ्रांस आदि देशो मे तो इस शक्ति का प्रयोग भी किया जाने लगा है। अमरीका के केलीफोर्निया प्रान्त मे बर्कले नामक शहर में दूसरी बड़ी लडाई के पूर्व एक यन्त्र द्वारा लहरो की शक्ति संचित कर लगभग दो करोड अश्व-शक्ति विद्युत उत्पन्न की गयी थी। समुद्र की भिन्न गहराइयों मे पायी जाने वाली तापमान की भिन्नता का लाभ उठाकर जल-विद्युत तैयार करने का भी सफल प्रयोग किया गया है।

(7) **स्वास्थ्यप्रद स्थान**—समुद्र धरातल की जलवायु पर सम प्रभाव डालता है। इसलिए हम देखते हैं कि समुद्रतट पर बसे हुए नगर स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम स्थान होते है। वहाँ न गर्मी मे अधिक गर्मी लगती है और न जाड़े मे अधिक ठण्ड। इसलिए समुद्रतट पर रहने वाले लोग बड़े चुस्त, प्रसन्नचित और स्वस्थ होते है। यही नही, समुद्र की अनुपम छटा और जल-राशि लोगों के दिलों मे नवीन प्रेरणा भरती है। खेलकूद, नौका विहार, तैरने तथा अनेक दूसरे मनोरंजन के लिए भी समुद्र अद्वितीय स्थान प्रस्तुत करते है।

इनके अतिरिक्त समुद्रो का एक दूसरा उपयोग और है। धरातल से अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ समुद्र जल में प्रवेश करती रहती हैं। समुद्र जल उन सबका शोध करता रहता है। समुद्रतट पर स्थित बड़े-बड़े शहरो का मैला समुद्रों में ही डाला जाता है। बम्बई जैसे शहर का मैला भूमि पर ही यदि कही डाला जाय तो वह भाग कुछ ही दिनों मे बदबू से सड उठेगा और वहाँ लोगो का रहना असम्भव हो जायगा, परन्तु समुद्र-तल मे यह सब समा जाता है। वह उसमे समा ही नही जाता बल्कि शुद्ध भी हो जाता है। जो शहर समुद्रतट से दूर स्थित है, उनके मैले को हटाने की सभी जगह एक समस्या बनी हुई है और उसको हटाने के लिए लाखों रुपयों का हर वर्ष खर्चा करना पड़ता है। समुद्र मे ज्वार-भाटा, लहरे और धाराएँ आदि समस्त गन्दगी को कुछ समय मे ही दूर प्रवाहित कर देते है। इस प्रकार समुद्र लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा करते हैं।

(8) **अन्य लाभ**—उपरोक्त बातों के अतिरिक्त समुद्र से अन्य कई लाभ प्राप्त होने है। समुद्र के गर्भ से हमे कई प्रकार के बहुमूल्य मूँगे और मोती मिलते है जिन्हें लोग आभूषणो के रूप मे प्रयोग करते है। आजकल संसार में मूँगे तथा मोती की माँग इतनी अधिक बढ गयी है कि उसको पूरा करने के लिए कई देश नकली मोती और मूँगा तक तैयार करने लगे है। मूँगा और मोतियों के अलावा कई तरह के स्पंज, शंख, सीप व कौड़ियाँ आदि भी समुद्र के तल से प्राप्त होती हैं जिनके विविध प्रयोग तथा उपयोग सबको ज्ञात है जिनसे कि हमें कैलशियम (Calcium) शुद्ध रूप में प्राप्त होता है।

इन वस्तुओं के अतिरिक्त समुद्री मछलियो से तेल निकाला जाता है जो बड़ा ही स्वास्थ्यप्रद होता है। इस गुण के कारण आज कई देशों में कॉड लीवर आयल (Cod liver oil), शार्क लीवर (Shark liver oil), हेलीबेट लीवर आयल (Halibet liver oil) इत्यादि बनाने का धन्धा खूब

उन्नत हुआ है। ह्वेल जैसी विशालकाय मछलियों से तो तेल ही नहीं अनेक दूसरी उपयोगी वस्तुएँ भी प्राप्त होती है।

समुद्र से प्राप्त होने वाली घास भी कम महत्त्वपूर्ण नही होती है। समुद्री घास के आजकल कई प्रयोग होते है। खाद के रूप में इस घास की महत्ता सर्वविदित है। जानवरो तथा जल-जीवो के लिए यह उत्तम भोजन बनाती है। आजकल वैज्ञानिक खोजो के आधार पर इनके और कई प्रयोग निकल आये है। कई जगह इसका मनुष्य के भोजन के रूप मे उपयोग किया गया है। इससे रंग, चटाइयाँ तथा औषधि के रूप मे कई प्रयोग किये जाते है।

प्राचीनकाल मे जहाँ सागर और महासागर एक देश को दूसरे देश से तथा एक महाद्वीप को दूसरे महाद्वीप से अलग करते थे वहाँ आज ये समुद्र संसार के समस्त महाद्वीपों और देशो को मिलाने वाले राजमार्ग है। इस रूप मे महासागरो का जितना महत्त्व आँका जाय थोड़ा है

18

महासागरीय जल का तापमान
(TEMPERATURE OF OCEAN WATER)

समुद्र-जल का तापमान मनुष्य जीवन को कितना अधिक प्रभावित करता है, यह भूगोल के प्रायः सभी विद्यार्थी जानते है। इसका प्रभाव सामुद्रिक जीवन पर ही नही होता अपितु पशुओं और पौधों पर भी होता है। तापमान के परिवर्तन से ही जलवायु मे भी परिवर्तन हुआ करते है। अतः जलमण्डल का यह विषय एक अत्यन्त उपयोगी विषय बन गया है।

समुद्र मानव को भोजन प्रदान करता है। संसार के अधिकांश लोग मछलियां खाकर ही अपना पेट भरते है। यही नही, मछलियाँ उनकी जीविका का मुख्य साधन भी है। परन्तु मछलियाँ विशेष तापमान मे बढती है और भोजन की उपयुक्त सुविधा होने पर शीघ्रता से पनपती हैं। इसी प्रकार मछलियों का व्यापार और परिवहन भी तापमान पर निर्भर रहता है। इन्ही सब कारणों से वैज्ञानिको का ध्यान समुद्र-जल के तापमान के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ। आज वैज्ञानिकों ने प्रायः सभी समुद्रो का तापमान ज्ञात कर लिया है।

स्थल की भाँति जल को प्राप्त होने वाले ताप का मुख्य साधन भी सूर्य ही है। सूर्य से विकिरण द्वारा प्राप्त सूर्यताप समुद्र-जल द्वारा अवशोषित (absorbed) किया जाता है। समुद्र-तल मे ताप की अवशोषित मात्रा को थर्मोपाइल द्वारा नापा जा सकता है। वरसेली ने समुद्र-तल की ऊर्जा का मापन कर और विभिन्न समुद्रों के जल की तुलना कर यह बताया है कि सूर्यताप का अवशोषण समुद्र की ऊपरी सतह में एक मीटर गहराई तक अधिक होता है। यही कारण है कि समुद्र की ऊपरी सतह का तापमान उसकी उप-सतह और नितल के तापमान से बहुत अधिक होता है।

महासागरों में तापमान का वितरण
(Distribution of Temperature in the Oceans)

महासागरीय जल का तापमान सर्वत्र एकसमान नही होता। उसमे स्थानीय और सामयिक अन्तर पाया जाता है। खुले हुए महासागरो और स्थल से घिरे हुए समुद्रों के तापमान भिन्न-भिन्न होते हैं। महासागरों की ऊपरी सतह और उनके तल के तापमान में भी विभेद पाया जाता है। इस प्रकार महासागरीय जल का तापमान अक्षान्तर, प्रचलित हवाओं, धाराओं, लवणता, गहराई, समीपवर्ती स्थलखण्ड आदि कई बातों से प्रभावित होता है।

(1) **अक्षान्तर**—महासागरीय जल की ऊपरी सतह का तापमान अक्षान्तर के अनुसार बदल जाता है। भूमध्य रेखा के समीप ऊपरी सतह का तापमान 80° फा० के लगभग रहता है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ने पर तापमान कम हो जाता है। तापमान का औसत 45° अक्षान्तर के समीप 60° फा० और ध्रुवों के समीप 29° फा० रहता है। ध्रुवो के समीप तापमान

के इतने कम होने पर भी लवणता के कारण पानी नही जमता। यद्यपि महासागरीय जल की ऊपरी सतह का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवो की ओर घटता जाता है परन्तु उसमे इतना अधिक विभेद नही पाया जाता है जैसा कि वायु के तापमान मे पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जल मे ताप के अवशोषण की शक्ति सबसे अधिक है। इसलिए अन्य वस्तुओं की अपेक्षा जल देरी से गरम होता है और देरी से ही ठण्डा होता है। महासागरीय जल की यह विशेषता
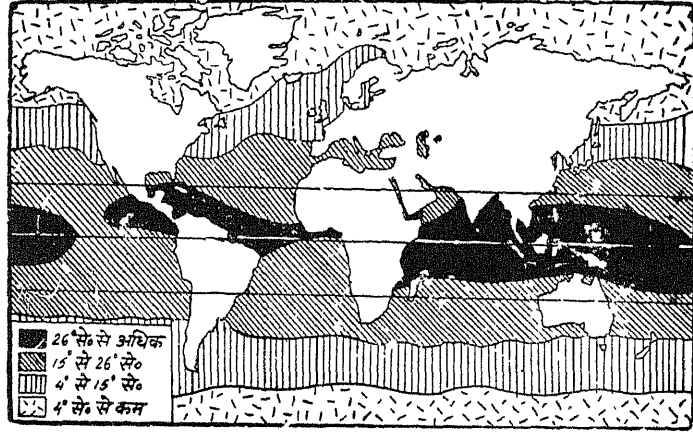
चित्र 165—समुद्र-जल के तापमान का वितरण

वायुमण्डल के तापमान में अधिक विषमता नही होने देती। वह उसमे सन्तुलन बनाये रखती है। जैसे भूमध्य रेखा से 40° अक्षान्तर तक समुद्र-जल का तापमान वायु के तापमान से कम रहता है किन्तु 40° अक्षान्तर से ध्रुवों तक समुद्र-जल का तापमान वायु के तापमान से अधिक रहता है। यह स्थिति 40° अक्षान्तर से ध्रुवों के बीच स्थित भू-भागों के लिए बडी लाभप्रद होती है। यहाँ जाडों में समुद्र स्थल की अपेक्षा सभी जगह अधिक गरम रहता है। इससे शीत कटिबन्ध के कई बन्दरगाह जाड़ों मे भी खुले रहते है।

नीचे की सारणी में महासागरो की ऊपरी सतह पर अक्षाश के अनुसार ताप का वितरण (सेण्टीग्रेड मे) दिखाया गया है :[1]

उत्तरी गोलार्द्ध

अक्षांश	अन्ध महासागर	प्रशान्त महासागर	हिन्द महासागर
0°—10°	26·66	27·20	28·88
10°—20°	25·81	26·42	27·23
20°—30°	24·16	23 38	26·14
30°—40°	20·40	18·62	—
40°—50°	13·16	9·99	—
50°—60°	8·16	5·74	—
60°—70°	5·60	—	—

[1] H. U. Sverdrup : *Oceanography for Meteorologists*, 1945

दक्षिणी गोलार्द्ध

अक्षांश	अन्ध महासागर	प्रशान्त महासागर	हिन्द महासागर
0°—10°	25·18	26·01	27·41
10°—20°	23·16	25·11	24·85
20°—30°	21·20	21·53	22·53
30°—40°	16·09	16·98	17·00
40°—50°	8·68	11·16	8·67
50°—60°	1·76	5 00	1·63
60°—70°	1·30	1·30	1·50

(2) **प्रचलित हवा**—महासागरो की ऊपरी सतह के तापमान पर प्रचलित हवाओं का भी प्रभाव होता है। जब प्रचलित हवाएँ नियमित रूप से स्थल से समुद्र की ओर चलती हैं तो वे तट के समीप समुद्र की ऊपरी उष्ण जल-राशि को अपने साथ आगे बहा ले जाती है। इसकी पूर्ति के लिए समुद्र की तली से ठण्डा जल ऊपर उठता रहता है। फलस्वरूप वहाँ का समुद्र तट ठण्डा रहता है। इसके विपरीत, यदि प्रचलित हवाओ की दिशा समुद्र से स्थल की ओर हुई तो समुद्र तट पर उष्ण जल-राशि एकत्रित हो जायगी जिससे वहाँ समुद्रजल का तापमान ऊँचा रहेगा। सन्मार्गी हवाओं की पेटी मे समुद्रो के पूर्वी भागो मे तापमान ठण्डे जल के ऊपर उठने के कारण कम रहते है, परन्तु पश्चिमी भागो मे उष्ण जल के सचित होने से तापमान अधिक रहते है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट पर पीरू के समीप हवाएँ स्थल से समुद्र की ओर चलती है, अत: पीरू का तट सदैव ठण्डा रहता है। किन्तु पूर्वी-तट पर ब्राजील के समीप हवाएँ समुद्र से स्थल की ओर चलती है जिससे ब्राजील का तट हमेशा गरम रहता है।

(3) **धाराओं का प्रभाव**—प्रचलित पवनो की भाँति महासागरीय धाराएँ भी समुद्र जल के तापमान को प्रभावित करती है। भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर चलने वाली धाराएँ गरम होती है, इसलिए ये धाराएँ अपने साथ गरम प्रभाव ले जाती है। जैसे उत्तरी अन्धमहासागर मे चलने वाली गल्फस्ट्रीम की धारा उत्तरी सागर के तापमान को तथा प्रशान्त महासागर में चलने वाली क्यूरोसिओ धारा अलास्का सागर के तापमान को बढा देती है। इसके विपरीत ध्रुवो से चलने वाली धाराएँ ठण्डी होती हैं और अपने साथ शीतल प्रभाव ले जाती है। जैसे लेब्रेडोर की ठण्डी धारा कनाडा के पूर्वी तट का और क्यूराइल की ठण्डी धारा साइबेरिया के पूर्वी तट का तापमान घटा देती है।

(4) **समीपवर्ती स्थल खण्डों का प्रभाव**—खुले महासागरो की अपेक्षा स्थल से घिरे छोटे समुद्रो के तापमान पर समीपवर्ती स्थलखण्डो का विशेष प्रभाव पड़ता है। स्थल से घिरे हुए समुद्रों का तापमान खुले महासागरों की अपेक्षा उष्ण कटिबन्ध मे अधिक तथा शीत कटिबन्ध में कम रहता है। भूमध्य रेखा के समीप खुले हुए महासागरों का औसत तापमान 80° फा० रहता है परन्तु स्थल से घिरे हुए लाल सागर का तापमान 90° फा० और फारस की खाड़ी का 94° फा० तक पहुँच जाता है। इमी प्रकार शीतोष्ण कटिबन्ध मे उत्तरी सागर वर्ष भर खुला रहता है, परन्तु बाल्टिक सागर जाड़ों में जम जाता है।

(5) **अन्य प्रभाव**—महासागरो की ऊपरी सतह के तापमान पर पृथ्वी के परिभ्रमण, स्थल और जल के असमान वितरण एवं ऋतु-परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता है। समुद्री सतह के तापमान में भिन्नता कई स्थानीय कारणों से भी पायी जाती है। मेघाच्छन्नता, वायु की गति और चक्रवात आदि भी समुद्री सतह के तापमान को कम प्रभावित नही करतीं।

महासागरों की ऊपरी सतह का तापमान
(Temperature of the Ocean Surface)

साधारणतः महासागरो की ऊपरी सतह का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवो की ओर घटता जाता है। भूमध्य रेखा के समीप समुद्री सतह का तापमान 80° फा० से 85° फा० तक रहता है। भूमध्य रेखा से उत्तर एवं दक्षिण मे 45° अक्षान्तर के समीप यह तापमान और ध्रुवो के निकट 30° से 40° फा० रहता है। समुद्री सतह का सबसे अधिक तापमान 94° फा० फारस की खाड़ी मे नापा गया है, क्योकि यह चारो ओर स्थल से घिरी हुई है।

महासागरों की ऊपरी सतह का तापमान ऋतु परिवर्तन के साथ बदलता जाता है। शीतोष्ण कटिबन्ध मे समुद्र जल की ऊपरी सतह के ग्रीष्म एवं जाड़े की ऋतु के तापमान मे 90° फा० का अन्तर पाया जाता है। भूमध्य रेखा एवं ध्रुवों के समीप यह अन्तर बहुत कम होता है। महासागरो की ऊपरी सतह के तापमान में दैनिक तापान्तर कदाचित 1° फा० से ऊपर जाता है।

महासागरो का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवो की ओर कम होता जाता है, किन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा उत्तरी गोलार्द्ध में तापमान अधिक रहता है। इसका कारण यह है कि उत्तरी गोलार्द्ध मे जल की अपेक्षा स्थल अधिक है। इसके अतिरिक्त दक्षिणी गोलार्द्ध में महासागरो का विस्तार शीतोष्ण एव शीत कटिबन्ध मे अधिक है। फिर दक्षिण गोलार्द्ध के' अन्ध महासागर, हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर ठण्डे दक्षिणी ध्रुव से मिले हुए है। उत्तरी गोलार्द्ध मे अन्ध एवं प्रशान्त महासागर उत्तरी ध्रुव महासागर से केवल संकीर्ण जल सन्धियों द्वारा जुड़े हुए हैं, इसलिए इनके बीच जल का स्वतन्त्रतापूर्वक समागम नहीं हो पाता है।

स्थल से घिरे हुए समुद्रों का तापमान
(Temperature of the Enclosed Seas)

खुले हुए महासागरों और भूमि से घिरे हुए समुद्रों के बीच तापमान मे बडा भारी विभेद पाया जाता है। इस विभेद का मुख्य कारण समुद्रों मे पायी जाने वाली अन्त समुद्री-कटकें (Sub Marine-Ridges) हैं जो पानी के स्वतन्त्र बहाव को रोक देती है। इससे तापमान के वितरण मे भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणतः, भूमध्य सागर जिब्राल्टर के निकट अन्तःसमुद्री-कूट द्वारा अन्ध महासागर से अलग हो गया है। अतः भूमध्य सागर का जल समान गहराई के होते हुए भी (14,000 फुट) अन्ध महासागर के जल से 20° फा० अधिक गरम रहता है। जिब्राल्टर के निकट पहाड़ी पर अधिकतम गहराई 190 फैदम है। इस गहराई तक दोनों समुद्रों का जल स्वतन्त्र रूप से मिलता रहता है। इस कारण 190 फैदम गहराई तक दोनों समुद्रों के जल का तापमान भी समान रहता है। किन्तु अन्ध महासागर का गहरा ठण्डा जल भूमध्य सागर के जल से नही मिल पाता है। अतः भूमध्य सागर की तली के जल का तापमान वही रहता है जो बाहर से मिलने वाले ठण्डे जल का रहता है।
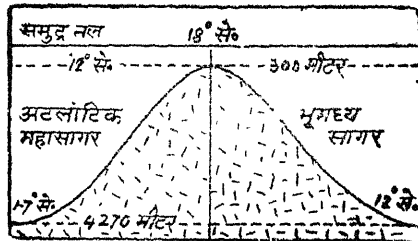
चित्र 166

लाल सागर में भी तापमान की यही अवस्था देखी जाती है। बाबूल—मंदप जल-सन्धि के निकट पहाड़ी की रुकावट के कारण लाल सागर और हिन्द महासागर अलग हो गये है। इस स्थान पर समुद्र की सतह का तापमान 85° फा० पाया जाता है, परन्तु गहराई के साथ-साथ यह कम होता जाता है। इस स्थान की गहराई 200 फैदम है। अतः इस गहराई पर जल का

तापमान 70° फा० रहता है। क्योंकि इस सीमा तक हिन्द महासागर का ठण्डा पानी लालसागर के पानी से मिलता रहता है। इस सीमा के बाद लालसागर के पानी का तापमान निम्नतम गहराई (1200 फैदम) पर भी वही रहता है जो कि पहाडी की सीमा (200 फैदम) पर पाया जाता है। किन्तु हिन्द महासागर के जल का तापमान गहराई के साथ उत्तरोत्तर कम होता चला जाता है। हिन्द महासागर की ओर अदन की खाडी मे 1200 फैदम गहराई पर जल का तापमान 37° फा० पाया जाता है।[1]

इस प्रकार का प्रभाव उत्तरी ध्रुव महासागर और उत्तरी अन्ध महासागर के बीच जल-परिवर्तन मे देखा जाता है। स्कॉटलैण्ड के उत्तर से ग्रीनलैण्ड तक अन्ध महासागर के भीतर एक वाय विल्ले थोम्सन नामक कटक फैली हुई है। इस कटक के ऊपर फेरोस (Faeroes) और आइस-लैण्ड (Iceland) द्वीप खड़े है। यह कटक उत्तरी ध्रुव महासागर की तली (bottom) का ठण्डा जल उत्तरी अन्ध महासागर मे आने से रोकती है। इसलिए उत्तरी अन्ध महासागरीय प्रवाह का गरम जल दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप पर इतना अधिक प्रभाव डाल पाता है। इस कटक के अभाव मे दक्षिणी-पश्चिमी यूरोप पर गरम धारा का इतना अधिक प्रभाव कभी सम्भव नही होता।[2] फिर भी किसी तरह उत्तरी ध्रुव महासागर का ठण्डा पानी डेविस जलसन्धि द्वारा लेब्रेडोर धारा के रूप मे उत्तरी अन्ध महासागर मे तथा बेरिंग जलसन्धि के द्वारा कामचटका धारा के रूप मे उत्तरी प्रशान्त महासागर मे मिलता रहता है।

उपरोक्त तथा ऐसे ही अनेक अन्य उदाहरण इस बात की पुष्टि करते है कि भूमि मे घिरे हुए समुद्रो के जल का तापमान प्रायः वही होता है जो कि कटक की सतह पर वर्तमान जल का होता है।

गहराई के अनुसार तापमान का वितरण
(Vertical Distribution of Temperature)

जिस प्रकार ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ तापमान घटता जाता है उसी प्रकार समुद्र मे गहराई बढ़ने के साथ भी तापमान कम होता जाता है। समुद्रो मे गहराई के साथ तापमान के ह्रास का कारण यह है कि सूर्य की किरणों का समुद्र मे प्रभाव 600 फुट तक ही होता है। इसलिए 600 फुट की गहराई तक समुद्र-जल के तापमान मे परिवर्तन होता रहता है। बाद मे गहराई के साथ तापमान गिरता चला जाता है। विषुवत रेखा पर समुद्र-जल की ऊपरी सतह का तापमान 80° फा० रहता है, परन्तु 3,600 फुट की गहराई पर 40° फा०, 6000 फुट पर 38° फा० और 12,000 फुट पर तापमान 35° फा० ही रहता है। यह अनुमान लगाया है कि समुद्र की कुल जलराशि $\frac{8}{9}$ का तापमान 35° से 40° फा० के मध्य रहता है।[3] किसी भी गहराई पर तापमान 34° फा० से नीचे नही जाता। महासागरो का जल लवणयुक्त होने से 28·5° फा० पर जमता है, परन्तु समुद्रों के निचले भागो मे इतना कम तापमान कभी नही होता। इसीलिए ध्रुवीय क्षेत्रों मे महासागरो का ऊपरी जल जम जाता है, किन्तु निचला भाग बर्फ से मुक्त रहता है। बर्फ सदैव जल से हल्की होती है। इसीलिए समुद्रो मे जल के जमने पर बर्फ सतह पर उठ आती है और तैरने लगती है। यदि कही महासागरीय जल की ऊपरी सतह का तापमान अधिक हुआ तो बर्फ पुनः जल का रूप ले लेती है। यदि महासागरो के निचले भागो मे जलहिम से मुक्त न रहे तो महासागरो मे न केवल धाराएँ चलना ही बन्द हो जाएँ अपितु सभी जीव-जन्तु नष्ट हो जाएँ।

---

1 H. R. Mill : *The Realm of Nature*, p 191

2 Kellaway : *A Background of Physical Geography*, p. 111

3 F. J. Monkhouse ; *Principles of Physical Geography*, p. 299

नीचे दी गयी तालिका मे समस्त समुद्रों मे भिन्न-भिन्न गहराइयों का औसत तापमान दिखाया गया है ।[1]

गहराई (फैदम मे)	तापमान (फा०)	गहराई (फैदम मे)	तापमान (फा०)
100	60 7	900	36·8
200	50·1	1000	36·5
300	44·7	1100	36·1
400	41·8	1200	35·8
500	40·1	1300	35·6
600	30 9	1400	35·
700	38·1	1500	35·2
800	37·3	2200	35·2

पृथ्वी के धरातल के समान समुद्रों मे भी गर्मी का एकमात्र आधार सूर्य ही है। सूर्य के प्रभाव से ही समुद्र का जल गरम होता है। परन्तु जल सूर्य के ताप को एकदम भीतर नही पहुँचा पाता। यदि सूर्य बराबर चमकता रहे और समुद्र-जल भी शान्त हो तो सूर्य का ताप धीरे-धीरे पूरी गहराई तक भीतर पहुँच जायगा। किन्तु ध्रुवो के समीप ग्रीष्मऋतु मे भी सूर्य की किरणों का बहुत क्षीण प्रभाव होता है। इसलिए वहाँ समुद्र का जल सदा ही ठण्डा रहता है।

चित्र 167—गहराई के अनुसार तापमान

महासागरो में सब जगह ठण्डे पानी की मोटी परत के ऊपर एक हल्के गरम पानी की पतली तह तैरती रहती है। जल की ऊपरी परत का तापमान स्थान के अनुसार बदलता रहता है परन्तु गहरे पानी का तापमान सब जगह लगभग एक समान रहता है।
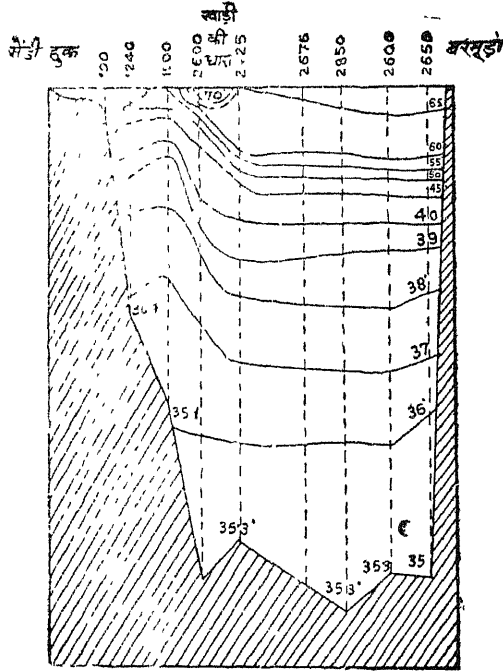
महासागरो मे गहरे जल के ठण्डे होने का एक कारण यह है कि महासागरों का जल सदा गतिशील रहता है। भूमध्य रेखा से गरम पानी सतह के ऊपर तैरता हुआ ध्रुवों की ओर तथा ध्रुवों का ठण्डा पानी समुद्र के नितल से भूमध्य रेखा की ओर चलता है। भूमध्य रेखा पर कभी भी जल अधिक गहराई तक गरम होने के लिए लम्बे समय के लिए ठहरा नहीं रहता।

तापक्रम के लम्बवत वितरण की विशेषताएँ—तापमान के लम्बवत वितरण की अग्रलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :

---

[1] C. S. Fox · *Physical Geography for Indian Students*, p. 381

(1) सामान्यत' समुद्री सतह के नीचे गहराई के साथ तापमान घटता जाता है, किन्तु तापमान घटने की दर सर्वत्र समान नही होती। दो हजार मीटर के नीचे तापमान मे परिवर्तन प्राय. नगण्य सा होता है।

(2) भूमध्य रेखा से ध्रुवो की ओर गहराई के साथ तापमान की गिरावट एक समान दर से नही होती। एक ओर जहाँ समुद्री सतह का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर निरन्तर घटता जाता है वहाँ समुद्र के नितल का तापमान भूमध्य रेखा से ध्रुवो तक समान ही रहता है। फलस्वरूप भूमध्य रेखा पर गहराई के साथ तापमान के घटने की दर जहाँ तीव्र होती है वहाँ ध्रुवो की ओर गिरावट की यह दर कम होती जाती है। 'जर्मन अण्टार्कटिक खोज' के आधार पर सन् 1911 मे यह विदित हुआ कि $7\frac{1}{2}°$ उ० अक्षांश पर 100 मीटर की गहराई पर जितना तापमान था उतना ही तापमान 40° उ० अक्षांश पर समुद्री सतह का था। इसी प्रकार 200 मीटर गहराई का तापमान 50° उ० अक्षांश तथा 800 मीटर गहराई का तापमान 60° उ० अक्षांश के समुद्री सतह के तापमान के बराबर था।

(3) भूमध्यरेखीय क्षेत्रो मे प्रतिदिन की भारी वर्षा के कारण वहाँ की लवणता कम हो जाती है। इसी के फलस्वरूप वहाँ सतह के नीचे उच्च तापमान तथा उच्च लवणता पायी जाती है। किन्तु अधिक गहराई पर पुन तापमान घटने लग जाता है।

(4) सामान्यतः समुद्रो मे 30 फीट की गहराई पर दैनिक तापान्तर तथा 600 फीट की गहराई पर वार्षिक तापान्तर नही होता।

(5) महासागरो के जिन क्षेत्रो से सतह का जल बहा लिया जाता है और नीचे से जल ऊपर आता है, ऐसे क्षेत्रो में सतह का तापमान घट जाता है और गहराई के साथ तापमान की गिरावट धीमी होती है। इसके विपरीत जिन क्षेत्रों मे गर्म जल एकत्रित होता है वहाँ तापमान की अधिकता हो जाने से गहराई के साथ तापमान की गिरावट तीव्र गति से होती है।

(6) कतिपय समुद्रो में अधिक गहराई पर भी उच्च तापमान पाये जाते है। सारगैसो सागर, लालसागर व भूमध्य सागर इसके उदाहरण है। लालसागर में 6 हजार फुट की गहराई पर 70° फा० तापमान पाया जाता है जबकि हिन्द महासागर मे इसी गहराई पर 38° फा० तापमान ही मिलता है। तापमान की ऐसी अवस्थाएँ निम्न अक्षांशो के सीमान्त एव बन्द समुद्रो में मिलती है। उच्च अक्षांशो में बन्द सागरो के तापमान मे प्रतिलोमता पायी जाती है।

महासागरों का ताप बजट
(Heat Budget of the Oceans)

वायुमण्डल की भाँति यद्यपि महासागरो के ताप का मुख्य साधन भी विकिरण ही है, परन्तु महासागरों के ताप बजट पर विकिरण के अतिरिक्त वायुमण्डल के बोधगम्य ताप के आदान-प्रदान, वाष्पीकरण की क्रिया, ऊर्जा-शक्ति का ताप के रूप मे परिवर्तन, रासायनिक क्रिया द्वारा प्राप्त भू-गर्भ से सागरीय तल द्वारा ताप के संवहन तथा जलवाष्प के सघनन द्वारा प्राप्त गुप्त ताप आदि बातों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है।

महासागरो मे सूर्य और आकाश से विकिरण द्वारा छोटी लहरों के रूप मे प्राप्त होने वाले सूर्यताप की वार्षिक मात्रा उनसे बाहर निकलने वाले विकिरण ताप से अधिक होती है। ऐसा अनुमान है कि विषुवत रेखा के 70° अक्षान्तर उत्तर और 70° अक्षान्तर दक्षिण के मध्य समस्त महासागरों के ऊपर सूर्य और आकाश से प्राप्त विकिरण-ताप का औसत लगभग 0 22 gr. cal./cm.^{1}/min. होता है। इसके विपरीत महासागरीय जल से ताप की बाहर निकलने वाली मात्रा 50 और 80 gr. cal./cm.^{2}/year होती है। मासली नामक वैज्ञानिक ने विभिन्न अक्षांशों पर

विकिरण ताप की प्राप्ति और महासागरो द्वारा विकिरण ताप को लौटने के सम्बन्ध मे अनुमान लगाकर यह बताया है कि 0° से 20° उत्तरी अक्षांशो के बीच विकिरण से प्राप्त अतिरिक्त ताप का वार्षिक औसत लगभग 0·17 gr /cal./cm²/min होता है और 60° से 70° उत्तरी अक्षांशों के बीच अतिरिक्त ताप की मात्रा का औसत 0·04 gr. cal/cm ²/min होता है ।

महासागरीय जल का विकिरण ताप का अवशोषण करना और पुनः उसे वायुमण्डल को लौटाना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है । महासागर विकिरण ताप के अधिकांश भाग का अवशोषण कर उसे मिश्रण क्रिया द्वारा बहुत अधिक गहराई तक पहुँचा देते है । महासागरीय जल का यही ताप धरातल के ऊपर तापमान के सन्तुलन को बनाये रखने मे मदद करता है । अतः जब कभी वायु समुद्री सतह से ठण्डी होती है तो समुद्र से ताप वायुमण्डल को पहुँचा दिया जाता है । इस प्रकार पृथ्वी पर किसी भी स्थान की जलवायु बहुत अधिक विषम नही होने पाती, क्योंकि महासागर जलवायु पर तापीय-स्थिरता (thermo-static) के रूप मे प्रभाव डालते हैं ।

19
महासागरों की लवणता
(SALINITY OF THE OCEANS)

समुद्र-जल में लवणों की उत्पत्ति

जल मे प्रायः सभी वस्तुओं को घुला लेने का गुण है। नदियों के स्वच्छ जल मे सदा ही कुछ न कुछ मात्रा में लवण पदार्थ घुले हुए रहते है। नदियाँ जब धरातल से बहकर समुद्र मे प्रवेश करती हैं तो समुद्र में निरन्तर लवण पदार्थ पहुँचाती रहती हैं। समुद्रों में वाष्पीकरण (evaporation) से स्वच्छ जलवाष्प बनकर उड़ता रहता है, किन्तु ये घुले हुए ठोस पदार्थ (नमक) वहीं रह जाते है, इस कारण समुद्रों का जल शनैः-शनैः अधिकाधिक लवणयुक्त होता जा रहा है। प्रतिवर्ष संसार की नदियाँ लगभग 16,00,00,000 टन नमक बहाकर समुद्र मे निक्षेपित कर देती हैं। अतः समुद्र-जल की लवणता का मूल कारण नदियाँ ही है।

यदि हम समुद्र-जल और नदियो के जल के रासायनिक मिश्रण की परीक्षा करे तो ज्ञात होगा कि दोनों में बड़ा भारी विभेद है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा ज्ञात हुआ है कि नदियो के स्वच्छ जल मे लवणता का औसत केवल 0·18‰ है जबकि समुद्र जल का औसत 35‰ है। नदियों के स्वच्छ जल मे सोडियम और क्लोरीन कम मात्रा में परन्तु कैल्शियम सल्फेट और कार्बोनेट अधिक मात्रा में पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि समुद्र का जल निश्चय ही अपने मिश्रण मे निरन्तर बदलता रहा है।

समुद्र की लवणता का कारण केवल नदियाँ ही नहीं हैं। नदियाँ प्रतिवर्ष जो लवण पदार्थ समुद्र में पहुँचाती है, वह समुद्र के कुल लवण पदार्थों का बहुत ही सूक्ष्म अंश होता है। लवणों की यह सूक्ष्म मात्रा भी समुद्र में नहीं रहती, क्योंकि कुछ भाग वर्षा के द्वारा बहकर चला जाता है, कुछ समुद्री जीव-जन्तुओं और पौधों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है और कुछ वायु द्वारा समुद्रों से स्थल भागों को पहुँचा दिया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि नदियाँ यद्यपि समुद्र के जल को पृथ्वी के इतिहास के प्रारम्भ से ही रासायनिक दृष्टि से प्रभावित कर रही हैं, किन्तु यह प्रभाव बहुत ही सूक्ष्म रूप से हो रहा है। समुद्र का जल अपने सम्मिश्रण की दृष्टि से आज भी वही है जो कि पृथ्वी पर आरम्भ में था। समुद्र-जल में अधिकतर लवण पदार्थ प्रारम्भ में पृथ्वी की तप्त पपड़ी की चट्टानो से ही प्राप्त हुए है। उस समय तापमान और वायुदाब की अवस्थाएँ वर्तमान काल से मिश्रण के लिए अधिक उपयुक्त थीं। वे लवण पदार्थ आज भी ज्यो के त्यों समुद्र में उसी अनुपात में विद्यमान है। इसके अतिरिक्त अभी भी समुद्र मे ऐसी रासायनिक क्रियाएँ विद्यमान हैं जो समुद्र मे स्वच्छ जल के पहुँचने पर विभिन्न लवणों के अनुपात को बदलती रहती हैं। समुद्र-जल के घोल में आज वह सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो कि पृथ्वी के धरातल की धातुओं को बनाते हैं।

समुद्र-जल की लवणता और उसकी संरचना

महासागरीय लवणता उस अनुपात को कहते हैं जो कि घुले हुए पदार्थों की मात्रा और समुद्र-जल की मात्रा में होता है। ओमनी (Ommanney) के अनुसार, "समुद्र-जल में पाये जाने वाले समस्त लवणों का योग समुद्र की लवणता कहलाता है और इसका अर्थ उन घुले हुए खनिज तत्त्वों से होता है जो कि समुद्र-जल में एक निश्चित अनुपात किन्तु भिन्न मात्राओं में मिले हुए होते है।"

समुद्र का जल पृथ्वी के धरातल के कई खनिज तत्त्वो का घोल (solution) है। परन्तु इसमें कुछ अश कार्बनिक लवण (organic salt) का भी रहता है। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति घन किलोमीटर समुद्र मे 4½ करोड़ टन नमक है। यदि समुद्र-जल के नमक को फैलाया जाय तो सम्पूर्ण पृथ्वी पर 400′ ऊँची परत जम सकती है। समुद्र-जल के घोल में खाये जाने वाले नमक (common salt) का ही सबसे महत्त्वपूर्ण सम्मिश्रण है। परन्तु कई दूसरे नमक भी उसमे पाये जाते है। समुद्र मे औसत रूप से 1000 ग्राम जल मे 35 ग्राम लवण पदार्थ होते है। **डिटमार** (Dittmar) ने सन् 1884 मे चैलेजर अभियान (expedition) के समय समुद्र के लगभग सभी भागो और गहराइयो से जल के 77 नमूने लेकर समुद्र-जल की लवणता का विश्लेषण किया, जो इस प्रकार है :

नमक	प्रतिशत
1. सोडियम क्लोराइड	27·213
2. मैग्नीशियम क्लोराइड	3·807
3. मैग्नीशियम सल्फेट	1·658
4. कैल्शियम सल्फेट	1·260
5. पोटैशियम सल्फेट	0·863
6. कैल्शियम कार्बोनेट	0 123
7. मैग्नीशियम ब्रोमाइड	0·076
योग	35 000

इन नमकों के अतिरिक्त समुद्र-जल में कई अन्य लवण पदार्थ भी थोड़ी मात्रा मे विद्यमान देखे जाते हैं।

लवणता की भिन्नता के कारण

समुद्र का जल सदैव खारा होता है। परन्तु खारेपन की मात्रा सर्वत्र समान नही होती। भिन्न-भिन्न समुद्रों मे जल की लवणता भिन्न होती है। लवणता की भिन्नता के निम्न कारण हैं .

(1) **स्वच्छ जल की पूर्ति**—समुद्र-जल में हिम-शिलाओ के पिघलने, वर्षा अथवा नदियों द्वारा जल के उँडेले जाने से स्वच्छ जल की प्राप्ति होती है। समुद्र-जल की लवणता पर इस स्वच्छ जल की पूर्ति का बड़ा प्रभाव होता है। जिस समुद्र में स्वच्छ जल की पूर्ति जितनी अधिक होगी वहाँ लवणता उतनी ही कम होगी। विषुवत रेखीय प्रदेशों तथा बड़ी-बड़ी नदियों के मुहानों के निकट इसी कारण लवणता कम रहती है।

(2) **वाष्पीकरण की मात्रा और तीव्रता**—समुद्र-जल की लवणता का वाष्पीकरण की क्रिया से गहरा सम्बन्ध है। जल का वाष्पीकरण तापमान, मेघाच्छन्नता, वायु की शुष्कता और उसकी गति पर निर्भर रहता है। जिन समुद्री भागों से तापमान ऊँचा, आकाश स्वच्छ और वायु शुष्क तथा तीव्र गति से चलती है वहाँ वाष्पीकरण की क्रिया अधिक होती है जिससे वहाँ सागरीय लवणता की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। अयनवृत्तीय क्षेत्रों में अधिक लवणता का यही कारण है।

(3) **हवाएँ**—गरम तथा शुष्क हवाओं के कारण वाष्पीकरण अधिक होता है। उपोष्ण उच्च वायुदाब की पेटियों एवं स्थायी प्रति-चक्रवातीय हवाओं के क्षेत्रों में सदैव ही गरम तथा शुष्क हवाएँ ऊपर से उतरती रहती है। अतः इन क्षेत्रों में वाष्पीकरण अधिक होता है जो लवणता में वृद्धि कर देता है। कर्क और मकर रेखाओं के निकटवर्ती भागों में गरम और शुष्क सन्मार्गी पवनें समुद्र-जल को पश्चिम की ओर महाद्वीपों के पूर्वी-तटों पर बहा ले जाती हैं जहाँ उसके फलस्वरूप लवणता बढ जाती है। इसके विपरीत महाद्वीपों के पूर्वी-तटों पर जहाँ से सन्मार्गी हवाएँ चलती है और तटीय भागों के जल को दूर बहा ले जाती है जिसके कारण वहाँ नीचे का कम खारा जल ऊपर आ जाता है और वहाँ जल का खारापन कम हो जाता है।

(4) **धाराएँ**—धाराएँ भी समुद्र-जल की लवणता को कम-ज्यादा करने में योग देती है। दक्षिणी अन्ध महासागर से कई धाराएँ गरम तथा खारा जल बड़ी मात्रा में उत्तरी अन्ध महासागर में पहुँचाती है जिससे उत्तरी अन्ध महासागर में लवणता बढ जाती है।

विभिन्न समुद्रों में जल की लवणता
(Salinity in the different Oceans)

समुद्र का पानी सदैव ही खारा होता है। परन्तु लवणता सब स्थानों पर एकसी नहीं होती। उदाहरणतः, उत्तरी सागर मे लवणता का औसत अन्ध महासागर की अपेक्षा कम है। भूमध्य सागर मे इसके विपरीत सब खुले हुए समुद्रों से नमक का अनुपात बहुत अधिक है। यद्यपि भिन्न समुद्रों में लवणता भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु उस लवणता को बनाने वाले नमकों का अनुपात सदा एकसा रहता है। साधारणतः समुद्र-जल की लवणता को प्रति हजार भागों मे प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार समुद्र-जल की औसत लवणता जैसाकि ऊपर बताया गया है 35 है। इसको प्रायः 35‰ अंकों मे लिखा जाता है। लवणता मे अन्तर क्षैतिज तथा लम्बवत दोनो रूपों में होता है।

क्षैतिज वितरण—महासागरों में लवणता का क्षैतिज वितरण अक्षांशों के आधार पर किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक वितरण पर भी ध्यान दिया जाता है (प्रादेशिक वितरण में प्रत्येक महासागर की लवणता का अलग-अलग वितरण देखा जाता है) और साथ ही सीमान्त सागरों—खुले-बन्द और आंशिक बन्द—का लवणता के वितरण पर भी ध्यान दिया जाता है।

अक्षांशों के अनुसार लवणता का वितरण—महासागरों मे लवणता की मात्रा और उसके वितरण पर अक्षांशों का बड़ा प्रभाव देखा जाता है। सामान्यतः भूमध्य रेखा से ध्रुवों की ओर जाने पर लवणता घटती जाती है (यद्यपि भूमध्य रेखा पर वर्ष भर ऊँचा तापमान पाया जाता है और वाष्पीकरण की मात्रा भी अधिक रहती है फिर भी यहाँ सदैव होने वाली भारी वर्षा लवणता को कम कर देती है। अतः यहाँ उच्चतम लवणता नहीं पायी जाती)। यहाँ लवणता की मात्रा 34‰ रहती है। इसके विपरीत उच्चतम लवणता 20° से 40° उत्तरी अक्षांशों के मध्य पायी जाती है, क्योंकि यहाँ सामान्यतः आकाश स्वच्छ रहता है। फलस्वरूप उच्च तापमान व उच्च वाष्पीकरण के साथ-साथ वायुमण्डलीय आर्द्रता भी न्यून रहती है। यहाँ लवणता की मात्रा 36‰ पायी जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में 10° से 30° अक्षांशों के मध्य लवणता 35‰ रहती है। दोनों गोलार्द्धों मे 40° से 60° अक्षांशों के मध्य लवणता मे कमी हो जाती है। इन क्षेत्रों मे लवणता उत्तरी गोलार्द्ध में 31‰ तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में 33‰ पायी जाती है। ध्रुवों के समीप हिम के पिघलने से जल की पूर्ति हो जाने के कारण लवणता में और कमी हो जाती है। समस्त उत्तरी गोलार्द्ध मे औसत लवणता 34‰ तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में 35‰ रहती है। अक्षांशीय वितरण के आधार पर महासागरों में लवणता के चार क्षेत्र किये जा सकते है. (1) विषुवत रेखीय अपेक्षाकृत

कम लवणता का क्षेत्र, (2) अयनवृत्तीय अधिकतम लवणता का क्षेत्र, (3) शीतोष्ण कटिबन्धीय कम लवणता का क्षेत्र, तथा (4) ध्रुवीय एवं उप-ध्रुवीय न्यूनतम लवणता का क्षेत्र ।

अक्षांशों के अनुसार महासागरों में लवणता

अक्षांश क्षेत्र	लवणता ‰
70° से 50° उ०	30-31
55° से 40° उ०	33-34
40° से 15° उ०	35-36
15° उ० से 10° द०	34·5-35
10° से 30° द०	35-36
30° से 50° द०	34-35
50° से 70° द०	33-34

प्रादेशिक वितरण—इसके अन्तर्गत महासागरो में लवणता का वितरण या तो अलग-अलग रूप से किया जाता है अथवा विभिन्न लवण-मण्डलों के अनुसार किया जाता है। **जेनकिन्स** ने विभिन्न सागरों को लवणता के आधार पर निम्न तीन प्रदेशों मे बाँटा है :

(क) सामान्य से अधिक लवणता वाले प्रदेश—इसमें लवणता का औसत 37‰ से 41‰ तक पाया जाता है । इसके अन्तर्गत निम्न सागर आते हैं : (1) लाल सागर (37-41‰), (2) फारस की खाड़ी (37-38‰), (3) भूमध्य सागर (37-39‰) ।

(ख) सामान्य लवणता वाले प्रदेश—इन प्रदेशों मे लवणता का औसत 35-36‰ पाया जाता है । इनमे निम्न सागर आते है : (1) कैरेबियन सागर (35-36‰), (2) बास जल सन्धि ($35\frac{1}{2}$‰), तथा (3) कैलिफोर्निया की खाड़ी (35-$35\frac{1}{2}$‰) ।

(ग) सामान्य से कम लवणता वाले प्रदेश—इन प्रदेशो मे लवणता का औसत 20 से 35‰ के मध्य रहता है । इसके अन्तर्गत निम्न सागर आते है : (1) आर्कटिक सागर, (2) बेरिंग सागर, (3) ओखोटस्क सागर, (4) जापान सागर, (5) चीन सागर, (6) उत्तरी सागर, (7) इंगलिश चैनेल, (8) बाल्टिक सागर, (9) हडसन की खाड़ी, (10) सेण्ट लारेन्स की खाड़ी, (11) उत्तरी आस्ट्रेलिया सागर, (12) अण्डमान सागर ।

महासागरीय लवणता का लम्बवत वितरण—महासागरो में गहराई के साथ लवणता के वितरण मे कोई एकरूपता नहीं देखी जाती है । महासागरो में लवणता कही गहराई से घटती है तो कही वह बढती हुई देखी जाती है । उदाहरणतः, भूमध्य रेखा के समीप सतह की लवणता 34‰ होती है किन्तु गहराई में बढ़कर 35‰ हो जाती है । इसके विपरीत 20° दक्षिणी अक्षांश के समीप सतह की लवणता 37‰ रहती है किन्तु गहराई में घटकर 35‰ हो जाती है । इसी प्रकार दक्षिणी अटलाण्टिक के दक्षिणी छोर पर सतह की लवणता 33‰ देखी जाती है, किन्तु 200 फैदम की गहराई पर बढ़कर 34·5‰ तथा 600 फैदम की गहराई पर 34·75‰ हो जाती है । स्पष्ट है कि गहराई के साथ लवणता के घटने-बढ़ने में बड़ा विरोधाभास पाया जाता है । किन्तु फिर भी निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि उच्च अक्षांशो में गहराई के साथ लवणता में वृद्धि होती है, जबकि भूमध्य रेखा के समीप पहले लवणता बढ़ती है और फिर पुनः गहराई के साथ घटने लगती है । मध्य अक्षांशों में भी 200 फैदम तक लवणता बढ़ती है, उसके बाद पुनः घटती जाती है ।

खुले समुद्रों में जल की लवणता
(Salinity in Open Seas)

भिन्न-भिन्न समुद्रो मे जल की लवणता की भिन्नता के दो प्रमुख कारण है :

(1) ताजे जल का निरन्तर प्राप्त होते रहना।

(2) वाष्प बनने की क्रिया।

महासागरो में नमक का सबसे अधिक अनुपात (36%) कर्क और मकर रेखाओ के समीप पाया जाता है। इन रेखाओं के उत्तर और दक्षिण की ओर लवणता क्रमश कम होती जाती है। अयनवृत्तीय भागो (tropical) मे लवणता की अधिकता का कारण वाष्प बनने की तीव्रता है।

चित्र 168—समुद्र-जल की लवणता का वितरण

ये भाग अधिक वायुदाब की पेटियों मे स्थित हैं। जहाँ आकाश सदा स्वच्छ रहता है और सूर्य की किरणें बड़ी प्रखर होती हैं। धूप की तेजी से वाष्प अधिक बनती है। यहाँ से चलने वाली सन्मार्गी पवनें इस भाप को उठाकर अन्यत्र ले जाकर वर्षा करती है, परन्तु यह भाग स्वय वर्षा से अभावग्रस्त रहते है। खुले समुद्रों मे लवणता का सबसे अधिक अनुपात वायु के अधिक दाब वाले क्षेत्रों मे ही पाया जाता है।

भूमध्य रेखा के निकट जल की लवणता कम (34‰) होती है। यहाँ सूर्य की किरणे तेज होते हुए भी आकाश सदैव मेघाच्छन्न रहता है जिससे वाष्पीकरण क्रिया कम होती है। सदैव होती रहने वाली घनघोर वर्षा और विश्वविख्यात अमेजन, कांगो और नाइजर नदियों द्वारा समुद्र मे बराबर स्वच्छ जल उँडेलते रहना आदि सब ऐसे कारण है जो यहाँ की लवणता को कम करने में योग देते है। वर्षा तथा नदियो का स्वच्छ हल्का पानी समुद्र-जल पर दूर-दूर तक तैरता रहता है और समुद्र-जल की लवणता को कम करने में सफल होता है।

सन्मार्गी पवनों की पेटी से ध्रुवो की ओर बढ़ने पर समुद्र की लवणता क्रमशः कम होती जाती है। उत्तरी अन्ध महासागर मे समुद्र-जल की लवणता 34‰ ही पायी जाती है। यहाँ लवणता कम होने का कारण यह है कि यहाँ के समुद्रो मे ध्रुवो से स्वच्छ और ठण्डा पानी तथा बर्फ के बड़े-बड़े हिमखण्ड (Icebergs) आकर मिलते रहते है। ध्रुवीय सागरो में लवणता का अनुपात और भी कम होता जाता है। यहाँ लवणता का अनुपात 20‰ से 30‰ तक रहता है। इस प्रदेश में भाप बनने की शिथिलता, वर्षा की अधिकता, अधिक नदियों का समुद्र में प्रवेश तथा पिघलते हुए बर्फ के द्वारा स्वच्छ पानी का मिलते रहना आदि सब कारण मिलकर समुद्र-जल की लवणता को अधिक नही बढने देते।

घिरे हुए समुद्रों में जल की लवणता
(Salinity in Inclosed Seas)

महासागरो के समुद्र—भूमध्य सागर और बाल्टिक सागर आदि—मे लवणता का अन्तर अधिक पाया जाता है। भूमध्य सागर में जिब्राल्टर की खाडी के समीप समुद्र-जल की लवणता 39‰ से भी अधिक है। लाल सागर मे लवणता का अनुपात 37‰ से 41‰ और फारस की खाड़ी मे 37‰ से 38‰ तक रहता है।[1] खुले महासागरो की अपेक्षा यहाँ लवणता का अनुपात बहुत अधिक है। यहाँ समुद्र-जल की अधिक लवणता का कारण यह है कि ये प्रदेश ऊँचे तापमान और चमकीली धूप वाली गर्मियो की पेटी मे पडते है जिससे यहाँ भाप तो अधिक बनती है, किन्तु स्वच्छ पानी आने का कोई साधन नही है। इन भागो में वर्षा की न्यूनता के साथ-साथ नदियों द्वारा लाये गये जल की मात्रा भी कम होती है। इस कारण बहुत कम अतिरिक्त स्वच्छ जल समुद्र मे पहुँचता है।

काला सागर और बाल्टिक सागर मे लवणता का अनुपात अपेक्षतः बहुत ही कम है। काला सागर मे अधिक से अधिक लवणता 18‰ से 18·5‰ तक पायी जाती है। बाल्टिक सागर मे यह अनुपात और भी कम है। इसके उत्तर मे लवणता 3‰ और दक्षिण मे 15‰ पायी जाती है। कभी-कभी बोथोनिया की खाड़ी और फिनलैण्ड की खाड़ी मे 2‰ से भी कम लवणता रहती है। बसन्त ऋतु मे यहाँ का पानी एकदम स्वच्छ रहता है। काला सागर मे लवणता की न्यूनता का कारण उसके आकार की दृष्टि से डेन्यूब, नीपर, नीस्टर और डोन आदि नदियो द्वारा अधिक स्वच्छ जल उँडेला जाना और भूमध्य सागर की अपेक्षा वाष्प का कम बनना है। बाल्टिक सागर, बोथेनिया की खाड़ी और फिनलैण्ड की खाड़ी ठण्डे और वर्षा वाले प्रदेशों में स्थित है। यहाँ हिम के पिघलने से और नदियो द्वारा स्वच्छ जल की अधिक प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त वाष्प बहुत कम और धीरे-धीरे बनती है। अतः यहाँ जल की लवणता का अनुपात बहुत ही अल्प है।

महाद्वीपीय सागरों व झीलों में लवणता
(Salinity in Inland Seas)

प्रायः उन महाद्वीपीय सागर और झीलो की लवणता कम होती है जिनमे कुछ नदियाँ बराबर पानी उँडेलती रहती है और कुछ नदियों द्वारा उसका निकास होता रहता है। किन्तु जिन झीलो और सागरो में पानी का कोई निकास का मार्ग नही होता, उनकी लवणता अपेक्षतया बहुत अधिक रहती है। ऐसे सागरो व झीलों में जो पानी नदियों द्वारा पहुँचता है, वह भाप बनकर उड़ता रहता है और उसके पदार्थ वही छूट जाते है। इस तरह इनकी लवणता दिनों-दिन बढती जाती है। परन्तु लवणता का यह औसत उनकी झीलो के निर्माण काल पर निर्भर रहता है। कैस्पियन सागर के उत्तर मे वोल्गा तथा यूराल नदियों के स्वच्छ जल की पूर्ति के कारण लवणता का औसत 14‰ पाया जाता है। दक्षिण में काराबुगास की खाड़ी मे जो कि रोधिका द्वारा समुद्र के मुख्य भाग से अलग हो गयी है लवणता का औसत 17‰ तक पाया जाता है।

संयुक्त राज्य अमरीका में महान खारी झील (great salt lake) में लवणता का औसत 220‰, जोर्डन मे मृत सागर का 238‰ और टर्की में वान झील का 330‰ तक है।[2] वान झील और मृत सागर की अत्यधिक लवणता के कारण मनुष्य भी उसमें डूबने नही पाता, क्योंकि उसका घनत्व पानी के घनत्व से कम रहता है। अतः मनुष्य बिना हाथ-पैर हिलाये भी पानी पर तैरता रहता है।

---

[1] A. Wilmore : *A Groundwork of Modern Geography*, p. 189

[2] F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, 1962, p. 296

इन महाद्वीपीय झीलों और सागरो में घुले हुए नमको का सम्मिश्रण समुद्र के साधारण जल के मिश्रण से भिन्न रहता है। इनमें सोडियम क्लोराइड (sodium chloride) बहुतायत से रहता है, किन्तु समुद्र की अपेक्षा यहाँ अन्य सम्मिश्रण अधिक महत्त्वपूर्ण होते है।

जब मानचित्र मे समुद्र के भिन्न-भिन्न भागो की लवणता प्रदर्शित की जाती है तो उसके लिए प्राय. समलवण रेखाओं (isohalines) का प्रयोग किया जाता है। समलवण रेखाएँ वे कल्पित रेखाएँ है जो कि समुद्र मे समान लवणता वाले स्थानों को जोडती हैं। इस प्रकार 35‰ समलवण रेखा समुद्र के उस भाग को जहाँ कि लवणता 35‰ से कम है उस भाग से अलग करती है जहाँ कि लवणता 35‰ से अधिक पायी जाती है।

भारतीय झीलों की लवणता
(Salinity of the Indian Lakes)

यो तो खारे और मीठे पानी की झीले सर्वत्र ही पायी जा सकती है किन्तु भारत की प्रमुख खारे पानी की झीले राजस्थान के मरुस्थल तक ही सीमित है। आज के युग मे रासायनिक वस्तुओ का क्या महत्त्व है यह बताने की आवश्यकता नही। अतः राजस्थान की ये खारे पानी की झीले सदा महत्त्वपूर्ण रही हैं।

इन झीलो की लवणता और जल मे घुले हुए अनेक नमकों के जन्म के बारे मे कई वैज्ञानिकों ने समय-समय पर अपने मत प्रकट किये है। उन सबका विवेचन न तो यहाँ सम्भव ही है और न वांछनीय ही। फिर भी इस सम्बन्ध मे ए० ओ० ह्यूम (A O. Humes), डा० नोर्टलिग (Dr. Noetling), हॉलैण्ड व क्राइस्ट (Holland and Christ) तथा डा० गोड़बोले आदि महानुभावो के मतो का उल्लेख कर देना युक्तिसगत होगा।

ह्यूम ने इन झीलो की लवणता का कारण स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इन झीलो के स्थान पर पहले एक समुद्र था जिसके सूख जाने से ही यहाँ नमको का इतना अधिक निक्षेप हुआ है। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार इस प्रदेश के नमक के ढेर केवल समुद्र नितल के निक्षेप मात्र है।

डा० नोर्टलिग के मतानुसार सांभर झील में नमक भूमि के नीचे खारे जल के सोतो के बहने से प्राप्त होता है।

हॉलैण्ड व क्राइस्ट के अनुसार इन झीलो के निक्षेपों के नीचे प्राचीन नमक की चट्टाने (old rock salt) बिछी हुई हैं। अतएव केशा-आकर्षण शक्ति (capillary action) द्वारा नमक बराबर ऊपर आता रहता है, जिससे ये झीले बराबर खारी होती जा रही है।

उपरोक्त सभी मत वर्तमान खोजो द्वारा असत्य प्रमाणित हो चुके है। वर्तमान समय मे डा० गोड़बोले का मत ही अधिक मान्य है। उनके मतानुसार राजस्थान मे इतने अधिक नमको के पाये जाने का एकमात्र कारण ग्रीष्म मे प्रवाहित होने वाली पवनें है। डा० गोड़बोले का कहना है कि न तो यहाँ भूमि के खारे जल के सोते है, न नमकीन चट्टानो के जमाव के चिह्न ही है और न नमकीन भूमि के अन्दर बहने वाला जल ही ऊपर उठता है। इन्होंने खोज करके यह बताया है कि ग्रीष्मकाल मे बड़ी मात्रा में सोडियम क्लोराइड नमकीन धूल के रूप में दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम से राजस्थान के मरुस्थली भाग में पहुँचता है। ये पवनें कच्छ की खाड़ी के ऊपर होकर चलती हैं जो ग्रीष्म में सफेद नमक की सतह से ढकी रहती है। इसके ऊपर होकर आने वाली हवाएँ जो नमक युक्त रहती है, बिना किसी रोक-टोक के राजस्थान के भीतरी भागों में पहुँचती है और तब तक चलती रहती है जब तक कि वर्षाऋतु प्रारम्भ नही हो जाती। वर्षाकाल में हवाओ द्वारा वितरित नमक जो भूमि पर बिखरा रहता है, जल के प्रभाव द्वारा बहकर मरु-स्थल के बीच निम्न स्थलो अर्थात झीलों मे एकत्रित हो जाता है। ऐसा अनुमान लगाया गया

है कि प्रतिवर्ष ग्रीष्मऋतु में पवनों द्वारा औसतन 1,30,000 टन नमक राजस्थान के अन्दर पहुँचाया जाता है। इस तरह मरुस्थल मे नमक की कभी भी न्यूनता नही आने पाती।

यद्यपि भू-गर्भशास्त्रियो ने उपरोक्त मत का समर्थन किया है परन्तु फिर भी यह मत आक्षेपो से मुक्त नही है। अतः इस क्षेत्र मे अभी भी वैज्ञानिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

मरुस्थल के नीचे और वहाँ की झीलो मे कितनी मात्रा मे नमक के साधन वर्तमान है और कितना नमक उनसे प्राप्त किया जा सकता है, इस बारे मे कोई आँकडे उपलब्ध नही है। परन्तु साँभर, डीडवाना और पचभद्रा झीलो मे नमक की उपलब्धि के बारे मे काफी आँकड़े प्राप्त किये गये है, जो इस प्रकार है :

साँभर, डीडवाना, पंचभद्रा और समुद्र के नमकों का सम्मिश्रण (1950)[1]

लवण	साँभर	डीडवाना	पंचभद्रा	समुद्र
कैल्शियम कार्बोनेट	—	—	—	0 345
कैल्शियम सल्फेट	—	—	2·970	3·600
सोडियम क्लोराइड	87·300	77·190	85·660	77·788
सोडियम सल्फेट	8·650	20·650	—	—
सोडियम कार्बोनेट	3·870	0 600	—	—
सोडियम-बाई-कार्बोनेट	—	1 560	—	—
मैग्नेशियम क्लोराइड	—	—	9 440	11 737
पोटैशियम क्लोराइड	0·129	—	—	2·465
मैग्नेशियम क्लोराइट	—	—	1 930	10·878
मैग्नेशियम ब्रोमाइड	0·051	—	—	0·217
	100·000	100·000	100·000	100 000

इन झीलो से बड़ी मात्रा मे खाने का नमक प्राप्त होता है। परन्तु तीनों ही स्थानों पर बनने वाले नमक की मात्रा, रंग और उनके सम्मिश्रण मे थोड़ा अन्तर होता है। साँभर झील मे तैयार किये जाने वाले नमक मे सोडियम क्लोराइड की औसत मात्रा 96 से 98 प्रतिशत, नमी 1 से 3 प्रतिशत और घुली हुई अशुद्धियाँ (सोडियम कार्बोनेट, बाई-कार्बोनेट और कार्बनिक पदार्थ) 0·5 से 1·08 प्रतिशत तक पायी जाती है। नमक का रंग कुछ भूरा रहता है। डीडवाना से प्राप्त नमक अधिक अशुद्ध होता है। यहाँ नमक मे सोडियम सल्फेट की मात्रा बहुत ऊँची पायी जाती है और नमक प्रायः खाने के अयोग्य होता है। पंचभद्रा का नमक रंग में अपेक्षतया सफेद होता है और अपने सम्मिश्रण में साँभर और डीडवाना के नमक से भिन्न होता है।

इन तीनो ही झीलों से नमक के उत्पादन की मात्रा वर्ष-प्रतिवर्ष बदलती रहती है। राजस्थान में नमक के कुल उत्पादन का लगभग 85 से 90 प्रतिशत साँभर से इकट्ठा किया जाता है। इन झीलों से औसतन 75 लाख मन नमक प्रति वर्ष तैयार किया जाता है जो समस्त देश के उत्पादन का लगभग 20 प्रतिशत होता है।

---

1 J. L. Sorion · 'The Salinity of Rajasthan Desert' in *Bulletin of the National Institute of Sciences of India*, No. 1, Sept. 1952, p. 84

20

महासागरीय निक्षेप
(MARINE DEPOSITS)

वे समस्त पदार्थ जो समुद्र नितल पर एकत्र होते रहते हैं, महासागरीय निक्षेप कहलाते है। समुद्रो मे ये निक्षेप कई साधनो से प्राप्त होते है। कुछ निक्षेप स्थल से नदियो, लहरो तथा हवा द्वारा अवसाद (sediments) रूप मे प्राप्त होते है। कुछ निक्षेप समुद्री पौधो और जानवरों के अवशेष रूप होते है।

समुद्रो मे अवसादो का निक्षेप बहुत बड़े परिमाण मे होता है। अधिकांश अवसादी शैलो का जन्म, पूर्ववर्ती समुद्रो मे अवसादो के निक्षेप द्वारा ही हुआ है। इसी प्रकार खड़िया (chalk)

चित्र 169—फोरामिनीफेरा

स्वच्छ जल में सूक्ष्म फोरामिनीफेरा (Foraminifera) के अवशेषो का निक्षेप-मात्र है। इसके विपरीत ग्रिट (grit) पत्थर समुद्रतट के निकट उथले पानी मे बालू के मोटे कणो का निक्षेप है।

महासागरीय निक्षेप का वर्गीकरण

महासागरीय निक्षेप को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है :

(1) भूमिज निक्षेप (Terrigenous deposits),

(2) गम्भीरसागरीय निक्षेप (Pelagic deposits)।

(1) **भूमिज निक्षेप**—ये निक्षेप मुख्यत. महाद्वीपीय मग्नतट और मग्नढाल पर मिलते हैं। इन निक्षेपो में स्थल से प्राप्त पदार्थो की अधिकता रहती है। इनमे नदियों से प्राप्त अवसाद मुख्य होते हैं। अवसाद के साथ-साथ ज्वालामुखी पदार्थ और समुद्री जीव-जन्तु तथा पौधों के अवशेष भी विद्यमान रहते है। इन निक्षेपो में स्फटिक (Quartz) के कणों की मात्रा अधिक मिलती है। कई बार मग्नढालों पर गम्भीरसागरीय निक्षेप भी देखे जाते है।

(2) **गम्भीरसागरीय निक्षेप**—ये निक्षेप सामान्यतः अगाधसागरीय तल और महासागरीय गर्त में मिलते है। इन निक्षेपो मे समुद्री जीव-जन्तुओं तथा पौधों के अवशेषो की प्रमुखता होती है। अन्य पदार्थो मे ज्वालामुखी राख व झामक तथा उनसे उत्पन्न लोहा व एल्यूमिनियम के सिलीकेट व लोहा-मैगनीज मिश्रित कण मुख्य हैं।

महासागरीय निक्षेपों का वितरण

मग्नतट और मग्नढाल के निक्षेप—इन भागो के निक्षेप मे उन पदार्थो की अधिकता होती है जो नदियाँ धरातल से बहाकर लाती है। समुद्री लहरो के प्रभाव से तटो के अपरदित पदार्थ भी इसमे मिले रहते हैं। प्रायः स्थूल पदार्थ तट के समीप और सूक्ष्म पदार्थ तट से दूर पाये जाते है। पदार्थो की आकार के अनुसार छँटनी होती रहती है। पहले किनारो से टूटकर गिरने वाले शिलाखण्ड, फिर बट्टड़, कंकड़, बालू तथा अन्त मे पक रहता है। इस प्रकार पदार्थो के निक्षेप मे क्रम बना रहता है—स्थूल पहले और सूक्ष्म बाद मे। किन्तु जिस दूरी तक ये पदार्थ यात्रा करते है वह इनके आकार पर ही निर्भर नही करता वरन् लहरो तथा धाराओं की तीव्रता भी उसको प्रभावित करती है। लहरो की शक्ति घटती-बढती रहती है इसलिए पदार्थो की छँटनी भी कभी पूर्ण नही होती। इन पदार्थो का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग कभी मग्नढाल से परे नही पहुँच पाता। यहाँ मुख्यत: तीन प्रकार के पदार्थो के निक्षेप होते है

(1) **स्थलीय पदार्थो के निक्षेप**—मग्नतट और मग्नढाल के निक्षेप मे अधिकतर बालू और पक ही देखा जाता है। बालू धरातल के अपरदन से प्राप्त होता है और उसमें उन सभी शैलो तथा खनिजों के कण होते है जो कि भूमि की रचना करते है। इसके अधिकतर कण कठोर स्फटिक के होते हैं जो रासायनिक परिवर्तन से कम प्रभावित होते है। परन्तु कुछ कण मुलायम और शीघ्र क्षय होने वाले होते है जो पक के निर्माण मे योग देते है।

चित्र 170—महासागरीय निक्षेपों का वितरण

पंक मे बालू से भी सूक्ष्म पदार्थ रहते हैं। इसमें अधिकतर सूक्ष्म खनिज तत्त्व एव बड़ी मात्रा में चिकनी मिट्टी मिली हुई रहती है। समुद्रों मे निम्न प्रकार के पको का निक्षेप देखा जाता है:

(क) नील पंक (Blue Mud)—यह पंक लगभग सभी समुद्रों मे पाया जाता है। यह मुख्यतः तटों के समीप उथले समुद्री भागों में मिलता है। किन्तु जहाँ कही नदी का तीव्र धारा समुद्र में प्रवेश करती है वहाँ यह किनारों से 400-500 मील की दूरी तक फैला हुआ पाया

जाता है। इसकी साधारण सीमा समुद्र मे 200-300 मील है। इस पंक में 25 प्रतिशत स्फुटिक के कण तथा 60 प्रतिशत मिट्टी रहती है। इसका रंग नीला या सिलेटी होता है।

(ख) **हरा पंक** (Green Mud)—यह नीले पंक का ही एक विशेष रूप है। इसमें चूने वाले जीवो के अवशेष तथा लोहे के सिलीकेट के कण मिले होने से इसका रंग हरा प्रतीत होता है। यह उत्तरी अमरीका के प्रशान्त महासागरीय और अन्य महासागरीय तटों, आस्ट्रेलिया और जापान के समीप, दक्षिणी अफ्रीका के उत्तम आशा अन्तरीप के निकट और गरम तथा ठण्डी जल-धाराओ के संगम-स्थलो पर विशेष रूप से मिलता है।

(ग) **लाल पंक** (Red Mud)—यह भी नीले पंक का ही एक रूप है। इसमे मिट्टी के साथ लोहे के ऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है। अत: इसका रग लाल अथवा बादामी दिखाई पडता है। यह ब्राजील तट के समीप और चीन के पास पीत सागर मे मिलता है।

(घ) **ज्वालामुखी पंक** (Volcanic Mud)—यह पंक ज्वालामुखी राख आदि पदार्थों से बनता है और मुख्यत. ज्वालामुखी द्वीपों के आसपास मिलता है।

(ङ) **प्रवाल पंख** (Coral Mud)—यह प्रवाल एव कई प्रकार के चूनायुक्त जीवो के अवशेषों से बनता है। यह प्रवाल द्वीपों के निकट पाया जाता है।

(2) **जैव पदार्थों के निक्षेप**—मग्नतट के कई भागो मे बड़ी मात्रा मे समुद्री जीव-जन्तु और पौधे पनपते हैं। अत यहाँ के निक्षेप मे इन जीव-जन्तुओं और पौधो के अवशेषो का बहुत बड़ा भाग रहता है। इन जीवो के अवशेष ही धीरे-धीरे लहरो के प्रभाव से महीन होकर पक का रूप ले लेते है। ऐसे पदार्थ मेक्सिको की खाड़ी तथा कैरेबियन समुद्र मे अधिकता से पाये जाते है।

(3) **ज्वालामुखी पदार्थों के निक्षेप**—ज्वालामुखी प्रदेशो मे मग्नतट और मग्नढालो पर अधिकतर ज्वालामुखी उद्गारों से प्राप्त पदार्थ ही मिलते है। भूमिज पदार्थो की यहाँ कमी रहती है। पदार्थो का वितरण और निक्षेप क्रमानुसार होता है। परन्तु पदार्थो के मिश्रण मे भिन्नता पायी जाती है। जैसे ज्वालामुखी रेत में स्फाट के कणों की अपेक्षा लावा के कण अधिक मिले होते है।

महासागरीय तल और महासागरीय गर्तों के निक्षेप

महासागरीय तल और महासागरीय गर्त मुख्यतः गम्भीरसागरीय निक्षेप से ढके हुए हैं। भूमिज निक्षेप बहुत ही कम मात्रा मे मग्नढाल से परे पहुँचते है। ज्वालामुखी राख इसका अपवाद है। कभी-कभी तो मग्नढालों पर पर्याप्त भूमिज निक्षेपों के अभाव में न्यूनाधिक रूप मे गम्भीर-सागरीय निक्षेप ही मिलते है।

समुद्र-जल मे असख्य मात्रा मे जीव पाये जाते है। अधिकांश जीव पानी मे घुले हुए ही रहते है। इन जीवों की जैसे ही मृत्यु होती है वे तली पर बैठते जाते है। इस प्रकार समुद्र की तली पर मृत जीवों की निरन्तर वर्षा होती रहती है। शनैः-शनैः इनका निक्षेप बढता जाता है। गम्भीरसागरीय निक्षेप मे इस तरह जीव-जन्तुओं और पौधों के अवशेष तथा ज्वालामुखी राख विशेष रूप से मिलती है।

साधारणतः गम्भीरसागरीय निक्षेप पंक के रूप में होता है जिसे 'ऊज' (Ooze) कहा जाता है। यह हल्के भूरे रग का होता है और सूख जाने पर आटे के सदृश प्रतीत होता है। इस प्रकार का पक अनेक प्रकार के जीवों की मृत देह के संचय से बनता है। 'ऊज' भी उन जीवो में से एक होता है। अतः पंक का पर्यायवाची 'ऊज' शीर्षक बहुलता से पायी जाने वाली एक जाति पर ही आधारित है। इनमें से कुछ जीवों की देह घुलनशील तत्त्वो और कुछ की अघुलनशील

तत्त्वों से बनी होती है। अत ऊज अथवा पंक को भी चूना प्रधान (calcareous) और सिलिका-प्रधान (siliceous) दो भागों मे बाँटा गया है। चूना-प्रधान पंक की रचना मुख्यतः फोरामिनीफेर द्वारा होती है। सिलिका-प्रधान पक डायमट व रेडियोलेरिया जीवों से बनता है। पी० लेक ने गम्भीरसागरीय निक्षेप (pelagic deposits) को निम्न प्रकार से विभाजित किया है :[1]

कार्बनिक निक्षेप
(Organic Deposits)

ग्लोबिजेरिना पंक (Globigerina Ooze)—इस पक मे ग्लोबिजेरिना व अन्य जीवों के घुलनशील शारीरिक खोल रहते है। ये सब चूना-प्रधान होते है। ग्लोबिजेरिना का आकार पिन की नोंक के सदृश बहुत ही सूक्ष्म होता है। इन्हीं की प्रधानता के कारण इस पक को ग्लोबिजेरिना पक कहा जाता है। जब इस पक को सुखाया जाता है तो यह मटमैले सफेद चूर्ण के समान प्रतीत होता है। इसमे अधिकाशत. चूना पाया जाता है जो जीवों तथा अन्य प्राणिज अवशेषों, धातु अंश एव लाल मृत्तिका द्वारा बना होता है।

चित्र 171—ग्लोबिजेरिना पंक

साधारणत. ग्लोबिजेरिना जीव 1500 से 2000 फैदम गहराई के मध्य पाया जाता है। परन्तु इसकी कोई निश्चित सीमा नही है। जहाँ कहीं भूमिज पदार्थों का अभाव पाया जाता है वहाँ ये कम गहराई पर भी मिल जाते हैं। गहराई के साथ ये सामान्यतः लुप्त होते जाते हैं, किन्तु अन्ध महासागर मे कहीं-कही ये 5000 फैदम की गहराई तक भी पाये जाते हैं।

यह पंक उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम जल में अधिक विकसित होता है। ठण्डे ध्रुवीय सागरों में यह कम मिलता है। इसका सर्वाधिक विस्तार अन्ध महासागर में पाया जाता है। यहाँ इनका विस्तार 72° उत्तरी अक्षांश से 60° दक्षिणी अक्षांश तक मिलता है। उत्तर की ओर अधिक विस्तार होने का कारण उष्ण समुद्री धाराओं का प्रभाव है। हिन्द महासागर में यह एशिया व आस्ट्रेलिया महाद्वीपों के मग्नतटों के पूर्वी भागों को छोड़कर सर्वत्र मिलता है। प्रशान्त

---

1 P. Lake : *Physical Geography*, p. 215

महासागर से यह पूर्वी भाग मे अधिक मिलता है। यह पंक महासागरीय गर्तों मे बिलकुल नहीं पाया जाता।

टेरोपोड पंक (Pteropod Ooze)—इस पंक मे टेरोपोड नामक जीवो की अधिकता पायी जाती है। इसके शारीरिक ढाँचे पतले, नुकीले और शीघ्र टूटने वाले होते हे। इनकी लम्बाई आधे इंच से पौन इच तक होती है। इनका शरीर चूने से बना होता है। अत यह पंक चूना-प्रधान होता है।

ऐसा देखा गया है कि जिन स्थानों पर सतह का पानी गरम होता है और वार्षिक तापान्तर भी अधिक नही होता, वहाँ ये जीव बहुत शीघ्र बढते हे। अत: इनका विकास उष्ण कटिबन्धीय तथा उपोष्ण कटिबन्धीय समुद्रों मे ही होता है। प्राय: ये जीव स्थल से दूर छिछले-जल मे पनपते है, इसलिए यह पंक सामान्यत 800 से 1500 फैदम गहराई तक पाया जाता है। कही-कही यह कम गहराई पर भी दृष्टिगोचर होता है। इसके निक्षेप समुद्र-तल से ऊपर उठे हुए पठार एवं पहाडियो पर अधिक मिलते है। मध्य अटलाण्टिक की पहाडी पर यह कई स्थानों पर पाया जाता है। भूमध्य सागर और प्रशान्त महासागर के पश्चिमी और मध्यवर्ती क्षेत्रों मे प्रवाल द्वीपो के आसपास यह दो-तीन टुकड़ो में मिलता है। यह पक लगभग 5 लाख वर्गमील में फैला हुआ है। सूख जाने पर यह खुरदरे, श्वेत चूर्ण के सदृश प्रतीत होता है। मिश्रण के फलस्वरूप यह पंक धीरे-धीरे ग्लोबिजेरिना पक मे परिवर्तित हो जाता है।

डायटम पंक (Diatom Ooze)—यह पक डायटम नामक जीवो तथा रेडियोलेरिया के ढाँचो, स्पज के नुकीले भागों और मृत्तिका के कुछ मिश्रण से बना होता है। यह पंक सिकता-प्रधान होता है और सामान्यत. 600 से 2000 फैदम गहराई तक पाया जाता है। कभी-कभी यह 4000 फैदम गहराई तक भी मिलता है। डायटम जीव ठण्डे समुद्रों में पनपते है, इसलिए इनका विस्तार मुख्यत. प्रशान्त महासागर मे अलास्का मे लेकर जापान तक अथाह सागरो वाली पेटी और दक्षिणी ध्रुव महासागर मे अण्टार्कटिक महाद्वीप के चारो ओर भूमिज निक्षेप की पेटी के बाहर एक चौड़ी मेखला के रूप मे मिलता है। इन दोनो क्षेत्रों मे समुद्र के ऊपर उठने के फलस्वरूप डायटम जीवों के लिए बड़ी मात्रा मे खाद्य-पदार्थ प्राप्त होता है। उत्तरी अमरीका के पश्चिमी-तट पर केलीफोर्निया की खाड़ी भी इसका एक क्षेत्र है, जहाँ पर जल स्वय लाल दिखाई पड़ता है। इसीलिए इस खाड़ी को लाल सिन्दूर सागर (Vermillion Sea) कहा जाता है।

रेडियोलेरियन पंक (Radiolarian Ooze)—यह पंक लाल मृत्तिका का ही एक रूप है। इसमे रेडियोलेरिया और डायटम जीवों के ढाँचे और मृत्तिका पायी जाती है। यह भी एक
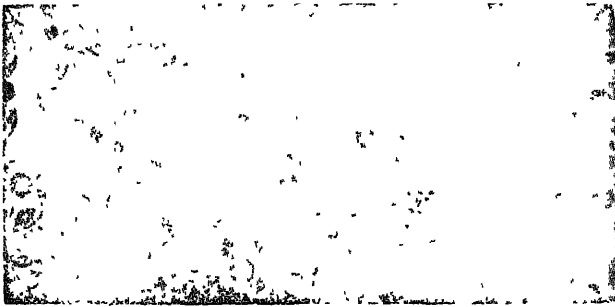
चित्र 172—रेडियोलेरियन पंक

सिलिका-प्रधान पंक है। इसके जीव सदैव गहरे समुद्रों में मिलते है, अतः यह पक सामान्यतः

महासागरों में जैव-निक्षेपों का वितरण[1]

(10 लाख किलोमीटर में)

	अन्ध महासागर		प्रशान्त महासागर		ि्न्द महासागर		कुल योग	
	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत
चूना-प्रधान पंक								
1. ग्लोबिजेरिना	40·1	—	51·9	—	34 4	—	—	—
2. टेरोपोड	1·5	—	—	—	—	—	—	—
कुल	41·6	67·5	51·9	36·2	34 4	54 3	127 9	47 7
सिलिका-प्रधान पंक								
1. डायटम	4·1	—	14·4	—	12 6	—	—	—
2. रेडियोलेरिया	—	—	6·6	—	3·0	—	—	—
कुल	4·1	6·7	21·0	14·7	12 9	20·4	38·0	14 2
लाल चीका	15·9	25·8	70·3	49 1	16·0	25·3	102·0	328 1
कुल	61·6	100 0	143·2	100·0	63·3	100 0	268 1	100 0

Sverdrup, Johnson and Fleming : *The Oceans*, p. 977

2000 फैदम से कम गहराई पर नही पाया जाता है। कही-कही इसका विस्तार 5000 फैदम तक भी देखा जाता है। यह एक उष्ण समुद्रो तक सीमित है। अन्ध महासागर मे इसका पूर्ण अभाव है। हिन्द महासागर के पूर्वी भाग मे इसका एक छोटा क्षेत्र है। प्रशान्त महासागर मे 5° से 15° उत्तरी अक्षाशों के मध्य इसका एक क्षेत्र है जो उत्तरी भूमध्यरेखीय जलधारा के साथ फैला हुआ है।

अकार्बनिक निक्षेप
(Inorganic Deposits)

समुद्र नितल पर कार्बनिक निक्षेप के अतिरिक्त बडी मात्रा मे अकार्बनिक निक्षेप पाये जाते है। ये निक्षेप मुख्यत ज्वालामुखी पदार्थो एव उल्का धूल के अवक्षेपण के द्वारा होते है। इस अवक्षेप मे लोहा, मैगनीज ऑक्साइड, फॉस्फेट, डोलोमाइट एमोरफस, सिलिका व बाइराइट आदि के कण सम्मिलित होते है। इनके अतिरिक्त समुद्रो के फेल्सपार, फॉसफोराइट व फिलिपसाइट आदि पदार्थ भी पहुँचते है जो रासायनिक रूपान्तर के हो जाने पर अवक्षेप मे मिल जाते है। समुद्रों मे रासायनिक क्रिया होने से कार्बनिक और अकार्बनिक अवसाद आपस मे मिल जाते है जिससे उनको अलग-अलग देख सकना कठिन हो जाता है।[1]

अकार्बनिक पदार्थो का अवक्षेपण यो तो पृथ्वी के सभी भागों में होता है, किन्तु स्थल पर इनका अस्तित्व धूल मे मिल जाने से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। समुद्रो के नितल पर इनका अवक्षेपण धीरे-धीरे और बड़ी मात्रा मे होता है, अत. समुद्रों मे अकार्बनिक निक्षेपो का विशेष महत्त्व है।

लाल मृत्तिका (Red Clay)—महासागरीय निक्षेपो मे सबमे अधिक विस्तार लाल मृत्तिका का देखा जाता है। प्रायः यह सभी महासागरो मे पायी जाती है, किन्तु इसका निक्षेप 2700 फैदम से अधिक गहरे भागो मे मिलता है। यह मुख्यतया ज्वालामुखी उद्गारों से प्राप्त पदार्थों के विघटन अथवा उनके रासायनिक क्रियाओं द्वारा क्षय होने से बनती है। इसमे समुद्री जीवो के कम घिसने वाले अवशेष भी मिलते है जैसे ह्वेल के कान की हड्डियाँ तथा शार्क के दाँत आदि। इसमें लोहे व मैंगनीज के ऑक्साइड भी पाये जाते है। कुछ अन्य खनिज एव उल्का धूल भी इसमे मिली रहती है। गहराई कम होने के साथ-साथ इसमें चूना व सिलिकायुक्त पदार्थो का मात्रा का अनुपात बढता जाता है।

लाल मृत्तिका अकार्बनिक निक्षेप है। यह प्रशान्त, हिन्द तथा अन्ध महासागर में पायी जाती है। अन्ध महासागर मे यह 40° उत्तरी अक्षाश से 40° दक्षिणी अक्षाश के बीच पायी जाती है। हिन्द तथा प्रशान्त महासागर मे यह प्रचुर मात्रा मे मिलती है, परन्तु इसका अधिकांश निक्षेप पूर्वी भागो मे है। उत्तरी प्रशान्त महासागर मे इसका निक्षेप विशेष रूप से देखा जाता है। सभी समुद्रों में इसका विस्तार लगभग 5 करोड वर्गमील क्षेत्र मे है।

उल्का धूल (Meteoric Dust)—पृथ्वी के धरातल पर अन्तरिक्ष से निरन्तर उल्का धूल का अवक्षेप होता रहता है। स्थलीय भागों मे यह धूल मिट्टी के साथ मिल जाने से पहचानी नहीं जाती। किन्तु महासागरों मे इसका निक्षेप महत्त्वपूर्ण होता है। इस धूल मे लोहा तथा अन्य खनिजों के कण होते है। लोहे के कारण इसका रंग काला होता है। जब इसका मिश्रण लाल चीका के साथ हो जाता है तो इसको पृथक रूप से पहचानना कठिन होता है।

गम्भीरसागरीय निक्षेप अत्यन्त मन्द गति से एकत्र होते हैं। उदाहरणतः, प्रशान्त महासागर की तली के अवसादो का निर्माण लगभग 20,000 वर्षों मे एक इच की गति से हुआ है।

---

1 R. C. Sharma & M. Vatal ; *Oceanography for Geographers*, p. 101

इसके विपरीत अन्ध महासागर की तली में अवमादों का निक्षेप दस गुना अधिक तीव्रता से हुआ है । फिर भी निक्षेपो की कुल मोटाई बहुत अधिक है । ध्वनीकरण यन्त्रों द्वारा ज्ञात हुआ है कि अन्ध महासागर के कुछ भागो मे अवसादों की मोटाई 12,000 फुट तक है । इस प्रकार के निक्षेप मे निश्चय ही 30 मे 40 करोड वर्ष लगे होंगे ।[1]

महासागरीय निक्षेप के अन्य वर्गीकरण—भिन्न-भिन्न वैज्ञानिको ने महासागरीय निक्षेपो को कई रूपो मे और कई प्रकार से वर्गीकृत किया है । इनमे **आर्थर होम्स**, **मरे** तथा **जेनकिन्स** के वर्गीकरण विशेष उल्लेखनीय हैं ।

मरे का वर्गीकरण—मरे के अनुसार महासागरीय निक्षेपो के दो प्रकार हैं : (1) स्थलीय या भूमिज निक्षेप, तथा (2) अगाधसागरीय या पेलैजिक निक्षेप ।

(1) **भूमिज निक्षेप**—इनका निक्षेप महाद्वीपीय मग्नतट तथा महाद्वीपीय मग्नढालों पर मिलता है । ये निक्षेप मोटे कणों से बने होते हैं और उनका रंग लाल, नीला एव पीला हो सकता है ।

(2) **पेलैजिक निक्षेप**—ये निक्षेप बारीक पदार्थों से बने होते हैं और उनका रग लाल या भूरा होता है । ये मुख्यतः महासागरीय तली में अधिक गहराई पर पाये जाते है ।

जेनकिन्स का वर्गीकरण—जेनकिन्स ने महासागरीय निक्षेपों को तीन वर्गों मे विभाजित किया है ·

(1) अगाध गहराई के निक्षेप, (2) छिछले जल के निक्षेप, और (3) तटीय निक्षेप । इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :

वर्ग		निक्षेप	
1. अगाध गहराई के निक्षेप (100 फैदम गहराई के नीचे)	(क)	1. रेडियोलेरियन पंक 2. डायटम पंक 3. ग्लोबिजेरिना पक 4. टेरोपोड पंक 5. लाल मृत्तिका	पैलेजिक निक्षेप (स्थल से दूर अगाध सागर मे स्थित)
	(ख)	1. नीली पक 2. लाल पंक 3. हरी पंक 4. प्रवाल पंक 5. ज्वालामुखी पंक	स्थलीय या भूमिज निक्षेप (स्थल के पास स्थित)
2. छिछले सागर के निक्षेप (ज्वार की निचली रेखा 100 फैदम तक)		1. रेत 2. बजरी 3. पंक	
3. तटीय निक्षेप (उच्च तथा निम्न ज्वार तल के मध्य)		1. रेत 2. बजरी 3. पंक	

होम्स का वर्गीकरण—**आर्थर होम्स** ने महासागरीय निक्षेप को अग्रलिखितानुसार वर्गीकृत किया है ।[2]

[1] Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 294

[2] A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 316

पदार्थों के प्रकार

निक्षेप कटिबन्ध	स्थलीय निक्षेप	रासायनिक एवं जीव-रसायन	कार्बनिक निक्षेप	
			अगम्भीर कटिबन्ध	सागरीय
तटवर्ती प्रदेश	बट्टड राशि ककड़	ओलाइट बालू चूनेदार बालू	कवच रोड़े कवच एव बालू	
गाध प्रदेश	बालू पंक	चिपकने वाला पदार्थ (10%)	प्रवाल भित्ति प्रवाल कण	
अगाध जल प्रदेश	1. गम्भीर कटिबन्ध के विभिन्न रंग के पंक 2. ज्वालामुखी पंक 3. परिप्लावी जीवों के अवशेष (15%)	चिपकने वाला पदार्थ	प्रवाल पंक	अगाध जल कटिबन्ध के पंक, टेरोपोड, डायटम, रेडियोलेरियन व ग्लोबिजेरिना (49%) लाल पंक (34%)

21

लहरें एवं धाराएँ
(WAVES AND CURRENTS)

लहरें
(Waves)

समुद्र कभी शान्त नही रहता। एक हल्के आघात से समुद्र मे उद्वेलन हो उठता है। इसीलिए जब हवा चलती है अथवा पवन के झोके आते है तो समुद्र में गति उत्पन्न हो जाती है। ऐसा केवल हवा के दबाव के कारण ही होता है। हवा के प्रभाव से समुद्र का जल उसके साथ-साथ आगे बढने लगता है। अतः **हवा के सम्पर्क से समुद्र की सतह पर पानी के हिलने-डुलने और आगे बढ़ने तथा पीछे हटने की क्रिया को ही लहर** (waves) **कहा जाता है।** लहरो के रूप में समुद्र का जल केवल ऊपर नीचे होता है या आगे बढता है और फिर पीछे लौटता है। वह नदी की भाँति कभी भी एक स्थान को छोडकर आगे नही बढता। इस बात की सत्यता इससे प्रमाणित हो जाती है कि यदि लहरों के बीच कोई कॉर्क का टुकड़ा छोड़ दिया जाय तो वह लहरों के साथ ऊपर-नीचे नाचता रहेगा, लेकिन कभी भी अपना स्थान छोड़कर आगे नही बढ़ेगा। हवा के प्रभाव से वह अवश्य आगे बढ सकता है या धाराएँ उसको बहाकर दूर ले जा सकती है, अन्यथा स्वय लहरो में इतनी शक्ति नही कि वह उसको आगे धकेल सके। लहर मे जल के कण झूले की भाँति केवल इधर-उधर होते रहते है, लहर के बाहर कभी नही जाते।

लहरों का प्रभाव समुद्र के ऊपरी जल तक ही सीमित रहता है। गहराई पर लहरो का प्रभाव क्षीण होता जाता है। गहराई के बढने पर लहर के आगे-पीछे होने की क्रिया की अपेक्षा ऊपर-नीचे होने की क्रिया शीघ्र नष्ट हो जाती है। लहर की लम्बाई के बराबर गहराई पर लहरो की गति समुद्र की सतह पर पायी जाने वाली गति का $\frac{1}{800}$वाँ भाग ही रहती है। इस कारण जल की ऊपरी सतह के समीपस्थ भागो को छोड़कर अन्य स्थानों पर लहरो का बहुत ही कम प्रभाव होता है। यहाँ तक कि तूफानो से उद्वेलित समुद्रों मे भी लहरो का प्रभाव जल की बहुत कम गहराई तक सीमित रहता है। ऐसा देखा गया है कि 180 मीटर (600 फुट) की गहराई पर समुद्र का जल एकदम शान्त रहता है।

समुद्र-जल में हवा के प्रभाव से लहर का जन्म होना है। लहर मे जल का कुछ भाग ऊपर उठा हुआ और कुछ नीचे दबा हुआ रहता है। लहर का ऊपर उठा हुआ भाग **शिखर** (crest) और नीचे दबा हुआ भाग **द्रोणी** (trough) कहलाता है। इन्ही के द्वारा लहरो की नाप मालूम की जाती है। एक शिखर से दूसरे शिखर अथवा एक द्रोणी से दूसरी द्रोणी तक की

दूरी लहर की लम्बाई कहलाती है। द्रोणी और शिखर के बीच का अन्तर लहर की ऊँचाई कहलाती है।

लहर मे जल की आगे की ओर गति नही होती, अपितु लहर का रूप ही आगे की ओर अग्रसर होता है। लहर के अग्रसर होते समय जल का प्रत्येक कण वृत्ताकार रूप मे घूमता है, जिसका व्यास लहर की ऊँचाई के बराबर होता है। जैसा कि नीचे के चित्र से स्पष्ट है जल-कणो की गति शिखर (crest) में आगे की ओर, द्रोणी (trough) मे पीछे की ओर, सम्मुख ढाल के मध्य मे ऊपर की ओर तथा विपरीत ढाल के बीच नीचे की ओर होती है। इस प्रकार लहर मे जल-कण का पूरा वृत्ताकार चक्कर काटते है। लहर मे जल-कण झूले की पैंग की भांति जितने ही आगे बढते है, उतने ही वापस पीछे लौटते है। लहरो मे जल की इस प्रकार की गति को **दोलन** (oscillation) कहा जाता है।
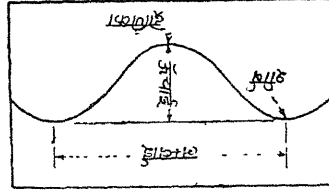
चित्र 173—**लहर का आकार**

समुद्र मे जल की गति और लहर का रूप दोनों स्वतन्त्र है। समुद्र-जल की गति और लहर की स्वतन्त्रता का आभास उस समय सरलता से हो जाता है जब नदी की सतह पर वायु-प्रवाह धारा के उल्टी दिशा में होता है। ऐसी दशा में धारा का जल आगे की ओर बहता है परन्तु हवाजनित लहरे धारा मे पीछे की ओर चलती हुई लगती है।
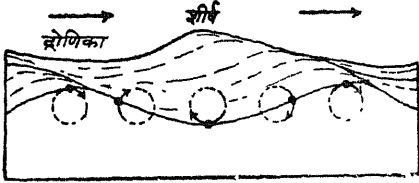
चित्र 174—**लहरों में जल का दोलन**

वस्तुत: समुद्र मे लहरों का आकार अर्थात उसकी ऊँचाई पवन के वेग (velocity of wind), पवन की अवधि (duration of the wind) और समुद्र के विस्तार (fetch of water) पर निर्भर करती है। हवा के वेग के साथ ही लहरों का आकार भी छोटा-बडा होता रहता है। समुद्र में प्रचण्ड तूफानो (gales) के समय बनने वाली भयकर लहरो को प्राय **सीज** (seas) कहा जाता है। ऐसी लहरों की ऊँचाई प्राय: 30 से 40 फुट होती है। कदाचित ही उनकी ऊँचाई 50 फुट से अधिक पहुँचती है। इनकी लम्बाई 300 से 1500 फुट और उससे भी अधिक रहती है। लहरो की गति 20 से 60 मील प्रति घण्टा होती है। एक शिखर से दूसरे शिखर के बीच की अवधि कठिनाई से 10-12 सैकिण्ड होती है। महासागरों मे सबसे अधिक ऊँची और भयंकर लहरे दक्षिणी महासागरो मे उठती है, क्योकि यहाँ समुद्र का लम्बा विस्तार, अबाधित हवाओ की प्रचण्ड गति और तूफान की दीर्घ अवधि सब मिलकर उसके विराट रूप को बनाने मे योग देते है।

प्रचण्ड तूफानो द्वारा उठी हुई लहरें जो 20 से 60 मील प्रति घण्टा की गति से चलती है, समुद्र मे चलते-चलते शीघ्र ही तूफानी क्षेत्रों से दूर पहुँच जाती है। तूफानो से दूर हो जाने पर भी उनकी लम्बाई और तीव्रता में कोई अन्तर नही आता। अन्तर केवल उनकी ऊँचाई में आता है। दूरी बढ़ने के साथ-साथ इनकी ऊँचाई घटती जाती है। ऊँचाई घटने पर लहर के इस रूप को **महातरंग** (swell) कहते है।

शान्त मौसम मे समुद्र का जल गतिहीन रहता है। उसकी सतह बिलकुल एक समान और काँच की तरह चमकीली रहती है। परन्तु वह बिलकुल ही समतल और शान्त नहीं होता, क्योकि दूर समुद्र मे तूफानों द्वारा उठी लहरे निरन्तर आती रहती है, जो समुद्र-जल मे गति बनाये रखती हैं। प्राय: वायु की प्रशान्त पेटी (डोलड्रम) में पड़ा जहाज सदा ही इन लहरो के सग मस्ती से ऊपर-नीचे डोलता देखा जाता है।

जब लहरें तट के समीप छिछले जल मे पहुँचती है तो उसकी गति कमजोर पड़ जाती है। गति कमजोर पड़ जाने से लहर का शिखर ऊँचा होता जाता है और द्रोणी नीचे बैठती जाती है।
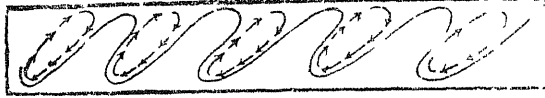
चित्र 175—अण्डाकार भग्नोर्मि

इस तरह ज्यो-ज्यो लहर तट के समीप पहुँचती जाती है उसका अग्रभाग पीछे के हिस्से की अपेक्षाकृत बड़ा ही प्रपाती होता जाता है। लहर का बढता हुआ यह रूप जब किसी लम्बे, समतल और मन्द ढाल वाले रेतीले तट पर पहुँचता है तो वहाँ जल की गहराई कम होने से उसको रोकने वाला कोई नही होता, जिससे लहर विराट गर्जना के साथ तट पर टूट पड़ती है। तट पर गिरने के साथ ही लहर छिन्न-छिन्न होकर नष्ट हो जाती है। ऐसी लहर को **'भग्नोर्मि'** (brakers or surf) कहा जाता है। कभी-कभी इस प्रकार की लहर को **'अग्रगामी लहर'** (wave of translation) भी कहते हैं।
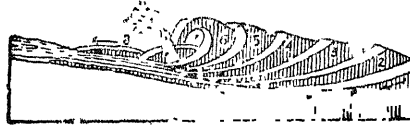
चित्र 176—भग्नोर्मि

भग्नोर्मि की उपमा चक्की से दी जा सकती है जिसमे ककड़, पत्थर, ढोंके अष्टीला और बालू आदि महीन से महीन पिसते जाते है। भग्नोर्मि के साथ कंकड़ों के आगे-पीछे होने से उत्पन्न ध्वनि को भी आसानी से सुना जा सकता है।

जब लहर तट के समीप आकर टूट जाती है तो उसका जल तली (bottom) के साथ-साथ नीचे ही नीचे धारा की तरह पुन. समुद्र की ओर प्रवाहित हो जाता है। समुद्र के ढाल की ओर इस प्रकार पुन. लौटते हुए जल को **प्रतिधावन** (backwash) कहा जाता है।

चित्र 177—भग्नोर्मि की दशाएँ

12 सितम्बर 1889 ई० को एक बार पश्चिमी द्वीपसमूह मे भयकर प्रभजन (हरीकेन) का जन्म हुआ, जिसका रुख कैरोलीना तट की ओर था। इस प्रभजन के कारण न्यूजर्सी-तट पर विकराल भग्नोर्मि (surf) की उत्पत्ति हुई, जबकि तूफानी क्षेत्र उस समय भी एक हजार मील की दूरी पर था। दक्षिणी अन्ध महासागर मे स्थित सेण्ट हेलीना नामक द्वीप पर जब जहाज आते है तो जहाज से आने वाली नावें प्राय: स्वच्छ मौसम मे भी इन लहरो के कारण तट पर नही लग पाती। जिन महातरंगों (swell) के कारण ये भग्नोर्मि बनती हैं, वे सम्भवत: उन तूफानों से आती है जो कि उत्तरी अन्ध महासागर के शीतोष्ण भागों में पैदा होती हैं।[1]
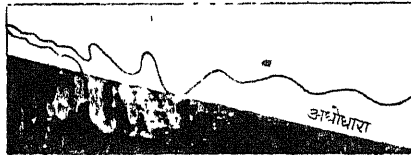
चित्र 178—प्रतिधावन

जब लहरें किसी चट्टानी और खड़े ढाल वाले तट पर बिना किसी क्रम के चोट करती है तो उनके आगे-पीछे हटने के साथ-साथ तीव्र आवाज और झाग (foam) उत्पन्न हो जाते है। तूफानों के समय जल के छीटे 50 से 100 फुट ऊपर हवा में उठ जाते है। इन भीषण काल-रूपी लहरों मे असीम शक्ति होती है। दस फुट या उससे भी अधिक व्यास वाले चट्टानों के खण्डो को ये लहरें

1 W. M. Davis : *Physical Geography*, p. 113

आसानी से हिला देती है। लहरों का कार्य अपने तट तक ही सीमित नही होता। वह दस, बीस या उससे भी अधिक गहराई वाले समुद्री पेंदे के पदार्थों को हटाकर उनको बारीक पीस देती हैं और अत्यन्त बारीक व हल्के पदार्थों को एकदम शान्त और गहरे पानी में ले जाकर छोड़ देती है।

ज्वालामुखी लहरें—जब कभी भू-तल पर किसी कारणवश ज्वालामुखी का उद्गार होता है और संयोग से यदि उसका छिद्र समुद्र के भीतर हुआ तो उसके ऊपर महासागर का समस्त जल-पिण्ड हिल उठता है और लम्बी-लम्बी लहरे चारों ओर दूर-दूर तक फैल जाती है। भूकम्प अथवा ज्वालामुखी द्वारा उत्पन्न इन लहरों की गति बड़ी ही तीव्र होती है। जब ये लहरें किसी छिछले समुद्रतट पर पहुँचती है तो भारी विनाश उपस्थित कर देती है।

जावा और सुमात्रा के बीच क्राकाटोआ द्वीप मे सन् 1883 को भीषण ज्वालामुखी उभाड़ के कारण समुद्र मे जो लहरे उत्पन्न हुईं, वे संसार में दूर-दूर तक चारों ओर फैल गयी। इन लहरों की साधारण औसत गति 400 मील प्रति घण्टा थी। यद्यपि दूर तटों पर इन लहरो का प्रभाव बहुत हल्का था, परन्तु क्राकाटोआ के समीप भूमि-तट पर 40 से 80 फुट की ऊँचाई से ये लहरे टूट पड़ीं। इससे द्वीप की निम्न भूमि बाढ़ से ग्रसित हो गयी, कई गाँव बाढ में नष्ट हो गये और हजारो निवासियों की जल मे आहुति लग गयी। यही नही, समुद्र में तैयार हुआ एक विशालकाय जहाज द्वीप मे डेढ मील भीतर समुद्र-तल से 30 फुट ऊँची भूमि पर आ टिका।

उत्तरी प्रशान्त महासागर मे 15 जून, 1896 को भीषण ज्वालामुखी विस्फोट के कारण उत्तरी जापान के किनारे एक ऐसी विनाशकारी लहर का जन्म हुआ जो कि 10 से 15 फुट ऊँची थी। इस लहर के विनाशस्वरूप जापान का 175 मील लम्बा तट बेकार हो गया। कई स्थानों पर तट की सम्पूर्ण रूपरेखा ही बदल गयी। गाँव के गाँव नष्ट हो गये और हजारों एकड़ उपजाऊ भूमि बिलकुल बेकार हो गयी। मछुओं की कई हजार नावें टूटकर चकनाचूर हो गयीं अथवा बहकर दूर चली गयी। कुछ ही समय मे 20,000 मनुष्य काल के मुख में चले गये और 60,000 आक्रान्त व्यक्ति बे-घरबार होकर शरणार्थी बन गये।[1]

महासागरीय धाराएँ
(Ocean Currents)

समुद्र की उन समस्त घटनाओं मे जो कि उसके ऊपर-नीचे होती रहती हैं, धाराओं का महत्त्व सबसे अधिक है। धाराओं का यह महत्त्व केवल इसलिए नही है कि इनसे समुद्री परिवहन मे सहायता मिलती है अथवा बन्दरगाहों के लिए उत्तम स्थिति निर्धारित करती हैं, अपितु इनका महत्त्व इस बात मे निहित है कि ये पृथ्वी पर तापमान का सन्तुलन बनाये रखने में योग देती हैं। भूगोल के अध्ययन में धाराओ का इसीलिए विशेष महत्त्व है।

धाराएँ महासागरों की एक शक्तिशाली गति है। इनके अन्तर्गत महासागरों का जल एक निश्चित दिशा में निरन्तर चला करता है। लहरों में जल कभी अपना स्थान नहीं छोड़ता, परन्तु धाराओं में जल का प्रवाह आगे की ओर होता है। महासागरों की यह गति ठीक धरातल पर बहने वाली नदियों के अनुरूप होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि **धाराएँ समुद्र में बहने वाली एक प्रकार की नदियाँ हैं जो नियमित रूप से निश्चित दिशा की ओर बहती हैं। मोन्कहाउस** के अनुसार, "**समुद्री सतहों की विशाल जलराशि की एक निश्चित दिशा में होने वाली सामान्य गति को महासागरीय धारा कहते हैं।**"[2]

---

1 *Ibid* : p. 114

2 "The general movement of mass of surface water in a fairly defined direction is known as ocean current."—F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 302

समुद्रो मे धाराओं का प्रवाह नदियो के समान होता है। अतः सागर-पृष्ठ पर यह गति स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। धाराओ के किनारे पर स्थिर जलराशि होती है। अत. महासागरों मे स्थिर किनारे और धाराएँ स्पष्ट देखे जा सकते है। धाराओ की गति विभिन्न महासागरों मे भिन्न-भिन्न होती है। सामान्यत. सागर सतह पर धाराओ की गति 2 से 7 मील प्रति घण्टा के बीच होती है। सतह के नीचे धाराओ का वेग अपेक्षाकृत अधिक होता है।

धाराओ की गति, विस्तार एव सीमा आदि मे अन्तर होने पर इनका रूप बदल जाता है। धाराओं के निम्न रूप देखे जा सकते है.

प्रवाह (Drift)—यह समुद्र-जल की अदृश्य गति है जो समुद्र की सतह पर होती है। यह गति हवा के झोंकों से उत्पन्न होती है। यह बहुत ही मन्द गति है। पूरे दिन मे इसकी गति 10-15 मील ही होती हे। समुद्रो मे इसका वास्तविक विकास जल के घनत्व, खारापन, तापमान तथा दाब की भिन्नता के कारण होता है। इसके द्वारा खारापन, तापमान एव घनत्व का अन्तर दूर हो जाता है। प्रवाह धाराओं की तरह चौडा तथा उथला होता है, किन्तु इसकी सीमा का कोई निश्चित निर्धारण नही किया जा सकता। प्रवाह का सर्वोत्तम उदाहरण उत्तरी अन्ध महासागरीय प्रवाह (North Atlantic Drift) है। महासागरों मे प्रवाहित बहुत-सी धाराएँ चौडी तथा उथली होने पर प्रवाह का रूप ले लेती है जैसे उत्तरी प्रशान्त महासागर मे क्यूरोशिवो धारा उत्तरी प्रशान्त महासागरीय प्रवाह मे बदल जाती है।

धारा (Current)—प्रवाह का वेग धीमा होता है, परन्तु धारा का वेग बहुत अधिक होता है। प्रवाह की अपेक्षा इसकी सीमाएँ भी अधिक निश्चित होती है। अत समुद्र मे जल की प्रवाह गति अधिक निश्चित सीमा मे और अपेक्षाकृत अधिक वेग से होती है तो उसे धारा (current) कहते है। धाराओ का वेग 18 से 26 मील प्रति घण्टा के बीच होता है। धाराएँ गरम तथा ठण्डी दोनो प्रकार की होती है। ये अपने तापमान, घनत्व, खारापन और दबाव मे एक-दूसरे से तथा समुद्र-जल से नितान्त ही भिन्न होती है। महासागरों में प्रवाह की अपेक्षा धाराएँ अधिक चला करती है, इसलिए सहज ही इनका महत्त्व अधिक है।

स्रोत (Stream)—समुद्र मे जल की प्रवाह गति जब बहुत ही सुनिश्चित सीमा मे और अत्यधिक वेग से होती है तो उसे स्रोत (stream) कहा जाता है। इस प्रकार स्रोत प्रवाह एवं धारा की अपेक्षा अधिक सीमाबद्ध, संकुचित और गतिमान होता है। स्रोत मे जल की गति सबसे अधिक होती है। कही-कही इसकी गति 55 मील प्रति घण्टा तक पायी जाती है। स्रोत का सर्वोत्तम उदाहरण गल्फ स्ट्रीम (Gulf Stream) है। गल्फ स्ट्रीम की अधिकतर भाग की सीमाएँ सरलता से निर्धारित की जा सकती है। इसकी गति भी बहुत निश्चित और तेज है। अतः इसको उष्ण जल का स्रोत कहना ही अधिक उपयुक्त है।

सरकन (Creep)—सरकन समुद्र-जल के भीतर की गति है। यह गति ठण्डे और भारी जल के नीचे बैठने के कारण उत्पन्न होती है, अतः महासागरीय निमग्न धाराएँ सरकन (creep) कहलाती हैं। जल ठण्डा होने पर सिकुड़ता है और घनत्व मे बढता जाता है। इस कारण ध्रुवों से बड़ी मात्रा मे ठण्डा जल समुद्र की तली के साथ धीरे-धीरे सरकन के रूप में विषुवत रेखा की ओर प्रवाहित होता है। इसी प्रकार सरकन भी समुद्र-जल के घनत्व और तापमान को सम करने मे सहायता करता है।

धाराओं के कारण

धाराएँ समुद्र-जल की एक नियमित गति हैं। समुद्रों मे यह गति क्यों होती है, इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा है। पहले लोगों का यह विश्वास था कि समुद्रों में धाराएँ पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण चला करती है। समुद्री धाराएँ पूर्व से पश्चिम को चला करती है जो कि

परिभ्रमण के कारण ही सम्भव है। धाराओं की दिशा पर चन्द्रमा के आकर्षण का प्रभाव भी होना माना गया। बाद मे धाराओ की उत्पत्ति के लिए तापमान का अन्तर एव स्थायी हवाओ को उत्तरदायी ठहराया गया। वर्तमान समय मे समुद्र-विज्ञान की बड़ी प्रगति हुई है, जिससे इस विषय पर अधिक प्रभाव पड़ा है। आजकल समुद्र-विज्ञान के नये परिवेश मे धाराओ की उत्पत्ति के लिए निम्न कारणो को स्वीकार किया गया है :

(1) पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण एव परिभ्रमण,
(2) वायुदाब और हवाएँ,
(3) वाष्पीकरण और वर्षा,
(4) घनत्व मे अन्तर,
(5) तापमान की भिन्नता,
(6) महाद्वीपो का आकार।

(1) **पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण एवं परिभ्रमण**--पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से अभिकेन्द्र बल (centripetal force) और परिभ्रमण के कारण अपकेन्द्र बल (centrifugal force) की उत्पत्ति होती है। अभिकेन्द्र बल से पृथ्वी की समस्त वस्तुएँ केन्द्र की ओर आकर्षित होती है और अपकेन्द्र बल से प्रत्येक वस्तु पृथ्वी से बाहर की ओर खिंचती है। पृथ्वी एक धुरी पर परिभ्रमण करती है। परिभ्रमण करते समय सबसे बड़ा वृत्त विषुवत रेखा के निकट होता है। अतः अभिकेन्द्र बल विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ता जाता है। समुद्रों मे गहराई के साथ भी गुरुत्व में वृद्धि होती जाती है। समुद्रो के भीतर गुरुत्व मे इस वृद्धि का जल की गति पर निश्चित प्रभाव होता है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर निरन्तर पश्चिम से पूरब को परिभ्रमण करती रहती है। महासागरो का जल तरल होने से वह ठोस पृथ्वी की गति की समानता नहीं कर सकता। अतः महासागरीय जल मे शनैः-शनैः पश्चिम की ओर गति उत्पन्न हो जाती है जो धारा का रूप ले लेती है। विपरीत विषुवतरेखीय धारा जो पश्चिम से पूर्व की ओर प्रवाहित होती है, बहुत कुछ पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण ही उत्पन्न होती है।

पृथ्वी के परिभ्रमण से समुद्र जल में विक्षेप (deflection) उत्पन्न होता है। फलस्वरूप समुद्र का गतिशील जल उत्तरी गोलार्द्ध मे दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायी ओर घूम जाता है। इसी विक्षेप से महासागरों के मध्य में भँवर (eddy) की उत्पत्ति होती है।

चित्र 179—धाराओं का प्रचलित पवनों से सम्बन्ध

(2) **वायुदाब और हवाएँ**—हम जानते है कि समुद्र-तल पर वायु का प्रति वर्ग इंच लगभग 15 पौण्ड दाब पड़ता है। किन्तु वायु का दाब धरातल पर सर्वत्र समान नहीं है। कहीं अधिक वायुदाब और कही कम वायुदाब मिलता है। वायुदाब की इस भिन्नता का समुद्र-जल की सतह पर भी प्रभाव होता है। वायु के दबाव से समुद्र-जल उसी प्रकार नीचे दबता है जिस प्रकार वायुदाबमापी में पारा अधिक दबाव से नीचे दबता है। अतः कम वायुदाब वाले समुद्री क्षेत्रों में जल की सतह ऊँची

तथा अधिक वायुदाब वाले समुद्री क्षेत्रो में जल की सतह नीची होती है ।[1] फलस्वरूप समुद्रों में ऊँची सतह वाले क्षेत्रों से जल नीची सतह वाले क्षेत्रो की ओर प्रवाहित होता है । समुद्रो के भिन्न-भिन्न भागो में वायुदाब की भिन्नता का प्रभाव वहाँ के जल की गति तथा दिशा पर पड़ते हुए देखा गया है ।

चलती हुई वायु मे अपार शक्ति होती है । जब वायु समुद्र की सतह पर होकर गुजरती है तो जल को गति प्रदान करती है । वायु अपने घर्षण (friction) से समुद्र-जल को अपने प्रवाह की दिशा मे आगे बढा ले जाती है । अत. धरातल पर चलने वाली स्थायी पवने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से धाराओं की उत्पत्ति का कारण होती है । यह इस बात से स्पष्ट है कि ससार की अधिकतर प्रमुख धाराएँ सनातन पवनो का ही अनुगमन करती है । उत्तरी तथा दक्षिणी विषुवतरेखीय जल धाराएँ सन्मार्गी पवनो के प्रभाव से ही पूर्व से पश्चिम को चलती है। अन्ध महासागर मे गल्फ स्ट्रीम एव प्रशान्त महासागर मे क्यूरोशिवो धाराएँ पछुवा हवाओं के कारण ही पश्चिम से पूर्व को चलती है । हिन्द महासागर में चलने वाली धाराएँ तो प्रति छह माह पश्चात मानसून की दिशा परिवर्तन के साथ ही अपनी दिशा बदल देती है । अत. स्पष्ट है कि समुद्रो मे जल को गति प्रदान करने मे वायु के घर्षण का ही अधिक महत्त्व है । सन् 1878 **में कार्ल जोपरिज** ने वायु की दिशा तथा धाराओ की दिशा के मध्य सम्बन्ध को गणित द्वारा प्रमाणित किया । **स्वड्रूप** ने भी गणना करके यह बताया कि वायु और धाराओं के चलने की गति के बीच एक निश्चित अनुपात रहता है । जैसे यदि वायु 50 किमी प्रति घण्टे की गति से चल रही है तो धारा की गति $\frac{4}{5}$ किमी होगी । कार्ल जोपरिज की यह धारणा थी कि वायु की गति से समुद्र का जल उसकी सम्पूर्ण गहराई तक प्रभावित होता है और जिस प्रकार वायु के घर्षण से सतह के जल मे गति उत्पन्न होती है उसी प्रकार गहराई के जल मे भी गति पैदा होती है । किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है । वस्तुतः वायु की गति का प्रभाव समुद्र-जल की गहराई के साथ घटता जाता है । **फिण्डले** ने बताया है कि समुद्र मे वायु की गति का प्रभाव 30 या 35 फुट की गहराई तक ही विशेष होता है । गहराई के साथ जल का घनत्व बढता जाता है और अधिक घनत्व वाले जल पर वायु की गति का कम प्रभाव होता है ।

समुद्र की अधिक गहराई में वायु का चाहे प्रभाव न पड़ता हो परन्तु उसकी सतह का जल अवश्य ही प्रभावित होता है । हमारे सम्मुख ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण है कि यदि समुद्रों से होकर निरन्तर एक ही दिशा से चलने वाली हवा के सम्मुख कोई स्थल भाग आ जाये तो वहाँ समुद्र की सामान्य सतह से अधिक ऊँचाई तक जल एकत्रित हो जाता है । केरीबियन सागर और मेक्सिको की खाड़ी इसके प्रमाण है । सन्मार्गी हवाओ के कारण मेक्सिको की खाड़ी में अधिक मात्रा मे ताप और लवणता का जल एकत्रित हो जाने से समुद्र-जल की सतह में अन्तर पैदा हो जाता है जिससे वहाँ गल्फ स्ट्रीम का जन्म होता है । अब तो यह निर्विवाद है कि समुद्रों मे धाराओ को जन्म देने मे पवनो का ही प्रमुख हाथ है । प्रसिद्ध समुद्र-विज्ञानवेत्ता **मरे** का तो यहाँ तक कहना है कि पवने धाराओ की जन्मधात्री ही नही, अपितु उनकी दिशा निर्धारित करने और उनकी गति को बनाये रखने मे भी बहुमूल्य योग देती हैं ।[2]

(3) **वाष्पीकरण और वर्षा**—धरातल पर प्राप्त सूर्याभिताप की मात्रा भिन्न-भिन्न भागों मे भिन्न होती है । सूर्याभिताप की इस भिन्नता का प्रभाव समुद्र-जल के वाष्पीकरण पर भी भिन्न प्रकार से होता है । ऊँचे अक्षांशों की अपेक्षाकृत निम्न अक्षाशों मे सूर्याभिताप की अधिकता से

---

1 J. Proudman : *Dynamical Oceanography*, p. 38

2 John Murray : *The Oceans*, p. 67

वाष्पीकरण अधिक होता है। अधिक वाष्पीकरण से समुद्र-जल की लवणता और घनत्व बढ़ता है। फलस्वरूप ऐसे समुद्री भागों में जल की सतह नीची हो जाती है। समुद्र-जल की सतह के इस प्रकार ऊँचा-नीचा होने से जल में गति उत्पन्न होती है और जल ऊँची सतह से नीची सतह को प्रभावित होने लगता है।

वाष्पीकरण के समान वर्षा की न्यूनाधिकता के कारण भी समुद्र-जल की सतह ऊँची-नीची होती है। सामान्यत अधिक वर्षा वाले समुद्री भागो मे जल की सतह ऊँची और कम वर्षा वाले समुद्री भागो मे जल की सतह नीची होती है। फिर अधिक वर्षा वाले क्षेत्रो की अपेक्षा कम वर्षा वाले क्षेत्रो का जल अधिक घनत्व एव लवणता का होता है, जिससे भी वहाँ जल की सतह नीची हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि वाष्पीकरण एव वर्षा की भिन्नता का समुद्र-जल के संचार पर गहरा प्रभाव पडता है। विषुवतरेखीय भागो मे अधिक वर्षा होने से ही वहाँ समुद्र-जल की सतह मध्य अक्षांशों के समुद्र-जल की सतह से ऊँची रहती है। यही कारण है कि विषुवतरेखीय भागो से मध्य अक्षाशो तथा ध्रुवीय प्रदेशों से मध्य अक्षाशो की ओर समुद्र-जल का सतही संचार होता है, जबकि मध्य अक्षान्तरो से ध्रुवो तथा विषुवतरेखीय भागो की ओर समुद्र-जल का अधःसागरीय सचार होता है।

(4) **घनत्व का अन्तर**—समुद्रों मे गहराई के साथ उत्तरोत्तर दबाव (pressure) मे वृद्धि होती जाती है। दबाव की वृद्धि से जल का घनत्व भी बढता जाता है। इस प्रकार समुद्रो मे सतह पर हल्का जल और गहराई मे भारी जल मिलता है। घनत्व के इस अन्तर के कारण समुद्रो में भार प्रवणता (pressure gradient) स्थापित हो जाती है जिससे जल मे लम्बवत गति होती है। भार प्रवणता के अध्ययन से यह भी स्पष्ट विदित हो जाता है कि यदि किसी कारणवश सतह के जल के घनत्व मे वृद्धि हो जाती है तो सतह का जल शीघ्र ही गहराई की ओर अवतलित हो जायगा। समुद्र-जल का घनत्व वाष्पीकरण एवं लवणता की वृद्धि के कारण भी बढ़ जाता है। इस प्रकार घनत्व के अन्तर के कारण समुद्री धाराओ का जन्म होता है। सामान्यतः विषुवतरेखीय भागो से समुद्रों का जल सतही धाराओ के रूप मे ध्रुवो की ओर प्रवाहित होता है। ध्रुवो के समीप हिम के पिघलने से जल की लवणता घट जाती है। फलस्वरूप वहाँ समुद्री जल का घनत्व भी कम हो जाता है। ध्रुवीय प्रदेशों से ठण्डी धाराओ के चलने का यही कारण माना गया है।

मध्य अक्षान्तरों मे स्थित खुले महासागरो एव अंशतः स्थल से घिरे समुद्रो के मध्य भी इसी कारण धाराएँ चला करती है। उदाहरणत., जिब्राल्टर की संकीर्ण जल-सन्धि के द्वारा एक सतही धारा (surface current) अन्ध महासागर से भूमध्य सागर की ओर तथा दूसरी अधः-सागरीय धारा (under current) भूमध्य सागर से अन्ध महासागर की ओर चलती है। इन दोनों धाराओ के चलने का कारण स्पष्ट है। भूमध्य सागर भूमि से घिरा हुआ एक ऐसा सागर है जिसमे नदियो द्वारा बहुत कम पानी पहुँचता है, किन्तु गर्मी के कारण पानी वाष्प मे बदल-कर अधिक उड़ जाता है। इस कारण भूमध्य सागर का तल (level) बहुत नीचे चला जाता है। भूमध्य सागर मे जल की इस पूर्ति के लिए अन्ध महासागर से एक धारा प्रवेश करती है। यदि अन्ध महासागर से ऐसी कोई धारा इसमे प्रवेश न करती तो भूमध्य सागर सूखकर कभी का एक गर्त-मात्र रह गया होता। इसके अतिरिक्त यह सागर चारों ओर भूमि से आबद्ध है। अतः यहाँ वाष्पीकरण अधिक होता है। इसका प्रभाव जल के खारेपन पर होता है जिससे जल क्रमशः भारी होता जाता है। किन्तु अन्ध महासागर एक खुला महासागर है। वहाँ ऐसी कोई अवस्था नहीं पायी

चित्र 180—घनत्व में अन्तर के कारण धाराओं का चलना

जाती । अतः अन्ध महासागर और भूमध्य सागर के जल में खारेपन और घनत्व का अन्तर ही दोनों के मध्य एक अधःसागरीय धारा (भूमध्य सागर से अन्ध महासागर को) स्थापित करने मे योग देता है । मारमोरा सागर से इसी प्रकार गुप्त धाराएँ बास्फोरस और डार्डेनलीज जल-सन्धियो द्वारा काला सागर और एजियन सागर मे तथा इनसे सतही धाराएँ मारमोरा सागर की ओर चला करती हैं । उपरोक्त बात से यह स्पष्ट है कि जहाँ कही दो भिन्न घनत्व वाले समुद्र आपस मे मिलते हैं, उनके बीच धाराएँ चलना प्रारम्भ हो जायेंगी और जब तक ऐसी अवस्थाएँ बनी रहेगी धाराओ का क्रम भी बना रहेगा । समुद्री जल के घनत्व पर तापमान, दबाव एवं लवणता तीनों का प्रभाव पड़ता है । अत. घनत्व द्वारा उत्पन्न धाराओ का सचालन भी जटिल होता है ।

(5) **तापमान की भिन्नता**—महासागरो मे सर्वत्र जल का तापमान एक समान नही पाया जाता । महासागरो के भिन्न भागो मे तापमान की यह भिन्नता धाराओ की उत्पत्ति मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । तापमान की अधिकता होने पर जल गरम होकर आयतन मे फैलता है और फैलकर आगे बढता है । तापमान की कमी होने पर वह सिकुड़कर अर्थात भारी होकर नीचे बैठता है । विषुवतरेखीय प्रदेशो मे गर्मी की अधिकता से समुद्र-जल फैलकर ध्रुवो की ओर अग्रसर होता है । इस जल की पूर्ति के लिए ध्रुवो का शीतल जल विषुवत रेखा की ओर प्रवाहित होता है । ठण्डे प्रदेशों से आने के कारण एव शीतल होने से यह पानी भारी होता है । अतः ध्रुवो से विषुवत रेखा की ओर आने वाला जल समुद्रों मे अध.सागरीय धारा के रूप मे प्रवाहित होता है ।

(6) **महाद्वीपों का आकार**—धाराओ की उत्पत्ति पर महाद्वीपो के तटीय आकार का भी प्रभाव होता है । महाद्वीपो से टकराकर समुद्र-जल धारा के रूप मे बहने लगता है । जब दक्षिणी विषुवतरेखीय धारा दक्षिणी अमरीका के सेण्टरॉक अन्तरीप से टकराती है तो उसका कुछ जल उत्तरी विषुवतरेखीय धारा से जा मिलता है और उसका कुछ भाग दक्षिण की ओर ब्राजील तट के साथ-साथ 'ब्राजील धारा' के नाम से बहता है । मेक्सिको की खाड़ी के विशेष आकार का **गल्फ स्ट्रीम** धारा की उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ।

यद्यपि उपरोक्त बताये गये सभी कारण धाराओं की उत्पत्ति में योग देते है । किन्तु इनमे से धारा विशेष की उत्पत्ति के लिए कब और कौनसा कारण लागू होता है, यह प्रामाणिकता के साथ कह सकना कठिन है । सच तो यह है कि धाराओं की उत्पत्ति किसी एक कारण से नही होती वरन् विभिन्न कारणों के मिले-जुले योग से ही उनका जन्म होता है ।

धाराओं की दिशा

महासागरीय धाराओं की प्रवाह-दिशा कभी एकसी नही रहती । उन पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है :

(1) प्रचलित स्थायी हवाएँ,
(2) पृथ्वी की परिभ्रमण गति,
(3) महाद्वीपों के तटो की आकृति,
(4) समुद्र-तल की बनावट,
(5) जलमग्न बाधाएँ ।

(1) **प्रचलित स्थायी हवाएँ**—प्रचलित हवाएँ न केवल धाराओं को जन्म ही देती है, अपितु उनकी दिशा निर्धारित करने में बड़ा प्रभाव डालती हैं । यह बात विश्व के धाराओं सम्बन्धी मानचित्र पर दृष्टि डालने से सहज ही प्रकट हो जाती है । अनेक समुद्री धाराओं की दिशा प्रचलित स्थायी हवाओं के अनुरूप ही देखी जाती है । धाराओ के प्रभाव से ही सन्मार्गी हवाओं की पेटियों में धाराओं की दिशा प्रायः पूर्व से पश्चिम की ओर रहती है, जबकि पछुवा हवाओ की पेटियों में इनकी दिशा मुख्यतः पश्चिम से पूर्व को रहती है । उत्तरी अन्ध महासागर में बहने वाली गल्फ

अन्ध महासागर की धाराएँ

(1) **उत्तरी विषुवतरेखीय जलधारा**—अन्ध महासागर मे विषुवत रेखा के उत्तर में उत्तरी-पूर्वी सन्मार्गी पवनो के द्वारा एक उष्ण जलधारा प्रवाहित होती है जो भूमध्य रेखा के उष्ण जल को पूर्व से पश्चिम को धकेलती है। यही **उत्तरी विषुवतरेखीय जलधारा** कहलाती है। कैरेबियन सागर में इस जलधारा के दो भाग हो जाते है, जो कि पश्चिमी द्वीपसमूह के कारण होते हैं। एक शाखा उत्तर की ओर अमरीका के पूर्वी-तट के साथ बहकर गल्फ स्ट्रीम में मिल जाती है और दूसरी दक्षिण की ओर चलकर मेक्सिको की खाडी में पहुँच जाती है।

(2) **फ्लोरिडा की धारा**—उत्तरी विषुवतरेखीय जलधारा और दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा की उत्तरी शाखा, दोनो का पानी कैरेबियन सागर मे होकर यूकटन जल-सन्धि द्वारा मेक्सिको की खाडी मे पहुँचता है। यहाँ मिसीसिपी नदी भी बडी मात्रा मे जल उँडेलती है। जल की अपरिमित राशि के कारण मेक्सिको की खाड़ी का तल अन्ध महासागर के तल से ऊँचा उठ जाता है। इस कारण यहाँ एक गरम धारा का जन्म होता है। यह धारा जब फ्लोरिडा और क्यूबा के बीच बहती है तो इसे **फ्लोरिडा की धारा** के नाम से पुकारते है। यह सम्भवतः संसार की सबसे तीव्र धारा है। यह धारा दो मील गहरी है और प्रति घण्टा तीन मील की गति से बहती है।

चित्र 181—अन्ध महासागर की धारा
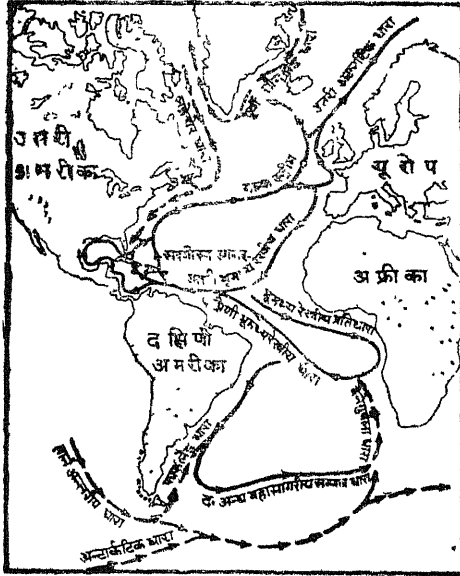
(3) **गल्फ स्ट्रीम की धारा**—इस जलधारा की उत्पत्ति मेक्सिको की खाड़ी में होती है, इसलिए इसे गल्फ स्ट्रीम अर्थात खाडी की धारा कहते है। यह जलधारा फ्लोरिडा जलडमरूमध्य से निकलकर उत्तरी अमरीका के पूर्वी-तट के साथ-साथ उत्तर की ओर बहती है। हैलीफेक्स के दक्षिण से इसका प्रवाह पूर्णतः पूर्व की ओर हो जाता है। यहाँ इसे पछुवा हवाएँ आगे बहा ले जाती हैं। 45° पश्चिमी देशान्तर के निकट इसकी चौड़ाई बढ जाती है, जिससे धारा के रूप मे इसका चरित्र बिलकुल नष्ट हो जाता है। फलतः यहाँ उसका नाम उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह (North Atlantic Drift) पड़ जाता है। यही प्रवाह फिर पश्चिमी यूरोप में नॉर्वे की ओर चली जाती है और उत्तरी ध्रुव सागर मे विलीन हो जाती है।

(4) **नॉर्वे की धारा** (Norwegin Current)—उत्तरी अन्ध महासागरीय प्रवाह की जो शाखा स्केण्डिनेविया-तट के सहारे बहती है, उसे नॉर्वे की ठण्डी धारा कहते है। यह धारा स्केण्डिनेविया-तट से आगे बेरण्ट्स समुद्र (Barents Sea) मे होती हुई स्पिट्सबर्जन द्वीप तक पहुँचकर समाप्त हो जाती है।

(5) **लेब्रेडोर की धारा**—यह ग्रीनलैण्ड के पश्चिमी-तट पर बेफिन की खाड़ी से निकलकर लेब्रेडोर पठार के सहारे-सहारे बहती हुई न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट गल्फ स्ट्रीम से मिल जाती है। यह धारा ठण्डे ध्रुवीय सागरों से आने के कारण ठण्डी होती है।

(6) **पूर्वी ग्रीनलैण्ड की धारा** (East Greenland Current)—यह एक ठण्डी धारा है जो डेनमार्क जलसन्धि से होकर ग्रीनलैण्ड के पूर्वी-तट पर बहती है।

(7) **इरमिन्गर की धारा** (Irminger Current)—यह धारा भी ठण्डी धारा है जो आइसलैण्ड के पूर्वी और दक्षिणी-तट के सहारे बहती है। दक्षिण की ओर यह उत्तरी अन्ध महासागरीय प्रवाह के उत्तरी छोर से मिलती है। इस धारा को पूर्वी आइसलैण्ड की धारा भी कहते है।

(8) **कनारी धारा**—उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह स्पेन के निकट दो शाखाओं मे बँट जाती है। एक शाखा उत्तर की ओर चली जाती है और दूसरी दक्षिण की ओर मुडकर स्पेन, पुर्तगाल तथा अफ्रीका के उत्तरी-तट के साथ बहती है। यहाँ यह कनारी द्वीप के पास होकर गुजरती है, अत. इसका नाम कनारी धारा पड़ गया है। यहाँ व्यापारिक पवनो के प्रभाव मे आ जाने से धारा पुनः विषुवतरेखीय धारा के साथ विलीन हो जाती है।

(9) **दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा**—यह जलधारा दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक पवनों के द्वारा उत्पन्न होती है और भूमध्य रेखा के समान्तर पूर्व से पश्चिम को बहती है।

(10) **ब्राजील की धारा**—दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा सेण्टरॉक से टकराने पर एक शाखा दक्षिण की ओर ब्राजील-तट के साथ-साथ बहने लगती है, इसलिए इसे ब्राजील की धारा कहते है। प्लेट नदी के मुहाने के समीप यह फॉकलैण्ड की ठण्डी धारा से मिलती है। यहाँ यह पछुवा हवाओं के प्रभाव मे आ जाने से पूर्व को मुड जाती है।

(11) **बेंगुएला की धारा**—ब्राजील धारा प्लेट नदी के मुहाने के समीप पछुवा हवाओ के मार्ग मे पड़कर पूर्व की ओर बहने लगती है। दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट के समीप पहुँचकर यह उत्तर की ओर मुड जाती है। यहाँ यह धारा अण्टार्कटिका के ठण्डे पानी से मिलने के कारण ठण्डी हो जाती है। इसे यहाँ बेंगुएला धारा कहा जाता है। आगे जाकर यह धारा दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा मे मिल जाती है।

(12) **अण्टार्कटिका प्रवाह**—यह प्रवाह दक्षिणी ध्रुवसागर मे पछुवा हवाओ के कारण पश्चिम से पूर्व की ओर चलता है। इसे पछुवा हवाओं का प्रवाह भी कहा जाता है। यह एक ठण्डा प्रवाह है और यहाँ स्थल के अभाव मे बड़े वेग से बहता है।

(13) **विपरीत विषुवतरेखीय जलधारा**—उत्तरी तथा दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधाराएँ जब दक्षिणी अमरीका के पूर्वी-तट तक पहुँचती है तो तट से टकराकर इन धाराओ का कुछ जल पुनः भूमध्य रेखा के शान्त खण्ड मे होकर अफ्रीका के गिनी-तट की ओर आता है। दोनों धाराओ के बीच जल के इस उल्टे बहाव को ही विपरीत विषुवतरेखीय जलधारा कहते है। कभी-कभी इसे **गिनी की धारा** भी कहा जाता है। इस धारा की उत्पत्ति मूलतः ब्राजील के निकट दोनों धाराओं के कारण जल की अधिकता हो जाने से होती है, किन्तु पृथ्वी की आवर्तन गति भी इसमे योग देती है।

प्रशान्त महासागर की धाराएँ

प्रशान्त महासागर मे धाराओं की गति ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि अन्ध महासागर मे, किन्तु सागर-तट की बनावट तथा जलमग्न बाधाओं के कारण कुछ स्थानीय परिवर्तन अवश्य पाये जाते हैं।

(1) **उत्तरी विषुवतरेखीय जलधारा**—यह गरम धारा उत्तरी-पूर्वी सन्मार्गी पवनो के कारण उत्पन्न होती है। यह मध्य अमरीका के तट से प्रारम्भ होकर पश्चिम मे फिलीपाइन्स द्वीप की ओर चली जाती है।

(2) **क्यूरोशिवो जलधारा**—यह एक गरम जलधारा है, जो अन्ध महासागर की गल्फ स्ट्रीम धारा के अनुरूप है। जब उत्तरी विषुवतरेखीय धारा फिलीपाइन्स द्वीपसमूह के निकट पहुँचती

है तो सन्मार्गी हवाओं के प्रभाव से उत्तर की ओर मुड़ जाती है। फिर दक्षिणी मध्यचीन के सहारे बहती हुई जापान के पूर्वी तट को पहुँचती है। यहाँ इसे क्यूरोशिवो धारा कहते है। इसका रग गहरा नीला होने के कारण जापानी लोग इसे काली धारा (Black Stream of Japan) भी कहते है। जापान-तट के सहारे बहती हुई यह क्यूराइल द्वीपसमूह के पास क्यूराइल नामक ठण्डी धारा से मिल जाती है। यही यह पछुवा हवाओ के प्रभाव मे आ जाने से पूर्व को मुड़ जाती है। यहाँ से धारा का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है और यह **उत्तरी प्रशान्त प्रवाह** (North Pacific Drift) कहलाने लगती है। यह प्रवाह पूर्व को बहता हुआ उत्तरी अमरीका के पश्चिमी-तट से जा लगता है। वैंकुअर द्वीप के निकट यह दो भागो मे विभक्त हो जाती है। एक शाखा उत्तर की ओर अलास्का तट के सहारे बहती हुई पुन: उत्तरी प्रशान्त प्रवाह मे मिल जाती है। इस उत्तरी शाखा को **अलास्का की धारा** कहते हैं। दक्षिण की ओर जाने वाली धारा केलिफोर्निया की ठण्डी धारा से मिल जाती है।

चित्र 182—प्रशान्त महासागर की धाराएँ

(3) **सुशीमा धारा** (Tsushima Current)—क्यूरोशिवो धारा की एक शाखा जापान के पश्चिमी तट के सहारे उत्तर मे जापान सागर मे चली जाती है जो सुशीमा धारा के नाम से प्रसिद्ध है।

(4) **अलास्का की धारा** (Alaskan Current)—उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर पहुँचने पर उत्तरी प्रशान्त महासागरीय प्रवाह की एक शाखा अलास्का की खाड़ी मे चली जाती है। यहाँ यह धारा पश्चिम की ओर अलास्का के तट के साथ बहती है। इसी को अलास्का की धारा कहते है। गरम धारा होने मे यह तट को गरम बनाये रखती है।

(5) **क्यूराइल जलधारा**—यह एक ठण्डी जलधारा है जो बैरिंग जलडमरूमध्य से होती हुई दक्षिणी साइबेरिया-तट के साथ बहती है और क्यूराइल द्वीपसमूह के निकट **क्यूरोशिवो गरम** धारा से मिल जाती है। इसे **ओयाशियो धारा** भी कहते है।

(6) **केलिफोर्निया जलधारा**—यह एक ठण्डी धारा है जो यहाँ ध्रुव से प्राप्त ठण्डे जल के ऊपर उठने से उत्पन्न होती है। वस्तुतः यह उत्तरी प्रशान्त प्रवाह की दक्षिणी शाखा का ही भाग है। यह केलिफोर्निया के पश्चिमी तट के साथ बहकर दक्षिण में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है।

उपरोक्त सब धाराओं से उत्तरी प्रशान्त महासागर मे एक पूरा चक्र बन जाता है।

(7) **दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा**—यह एक गरम धारा है जो दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक पवनों के कारण उत्पन्न होती है। यह धारा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी-तटों से पश्चिम की ओर आस्ट्रेलिया को जाती है। न्यूगिनी द्वीप के समीप यह दो भागों में विभक्त हो जाती है।

एक शाखा उत्तर को बहकर उत्तरी विषुवतरेखीय धारा से मिल जाती है और दूसरी दक्षिण को बहकर आस्ट्रेलिया की पूर्वी तटीय धारा मे विलीन हो जाती है ।

(8) **पूर्वी आस्ट्रेलिया जलधारा**—न्यूगिनी द्वीप के समीप दक्षिणी विषुवतरेखीय धारा दो शाखाओ मे विभक्त हो जाती है । इसकी दक्षिणी शाखा आस्ट्रेलिया के पूर्वी-तट के साथ बहती है । अस्तु, आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर इसे पूर्वी आस्ट्रेलिया की गरम धारा अथवा **न्यूसाउथवेल्स की धारा** कहकर पुकारा जाता है ।

(9) **हम्बोहल्ट अथवा पीरूवियन जलधारा**—दक्षिणी प्रशान्त महासागर में अण्टार्कटिका प्रवाह जब दक्षिणी अमरीका के दक्षिणी सिरे पर पहुँचता है तो केपहॉर्न से टकराकर उत्तर की ओर मुड़ जाता है । फिर यह पीरू देश के पश्चिमी तट के साथ-साथ उत्तर की ओर प्रवाहित हो जाती है, जो आगे चलकर दक्षिणी विषुवतरेखीय धारा से मिल जाती है । यह एक ठण्डे जल की धारा है, और पीरू के समीप इसे पीरूवियन धारा कहा जाता है । सर्वप्रथम इसे हम्बोल्ट ने देखा था, अतः यह हम्बोल्ट धारा के नाम से भी विख्यात है ।

(10) **अण्टार्कटिक-प्रवाह**—दक्षिणी ध्रुव महासागर मे पश्चिम से पूर्व की ओर एक ठण्डा प्रवाह चलता है जो अण्टार्कटिक प्रवाह कहलाता है । वस्तुत: यह प्रवाह अन्ध महासागर मे चलने वाले अण्टार्कटिक ड्रिफ्ट का ही एक अंग है ।

(11) **विपरीत विषुवतरेखीय जलधारा**—यह धारा अन्ध महासागर की विपरीत धारा के समान ही प्रशान्त महासागर मे बहती है ।

प्रशान्त महासागर की धाराओ का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह इस महासागर को जलधाराओ का नितान्त ही सरल रूप है । सयुक्त राज्य अमरीका की नौ-सेना (Navy) ने धाराओ के जो मौसमी और मासिक मानचित्र तैयार किये है, वे जलधाराओ की कई एक जटिल गतियो पर प्रकाश डालते है । इन मानचित्रो से स्पष्ट होता है कि खुले महासागर के विस्तृत भागो मे कई बड़ी-बड़ी मन्द भँवरे (whirls) चला करती हैं । इसके अतिरिक्त अनेक मौसमी प्रति-धाराएँ (seasonal counter currents) भी पायी जाती हैं । धाराओ मे ऐसे मौसमी परिवर्तन पीरू तट और केलिफोर्निया तट के समीप देखे जाते है ।

पीरू तट के समीप बहने वाली पीरूवियन धारा उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्मऋतु में विषुवत रेखा को पारकर आगे बढ जाती है और विषुवतरेखीय प्रतिधारा मे विलीन हो जाती है । किन्तु विषुवतरेखीय प्रतिधारा शीतऋतु मे दक्षिण की ओर खिसक जाती है । फलस्वरूप इसका कुछ जल दक्षिण की ओर इक्वेडोर-तट के समीप बहने लगता है । इक्वेडोर तट के समीप बहने वाली गरम जल की इस धारा को **एलनीनो** (Elnino) कहते है । यह धारा फरवरी और मार्च मे दक्षिण की ओर बहती है । कभी-कभी यह बहती हुई 12° दक्षिणी अक्षाश तक पहुँच जाती है । सन् 1925 और बाद मे 1941 मे एलनीनो दक्षिण में बहुत अधिक दूरी तक बढ गयी थी । परिणामस्वरूप समुद्र-जल के तापमान मे यकायक परिवर्तन हो गया, जिससे प्लैंकटन तथा मछलियाँ मर गयीं । इसका जलवायु पर भी बड़ा प्रभाव होता है, क्योंकि इसके साथ-साथ कटिबन्धीय वर्षा की पेटी भी दक्षिण को खिसक जाती है । इसलिए मार्च 1925 मे ट्रयूजिलो (Trujillo) नामक स्थान पर 15 इंच वर्षा हुई, जबकि पिछले आठ वर्षों से यहाँ मासिक वर्षा का औसत केवल 0 17 इंच था । इसी प्रकार उत्तरी प्रशान्त महासागर मे केलिफोर्निया-तट के सहारे डेविडसन धारा बहती है । यह धारा मुख्य भूमि और केलिफोर्निया धारा के बीच नवम्बर से जनवरी तक प्रतिधारा के रूप मे उत्तर की ओर बहती है । उत्तर मे यह 48° उत्तरी अक्षांश तक पहुँच जाती है ।

हिन्द महासागर की धाराएँ

धाराओं और पवनो के बीच कितना गहरा सम्बन्ध है, यह हिन्द महासागर की धाराओं से स्पष्ट समझा जा सकता है। यहाँ पर मानसूनी पवनें चला करती है, जो छ महीने बाद अपनी दिशा बदल देती हैं। फलस्वरूप हिन्द महासागर मे चलने वाली धाराएँ भी मानसून के साथ अपनी दिशा बदल देती है।

हिन्द महासागर की धाराओ को दो श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है .

(क) **स्थायी धाराएँ**—हिन्द महासागर मे विषुवत रेखा के दक्षिण मे चलने वाली धाराएँ वर्ष भर एक ही क्रम मे चलती है, अत इन्हे स्थायी धाराएँ कहते है। इन धाराओ मे दक्षिणी
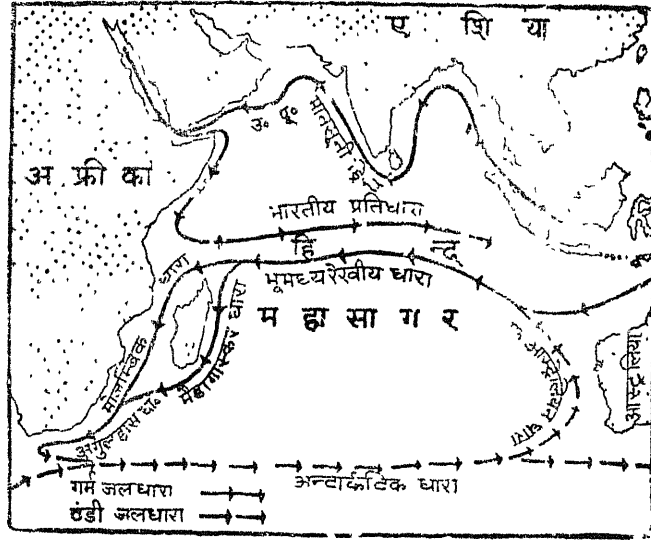
चित्र 183—**हिन्द महासागर की धाराएँ**

विषुवतरेखीय जलधारा, मोजम्बिक धारा, पश्चिमी आस्ट्रेलिया की जलधारा और अगुलहास धारा मुख्य है।

(ख) **परिवर्तनशील धाराएँ**—विषुवत रेखा के उत्तर की ओर हिन्द महासागर की समस्त धाराएँ मौसम के अनुसार अपनी दिशा और क्रम बदल देती हैं, इसलिए ये परिवर्तनशील धाराएँ कहलाती है। इन धाराओं की दिशा व क्रम मानसून हवाओं से प्रभावित होते है, अतः इन्हे मानसून प्रवाह (Monsoon drifts) भी कहा जाता है।

(1) **दक्षिणी विषुवतरेखीय जलधारा**—यह धारा दक्षिणी-पूर्वी व्यापारिक पवनो के प्रभाव से आस्ट्रेलिया के पश्चिम से पूर्व की ओर चलती है। मलागासी-तट के समीप यह दक्षिण को मुड़ जाती है।

(2) **मोजाम्बिक जलधारा**—यह एक गरम जल की धारा है जो अफ्रीका के पूर्वी-तट और मलागासी के बीच बहती है। यह उत्तर से आकर दक्षिणी विषुवतरेखीय धारा की दक्षिणी शाखा से मिल जाती है।

(3) **अगुलहास जलधारा**—अफ्रीका के दक्षिण मे अगुलहास अन्तरीप से पछुवा हवाओं के प्रभाव द्वारा पूर्व को एक धारा चलने लगती है। इसी धारा को अगुलहास की गरम धारा कहते हैं।

(4) **पश्चिमी आस्ट्रेलिया की धारा**—अण्टार्कटिका प्रवाह की एक शाखा आस्ट्रेलिया के दक्षिणी-पश्चिमी भाग से मुड़कर उत्तर की ओर पूर्व को आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के साथ-साथ बहने लगती है। यही पश्चिमी आस्ट्रेलिया की ठण्डी जलधारा कहलाती है।

(5) **ग्रीष्मकालीन मानसून प्रवाह**—ग्रीष्मऋतु मे दक्षिणी-पश्चिमी मानसून हवाओं के प्रवाह से एशिया महाद्वीप के पश्चिमी तटो से उष्ण प्रवाह पूर्व की ओर चलने लगता है। उत्तरी विषुवतरेखीय धारा भी मानसून के प्रभाव से पूर्व की ओर बहकर मानसून प्रवाह के साथ ग्रीष्म-काल की समुद्री धाराओं का क्रम बनाती है।

(6) **शीतकालीन मानसून प्रवाह**—जाड़े की ऋतु मे उत्तरी-पूर्वी मानसून हवाओं के प्रभाव से एशिया के दक्षिणी-तटो से एक धारा प्रवाहित होती है जो पूर्व से पश्चिम को बहती है। यह विभिन्न देशों के साथ-साथ बहती हुई पूर्वी अफ्रीका के समीप पूर्व की ओर मुड़ जाती है और पूर्वी द्वीपसमूह को चली जाती है।

दक्षिणी महासागर की धाराएँ

दक्षिणी महासागर मे धाराओं का प्रवाह अपेक्षाकृत सरल है। दक्षिणी महासागर में मुख्यतः उत्तरी-पश्चिमी हवाओ के प्रभाव से एक परिध्रुवीय प्रवाह (circumpolar drift) पश्चिम से पूर्व की ओर बहता है। इस प्रवाह से कई शाखाएँ निकलकर अन्य सागरों में चलती है। इसके अति-रिक्त यहाँ अभिसृत (convergence) धाराएँ और अपसृत (divergence) धाराएँ भी देखी जाती हैं। इन धाराओं में पानी समुद्री सतह और बहुत अधिक गहराई पर ध्रुवों से विषुवत रेखा की ओर तथा मध्यम गहराई पर विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बहता है। इन धाराओं की गति से स्पष्ट है कि इन धाराओं का परस्पर बहुत ही जटिल सम्बन्ध होना चाहिए।

उत्तरी ध्रुव महासागर की धाराएँ

यह विदित है कि उत्तरी ध्रुव महासागर प्रायः प्रवाहहीन और जल का एक बन्द पात्र (basin) है। फिर भी इस महासागर मे ध्रुव के आरपार एक मन्द सतही धारा साइबेरिया तट से ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तट तक चला करती है। इसी प्रवाही धारा (drift) ने **नानसेन के फ्रेम** नामक जहाज को प्रवाह हिमपुज (pack-ice) के बीच तेज गति प्रदान कर उसे सन् 1893 से **नवीन साइबेरिया द्वीप** के सन् 1896 में स्पिट्सबर्जन द्वीप को पहुँचाया। नानसेन का जहाज उच्च अक्षांशों में यद्यपि हिम के साथ आगे बहता रहा किन्तु उसने ध्रुव को पार नहीं किया जैसी कि उसे आशा थी। यहाँ सतह का कुछ ठण्डा पानी जलान्तराल (channel) के द्वारा कनाडियन द्वीपों के बीच सरकता हुआ बेफिन की खाड़ी मे पहुँचता है। इससे दक्षिण की ओर बहने वाली लेब्रेडोर एव पूर्वी ग्रीनलैण्ड धारा की पूर्ति होती है।

सारगासो सागर (Sargaso Sea)

उत्तरी अन्ध महासागर मे सागर पात्र के चारों ओर प्रवाहित जलधाराओं के मध्य स्थिर और शान्त जल का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है। जल का यह स्थिर और शान्त क्षेत्र **सारगासो समुद्र** (Sargaso Sea) के नाम से विख्यात है। 'सारगासो' एक पुर्तगीज शब्द है जिसका अर्थ समुद्री घास (sea weeds) से होता है। सर्वप्रथम, स्पेन वालो ने अन्ध महासागर के इस क्षेत्र मे सारगासो नामक घास के विशाल विस्तार को देखा, अतः उन्होंने इसका नाम सारगासो समुद्र रख दिया।

कोई भी सागर चारों ओर से स्थल से घिरा हुआ होता है। इस दृष्टि से सारगासो सागर नाम अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है, क्योंकि यह स्थल से आबद्ध न होकर स्वयं महासागर का ही अग है। फिर भी इस भाग की कुछ ऐसी बिशेषताएँ है जिनके कारण इसे सागर कहना सार्थक प्रतीत होता है।

सामान्यत. जलधाराओ से घिरे केन्द्रीय सागर के प्रदेश समुद्र की मरुभूमि होती है । परन्तु सारगासो सागर इसका अपवाद है । पृथ्वी के अन्य किसी भी स्थान से यह इतना भिन्न है कि इसे एक सुनिश्चित भौगोलिक प्रदेश समझा जा सकता है । एक रेखा यदि चेसापीक की खाडी के मुँह से जिब्राल्टर तक खीची जाये तो इसकी उत्तरी सीमा का निर्धारण हो सकता है और यदि हेटी से डाकर तक दूसरी रेखा खीचे तो इसकी दक्षिणी सीमा बन जायगी । इसका सम्पूर्ण क्षेत्र मोटे तौर से सयुक्त राज्य अमरीका जितना बड़ा है, क्योकि इसका क्षेत्र पश्चिम मे वरमूडा से लेकर पूर्व मे एजोर द्वीपसमूह तक फैला हुआ है ।

समुद्र का यह विशाल क्षेत्र एकदम स्थिर और शान्त है । हवाओ ने भी मानो समुद्र के इस भाग को बिलकुल भुला दिया है और इसके चारों ओर प्रवाहित होने वाली धाराओ ने इसे घेरकर गरु-जल का रूप दे दिया है । यहाँ ऊपर आकाश में बादलों की कृपा कभी-कभी ही होती है जिससे इसका पानी गरम और नमक से भी भारी हो जाता है । दूर होने के कारण यह किनारे की नदियो से बिलकुल अलग-अलग जा पड़ा है और इसी प्रकार ध्रुव-प्रदेशीय हिम से भी इसका कोई सम्बन्ध नही है । इसकी लवणता को हल्का करने के लिए ताजे पानी का अन्तर्प्रवाह है ही नही—और जो है वह इससे मिली हुई धाराओ के खारे पानी का है । अन्य समुद्रो से इसके जल का तापमान भी बहुत अधिक है और रंग गहरा नीला है जो इसकी पारदर्शकता को द्विगुणित करता है । कोई दो मीटर व्यास की सफेद तश्तरी यहाँ के जल में 200 फुट की गहराई तक आँखों से देखी जा सकती है । किन्तु सारगासो समुद्र वस्तुतः घास-पात और अनेक प्रकार के झंखाड़ो से ढका रहता है । जल-धाराएँ अपने साथ जो झखाड़ बहा लाती है वे यहाँ बहते रहते है और इन्ही झखाड़ो में अनेक प्रकार के भयोत्पादक जीव वास करते है ।
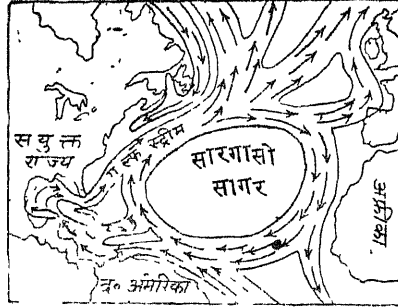
चित्र 184—सारगासो सागर

समुद्र-विज्ञान के अन्तर्गत सारगासो समुद्र के जल-झखाड़ों की मूल उत्पत्ति के बारे में बड़ा मतभेद चला आ रहा है । कुछ विद्वानों का कहना है कि उनकी पूर्ति उन झंखाड़ो से होती रहती है जो पश्चिमी द्वीपसमूह तथा फ्लोरिडा के पर्णाक्ष क्षेत्रों से हाल ही में टूटे होते है । परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि पश्चिमी द्वीपसमूह और फ्लोरिडा के पर्णाक्ष क्षेत्र इतने सकुचित है कि वे सम्भवतः सारगासो के विशाल क्षेत्र की पूर्ति नहीं कर सकते । उनका विश्वास है कि हमें यहाँ वनस्पति की स्वतः जननशील जाति मिलती है, जिसको खुले समुद्र मे रहने की आदत पड़ गयी है, जिसको सहारे के लिए जड़ो अथवा किसी तरह की पकड़ की आवश्यकता नही है और जो स्वयं वनस्पति प्रजनन में समर्थ है । दोनों ही विचारधाराओं में सच्चाई सम्भव है । प्रतिवर्ष थोड़ी बहुत संख्या में नये पौधे आते रहते है और जो पौधे सारगासो के शान्त जल मे पहुँच जाते हैं उन्हें साक्षात अमरत्व प्राप्त हो जाता है । अमरीकी संग्रहालय के **ए० ई० पार** ने हाल ही में यह विचार प्रकट किया है कि अपनी-अपनी प्रजातियों के अनुरूप कोई-कोई पौधे वर्षो तक जीवित रहते हैं तो कोई शताब्दियाँ ले जाते है । यदि आप इस स्थान की आज यात्रा करें तो यह बहुत सम्भव है कि जो झंखाड़ आप देखें उन्हें कोलम्बस तथा उसके साथियों ने भी देखा हो ।[1] यहाँ समुद्र के अन्तर में झंखाड़ के प्रवाह का अन्त ही नही आता और अपनी इस अन्तहीन यात्रा में वह विखण्डन की

---

1 आर० एल० कार्सन : **सागर की खोज**, पृ० 35 ।

प्रक्रिया के द्वारा बढता रहता है और उसका वनस्पनीय प्रजनन होता रहता है। आज वहाँ झखाड़ो का जो अम्बार बड़े परिमाण मे इकट्ठा हो गया है उसे यह रूप लेने मे अनेक काल-चक्रों का समय देखना पडा होगा। यह अम्बार उस विस्तृत जलक्षेत्र पर इस प्रकार फैला हुआ है कि सारगासो समुद्र का अधिकाश भाग खुले समुद्र के रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

प्लावी हिम-शिलाएँ
(Icebergs)

उत्तरी ध्रुव सागर और अण्टार्कटिक महाद्वीप के किनारे समुद्री सतह का अधिकांश पानी स्थायी रूप से जमा हुआ रहता है। यहाँ हिम की मोटाई 2 से 14 फुट तक पायी जाती है। जाडों मे इसका क्षेत्र और भी बढ जाता है। प्लावी हिमपुज (pack ice) उत्तरी ध्रुव से दक्षिण की ओर ग्रीनलैण्ड के पूर्वी तट पर 60° उत्तरी अक्षाश तक पहुँच जाता है। जाड़ों में प्लावी हिमपुज एकदम निकट स्थित पाये जा सकते है जिससे हिम का अविराम क्षेत्र बन जाता है। किन्तु ग्रीष्मऋतु मे हिम-क्षेत्र के किनारो से हिम के विशाल शैल (प्राय: अनेक मील व्यास के) अलग-अलग बहते है। इन हिम-शैलो का प्रवाह हिम और समुद्र-जल (sea water) के सापेक्ष घनत्व पर निर्भर करता है। हिम-शैलों की आकृति का भी इस पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। हिम-शैल के जल के बाहर और जल के भीतर डूबे हुए भाग के बीच 1 · 4 या 1 : 2 का सम्बन्ध रहता है। कुछ हिम-शैल समुद्र-जल से 300 फुट या अधिक ऊपर उठे हुए रहते है। जल के भीतर उनकी स्थूलता और भी अधिक होती है।

उत्तरी गोलार्द्ध मे प्रतिवर्ष 10,000 से 15,000 हिम-शैल बनते है। इनमे से अधिकांश हिम-शैल ग्रीनलैण्ड की हिमानियों (glaciers) द्वारा बनते है। कुछ हिम-शैल स्पिट्सबर्जन, एज-द्वीप, नोवाया जेमलिया तथा एल्समियर द्वीप से आते है। ये हिम-शैल पूर्वी ग्रीनलैण्ड तथा लेब्रे-डोर धाराओं द्वारा दक्षिण की ओर 40° उत्तरी अक्षाश तक पहुँच जाते है। जब कभी ये उत्तरी अन्ध महासागरीय समुद्री मार्ग (North Atlantic Shipping-lanes) में चले आते है तो जहाजों के लिए बड़े घातक सिद्ध होते है। सन् 1912 मे **टाइटेनिक** नामक जहाज हिम-शैल से टकराकर नष्ट हो गया था। उसके बाद हिम-शैलों की चौकसी के लिए अमरीकी-कनाडी गश्त स्थापित कर दी गयी है जो रेडियो द्वारा हिम-शैलों की उपस्थिति और उनके सम्भावित मार्ग के बारे मे बराबर सूचना देती रहती है। उत्तरी प्रशान्त मे संकीर्ण बेरिंग जल-सन्धि के कारण हिम-शैल कदाचित ही दिखाई पड़ते है।

दक्षिणी गोलार्द्ध मे हिम-शैल अण्टार्कटिक हिमरोधिका (ice-barrier) के तट से उत्पन्न होते हैं। ये बड़े ही विशाल आकार के होते है। प्राय: ये एक बड़े क्षैतिज हिमद्वीप की भाँति होते है। कुछ हिम-शैल 60 मील से अधिक लम्बे देखे गये है। ऐसे हिम-शैल सपाट हिम-शैल (tabular bergs) कहलाते है। उत्तरी गोलार्द्ध मे इनके विपरीत अधिकांश हिम-शैल शिखरी हिम-शैल (castellated bergs) होते है। अण्टार्कटिक हिम-शैल फॉकलैण्ड धारा, बेंगुला धारा और दक्षिणी आस्ट्रेलिया की धारा के प्रभाव से उत्तर की ओर अन्ध महासागर मे 40° दक्षिणी अक्षांश और प्रशान्त महासागर मे 50° दक्षिणी अक्षांश तक बहकर चले आते है।

हिम-शैलो की गति धाराओ और हवाओ दोनो से प्रभावित होती है। इनकी सामान्य गति प्रतिदिन 4 समुद्री मील है। हवा के प्रभाव से इनकी गति बढ़कर 30 समुद्री मील प्रतिदिन हो जाती है। कई बार हिम-शैलों को पवन और सतही धारा के प्रतिकूल दिशा में बहते हुए पाया गया है। ऐसा शक्तिशाली अधो-धारा (subsurface current) के प्रभाव से होता है।

धाराओं का मानव-जीवन पर प्रभाव

जिन समुद्रतटों से होकर जलधाराएँ बहती है, वहाँ के निवासियों पर इनका बड़ा भारी प्रभाव पडता है। धाराओ का यह प्रभाव कई प्रकार से होता है :

(1) **जलवायु पर प्रभाव**—धाराओ का जलवायु पर सम और विषम दोनो तरह का प्रभाव होता है। जिन भागों में ठण्डी धाराएँ बहती हैं वहाँ इनका बडा विपरीत प्रभाव होता है। ठण्डी धाराओ के ऊपर बहने वाली हवाएँ किसी स्थान पर अपना शीतल प्रभाव ही नहीं छोड़ती, बल्कि वहाँ के तापमान को इतना नीचा कर देती है कि वहाँ मनुष्य-जीवन व व्यापार असम्भव हो जाता है। ठण्डी धाराओं के समीप का तट महीनो तक बर्फ से जमा रहता है जिससे वहाँ का भू-खण्ड वीरान रूप धारण कर लेता है। फॉकलैण्ड, लेब्रेडोर और क्यूराइल धाराओं का कुछ ऐसा ही प्रभाव होता है।

जिन भागों में गरम धारा का प्रवाह है, वहाँ इनका बहुत ही उत्तम और सम प्रभाव होता है। गरम धाराएँ उष्ण प्रदेशो की गर्मी को उच्च अक्षांशो के ठण्डे प्रदेशो को पहुँचाकर वहाँ की जलवायु को सन्तुलित बनाये रखने में योग देती है। यह गरम धाराओं का ही प्रभाव है कि ध्रुव प्रदेशो में फसले पैदा की जाती है और वे घनी आबादी के केन्द्र बने हुए है। उत्तरी-पश्चिमी यूरोप (नॉर्वे, स्वीडन, इंगलैण्ड आदि) और पूर्वी जापान की उन्नति का कारण भी ये गरम धाराएँ ही है। इन्हीं अक्षाशों मे स्थित पूर्वी साइबेरिया शीत से प्रकम्पित, उजाड़ और बर्फ से ढका रहता है। गरम धाराओ के अभाव मे सभ्य कहलाने वाले देश इंगलैण्ड, नॉर्वे, स्वीडन और जापान की क्या दशा होगी, यह आसानी से ही समझा जा सकता है।

गरम धाराओ के ऊपर होकर बहने वाली हवाएँ अपने साथ काफी नमी धारण कर लेती है। यही भाप उच्च अक्षाशो मे पहुँचने पर अथवा अधिक ऊँचाई पर उठ जाने के कारण वर्षा मे बदल जाती है। उत्तरी-पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका के पश्चिमी किनारे पर ऐसी ही वर्षा नियमित रूप से होती है। कालाहारी और दक्षिणी अमरीका में अटाकामा मरुस्थलों का अस्तित्व अंशतः शीतल वेनेजुएला धारा और ठण्डी पीरूवियन धारा के कारण ही है।

जिन स्थानों पर गरम और शीतल धाराएँ परस्पर मिलती है, वहाँ घना कुहरा उत्पन्न हो जाता है। न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप गल्फस्ट्रीम की धारा गरम और लेब्रेडोर की ठण्डी धारा के मिलने से तथा जापान-तट पर क्यूरोशिवो और क्यूराइल धाराओं के मिलने से घना कुहरा उत्पन्न हो जाता है। यहाँ इतना घना कुहरा उत्पन्न होता है कि जहाजों का आना-जाना रुक जाता है और प्रायः जहाजों के डूबने और टकराने की दुर्घटनाएँ होती रहती है। न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप एक बड़ा ब्रिटिश जलयान टाइटेनिक कुहरे के कारण ही हिमशिला से सन् 1912 में टकराकर नष्ट हो गया था।

(2) **सामुद्रिक जीवन पर प्रभाव**—धाराएँ सामुद्रिक जीवन का प्राण है। सामुद्रिक जीवन को बनाये रखने और उसको प्रश्रय देने में धाराएँ महत्त्वपूर्ण योग देती हैं। धाराओ के कारण ही समुद्रों में आवश्यक जीव-तत्त्व ऑक्सीजन का सन्तुलित वितरण होता है। कई जीवो के लिए भोजन का आधार भी धाराएँ ही है। मूँगे के कीड़ों का विकास गरम धाराओ पर निर्भर है।

गरम तथा ठण्डी धाराएँ भिन्न-भिन्न किस्म की मछलियो को जन्म देती हैं। मनुष्यो के खाने योग्य अधिकतर मछलियाँ ठण्डे समुद्रों में मिलती हैं। फलतः ठण्डे समुद्रो से आने वाली शीतल जलधाराओ के साथ कई बार मछलियों के झुण्ड के झुण्ड उष्ण समुद्रो में चले आते हैं, जिससे मछली उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है। जापान और न्यूफाउण्डलैण्ड के मछली उद्योग की उन्नति का कारण यही है।

(3) **जहाजरानी पर प्रभाव**—भाप से चलने वाले आधुनिक शक्तिशाली जहाज धाराओं के प्रभाव से मुक्त जान पडते है, किन्तु प्राचीनकाल में धाराओ का जहाजरानी पर उल्लेखनीय प्रभाव पडता था। प्राचीनकाल मे एशिया के दक्षिणी किनारो पर समुद्री व्यापार का कारण धाराएँ ही थीं। जाड़े की ऋतु मे व्यापारी माल लादकर पूर्व से ईरान और अरब को जाते थे और पुन: माल लेकर ग्रीष्मऋतु में, जब धाराओ का रुख पलट जाता था, घर लौट आते थे। प्रारम्भ में यूरोप से अमरीका जाने वाला जहाज स्पेन से दक्षिण में होकर उत्तरी-पूर्वी व्यापारिक पवनों के साथ बहने वाली उत्तरी विषुवतरेखीय धारा के साथ पश्चिम को जाते थे और पुन: पछुवा हवाओ द्वारा प्रवाहित गल्फ स्ट्रीम और उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह के साथ घर लौटते थे। अमरीका से यूरोप जाने वाले जहाज आज भी गल्फ स्ट्रीम का ही अनुसरण करते है।

(4) **व्यापार पर प्रभाव**—धाराओं के कारण समुद्र में गति बनी रहती है। यह गति समुद्रों को जमने से बचाती है। जिन तटों पर गरम धाराएँ बहती है, वहाँ के बन्दरगाह साल भर खुले रहते है, जैसे—नार्वे तथा जापान के बन्दरगाह। बन्दरगाहो के खुले रहने से उन प्रदेशों का व्यापार बढ जाता है।

समुद्र मे प्रवेश करते समय समस्त नदियाँ अपना भार (पदार्थ) तट पर छोड़ देती है। धाराएँ तट पर एकत्रित पदार्थ को बहाकर दूर पहुँचा देती है।

समुद्र में उप-सतही जल की गति
(Sub-surface Movements of Ocean Water)

महासागरों में बड़ी मात्रा मे जल की उदग्र और क्षैतिज गतियाँ होती हैं। महासागर में जल की उदग्र गतियाँ या तो विभिन्न गहराइयो पर घनत्व के अन्तर के कारण या दो विपरीत धाराओ के मिलने के कारण होती है। दो विपरीत धाराओ के अभिबिन्दुक (converging) स्थान पर पानी नीचे बैठता है, जिसकी पूर्ति समुद्र मे अन्यत्र अपसृत धाराओ (diverging currents) के रूप मे होती है। इस प्रकार महासागरीय जल मे समतलता की स्थिति बनाये रखने के लिए अभिसृत (convergence) और अपसृत (divergence) धाराएँ चला करती है।

समुद्र- जल का घनत्व उसकी लवणता और तापमान दोनो पर निर्भर करता है। अत: एक विशेष लवणता के ऊपर उसका घनत्व तापमान के प्रतिकूल होगा। जैसे यदि तापमान कम हो जाता है, तो घनत्व बढ जाता है। **सर जॉन मरे** के अनुसार सम्पूर्ण समुद्र के लिए उसके सतही जल का औसत घनत्व 1·0252 है। किन्तु 2000 फैदम के नीचे यह बराबर 1 0280 ही रहता है। इसके विपरीत किसी भी तापमान पर लवणता के बढने पर घनत्व भी बढ जाता है। उदाहरणत: 60° फा० तापमान पर स्वच्छ जल का घनत्व 1·0000 रहता है, परन्तु 30‰ लवणता होने पर घनत्व बढकर 1·0220 और 40‰ लवणता होने पर घनत्व 1·0300 हो जाता है। इस प्रकार तापमान व वर्षा के बढने, नदियों द्वारा जल की वृद्धि और हिम के पिघलने से घनत्व की कमी हो जायगी, परन्तु तापमान के कम होने अथवा वाष्पीकरण के बढ़ने पर घनत्व बढ़ जायगा।

ध्रुवीय समुद्रों में ऊँचे घनत्व के कारण ठण्डा सतही पानी नीचे डूबता है और उष्ण कटिबन्ध में गर्मी के कारण सतह का हल्का (कम घनत्व वाला) पानी ध्रुवों की ओर आगे बढ़ता है। इसकी पूर्ति के लिए ठण्डा पानी नीचे से ऊपर उठता है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप मे उष्ण कटिबन्ध से गरम सतही पानी ध्रुवों की ओर तथा ठण्डा ध्रुवीय पानी गहराई में विषुवत रेखा की ओर प्रवाहित होता है। फलस्वरूप ध्रुवीय प्रदेशों मे जल-राशियाँ नीचे डूबती हैं और उष्ण कटिबन्ध में ऊपर उठती हैं। वस्तुतः सिद्धान्त रूप में जैसा दिखाई देता है, महासागरों में जल-प्रवाह की इतनी सरल प्रक्रिया नहीं है।

इन प्रतिकूलताओ के कई कारण है। एक कारण तो यह है कि विषुवत रेखा से ध्रुवो की ओर होने वाले सतही जल-प्रवाह पर हवाओ का बडा प्रभाव पडता है। दूसरा कारण है कि दक्षिणी महासागर मे नितल (bottom) का ठण्डा और भारी पानी उत्तर की ओर प्रवाहित हो सकता है (यहाँ तक कि उत्तरी गोलार्द्ध मे भी आ सकता है), परन्तु उत्तरी ध्रुव महासागर के नितल का पानी एक प्रकार से सप्रवाही जल का जलाशय है। इसका नितल प्रशान्त महासागर से सकीर्ण व उथली बेरिग सिल द्वारा अन्ध महासागर से विली-थोम्पसन कटक (Wyville-Thomson Ridge) द्वारा अलग हो गया है। अन्त मे, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि महासागरो मे भिन्न लवणता और तापमान एव प्रदेश विशेष मे जन्म लेने वाली जल-राशियो को स्पष्टत: अलग-अलग पहचाना जा सकता है। आधुनिक समुद्र शास्त्र मे इन जलराशियो का उत्तरोत्तर महत्त्व बढता जा रहा है। इनका अब समुद्रशास्त्र मे वही महत्त्व है जो कि वायु-राशियो का वायु-विज्ञान मे है। यद्यपि समुद्र मे जल का मिश्रण (mixing) होता है परन्तु सामान्यत. अलग-अलग जल-राशियाँ स्पष्ट अन्तरबाध परत (discontinuity layer) द्वारा विलग हो जाती है। अन्तरबाध परत के समीप जल-राशियो के तापमान और लवणता मे यकायक परिवर्तन आ जाता है। उत्तरी अन्ध महासागर मे ज्ञात 'ठण्डी दीवार' (Cold Wall) लेब्रेडोर तथा गल्फस्ट्रीम धाराओ के बीच अन्तरबाध परत ही है। इसी भाँति प्रशान्त महासागर मे भी ओखोटस्क तथा क्यूरोशिवो धाराओ के बीच अन्तरबाध परत विद्यमान है। गहराई मे भी इसी प्रकार की परतें पायी जाती है।

महासागरो के कुछ भागो मे अभिसरण (convergences) की अवस्थाएँ पायी जाती है। ऐसे स्थलो पर सतही जल की अभिबिन्दुक जल-राशियाँ परस्पर मिलती है जिससे जलराशियाँ नीचे डूबती है। दक्षिणी महासागर मे 50° दक्षिण अक्षांश के आसपास ऐसी अभिसरण की अवस्था पायी जाती है। यहाँ अण्टार्कटिक का ठण्डा और भारी (dense) सतही जल दक्षिण की ओर फैले अधिक लवणयुक्त और उष्ण जल से मिलता है। इसी प्रकार 40° दक्षिण तथा अन्य अक्षाशो के निकट भी जल-राशियो का अभिसरण होता है, किन्तु स्थल-खण्डो के अवरोध के कारण इतना स्पष्ट नहीं होता। समुद्रो मे जहाँ पानी नीचे डूबता है उसकी पूर्ति के लिए अन्यत्र ठण्डा पानी ऊपर उठता है। गहराई से ठण्डे पानी के ऊपर उठने को अपसरण (divergence) की अवस्था कहते है। समुद्रो मे जल के अपसरण (divergence) की ऐसी अवस्थाएँ महाद्वीपों के पश्चिमी-तटों से कुछ दूर स्पष्टत. देखी जा सकती है जहाँ तट से दूर समुद्र की ओर चलने वाली सन्मार्गी हवाएँ उष्ण सतही जल को पश्चिम की ओर बहा ले जाती है। समुद्रशास्त्रियो ने महासागरो मे ऐसे कई स्थलों को ढूँढ निकाला है जहाँ भिन्न-भिन्न गहराई (सतही, मध्यवर्ती, गहरी और नितल) और भिन्न-भिन्न दिशाओं में क्षैतिज रूप से गतिशील जल-राशियाँ मिलती है। महासागरों मे पायी जाने वाली कुछ प्रमुख जल-राशियाँ निम्न है :

(1) **उत्तरी अन्ध महासागरीय गर्त एवं तलीय जल-राशि**—यह जल-राशि लेब्रेडोर, ग्रीनलैण्ड तथा आइसलैण्ड के मध्यवर्ती भाग मे फैली हुई है। इसका तापमान 2·8° सें० से 3·3° सें० रहता है। इसकी लवणता 34·9 प्रति हजार है।

(2) **अण्टार्कटिक तलीय जल-राशि**—यह जल-राशि अण्टार्कटिक के समीप वेडेल सागर की जल-राशि है। इसका तापमान 1·9° से० और लवणता 34·6‰ रहती है।

(3) **उत्तरी अन्ध महासागरीय मध्यवर्ती जल-राशि**—यह लेब्रेडोर के दक्षिण में एक छोटे आकार की अभिसृत जल-राशि है।

(4) **उत्तरी प्रशान्त मध्यवर्ती जल-राशि**—यह उत्तरी प्रशान्त महासागर मे 40° उत्तरी अक्षांश के समीप पायी जाती है।

(5) **अण्टार्कटिक मध्यवर्ती जल-राशि**—यह जलराशि दक्षिणी महासागर मे पछुवा हवा की पेटी में फैली हुई पायी जाती है। इसकी लवणता 33·8‰ और तापमान 2·2° से० रहता है।

उपरोक्त जल-राशियो के अतिरिक्त उपोष्ण कटिबन्ध मे 30° और 40° अक्षाशो के मध्य भूमध्य सागर और लाल सागर मे मध्यवर्ती जल-राशियाँ मिलती हैं।

समुद्र के उप-धरातल पर विभिन्न प्रकार के जल के मिश्रण से भी जलराशियाँ बन जाती है। जैसे अण्टार्कटिक के तलीय जल एव अन्ध महासागर के गर्तो के जल के मिश्रण से **अण्टार्कटिक ध्रुवीय जल-राशि** (Circumpolar Antarctic Water-mass) बनती है। इसी प्रकार अण्टार्कटिक और दक्षिणी उपोष्ण अभिसरण के मध्य **उप-अण्टार्कटिक जल-राशि** (Sub-antarctic Water-mass) बनती है। हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर मे भी ऐसी जल-राशियाँ पायी जाती है।

वर्तमान समय मे जल-राशियो का ज्ञान समुद्रशास्त्रियो के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि वायु-राशियो का ऋतु-विज्ञानवेत्ताओं के लिए होता है।

22

ज्वार-भाटा

(THE TIDES)

समुद्र चंचल है। वह कभी शान्त नही रहता। प्रत्येक क्षण उसमे कुछ न कुछ गति विद्यमान रहती है। चंचल जल की लहरें कभी आगे बढती है, कभी पीछे हटती है और कभी तट के समीप घण्टों थिरकती रहती है। समुद्र-जल की इन हलचलों तथा अन्य कारणों से समुद्र का तल कभी एकसा नही रहता। वह कभी ऊपर उठता है और कभी नीचे गिरता है। समुद्र-तल (sea level) के नियमित रूप मे कभी ऊपर और कभी नीचे होने की यह क्रिया ही ज्वार-भाटा कहलाती है। **मरे** के अनुसार, **"सूर्य और चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण समुद्र-तल के नियमित रूप से ऊपर उठने और नीचे गिरने की क्रिया को ज्वार-भाटा कहते है।"**[1] **सी० एम० थोम्पसन** ने ज्वार-भाटा की विशद विवेचना करते हुए बताया है कि नियमित रूप से दिन और रात की हवाओं के परिवर्तन द्वारा नियमित वर्षा और वाष्पीकरण द्वारा अथवा मौसम के किसी भी प्रभाव के द्वारा उत्पन्न ज्वार-भाटा सही अर्थ मे ज्वार-भाटा नही कहे जा सकते, उन्हे हम **मौसम सम्बन्धी ज्वार-भाटा** ही कह सकते है।[2]

जो लोग समुद्र तट के समीप रहते है वे जानते है कि प्रतिदिन दो बार समुद्र का जल ऊपर उठता है और दो बार ही नीचे गिरता है। समुद्र-जल के ऊपर उठने अथवा आगे बढने को **ज्वार** (High tide) और नीचे उतरने अथवा पीछे हटने को **भाटा** (Low tide) कहा जाता है। ज्वारीय नदियो (Tidal Rivers) मे ज्वार-भाटा (Flow and Ebb) शब्द का प्रयोग जल के ऊपर उठने तथा नीचे गिरने के लिए नही होता, क्योंकि ज्वार के समय धारा का प्रवाह नदी के ऊपर की ओर तथा भाटे के समय धारा के नीचे की ओर बड़ा तीव्र होता है। इसलिए ज्वारीय धाराएँ ज्वार (High water) के निकल जाने के काफी समय बाद ऊपर उठती है और निम्न जल (Low water) के काफी समय बाद नीचे उतरती (Ebbs) है। परिणामस्वरूप नदियों मे ज्वार नीचे उतरने की अपेक्षा बड़ी शीघ्रता से ऊपर चढता है। इस प्रकार उच्च और निम्न जल की अपेक्षा निम्न और उच्च जल के बीच कुछ ही समय लगता है। यह बात हुगली नदी मे 24 जनवरी, 1936 के नवीन चन्द्रमा के बाद 24 से 26 जनवरी, 1936 के बीच आने वाले ज्वारों की सारणी से पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है।[3]

---

[1] Sir John Murray : *The Oceans*, p. 83

[2] C. M. Thompson : *Monograph on "The Tides"*, p. 34

[3] C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 347

ज्वार और भाटे का समय तथा ऊँचाई (फुटो मे)

	ज्वार			भाटा			ज्वार			भाटा			ज्वार		
	जनवरी 24									जनवरी 25					
	घ०	मि०	फु०	घं०	मि०	फु०	घं०	मि०	फु०	घ०	मि०	फु०	घ०	मि०	फु०
डुबलोट (सागर द्वीप)	10	23	14 4	16	49	2·3	23	43	16·1	5	20	1·7	11	1	15 3
डायमण्ड हारबर	12	4	14·3	20	6	1·9	0	23	16·5	8	34	0 4	12	37	15 4
किडरपुर (कलकत्ता)	14	10	13·7	22	47	3 6	2	29	15·5	11	15	2·3	14	43	14·7

	भाटा			ज्वार			भाटा			ज्वार			भाटा		
							जनवरी 26								
	घं०	मि०	फु०	घं०	मि०	फु०	घ०	मि०	फु०	घ०	मि०	फु०	घं०	मि०	फु०
डुबलोट (सागर द्वीप)	17	28	1 7	23	21	16 6	5	56	1 0	11	41	15·8	18	9	1 1
डायमण्ड हारबर	20	46	1·4	0	56	17·2	9	11	0 3	13	15	16 1	21	25	3 4
किडरपुर (कलकत्ता)	23	28	3·4	3	1	16·3	11	51	2·3	15	17	15·5	0	7	3·4

ज्वार तथा भाटे और भाटे तथा ज्वार के बीच समय का अन्तर

	ज्वार तथा भाटे के बीच					भाटे तथा ज्वार के बीच				
	घ०	मि०		घ०	मि०	घ०	मि०		घ०	मि०
डुबलोट	6	26	से	6	37	5	54	से	5	41
डायमण्ड हारबर	8	2	से	8	15	4	17	से	4	3
किडरपुर	8	37	से	8	50	3	42	से	3	26

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति सम्बन्धी परिकल्पनाएँ

ज्वार-भाटा की उत्पत्ति और समुद्रो मे उनके परिभ्रमण के सम्बन्ध मे विद्वानो के कई मत है। यहाँ कुछ प्रमुख परिकल्पनाओं का विवेचन किया जा रहा है :

(1) **सन्तुलन साध्य** (Equilibrium Theory)—इस साध्य का प्रतिपादक **सर आइजक न्यूटन** है। यद्यपि बहुत प्राचीन समय के लोग इस बात से परिचित थे कि ज्वार-भाटा और चन्द्रमा मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु उस विगत-काल मे लोगो को यह नही मालूम था कि यह सम्बन्ध क्या है ? यह उनके लिए एक पहेली थी, और इस पहेली का तब तक कोई हल न निकल सका जब तक कि न्यूटन (Newton) ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त स्थिर कर लोगों को यह न बता दिया कि इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ एक-दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करता है। महासागरो मे उत्पन्न होने वाला ज्वार-भाटा इसी आकर्षण-शक्ति का परिणाम है।
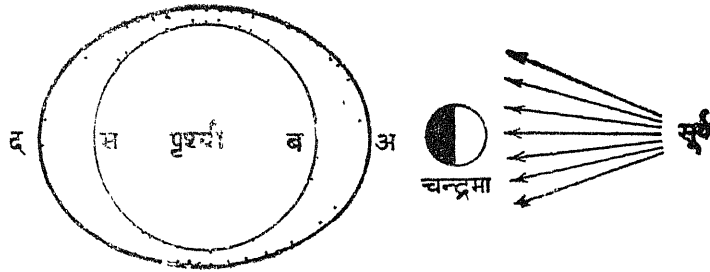
चित्र 185—ज्वार उत्पन्न होने की प्रक्रिया

पृथ्वी का व्यास लगभग 8,000 मील है। इसलिए चन्द्रमा के सामने वाला भाग केन्द्र की अपेक्षा 4,000 मील एव उसके विपरीत भाग से 8,000 मील, चन्द्रमा के अधिक निकट है। अतः चन्द्रमा की शक्ति उसके सामने वाले भाग पर अधिक और पृथ्वी के केन्द्र तथा विपरीत भाग पर कम पड़ती है। आकर्षण शक्ति का प्रभाव ठोस वस्तु और जल पर भिन्न होता है। इसलिए यदि पृथ्वी ठोस ही ठोस होती तो चन्द्रमा का प्रभाव स्थल पर बहुत कम दिखाई देता परन्तु चूंकि पृथ्वी चारों ओर जल से घिरी हुई है अतः जल पर यह प्रभाव अप्रत्याशित रूप से होता है। जो भाग चन्द्रमा के सामने पड़ता है उस स्थान का जल आकर्षण-शक्ति के कारण चन्द्रमा के ठीक नीचे सिमटकर ऊपर उठ जाता है। पृथ्वी के विपरीत भाग में भी इसी प्रकार जल ऊपर उठता है, किन्तु यहाँ पानी के ऊपर
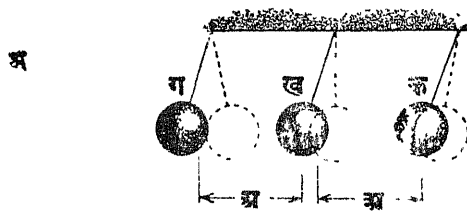
चित्र 186—चन्द्रमा के आकर्षण का पृथ्वी पर प्रभाव, चित्र में म चन्द्रमा को तथा क, ख, ग पृथ्वी की स्थितियों को इंगित करते हैं

उठने का भिन्न कारण है। चन्द्रमा का खिचाव केन्द्र पर कम और विपरीत भाग पर नितान्त ही

कम होता है। इस कारण विपरीत भाग का जल उस प्रभाव से बहुत ही कम प्रभावित होता है। परन्तु पृथ्वी के ठोस होने के कारण वह पूरी की पूरी ही कुछ चन्द्रमा की ओर खिच जाती है। इससे विपरीत भाग की ओर जल और स्थल के बीच कुछ अन्तर पड जाता है। इस अन्तर को भरने के लिए आसपास से चारो ओर का जल एकत्रित हो जाता है जिससे समुद्र-जल की सामान्य सतह ऊपर उठ जाती है और वहाँ ज्वार दिखाई देने लगता है।

ज्वार-भाटे के सम्बन्ध मे दिये गये उपरोक्त स्पष्टीकरण को निम्न प्रकार से भली-भाँति समझा जा सकता है। पृथ्वी के समस्त भागो पर सदैव ही दो शक्तियाँ कार्य करती है—(1) आकर्षण शक्ति (Attractive Force), और (2) अपकेन्द्रीय शक्ति (Centrifugal force)। चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति द्वारा सभी पदार्थ सूर्य से चन्द्रमा की ओर तथा अपकेन्द्रीय शक्ति द्वारा चन्द्रमा से पृथ्वी की ओर आकर्षित होते है। इनमे से दूसरी शक्ति पृथ्वी के सभी स्थानो पर समान है, परन्तु यह शक्ति पृथ्वी के उस भाग पर जो कि ठीक चन्द्रमा के सामने पड़ता है, सर्वाधिक होती है।

चूँकि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनो ही अपने स्थान पर स्थिर है, न कोई आगे बढता है और न कोई पीछे हटता है। इस कारण यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि पृथ्वी के केन्द्र पर आकर्षण शक्ति और अपकेन्द्रीय शक्ति दोनो बराबर है। किन्तु पृथ्वी का जो भाग चन्द्रमा के सबसे निकट है वहाँ आकर्षण शक्ति पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा अधिक है। दूसरे शब्दो मे यहाँ आकर्षण शक्ति अपकेन्द्रीय शक्ति से ज्यादा है। यहाँ आकर्षण शक्ति की अधिकता पानी को चन्द्रमा की ओर आकर्षित कर लेती है।
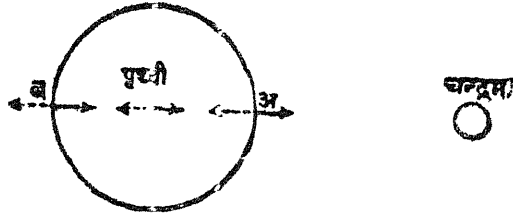
चित्र 187—चन्द्रमा की ज्वार उत्पादक शक्तियाँ

पृथ्वी का वह भाग जो कि चन्द्रमा से अधिकतम दूरी पर है वहाँ आकर्षण शक्ति पृथ्वी के केन्द्र से भी कम है। अर्थात यहाँ आकर्षण शक्ति अपकेन्द्रीय शक्ति से भी कम है। अतएव यहाँ पर अपकेन्द्रीय शक्ति की अधिकता जल को पृथ्वी की ओर खीच लेती है। इस तरह पृथ्वी के एक ओर ज्वार आकर्षण शक्ति की अधिकता के कारण और दूसरी ओर अपकेन्द्रीय शक्ति की अधिकता के कारण उत्पन्न होते है।

इस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी तल पर एक ही समय मे दो ज्वार उत्पन्न करता है। परन्तु ज्वार के समय पृथ्वी के अन्य भागों का जल भी खिचकर चला आता है। इसलिए दोनों ज्वार वाले स्थानों के बीच के भाग में समुद्र-तल सामान्य तल से भी नीचा चला जाता है जिसमे वहाँ भाटा (low tide) उत्पन्न हो जाता है। पृथ्वी की आवर्तन गति के कारण प्रत्येक स्थान सदा ही एक बार ठीक चन्द्रमा के सामने और एक बार ठीक उसके विपरीत दिशा में रहता है। अतः हर रोज प्रत्येक स्थान पर दो बार ज्वार-भाटा आया करता है।

यद्यपि ज्वार-भाटा मुख्यतः चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण ही उत्पन्न होते है, परन्तु सूर्य की आकर्षण शक्ति का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। सूर्य की आकर्षण शक्ति चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति से 255 लाख गुना अधिक है। किन्तु सूर्य चन्द्रमा की तुलना मे पृथ्वी से लगभग 9,27,60,000 मील अधिक दूर है, इसलिए सूर्य की ज्वार उत्पन्न करने की शक्ति चन्द्रमा की केवल $\frac{5}{11}$ ही होती है। अतः ज्वार उत्पादक शक्ति के रूप मे सूर्य का चन्द्रमा की अपेक्षा कम प्रभाव होता है।

पृथ्वी के केन्द्र पर सूर्य की आकर्षण शक्ति चन्द्रमा की तुलना मे 169 गुना अधिक होती है। परन्तु ज्वार-भाटा केवल आकर्षण शक्ति की मात्रा मे निर्धारित नही होते। ज्वार-भाटा वस्तुत: पृथ्वी के केन्द्र एव पृथ्वी के चन्द्रमा से निकटवर्ती और दूरवर्ती भागो पर होने वाले आकर्षण शक्ति के अन्तर के कारण होता है। अत स्पष्ट है कि ज्वार-भाटा का सम्बन्ध पृथ्वी की चन्द्रमा और सूर्य सम्बन्धी सापेक्ष गतियों से रहता है।
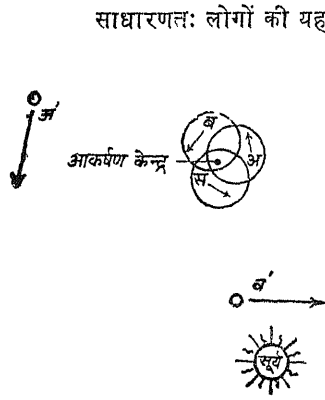
साधारणत: लोगों की यह धारणा है कि चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह होने से वह उसके चारो ओर घूमता है। परन्तु चन्द्रमा पृथ्वी के चारो ओर नही घूमता। वस्तुत चन्द्रमा और पृथ्वी दोनो एक ही आकर्षण केन्द्र के चारो ओर चक्कर काटते है। जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। इस चित्र से ज्ञात होगा कि पृथ्वी और चन्द्रमा भिन्न-भिन्न स्थिति मे केन्द्र के चारो ओर घूमते है। जब चन्द्रमा अ' स्थिति मे होता है तो पृथ्वी अ की दशा मे रहती है और जब वह ब' एव स' की स्थिति मे होता है तो पृथ्वी ब और स की अवस्था मे रहती है। चन्द्रमा और पृथ्वी की इन पारस्परिक स्थितियों से स्पष्ट है कि चन्द्रमा के आकर्षण का प्रभाव न केवल उसके सम्मुख वाले जल भाग पर अपितु समूचे पृथ्वी-पिण्ड पर होता है जिससे सम्पूर्ण पृथ्वी चन्द्रमा की ओर खिच जाती है और विपरीत भाग का जल चन्द्रमा के खिचाव से अप्रभावित रह जाता है। इसी कारण एक ज्वार चन्द्रमा के सम्मुख वाले भाग मे और दूसरा इसके विपरीत भाग मे होता है और इस प्रकार सन्तुलन स्थापित रहता है।

चित्र 188—पृथ्वी और चन्द्रमा की गतियाँ

आलोचना

यद्यपि ज्वार-भाटे की उत्पत्ति का मूल कारण गुरुत्वाकर्षण ही है जिसको न्यूटन ने सन्तुलन साध्य के रूप में प्रस्तुत किया था। किन्तु कुछ विद्वानो ने इसके सम्बन्ध में निम्न आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं :

1. समुद्रों मे ज्वार एक लहर के रूप में उत्पन्न होता है, अत: यदि पृथ्वी के धरातल पर जल ही जल होता तो इस सिद्धान्त के क्रियाशील होने की कल्पना की जा सकती थी। परन्तु धरातल पर जल और स्थल का असमान वितरण है इसलिए ज्वारीय लहरें चन्द्रमा के साथ पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए प्रत्येक देशान्तर पर समान रूप से उत्पन्न नही होती। इन लहरो के विस्तार एवं दिशा में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

2. समुद्रों की गहराई और उनके नितल की रचना एक जैसी नही है जिसका प्रभाव ज्वारीय लहरों की प्रगति पर होता है।

3. पृथ्वी का आकार चौरस न होकर गोलाकार है, इस कारण ज्वारीय लहरों की उत्पत्ति में किसी एक निश्चित नियम को मान लेना कठिन है।

4. समुद्रो मे ज्वार-भाटे के अतिरिक्त अन्य कई गतियाँ होती है। ये गतिया ज्वारीय लहर की प्रगति मे बाधक होती हैं।

उपरोक्त कारणो से स्पष्ट विदित हो जाता है कि ज्वारीय लहरे चन्द्रमा की ऊँचाई के अनुसार निश्चित समय पर पृथ्वी की परिक्रमा नही कर सकती। इसी से सन्तुलन-साध्य को त्रुटिपूर्ण बताया गया है।

(2) **प्रगतिशील तरंग साध्य** (Progressive Wave Theory)—जब किसी देशान्तर के सामने चन्द्रमा हो तो उस देशान्तर पर स्थित सभी स्थानो पर एक साथ समान रूप से ज्वार आना चाहिए, परन्तु स्थलीय प्रभाव के कारण ऐसा नही होता । इस स्थलीय प्रभाव के ऊपर ही प्रगतिशील तरंग की परिकल्पना आधारित है ।

सूर्य व चन्द्रमा के आकर्षण मे समुद्रो मे ज्वार-भाटा लहरो के रूप मे उत्पन्न होता है । इस प्रकार लहर ज्वार का प्रतिरूप है । इसमे लहर के शिखर (crest) को **ज्वार** और द्रोणी (trough) को **भाटा** माना गया है । पृथ्वी चारों ओर जल से वेष्ठित मानी गयी है और ज्वार-लहरे पृथ्वी के चतुर्दिक नियमित गति से चलती हुई मानी गयी है । ये ज्वार-लहरे सूर्य व चन्द्रमा की गतियो से स्वतन्त्र रूप से चलती है । किन्तु इनकी गति जल की गहराई पर निर्भर करती है और इनके आगे बढने मे स्थल-खण्ड बाधा डालते है ।

पृथ्वी पर यदि सर्वत्र जल ही जल होता तो चन्द्रमा द्वारा उत्पादित ज्वार-लहर ठीक चन्द्रमा की गति के अनुरूप पूर्व से पश्चिम को अबाध रूप से चला करती । परन्तु हम जानते है कि पृथ्वी पर सर्वत्र जल ही जल नही है । बीच-बीच मे बड़े-बड़े भू-खण्ड आ गये है जो ज्वार-लहर की प्रगति को रोक देते है । पृथ्वी के दक्षिणी गोलार्द्ध मे स्थल की अपेक्षा जल का विस्तार अधिक है । दक्षिणी ध्रुव सागर मे स्थल की कोई रुकावट नही है । अतएव यहाँ चन्द्रमा का आकर्षण सबसे अधिक होता है । इस आकर्षण शक्ति से ही समुद्र मे ज्वार-लहर उत्पन्न होती है जो ठीक चन्द्रमा की गति का अनुसरण करती है । लगभग 180° देशान्तर के समीप यह लहर दो भागो मे बँट जाती है और चन्द्रमा के साथ-साथ पूर्व से पश्चिम को आगे बढती है । जब ये चलती-चलती उत्तम आशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) पर पहुँचती है तो एक गौण तरग उत्पन्न हो जाती है जो अन्ध महासागर के तट के साथ-साथ आगे बढ़ती है । अन्ध महासागर के तट पर ज्वार का निर्धारण इसी लहर द्वारा होता है । प्रशान्त महासागर और हिन्दमहासागर मे भी इसी प्रकार की लहरे बन जाती हैं, जो बाद मे वहाँ ज्वार उत्पन्न करती है । प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के अनुसार यही ज्वार-लहरें अपनी प्रगति के साथ-साथ ज्वार-भाटे को ससार के विभिन्न स्थानों तक ले जाती है ।
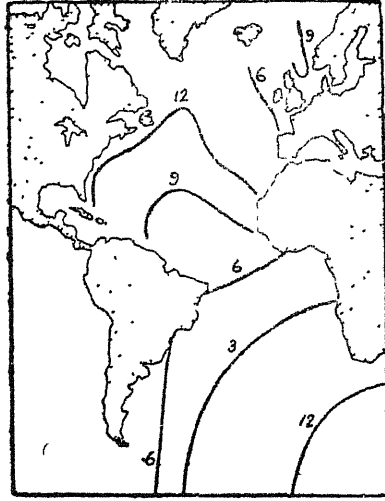
चित्र 189—अन्ध महासागर की सम-ज्वार रेखाएँ

चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र मे प्रधान ज्वार-लहर (primary wave) का जन्म होता है । इससे निकलने वाली शाखाएँ गौण लहरें (secondary waves) कहलाती है । इनमे प्रधान लहर की गति ठीक चन्द्रमा के अनुसार होती है । परन्तु गौण लहरें स्वतन्त्र रूप से आगे बढती है ।

ज्वार-भाटे के उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तो मे प्रगतिशील तरंग साध्य को बड़ी मान्यता प्राप्त हुई है । किन्तु फिर भी इसके सम्बन्ध मे निम्न आपत्तियाँ उठायी गयी है :

(1) इस साध्य के अनुसार प्रमुख ज्वारीय लहर का उत्पत्ति स्थान अण्टार्कटिक महासागर माना गया है । प्रमुख ज्वारीय लहर से निकली गौण लहरे ही अन्ध, हिन्द तथा प्रशान्त महासागरो मे प्रवेश करती है । ये लहरें जब दक्षिण से उत्तर की ओर अग्रसर होती है तो इनके उत्पत्ति-काल

मे वृद्धि होती जाती है। किन्तु यह सम्भव प्रतीत नही होता कि अन्ध महासागर में पहुँचने वाली लहरे काफी समय पूर्व अण्टार्कटिक महासागर मे उत्पन्न हो जाती हो। वस्तुत: ज्वारीय लहरो की उत्पत्ति स्थानीय होनी चाहिए।

(2) ज्वारीय लहरों की प्रगति के सम्बन्ध मे महासागरीय नितल की रचना एवं तटीय रचना से उत्पन्न बाधाओं का ध्यान नहीं रखा गया है।

(3) महासागरो मे कई प्रकार की ज्वारीय लहरे देखी जाती है। उत्तरी अन्ध महासागर एवं उत्तरी प्रशान्त महासागर मे एक ही अक्षांश पर क्रमश: अर्द्ध-दैनिक तथा दैनिक ज्वार-भाटा उत्पन्न होते देखे जाते है जिनका स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त द्वारा नही होता।

(4) उत्तरी तथा दक्षिणी अन्ध महासागर मे एक ही समय मे दो स्थानों पर वृहद ज्वार आते हुए देखे गये हैं जो कि इस सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

(3) **स्थावर तरंग सिद्धान्त** (Stationary Wave Theory)—इस सिद्धान्त का मूल प्रणेता **हैरिस** (Harris) नामक विद्वान है। समुद्रो मे ज्वार की उत्पत्ति को स्पष्ट करने के लिए इस शताब्दी के प्रारम्भ मे हैरिस ने स्थावर तरग के मत का प्रतिपादन किया। उसके मतानुसार ज्वारीय लहर स्थायी होती है और उसी के द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों पर ज्वार आते है। परन्तु अलग-अलग समुद्रो मे अलग-अलग स्थावर तरगें होती है। उसकी इस मान्यता का आधार निम्न प्रयोग है :

यदि हम किसी चौडे बर्तन मे थोडा पानी ले और फिर उसके एक किनारे को शीघ्रता से ऊपर उठाकर नीचा कर दे तो बर्तन में जल के ऊँचे-नीचे होने का एक क्रम बन जायगा। जब पानी दाहिनी ओर ऊपर उठेगा तो बायी ओर नीचा हो जायगा और जब पानी बायी ओर ऊपर उठेगा तो दाहिनी ओर नीचे दब जायगा और फिर यही क्रम कुछ देर तक चलता रहेगा। पात्र के हिलने से अस्तित्व मे आयी ऐसी मध्यवर्ती रेखा को जिसके सन्दर्भ में जल ऊपर-नीचे होता है, **निस्पन्द रेखा** (Nodal line) और तरग को **स्थावर तरंग** (Stationary Wave) कहा जाता है। स्थावर तरंग के दोलन का आवर्तन काल (period of oscillation), पात्र की लम्बाई, पात्र मे जल की गहराई और पात्र को दिये गये झटके की शक्ति के ऊपर निर्भर होता है।
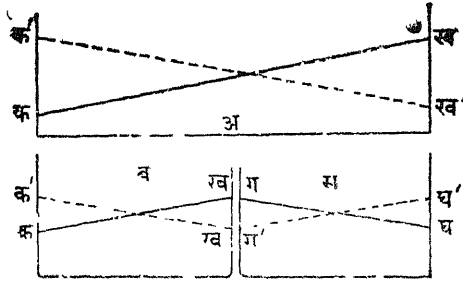
चित्र 190—एकल निस्पन्दन तथा द्वि-निस्पन्दन

इसी प्रयोग के आधार पर हैरिस ने अपनी यह मान्यता प्रकट की कि खुले महासागरों में भी कुछ इसी प्रकार की क्रिया होती है। जब चन्द्रमा अपने आकर्षण द्वारा जल को एक ओर खीच लेता है तो समुद्र में एक स्थावर तरग अस्तित्व मे आ जाती है। विभिन्न स्थानों पर जल का ऊँचा-नीचा होना अर्थात् ज्वार-भाटा आना इस स्थावर तरंग की गति मात्र होती है। स्थावर तरंग की क्रियाशीलता उसी समय तक रहती है जब तक चन्द्रमा का आकर्षण प्रभावशाली रहता है।

इसके साथ ही साथ उसने इस बात की भी कल्पना की है कि भिन्न-भिन्न समुद्रों मे अपनी-अपनी अलग स्थावर तरग होती है और उन्ही के आधार पर वहाँ ज्वार आता है। भिन्न-भिन्न सागरो की स्थावर तरगो के संयुक्त रूप को **दोलन प्रणाली** (Oscillation system) कहा जाता है। इनमे से प्रत्येक तरग के दोलन का एक निश्चित आवर्तन काल

(period of oscillation) रहता है जो गणित की सहायता से निश्चित किया जा सकता है। इस प्रकार चन्द्रमा और सूर्य के आकर्षण से समुद्रो मे स्थानीय रूप मे दोलन होता है। इस दोलन क्रिया पर समुद्रों के तल की रचना, गहराई एव पृथ्वी के परिभ्रमण का प्रभाव होता है। समुद्रो की सरल दोलन प्रणाली पर महाद्वीपो के प्राय-द्वीपीय प्रसार तथा द्वीप बाधक होते है। इन बाधाओ के कारण समुद्रो मे **भँवर बिन्दुओं** (Amphidromic Points) की उत्पत्ति होती है। इन भँवर बिन्दुओं के चारों ओर समुद्र-जल का दोलन होना है। दोलन मे स्थावर लहर परिक्रमा लगाती है। स्थावर लहर की प्रगति के साथ-साथ ज्वार की अवस्था मे अन्तर बढता जाता है। समुद्रो में उनकी रचना के अनुसार एक भँवर बिन्दु के स्थान पर अनेक भँवर बिन्दु उत्पन्न हो सकते है। समुद्र गहरा होने पर दोलन के कारण अधिक ऊँची स्थावर तरगे उठती है। छिछले समुद्रों मे स्थावर लहरे कम ऊँची होती है। स्थावर लहरो के ऊर्ध्व भाग मे भाटा होता है। हैरिस का विश्वास है कि पृथ्वी की परिभ्रमण गति के कारण स्थावर लहरो मे गति उत्पन्न होती है। ज्वार-भाटे मे जल का दोलन एक रेखा पर न होकर भँवर बिन्दु के चारो ओर होता है। भँवर बिन्दु के चारो ओर विभिन्न ज्वारीय लहरों को सम-ज्वार रेखाओं (co-tidal lines) द्वारा दिखाया जा सकता है।
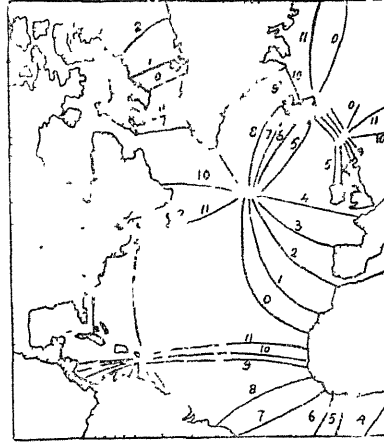
चित्र 191—स्थावर तरंग सिद्धान्त के अनुसार उत्तरी अन्ध महासागर की सम-ज्वार रेखाएँ

डा० हैरिस ने उत्तरी अन्ध महासागर की ज्वारीय लहरो का अध्ययन कर एक मानचित्र प्रस्तुत किया है जिसमें भँवर बिन्दुओं तथा सम-ज्वार रेखाओं को बताया गया है। उसके प्रयोग से यह ज्ञात हुआ है कि अन्ध महासागर मे ज्वार-भाटा स्थावर लहर के द्वारा ही उत्पन्न होता है। इस लहर की दिशा हमेशा उत्तर-दक्षिण रहती है। गणित द्वारा भी यह प्रमाणित होता है कि अन्ध महासागर मे आने वाले ज्वार इस लहर के दोलन के काल के अनुसार ही आते है, परन्तु ज्वारहीन काल के बारे में इस प्रयोग द्वारा कोई प्रमाण प्राप्त नही हो सके है।

ज्वार-भाटा के प्रकार
(Kinds of Tides)

संसार के विभिन्न महासागरों मे भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्वार-भाटे आया करते है। ज्वार-भाटे के प्रकारो पर चन्द्रमा और पृथ्वी की गतियों का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त महासागरों के विस्तार और अक्षान्तरो का भी इन पर प्रभाव देखा जाता है। विषुवत रेखा के आसपास के समुद्रों मे दिन मे दो बार ज्वार और दो बार भाटा आया करना है जबकि ध्रुवो के निकटवर्ती समुद्रो मे दिन में केवल एक बार ज्वार और एक बार भाटा आया करता है। ज्वार-भाटा अक्षांश तथा देशान्तरो से नियन्त्रित नही होते। कई बार एक ही समुद्र मे समान अक्षान्तरो मे स्थित दो भिन्न बन्दरगाहो मे ज्वार के समय और उसकी ऊँचाई में बडा अन्तर देखा जाता है। सामान्यतः ज्वार-भाटे के निम्न भेद किये जाते हैं :

(1) **वृहत अथवा दीर्घ ज्वार** (Spring Tides)—पृथ्वी पर केवल चन्द्रमा का ही प्रभाव नही होता, वरन् सूर्य भी उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। इसलिए ज्वार के उत्पादन

में चन्द्रमा ही नही सूर्य भी योग देता है। सूर्य पृथ्वी से चन्द्रमा की अपेक्षा 9,27,50,000 मील दूर पडता है। इस कारण प्रतिदिन ज्वार की अभिवृद्धि मे सूर्य का प्रभाव मालूम नही होता। किन्तु इसका प्रभाव उस समय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है जब चन्द्रमा सूर्य के योग से सबसे ऊँचा ज्वार उत्पन्न करता है। अमावस्या (New moon) और पूर्णिमा (Full moon) के दिन सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी तीनो एक ही सीध मे होते है। अत. इन तिथियो पर सूर्य और चन्द्रमा का पृथ्वी पर सयुक्त प्रभाव होता है। अतः इन तिथियो पर अन्य दिवसो की अपेक्षा ज्वार अधिक ऊँचाई तक उठता है। इसकी ऊँचाई औसत ज्वार से 20 प्रतिशत अधिक होती है। इसी को **वृहत या दीर्घ ज्वार** (Spring tide) कहा जाता है।
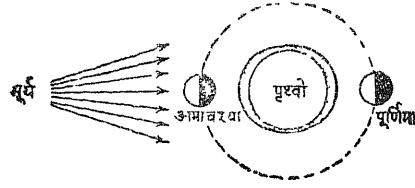
चित्र 192—**वृहत ज्वार**

(2) **लघु ज्वार** (Neap Tide)—अमावस्या और पूर्णिमा के अतिरिक्त अन्य तिथियों पर पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमा की स्थितियाँ बदल जाती हैं। शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष की सप्तमी और अष्टमी को सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति पृथ्वी के केन्द्र से समकोण बनाती है। इस कारण सूर्य और चन्द्रमा दोनो ही पृथ्वी के जल को भिन्न दिशाओं की ओर प्रभावित करते हैं, जिससे ज्वार की साधारण ऊँचाई मे भी कमी आ जाती है। चन्द्रमा के सम्मुख वाले भाग पर कम ऊँचा ज्वार आता है, जो **लघु ज्वार** (Neap tide) कहलाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इन तिथियो को भाटे की ऊँचाई अन्य दिवसों की अपेक्षाकृत अधिक रहती है। इसलिए इन तिथियों को ज्वार और भाटे की जल की ऊँचाई में बहुत कम अन्तर होता है। औसत ज्वार की अपेक्षाकृत लघु ज्वार 20 प्रतिशत नीचा होता है।
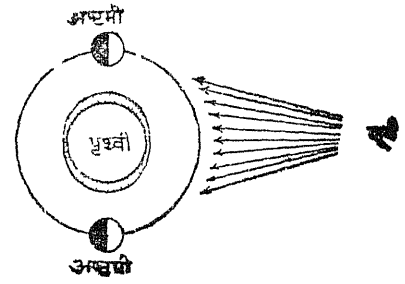
चित्र 193—**लघु ज्वार**

(3) **भूमि-उच्च एवं भूमि-नीच ज्वार** (Apogean and Perigean Tides)—अपनी कक्ष (orbit) पर घूमता हुआ चन्द्रमा जब पृथ्वी के निकटतम अर्थात भूमि-नीच (perigee) स्थिति मे होता है तो उसकी ज्वार उत्पन्न करने की शक्ति औसत शक्ति से कही अधिक होती है। ऐसी अवस्था मे जो ज्वार आता है वह औसत ज्वार से 15-20 प्रतिशत अधिक बड़ा होता है। ऐसे ज्वार को **भूमि-नीच ज्वार** (perigean tides) कहा जाता है।

जब चन्द्रमा पृथ्वी से अधिकतम दूरी अर्थात भूमि-उच्च स्थिति (apogee) में होता है तो उसकी ज्वार उत्पादक शक्ति औसत ज्वार से 20 प्रतिशत कम रहती है। अतः ऐसे ज्वार को **भूमि-उच्च ज्वार** (Apogean tides) कहा जाता है।
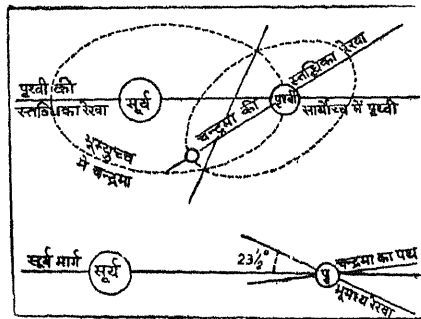
चित्र 194—**सौर्योच्च तथा चन्द्रमा के भूमि-उच्च के समय ज्वार-भाटे पर प्रभाव**

(4) **अयनवृत्तीय ज्वार और विषुवतरेखीय ज्वार** (Tropic Tides and Equatorial Tides)—सूर्य के समान चन्द्रमा भी अपने परिक्रमण के समय विषुवत रेखा के उत्तर और दक्षिण को झुक जाता है। चन्द्रमा का यह झुकाव सूर्य के वार्षिक झुकाव के बराबर होता है किन्तु

चन्द्रमा इसको $29\frac{1}{2}$ दिन के संयुक्त मास (synodi month) मे पूरा कर लेता है। जब चन्द्रमा का उत्तर की ओर दूरतम झुकाव होता है तो ज्वार केन्द्र जो कि उस बिन्दु पर होता है जहाँ चन्द्रमा की किरणें पृथ्वी पर एकदम सीधी पड़ती है— कर्क रेखा के समीप पश्चिम की ओर आगे बढता है। इसी प्रकार विपरीत ज्वार केन्द्र भी मकर रेखा के समीप पृथ्वी के चारों ओर आगे बढता है। इसके परिणामस्वरूप विषुवत रेखा के उत्तर और दक्षिण स्थित कुछ विशेष स्थानों पर क्रमिक रूप से आने वाले ऊँचे और नीचे ज्वार का आकार (size) असमान होता है, परन्तु एकान्तरक (alternate) ज्वार समान आकार के होते है। ज्वार की इस घटना को **ज्वार की दैनिक असमानता** (Diurnal inequality) कहते है।

ज्वार की यह असमानता महीने मे दो बार—जबकि चन्द्रमा का झुकाव अधिकतम होता है—विशेष रूप से होती है। उस समय जो ज्वार आता है उसे **अयनवृत्तीय ज्वार** (Tropic tides) कहा जाता है। ज्वार की असमानता महीने मे दो बार—जबकि चन्द्रमा विषुवत रेखा पर सीधा चमकता है—विलुप्त हो जाती है। इस समय के ज्वार को **विषुवतरेखीय ज्वार** (Equatorial tides) कहा जाता है।

(5) **दैनिक ज्वार-भाटा** (Diurnal Tides)—जब किसी स्थान पर दिन मे केवल
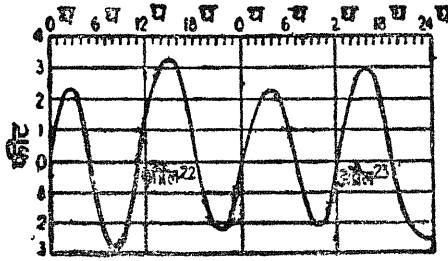
चित्र 195—**दैनिक ज्वार-भाटे की ऊँचाई और अन्तर (न्यूयार्क में)**

एक बार ज्वार-भाटा आता है तो उसे **दैनिक ज्वार-भाटा** कहते है। यह 24 घण्टे 52 मिनट के अन्तर पर होता है।

(6) **अर्द्ध-दैनिक ज्वार-भाटा** (Semi-diurnal Tides)—जब कहीं दिन मे दो बार
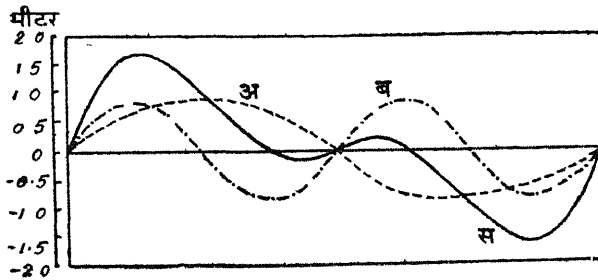
चित्र 196—ज्वार-भाटे के प्रकार : (अ) दैनिक ज्वार-भाटे, (ब) अर्द्ध-दैनिक ज्वार-भाटे, (स) मिश्रित ज्वार-भाटे

ज्वार-भाटा आता है तो उसे **अर्द्ध-दैनिक ज्वार-भाटा** कहा जाता है। यह प्रति 12 घण्टे 26 मिनट पश्चात आता है।

(7) **मिश्रित ज्वार-भाटा** (Mixed Tides)—जब किसी समुद्र में दैनिक तथा अर्द्ध-दैनिक दोनों प्रकार के ज्वार-भाटे आते हैं तो उन्हे **मिश्रित ज्वार-भाटा** कहा जाता है। मिश्रित ज्वार-भाटे मे एक ज्वार अधिक ऊँचा तथा दूसरा कम ऊँचा, और एक भाटा अधिक नीचा तथा दूसरा कम नीचा होता है। अर्थात् प्रात.काल के ज्वार की ऊँचाई तथा मध्याह्न के ज्वार की ऊँचाई मे बहुत अन्तर रहता है।

चित्र 197—मिश्रित ज्वार-भाटे की ऊँचाई और अन्तर (होनोलूलू में)

ज्वार-भाटे पर भौगोलिक बातों का प्रभाव

उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी स्थान पर ज्वार उसी समय आना चाहिए जबकि चन्द्रमा उस स्थान के ठीक सामने पडता हो। इसके अतिरिक्त उस स्थान के देशान्तर पर स्थित सभी स्थानों पर ज्वार का समय भी एक ही हो। साथ-साथ यह भी आशा की जाती है कि ज्वार की लहर पूरब से पश्चिम को चन्द्रमा के साथ-साथ आगे बढती जाय, किन्तु व्यवहार मे ऐसा कभी नही होता। लिवरपूल और लीथ दोनों ही ग्रीनविच के 3° पश्चिम में स्थित है, परन्तु दोनो स्थानों के ज्वार के समय में 3 घण्टे का अन्तर रहता है। अन्ध महासागर मे ज्वार की लहर पूरब से पश्चिम की अपेक्षा सदैव पश्चिम से पूरब की ओर ही चला करती है। ज्वार-भाटे के इस विपरीत व्यवहार के कई कारण है। ज्वार की लहर, ज्वार की ऊँचाई और ज्वार के समय पर समुद्रतट की बनावट, समुद्र की गहराई और समुद्र के धरातल का गहरा प्रभाव पड़ता है।

(1) **ज्वार की लहर**—ज्वार की लहर पर महाद्वीपों की बनावट का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी यदि चारो ओर जल से घिरी हुई होती तो ज्वार की लहर पूर्व से पश्चिम को अबाध रूप से चक्कर लगाया करती। परन्तु उत्तर से दक्षिण को फैले हुए महाद्वीप जगह-जगह ज्वार की लहर के बीच अवरोध खड़े कर देते है, जिससे ज्वार की लहर एक हिलोर के रूप में पृथ्वी का चक्कर न लगाकर, भिन्न-भिन्न समुद्रो मे भिन्न-भिन्न रूप से ज्वार उत्पन्न करती है।

(2) **ज्वार की ऊँचाई**—ज्वार की ऊँचाई और उसकी गति पर समुद्र की गहराई और उसकी तली का अत्यधिक प्रभाव देखा जाता है। समुद्र सभी जगह समान रूप से गहरा नहीं है।

चित्र 198—फण्डी की खाड़ी (ज्वार के समय)

कही वह छिछला और कही गहरा है। समुद्र की तली भी इसी तरह ऊँची-नीची है। पहाड़ियाँ,

द्वीप, मैदान और खड़े ढाल सभी समुद्र की तली पर देखे जा सकते है । खुले महासागरो मे जहाँ पानी गहरा और बाधाओं मे मुक्त होता है—ज्वार की ऊँचाई कम होती है । यहाँ ज्वार की अधिक से अधिक ऊँचाई 5 या 6 फुट होती है । किन्तु जब कभी ज्वार-लहर छिछले सागर अथवा मग्नतट की ओर बढती है तो लहर के आगे बढने मे रुकावट उत्पन्न होती है । लहर का अग्रभाग बाधास्वरूप आगे बढने की अपेक्षा स्थिर हो जाता है, किन्तु पीछे से ज्वार की शक्ति इसको बराबर आगे धकेलती रहती है । इससे लहर की लम्बाई तो घट जाती है परन्तु ज्वार की ऊँचाई बढ जाती है । इस तरह छिछले स्थानों पर ज्वार की ऊँचाई 20 से 30 फुट तक हो जाती है ।

तट की बनावट का भी ज्वार की ऊँचाई पर कम प्रभाव नहीं होता । टेढा-मेढा और कटा-फटा तट ज्वार के मार्ग की दिशा और ऊँचाई दोनो पर प्रभाव डालता है । जहाँ कहीं ज्वार नदियो के मुहाने मे प्रवेश करता है, वहाँ उसकी ऊँचाई बहुत बढ़ जाती है । इससे भी अधिक ज्वार जब स्थल से आबद्ध किसी ऐसी खाड़ी मे प्रवेश कर जाय जिसका मुँह चौड़ा और भीतर की ओर सकीर्ण होने लगे तो ज्वार की ऊँचाई कल्पनातीत हो जाती है । इगलैण्ड के पश्चिम-तट पर लिवरपूल की खाडी और उत्तरी अमरीका के पूर्वी-तट पर फण्डी की खाड़ी ऐसी खाड़ियाँ हैं । यहाँ ज्वार की ऊँचाई क्रमश: 29 फुट और 70 फुट तक देखी जाती है । इसके विपरीत ऐसी खाड़ियों मे जिनका मुँह संकीर्ण और भीतरी अंग चौड़ा हो जाता है, ज्वार की ऊँचाई नाममात्र ही होती है जैसे भूमध्य सागर और बाल्टिक सागर मे बहुत कम ऊँचा ज्वार उठता है । मेक्सिको की खाड़ी में तो ज्वार 2 फुट ऊँचा ही उठा करता है । छोटी झीलों में ज्वार का प्रभाव प्रायः नगण्य ही होता है, परन्तु बडी झीलों मे कुछ हल्का ज्वार आया करता है । जैसे मिशीगन झील में 2 इंच ऊँचा ज्वार आता है ।

(3) **ज्वार का समय**—ज्वार की ऊँचाई के समान ज्वार का समय भी समुद्र-तट की बनावट पर निर्भर करता है । यही कारण है कि भिन्न-भिन्न समुद्रों में ज्वार की ऊँचाई के समान ज्वार का समय भी भिन्न होता है । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रतिदिन प्रत्येक स्थान पर ज्वार का समय बदलता रहता है । प्रत्येक स्थान पर ज्वार आने के निश्चित समय मे कोई अन्तर नही होता । केवल ज्वार के उतार-चढाव के समय के अन्तर मे स्थानीय भेद पाया जाता है । इसका मूल कारण ज्वार की गति है । ज्वार की गति समुद्र की गहराई, स्थल की दूरी और तट की बनावट आदि कई बातों पर निर्भर करती है । अतः ज्वार की गति कभी कम और कभी तेज होती है । अतः भिन्न-भिन्न स्थानों पर ज्वार भिन्न-भिन्न समय पर पहुँचता है और उसके आने के समय में अन्तर पड़ जाता है । इसलिए हम देखते है कि कई जगह दिन मे एक बार, कही दो बार और कही चार बार ज्वार आया करते है । उदाहरणत , मेक्सिको की खाड़ी के कुछ भागों मे प्रतिदिन एक बार ज्वार और एक वार भाटा आया करता है, परन्तु बम्बई, कलकत्ता, शंघाई, लिवरपूल और न्यूयार्क जैसे बन्दरगाहो मे दिन मे दो बार ज्वार और दो बार भाटा आता है । इंग्लैण्ड के दक्षिण-तट पर स्थित साऊथैम्पटन बन्दरगाह मे तो प्रतिदिन चार ज्वार और चार भाटे आया करते है । यहाँ ऐसा होने का मुख्य कारण यह है कि ज्वार की एक शाखा सोलेंट होकर और दूसरी स्पिटहैड होते हुए इस बन्दरगाह मे प्रवेश करती है और इनके प्रवेश के समय मे भी दो घण्टे का अन्तर रहता है । अतः यहाँ प्रति दो घण्टे पश्चात ज्वार और भाटा आता रहता है । इनके अतिरिक्त ताहिती द्वीप के समीप कुछ ऐसी अवस्थाएँ पायी जाती है जिससे वहाँ चन्द्रमा द्वारा कभी ज्वार नही आता । केवल सूर्य के प्रभाव से एक नगण्य-सी बाढ आ जाया करती है जो प्रति 12 घण्टे पश्चात होती है । इस तरह यहाँ वर्ष भर न वृहत ज्वार ही आता है और न लघु ज्वार ही । आगे संसार के मानचित्र में ज्वार-भाटों के प्रकार का वितरण दिखाया गया है । इस मानचित्र से आपको ज्ञात होगा कि अन्ध महासागर के अधिकाश तटों पर अर्द्ध-दैनिक ज्वार-

भाटे आया करते हैं। केवल मेक्सिको की खाड़ी में दैनिक तथा दक्षिणी अमरीका के पूर्वी तटो पर मिश्रित ज्वार-भाटे उत्पन्न होते है। भूमध्य सागर, बाल्टिक सागर तथा पश्चिमी द्वीपसमूह के तटो पर कोई ज्वार नही आता। प्रशान्त महासागर मे इसके विपरीत मिश्रित ज्वार-भाटे की
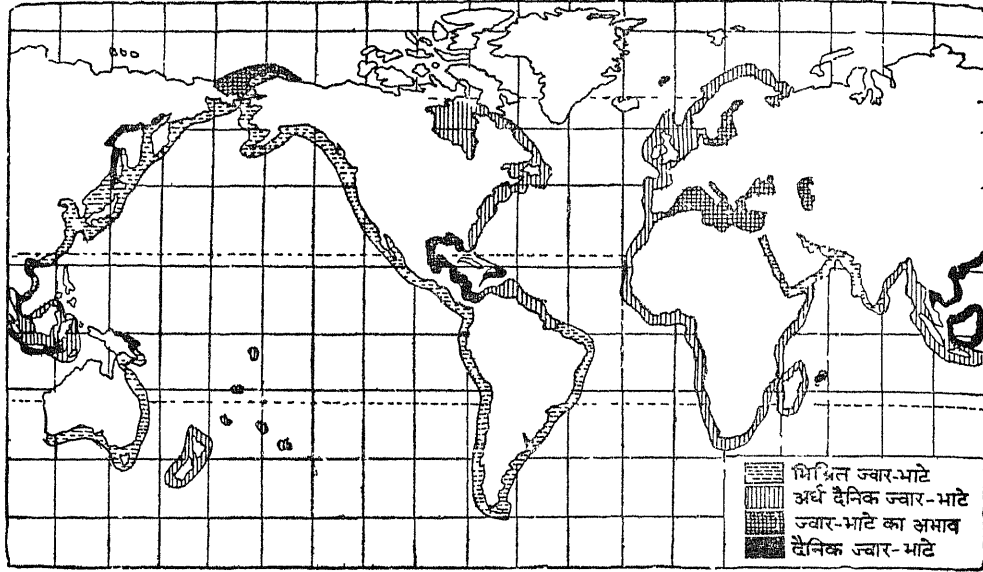
चित्र 199—**संसार के विभिन्न महासागरों में ज्वार-भाटे के प्रकार का वातावरण**

प्रधानता रहती है। जापान एवं फिलीपाइन द्वीपसमूहों मे दैनिक ज्वार-भाटा आता है। हिन्द महासागर में बंगाल की खाडी तथा अफ्रीका के पूर्वी तटों पर अर्द्ध-दैनिक एवं अरब सागरीय किनारो पर मिश्रित ज्वार-भाटे आया करते है।

ज्वार और चन्द्रमा के बीच सम्बन्ध

पृथ्वी अपनी धुरी पर 24 घण्टे में एक पूरा चक्कर लगाती है। इसलिए यह आशा की जाती है कि ज्वार प्रत्येक स्थान पर 12 घण्टे पश्चात आये। परन्तु ज्वार 12 घण्टे के स्थान पर सदा ही 12 घण्टे 26 मिनट बाद आता है। जैसे यदि किसी स्थान पर प्रातः 9 बजे ज्वार आता है तो दूसरा ज्वार रात्रि को 9 बजकर 26 मिनट पर और फिर तीसरा प्रातः 9 बजकर 52 मिनट पर आयेगा। मूल कारण यह है कि चन्द्रमा एक ही स्थान पर स्थिर नही। पृथ्वी का उपग्रह होने के कारण वह उसकी परिक्रमा लगाया करता है। इस कारण एक दिन मे वह अपने स्थान से कुछ आगे बढ जाता है। इसलिए किसी स्थान को दुबारा ठीक चन्द्रमा के सामने पहुँचने मे 24 घण्टे और 52 मिनट लग जाते है। परन्तु इस बीच में चन्द्रमा के सामने वाली स्थिति के विपरीत स्थान पर भी ज्वार आयेगा जो 12 घण्टे और 26 मिनट पश्चात आयगा। उदाहरणत., पास के चित्र मे जब चन्द्रमा अ स्थान पर होता है तो **ख स्थान पर ज्वार आता है। ख स्थान को एक बार घूमकर पुनः अपने स्थान पर आने में 24 घण्टे**

चित्र 200—ज्वार के समय में देरी का कारण

लगते है। इस बीच चन्द्रमा **क** स्थान पर पहुँच जाता है। इस कारण **ख** स्थान पर पुन: उस समय तक ज्वार नहीं आता जब तक कि **ख क** स्थान पर नही पहुँच जाता। चन्द्रमा 28 दिन में पृथ्वी की परिक्रमा पूरी कर लेता है। इसलिए **क ख** इसके वृत्त का $\frac{1}{28}$ भाग है। जब यदि **ख** स्थान 24 घण्टे मे एक पूरा चक्कर लगा लेता है तो इस $\frac{1}{28}$ भाग को वह $\frac{2460}{28}=52$ मिनट में पूरा करेगा। किन्तु इस परिक्रमा के बीच **ख** स्थान पर चन्द्रमा के विपरीत पृथ्वी के दूसरी ओर **च** स्थान पर भी ज्वार आयेगा। यहाँ ज्वार 12 घण्टे और 26 मिनट बाद आयेगा। इस प्रकार प्रत्येक स्थान पर 12 घण्टे 26 मिनट बाद ज्वार और ज्वार के 6 घण्टे 13 मिनट बाद भाटा आता है। ज्वार-भाटे का यह क्रम बराबर चला ही करता है।

बहुत-से लोगो ने बार-बार इस बात का अनुभव किया है कि जब उच्च ज्वार आता है तो चन्द्रमा द्वारा फेकी गयी किसी स्थिर वस्तु (झण्डी, बॉस आदि) की छाया सदैव अपनी विशेष दिशा रखती है। कोलम्बो पर चन्द्रमा के उस देशान्तर को पार करने के लगभग 2 घण्टे बाद ज्वार आता है। इसलिए यदि चन्द्रमा चमक रहा हो और दक्षिण की ओर झुक गया हो तो यह समझ लेना चाहिए कि ज्वार अब दूर नही है। किन्तु मद्रास और करॉची पर उच्च ज्वार चन्द्रमा के उस स्थान के देशान्तर को पार कर लेने के क्रमश: 8 व 10 घण्टे बाद आता है। हम कई बार रात को आकाश की मेघाच्छन्नता से चन्द्रमा को देख नही पाते, परन्तु उच्च ज्वार का समय चन्द्रमा की चाल के अनुसार गणित द्वारा निकाल लिया जाता है।

नदियों के मुहानों पर स्थित बन्दरगाहो—जैसे कलकत्ता, रंगून, मोलमीन आदि—में आने वाले ज्वार के बारे मे भविष्यवाणी करना थोड़ा दुष्कर होता है, क्योकि इनकी विशेष अवस्थाओ—जैसे मुहाने की भू-रचना, छिछला अग्रभाग (Shallow fore shoie) आदि के कारण विशेष आगणन आवश्यक होता है। नीचे कुछ बन्दरगाहो के टाइड टेबुल (Tide table) के अनुसार चन्द्रमा के दक्षिण की ओर झुकने और ज्वार के आने के बीच समय का अन्तर इस प्रकार रहता है।[1]

नदी	बन्दरगाह	ज्वार	भाटा
हुगली	डुबलोट (सागर द्वीप)	35 घण्टे	29 घण्टे
	डायमण्ड बन्दरगाह	36 ,,	32 ,,
	किडारपुर	39 ,,	35 ,,
कर्णफूली, रंगून	चिटगॉव	38 ,,	33 ,,
	एलीफेण्ट पाइण्ट	40 ,,	35 ,,
मोलमीन	रंगून	41 ,,	36 ,,
	एमहर्स्ट	39 ,,	34 ,,
	मोलमीन	40 ,,	37 ,,

ज्वार-भीति
(Tidal Bore)

खुले महासागरों मे ज्वार की लहर एक समान तथा अबाध गति से चलती रहती है। किन्तु जब कभी ज्वार-लहर छिछले जल-भाग में पहुँचती है तो उसका अग्रभाग बाधास्वरूप अवरुद्ध हो जाता है। पिछला भाग इसकी अपेक्षा एकदम अवरुद्ध नही हो पाता, जिससे पिछला भाग शनैः-शनैः अग्रभाग पर आकर जमा होने लगता है, जिससे अग्रभाग की ऊँचाई बढ़ जाती है। यदि लहर मे यह अवरोध अचानक उत्पन्न हो जाय तो अग्रभाग की ऊँचाई इतनी उठ जायगी कि उसका शिखर छिन्न होकर ऊपर से गिरने लगेगा और रेतीले तट पर उसका भग्नोर्मि के अनुरूप ही एक

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 352.

क्रम लग जायेगा। ऐसा प्रायः उस समय होता है जबकि ज्वार-लहर किसी नदी के मुहाने पर पहुंच जाती है। नदी के संकीर्ण मुंह तथा तेज प्रवाह के कारण ज्वार-लहर आगे बढ़ने से रुक जाती है और जल की वहाँ एक दीवार खड़ी हो जाती है। ज्वार की शक्ति से जल की यह दीवार नदी मे आगे घुस जाती है और प्रवाह उल्टा हो जाता है। जल की इसी ऊँची दीवार को ज्वार-भीति (Tidal Bore) कहा जाता है।

संसार की अनेक नदियो मे इस प्रकार की ज्वार-भीति (tidal bore) आया करती है। हुगली नदी मे प्रायः नियमित रूप मे ऐसी ऊँची ज्वार-भीति आया करती है, जिससे बड़े-बड़े जहाज कलकत्ता के बन्दरगाह तक पहुँच जाते है। जब किसी नदी की धारा की चौडाई अपने मुहाने से उद्गम स्थान की ओर एकसी होती है अर्थात उसकी चौड़ाई धीरे-धीरे घटती है तो घर्षण (friction) के कारण ज्वार की ऊँचाई धीरे-धीरे कम होती जाती है। उदाहरणतः, मोलमीन नदी मे जनवरी मे एमहर्स्ट नामक स्थान पर ज्वार की ऊँचाई 19 फुट और 5 फुट के बीच मे और इसी महीने मे मोलमीन नामक स्थान पर 10 से 5 फुट के बीच रहती है। वर्षाऋतु

चित्र 201—सेवर्न नदी में ज्वार-भीति

के सितम्बर मास मे जबकि नदियाँ बाढ से पूर्ण रहती है, एमहर्स्ट स्थान पर ज्वार की ऊँचाई 22 से 5 फुट और मोलमीन मे 12 से 3 फुट तक रहती है। थेम्स नदी मे ज्वार की औसत ऊँचाई शीरनेस (Sheerness) पर 20 फुट, लन्दन-ब्रिज पर 15 फुट और क्यू-ब्रिज पर 7 फुट रहती है। इसके विपरीत, जब नदी की धारा की चौडाई एकदम घट जाती है तो ज्वार की ऊँचाई उसके मुहाने से उद्गम की ओर बढ़ती जाती है। इस प्रकार ब्रिस्टल की धारा (Bristal Channel) के मुहाने पर ज्वार की ऊँचाई लगभग 18 फुट, स्वान सी (Swan Sea) पर 30 फुट और चेप्सटो (Chepstoue) पर करीब 50 फुट होती है। शुष्क महीनों में अर्थात मार्च से मई के बीच हुगली नदी मे ज्वार की ऊंचाई सागर द्वीप पर 11 फुट से 4 फुट, डायमण्ड बन्दरगाह पर 15 से 7 फुट और किदरपुर पर 15 से 7 फुट तक रहती है। लेकिन वर्षाऋतु के सितम्बर मास मे जब नदी मे बाढ़ आती है तो ज्वार की ऊँचाई सागर द्वीप पर 18 से 4 फुट, डायमण्ड बन्दरगाह पर 20 से 7 फुट और किदरपुर पर 16 से 4 फुट के बीच रहती है।[1] चीन की यांगटिसी-

[1] C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 354

क्याग, ब्रिटेन की सेवर्न, फ्रांस की सीन और दक्षिणी अमरीका की अमेजन नदियो मे भी इसी प्रकार की ज्वार-भीति आती है ।

ज्वार-भीति के अन्तर्गत ऊँची उठी हुई जल की दीवार बडी भयंकर और विनाशकारी होती है । ज्वार-भीति जब वेग से आती है तो लंगर डाले हुए जहाज डोलायमान हो उठते हैं; नावे उलट जाती है और जहाजो के मजबूत रस्से भी कच्चे सूत की भाँति टूट जाते हैं । कभी-कभी समूचे जहाज ही नष्ट हो जाते है । इस कारण ज्वार-भीति आने के समय जहाजो के लगर ढीले कर दिये जाते हैं । ज्वार-भीति प्रायः दीर्घ ज्वार (spring tide) के समय ही आती है ।

ज्वारीय धाराएँ
(Tidal Currents)

ज्वार के कारण कभी-कभी तटवर्ती छिछले समुद्रो मे ज्वारीय धाराएँ उत्पन्न हो जाती है । ऐसी धाराएँ मुख्यतः वहाँ जन्म लेती है जहाँ खाडियाँ (bays) सकीर्ण प्रवेश मार्गों द्वारा खुले समुद्रों के साथ मिलती है । ज्वार के समय समुद्रो का जल-तल जिस गति से ऊपर उठता है उस गति से खाड़ियों का जल-तल ऊपर नही उठ पाता । अत दोनो के जल-तल मे अन्तर आ जाता है । फलस्वरूप खाड़ी के अन्दर संकीर्ण प्रवेश मार्ग के द्वारा एक तीव्र द्रव-प्रेरित धारा (hydraulic current) पहुँचने लगती है । इसके विपरीत जब समुद्र का तल गिरकर नीचा हो जाता है तो खाड़ी का तल ऊँचा बना रहता है जिससे तीव्र द्रव प्रेरित धारा खाड़ी से समुद्र की ओर बहने लग जाती है । उदाहरणत , एन्गलिसे (Anglesey) और मुख्य स्थल भाग के बीच मिनाई जल-सन्धि के दोनों ओर उच्च ज्वार का समय भिन्न रहता है, फलस्वरूप वहाँ द्रव-प्रेरित ज्वार-धारा उत्पन्न हो जाती है ।

अरुद्ध नदीमुख और पोताश्रयो मे आने वाली ज्वार-धाराओ में बड़ा विभेद रहता है । ज्वार-धाराओ की तीव्रता ज्वार-भाटे की प्रकृति और तट की आकृति पर निर्भर करती है । जब ज्वार-भाटे का अन्तर अधिक होता है और खाडी की समाकृति अनुकूल होती है तो तीव्र ज्वार-धाराएँ उत्पन्न होती है । ऐसी धाराओ की गति 5 से लेकर 10 और कभी-कभी 12 समुद्री मील प्रति घण्टा तक होती है । ऐसी प्रबल धाराओं के कारण नौ-चालन मे बाधा पड़ जाती है और जहाजों को पोताश्रय के भीतर अथवा बाहर निकलने मे अनुकूल अवस्थाओं के लिए घण्टो प्रतीक्षा करनी पड जाती है ।[1] ये धाराएँ कभी-कभी उच्च ज्वार आने के तीन घण्टे पूर्व और नीचे ज्वार के तीन घण्टे बाद तक बडी तीव्रता से बहती रहती है ।

सम-ज्वार रेखाएँ (Co-Tidal Lines)

महासागरों में ज्वार-लहर एक समान गति से यात्रा नही करती । उसकी यात्रा में जल की विभिन्न गहराई, तलों के साथ घर्षण (friction) तथा ऐसे ही अन्य कारणों से रुकावट पैदा हो जाती है । यद्यपि ज्वार-लहर की गति एक स्थान से दूसरे स्थान को परिवर्तित हो जाती है, परन्तु अधिकतर स्थानों पर उच्च ज्वार का समय एक ही रहता है । यदि हम मानचित्र मे उन समस्त स्थानो को एक रेखा द्वारा मिला दे जहाँ उच्च ज्वार एक ही समय आता है तो वह सम-ज्वार रेखा बन जायगी । एक ही स्थान पर आने वाले ज्वार को बताने वाली रेखा सम-ज्वार रेखा (Co-tidal line) कहलाती है । यदि कोई प्रमुख तरंग दक्षिण हिन्द महासागर के बीच बारह बजे दोपहर को आरम्भ होती है तो यह लहर मेडागास्कर और मालद्वीप समूह पर लगभग आठ घण्टे बाद पहुँचती है । फिर यह अन्ध महासागर में पहुँचकर अन्य लहर से मिल जाती है और ब्रिटिश द्वीपसमूह को दूसरे दिन मध्याह्न को पहुँचती है । प्रशान्त महासागर में उठे ज्वार से भी यह 12 घण्टे बाद जाकर मिलती है ।

---

1 A. N. Straplar : *Physical Geography*, p. 79

ज्वार-भाटे का मानव-जीवन पर प्रभाव

ज्वार-भाटे का मानव-जीवन पर बडा प्रभाव पड़ता है। वर्तमान समय मे अन्तरराष्ट्रीय व्यापार लोगो की आवश्यकताओं को पूरा करने तथा अपनी जीविका चलाने का मुख्य साधन है। यह व्यापार समुद्र द्वारा ही सम्भव हुआ है। बड़े-बडे जहाज समुद्र द्वारा एक देश का माल दूसरे देश को पहुँचाते है। परतु ये जहाज केवल उन्हीं बन्दरगाहो मे ठहर सकते है जहाँ समुद्र काफी गहरा हो। इस दृष्टि से ससार के अधिकतम बन्दरगाह अयोग्य है। किन्तु ज्वार-भाटे के कारण उनकी यह अयोग्यता दूर हो गयी है। ज्वार के समय छिछले बन्दरगाहों मे गहराई बढ जाती है, अत. ज्वार के साथ-साथ जहाज बडे-बडे बन्दरगाह मे प्रवेश कर भाटे के साथ पुन· बाहर आ जाते हैं। इस दृष्टि से उथले समुद्रो, खाडियों और मुहानो पर स्थित बन्दरगाहो के लिए ज्वार-भाटा बडा लाभप्रद सिद्ध हुआ है। दूसरे रूप मे ज्वार-भाटा अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को सरल, सुगम और नित्य बनाये रखने का अनुपम माध्यम है।

ज्वार-भाटे के कारण समुद्र मे निरन्तर एक हलचल रहती है। इस हलचल के कारण नदियो का स्वच्छ मीठा जल और समुद्र का खारा जल आपस म मिलते रहते है। मीठे और खारे जल का यह संयोग बर्फ को गलाने मे सहायक होता है। शीतोष्ण प्रदेशों के बन्दरगाह ज्वार-भाटे के कारण हिम के दूषित प्रभाव से बचे रहते है।

ज्वार-भाटे मे वेग के साथ-साथ एक बडी शक्ति निहित होती है। इस शक्ति के द्वारा यह नदियों के मुहानों और बन्दरगाहो के समीप कभी भी मिट्टी अथवा कूडा-करकट जमा नही होने देता। नदियो द्वारा लायी हुई समस्त मिट्टी और कूडा बन्दरगाहो के समीपस्थ भागो से बहाकर समुद्र में दूर पहुँचा देता है, जिससे नदियो के मुहाने और बन्दरगाह स्वच्छ और व्यापार के योग्य बने रहते है।

वर्तमान समय मे ज्वार-भाटे से शक्ति भी उत्पन्न की जाती है। ज्वार की हिलोर में एक असीम शक्ति विद्यमान रहती है। इस शक्ति का उपयोग करने के लिए फ्रांस तथा सयुक्त राज्य अमरीका में प्रयत्न किये गये है।

यह समझना गलत है कि ज्वार से केवल लाभ ही लाभ होते है। ज्वार-भाटे के कारण कभी-कभी बड़ी भारी क्षति उठानी पडती है। कई बार समुद्र मे ज्वार के कारण तेज धाराएँ और छिछले स्थानों पर ज्वार-भित्तियाँ उत्पन्न हो जाती है। ज्वार की ये धाराएँ और भित्तियाँ जहाजों के लिए बडी खतरनाक सिद्ध होती है। ये जहाजो को अपने मार्ग से पथभ्रष्ट कर उन्हे उलट देती हैं, जिससे केवल जहाज ही नही डूब जाते वरन् बडी सख्या मे धन-जन की भी क्षति होती है।

ज्वार-भाटा अपने नियमित क्रम के कारण सागर तट की चट्टानो को निरन्तर घिसता रहता है और इस प्रकार तट की आकृति में परिवर्तन कर देता है। ज्वार-लहरों के अपरदन के कारण समुद्रतट पर कही कन्दराएँ और कही मेहराब बन जाते है। ज्वार-भाटा कई स्थानो पर छोटे-छोटे कंकड़ जमाकर शैल-पुलिन (Rock Beach) और कई स्थानों पर बालू जमा कर बालू-पुलिन (Sand Beach) का निर्माण करता है।

ज्वार-भाटा सदा ही आदर्श बन्दरगाहो को जन्म देता है। अतएव जिन समुद्रों और नदियो के मुहानो पर नियमित रूप से ज्वार-भाटा आता रहता है, वह सदैव उत्तम बन्दरगाह पाये जाते है; जैसे गगा, राइन, इरावदी, एल्ब, थेम्स और दजला आदि नदियो के मुहानों पर ज्वार-भाटे के कारण ही उत्तम बन्दरगाह स्थित है। इसके विपरीत, भूमध्य सागर मे गिरने वाली नदियो—नील, पो, रोन आदि—के मुहानो पर कोई भी अच्छा बन्दरगाह नही है, क्योकि भूमध्य-सागर स्थल-से आबद्ध होने के कारण ज्वार-भाटे के प्रभाव से मुक्त है।

23
प्रवाल भित्तियाँ एवं द्वीप
(CORAL REEFS AND ISLANDS)

समुद्र मे अनेक प्रकार के जीव पाये जाने है। इन जीवों मे प्रवाल या मूँगा अपनी विचित्रता के कारण भूगोलवेत्ताओ के अध्ययन के लिए आकर्षक विषय है। प्रवाल उष्ण समुद्रों का जीव है। इसका अंग अत्यन्त कोमल और स्पज के समान होता है। अपने कोमल शरीर की रक्षा हेतु यह समुद्र-जल से चूना लेकर कठोर घरौंदे की रचना करता है। प्रवाल जीवो की यह प्रवृत्ति समुद्र में एक ऐसे रूप की सृष्टि करती है जिसका हमे प्रवाल भित्ति के रूप मे बोध होता है। प्रवाल भित्ति की रचना केवल विलक्षण ही नही, अपितु चकित करने वाली होती है। यह बात सहज ही बुद्धिग्राह्य नही हो पाती कि एक छोटा-सा कीड़ा किस प्रकार ऐसी विशाल भित्तियों की रचना कर पाता है। बात यह है कि प्रवाल समुद्र से जो चूना ग्रहण करता है, उसका रस तैयार कर अपने शरीर के निचले भाग के चारों ओर एक आवरण बना लेना है। यह आवरण धीरे-धीरे सख्त घरौंदे का रूप ले लेता है जिसमे कि वह आराम से रहता है। परन्तु ज्योंही वह मरता है त्यों-ही दूसरा उसके शरीर पर जम जाता है और अपना नया घरौंदा बनाने में रत हो जाता है। यही क्रम बराबर चलता रहता है और तब तक समाप्त नही होता जब तक कि मृत मूँगो के शरीर से बनी भित्ति समुद्र की सतह तक नहीं पहुँच जाती। इस प्रकार प्रवाल अपने शरीर के ढाँचों से समुद्र में एक नवीन रूप को जन्म देते है। प्रवाल द्वारा रचित यह नवीन रूप ही **प्रवाल भित्तियाँ** (Coral reefs) कहलाती है।

प्रवाल पानी का जीव है। पानी के बाहर उसका जीवन सम्भव नही है। अतः प्रवाल भित्तियों की रचना भी समुद्री सतह से नीचे ही होती है। समुद्र की सतह से ऊपर केवल वे ही प्रवाल भित्तियाँ है जो ज्वालामुखी के प्रभाव से अथवा पृथ्वी के आन्तरिक परिवर्तनों द्वारा ऊपर उठ गयी है।

प्रवाल जीवों का स्थान

प्रवाल उष्णताप्रिय जीव है। अतः उष्ण समुद्र ही इनके घर हैं। उष्ण कटिबन्धो के समुद्रों में यह बड़ी तेजी से बढ़ते है। इसलिए संसार की समस्त प्रवाल भित्तियाँ साधारणतः 30° उत्तरी अक्षाश और 30° दक्षिणी अक्षांश के बीच ही स्थित हैं। प्रशान्त महासागर और हिन्द महा-सागर इनके प्रमुख घर है। अन्ध महासागर में भी ये बहुलता से पायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त ब्राजील के समुद्रतट से कुछ दूर तथा पश्चिमी द्वीपसमूहों में भी मिलती है। यही नही, उत्तरी समुद्रों और गहरे पानी में भी प्रवाल विद्यमान रहते है, किन्तु वहाँ वे किसी विशेष रूप की रचना नही कर पाते। इसका मूल कारण यह है कि वहाँ उनके विकास के उपयुक्त तापमान का अभाव पाया जाता है।

प्रवाल भित्तियों की रचना के लिए आवश्यक बात

प्रवाल भित्तियो की रचना हेतु निम्न बाते आवश्यक है :

(क) प्रवाल सदा उपयुक्त तापमान मे ही बढते है। अत समुद्र-जल का तापमान 70° फा० के लगभग होना चाहिए। ऐसा तापमान उष्ण कटिबन्ध मे महाद्वीपो के पूर्वी-तट के समीप, जहाँ हवाएँ समुद्र से स्थल की ओर प्रवाहित होती है, पाया जाता है। इसलिए प्रवाल भित्तियाँ भी अधिकांशत. महाद्वीपो के पूर्वी-तटो पर ही पायी जाती है। महाद्वीपो के पश्चिमी-तटो पर तापमान अपेक्षाकृत कम रहता है, क्योंकि हवाएँ स्थल से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। इसलिए महाद्वीपो के पश्चिमी-तटों पर प्रवाल भित्तियाँ कम मिलती है।

(ख) प्रवाल के विकास के लिए सदा खारे पानी की आवश्यकता होती है। स्वच्छ ताजा पानी इसकी वृद्धि के लिए अहितकर होता है। अतः वह स्थान नदियो द्वारा लाये हुए स्वच्छ पानी से दूर होना चाहिए। कैल्शियम कार्बोनेट (जो कि समुद्रजल और गर्म धाराओ मे पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध रहता है) प्रवाल का मुख्य भोजन है। नदियो के ताजा जल मे इसका अभाव होता है। अतः समुद्र मे जितनी दूर तक नदियों के स्वच्छ जल का प्रभाव रहता है, भित्तियों की रचना सम्भव नही होती। यही कारण है कि आस्ट्रेलिया की मूंगे की दीवार तट से लगभग 10 मील दूर है। इस दीवार पर जहाँ कही नदियों के मीठे पानी का प्रभाव पहुँच गया है वहाँ दीवार टूटी हुई है। दीवार के टूटे हुए भागो से ही जहाज महाद्वीप के किनारे तक पहुँचते है।

(ग) प्रवाल के विकास मे पानी मे घुला कीचड या मिट्टी हानिकारक होती है, क्योकि अधिक मिट्टी और कीचड के निक्षेप से प्रवाल की वृद्धि रुक जाती है। इसकी वृद्धि के लिए स्वच्छ जल की आवश्यकता होती है। इस कारण नदियों के मुहानो तथा उन स्थानों पर जहाँ लहरों द्वारा मिट्टी और कीचड़ पानी में मिलता रहता है, प्रवाल का विकास असम्भव होता है। अतः जल का इससे मुक्त होना अति आवश्यक है।

(घ) छिछले समुद्र प्रवाल जीवो के लिए उत्तम स्थान होते है। अधिक गहराई पर पानी का तापमान घट जाता है जो उनके जीवित रहने की अवस्था के प्रतिकूल सिद्ध होता है। इसलिए प्रवाल सदा 30 से 50 फैदम गहराई तक मिलते है। इससे अधिक गहराई पर भित्तियों की रचना सम्भव नहीं होती। परन्तु कही-कही महासागरो के बीच भिन्न आकार की प्रवाल भित्तियाँ इतनी अधिक गहराई पर पायी जाती है, जहाँ उनका जीवित रहना भी सम्भव नही होता। यह एक बड़ी ही विचित्र बात है। प्रवाल द्वीपो से सम्बन्धित यह एक ऐसी समस्या है जिस पर आज भी कोई एकमत नहीं है।

प्रवाल भित्तियों के प्रकार

रचनाक्रम और आकृति के अनुसार प्रवाल भित्तियाँ निम्न प्रकार की होती है :

(1) तटीय प्रवाल भित्ति (Fringing Reef),

(2) अवरोधक प्रवाल भित्ति (Barrier Reef),

(3) वलयाकार प्रवाल भित्ति (Atoll)।

(1) **तटीय प्रवाल भित्ति** (Fringing Reef)—जो भित्ति किसी महाद्वीप अथवा द्वीप के बिलकुल निकट बनी हुई हो वह तटीय प्रवाल भित्ति कहलाती है। ऐसी भित्तियों की रचना समुद्र की नीची जल-सीमा तक सीमित रहती है। अतः ये सदैव जलमग्न रहती हैं। इनका ऊपरी भाग असमान तथा ऊबड़-खाबड़ होता है। इन भित्तियों का प्रसार बाहर की ओर शीघ्र और अधिक होता है जिससे बाह्य भाग समुद्र की सतह के निकट पहले पहुँच जाता है। ऐसी अवस्था में प्रवाल भित्ति और तट के बीच सँकरा और उथला अनूप बन जाता है। इस अनूप में प्रवाल

जीव नही रहते है, क्योकि यहाँ इनको भोजन-सामग्री प्राप्त नही होती। भित्ति का ढाल समुद्र की ओर तीव्र एवं स्थल की ओर मन्द रहता है। फ्लोरिडा, अण्डमान व निकोबार द्वीप के निकट ऐसी भित्तियाँ देखी जाती है।

चित्र 202—तटीय प्रवाल भित्ति

(2) **अवरोधक प्रवाल भित्ति** (Barrier Reef)—जो प्रवाल समुद्रतट से कुछ दूर हटकर बनी होती है, उसे अवरोधक प्रवाल भित्ति कहते है। ये तट के समान्तर काफी लम्बाई मे एक भित्ति के रूप मे बनी होती है। चौड़ाई मे भी ये बहुत होती है। इनकी चौडाई 1000 फुट तक हो सकती है। इनके बीच अनेक घाटियाँ भी हो सकती है। इन भित्तियो और तट के मध्य चौड़े तथा गहरे अनूप होते है। कभी-कभी ये अनूप तीन-चार मील तक चौड़े तथा 250 फुट तक गहरे भी देखे जाते है। इन भित्तियो का प्रसार बाहर की ओर अधिक नही होता। कभी-कभी एक भित्ति के सहारे दूसरी भित्ति भी बन जाती है। जब कभी ये समुद्र-जल की सतह से ऊपर उठ जाती है तो बाहर दृष्टिगोचर होने लगती है। विद्वानो की मान्यता है कि इन भित्तियों की रचना निम्न आधार पर हुई है या इनके निर्माण के बाद समुद्र की गहराई बढ गयी है।

चित्र 203—अवरोधक प्रवाल भित्ति

संसार में अवरोधक प्रवाल भित्तियाँ कई स्थानो पर मिलती है। सबसे बडी अवरोधक भित्ति

चित्र 204—ग्रेट बेरियर रीफ (आस्ट्रेलिया)
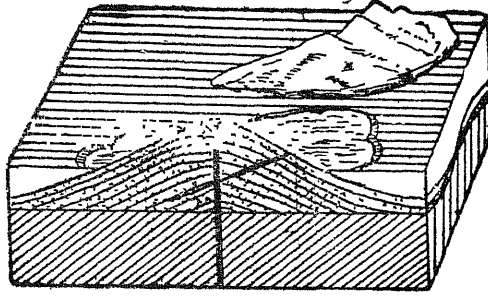
आस्ट्रेलिया के पूर्वी-तट के समान्तर फैली हुई है, जो **महान अवरोधक प्रवाल भित्ति** (Great Barrier Reef) के नाम से प्रसिद्ध है। यह अवरोधक भित्ति लगभग 1200 मील लम्बी और 10 से 90 मील तक चौड़ी है। उत्तर की ओर यह तट से 50 मील और दक्षिण मे 150 मील की दूरी पर पायी जाती है। यह भित्ति अनेक स्थानों पर खण्डित है और केवल नीचे ज्वार (Low tide) के समय ही दृष्टिगोचर होती है। न्यू कैलीडोनियन भित्ति दूसरी बड़ी भित्ति है।

(3) **वलयाकार प्रवाल भित्ति** (Atoll)—जिन प्रवाल भित्तियो की रचना कुण्डलाकार अथवा घोड़े की नाल जैसी आकृति लिए हुए होती है, उन्हे वलयाकार प्रवाल भित्ति कहा जाता है। **डेविस** ने इन भित्तियों को प्रकृति की आश्चर्यजनक रचना कहा है। इन भित्तियो के मध्य मे उथली अनूप होती है। अनूप के बीच में कभी-कभी द्वीप भी मिलता है। ये भित्तियाँ चारो ओर क्रमबद्ध नही होती। ये कुछ स्थानो पर खुली हुई होती है। जहाँ ये खुली हुई होती है वहाँ अनूप समुद्र से जुड़ा रहता है, जिससे समुद्र का जल बराबर अनूप मे प्रवेश करता रहता है। बिकनी द्वीप इस प्रकार की भित्ति का उत्तम उदाहरण है।
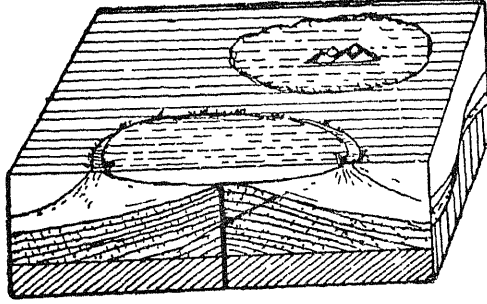
चित्र 205—वलयाकार प्रवाल भित्ति

प्रवाल भित्तियों की रचना

समस्त प्रवाल भित्तियों की रचना समुद्र में बसने वाले प्रवाल तथा अन्य जीवों, जैसे—फोरा मिनीफरा और कलकेरियस एल्गी आदि के सहयोग से होती है। ये कीड़े किसी महाद्वीप या द्वीप के निकटवर्ती छिछले समुद्र-तल पर ही ऐसी भित्तियों की आधारशिला रखते है। बाद मे प्रवाल धीरे-धीरे बढते जाते है और तट से बाह्य भाग की ओर समुद्र मे फैल जाते है। परन्तु सामान्यत: 30 फैदम गहराई से आगे नही बढते। प्रवाल जीवो का ढेर शनै.-शनै. ऊपर भी उठता रहता है और तब तक उठता रहता है जब तक कि वह समुद्र की नीची जल-सीमा को नही छू लेता। इस तरह समुद्र में प्रवाल जीवों द्वारा एक वेदिका (platform) का निर्माण हो जाता है जो 30 फैदम गहराई के बीच समाप्त हो जाती है। वेदिका का ऊपरी सिरा इसी गहराई से ऊपर उठता है। प्रवाल द्वीप के अन्तःभाग की अपेक्षा बाह्य भाग की ओर प्रवाल जीवों का विकास बड़ी स्वतन्त्र गति और शीघ्रता से होता है, क्योंकि वहाँ उनके अधिक अनुकूल अवस्थाएँ प्राप्त होती है। इस कारण प्रवाल भित्ति का बाह्य भाग शीघ्रता से ऊपर उठ आता है और समुद्री सतह को छू लेता है। इससे भूमि-तट और वेदिका के बीच एक अनूप का निर्माण हो जाता है।

उपरोक्त रचना-क्रिया तटीय प्रवाल भित्ति के सम्बन्ध में ही सही ठहरती है। जहाँ तक अवरोधक भित्ति और वलयाकार प्रवाल भित्तियों का सम्बन्ध है, उनका निर्माण समुद्र की उस गहराई से होता है, जहाँ प्रवाल कीड़ों का जीवित रहना भी सम्भव नहीं होता। अतएव इनकी रचना के दो कारण सम्भव हो सकते है—(1) इन भित्तियों का आधार (foundations) प्रवाल जीवों द्वारा निर्मित नहीं है, अथवा (2) इन भित्तियों की रचना के बाद समुद्र गहरा हो गया है। इन दोनों ही सम्भावनाओं को विद्वानों का समर्थन प्राप्त है। अत: यह सम्भावित है कि दोनों ही सच हों। कुछ प्रवाल भित्तियाँ (Coral reefs) प्रथम सम्भावना के अनुसार बनी हों और कुछ द्वितीय सम्भावना के आधार पर।

प्रवाल भित्तियों की रचना के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत आगे दिये जा रहे है :

(1) **डार्विन की साध्य** (Darwin's Theory)—**चार्ल्स डार्विन** के मतानुसार इन भित्तियो की रचना भूमि-तल अथवा समुद्र-तल के नीचे खिसक जाने के कारण होती है। उसकी मान्यता है कि समस्त प्रवाल रचनाएँ प्रारम्भ मे तटीय प्रवाल भित्ति के रूप मे होती है और जब तक भूमि और समुद्र के सापेक्षिक तल (relative level) मे कोई अन्तर नही आता, भित्ति का निर्माण उसी रूप मे होता रहता है। किन्तु
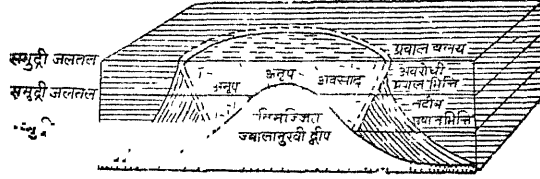
चित्र 206—डार्विन के अनुसार तटीय, अवरोधक एवं वलयाकार प्रवाल भित्ति की रचना

ज्योंही भूमि और समुद्र के तल मे अन्तर उपस्थित होता है, भित्ति जल के भीतर डूबने लगती है। ऐसी अवस्था मे प्रवाल जीव पुन ऊपर की ओर बढने लगते हैं और धीरे-धीरे समुद्र-तल को छू लेते हैं। प्रवाल जीव प्रवाल भित्ति के बाह्य भाग की ओर ही शीघ्रता से बढते है। भीतरी भाग की ओर उनका विकास बहुत ही क्रमिक (gradual) होता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रवाल भित्ति का केवल बाहरी भाग ही समुद्र-तल के नीचे धँसने की क्रिया के साथ अपने ऊपर उठने की क्रिया को बराबर बनाये रख सकता है। भीतरी भाग अपनी मन्द गति के कारण समुद्र-जल से सराबोर हो जाता है। इस प्रकार भूमि-तट और भित्ति के बीच अनूप (Lagoon) का निर्माण हो जाता है। ज्यो-ज्यो भूमि के नीचे खिसकने की क्रिया बढती जाती है, अनूप अधिकाधिक गहरे और चौड़े होते जाते है। यही क्रिया जब निरन्तर चलती रहती है तो समय पाकर तटीय भित्ति (Fringing reef) तट से दूर हट जाती है और एक दीवार का रूप ले लेती है। इसी दीवार को **अवरोधक प्रवाल भित्ति** (Barrier Reef) कहा जाता है। कभी-कभी तटीय प्रवाल भित्ति का निर्माण किसी द्वीप के निकट होता है और वह द्वीप समय के साथ-साथ बिलकुल ही नीचे धँस जाता है। ऐसी अवस्था मे केवल कुण्डलाकार प्रवाल भित्ति ही शेष रह जाती है जिसके बीच मे एक अनूप बना होता है। यही कुण्डलाकार आकृति वलयाकार प्रवाल भित्ति (Atoll) कहलाती है। डार्विन का यह भी मत है कि यदि उचित गहराई वाला जलमग्न क्रेटर प्रवाल जीवों द्वारा ढक गया है तो वह भी वलयाकार प्रवाल भित्ति के अनुरूप ही दिखाई पड़ेगा।
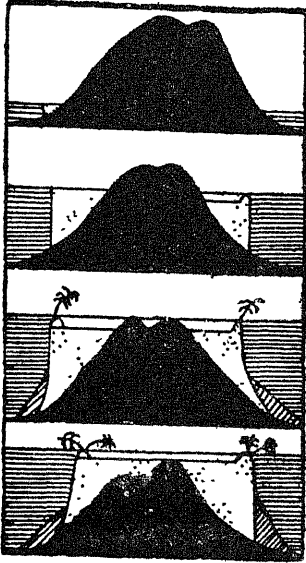
चित्र 207—डार्विन के अनुसार एटोल रचना

डार्विन की **निमज्जन साध्य** (Subsidence Hypothesis) का **डाना** नामक भू-गर्भ-शास्त्री ने भी समर्थन किया है। अपनी खोजों के आधार पर वह भी लगभग उसी निष्कर्ष पर पहुँचा। लेकिन उसने एक बात की ओर विशेष सकेत किया है जो डार्विन के ध्यान मे नही आयी थी। आजकल सभी इसको स्वीकार करते है कि डूबी हुई घाटियाँ (downward valleys) धँसाव (subsidence) का प्रतीक हैं। अत: उसने प्रशान्त महासागर के द्वीपों की घाटियों का धरातली अनाच्छादन (Sub-aerial denudation) द्वारा और समुद्रतटीय खाड़ियो (Shoreline embayments) का निमज्जन द्वारा स्पष्टीकरण किया। **डाना**

ने इसको सही प्रमाणित करने के लिए और भी कई प्रमाण प्रस्तुत किये है। किन्तु वह स्वय अपने मत का भली प्रकार प्रतिपादन न कर सका। **डाना** के इन्ही प्रयत्नो से निमज्जन का साध्य (Subsidence Theory) **डार्विन** और **डाना** दोनों के नाम से प्रसिद्ध है।
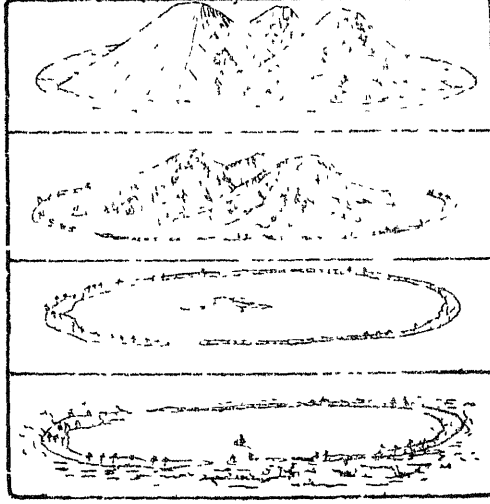
चित्र 208—डार्विन तथा डाना के अनुसार वलयाकार प्रवाल भित्ति की उत्पत्ति के विभिन्न चरण

डेविस का कहना है कि उपरोक्त साध्य से निम्न बातें प्रकट होती है .

(1) अवरोधक प्रवाल भित्ति और वलयाकार प्रवाल भित्ति की रचना वही सम्भव हो सकती है जहाँ पर भूमि नीचे की ओर धँसती रही हो—चाहे भूमि का यह धँसाव काफी धीमा, परन्तु लगातार और क्रम रूप से हुआ हो।

(2) प्रवाल भित्तियो की रचना भूमि-तल के निकट ही होती है तथा भूमि तल के निरन्तर नीचे धँसते रहने से ही वर्तमान आकार बन जाते है। परन्तु भूमि का यह धँसाव भित्ति के ऊपर उठने की गति से अधिक तेज नही होता।

(3) प्रवाल भित्तियों के बीच बने अनूप समावृत्त भाग (enclosed area) होते है, जिनकी गहराई साधारण और नितल समतल (smooth) होते है।

(4) डार्विन के अनुसार तटीय, अवरोधक और वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ है जो सुगमतापूर्वक एक के बाद दूसरी उत्पन्न होती रहती है।

(5) वलयाकार प्रवाल भित्ति की रचना किसी द्वीप के चारों ओर होती है। अत. प्रत्येक वलयाकार प्रवाल भित्ति किसी पूर्व द्वीप की स्थिति को अंकित करती है। इस मत के अनुसार वलयाकार प्रवाल भित्ति के बाहर समुद्र का गहरा होना आवश्यक है, क्योकि बीच के द्वीप का जब लोप हुआ होगा तो भूमि का धँसाव भी काफी हुआ होगा।

अनुकूल प्रमाण

डार्विन द्वारा प्रतिपादित मत कई प्रमाणो द्वारा सिद्ध होता है :

(1) जिन समुद्रतटों पर अवरोधक प्रवाल भित्तियाँ खडी है, उन स्थानों पर कई बार देखा गया है कि तट एकदम कटा-फटा है और लहरों के प्रभाव से बनने वाली भृगुओ (cliffs) का तट पर कोई चिह्न नहीं है। यदि कही पहले भृगुएँ थी भी तो वे अब निमज्जन के कारण लुप्त हो गयी हैं। तटो पर बनने वाली खाड़ियाँ भी वस्तुतः नदियों के द्वारा बनने वाली घाटियाँ है जो निमज्जन के कारण बाद मे डूब गयी।

(2) प्रशान्त महासागर मे ऐसे कई स्थान मिलते हैं जो जलमग्न वेदिकाओं (sub-marine benches) अथवा समुद्री विक्षेपो के रूप में ऊपर उठे हुए दिखाई देते है। ऊपर उठे हुए इन स्थानों पर कोई प्रवाल रचना नही दिखाई देती। जिन स्थानो पर प्रवाल रचनाएँ दिखाई पड़ती है उनके ऊपर उठने के प्रायः कोई चिह्न दृष्टिगोचर नही होते।

(3) ऐसे छोटे-छोटे द्वीप जो प्रवाल भित्तियो द्वारा घिरे हुए है और जिनको वलयाकार प्रवाल भित्ति (Atoll) कहना अधिक सही होगा, के किनारे बहुत ही खड़े ढाल वाले हैं। ये ठीक

पहाड़ की चोटियो से मिलते है। इन द्वीपों का छोटा रूप निमज्जन द्वारा ही स्पष्ट हो सकता है। यदि इनका निमज्जन नही हुआ तो फिर इनका ढाल खड़ा कदापि नही हो सकता।

(4) प्रवाह भित्तियों की बड़ी मात्रा में मोटाई भी यही सिद्ध करती है कि वे नीचे धँसते हुए आधार (subsiding foundation) पर बनी है। प्रवाल जीव अधिक गहराई में नही पनपते। वे अधिक से अधिक 150 फुट की गहराई तक भली प्रकार पनपते हैं। किन्तु कुछ ऐसी वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ (Atoll) देखने को मिलती है जो समुद्र में 500-600 फुट ऊपर उठी हुई है। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य है कि उनका आधार धीरे-धीरे नीचे धँसता रहा है। जितनी शीघ्रता से आधार नीचे धँसता रहा उतनी ही शीघ्रता से ऊपर भित्ति की रचना होती रही।

(5) समुद्र मे कई अवरोधक और वलयाकार प्रवाल रचनाएँ स्वय डूबी हुई पायी जाती है। इस बात का पता ध्वनीकरण यन्त्रो द्वारा लगा है। इनसे यह प्रमाणित होता है कि निमज्जन इतनी शीघ्रता से हुआ कि स्वयं भित्तियाँ नीचे बैठ गयी और ऊपर की रचना बन्द हो गयी।

(6) सन् 1947 मे बिकनी द्वीप (Bikni Ils) मे एक वृत्ताकार चट्टान मे गहरा छेद करने से प्राप्त प्रवाल के प्राचीन रूपो की खोज यह बताती है कि एक निरन्तर बहुत लम्बा निमज्जन (long continued submergence) सम्पन्न हुआ है।

प्रतिकूल प्रमाण

(1) सामान्यतः डार्विन के विचारो को मानने मे कई कठिनाइयाँ है। सबसे पहली और बड़ी कठिनाई भूमि-तल के नीचे धँसने के विचार को मानने मे ही होती है। यह सम्भव है कि भूमि-तल निरन्तर नीचे खिसकता रहा हो और इस तरह अवरोधक तथा वलयाकार प्रवाल भित्तियों की रचना सम्भव हो गयी हो, किन्तु जिस निमज्जन का अनुमान डार्विन ने किया है उसको मान लेने मे थोड़ी शका होती है।

(2) प्रशान्त महासागर मे कई वलयाकार रचनाएँ ऐसे स्थानो पर पायी जाती है जहाँ निमज्जन के कोई चिह्न प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत वहाँ उन्मज्जन (elevation) के स्पष्ट कारण मौजूद है। **पैल्यू द्वीप** (Pelew Ils) तथा प्रशान्त महासागर के अनेक दूसरे द्वीपसमूहो मे प्रवाल रचनाएँ समुद्र-जल की सतह से बाहर निकली हुई हैं। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वहाँ भूमि निश्चित रूप से ऊपर उठी है।

(3) **डार्विन** के अनुसार अवरोधक और वलयाकार प्रवाल रचनाओं की गहराई प्रायः दो हजार फुट या अधिक होनी चाहिए। परन्तु **मरे** के मतानुसार ऐसी प्रवाल रचनाओं का ऊपरी 30 फैदम भाग ही प्रवाल द्वारा बना होता है जो वहाँ पाये जाते हैं। यह भी देखा गया है कि कई ऊपर उठी हुई रचनाओ मे प्रवाल की मोटाई 200 फुट से अधिक नहीं है। साथ ही यह भी विश्वास किया जाता है कि इनकी यह मोटाई शायद ही कभी बढ़ी हो। कई वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ समुद्र के ऊपर उठी हुई पायी जाती है। इनके परीक्षणों मे मालूम हुआ है कि प्रवालों के निक्षेप की गहराई 200 फुट से कम है। **सोलोमन** द्वीपसमूह मे **सेण्टअन्ना** (Sante Anna) और जावा के दक्षिण मे **क्रिसमस द्वीप** (Christmas Ils) इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(4) कभी-कभी वलयाकार प्रवाल भित्तियाँ बहुत ही कम गहराई पर पायी जाती है। ये जलमग्न पठार के ऊपर खड़ी हुई पायी जाती है, न कि नीचे डूबी हुई चोटियों पर।

(5) सोलोमन द्वीपसमूह में कई प्रवाल रचनाएँ ऐसी लाल चिकनी मिट्टी पर स्थित है जो सिर्फ महासागरो मे बहुत ही गहराई पर पायी जाती है। यह उदाहरण भी इस तथ्य को प्रकट करता है कि वहाँ बड़ी मात्रा मे उन्मज्जन (elevation) हुआ है।

(2) **मरे की साध्य** (Murıay's Theory)—**सर जॉन मरे** (Sir John Murray) ने भूमि के निमज्जन सम्बन्धी विचार का खण्डन कर नवीन मत का प्रतिपादन किया। उसका मत है कि यदि प्रवाल भित्तियो का निर्माण भूमि के निमज्जन से नही हुआ है तो उनका आधार जीवित जीवाणुओं की अपेक्षा मृत जीवाणुओ का बना होना चाहिए। उसके इस विचार का **सेम्पर** (Semper), **अगासीज** (Agassız), **वार्टन** (Whaıton) और **गार्डिनर** (Gardineı) प्रभृति विद्वानो ने भी समर्थन किया है।

मरे का कहना है कि समय के साथ तटीय प्रवाल भित्तियों का विस्तार प्रारम्भिक 30 फैदम सीमा-रेखा से भी आगे सम्भव हो सकता है। क्योकि 30 फैदम सीमा-रेखा तक जब प्रवाल भित्ति का विस्तार हो जाता है तो उससे छोटे-छोटे टुकड़े टूट-टूटकर प्रवाल भित्ति के नीचे जमा होने लगते है। इस प्रकार विना किसी निमज्जन के ही प्रवाल भित्ति का विस्तार गहरे पानी मे हो जाता है। किन्तु ऐसी प्रवाल भित्तियो का ऊपरी 30 फैदम भाग ही जीवित प्रवाल के द्वारा निर्मित होता है। उसके बाद गहरे पानी मे प्रवाल भित्तियो से टूट-टूटकर गिरने वाले पदार्थ का एकत्रित मलबा ही उनका आधार होता है, जो शनै -शनै जल के प्रभाव से कड़ा हो जाता है। तत्पश्चात जैसे-जैसे प्रवाल भित्ति बाहर की ओर बढती जाती है, भीतर की ओर प्रवाल जीव लुप्त होते जाते हैं। बाद मे ये मरे हुए प्रवाल जीव जल मे घुल जाते है। इस प्रकार धीरे-धीरे समुद्र-तट और प्रवाल भित्तियो के बीच एक अनूप बन जाता है जिससे तटीय प्रवाल भित्ति अवरोधक प्रवाल भित्ति में बदल जाती है।

वलयाकार प्रवाल भित्ति के बारे मे **मरे** का विचार यह है कि इनका निर्माण समुद्र मे उसकी तली से ऊपर उठे हुए जलमग्न द्वीपो, पठारो, पहाडियो, कगारो अथवा वेदिकाओ के ऊपर होता है। समुद्र मे उठे हुए इन पठारों और पहाडियो की ऊँचाई ऐसी होती है कि उस गहराई पर प्रवाल जीवित रह सके। इन जलमग्न पहाड़ियों, द्वीपो व वेदिकाओ पर प्रवाल अपना शीघ्र प्रभाव जमा लेते है और वे ऊपर तथा बाहर को ओर बढने लगते है। किन्तु ऐसे स्थानो पर प्रवाल-जीवो का विकास बाहर की ओर ही अधिक होता है। इस कारण वही सर्व प्रथम सतह के समीप पहुँचता है। फिर चूँकि यहाँ प्रवाह भित्ति का ऊपर की ओर विकास चारों ओर से होता है इस कारण वह एक वलयाकार आकार ग्रहण कर लेती है और उसके बीच मे एक अनूप स्थित रह जाता है। जब वलयाकार प्रवाल भित्ति इस अवस्था तक पहुँच जाती है तो जीवित प्रवाल केवल समुद्री भाग की ओर ही सीमित रहते है। इन प्रवाल भित्तियो के भीतर की ओर मृत प्रवालो (dead coıals) के शरीर का ढेर रहता है। जो शनैः-शनैः जल में घुलता रहता है और जिससे अनूप गहरे तथा चौड़े होते रहते है। परन्तु प्रवाल भित्ति के बाहर का विकास बराबर बना रहता है। इससे वलयाकार प्रवाल भित्ति का आकार भी समय के साथ बढ़ता रहता है।
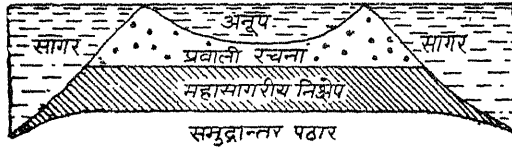
चित्र 209—मरे के अनुसार एटोल की रचना

अनुकूल प्रमाण

(1) यह निर्विवाद सत्य है कि कई उथले समुद्रों मे प्रवाल रचनाएँ जलमग्न पठारो पर पायी जाती है।

(2) कई बार परीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि प्रवालो के जमाव की गहराई 200 फुट से अधिक नही है। सेंण्ट अन्ना और क्रिसमिस द्वीप इसके सुन्दर उदाहरण है।

(6) अगासीज (Agassiz) ने भी वलयाकार प्रवाल भित्ति के निर्माण के बारे मे मरे के समान स्थिर और पूर्ववर्ती वेदिकाओ की कल्पना की है। उसका मत है कि इन जलमग्न वेदिकाओं का निर्माण समुद्री तरगो के अपरदन से हुआ है। इन वेदिकाओ पर प्रवाल जीवों ने निवास प्रारम्भ किया और वहाँ भित्ति का निर्माण होता रहा। भित्ति कालान्तर मे जल-तल से ऊपर निकल आयी। इसका मध्य भाग समुद्री तरंगो के अपरदन से नीचा हो गया और वहाँ अनूप बन गयी। इस प्रकार वलयाकार प्रवाल भित्ति की रचना हुई। गुप्पी (Guppy), ह्वार्टन (Whaiton), गार्डिनर (Gardiner) आदि विद्वानों का भी यही मत है।
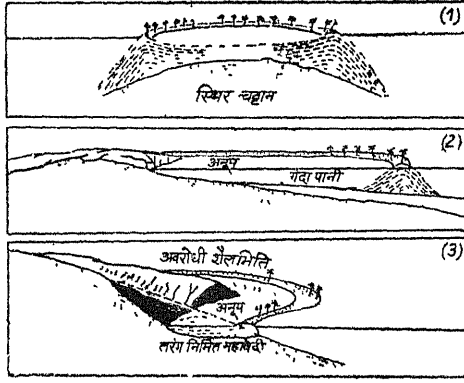
चित्र 210—रेन, वाघन व अगासीज के अनुसार एटोल की रचना

डेली की हिम नियन्त्रण साध्य (Glacial Control Theory of Daly)—जब सन् 1909 मे डेली (Daly) ने हवाई द्वीप की प्रवाल रचनाओ का निरीक्षण किया तो उसका ध्यान उनकी सकीर्णता की ओर आकर्षित हुआ। साथ ही साथ वहाँ उसने मोना-की (Monna-kea) में अधिनूतन हिमयुग (Recent glaciation) के चिह्न भी देखे। इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रवाल भित्तियों के विकास और तापमान मे अवश्य सम्बन्ध होना चाहिए। इसी आधार पर खोज करके उसने बाद में हिम नियन्त्रण साध्य का विकास किया, जिसका कि पूरा विवरण उसने सन् 1915 मे प्रकाशित किया।

डेली ने बताया है कि आजकल हवाई द्वीप के समुद्रों मे जाडे का तापमान (winter temperature) प्रवाल जीवो के विकास के लिए आवश्यक तापमान से थोड़ा ही अधिक रहता है। अत. उसने यह अनुमान लगाया कि हिमयुग मे यहाँ का तापमान इतना कम रहा होगा कि उसमें प्रवाल जीवों का जीवित रहना सम्भव न हो सका होगा। इस प्रकार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हवाई द्वीप की प्रवाल रचनाएँ अवश्य ही हिमयुग के बाद की हैं। अब तो प्राय: सभी लोग यह मानते है कि अधिनूतन हिमयुग (Pleistocene Ice Age) में महासागरो का तल (Level of Oceans) ऊँचा-नीचा होता रहा है, अतएव सागर तल (ocean surface) के नीचे होने के साथ-साथ समुद्र का तापमान भी कम हुआ होगा, जिसका प्रभाव विश्वव्यापी हुआ होगा। डेली के मतानुसार अधिनूतन हिमयुग मे सागर तल 33 से 38 फैदम नीचे हो गया था। सागर-तल के नीचे चले जाने से हिमयुग से पूर्व समुद्र मे बनी प्रवाल रचनाएँ तथा ज्वालामुखी द्वीप बाहर निकल आये होंगे। समुद्र-जल से ऊपर उठे हुए इन द्वीपों और प्रवाल भित्तियों पर समुद्र लहरों का प्रभाव हुआ होगा। लहरों के अपरदन कार्य से कालान्तर में वे क्रमश: जलमग्न वेदिकाओं में बदल गये होंगे। तदनन्तर जब पुनः धीरे-धीरे तापमान बढ़ा होगा तो हिम टोपियाँ (Ice caps) पिघली

चित्र 211—डेली के अनुसार एटोल की रचना

होंगी, जिससे न केवल समुद्र का तल ही पुन: ऊपर उठा होगा, अपितु जल का तापमान भी बढा होगा। इस प्रकार जो प्रवाल जीव हिमयुग में भी जीवित रह सके होगे, उन्होने निम्न तल के अपघर्षण (Low level abiation) द्वारा बने जलमग्न वेदिकाओ पर नवीन रचनाओ को जन्म दिया होगा।

डेली ने अपने अध्ययन के आधार पर अन्त मे यह निश्चित किया कि धरातल और वलयाकार प्रवाल भित्तियों के अनूपों की गहराई सदा एकसमान होती है। अनूपो के नीचे ठोस चट्टानी वेदिकाएँ क्रमश 200 से 300 फुट की गहराई पर स्थित होती हैं। उसकी यह भी मान्यता है कि हिमयुग मे यह प्रदेश स्थिर रहा होगा। हिमयुग के समय स्थिर द्वीपों का लहरों द्वारा अपरदन होने से ही जलमग्न वेदिकाओं (submarine platforms) का निर्माण हुआ। उसने इस बात पर जोर दिया है कि प्रवाल रचनाओ के ये आधार पूरे हिमयुग तक स्थिर रहने चाहिए जिससे कि अनूपो की गहराई एक समान रह सके।

डेली का हिम नियन्त्रण साध्य वस्तुत: एक ऐसा नवीन और मौलिक साध्य है जो प्रवाल समस्या को भलीभाँति समझने के लिए निम्न-तल के अपघर्षण (low level abration) की एक महत्त्वपूर्ण युक्ति (criteria) प्रस्तुत करता है।

अनुकूल प्रमाण

(1) इस सिद्धान्त के पक्ष मे सबसे प्रबल प्रमाण अनूपो की एकसमान गहराई का पाया जाना है।

(2) वलयाकार प्रवाल भित्तियो का ऊपरी धरातल सदा चपटा होता है जो इस साध्य के अनुकूल ही है। निम्न-तल का अपघर्षण (low level abration) इस सिद्धान्त का आधारभूत तथ्य है। इसके अनुसार प्रवाल भित्ति का धरातल चपटा ही होगा।

(3) हिमयुग में सागर जल के तल (level) का ऊपर उठना और नीचे गिरना एक प्रकट सत्य है।

इस सिद्धान्त को मानने मे **डेविस** ने निम्न आपत्तियाँ उठायी हैं :

(1) **डेविस** ने सर्वप्रथम अनूपो की एकसमान गहराई के प्रति शका प्रकट की है। उसका कहना है कि एक ही वलयाकार प्रवाल भित्ति के अन्दर गहराई मे 120 से 300 फुट तक अन्तर होता देखा जाता है। कुछ छोटी प्रवाल भित्तियों की गहराई 20 फुट ही होती है, जबकि दूसरों की गहराई 300 से 600 फुट तक होती है। फिर कुछ जलमग्न वेदिकाएँ 1000 फुट की गहराई पर पायी जाती है।

(2) डेली ने खाड़ियो (inlets) की गहराई नापकर यह अनुमान लगाया कि अधिक से अधिक निमज्जन (subsidence) 270 फुट हुआ है। डेविस ने निमज्जन को नापने की इस विधि का खण्डन किया है, क्योकि खाड़ियों की गहराई समुद्र से उनकी अन्तिम सीमा तक नहीं नापी गयी (प्रवालों से ढके रहने के कारण)। उसका विचार है कि निमज्जन 270 फुट से कही अधिक है।

(3) डेविस की यह भी मान्यता है कि हिमयुग मे जब सागर-तल नीचा हुआ होगा तो लहरो के अपरदन के कारण वेदिकाओ का ही नहीं, द्वीपों की भुजाओं के किनारे भृगुओ (sea cliffs) का निर्माण भी अनिवार्य है। परन्तु बहुत ही कम स्थानों पर ऐसा पाया जाता है। अतएव डेविस ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस समय में प्रवाल भित्तियो ने ही भूमि की रक्षा की है।

(4) डेली ने उन समुद्री क्षेत्रो की स्थिरता पर बहुत जोर दिया है जहाँ ये प्रवाल भित्तियाँ पायी जाती है। इसके विपरीत डेविस ने बताया है कि वर्तमान ज्ञात अस्थिर क्षेत्रो मे प्रवाल भित्तियाँ भी साधारणत. एकसमान गहराई पर पायी जाती है। इसलिए डेविस ने सामान्य गहराई वाली प्रवाल भित्तियों को स्थिरता के प्रमाण के रूप मे उपस्थित करने पर डेली की कडी आलोचना की है।

(5) **डेविस की साध्य** (Theory of Davis)—डाना ने अपने मत की पुष्टि में कटी-फटी तट-रेखाओ (embayed shore lines) के महत्त्व को स्वीकार किया था। किन्तु वह अपने विचारों को पूरी तरह आगे नही बढा सका।

प्रथम महायुद्ध के बाद **डेविस** (Davis) ने प्रवाल रचनाओं की समस्या मे रुचि ली और उसने अपनी निरन्तर खोज और अध्ययन के द्वारा इस समस्या (coral reef problem) पर पत्र-पत्रिकाओं में काफी लिखा और प्रकाशित किया। उसका यह सब करने का प्रयोजन डार्विन के निमज्जन साध्य (Subsidence Theory) की साधारण सत्यता को फिर से प्रकट करना था। इस प्रकार डेविस ने कोई नवीन सिद्धान्त या मत का प्रतिपादन नही किया, अपितु उसने डार्विन के विचारों को ही आधुनिक भू-आकृति विज्ञान (Physiography) की खोज के प्रकाश मे आगे बढाया।

वस्तुतः इस समस्या में कटे-फटे समुद्र-तट (embayed shore lines) का पाया जाना बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है। लगभग उन सभी तटो पर जहाँ प्रवाल भित्तियाँ पायी जाती है, गहरी लम्बी खाडियाँ दिखाई पडती है। भूमि के निमज्जन की मात्रा का सही ज्ञान वहाँ की चट्टानी दीवारों के झुकाव से मालूम होता है। कोई भी ऐसी साध्य (theory) जो कि स्थिर अवस्थाओं की कल्पना करती है, इन तथ्यों का स्पष्टीकरण नहीं कर सकती किन्तु विशेष अवस्थाओ में ही सम्भवत भृगुओ (cliffs) का निर्माण हुआ हो। अत वर्तमान अवस्थाओं में प्रवाल भित्तियो के आधार-निमज्जन (subsidence) के बारे मे किसी प्रकार की शंका हो ही नही सकती। वर्तमान डूबे हुए तट और भृगुओ (cliffs) का अभाव—जो कि भित्तियो की रक्षा करती है—प्रवाल भित्तियों के आधार के निमज्जन के कारण ही पाये जाते हैं। निमज्जन साध्य (Subsidence Theory) यह भी पूरी तरह स्वीकार करती है कि धँसते हुए भू-खण्ड पर प्रवाल भित्ति का विकास बड़ा ही असुविधाजनक होता होगा।

डेविस ने अन्य स्थान पर यह भी बताने की चेष्टा की है कि महान अवरोधक भित्ति (great barrier reef) का जन्म क्वीन्सलैण्ड तट पर ही ठीक समान्तर भ्रंश (faulting parallel) के ऊपर हुआ है। अतः यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि प्रवाल भित्तियाँ भ्रंशन आधारों (faulted foundation) पर भी पनप सकती है।

स्थिर साध्यों (standstill theories) को मानने मे दूसरी कठिनाई मलबे के निष्क्रमण के बारे मे होती है, जो प्रवाल भित्ति और धरातल से अनूप में एकत्रित होता रहता है। यह भी सत्य है कि अनूपों में इस प्रकार के मलबे की अधिकता प्रवाल जीवों की पैदावार के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। किन्तु यदि हम निमज्जन को ही मान लेते है तो मलबे को एकत्रित होने के लिए बराबर गहराई धारण करती हुई अनूप में काफी स्थान प्राप्त हो जाता है और उस मलबे का प्रवाल अथवा भित्ति पर कोई प्रभाव नही होगा।

इस परिकल्पना का सबसे बड़ा गुण इसकी विशालता और विशेष प्रवाल भित्तियों को स्पष्ट करने की क्षमता में निहित है। समस्त प्राचीन मत जिन्होंने स्थिर समुद्र-तल (fixed sea level) की कल्पना की है, कुछ दृष्टियों मे अवश्य ही गलत है। यही नही, उपरोक्त कारणों से

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे आधुनिक भू-आकृति विज्ञान के विचारों से काफी दूर है। उनका नवीन विचारों के साथ कोई साम्य नही है।

डार्विन की साध्य को भू-आकारों के आधुनिक अध्ययन के प्रभाव मे परखकर डेविस ने बडा महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। उसने यह सिद्ध करने के लिए कि अन्य विचारों की तुलना मे निमज्जन सम्बन्धी विचार ही अवरोधी और वलयाकार प्रवाल भित्ति को स्पष्ट करने मे समर्थ है, कई ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये है।

फिर भी अभी बहुत कुछ शेष है। समस्त प्रवालियों को स्पष्ट करने के लिए कोई एक मत लागू नही हो सकता। इसलिए अलग-अलग और विशेष प्रवाल रचनाओं का विस्तृत अध्ययन आवश्यक है। वर्तमान समय मे विद्वानों का मत और उनका झुकाव निमज्जन की साध्य को मान लेने की ओर ही अधिक है। जैसा कि **स्टीयर्स** ने कहा है, "In mean time the trend of opinion is in favour of subsidence and that is largely due to the reorientation of the problem by W. M. Davis."[1]

निष्कर्ष—प्रवाल रचनाओं के विकास के सम्बन्ध में विरोधी प्रमाणो की उपलब्धि के कारण किसी एक स्वीकृत निश्चय पर पहुँचना कठिन है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रवाल रचनाओं के भिन्न कारण हैं। कुछ निमज्जन के कारण बनी है और कुछ ऐसे स्थानो पर बनी हैं जहाँ भूमि का कोई निमज्जन ही नही हुआ है।

इस समस्या का अन्तिम रूप से हल निकालने की आशा में दक्षिण प्रशान्त महासागर के ऐलिस द्वीपसमूह मे स्थित फूनाफूटी नामक वलयाकार भित्ति (atoll) से लगभग 1114 फुट गहरा छिद्र किया गया। छिद्र की प्रारम्भिक 150 फुट की गहराई तक फोरेमिनिफेरा (Forominifera) प्रवाल तथा अन्य जीव पाये गये। 150 फुट से 748 फुट की गहराई तक से प्राप्त पदार्थ अधिक टूटा-फूटा था और उसमे प्रवाल तथा अन्य जीव विद्यमान थे। 748 से 1112 फुट तक गहराई से निकला पदार्थ पूर्व-पदार्थो की भाँति ही था, परन्तु वह थोड़ा कडा था। इस प्रकार छिद्र मे निकले पदार्थो से यह ज्ञात हुआ कि उसका लगभग समस्त भाग प्रवाल द्वारा बना है। इस तरह प्रयोग द्वारा निकले परिणाम निश्चित रूप से डार्विन की परिकल्पना के ही अधिक अनुकूल है। छिद्र में कहीं से भी ऐसे कोई पदार्थ नहीं निकले जो कि मरे की परिकल्पना को सिद्ध करते हों।

अभी हाल के समय में संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार द्वारा बिकनी द्वीप की वलयाकार प्रवाल भित्ति (Bikani Atoll) में उद्जन बम (Hydrogen Bomb) के परीक्षण किये गये थे। इन परीक्षणों के परिणामस्वरूप उठी भूकम्प की लहरों के अध्ययन से पता चलता है कि पहले 2000 फुट तक मूंगे की चट्टान का पदार्थ (Reef Material) एकत्रित था। इसके बाद 5500 फुट और 1300 फुट के मध्य टूटे-फूटे ज्वालामुखी पदार्थ अथवा चूने के पत्थर का हो सकता है और सम्भवत: उसका आधार (basement) ज्वालामुखी हो सकता है।

ऊपर दिये गये तथ्यों के आधार पर प्रवाल रचनाओं की उत्पत्ति के बारे में दिये गये साध्यों के विषय मे भली-भाँति विचार किया जा सकता है।

प्रवाल भित्तियों का मानव-जीवन पर प्रभाव

यद्यपि प्रवाल भित्तियाँ प्रकृति की एक अद्भुत रचना है और उसकी जानकारी बड़ी ही विस्मयकारी और रुचिकर है, किन्तु मानव उपयोग की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व नहीं है। प्रवाल रचनाएँ मानव विकास के लिए बहुत कम अवसर प्रदान करती है। ऐसे द्वीपों के निवासी बड़ा ही आरामप्रद और आलस्यपूर्ण जीवन बिताते हैं। अपनी जंगली अवस्थाओं से आगे नहीं बढ

---

1 J. A. Steers: *The Unstable Earth*, p. 291

सकते, क्योंकि उनके अपने वातावरण की वे सीमाएँ और विभिन्न आकार तथा पैदावार वाले प्रदेशो की उनसे दूरी उनको किसी के लाभ उठाने का मौका नही देती ।

समुद्र-जल मे प्रवाल भित्तियो की कुछ ही ऊँचाई के कारण उनको हमेशा भूकम्प की लहरो द्वारा द्वीप के पददलित हो जाने का डर रहता है । कभी-कभी खुले समुद्रो से बिना बाधित आने वाले भयकर तूफानो (हरीकेनों) का भी प्रकोप हो जाता है जिससे भीषण लहरें तटों पर तांडव नृत्य उपस्थित कर देती है । तूफान के साथ आने वाली हवाएँ एक के बाद एक नारियल के पेडो को धराशायी कर देती है जो कि उनके जीवन का एकमात्र अवलम्ब होता है । उनके भोजन तथा छोटी-मोटी अनेक कलात्मक वस्तुओ की आवश्यकताएं उन्ही से पूरी होती है । इन द्वीपो पर नदी-नाले नहीं होते, अत उन्हे पीने के पानी का बड़ा भारी कष्ट रहता है । वर्षा का जल ही इनका सहारा रहता है जो कि छोटे-छोटे खड्डो आदि मे भर जाता है । परन्तु शुष्क मौसम मे फिर जल की बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है । बरमूडा (Beımuda) जैसे द्वीपो मे जहाँ काफी आबादी है, पानी की बडी कठिनाई रहती है । अभी हाल में वहाँ कुछ कुएँ खोदे गये है ।

यहाँ भूमि पर मिट्टी की बहुत हल्की परत पायी जाती है, अत. मिट्टी मे बहुत ही कम उपजाऊ तत्त्व होते है । इसलिए भूमि किसी भी उपज के लिए अच्छी नही होती । ज्वालामुखी उभाड़ से निकले झामक (pumıc) प्राय तटो पर आकर एकत्रित हो जाते है ।

कुछ लोगो ने तैरते हुए झामक (pumıc) (जो कि प्राय: तटो पर आकर एकत्रित हो जाते है) को एकत्रित करना और उनका अपने छोटे खेतों मे खाद के रूप मे प्रयोग करना सीख लिया है । मछलियों के अवशेष और समुद्री घास (sea weed) का भी इसी तरह प्रयोग होता है और यहाँ केले, टमाटर आदि कुछ फल पैदा हो जाते है ।

चित्र 212—प्रशान्त महासागर की हो एटोल

कभी-कभी अन्य स्थानों से तैरकर आये हुए पेड़ और लट्ठों के साथ कंकड़, पत्थर लगे रहते हैं । अतः यहाँ के सब निवासी सदा इन तैरती हुई जड़ो और वनस्पति चीजों को ढूँढने मे लगे रहते है, जिससे वे उन पत्थरो को प्राप्त कर सकें । पत्थरो के द्वारा ये लोग अपने औजार और हथियार बनाते है । कुछ द्वीपों में तो ऐसी वस्तुओ की खोज राज्य करने वाले राजा की सम्पत्ति समझी जाती है ।[1]

---

1 A. K. Loback : *Geomorphology*

पशु-पक्षियो में यहाँ चिड़ियाँ बहुत होती है। किन्तु भारी-भरकम जन्तुओ का यहाँ पूरा अभाव है। जब तक अन्य स्थानो से आने वाले जहाजो के साथ चूहे आदि न आ गये, यहाँ इनका भी निशान न था। समय-समय पर यहाँ रहने वाले विदेशी लोगो के द्वारा कुछ घरेलू पशुओ का आयात जरूर हुआ है।

प्रशान्त महासागर में पायी जाने वाली प्रवाल रचनाओ में उनकी खोज के समय कुल जनसंख्या एक अच्छे आकार वाले शहर से अधिक न थी और यह जनसख्या भी सयुक्त राज्य अमरीका से दुगुने क्षेत्रफल मे बिखरी हुई थी और उसमे से शायद आधी भूमि खेती के उपयोग मे आती थी। यहाँ पर प्राय गाँव अनूप के सहारे वसे होते हैं।

संसार की प्रसिद्ध प्रवाल रचनाओ में वेक द्वीप (Wake Island) प्रसिद्ध है। यह द्वीप अन्तर-प्रशान्त हवाई मार्ग (Tians-Pacific air route) का एक महत्त्वपूर्ण अड्डा भी है।

24
समुद्रतट और तट-रेखाएँ
(SEA COAST AND SHORE LINES)

पृथ्वी पर यत्र-तत्र बिखरी हुई प्रकृति की सुरम्य रचनाओ में गिरि-शृंगो के बाद विशाल समुद्रो का दृश्य ही अद्वितीय लगता है। किसी समुद्रतट के ऊपर खड़े होकर समुद्र की विशाल जल-राशि को देखकर किसका मन प्रफुल्लित नही हो उठता ? किसी भू-प्रदेश के भीतरी भाग मे रहने वाले मनुष्यो के लिए तो तट-रेखा एक नवीन ससार को ही खोलकर रख देती है। तट-रेखा से दूर क्षितिज के पार छिपी हुई अनोखी भूमि का नया आश्चर्य आँखों मे नाचने लगता है। यही नही, तट के ऊपर लहरो के आने-जाने का क्रम और उनका थिरकना तथा ज्वार से जल का ऊपर उठना और नीचे गिरना सब यह सोचने को विवश कर देते है कि समुद्र अनादिकाल से—जब से महाद्वीपो और महासागरो का जन्म हुआ—इसी प्रकार उत्ताल तरगो और ज्वार-भाटों से खेलते रहे है। साथ ही क्षितिज के पार तक फैले हुए समुद्र की विशालता अनन्त समय की याद दिला देती है।

अनादिकाल से जहाँ पृथ्वी का स्थल भाग वर्षा और नदियो से आक्रान्त रहा है, वहाँ समुद्रतट समुद्री लहरो से सघर्ष झेलता रहा है। अत. जो कुछ तट-रेखाएँ आज हम देखते है, कई भौगोलिक क्रियाओ का प्रतिफल है। समुद्रतटो का जो आकार आज दिखाई देता है, विगत काल मे सम्भवतः उनका आकार और ही रहा होगा। **वेगनर** (Wegner) ने विपरीत महाद्वीपों की तट-रेखाओ को एक-दूसरे के साथ जोडने का सफल प्रयास कर उक्त बात को स्पष्ट भी कर दिया है। उदाहरणतः, उसने उत्तरी-पश्चिमी यूरोप के तट को उत्तरी अमरीका के पूर्वी-तट के साथ और भारतीय तट को अफ्रीका के तट के साथ सम्बद्ध होना बताया है। उसका कहना है कि यद्यपि ये तट-रेखाएँ आज एक समान नही है, परन्तु बीते युग में ये कभी एकसी रही है जैसा कि इनके बीच पायी जाने वाली मोटी समानताओ से प्रकट होता है। परन्तु इन तट-रेखाओ के रूप को चूँकि हजारो वर्ष व्यतीत हो चुके है, अतः उनके रूप मे भारी परिवर्तन हो गया है।

समुद्रतट एवं तट-रेखा

समुद्र और स्थल के बीच सगम-स्थल को **समुद्रतट** (Sea coast) कहा जाता है। **जॉनसन** के अनुसार, समुद्रतट उस तटीय क्षेत्र का नाम है जो भृगु (cliff) के पीछे स्थित होता है। **तटरेखा** (shore-line) समुद्र और स्थल की मिलन-रेखा होती है। अधिकाशतः भृगु-रेखा ही तट-रेखा को बनाती है परन्तु कभी यह उस रेखा द्वारा निर्धारित होती है जहाँ कि प्रचण्ड तूफानी लहरें पहुँचती हैं। **तट** (shore) के अन्तर्गत वह क्षेत्र आता है जो समुद्र के छिछले भाग से भृगु के आधार तक फैला होता है। सामान्यतः तट के दो भाग किये जाते है :

(क) अग्र-तट (Fore-shore)—जो न्यूनतम नीची जल-रेखा (lowest low water line) और औसत ऊँची जल-रेखा (average high water line) के बीच विस्तृत होता है।

(ख) पृष्ठ-तट (Back-shore)—जो ऊँची जल-रेखा (high water line) से तट-रेखा तक फैला होता है।

तट-रेखा का विकास और उसके प्रकार

स्थल के उन्मज्जन (emergence) तथा निमज्जन (submergence) के कारण ही तट-रेखा का आविर्भाव होता है। किन्तु तट-रेखा का स्वरूप अनेक बातो पर निर्भर करता है। तट-भूमि और उसकी शैलो की प्रकृति, लहरे, धाराएँ, नदी, हिमनदी एव वायु आदि वाह्य शक्तियों का प्रभाव, ज्वालामुखी क्रिया, प्रवाल विकास और मानव-कार्य (नदी-मुख को गहरा करना, बन्दरगाह बनाना एव तट-बाँध का निर्माण आदि) उनके रूप-विन्यास को प्रभावित करते है। तट-रेखा के विकास मे समुद्री लहरों एव जल-स्थल की गति का विशिष्ट हाथ रहता है। इस प्रकार तट-रेखाएँ कई भौगोलिक क्रियाओ का प्रतिफल है।
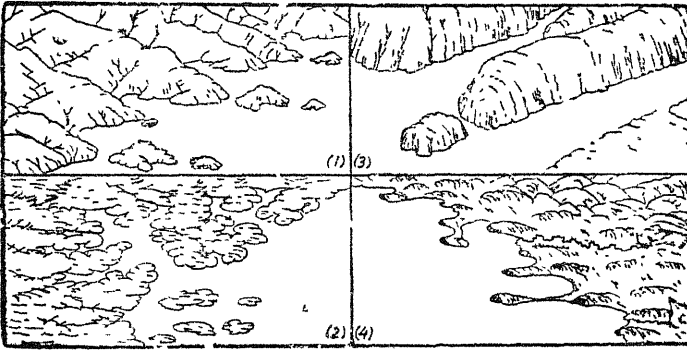
चित्र 213—निमग्न एवं उन्मग्न तट-रेखाएँ

संसार में सर्वत्र तट-रेखाएँ नहीं मिलती। इनके कई भेद है। जॉनसन ने उत्पत्ति के आधार पर तट-रेखाओं के निम्न भेद किये है :

(1) उन्मग्न तट-रेखाएँ, (2) निमग्न तट-रेखाएँ,
(3) तटस्थ या नकारात्मक तट-रेखाएँ, (4) सश्लिष्ट तट-रेखाएँ।

जॉनसन द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त वर्गीकरण अपूर्ण है। ऐसी कई तट-रेखाएँ है जिन्हें जॉनसन द्वारा बताये किसी भी प्रकार मे सम्मिलित नही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसमे कई अन्य दोष भी है।

चूँकि तट-रेखाओं के अनेक प्रकार है, अत. स्ट्रेलर ने उनकी उत्पत्ति और विकास के आधार पर निम्न भेद किये है :

(1) **निमग्न तट-रेखाएँ** (Shore-lines of Submergence)—ऐसी तट-रेखाएँ किसी भू-भाग के जलमग्न हो जाने से बनती है। प्राय. ये तट-रेखाएँ टेढ़ी-मेढी अथवा वक्राकार (curved) होती है। भू-प्रदेश का निमज्जन या तो समुद्र-तल मे परिवर्तन हो जाने के कारण अथवा भू-गर्भित शक्तियों की हलचल के कारण होता है। भूमि के इस प्रकार निमज्जन से बनी तट-रेखाएँ बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। इनमे नदी-घाटियाँ खाड़ियो मे और डूबे हुए पहाड़ी भाग अनुतटीय चट्टानी द्वीपो में बदल जाते हैं। लहरों के क्षयकारी प्रभाव से बाद मे इन तट-रेखाओं पर कई रूप उत्पन्न हो जाते है।

(क) **रिया-तट** (Ria Coast)—रिया-तट किसी उच्चतटीय भू-प्रदेश के निमज्जन का परिणाम होता है। ऐसे उच्च भू-प्रदेश की नदियाँ एवं पहाड़ियाँ जब समुद्रतट से समकोण के रूप मे मिलती है तो उनके निमज्जन के फलस्वरूप रिया-तट की रचना होती है। यहाँ निमज्जन से समुद्र का जल नदी-घाटियो में बहुत दूर तक घुस आता है और नदी-घाटियाँ खाडियों मे बदल जाती है। अतः ऐसी खाड़ियो को जिनकी आकृति कीप (Funnel) के समान होती है अर्थात जिनकी चौड़ाई और गहराई स्थल की ओर कम होती जाती है, **रिया** (Ria) कहते है। ये रिया समुद्र की बाहुओं के रूप मे स्थल मे घुसे रहते हैं। इनके कारण एक बहुत ही कटे-फटे एव टेढ़े-मेढे तट की रचना होती है। ऐसे तट को ही **रिया-तट** (Ria coast) कहा जाता है। इसके निर्माण मे निमज्जन के अतिरिक्त सापेक्षिक समुद्री अपरदन एव भ्रंश क्रिया का भी योग होता है। उत्तरी-पश्चिमी स्पेन, दक्षिणी-पश्चिमी आयरलैण्ड तथा न्यू इंगलैण्ड का मेन तट इसके अच्छे उदाहरण है। इंगलैण्ड का कार्नवाल प्रदेश, बाल्टिक सागर तथा उत्तरी सागर के तट भी ऐसे ही है। ये तट समुद्र की ओर क्रमशः ढालू होते है। अतः ऐसे तटो पर समुद्र से स्थल भागों तक पहुँचना सरल होता है। यही कारण है कि ऐसे समुद्रतटो पर नदियो की एस्चुअरी पर उत्तम बन्दरगाह बन जाते है। इगलैण्ड का प्रसिद्ध लन्दन बन्दरगाह थेम्स नदी की एस्चुअरी पर स्थित है।
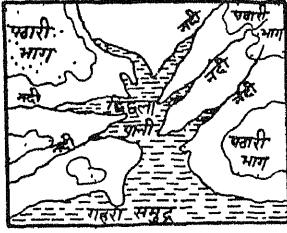
रिया तट

चित्र 214—रिया-तट

(ख) **फियोर्ड तट** (Fyord Coast)—ऐसे उच्च भू-भागों (high lands) में जहाँ पहले हिमनदियाँ बहती रही हो और बाद मे वे घाटियाँ जलमग्न हो गयी हो वहाँ फियोर्ड तट की रचना होती है। हिमनदियो की घाटियाँ प्रायः लम्बी और बहुत कम टेढ़ी-मेढ़ी होती है। घाटी का गहरा अपरदन होने से इसकी दीवारें सपाट और तीव्र ढाल वाली होती है। ऐसी हिमनदी घाटियो के जलमग्न हो जाने पर तट पर असाधारण रूप से लम्बी, सकीर्ण और ऊँचे कगारों वाली गहरी खाड़ियाँ बन जाती है। तट-भूमि मे घुसी हुई समुद्र की ऐसी लम्बी बाहुओं (arms) को **फियोर्ड** (Fyord) कहा जाता है। ये फियोर्ड गहरी हिम-द्रोणियों (glacial troughs) के निमज्जन के कारण बनते है, इसलिए इनमे प्राय· हिमनदी घाटियों की सभी विशेषताएँ पायी जाती है। इनकी आकृति अंग्रेजी के यू (U) अक्षर के समान होती है तथा इनमे लटकती घाटियाँ और रूण्डित पर्वत स्कन्ध (truncated spur) पाये जाते है। फियोर्ड की तली प्राय. समुद्र की तली से कुछ अधिक गहरी होती है। फियोर्ड की अनेक शाखाएँ होती है जो समकोण बनाती हुई मिलती है। फियोर्ड और उनकी शाखाओं की साधारण रूपरेखा चतुर्भुजाकार होती है। ऐसे फियोर्ड नॉर्वे तट पर अधिक मिलते है। यहाँ स्केण्डिनेविया के प्राचीन पठार पर हिम के अपरदन की अधिकता से स्कॉटलैण्ड की तुलना में अधिक गहरे और तीव्र ढालयुक्त फियोर्ड मिलते है। जैसे नार्वे का प्रसिद्ध **सोगने** (Sogne) फियोर्ड 5,000 फुट ऊँचे जोस्टेडेल्सब्रेयन पठार से 28° से 34° ढाल के साथ समुद्र-तल से 3,000 फुट नीचे तक चला गया है। इसकी एक **नियरो** फियोर्ड शाखा निरन्तर 50° से अधिक ढाल रखती है। सोगने फियोर्ड 100 मील लम्बा और 3 मील चौड़ा है। इसकी गहराई कही-कहीं 4,000 फुट तक नापी गयी है। ट्रोण्डहीम (Trondheim) 75 मील, हारडंगर (Hardanger) 70 मील और सोर (Sor) 23 मील, नॉर्वे के अन्य प्रसिद्ध फियोर्ड हैं।[1]
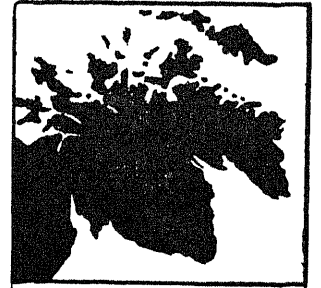
फियोर्ड तट

चित्र 215—**फियोर्ड तट**

[1] F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 255

साधारणत प्रत्येक फियोर्ड के मुहाने पर प्रवेश-द्वार (threshold) मिलता है। यह प्रवेश-द्वार ठोस चट्टानों का बना होता है और जिस पर कभी-कभी हिमनिक्षेपित रौड (dibus) बिछे होते है। स्कॉटलैण्ड के तट पर बनी कई खाड़ियाँ (lochs) इस रूप को प्रकट करती है। नॉर्वे के फियोर्ड मे उत्तम प्रवेश-द्वार मिलते है जो 150 से 200 फुट तक गहरे होते है।

यद्यपि फियोर्ड तट की रचना हिम पिघलने के उपरान्त घाटी के धीरे-धीरे जलमग्न हो जाने से होती है, किन्तु इनकी रचना मे भ्रशन तथा भ्रश घाटियों का विशेष योग रहता है। कुछ फियोर्ड कमजोर शैलो की पक्ति के सहारे मिलते है जैसे हारडगर फियोर्ड कठोर स्फाटीय शैलों से परिबद्ध शिष्ट शैलों की अपनति (syncline) के सहारे फैला हुआ है। फियोर्ड की रचना का कारण चाहे कुछ भी रहा हो, यह प्रकट सत्य है कि इन न्यूनतम प्रतिरोधक रेखाओ (lines of least resistance) ने हिमावरण के पूर्व की नदियो को, प्राचीन उच्च भूमि पर गहरी घाटियाँ बनाने मे योग दिया। इन उच्च भूमियो पर अधिनूतन युग (pleistocene period) में हिम टोपियों का विकास हुआ था, जिनसे कई हिमनदियो की उत्पत्ति हुई। इन हिमनदियों ने पूर्वनिर्मित नदी-घाटियो के मार्ग का ही अवलम्बन किया और हिम-द्रोणियो (glacial troughs) को जन्म दिया। अन्त मे निमज्जन के कारण ये घाटियाँ समुद्री बाहुओ मे बदली गयी। किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिमनदियो मे समुद्र-तल से भी गहरा काटने की शक्ति है और उन्होंने वैसा किया भी है। अतः हिमनदियो द्वारा निर्मित गहरी घाटियो के बारे मे निमज्जन को अधिक महत्त्व नही दिया जाना चाहिए।
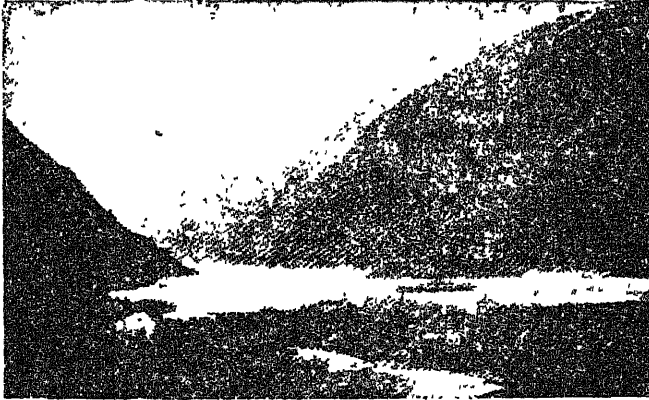
चित्र 216—नॉर्वे का एक फियोर्ड

सामान्यत फियोर्ड तट-रेखा के समान्तर प्राय: निम्न चट्टानी द्वीपो (hummocky islands) की शृंखला पायी जाती है। सम्भवत ये द्वीप डूबी हुई उत्थित तट वेदिका (strandfiat) के बाहर निकले हुए अंश है। इन पर सामान्यत. हिमोढ के निक्षेप पाये जाते है। यह बात मुख्यत: नार्वे तट के लिए बहुत ही उपयुक्त है जहाँ द्वीपो को स्केरीज (Skerries) अथवा स्केरी गार्ड (Skerry guard) कहते है। इन फियोर्ड तथा द्वीपो ने ही यहाँ के निवासियों को समुद्र की ओर उन्मुख होने को प्रेरित किया। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व यहाँ के वाइकिंग्ज (Vikings) [अर्थात् 'विक्स' (Vicks)—खाड़ी या फियोर्ड के आदमी] लोगों ने पश्चिमी यूरोप को आतकित कर दिया और आज भी नॉर्वे विश्व मे ह्वेल पकड़ने, मछली पकड़ने तथा व्यापारिक देशो में अग्रणीय स्थान रखता है।

(ग) **डालमेशियन तट** (Dalmatian Coast)—एड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर अनेक लम्बे व सँकरे पहाड़ी द्वीप देखे जाते है। ये द्वीप समुद्रतट के समान्तर फैले हुए है। वस्तुतः ये द्वीप उन पर्वत-श्रेणियो की चोटियाँ है जो जलमग्न हो चुकी है। समुद्रतट में समान्तर कटाने भी विद्यमान है। तट के समीप उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व की ओर फैली हुई पर्वत-श्रेणियो के जलमग्न होने से ही इस प्रकार के समुद्रतट की रचना हुई। अस्तु, पहाड़ों की लम्बी घाटियाँ तो कटानें बन गयी और जलमग्न शिखर चट्टानी टापू बन गये। इस प्रकार के समुद्रतट को डालमेशियन समुद्रतट (Dalmatian Coast) कहा जाता है। एड्रियाटिक सागर का पूर्वी तट इसका उत्तम उदाहरण है।

(घ) **हैफ तट** (Haff Coast)—हैफ तट-रेखा बड़ी ही नीची और कटाव रहित होती है। इस प्रकार की तट-रेखा का सर्वोत्तम उदाहरण पूर्वी जर्मनी के समुद्र-तट पर मिलता है। यहाँ तट के समान्तर कई लम्बी सँकरी बालू की पट्टियाँ (Strips of land) खडी है जो सचमुच मे बड़े-बडे बालू के टीले है। इन बलुही पट्टियो के बीच उथली लैगून झीलें पायी जाती है, जिन्हें जर्मन भाषा मे हैफ (Haff) कहते है। ये झीले धीरे-धीरे पवन द्वारा लायी गयी बालू अथवा नदियों द्वारा प्रवाहित मिट्टी से भर जाती है। इससे ठीक ऐसी तट-रेखाओ की रचना होती है जैसी कि फ्रास मे गेरोन के दक्षिण मे पायी जाती है। कभी-कभी ये झीले तट से पृथक होकर रेतीले द्वीप बना देती है। द्वीपो की शृखला हॉलैण्ड के उत्तर में देखी जा सकती है। ये समुद्र-तट पोताश्रय के लिए बिलकुल अनुपयुक्त होते है। किन्तु इन पर पशुओ के लिए उम्दा घास उत्पन्न की जा सकती है, जिस पर पशुचारण हो सकता है, जैसा कि उत्तरी हॉलैण्ड में देखा जाता है। इन तट-रेखाओ के पीछे प्राय: विस्तृत मैदान फैले होते है जो काफी उपजाऊ होते है। इससे आवागमन में कोई बाधा नही होती।
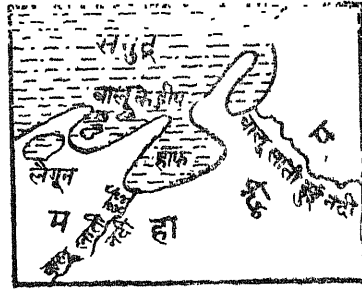
चित्र 217—हैफ तट

निमग्न तट-रेखाओं के विकास की अवस्थाएँ (Stages of Development of the Coast of Submergence)

(i) **प्रारम्भिक अवस्था** (Initial Stage)—प्रारम्भिक अवस्था मे निमग्न तट-रेखा अत्यधिक टेढी-मेढी और वक्राकार होती है जिसमें अनेक खाडियाँ व खलीज तथा डूबी हुई घाटियाँ होनी है। तट के समीप द्वीपों तथा प्रायद्वीपों की शृंखला लगी रहती है। समुद्र की तली भी असमान (irregular) होती है जो पूर्व पहाड़ियों और घाटियों को इंगित करती है। विभिन्न निमग्न तट-रेखाओं की प्रारम्भिक अवस्था मे उस प्रदेश की बनावट आदि के अनुसार भिन्नता देखी जा सकती है।

(ii) **युवावस्था** (Young Stage)—इस अवस्था के प्रारम्भ मे लहरे समुद्रजल के ऊपर निकले हुए भू-भाग तथा द्वीपो के खुले भागों पर प्रहार करती है, जिनसे अत्यन्त विषम, कटी-फटी और वक्राकार तट-रेखा विकसित होती है। इसका मूल कारण यह है कि चट्टानों की छोटी से छोटी जोड़ और सन्धि तथा बनावट की सूक्ष्मतर विषमता लहरों के टकराने को प्रभावित करती है, जिसमे अनेक कमजोर भाग उत्पन्न हो जाते है। ऐसी दशा मे तट-रेखा की चट्टानों मे बहुत सारी विषमताएँ उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। भृगुओं (cliffs) के अनेक रूप इस समय दृष्टिगोचर होते हैं। प्रमुख भृगुओं (main cliffs) के सम्मुख छोटी-छोटी बुर्जियाँ अथवा चिमनियाँ खडी रह जाती है। कमजोर स्थलो को खोदकर लहरे वहाँ समुद्री कन्दराएँ (sea caves) बना देती हैं।

समुद्र मे आगे निकली हुई चट्टान मे बनी कन्दरा (cave) यदि बहुत नीचे तक खुद जाती है और चट्टान ऊपर लटकी रह जाती है तो समुद्री मेहराब (sea-arch) बन जाता है। चट्टान कगारो पर लहरो के घात-प्रतिघात से प्राय. भूमि-स्खलन (land slide) भी होता रहता है।

युवावस्था के विकास-काल मे तट-रेखा के समीप संलग्न भित्तियो (spits) की एक लम्बी कतार और पुलिन (beaches) बन जाते है। चूँकि समुद्र मे बढे हुए भू-भाग और तट से दूर द्वीपो पर सबसे अधिक क्षयकारी प्रभाव होता है इसलिए ये समुद्री लहरो और धाराओ को निक्षेप के लिए सामान प्रदान करते है। यह पदार्थ फिर समुद्रतट के समीप एकत्रित होता है जिससे बाद मे पुलिनो (beaches) का निर्माण होता है। तट-भूमि (sea coast) के समीप इन पुलिनो के नाम—खाड़ी शीर्ष पुलिन (Bay head beach), प्रक्षेपी पुलिन (Head land beach) और खाड़ी पार्श्व (Bay side beach) आदि—उनकी स्थिति को प्रकट करते है। लहरो द्वारा एकत्रित मलबा इस प्रकार यदि प्रमुख भू-भाग से मिलकर एक बाँध जैसा बन गया हो और जिसका एक भाग खुले समुद्र मे हो तो उसे भू-जिह्वा (spit) कहा जाता है। कभी-कभी इसको रोधिका भी कहते है। ये रोधिकाएँ एक भू-भाग को दूसरे भू-भाग से जोड़ती है। जब कभी समुद्र-तट से दूर स्थित द्वीप इन रोधिकाओं द्वारा मुख्य भू-भाग से जुड जाते है तो सयोजी भित्तियाँ (Looped Bar or Tombolas) बन जाती है। इस विकास-काल मे कई अनेक छोटे-मोटे रूप भी तट-रेखाओ मे सम्बन्धित रहते हैं।
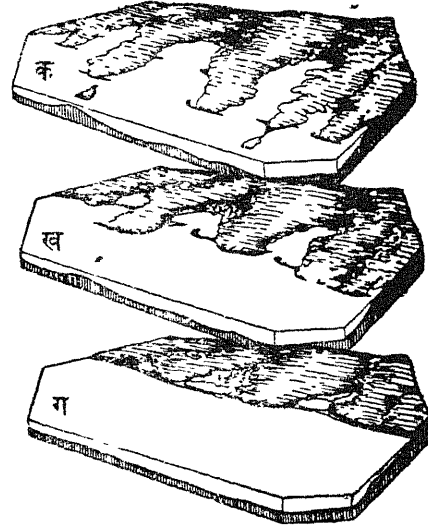
चित्र 218—निमग्न तट-रेखा के विकास की अवस्थाएँ

(iii) **प्रौढ़ावस्था** (Mature Stage)—जब निमग्न तट-रेखा प्रौढावस्था को प्राप्त होती है तो उसकी कई छोटी-मोटी विशेषताएँ लुप्त हो जाती है। समुद्र मे प्रमुख भू-प्रदेश से निकले हुए अग्रभाग कट-कटकर पीछे हट जाते है। खाडियो के मुख पर बाधक श्रेणियाँ एक भू-भाग से दूसरे तक फैल जाती है जिससे खाड़ियों का समुद्र से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। अन्त में वे खाड़ियाँ धरातल से आने वाले पदार्थ से पट जाती है। तट-रेखा की पूर्ण प्रौढावस्था उस समय आती है जब समुद्री तट खाड़ी के अग्रभाग से बहुत दूर हटकर जमीन के भीतर घुस जाता है।

इस प्रकार की तट-रेखा का सुन्दर उदाहरण पश्चिमी भारतीय तट-रेखा है। यहाँ बम्बई के निकट तट-भूमि के निमज्जन के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हुए है। निमज्जन के कारण यहाँ की खाड़ियाँ लॅगून झीलो मे बदल गयी और समस्त जंगली भाग नमकीन जल से निमग्न हो गया। यही नही, भारत का पश्चिमी-तट विशाल निमज्जन का किनारा (edge) बनाता है। यहाँ पहले भारत और अफ्रीका को जोड़ने वाली भूमि तृतीय कल्प (Tertiary Era) के प्रारम्भ मे अरब सागर मे डूब गयी थी। इसी तरह पूर्वी-तट की ओर पाण्डुचेरी के समीप भी निमज्जन हुआ।[1]

(2) **उन्मग्न तट-रेखाएँ** (Shore-lines of Emergence)—समुद्रतट के समीप जल में डूबा हुआ स्थल भाग महाद्वीपीय मग्नतट (continental shelf) कहलाता है। इन तटों पर

1 H.L. Chhibber. *Physical Basis of Geography of India*, p. 92

बराबर नदियों द्वारा प्रवाहित अवसाद जमा होता रहता है। लहरें और धाराएँ भी चट्टानों की चूरचार यहीं जमा करती है। जलमग्न तट पर इस प्रकार मिट्टी, बालू और बजरी आदि के बिछते रहने से तट सपाट और समतल बन जाता है। जब कभी भू-गर्भिक हलचलों के कारण समतल जलमग्न भूमि समुद्र के ऊपर उठ आती है तो पुराने तट के साथ यह नवीन भूमि और मिल जाती है। कभी-कभी सपाट जलमग्न भूमि के उठाने के विपरीत समुद्र का जल (level) नीचे चला जाता है। ऐसी दशा मे भी नवीन भूमि समुद्र के बाहर निकल आती है। यह नवनिर्मित उन्मग्न भू-भाग लगभग समतल जैसा ही होता है। इस समतल मैदान की समुद्र से मिलन-रेखा को ही उन्मग्न तट-रेखा कहा जाता है।

इस प्रकार की तट-रेखा बिलकुल सीधी और सपाट होती है। इसमे खाड़ियों तथा कटानो आदि का प्रायः अभाव रहता है। यही कारण है कि ऐसी तट-रेखाओ मे बहुत कम अच्छे पोताश्रय (Harbour) मिलते है। यातायात तथा व्यापार की दृष्टि से भी यह तट-रेखा महत्त्वहीन ही होती है। ऐसी तट-रेखा के समीप महाद्वीपीय समुद्र भी गहरा नही होता। उत्तरी अमरीका का अन्ध महासागरीय तट ऐसा ही है। भारत का मद्रास-तट भी उन्मग्न तट-रेखा का सुन्दर उदाहरण है। यहाँ कुछ मात्रा मे पूर्व समुद्री नितल के निक्षेप बिछे पाये जाते है तथा कई प्रौढ समुद्री भृगु (Mature sea cliffs) स्थल के भीतर कई मीटर दूर खडी देखी जाती है। ये सब चिह्न उन्मग्न तट-रेखा की ओर ही इंगित करते है।[1]

उन्मग्न तट-रेखा को दो भागो मे बाँटा जा सकता है :

(क) **तटीय मैदान की तट-रेखा** (Coastal Plain Shore-line)—अधिकाश समुद्रो की तट-रेखा के समीप बहुत ही मन्द ढाल वाले और अपेक्षाकृत समतल मग्नतट पाये जाते है।
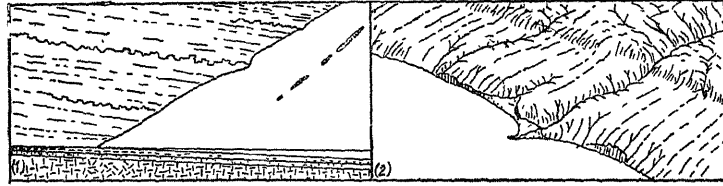
चित्र 219—तटीय मैदान की तट-रेखा

ऐसे मग्नतट उन्मज्जन के कारण जब समुद्र से बाहर निकल आते है तो मन्द ढाल वाले समतल तटीय मैदानो को जन्म देते है। इन मैदानों की तट-रेखा बहुत ही साधारण और सीधी होती है। ऐसी तट-रेखा को तटीय मैदान की तट-रेखा कहते है। सयुक्त राज्य अमरीका के फ्लोरिडा की तट-रेखा ऐसी ही है।

(ख) **तीव्र ढाल वाली उन्मग्न तट-रेखा** (Steeply Sloping Shore-line of Emergence)—कुछ तटो के समीप अन्त समुद्री स्थल की आकृति बडी तीव्र ढाल वाली होती है। अतः यहाँ की तट-रेखा तटीय मैदान की तट-रेखा से भिन्न होती है। यहाँ तट से कुछ दूर पर ही गहरा जल आ जाता है और तटीय क्षेत्र अपेक्षाकृत पहाडी होता है। ऐसी तट-रेखा को **तीव्र ढाल वाली उन्मग्न तट-रेखा** कहते है।

उन्मग्न तट के विकास की अवस्थाएँ (Stages of Development of Emergent Coasts)

(1) **प्रारम्भिक अवस्था** (Initial Stage)—उन्मग्न तट-रेखा की प्रारम्भिक अवस्था को प्राय सीधी समोच्च रेखा (straight contour) द्वारा प्रकट किया जाता है। इसका कारण केवल

1 S. Krishnaswamy. 'The Coast of India,' *The Indian Geographical Journal*, Vol. XXIX, No. 1, p. 19

यही है कि समुद्र अथवा झील के नीचे का नितल प्राय. समतल मैदान होता है जो समुद्र मे अवसाद आदि के निक्षेप से बनता है। निमग्न तट-रेखाओं के समान इसमे उन सब विषमताओ का अभाव रहता है जो भूमि के कटाव द्वारा उत्पन्न होती है। कुछ समुद्री नितल बडे ही ऊबड-खाबड होते है। ये इस बात के द्योतक है कि वे अभी हाल ही मे जलमग्न हुए है। ऐसे प्रदेश जब समुद्र से बाहर निकल आते है तो उनसे बनने वाली तट-रेखा बड़ी टेढी-मेढी होती है। अत ऐसे तटो के लक्षण प्राय निमग्न तट-रेखाओं के अनुरूप ही होते है।
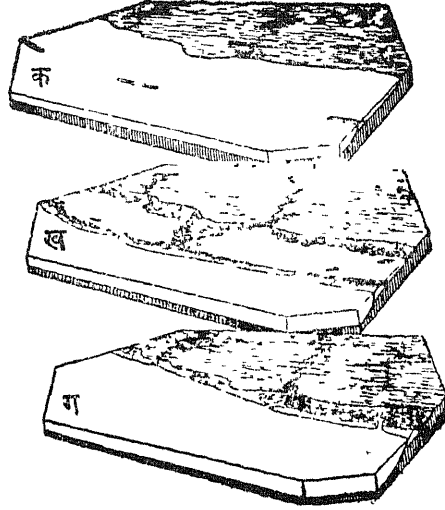
चित्र 220—उन्मग्न तट-रेखा के विकास की अवस्थाएँ

अभी हाल ही मे उठे हुए समुद्र नितल का तट से दूर का ढाल प्रायः बहुत मन्द होता है। फलतः बहुत-सी लहरे तट से दूर ही टकराकर समाप्त हो जाती है। बहुत ही शक्तिहीन छोटी-छोटी लहरे तट की ओर बढती है जो तट-भूमि के कमजोर स्थल को कुरेदती रहती है। इससे समुद्रतट मे छोटे-छोटे अनेक कटाव उत्पन्न हो जाते है। बड़ी-बड़ी उत्ताल तरंगे तट से दूर ही समाप्त हो जाती है और वहाँ समुद्र की तली को काटती रहती है। लहरो द्वारा समुद्री तली का कटा हुआ यह पदार्थ जब ढाल मे अलग फेक दिया जाता है तो तट-रेखा के समा तर एक अन्त समुद्री रोधिका (Submarine bar) बन जाती है। यह रोधिका धीरे-धीरे लगातार बढती रहती है और जब वह समुद्र के ऊपर दिखाई पडने लगती है तो तट-रेखा प्रारम्भिक अवस्था से युवावस्था को प्राप्त हुई समझी जाती है।

(ii) **युवावस्था** (Young Stage)—समुद्र-तट से कुछ दूर हटकर अपतट रोधिका (offshore bar) का निर्माण उन्मग्न तटो की युवावस्था का विशिष्ट लक्षण है। रोधिका और तट के बीच लम्बी सँकरी झील बनी होती है, जिसको अनूप (lagoon) कहा जाता है। ऐसी रोधिकाओं का निर्माण निकटवर्ती समुद्र अथवा तटभूमि से प्राप्त पदार्थ द्वारा होता है। इस अवस्था में तट के बराबर दो या दो से अधिक रोधिकाओ अथवा भित्तियों का पाया जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। तट से दूर लहरें निरन्तर समुद्र-तल को काटकर गहरा करती रहती है और उच्छेदित मलबा भित्ति के पास सचित होता रहता है। यही तट की युवावस्था होती है।

(iii) **प्रौढ़ावस्था** (Mature Stage)—अपतटीय रोधिका (offshore bar) का निर्माण हो चुकने पर समुद्र की लहरों को समुद्र की सतह पर विशेष रुकावट का सामना नही करना पड़ता और वे स्वतन्त्रतापूर्वक भूमि की ओर बढने लगती है। लहरो का आक्रमण तब स्वय रोधिका पर होने लगता है जिससे वह अनूप अथवा दलदल की ओर ठेल दी जाती है। जब अपतटीय रोधिका प्रधान भू-भाग तक ठेल दी जाती है तो तूफानो के द्वारा उत्पन्न भीषण लहरो को समुद्र के भीतर अत्यन्त नुकीला अवरोधक प्राप्त होता है। यह अवस्था तट-रेखा की प्रौढावस्था होती है।

(3) **तटस्थ तट-रेखाएँ** (Neutral Shore-lines)—तटस्थ तट-रेखाओ से आशय उन तट-रेखाओं से है जहाँ तटीय भूमि और समुद्र के बीच कोई सापेक्ष परिवर्तन नही हुआ है, अर्थात् न तो भूमि ही ऊपर-नीचे हुई है और न समुद्र-तल मे ही घट-बढ हुई है। वस्तुतः ऐसी तट-रेखाओ

की रचना किसी अन्य कारण से होती है। जब समुद्र-जल में नवीन पदार्थों के निक्षेपस्वरूप जहाँ कहीं तट-रेखाओं का विकास होता है तो उसे **तटस्थ तट-रेखा** कहते हैं।

तटस्थ तट-रेखाओं की रचना कई प्रकार से होती है। इनकी रचना के आधार पर तटस्थ तट-रेखाओं के निम्न भेद किये जा सकते हैं

(क) **डेल्टा निर्मित तट-रेखाएँ** (Delta Shore-line)—जब समुद्र में नदी द्वारा अपने मुहाने के समीप अवसाद के निक्षेपस्वरूप कोई तट-रेखा बनती है तो उसे डेल्टा निर्मित तट-रेखा कहते हैं।
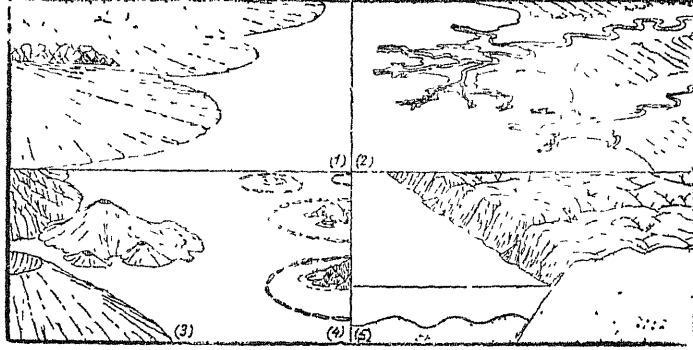
चित्र 221—**विभिन्न तट-रेखाएँ**—(1) **कछारी शंकु तट-रेखा;**
(2) **डेल्टा निर्मित तट-रेखा;** (3) **ज्वालामुखी तट-रेखा;**
(4) **प्रवाल भित्ति तट-रेखा;** (5) **भ्रंश तट-रेखा**

(ख) **कछारी शंकु तट रेखाएँ** (Alluvial Fan Shore-line)—ऐसी तट-रेखाएँ वक्राकार आकृति की होती है। जब कोई नदी अधिक भार के कारण कई शाखाओं में विभाजित होकर अपने मुहाने पर विशाल कछारी शंकु की रचना कर देती है तो वहाँ कछारी शंकु तट-रेखा बन जाती है।

(ग) **ज्वालामुखी द्वारा निर्मित तट-रेखा** (Volcano Shore-line)—जब कहीं ज्वालामुखी उद्गार से निकले लावा के निक्षेप से तट-रेखा बनती है तो उसे **ज्वालामुखी निर्मित तट-रेखा** कहा जाता है।

(घ) **प्रवाल भित्ति निर्मित तट-रेखा** (Coral Reef Shore-line)—ऐसी तट-रेखाएँ उष्ण समुद्रों के छिछले क्षेत्रों में प्रवाल जीवों द्वारा बनती है।

(ङ) **भ्रंश तट-रेखा** (Fault Shore-line)—भू-पटल पर भ्रंशन के कारण कभी-कभी असाधारण तट-रेखाएँ बन जाती है। जब कभी भ्रंशन के कारण भ्रंश-तल के समुद्र की ओर वाली तहें टूटकर समुद्र में नीचे धँस जाती है और शीर्ष भित्ति धँसे हुए खण्ड की ओर होती है तो उससे उत्पन्न तटरेखा को **भ्रंश तट-रेखा** कहते हैं। ऐसी तट-रेखाएँ प्रायः सपाट और सीधी होती हैं। भारत के पश्चिमी-तट की रेखा ऐसी ही तट-रेखा है।

(4) **संश्लिष्ट तट-रेखाएँ** (Compound Shore-line)—जब समुद्र और भूमि के तल (level) में कुछ परिवर्तन होता है तभी संश्लिष्ट तट-रेखाएँ बनती है। इस प्रकार की तट-रेखाओं में भूमि के धँसने और ऊपर उठने दोनों ही से सम्बन्धित विशेषताएँ पायी जाती है। अस्तु, जिन तट-रेखाओं से उन्मग्न और निमग्न दोनों प्रकार के तटों की बनावट के चिह्न मिलते हैं, संश्लिष्ट तट-रेखाएँ कहलाती है। इन तट-रेखाओं के आकार में दोनो प्रकार की—उन्मग्न और निमग्न—तट-रेखाओं के रूप देखने को मिलते हैं। उदाहरणतः, उत्तरी अमरीका के मेन राज्य (State of Main) की तटरेखा स्पष्टतः ही निमग्न तट-रेखा है, परन्तु हाल ही में भूमि के ऊपर

उठ जाने से तट-रेखा के समीप एक छोटे तटीय मैदान का रूप निकल आया है। इसी प्रकार उत्तरी केरोलीना की तट-रेखा प्रारम्भिक रूप मे उन्मग्न तट-रेखा थी, किन्तु बाद मे वहाँ कई खाड़ियाँ, कटानें और अनूप बन गये जो कि सब निमज्जन को प्रकट करती है। इसी तरह उत्तरी केरोलीना, पश्चिमी ससेक्स और चैस्पीक की खाड़ी के प्रदेश में उन्मज्जन और निमज्जन दोनों ही के रूप दिखाई पड़ते है।

कई विद्वानों ने तट-रेखाओ का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया है, किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। स्वेस ने सन् 1888 मे तट के पृष्ठ-प्रदेश की संरचना के आधार पर तट-रेखाओं का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है·

(क) **प्रशान्त तुल्य तट-रेखा** (Pacific Type Shore-line)—इस प्रकार की तट-रेखा वलित पर्वतों के समान्तर विकसित होती है। ऐसे तट प्रायः सपाट होते है। द्वीप तथा श्रेणियाँ स्थल भाग का अनुसरण करती है। जहाँ कही स्थल भाग नीचे धँसक गया है, वहाँ तट-रेखा असमान हो गयी है। ऐसे स्थानों पर समुद्र की भुजाएँ स्थल के भीतर घुस गयी है। प्रशान्त महासागर के पूर्व मे उत्तरी अमरीका की रॉकी पर्वत-शृंखला एव दक्षिणी अमरीका की एण्डीज पर्वत-शृंखला तथा पश्चिम मे जापान आदि द्वीपो के सहारे ऐसे तटों का अधिक विस्तार हुआ है, अत. इन्हे प्रशान्त तुल्य तट-रेखा कहा गया है। दक्षिणी स्पेन, उत्तरी अफ्रीका, इटली तथा यूगोस्लाविया के तट भी इसी प्रकार के है। इनके समीप क्रमश कैण्टेब्रियन, एपीनाइन तथा डिनारिक आल्प्स पर्वत स्थित है। यूगोस्लाविया का डालमेशियन तट (Dalmatian coast) ऐसा ही तट है। डा० **बुशर** ने ऐसी तट-रेखाओ को सवादी तट-रेखा (concordant coast-line) तथा **वान रिश्टाफन** ने देशान्तरीय तट-रेखा (Longitudinal coast-line) का नाम दिया है।
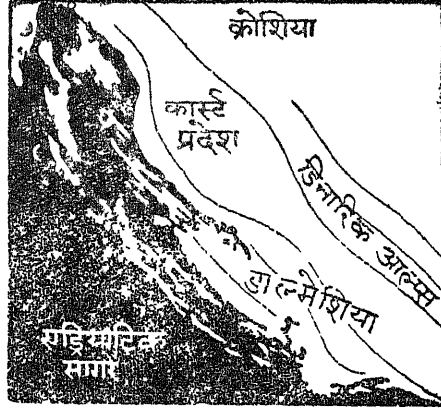
चित्र 222—प्रशान्त तुल्य तट-रेखा
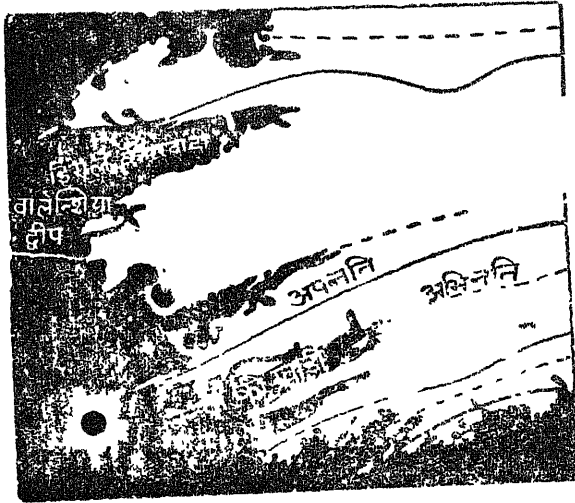
(ख) **अन्ध तुल्य तट-रेखा** (Atlantic Type Shore-line)—इस प्रकार की तट-रेखा का निकटवर्ती स्थल की सरचना से कोई सम्बन्ध नही होता। इन तट-रेखाओ के पृष्ठ-प्रदेश में कहीं मैदान, कही पठार और कही अवशिष्ट पर्वत मिलते है। अतः तटो पर कहीं कठोर और कहीं कोमल शैलें मिलती है। इसीलिए ये तट-रेखाएँ अधिक कटी-फटी होती है। ऐसे तटों पर खाड़ियों तथा द्वीपो की अधिकता पायी

चित्र 223—अन्ध तुल्य तट-रेखा

जाती है। अनेक स्थानों पर घाटियाँ तथा समुद्राभिमुख कगारे मिलती है। इस प्रकार की तट-रेखा को रिया तट (Ria coast) कहते है। अन्ध महासागर तथा हिन्द महासागर के सभी तट इसी प्रकार के है। उत्तरी ध्रुव महासागर व दक्षिणी महासागर के तट भी इसी श्रेणी मे आते है। **डा० बुशर** ने ऐसे तटों को उत्क्रामी तट (discordant coast) तथा **वान रिश्टाफन** ने आडे तट (transverse coast) की संज्ञा दी है।

तट-रेखाओं का भौगोलिक प्रभाव

अपने रूप, आकार और विकास मे उन्मग्न और निमग्न दोनो ही तट-रेखाएँ भिन्न होती है। अत दोनो ही तट-रेखाओं के समीप विपरीत मानवीय अवस्थाएँ देखने को मिलती है। उन्मग्न तट-रेखाओ पर बहुत ही कम बन्दरगाहों का विकास होता है। जो मिलते है वे दूर-दूर और पिछड़े हुए मिलते है। किन्तु इन तट-रेखाओ का पृष्ठदेश कृषि और कभी-कभी खनिज साधनों मे बहुत ही धनी होता है। इसके विपरीत निमग्न तट-रेखाओं पर अनेक सुन्दर प्राकृतिक बन्दरगाह मिलते है, परन्तु इनके पृष्ठदेश में प्राय कृपि विकास की कम सम्भावनाएँ होती है, इसलिए वहाँ घनी आबादी के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता। संश्लिष्ट तट-रेखाओ में कभी-कभी दोनों ही तट-रेखाओ के लाभ मिले रहते है। अन्ध महासागर के तटीय मैदान का चैस्पीक खाडी प्रदेश (Chesapeake Bay region) इसका अच्छा उदाहरण है। यहाँ की तट-रेखा संश्लिष्ट तट-रेखा है, जिसमे उन्मज्जन और निमज्जन दोनो ही तट-रेखाओं के लाभ उपलब्ध हैं। इस प्रदेश के पृष्ठभाग मे बड़ा लम्बा-चौड़ा, समतल और उपजाऊ मैदान है। साथ ही साथ यहाँ अच्छे सुन्दर प्राकृतिक पोताश्रय का लाभ भी प्राप्त है। यहाँ नॉरफोक (Norfolk), वाशिंगटन (Washington) और बाल्टीमोर (Baltimore) जैसे सुन्दर बन्दरगाह है।

निमज्जन की कुछ तट-रेखाओ—प्रमुखतया फियोर्ड-तटों—पर पोताश्रय के लिए सर्वोत्तम प्राकृतिक अवस्थाएँ पायी जाती है, किन्तु इन तटो की पहाड़ी प्रकृति जनसंख्या के जमाव की दृष्टि से अनुपयुक्त होती है। यहाँ के निवासी अधिकतर तट के समीप ही घूमा करते हैं। तटो के समीप जमीन के छोटे-छोटे टुकडो पर जहाँ थोड़ी-बहुत खेती हो सकती है, किसान और मछुए अपनी झोंपड़ियाँ बना लेते है। नॉर्वे के तट और समीप के कई द्वीपों पर समुद्र-तल से 50 फुट की ऊँचाई पर कुछ कछारी मिट्टी की तग पट्टियाँ अथवा मैदान है। अतएव यहाँ की जनसंख्या बड़ी ही छितरी हुई है। नावे यहाँ के आवागमन का प्रमुख साधन है। सप्ताह मे कई बार बड़े-बड़े स्टीमर स्टेवेन्जर (Stavanger) से वर्डो (Verdo) के बीच नगरों का चक्कर लगाया करते है और छोटे स्टीमर लगभग सभी छोटी बस्तियों को सँभाल लेते है। छोटे-छोटे गाँवों से कई मोटर-बोट तट के प्रायः सभी भागों तक पहुँच जाते है और इस तरह वे प्रत्येक निवासी का बाहर की दुनिया से सम्पर्क बनाये रखते है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आजीविका के लिए समुद्र की ओर देखता है और समुद्र उन सबको संसार के अन्य भागों की खोज के लिए आमन्त्रण देता है। प्राचीनकाल में इस प्रदेश के रहने वाले **वाईकिंग्स** (Vikings) और **नोर्समेन** (Norsemen) लोगो ने अपने घर से दूर घूमने की प्रवृत्ति को प्रमाणित किया है। ससार मे उसी राष्ट्र के लोग चतुर मल्लाह और समुद्री यात्रा करने वाले होते है जिनका समुद्रतट निमज्जन के कारण काफी कटा-फटा हो और उसका पृष्ठदेश भी मानवीय सुविधाओं के विपरीत हो। स्थल की अवस्थाएँ लोगों को बराबर हतोत्साहित करती है, परन्तु समुद्र उनको प्रेरणा देता है और आगे बढने को आमन्त्रित करता है।[1] ग्रीक, फिनिसियन, रोमन, मिस्र-निवासी और कार्थेजियन आदि लोग अपने इतिहास के प्रारम्भ से ही व्यापारी रहे हैं। आज भी ग्रीक लोगो की बस्तियाँ टर्की के तट पर फैली हुई पायी जाती हैं।

---

1 A. K. Loback : *Geomorphology*, p. 358

स्कॉटलैण्ड के निवासी प्रारम्भ से ही जहाज-निर्माण करने का धन्धा करते है। ये लोग जहाज बनाने का धन्धा इसलिए नही करते कि इनको वहाँ इस काम की सुविधाएँ प्राप्त है, बल्कि उनमे अपनी आजीविका प्राप्ति के लिए समुद्र का उपयोग करने की प्रबल जिज्ञासा है। फ्रांस-निवासी अपने घर को प्यार करने वाले लोग है। उनका देश धनी और घनी आबादी के योग्य है। परन्तु फ्रास की नौ-सेना के जवान और जहाजों को चलाने के लिए कुशल व्यक्ति उन्हें अपने देश के एक मुख्य भाग ब्रिटेनी से ही प्राप्त होते है। ब्रिटेन प्रान्त का समुद्रतट कटा-फटा है और पास ही वहाँ पहाड़ियाँ और चट्टानें आ गयी है। अत इसी भाग मे सबसे अधिक मल्लाह होते है। सयुक्त राज्य अमरीका मे भी सबसे अधिक मल्लाह न्यू-इगलैण्ड राज्य मे ही पाये जाते है। यहीं के लोग अधिकतर जहाज बनाने, मछली मारने और ह्वेल के शिकार में लगे हुए है। इसके विपरीत वर्जीनिया, केरोलीना, जॉजिया, अलबामा और मिसीसिपी राज्यों के लोग कभी भी समुद्र पर निर्भर नही रहते। भूमि ही उनको सन्तोष देती है। भारत में भी अधिकतर मल्लाह रत्नागिरि, कोकन और मलाबार प्रदेशो से प्राप्त होते है।

निमज्जन की तट-रेखाओ और पहाड़ी पृष्ठप्रदेश वाले भागो मे जनसंख्या कदाचित ही तीव्र गति से बढती है। यह एक निश्चित बिन्दु तक पहुँचकर वहीं ठहर जाती है। कभी-कभी तो जनसख्या के घटने के चिह्न भी मालूम होने लगते है, जैसा कि न्यू इगलैण्ड राज्य मे हुआ है।

जब कभी किसी देश का उपजाऊ और घना बसा भाग पहाड़ अथवा मरुस्थल द्वारा समुद्रतट से अलग हो जाता है तो वहाँ विशिष्ट मानवीय दशाएँ उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था यूगोस्लाविया मे पायी जाती है। इस देश के भीतर ड्रेव (Drave) और सेव (Save) नदियो की घाटियो में अधिकतर मनुष्य बसे हुए है। परन्तु डालमेशियन-तट के ऊपर ऊँची-ऊँची और ऊबड़-खाबड़ डिनारिक आल्प्स (Dinaric Alps) की पर्वत-श्रेणियाँ खड़ी है जिनको पार करना अति कठिन है। फलत. तट-प्रदेश का देश के भीतरी भाग से बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। परिणामस्वरूप यह तट-प्रदेश अन्य देशो के साहसी नौ-सैनिक और मल्लाहो की बस्तियो के लिए खुला है। इसी कारण यूगोस्लाविया के डालमेशियन-तट पर कई इटालियन बस्तियाँ बस गयी है और पूर्ण रूप से इटालियन संस्कृति का प्रभाव फैल गया है। यह बात इतनी सही है कि विश्व-युद्ध के पश्चात शान्ति-वार्ता के समय इटालियन लोगो ने इस तट-भूमि के अधिकतर भाग को प्राप्त करने के लिए उपरोक्त तथ्य का प्रयोग किया था।[1]

जर्मनी की तट-रेखा ऐसी है जो न तो लोगो को आकर्षित करती है और न लोगो को साहसी मल्लाह बनने का अवसर ही प्रदान करती है। तटरेखा पर कोई भी अच्छा बन्दरगाह नही है। अत: जर्मन लोग सदा से घर को प्यार करने वाले रहे है। घर से बाहर निकलने की कभी उनकी इच्छा नही हुई। ससार के व्यापारिक क्षेत्र मे आने के पहले वे लोग घर पर ही अपने साधनो तथा योग्यताओं को बढ़ाने की चेष्टा करते रहे। अपने इतिहास के अधिकतर समय में अग्रेज, स्पेनिश, स्केण्डिनेवियन, फ्रेंच और पुर्तगाली आदि सब समुद्री शक्ति मे जर्मन लोगों से आगे रहे है। जर्मन लोगों ने अपने देश के बाहर समुद्र में अभी हाल के समय में ही पैर रखा है और वह भी अपने भारी औद्योगिक विकास होने से माल के निर्यात हेतु द्वार खोजने के लिए।

---

1 *Ibid*, : p. 359

चतुर्थ खण्ड

स्थलमण्डल

25
शैल अथवा चट्टानें
(ROCKS)

पृथ्वी के जिस भाग पर हम सब रहते है उसे भू-पृष्ठ कहते है। यह पृथ्वी का ठोस अंग है। इसकी मोटाई लगभग 50-60 मील है। जिन पदार्थो से इस भू-पृष्ठ की रचना हुई है उसे शैल या चट्टान कहा जाता है।

शैल कई प्रकार के खनिजों का तत्सम रूप है और खनिज विशेष प्रकार के रासायनिक मूल तत्त्वो का योग है। अभी तक लगभग 103 मूल तत्त्वों की जानकारी हो चुकी है, किन्तु भू-पृष्ठ की रचना मे इनका एक समान योग नही है। इनमें से कुछ बहुत ही अल्प रूप में और कुछ प्रचुर मात्रा में मिलते है। **क्लार्क** तथा **वाशिंगटन** ने गणना करके यह बताया कि भू-पृष्ठ की रचना मे जिन तत्त्वो का समावेश है उनका प्रतिशत अनुपात निम्न प्रकार है :

तत्त्व	प्रतिशत	तत्त्व	प्रतिशत
ऑक्सीजन	46·71	टाइटेनियम	0·62
सिलीकन	27·69	हाइड्रोजन	0·14
एल्यूमीनियम	8·07	फॉसफोरस	0·13
लोहा	5·07	कार्बन	0·09
कैलशियम	3·65	मैंगनीज	0·09
सोडियम	2·75	गन्धक	0·05
पोटैशियम	2·58	बेरियम	0·05
मैग्नीशियम	2·08	क्लोरीन	0·04
		अन्य	0·21
		कुल योग	100·00

उपरोक्त सारणी से प्रकट है कि भू-पृष्ठ का 98·6 प्रतिशत भाग केवल ऑक्सीजन, सिलीकन, एल्यूमीनियम, लोहा, कैलशियम, सोडियम, पोटैशियम व मैग्नीशियम आठ तत्त्वों से निर्मित है। शेष 1·4 प्रतिशत भाग की रचना टाइटेनियम, हाइड्रोजन, फॉसफोरस, कार्बन, मैंगनीज, गन्धक, बेरियम, क्लोरीन, सोना, चाँदी, ताँबा, पारा, सीसा आदि तत्त्वों से होती है।

खनिज (Minerals)

भू-गर्भ में असंख्य खनिज हैं। भू-पृष्ठ की चट्टानों का निर्माण इन्हीं खनिजो के योग से होता है। किन्तु खनिज स्वयं विभिन्न रासायनिक तत्त्वों (elements) के योग से बनते हैं। प्रकृति में

बहुत कम तत्त्व ही स्वतन्त्र रूप मे मिलते है जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, प्लेटीनम, गन्धक व कार्बन आदि (हीरा तथा ग्रेफाइट के रूप मे)। शेष तत्त्व असख्य यौगिको (compounds) के रूप मे विभिन्न प्रकार से मिले हुए पाये जाते है। अत: प्राकृतिक रूप मे मिलने वाले रासायनिक यौगिक ही **खनिज पदार्थ** कहे जाते है। इस प्रकार खनिज पदार्थ की एक निश्चित रासायनिक बनावट होती है। इसमे विशेष भौतिक गुण होते है तथा उसका आणुविक आकार निश्चित होता है। **लोंगवेल** (Longwell) के अनुसार, **"खनिज प्राकृतिक रूप से उपलब्ध वह पदार्थ है जिसमें एक विशेष प्रकार के भौतिक गुण होते है और उसकी रचना को एक रासायनिक सूत्र के द्वारा प्रकट किया जा सकता है।"**

पृथ्वी पर लगभग 2,000 प्रकार के खनिज पाये जाते है, किन्तु इनमे से केवल 20 खनिज ही ऐसे है जिनसे चट्टानो की रचना होती है। चट्टानो का निर्माण करने वाले खनिजो के मुख्य निम्न प्रकार है :

(1) **ऑक्सीजन-प्रधान खनिज** (Oxides)—इसके अन्तर्गत स्फटिक (quartz) सिलिकन-डाइ-ऑक्साइड तथा लोहे के ऑक्साइड—मेगनेटाइट व हेमेटाइट आदि सम्मिलित है। ये दो या दो से अधिक तत्त्वो के मिलने से बनते है।

(2) **सिलिकन-प्रधान खनिज** (Silicates)—यह चट्टानो मे व्यापक रूप से मिलने वाला खनिज है। इस खनिज के अनेक वर्ग है जैसे फेलसपार, अभ्रक, एम्फीबोल, पाइराक्सीन, क्लोराइट व ओलिविन आदि।

(3) **कार्बोनेट-प्रधान खनिज** (Carbonates)—भू-पृष्ठ की रचना मे सिलिकेटो के बाद कार्बोनेट का ही विशेष स्थान है। इनमे कैलसाइट, डोलोमाइट एव मेगनेसाइट आदि खनिज आते है।

(4) **सल्फाइड-प्रधान खनिज** (Sulphides)—जैसे पाइराइट, गेलेना आदि।

(5) **सल्फेट-प्रधान खनिज** (Sulphates)—जैसे जिप्सम आदि।

(6) **फॉस्फेट-प्रधान खनिज** (Phosphates)।

(7) **मूल खनिज** (Native Minerals)—जैसे सोना, चाँदी, ताँबा, गन्धक, ग्रेफाइट, कार्बन, शेलखरी आदि। ये खनिज एक ही तत्त्व से निर्मित होते हैं।

उपरोक्त सभी प्रकार के खनिजो को उनके रग, स्वरूप, आभा, कठोरता, टूटन, फूटन, चमक, स्वाद, गन्ध, चुम्बकत्व, घुलनशीलता, चिकनाहट, आपेक्षिक घनत्व तथा रवो के प्रकार से पहचाना जाता है। आजकल विद्युत-तरंगो एव अनेक प्रकार के यन्त्रो से भी खनिजों की पहचान की जाती है।

चट्टानें
(Rocks)

साधारणत: 'चट्टान' शब्द से कठोरता का बोध होता है। अत: धरातल मे पायी जाने वाली किसी कठोर वस्तु को हम 'चट्टान' कहते है। परन्तु भूगोल मे चट्टानो का भिन्न आशय है। भूगोल मे 'चट्टान' शब्द का आशय खनिज-पदार्थों के योगफल से है। चाहे ये पदार्थ ग्रेनाइट जैसे कठोर अथवा मिट्टी जैसे मुलायम और क्वार्ट्ज के समान ठोस अथवा बालू के समान ढीले ही क्यों न हो। 'चट्टान' शब्द का प्रयोग भूगोल मे बालू, ककड़, मिट्टी, कीचड़ व ग्रेनाइट आदि सभी पदार्थों के लिए समान रूप से होता है।[1] अत: भू-विज्ञान की भाषा मे चट्टान स्वाभाविक निक्षेप का वह पिण्ड है

---

1 "In popular usage, the term 'rock' denotes a hard, solid mass derived from the earth, but the geologist gives the term much wider scope, for he includes masses of clay, loose sand, gravels and boulders, as well as granite, sandstone, marble and ice." —N. E. A. Hinds : *Geomorphology*, p. 38

जिससे भू-पृष्ठ का ठोस भाग बना है । अत वे समस्त प्राकृतिक पदार्थ जो कि भू-गर्भ तथा धरातल के ऊपर पाये जाते है, चट्टाने कहलाते है ।

आर्थर होम्स के अनुसार अधिकाश चट्टाने खनिजों का ही मिश्रित अश होती है । अत किसी भी चट्टान मे एक या एक से अधिक खनिज होना सम्भव है । जैसे संगमरमर केवल एक ही खनिज से बना होता है । यह पूर्णत बलुहा पत्थर (sand stone) अथवा कैलसाइट (calcite) के छोटे-छोटे कणो से निर्मित होता है । इसके विपरीत, ग्रेनाइट चट्टान स्फटिक, फेल्सपार और अभ्रक आदि तीन या चार खनिजो द्वारा बनी होती है । इस प्रकार चट्टाने विभिन्न खनिजों के विविध अनुपात से निर्मित होती है । इसलिए खनिजों के समान चट्टानो की कोई निश्चित रासायनिक रचना नहीं होती ।

चट्टानों के भेद

भू-पृष्ठ पर अनेक प्रकार की चट्टानें पायी जाती है, परन्तु उनकी मौलिक रचना के अनुसार चट्टानो के मुख्य तीन भेद है

(क) **आग्नेय चट्टाने** (Igneous Rocks),

(ख) **अवसादी चट्टानें** (Sedimentary Rocks),

(ग) **कायान्तरित चट्टानें** (Metamorphic Rocks) ।

(क) आग्नेय चट्टानें

(Igneous or Primary Rocks)

पृथ्वी की उत्पत्ति पर विचार करते समय हमने देखा था कि कई वैज्ञानिको ने प्रारम्भ में पृथ्वी के द्रव रूप को स्वीकार किया है । अत पृथ्वी के द्रव-पदार्थो के घनीभूत हो जाने से जो चट्टाने बनी उन्हे ही आग्नेय चट्टाने कहा जाता है । दूसरे शब्दों मे, "**जो चट्टानें द्रव पदार्थ के ठण्डे होने से ठोस अवस्था में बदल गयी हैं वे आग्नेय चट्टाने कहलाती हैं ।**"[1] कभी-कभी 'आग्नेय' शब्द से यह भ्रान्ति होने लगती है कि इन चट्टानो की रचना का अग्नि से विशेष सम्बन्ध है, पर ऐसी बात नही है । यहाँ 'आग्नेय' शब्द से आशय ऊँचे तापमान से है । पृथ्वी के गर्भ मे आज भी इतनी गर्मी पायी जाती है कि वहाँ कोई भी वस्तु ठोस अवस्था मे नही रह सकती । पत्थर, खनिज व धातु जैसे कठोर से कठोर पदार्थ भी वहाँ शीशे की भाँति पिघल जाते है । अतः पृथ्वी के गर्भ का यही द्रव-पदार्थ—जो कि 'मैगमा' (Magama) कहलाता है—जब किसी प्रकार भीतर से ऊपर को ठेल दिया जाता है और धीरे-धीरे ठण्डा होकर ठोस बन जाता है तो आग्नेय चट्टान का रूप धारण कर लेता है । यह एक सामान्य बात है कि कोई भी उष्ण द्रव-पदार्थ जब धीरे धीरे ठण्डा होकर घनीभूत होता है तो उसमें स्फाट या रवे (crystals) पड़ते है । आग्नेय चट्टाने भी चूंकि द्रव-पदार्थों से ठण्डी होकर बनती है इसलिए स्वाभाविक रूप से स्फाटीय (crystalline) होती हैं ।
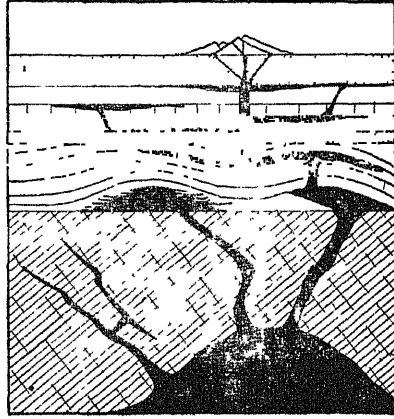
चित्र 224—आग्नेय चट्टानें बनाने की विधि

---

1 "Igneous rocks are formed through the solidification of molten material."
—*P. G. Worcestor*

चट्टानों का वर्गीकरण
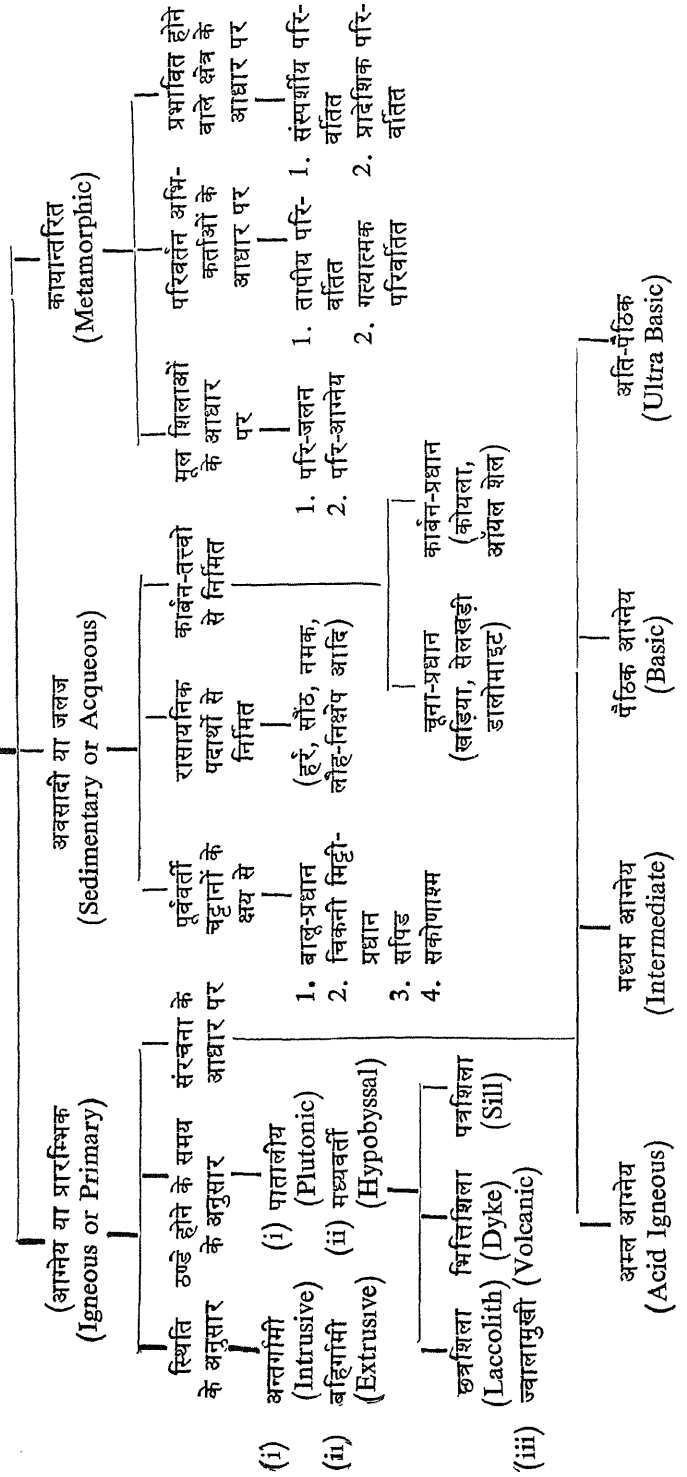
आग्नेय चट्टाने भू-पृष्ठ की प्राचीनतम चट्टाने है। इनका निर्माण अतीत में उस समय हुआ जबकि पृथ्वी पर कोई जीव अथवा वनस्पति नहीं थी। अतः इन चट्टानों मे किसी भी प्रकार के अवशेष नही मिलते। पृथ्वी पर ये चट्टाने सर्वप्रथम बनी हैं, परन्तु फिर भी सभी आग्नेय चट्टाने प्राचीनतम नही है। ज्वालामुखी की क्रिया से आज भी इनका निर्माण-क्रम जारी है। इस प्रकार धरातल पर प्राप्त आग्नेय चट्टानें जहाँ कुछ बहुत ही पुरानी हैं वहाँ कुछ नवीन भी है। किन्तु इन चट्टानो का विशेष महत्त्व इस बात में है कि अन्य सभी प्रकार की चट्टानो की रचना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इन्ही चट्टानों द्वारा हुई है। इसीलिए ये **प्राथमिक चट्टानें** (Piimary Rocks) भी कही जाती है।

आग्नेय चट्टानों की विशेषता—आग्नेय चट्टाने जिन विशेषताओ के कारण अन्य चट्टानो से भिन्न है, वे इस प्रकार है .

(1) आग्नेय चट्टानों में कभी गोल कण नही होते। इन चट्टानों के टूटकर गिरने से ही गोल कण बनते है।

(2) इन चट्टानो मे यद्यपि रवे होते है, परन्तु इन रवों का न तो आकार और सख्या आदि ही निश्चित होती है और न उनकी रचना मे कोई क्रम ही देखा जाता है।

(3) इन चट्टानो मे परतें नही होती। ये पूर्णतया सघन (Massive) होती है। किन्तु इनमे वर्गाकार जोड़े होती है। ये जोड़ें ही चट्टानो के कमजोर स्थल होते है, जहाँ ऋतु-अपक्षय का प्रभाव होता है।

(4) ये चट्टानें कठोर तथा अरन्ध्र होती है, अतः जल का इन पर कोई प्रभाव नही होता। परन्तु विखण्डन (Mechanical weathering) के कारण ये टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं।

(5) इन चट्टानो मे किसी भी प्रकार के प्राणीज अवशेष (fossils) नही पाये जाते।

आग्नेय चट्टानों की औसत खनिज रचना

क्रम संख्या	खनिज	ग्रेनाइट	बेसाल्ट
1	स्फटिक	31·3	—
2	फेल्सपार	52 3	46·7
3	अभ्रक	11·5	—
4	हार्नब्लेड	2·4	—
5	अगाइट	अल्प	36·9
6	ओलीवाइन	—	7·6
7	लोहा	2·0	6·5
8	अन्य	0·5	2·8

आग्नेय चट्टानों के भेद

यों तो सभी आग्नेय चट्टानें पृथ्वी के पिघले हुए पदार्थों के शीतल होकर जम जाने से बनी है, परन्तु स्थिति तथा संरचना के अनुसार इनके कई भेद है।

स्थिति के अनुसार आग्नेय चट्टानों के भेद

स्थिति के अनुसार चट्टानों के दो मुख्य भेद है :

(अ) अन्तर्भेदी चट्टानें (Intrusive rocks),

(ब) निस्रावी चट्टानें (Extrusive rocks)।

(अ) अन्तर्भेदी चट्टानें (Intrusive Rocks)—पृथ्वी के भीतर अत्यधिक ताप के कारण कठोर से कठोर पदार्थ भी पिघली हुई अवस्था में रहता है। इस पिघले हुए पदार्थ को शैलमूल या **मैगमा**

(Magama) कहते हैं। जब किसी कारणवश यह मैगमा उमड़ता है तो उसकी कुछ मात्रा धरातल पर बाहर आ जाती है और कुछ भीतर ही रह जाती है। अतः जो द्रव-पदार्थ पृथ्वी के गर्भ में ही जमकर ठोस हो जाता है उसे अन्तर्भेदी चट्टान कहा जाता है। भू-गर्भ में बनने के कारण ये चट्टानें बहुत धीरे-धीरे ठण्डी होती हैं। अतः इनमें बनने वाले रवे बहुत बड़े आकार के होते हैं। ग्रेनाइट, स्फटिक तथा फेल्सपार इस प्रकार की चट्टानों के विशिष्ट उदाहरण हैं। भू-पटल के उत्थापन अथवा अपरदन के बाद ही ये चट्टानें भूमि के ऊपर दृष्टि-गोचर होती हैं।

चित्र 225—ग्रेनाइट शैल (आग्नेय चट्टान)

पृथ्वी के आन्तरिक भाग का पिघला हुआ पदार्थ जब कतिपय कारणों से बाहर निकलने को प्रेरित होता है तो वह पृथ्वी के कमजोर स्थलों को फोड़कर भारी विस्फोट के साथ धरातल पर बाहर आता है। भू-गर्भ से निकलने वाले इस द्रव-पदार्थ को लावा (Lava) कहते हैं।

प्रायः धरातल पर लावा का उभाड़ ज्वालामुखी अथवा अन्य विवरों द्वारा होता है। भू-गर्भ से धरातल की ओर आने वाला यह लावा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में शीतल होता है। ये अवस्थाएँ निम्न हैं :

(1) लावा बिना ऊपर उठे अपने आधार-स्थल में ही शीतल हो जाता है।

(2) भू-पटल की ओर अग्रसर होते समय मार्ग में प्राप्त सन्धियों अथवा संस्तरण-तलों (bedding planes) में ही जम जाता है।

(3) भू-गर्भ से निकलकर धरातल पर घनीभूत हो जाता है।

इस प्रकार लावा के भिन्न भिन्न अवस्थाओं और भिन्न-भिन्न गहराइयों में शीतल होने के कारण उसमें लगने वाला समय भी भिन्न होता है। लावा के शीतल होने की अवधि के आधार पर अन्तर्भेदी आग्नेय चट्टानों को तीन उप-भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) **पातालीय चट्टानें** (Plutonic Rocks)—'प्लूटो' (Pluto) यूनानी भाषा का एक शब्द है जिसका अर्थ 'पाताल देवता' है। उसी से 'प्लूटोनिक' (Plutonic) शब्द बना है। अतः जो लावा भू-पटल पर बाहर न आकर भू-गर्भ की अतल गहराई में ही जमकर ठोस हो जाता है तो ऐसी चट्टानों को **पातालीय चट्टानें** (Plutonic rocks) कहा जाता है। अधिक गहराई में शीतल होकर जमने के कारण इन चट्टानों के निर्माण में बहुत अधिक समय लगता है अतः इनमें बनने वाले स्फाट (crystal) बहुत बड़े आकार के होते हैं। भू-गर्भ की इन पूर्णरूप से स्फाटीय चट्टानों का सबसे अच्छा उदाहरण ग्रेनाइट है।

चित्र 226—आग्नेय चट्टानों के विभिन्न रूप

भू-गर्भ में बनने वाली इन पातालीय चट्टानों के कई रूप होते है। इनका रूप मुख्यतः उस भू-भाग की रचना जिसमें लावा प्रवेश करता है तथा लावा के आयतन पर निर्भर करता है। भू-गर्भ मे बने इस प्रकार के सबसे बड़े और सर्वसाधारण रूप को **अध शैल** (Batholith) कहा जाता है। इस अध शैल का रूप एक बड़े गुम्बज (dome shaped) के समान होता है, जिसके किनारे खड़े होते है। अध शैल के रूप मे ये विशाल अन्तर्भेदी शिलाएँ हजारो मील लम्बी, सैकडो मील चौडी तथा अज्ञात गहराई तक फैली हुई पायी जाती है। इनका आधार कभी दिखाई नही देता। जब कभी अध.शैल का आकार छोटा होता है तो उसे **रालोत्थ या स्कन्ध** (Stock) कहते है। गोलाकार स्वरूप वाली अध शैल **वृत्तस्कन्ध या उत्पिण्ड** (boss) कहलाती है।

अधःशैल सामान्यत ग्रेनाइट की बनी होती है। धरातल के ऊपर की अन्य शिलाओ के घिसकर हट जाने पर ही ये धरातल पर दृष्टिगोचर होती है। ये अधिकतर प्राचीन पठारी भागो (Shield lands) में मिलती है। भारत मे ऐसी चट्टाने अनेक भागो मे पायी जाती है। राँची के पठार तथा सिहभूमि की ग्रेनाइट चट्टाने इसी प्रकार की हैं। राजस्थान का इरिनपुरा ग्रेनाइट भी इसका अच्छा उदाहरण है।

(2) **मध्यवर्ती चट्टाने** (Hypsobyssal rocks)—भू-गर्भ से निकलने वाला लावा जब धरातल पर बाहर आने मे असमर्थ रहता है तो वह मार्ग में मिलने वाली अवसादी चट्टानो की सन्धियो एव सन्तरण-तलो मे फैलकर जम जाता है। अत ऐसी चट्टाने जो पातालीय चट्टानो के ऊपर तथा नि स्रावी चट्टानो के नीचे परतदार चट्टानो के बीच लावा के ठोस हो जाने से बनती है वे **मध्यवर्ती चट्टाने** (Hypsobyssal rocks) कहलाती है। ये चट्टाने भू-पटल से कुछ ही गहराई पर बनती है, इसलिए इनके ठण्डे होने मे पातालीय चट्टानो की अपेक्षा कम समय लगता है। फलस्वरूप इन चट्टानों मे बनने वाले रवे कुछ छोटे आकार के होते है। मार्ग मे लावा जब प्रस्तरीभूत चट्टानो के मध्य जमता है तो वह लम्बवत दीवार, पुल अथवा वीक्ष आदि के आकार में जमता है, अत. इन चट्टानो के कई रूप देखे जाते है। इन चट्टानो के सामान्य रूप निम्न है.

(i) **कुकुच्छैल या छत्रक** (Laccolith)—'Laccolith' शब्द 'Laccas' और 'Lithas' से मिलकर बना है। 'Laccas' का अर्थ भण्डार से है और 'Lithas' का पत्थर से, अत छत्रशिला से आशय 'पत्थर के भण्डार' से है। पृथ्वी के गर्भ मे पत्थर के ऐसे भण्डार छत्रक के रूप मे मिलते है, इसीलिए इनको **कुकुच्छैल या छत्रक** (Laccolith) कहा जाता है।

(ii) **मसूर शैल** (Phacolith)—कभी-कभी परतदार चट्टानो की परतों के अपनति (anticline) और अभिनति (sycline) के मध्य रिक्त स्थान मे लावा का समावहन (influx) हो जाता है। इस प्रकार बनी चट्टानों को **मसूर शैल** (Phacolith) कहते है। इनका आकार भी वीक्ष (lens) की भाँति होता है।

(iii) **न्युदुब्ज शैल** (Lapolith)—प्रस्तरीभूत चट्टानों की परतो मे लावे का समावहन जब तश्तरीनुमा आकार ग्रहण कर लेता है तो उसको **न्युदुब्ज शैल** (Lapolith) कहते है। दक्षिणी अफ्रीका मे ट्रासवाल के भीतर 300 मील लम्बी न्युदुब्ज शैल देखी जाती है।

(iv) **रालभित्ति** (Dike)—बाहर निकलते समय लावा जब मार्ग में प्रस्तरीभूत चट्टानो के मध्य एक लम्बवत दीवार अथवा बाँध के रूप मे जम जाता है तो उसे **रालभित्ति** (Dike) कहते है। सामान्यतया यह उन चट्टानो से जिनमें लावा प्रवेश करता है, अधिक कठोर होती है। ये लम्बवत अथवा झुकी हुई दीवार की आकृति की होती है। कही-कही इनकी आकृति अँगूठी के सदृश होती है। अधिकांशतः रालभित्ति धरातल के ऊपर दीवार अथवा श्रेणियो के रूप मे निकली हुई मिलती है। बिहार के सिहभूमि जिले मे डोलेराइट की असंख्य रालभित्तियाँ मिलती है जो

नवीनतम डोलेराइट (Newer dolerite) के नाम से विख्यात है। सयुक्त राज्य अमरीका मे मुद्रिका रालभित्ति (ring dike) क्लीवलैण्ड रालभित्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

(v) **रालपट्ट** (Sill)—जब लावा प्रस्तरीभूत चट्टानो की परतो मे प्रवेश कर समान्तर तहो के रूप मे जम जाता है तो उसे **रालपट्ट** (Sill) कहा जाता है। साधारणत. यह रालभित्ति अथवा ज्वालामुखी की नली (Pipe) से सम्बन्धित होता है। यह कुछ से लेकर कई सौ फुट तक मोटी हो सकती हैं। न्यूयार्क के निकट स्थित पैलिसेड रालपट्ट का सर्वोत्तम उदाहरण है। पैलिसेड रालपट्ट 100 मील लम्बी एक सीधी पहाड़ी के रूप मे स्थित है। भारत मे इस प्रकार के रालपट्ट मध्य प्रदेश के कोरिया तथा बिहार एवं पश्चिमी बगाल की कोयले की खदानो मे देखे जाते है। रालपट्ट की जव मोटाई कम होती है तो उसे **चादर** (Sheet) कहा जाता है।

(ब) **नि.स्रावी चट्टानें** (Extrusive Rocks)—कभी-कभी पृथ्वी के भीतर का द्रव-पदार्थ किसी कारणवश बाहर निकलकर भू-पृष्ठ पर जम जाता है। भू-पृष्ठ पर द्रव-पदार्थ के जमने से बनी चट्टानो को ही **बाह्य** अथवा **नि स्रावी आग्नेय चट्टानें** (extrusive igneous rocks) कहा जाता है। ज्वालामुखी उद्भेदन के समय निकलने वाले लावे से भी इसी प्रकार की चट्टानें बनती है। लावा से निर्मित चट्टानो को **ज्वालामुखी चट्टानें** (volcanic rocks) कहते है। ज्वालामुखी उद्गार के समय ठोस अवस्था मे बाहर निकलने वाले पदार्थ जैसे ब्रेसिया लेपिली, ज्वालामुखी बम्ब व ज्वालामुखी राख आदि भी नि स्रावी आग्नेय चट्टाने है।[1] पिघला हुआ द्रव-पदार्थ बाहर धरातल पर आकर बहुत शीघ्र ठण्डा हो जाता है। अत इन चट्टानो मे प्रायः रवे नही पाये जाते है। इसलिए ये चट्टाने अस्फटीय (non-crystalline) चट्टाने कहलाती है। लावा-निर्मित चट्टान का सबसे अच्छा उदाहरण बेसाल्ट है। लावा एक तरल पदार्थ है। यह तारकोल की भाँति बहता है। ज्वालामुखी विवरो से निकलने वाले लावा ने धरातल के विस्तृत भागो को ढक रखा है। सयुक्त राज्य अमरीका मे कोलम्बिया का पठार तथा दकन के पठार का उत्तरी-पश्चिमी भाग लावा प्रवाहो के कारण ही बने है। ग्रेबो, ओबसीडियन एवं बेसाल्ट बाह्य अथवा नि स्रावी आग्नेय चट्टानो के विशिष्ट उदाहरण है। इस प्रकार की चट्टाने अधिकतर महासागरीय ज्वालामुखियो एवं द्वीपो मे पायी जाती है। इनमें क्षार कम किन्तु लोहा, चूना और मैगनेशियम की मात्रा अधिक होती है।

संरचना के अनुसार आग्नेय चट्टानों के भेद

यद्यपि सभी आग्नेय चट्टानो की रचना पिघले हुए शैलमूल अथवा लावा द्वारा होती है, किन्तु उनकी रासायनिक सरचना भिन्न-भिन्न होती है। इन चट्टानो की संरचना में विभिन्न तत्त्वो का विभिन्न अनुपात मे मिश्रण होता है। सिलिका आग्नेय चट्टानो का एक आवश्यक तत्त्व है। इसका अल्पाधिक मात्रा मे मिश्रण अवश्य रहता है। सिलिका की मात्रा के आधार पर आग्नेय चट्टानो के मुख्य दो भेद है :

(अ) अम्ल आग्नेय चट्टानें (Acid Igneous Rocks),
(ब) पैठिक आग्नेय चट्टानें (Basic Igneous Rocks)।

(अ) **अम्ल आग्नेय चट्टानें**—जब आग्नेय चट्टानो मे सिलिका की मात्रा 65 प्रतिशत से अधिक होती है तो उन्हें **अम्ल आग्नेय चट्टानें** कहते है। इनमे जब सिलिका की मात्रा 55 से 65 प्रतिशत होती है तो उन्हें **मध्यम अम्ल आग्नेय चट्टानें** (Intermediate Acid Igneous Rocks) कहा जाता है।

अम्ल चट्टाने सामान्यत. पृथ्वी की ऊपरी परत सियाल में मिलती है। ये हल्के रंग की होती है। प्रायः इनका रंग पीला और फीका होता है। इनमें सिलिका की मात्रा 75 प्रतिशत से अधिक होती है। इनमे लोहे तथा मैगनेशियम की कमी तथा बिल्लौर एवं फेल्सपार की अधिकता

1 Longwell, Knopf and Flint : *Physical Geology*, p. 293

होती है। ये ठोस पिण्ड रूप में उपलब्ध होती हैं। इनके ऊपर ऋतु-अपक्षय (weathering) का बहुत कम प्रभाव होता है। अतः इन चट्टानों का इमारतों के निर्माण में उपयोग किया जाता है। ग्रेनाइट इसी प्रकार की चट्टान है। इन चट्टानों में बालू सिलिका की मात्रा अधिक होती है, अतः इनका पिघला हुआ पदार्थ शीघ्र जम जाता है। फलस्वरूप इनसे पर्वतों की रचना होती है।

(ब) पैठिक आग्नेय चट्टानें (Basic Igneous Rocks)—इन चट्टानों में सिलिका की मात्रा अम्ल चट्टानों से कम होती है। जब आग्नेय चट्टानों में सिलिका की मात्रा 45 से 55 प्रतिशत तक होती है तो उन्हें **पैठिक आग्नेय चट्टानें** कहते हैं। जिन चट्टानों में सिलिका की मात्रा 45 प्रतिशत से भी कम होती है तो उन्हें अति-पैठिक आग्नेय चट्टानें (ultia-basic igneous rocks) कहा जाता है।

ये चट्टानें अम्ल चट्टानों से भारी होती हैं। अतः ये पृथ्वी के सीमा वाले भाग में मिलती हैं। इन चट्टानों में क्षार पदार्थ का अभाव होता है। इनमें लोहे के ऑक्साइड, एल्यूमीनियम एवं चूने की अधिकता होती है। इनका रंग गहरा और काला होता है। इन चट्टानों में बालू और सिलिका की मात्रा कम होती है जिससे पिघली हुई अवस्था में ये चट्टानें बहुत देर से जमती हैं। विलम्ब से जमने के कारण ये धरातल पर फैल जाती हैं और इनसे पर्वतों की रचना नहीं होती। इसके विपरीत ये पठारों की रचना करती हैं। दकन का पठार, आस्ट्रेलिया का पठार और अबीसीनिया का पठार इसके उदाहरण हैं। बेसाल्ट मुख्य पैठिक चट्टान है। यह ग्रेनाइट से अधिक ऊँचे तापमान पर पिघलती हैं, परन्तु यह ऋतु-अपक्षय से बहुत शीघ्र और अधिक प्रभावित होती है। ये चट्टानें शीघ्र टूट जाती हैं इसीलिए भवन-निर्माण में इनका बहुत कम उपयोग होता है।

प्रमुख आग्नेय चट्टानों का परिचय

ग्रेनाइट (Granite)—यह एक कठोर चट्टान है जो भू-गर्भ में मैगमा के जमने से बनती है। इसमें अभ्रक, फेल्सपार और स्फटिक आदि खनिज मिलते हैं। इसमें सैकता की मात्रा 65 से

चित्र 227—ग्रेनाइट चट्टानों में जोड़

80 प्रतिशत तक होती है। इसके खनिज-कण खुरदुरे होते हैं। इसकी सतह पर सन्धियाँ पायी जाती हैं। यह भवन-निर्माण के लिए विशेष उपयोगी है। हार्नब्लेण्ड, रायोलाइट, प्यूमिस, आब्सीडियन तथा पिचस्टोन ग्रेनाइट वर्ग की मुख्य चट्टानें हैं।

डायोराइट (Diorite)—यह ग्रेनाइट से अधिक भारी चट्टान है। इसकी रचना मुख्यत फेल्सपार और हार्नब्लेण्ड खनिजो से होती है। इसमे बायोराइट और ओगाइट के अश भी मिल सकते है। इसमे स्फटिक नही होता। इसके कण समान होते है।

गैब्रो (Gabb o)—यह एक भारी पातालीय चट्टान है। इसकी रचना फेल्सपार तथा ओगाइट खनिजो से होती है। प्राय इसका रग काला होता है। इसमे सैकता का अश 40 से 50 प्रतिशत तक रहता है। इसमे खुरदुरे तथा समान दोनो प्रकार के कण मिलते है।

पेरीडोटाइट (Peridotite)—यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण चट्टान है। इसमे ओगाइट अथवा ओलीवाइन खनिज मिलते है। इस चट्टान मे क्रोमियम, निकिल तथा प्लेटीनम जैसी मूल्यवान धातुएँ पायी जाती है।

राओलाइट (Rhyolite)—यह बहुत ही उम्दा रवो से बनी हुई चट्टान है जिसमे फेल्सपार, स्फटिक तथा बायोराइट खनिज मिलते है। ऐसी चट्टाने जोधपुर के समीप मालानी और सौराष्ट्र मे गिरिनार पर्वत पर मिलती है।

बेसाल्ट (Basalt)—यह गैब्रो नामक चट्टान का ज्वालामुखी प्रतिरूप है। इसकी बनावट अच्छे महीन रवों से होती है। फेल्सपार के अच्छे रवे इसकी सतह पर मिलते है। यह भारी होती है और इसका रग भूरा या काला होता है। इसमे खनिजो को पहचानना कठिन होता है। प्राय इसमें ओगाइट, ओलीवाइन व मेग्नेटाइट खनिज मिलते है।

(ख) अवसादी चट्टानें
(Sedimentary Rocks)

धरातल पर पायी जाने वाली अधिकाश चट्टाने अवसादी चट्टाने है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी के धरातल का लगभग 75% भाग इन्हीं चट्टानो द्वारा घिरा हुआ है और शेष 25% भाग मे आग्नेय तथा कायान्तरित चट्टाने फैली हुई है। इस प्रकार भू-पटल पर अवसादी चट्टानो का फैलाव ही अधिक है। फिर भी ये चट्टाने भू-पृष्ठ का बहुत कम भाग बनाती है, क्योकि इनका घनत्व बहुत कम है और ये केवल धरातल के ऊपर ही फैली हुई है। इसके विपरीत धरातल के नीचे गहराई में केवल आग्नेय व कायान्तरित चट्टाने मिलती है जो घनत्व मे अधिक है। इस प्रकार भू-पृष्ठ को बनाने वाली यदि सभी चट्टानों के योग को लिया जाय तो उसमे 95 प्रतिशत भाग आग्नेय चट्टानो का तथा 5 प्रतिशत भाग अवसादी चट्टानो का होगा। किन्तु अपने विस्तार के कारण अवसादी चट्टाने ही वस्तुत. धरातल पर विभिन्न भू-आकार प्रस्तुत करती है।[1]
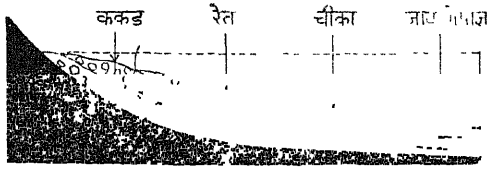
चित्र 228—अवसादी चट्टानों के निर्माण की प्रक्रिया

प्रारम्भ मे जब पृथ्वी द्रव अवस्था से ठोस अवस्था को प्राप्त हुई तो पृथ्वी के प्राय सभी भाग आग्नेय चट्टानों द्वारा निर्मित थे। उस काल मे धरातल पर परतदार चट्टानो का कोई चिह्न नहीं था। अपक्षय के प्रभाव से धीरे-धीरे आग्नेय चट्टानों का अपरदन प्रारम्भ हुआ, जिससे आग्नेय चट्टाने टूटकर चूर्ण रूप मे बदलने लगी। आग्नेय चट्टानो का यही क्षय पदार्थ या चूर्ण पवन अथवा जल के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को जमा किया जाने लगा। अत. धरातल पर पायी जाने

1 Longwell, Knopf and Flint : *Physical Geology*, p. 253

वाली परतदार चट्टानें वे ही है जो कि अवसाद (sediments) के रूप मे कही जमा की गयी है। अँग्रेजी शब्द 'sedimentary' लैटिन भाषा के 'sedimentum' शब्द से बना है जिसका अर्थ नीचे बैठने (sitting down) से होता है। अस्तु, वे सभी चट्टानें जो चट्टान चूर्ण के एकत्र होकर जमा हो जाने से बनी है, अवसादी चट्टानें कहलाती है। **वारसेस्टर** के अनुसार, अवसादी चट्टानें, जैसा कि अवसाद का तात्पर्य है, मुख्यत प्राचीन चट्टानो के टुकड़ो और खनिजो के किसी न किसी रूप मे सगठित हो जाने तथा परतो मे व्यवस्थित हो जाने से बनती है। "Sedimentiay Rocks, as the sediment implies, aie composed laigely of fiagments of older iocks, and mineials, that have been moie or less thoroughly consolidate and arianged in layeis oi stiata."[1] अवसाद का जमाव दो प्रकार से होता है—पवनो द्वारा अथवा नदियो द्वारा। पवन और नदियाँ क्षय पदार्थ को एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर जमा कर देती हैं, इसमें कुछ निक्षेप तो भूमि पर ही होता है, परन्तु अधिकतर निक्षेप झीलो अथवा समुद्रो के गर्भ मे होता है। क्षय पदार्थो मे रेत, कंकड़, काप आदि सभी वस्तुएँ रहती है। नदियाँ इनमे से कुछ पदार्थो को अपनी घुलन शक्ति (solution powei) द्वारा और कुछ अन्य पदार्थो को अपनी प्रवाह-शक्ति द्वारा समुद्र मे पहुँचाती रहती है। समुद्र मे इनका निक्षेप समान्तर रूप से होता है, परन्तु निक्षेप के समय इनके कण अपने आकार और बोझ के अनुसार छँटते रहते है। पहले भारी और मोटे कण, इनके आगे रेत और फिर काँप आदि जमते है। यह क्रम बराबर बना रहता है। इस कारण एक स्थान पर एक ही वजन और आकार के पदार्थ जमा होते है। कभी-कभी यह निक्षेप हजारो फुट तक पहुँच जाता है। वजन और आकार के अनुसार कणो के निक्षेप मे परतों का निर्माण होता है। परतो का निर्माण होने से ही इन चट्टानों को **परतदार चट्टानें** (Stiatified iocks) भी कहा जाता है।

यद्यपि यह सही है कि परतदार चट्टानो का निर्माण आग्नेय चट्टानो के क्षय पदार्थों के द्वारा ही होता है किन्तु समुद्र मे रहने वाले जीव-जन्तु और उसके अन्दर पायी जाने वाली वनस्पति भी इनके निर्माण मे काफी योग देती है। कई समुद्री जीवो के शरीर के खोल की रचना समुद्र मे पाये जाने वाले रासायनिक तत्त्वो से होती हे। अत. जब ये जीव मर जाते है तो लहरो द्वारा इनके शरीर का क्षय होने लगता है और धीरे-धीरे चूर्ण होकर समुद्र मे जम जाता है। इसी प्रकार वनस्पति भी सड़-गलकर पानी मे घुल जाती है और फिर पेंदे मे बैठ जाती है। कालान्तर में ये ही पदार्थ परतदार चट्टानो का रूप ले लेते है।

समुद्र के अन्दर ज्यो-ज्यो निक्षेपित पदार्थों की मात्रा बढती जाती है त्यो-त्यों निचली परतों पर उसका दबाव बढ़ता जाता है। दबाव बढ़ने से ये परतें कठोर हो जाती है। परन्तु इतने दबाव पर भी परतों के कणो के बीच छोटे-छोटे छिद्र रह जाते है। चट्टानो की परतो के कणो मे ये छिद्र शरीर के रोम-कूपो के समान ही होते है। प्रायः इन रोम-छिद्रो से धरातल का पानी टपकता रहता है और इस पानी के साथ चूना (calcium caibonate) तथा अन्य रासायनिक पदार्थ भी आते रहते हैं, जो छिद्रों के रिक्त-स्थानों मे एकत्रित होकर अलग कणो को एक ठोस चट्टान के रूप मे जोड़ देते है।

परतदार चट्टानों की विशेषता

(1) यदि इन चट्टानों को चाकू अथवा किसी कठोर पदार्थ से खुरचा जाय तो इन चट्टानों पर एक धारी बन जायगी और धारी चूर अलग हो जायगी। अब यदि इस चूर को सूक्ष्मदर्शक

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 69

यन्त्र से देखा जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि इस चूर में छोटे-बड़े अनेक सूक्ष्म कण विद्यमान होते है। इन सूक्ष्म कणो का विशेष निरीक्षण करने पर यह भी विदित होगा कि ये कण विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों से प्राप्त हुए है। इस प्रकार परतदार चट्टानें भिन्न-भिन्न रूप की होती है और छोटे-बड़े भिन्न-भिन्न कणो से निर्मित होती है।

(2) इन चट्टानो की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें बहुत-सी परते अथवा स्तर (layers) होते है जो एक के ऊपर एक समतल रूप से जमे होते है। इन परतो की विशेषता ही इन चट्टानों को आग्नेय चट्टानो से अलग करती है।

(3) इन चट्टानो मे वनस्पति तथा जीव-जन्तुओ के अवशेष पाये जाते हैं। ये प्राणीज अवशेष प्राय. दो परतो के बीच दबे रहते है। इन अवशेषों से चट्टानो के बनने के स्थान व समय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

(4) समुद्र-जल मे निर्मित होने के कारण इनमे लहरो और धाराओ के चिह्न, एक-दूसरे को काटती हुई क्यारियाँ, पगडण्डियाँ और चूहों के बिल उसी तरह प्राप्त होते हैं जैसे कि समुद्रतट की बालू मे मिलते है।

(5) ये चट्टानें अपेक्षाकृत मुलायम होती है। इनमे रवे नही होते। ये चट्टाने अपरदन से शीघ्र प्रभावित होती है।

(6) इन चट्टानो मे जोड़ तथा सन्धियाँ होती है। ये जोड़ें मुख्यतः सयोजक तल (bedding planes) से लम्बवत होती है।

(7) भू-पटल का अधिकांश क्षेत्र अवसादी चट्टानो से घिरा हुआ है किन्तु गहराई में ये कम देखी जाती है। इसीलिए डा० दुबे का यह कथन सही है कि "The sedimentary rocks are important for extent and not for depth in earth crust."

(8) कई बार अवसादी चट्टानो का निर्माण नदियो द्वारा लायी हुई पंक मिट्टी से होता है। ऐसी चट्टानो मे सूर्य की किरणो द्वारा बड़ी-बड़ी दरारें पड़ जाती है जिनका आकार प्रायः बहुभुज के समान होता है। इन दरारो को पंक कटन (mud crack) कहा जाता है। कछारी भाग मे इन दरारों के कारण कभी-कभी हल चलाना कठिन हो जाता है।

अवसादी चट्टानों की औसत खनिज रचना

खनिज	बालुका प्रस्तर	शैल	चूने का पत्थर
स्फटिक	69·8	31·9	3·7
फेल्सपार	8·4	17·6	2·2
अभ्रक	1 2	18·4	—
चीका	6·9	10·0	1 0
क्लोराइट	1·1	6 4	—
केल्साइट एवं डोलोमाइट	10·6	7·9	92·8
लोहा	1·7	5·4	0·1
अन्य	0·3	2 4	0 3

अवसादी चट्टानों के भेद

अवसादी चट्टानो को उनकी निर्माण-विधि के अनुसार चार बड़े भागो मे विभक्त किया जा सकता है.

(अ) पूर्ववर्ती चट्टानों के क्षय पदार्थों से निर्मित चट्टाने,

(ब) जल में घुले हुए रसायनो से निर्मित चट्टाने,

(स) कार्बनिक तत्त्वो से निर्मित चट्टाने,

(द) विभिन्न साधनो द्वारा निर्मित चट्टाने।

(अ) **पूर्ववर्ती चट्टानों के क्षय पदार्थों से निर्मित चट्टानें**—अपक्षय के कारण धरातल की चट्टानों का बराबर विखण्डन होता रहता है। विखण्डन के कारण चट्टानें चूर-चूर हो जाती है। परिवहन की शक्तियाँ (transporting agents), जलधाराएँ, वायु और हिमनदी आदि चट्टानों की इस चूर को अपनी प्रवाह-शक्ति से बहा ले जाती है और अन्य स्थानो पर जमा कर देती हैं। परन्तु जमा करने की इस क्रिया मे एक क्रम होता है। पहले भारी और कुछ बड़े पदार्थ फिर छोटे तथा हल्के पदार्थ जमा होते है अर्थात शिला-चूर अपने भारीपन के अनुसार जमा होती रहती है। परिवहन की शक्तियों द्वारा बहाकर लाये इस शिला-चूर में प्राय: बालू तथा चिकनी मिट्टी के कण मिले होते है। अतः चट्टान चूर्ण की बनावट के अनुसार इन चट्टानों के निम्न भेद किये जा सकते है :

(i) **बालू-प्रधान चट्टानें** (Arenaccous)—वे चट्टानें जिनमे बालू और बजरी की अधिकता होती है, बलुही चट्टानें (arenaceous) कहलाती है। इन चट्टानो मे स्फटिक (quaıtz) की प्रधानता पायी जाती है। स्फटिक कठोर खनिज होने के कारण इसके कण आकार में बड़े होते है। स्फटिक के समान अन्य खनिज भी इन चट्टानो मे मिले रहते है। पानी मे घुली मिट्टी, चूना, सिलिका तथा लोहा के प्रभाव से ये कण आपस मे मिलकर कठोर हो जाते है और चट्टान के रूप मे बदल जाते है। ऐसी चट्टानों मे बालुकाप्रस्तर (sand stone), शैल और कंकण सबसे मुख्य है। ये चट्टानें अत्यधिक रन्ध्रपूर्ण (porous) होती है। अत: ये सदैव ही जलपूर्ण रहती है। इस जल को कुएँ खोदकर प्राप्त किया जा सकता है। कठोर तथा टिकाऊ होने के कारण ये चट्टानें भवन-निर्माण कार्यो मे प्रयुक्त की जाती है।

(ii) **चिकनी मिट्टी-प्रधान चट्टानें** (Aıgıllaceous)—वे चट्टानें जिनमे बालू की अपेक्षा चिकनी मिट्टी के कणों की अधिकता होती है, चिकनी मिट्टी-प्रधान चट्टाने (argıllaceous) कहलाती है। बारीक-बारीक मिट्टी के कणो के जमाव से बनने के कारण इन चट्टानों मे रन्ध्र बहुत कम होते है। अत: इनको भेद कर पानी नीचे नही जा सकता। ये चट्टानें अभेद्य (non-poıous) होती है। ये चट्टाने प्राय: कीचड़ के ठोस होने से (mudstones) बनती है। ये बड़ी मुलायम और कमजोर होती है, इस कारण मौसमी क्षति के प्रभाव तथा अपक्षरण के कारण बहुत शीघ्र घिसकर टूट जाती है। भू-पटल पर जहाँ कही भी ऐसी चट्टाने पायी जाती है वहाँ प्राय. निम्न प्रदेश की रचना हो जाती है। कमजोर होने के कारण इन चट्टानो का भवन-निर्माण कार्यों में प्रयोग नहीं होता। शैल (Shale) इस वर्ग की सबसे महत्त्वपूर्ण चट्टान है। इनमें चिकनी मिट्टी की बहुत-सी किस्मे पायी जाती है जो मिट्टी के बर्तन तथा ईंटे बनाने के काम में लायी जाती हैं। उपर्युक्त दो किस्मो के अतिरिक्त निम्न चट्टाने भी उक्त चट्टानो से मिलती-जुलती है।

(iii) **सपिण्डाश्म** (Conglomerate)—ये भी बलुही चट्टानों से मिलती-जुलती हैं। जब बजरी (Gravel) और अष्ट्रीला (Pelıliles) जैसे गोलाकार चट्टानी टुकड़े रेतीले पदार्थ से परस्पर चिपककर चट्टान बन जाते है तो उसे सपिण्ड (conglomerate) चट्टान कहा जाता है।

(iv) **संकोणाश्म** (Breccia)—संकोणाश्म भी उपरोक्त किस्म का ही एकत्रित पदार्थ है। ये नुकीले चट्टानी टुकड़ों के मिलने से बनती है। रेत इनको जोड़ने मे सीमेण्ट का काम करता है।

(**ब**) **जल में घुले हुए रासायनिक पदार्थों से निर्मित चट्टानें**—बहता हुआ जल अपनी विलयन-शक्ति (solution power) के कारण चट्टानो से बहुत सारे रासायनिक तत्त्व ग्रहण कर लेता है और फिर उन्हें झरनों के मुहानों तथा खारी झीलों मे एकत्रित कर देता है। जब पानी भाप बनकर उड़ जाता है तो ये रासायनिक पदार्थ तहों के रूप में जमे रह जाते है और कालान्तर में चट्टानें बन जाते हैं। चट्टानी-लवण (rock salt), शोरा, पोटैशियम, नमक, हरसौंठ (gypsum),

ओलाइट (oolite), लौह-निक्षेप (iron deposits) तथा अश्चुताश्म और निश्चुताश्म आदि सब ऐसी ही चट्टाने है।[1]

(स) कार्बनिक तत्त्वों से बनी चट्टाने (Carbonaceous Rocks)—कभी-कभी जीव-जन्तुओं तथा पेड-पौधो के नष्ट हो जाने पर और उनके भूमि के नीचे दब जाने से ये अवशेष अस्थि-पंजर धीरे-धीरे ऊपरी दबाव तथा गर्मी के कारण कठोर होकर चट्टान के रूप मे बदल जाते है। कोयला (coal), चूने का पत्थर (lime stone), मूँगे की चट्टान (coral-reef) आदि इसी प्रकार बनी हुई चट्टाने है। परन्तु इस प्रकार बनी चट्टानों मे किसी मे चूने की प्रधानता होती है और किसी मे कार्बन की।

चूने तथा कार्बन की मात्रा के अनुसार इन चट्टानो के निम्न दो भेद किये जाते है :

(i) **चूना-प्रधान चट्टाने** (Calcareous Rocks)—चूना-प्रधान चट्टाने जल मे घुले हुए चूने तथा जीव-जन्तुओ के अवशेषो से बनती है। इसके बनने के लिए सबसे उपयुक्त स्थान समुद्र है। समुद्रो मे जलचारी जीवो के ढाँचे एक के ऊपर एक बराबर एकत्रित होते रहते है। जीवों का भी जमाव कालान्तर मे चूने की चट्टान (lime stone) बन जाता है। अधिकतर ऐसी चट्टाने उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्ध के समुद्रो मे बनती है जहाँ जीवो तथा वनस्पतियो के योग्य प्रचुर मात्रा मे भोजन तथा उपयुक्त तापमान रहते है। इसी कारण ये चट्टाने इन्ही भागों मे बहुलता से मिलती है। इन चट्टानो मे बालू तथा मिट्टी के भिन्न अनुपात मे मिल जाने पर इनके कई भेद हो जाते है, जैसे खड़िया, सेलखड़ी, डोलोमाइट आदि। इनमे से कुछ चट्टानें नरम तथा रन्ध्रमय होती है और कुछ ठोस तथा कठोर। खड़िया (chalk) एक रन्ध्रमय चट्टान है परन्तु डोलोमाइट (dolomite) एक कठोर तथा अरन्ध्र चट्टान है।

साधारणत चूने का पत्थर घुलनशील होता है। इसलिए इन चट्टानो पर अपक्षय (weathering) का प्रभाव बहुत शीघ्र होता है। नरम होने के कारण इसको इच्छानुसार आकार दिया जा सकता है। इस कारण भवन-निर्माण में इसका बहुत प्रयोग होता है। इससे सीमेण्ट भी बनाया जाता है। यह लोहा गलाने मे भी काम आता है।

(ii) **कार्बन-प्रधान चट्टाने** (Carbonaceous Rocks)—वे चट्टाने जिसमें कार्बन तत्त्वो की अधिकता होती है; कार्बन-प्रधान चट्टानें कहलाती है। ये चट्टाने अधिकतर पेड़-पौधों के अवशेषों से बनती है। वनस्पति तत्त्वो के अंश दबाव तथा गर्मी के प्रभाव से जमकर चट्टान बन जाती है। कोयला (coal) तथा ऑयल शैल (oil shale) कार्बन-प्रधान चट्टानो के प्रमुख उदाहरण है।

(iii) **सिलिका-प्रधान चट्टाने** (Silicious Rocks)—जब चट्टानो मे सिलिका की मात्रा अधिक होती है तो उसे सिलिका-प्रधान चट्टाने कहा जाता है। इनकी रचना मुख्यतः रेडियोलेरिया तथा स्पज जीवों एवं डायटम पौधो के अवशिष्ट भाग के जमने से होता है। प्राय. गेसर (geyser) के आसपास सफेद, भूरा अथवा पीले रंग के गेसराइट का जमाव देखा जाता है। यह गेसराइट जमाव सिलिका का ही जमाव होता है।

(द) विभिन्न साधनों द्वारा निर्मित चट्टाने—अवसादी चट्टानों के निर्माण मे मुख्यत जल, हवा, हिमानी तथा समुद्री लहरों का विशेष हाथ रहता है। अतः चट्टानो के निर्माण के इन विभिन्न साधनो के अनुसार अवसादी चट्टानों को निम्न उप-भागों मे विभाजित किया जाता है :

(1) **जलज चट्टानें** (Acquious Sedimentary Rocks)—अंग्रेजी में प्रयुक्त 'acquious' शब्द लेटिन शब्द 'aqua' से बना है जिसका अर्थ जल से होता है। अतः वे सभी अवसादी चट्टानें जिनका निर्माण जल द्वारा हुआ है, जलज चट्टाने कहलाती है। धरातल की अधिकांश

---

[1] A. K. Loback : *Geomorphology*, p. 48

अवसादी चट्टानें वस्तुतः जलज चट्टानें ही हैं, क्योकि इनकी रचना मुख्यत· नदियों द्वारा अवसाद को बहाकर अन्यत्र समुद्र, झीलें आदि जमा कर देने से ही हुई है। अवसाद के जमाव के स्थान के अनुसार इनके तीन उप-भाग किये जा सकते हैं : (i) **समुद्री चट्टाने** (Marine Rocks)—जब नदियों द्वारा अवसाद का निक्षेप समुद्रों में किया जाता है तो उसे समुद्री चट्टाने कहा जाता है। समुद्रों मे अवसाद का जमाव उनके कणों के आधार और भार के अनुसार होता है। (ii) **झीलकृत चट्टानें** (Lacustrine Rocks)—जब अवसाद का निक्षेप झीलो में होता है तो वहाँ बनी हुई चट्टाने झीलकृत चट्टाने कहलाती हैं। झीलों में निक्षेप नदियों तथा हवा दोनों से ही हो सकता है। इनमें भी निक्षेप क्रमानुसार होता है। यहाँ की चट्टाने सतह पर तभी प्रकट होती है जबकि झील सूख जाये या झील की तली ऊपर उठ जाये अथवा समूची झील अवसाद से भर जाये। (iii) **नदीकृत चट्टानें** (Riverine Rocks)—जब अवसाद का निक्षेप नदियों की तलहटी या उनके किनारों पर होता है तो ऐसी चट्टानों को नदीकृत चट्टाने कहा जाता है। भारत के उत्तरी मैदान, नील, ह्वांगहो तथा मिसीसिपी नदियों के मैदानों तथा डेल्टाओं में गहरी काँप मिट्टी का निक्षेप देखा जाता है जो दूसरे रूप में अवसादी चट्टानें ही है।

(2) **हिमानीकृत चट्टानें** (Glacial Rocks)—हिमानियाँ जब बहती हैं तो अपने पेटे व आसपास के स्थानों को खुरचकर चट्टानों के चूर्ण को बहा लाती है। हिमानियाँ अपने साथ बहाकर लाये गये पदार्थों अर्थात् हिमोढ को यत्र-तत्र छोडती चलती है जिससे चट्टानों की रचना हो जाती है। उत्तरी अमरीका के उत्तरी भाग तथा उत्तरी यूरोप मे हिमानीकृत चट्टाने विशाल क्षेत्रों मे फैली हुई पायी जाती हैं।

(3) **वायु निर्मित-चट्टाने** (Aerolian Rocks)—धरातल के उष्ण और शुष्क प्रदेशो व यान्त्रिक अपक्षय के कारण चट्टानो का विघटन और अपघटन होता रहा है, जिससे वहाँ बडी मात्रा में चट्टान चूर्ण की रचना हो जाती है। हवा इस चट्टान चूर्ण को एक स्थान से उड़ाकर दूसरे स्थान पर जमा कर देती है। निरन्तर जमाव के कारण कालान्तर मे अवसाद की परते बन जाती है। कभी-कभी इनमे परतों का अभाव भी होता है। वायु द्वारा निर्मित ऐसी चट्टानों को वायूढ शैल भी कहा जाता है। लोयस का निक्षेप वायु-निर्मित चट्टानों का सबसे अच्छा उदाहरण है। लोयस का निक्षेप उत्तरी चीन, मध्य यूरोप तथा मध्य संयुक्त राज्य अमरीका मे बड़ी मात्रा मे देखा जाता है।

निम्न तालिका मे मुख्य तलछट या जमाव और उनसे बनने वाली स्तरीभूत चट्टानो को बताया गया है :

जमाव (Sediment)	**स्तरीभूत चट्टानें**
1. गोल बजरी (gravel), कंकड़ (pebbles), बोल्डर्स (boulders)	पिण्डाश्म शैल या कंकड़ की चट्टाने (Conglomerates)
2. कोणीय बजरी, कंकड़-पत्थर	प्रस्तरीभूत संकोणाश्म शैल (Sedimentary Breccia)
3. बालू मिट्टी (Sand)	बलुहा शैल (Sand stone)
4. चिकनी मिट्टी (Clay)	पंकाश्म शैल (Mud stone) शैल (Shale), आर्गेलाइट
5. चूना, बालू, कीचड़, सामुद्रिक जीवों के अवशेष	चूने का पत्थर (Lime stone)

प्रमुख अवसादी चट्टानों का विवरण

बलुआ पत्थर (Sand stone)—यह अवसादी चट्टान का प्रमुख रूप है। यह बालू के कणो के परस्पर चिपकने से बनती है। निक्षेप के अनुसार इनकी मोटी अथवा पतली तहे होती है। प्राय: इसका रंग लाल, भूरा तथा सफेद होता है। इनका रंग बालू की बनावट, उनको जोड़ने वाले पदार्थ एवं उनमें प्राप्त अशुद्ध पदार्थों पर निर्भर करता है। यह एक सरन्ध्र (porous) चट्टान है। इनके कणो के बीच में असंख्य छिद्र होते है। बलुआ पत्थर रचना मे कठोर होता है। इसको चाक से तभी काटा जा सकता है जबकि इसमे अल्पाधिक मात्रा में चिकनी मिट्टी हो।

साधारणत. बलुआ पत्थर मे सैकता की मात्रा ही अधिक होती है। जब इसमे फेल्सपार की मात्रा अधिक होती है तो उसे **आरकोज** (arkose) कहते है। जब अभ्रक की मात्रा अधिक होती है तो उसे अभ्रकमय बलुआ पत्थर कहते है। खुरदरा बलुआ पत्थर ग्रिट (Grit) कहलाता है। बलुआ पत्थरों मे विभिन्न आकार के कण होते है; जैसे, गोलाश्म (Boulders), बट्टिकाएँ
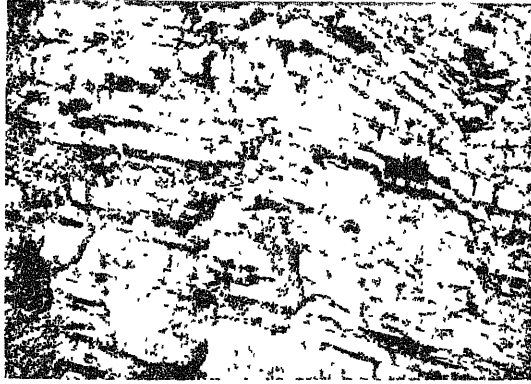
चित्र 229—**बालुका प्रस्तर** (अवसादी शैलो का दृश्यांश)

(Cobbles), गिट्टी (Pebbles), कंकड़ (Gravel) और मृत्तिका (Clay) आदि। बलुआ पत्थरों को उनके कणो को खुर्दबीन की सहायता से अथवा आँख से देखकर पहचाना जा सकता है।

चूने का पत्थर (Lime stone)—समुद्र-जल मे कैलशियम कार्बोनेट की प्रधानता है। समुद्री जीवो के खोल (shells) इससे बनते हैं। इन जीवों की मृत्यु के बाद उनके ये खोल (shells) समुद्र तल पर एकत्र हो जाते है जो कालान्तर मे चट्टान का रूप ले लेते है। समुद्र-जल के घोल भी इसकी रचना मे योग देते है। इस प्रकार चूने का पत्थर कैल्शियम कार्बोनेट का निक्षेप है। इन पत्थरों में जीवों के अवशेष मिलते है। कुछ चूने के पत्थर बहुत ही बारीक कण वाले, कुछ बारीक रवे वाले और कुछ दानेदार होते है। ये कई रग के होते हैं। सामान्यत ये हल्के भूरे, हल्के पीले, लाल तथा काले रंग के होते हैं। इनमे कैलसाइट खनिज होता है, अत: यह चाकू द्वारा सरलता से खुरचा जा सकता है। इसके ऊपर गन्धक का तेजाब डालने से बुलबुले उठने लगते हैं।

खड़िया (Chalk)—यह भी एक प्रकार का चूने का पत्थर ही है। इसमे अत्यन्त बारीक कण होते है। इसकी रचना बहुत ही छोटे-छोटे समुद्री जीवो के खोलो से होती है। इसमें अच्छी तहें होती है। इसका रंग सफेद या हल्का भूरा होता है। यह बहुत ही मुलायम और ढीली चट्टान होती है।

चिकनी मिट्टी और शैल (Clay and Shale)—बारीक कणों के ढीले पिण्ड को मृत्तिका (clay) कहते है। जब इसकी पतली तहें ठोस कड़ी चट्टान बन जाती है तो उसे **शैल** (Shale) **कहते हैं**। शैल अपने संस्तरण तलों (bedding-plane) पर सरलता से टूट जाती है। इन चट्टानों

विशेषता रहती है। अवसादी चट्टानो की तरह इन चट्टानों की रचना मे स्थानान्तरण का कोई स्थान नही है। ये अपनी मूल स्थिति मे ही आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों, भीतरी गर्मी तथा दाब और घुलन-क्रिया के प्रभाव से अपना रूप बदल देती है।
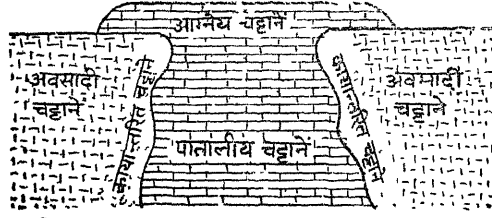
चित्र 231—कायान्तरित चट्टानें

आग्नेय शिलाओ की तरह कायान्तरित चट्टानें भी स्फाटीय (Crystalline) होती है। अस्तु, इन दोनों मे बहुत कम अन्तर देखा जाता है। परन्तु कायान्तरित चट्टानों में स्फट व्यवस्थित रूप मे और समान्तर तहो मे जमे रहते है जबकि आग्नेय चट्टानो मे ऐसी कोई व्यवस्था देखने को नही मिलती। स्फटो की व्यवस्था से इन दोनों ही चट्टानों का भेद स्पष्ट हो जाता है। चट्टानो मे परिवर्तन उपस्थित करने वाले मुख्य कारण गर्मी और दाब ही है। परन्तु चट्टानो में परिवर्तन कई तरह से होता है। कुछ चट्टानों मे परिवर्तन बहुत ही धीरे-धीरे होता है और कुछ चट्टानों मे बहुत ही शीघ्र होता है।

कायान्तरण के कारण
(Causes of Metamorphism)

चट्टानों में कायान्तरण के प्रमुख निम्न कारण है :

(1) **ताप** (Heat)—चट्टानो मे कायान्तरण का सबसे बड़ा कारण ताप या गर्मी है। कठोर से कठोर चट्टाने भी गर्मी से पिघल जाती हैं। फलस्वरूप गर्मी के कारण चट्टानों के खनिज, उनके कण और कणों के क्रम मे बड़ा परिवर्तन आ जाता है। कायान्तरण के लिए आवश्यक गर्मी ज्वालामुखी उद्गार के समय निकलने वाले गर्म लावा से अथवा पृथ्वी के भीतरी ताप से प्राप्त होती है। पर्वत निर्माणकारी हलचलो के समय पृथ्वी के भीतर उत्पन्न गर्मी तथा लावा के सम्पर्क से कई चट्टाने पिघलकर अपना रूप परिवर्तन कर देती है।
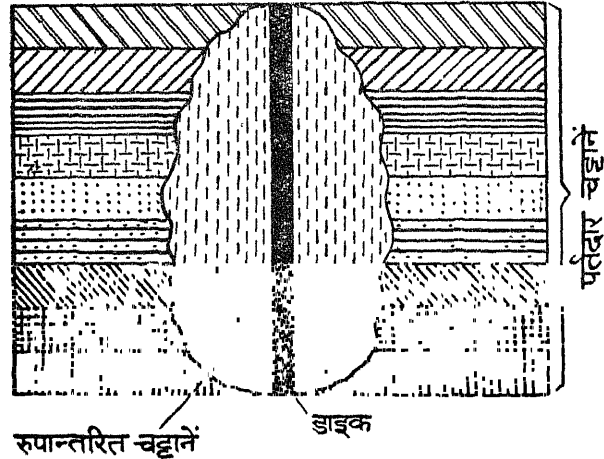
चित्र 232—ताप के कारण रूपान्तरण

(2) **दबाव या सम्पीड़न** (Compression)—चट्टानों में कायान्तरण का दूसरा प्रमुख कारण सम्पीड़न है। महाद्वीप निर्माणकारी एवं पर्वत निर्माणकारी हलचलों के समय भू-पटल की

चट्टानों पर भारी दबाव पड़ता है। इस दबाव के फलस्वरूप चट्टानो मे भारी उलट-फेर हो जाता है। इससे न केवल उनका संगठन ही बदल जाता है अपितु उनका रूप भी परिवर्तित हो जाता है। पर्वत निर्माण के समय जब चट्टानो मे मोड पडते है तो उस समय चट्टानों पर भारी सम्पीड़न पड़ता है। इसलिए दबाव का प्रभाव मुख्यत. पर्वतीय भागो मे अधिक देखा जाता है।

(3) **घोल** (Solution)—जल मे सभी पदार्थो को घुलाने की शक्ति होती है। कार्बन डाइऑक्साइड तथा ऑक्सीजन गैस के मिल जाने पर जल की घुलनशक्ति और बढ जाती है। कार्बन तथा ऑक्सीजनयुक्त वर्षा-जल जब भूमि मे पहुँचता है तो वह कई चट्टानो के खनिजो को घुला डालता है। जब इस जल का सम्पर्क अन्य चट्टानो से होता है तो उक्त चट्टान से रासायनिक सगठन मे अन्तर आ जाता है। भूमि के अन्दर मैगमा के साथ मिला हुआ जल एवं अवसादी चट्टानों की परतो के बीच दबा हुआ जल भी चट्टानों में रासायनिक कायान्तरण कर देता है।

कायान्तरित चट्टानों के भेद

कायान्तरित चट्टानों का वर्गीकरण निम्न आधार पर किया जा सकता है :

(अ) मूल चट्टानो के आधार पर,

(ब) तहो की बनावट और कणो के गुण के आधार पर,

(स) परिवर्तन के अभिकर्ता के आधार पर,

(द) कायान्तरण के क्षेत्र के आधार पर।

(अ) मूल चट्टानों के आधार पर कायान्तरित चट्टानों के भेद

(1) **परि-अवसादी चट्टानें** (Para-metamoiphic Rocks)—जो चट्टानें अवसादी चट्टानों के परिवर्तन से बनी है उन्हे परि-अवसादी चट्टाने कहा जाता है। जैसे चूने का पत्थर परिवर्तित होकर संगमरमर का रूप ग्रहण कर लेता है। शैल चट्टान स्लेट में बदल जाती है।

(2) **परि-आग्नेय चट्टाने** (Oitho-metamorphic Rocks)—ये चट्टाने आग्नेय चट्टानो का कायान्तरित रूप है। जैसे नीस चट्टान ग्रेनाइट का परिवर्तित रूप है।

(3) **पुनः परिवर्तित चट्टाने** (Bi-metamorphic Rocks)—ये कायान्तरित चट्टानों मे पुनः परिवर्तन हो जाने से बनती है।

(ब) तहों की बनावट और कणों के गुण के आधार पर कायान्तरित चट्टानों के भेद

(1) **पत्राभिकृत कायान्तरित चट्टानें** (Foliated Metamorphic Rocks)—इन चट्टानों में स्फटिकों की समान्तर व्यवस्था बड़ी अच्छी होती है। इसके कण महीन होते है। इसमें परतें होती है और उनकी क्रमिक व्यवस्था होती है। इनकी तहो को अलग करने पर तल विकसित होते है। जब इनको तोड़ा जाता है तो ये एक निश्चित दिशा में टूटती है। स्लेट इसका उत्तम उदाहरण है।

(2) **अपत्राभिकृत चट्टाने** (Non-foliated Metamorphic Rocks)—यह एक अधिक ठोस चट्टान है जो जलीय परिवर्तनो के कारण बनती है। इसके कण भद्दे होते है और उनकी व्यवस्था भी अच्छी नही होती। इनकी तहो को अलग करने पर तल पूरी तरह विकसित नही होते। संगमरमर इसका उदाहरण है।

(स) परिवर्तन के अभिकर्त्ता के आधार पर कायान्तरित चट्टानों के भेद

(1) **तापीय कायान्तरण** (Thermal Metamorphism)—कभी-कभी आन्तरिक ताप के कारण किसी चट्टान में इस सीमा तक परिवर्तन हो जाता है कि उसे पहचानना भी कठिन हो जाता है। ताप के प्रभाव से मूल चट्टान बदलकर सर्वथा नवीन गुण ग्रहण कर लेती है। अतः ताप के कारण परिवर्तित चट्टानें ही तापीय कायान्तरण की चट्टाने कहलाती है। ताप द्वारा चट्टानों मे परिवर्तन की मात्रा सम्पर्क की दूरी के अनुसार घटती जाती है। ताप के कारण बलुआ पत्थर

मे बालू के कण द्रवित हो जाते है और सम्पूर्ण चट्टान पुन. रवेदार स्वरूप ग्रहण कर क्वार्टजाइट बन जाती है। इसी प्रकार शैल ताप से पककर कड़ी हो जाती है और वह हार्नफेल्स मे बदल जाती है।

(2) **जलीय कायान्तरण** (Hydro-Metamorphism)—जब साधारण ताप और दाब की अवस्था में चट्टानों मे जलीय दाब के फलस्वरूप परिवर्तन होता है तो उसे जलीय कायान्तरण कहते हैं।

(3) **गतिशील कायान्तरण** (Dynamic Metamorphism)—पर्वत निर्माणकारी हलचलो के कारण बहुत-सी चट्टाने गहराई पर दब जाती हैं। इस भारी दबाव से भीतर उष्णता भी बढ जाती है। अतः इस दबाव और उष्णता से चट्टानें पूर्णतः बदल जाती है। चट्टानों मे इस प्रकार का कायान्तरण हजारो वर्षो मे होता है। गतिशील कायान्तरण के कारण शैल स्लेट में, बलुआ पत्थर बिल्लौर मे और कोयला ग्रेफाइट मे परिवर्तित हो जाता है।

(4) **उष्ण-जलीय कायान्तरण** (Hydro-Thermal Metamorphism)—जब चट्टानों में कायान्तरण उष्ण जल और भाप के कारण होता है तो उसे उष्ण-जलीय कायान्तरण कहते है। जैसे चूने का पत्थर संगमरमर मे बदल जाता है।

(5) **स्थिर कायान्तरण** (Static Metamorphism)—जब चट्टानो में परिवर्तन का एकमात्र कारण दबाव होता है तो उसे स्थिर कायान्तरण कहते हैं। भू-गर्भ मे स्थित बहुत-सी चट्टानें भार के कारण बदल जाती हैं।

(द) कायान्तरण के क्षेत्र के आधार पर चट्टानों के भेद

(1) **स्पर्श कायान्तरण** (Contact Metamorphism)—ज्वालामुखी उद्गार के समय जब लावा ऊपर उठता है तो उष्ण लावा के स्पर्श से उसके आसपास की चट्टानें पिघल जाती है तथा उनके भौतिक गुणों में परिवर्तन हो जाता है। लावा दरारों, संधो एवं कन्दराओ मे घुसकर दबाव भी उत्पन्न करता है। उष्ण लावा के साथ कभी-कभी जल भी मिला हुआ रहता है जिससे चट्टानों मे रासायनिक परिवर्तन हो जाते है। बिटुमिनस कोयला उष्ण लावा के प्रभाव से कठोर एन्थ्रेसाइट में बदल जाता है। डाइक एव सिल चट्टाने लेकोलिथ अथवा लेथोलिल के स्पर्श से परिवर्तित होती देखी गयी है।[1] चूने का पत्थर डाइक के गरम लावा के संयोग से संगमरमर मे बदल जाता है।

(2) **प्रादेशिक कायान्तरण** (Regional Metamorphism)—पर्वत निर्माणकारी हलचलों के कारण पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्र में परिवर्तन घटित होता है। इन हलचलों के कारण उत्पन्न दबाव तथा भीषण ताप के कारण गहराई मे दबी हुई आग्नेय तथा अवसादी चट्टाने पूर्णरूप से बदल जाती हैं।[2] जो चट्टानें स्फटपूर्ण नहीं होती वे स्फटपूर्ण हो जाती हैं। जिनमे स्फट होते है उनमे पुनः स्फटों की रचना हो जाती है। इन परिवर्तनों के कारण शेष स्लेट मे, बलुआ पत्थर बिल्लौर मे, कोयला ग्रेफाइट मे और चूने का पत्थर संगमरमर में बदल जाता है।

यहाँ कुछ प्रमुख कायान्तरित चट्टानों का वर्णन दिया जा रहा है :

शिस्ट या सुभाजा (Schist)—शिस्ट ग्रीक भाषा के 'शिस्टस' (schistus) शब्द से बना है जिसका अर्थ है वह जो फाड़ा जा सके। अतः वे सभी चट्टाने जो अपने अन्दर पाये जाने वाले

---

1 Longwell, Knopf and Flint : *Physical Geology*, p 419

2 "A hypothesis now much in favour holds that regional metamorphism is one of the effects that accompanies the folding of a geosynclinal mass of sediments."
—*Longwell, Knopf and Flint*

सबसे अधिक खनिजों की समान्तर दिशा मे सरलता से फटकर अलग हो जाती है, **शिस्ट** कहलाती है। इनका नाम प्राय उस खनिज के आधार पर होता है जिससे वह पृथक होने का गुण प्राप्त करती है जैसे **अभ्रक शिस्ट, हार्नब्लेंड शिस्ट** आदि। जब इनका निर्माण आग्नेय चट्टानो के कायान्तरण से होता है तो उन्हे **आर्थोशिस्ट** कहते है किन्तु जब निर्माण अवसादी चट्टानो से होता है तो उन्हे **पारा शिस्ट** कहते है। कायान्तरित चट्टानो मे यह बहुत ही व्यापक रूप से मिलने वाली चट्टान है। भारत मे दकन के पठार पर यह अधिक मिलती है।

नीस (Gneiss)—यह एक खुरदरे कणो वाली कायान्तरित चट्टान है। इसमे खनिजों के

चित्र 233—स्लेट की धारीदार सतह

जोड़ पर अलग होने का गुण नही होता। इसका निर्माण करने वाले खनिज प्रायः एक-दूसरे के समान्तर होते है। फलतः इसमे क्रमरहित स्पष्ट धारियाँ होती है। यह आग्नेय अथवा अवसादी

चित्र 234—शैल चट्टान का स्लेट में परिवर्तन

दोनो प्रकार की चट्टानो के कायान्तरण से बनती है। इसमे स्फटिक, फेलसपार और अभ्रक की मात्रा अधिक पायी जाती है। ग्रेनाइट नीस इसी प्रकार की चट्टान है। यह सभी प्राचीन क्षेत्रों में मिलती है।

स्लेट (Slate)—यह शैल नामक चट्टान का कायान्तरित रूप है। जब शैल बहुत कड़ी हो जाती है तो उसमे सरलता से बारीक तहों मे टूटने का गुण आ जाता है। इसी प्रकार स्लेट बदलकर **फाइलाइट** मे और फाइलाइट शिस्ट मे बदल जाती है। इस प्रकार शैल स्लेट से लेकर शिष्ट तक अनेक प्रकार की कायान्तरित चट्टानो मे बदल जाती है।

संगमरमर—यह चूने के पत्थर का कायान्तरित रूप है। यह सफेद, भूरे, काले व पीले आदि अनेक रंगों की होती है। इसका भवन-निर्माण मे उपयोग होता है।

एन्थ्रेसाइट—यह बिटुमिनस कोयले का परिवर्तित रूप है।

क्वार्टजाइट—यह बलुआ पत्थर का कायान्तरित रूप है। यह एक बहुत ही कठोर चट्टान है।

आग्नेय तथा प्रस्तरीभूत चट्टानों के कुछ परिवर्तित रूप यहाँ दिये जा रहे है:

आग्नेय चट्टाने और उनका परिवर्तित रूप

मूल रूप	परिवर्तित रूप
1. ग्रेनाइट	ग्रेनाइट नीस (Granite gneisses)
2. साइनाइट	साइनाइट नीस
3. ग्रेब्रो	ग्रेब्रो नीस (Dark-coloured gneisses)
4. बेसाल्ट	स्लेट (Dark-coloured Schists)
5. रायोलाइट	हल्का शिस्ट (Light-coloured Schists)

प्रस्तरीभूत चट्टाने और उनका परिवर्तित रूप

मूल रूप	परिवर्तित रूप
1. संपिण्ड (Conglomerate)	1. सपिण्ड शिस्ट (Conglomerate Schist)
2. बलुही पत्थर (Sand stone)	2. स्फटिक और स्फटिक शिस्ट (Quartz and Quaitzite Schist)
3. शैल (Shale)	3. स्लेट अथवा अभ्रक शिस्ट (Slate or Mica Schist)
4. चूने का पत्थर (Lime stone)	4. संगमरमर (Marble)
5. लिग्नाइट कोयला (Lignite coal)	5. एन्थ्रेसाइट कोयला (Anthracite coal) ग्रेनाइट
6. कोयला	6. हीरा या ग्रेफाइट

चट्टान और उनकी आर्थिक उपयोगिता

मानव-जीवन के लिए जो पदार्थ किसी भी प्रकार से उपयोगी होते है वे सहज ही आर्थिक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं। अतएव चट्टानों का मानव-जीवन मे एक विशेष स्थान है। साधारण बुद्धि वाले मनुष्य प्रत्येक अनुपयोगी वस्तु की उपमा पत्थर से देते हैं, परन्तु वे इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं कि हमारा जीवन इन चट्टानों का कितना ऋणी है। हमारे जीवन मे उपयोग आने वाली लगभग सभी वस्तुएँ चट्टानों से ही प्राप्त होती हैं। सभी प्रकार के इमारती पत्थर, औद्योगिक खनिज (कोयला, तेल, लोहा आदि) तथा बहुमूल्य धातुएँ (सोना, चाँदी, टिन आदि) इन्ही चट्टानों से मिलती हैं। धरातल का आवरण—मिट्टी (soil) जिस पर कि समस्त वनस्पति-जीवन निर्भर है—चट्टानों का ही प्रासाद है। इन्हीं चट्टानों मे धरातल की जलराशि छिपी रहती है जो मानव उपयोग के लिए कुएँ खोदकर प्राप्त की जाती है।

26

अनाच्छादन
(DENUDATION)

हम जानते है कि विवर्तनिक हलचलो (tectonic forces) के कारण पृथ्वी का धरातल ऊँचा-नीचा हो जाता है। उसमे एकसा समतलपन नहीं रहता। धरातल की यह असमानता पटल-विरूपण और ज्वालामुखी उद्गारो से और अधिक बढ जाती है। इनके फलस्वरूप धरातल पर ऊँचे-ऊँचे पर्वत, पठार तथा मैदानो की रचना हो जाती है। भू-पटल पर उत्पन्न इस असमतलता को बाह्य शक्तियाँ (external forces) दूर करती रहती है। वस्तुतः बाह्य शक्तियाँ अथवा श्रेणीकरण की शक्तियाँ (forces of gradation) विवर्तनिक शक्तियो के विरुद्ध कार्य करती है। जैसे ही कोई स्थल-खण्ड समुद्र के गर्भ से बाहर निकलता है, बाह्य शक्तियाँ उसकी काट-छाँट प्रारम्भ कर देती है। बाह्य शक्तियो मे जल, हिम और हवा प्रमुख है जो कि गुरुत्वाकर्षण की सहायता से अपना कार्य सम्पन्न करती है। इन समस्त शक्तियो का आदिस्रोत सूर्य है। सूर्य के प्रभाव से ही ऋतु परिवर्तन होता है, हवाएँ चलती है, वर्षा होती है और हिम गिरता है। धरातल पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण जल बहने लगता है। इसी शक्ति से हिमानियों मे भी गति होती है और ऊँचे ढाल से पदार्थ नीचे खिसक आते है। सक्षेप मे, सूर्य के ये विभिन्न दूत पृथ्वी के धरातल का अनवरत रूप से विनाश करते रहते है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि सूर्य जिस पृथ्वी का जनक है वही उसके विनाश का कारण भी है।

भू-पटल की बाह्य शक्तियो के दो मुख्य भेद है :

(1) **स्थैतिक शक्तियाँ** (Static Forces)—इनके अन्तर्गत वे शक्तियाँ आती है जो अपने स्थान पर ही कार्यशील रहती हैं। इस प्रकार इनका कार्यक्षेत्र सीमित होता है। ये चट्टानो में सँधें अथवा दरारें उत्पन्न कर उन्हें पृथक करने में लगी रहती है। चट्टानों को तोड़-फोड़कर अथवा मुलायम और ढीला बनाकर ये उन्हें हटाये जाने योग्य बना देती है। इस भाँति ये अन्य साधनों के कार्य को सरल बना देती हैं।

(2) **गतिशील शक्तियाँ** (Mobile Forces)—ये शक्तियाँ अपने स्थान पर ही स्थिर न होकर गतिशील रहती है। अतः ये स्थैतिक शक्तियो द्वारा विघटित चट्टानों को एक स्थान से दूसरे स्थान को हटा देती हैं और मार्ग मे उनका क्षय करती रहती है। गतिशील शक्तियो में नदी, हिमानी और हवा मुख्य है। ये अपनी क्षमता के अनुसार पदार्थो का परिवहन और निक्षेपण करती रहती है। इस प्रकार ये शक्तियाँ मुख्यतः **निम्नीकरण** (Degradation) और **अधिवर्द्धन** (Aggradation) द्वारा अपना कार्य सम्पादित करती है।

भू-पटल की बाह्य शक्तियो मे प्रथम वर्ग की शक्तियों को **अपक्षय** (Weathering) और दूसरे वर्ग की शक्तियों को **अपरदन** (Erosion) अथवा निम्नीकरण (Degradation) कहा जाता है।

ये दोनों शक्तियाँ कभी शान्त नही रहती। इनका तोड़-फोड़ निरन्तर चलता रहता है। एक स्थान पर ये शक्तियाँ चट्टानो का क्षय करती है और दूसरे स्थान पर क्षय पदार्थों का निक्षेप। जो पदार्थ आज एक स्थान पर निक्षेपित किये जाते है कल वे अन्यत्र हटा दिये जाते है। इस तरह इन शक्तियो से धरातल पर कही विनाश और कही रचना होती रहती है जिससे अन्त मे धरातल पर अनेक भू-आकार बन जाते हैं। इस प्रकार अनाच्छादन के अन्तर्गत अपक्षय और अपरदन दोनो क्रियाओ को सम्मिलित किया जाता है। Denudation is a sum total of weathering and erosion अत इन दोनों की शक्तियो के सामूहिक प्रभाव को ही **अनाच्छादन** (Denudation) या **श्रेणीकरण** (Gradation) कहा जाता है। **मोन्कहाउस** के अनुसार, "The term 'denudation' is used widely to cover all the agencies by which parts of the earth's surface are undergoing destruction, wastage and loss, the material thus removed is deposited elsewhere, to form the sedimentary rocks"

स्थैतिक शक्तियाँ (Static Forces)

अपक्षय (Weathering)—भू-पटल की चट्टानो का बहुत अधिक क्षय मौसम के दो प्रधान तत्त्वो—तापमान और वर्षा—के प्रभाव से होता है। इसलिए वे सभी प्रक्रम (Processes) जो चट्टानों के विनाश में लगे हुए रहते है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मौसम के तत्त्वो से सम्बन्धित होते है। चट्टानो के विनाश मे जल, वायु, ताप, कुहरा और हिम अधिक योग देते है। पेड़-पौधे, जीव-जन्तु और मनुष्य भी कुछ अश तक चट्टानो के विनाश मे सहायता पहुँचाते है। अत उन सभी प्रक्रमो को जिनसे चट्टाने अपने स्थान पर ही नष्ट-भ्रष्ट होती रहती है **अपक्षय** (weathering) कहा जाता है। **हिण्ड्स** के अनुसार "**अपक्षय से तात्पर्य यान्त्रिक विघटन** अथवा **रासायनिक अपघटन से है जो चट्टानो की संमकतता** (coherence) **को नष्ट कर देती है।**" **आर्थर होम्स** ने अपक्षय की परिभाषा निम्न प्रकार की है :

"Weathering is the total effect of all the various sub-aerial processes that co-operate in bringing about the decay and disintegration of rocks, provided that no large scale transport of the loosened products is involved."

स्पार्क महोदय के अनुसार, "पृथ्वी की सतह पर प्राकृतिक कारकों (agents) द्वारा चट्टानो के अपने ही स्थान पर यान्त्रिक विधि द्वारा टूटने अथवा रासायनिक अपघटन होने की क्रिया को अपक्षय कहा जा सकता है।"

"Weathering may be defined as the mechanical fracturing or chemical decomposition of rocks by natural agents at the surface of the earth."

भू-पटल की चट्टानो का अपक्षय दो प्रकार से होता है :

(1) **विघटन** (Disintegration)—इस विधि मे चट्टाने तापमान अथवा पाले के प्रभाव से अपने स्थान पर ही विघटित होकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। इसमे चट्टानो के खनिज तत्त्वो मे कोई हेर-फेर नही होता। चट्टानो के इस प्रकार अपने आप टूटने को भौतिक अथवा यान्त्रिक अपक्षय (Physical or Mechanical Weathering) भी कहते है।

(2) **अपघटन** (Decomposition)—इस विधि में चट्टानो मे रासायनिक परिवर्तन होते है जिससे उनके खनिज तत्त्वो का अनुपात बदल जाता है और चट्टानें नष्ट हो जाती है। कुछ अवस्थाओं मे पहले चट्टानों मे रासायनिक परिवर्तन होता है और तब वे विघटन द्वारा टूटती है। कभी-कभी चट्टाने विघटित होकर टूट जाती है और फिर उनकी चूरचार रासायनिक परिवर्तन द्वारा नष्ट होती है। इस प्रकार ये दोनो ही क्रियाएँ साथ-साथ कार्यशील रहती है और पारस्परिक सहयोग से चट्टानों का नाश करती रहती हैं। अतः शैल अपक्षय विभिन्न प्रक्रमों के सामूहिक कार्य का प्रतिफल है।

अपक्षय को प्रभावित करने वाले उपादान (Factors Contiolling Weathering)

धरातल पर अपक्षय का स्वरूप सर्वत्र एकसा नही देखा जाता, क्योकि अपक्षय के कारकों (Agents) का अपक्षय के स्वभाव पर प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न स्थानों की जलवायु, भूमि की बनावट और चट्टानो की सरचना मे विभिन्नता का भी अपक्षय की प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। फिर अपक्षय के प्रमुख तत्त्व विघटन और अपघटन का कार्य-क्षेत्र भी प्राय. अलग-अलग होते है। विघटन का कार्य ऊँचे पहाड़ी भागों मे जहाँ तुषारपात होता हो अथवा उष्ण व शुष्क मरुस्थलो मे अधिक होता है जबकि अपघटन का कार्य उष्ण तथा आर्द्र भागो मे सर्वाधिक होता है। उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपक्षय पर निम्न उपादानो का प्रभाव होता है .

(1) **चट्टानों का संगठन तथा संरचना**—अपक्षय के ऊपर चट्टानो के संगठन और सरचना का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अपक्षय का प्रमुख रूप विघटन और अपघटन है। इसलिए स्पष्ट ही कमजोर तथा असगठित चट्टानो मे उपरोक्त दोनों क्रियाएँ सरलता से सम्पन्न हो सकती है। उदाहरणत, घुलनशील खनिजो वाली तथा रन्ध्रपूर्ण चट्टानो का रासायनिक अपक्षय शीघ्रता से होगा जबकि कठोर चट्टानो पर रासायनिक अपक्षय का नगण्य प्रभाव होगा। चट्टानो की परतो की स्थिति भी अपक्षय को प्रभावित करती है। जिन चट्टानो की परतें लम्बवत होती है उनमे ताप-मान की भिन्नता, तुषारपात एव जल तथा हवा का शीघ्र प्रभाव होता है, किन्तु क्षैतिज रूप से फैली हुई चट्टानों की परतो मे सगठन अधिक होता है, इस कारण उनका विघटन और नियोजन शीघ्र नही होता। इसके अतिरिक्त अधिक सन्धियो वाली चट्टानो मे तापीय अन्तर और तुषार के कारण, विस्तार और सकुचन अधिक होता है जिससे उनका शीघ्र विघटन हो जाता है।

(2) **जलवायु की भिन्नता**—धरातल के विभिन्न भागो मे जलवायु की भिन्नता का अपक्षय पर गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे विश्व के उष्ण तथा आर्द्र प्रदेशो मे तापमान की अधिकता एवं जल की प्रचुरता के कारण सभी प्रकार के लवणो का अपक्षालन (Leaching—घुलाकर बहाने की क्रिया) तथा घोलक कार्य (Solvent action) बहुत अधिक होता है, जिससे इन भागो में मुख्यत. रासायनिक अपक्षय ही होता है। भौतिक अपक्षय का इन भागो मे नगण्य स्थान होता है। इसके विपरीत उष्ण तथा शुष्क जलवायु वाले भागो मे वर्षा के अभाव तथा दिन और रात के तापमान मे भारी अन्तर रहने के कारण, चट्टाने दिन को फैलती हैं और रात्रि को सिकुड़ती है। चट्टानो मे इस प्रकार नियमित रूप से फैलाव तथा संकुचन के कारण उनका विघटन हो जाता है। इस प्रकार विश्व के उष्ण मरुस्थली भागों मे भौतिक अपक्षय की ही प्रधानता रहती है। उष्ण व शुष्क प्रदेशो की भाँति शुष्क व शीतोष्ण जलवायु वाले भागो मे भी रासायनिक अपक्षय की तुलना में भौतिक अपक्षय अधिक होता है। यहाँ चट्टानों की दरारों व सँधों में भरा हुआ जल रात्रि को बर्फ के रूप मे जम जाता है और दिन को पुनः पिघल जाता है। इस क्रिया की प्रतिदिन होने वाली पुनरावृत्ति के कारण चट्टाने ढीली पड़ जाती है और अन्ततः उनका विघटन हो जाता है। शीत जलवायु वाले प्रदेशो मे भौतिक अपक्षय के स्थान पर रासायनिक तथा जैविक अपक्षय अधिक होता है।

(3) **भूमि के ढाल का स्वभाव**—भूमि का ढाल चट्टानो के संगठन और चट्टानी मलवे के स्थानान्तरण को निश्चित करता है। अत. जिन भागो मे भूमि का ढाल कम होता है वहाँ चट्टानों में अधिक संगठन रहता है और वे शीघ्र कमजोर नही हो पातीं। सामान्य ढाल के कारण वहां चट्टानी मलवे का स्थानान्तरण भी कम होता है जिससे वहाँ अपक्षय की तीव्रता नही पायी जाती। इसके विपरीत तीव्र ढाल वाले भागों में थोड़ा-सा विघटन होने पर भी चट्टानो का संगठन कमजोर पड़ जाता है जिससे वे टूटकर शीघ्र ही नीचे सरक आती है। चट्टानी मलवे के शीघ्र स्थान्तरित

हो जाने से अपक्षय की गति भी तीव्र हो जाती है। ऊँचे पर्वतीय शिखरों के निकट तथा खड़े ढाल वाले चट्टानी भागों में इसी कारण चट्टानों का विघटन अधिक होता है।

(4) **वनस्पति का प्रभाव**—किसी भी स्थान पर वनस्पति की उपस्थिति का अपक्षय के स्वभाव पर अवश्य प्रभाव होता है। वनस्पति के आवरण से विहीन भागों में ताप की प्रचण्डता के कारण चट्टानों का विघटन शीघ्र होता है। लेकिन जहाँ वनस्पति उगी हुई रहती है वहाँ वनस्पति अपनी जड़ों से चट्टानों को जकड़े रहती है जिससे उनका संगठन मजबूत रहता है और वे शीघ्र नहीं टूटतीं। वनस्पति से ढके हुए भागों पर सूर्य-ताप का भी प्रभाव नहीं होता। कई बार पेड़-पौधों की जड़ें चट्टानों में प्रवेश कर जाती हैं जिससे उनकी सन्धियाँ चौड़ी हो जाती हैं और चट्टानें ढीली पड़ जाती हैं।

(क) भौतिक अथवा यान्त्रिक अपक्षय
(Physical or Mechanical Weathering)

जब चट्टानें बिना किसी रासायनिक परिवर्तन के अपने आप विघटित हो जाती हैं तो उसे भौतिक अपक्षय कहा जाता है। चट्टानों का यह विघटन मुख्यतः सूर्यताप, हवा और पाले द्वारा होता है। ये दोनों ही साधन चट्टानों में सम्पीड़न और तनाव की क्रियाओं से यान्त्रिक परिवर्तन कर देते हैं। इसका सबसे अधिक प्रभाव शुष्क तथा ठण्डी जलवायु वाले प्रदेशों में होता है। चट्टानों का विघटन निम्न प्रकार से होता है :

ताप परिवर्तन द्वारा विघटन (Disintegration by Temperature Changes)—चट्टानों के भौतिक अपक्षय में सूर्यताप (insolation) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गर्मी और सर्दी

चित्र 235—चट्टानों के अपक्षय पर ताप और वर्षा का प्रभाव

के कारण चट्टानें फैलती और सिकुड़ती हैं। इस प्रक्रम (process) से चट्टानों का विघटन होता है। शुष्क मरुस्थली प्रदेशों में जहाँ दैनिक तापान्तर बहुत अधिक होता है, चट्टानों का इस प्रकार

विघटन बड़ी तीव्र गति से होता है। ऐसे प्रदेशो मे चट्टानें दिन मे भीषण ताप से फैलती है और रात्रि मे तापमान के असाधारण रूप से गिर जाने से सिकुड़ती हैं। चट्टानों में निरन्तर इस प्रकार की क्रिया से तनाव (tension) उत्पन्न हो जाता है जिससे अन्त मे वे चटक जाती है। प्राय: 150° फा० तापमान पर 45 मीटर के ग्रेनाइट खण्ड मे 2 54 सेण्टीमीटर का फैलाव होता है। इस प्रकार नित्य-प्रति चट्टानों के फैलने और सिकुडते रहने से, उनमे सँधे अथवा दरारें उत्पन्न हो जाती है और वे बड़े-बडे टुकड़ो में विघटित हो जाती है। चट्टानों के इस प्रकार टूटने को **पिण्ड-विच्छेदन** (B ock disintegration) कहते है।

कुछ चट्टानें सूर्य के प्रचण्ड ताप से गरम होकर ऊपर से एकदम तपने लगती है परन्तु भीतर से वे ठण्डी ही रहती है, क्योंकि वे गर्मी की उत्तम चालक (good conductor) नहीं होती। अत. चट्टानों की ऊपरी परत गरम होकर मोटे व्यक्तियों के पेट की तरह फूल जाती है और थोडा-सा भी दबाव अथवा झटका लगने पर भीतर ठण्डे भाग से छिलके की भाँति अलग हो जाती है। अलग होने पर चट्टान की परत खण्ड-खण्ड होकर नष्ट हो जाती है। सामान्यत: चट्टानों के ये परत पहले किनारो से अलग होते हैं और फिर धरातल के समान्तर समकेन्द्रिक तहों (concentric layers) मे टूटते है। चट्टान के इस प्रकार टूटने की क्रिया को **पल्लवीकरण** (exfoliation) कहते है। जब चट्टानो मे सँधें अथवा संस्तरण तल भली प्रकार से विकसित होते है तो पल्लवीकरण बड़ी शीघ्रता से होता है। किन्तु यदि चट्टान का स्वरूप ठोस हुआ तो रासायनिक अपक्षय द्वारा कमजोर हो जाने पर उसमे सँधे विकसित होगी और तब उसका विघटन होगा। शुष्क मरुस्थली, अर्द्धशुष्क और मानसूनी प्रदेशों मे जहाँ बहुत ही स्पष्ट शुष्क ऋतु होती है, वहाँ पल्लवीकरण का मुख्यतः स्फाटीय चट्टानो से निर्मित शिखरों और टीलो की रूपरेखा पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। ताप के प्रभाव से वहाँ पहले चट्टानो के नुकीले कोण और शिखर टूटकर अलग हो जाते है जिससे पहाड़ी टीलो और शिखरो की आकृति गुम्बदाकार हो जाती है। छोटा नागपुर पठार की ग्रेनाइट निर्मित पहाड़ियों मे ऐसा गुम्बदाकार रूप प्रकट होता है। मानभूमि जिले की झाल्दाह की पहाड़ियों और राजस्थान मे कहीं-कही अरावली की पहाड़ियो में ऐसा रूप देखा जाता है। अफ्रीका में नाइजीरिया तथा मोजाम्बिक में ऐसी गुम्बदाकार पहाडियों का विचित्र भू-आकार देखने को मिलता है। यहाँ इन गुम्बदाकार रूपो को **द्वीपाभगिरि** (Inselberge) कहा जाता है।

जब कोई चट्टान विभिन्न खनिजों से बनी हुई होती है तो उसके खनिज भिन्न-भिन्न गति से गरम तथा ठण्डे होते हैं। खनिजों के भिन्न प्रकार से फैलने और सिकुड़ने से चट्टान के कण ढीले पड़ जाते है। जो खनिज-कण पहले एक साथ गुँथे हुए रहते है वे अलग-अलग हो जाते है। चट्टान के कणों के भिन्न प्रकार से फैलने और सिकुड़ने से उसके भीतर तीव्र तनाव उत्पन्न होता है जिससे उसमें यकायक दरारें उत्पन्न हो जाती है। मरुस्थलों में सूर्यास्त के आधे घण्टे के अन्दर साधारणतः बन्दूकों के छूटने की-सी आवाजे सुनायी पड़ती है। ये आवाजें चट्टानों के टूटने से उत्पन्न होती है। चट्टानों के खनिज-कणों में टूटने की इस क्रिया को **दानेदार विच्छेदन** (Granular disintegration) कहा जाता है। चट्टानो के टूटने से बनी चूरचार प्राय. पहाड़ी ढालों के नीचे आकर जमा हो जाती है। इस जमा हुई चट्टानी चूरचार को **शैल-मलवा** (Scree or Talus) कहते हैं।

पाला (Frost)—पाला चट्टानों के भौतिक अपक्षय का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साधन है। ऊँचे पर्वतीय भागो में एवं जाड़ों के अन्दर शीतोष्ण कटिबन्ध में चट्टानों का पाले द्वारा बड़ी सफलता से विखण्डन होता है। सामान्यतः कठोर से कठोर चट्टानों मे भी दरारें और सँधे होती है। जब इन सँधों (Joints) में वर्षा का जल भर जाता है तो भीषण शीत के प्रभाव से वह

जमकर ठोस हो जाता है। जब पानी बर्फ के रूप मे जमता है तो वह अपने आयतन में 10 प्रतिशत बढता है और चट्टान पर प्रति वर्ग इंच लगभग 2,000 पौण्ड दबाव डालता है।[1] इस भारी दबाव से चट्टाने अन्तत. टूट जाती है। यद्यपि अवसादी चट्टानो में जल की अधिकता से यह क्रिया तीव्रतर होती है, किन्तु ग्रेनाइट व नीस के समान भारी तथा कठोर चट्टाने भी इस विधि से खण्ड-खण्ड हो जाती है। यह क्रिया केवल बड़ी-बड़ी चट्टानो तक ही सीमित नही होती, अपितु बड़े-बड़े चट्टानी खण्डों के छिन्न-भिन्न होकर रज-कणों मे बिखर जाने तक जारी रहती है। पाले के प्रभाव से बडी-बड़ी ठोस चट्टाने और पहाडियाँ यकायक फूल की तरह खिल जाती है। इससे उनकी बडी-बड़ी दरारो में तापमान और आर्द्रता का प्रभाव पहुँच जाता है जो चट्टानों को बड़ी शीघ्रता से नष्ट करते है। पाले द्वारा नष्ट हुई चट्टानो को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी देव ने भारी हथौड़े से छितरा दिया हो। वस्तुत. एक बढई जिस प्रकार अपनी पन्नी से लकड़ी के बुन्दे झाडता है, उसी प्रकार इन चट्टानो का भी नाश होता है। चट्टानों के इस प्रकार टूटने की क्रिया को **पाले द्वारा शीर्ण होना** (Frost shattering) कहा जाता है। टूटी हुई चट्टानों की चूरचार पर्वतों की तलहटियो मे **शैल-मलवे** (Scree) के रूप मे एकत्रित हो जाती है। कुछ समय के लिए यह शैल-मलवा निचले ढालो को अपक्षय से बचाता रहता है, किन्तु यह ढालो पर स्थायी रूप से एकत्रित नही रहता। भू-स्खलन (land slides) और हिम अवधाव (avalanches) के कारण यह ढालो से खिसकता रहता है। इसका कुछ अश नदियो तथा हिमनदियो द्वारा प्रवाहित हो जाता है।

पाला चट्टानो को तीक्ष्ण (sculpture) करने वाला बडा ही प्रबल साधन है। पाले के कारण ही पर्वत-शिखर तीक्ष्ण रूप धारण करते है। स्नोडोन पर्वत (Snowdon) के वप्र (buttresses), मेटरहोर्न (Matterhorn) की पिरामिडनुमा आकृति तथा स्काई के ब्लैक क्यूलिन्स (Black Cullins of Skye) का टेढ़ी आरीनुमा (fretted) रूप तथा आल्प्स और हिमालय की अपने हिम-क्षेत्र के ऊपर निकली हुई राकेटनुमा चोटियाँ इसके उत्कृष्ट उदाहरण है। उपध्रुवीय (Subarctic) क्षेत्रों मे पाला लहरों की सहायता से चौडी तटीय वेदिकाओं की रचना कर देता है।

वर्षा (Rainfall)—भौतिक अपक्षय मे वर्षा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। वर्षा पाले की क्रिया के लिए साधन-मात्र है। वर्षा मे परिवहन कार्य अपरिहार्य रूप से जुड़ा हुआ है, जिससे वृष्टि धोवन (rain wash) और मिट्टी का कटाव होता है। किन्तु वर्षा स्नेहक (lubricant) के रूप में भी कार्य करती है। भारी वर्षा के उपरान्त पहाडी ढालों पर स्थित शैल-मलवा (scree) अस्थिर हो जाता है। वर्षा से कुछ चीकायुक्त अवसादी चट्टानो में बुझने (slaking) की क्रिया होती है। उष्ण तथा आर्द्र प्रदेशों मे शुष्क ऋतु के उपरान्त वर्षा ऋतु आती है तो चट्टाने एकान्तर क्रम (alternately) से आर्द्रता को ग्रहण करती है और उसे छोड़ती हैं। परिणामस्वरूप चट्टानें शैल जैसे छोटे-छोटे टुकड़ो मे बिखर जाती हैं। मरुस्थली प्रदेश में तप्त चट्टानें वर्षा के कारण उसी प्रकार चटक जाती है जिस प्रकार काँच की गरम चिमनी पानी का छीटा लगते ही चटक जाती है।

वायु (Wind)—यद्यपि हवा निश्चित रूप से मौसम का तत्त्व है, किन्तु यहाँ इसे कारक (agent) ही समझा जाना चाहिए जो कि अपघर्षण के पदार्थो को परिवहित करता है। हवा अपक्षय का कार्य तभी करती है जबकि वह रेत अथवा बजरी से लदी हुई हो। बालू से लदी हुई हवा के थपेडो से चट्टानों के परत के परत उखड़ जाते हैं।

दाब-मोचन (Pressure Release)—चट्टानों के भौतिक अपक्षय का दाब-मोचन भी एक

---

1 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 113

महत्त्वपूर्ण प्रक्रम (process) है। जब अनाच्छादन के द्वारा ऊपर की चट्टानें हट जाती है तो नीचे की चट्टानें दाबमुक्त हो जाती हैं। दाब की कमी से बाहर निकली हुई नयी चट्टानें फैलती है और उनमें नवीन सँधे पड़ती है। इन सँधों (joints) से पाले द्वारा विच्छेदन में बड़ी सहायता मिलती है। ग्रेनाइट चट्टानों मे यह क्रिया अधिक होती है। केलिफोर्निया मे यशोमाइट घाटी में बने बड़े-बड़े गुम्बद सम्भवत: दाब मुक्ति से चट्टानो के बाहर फैलने के कारण ही बने हैं।[1]

(ख) रासायनिक अपक्षय (Chemical Weathering)

चट्टानों का अपक्षय भौतिक रूप से ही नही, रासायनिक विधि से भी होता है। वर्षा का जल और वायुमण्डल की गैसे रासायनिक अपक्षय के मुख्य साधन है। जब वर्षा का अम्ल व गैस-युक्त जल तथा ऑक्सीजन व कार्बन जैसी गैसे सँधो व दरारों से चट्टानों के भीतर प्रवेश कर जाती है तो उनमे भारी रासायनिक प्रतिक्रिया होती है। इससे चट्टानों के अवयव ढीले पड़ जाते हैं और उनके कई तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप चट्टाने अपघटित (decomposed) होकर भ्रष्ट हो जाती है। चट्टानों का अपघटन मूलतः तापमान और आर्द्रता पर निर्भर करता है। अतः रासायनिक अपक्षय का सर्वाधिक प्रभाव संसार के उष्ण और आर्द्र भागो में ही देखा जाता है। रासायनिक अपक्षय क्रिया-विशेष के अनुसार निम्न विधियों—ऑक्सीकरण (Oxidation), कार्बोनेटी-करण (Carbonation), जलयोजन (Hydration) और डीसिलिकेशन (Desilication) आदि के द्वारा होता है। ये सब विधियाँ साथ-साथ भी कार्य कर सकती है और स्थानीय विशेषताओं के अनुसार अलग-अलग भी।

ऑक्सीकरण (Oxidation)—जब ऑक्सीजन गैस स्वतन्त्र अथवा जल मे घुले हुए रूप में चट्टान और उसके खनिज तत्त्वों के साथ मिल जाती है तो उसे **ऑक्सीकरण** कहते है। ऑक्सी-करण का सर्वाधिक और सफल प्रभाव लोहे के खनिजों पर होता है। नमी प्राप्त होने पर लोहे के खनिज ऑक्सीजन से मिलकर ऑक्साइडो में बदल जाते है। इस परिवर्तन से चट्टानें शीघ्र गल-कर नष्ट हो जाती हैं। वर्षा के दिनों मे लोहे की वस्तुओ पर प्राय: **जंग** (rust) लग जाया करती है। यह जंग ऑक्सीजन के प्रभाव से ही लगती है। हम कई चट्टानों में भूरा, पीला और लाल रंग देखते है। इसका कारण ऑक्सीकरण और जलयोजन है। सामान्यत: आग्नेय चट्टानों मे लोहा, आयरन सल्फाइड, आयरन पाइराइट, फेरस ऑक्साइड, मैगनेटाइट, अभ्रक व हार्नब्लेण्ड आदि खनिजों के रूप मे पाया जाता है। इन खनिजो का ऑक्सीजन से मेल होने पर फेरिक कम्पाउण्ड बनता है जो बाद मे लाल रंग के हेमेटाइट में बदल जाता है। जब ऑक्सीकरण के साथ जलयोजन भी होता है तो फेरिक कम्पाउण्ड लीमोनाइट मे परिवर्तित हो जाता है। आयरन ऑक्साइड के जलयोजन (hydra-tion) से पीले रंग की मिट्टी का निर्माण होता है।

जलयोजन (Hydration)—रासायनिक विधि द्वारा जल के चट्टानों के खनिजों में अव-शोषित (absorption) हो जाने को **जलयोजन** कहा जाता है। भू-पटल की चट्टानों के खनिजो मे पानी के सूख जाने पर उनका आयतन लगभग दुगुना बढ जाता है। **मेरिल** (Merril) के अनु-सार कुछ खनिज अपने आयतन मे 88 प्रतिशत तक बढ़ जाते हैं।[2] खनिजो का आयतन बढ़ जाने से चट्टान में भारी दबाव उत्पन्न होता है जिससे उनका अपघटन हो जाता है। कई बार दबाव के कारण खनिज-कण चट्टान के भीतर तीव्रता से पिसकर चूर्ण हो जाते है। इस क्रिया का सबसे अधिक प्रभाव फेल्सपार खनिज पर होता है। फेल्सपार जल के प्रभाव से शीघ्र घुल जाता है। घुलने पर फेल्सपार कैओलिन मिट्टी में बदल जाता है। जबलपुर के समीप विन्ध्याचल की

---

1 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 79

2 Finch and Trewartha : *Elements of Geography*, p. 235

पहाड़ियो मे कैओलिन की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। कैल्शियम सल्फेट और जल के मिश्रण से शेलखड़ी (Gypsum) की रचना हो जाती है। ग्रेनाइट चट्टानों मे पल्लवीकरण (Exfoliation) के पीछे भी यही कारण है। ग्रेनाइट में मिले हुए फेल्सपार खनिज जलयोजन के कारण फैल जाते है जिससे चट्टान की घुलित तहे यान्त्रिक विधि से उखड जाती है। फेल्सपार खनिज लगभग धरातल की समस्त चट्टानो मे थोड़ी-बहुत मात्रा मे पाया जाता है। इस कारण धरातल की चट्टानो में जलयोजन का प्रभाव बड़े ही व्यापक रूप से पाया जाता है।

कार्बोनेटीकरण (Carbonation)—जब पानी में कार्बन गैस घुल जाती है तो उससे एक हल्का कार्बोनिक अम्ल (carbonic acid) तैयार हो जाता है। इस कार्बोनिक अम्ल की क्रिया से चट्टानों के कुछ खनिज कार्बोनेट (carbonate) में बदल जाते हैं। अतः खनिज तत्त्वों के कार्बोनिक अम्ल की क्रिया से कार्बोनेट्स में बदल जाने को ही **कार्बोनेटीकरण** (carbonation) कहा जाता है। यह क्रिया आर्द्र जलवायु वाले प्रदेशों के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

घुलनशीलता कार्बोनेट्स का प्रमुख लक्षण है। इसी से चट्टानो के खनिज नष्ट होते हैं। अतः जिन चट्टानों मे पोटाश, मैग्नेशियम व कैल्शियम एवं लोहा पाया जाता है उनमें कार्बन मिश्रित जल अधिक परिवर्तन लाने मे समर्थ होता है। ये तत्त्व घुलाव उत्पन्न करते है जिससे चट्टाने तथा खनिज शीघ्र नष्ट हो जाते है। उदाहरण के लिए, कार्बोनिक अम्ल के प्रभाव से कैल्शियम कार्बोनेट और चूने का पत्थर कैल्शियम बाईकार्बोनेट में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार लोहे के सल्फाइट अथवा पाइराइट कार्बोनिक अम्ल की क्रिया से लोहे के कार्बोनेट तथा सल्फ्यूरिक एसिड मे बदल जाते है। आर्थोक्लेज के नष्ट होने से पोटाश एवं पोटैशियम कार्बोनेट का निर्माण होता है जो पौधों के लिए बहुत ही लाभप्रद होते है। ग्रेबो नामक चट्टान मे अगाइट तथा लैब्रा-डोराइट खनिज पाये जाते है। कार्बोनिक अम्ल की सहायता से ये खनिज मैग्नीशियम, सोडियम, सिलिकन, लोहा और कैल्शियम कार्बोनेट में बदल जाते है। चूने का पत्थर साधारणतः वर्षा के जल से नही घुलता। किन्तु कार्बोनिक अम्ल चूने की चट्टानों को शीघ्रता से घुला देता है। भूमि-गत जल में सदैव कार्बोनिक अम्ल घुला रहता है। अत चूने के प्रदेशो मे भूमिगत जल चट्टानो में भारी परिवर्तन उपस्थित कर देता है। इसके प्रभाव से चट्टानों की संधें चौड़ी हो जाती है और धीरे-धीरे घुलाव द्वारा उनमे नालियाँ बन जाती है। इन चट्टानो की ऊपरी सतह पर मिट्टी का पूर्ण अभाव रहता है। जब चूने के पत्थर मे क्वार्ट्ज और क्ले (Clay) जैसी अशुद्धियाँ मिली होती हैं तो वे घुल नहीं पातीं। इनके निक्षेपण से मिट्टी का खनिज आधार तैयार होता है। यूगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश में पायी जाने वाली टेरारोसा मिट्टी अघुलनशील आयरन हाइड्रोक्साइड के जमा होने से बनी है। इसी प्रकार ग्रेनाइट और फेल्सपार कार्बोनिक अम्ल की क्रिया से मृत्तिका (clay) तथा बालू (sand) मे बदल जाते हैं।

शीतोष्ण कटिबन्ध के आर्द्र प्रदेशो में एल्यूमीनियम खनिजों का बहुत अल्प मात्रा में अपघटन होता है किन्तु उष्ण मानसूनी प्रदेशों मे शुष्क ऋतु मे इसका बड़ी मात्रा में अपघटन होता है, जिससे अघुलनशील एल्यूमीनियम हाइड्रोक्साइड का अवक्षेपण (Precipitation) होता है जिससे धरातल के ऊपर बाक्साइट धातु की रचना होती है। जब एल्यूमीनियम की ऑक्साइड, लोहे तथा मैग्नी-शियम की हाइड्रोक्साइड तथा अल्प मात्रा में सिलिका के साथ मिलती है तो इससे छिद्रयुक्त और पारगम्य मिट्टी की रचना होती है। इसका रग लाल, पीला या भूरा होता है। यह भीतर से कोमल होती है और सरलता से ईटो के रूप मे कट जाती है। सूखने पर यह कठोर हो जाती है। दक्षिण भारत मे पायी जाने वाली **लेटेराइट** (Laterite) मिट्टी और यूगोस्लाविया तथा ब्राजील में पायी जाने वाली **टेरा रोसा** (Terra Rossa) मिट्टी इसी प्रकार बनी है।

डीसिलिकेशन (Desilication)—चट्टानों में पर्याप्त मात्रा में सिलिका पाया जाता है। चट्टानों से रासायनिक विधि से इसके अलग होने को ही डीसिलिकेशन कहा जाता है। अवसादी चट्टानों की अपेक्षा आग्नेय चट्टानों में सिलिका का अंश अधिक रहता है। सिलिका शीघ्र घुलकर बह जाता है। सिलिका के चट्टानों से पृथक हो जाने से वे निर्बल हो जाती हैं। पैठिक आग्नेय शिलाओं का इसी कारण रासायनिक अपक्षय अधिक होता है।

रासायनिक अपक्षय का यान्त्रिक प्रभाव (Mechanical Effect of Chemical Weathering)

चट्टानों की सँधों एवं दरारों से जब वर्षा-जल उनके भीतर पहुँचता है तो उससे चट्टानों में रासायनिक परिवर्तन होता है। इससे चट्टानों का ऊपरी भाग आयतन में बढ़ जाता है और मुख्य चट्टान से यान्त्रिक विधि से पृथक हो जाता है। सँधि तलों (joint plane) के सहारे अलग हुई चट्टानों की परतें छोटे-छोटे असमान टुकड़ों में विभक्त हो जाती हैं। तदनन्तर ये पहाड़ी ढालों के सहारे खिसककर नीचे आधार में भग्नाश्म राशि (Talus) के रूप में जमा हो जाती हैं। चट्टानों के कोने तथा किनारे तीनों ओर से खुले होने के कारण अधिक प्रभावित होते हैं और धीरे-धीरे गोलाकार आकृति ग्रहण कर लेते हैं। इसे **गोलाश्म अपक्षय** (Spheroidal Weathering) कहते हैं। उष्ण तथा आर्द्र प्रदेशों में भारी व खुरदरे दानों वाली चट्टानें प्रायः गोलाकार रूप ग्रहण कर लेती हैं। जैसे छोटा नागपुर के पठार पर ग्रेनाइट व ग्रेनाइट नोस की पहाड़ियाँ गुम्बदाकार रूप की हैं।

(ग) जैविक अपक्षय
(Biological or Organic Weathering)

धरातल पर जैविक अपक्षय वनस्पति, जीव-जन्तु एवं मनुष्य तीनों साधनों द्वारा होता है :

(1) **वनस्पति** (Vegetation)—चट्टानों के अपक्षय में वनस्पति का भी योग रहता है। वनस्पति से चट्टानों का भौतिक एवं रासायनिक दोनों प्रकार से अपक्षय होता है। पेड़-पौधों की

चित्र 236—वृक्ष द्वारा ग्रेनाइट चट्टानों का विखण्डन

जड़ें चट्टानों की सँधों में प्रवेश कर निरन्तर भीतर घुसने का प्रयास करती हैं। ज्यों-ज्यों जड़ें भीतर प्रवेश करती हैं और मोटी होती जाती हैं, वे चट्टानों की सँधों पर अधिकाधिक दबाव डालती

है। फलस्वरूप चट्टानो की सँधे फैलकर चौड़ी हो जाती है। जड़ों की इस क्रिया से चट्टानो के बड़े-बड़े टुकड़े टूटकर अलग हो जाते है। यही नही, जड़ों के प्रभाव से सँधों और दरारो के चौड़ा हो जाने पर उसमे हवा और जल बहुत भीतर तक प्रवेश कर जाते है जिससे चट्टाने शीघ्र विदीर्ण होने लगती है।

सभी प्रकार के पेड़-पौधे चट्टानो से कुछ विशेष प्रकार के तत्त्वो को खीचते है। इस विधि से वे रासायनिक अपक्षय मे सहायता करते है। बैक्टीरियायुक्त जल की चट्टानो की खनिजों एवं मिट्टी पर तीव्र प्रतिक्रिया होती है। मिट्टी मे मिले हुए जीव (organisms) तथा वनस्पति पदार्थ जीवाणु (bacteria) की क्रियाओं द्वारा सड़ जाते है। इससे मिट्टी में कार्बन, जैविक अम्ल, अमोनिया तथा नाइट्रिक अम्ल आदि की उत्पत्ति होती है। इन सब पदार्थो के उत्पन्न होने से मिट्टी अथवा चट्टान अधिक घुलनशील बन जाती है। फलस्वरूप ऐसी चट्टानों को जल शीघ्र घुलाकर उनका विनाश कर देता है। इसके अतिरिक्त मिट्टी में मिले हुए वनस्पति पदार्थ जब सड़कर नष्ट हो जाते है तो उससे मिट्टी मे ह्यूमस (humus) की उत्पत्ति होती है। ह्यूमस के कारण जल की घुलनशक्ति इतनी बढ जाती है कि प्राय: अघुलनशील पदार्थो (जैसे लिमोनाइट) को भी वह घुला लेने मे सफल होता है।

वनस्पति चट्टानो के अपक्षय के साथ-साथ उनकी रक्षा का कार्य भी करती है। पेड़-पौधे एवं घास की जड़े मिट्टी को बाँध लेती है और उसे हवा द्वारा उडा ले जाने अथवा पानी द्वारा बहा ले जाने से सुरक्षित रखती है। वनस्पति वर्षा के जल को अपनी जड़ों में सुरक्षित रखती है। इस प्रकार यह नदियो मे जल के प्रवाह को नियमित तथा नियन्त्रित रखती है। वनस्पति से भूमि बाढ एवं मिट्टी के क्षय से बची रहती है। वनस्पतिहीन क्षेत्रों में बाढ एवं मिट्टी के कटाव से भूमि बेकार हो जाती है।

(2) **जीव-जन्तु** (Animals)—जीव-जन्तुओं के चट्टानों पर भौतिक तथा रासायनिक दोनों ही प्रभाव होते है। गीदड़, लोमड़ी, सहि, बिज्जू, चूहे, दीमक, केचुए तथा अन्य असंख्य कीड़े-मकोड़े भूमि को खोदकर अपने लिए सुरक्षित बिल तैयार करते है। इससे भूमि कमजोर हो जाती है। कमजोर चट्टानों को हवा तथा वर्षा शीघ्रता से हटा देती है। चट्टानों को कमजोर करने में दीमक तथा केचुए का कार्य बडा विलक्षण होता है। **होम्स** के अनुसार प्रति एकड मिट्टी मे 1,50,000 केचुए हो सकते हैं जो एक वर्ष की अवधि मे 10-15 टन चट्टानों को उम्दा मिट्टी बनाकर नीचे से ऊपर लाते है।[1] कई जीव-जन्तु अपने शरीर से कई प्रकार के अम्ल निकालते हैं। इससे चट्टानो पर रासायनिक प्रतिक्रिया होती है और वे अपक्षय के अधिक योग्य बन जाती है।

(3) **मनुष्य** (Man)—चट्टानो के जैविक अपक्षय में मनुष्य स्वयं एक बहुत बड़ा साधन है। वह खेत और बगीचे बनाने के लिए भूमि को खोदता है। मकान बनाने के लिए मिट्टी और चट्टानों को तोड़ता है। खनिज पदार्थ निकालने के लिए भूमि में गहरे गड्ढे करता है तथा रेले, सड़कें व कारखाने बनाने के लिए चट्टानों को काटता है। इस प्रकार मनुष्य अनेक प्रकार से चट्टानों को तोड़कर उन्हें कमजोर करता रहता है।

यद्यपि अपक्षय की तीव्रता चट्टानों की संरचना, उनकी सरन्ध्रता, वनस्पति के आवरण, ढाल तथा वर्षा के ऊपर निर्भर करती है, परन्तु प्रत्येक स्थान पर होने वाली क्षति पर जलवायु का प्रभाव ही अधिक होना है। जलवायु के अनुसार ही अपक्षय की मात्रा और वेग रहता है। विषुवत-रेखीय प्रदेशो मे जहाँ तापमान और आर्द्रता दोनो ही अधिक रहते है, रासायनिक अपक्षय बहुत

---

1 A. Holm. *Principles of Physical Geology*, p. 115

प्रभावशाली होता है। उष्ण कटिबन्ध मे जहाँ स्पष्ट रूप से शुष्क और आर्द्र वस्तुओं का क्रम रहता है वहाँ शुष्क ग्रीष्मऋतु मे तीव्रता से वाष्पीकरण होता है और वर्षाऋतु मे खनिजों का अवक्षेपण होता है जिससे लेटेराइट मिट्टी की रचना हो जाती है। शुष्क मरुस्थली प्रदेशों मे रासायनिक अपक्षय की न्यूनता रहती है। यहाँ गर्मी के प्रभाव से चट्टानो का भौतिक अपक्षय तीव्रता से होता है। शीतोष्ण कटिबन्ध मे पाले का सर्वाधिक प्रभाव रहता है और चूने के प्रदेशो मे घोल-क्रिया सफल होती है। ध्रुवीय क्षेत्रो में भूमि हिम मे ढके रहने के कारण साधारणत अपक्षय का अभाव मिलता है। यहाँ हिम से बाहर निकले हुए भागों पर पाले की तीव्र प्रतिक्रिया होती है। यहाँ रासायनिक और जैविक साधनो का प्रभाव नगण्य रहता है।

गतिशील शक्तियाँ (Mobile Forces)

अपरदन (Erosion)—अपक्षय की क्रियाओ मे चट्टानो का बराबर विघटन होता रहता है। विघटन से चट्टाने चूर-चूर होती रहती है। चट्टानो की यह चूर उसी स्थान पर एकत्रित होती रहती है या गुरुत्वाकर्षण के द्वारा फिसलकर ढाल के नीचे जमा हो जाती है। इसके विपरीत अपरदन की क्रिया गतिशील होती है। इसमे अपरदन की विभिन्न शक्तियाँ अपक्षय द्वारा तैयार चट्टान-चूर्ण को अपने साथ लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाती रहती है। इन शक्तियों के साथ प्रवाहित चट्टानी टुकड़े दो प्रकार से अपरदन का कार्य करते है। एक तो चट्टानी टुकड़े स्वय ही आपस मे टकराकर टूटते-फूटते रहते है और दूसरा ये अपने सम्पर्क मे आने वाली धरातली चट्टानो को खुरचते चलते है। उपरोक्त विवेचन से यहाँ यह भ्रान्ति हो सकती है कि अपरदन के लिए अपक्षय की क्रिया का होना आवश्यक है। किन्तु ऐसी बात नही है। अपक्षय और अपरदन दोनों भिन्न और स्वतन्त्र क्रियाएँ है। यह आवश्यक नही है कि अपक्षय के बाद ही अपरदन हो। बिना अपक्षय के भी अपरदन की क्रिया सम्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार बिना अपरदन के भी अपक्षय की क्रिया हो सकती है। दोनो क्रियाएँ अलग-अलग और साथ-साथ भी कार्य कर सकती है। **थार्नबरी** के शब्दो में, "It is true, of course, that weathering is a preparatory process and may make erosion easier, but it is not prerequisite to nor necessarily followed by erosion."[1]

वस्तुतः अंग्रेजी का 'Erosion' शब्द लैटिन के 'Erodere' शब्द से बना है जिसका तात्पर्य कुतरने से होता है। अस्तु, अपरदन शब्द से आशय उस क्रिया से है जिसके अन्तर्गत अपरदन के विभिन्न साधन—नदी, हिमनदी, वायु, भूमिगत जल और समुद्री लहरें—धरातल की चट्टानों को खुरचते हुए तथा उसके चट्टानी मलवे को अलग कर उसे अपने साथ बहाकर अन्यत्र ले जाते है। इस प्रकार सक्षेप मे **चट्टानों के अपघर्षण, क्षरण तथा परिवहन के सामूहिक रूप को अपरदन कहा जाता है।**

अपरदन की सम्पूर्ण प्रक्रिया के मुख्य तीन अंग हैं जो निम्न प्रकार हैं :

(1) अपक्षय द्वारा तैयार शैल-मलवे को गतिशील शक्तियों द्वारा ग्रहण करना (picking)।

(2) प्राप्त शैल-मलवे को गतिशील शक्तियों द्वारा अन्यत्र बहाकर ले जाना अर्थात परिवहित (transportation) करना।

(3) परिवहन के समय चट्टानी टुकड़ों का पारस्परिक घर्षण से टूटना-फूटना तथा सम्पर्क मे आने वाली भू-पटल की चट्टानों का अपघर्षण करना अर्थात खुरचना (eatching)। इसमें चट्टानी टुकड़े अपरदन के लिए औजार का कार्य करते है तथा अपने मार्ग मे आने वाली चट्टानों का विभिन्न प्रकार से अपरदन करते हैं।

---

1 W. D. Thornbury: *Principles of Geomorphology*. p. 37

परिवहन—परिवहन अपरदन का महत्त्वपूर्ण अंग है। परिवहन की मुख्य तीन विधियाँ है .

(1) अपरदन का साधन चट्टानो को घुलाकर अदृश्य रूप से ले जाये; जैसे नमक और चूना सदैव पानी में घुले हुए रूप में बहते है।

(2) अपरदन का साधन चट्टानो के महीन कणों को अपने साथ तैरते हुए बहा ले जाये; जैसे बाढ के समय बड़ी मात्रा मे मिट्टी के कण इसी प्रकार स्थान्तरित होते है।

(3) अपरदन का साधन अपने प्रभाव वेग से शैल-मलवे अथवा धूल-कणो को तलहटी के साथ घसीटते हुए या स्वतन्त्र रूप से बहा ले जाये। उदाहरणत., पानी मे चट्टानी टुकड़े और हवा में धूल-कण इसी प्रकार हटते है।

अपरदन के कारक (Agents of Erosion)—अपरदन की क्रिया मे भाग लेने वाली शक्तियो को अपरदन के साधन कहा जाता है। ये साधन विभिन्न प्रकार के है। इनके कार्य करने की विधियाँ भी भिन्न होती है। इसलिए अपरदन के सभी साधन समान रूप से अपरदन कार्य नही करते। अपरदन के मुख्य साधन निम्न हैं .

(1) भूमिगत जल,
(2) नदियाँ,
(3) हिमनदियाँ,
(4) पवन,
(5) समुद्री लहरे।

अपरदन के रूप (Types of Erosion)—धरातल के ऊपर चट्टानो के अपरदन की क्रिया एक ही रूप से नहीं वरन् कई रूपो मे सम्पन्न होती है। अपरदन के विभिन्न कारक भिन्न-भिन्न रूपों से अपरदन की क्रिया को पूरा करते है किन्तु फिर भी कुछ क्रियाएँ सभी कारकों में एक जैसी होती है। यहाँ अपरदन की क्रियाओं के सामान्य रूपो का उल्लेख किया जा रहा है :

(1) **अपघर्षण** (Abrasion or Corrasion)—अपरदन के कारक अपने साथ कंकड़-पत्थर आदि पदार्थ बहाकर ले जाते है। ये पदार्थ भू-पटल की जिन चट्टानों के ऊपर से होकर गुजरते हैं उसको भी खुरचते चलते है। वस्तुत अपरदन कारकों के साथ बहने वाले कंकड़-पत्थर भूमि को काटने के यन्त्र (tools) का कार्य करते हैं। इस प्रकार अपघर्षण एक ऐसी यान्त्रिक क्रिया है जिसमे कंकड-पत्थर आपसी रगड़ से स्वयं को घिसने के साथ-साथ अपने सम्पर्क में आने वाली चट्टानों को भी घिस डालते है। कंकड़-पत्थर द्वारा चट्टानो के घर्षण की इस क्रिया को ही अपघर्षण कहा जाता है। अपघर्षण की क्रिया मुख्यत. नदी द्वारा अधिक होती है किन्तु हिमानी हवा और समुद्री लहरें आदि भी अपघर्षण के कार्य मे महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं।

(2) **संन्निघर्षण** (Attrition)—यह भी यान्त्रिक अपरदन का एक रूप है। इसमे अपरदन के कारको के साथ बहने वाले कठोर चट्टानी टुकडे व गोलाश्म आदि आपसी घर्षण से टूटते-फूटते रहते है। इस प्रकार प्रवाहित होने वाले चट्टानी टुकड़ो का आकार बदलता रहता है। छोटे टुकड़े बड़े टुकडो के नीचे पिस जाते है। कुछ पारस्परिक रगड़ से घिसकर नुकीले, गोल तथा चिकने हो जाते है। कालान्तर मे चट्टानो के टुकडे बजरी और अन्त मे बालू मे परिणत हो जाते है। सन्नि-घर्षण की क्रिया नदी, हिमनदी, समुद्री लहरो तथा हवा द्वारा होती है।

(3) **संक्षारण** (Solution or Corrosion)—यह एक रासायनिक क्रिया है जो जल द्वारा की जाती है। इसके अन्तर्गत जल के सम्पर्क मे आने वाली चट्टानो के घुलनशील खनिज तत्त्व घुलकर चट्टानो से अलग हो जाते है और जल के साथ मिल जाते है। यह क्रिया बहते हुए जल तथा भूमिगत जल द्वारा होती है।

(4) **जलीय दाब की क्रिया** (Hydraulic Action)—यह जल की एक यान्त्रिक क्रिया है। इसमे जल बिना किसी अन्य सामग्री की सहायता लिए केवल अपने दबाव के कारण मार्ग में पडने वाली चट्टानो के कणों को ढीला बनाकर उन्हे हटाकर बहा ले जाता है। यह क्रिया केवल नदी द्वारा ही सम्पन्न होती है।

(5) **अपवाहन** (Deflation)—यह क्रिया मुख्यत. हवा द्वारा होती है। इस क्रिया मे हवा भौतिक अपक्षय द्वारा विखण्डित पदार्थो को—जो शुष्क और असंगठित होते है—अपने साथ उड़ाकर अन्यत्र ले जाती है जिससे भूमि का तल नीचा होता जाता है। ऐसी क्रिया मरुस्थलों मे अधिक सम्पन्न होती है।

(6) किसी भी स्थान पर अपरदन की गति उसके साधन (Agents) के विस्तार और तीव्रता पर निर्भर करती है। अपरदन के साधन अपनी गति, भार, आयतन और स्वभाव से भिन्न होते हैं। इनका कार्य धरातल की संरचना और ढाल के ऊपर बहुत अधिक निर्भर करता है। अतः अपरदन के साधनो के अनुसार उनकी विशेषताएँ भिन्न-भिन्न हो जाती है।

चट्टानों के अपक्षय और अपरदन दोनो ही प्रक्रमो के अभाव से भू-पटल पर निम्नीकरण (degradation) का कार्य होता है। निम्नीकरण से भूमि का नाश होता है और उनका समुद्र-तल के सापेक्ष आधार तल (grape) तक अपचयन (reduction) होता है।

निक्षेपण (Deposition)—अपरदन के साधन उपयुक्त अवस्थाओ मे पदार्थों को परिवहित करने मे समर्थ होते है किन्तु जैसे ही ये साधन शक्तिहीन होते है उनमे पदार्थों को बहा ले जाने की शक्ति भी घट जाती है। फलस्वरूप वे स्थान-स्थान पर पदार्थो का निक्षेप करने लगते है। इस क्रिया को **निक्षेपण** कहा जाता है। निक्षेपण के द्वारा भूमि-तल ऊँचा उठ जाता है और स्थानीय तल (local grade) से नीचे वाली ऊँचाइयाँ भर जाने से उसके बराबर हो जाती है। इस प्रकार निक्षेपण से **अधिवर्द्धन** (Aggradation) कार्य पूर्ण होता है।

धरातल पर पदार्थों का निक्षेपण विभिन्न अवस्थाओं और विभिन्न साधनों द्वारा सम्पन्न होता है। निक्षेपण-कार्य बहते हुए जल, चलते हुए हिम, लहरे तथा पवन किसी भी साधन से हो सकता है। विभिन्न साधन और अवस्थाएँ मिलकर निक्षेप के ऐसे रूपों को जन्म देती है जो प्राय. भू-पटल के विशिष्ट भू-आकारो के विकास से सम्बन्धित होते है।

अनाच्छादन पर मानव-जीवन का प्रभाव

अनाच्छादन का मानव पर निम्न प्रकार से प्रभाव होता है :

(1) इसके द्वारा चट्टानों का क्षय होता है जिससे अन्त में मिट्टी की रचना होती है। मिट्टी मानव-जीवन का आधार है। इससे मानव अपनी भरण-पोषण की समस्या हल करता है और आर्थिक विकास की ओर उन्मुख होता है।

(2) इस क्रिया से चट्टानो के विभिन्न खनिज-कण घुलते रहते है। घुलने के उपरान्त ये कण किसी स्थान पर एकत्र हो जाते है। इस तरह कई बहुमूल्य खनिज धरातल पर प्राप्त होते है, जिन्हें सरलता से खोदकर निकाला जा सकता है। जिप्सम, चूना व बॉक्साइट आदि खनिज इसी प्रकार प्राप्त होते है।

(3) अपक्षय से चट्टानों का चूर्ण होता रहता है। यह पहाड़ी ढालों के नीचे एकत्रित हो जाता है। जब पहाड़ी भागो से नदियाँ निकलकर आती है तो यह चट्टान चूर्ण को बहा ले जाती हैं और उसे मैदानों में बिछा देती है। फलस्वरूप मैदानों की उपजाऊ शक्ति बढ जाती है।

(4) पर्वतीय क्षेत्रों मे भू-स्खलन से झीलों की रचना होती है।

(5) निक्षेपण-कार्य से भूमि समतल होती है।

सक्षेप में, अनाच्छादन का मानव-जीवन पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गहरा प्रभाव होता है।

27

भूमिगत जल

(UNDERGROUND WATER)

भूमिगत जल धरातल पर जल की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है। काफी प्राचीन समय से लोगों का यह दृढ विश्वास रहा है कि न केवल कुएँ और स्रोत अपितु नदियाँ भी विशाल अधोभूमि जलाशयों द्वारा पोषित होती है। चूने के प्रदेशो में प्रवाहित अधोभूमि धाराओ और भूमि पर अनेक स्रोतो के रूप में निर्गमित अन्तरभौम जल ने इस विश्वास को पुष्ट किया है। मिस्र और मेसोपोटामिया जैसे शुष्क देशो मे बहने वाली नदियाँ इस बात को और भी स्पष्ट कर देती है। इन नदियो का पोषण केवल वर्षा-जल के द्वारा ही नही होता है। इनके पोषण मे भूमिगत जल का विशेष हाथ है। इक्लिसियाट्स (Ecclesiastes) के लेखक का यह कथन "All the rivers run into the sea, yet the sea is not full"[1] बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसका यह निष्कर्ष था कि समुद्रों का शेष जल वापसी परिसंचरण (return circulation) द्वारा भूमि के अन्दर समुद्र-नितल से नदियों के उद्गम स्थलों को पहुँच जाता है। किन्तु वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि समुद्र का जल किस प्रकार पुनः नदियों के उद्गम स्थलो की ऊँचाई को चढ़ पाता है और किस प्रकार भूमि पर कुओं और स्रोतों में ताजे मीठे जल के रूप में फूट पड़ने के पूर्व उसका खारापन दूर होता है। लगभग 17वी शताब्दी मे हेली (Halley) ने इस बात को स्पष्ट किया। उसने बताया कि समुद्र से नदियों मे जल का परिसचरण भूमि के अन्दर नही होता। इस परिसचरण का माध्यम वायुमण्डल है जो वाष्पीकरण और वर्षा के द्वारा सम्पन्न होता है।

चित्र 237—जल चक्र (Hydrographic cycle)

---

[1] A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 126

भूमिगत जल का आशय

पृथ्वी-तल के ऊपर और नीचे प्राप्त जल-राशि वर्षा की ही देन है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रतिवर्ष स्थल पर गिरने वाली वर्षा का औसत लगभग 40 इंच रहता है। इस वर्षा के जल का परिमाण करीब 35,000 घन मील बैठता है। स्थल पर वर्षा से प्राप्त जल राशि में से 6,500 घन मील पानी ही नदियाँ प्रतिवर्ष समुद्रों में प्रवाहित कर पाती है।[1] अतः स्पष्ट है कि वर्षा-जल का अधिकतर भाग नदियों द्वारा समुद्रों मे नही पहुँचता।

जब भूमि पर वर्षा होती है तो उसका कुछ अंश भाप बनकर उड जाता है, कुछ बहकर नष्ट हो जाता है और कुछ भूमि द्वारा सोख लिया जाता है। साधारणतः शीतोष्ण तथा आर्द्र और निचले प्रदेशो मे लगभग एक-तिहाई जल ढालू धरातल पर बह जाता है, एक-तिहाई अर्थात् 12,000 घन मील जल भूमि मे प्रवेश कर जाता है और शेष वाष्पीकरण द्वारा नष्ट हो जाता है। अतः **वर्षा-जल का वह अंश जो भूमि द्वारा सोख लिया जाता है, भूमिगत जल कहलाता है।**

भूमिगत जल के साधन

यद्यपि भूमिगत जल की अधिकतर पूर्ति वर्षा द्वारा होती है किन्तु वह केवल वर्षा-जल का ही परिणाम नहीं है। शीत प्रधान प्रदेशो मे जहाँ वर्षा हिम-रूप मे होती है, लम्बे समय तक भूमि हिम से ढकी रहती है। अतः ऐसे क्षेत्रों मे हिम धीरे-धीरे पिघलकर सँधो तथा दरारों द्वारा भूमि के भीतर प्रवेश कर जाता है। इसी प्रकार नदियो और झीलो के तल से नि स्रावित जल भी भूमि मे नीचे जाकर भूमिगत जल का अंग बन जाता है भूमि में इन सभी साधनो से पहुँचने वाले जल को **उल्काजात जल** या **अवपृष्ठ जल** (Meteoric Water) कहा जाता है।

धरातल पर बिछी हुई अधिकांश चट्टाने जलज चट्टाने है। इन चट्टानों में जल का पर्याप्त अश रहता है। पृथ्वी की आन्तरिक हलचलों से जब ये चट्टाने नीचे दब जाती है तो भारी दबाव से इनमे से जल निकलने लगता है जो रिक्त स्थानों मे सग्रहीत हो जाता है। इस प्रकार के भूमिगत जल को **सहजात जल** (connate water) कहते है।

भूमि मे कई प्रकार के खनिज है। कई खनिज ऐसे होते है जिनमे जल का बहुत अश होता है। जब कभी आग्नेय क्रिया होती है तो ये खनिज पिघलते है जिससे इनमें निहित जल पृथक हो जाता है और आसपास भूमि के छिद्रो अथवा दरारो में एकत्रित हो जाता है। इस जल को **तरुण जल** (juvenile water) अथवा **मैग्मीज जल** (Magmatic water) कहा जाता है।

इस प्रकार भूमिगत जल से आशय उस समस्त जल-राशि से है जो उपरोक्त साधनो से भूमि मे संग्रहीत रहती है। विद्वानो का अनुमान है कि पृथ्वी मे मिगत जल की इतनी राशि विद्यमान है कि यदि उसे धरातल के ऊपर फैलाया जाय तो समस्त भू-पटल पर 500 फुट (170 मी०) गहरा समुद्र लहराने लग जाये।[2] **शिलचर** (Slitcher) महोदय के मतानुसार भूमिगत जल की मात्रा इतनी अधिक है कि उसे धरातल पर लाने से सर्वत्र 1000 से 1200 मीटर ऊँची जल की सतह बन जायेगी। इस भूमिगत जल की अधिकांश राशि लम्बे समय तक सम्भवतया स्थायी तौर पर चट्टानों की सँधों मे भरी रहती है। जल का कुछ अश भूमि में निरन्तर बनते रहने वाले नवीन खनिजो का भाग बन जाता है। इस जल का लगभग एक-तिहाई भाग चट्टानो की रन्ध्रों द्वारा स्रोतो के रूप मे पुन भूमि पर प्रकट हो जाता है।[3] इसीलिए कुछ विद्वानो ने भूमिगत जल को सतही प्रवाह का अग माना है। वही जल कभी भूमि के ऊपर तो कभी भूमि के अन्दर प्रवाहित

---

1 Salisbury : *Physiography*, p. 72
2 Salisbury : *Physiography*, p. 77
3 Hinds : *Geomorphology*, p. 732

हो सकता है। वर्षाकाल में कई नदियों का प्रभाव सतह पर होता है, परन्तु शुष्ककाल में वे अपने बजरी-तल (gravel bed) के नीचे बहती हैं। भूमिगत जल का जो अंश कुओं और स्रोतों के रूप में पुनः धरातल पर प्रकट होता है वह **विलम्ब प्रवाहित जल** (Delayed rain) कहलाता है।

भूमिगत जल को प्रभावित करने वाले कारक
(Factors Affecting Ground Water)

यद्यपि भूमि के नीचे जल का प्रचुर भण्डार है परन्तु प्रत्येक स्थान पर अन्तरभौम जल की राशि भिन्न होती है। वर्षा के उपरान्त जो पानी अन्तःस्रवण (Percolation) द्वारा भूमि में पहुँचता है उसकी मात्रा सर्वत्र एकसी नहीं होती। इसके निम्न कारण हैं :

(1) **ढाल**—भूमि में रिसने वाले जल की गति भूमि के ढाल पर निर्भर रहती है। भूमि का ढाल जितना अधिक होता है वर्षा का जल अथवा पिघलती हुई हिम उतनी ही शीघ्रता से बह जाती है। जब जल शीघ्रता से बहता है तो उसे वाष्पीकरण के द्वारा उड़ने अथवा भूमि में रिसने का बहुत कम अवसर मिलता है।

(2) **वर्षा की तीव्रता**—भूमि में जल का प्रवेश बहुत ही मन्द गति से होता है। जब भूमि ठोस होती है तो यह गति और भी धीमी हो जाती है। पानी जब भूमि में सोखता है तो पहले वह तल के रन्ध्रों को भरता है। इन रन्ध्रों का जल जब तक अधिक गहराई में प्रवेश कर उन्हें रिक्त नहीं कर देता तब तक तल और अधिक जल को भीतर नहीं घुसने देता। अतः जब वर्षा तीव्रता से होती है तो वर्षा-जल का बहुत कम अंश भूमि में प्रवेश कर पाता है। अधिकांश जल तल के ऊपर होकर बह जाता है। मन्द वर्षा के समय वर्षा-जल को भीतर प्रवेश करने का अधिक अवसर मिलता है।

(3) **चट्टानों की सरन्ध्रता**—अरन्ध्र चट्टानों की अपेक्षा सरन्ध्र चट्टानें वर्षा-जल को शीघ्र और अधिक मात्रा में ग्रहण करती हैं, क्योंकि इनके निर्माणक कणों के बीच रिक्त स्थान अधिक बड़ा होता है। यही कारण है कि शैल अथवा बेसाल्ट जैसी ठोस चट्टानें एवं चिकनी मिट्टी बहुत कम पानी को अपने अन्दर प्रवेश करने देती हैं। ये वर्षा के अधिकांश जल को तल के ऊपर से ही बह जाने देती हैं। इसके विपरीत बालुका प्रस्तर, चूने का पत्थर एवं बालू और बजरी में जल शीघ्रता से भीतर प्रवेश कर जाता है।

(4) **मिट्टी में जल की उपस्थिति**—यदि मिट्टी में वर्षा के पूर्व ही जल का पर्याप्त अंश विद्यमान हो तो उसमें वर्षा-जल का बहुत कम अंश प्रवेश कर पायेगा। वर्षा का अधिक भाग तल के ऊपर बहकर निकल जायेगा।

(5) **वनस्पति की मात्रा**—वनस्पति की न्यूनाधिकता भी भूमिगत जल को प्रभावित करती है। वनस्पति की सघनता धरातल पर बहने वाले जल के मार्ग में अवरोध खड़ा करती है जिससे अधिक समय तक जल धरातल के ऊपर बना रहता है। लम्बी अवधि तक जल के भूमि पर बने रहने से उसको भूमि में नीचे धँस जाने के लिए यथेष्ट समय मिल जाता है। इस प्रकार बहुत कम पानी बहकर नष्ट होता है।

(6) **वायु की शुष्कता**—यदि हवा शुष्क होती है तो वह अधिक जल-राशि को भाप बना कर उड़ा ले जाती है। यही कारण है कि शुष्क प्रदेशों में वर्षा-जल न तो पूरी तरह भूमि में रिस ही पाता है और न अच्छी तरह बहता ही है, बल्कि शुष्क हवा उसे बीच में ही चट कर जाती है।

(7) **अन्तरभौम जल की गति**—सामान्यतः किसी भी स्थान पर भूमिगत जल की मात्रा यदि अन्य सब बातें समान हों, तो वहीं अधिक होगी जहाँ वर्षा अधिक होती है। किन्तु यह बात पूर्ण रूप से वर्षा पर ही आधारित नहीं है। एक स्थान पर होने वाली वर्षा का जल अधोभूमि जल

के रूप मे प्रवाहित होकर अन्यन्त्र जा सकता है । उदाहरणतः, रॉकीज पर्वतों मे होने वाली वर्षा का जल अधोभूमि जल के रूप मे सरन्ध्र चट्टानो से होकर मध्यवर्ती बड़े मैदान मे पहुँच जाता है ।

भूमिगत जल कीं सीमा

भू-पटल पर सर्वत्र ही पारगम्य शैलो के नीचे अपारगम्य शैले पायी जाती है । पारगम्य शैले सरन्ध्र होने के कारण उनमे वर्षा का जल प्रवेश कर जाता है । किन्तु अपारगम्य शैलो मे जल प्रवेश नही कर पाता । अत भूमि मे वर्षा-जल के प्रवेश कर नीचे जाने की सीमा अपारगम्य शैलें ही होती हे । परन्तु भूमि के अन्दर इन शैलो की स्थिति और गहराई निश्चित नही है । कही-कही बहुत अधिक गहराई तक भी अपारगम्य शैले नही मिलती । किन्तु भूमि मे जल के नीचे पहुँचने की एक सीमा होती है उससे नीचे वह नही पहुँचता । सामान्यत· धरातल के निकट की शैलो मे रन्ध्र बड़े और अधिक होते है । गहराई बढने पर ऊपरी दबाव के कारण ये रन्ध्र छोटे होते जाते है । फलस्वरूप जल के नीचे उतरने मे कठिनाई बढती जाती है । ऐसा अनुमान है कि एक या दो किलोमीटर की गहराई पर सभी रन्ध्र बहुत छोटे हो जाते है और 20 किलोमीटर की गहराई के उपरान्त भारी दबाव के कारण सभी रन्ध्र बन्द हो जाते है । अत· भूमि मे इस गहराई तक ही भूमिगत जल मिल सकता है । भू-पटल मे जहाँ कही अपारगम्य शैले कम गहराई पर ही विद्यमान होती है वहाँ भूमिगत जल इन शैलो के ऊपर ठहर जाता है । धरातल के ऊपर प्राप्त होने वाला अधिकाश भूमिगत जल एक या दो किलोमीटर से अधिक गहरा नहीं होता ।

भूमिगत जल-तल (Water Table)

भू-पटल के नीचे कुछ गहराई के उपरान्त सभी शैल रन्ध्र जल से सतृप्त (saturated) रहते है । भूमि मे इस सतृप्तता की ऊपरी सीमा को ही **भूमिगत जल-तल** (water tabel) अथवा **संतृप्तता का जल** (level of saturation) कहा जाता है । सेलिसबरी के अनुसार, "**किसी प्रदेश की अधोभूमि का वह तल जिसके नीचे चट्टाने जल से ओतप्रोत रहती है, उस प्रदेश का भूमिगत जल-तल कहलाता है** ।"

भूमि मे इस जल-तल की कोई समतल रेखा नही पायी जाती । सामान्यतः जल रेखा धरातलीय बनावट का अनुसरण करती है । पहाड़ियों के नीचे जल-रेखा मेहराबनुमा होती है और घाटियों मे यह नीचे झुकी हुई रहती है । वस्तुत· इसका विस्तार कही भी एकसा नही होता । वर्षा-

चित्र 238—**भूमिगत जल-तल**
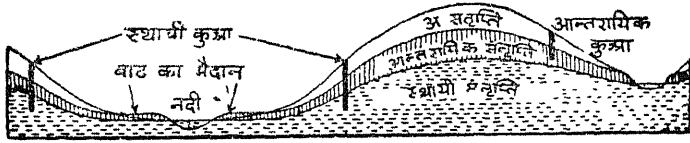
काल मे जल-रेखा ऊपर बढ जाती है और शुष्क ऋतु मे नीची हो जाती है । यदि हम धरातल के ऊपरी भाग से नीचे की ओर चले तो संतृप्तता की दृष्टि से स्पष्ट तीन भाग देखे जा सकते हैं :

(1) **असंतृप्त क्षेत्र** (Zone of Non-saturation)—यह क्षेत्र कभी भी जल से भरा हुआ नही रहता । इस क्षेत्र से होकर जल रन्ध्रो द्वारा निचली सतह को चला जाता है । यहाँ मिट्टी जल का कुछ अंश रोक लेती है जो पौधो की जडों के उपयोग में आता है ।

(2) **आन्तरायिक संतृप्त क्षेत्र** (Zone of Intermittent Saturation)—यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे जलतल की ऊपरी सीमा रहती है । लम्बी वर्षा ऋतु के बाद यह सम्पूर्ण भाग संतृप्त हो जाता है, किन्तु शुष्क ऋतु में जल-तल की रेखा बहुत नीचे खिसक जाती है ।

(3) **स्थायी संतृप्त क्षेत्र** (Zone of Permanent Saturation)—यह क्षेत्र सदैव जल से ओतप्रोत रहता है । सामान्यतः 2000 से 3000 फुट की गहराई पर स्थायी जल-तल पाया

जाता है। यह भूमिगत जल-तल का सबसे नीचा तल है। जहाँ कही स्थायी संतृप्त तल भूमितल के ऊपर आ जाता है तो निस्यदन (seepages), दलदल, झीलें और नदियो का आविर्भाव होता है। जब आन्तरायिक सतृप्त क्षेत्र अस्थायी रूप से धरातल पर पहुँचता है, तो बाढ और आन्तरायिक स्रोतो का उदय होता है। इसके विपरीत लम्बी शुष्क ऋतु के बाद जब जल-तल अपने साधारण तल से नीचा हो जाता है तो कुछ प्रदेशो मे दलदल, स्रोत ओर नदियाँ सूख जाती है।

वातन क्षेत्र
(Zone of Aeration)

पृथ्वी के धरातल और भूमिगत जल-तल के मध्य पाये जाने वाले जल को **अधिभौम जल** (Vadose water) कहते है। अधिभौम जल के क्षेत्र मे वायु मिली हुई रहती है, इसलिए इस क्षेत्र को **वातन क्षेत्र** (Zone of aeıation) कहा जाता है। इस वातन क्षेत्र की मोटाई जल-तल की गहराई के साथ बदलती रहती है। पहाडी भागो मे इसकी मोटाई अधिक और मैदानी भागो मे कम होती है। कभी-कभी यह क्षेत्र धरातल से मिला होता है। इस वातन क्षेत्र को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है :

(क) **भूमि जल क्षेत्र** (Soil Water Zone), और

(ख) **केशाकर्षण क्षेत्र** (Capillary Fringe)।

भूमि जल क्षेत्र मे पानी पौधो के उपयोग मे आता है, परन्तु केशाकर्षण क्षेत्र मे जल भूमि के अन्दर से बारीक नाली क्रिया द्वारा ऊपर आकर्षित किया जाता है। यह क्षेत्र ठीक जल-तल के ऊपर स्थित होता है। कही-कही यह क्षेत्र नही भी पाया जाता है। बालुका प्रस्तरों मे साधारणत: ऐसी अवस्था देखी जाती है।

भूमिगत जल-तल की परिवर्तनशीलता—भूमिगत जल-तल स्थान व समय की परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न गहराई पर मिलता है। चट्टानो की सरन्ध्रता के आधार पर जल-तल कही धरातल से कम और कहीं अधिक गहराई पर पाया जाता है। किसी स्थान पर वर्षा की मात्रा पर भी इसकी गहराई निर्भर करती है। आर्द्र मैदानी भागो में जल-तल धरातल के निकट रहता है। परन्तु शुष्क मरुस्थलो तथा पर्वतीय क्षेत्रों मे यह बहुत निचाई पर मिलता है। ऋतु परिवर्तन के साथ भी जल-तल ऊँचा-नीचा होता रहता है। ग्रीष्मऋतु मे स्वाभाविकतया जल-तल नीचे चला जाता है और वर्षाऋतु मे ऊपर उठ जाता है। वस्तुत: जल-तल में यह परिवर्तन आन्तरायिक सतृप्त क्षेत्र मे ही होता है, इसलिए यह जल-तल अस्थायी होता है। किसी स्थान पर भूमि में एक निश्चित गहराई के बाद शुष्क ऋतु मे भी जल-तल मे कोई परिवर्तन नही होता। यह जल-तल की स्थायी सीमा होती है। इसकी गहराई कही पर भूमि से 10 फुट तो कही पर 100 फुट हो सकती है। शुष्क भागो मे यह गहराई और भी अधिक हो सकती है। सामान्यत: जहाँ वर्षा कृषि-कार्य के लिए पर्याप्त होती है वहाँ इसकी गहराई 20-25 फुट तक पायी जाती है।

जिन प्रदेशो में भूमि की रचना मे बडी विपरीतताएँ मिलती हैं और चट्टानों की सरन्ध्रता में भी परिवर्तन पाया जाता है वहाँ विभिन्न जल-तल पाये जाते है। ऐसे क्षेत्रो में जहाँ पारगम्य और अपारगम्य शैले मिलती हैं वहाँ जो जल-तल होता है, वह **स्थानीय जल-तल** (local water table) कहलाता है। इसके विपरीत, जो जल-तल प्रदेश भर में फैला रहता है वह **प्रादेशिक जल-तल** (regional water table) कहलाता है। यह जल-तल स्थायी होता है।

भूमिगत जल की गति (Movement of Ground Water)—भूमिगत जल सदैव गतिशील रहता है। यह बात कुओं एवं खानो से प्रमाणित होती है। यदि कुओं और खानों से एक बार पानी तोड़ दिया जाय तो शीघ्र वे पुनः अपने पूर्व-स्तर तक जल से पूर्ण हो जायेंगे। इससे

स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमे जल कहीं से प्रवाहित होकर आता है। निरन्तर बहते रहने वाले सोते भी इस बात की पुष्टि करते है, क्योंकि भूमिगत जल मे गति होने पर ही वे जल प्रदान कर सकते हैं। खदानों में जल के निस्यदन (seepage) से भी यही निष्कर्ष निकलता है। अत' स्पष्ट है कि भूमिगत जल निरन्तर गतिमान रहता है।

भूमिगत जल मे गति के अनेक कारण है किन्तु गुरुत्वाकर्षण (gravity) और आणविक आकर्षण (molecular attraction ये दो ऐसी प्रमुख शक्तियाँ है जो कि भूमिगत जल को सदा गतिशील बनाये रखती है। इन शक्तियो के वशीभूत भूमिगत जल चट्टानो मे उसी प्रकार प्रवाहित होता है जिस प्रकार कि शहरो मे जल नलो मे प्रवाहित होता है। भूमि के अन्दर जल की इस गति को निम्न प्रकार सरलता से समझा जा सकता है। मान लो एक समतल प्रदेश है जहाँ जल-तल हमेशा एक समान रहता है। यदि इस प्रदेश मे कही भारी वर्षा हो जाय तो उस वर्षा वाले भाग की मिट्टी और चट्टाने जल से पूर्ण हो जायेगी। फलस्वरूप वहाँ का जल-तल ऊँचा उठ जायगा। किन्तु यह अवस्था अस्थायी होती है। चूँकि जल तरल एव गतिशील पदार्थ है अत. वह शीघ्र ही उस स्थान से चारो ओर उन स्थानों को बहने की चेष्टा करेगा जहाँ जल-तल अपेक्षाकृत नीचा है। इस प्रकार भूमिगत जल भी ठीक उसी प्रकार फैलने का प्रयत्न करता है जिस प्रकार वह भूमि के ऊपर करता है। भूमि के अन्दर चट्टान के प्रतिरोध के कारण उसकी गति बडी मन्द रहती है।

यदि किसी प्रदेश मे वर्षा की मात्रा सर्वत्र एक समान होती है, किन्तु वहाँ का धरातल असमान है तो अन्य बाते समान होने पर, उच्च भागो मे जल-तल ऊँचा और निम्न भागो मे जल-तल कुछ नीचा रहेगा। जहाँ ऐसी अवस्था हो वहाँ यदि बाद में कोई वर्षा न हो तो जल-तल अन्त में एक समान हो जायगा। आर्द्र भागों मे जल-तल प्राय: धरातल के निकट रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्षा और भू-भागो की बनावट मे असमानताओं के कारण ही भूमिगत जल उच्च स्थानो से निम्न स्थानो की ओर निरन्तर गतिशील रहता है।

यद्यपि भूमिगत जल की गति का सम्बन्ध गुरुत्वाकर्षण से है और इस कारण वह सदैव उच्च भागों से निम्न भागों की ओर गतिशील रहता है किन्तु कुछ परिस्थितियों में इसका विपरीत प्रवाह भी देखा जाता है। उदाहरणत, यदि चट्टान की एक सरन्ध्र परत के मध्य से बहता हुआ जल दो ऐसी चट्टानी परतों के बीच मे पड़ जाय जिनमे वह प्रवेश नहीं कर सकता तो अपारगम्य परत के बीच कोई सँध या मार्ग मिलने पर जल ऊपर की ओर बह निकलेगा। यदि वहाँ जल-पूर्ति का स्रोत (source of supply) निर्गम बिन्दु की अपेक्षा बहुत ऊँचा है तो वहाँ बड़े प्रबल वेग से जल बाहर निकलेगा।

भूमिगत जल में गुरुत्वाकर्षण शक्ति के अतिरिक्त कुछ अन्य विधियों से भी गति उत्पन्न होती है। केशिका-क्रिया (capillary action) द्वारा भी जल ऊपर उठता है, किन्तु इस क्रिया से जल मे बहुत ही मन्द गति उत्पन्न होती है। केशालता (capilarity) से उत्पन्न गति के अतिरिक्त भूमिगत जल का कुछ अश पेड़-पौधो की जडों द्वारा भी ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार पेड़-पौधों की जड़ें भी जल की गति को बनाये रखने मे योग देती हैं।

भूमिगत जल के सचलन की गति धरातल के सभी भागो मे एक जैसी नही होती। इसके संचलन पर चट्टानों की रन्ध्रता और जल के दबाव का बड़ा प्रभाव पड़ता है इसलिए भिन्न-भिन्न भागो मे इसकी गति में अन्तर मिलता है। सयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भाग में अधोभूमि जल के सचलन की गति का वैज्ञानिको ने पता लगाया है। वहाँ सामान्य चट्टानो मे 1 से लेकर 2·5 मी० तक जल का प्रवाह रहता है। अति सरन्ध्र चट्टानो मे यह गति कभी-कभी 15 मी० प्रतिदिन तक आँकी गयी है। जब जल कहीं बहुत गहराई तक और चट्टानों के अत्यन्त सूक्ष्म छिद्रों मे

प्रवेश कर जाता है तो उसकी प्रवाह गति एकदम मन्द होती है। कभी-कभी तो जल बहता हुआ सा प्रतीत ही नहीं होता। अधोभूमि जल का कुछ अश उसकी गतिशीलता से कुओं और झरनो के द्वारा पुनः स्थल पर आ जाता है और कुछ प्रवाह के रूप मे समुद्रो और झीलों तक पहुँच जाता है।

कुएँ (Wells)

भूमि मे समाने वाला जल तब तक भूमिगत रहता है जब तक उसे भूमि में कोई सँध या दरार न मिल जाये। किन्तु भूमि मे सँधे या दरारे हर स्थान पर नही पायी जाती। अतः लोगों को अपनी आवश्यकता के लिए भूमि मे कुएँ खोदने पड़ते है। होम्स के अनुसार, **"कुएँ ऐसे छिद्र-मात्र**
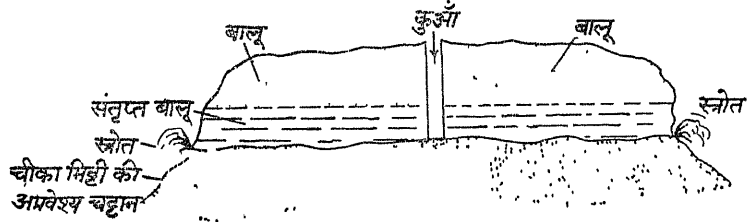
चित्र 239—कुआँ

है जो कि भूमि के अन्दर उस गहराई तक खोदे जाते हैं जहाँ कि जल से परिपूर्ण सरन्ध्र चट्टाने मिलती है।"[1] इस प्रकार कुओ का सम्बन्ध सदैव भूमिगत जल-तल से रहता है। अतः कही भी कुएँ खोदने मे जल-तल की स्थिति ही मुख्य बात होती है। अधिकाश कुओं मे यह जल-तल उसी प्रकार ऊँचा-नीचा होता रहता है जिस प्रकार सोते कभी तेजी से और कभी मन्द गति से बहते है या नितान्त ही सूख जाते है। कभी-कभी भूमि मे समाने वाला जल कुछ ही गहराई पर अरन्ध्र चट्टान के आ जाने से वहीं ठहर जाता है। अत· ऐसे स्थान पर कुएँ खोदने पर कुछ ही गहराई पर जल प्राप्त होने लगेगा। किन्तु ऐसे कुएँ स्थायी नही होते, क्योंकि इनका सम्बन्ध भूमिगत जल-तल से नही होता। ये **छिछले कुएँ** (shallow wells) होते है जो केवल धरातलीय जल पर आश्रित रहते है। ऐसे कुएँ प्रायः शीघ्र ही सूख जाते है। इनका जल भी प्राय· दूषित हो जाता है क्योंकि इनके जल का कोई प्राकृतिक निस्यन्दन (natural filtration) नहीं होता। अतः एक अच्छे कुएँ के लिए यह आवश्यक है कि वह भूमि मे जल-तल के निम्नतम बिन्दु से भी काफी गहराई तक खोदा जाये, जहाँ जल से भरी हुई चट्टानो द्वारा जल की शीघ्रता से बराबर पूर्ति होती रहती हो। ऐसे कुएँ न केवल स्थायी होते है अपितु मानव उपयोग की दृष्टि से भी विशेष हितकर होते है, क्योकि ये धरातल सन्दूषणों (surface contamination) के खतरों से बाहर होते है। इस प्रकार कुएँ मानव द्वारा खोदे गये कृत्रिम जल-स्रोत है जिनसे नहाने, धोने, पीने आदि घरेलू उपयोग, कृषि की सिचाई और औद्योगिक कार्यो के लिए जल प्राप्त किया जाता है।

कुओं के सम्बन्ध में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि उनसे जल निकालने पर कुएँ के आसपास स्थायी रूप से जल-तल नीचा हो जाता है। इससे कुएँ के समीप निर्वातन शकु (cone of exhaustion) बन जायेगा। किसी बड़े कुएँ के समीप् ऐसे विशाल निर्वातन शंकु की रचना हो सकती है कि उससे आसपास के कम गहरे कुएँ क्रमशः सूख जायँ। ऐसा पूर्वी एन्जिलिया और

1 "Wells are simply holes dug or bored or drilled into the ground to a depth at which water-bearing permeable formations or fissured rocks are encountered."—*Aurthur Holms*

वेल्ड में हुआ है। कुओ द्वारा जल निकालने के कारण पिछली एक शताब्दी में लन्दन बेसिन का जल तल 100 फुट से भी अधिक नीचा हो गया है।[1]

ससार के कई शुष्क भागो मे तो जीवन केवल गहरे कुओ द्वारा प्राप्त जल पर ही आश्रित है। उदाहरणतः, दक्षिणी अल्जीरिया मे नग्न चूने के पत्थर के पठार पर—जो कि समुद्र-तल से
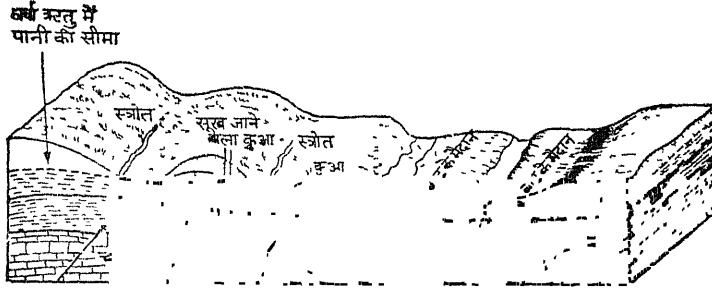
चित्र 240—कुएँ के जल का संग्रहालय से सम्बन्ध

2,000 फुट ऊँचा है—**मेजाब** (Mezab) नामक मरुद्यानो के इर्द-गिर्द **शेबका** (Shebka) लोग रहते है। यहाँ शुष्क घाटियो के सहारे ऐसे कुएँ खोदे जाते है जो कि जल-तल की गहराई तक होते है। इनकी गहराई लगभग 200 फुट रहती है। यहाँ अनुमानतः 3,300 कुएँ है जिनसे लोग बगीचों की सिचाई के लिए निरन्तर फिरकी व रस्सी की सहायता से जल ऊँचा उठाते हैं।

उत्स्युत कूप या पाताल-तोड़ कुएँ
(Artesian Well)

साधारणतः पाताल-तोड़ कुओं से अर्थ ऐसे कुओं से लिया जाता है, जिनकी गहराई बहुत अधिक होती है। किन्तु गहराई होने से ही कोई कुआँ उत्स्युत कूप नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः उत्स्युत कूप एक विशिष्ट प्रकार के जल-स्रोत है जो प्रकृति द्वारा नहीं, अपितु मानव निर्मित होते है। ऐसे कूप विशेष धरातलीय संरचनाओ के क्षेत्रों में पाये जाते हैं। **होम्स** के अनुसार "**उत्स्युत कूप से आशय ऐसे कुओं से है जिनमें गहराई पर प्राप्त जल पर्याप्त द्रव स्थैतिक तुलन-दाब** (Hydraulic pressure) **के कारण स्वतः भूमि के ऊपर आप्लावित** (overflow) **होता है।**" ऐसे कुओं की रचना के लिए निम्न प्रकार की अवस्थाओ का पाया जाना आवश्यक है :

चित्र 241—पाताल-तोड़ कुआँ
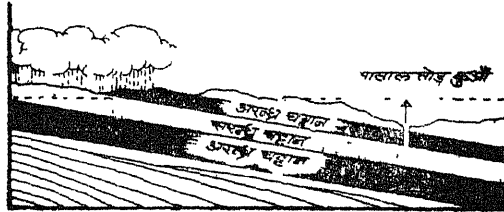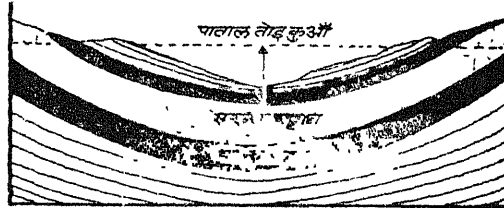
(1) **जलभृत शैल** (Aquifer) का झुके हुए अथवा विस्तृत अभिनति (syncline) रूप मे पाया जाना और इसके ऊपर-नीचे दोनों ओर अरन्ध्र शैलो का होना।

(2) **जलभृत** (Aquifer) अर्थात सरन्ध्र शैल के किनारे अन्तर्ग्रहित क्षेत्र (intake area) मे

---

1 F. J. Monkhouse. *Principles of Physical Geography*, p. 88

भूमि पर बाहर निकले हुए हो। ये किनारे भूमि पर खोदे गये कुएँ के मुँह से पर्याप्त ऊँचाई पर स्थित हो ताकि वे कुएँ के तल तक प्रचुर द्रव स्थैतिक दाब (Hydraulic head) उत्पन्न कर सके।

(3) अन्तर्ग्रहित क्षेत्र मे प्रचुर वर्षा का होना जिससे जल की पर्याप्त पूर्ति हो सके।

(4) सरन्ध्र शैल मे सग्रहित जल के कुएँ के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के निवास का प्रभाव।

उत्स्युत कूप के लिए आवश्यक उपरोक्त सभी अवस्थाएँ लन्दन बेसिन मे बहुत ही स्पष्ट रूप से मिलती है। यहां जलभृत शैल (aquifer) के रूप मे चाक शैल है, जिसके ऊपर बालू की परत बिछी है। कही-कही इसके नीचे भी बालू बिछी हुई मिलती है। इसके ऊपर अरन्ध्र शैल के रूप मे लन्दन चीका और नीचे गाल्ट चीका पायी जाती है। चाक शैल उत्तर की ओर चिल्ट्र्न्स (Chilterns) के सहारे और दक्षिण मे नार्थ डाउन्स (North Downs) के सहारे भूमि पर बाहर निकली हुई है। अतः इन स्थानो पर होने वाली वर्षा का जल इसमे सग्रहित होता रहता है। इस चाक शैल मे सग्रहित जल लन्दन क्षेत्र मे 600 से 700 फुट गहरे खोदे गये सैकड़ों कुओ द्वारा प्राप्त किया जाता है। लगभग एक शताब्दी पूर्व चाक शैल जल से सतृप्त (saturated) थी। जब ट्रैफल्गार स्कायर मे सर्वप्रथम कुआँ खोदा गया तो कुएँ से पानी भूमि जल-तल से काफी ऊँचाई तक फव्वारे की भाँति फूट पड़ा। वर्तमान समय मे यहाँ का जल-तल और द्रव स्थैतिक दाब उत्तरोत्तर गिरते जा रहे हैं, क्योकि अपवाह क्षेत्र (catchment area) से प्राप्त जल से अधिक मात्रा मे जल कुओं द्वारा निकल जाता है। अब यहाँ पानी नलो द्वारा ही ऊपर उठाया जा सकता है।

ससार मे उत्स्युत बेसिन (artesian basin) का सबसे बड़ा क्षेत्र आस्ट्रेलिया में पाया जाता है। यहाँ क्वीन्सलैण्ड, न्यूसाउथवेल्स और दक्षिणी आस्ट्रेलिया राज्यो के लगभग 6,00,000 वर्ग मील क्षेत्र मे इसका विस्तार है। इस बेसिन का अपवाह क्षेत्र पूर्वी उच्च प्रदेश (Eastern Highlands) मे है जहाँ कोमल जुरैसिक बालुका प्रस्तर धरातल पर निकला हुआ है। उत्स्युत कुओं के अभाव मे यह समस्त क्षेत्र एक उजाड़ खण्ड होता है। यहाँ लगभग 9,000 कुएँ है जिनमे से कुछ कुएँ 5,000 से 6,000 फुट तक गहरे है। दुर्भाग्यवश यहाँ का कुछ जल आंशिक रूप में खारा है, अत. यह जल भेड़ पालन के लिए ही उपयोग मे आता है। आस्ट्रेलिया के सामने सबसे बड़ा भय यही लगा रहता है कि कही इन कुओ का जल समाप्त न हो जाये। क्योंकि कुछ विद्वानो की यह मान्यता है कि प्रतिवर्ष इस क्षेत्र मे वर्षा द्वारा प्राप्त होने वाले जल की अपेक्षा कुओ से निकाले जाने वाले जल की मात्रा कहीं अधिक है। कुओ को प्राप्त जल का कुछ भाग यहाँ पूर्व सग्रहित जल-भण्डार से मिल रहा है किन्तु अब भण्डार की पूर्ति नही हो रही है। इस क्षेत्र मे जो जल पाया जाता है वह केवल अवपृष्ठ जल (meteoric water) ही है। कुछ कुओ में अत्यधिक दाब, प्रचुर गैसो और जल मे घुले हुए पदार्थों से यह भी प्रतीत होता है कि गहराई में तरुण जल (juvenile water) के साधनों से भी इसकी पूर्ति होती है।

संसार मे कई भागो मे उत्स्युत कूपों का बहुत बड़ा महत्त्व है। सहारा एवं अन्य मरुस्थलों में पाये जाने वाले अनेक मरुद्यान धरातल पर स्थानीय रूप से उत्स्युत जल के निकलने के कारण ही पाये जाते हैं। इन मरुद्यानों मे भूमिगत जल के धरातल पर निकल पड़ने से ही यहाँ आश्चर्य-जनक रूप से वनस्पति प्रस्फुटित होती है। फलस्वरूप ये क्षेत्र **होम्स** के शब्दो मे, 'a paradise in a setting of blazing sand and glaring rocks' सिद्ध होते है। चाड़बेसिन और सहारा के मध्य इर्डी (Erdi) व इनीडी (Ennedi) की उच्च भूमि महत्त्वपूर्ण अपवाह क्षेत्र का कार्य करती हैं। यहाँ यदाकदा होने वाली वर्षा नग्न बालुका प्रस्तर—जो भूमि के नीचे लीबिया और मिस्र के पार तक चले गये है—द्वारा शीघ्र ही अन्तर्ग्रहित कर ली जाती है। जहाँ कही यह भूमिगत जल दरारों, उत्स्युत कूपों, अभिनतियों अथवा बालू के अपवाहन आदि कारणों से भूमि पर लाया जाता

है, वही मरुद्यान की उत्पत्ति हो जाती है। उदाहरणत., अल्जीरिया और ट्यूनिस की सीमा पर गेब्स की खाड़ी के पश्चिम मे कई मरुद्यान आ गये है जहाँ **सोआफास** (Soafas) लोग रहते है। यहाँ **बादरिर** गर्त (depression) मे नयी दलदली नमकीन झीलें है। जैसे शॉट मेलरिर (Shatt Melrir) व शाट एल जरिद (Shatt el Jerid) आदि। इन झीलो के दक्षिण मे भूमि शुष्क है किन्तु जल-तल अधिक नीचा नही है। अतः यहाँ लोग उत्स्रुत जल प्राप्त करने हेतु बालू मे कीप-नुमा गड्ढे खोदने और बनाये रखने मे लगे रहते है। इसी उत्स्रुत जल के कारण यहाँ गड्ढों मे बड़ी प्रचुर मात्रा मे खजूर के पेड लगते है, जिनके 'पैर सदैव जल मे और सिर धूप मे रहता' है।

स्रोत
(Springs)

भूमिगत जल अनेक स्थानो पर अवसर पाकर भूमि पर प्रकट होता है। इस प्रकार प्राकृतिक रूप मे भूमिगत जल के स्वतः धरातल पर निकलने को **स्रोत** कहते है।

मोन्कहाउस के अनुसार "A spring can be defined as a natural flow of water out from the surface of the ground, it may flow strongly and even gush out with considerable force or it may just ooze or seep out."

किसी भी स्थान पर इन स्रोतो की रचना वहां के धरातली रूप और शैलों की प्रकृति पर निर्भर करती है। साधारणत. ये उस बिन्दु पर या उसके नीचे जहाँ जल-तल धरातल को काटता
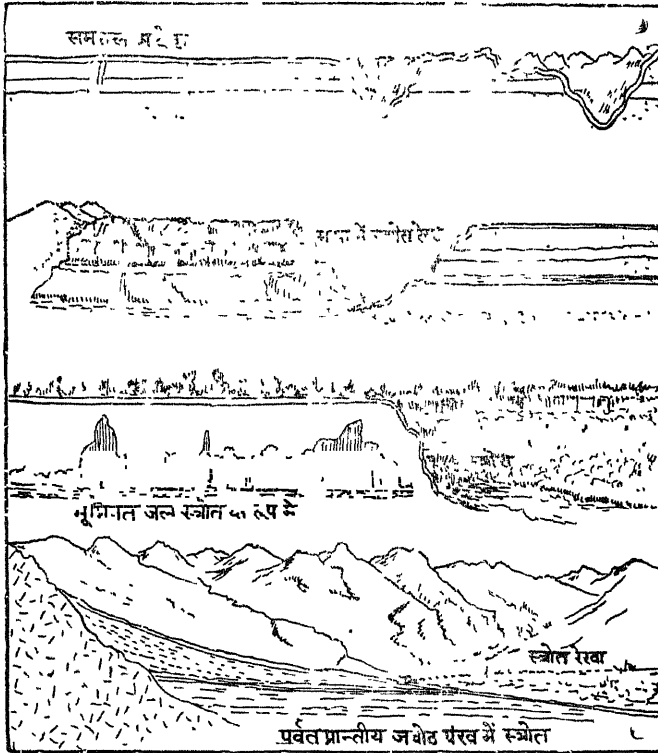
चित्र 242—स्रोत की रचना के लिए सहायक अवस्थाएँ

है, उत्पन्न होते हैं। जहाँ कही पारगम्य शैल परत अपारगम्य शैल परत के ऊपर स्थित होती है तो प्रायः पहाड़ी के ढलान अथवा नदी की घाटी के किनारे सन्धि-स्थल पर स्रोत बन जाता है। सामान्यत: ये स्रोत दो प्रकार के होते है—स्थायी एव अस्थायी। जहाँ भूमि के अन्दर कठोर चट्टानो

की परत अभिनत रूप मे झुकी रहती है और जल-तल रेखा पहाड़ी के शिखर के नीचे काफी ऊँचाई पर स्थित होती है तो अपारगम्य शैल एवं जल-तल के सन्धि स्थल पर स्रोत का उद्गम हो जाता है। ऐसी अवस्था मे स्रोत के बहते रहने से जल-तल नीचा हो जाता है किन्तु जल-दाब की प्रवणता (gradient) बने रहने से स्रोत कभी सूखता नही है, अतः ऐसे स्रोत स्थायी स्रोत होते है।

जिन स्रोतो मे कुछ समय तो जल बहता है किन्तु शेष समय शुष्क रहते है तो वे अस्थायी स्रोत कहलाते है। ऐसे स्रोतों से जल-प्रवाह और जल-शुष्कता का समय नियमित होता है। किसी स्थान पर जब तक संतृप्त-तल ऊँचा रहता है, जल-प्रवाह होता रहता है किन्तु ज्योंही संतृप्त-तल नीचा हो जाता है तो जल-प्रवाह बन्द हो जाता है। ऐसे स्रोतों को **संतृप्त-तल स्रोत** (saturated level springs) कहा जाता है, कभी-कभी भूमि के अन्दर कठोर एवं कोमल चट्टानो के बीच बनी हुई चट्टानी नाली से जल प्रवाहित होता है। चूँकि चट्टानो के बीच यह प्राकृतिक गड्ढा मुड़ा हुआ होता है, अतः इसमे से जल-प्रवाह उस समय तक नही होता जब तक कि यह एक निश्चित तल तक जलपूर्ण नही हो जाता। जैसे ही नाली उस बिन्दु तक भर जाती है स्रोत से जल बहने लगता है। किन्तु ज्योही स्रोत के उद्गम के आन्तरिक सिरे से जल-तल नीचा हो जाता है, जल-प्रवाह बन्द हो जाता है। ऐसे जल स्रोतो को **साइफन स्रोत** (Siphon spring) कहते है।

स्रोतों के प्रकार

चट्टानों की प्रकृति और भू-गर्भित रचना के अनुसार स्रोतों के निम्न भेद किये जा सकते है :

(1) **भ्रंश स्रोत** (Fault spring)—भ्रशन के कारण जब कुछ चट्टाने नीचे धंस जाती हैं तो कभी-कभी पारगम्य शैले (बालुका प्रस्तर) अपारगम्य शैलो (शेल) के सामने आ जाती हैं। ऐसी अवस्था मे भ्रशन रेखा के सहारे स्रोतो का जन्म हो जाता है।

चित्र 243—विभिन्न प्रकार के स्रोत
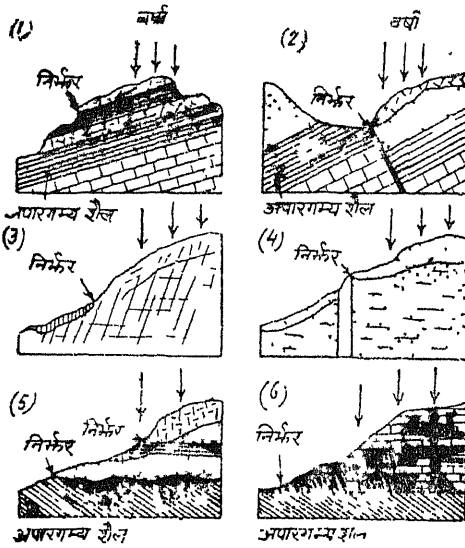
(2) **दरारी व सन्धि स्रोत** (Fissure and joint spring)—सामान्यत. ग्रेनाइट जैसी कठोर आग्नेय चट्टानो में सन्धियाँ अथवा दरारे पायी जाती है। इन दरारो व सन्धियो के द्वारा वर्षा का जल भूमि मे चला जाता है। जब ये दरारे अथवा सन्धियाँ झुकी हुई चट्टानों के साथ धरातल के ऊपर खुलती है तो इनसे जल बाहर निकलने लगता है और वहाँ स्रोत की उत्पत्ति हो जाती है। स्काई द्वीप के ब्लेक क्युइलिन्स (Black Cuillins) पहाडो मे ऐसे अनेक स्रोत मिलते है। यहाँ ग्रेब्रो शैलो की सन्धियो मे जल प्रवेश करता है और बेसाल्ट डोलोराइट सिल के सहारे पुन. बाहर निकलता है। यहाँ के कुछ स्रोत 2,500 फुट तक ऊँचे है।

(3) **डाइक स्रोत** (Dyke Spring)—जहाँ कही पारगम्य शैलो के मध्य अपारगम्य शैलो के डाइक धरातल के ऊपर बाहर निकल आते है तो उनके सन्धि स्थल पर स्रोत बन जाता है। ऐसे स्रोत डाइक स्रोत कहलाते है।

(4) **कगारपाद और नतिपाद स्रोत** (Scrap Foot and Dip Slope Spring)—संसार में अधिकांश पाये जाने वाले स्रोत चाक या चूने के प्रदेशो के कगारो से सम्बन्धित होते है।

उदाहरणत , कोट्सवाल्ड में पश्चिमी किनारो के साथ **कगारपाद स्रोत** और पूर्वी नमन ढाल (dip slope) के सहारे **नतिपाद स्रोत** पाये जाते है। कगारी ढाल की ओर जहाँ अपारगम्य चीका के ऊपर चूने का पत्थर या बालुका प्रस्तर मिलते हैं वहाँ स्रोत फूट पड़ते हैं। अत इस क्षेत्र में स्रोत रेखा के सहारे अनेक गाँव बसे हुए है। पूर्व में नमन ढाल की ओर ऊलाइट चट्टाने बहुत मन्द रूप से झुकी हुई हैं। इसलिए नमन ढाल की ओर यत्र-तत्र नतिपाद स्रोत पाये जाते हैं।

(5) **कार्स्ट प्रदेशीय स्रोत** (Karst Region Spring)—कार्स्ट प्रदेश मे वर्षा का जल चूने की चट्टानों को घुलाकर उनमे बड़े-बड़े गर्त बना देता है। इन गर्तो से पानी भूमि के अन्दर पहुँच कर वहाँ कन्दराएँ या धाराएँ बना देता है। जब धरातल के किसी झुके हुए भाग मे ये कन्दराएँ या धाराएँ निकल आती है तो वहाँ स्रोत बन जाता है। रोन की घाटी मे ऐसे कई स्रोत मिलते हैं। फोण्टेन डी वेयूक्ल्यूसी (Fontaine de Vaucluse) यहाँ का एक प्रसिद्ध स्रोत है। इसी के नाम पर ऐसे स्रोतो को **वेयूक्ल्यूसियन स्रोत** (Vauclusian spring) भी कहा जाता है।

स्रोतों से निकलने वाले जल के आधार पर उनके निम्न भेद किये जा सकते है :

(1) **ठण्डे जल के स्रोत** (Cold Water Springs)—ऐसे स्रोत जिनमें सदैव शीतल जल का प्रभाव होता है, ठण्डे जल के स्रोत होते है। इन स्रोतो पर वर्षा के जल का अत्यधिक प्रभाव रहता है। साधारणत इनमे जल बहुत अधिक गहराई से नही आता जिससे वह ठण्डा रहता है। धरातल पर अधिकाशत· ठण्डे जल के स्रोत ही पाये जाते है।

(2) **उष्ण जल स्रोत** (Hot Water Springs)—उष्ण जल के स्रोत ससार मे कही-कही पर मिलते है। सामान्यत· ये ज्वालामुखी क्षेत्रो मे मिलते है। कभी-कभी ये ऐसे स्थानो पर भी पाये जाते है जहाँ ज्वालामुखी क्रिया के कोई चिह्न नही पाये जाते। वस्तुतः इन स्रोतों में बहुत गहराई से जल प्राप्त होता है। अत· भूगर्भिक ताप से इनका जल गरम हो जाता है। कई बार इनका जल भू-गर्भ मे रासायनिक परिवर्तन एव तेजोद्गरण-क्रिया के द्वारा भी गरम हो जाता है। इनमें जल बहुत गहराई से प्राप्त होता है और भ्रश चट्टानो से बाहर निकलता है। इनके जल पर वर्षा का कोई प्रभाव नही होता, अत· इनके जल का तापमान सदैव एक जैसा रहता है। इस प्रकार के स्रोत भारत में कश्मीर, उत्तर प्रदेश, सिक्किम, पजाब एव बिहार में पाये जाते है।

(3) **खनिज स्रोत** (Mineral Springs)—जिन स्रोतों के जल में खनिज तत्त्व घुले हुए पाये जाते है उन्हे खनिज स्रोत कहा जाता है। इन स्रोतों से लवण एव खनिज बाहर निकलते है। कुछ स्रोतों का जल अम्लीय अथवा क्षारीय होता है। जिन स्रोतों के जल में गन्धक की मात्रा अधिक होती है उन्हे **गन्धक स्रोत** (Sulpher spring) एवं जिनमे लवण की मात्रा अधिक होती है, उन्हें **लवण स्रोत** (Salt spring) कहते है। अधिकांश खनिज स्रोतों मे औषधि के गुण पाये जाते है। फलस्वरूप इनमें स्नान करने से अनेक चर्म रोगो का नाश हो जाता है। ऐसे स्रोतों मे संयुक्त राज्य अमरीका के साराटोगा तथा कार्ल्सबाद के स्रोत विशेष उल्लेखनीय है। हमारे यहाँ भी अतारी (उड़ीसा), सहस्रधरा (उत्तर-प्रदेश), छिन्दवाड़ा (मध्य प्रदेश) एवं तिलस्मा (राजस्थान) के स्रोत महत्त्वपूर्ण है।

भूमिगत जल के कार्य

भू-पृष्ठ पर बहते हुए जल की भाँति भूमिगत जल भी धरातल पर विशाल परिवर्तन करने मे सफल होता है। किन्तु बहते हुए जल के विपरीत इसकी क्रिया बहुत मन्द और भिन्न होती है। इसका कार्य भौतिक अपरदन के स्थान पर रासायनिक अधिक होता है। अतः भूमिगत जल का भू-आकारों पर जो प्रभाव होता है वह मुख्यतः विलयन और निक्षेपण के कारण ही होता है। फिर भी इसके द्वारा अपरदन, परिवहन और निक्षेपण तीनों कार्य किये जाते है।

अपरदन कार्य

अनाच्छादन के अन्य साधनो (नदी, हिमनदी व पवन आदि) की तुलना मे भूमिगत जल

का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण नही होता, क्योकि भूमिगत जल शैल रन्ध्रों द्वारा भूमि के अन्दर प्रवेश करता है, अत इसको प्रवाह की स्वतन्त्रता नही मिलती। इस कारण भूमिगत जल की गति बहुत ही मन्द होती है। मन्द गति होने से भूमिगत जल द्वारा भौतिक अपरदन बहुत ही कम होता है। वर्षाऋतु मे भूमिगत जल के स्नेहक (lubricating) प्रभाव से पहाडी ढालों पर भू-स्खलन (landslide) और भू-सर्पण (solifluction) के द्वारा परोक्ष रूप में कुछ अपरदन कार्य अवश्य होता है। भू-स्खलन एव भू-सर्पण के कारण पर्वतीय पदों पर भग्नाश्म राशि का निक्षेपण होता है जिसे शैल-मलवा (talus) कहते है। पर्वतीय भागो मे यदाकदा होते रहने वाले भू-स्खलन से प्राय: बहुत अधिक हानि होती है। यद्यपि भूमिगत जल का प्रत्यक्ष रूप से भौतिक अपरदन का विशेष महत्त्व नही है, किन्तु रासायनिक अपरदन (chemical erosion) के रूप मे इसका कार्य अद्वितीय है। रासायनिक अपरदन मुख्यत. घोल के रूप मे होता है। कार्बनयुक्त वर्षा का जल जब चूने की शैलो पर गिरता है तो वह उन्हें शीघ्रता से घुला देता है। इस घुलाव-क्रिया से ही भूमिगत जल चूने एव खड़िया प्रदेशो में विशेष स्थलाकृति को जन्म देता है। भूमिगत जल के अपरदन के द्वारा बने प्रमुख रूप निम्न है

लैपीज (Lapies)—जब चूने की चट्टानों पर कार्बन मिश्रित वर्षा का जल बहता है तो वह उसके कुछ अंश को घुला देता है। चट्टानों के सन्धि स्थलों पर इसका अधिक प्रभाव पडता है। इन सँधों एवं दरारों से पानी भीतर प्रवेश कर जाता है और चट्टानों की सँधों को अधिक चौड़ा कर देता है। ढूहवत चूना-पत्थर में यह क्रिया भली प्रकार सम्पन्न होती है। कभी-कभी इन सन्धियों के बीच के भाग भी टूट जाते है। इस प्रकार समस्त धरातल कटा-फटा दिखाई पडने लगता है। चूना-पत्थर मे ये कटाव कही गोलाकार और कही तीक्ष्ण धारयुक्त होते है जिन स्थानो पर कटाव धारयुक्त होता है वहाँ छोटी-छोटी शिखरिकाओ (ridges and pinacles) का निर्माण हो जाता है। इन शिखरिकाओं की दीवारें खड़ी होती हैं। ये एक प्रकार से तले तथा नुकीले कटको की भाँति स्तम्भ के रूप में एक-दूसरे के समान्तर खड़े होते है। एक-दूसरे से ये कटक सकीर्ण विदर (clift) द्वारा अलग होते हैं। प्राय: अधिक वर्षा वाले भागो मे ही ऐसे कटावयुक्त धरातल का विकास होता है। चूने के प्रदेशो मे ऐसे कटे-फटे धरातल को लैपीज कहा जाता है। लैपीज के कारण धरातल इतना असमान हो जाता है कि उसे नगे पाँव पार करना कठिन हो जाता है। ऐसे कटावदार भू-रूप को फ्रासीसी भाषा मे **लैपीज** (Lapies), जर्मन भाषा मे **कारेन** (Karren), अग्रेजी भाषा मे **क्लीण्ट** (Clint) एव **ग्राइक** (Gryke) और सर्विया भाषा मे **बोगाज** (Bogaz) कहते है।
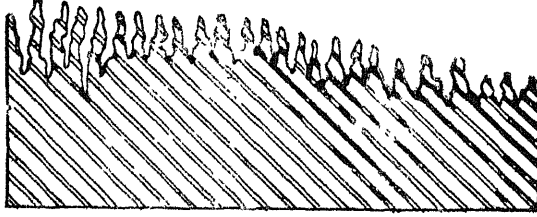
चित्र 244—लैपीज

लैपीज के निर्माण के सम्बन्ध मे कई मत है। **स्विजिक** के अनुसार लैपीज की रचना ऐसे चूना क्षेत्रों मे होती है जहाँ चट्टाने क्षैतिज रूप मे समतल बिछी हुई नहीं होती। इनके निर्माण के लिए चट्टानो का झुके हुए रूप मे स्थित होना तथा सतह का ढालयुक्त होना आवश्यक है। इनकी रचना मुख्यत नग्न चट्टानो की ऊपरी सतह पर चट्टानो की सरचना, उनके सगठन, कणो की बनावट, सतह के ढाल तथा सतह पर वनस्पति के आवरण की मात्रा के अनुसार होती है। कई विद्वानो ने लैपीज का विस्तृत अर्थ लिया है। उदाहरणत, **पामर** ने हवाई द्वीप में बेसाल्ट

चट्टानो में घुलाव द्वारा बनी छोटी-बडी नालियों को भी लैपीज की संज्ञा दी है। इसी प्रकार **स्मिथ** तथा **अलब्रिटिन** ने सयुक्त राज्य अमरीका के टेक्साज प्रान्त मे सियरा ब्लैका क्षेत्र में विकसित अनेक प्रकार के गर्तों, फलको (facets) एव गहरी तथा विस्तृत नालियो को लैपीज कहा है। कई विद्वानो ने तो नदियों द्वारा लैपीज के निर्माण होने की बात कही है। किन्तु लैपीज मुख्यतः चूने की चट्टानो वाले प्रदेशों का ही भू-रूप है।

घोल रन्ध्र (Sink holes)—चूने की चट्टानों वाले प्रदेशों में जब वर्षा का जल सतह पर पहुँचता है तो उसके साथ कार्बन डाइऑक्साइड गैस मिल जाती है। कार्बनयुक्त जल सक्रिय घोलक हो जाता है। फलस्वरूप जब जल चट्टानो की सन्धियो मे पहुँचता है तो वह घुलनशील तत्वों को घुलाकर चट्टानो से अलग कर देता है। इस घुलन क्रिया के कारण कालान्तर मे सन्धियों का विस्तार हो जाता है जिससे धरातल पर छोटे-छोटे असख्य छिद्रो का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार चूने की चट्टानो के ऊपरी सतह पर बने गड्ढों को ही **घोल रन्ध्र** कहा जाता है।

सामान्यत. घोल रन्ध्र कुछ मीटर से लेकर कुछ हेक्टेयर तक चौड़े तथा 3 मीटर से लेकर 30 मीटर तक गहरे होते है। इनमे कुछ रन्ध्र कीपाकार (Funnel shaped) और कुछ बेलनाकार (Cylindrical) होते है। मैलट ने बताया है कि इण्डियाना प्रान्त के कार्स्ट क्षेत्र मे लगभग तीन लाख घोल रन्ध्र होगे।

विलय रन्ध्र (Swallow Holes)—घोल रन्ध्र धीरे-धीरे घोल क्रिया द्वारा चौड़े होते जाते है। कालान्तर मे ये इतने बड़े हो जाते है कि धरातल पर बहने वाली नदियाँ इनमें प्रविष्ट होकर विलीन हो जाती है। ऐसे रन्ध्रों को ही **विलय रन्ध्र** कहा जाता है।

चित्र 245—**विलय रन्ध्र**

डोलाइन (Doline)—ये विलय रन्ध्र के विशिष्ट रूप है। इनकी आकृति बेलनाकार अथवा कीप के समान (Funnel shaped) होती है। सामान्यत: ये 30
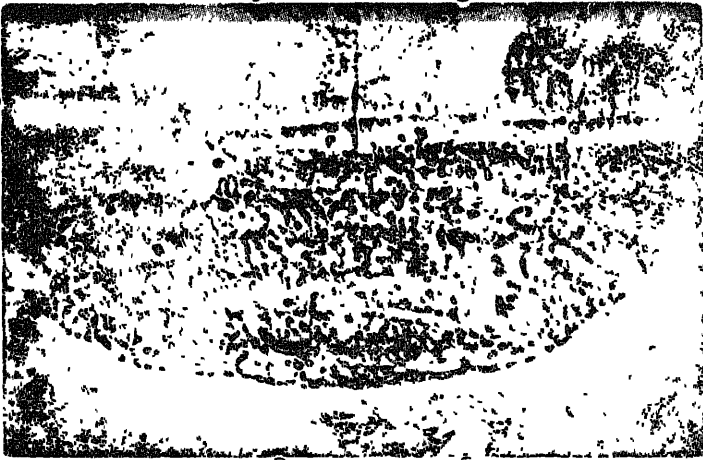
चित्र 246—**डोलाइन**

से 40 फुट चौड़े और 6 से 75 फुट गहरे होते हैं। जिन भागो में पेड़-पौधों का अभाव होता है

वहाँ इनके किनारे खड़े और गहरे होते है। किन्तु जहाँ वनस्पति की प्रचुरता होती है वहाँ इनकी बेसिनें छिछली, चौड़ी और गोलाकार होती है। फ्रास मे इनका अच्छा विकास देखा जाता है। यहाँ प्यूट्स बर्जर (Puits Beigei) नामक डोलाइन 2954 फुट गहरा है। कभी-कभी डोलाइन 'कूपक' के समान होते है जिन्हे **जाम्स** (Jamas) कहते है। पीरेनीज क्षेत्र में गोफरे डी पिरेरे से सेण्ट मार्टिन नामक कूपक 1135 फुट गहरा है। फ्रास के विभिन्न भागों मे इन्हे **साच्स** (Sotchs) तथा **क्रीक्स** (Cieux) तथा यूगोस्लाविया के कार्स्ट क्षेत्र में **डोलाइन** (Doline) और सर्विया मे **डोलिनास** (Dolians) कहा जाता है।

ध्वस्त रन्ध्र (Collapse Sinks)—जब ऊपरी सतह के नीचे घुलाव की क्रिया से रिक्त स्थान बन जाता है और किसी कारणवश सतह का कुछ ऊपरी भाग नीचे बैठ जाता है तो उससे बनने वाले रन्ध्र को **ध्वस्त रन्ध्र** कहा जाता है। ऐसे ध्वस्त रन्ध्रो के किनारे प्रायः खड़े होते है।

घोल पटल (Solution Pan)—घोल पटल वस्तुत डोलाइन का ही एक रूप है। डोलाइन की अपेक्षा ये अधिक विस्तृत किन्तु उथले होते है।

विलयन अवतलन (Solution)—चूने की चट्टानो वाले प्रदेशो मे सतही जल चट्टानो की सँधो में से होकर नीचे पहुँचता रहता है। ऊपरी सतह के नीचे यह भूमिगत जल कई घोल रन्ध्रों की रचना कर देता है। जब इन घोल रन्ध्रों के ऊपर सतह की चट्टानें घुलकर पतली हो जाती है और नीचे से सहारा नही मिलता तो नीचे धँसक जाती है। इस प्रकार ऊपरी धरातल ऊबड़-खाबड़ तथा असमान हो जाता है। घुलन क्रिया द्वारा इस तरह ऊपरी तल के नीचे धँस जाने की क्रिया को **विलयन अवतलन** कहा जाता है।

पोनोर (Ponor)—'पोनोर' सर्वियन भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ लम्बी सुरग से है। वह सुरंग जो विलय रन्ध्र को भूमिगत कन्दरा से मिलाती है, उसे **पोनोर** कहते है। ये प्रायः लम्बवत और कुछ झुकी हुई होती है। फ्रास मे इन्हें **अवेन्स** (Avens) कहा जाता है।

यूवालाज (Uvalas)—पार्श्विक अपरदन के फलस्वरूप कई बार अनेक डोलाइन आपस में मिल जाते है जिससे विस्तृत गड्ढे बन जाते है। कभी-कभी कन्दराओ की छत के गिरने से भी ऐसे विशाल गर्त बन जाते है। कई बार असंख्य घोल रन्ध्र विस्तार मे बढ़ते-बढते परस्पर मिल जाते है और उससे यूवाला का निर्माण हो जाता है। इन विस्तृत गड्ढों को **यूवालाज** या **सकुण्ड** कहते है। ये एक मील से भी अधिक चौड़े होते है। प्रायः इनमे नदियाँ लुप्त हो जाती हैं जिसमे धरातल की घाटियाँ सूख जाती है जो शुष्क घाटियाँ (Dry Valleys) कहलाती है। यूवाला की दीवारे प्रायः खड़ी हो जाती हैं।

पोल्जी (Polje)—जब कई यूवाला मिल जाते है तो अत्यन्त विस्तृत खाइयाँ बन जाती है। इन विस्तृत खाइयो को ही **पोल्जी** (Polje) कहते है। पोल्जी तथा यूवाला देखने में एक जैसे होते है किन्तु उत्पत्ति और आकार मे ये भिन्न होते है। कुछ विद्वानों के अनुसार इनकी रचना घुलाव क्रिया द्वारा होती है। किन्तु कुछ विद्वान उन्हे प्राचीन भ्रंश घाटियो का रूप मानते है। ऐसी घाटियो मे चूना पत्थर के ऊपर बालुका प्रस्तर की परत देखी जाती है। इनकी दीवारें खड़ी और बेसिने घिरी हुई होती है। इनका विस्तार 100 वर्गमील तक पाया जाता है। बाल्कन प्रदेश में **लिवनो पोल्जी** करीब 40 मील लम्बा और 7 मील चौडा है। इनके तल पर कहीं-कही नदियाँ बहती है। नदियो के कारण इनकी सतह पर नदी-जनित मिट्टी का हल्का निक्षेपण मिलता है। जहाँ कहीं बालू अधिक एकत्र हो जाती है। वहाँ नदियाँ भूमि मे अदृश्य हो जाती है। पोल्जी के मध्यवर्ती भाग मे बहुधा एक झील होती है। जब कभी इस झील मे बाढ़ आ जाती है तो पार्श्ववर्ती समतल भूमि जल से आप्लावित हो जाती है। बाढ के कारण पंक निक्षेपण होता है जिससे समतल भूमि

मे वृद्धि होती है। मध्य प्रदेश मे पंचमढ़ी के निकट वाटर्समेट नामक स्थान पर पोल्जी भू-आकार पाया जाता है।

धँसती निवेशिका (Sinking Creek)—कार्स्ट प्रदेशों मे जल की घोल क्रिया से इतने अधिक घोल रन्ध्र बन जाते है कि समस्त धरातल एक छलनी की भाँति दृष्टिगोचर होता है। इन प्रदेशों में ये घोल **रन्ध्र कीप** (Funnel) का कार्य करते है। कार्स्ट प्रदेश की ऊपरी सतह का जल छोटी-छोटी नदियों के रूप मे बहकर इन घोल रन्ध्रों के द्वारा ही भूमि के अन्दर प्रवेश कर भूमिगत जल का रूप लेता है। जिस छिद्र से सतह के ऊपर का जल भूमि के अन्दर प्रविष्ट होता है उसे अंग्रेजी मे **सिंक** (Sink) कहते है। अतः जब ऐसे ही छिद्रो से होकर नदी का जल नीचे चला जाता है तो उसे **धँसती निवेशिका** कहा जाता है। प्राय. छोटी नदियो का जल एक ही विलय छिद्र द्वारा नीचे चला जाता है। किन्तु बड़ी नदियों का जल कई विलय छिद्रो से होकर नीचे प्रविष्ट होता है। इन धँसती निवेशिकाओ के द्वारा सतही जल भूमि के नीचे पहुँचकर कन्दराओं आदि के रूप मे विभिन्न प्रकार के स्थल रूपो को जन्म देता है। इसीलिए इनका बड़ा महत्त्व है।

कार्स्ट झीलें (Karst Lakes)—वर्षा के दिनों मे कई बार मिट्टी के जमने से डोलाइन का निचला छिद्र बन्द हो जाता है। फलस्वरूप पानी रिसकर नीचे नही जा पाता और वह डोलाइन में एकत्रित हो जाता है। इससे छोटी-छोटी झीलो की रचना हो जाती है। ऐसी झीलो को **कार्स्ट झीलें** कहा जाता है। ये झीले बहुत ही अल्पकालिक होती है। जब कभी डोलाइन के छिद्र से मिट्टी हट जाती है तो पानी नीचे रिस जाता है और झील पुन. लुप्त हो जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका के फ्लोरिडा प्रान्त की **अलाशुआ झील** कार्स्ट झील का सुन्दर उदाहरण है। सन् 1871 मे एक डोलाइन के बन्द हो जाने से लगभग 12 किलोमीटर लम्बी तथा 6 किलोमीटर चौडी झील का निर्माण हो गया, किन्तु 20 वर्षो के बाद डोलाइन के छिद्र से मलवे के हट जाने से झील पुनः लुप्त हो गयी।

कार्स्ट खिड़की (Karst Window)—जब किसी विलय रन्ध्र या डोलाइन का ऊपरी भाग नीचे बैठ जाता है तो उससे एक वृहद छिद्र का निर्माण हो जाता है। ऐसे छिद्र का जब ऊपरी भाग खुला होता है तो उसके द्वारा भूमि के अन्दर प्रवाहित होने वाली धाराओं तथा अन्य भू-रूपो को देखा जा सकता है। इसीलिए इन छिद्रों को **कार्स्ट खिड़की** कहते हैं।

कार्स्ट घाटी (Karst Valley)—कार्स्ट प्रदेशों में वर्षा के दिनों मे धरातल पर बहने वाली छोटी-छोटी पृष्ठीय नदियो (Surface Streams) का विकास हो जाता है। ये नदियाँ थोड़ी दूरी तक ही बहने वाली होती हैं। इन नदियो की घाटियाँ यू-आकार जैसी चौड़ी घाटियाँ होती है। इन घाटियों को ही **कार्स्ट घाटी** या **घोल घाटी** (Solution Valley) कहा जाता है।

हम्स (Hums)—यूवाला एवं पोल्जी की सतह पर यत्र-तत्र कठोर चूना पत्थर के अवशिष्ट टीले खड़े हुए पाये जाते हैं। ये टीले एकान्त पहाडी की भाँति प्रतीत होते है। इनके शिखर शंकु की भाँति होते हैं। कुछ विद्वान उवाला के विध्वंस को ही इनकी रचना का कारण बताते है। यूगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश मे इन टीलो को **हम्स** (Hums) कहा जाता है। पश्चिमी द्वीपसमूह में इन्हें **हेस्टैक** (Haystack) तथा **पेपिन हिल्स** (Pepin Hills) कहते है।

प्राकृतिक पुल (Natural Bridge)—चूने के प्रदेशों मे प्राकृतिक पुल की रचना जल के अपरदन और घुलाव क्रिया का फल है। ये प्रायः सन्धि स्थल (Joint plane) एवं झुकाव (bending) तल पर विलयन द्वारा निर्मित हो जाते हैं। संसार प्रसिद्ध वर्जीनिया का पुल जल के स्राव (seepage) द्वारा ही निर्मित हुआ है। यह प्राकृतिक पुल (Natural Bridge) का सर्वोत्तम उदाहरण है। जब कभी भूमिगत कन्दराओं की छत कही-कहीं पर नीचे धँस जाती है तो बीच का शेष भाग प्राकृतिक पुल का रूप ले लेता है। सयुक्त राज्य अमरीका के यूटाह राज्य का पुल इसका

अच्छा उदाहरण है। यह पुल 83 मीटर चौड़ा है। प्राकृतिक पुलो की ऊँचाई नदी के लम्बवत अपरदन और अपक्षय के ऊपर निर्भर करती है। जैसे वर्जीनिया का पुल घाटी के तल मे 93 मी० ऊँचा है। नीचे दिये गये चित्र मे प्राकृतिक पुल के विकास की अवस्थाएँ दिखाई गयी है। जब

चित्र 247—प्राकृतिक पुल

किसी नदी का मार्ग भूमिगत हो जाता है तो उससे प्राकृतिक सुरंगो का निर्माण होता है। ऐसी सुरंगो का उपयोग भूमिगत रेलो के लिए किया जाता है। जब यह सुरंग इतनी छोटी होती है
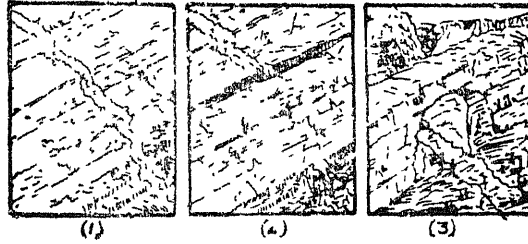
चित्र 248—प्राकृतिक पुल के निर्माण की अवस्थाएँ

कि वह केवल कन्दरा के दोनों पार्श्वों को जोड़ती है तो उसे प्राकृतिक पुल कहा जाता है। ऐसे पुल सड़को के लिए उपयोगी होते है।

अन्धी घाटी (Blind Valley)—चूने अथवा खड़िया प्रदेश मे कही-कहीं अन्धी घाटियाँ दृष्टिगोचर होती है। जब धरातल पर बहने वाली नदी यकायक किसी विलयन छिद्र द्वारा भूमि में प्रवेश कर जाती है तो उसकी घाटी भी अचानक बन्द हो जाती है या उसका वहीं अन्त हो जाता है। इस प्रकार की घाटी को **अन्धी घाटी** (Blind Valley) कहते है। यह घाटी कुछ दूरी तक तो व्यवस्थित बनी रहती है किन्तु इसकी धारा के यकायक लुप्त हो जाने से इसका विस्तार रुक जाता है। वर्षा के समय जब जल की पूर्ति बढ जाती है तो विलयन छिद्र समस्त जल को समाविष्ट नहीं कर पाते जिससे अन्धी घाटी मे थोडे समय के लिए जल भर जाने से झील का निर्माण हो जाता है। ऐसी झीले अल्पकालिक होती हैं।

कन्दराएँ (Caves)—कन्दराएँ भूमिगत जल के अपरदन द्वारा निर्मित सबसे महत्त्वपूर्ण भू-आकार है। इनकी रचना चूने अथवा खाड़ियों की चट्टानो वाले प्रदेशों में ही होती है। ऐसे

प्रदेशो मे भूमिगत जल अपनी घुलन क्रिया तथा संन्निघर्षण (solution and corrasion) के द्वारा धीरे-धीरे चट्टानो को घुलाकर भूमि को नीचे से एकदम खोखली कर देता है। इन खोखले स्थानो की ऊपरी छत यदि कठोर और मोटी होती है तो भूमि नीचे को नही धँसती वरन् उसका खोखलापन अन्दर ही अन्दर बढता रहता है। भूमि के नीचे इन खोखले स्थानो को ही कन्दरा कहा जाता है। ऐसी कन्दराएँ कार्स्ट प्रदेशो के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी पायी जाती है। उदाहरणतः, बालुका पत्थर के क्षेत्रो मे अपक्षय द्वारा चट्टानो की दरारों का विस्तार हो जाने से कन्दराओं की रचना हो जाती है। इसी प्रकार समुद्र तटो के समीप समुद्री लहरो के प्रभाव से निर्मित समुद्री कन्दराएँ (sea caves) तथा लावा के क्षेत्रो में लावा-निर्मित कन्दराएँ (lava caves) पायी जाती है। किन्तु कन्दरा से तात्पर्य यहाँ केवल कार्स्ट प्रदेशों मे भूमिगत जल द्वारा निर्मित कन्दरा से ही है। कार्स्ट प्रदेशों मे ये कन्दराएँ विभिन्न आकार-प्रकार की होती है। कुछ कन्दराएँ छोटी और कुछ कई किलोमीटर लम्बी होती है। कुछ कन्दराएँ समाकार बरामदो जैसी और कुछ लम्बाकार नाली जैसी होती है। कभी-कभी धरातल के नीचे बहने वाली जलधाराएँ इतनी विशाल और चौडी होती है कि उससे कन्दराओ की एक शृंखला-सी बन जाती है। इन कन्दराओ में बहने वाली नदियाँ चट्टानो की निरन्तर उसी प्रकार काट-छाँट किया करती है जिस प्रकार स्थल की नदियाँ करती है। प्रायः सभी कन्दराओ में जल-प्रवाह नही होता। अनेक कन्दराएँ बिलकुल शुष्क भी होती है। इन कन्दराओ का उपयोग हिसक जीव ही अधिक करते है। आदिकाल मे मनुष्य भी अपने निवास के लिए इनका उपयोग करता था। आजकल कई स्थानो पर ऐसी कन्दराएँ पर्यटको के आकर्षण स्थल बन गये है।

चूना अथवा खड़िया की चट्टानों का भू-पटल पर बहुत ही विस्तृत फैलाव है। अतः ससार मे कन्दराओं का वितरण भी बडा विस्तृत है। किन्तु विश्व के कुछ क्षेत्रो मे इनकी असाधारण रचना हुई है जिसका उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा।

(1) **यूगोस्लाविया**—यहाँ का कार्स्ट प्रदेश चूने की चट्टानों का विश्व-विख्यात क्षेत्र है। यहाँ ट्रिस्टी से माण्टेनेग्रो तक कोई 480 किलोमीटर लम्बे तथा 80 किलोमीटर चौड़े क्षेत्र मे चूने की चट्टाने बिछी हुई है जिसमे असंख्य कन्दराएँ पायी जाती है।

(2) **फ्रांस**—यहाँ दक्षिणी फ्रास का **कासेस** क्षेत्र कन्दराओं की रचना के लिए विशेष प्रसिद्ध है।

(3) **संयुक्त राज्य अमरीका**—यहाँ न्यू मेक्सिको, केण्टुकी, फ्लोरिडा, यूकाटन, वर्जीनिया तथा दक्षिणी इण्डियाना प्रान्त में चूने की चट्टानों के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। अतः यहाँ के कुछ क्षेत्रों मे कन्दराओं का बहुत ही अच्छा विकास देखा जाता है। यहाँ की कन्दराओ में न्यू मेक्सिको की **कार्ल्सबाद** तथा केण्टुकी प्रान्त की **मैमथ** कन्दराएँ अपनी विशालता और विचित्रता के लिए विश्व-विख्यात है। न्यू मेक्सिको की कार्ल्सबाद कन्दरा का निर्माण 300 मीटर मोटी परत वाले चूने की चट्टानो मे हुआ है। यह भूमि की ऊपरी सतह के नीचे 300 मीटर की गहराई तक फैली हुई है। यह कन्दरा लगभग 1,220 मीटर लम्बी तथा 190 मीटर चौड़ी है। इस कन्दरा मे अनेक पथ (gallaries) तथा कक्ष (chambers) है। यहाँ के अनेक कक्ष लगभग 80-85 मीटर ऊँचे है। यहाँ के कक्षों मे सबसे बड़ा कक्ष **बिग रूम** (Big Room) के नाम से प्रसिद्ध है। यह कक्ष करीब $\frac{3}{4}$ किलोमीटर लम्बा एवं 65 मीटर चौड़ा है। केण्टुकी प्रान्त की मैमथ कन्दरा भी करीब 48 किलोमीटर लम्बी है। वर्जीनिया की **ल्यूरे** (Lurey) तथा न्यूयार्क की **होवे** (Howe) यहाँ की अन्य प्रसिद्ध कन्दराएँ है। क्यूबा व स्विट्जरलैण्ड आदि देशों मे भी कन्दराएँ पायी जाती हैं।

कन्दराओं की उत्पत्ति (Formation of Caves)—भूमिगत जल द्वारा निर्मित स्थलरूपो की कन्दराएँ सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इसके निर्माण के सम्बन्ध में कई मत है। यहाँ कुछ प्रमुख मतों का उल्लेख किया जा रहा है।

कन्दरा-निर्माण के मतो मे अपघर्षण का मत ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस मत के अनुसार कन्दराओं का निर्माण भूमिगत जल की अपघर्षण क्रिया के द्वारा भौम जल-स्तर (water table) के ऊपर होता है। भू-पटल पर बहने वाला जल चट्टानो की सन्धियों मे घुसकर उन्हें अपघर्षण द्वारा विस्तृत करता रहता है। इससे शनैः-शनैः कन्दरा का निर्माण हो जाता है। कन्दरा का विस्तार और आकार चट्टानों की सन्धियों द्वारा निर्धारित होता है। **डा० मार्तोनी, वेलर** तथा **मैलाट** आदि विद्वान अपघर्षण मत के प्रमुख समर्थक है। इनके अनुसार भू-पटल पर बहने वाली नदियाँ जब किसी विलयन छिद्र से भूमि के अन्दर प्रविष्ट होती है तो अपने साथ कंकड़-पत्थर, बालू तथा मृत्तिका आदि भी ले जाती है। ये पदार्थ जल के साथ बहते हुए अपघर्षण द्वारा न केवल विलयन छिद्र को ही चौडा करते है वरन् भूमि के नीचे कन्दराओ को भी चौड़ा करते चलते है। कन्दराओ के अन्दर अनेक स्थानो पर इन पदार्थों का निक्षेप तथा इनके अपघर्षण के प्रभाव से निर्मित जल-गर्तिकाएँ कई छोटे-बड़े छिद्र और खरोंचे स्पष्ट ही घर्षण को प्रमाणित करते है। किन्तु कई विद्वानो ने इस मत को अवास्तविक बताया है।

डेविस महोदय की मान्यता है कि कन्दराओं का निर्माण मुख्यतः घुलन क्रिया (solution) द्वारा होता है। डेविस ने कन्दरा के निर्माण मे घुलन-क्रिया के साथ-साथ अपघर्षण के योग को भी स्वीकार किया है, किन्तु वे अपघर्षण को अधिक महत्त्व नहीं देते। डेविस के मतानुसार कन्दरा का निर्माण दो चरणो (stages) में होता है। प्रथम चरण मे भौम जल-स्तर के नीचे चूने की चट्टानों में घुलन-क्रिया द्वारा कन्दरा का निर्माण प्रारम्भ होता है। दूसरे चरण मे भौम जल-स्तर नीचा हो जाता है। इससे कन्दरा का भौम जल बह जाता है और कन्दरा मे अधिभौम जल (vadose water) तथा वायु का प्रवेश हो जाता है तथा वहाँ अनेक निक्षेपित भू-आकारो का विकास हो जाता है। कुछ विद्वानो ने बताया है कि यद्यपि कन्दरा का निर्माण भौम जल-स्तर के नीचे ही प्रारम्भ होता है किन्तु उसका अधिकांश विकास भौम जल-स्तर के ऊपर ही होता है। स्विनर्टन महोदय ने भी माना है कि कन्दराओ का निर्माण यद्यपि घुलन-क्रिया के द्वारा ही होता है परन्तु उनकी रचना भौम जल-स्तर के ऊपर ही होती है।

कन्दराओं के निर्माण के सम्बन्ध में उपरोक्त सिद्धान्तों के विवेचन से स्पष्ट है कि कन्दराओं की रचना न तो केवल अपघर्षण के द्वारा ही होती है और न केवल घुलन-क्रिया के द्वारा ही। वस्तुतः कन्दराओं की रचना घुलन-क्रिया से प्रारम्भ होती है किन्तु उनका विस्तार भूमिगत जल के अपघर्षण द्वारा ही होता है। इसलिए कन्दराओ की रचना में अपघर्षण और घुलन-क्रिया दोनो का महत्त्व है।

परिवहन कार्य

यद्यपि बहते हुए जल की भाँति भूमिगत जल का परिवहन कार्य इतना महत्त्वपूर्ण नही है, फिर भी यह घोल के रूप मे पदार्थों को बड़ी मात्रा में परिवहित करता है। जब तक घुलित पदार्थों का निक्षेपण नहीं हो जाता, भूमिगत जल उन्हें बहा ले जाता है। भूमिगत जल अपने घुलित पदार्थों को कभी-कभी समुद्र या झील में छोड़ देते हैं जिससे उसकी लवणता बढ़ जाती है। कभी-कभी ये अवसाद रूप मे परतदार शैलों में निक्षेपित हो जाते हैं।

सामान्यतः नदियो के जल में घोल रूप में मिले हुए खनिज पदार्थों का अधिकतर भाग उस भूमिगत जल से प्राप्त होता है जो नदियों में पहुँचता है। प्रतिवर्ष नदियाँ समुद्र में घोल रूप मे पाँच अरब टन खनिज पदार्थ ले जाती हैं किन्तु खनिज पदार्थों की यह विशाल मात्रा भूमिगत जल की समस्त विलयन क्रिया को प्रकट नहीं करती, क्योकि जल के द्वारा खनिज पदार्थों का जो विलयन होता है उसका अधिकांश भाग भूमि के नीचे ही निक्षेपित हो जाता है।

(2) **सीमेण्टीकरण** (Cementation)—कभी-कभी शैल-कणो के बीच निक्षेपण के कारण सरन्ध्र अवसादो **का सीमेण्टीकरण** हो जाता है जिससे सम्पूर्ण शैल अधिक दृढ हो जाती है। इस प्रकार असगठित बालू-कण उनके मध्य भरी गयी सीमेण्ट की प्रकृति के अनुसार चूनेदार, सिलिकामय और लोहमय बालुकाश्म बन जाते है। इसी तरह बजरी सीमेण्टीकरण के द्वारा सम्पीडाश्म (conglomerate) मे परिणत हो जाती है।

(3) **प्रतिस्थापन** (Replacement)—भूमिगत जल कभी-कभी विलयन और निक्षेपण का कार्य एक साथ और एक ही जगह करता है। इस क्रिया से एक शैल के खनिजो के घुलने पर वहाँ दूसरे खनिज पदार्थो का प्रतिस्थापन हो जाता है। इस विधि से एक प्रकार की शैल दूसरे प्रकार की शैल मे परिवर्तित हो जाती है। उदाहरणत', कुछ चूना-पत्थरो में केल्साइट के स्थान पर डोलोमाइट या सिलिका की प्रतिस्थापना हो जाती है। किन्तु प्रतिस्थापन की यह क्रिया बहुत ही मन्द गति से और अणु प्रति अणु मे होती है। फलस्वरूप शैल की मूल संरचना मे कोई परिवर्तन नहीं आता। जैविक पदार्थो की भी इस भाँति प्रतिस्थापना हो सकती है। इसका बहुत अच्छा उदाहरण **काष्टाश्म या पाषाण वृक्ष** (petrified tree o1 wood) है। इसमे काष्ठ का द्रव खनिज पदार्थ द्वारा प्रतिस्थापन होता है जिससे पेडो के तने शैलो मे बदल जाते है। इस प्रकार के काष्टाश्म ब्रह्मा, क्वीन्सलैण्ड और यलोस्टोन पार्क मे अधिकता से मिलते है। इसी भाँति एक दबी हुई शुक्ति (sheel) अथवा मूँगा का द्रव (substance) भी परिवर्तित हो सकता है जबकि उसका आकार (form) सुरक्षित रहता है।

(4) **ग्रन्थिका** (Nodules)—कभी-कभी चट्टानो के बीच खोखली जगहो पर खनिज घोल का निक्षेपण हो जाता है जिससे खाली स्थान पूर्ण रूप से अथवा आंशिक रूप से भर जाते है। ऐसे निक्षेपण को **ग्रन्थिका** (Nodules) कहते है। इस प्रकार के निक्षेपण में जब सैकता (silica) का निक्षेप होता है तो उसके कण कंघी के दाँतो की भाँति प्रतीत होते है। निक्षेपण के इस रूप को **रन्ध्र ग्रन्थिका** (Geode) कहते हैं।

(5) **ज्यूडीज एवं वग्स** (Geodes and Vugs)—कई चट्टानो के छोटे-छोटे खोखले भागो पर भूमिगत जल घुले हुए खनिजो के रवे जमा कर देता है। ये गोल अथवा अण्डाकार होते है। चट्टानों पर जमे हुए इन खनिज रवों में कई महत्त्वपूर्ण खनिजों के नमूने मिलते है। ऐसे छोटे रवो के निक्षेपों को **ज्यूडीज** और बड़े रवों के निक्षेपों को **वग्स** कहा जाता है।

(6) **कैलिश** (Caliche)—भूमिगत जल अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो में छोटे-छोटे रन्ध्रो द्वारा धीरे-धीरे धरातल के ऊपर आता रहता है। इस जल में कई खनिज घुले हुए रहते हैं। अत: वाष्पीकरण के द्वारा जब जल वाष्प बनकर उड़ जाता है तो ठोस खनिज पदार्थ वही भूमि के ऊपर छूट जाते है। भूमि के ऊपर मलवे के साथ जमा हुए खनिज पदार्थ मलवे को भी कठोर बना देते हैं। इसी जमे हुए पदार्थ को चिली और पीरू मे **कैलिश** कहा जाता है।

(7) **समानुस्तरण** (Concretions)—जब किसी विशिष्ट खनिज कण या जीवाश्म को केन्द्र मानकर निक्षेपण का स्थानीयकरण होता है तो उससे **समानुस्तरण** (Concretions) की रचना होती है। इनकी आकृति पिण्डवत होती है। इनका निक्षेपण अवसादी शैलो की तह पर होता है। जैसे चूने के प्रदेश मे जमे हुए सिलिका के पदार्थो को **चर्ट** (Cheıt) कहते हैं। खड़िया प्रदेश में सिलिका के ये पिण्ड **फ्लिण्ट** (Flint) कहलाते हैं। भारतीय ककड़ भी इस प्रकार के निक्षेप के अच्छे उदाहरण है।

(8) **खनिज शिराएँ** (Mincıal Veins)—भूमिगत जल के घोल से निक्षेपित खनिज पदार्थो के द्वारा चट्टानों की सँधे एव दरारे भर जाती है जिससे चट्टानों मे **खनिज शिराएँ** (Mineıal Veins) बन जाती है। जैसे चट्टानो मे सामान्यत: केल्साइट और क्वार्ट्ज की शिराएँ मिलती है।

प्रादेशिक कायान्तरण के क्षेत्र मे ठोस वलित चट्टानों मे स्थानीय रूप से बडी प्रचुर मात्रा मे क्वार्ट्ज की अनियमित शिराएँ पायी जाती हैं। कई खनिज शिराओ मे बहुमूल्य व्यापारिक धातुएँ मिलती है। अधिकाश सोना, चाँदी, सीसा, जस्ता, टिन व ताँबा आदि धातुएँ ऐसी ही शिराओ मे मिलती है।[1]

(9) **स्टैलैक्टाइट और स्टैलेग्माइट** (Stalactite and Stalagmite)—चूने के प्रदेशो में धीरे-धीरे रिसता हुआ जल जब भूमि मे पहुँचता है तो उसमें बडी मात्रा मे चूना आदि खनिज घुल जाते है। यही खनिजयुक्त जल कन्दराओ की छत से टपकता है। जितने समय जल की बूँद छत से चिपकी हुई रहती है उतने समय मे बूँद का कुछ जल-अश वाष्प बनकर उड जाता है और कुछ कार्बन गैस भी उससे अलग हो जाती है। फलस्वरूप जल मे घुला हुआ चूने का कुछ अश छत पर ही चिपका रह जाता है। प्रत्येक बूँद के टपकने के साथ यही बात होती है। अतः इस क्रिया से कालान्तर मे छत के आधार पर नीचे लटकते हुए चूना-स्तम्भ बन जाते है। ये स्तम्भ छत की ओर मोटे एवं कन्दरा के नीचे की ओर पतले होते है। ये स्तम्भ **अश्चुताश्म** या **स्टैलैक्टाइट** (Stalactite) कहलाते है। कन्दरा की छत से टपककर कन्दरा-तल पर गिरने वाली जल की बूँदो से भी इसी प्रकार के ऊपर उठते हुए स्तम्भो की रचना हो जाती है। कन्दरा-तल से ऊपर उठे हुए इन स्तम्भो को **निश्चुताश्म** या **स्टैलेग्माइट** (Stalagmite) कहते है। ये स्तम्भ कन्दरा की छत से लटकने वाले स्तम्भों की अपेक्षाकृत छोटे और कुछ मोटाई लिये हुए होते हैं। साधारणत ये स्तम्भ सिलिका

चित्र 249—न्यू मेक्सिको की प्रसिद्ध कार्ल्सबाद कन्दरा में स्टैलैक्टाइट और स्टैलैग्माइट

और चूने से बने होते है, जो क्रमश: **ओनिक्स** (Onix) तथा **ट्रैवेण्टाइन** कहलाते हैं। ट्रैवेण्टाइन आयरन ऑक्साइड का भी बना हो सकता है। चूने के प्रदेशो मे कई कन्दराओ मे निक्षेपण के ऐसे विचित्र दृश्य पाये जाते है। विचित्र आकार-प्रकार के कारण ही इन निक्षेपो को **बाजे का पाइप** (organ pipe), **लटकते हुए पर्दे** (hanging curtains), **पाषाण जंगल** (petrified forest) व

---

[1] "Valuable ores have been deposited from hydrothermal solutions of juvenile origin, generally in association with the expering igneous activity of the period concerned."—A. Holms

धारीदार चिक (fluted screens) आदि मनोहारी नाम दिये गये है। क्लेप्हेम (Clapham) के समीप इग्लीब्रो कन्दरा (Ingleborough cave) मे एक बार निश्चुताश्म के विकास की गति 0·2946 इंच प्रति वर्ष अर्थात 100 वर्षो मे 30 इंच नापी गयी थी।[1] विगत काल में जब जल-तल ऊँचा था, इनके विकास की गति सम्भवत· बहुत अधिक थी।

कन्दराओं में निक्षेपण के उपरोक्त दो रूपों के अतिरिक्त **हेलैक्टाइट** (Helictites) भी पाये जाते है। ये बनावट में स्फाटीय होते है और आकृति में अनेक प्रकार के होते है। ये धागे के मानिन्द पतले और सर्पिल रूप में व्यवस्थित अथवा झालदार सस्पर्शकों के रूप मे पाये जाते है। कभी-कभी कन्दरा की छत से पुन· जुड़े हुए होते है। जहाँ कही कन्दरा की छत से लटकते हुए और कन्दरा-तल से ऊपर उठे हुए स्तम्भ मिल जाते है तो वहाँ तल से छत तक एक पूर्ण स्तम्भ बन जाता है। ऐसे स्तम्भ **कन्दरा स्तम्भ** कहलाते है। कोई-कोई कन्दरा-स्तम्भ काफी विशाल होते है। फ्रांस के सेण्ट्रल मैसिक मे **लोजरी** (Lozere) कक्ष मे ऐसे स्तम्भ 75 से 80 फुट ऊँचे है। इनको यहाँ अछूता जगल (The Virgin Foiest) कहा जाता है।

कार्स्ट स्थलाकृति
(Karst Topography)

'कार्स्ट' शब्द यूगोस्लाविया के **'क्रास'** (Kras) शब्द से निकला है। क्रास का अर्थ चट्टान से है। आस्ट्रिया के कार्स्ट जिले मे सर्वत्र चूने का पत्थर बिछा हुआ पाया जाता है। इस पत्थर की अपनी कुछ विशेषताएँ होती है। अत. इसमे विशेष भू-आकार विकसित हो जाता है। कार्स्ट जिले के चूने के प्रदेश मे विकसित भू-दृश्य को **कार्स्ट स्थलाकृति** कहा जाता है। अत· यही शब्द अब ससार के अन्य चूने के प्रदेशो मे विकसित स्थलाकृति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

चूने का पत्थर एक घुलनशील चट्टान है जो कार्बनयुक्त जल मे बहुत शीघ्र घुल जाती है। इसी श्रेणी मे लवण शैल, खड़िया, सेलखडी और डोलोमाइट आदि चट्टाने भी शामिल है। एक ही श्रेणी मे होते हुए भी प्रत्येक चट्टान की अपनी निजी विशेषताएँ है। अत. प्रत्येक में कुछ भिन्न प्रकार के भू-आकार विकसित होते है। जैसे खड़िया (chalk) एक मुलायम और सरन्ध्र चूने का पत्थर है। इसमें विकसित भू-आकार को 'खडिया भू-दृश्य' (Chalk Landscape) कहा जाता है। ऐसे भू-आकार का सबसे अच्छा विकास दक्षिणी-पूर्वी इंगलैण्ड और उत्तरी-पूर्वी फ्रांस मे अधिक हुआ है। खडिया मे अच्छे जोड़ नही होते, परन्तु उसमे अनेक दरारें होती है। इस विशेषता के कारण धरातल पर बहते हुए जल का यहाँ अभाव पाया जाता है। ऊंचे भाग एकदम शुष्क होते है। इस प्रकार के भू-दृश्य मे प्रायः गोल पहाडियाँ, चपटे सिरो वाली कगारे तथा खड़े किनारों व गोल पेंदे वाली घाटियाँ देखी जाती है। चूने की चट्टानों मे डोलोमाइट सबसे कम घुलनशील चट्टान है। अतः इन चट्टानों में भारी पहाड़ियो, नुकीली चोटियो—स्तम्भो, गुफाओं और मेहराबों की रचना होती है। इसके विपरीत चूने का पत्थर (lime stone) कठोर, निविड़ और स्फाटीय होता है। इसमे भली प्रकार से विकसित सन्धियाँ (joints) मिलती हैं। फलस्वरूप इसमें भी खड़िया की भाँति सतह के जल (surface water) का अभाव रहता है। चूने के पत्थर की इन्हीं विशेषताओ से विकसित भू-आकार को 'कार्स्ट' कहा जाता है जिसका विशद रूप से विवेचन नीचे दिया जा रहा है।

घुलनशील प्रकृति और लम्बवत सन्धियों (vertical joints) की व्यवस्था के कारण चूने की चट्टानो में भूमिगत जल का कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। यहाँ होने वाली समस्त क्षय-क्रिया धरातल के नीचे भूमिगत जल द्वारा ही होती है। अतः चूने की चट्टानो वाले प्रदेशों की सरचना और वहाँ के जल-विज्ञान (Hydrology) मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

---

1 F. J. Monkhouse ; *Principles of Physical Geography*, p. 96

कार्स्ट प्रदेशों मे वर्षा-जल शैल-सन्धियों एवं दरारों द्वारा भूमि मे प्रवेश करता है। चट्टानों मे जल के प्रवेश से उनकी सन्धियाँ चौड़ी होती जाती है और घुलाव-क्रिया से धरातल पर क्रमश घोल रन्ध्र, विलय रन्ध्र, लैपीज, डोलाइन, युवाला, पोल्जे, शुष्क घाटियाँ व प्राकृतिक पुलो की रचना होती है। इसके निक्षेपण मे भूमिगत कन्दराओ में अश्चुताश्म और निश्चुताश्म बन जाते है। इस प्रकार भूमिगत जल के कार्य से समस्त प्रदेश एक विशिष्ट आकार ग्रहण कर लेता है।
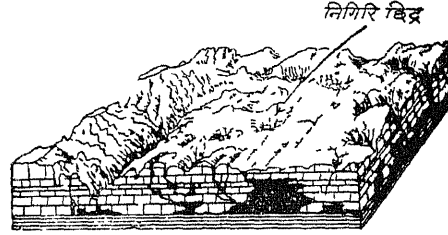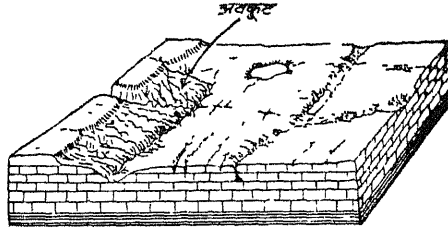
संक्षेप मे पूर्ण-विकसित कार्स्ट भू-आकार वनस्पतिहीन और पथरीले रेगिस्तान की तरह दिखाई पड़ता है। इसमे जगह-जगह टीले व गड्ढे विद्यमान होते है। सम्पूर्ण प्रदेश में धरातली अपवाह (surface drainage) का अभाव रहता है। यहाँ केवल भूमिगत प्रवाह ही दिखाई पड़ता है। यहाँ धरातल के नीचे बहने वाली नदियाँ पूर्ण रूप से विकसित होती है। धरातल के नीचे इनका प्रवाह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि धरातल के ऊपर होता है।

चित्र 250—कार्स्ट स्थलाकृति का निर्माण

धरातल पर चूने की चट्टाने लगभग सभी भागो में पायी जाती है। अतः कार्स्ट दृश्य ससार के अनेक भागो मे देखने को मिलते है। किन्तु इसका सबसे अधिक विकास यूगोस्लाविया मे डिनारिक आल्प्स के क्षेत्र में ही पाया जाता है। यहाँ एड्रियाटिक सागर के सहारे 300 मील लम्बी व 50 मील चौड़ी पट्टी मे चूने के पत्थर फैले हुए है। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमरीका मे कैण्टकी, वर्जीनिया, मध्य टैनेसी और फ्लोरिडा; यूरोप में आल्प्स, जूरा, ऐपेनाइन्स, मध्य फ्रांस के शेरा भाग; मेक्सिको मे यूकाटन; एशिया में उत्तरी मलाया और भारत में किरथर श्रेणी, कश्मीर में मध्य हिमालय, काँगड़ा की घाटी, रोहतास का पठार, भेड़ाघाट और मद्रास के कार्नूल जिले मे भी ऐसे भू-आकार देखे जाते है।

कार्स्ट प्रदेश में अपरदन चक्र
(Cycle of Erosion in Karst Topography)

साधारणतः कार्स्ट प्रदेश मे जल-प्रवाह भू-पटल के नीचे ही हुआ करता है। भूमिगत जल के प्रवाह द्वारा ही वस्तुतः कार्स्ट भू-दृश्य का विकास होता है। किन्तु भूमिगत जल के चरित्र और उसकी कार्यविधि का समुचित ज्ञान न होने से यह विषय थोड़ा गूढ है। भूमिगत जल का परिसंचरण गुरुत्वाकर्षण द्वारा होता है अथवा जल-तल एव निस्यंदन द्वारा होता है, यह अभी भी विवादास्पद है। कुछ भू-गर्भ विशारदों का विचार है कि भूमिगत जल और भूमि की सतह के जल के परिसचरण में कोई अन्तर नही है। कुछ विद्वानो का यह मत है कि भू-पटल पर गिरने वाला

वर्षा का जल शैल-रन्ध्रों द्वारा भूमि मे प्रवेश कर नीचे जल-तल तक पहुँच जाता है और उसके नीचे इसका क्षैतिज प्रवाह होता है ।

कार्स्ट प्रदेश मे अपरदन-चक्र का विकास उसी अवस्था में भली प्रकार विकसित होता है, जबकि मोटी रन्ध्र शैलो के नीचे अरन्ध्र शैले बिछी हुई हो और जल-तल रन्ध्र शैलो मे काफी गहराई पर हो । ऐसे प्रदेश जब समुद्र-गर्भ से यकायक ऊपर उठ जाते है तो अपरदन चक्र का प्रारम्भ हो जाता है । भूमिगत जल की क्रिया और उसकी विभिन्न अवस्थाओ के बारे मे **स्वीजीक** (Civijic) नामक विद्वान ने पूर्ण रूप से खोज की थी । उसने यूगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश का लम्बे समय तक अध्ययन किया और अपरदन चक्र की विभिन्न अवस्थाओ का पता लगाया । अत कार्स्ट प्रदेशो के सम्बन्ध मे **स्वीजीक** की खोज अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है ।

स्वीजीक के अनुसार, एक पूर्ण रूप से विकसित कार्स्ट-क्रम (Karst system) में जल-राशि के तीन क्षेत्र होते है ·

(1) धरातल से कुछ ही नीचे का क्षेत्र जिसमे छोटी-छोटी जल-धाराएँ और जल-कोष होते है । साधारणत. ये शुष्क रहते है । केवल वर्षाकाल मे ये थोडा जल नीचे पहुँचाते है ।

(2) भू-पटल के नीचे जल-राशि का दूसरा क्षेत्र कभी शुष्क और कभी आर्द्र रहता है । इसमें बनी हुई कन्दराओ और धाराओ मे पानी भरा रहता है । परन्तु यह स्थिति स्थायी नही होती ।

(3) जल-राशि का सबसे नीचे का क्षेत्र अपारगम्य शैलों की तह पर स्थित होता है । यहाँ बहने वाली धाराएँ और तालाब आदि सर्दैव पानी से भरे रहते हैं । जल का यह स्थायी कोष है ।

जल-प्रवाह की उपर्युक्त आदर्श प्रणाली धरातल की बनावट मे भिन्नता तथा अन्य कारणों से प्राय. कही नही पायी जाती । साधारणत: कार्स्ट प्रदेशो की प्रारम्भिक अवस्था मे भूमि के नीचे जल-प्रवाह भली प्रकार विकसित नही होता । फलस्वरूप वर्षा-जल का कुछ अंश धरातल पर शेष रह जाता है जिससे धरातल के ऊपर स्थायी झीले बन जाती है ।

कार्स्ट प्रदेश की दूसरी अवस्था मे भूमि के नीचे जल-प्रवाह की प्रणाली इतनी विकसित हो उठती है कि वर्षा का समस्त जल भूमि मे समा जाता है । परन्तु जब कभी असाधारण रूप से वर्षा होती है तो कुछ जल धरातल पर शेष रह जाता है और उससे धरातल पर अस्थायी झीलो की रचना हो जाती है ।

कार्स्ट प्रदेश की अन्तिम अथवा पूर्ण अवस्था मे धरातल पर होने वाली वर्षा का समस्त जल शीघ्र ही भूमि मे छिप जाता है । अत: इस अवस्था मे धरातल के ऊपर झीलो का पूर्ण अभाव रहता है । इस अवस्था मे धरातल के ऊपर जल केवल उन गर्तो में दिखाई पड़ता है जो भूमि के नीचे संतृप्त जल (saturation level) से मिले हुए होते है ।

भूमिगत जल के प्रवाह के सम्बन्ध मे स्वीजीक के पूर्व **ग्रुण्ड** तथा **काटजर** ने भी अपने मत प्रकट किये थे । **ग्रुण्ड** की मान्यता है कि चूना-पत्थर के क्षेत्र मे एक सतृप्त-तल होता है जिसके नीचे चट्टाने बराबर जल से भरी रहती है । जब ऊपर से वर्षा का जल यहाँ पहुँचता है तो यहाँ जल मे प्रवाह होने लगता है । **काटजर** के मत से भूमि के नीचे जल का अनवरत प्रवाह रहता है । जहाँ ऐसा नही होता वहाँ 'साइफन' के समान गड्ढे है जो पानी को ऊपर धकेल देते है । **काटजर** के अनुसार स्थायी जल एक आकस्मिक और क्षणिक क्रिया है ।

उपर्युक्त दोनो मतो के आधार पर कार्स्ट प्रदेशो की जल-प्रणाली और उनकी आकृति को स्पष्ट नही किया जा सकता । कार्स्ट प्रदेशो मे जल-स्तर मे अन्तर, जल-स्रोतो के स्थान, झीलों का अभाव व उनका शुष्क होना आदि तथ्यो की कोई स्पष्ट व्याख्या इनसे नही हो पाती ।

यद्यपि अधिकांश विद्वान कार्स्ट प्रदेशो मे अपरदन चक्र की व्यवस्था को स्वीकार करते हैं, किन्तु **डेविस महोदय** ने कार्स्ट अपरदन चक्र को बहुत कम महत्त्व दिया है। डेविस की मान्यता है कि कार्स्ट चक्र वस्तुत: सामान्य अपरदन चक्र की ही एक अवस्था (प्रौढावस्था) है। उसके मतानुसार इस अवस्था का विकास एक विशेष प्रकार की चट्टानों (चूने की चट्टानो) वाले प्रदेश मे होता है। इस धारणा के पीछे उसका तर्क यह है कि 'कार्स्ट चक्र' पृष्ठीय अपवाह (Surface drainage) के साथ प्रारम्भ होता है और उसके साथ ही समाप्त भी होता है। वास्तव में चक्र का प्रारम्भ धरातल पर बहने वाली नदियों के भूमिगत होने से होता है और उसका अन्त भूमिगत नदियो के पुन: धरातल पर प्रकट होने से होता है। इस प्रकार देखा जाय तो 'कार्स्ट-चक्र' 'अपरदन के सामान्य चक्र' की एक अवस्था ही प्रतीत होती है किन्तु कार्स्ट अपरदन चक्र का अलग से अध्ययन करना ही श्रेयस्कर है।

स्वीजीक का कार्स्ट अपरदन चक्र (Karst Cycle of Civijic)—स्वीजीक महोदय ने सन् 1918 मे कार्स्ट अपरदन चक्र का प्रतिपादन किया था। उसके अनुसार कार्स्ट चक्र की चार अवस्थाएँ होती है—(1) युवावस्था, (2) प्रौढ़ावस्था, (3) पूर्ण प्रौढावस्था, और (4) जीर्णावस्था। किन्तु उसके मतानुसार अपरदन चक्र का विकास तभी सम्भव होता है जबकि चूना-पत्थर की मोटी सरन्ध्र शैल के नीचे अरन्ध्र शैल स्थित हो एवं ये चट्टानें जल-तल से काफी ऊँचाई पर हो। ऐसी अवस्था होने पर धरातल की अपवाह व्यवस्था द्वारा कार्स्ट भूमि का शीघ्र ही विनाश हो जाता है और कार्स्ट स्थलाकृति का शनैः-शनैः विकास होने लगता है। कार्स्ट चक्र की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

(1) **युवावस्था**—कार्स्ट प्रदेश की युवावस्था में धरातल पर वर्षा-जल की अधिकता रहती है। चट्टानों की सभी सन्धियाँ जल से पूर्ण रहती है और सतह पर स्थायी झीले भी उत्पन्न हो जाती है। धीरे-धीरे घुलन क्रिया द्वारा चट्टानों के सन्धि स्थल चौड़े होने लगते हैं जिससे धरातल का ऊपरी जल उन सँधों द्वारा भूमि मे प्रवेश करने लगता है। इस प्रकार धरातल का ऊपरी प्रवाह निरन्तर कम होता जाता है। धरातली अपवाह का कम होना युवावस्था का ही चिह्न है। धरातल के ऊपर बिछी चूने की चट्टानों का मोटा आवरण जल-प्रवाह द्वारा धीरे-धीरे कटने लगता है। चट्टानों की सँधें घोल द्वारा चौडी होती जाती हैं। फलस्वरूप धरातल पर यत्र-तत्र घोल रन्ध्र, विलय रन्ध्र तथा डोलाइन की रचना हो जाती है। कुछ विद्वान लैपीज की रचना को प्रौढ़ावस्था का दृश्य मानते है, किन्तु **वान ऐंगलिन** ने इसे युवावस्था का रूप माना है। स्वीजीक ने भी लैपीज की रचना को इस अवस्था की मुख्य विशेषता माना है। इस अवस्था में भूमि पर विलय रन्ध्र एवं डोलाइन की संख्या और उनका विस्तार बराबर बढ़ता रहता है। यद्यपि इस अवस्था में कन्दरा की रचना प्रारम्भ हो जाती है परन्तु उनका बहुत अधिक विकास नहीं हो पाता। इस अवस्था में वर्षा जल का अधिकांश अंश सतह पर न रहकर भूमि के नीचे प्रवाहित होने लगता है। धरातल से ज्योंही जल-धाराएँ विलुप्त होने लगती है, कार्स्ट भू-दृश्य की युवावस्था समाप्त हो जाती है।

(2) **प्रौढ़ावस्था**—इस अवस्था में अधिकांश धरातलीय जल-प्रवाह का स्थान भूमिगत जल-प्रवाह ले लेता है। धरातल पर कोई स्थायी झीले नहीं होतीं। धरातल के ऊपर बहने वाली नदियाँ केवल धँसती निवेशिकाओं के रूप मे ही शेष रह जाती है। इस अवस्था में विलय रन्ध्र तथा डोलाइन की संख्या बढ जाती है तथा उनका आकार भी बड़ा हो जाता है। डोलाइन के परस्पर मिलने से युवाला (सकुण्ड) की रचना होने लगती है जो प्रौढावस्था के आगमन का सूचक होता है। इस युवाला के साथ-साथ जहाँ-तहाँ अन्धी घाटियों का भी निर्माण होता रहता है। इस समय जल का क्षय कार्य बिलकुल अदृश्य होता है। भूमि के नीचे परत के परत घुलकर नष्ट हो जाते हैं और भूमि खोखली हो जाती है। भूमिगत जल द्वारा भूमि के अन्दर से खोखले होते रहने

से बडी-बडी कन्दराएँ बन जाती है। इस प्रकार प्रौढावस्था मे कार्स्ट स्थलाकृति का बहुत अधिक विकास होता है।

(3) **पूर्ण प्रौढ़ावस्था**—इस अवस्था मे घुलन क्रिया का प्रभाव स्पष्ट प्रकट होने लगता है। प्रौढावस्था के समय विकसित कार्स्ट भू-आकारों का इस समय विनाश होने लगता है। ऊँचे उठे कार्स्ट भू-आकारो के अपरदन की अधिकता से समस्त कार्स्ट धरातल नीचा होने लगता है। कन्दराओ के निरन्तर विकास होते रहने से कन्दराओं की ऊपरी छत घुल-घुलकर पतली हो जाती है और अन्त मे नीचे धँस जाती है जिससे जगह्-जगह कार्स्ट खिड़कियाँ बन जाती है। इन कार्स्ट खिड़कियो से अन्दर बहने वाली जल-धाराएँ दिखाई पडने लगती है। कार्स्ट खिड़कियाँ धीरे-धीरे बढकर युवाला का रूप ले लेती है। कई युवालाओं के परस्पर मिलने तथा कन्दराओ की छतों के धँसक जाने से पोल्जी अर्थात राजकुण्डों का निर्माण हो जाता है। अपरदन के कारण इस अवस्था मे समस्त कार्स्ट प्रदेश कटकर समप्रायः मैदान का रूप लेने लगता है। चूने की चट्टानों के कुछ अवशिष्ट भाग चूर्ण कट अर्थात हम्स के रूप मे कार्स्ट धरातल पर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। चूर्ण कूटों का विकास जीर्णावस्था के आगमन का सूचक होता है।

चित्र 251—कार्स्ट प्रदेश में अपरदन-चक्र की विभिन्न अवस्थाएँ

(4) **जीर्णावस्था**—इस अवस्था में भूमिगत जल अधिक गहराई तक अपरदन कार्य करने मे असमर्थ रहता है। पोल्जे तथा हम्स का इस समय पूर्ण विकास होता है। ये कार्स्ट प्रदेश की जीर्णावस्था के चिह्न है। कार्स्ट प्रदेश की ऊपरी चूने की चट्टानें पूर्णत· नष्ट हो जाती हैं और सम्पूर्ण क्षेत्र एक बार पुनः अरन्ध्र शैलों पर खुल जाता है। इससे धरातली जल-प्रवाह की साधारण व्यवस्था पुनः नीचे की अपारगम्य शैलों पर स्थापित हो जाती है। जीर्णावस्था के कार्स्ट भू-दृश्य संयुक्त राज्य अमरीका के वर्जीनिया, नेचुरल ब्रिज कण्ट्री तथा फ्रांस के कासेस में देखे जाते है।

भूमिगत जल और नदियों के अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था में थोड़ा अन्तर मिलता है। यद्यपि दोनों में समप्रायः मैदान (peneplain) बनते है, किन्तु चूना पत्थर का समप्रायः मैदान

बिन्दु पद्धति (dot pattern) का होता है, जबकि नदियाँ नीची पंक्तिवत दोआब बनाती है। कार्स्ट प्रदेश के ह्रस्व जलीय चक्र के मोनेडनाक के सदृश होते है।

किसी भी अपरदन चक्र के वर्णन मे सदैव आदर्श अवस्थाओं का ही उल्लेख किया जाता है। किन्तु यह आवश्यक नही कि किसी कार्स्ट प्रदेश मे विभिन्न अवस्थाओं का विकास उपरोक्त क्रमानुसार ही हो। एक ही प्रदेश मे एक स्थान पर युवावस्था और समीप ही दूसरे स्थान पर प्रौढावस्था के चिह्न देखे जा सकते है। यदि भूमिगत जल धरातल की निचली परतो मे कोई चूने की नवीन परत खोज लेता है तो वहाँ वृद्धावस्था मे गुजरते हुए प्रदेश मे अचानक युवावस्था के चिह्न दिखाई पड़ जाते है। अपरदन चक्र में यह भी आवश्यक नही है कि कोई भी स्थान चक्र की तीनों अवस्थाओ मे से होकर गुजरे ही। कई स्थानों पर युवावस्था के तुरन्त बाद जीर्णावस्था भी प्रकट हो सकती है। वस्तुत चक्र की अवस्थाएँ चूने की चट्टानो की सरचना और सगठन तथा भूमिगत जल के स्वभाव पर निर्भर करती है।

खड़िया प्रदेश और उसका भू-दृश्य
(The Chalk Country and it's Landscape)

खड़िया अत्यन्त ही पारगम्य शैल है। इसमें अनेक सटी हुई सँधें पायी जाती है। इन सँधो के कारण वर्षा का जल शीघ्र ही नीचे उतर जाता है और साथ ही कैल्शियम कार्बोनेट को घुलाता जाता है। ऐसा अनुमान लगाया है कि इगलैण्ड के खड़िया प्रदेश में प्रतिवर्ष एक वर्गमील क्षेत्र से 140 टन पदार्थ घुलकर बह जाता है।[1] खड़िया शैल की इस सरन्ध्रता और घुलनशीलता के कारण इन प्रदेशो मे विशिष्ट भू-दृश्य विकसित हो जाते हैं।

खड़िया प्रदेश में प्राय. भूमि ऊँची-नीची पायी जाती है। इसमे जगह-जगह सुडौल आकृति की पहाड़ियाँ मिलती है। इनके बीच खुले निम्न मैदान पाये जाते है। ये मैदान छोटी घास से ढके हुए होते है। इन मैदानो मे जहाँ कही शैल-स्तर मुड़े हुए होते है वहाँ एक ओर खड़ा कगारी ढाल और दूसरी ओर मन्द नमन ढाल मिलता है। ऐसी आकृति वाले स्थल-भाग **क्वेस्टा** (Cuesta) कहलाते है। जहाँ कही शैलो का झुकाव बहुत ही खडा होता है जैसा कि ग्यूइल्डफोर्ड (Guild-ford) के पश्चिम मे होग्ज बेक (Hogs Back) मे पाया जाता है। खड़िया का शैल दृश्यांश (out-crop) बहुत ही सकीर्ण होता है। कभी-कभी खडिया द्वारा बहुत ही मन्द ढाल वाले ऊँचे-नीचे मैदान बनते है। जैसे इगलैण्ड मे सेलिसबरी मैदान।

यद्यपि इन प्रदेशों मे चूना प्रदेशों की अपेक्षा नदी-घाटियाँ अधिक मिलती है, परन्तु जलयुक्त नदी-घाटियां कम पायी जाती हैं। वस्तुतः यहाँ धरातली अपवाह बहुत कम होता है। अधिकांशत. शुष्क घाटियाँ पायी जाती है। स्थायी रूप से बहने वाली नदियाँ दूर-दूर होती हैं। केवल वे ही नदियाँ खड़िया प्रदेश के पार तक बहती है जिनका उद्गम खड़िया-क्षेत्रों से बाहर होता है। इस प्रदेश में बहने वाली नदियों की घाटियों के ढाल तीव्र और तल सुडौल होते है। किन्तु जब निकटवर्ती पहाड़ियों से मलवा आकर इनकी तली मे एकत्र हो जाता हैं तो घाटी तल ऊबड़-खाबड़ हो जाता है।

कभी-कभी पृष्ठीय निक्षेप (superficial deposits) के कारण खड़िया भूमि के तल में परिवर्तन हो जाता है। खड़िया के ऊपर कही टरशरी काल के बालू-कण एव चीका मिट्टी के पुरान्तःशायी (outlier) मिलते है और कही चकमक पत्थर (flint) के साथ चीका मिट्टी मिलती है। कुछ स्थानो पर खड़िया हिम-निक्षेपो—बालू, बजरी व बाडलडर क्ले—से ढकी हुई पायी जाती है। हिम-निक्षेपों के चिह्न इगलैण्ड के खड़िया प्रदेश में यत्र-तत्र मिलते है। जहाँ समुद्र तटो के समीप खड़िया शैले मिलती है वहाँ बहुत ही आकर्षक खड़ी भृगुएँ और अन्तरीप पाये जाते है।

---

1 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 92

खड़िया प्रदेश का जल-विज्ञान
(Hydrology of a Chalk Country)

खडिया प्रदेशो मे जल की प्रचुरता पायी जाती है। किन्तु यहाँ जल-प्रवाह अधिकांशत: उप-सतही (sub-surface) होता है। खडिया की सँधों और रन्ध्रों द्वारा जल शीघ्र नीचे उतर जाता है। घुलन-क्रिया से खड़िया घुलती भी चली जाती है। खड़िया मे जल के प्रवाह से जहाँ-तहाँ छिछले गर्त बन जाते है। कहीं-कही ये गर्त काफी बड़े होते है। केण्ट मे 90 गज नीचे 10,800 घन फुट की एक खाई पायी गयी है। राचेस्टर मे 50 गज नीचे 17 फुट गहरा और 12 फुट चौड़ा खोह पाया गया है। इस प्रदेश मे बहने वाली नदियाँ अधिकाशत· अस्थायी प्रकृति की होती है। यहाँ कुछ नदियाँ जो साल भर बहती है वे जल-तल के वर्ष के अधिकांश समय धरातल के निकट होने के कारण बहती है। जब कभी वर्षा नहीं होती तो ये नदियाँ भूमि के अन्दर गर्तों में छिप जाती है। उदाहरणत, सारे प्रान्त मे **मोल** नदी डोर्किंग और लीथहेड़ के मध्य खड़िया प्रदेश को पार करते समय दीर्घकाल तक सामान्य धारा-सी बनी रहती है। यह अवस्था तब तक रहती है जब तक जल-तल सतह पर रहता है। जब कभी जल-तल नीचे चला जाता है तो नदी के बड़े भाग मे जल का सर्वथा अभाव रहता है। नदी का एक प्रकार से लोप हो जाता है। आगे चलकर यह पुन: सतह पर आ जाती हे। किन्तु जहाँ जलधारा सूख जाती है वहाँ जल-स्तर के नीचे चले जाने के कारण शकुवत गर्तो द्वारा जल नीचे चला जाता है। ऐसे रन्ध्रो को विलय रन्ध्र कहते है। प्राय· इनके ऊपरी भाग मे जल द्वारा प्रवाहित मलवा भर जाता है। पार्श्विक अधोगमन से भी इसमे सहायता मिलती है। इन रन्ध्रो के मलवे से भर जाने पर भी जल नीचे चला ही जाता है। किसी-किसी क्षेत्र मे इन विलय रन्ध्रो की अधिकता पायी जाती है। इनके परस्पर मिल जाने पर उवाला बन जाते है। जाड़ो में जब वहाँ खूब वर्षा होती है तो यह निमज्जित प्रदेश जलमग्न हो जाता है और वह झील का रूप ले लेता है। साधारणत. नदी के दोनो पार्श्वों में विलय-रन्ध्रो का अभाव मिलता है। किन्तु सतृप्त तल के ऊपर ऊँचे स्थानो में ये पाये जाते है। रन्ध्रहीन चट्टानों के किनारो पर चीका मिट्टी और चकमक-मिश्रित निक्षेपो मे इनका भली प्रकार विकास होता है। ये बालू-कण स्तर और रोड़ों की पतली तह के नीचे भी बनते हैं। शनैः-शनैः ये खाई का रूप ग्रहण कर लेते है। इन गर्तों को **पाइप** (pipe) भी कहा जाता है।

शुष्क घाटियाँ
(Dry Valleys)

शुष्क घाटियाँ खड़िया एवं चूने के प्रदेशों का विशिष्ट भू-रूप हैं। खडिया प्रदेशों मे नमन ढाल वाले क्षेत्रो में पायी जाने वाली शुष्क घाटियाँ ठीक उसी प्रकार की प्रणाली (pattern) की रचना करती हैं जैसा कि सामान्य नदी-घाटी में देखा जाता है। कई शुष्क घाटियों में नदी-घाटियों के समान ही अन्तर्ग्रथित पर्वत प्रक्षेप (interlocking spurs), अन्त:कर्तित विसर्प (ingrown meander), और सवेधित घाटी सन्धि-स्थल (accordant valley junctions) (जैसा कि सेलिसबरी के मैदान में पाये जाते हैं) आदि रूप देखे जाते है। साथ ही उनके घाटी-तल पर विभिन्न मोटाई के जलोढक (alluvium) और शुष्क घाटी मे बजरी बिछी हुई पायी जाती है। प्राय. सभी खडिया प्रदेशीय घाटियो मे ऐसे सामान्य लक्षण नही मिलते। जो घाटियाँ खड़िया कगारो (chalk escarpment) को काटती है, वे प्राय. असामान्य गहराई की होती है। ऐसी घाटियो की दीवारे तीव्र ढालयुक्त और सिर एकदम खडे होते है। इनका मार्ग भी बड़ा विचित्र और टेढा-मेढा होता है।

खडिया प्रदेश की प्राकृतिक बनावट मे शुष्क घाटियो की उत्पत्ति बड़ा ही विवादास्पद विषय है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई विभिन्न मत रखे गये है। किन्तु इनके सम्बन्ध में

यदि कोई निश्चित बात है तो वह यही है कि इनकी रचना जल अपवाह की जिन परिस्थितियों में हुई है वे अब विद्यमान नही है । कुछ विद्वान इन घाटियों को असामान्य रूप नहीं मानते । उनके अनुसार ये घाटियाँ जल-तल के क्रमश. नीचे गिरते जाने से बनी है । नीचे गिरते हुए जल-तल के साथ ऊँची घाटियो की छोटी धाराएँ घाटी को उसी प्रकार गहरा करते रहने मे असमर्थ रही । यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि स्वयं जल-तल खड़िया प्रदेश के स्रोतों की ऊँचाई द्वारा नियन्त्रित होता है । अत. जब खड़िया प्रदेश के सतृप्त तल में परिवर्तन होता है तो कई घाटियाँ शनैः-शनैः अपने सिरो से नीचे की ओर शुष्क होती जाती है । इसमें कोई सन्देह नही है कि खडिया प्रदेश की शुष्क घाटियो की रचना मे जल-तल के नीचे गिरने की क्रिया का गहरा प्रभाव होता है ।

दूसरा मत यह है कि इन घाटियो की रचना अशत हिम-पूर्व की अवस्थाओं (pre-glacial conditions) में हुई है । हिम-काल में खड़िया प्रदेश मे जल का प्रवाह ग्रीष्म मे होने वाली वर्षा और हिम के पिघलने मे हुआ होगा । हिम के पिघलने से कुछ घाटियाँ कगार पर भी बनी होगी । इसी प्रकार शिलाओं के झुकाव के ढालो पर भी इनकी रचना हुई होगी । किन्तु फ्रांस के खड़िया प्रदेश मे जहाँ हिम का पाया जाना सम्भव नही है, इन घाटियों का पाया जाना उचित नही ठहरता ।

हाल ही मे **फैग्स** (Faggs) ने उत्तरी सिरे के खड़िया प्रदेश का अध्ययन कर शुष्क घाटियों की उत्पत्ति के कारणो पर प्रकाश डाला है जो बहुत ही युक्तिसगत प्रतीत होते है । इनका मत है कि जल-तल की सामान्य ऊँचाई अधिकाशतः कगारो के पदो मे स्रोतों के प्रवाह तल पर आश्रित होती है । सम्भवत कगार वर्तमान अपरदन के चक्र काल मे ऊपर उठे समप्राय· मैदान के अग्र भाग के पीछे हटने के कारण बने है । कगार के पीछे हटने के साथ-साथ उसकी ऊँचाई भी बढती गयी और स्रोतो का प्रवाह-तल क्रमश नीचे गिरता गया । फलस्वरूप पहले से निर्मित घाटियाँ शुष्क रह गयी ।

खड़िया प्रदेश का प्रमुख भू-दृश्य
(Salient Features of Chalk Country)

खडिया प्रदेश की अधिकाश घाटियाँ शुष्क होती है । किन्तु कुछ नदी-घाटियाँ जिनका उद्गम इन प्रदेशो के बाहर होता है, जल से भरी हुई मिलती है । इन प्रदेशो मे घाटी-तल के अपरदन से जल-तल नीचे चला जाता है । फलस्वरूप खड़िया मे जन्मी इनकी सहायक नदियाँ सूखी रहती है । इनका जल भूमि मे नीचे चले जाने से ही ये शुष्क रहती हैं । किन्तु कुछ घाटियो के निम्न भागो मे निरन्तर भारी वर्षा के उपरान्त अस्थायी धाराएँ उत्पन्न हो जाती है । विभिन्न खड़िया प्रदेशो मे ऐसी अस्थायी रूप से प्रवाहित शुष्क घाटियो को **बोर्नीज** (Bournes) कहते है । वस्तुत बोर्नीज की उत्पत्ति जल-तल के ऊपर उठ जाने से होती है । किन्तु यह अस्थायी रूप है । उदाहरणत क्रायडन बोर्नीज (Crydon Bournes) वेण्डल की शुष्क घाटी मे कभी-कभी अधिकार कर लेती है । बोर्नीज एक प्रकार के आन्तरायिक नाले (intermitant streams) है । विभिन्न स्थानो पर इनको विभिन्न नाम दिये जाते है, जैसे विल्टशायर मे इन्हें **विण्टर बोर्नीज** (Winter Bournes), केण्ट मे **नेल बोर्नीज** (Nail Bournes), हेम्पशायर में **लेवेण्ट्स** (Lavants) तथा यार्कशायर मे **जिप्सीज** (Gypseys) कहते है । बोर्नीज की उत्पत्ति किसी भी शुष्क घाटी मे हो सकती है । भारी वर्षा के उपरान्त शुष्क घाटियाँ जल से भर जाती है और कुछ महीनो तक जल से परिपूर्ण रहती है । यह जल कुछ विशेष छिद्रों से ऊपर आता है और बोर्नीज को जन्म देता है । किन्तु भारी वर्षा के समय और बोर्नीज के प्रवाह के समय मे अन्तर रहता है । कुछ बोर्नीज प्रत्येक जाड़े में बहती हैं और कुछ एक दशक में दो-तीन बार ही प्रवाहित होती हैं ।

28
हिमनदियाँ एवं हिमनदन
(GLACIERS AND GLACIATION)

धरातल की परिवर्तनकारी शक्तियों में जल-वृष्टि का विशेष स्थान है। वर्षा का जल नदियो के रूप में स्थल पर भारी उलट-फेर कर देता है, किन्तु धरातल पर कु छ प्रदेश ऐसे है जहाँ जल-वृष्टि बिलकुल नही होती। वहाँ अत्यन्त शीतल जलवायु के कारण वर्षा **हिमपात** (Snowfall) के रूप मे होती है। अति उच्च पर्वतीय प्रदेशो एव उच्च अक्षांशो मे सदैव हिमपात ही होता है। इन प्रदेशो मे हिमपात इतना अधिक होता है कि ग्रीष्म ऋतु मे भी यहाँ बर्फ पिघल नही पाती। ये प्रदेश हमेशा हिमाच्छादित रहते है। अतः इन प्रदेशों मे हिम ही धरातल के अनाच्छादन का मुख्य साधन है।

वर्तमान समय मे पृथ्वी पर विस्तृत हिम-क्षेत्र इतने छोटे होते है कि उनके द्वारा धरातल पर आनाच्छादन के साधन के रूप मे हिम के कार्यो को भली प्रकार नही समझा जा सकता। परन्तु पृथ्वी का भू-गर्भिक इतिहास हमें बताता है कि विगत काल में पृथ्वी का अधिकांश भाग कई बार हिमावरण से आच्छादित रहा। इन हिमावरणो के चिह्न आज भी पृथ्वी के विस्तृत भागों मे देखने को मिलते हैं। इन तथ्यो से विदित होता है कि धरातल की साज-सज्जा मे हिम का महत्त्वपूर्ण हाथ है। यद्यपि हिम का प्रभाव पृथ्वी के कुछ ही भागो तक सीमित रहता है और साथ ही उसका कार्य अनवरत न होकर आन्तरिक रूप से होता है। फिर भी यह धरातल पर महान परिवर्तन उपस्थित कर देता है।

हिम क्षेत्र
(Snow Fields)

धरातल पर हिम का कार्य केवल स्थायी हिम-क्षेत्रों तक सीमित होता है। ससार मे आस्ट्रे-लिया को छोड़कर प्रायः सभी महाद्वीपो में स्थायी हिम क्षेत्र पाये जाते हैं। ये हिम क्षेत्र प्रायः अत्यन्त न्यून तापमान वाले भागो में मिलते है, किन्तु अकेले न्यून तापमान से ही स्थायी हिम-क्षेत्रों का विकास सम्भव नही है। उदाहरणत', उत्तरी साइबेरिया विश्व का एक अत्यन्त शीतल क्षेत्र है, परन्तु यहाँ हिम सतत् रूप से नहीं रहती। जाड़ो मे जो अल्प-हिमपात होता है वह बसन्त ऋतु मे शीघ्र ही पिघल जाता है। स्थायी हिम क्षेत्रों का विकास उन्हीं स्थानों पर होता है जहाँ जाड़ो मे होने वाले हिमपात की मात्रा इतनी अधिक होती है कि ग्रीष्मऋतु की धूप और वाष्पीकरण भी उसको पिघला न सके। शुष्क हवा भी हिम को उड़ा देती है। इसी प्रकार तीव्र पहाड़ी ढालों में **हिमानी अवधाव** (avalanching) के द्वारा भी हिम हटा दी जाती है। अत हिम क्षेत्रो की रचना के लिए मन्द ढाल एवं तेज धूप और तेज हवाओं से रक्षित गर्त ही सर्वोत्तम स्थान होते हैं। ऐसे स्थानों

पर हिमपात की शेष राशि वर्ष-प्रतिवर्ष एकत्रित होती रहती है, जिससे हिमक्षेत्र की गहराई और उसका विस्तार बढता जाता है। अत: ससार के वे सभी भाग जहाँ स्थायी रूप में हिम जमी हुई रहती है, **हिम-क्षेत्र** (Snow Fields) कहलाते है। ये हिम क्षेत्र संसार मे व्यापक रूप से फैले हुए पाये जाते है। प्राय. सभी अक्षाशों मे स्थित पर्वतो के ऊपर हिम क्षेत्र मिलते है। विषुवत रेखा के निकट दक्षिणी अमरीका के एण्डीज, पूर्वी अफ्रीका के किलीमान्जरो तथा यूरोप के आल्प्स, पिरेनीज, काकेशस, यूराल एवं स्कैण्डिनेविया तथा हिमालय, रॉकीज और उत्तरी-पूर्वी एशिया के उच्च भागो मे हिम क्षेत्र मिलते है। इन छोटे हिम क्षेत्रो के अतिरिक्त ग्रीनलैण्ड तथा अण्टार्कटिका मे विशाल हिम क्षेत्र पाये जाते है।

वर्तमान समय में पृथ्वी के धरातल पर हिम क्षेत्रों का कितना विस्तार है इसका एक अनुमान **चेम्बरलेन** तथा **सेलिसबरी** ने प्रस्तुत किया है। इन विद्वानो के अनुसार संसार मे लगभग 40 लाख घन किलोमीटर हिम क्षेत्रों का विस्तार है।[1] यदि हिम क्षेत्रों की यह समस्त हिम पिघल कर पुन. समुद्र मे पहुँच जाय तो महासागरो का तल 200 से 300 फुट तक ऊपर उठ जायगा।[2]

हिमरेखा
(Snow Line)

किसी स्थान पर जिस रेखा के ऊपर सदैव हिम जमी रहती है, उस रेखा को **हिमरेखा** (Snow Line) कहा जाता है। **होम्स** के अनुसार, "The level upto which the snow melts in summer, *i e*, the lower edge of a permanent snow field (if present), is called the snow line."

इसका तत्पर्य यह है कि हिमरेखा के ऊपर हिम कभी भी पूरी तरह नहीं पिघलती है। किन्तु इस हिमरेखा की स्थिति सदैव एक जैसी नही रहती है। हिमरेखा की स्थिति पर जलवायु की
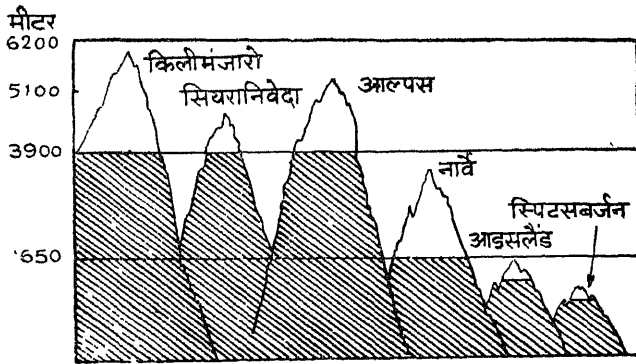
चित्र 252—हिमरेखा

अवस्थाओं तथा धरातल की प्रकृति का गहरा प्रभाव पड़ता है। आल्प्स की अनेक चोटियाँ अपने चारों ओर फैले हिम क्षेत्रों से स्पष्ट ऊपर खड़ी हुई देखी जाती है। इसके शिखर इतने ढालू हैं कि उन पर हिम एकत्र ही नहीं हो पाती। किसी स्थान की ऊँचाई एवं अक्षांश भी हिमरेखा को प्रभावित करते हैं। जैसे हिमरेखा ध्रुवों के निकट समुद्र-तल पर, दक्षिणी ग्रीनलैण्ड मे 2,000 फुट,

---

1 R. D. Salisbury : *Physiography*, p. 194

2 अलैक्जेण्डर मारशैक, **पृथ्वी और अन्तरिक्ष**, p. 64

नॉर्वे मे 4,000 फुट, दक्षिणी चिली मे 5,000 फुट, दक्षिणी अलास्का मे 7,000 फुट, आल्प्स मे 13,000 फुट, पूर्वी अफ्रीका मे 17,000 फुट एव हिमालय में 16,000 फुट की ऊँचाई पर मिलती है। भारत में हिमरेखा की वास्तविक ऊँचाई निर्धारित करना बडा कठिन है, क्योकि यहाँ स्थायी हिम-क्षेत्र यकायक ग्रीष्मकाल मे हिमयुक्त रहने वाले प्रदेश मे परिणत नही होता। स्थायी हिम-क्षेत्र का हिमयुक्त क्षेत्र में यह परिवर्तन क्रमिक रूप से होता है।[1] समशीतोष्ण कटिबन्ध में जाडे की हिमरेखा मे बडा परिवर्तन देखा जाता है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान एव वर्ष-प्रतिवर्ष बदलती रहती है। समुद्री किनारो के निकट इसमे अधिक परिवर्तन देखा जाता है, जैसा कि ब्रिटेन मे होता है। स्कॉटलैण्ड के उच्च भागों मे 3,000 फुट के ऊपर वर्ष मे औसतन 80 दिन हिम जमा हुआ रहता है। यह एक आश्चर्य की बात है कि यहाँ का सर्वोच्च पर्वत-शिखर **बेन नेविस** (Ben Nevis) अनुमानित स्थायी हिमरेखा को नही छू पाता। हिमरेखा की ऊँचाई साधारणतः निम्न बातों से प्रभावित होती है :

(1) **अक्षांश**—हिमरेखा की स्थिति पर अक्षांश का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। यह इस बात से स्पष्ट है कि निम्न अक्षाशों मे यह रेखा ऊँची तथा ऊँचे अक्षाशो में यह रेखा नीची पायी जाती है। सामान्यतः विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढने पर तापमान घटता जाता है जिससे हिमरेखा की ऊँचाई भी ध्रुवो की ओर उत्तरोत्तर कम होती जाती है। उदाहरणतः, विषुवत रेखा के निकट हिमरेखा की ऊँचाई 15,000 से 18,000 फुट तक पायी जाती है, जबकि ध्रुवों के निकट यह बिलकुल समुद्र-तल के समीप स्थित होती है।

(2) **हिमपात की मात्रा**—हिमरेखा का सम्बन्ध हिमपात की मात्रा से भी रहता है। जहाँ हिमपात की मात्रा कम होती है तो ग्रीष्म में वह पिघल जाती है, अतः वहाँ हिमरेखा की ऊँचाई बहुत अधिक रहती है। किन्तु जहाँ हिमपात बहुत अधिक होता है वहाँ सब हिम ग्रीष्म मे पिघल नहीं पाती। इसलिए ऐसे स्थानों पर हिम क्रमश एकत्रित होकर निम्न भागो को भी ढक लेती है। अतः वहाँ हिमरेखा सदैव नीची रहती है।

(3) **भूमि का ढाल**—किसी भी स्थान पर हिमरेखा की ऊँचाई-नीचाई धरातल की बनावट पर भी निर्भर करती है। अधिक ढालू स्थानों में हिम फिसलकर नीचे खिसक जाती है, अतः वहाँ हिमरेखा अधिक ऊँचाई पर मिलती है, किन्तु मन्द ढाल वाले स्थानों पर हिम अपने स्थान पर रुकी रहकर एकत्र होती जाती है जिससे वहाँ हिमरेखा नीची रहती है।

(4) **वायु की दिशा**—जो स्थान शुष्क वायु के प्रभाव में रहते हैं वहाँ हिम शुष्क वायु के प्रभाव से शीघ्र पिघलने लगती है। इसलिए हिमरेखा वहाँ ऊँची रहती है। इसके विपरीत जो स्थान आर्द्र हवाओं के प्रभाव मे रहते हैं वहाँ हिमरेखा नीची रहती है। उदाहरणतः, हिमालय के दक्षिणी भाग में आर्द्र हवाओं के प्रभाव के कारण हिमरेखा की ऊँचाई 13,000 फुट ही है, जबकि उत्तरी ढाल अधिक ठण्डा होते हुए भी हिमरेखा की वहाँ ऊँचाई 16,000 फुट पायी जाती है।

अतः **सेलिसबरी** का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि "Snow line occurs at any altitude at sufficiently high latitudes and at any latitude at sufficiently high altitude."[2]

---

1 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 198
2 P. C. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 267

विभिन्न अक्षांशों में हिमरेखा की ऊँचाई

स्थान	अक्षांश	ऊँचाई (फुट में)
इक्वेडोर	0°	18,500
बोलिविया	15°5	16,000
हिमालय	28° उ०	16,700
टेनेरीफ	33° उ०	13,000
चिली	33° द०	12,800
काकेशस	40° उ०	8,300-14,000
पिरेनीज	40° उ०	6,500
आल्प्स	$46\frac{1}{2}$° उ०	9,000
स्केण्डिनेविया	60° उ०	5,000
ग्रीनलैण्ड	0° उ०	2,200
अण्टार्कटिका	$66\frac{1}{2}$°-70° द०	समुद्र-तल

नेवे तथा हिमानी बर्फ
(Neve and Glacier Ice)

हिम (snow) रुई के गोलों (cotton balls) की भाँति हल्का व फूला हुआ तथा सफेद चूर्ण-सा होता है। अत. जब किसी क्षेत्र में हिमपात होता है तो वह पतली और ढीली परतों के रूप में गिरता है। लगातार हिमपात होने से हिम की मोटी-मोटी परतें जम जाती है। हिम की ऊपरी परतों के दबाव से निचली परतें दबकर अधिक ठोस रूप धारण कर लेती है। यह ठोस हिम जमे हुए पानी से नितान्त ही भिन्न होती है। इस ठोस हिम के कणो में वायु बनी रहती है जिससे यह श्वेत दानेदार हिम-पिण्ड में परिवर्तित हो जाती है। इसको फ्रांसीसी भाषा मे **कण-हिम** या **नेवे** (Neve) और जर्मन भाषा मे **फर्न** (Firn) कहते है।

नेवे हिमानी बर्फ से भिन्न होता है। वस्तुत: नेवे हिम तथा बर्फ की मध्यवर्ती दशा है। बर्फ एकदम ठोस और अपारगम्य होती है। इसके विपरीत नेवे पारगम्य तथा सफेद होता है। ग्रीष्मऋतु मे हिम के पिघलने से जो पानी बनता है, बूंद-बूंद करके नेवे के अन्दर प्रवेश करता है और शीतलता से पुनः जम जाता है। इससे हिम की निचली परतें अधिक ठोस हो जाती है। निचली परतों के दबने और पुनः जमने से हिम परतों से वायु निकल जाती है। जो वायु उनमें शेष रह जाती है उससे बुलबुले बन जाते हैं। वायु के इन बुलबुलो से हिम परतें अपारदर्शी और सफेद हो जाती है। जब बराबर हिमपात होता है तो हिम परतो की मोटाई बहुत बढ़ जाती है। फलस्वरूप निचली तहो की वायु बिलकुल निकल जाती है और नेवे साफ नीले अथवा हरे बर्फ मे परिणत हो जाती है। सामान्यतः एक हिम-क्षेत्र के निचले भाग में ठोस हिम (ice), मध्यवर्ती भाग में कण-हिम (Neve) तथा ऊपरी भाग मे गुम्फिल हिम (snow) रहता है। इस प्रकार यदि हम किसी हिम-क्षेत्र का अनुप्रस्थ काट चित्र (Section) देखे तो उसमें स्पष्ट परतें दीख पड़ेगी। इन परतों से प्रतिवर्ष हिम-प्राप्ति की मात्रा को पहचाना जा सकता है।

हिमानियाँ
(Glaciers)

हिमपात के कारण जब किसी हिम-क्षेत्र मे हिम की राशि बहुत बढ़ जाती है तो फिर उसका स्थिर रहना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में थोड़ा-सा भी दबाव बढ़ने पर हिम

गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से ढाल की ओर खिसकने लगता है। हिम-क्षेत्र से इस प्रकार खिसकती हुई हिम-राशि को ही **हिमानी** या **हिमनदी** (Glacier) कहा जाता है। **ए० के० लोबेक** ने हिमानी को बर्फ को नदी माना है (Alpine Glaciers are rivers of ice.) किन्तु हिमानी और नदी के स्वरूप एवं प्रकृति मे महान अन्तर होता है। **होम्स** के अनुसार, "Glaciers are masses of ice, which under the influence of gravity, flow out from the snow fields where they originate."[1] इससे स्पष्ट है कि हिमानियाँ हिम-क्षेत्रो का विस्तार मात्र है। हिम-क्षेत्रों से अलग इनका कोई अस्तित्व नही होता। ये जीभ की भाँति हिम-क्षेत्रों से बाहर निकलती हुई होती है। जीभ को मुँह से बाहर निकालने की शक्ति शरीर पर आधारित है। उसी प्रकार हिमानी के आगे बढ़ने की शक्ति हिम-क्षेत्र पर निर्भर रहती है। यदि मार्ग में पिघलकर नष्ट हुए हिम की अपेक्षाकृत हिम की अधिक मात्रा हिमपात द्वारा हिम-क्षेत्र को प्राप्त होती है तो हिमानी बहुत दूर तक आगे बढ़ जाती है।

चित्र 253—लद्दाख की एक हिमानी

यद्यपि सभी हिमानियो की उत्पत्ति हिम-क्षेत्रों से ही होती है किन्तु सभी हिम-क्षेत्रों से हिमानियो का उद्भव नही होता। हिमानियों की उत्पत्ति सामान्यतः विस्तृत हिम-क्षेत्रों से ही होती है। अत. हिमानियाँ प्राय. अपने ऊपरी भाग मे बहुत चौड़ी होती है। ज्यो-ज्यो हिमानी आगे बढती है उनका रूप तथा आकार बदलता जाता है। किसी भी हिमानी का विस्तार निम्न बातों पर निर्भर करता है .

(1) काफी न्यून तापमान, जिससे कि हिम एकत्रित रहे।

---

[1] A Holms : *Principles of Physical Geology*, p.-204

(2) प्रचुर हिम-वर्षा जिससे पर्याप्त हिम एकत्र हो सके।
(3) वाष्पीकरण एव हिम पिघलने की मन्द गति हो ताकि हिम-क्षेत्र से बहुत कम हिम नष्ट हो सके।

हिमानियों का प्रवाह
(Movement of Glaciers)

ग्रीष्मऋतु मे हिमानियो के ऊपरी तल की हिम ताप से पिघलकर नष्ट होती रहती है। हिमानियो के नीचे से भी पिघलाव के कारण हिम नष्ट होती है। कुछ मात्रा मे वाष्पीकरण भी हिम का शोषण कर लेता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि हिमानियो के सिरो के निकट, विशेषकर ग्रीष्मऋतु मे बडी तेजी से, हिम नष्ट होती रहती है। किन्तु यह देखा गया है कि हिमानियाँ प्राय. लम्बे समय तक अपने आकार मे स्थिर रहती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिमानियों के नष्ट हुए हिम की पूर्ति किसी न किसी साधन द्वारा होती रहती है। वह साधन हिम-क्षेत्र ही है। हिम-क्षेत्रो से बराबर हिम नीचे खिसकती रहती है जिससे हिमानियो के नष्ट हुए हिम की पूर्ति होती रहती है। यदि हिम पूर्ति की यह बात सही है तो निश्चय ही हिमानियो मे प्रवाह होता है।

प्रवाह गति (Rate of Movement)—पहले बहुत समय तक लोगों का यह विश्वास था कि हिमानी मे कोई प्रवाह नही होता। क्योकि हिम की गति इतनी मन्द होती है कि उसका साधारण अनुभव नही होता, किन्तु स्विट्जरलैण्ड के निवासी **प्रो० ह्यूज** (Prof. Huge) ने सर्वप्रथम 1827 मे हिमानी की प्रवाह गति को प्रमाणित किया। उसने उत्तरी आल्प्स पर्वत की **एअर हिमानी** (Air Glacier) पर एक झोपड़ी बनायी और उसकी गति की जाँच करना प्रारम्भ किया। सन् 1841 में यह झोपड़ी बहकर 4700 फुट आगे बढ गयी अर्थात 14 वर्षो मे इस हिमानी ने 4700 फुट लम्बा मार्ग तय किया। इसमे प्रतीत होता है कि हिमानी प्रतिदिन एक फुट की गति से आगे बढी। इस प्रकार हिमानी की गति को ज्ञात करने के लिए सन् 1834 मे **लुइस अगासीज** नामक एक स्विस विद्वान ने एक हिमानी के आरपार सीधी रेखा मे कई खम्भे गाड़े। कुछ समय उपरान्त जब इनका निरीक्षण किया गया तो ज्ञात हुआ कि हिमानी के किनारो के खम्भों की अपेक्षा मध्य के खम्भे अधिक आगे बढ़ गये तथा सभी खम्भे घाटी के ढाल की ओर झुक गये है। इस परीक्षण से स्पष्ट हो गया कि हिमानियों में प्रवाह गति होती है। अब तो अनेक हिमानियो की गति को ज्ञात किया जा चुका है।

चित्र 254—हिमानी में गति का प्रमाण

हिमानी का वेग मध्य मे अधिक तीव्र होता है। किनारो एवं तली पर अवरोधस्वरूप वेग मन्द रहता है। सामान्यतया हिमानी की दैनिक गति एक-दो फुट से अधिक नही होती। आल्प्स पर्वत की हिमानियाँ अपनी मन्द गति के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ की कई हिमानियाँ प्रतिदिन 20 इच ही आगे बढती है। **जे० डी० फौब्स** के अनुसार स्विट्जरलैण्ड की प्रसिद्ध **मेर डी ग्लेस** (Mer de Glace) की चाल मध्य में 20 से 27 इंच व किनारो पर 12 से 19½ इच रहती है। इसी प्रकार ट्रोयोल मे **हिण्टरीशफर्नर** हिमानी की चाल वर्ष में 164 फुट तथा रोन हिमानी की चाल 318 फुट वार्षिक आँकी गयी है। हिमालय की **फेडचैको** (Fedcheucko) हिमानी प्रतिदिन 1½ फुट और जम्मू की हिमानी 9 इच प्रतिदिन की गति से आगे बढ़ती है।[1] **जनरल स्टैचे** ने कराकोरम और कुफीनी हिमानियो का निरीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि हिमानी का निचला भाग अन्तिम

1 D. N. Wadia : *Geology of India*, p. 15

हिमोढ़ के निकट प्रतिदिन 4 8 इंच और मध्य में 9·4 इंच तथा ऊपरी भाग में 5·3 से 10 इंच की गति से प्रवाहित होता है।[1] अलास्का प्रदेश की हिमानियो की गति बहुत आश्चर्यजनक है। यहाँ की गति कुछ हिमानियो की चाल 40 फुट प्रतिदिन है। ग्रीनलैण्ड की हिमानियाँ इससे भी अधिक तेजी से चलती है। यहाँ की हिमानियाँ प्रतिदिन 50 से 100 फुट या प्रतिवर्ष 5 मील की गति से बहती है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि हिमानियो की गति सब जगह और सब समय एकसी नही होती। हिमानियो की गति के सम्बन्ध मे निम्न बातें ध्यान देने योग्य है . (1) हिमानियों का वेग किनारो की अपेक्षा मध्य मे अधिक तीव्र होता है। (2) जाड़ो की अपेक्षा ग्रीष्म मे इनकी गति तेज रहती है। (3) प्रात.काल की अपेक्षा मध्याह्न मे ये तेज चलती है। (4) तली की अपेक्षा ऊपरी तल पर प्रवाह-गति अधिक रहती है।

हिमानियों की गति को प्रभावित करने वाली बातें—हिमानियों की प्रवाह गति मुख्यतः निम्न बातों पर निर्भर करती है :

(1) **हिम की मोटाई**—प्रवाहित हिमानी के हिम की मोटाई जितनी अधिक होगी उसकी गति भी उसी प्रकार अधिक होगी।

(2) **भूमि का ढाल**—हिमानी जिस स्थान से होकर बहती है यदि उसका ढाल तीव्र है तो उसकी गति अधिक होगी और यदि ढाल मन्द हुआ तो हिमानी की गति भी मन्द होगी।

(3) **तापमान**—हिमानी की गति तापमान के अनुसार रहती है। ग्रीष्म में तापमान की अधिकता से ही उनकी गति बढ जाती है।

(4) **हिमानी तल की स्थलाकृति**—यदि हिमानी के पेंदे के नीचे भूमि ऊबड़-खाबड़ हो तो गति मन्द पड जायेगी। समतल धरातल होने पर गति तीव्र होगी।

(5) **हिम के ऊपरी तल का ढाल**—यदि हिम चादरवत फैली रहती है तो उसकी गति धीमी रहती है। यदि इसका ऊपरी तल ढालू हुआ तो गति बढ जायगी।

(6) **हिम में उपस्थित जल की मात्रा**—पिघलने से हिम में जल की मात्रा बढ़ जाती है। जल की अधिकता होने पर प्रवाह गति बढ जाती है।

(7) **हिमोढ़**—हिमानी जो हिमोढ अपने तल के साथ बहाकर ले जाती है उसकी मात्रा के अनुसार भी प्रवाह गति तेज अथवा मन्द हो जाती है।

चूंकि उपरोक्त परिस्थितियो मे कई परिस्थितियाँ समय के साथ बदलती रहती है, अत. हिमानियो की प्रवाह गति में भी परिवर्तन होता रहता है।

हिमानी प्रवाह का स्वरूप
(Nature of Glacier Movement)

हिम-क्षेत्रों से हिम का प्रवाह किस प्रकार होता है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कुछ विद्वानों का तो निश्चित मत है कि हिम और बर्फ के भार से उत्पन्न गुरुत्वाकर्षण शक्ति ही हिमानी के प्रवाह का मूल कारण है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने जमे हुए पानी की प्रसारीय शक्ति (expansive forcc) जो लगभग 2000 पौण्ड प्रति वर्ग इंच है—की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उनका विश्वास है कि हिम-क्षेत्र की तली मे बर्फ के कणो के विकास के अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि बर्फ इतनी ठोस हो जाती है कि बर्फ के कणो के मध्य पानी के और अधिक जमने (further fieezing) से बर्फ का प्रसार होता है और गति उत्पन्न होती है। इस प्रकार, "The repeated processes of meltıng and fieezıng both in the snow-

---

[1] H. L. Chibber : *Physıcal Basis of Geography of India*, p. 79

field and the glacial ice, aided by gravity, probably cause the movement of glaciers."[1]

हिमानी के प्रवाह पर विचार करते समय कई बातों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। विभिन्न हिमानियों की प्रवाह गति मे भिन्नता पायी जाती है। एक ही हिमानी की अलग-अलग ऋतुओ मे अलग-अलग प्रवाह गति होती है। सभी हिमानियाँ जाड़ों की अपेक्षा गर्मियो मे अधिक तेज गति से चलती है। लम्बी हिमानियाँ छोटी हिमानियों की अपेक्षा तीव्र गति से प्रवाहित होती है। हिमानी की गति मध्य भाग और ऊपरी सिरे पर अधिक होती है। नदियो की भांति हिमानियां मार्ग के अवरोधों के अनुरूप नही बहती। इसके विपरीत हिमानियाँ मार्ग के अवरोधों को हटाकर अथवा उन्हे पार करके बहती है। कनाडा मे महाद्वीपीय हिमानियों ने बड़े-बड़े गोलाश्मों (Boulders) को सैकडो मील बहाकर समुद्रतल से 3000-4000 फुट ऊपर लाकर जमा कर रखे है। यद्यपि हिमानियो द्वारा ऐसा कार्य असम्भव प्रतीत होता है किन्तु यह तथ्य है।

कई लेखको ने हिमानियों को बर्फ की ऐसी नदियाँ माना है जो अपनी घाटियो में बहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि हिमानियाँ नदियों से नितान्त ही भिन्न होती है। ये द्रव की भाँति नहीं बहती। यदि हिमानियो के सम्बन्ध में बहाव (flow) शब्द का प्रयोग करना ही है तो "It should be thought of as a solid flow whereby the movement is due to orderly molecular re-arrangement and not as liquid flow whereby the molecules move in pell-mellfashion without order."[2]

हिमानियो के प्रवाह के सम्बन्ध में यदि हम उपरोक्त बातो को ध्यान मे रखे तो प्रतीत होगा कि गुरुत्वाकर्षण ही हिमानी प्रवाह का एकमात्र कारण नही है। यदि गुरुत्वाकर्षण ही हिमानी प्रवाह का कारण है तो हिमानियों को ग्रीष्म की अपेक्षा जाड़ो मे अधिक तेजी से बहना चाहिए, क्योकि जाड़ों मे हिम का दबाव बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार यदि हिमानियाँ नदियों की भाँति बहती है तो उन्हे अपने हिम-क्षेत्रो से अलग हो जाना चाहिए और घाटियों मे स्वतन्त्र रूप से बहना चाहिए। किन्तु हम देखते है कि हिमानियाँ अपने उद्गम से लेकर अन्त तक बर्फ की लगातार एकसी-परत के रूप मे रहती है। इस प्रकार हिमानी के प्रवाह की क्रियाविधि को भली प्रकार समझ पाना कठिन लगता है। इसके प्रवाह की क्रियाविधि को जानने के लिए बरनीज ओवरलैण्ड मे जुगफ्रा (Jungfraujoch) प्रयोगशाला मे सक्रिय परीक्षण हो रहे है। हिमानी मे प्रवाह सम्भवत: पुनर्हिमायन, अन्तराकणिक परिवर्तन, प्लैस्टिकी-विरूपण और स्तरीय प्रवाह आदि प्रक्रियाओं के मेल-जोल से होता है।

पुनर्हिमायन (Regelation)—पुनर्हिमायन हिम-पिण्ड में दबाव का परिणाम होता है। इसकी वजह से बर्फ का हिमांक बिन्दु स्थानीय रूप से कुछ नीचा हो जाता है जिससे जल के अणु मुक्त हो जाते हैं। जल के ये अणु पुनः ठोस होने के पूर्व न केवल निम्न दबाव वाले स्थान की ओर गतिशील होते है वरन् ये स्नेहक परत (lubricating film) का भी निर्माण करते हैं जो हिम-कणो (ice grains) को आगे खिसकने में सहायता करती है। इस प्रकार हिमानी के अन्दर क्रमिक गति होती है और यह गति पहाड़ी ढाल की ओर होती है।

अन्तराकणिक परिवर्तन (Intra-granular Translation)—उपरोक्त मत के साथ-साथ कुछ विद्वान हिम की गति का कारण अन्तराकणिक परिवर्तन को मानते है। इस मत के अनुसार हिम-कण यान्त्रिक इकाइयों (mechanical units) की भाँति व्यवहार करते है और एक दूसरे के

---

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 268

2 P. G. Worcester ; *Text Book of Geomorphology*, p. 269

ऊपर फिसलते है । तेज प्रवाहित हिमानी मे ठोस पिण्ड के अन्दर अधिक गतिशील अणु होते हैं । इसका कारण या तो हिम-क्षेत्र से नेवे की अधिक प्राप्ति का होना है या ढाल का तीव्र होना है । दोनों ही कारणो से हिम-पिण्ड के कणो मे तनाव बढ जाता है जिससे उनमे गति उत्पन्न हो जाती है । हिमानी की घाटी संकीर्ण होने पर प्रवाह के बढ जाने के पीछे भी यही कारण है ।

प्लैस्टिकी विरूपण (Plastic Deformations) –यद्यपि हिम के प्लैस्टिकी विरूपण की विधि के बारे मे बहुत कम ज्ञान प्राप्त है, फिर भी हिमानियो के नीचे किये गये अनुसन्धानों से यह जान लिया गया है कि अन्तरा आणुविक और अन्तराकणिक प्रवाह के फलस्वरूप कुछ अवस्थाओं मे बर्फ वस्तुतः सुघट्य (plastic) हो जाता है । हिम के सुघट्य हो जाने से वह गतिमान हो जाता है ।

स्तरीय प्रवाह (Laminar Flow)—हिम की ठोस प्रकृति और हिम-राशि के ऊपरी दबाव के कारण, ढाल के सहारे हिम में धक्का (thrust) उत्पन्न होता है जिससे वह प्रवाहित होने लगता है । भ्रंशतलों के सहारे हिम का यह विसर्पण अधिक होता है । प्रायः हिमानी के ऊपरी भाग मे एक ऐसी परत की रचना होती है जिससे कोई गति नही होती, किन्तु इस परत की हिम गहराई में प्रवाहित बर्फ के सहारे आगे बढ़ती है ।

बहिर्वेधन प्रवाह (Extrusion Flow)—हिम-प्रवाह की उपरोक्त बतायी गयी प्रत्येक विधि कुछ अशों मे सत्य है जैसा कि **जे० के० चार्ल्सवर्थ** ने कहा है, "Each of these processes has a grain of truth; it is valid in part and in certain circumstances." स्पष्टतः प्रत्येक विधि मे गुरुत्वाकर्षण शक्ति सम्मिलित है, अत. इन सबको गुरुत्वाकर्षण प्रवाह (gravity flow) मे सम्मिलित किया जा सकता है ।

छोटी हिमानियो की अपेक्षा विशाल महाद्वीपीय हिमानियो के प्रवाह को समझना थोड़ा अधिक कठिन प्रतीत होता है । ये हिमानियाँ विस्तृत निम्न भूमि पर फैली रहती है । अतः इनके नीचे कें स्थल का ढाल बहुत कम होता है । फिर भी इन हिमानियों में भी प्रवाह पाया जाता है । इनके प्रवाह को स्पष्ट करने के लिए कुछ विद्वानों ने वहिर्वेधन ही एकमात्र कारण माना है । उनके अनुसार इनमें इतनी अधिक मोटी हिम-परतें एकत्र हो गयी हैं कि हिम अपने भार के कारण स्वतः बहिर्वेधन (extrusion) द्वारा प्रवाहित होने लगता है । इनके इस प्रवाह में आधारीय तहों (basal layers) मे प्लैस्टिकी विरूपण भी सम्भवतः मदद करती है । बहिर्वेधन प्रवाह उन हिमानियों मे सम्भव हो सकता है जो कि हिम-स्तरों (ice-sheets) के किनारों से निकलती है जैसा कि ग्रीनलैण्ड मे देखा जाता है । गुरुत्वाकर्षण प्रवाह की अपेक्षा बहिर्वेधन प्रवाह अधिक तेज होता है । इनमे अपरदन की शक्ति भी अधिक रहती है । कई स्थानों पर बनी गहरी चट्टानी बेसिनों को बहिर्वेधन प्रवाह द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

हिमानियों का अन्त—जब कोई हिमानी हिम-रेखा के नीचे पहुँचती है तो तापमान की वृद्धि से हिम पिघलने और वाष्प में बदलने लगती है । फलस्वरूप हिमानी का स्वरूप नष्ट होने लगता है । हिमानी में हिम पिघलने की क्रिया सीधे सूर्य-ताप द्वारा अथवा समीपवर्ती चट्टानी दीवारों अथवा ठोस मलबे के द्वारा गर्मी के संचालन द्वारा होती है । अतः हिम पिघलने की क्रिया शीतोष्ण कटिबन्ध में ग्रीष्म ऋतु तथा दिन के समय अधिक होती है । उष्ण जल, वर्षा एवं पिघला हुआ जल भी हिम को पिघलाने मे सहायता करते हैं । हिम के इस प्रकार पिघलने से हिमानी का अन्त हो जाता है । हिमानी के छोर से प्रायः पिघलता हुआ जल धारा के रूप में बह निकलता है । अनेक बड़ी-बड़ी झीलों एवं नदियों का उद्गम इसी प्रकार होता है । गंगा नदी का जन्म गंगोत्री हिमानी से एवं रोन नदी का जन्म रोन हिमानी से होता है । ध्रुव प्रदेशों में अनेक हिमानियाँ

समुद्रों तक पहुँच जाती है। वहाँ हिमानी से बड़ी-बड़ी हिम-शिलाएँ टूटकर समुद्र में गिरती रहती है जो अन्त मे घुलकर नष्ट हो जाती है।

उष्ण प्रदेशों मे अधिकांश छोटी-छोटी हिमानियाँ वाष्पीकरण के द्वारा ही नष्ट हो जाती है। जल का सीधे ठोस हिम से वाष्प में बदलना हवाओं की शक्ति, तापमान और वायु की आर्द्रता पर निर्भर करता है। सामान्यतः जाड़े की ऋतु मे ऊँचे भागो मे यह क्रिया अधिक होती है। ध्रुवीय प्रदेशो में शक्तिशाली हवाएँ धरातल के हिम-कणों को उसी प्रकार उड़ा ले जाती है, जिस प्रकार मरुस्थलों मे वायु बालू को उड़ा ले जाती है।

यदि हिम के नष्ट होने और उसकी पूर्ति के मध्य सन्तुलन बना हुआ रहता है तो हिमानी का सिरा (margin) एक जगह स्थिर रहेगा। ऐसी दशा मे हिमानी स्थिर होगी। किन्तु तापमान की वृद्धि, हिम-विनाश (wastage) के बढ़ने और हिम-प्राप्ति की न्यूनता होने पर हिमानियाँ सिकुड़ जाती है।

हिमानियों का पीछे हटना—कई बार हिमानियों के आगे बढ़ने के बजाय उन्हें पीछे हटते हुए देखा जाता है। हिमानियों के पीछे हटने का अर्थ यह नही है कि उनका प्रवाह पलट जाता है या हिम पीछे हटने लगती है। इसका तात्पर्य यह है कि अनेकानेक कारणों से कई बार हिमानी उस सीमा तक नही पहुँच पाती, जहाँ तक वह पहले पहुँचती थी। दूसरे शब्दो में, हिमानी अपने पूर्व-निर्धारित छोर तक पहुँचने के पूर्व ही विलीन हो जाती है। हिमानी का जिह्वा या प्रोथ (snout) अपनी पूर्ववर्ती सीमा को नही छू पाता। सामान्यत ऋतु-परिवर्तन के साथ प्रायः प्रत्येक हिमानी का अग्रभाग थोड़ा आगे-पीछे होता रहता है, किन्तु उसके विस्तार तथा संकोच में विशेष परिवर्तन विशेष स्थितियों मे ही होता है। आल्प्स तथा अलास्का प्रदेश की हिमानियो में यह विशेषता देखी जाती है। उदाहरणतः, संयुक्त राज्य के रेनियर पर्वत की निस्कबेली हिमानी की गति बड़ी विचित्र रही है। सन् 1918 तक यह हिमानी धीरे-धीरे आगे बढती गयी, किन्तु सन् 1918 से 1929 के मध्य 11 वर्षो मे इसका मुँह सन् 1918 के स्थान से 748 फुट पीछे हट गया अर्थात् प्रतिवर्ष यह 58 फुट ऊपर की ओर खिसकती रही। इस सम्बन्ध मे बहुत ही मनो-रंजक उदाहरण स्विट्जरलैण्ड मे आल्प्स पर्वत की एक हिमानी का मिलता है। यह हिमानी सन् 1855 में पीछे हटने लगी थी। इसके पीछे हटने पर इसकी घाटी में सगरमर की एक खान दिखाई पड़ने लगी। सगमरमर की इसी खान के पत्थरों से बर्नेनगर के मकान बने थे। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल मे यह खान हिम के प्रभाव के बाहर थी, किन्तु बाद में यह हिमानी से ढक गयी और सन् 1855 मे पुन· प्रकट हो गयी। ससार की कई हिमानियाँ इसी प्रकार आगे-पीछे हटती रहती है। पूर्वी अफ्रीका के माउण्ट रूबनजोरी, केनिया आदि चोटियों पर कई छोटी-छोटी हिमानियाँ है जो पीछे खिसक रही है। सन् 1926 मे माउण्ट केनिया पर 14 हिमानियाँ थी, परन्तु सन् 1936 मे केवल 10 ही रह गयीं।

हिमानियो के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि इनके आगे-पीछे हटने के विशेष काल रहे हैं। सन् 1850 तक प्रायः ससार की सभी हिमानियाँ आगे बढ़ने की प्रवृत्ति दिखाती रही परन्तु सन् 1918 के पश्चात ये पीछे खिसकती हुई देखी जाती है। इससे यह सकेत मिलता है कि हिमानियों के आगे-पीछे हटने के कुछ विशिष्ट युग होते है। ऐसा संसार की जलवायु में विशद् परिवर्तन होने पर होता है। आजकल ससार की जलवायु अधिकाधिक गरम होती जा रही है जिससे हिम पिघलने और वाष्पीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और हिमानियाँ पीछे खिसक रही हैं। पिछले 50 या 75 वर्षो की अवधि मे विश्व की अधिकाश हिमानियाँ पीछे हट गयी है। अनेक छोटी हिमानियाँ तो अपने मूल हिम-क्षेत्रों मे समा गयी है। यदि वर्तमान शताब्दी में अवस्थाएँ ऐसी

बनी रहीं तो शीतोष्ण कटिबन्धीय अक्षांशो में स्थित पर्वत की सैकडों हिमानियाँ निश्चय ही लुप्त हो जायेगी ।[1]

हिमानियों के प्रकार
(Types of Glaciers)

हिमानियाँ अपनी स्थिति, आकार एवं रचना की दृष्टि से कई प्रकार की होती है। हिमानियों के मुख्य चार भेद किये जा सकते है, जो निम्न है :

(1) महाद्वीपीय हिमानियाँ (Continental glaciers),
(2) हिम टोपियाँ (Ice-caps),
(3) पर्वत पदीय हिमानियाँ (Piedmont glaciers),
(4) घाटी हिमानियाँ (Valley glaciers) ।

उपरोक्त हिमानियों मे महाद्वीपीय एवं घाटी हिमानियाँ ही महत्त्वपूर्ण होती है । ये दोनो प्रकार की हिमानियाँ अपनी स्थिति तथा प्रवाह क्षेत्र की दृष्टि से ही भिन्न नही होती अपितु ये अपने आकार, हिम-प्राप्ति के ढग, भू-रचना की क्रिया और हिम-प्रवाह से उत्पन्न स्थल-रूपो मे भी भिन्न होती है । इसमे मुख्य अन्तर निम्न प्रकार हैं :

(1) घाटी या पर्वतीय हिमानी घाटी या चट्टान के बेसिन में होकर बहती है, किन्तु महाद्वीपीय हिमानी एक आवरण या ढाल की भाँति गुम्बदाकार रूप से पृथ्वी की प्रकृति को अपने नीचे दबाये रखती है । इनके नीचे घाटियाँ और पर्वत दोनो ही दबे रहते है ।

(2) पर्वतीय हिमानी द्वारा गड्ढे और गुफाएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा भूमि का ढाल तीव्रतर (steeper) हो जाता है, किन्तु महाद्वीपीय हिमनदी धरातल की ऊँचाई-नीचाई को अपरदित कर चौरस बना देती है ।

(3) पर्वतीय हिमनदी का मुख्य स्रोत नेवे या फर्न होता है । इसका आधार पाला है जिससे तुषार मे छोटे-छोटे गड्ढे बन जाते है और कालान्तर मे बढते जाते है तथा यही से पर्वतीय हिमानियाँ उत्पन्न होती है, जबकि महाद्वीपीय हिमनदी को निम्न मेघों, उतरती हुई धाराओ और बादलों से गिरने वाली तुषार से हिम प्राप्त होता है ।

(4) पर्वतीय हिमनदी से प्रवाहित प्रदेशो मे नतोदर भू-रचना मिलती है जिसके ऊपरी भाग पर मोड़ तीव्र होता है, जबकि महाद्वीपीय हिमनदी द्वारा उत्पन्न स्थल-रूप उन्नतोदर होते हैं और उनके आकार का मुडाव थोडा ही होता है ।

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि पर्वतीय हिमनदी द्वारा भू-रचना में अपरदन (erosional) से उत्पन्न स्थल-रूपो की प्रधानता रहती है; किन्तु महाद्वीपीय हिमनदी द्वारा उत्पन्न भौतिक रूपरेखा में निक्षेपात्मक (depositional) स्थल-रूपो की प्रधानता रहती है ।

(1) **महाद्वीपीय हिमनदियाँ** (Continental Glaciers)—ऐसी हिमनदियाँ जो अपने हिमावरण द्वारा सम्पूर्ण महाद्वीप अथवा महाद्वीप के अधिकांश भाग को ढक लेती है, उन्हें महाद्वीपीय हिमानियाँ कहा जाता है । ये हिमानियाँ अपने आकार-प्रकार और मोटाई में सबसे विशाल होती है । ऐसी हिमानियाँ पर्वत, पठार एवं मैदान किसी भी प्रकार की स्थलाकृति पर बन सकती है । इन हिमानियो के केन्द्र से बाहर की ओर सभी दशाओ में हिम धीरे-धीरे आगे बढ़ता रहता है । आजकल ऐसी हिमानियाँ केवल ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका में पायी जाती हैं । अधिनूतन हिम-युग में उत्तरी अमरीका, यूरोप एवं एशिया का बड़ा भाग इन हिमानियो ने घेर रखा था । उत्तरी अमरीका के उत्तरी मध्य-भाग का लगभग 35,00,000 वर्गमील क्षेत्र लेब्रेडोर तथा किवाटिन

---

[1] P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 278

(Keewatin) हिम-चादरों से ढका हुआ था ।[1] लेब्रेडोर हिमानी की मोटाई कम से कम 10,000 फुट थी । यूरोप में बाल्टिक हिमानी की मोटाई भी लेब्रेडोर हिमानी के बराबर ही रही होगी । यद्यपि अभी निश्चित आँकड़े अप्राप्त है किन्तु ऐसी धारणा है कि वर्तमान ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका हिमानियों की मोटाई अधिनूतन कल्प की लेब्रेडोर हिमानी की मोटाई से आधी होगी ।[2]

अधिनूतन हिम-युग मे पृथ्वी का लगभग $\frac{1}{3}$ भाग हिम से आवृत्त था । किन्तु वर्तमान समय मे पृथ्वी के कुल क्षेत्र का $\frac{1}{10}$ भाग ही हिम से ढका हुआ है । इसमे से 50,00,000 वर्ग मील क्षेत्र दक्षिणी ध्रुव प्रदेश और 30,00,000 वर्ग मील क्षेत्र उत्तरी ध्रुव प्रदेश मे स्थित है ।[3]

दक्षिणी ध्रुव महाद्वीप के चारो ओर 200 से 700 मील तक हिमानी का विस्तार है । इसकी मोटाई 4,000 फुट से 10,000 फुट तक पायी जाती है । कई स्थानो पर इस हिमानी की सतह से हिमावृत्त शैल (Nunataks) ऊपर निकले हुए देखे जाते है । यह हिमानी कई स्थानों पर समुद्र-तल से उतर गयी है । रौस सागर (Ross Sea) का दक्षिणी छोर तो हिम-भृगु (Ice-cliff) से ही बना हुआ है । वस्तुत यहाँ अण्टार्कटिका हिम-चादर स्थल के बाहर समुद्र मे आगे निकली हुई है और उसके अन्तिम छोर को इंगित करती है ।

उत्तरी ध्रुव प्रदेश में ग्रीनलैण्ड हिमानी बहुत ही विशाल है । इसने ग्रीनलैण्ड के $\frac{3}{4}$ भाग को घेर रखा है । तटवर्ती भागो को छोड़कर सम्पूर्ण द्वीप हिम से ढका है । यहाँ हिम के नीचे विशाल पठार हैं जो मध्य की ओर क्रमश ऊँचा होता जाता है । यहाँ हिम की मोटाई 2,000 से 7,000 फुट तक आँकी गयी है ।[4] इस विशाल हिमानी की हिम क्रमशः बाहर की ओर खिसक रही है । किनारो के निकट यह हिमानी हिम-विदरो से पूर्ण है । कई स्थानो पर पर्वत-शिखर हिम से बाहर निकले हुए दिखाई देते है । इस विशाल हिम-चादर के किनारो से अनेक घाटी हिमानियों का भी जन्म होता है । कई घाटी हिमानियाँ समुद्र मे प्रवेश कर जाती है जहाँ उनके सिरे टूटकर प्लावी हिम-शैल (Ice bergs) के रूप मे समुद्र मे तैरते रहते है । यहाँ की कई घाटी हिमानियाँ आल्प्स एव अलास्का की घाटी हिमानियो से भी बड़ी है ।

महाद्वीपीय हिमानियों का स्थलाकृति पर प्रभाव (Effect of Continental Glaciers on Topography)—महाद्वीपीय हिमानियाँ अपने नीचे दबे हुए स्थल पर विशाल परिवर्तन कर देती है । ये अपने अपरदन और निक्षेपण-कार्यो द्वारा समूचे प्रभावित स्थल पर विशाल परिवर्तन कर बदलकर नवीन स्थलाकृतियों को जन्म दे देती है । महाद्वीपीय हिमानियों द्वारा किये गये इन परिवर्तनों का स्पष्ट अवलोकन उत्तरी अमरीका मे किया जा सकता है । अधिनूतन हिम-युग मे उत्तरी अमरीका का उत्तरी भाग पूर्णत. हिम से ढका हुआ था । दक्षिण की ओर न्यूयार्क तथा उत्तरी अमरीका का उत्तरी भाग पूर्णत हिम से ढका हुआ था । दक्षिण की ओर न्यूयार्क, उत्तरी पेनसिलवेनिया, न्यू इगलैण्ड और माउण्ट वाशिगटन तक इस हिमावरण का प्रभाव था । इस भू-प्रदेश के हिमावरण के पूर्व की स्थलाकृति उन परिवर्तनों को समझने मे बड़ी सहायक होगी जो कि हिमावरण के प्रभाव से अब उत्पन्न हो गये हैं ।

हिमनदन का पर्वतीय भागों पर प्रभाव—महाद्वीपीय हिमनदन का पर्वतीय स्थलाकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है यह न्यू हेम्पशायर के श्वेत पर्वत एवं वरमोण्ट के ग्रीन पर्वत द्वारा स्पष्ट

---

1 P G Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 262

2 *Ibid.*

3 अलैक्जेण्डर मारशैक : **पृथ्वी और अन्तरिक्ष**, पृ० 67-68

4 S. W Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline of Geomorphology*, p. 333

विदित होता है । हिमनदन के पूर्व यह प्रदेश पूर्ण प्रौढावस्था मे था । इसकी ऊँचाई 6,000 फुट से कहीं भी कम नही थी । इस प्रदेश मे बहुत ही विकसित अपवाह तन्त्र था ।

महाद्वीपीय हिमानी ने इस प्रदेश के पर्वत-शिखरो, नुकीली चोटियो, संकीर्ण पर्वत-श्रेणियों और पर्वत-प्रक्षेपो को घिस डाला । ऊबड-खाबड़ पर्वतो एव पहाड़ियो को घिसकर सुडौल एवं चिकना बना दिया । पहाड़ी ढालो की चट्टानों को साफ, चिकनी और चमकदार बना दिया ।

चित्र 255—हिमानी द्वारा निर्मित भू-आकार

हिमावरण के पूर्व की कुछ घाटियो को गहरा कर दिया और उनके किनारो को घिसकर सपाट बना दिया । कई घाटियाँ अपोढ से भर गयी है जिससे हिमावरण के पूर्व की नदियों के मार्ग बदल गये । हिम द्वारा विभिन्न दूरियो से लाये गये हजारो विशाल गोलाश्म और दूरस्थित शिलाखण्ड पहाड़ी ढालो और घाटी तलो पर बिना किसी क्रम के बिखरे हुए मिलते हैं । सर्वत्र तलस्थल हिमोढ़ों की भरमार देखी जाती है । कही-कहीं पार्श्ववर्ती हिमोढ़ भी मिलते हैं । ककतगिरि (Kames), हिमनद मृदकटक (Eskers), हिमनदोढगिरि (Drumlins) और अवक्षेप मैदान (Outwash plains) आदि रूप यत्र-तत्र देखे जा सकते है ।

यद्यपि स्थलाकृति पर महाद्वीपीय हिमनदन के कुल प्रभाव के सम्बन्ध में भिन्न मत है, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि हिमानी निक्षेप के कारण अनेक निम्न भू-प्रदेश (low lands) अत्यधिक ऊबड़-खाबड़ और असमित बन गये जबकि कई स्थानों पर पर्वतीय ढाल अपरदन अथवा अपोढ के निक्षेपण द्वारा साफ चिकने हो गये । इस प्रदेश के पर्वतों का पार्श्वरूप (profiles) पश्चिमी-उत्तरी अमरीका के अल्पाइन हिमनदित प्रदेश के पर्वतों से नितान्त ही भिन्न है । यहाँ के पर्वत अपेक्षाकृत नीचे, मन्द ढालयुक्त और चिकने तल वाले है ।

ऐसा अनुमान है कि महाद्वीपीय हिमानियों द्वारा न्यू इंगलैण्ड क्षेत्र में अपोढ़ (drift) का जो निक्षेपण हुआ उसकी औसत मोटाई 12 से 15 फुट तक है । घाटियों मे यह मोटाई और भी अधिक है । सामान्यतः उच्च भू-प्रदेशों की अपेक्षा निम्न भू-प्रदेशो में अपोढ का निक्षेपण अधिक मोटा पाया जाता है । इस हिमनदन के कारण एक प्रकार से समूचे प्रदेश का पुनर्यौवन (rejuvenated) हो गया । इस प्रदेश मे स्थित वर्तमान झीले, दलदल एवं युवावस्था की नदियाँ जो कि

हिमानी मलवे अथवा हिमनदित धरातल को काटकर बह रही है, निश्चय ही हिमावरण पूर्व की प्रौढ़ एवं जीर्ण स्थलाकृति के ऊपर अध्यारोपित (super-imposed) हुई है।[1]

हिमनदन का पठारी भागों पर प्रभाव—उत्तरी अमरीका में क्यूबेक का पठार (लारेंशियन पठार) हिमनदन द्वारा परिवर्तित स्थलाकृति का अनुपम उदाहरण है। इस पठारी भाग के 5,00,000 वर्गमील से ऊपर का धरातल सर्वत्र एक जैसा है। हिमावरण के पूर्व इस पठार का ऊपरी तल एक समतलप्राय: मैदान के रूप मे विद्यमान था। उस समतलप्राय मैदान पर यत्र-तत्र मौनैडनॉक फैले हुए थे। इस पठार के नीचे अधिकाशत पूर्व कैम्ब्रियन युग की ग्रेनाइट और कायान्तरित शैलें बिछी है। हिमावरण के पूर्व ये शैलें अवशिष्ट मृत्तिका (residual soil) की मोटी परत से ढकी हुई थी। लेब्रेडोर हिमानी ने इस मिट्टी की परत को हटाकर सभी दिशाओं में दूर-दूर तक फैला दिया। बडी झीलो से लगे हुए राज्यो एव न्यू इगलैण्ड राज्य मे इसका अत्यधिक निक्षेप हुआ। पठार के ऊपर से मिट्टी को हटाने के उपरान्त वर्फ ने इसके तल से सन्धियुक्त शैलों को उखाडकर बडे-बडे गोलाश्मो को अपने मूल स्थान से काफी दूर तक परिवहित कर दिया। क्यूबेक से उखाड़े गये दु स्थित गोलाश्म आज न्यू इगलैण्ड के पहाडी ढालों पर बिखरे हुए देखे जा सकते है। जहाँ कही पठार पर बहुत अधिक खुदाई (quarrying) हुई अथवा जहाँ मिट्टी बहुत गहरी थी वहाँ पठार के तल पर गर्त (depressions) बन गये। इन गर्तो में आज झीलें एवं दलदल बने हुए है, जो पश्चिमी कनाडा के मैदान की तलस्थ हिमोढ की झीलो एव दलदलो से एकदम भिन्न है। यद्यपि इस पठारी भाग मे हिमोढ-निर्मित झीलें भी पायी जाती है, परन्तु यहाँ शिलागर्त झीलो की अधिकता है। वस्तुत इस पठारी भाग से पूर्व हिमानियो ने मिट्टी को इतना अधिक हटा दिया था कि जब अन्तिम हिमानी पिघलने लगी तो उसके साथ हिमोढ़ की रचना के लिए बहुत कम अपोढ थी। फलस्वरूप इस पठार का वर्तमान धरातल अत्यधिक घिसी हुई चट्टानो से बना हुआ है। कहीं कहीं हिमावरण के बाद की मृत्तिका की पतली परत, हिमानी झीलो द्वारा छोडी हुई चीका और हिमानी अपोढ के पतले स्तर देखने को मिलते है। दक्षिणी-पूर्वी क्यूबेक मे अपोढ का निक्षेप काफी मोटा देखा जाता है। यहाँ अवक्षेप मैदान ककतगिरि एव हिमोढ के मिश्रित निक्षेप है।

समुद्र-तल से पठार की वर्तमान ऊँचाई 800 से 2,000 फुट है। पठार के सिरे पर भूमि सामान्यत नीची है। कदाचित ही उसकी ऊँचाई कही 300 फुट से अधिक देखी जाती हो। कुछ स्थानों पर स्थलाकृति बहुत ही असमित (irregular) और ऊबड़-खाबड है। जहाँ कहीं चौड़ा चपटा धरातल है वह हिमावरण पूर्व की प्रौढ एव जीर्ण स्थलाकृति का द्योतक है। इसके विपरीत पठार पर पायी जाने वाली अगणित झीलें और प्रवाहित धाराएँ एव स्थानीय रूप से पायी जाने वाली ऊँची-नीची भूमि सब अध्यारोपित भू-आकृतियाँ है जो युवावस्था की स्थलाकृति के विकास को प्रकट करती है।[2]

हिमनदन का मैदानी भागों पर प्रभाव—अधिनूतन महाद्वीपीय हिमानियों ने उत्तरी अमरीका के भीतरी मैदानों का लगभग 15,00,000 वर्गमील क्षेत्र घेरे रखा था। इस निम्न मैदानी प्रदेश पर बढती हुई हिमानियो ने कोमल चट्टानी क्षेत्रो मे विशाल द्रोणिकाओ (basins) की रचना कर दी। जो नदियाँ हिमानियों के प्रवाह की दिशा में बह रही थी उनकी घाटियो को चौड़ा बना दिया। नीची पहाड़ियो और कटको को नष्ट कर दिया और अधिक कठोर चट्टानों को

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 303
2 *Ibid.* : p. 304

साफ घिस डाला। सामान्यत: हिम के अपरदन कार्य को हिम पिघलने पर बनी अपोढ़ के निक्षेपण ने ढक दिया है किन्तु हिमानियों द्वारा परिवहित एव निक्षेपित अपोढ की मात्रा ही उसके अपरदन कार्य को प्रकट करती है। सयुक्त राज्य अमरीका एव कनाडा की झीले (Great Lakes) मैदानी भाग पर हिम के अपरदन कार्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। समस्त हिमनदित क्षेत्र मे बिखरी हुई सैकडों अन्य छोटी-छोटी झीले भी पूर्ण अथवा आंशिक रूप में हिम की अपरदन शक्ति को ही इगित करती है। फिर भी मैदानी भाग पर पायी जाने वाली हिम अपरदित झीलो की संख्या हिमानी अपोढ़ के निक्षेपण द्वारा बनी झीलों की तुलना मे बहुत ही कम है।

अपोढ़ क्षेत्रों की स्थलाकृति
(Topography of Drift Areas)

महाद्वीपीय हिमानियो द्वारा निक्षेपित अपोढ के कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न प्रकार के भू-आकारों का जन्म होता है। इनमे से कई भू-आकार अल्पाइन हिमानियो के निक्षेपण से बने भू-आकारो के सदृश ही है परन्तु वे अधिक बड़े पैमाने पर पाये जाते है।

उत्तरी अमरीका के मध्यवर्ती एव उत्तरी भाग के ऊपर महाद्वीपीय हिमानियाँ चार बार आगे बढी और पीछे हटी। इस तरह यूरोप में चार विशिष्ट हिम युग माने गये है। इन हिम-युगों मे अन्तिम हिमावरण द्वारा निक्षेपित अपोढ को इतना कम समय हुआ है कि अनेक स्थानो पर उसके द्वारा धरातल पर बहुत कम परिवर्तन हुए है। फिर भी जहाँ कही अपोढ का थोडा-बहुत निक्षेपण हुआ है वहाँ अल्प अपवाह (pooı drainage), युवा घाटियाँ, कम ऊँचे टीले, हिमोढ की मोटी पट्टियाँ, हिमनदोढ-गिरियाँ, असमित कंकतगिरियाँ, हिमनद मृदकटक, केटली झीलें और टेकरियाँ (Kettles and Hummocks) तथा हजारों अन्य झीले एव दलदल पाये जाते है। पूर्व हिमानियो द्वारा निर्मित अपोढ़ के वे क्षेत्र जिन पर बाद के हिमावरण और उसकी अपोढ़ का कोई प्रभाव नही हुआ, उनका गहरा अपक्षय हुआ है। इन क्षेत्रो की स्थलाकृति बाद के अपोढ़ क्षेत्रों की स्थलाकृति से सर्वथा भिन्न है।
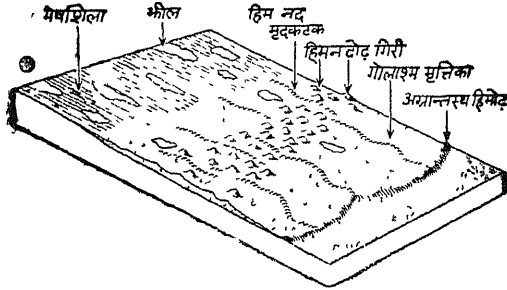
चित्र 256—हिमनदित क्षेत्र

हिमानियो द्वारा निक्षेपित अपोढ की मोटाई विभिन्न स्थानो पर भिन्न है। यह भिन्नता कुछ तो पूर्व-हिमकालीन घाटियो के भरने से और कुछ हिमानी के विभिन्न भागों मे विभिन्न मात्रा में मलवे के परिवहित किये जाने से पायी जाती है। कुछ स्थानो पर अपोढ़ की मोटाई 1,000 फुट तक देखी जाती है परन्तु अधिकाश भागो मे इसकी मोटाई 300 फुट है। यदि हिमावरण के पूर्व की स्थलाकृति को ध्यान मे न रखें तो वर्तमान धरातल की रूपरेखा हिमोढ के निक्षेप की मोटाई द्वारा ही निश्चित होती है। किन्तु सामान्यत. हिमावरण के पूर्व के उच्च प्रदेशों की तुलना मे हिमावरण के पूर्व के निम्न प्रदेशो पर ही अपोढ का अधिक निक्षेपण हुआ है। इस प्रकार कुछ अवस्थाओ मे अपोढ के निक्षेपण मे वर्तमान भूमि हिमावरण के प्रथम कल्प के पूर्व की अपेक्षा अधिक नम (unıfoım) बन गयी है।

(2) **हिम-टोपियाँ** (Ice Caps)—हिम-टोपियो से तात्पर्य एक बड़े हिमावरण से है। किन्तु इस सम्बन्ध मे विभिन्न लेखको के भिन्न मत है। कुछ लेखकों के अनुसार महाद्वीपीय हिमानियाँ ही हिम-टोपियाँ है, जबकि कुछ लेखक इस मत से सहमत नही है। **वोरसेस्टर** ने ऐसे पर्वत प्रदेश को,

जो हिमाच्छादित होता है और जिससे कई घाटी हिमानियाँ निकलकर विभिन्न दिशाओ मे बहती है, हिम-टोपियाँ कहा है। हिमावरण के ऐसे क्षेत्र में कई जगह पर्वत-शिखर निकले हुए दिखाई पड़ते है। ये क्षेत्र हिम के विशाल चौड़े चपटे प्रदेश होते है जो बहुत ही मन्द गति से आगे बढ़ते है। इनका केन्द्र तो लगभग स्थिर-सा रहता है। चूंकि हिम टोपी से हिम का बढ़ना बहुत मन्द गति से होता है इसलिए उसकी सतह पर 'हिम विदर' (crevasses) की रचना बहुत कम होती है। जिस प्रकार घाटी हिमानियो मे चट्टानी मलवे (Rock debris) की प्रचुरता देखी जाती है, वह हिम-टोपियो पर बहुत कम देखी जाती है। हिम-टोपियो पर जो कुछ भी मलवा एकत्रित होता है वह हिम के नीचे दबा रहता है।

हिम-टोपियो के द्वारा भी भूमि का अपरदन होता है जिससे कई स्थानों पर हिम-अपरदित मैदान (Ice-scoured plain) बन जाते है। फिनलैण्ड, नॉर्वे, स्वीडन एव कनाडा मे ऐसे मैदान देखे जाते है। जहाँ हिम-टोपी द्वारा निक्षेप हुआ है वहाँ भी चौरस मैदान पाये जाते है।

हिम-टोपियो के समुचित ज्ञान के लिए सन् 1891 मे सेण्ट एलियास पर्वत के अभियान के समय **रसल** द्वारा किया गया हिम-टोपियो के विवरण का अश यहाँ देना बहुत उपयुक्त होगा। उसने निम्न शब्दो मे वर्णन किया है :[1].

"What met my astonished gaze was a vast snow-covered region, limitless in expanse, through which hundreds and perhaps thousands of barren angular mountain peaks projected There was not a stream, not a lake, and not a vestige of vegetation of any kind in sight. A more desolate or more utterly lifeless land one never beheld. Vast, smooth snow surfaces, without crevasses, stre-tched away to limitless distance, broken by jugged and angular mountain peaks."

(3) **पर्वतपदीय हिमानियाँ** (Piedmont Glaciers)—पर्वतपदीय हिमानियों का तात्पर्य पर्वतों के पदों में पायी जाने वाली हिमानियो से है। जो कोई घाटी हिमानी पर्वत-खण्डो से बहने के उपरान्त पर्वत के आगे की कम ढालू मैदानी भूमि पर फैल जाती है तो वह पर्वतपदीय हिमानी बन जाती है। किसी अग्रभूमि प्रदेश पर अनेक घाटी हिमानियो के मिल जाने से भी इनकी रचना हो जाती है। बनावट की दृष्टि से ये हिमानियाँ घाटी-हिमानी और हिम-चादर के बीच की होती है। ऐसी पर्वतपदीय हिमानियाँ अलास्का में अधिक मिलती है। सम्भवत. **माला-स्पीना** हिमानी यहाँ की सबसे बडी पर्वतपदीय हिमानी है जो 1,500 वर्गमील भूमि पर फैली हुई है। आयरलैण्ड की **वेटनाजोकुल**, अण्टार्कटिका मे दक्षिणी विक्टोरिया की वटरपोइण्ट व विलसनपोइण्ट, अलास्का की बेरिंग हिमानी तथा ग्रीनलैण्ड के पश्चिमी किनारे की फ्रेड्रिकशाब हिमानी अन्य प्रसिद्ध पर्वत-पदीय हिमानियाँ है। अलास्का में कई हिमानियाँ इतनी मोटी और इतनी अधिक फैली हुई है कि वे गतिहीन-सी लगती हैं। इनके हिमोढ पर वृक्ष उगे हुए पाये जाते है।

वर्तमान समय मे पर्वतपदीय हिमानियों की रचना असामान्य बात हो गयी है, क्योंकि शीतोष्ण कटिबन्धीय पर्वत-श्रेणियो की कई घाटी हिमानियाँ सिकुड़कर पीछे हट गयी है। चतुर्थ कल्प के हिम-युग मे निश्चय ही ये हिमानियाँ काफी फैली हुई रही होंगी। सम्भवत. **बवेरियन अग्रभूमि**, पिरेनीज के निकट **लेनीमिजान** और इटली में लम्बार्डी का मैदान, किसी समय पर्वतपदीय हिमानियों से घिरे हुए थे।

(4) **घाटी हिमानियाँ** (Valley Glaciers)—ऊँचे पर्वतीय क्षेत्रो में जब हिमराशि की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है तो ऊपर के भार, ढाल तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण यह

---

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 282

हिम चलने लगता है। इसी चलती हुई हिमधारा को पर्वतीय या घाटी हिमनदी या हिमानी कहते हैं। इनको अल्पाइन हिमनदी (Alpine Glacier) भी कहते हैं। ये पर्वतीय घाटियों में होकर जीभ की भाँति आगे बढ़ती हैं। ये हिमनदियाँ 'नेवे' के नीचे उतरने से बनती हैं और ज्यों-ज्यों ये बढ़ती हैं तुषारपात द्वारा इनका विस्तार बढ़ता जाता है। हिम अवधाव (avalanches) और वायु द्वारा उड़ाकर लायी हुई बर्फ भी इनकी मात्रा को बढ़ाती रहती है। घाटी की बनावट और आकृति के अनुसार इसका रूप व आकार बदलता रहता है। पर्वतीय हिमनदियाँ साधारणतः अधिक विरतृत नहीं होतीं। इनका विस्तार 2-3 मील से अधिक नहीं होता किन्तु कुछ पर्वतीय हिमनदियाँ बड़ी विस्तृत होती हैं। साधारणतः ध्रुवीय प्रदेशों की हिमनदियाँ छोटी होती हैं। आल्प्स पर्वत की हिमनदियाँ अधिकांशतः 2 मील से कम लम्बी हैं परन्तु कुछ तो 3 से 5 मील तक लम्बी पायी जाती हैं। आल्प्स की एलेश हिमनदी (Aletsch glacier) लगभग 10 मील लम्बी है और यह यूरोप की सबसे बड़ी हिमनदी मानी जाती है। आल्प्स की अधिकांश हिमनदियाँ 800 से 1,200 फुट मोटी हैं।

पिरेनीज, कारपेथियन और नॉर्वे की ऊँची चोटियों पर भी हिमनदियों की अधिकता है। कॉकेशस, हिमालय, कराकोरम, पामीर तथा एशिया के अन्य पर्वत शिखरों पर भी पर्वतीय हिमनदियाँ पायी जाती हैं। यहाँ की हिमनदियाँ 20 से 40 मील लम्बी और 3,000 फुट मोटी होती
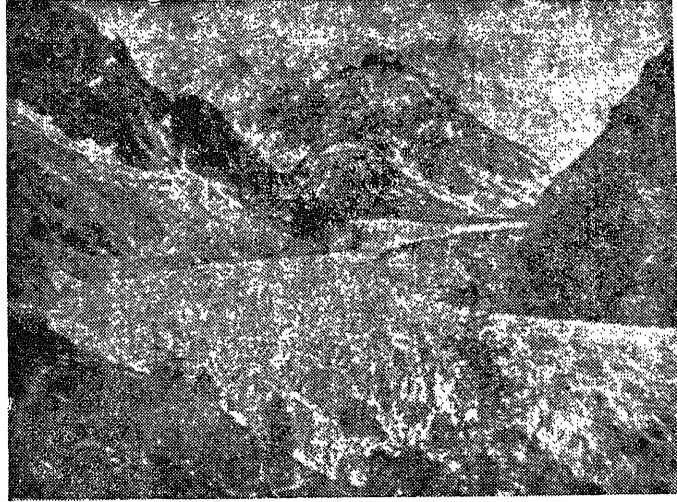
चित्र 257—आल्प्स की मेर डी ग्लेस हिमानी

हैं। पामीर पठार पर संसार भर में सबसे बड़ी हिमनदी फैड्चैको (Fedchecho) 44 मील से भी अधिक लम्बी है। हिमालय पर्वत की कुछ हिमनदियाँ तो 2-3 मील ही लम्बी हैं किन्तु कुछ बहुत ही बड़ी हैं, जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट होगा।

हिमालय की हिमानियों की लम्बाई[1]

(अ) सिक्किम हिमालय

1. जम्मू	16 मील
2. किंचिनजंगा	10 मील

[1] D. N. Wadia : *Geology of India*, p. 16

(ब) कश्मीर हिमालय

1. रूनदून	12 मील
2. रीयों	25 मील

(स) कुमायूँ हिमालय

1. मीलम	12 मील
2. केदारनाथ	9 मील
3. गगोत्री	16 मील

(द) कराकोरम हिमालय

1. बियाफो	39 मील
2. बालतोरो	36 मील
3. सियाचेन	45 मील
4 बाटूरा	36 मील
5 हिस्पार	38 मील
6. गासिर ब्रूम	24 मील
7 चोगोलुग्मा	24 मील

संयुक्त राज्य अमरीका और मेक्सिको मे हिमनदियाँ केवल ऊँचे ज्वालामुखी पर्वतो की चोटियो पर ही मिलती है—यथा वाशिगटन मे 'रेनियर' (Rainier), बेकर (Baker), ग्लेशियर पीक (Glacier Peak), ओरगन मे हूड़ (Hood), केलीफोर्निया मे शस्टा (Shasta) और मेक्सिको मे पोपोकैटापेटल और इक्स्टाकहुटल (Ixtacahutal) है। ब्रिटिश कोलम्बिया में साधारण लम्बाई की कई हिमनदियाँ मिलती है। अलास्का मे विश्व की सबसे बड़ी हिमनदी हुबार्ड (Hubbard) है जो 80 मील लम्बी है।

एण्डीज पर्वत, अफ्रीका और न्यूजीलैण्ड की पहाड़ियों की घाटियों मे भी पर्वतीय हिमनदियाँ बहती है।

पर्वतीय हिमानियों की मुख्य विशेषताएँ निम्न है .

(1) वे घाटियों में बहती है। ये घाटियाँ हिमानियो के पूर्व की जलधाराओ द्वारा बनायी गयी है।

(2) घाटियो की हिमानियो का विस्तार भी भिन्न-भिन्न होता है। यह विस्तार कई बातों पर निर्भर करता है—जैसे हिमक्षेत्र मे प्राप्त होने वाली हिम, वायु के तापमान और सूर्य की गर्मी आदि।

(3) इन हिमानियों में बर्फ की मोटाई सबसे अधिक मध्य में होती है, जहाँ घाटी की गहराई भी अधिक होती है। किनारो पर हिमानियाँ बहुत छोटी और पतली होती है।

(4) पर्वतीय हिमनदी पहाड़ों से उतरकर घाटियो मे ही रुक जाती है। घाटी में ये कई मील नीचे आ जाती है, किन्तु सभी क्षेत्रों मे इनके उतरने की सीमा एकसी नहीं है। सिक्किम की हिमनदियाँ कभी 13,000 फुट से नीचे नहीं उतरती किन्तु कश्मीर की हिमनदियाँ तो 8,000 फुट और कुमायूँ की 12,000 फुट नीचे उतरकर ही पिघलना आरम्भ कर देती हैं। कई क्षेत्रों में हिमनदियो द्वारा सचित मोरेन 7,000 फुट की ऊँचाई पर भी देखने को मिलता है। एण्डीज पर्वतों पर हिमनदियाँ 9,000 फुट, आल्प्स मे 5,000 फुट, नॉर्वे मे 12,000 फुट, न्यूजीलैण्ड में 650 फुट और दक्षिणी अलास्का मे तो समुद्र-तल पर ही उतरकर पिघलने लग जाती है।[1]

---

1 L. D. Stamp : *Physical Geography and Geology*, p. 304

जब किसी देश की हिमनदी बहते-बहते समुद्र तक पहुँच जाती है तो समुद्र की लहरो से टूटकर उसके कुछ भाग समुद्र मे तैरने लगते है। इस प्रकार तैरते हुए हिम के बड़े-बड़े टुकडों को हिम-शैल (Ice-berg) कहते है। हिमनदी से टूटा हुआ हिम-शैल आकार मे टेढा-मेढा होता है किन्तु हिम आवरण के कटने से उत्पन्न हिम-शैल चतुर्भुजाकार होता है और उसका ऊपरी भाग सपाट, मेज के तख्ते के समान होता है। इस प्रकार के हिम-शैल मुख्यतः अण्टार्कटिका प्रदेश मे मिलते है। इन हिम-शैलो का प्रधान स्रोत ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका के हिम आवरण ही है। ग्रीनलैण्ड की ओर से आने वाले हिम-शैल हिमनदियों से छूटकर आते है और लैब्रेडोर की ठण्डी धारा इनको न्यूफाउण्डलैण्ड तक बहा लाती है। ये हिम-शैल सैकड़ों गज लम्बे होते है और जल की सतह से दो-तीन सौ फुट ऊपर तक उठे रहते है। इनका यह विस्तार सदैव एकसा नही रहता। बहते-बहते कुछ भाग पिघल जाता है, कुछ लहरो द्वारा कटकर अलग हो जाता है और कुछ अश अपक्षय की शक्तियो द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

पर्वतीय हिमनदियों के प्रकार

रूप व आकार के आधार पर पर्वतीय हिमनदियो को निम्न प्रकार का कहा जा सकता है :

(1) **चट्टान खण्ड हिमनदी** (Cliff or Cornice Glacier)—पर्वतीय घाटियो में बहने वाली हिमनदी का रूप स्थल-रूप के अनुसार बनता है। विविध प्रकार के शिलाखण्डो व पर्वत-श्रेणियों पर बहने वाली हिमनदियाँ कभी तो वृत्ताकार होती है और कभी अर्द्ध-चन्द्राकार। कभी-कभी इनका स्वरूप सीधी रेखा के समान सीधा और कभी अनियमित और अव्यवस्थित होता है।

(2) **प्रपात पूर्ण हिमनदी** (Cascade Glacier)—जब घाटी मे बहती हुई हिमनदी चट्टान के ऊपर या किसी शिलाखण्ड पर आकर इस प्रकार रुक जाती है कि उसकी जमी हुई बर्फ एक प्रपात के रूप में स्खलित हो जाती है तो उसे प्रपातपूर्ण हिमनदी कहते है। इस प्रकार की हिमनदियाँ उन प्रदेशों मे अधिक पायी जाती है जहाँ ऋतु प्रहार के कारण कुछ घाटियाँ कम गहरी और कुछ अधिक गहरी होती है। परिणामस्वरूप पर्वत के बीच से काटी हुई घाटी के दाये और बाये किनारों पर स्थित शिलाखण्डों पर बहकर जब हिमनदी घाटी के समीप पहुँचती है तो उसकी हिम प्रपात के रूप मे गिरने लगती है।

(3) **फिर से बनी हुई हिमनदी** (Recemented or Reconstructed Glacier)—जब कोई हिमनदी पर्वतीय प्रदेश में बहते-बहते किसी चट्टान खण्ड पर पहुँचती है और वही समाप्त हो जाती है तो उसमें से बड़े-बड़े हिम-खण्ड टूटकर नीचे गिरकर बिखर जाते हैं और वहाँ पुनः एकत्रित होकर या मिलकर एक नयी हिमानी बना लेते हैं। इस प्रकार से बनी हिमानी को दुबारा या फिर से बनी हुई हिमानी कहते है।

(4) **गर्त हिमनदी** (Trough Glacier)—कुछ हिमनदियाँ पूर्णत विकसित होकर हिम आवरण का रूप नहीं ग्रहण कर पाती, वरन् वे बहती हुई निचले सपाट जल-विभाजक तक पहुँच जाती है। जल-विभाजक के सिरे पर पहुँचने पर विपरीत दिशा मे एक दूसरी हिमनदी बहने लगती है। इस प्रकार की सिरों वाली हिमनदी को गर्त हिमनदी कहते हैं। यह एक सिरे से दूसरे सिरे तक बराबर बहती रहती है।

(5) **चट्टानी हिमनदी** (Rock Glacier)—यदि किसी प्रवाहित हिमनदी की सतह पर नुकीले चट्टान के टुकड़े पड़े हों तो ऐसी हिमानी को चट्टानी हिमनदी कहते है। इस प्रकार की हिमनदियाँ अलास्का में बहुत पायी जाती है।

विस्तार के आधार पर पर्वतीय हिमनदियों को निम्न प्रकारों में विभाजित किया जाता है :

(1) **वृक्ष रूप हिमनदी** (Dendritic Glacier)—इस प्रकार की हिमनदी में मुख्य प्रवाह

तो बहुत विस्तृत नही होता, किन्तु इसके इधर-उधर घाटी के दोनों किनारो से सहायक हिमनदियाँ आकर मिलती रहती है, जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि हिमनदी की मुख्य घाटी तो पेड का तना है और उसके दोनों किनारो मे लटकती हुई हिमनदी की शाखाएँ है। उच्च अक्षाशो मे वृक्ष-सम हिम नदी कटे-फटे तटों पर से होकर जब समुद्र-तल पर बह आती है तो उस पर जल की धाराओं के आघात होने लगते है। अत इस प्रकार की हिमनदी को ज्वार-भाटा हिमनदी (Tidal Glacier) कहते है। परन्तु यह वास्तव मे वृक्ष-सम हिमनदी का ही एक रूप है।

वृक्ष-रूप हिमनदी की प्रथम अवस्था वह होती है, जब शाखाएँ पूर्ण विकसित नही होती। ऐसी अवस्था हिमालय के बालतारो हिमनदी में देखी जा सकती है। अन्तिम अवस्था वह होती है जब सहायक हिमनदी और लटकती हुई घाटियाँ पूर्णतया विकसित होती है। न्यूजीलैण्ड की तस्मान हिमनदी इसी अन्तिम दशा की द्योतक है।

(2) **फैलती हुई हिमनदियाँ** (Radiating Glaciers)—इस प्रकार की हिमनदियो की रूप-व्यवस्था मे मुख्य हिमनदी तो पर्वत की दीवार मे स्थित रगशाला (amphitheatre) की तरह की गुफा मे स्थित रहती है और उससे निकलने वाली छोटी-छोटी हिमनदियाँ इधर-उधर फैली रहती है। ये नीचे की ओर प्रवाहित होती है और एक बिन्दु पर मिल जाती है। इनकी आकृति स्त्रियो के पखे मे तीलियो के समान ज्ञात होने लगती है। ऐसी हिमनदियाँ आल्प्स प्रदेश मे पायी जाती है।

(3) **नालाकार या अर्द्ध-चन्द्राकार हिमनदियाँ** (Horse Shoe Type Glaciers)—इस प्रकार की हिमनदियो मे छोटी-छोटी हिमनदियो का अग्रभाग अन्दर को मुड़ा रहता है और ये उस बड़ी हिमनदी के अवशेष-मात्र होती है जो हिमागार की दीवार से चिपकी रहती हैं। ऐसी हिमनदियाँ कनाडा और सयुक्त राज्य के पर्वतीय भागो मे पायी जाती है।

(4) **पूर्व प्राप्त बेसिन की हिमनदियाँ** (Inherited Basin Glaciers)—वे हिमनदियाँ होती है जो पहले से बनी घाटी मे हिम-प्रवाह द्वारा बन जाती है।

(5) **प्रसारपूर्ण हिमनदी** (Expanded Food Type Glacier)—इस प्रकार की हिमनदी का आकार मनुष्य के फैलाये हुए पैर की तरह होता है। इसमें बर्फ की मात्रा इतनी अधिक होती है कि न केवल घाटी ही पूर्णतः भरी होती है, वरन् उसके अग्र-प्रदेश में भी इसका प्रवाह होने लगता है। यह प्रवाह इतना अधिक होता है कि एक अलग हिमनदी बन जाती है। अलास्का की टोकू हिमनदी इसका मुख्य उदाहरण है।

हिमानी के ऊपरी तल के रूप
(Surface Features of the Glacier)

हिमानी का ऊपरी तल सदैव एक जैसा नही रहता। जाड़े के दिनों में जब हिमानी मे हिम की मात्रा अधिक होती है तो उनका ऊपरी तल चिकना होता है, परन्तु ग्रीष्म मे सब कुछ बदल जाता है। ग्रीष्म मे हिम के ऊपर दरार, सेरक्स, बर्ग-श्रुण्ड, धूल के कुएँ और धाराएँ आदि कई रूप दृष्टिगोचर होने लगते है। यही कारण है कि खोजकर्ताओं के लिए ग्रीष्म मे बड़े हिमनदों की यात्रा करना कठिन ही नही प्रायः असम्भव होता है। जाड़ों में जब यात्रा करना सरल होता है तो हिमानी के सब रूप लुप्त हो जाते है।

हिम दरारें
(Crevasses)

यदि हिमानी की घाटी सर्वत्र एक जैसी चौड़ी और चौरस हो तो हिमानी की ऊपरी सतह लगभग सपाट होगी। किन्तु हिमानी की घाटियो का तल एक सा नही होता। बहुधा घाटी की हिमानियों को ऊँचे-नीचे ढालों पर होकर चलना पड़ता है। घाटियों के मार्ग भी बड़े टेढ़े-मेढ़े होते

हैं। अतः हिमानियों के स्थूल और कड़े हिम को भी घाटियों के असमान और झुकावदार धरातल पर लुढ़कना पड़ता है और साथ ही मुड़ाव के साथ मुड़ना और घूमना पड़ता है। घाटी में हिमानी के घूमने और मुड़ने से उसकी तली और दोनों पार्श्वों में खिंचाव पड़ता है। फलस्वरूप हिम की

चित्र—258 रोन हिमनद और उसकी दरारें

रवेदार ठोस प्रकृति के कारण हिमानियों की ऊपरी सतह पर विभिन्न चौड़ाई एवं गहराई की हिम-दरारें (Crevasses) पड़ जाती हैं। ये दरारें अपनी रचना के अनुसार तीन प्रकार की होती हैं :

(1) **समान्तर हिम-दरार** (Longitudinal Crevasses)—जब हिमानी में पड़ी दरारें उसके बहाव के समान्तर होती हैं तो उन्हें **समान्तर हिम-दरार** कहते हैं। जब कोई हिमानी सँकरी घाटी से चौड़ी घाटी में प्रवेश करती है तो वहाँ खुली जगह मिलने से हिमानी अपने किनारों की ओर फैलती है जिससे हिमानी की लम्बाई में समान्तर दरारें बन जाती हैं।

(2) **आड़ी हिम-दरार** (Transverse Crevasses)—**जब किसी हिमानी के प्रवाह मार्ग**

का तल अधिक ढाल हो जाता है तो हिमानी के आरपार चौडाई में दरारे बन जाती है, जिन्हे **आड़ी हिम-दरार** कहते है ।

(3) **सीमान्त हिम-दरार** (Marginal Crevasses)—ये हिमानियो के किनारों पर बनती है । नदियों के समान हिमनदियो मे भी मध्यवर्ती भाग मे प्रवाह गति तेज होती है किनारों एवं तली पर घर्षण के कारण गत्यारोध उत्पन्न हो जाता है जिससे गति मन्द रहती है । मध्य मे अधिक गति होने से तनाव उत्पन्न होता है, जिससे सीमान्त हिम-दरारे बन जाती है ।

हिमानियो की दरारे हिमानी के आगे बढने पर पुनः अदृश्य हो जाती है । दबाव के बढ़ जाने से भी ये दरारे भर जाती हैं । किन्तु हिमानी के ऊपरी धरातल पर दरारों के चिह्न बने रहते है । सूर्य की किरणे हिम-दरारो के ऊपरी कोनों को पिघलाकर सुडौल बना देती है । पिघला हुआ जल इन दरारो मे पुन जम जाता है जिससे ये दरारें सँकरी हाती जाती है । हिमानी के समतल स्थान पर पहुँचने पर दरारे लगभग बन्द हो जाती है । कई बार ये दरारे हिम-पुलों से ढक जाती है जो हल्के से भार से नष्ट हो सकती है । ऐसी अदृश्य दरारे बड़ी भयानक होती है ।

हिमानियो के प्रवाहित हिम का टूटना उसकी अनेक विशेषताओ मे से एक है जो हिमानी को एक नदी से भिन्न सिद्ध करती है । सामान्यत. हिमानी में दरारे घाटी के विस्तार में परिवर्तन, ढाल मे परिवर्तन, विभिन्न भागो मे चाल की भिन्नता तथा पार्श्विक खिचाव के कारण बनती हैं । सपाट और चिकने ढाल वाली हिमानियो पर कभी दरारे नही बनती ।

सिरेक्स (Seracs)—प्राय अत्यधिक हिम-विदरित और मोटी हिमानी के निचले भाग मे उसके ऊपरी तल का स्वरूप बडा जटिल हो जाता है । यहाँ कई हिम-विदर एक-दूसरे को काटते हुए बने होते है, जिससे हिमानी का तल विषम हो जाता है । हिमानी-तल हिम-शिखर, अनियमित हिम-श्रेणियों और घाटियो का समूह बन जाता है । यहाँ कई हिम-शिखर असमान नुकीली शिखरिकाओ (Pinnacles) के रूप मे देखी जाती है । इन हिम शिखरकाओ को ही फ्रासीसी भाषा मे सिरेक्स कहा जाता है ।

बर्गश्रुण्ड (Bergschrund)—घाटी हिमानी के शीर्ष भाग मे हिम का ऊपरी भाग हिम-क्षेत्र से हट जाता है । फलस्वरूप वहाँ एक विशाल असमान हिम-विदर उत्पन्न हो जाता है । इस विशाल हिम-विदर को ही बर्गश्रुण्ड कहते है । जाडे के दिनो मे यह हिम-विदर (Bergschrund) हिम से बन्द रहता है किन्तु ग्रीष्म मे हिम पिघलने से यह पुन खुल जाता है ।
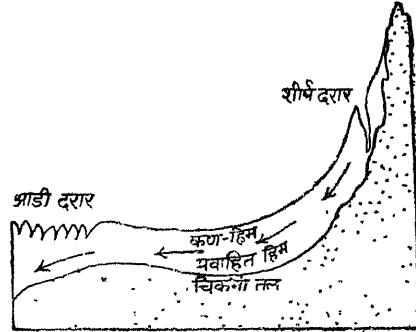
चित्र 259—बर्गश्रुण्ड

धूल के कूप (Dust Wells)—हिमानी के ऊपर जहाँ कही पत्थर या शिला चूर्ण पड़ा होता है, वह सूर्य से शीघ्र ताप ग्रहण कर लेता है । उनके गरम होने से उनके नीचे की बर्फ पिघलने लगती है । फलस्वरूप वहाँ बेलनाकार छिद्र बन जाते है । इन छिद्रो को धूल के कूप कहते है । ये कुछ इचो से लेकर कई फुट बडे होते है । कभी-कभी लम्बवत हिम-विदर के सहारे हिमानी की तली मे छोटे किन्तु गहरे कूप बन जाते है ।

हिमानी पट्ट (Glacial Table)—जब कभी हिमानी के ऊपर बड़े शिलाखण्ड अवस्थित रहते हैं तो वे अपने नीचे की बर्फ को पिघलने से रोकते है । वे एक प्रकार से टोपी का कार्य करते है । किन्तु जब चारों ओर की बर्फ पिघल जाती है तो वे शिलाखण्ड निकटवर्ती बर्फ की सामान्य सतह से हिम-पट्ट (Ice-pedestals) के रूप में ऊँचे उठे रहते है । इन हिम-पट्टों को ही हिमानी

पट्ट (Glacial Table) कहा जाता है। अन्ततोगत्वा जब हिम-पट्ट पिघल जाते हैं तो शिलाखण्ड भी गिर जाते हैं।

ढाल (Slope)—विभिन्न हिमानियों के ऊपरी तल के ढाल में बड़ी भिन्नता देखी जाती है। पर्वत-शिखरों से निकलने वाली कुछ छोटी हिमानियों का ढाल 25° से 30° तक होता है। स्थानीय रूप से प्रपाती हिमानियाँ और भी अधिक ढालू होती हैं। स्विट्‌जरलैण्ड और अलास्का की कई लम्बी हिमानियों का नीचे की ओर ढाल 100 प्रति फुट मील पाया गया है।

चित्र 260—हिमानी पट्ट

अपवाह (Drainage)—ग्रीष्मकाल में तापमान के बढ़ जाने के कारण हिमानी की ऊपरी सतह पिघलने लगती है। फलस्वरूप पिघला हुआ हिम जल हिमानी की सतह पर ढाल के अनुकूल होने पर धाराओं के रूप में बहने लगता है। ये धाराएँ या तो हिमानी के दोनों किनारों के पास बहती हैं या हिम-विदरों में गिरकर लुप्त हो जाती हैं। हिम-विदरों में जाकर धाराओं का जल पुनः जम जाता है। कई स्थानों पर हिमानी के ऊपर हिमोढ़ जमा हो जाने से छोटी-छोटी झीलें बन जाती हैं। कई बार हिमानी के ऊपर बहने वाली धाराएँ अपने साथ कंकड़, पत्थर व गोलाश्म आदि को प्रवाहित करती हैं। कई स्थानों पर इन पदार्थों के भँवरदार कार्य से हिम में बेलनाकार गर्त बन जाते हैं। इन गर्तों को **हिमानी भँवर** (Moulines) कहा जाता है। ऐसे गर्त कभी-कभी हिमानी तल की चट्टानों तक पहुँच जाते हैं और उन पर भी जलगर्तिका के चिह्न (pot-hole marks) बन जाते हैं। कभी-कभी ये गर्त हिमानी में बनी कन्दराओं में विलीन हो जाते हैं।

हिम के पिघलने से बनी वे धाराएँ जो हिमानी के ऊपर तल पर बहती हैं, **ऊर्ध्व हिम-धाराएँ** (Super glacial streams) कहलाती हैं। किन्तु कई धाराएँ हिमानी के नीचे कन्दराओं में बहती हैं। ऐसी धाराओं को **अधो हिम-धाराएँ** (Sub glacial streams) कहा जाता है। ये जल-धाराएँ कन्दराओं में होकर हिमानी के अगले भाग में नीचे से बाहर प्रकट होती हैं। ये धाराएँ अपने साथ प्रचुर मात्रा में अपोढ़ एवं घुलित पदार्थ बहाकर लाती हैं। कई बार घुलित पदार्थों से धाराओं का जल दूधिया (milky) हो जाता है। अतः हिमानी के नीचे से निकलने वाली धारा से प्रवाहित ऐसे जल को **हिमानी दूध** (Glacial milk) कहते हैं।

सतही अपोढ़ (Surface Debris)—प्रायः बड़ी घाटी हिमानियाँ अपने साथ बड़े परिमाण में हिमोढ़ को बहा ले जाती हैं। यह हिमोढ़ अधिकांशतः हिमानी के किनारों के निकट या उसके ऊपर स्थित रहता है। हिमानी के मुहाने के समीप बर्फ पिघलने के कारण अधिकांश हिमोढ़ हिमानी की सतही धाराओं के द्वारा हिमानी के ऊपर फैला दिया जाता है। अलास्का में कई हिमानियों के निचले भाग का लगभग एक वर्गमील क्षेत्र पूर्णतः हिमोढ़ की परत से ढका हुआ पाया जाता है।

घाटी हिमानी का अनुप्रस्थ-खण्ड चित्र

सामान्यतः यह कहा जाता है कि हिमनदी की घाटियाँ यू-आकार की होती हैं। इस

चित्र 261—एक आदर्श यू-आकार की घाटी—निलम्बी घाटियों सहित

कथन का हेत्वाभास (fallacy) इस बात में निहित है कि हम हिमानी की धारा (channel) की नदी की घाटी (valley) से तुलना करते हैं। किन्तु वास्तव में हिमानियों और नदियों दोनों की धाराएँ (channels) यू-आकार की होती हैं। लेकिन नदियाँ घाटी के अनुप्रस्थ-खण्ड का बहुत थोड़ा-सा भाग घेरती हैं, जबकि हिमानियाँ सम्पूर्ण घाटी को घेर लेती हैं। अतः हिमानी की धारा ही प्रभावशाली रूप बन जाता है।

जैसा कि उपरोक्त विवरण से विदित होगा हिमानियाँ स्वयं किसी नवीन घाटी की रचना नहीं करती। हिमानियाँ केवल हिमावरण के पूर्व नदियों द्वारा निर्मित V-आकार की घाटियो को परिवर्तित एवं परिवर्द्धित करती है। हिमानी की अपरदन क्रिया से V-आकार की घाटी घिसकर U-आकार की बन जाती है। इस प्रकार उसका अनुप्रस्थ-खण्ड चित्र भी बदल जाता है। साधारणत. एक हिम घाटी का अनुप्रस्थ-खण्ड रूप गहरे एव चौरस गर्त (trough) के समान होता है। हिम के अनवरत घिसाव से घाटी मे निकले हुए पर्वत प्रक्षेप (spur) नष्ट हो जाते है, जिससे घाटी चौड़ी हो जाती है और किनारे चिकने और खडे ढाल वाले बन जाते है। घाटी हिमानी के मुख्य गर्त (main trough) के दोनों किनारो के ऊपरी भाग मे मंच या स्कन्ध (bench or shoulder) होते है जो गर्त के ओष्ठ और ऊँचे शिखरों के बीच के ढालो के मध्य स्थित है। सहायक हिमानियाँ स्कन्ध से होकर सामान्य ढाल पर
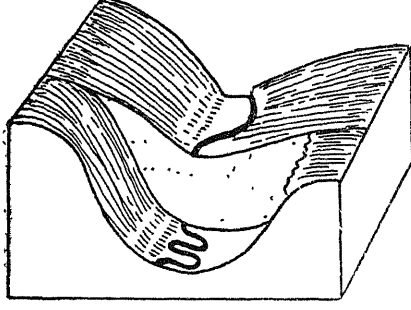
चित्र 262—यू-आकार की घाटी का आड़ा ढाल खण्ड
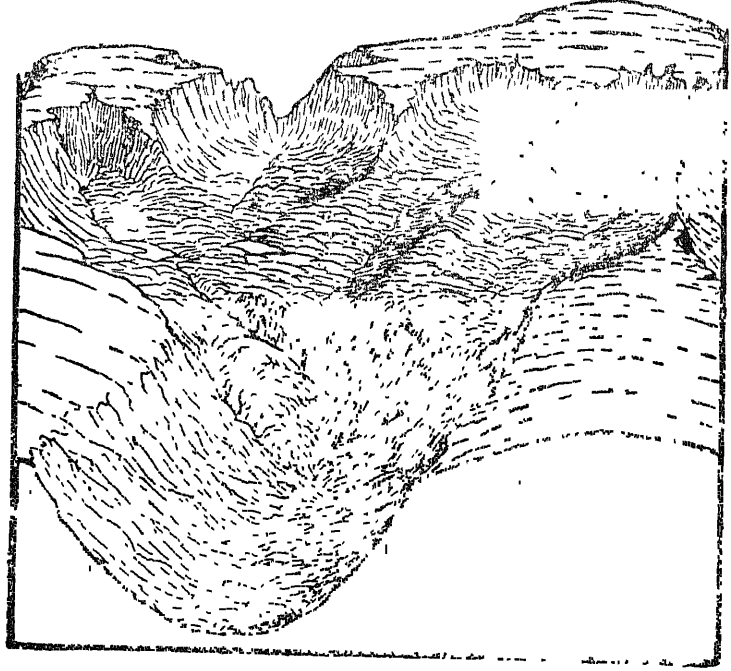
चित्र 263—घाटी गर्त का अन्त (Trough end)

नीचे उतरती हैं किन्तु अन्तिम छोर पर ये मुख्य गर्त मे ऊपर से गिरती हैं। मुख्य हिमानी की सहायिकाओं के बीच पहाड़ी सिरे और प्रक्षेप प्राय: त्रिकोणात्मक फलकित (faceted) होते है। घाटी-तल और नीचे के पार्श्व भी हिम के प्रभाव से चिकने और चमकदार होते हैं। इस प्रकार हिम-निर्मित घाटियाँ गहरी एवं चौड़ी होती है और आकार मे अँग्रेजी के U-अक्षर के समान प्रतीत होती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका की योसोमाइट की घाटी हिम-निर्मित घाटी का सर्वोत्तम उदाहरण है।

हिमनदी घाटियो की रचना के सम्बन्ध मे हिमानी अपरदन मे विश्वास करने वालो का मत है कि ये घाटियाँ पूर्णत. हिमानी के अपरदन के फलस्वरूप बनी है। **टिण्डाल** (Tyndal) इस मत का प्रमुख समर्थक है। उसकी मान्यता है कि इन घाटियों की रचना मे जल का कोई विशेष हाथ नही है। किन्तु विद्वानो का एक वर्ग ऐसा भी है जो यह मानता है कि इन घाटियो की रचना हिमानी अपरदन द्वारा नही अपितु नदियो द्वारा हिमकाल के पूर्व अथवा अन्तर-हिमकाल (Inter-Glacial peiiod) मे हुई है। वे ये भी मानते है कि इन घाटियो को अन्तिम रूप देने अर्थात् उन्हे गहरा और चौडा करने मे बाद मे हिम का भी योग रहा। कुछ हिम-घाटियाँ अपने शीर्ष पर तीव्र ढाल के साथ समाप्त हो जाती है जिसे घाटी गर्त का अन्त (Trough end) कहते है। हिमानी घाटियो में इन घाटी-गर्तो के ऊपर कभी एक स्कन्ध और कभी-कभी कई स्कन्ध पाये जाते है। आल्प्स पर्वत की कई हिमानियो मे एक से अधिक स्कन्ध मिलते है जो वर्तमान घाटी-तल से काफी ऊँचाई तक फैले हुए देखे जाते है। ऐसी दशा मे घाटी के ढाल यह स्पष्ट इगित करते है कि ये ढाल सामान्यतः मिश्रित ढाल है और इनका विकास नदी के सामान्य अपरदन के साथ बीच-बीच मे हिमानी द्वारा भी हुआ है।

घाटी हिमानी का लम्बवत खण्ड-चित्र
(The Long Profile of Valley Glacier)

हिमनदित घाटी का लम्बात्मक ढाल-खण्ड कुछ ऐसे विचित्र भू-रूपो को प्रकट करता है जो हिम प्रभाव सम्बन्धी दोनो विचारधाराओ के वैज्ञानिको के लिए समस्या पैदा करते है। एक विशिष्ट हिमनदित घाटी का लम्ब ढाल खण्ड बडा ही अनियमित और सीढीवत होता है। घाटी में ऐसी वृहद सीढियाँ प्राय. वास्तविक गर्त (true tiough) के सिरे के निकट पायी जाती है। ऐसे विशिष्ट गर्त छोर (Trough's end) स्विट्जरलैण्ड के आल्प्स पर्वत की लाउटरब्रुनेन (Lauterbrunnen) और जरमट्ट (Zermatt) हिमानियों की घाटियो मे बहुत ही स्पष्ट रूप से देखे जाते है। घाटी के नीचे अनेक छोटे आकार की सीढियाँ भी बहुत मिलती है। गारवुड ने सिसीनो (Ticino) हिमानी की सहायक वाल मेसोको (Val Mesocco) की घाटी में ऐसी तीन सीढियों का उदाहरण दिया है। ये क्रमश: 300, 500 और 800 फुट ऊँची है। इनकी ऊँचाई घाटी के ऊपर की ओर बढती जाती है। ऐसी सीढियाँ या तो वस्तुतः भृगुएँ हैं या वे केवल तीव्र ढाल-मात्र है। वर्तमान धाराओं ने इन सीढियो से नीचे उतरते हुए प्राय· गार्ज का निर्माण किया है। प्रत्यागमन के समय धाराओ ने गार्ज के सिरे को कुछ दूरी तक सीढी के ऊपर भी खींच लिया होगा।
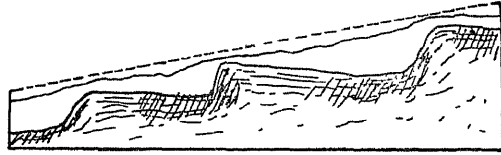
चित्र 264—यू-आकार की घाटी का लम्बवत खण्ड

हिमनदित घाटी के सीढीनुमा ढाल के सम्बन्ध मे हिम अपरदन के मतावलम्बियों का विश्वास है कि यह हिम के असमान अपरदन का परिणाम है। चट्टानो की कठोरता में भिन्नता भी असमान अपरदन को प्रभावित करती है। फिर हिमानी का अपरदन कार्य हिम की मोटाई और उसके आयतन पर भी निर्भर है। अतः हम सहज ही यह विश्वास कर सकते हैं कि जहाँ दो हिमानियाँ मिलती हो वहाँ संगमस्थल के नीचे हिम का अपरदन कार्य निश्चय ही अधिक होगा। ऐसा विशेषत. उस दशा मे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जबकि सम्मिलित हिमानियों का पार्श्व-चित्र उसकी सहायक हिमानियो की तुलना मे बहुत बड़ा होता है। कई बार जो गर्त छोर (Trough's end) आकस्मिक रूप से अत्यधिक गहरे बन जाते हैं वे इस बात के द्योतक है कि यहाँ कई हिमानियाँ ऊँचे भागों से आकर मिली है।

हिम अपरदन के एक प्रमुख मतावलम्बी ने अपने मत की पुष्टि निम्न कथन द्वारा की है जो विचार करने पर असगत प्रतीत नही होती । उसका कथन है कि "If it were once proved that glacie s erode their troughs........some inequality of erosion was as likely as in the erosion of a channel by a river "[1]

हिमनदित घाटी के सीढ़ीनुमा ढाल के सम्बन्ध मे हिम-सरक्षण के मतावलम्बियों ने अपना भिन्न मत प्रस्तुत किया है । उनके मतानुसार एक हिमकाल मे कई बार हिम का अग्रगमन (advances) और प्रत्यागमन (retreats) हुआ था । अत. हिमानी की घाटी मे कोई भी सीढी अन्तर-हिमाकाल (inter-glacial period) मे हिम के प्रत्यागमन की सीमा को प्रकट करती है । इस सीमा के नीचे जल द्वारा अपरदन-कार्य प्रारम्भ हो जायगा और हिम की सीमा तक घाटी गहरी हो जायगी । हिम के पुन आगे बढने के काल मे सीढी हिम से ढक जायगी और हिम अपरदन द्वारा घाटी के चौडे होने तक वह सुरक्षित बनी रहेगी । जहाँ हिम-घाटी मे कई सीढियाँ पायी जाती है वहाँ इस मत के अनुसार कई बार हिम का अग्रगमन और प्रत्यागमन होना आवश्यक है । गारवुड ने मेसोको हिम-घाटी (Mesocco valley) मे सीढियो की ऊँचाई और उनके अन्तर को आल्प्स पर्वत की हिम घटनाओ के क्रम से सम्बन्धित बताया है । फिर इस प्रदेश की कई घाटियों मे जो सीढियाँ पायी जाती है वे सब समुद्र-तल से एकसी ऊँचाई पर मिलती है । यह इस मत को पुष्ट करने वाला बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य है ।

हिम-घाटी की सीढियो की रचना को स्पष्ट करने के लिए हिम-अपरदन और हिम-संरक्षण दोनों ही मतावलम्बियो के अपने विचार सत्य है । किन्तु जब हमारे सामने दोनों ही प्रकार के पुष्ट प्रमाण है तो ऐसी दशा मे किसी एक मत को मान लेना उचित नही लगता है ।

हिमानी के कार्य
(Work of Glaciers)

अनाच्छादन के अन्य साधनों की भाँति हिमानियाँ भी धरातल के अपरदन, अपरदित पदार्थो के परिवहन तथा उनके निक्षेप का कार्य करती है । हिमानियो के इन तीनो कार्यो का जो प्रभाव धरातल पर होता है उसको हिमनदन (glaciation) कहते है ।

19वीं शताब्दी मे हिमानी की अपरदन शक्ति और उसके कार्यो के सम्बन्ध में बड़ा विवाद चला । इसके कार्यो के सम्बन्ध मे मुख्यतः तीन विचारधाराएँ है :

(1) **प्रतिरक्षात्मक विचारधारा** (Protectionist School)—इस विचारधारा के प्रवर्तक **हीम** (Heim) है । इन्होने सन् 1885 में यह मत प्रतिपादित किया कि हिमानियाँ अधिकतर भूमि की रक्षा करती है । इनके द्वारा अपरदन बहुत ही कम होता है । हिमानियाँ अपने मार्ग में स्थित बाधाओं को किसी प्रकार नष्ट नही कर सकतीं । ये केवल उन्हे ढक लेती है । इनकी तली में स्थित हिमोढ मे भी घर्षण की सीमित शक्ति होती है । इस विचारधारा के मतावलम्बियों का कहना है कि हिमनदी की तुलना मोम से की जा सकती है । जिस प्रकार मोम की रेती मे यदि हीरे के कण भी लगे हों, परन्तु वह इस्पात को काटने में असमर्थ रहेगी । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिमनदियाँ चट्टानों को थोड़ा-बहुत घिस अवश्य सकती है किन्तु उन्हें काट नही सकती ।

(2) **अपरदनात्मक विचारधारा** (Erosionist School)—इस विचारधारा के प्रतिपादक **हेस** (Hess) हैं । इन्होंने सन् 1904 मे यह मत प्रकट किया कि हिमानियाँ उतना ही अपरदन-कार्य करती है जितना कि नदियाँ । इनके अनुसार हिमानी की तली के हिमोढ आगे बढने के साथ-साथ तली को घिसते चलते है और अपने मार्ग में विशाल परिवर्तन कर देते है । जब तली

---

[1] S. W. Woolridge and R. S. Morgan : *The Physical Basis of Geography*, p. 343

ये गोल बन जाते है। इन शिलाखण्डो की घर्षण-क्रिया से विचित्र रूप तथा आकार बन जाते है। हिम घर्षण के इस कार्य की हीरे-जवाहरात का काम करने वाले कारीगरो के कार्य से तुलना की जा सकती है। हिमानी के क्षय-कार्य की निम्न विशेषताएँ होती है :

(1) हिमानी के अपरदन-कार्य की गति नदियो द्वारा किये गये कार्य से कम होती है, क्योकि हिमानी की चाल धीमी होती है। इसकी मोटाई बहुत होती है तथा विभिन्न चट्टानों पर इसका प्रभाव विभिन्न प्रकार से पड़ता है।

(2) हिमानी का निचला भाग तलहटी से रगड नही खाता, वरन् कुछ उठा रहता है।

(3) धरातल की ऊँचाई, नीचाई तथा ढाल-परिवर्तन के अनुसार हिमानी की गति, मोटाई और काट-छाँट करने की शक्ति अलग-अलग होती है। तीव्र ढाल पर हिमानी की चाल तेज और मोटाई कम हो जाती है तथा तलहटी के साथ इसका सम्पर्क टूट जाता है।

फ्रांसीसी भूगोलशास्त्री **प्रो० डी मोरटोन** (De Moitounc) ने हिमानी द्वारा किये जाने वाले अपरदन-कार्य की व्याख्या इस प्रकार की है—"यदि हिमनदी का ढाल असमान हो (जैसा कि प्राय. होता ही है) तो तलहटी की सबसे अधिक काट-छाँट हिमनदी मे हिम-विदरो (crevasses) के ऊपर-नीचे होती है।" अर्थात ढाल मे ज्योही परिवर्तन होगा, हिम-विदर बन जायेंगे और अपरदन की तीव्रता इनसे ऊपर और नीचे सबसे अधिक होगी, किन्तु अपरदन-क्रिया धीरे-धीरे घटती जाती है और हिमनदी के अग्रभाग मे जाकर बिलकुल ही कम हो जाती है।

हिमानियो द्वारा अपरदन-कार्य निम्न बातो पर निर्भर होता है .

(1) हिमानियो की मोटाई,

(2) हिमानियो द्वारा परिवहित चट्टानी पदार्थ की मात्रा,

(3) हिमानियो का वेग, तथा

(4) हिमानियो के तल की शैलों की बनावट।

(1) **हिमानियों की मोटाई**—हिमानियो द्वारा किये जाने वाले अपरदन मे हिम की मोटाई का विशेष प्रभाव होता है। हिमानियो मे हिम की मोटाई जितनी अधिक होती है अपरदन भी उसी अनुपात में अधिक होता है। हिम की कमी होने पर कभी-कभी हिमानी कोई अपरदन नहीं करती।

(2) **हिमानियों के चट्टानी पदार्थ की मात्रा**—हिम के चुनने की क्रिया एव पाले की क्रिया से हिमानी मे बड़ी मात्रा में चट्टानी पदार्थ जमा हो जाते है। ये पदार्थ ही हिमानी के अपरदन यन्त्र हैं। इनके घर्षण से हिमानी के किनारों की शैले घिसती और टूटती हैं। घर्षण के कारण तली की शैले चिकनी, चमकदार एव सपाट हो जाती है। उनके ऊपर रेखांक या खरोंचे (striae or lining) पड़ जाती है। घाटी मे हिमानी का यह अपरदन कार्य वहाँ अधिक होता है जहाँ चट्टानी पदार्थ अधिक जमा रहते है। इनके अभाव में अपरदन-कार्य प्रभावशाली नही हो पाता।

(3) **हिमानियो का वेग**—हिमानी की अपरदन शक्ति उसके वेग पर भी आधारित है। यह उनकी गति के घन के अनुसार बदलती रहती है। अत. तीव्र गति से प्रवाहित हिमानियाँ मन्द गति से बहने वाली हिमानियों की तुलना में अधिक अपरदन करती है। धरातल का तीव्र ढाल भी इसमे सहायक होता है।

(4) **तलहटी की शैलों की बनावट**—हिमानी के अपरदन-कार्य पर घाटी तल की शिलाओ की रचना का गहरा प्रभाव होता है। सामान्यत: कठोर शैलों की तुलना में कोमल शैले शीघ्र कट जाती है। अत जब घाटी मे कठोर शैले आ जाती है तो उससे शृंग बनने लगते है किन्तु कोमल चट्टाने होने पर घाटी गहरी हो जाती है और उसमे कई चट्टानी बेसिन तथा झीले बन जाती है। तलीय शैलो मे जब सन्धियाँ पास-पास होती है तो वे शीघ्र कटती है जिससे अपरदन-कार्य अधिक होता है।

हिमानी अपरदन द्वारा बने यू-आकार

यू-आकार की घाटी—हिमानी निर्मित घाटी को 'यू' आकार की घाटी कहा जाता है। पर्वतीय भागों मे घाटी हिमानियाँ जिन घाटियो में होकर प्रवाहित होती है उनके तल सपाट तथा चौरस होते हैं। इनके पार्श्ववर्ती किनारे तीव्र समानान्तर और उन्नतोदर ढाल वाले होते हैं। हिमानियों की ये घाटियाँ अंग्रेजी के U अक्षर से मिलती-जुलती होती है। इसीलिए हिमानी निर्मित घाटियों को यू-आकार की घाटियाँ कहा जाता है।

वस्तुतः नदियों की भाँति हिम नदियो में किसी नवीन घाटी बनाने की शक्ति नही होती किन्तु जब कभी वे हिमावरण के पूर्व नदियों द्वारा निर्मित घाटियों में होकर बहती हैं तो वे पुरानी घाटियों को काटकर तथा घिसकर उनका रूप बदल देती है। साधारणतः हिम नदियो द्वारा घिसाव की तीव्रता तल की अपेक्षा किनारों पर अधिक होती है जिससे घाटी मे निकले हुए पर्वत प्रक्षेप (spur) नष्ट हो जाते हैं और किनारे चिकने व खड़े ढाल वाले बन जाते है। इस प्रकार हिमानियों द्वारा निर्मित घाटियाँ गहरी एव चौड़ी और आकार में यू-आकार के समान प्रतीत होती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि हिमनदी घाटी का अनुप्रस्थ परिच्छेदिका (cross section) कभी पूर्ण रूप से U आकार की नही होती। बहुधा इन U आकार की घाटियों के दोनों ओर सहायक निलम्बी घाटियाँ (hanging valleys) ऊपर लटकी रहती हैं। कभी-कभी घाटी के किनारे सोपानाकार (steplike) भी बन जाते हैं। प्रायः यू-आकार की घाटियाँ उन प्रदेशों में विशेष रूप से पायी जाती है जहाँ हिम नदियाँ नदी घाटियों में होकर बह चुकी होती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका की योसोमाइट की घाटी हिमानी-निर्मित अथवा U आकार की घाटी का सर्वोत्तम उदाहरण है।

चित्र 265—यू-आकार की घाटी

गिरिशृंग (Horn)—जब किसी पर्वत के चारों ओर समान ऊँचाई पर कई हिमगह्वर बन
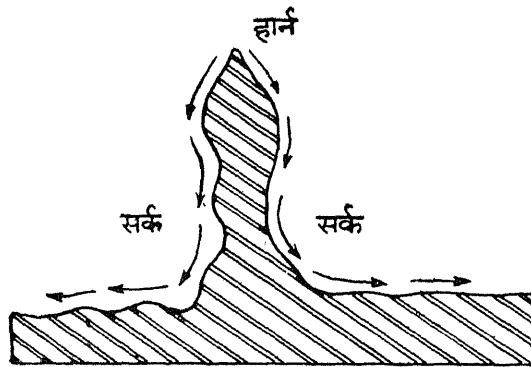
चित्र 266—गिरि शृंग

जाते है तो वे अपनी शीर्ष की दीवार को तीव्रता से काटते हैं। फलस्वरूप इनके मध्य में एक ठोस

पिरामिड की आकृति की चोटी बन जाती है। पर्वत-शिखर के इस चोटीनुमा रूप को ही शृंग (horn) कहा जाता है। स्विट्जरलैण्ड में आल्प्स पर्वत-श्रेणी का मैटरहार्न (Matterhorn) तथा जुंगफ्रा (Jungfran) शृंग इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। भारत में हिमाचल के अन्दर भी ऐसे शृंग पाये जाते हैं।

कंघीनुमा श्रेणी (Comb ridge)—जब किसी पर्वत-श्रेणी के विपरीत ढालों पर हिमानियों द्वारा कई हिमगह्वर बन जाते हैं तो श्रेणी का रूप कंघीनुमा हो जाता है। ऐसी कंघीनुमा श्रेणी के ऊपरी भाग में जब अपरदन अधिक हो जाता है तो तेज धार वाली नुकीली कटकों की रचना होती है। किन्तु नुकीली कटकों को **एरिटे** (Arete) अथवा **ग्राट** (Grats) कहा जाता है।

कोल (Col)—किसी पर्वत के विपरीत ढालों पर बने हिमगह्वर जब अनवरत अभिशीर्ष अपदरन करते हैं तो उनके मध्य की दीवार धीरे-धीरे कटकर नष्ट हो जाती है। परिणामस्वरूप उनके बीच में एक छिद्र बन जाता है जो क्रमशः बड़ा होता जाता है। पर्वतीय श्रेणी के आर-पार बने ऐसे छिद्र को ही कोल कहा जाता है। इसकी आकृति प्रायः घोड़े की काठी के समान प्रतीत होती है। केनेडियन पैसिफिक रेलमार्ग रॉकीज पर्वत-श्रेणी को ऐसे ही कोल या दर्रे से होकर पार करती है।

हिमगह्वर (Cirque)—जब ऊँचे पर्वतीय भागों में हिम फिसलकर नीचे आती है वह
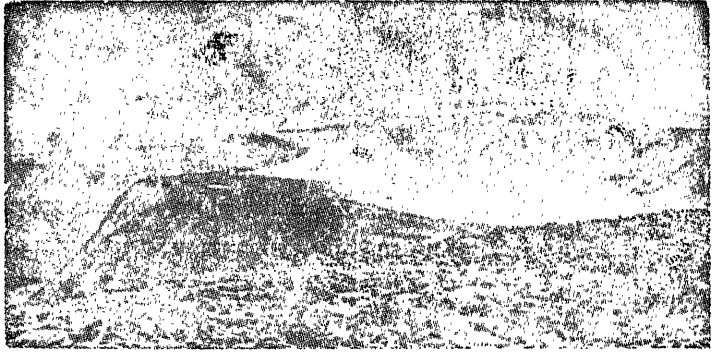
चित्र 267—हिमगह्वर

ढालों पर गड्ढे बना देती है। धीरे-धीरे ये गड्ढे हिमखोदाव (Nivation) की क्रिया से काफी चौड़े तथा गहरे हो जाते हैं। पर्वतीय ढालों पर बने ऐसे विशाल गर्तों को ही हिमगह्वर कहा जाता है।[1] इसकी आकृति कटोरे की भाँति होती है। दूर से देखने पर यह अर्द्ध-गोल रंगमंच (amphi-theatre) के सदृश प्रतीत होता है। यह हिमानी अपरदन का एक विशिष्ट रूप (feature) है। **गिलबर्ट** ने सियरानिवेदा शिखर का वर्णन करते हुए बताया है कि पर्वत शिखर के पार्श्व इस भाँति सीधे कटे हुए थे जैसे उसे विशाल आरी से काटा हो। हिमगह्वर की दीवारें बिलकुल खड़ी थीं। इन हिमगह्वरों का तल कभी-कभी बहुत ही चिकना और चमकदार होता है। इन गर्तों में झील पात्रों (lake basins) का पाया जाना भी सम्भव होता है जो 100 फुट या उससे भी गहरे होते

1 इन हिमगह्वरों (cirques) को स्काटलैण्ड में **कोरी** (Corrie), जर्मनी में **कारेन** (Karen), वेल्स में **स्विम** (Cwm), नॉर्वे में **बोटन** (Botn), पिरेनीज में **ओल** (Oule), कारपेथियन में **जनोगा** (Zanoga) और फ्रांस में **सर्क** (Cirque) कहते हैं।

है। इन हिमगह्वरों का क्षेत्रफल अपने हिम-क्षेत्रों के विस्तार के अनुसार कम-ज्यादा होता है। ये कुछ वर्गमील से लेकर कई वर्गमील क्षेत्र के होते है। प्राय: हिमगह्वरों को अपरदित ज्वालामुखी क्रेटर समझ लेने की भूल हो जाती है। किन्तु ध्यानपूर्वक देखने से हिम अपरदन के स्पष्ट चिह्न चट्टानों पर दिखाई पड़ जाते हैं। जब इन गर्तों मे हिम नहीं होता तो पर्वतीय ढाल पर ये आराम-कुर्सी की भाँति दिखाई देते है। पर्वतों से निकलने वाली घाटी-हिमानियों की उत्पत्ति इन हिमगह्वरों से ही होती है।

हिमगह्वर हिमनदन द्वारा विकसित एक विशिष्ट भू-रूप है। इसका निर्माण एक विवादास्पद विषय है। यद्यपि यह सही है कि अनेक हिमगह्वर घाटी-शीर्ष (valley head) का परिवर्तित रूप ही है, परन्तु कई हिमगह्वर ऐसे स्थानों पर स्थित हैं जहाँ एकसे पहाडी ढालों की अनवरतता यकायक भंग हो जाती है। ऐसे हिमगह्वर केवल घाटी-शीर्ष के विस्तार के फलस्वरूप नही बन सकते। निश्चय ही इनकी रचना मे अन्य तत्त्वों का योग है। **गारवुड** की मान्यता है कि हिम संरक्षण (glacial protection) के द्वारा इनकी रचना हुई होगी। उसके अनुसार कई हिमगह्वर अन्तर-हिमकाल और हिमकाल के पश्चात भी हिम के द्वारा सुरक्षित रहे जबकि इनके ऊपरी और नीचे के ढाल पाले, जल के अपरदन और मृत्तिका सर्पण द्वारा कट रहे थे। आज भी कई हिमगह्वरों में वर्ष भर हिम बना रहता है।

इसके विपरीत, **जॉनसन** ने हिमगह्वर की रचना के लिए **बर्गश्रुण्ड सिद्धान्त** का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार हिमगह्वर का निर्माण हिमानी शीर्ष के निकट एक बड़े हिम-विदर—जिसको बर्गश्रुण्ड कहा जाता है—के स्थान पर होता है। हिम-विदर के निकट चट्टानी दीवार का एक बड़ा क्षेत्र पाले से प्रभावित होता है। दिन में हिम के पिघलने से यह दीवार भीगती है और रात्रि में पानी के जमने से यह विदीर्ण होती है। इस प्रकार दीवार के सामने के विशाल शिलाखण्ड टूट पड़ते है। ये टूटे हुए शिलाखण्ड हिम-विदर के सम्मुख बर्फ में गिर पड़ते हैं। इनको हिम धीरे-धीरे आगे हटा देता है। हिमगह्वर से निकलने वाली हिमानी के साथ जब ये नुकीले रोड़े बहते है तो वे तल पर चट्टानी गर्त (nock basins) बना देते हैं। इस प्रकार हिम खोदाव (glacial-sapping) की क्रिया से हिमगह्वर बड़े होते जाते है।

इसा बोडमैन ने सन् 1916 में बर्गश्रुण्ड सिद्धान्त के सम्बन्ध में कई आपत्तियाँ प्रस्तुत कर इस सिद्धान्त को अमान्य कर दिया। उसके अनुसार कई हिमगह्वर ऐसे स्थानों पर पाये गये हैं जहाँ बर्गश्रुण्ड नही था और हिमगह्वर काफी ऊँचाई पर स्थित थे। उसका कहना है कि बर्गश्रुण्ड सभी दिशाओं में बनते भी नहीं है। इन्ही आपत्तियों को ध्यान में रखकर सन् 1941 मे **लेविस** ने इस सिद्धान्त में संशोधन किया। लेविस की मान्यता है कि हिमगह्वर की उत्पत्ति में हिम का पिघला हुआ जल ही महत्त्व रखता है। पिघला हुआ जल शीर्ष-भित्ति से होकर नीचे प्रवेश कर जाता है और चट्टानों को रासायनिक क्रिया द्वारा नष्ट करता रहता है।

लटकती घाटियाँ (Hanging Valleys)—उच्च पर्वतीय भागों मे हिम अपरदन के फलस्वरूप जो भू-रूप विकसित होते हैं उनमें लटकती घाटियाँ भी एक मुख्य रूप हैं। हिम के गम्भीर अपरदन में विश्वास रखने वाले विद्वानों का मत है कि लटकती घाटियाँ मुख्य हिमनदी और उसकी सहायक हिमनदियों के बीच अपरदन की भिन्नता का प्रतिफल है।[1] यों हिम के ऊपरी तल (Ice-surface) पर सभी हिमनदियाँ समान दिखाई पड़ती है, किन्तु मुख्य हिमनदी अपनी घाटी को

---

1 "The hanging valleys are the consequence of differential over deepening as between the main glacier and its less voluminous and active affluents."
—*S. W. Woolridge* and *R. S. Morgan.*

सहायक घाटी की हिमनदियो की अपेक्षा अधिक गहरा कर देती है। फलस्वरूप मुख्य हिमनदी और सहायक हिमनदियो के घाटी-तल मे बड़ा अन्तर पैदा हो जाता है। इनके संगम-स्थलों पर तीव्र ढाल उत्पन्न हो जाता है। अत: जब इन घाटियो से हिम पिघल जाता है तो सहायक हिम-घाटियाँ मुख्य हिमनदी की घाटी मे लटकती हुई प्रतीत होती है। हिम के प्रभाव से मुक्त होने पर लटकती घाटियों के स्थान पर जल-प्रपात बन जाते हैं। ऐसी लटकती घाटियों के सर्वोत्तम उदाहरण केलिफोर्निया के सियरानिवेदा पर्वत की योसोमाइट घाटी मे देखे जाते है।

लटकती घाटियो की रचना के सम्बन्ध मे हिम-संरक्षण के मतावलम्बियो का भिन्न मत है। उनके अनुसार इन घाटियों की रचना अन्तर-हिमकाल (inter-glacial period) मे हुई थी। उनकी मान्यता है कि इस काल मे मुख्य हिमनदी की घाटी कम ऊँचाई पर होने से उसका हिम पिघल गया, जिससे घाटी का सामान्य जल द्वारा अपरदन होता रहा। किन्तु सहायक हिमनदियाँ काफी ऊँचाई पर थीं जिससे वे दीर्घकाल तक हिम से ढकी रही और उन पर सामान्य जल-अपरदन का प्रभाव नही हो सका। इस मत की पुष्टि इस बात से की जाती है कि एक मुख्य घाटी की सभी सहायक घाटियाँ एकसी ऊँचाई पर नहीं पायी जातीं।

चित्र 268—**लटकती घाटी**

कुछ घाटियाँ बहुत ही ऊँची एवं प्रपाती देखी जाती है और कुछ बहुत नीची और खड़ा ढाल लिये हुए होती है। अत. यह माना जाता है कि ऐसी सहायक घाटियो में हिम नही रही होगी जिससे उन पर जल-अपरदन का प्रभाव अधिक हुआ होगा। सामान्यत: जो सहायक घाटियाँ उत्तर या पूर्व को मुँह रखती है—अर्थात जिन ढालों पर सूर्य का प्रभाव नही होता—वे प्राय: प्रपाती होती है, जबकि विपरीत ढालो की घाटियाँ अधिक ऊँची नहीं होतीं। सेण्ट गोथार्ड दर्रे के समीप रयूस (Reuss) घाटी की सहायक घाटियाँ इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

हिम सोपान (Glacial Stairway)—हिम अपरदन के कारण बने स्थल रूपों में हिम सोपान बड़ा ही मनोहारी एवं आश्चर्य मे डालने वाला स्थल रूप है। इसका निर्माण हिमनदियों की घाटियों मे विशाल सीढ़ियों के रूप मे होता है। ये सीढ़ियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं कि जैसे इनकी रचना दैत्यो के प्रयोग के लिए की गयी हो। इसी कारण इनको **दैत्याकार सोपान** (Giant Stairways or Cyclopean Stairs) कहा जाता है। इन सोपानों की लम्बाई कुछ मीटर से लेकर कई किलोमीटर तक होती है। प्रत्येक सोपान एक लम्बवत भृगु (vertical cliff) द्वारा एक-दूसरे से अलग होते हैं। इनके अलग करने वाले भृगु की ऊँचाई 30 मीटर से लेकर 300 मीटर तक देखी जाती है। इन सोपानों की रचना कई प्रकार से होती है। जब किसी हिमनदी घाटी मे भ्रंश के कारण कई कगारों (scraps) की उत्पत्ति हो जाती है तो उनसे होकर गुजरती हुई हिमानी अपघर्षण और उत्पाटन द्वारा सोपानों का निर्माण कर देती है। उत्पाटन की क्रिया कगार के पद (foot) के समीप होती है जिससे वहाँ लम्बवत भृगु बन जाते है। हिम सोपानों की रचना घाटी मे स्थित चट्टानों की संरचना और सगठन में भिन्नता के कारण भी होती है। हिमगह्वर से निकलकर जब हिमानी अपनी घाटी मे आगे बढ़ती है तो वह मार्ग मे स्थित कोमल एवं सन्धियों वाली चट्टानों

को उत्पाटन की क्रिया से शीघ्र काट देती है। इससे हिमानी के मार्ग मे ढाल प्रवणता (slope gradient) में भिन्नता आ जाती है। फलस्वरूप शनैः-शनैः अपरदन के कारण घाटी के अन्दर कई सोपान बन जाते है। ऐसे सभी सोपानो में भृगु के समीप गहरे शिलागर्त (rock basins) स्थित होते है। जब हिम पिघल जाती है तो हिम सोपानों पर बने शिलागर्त झीलों मे बदल जाते है। ऐसी झीलों को **पेटरनास्टर झीलें** (Paternoster Lakes) कहा जाता है। प्रत्येक सोपान पर बनी ये झीले मोतियों की लड़ी जैसी प्रतीत होती है। केलिफोर्निया की योसोमाइट घाटी में भीम सोपान एवं पेटरनोस्टर झीलो का अच्छा विकास पाया जाता है।

चित्र 269—हिम सोपान

हिमनदी घाटी मे झीलों की रचना के सम्बन्ध मे अलग-अलग मत है। आल्प्स की कुछ झीले तो सम्भवतः चूना-पत्थर के घुल जाने से बनी हैं। किन्तु कई जगह ये झीले स्फटिक शिलाओ में भी पायी जाती है। वहाँ इन झीलो की रचना चट्टानो मे उपस्थित सन्धियो मे हिम के प्रभाव के कारण ही हुई होगी। **रैमसे** (Ramsay) के समर्थक बड़ी झीलों की रचना को घाटी मे एकत्रित हिम द्वारा तली के विशेष अपरदन का परिणाम मानते हैं। कुछ विद्वान इनकी उत्पत्ति पर्वतपदीय हिमानियों द्वारा मानते है। कुछ लोग इन्हें विवर्तनिक प्रभाव (tectonic influence) का फल मानते हैं।[1]

रॉश मूटोने (Roche Moutonuee)—जब हिमानी अपनी घाटी में आगे बढती है तो वह मार्ग में पड़ने वाले पहाड़ी टीलों एवं कठोर शैल-खण्डों को काट-पीटकर एवं घिसकर छोटे तथा चिकने बना देती है। इस प्रकार घाटी तल में स्थित ऊबड़-खाबड़ चट्टाने हिम के घर्षण द्वारा घिसकर चिकने, चौरस एवं सपाट टीलों में बदल जाती हैं। ये टीले दूर से देखने पर भेड़ की पीठ की तरह दिखाई पडते है। अतः **सीसर** ने इन टीलों को **भेड़-पीठ शैल** (Sheep rocks) अर्थात **रॉश मूटोने** नाम दिया। फ्रासीसी भाषा मे रॉश मूटोने का अर्थ भेड़ के आकार की शैल होता है। आल्प्स पर्वत की डोलोमाइट शैलों के घिस जाने से हिम-घाटियों में ऐसे गोलाकार टीले पाये जाते है। कैनेडियन शील्ड एवं फिनलैण्ड में भी ऐसे पहाडी टीलो की रचना देखी जाती है।

भेड़-पीठ शैले कई आकार-प्रकार की होती है। इनमे कुछ लम्बी और अण्डाकार और कुछ अर्द्ध-चन्द्राकार एवं गुब्बारे की भाँति गोल होती है। इनका अभिमुख ढाल (Windward) तो चिकना होता है किन्तु प्रवाह-विमुख ढाल टूटा-फूटा और ऊबड़-खाबड़ बना रहता है, क्योकि हिमनदी की तली का धरातल से पूर्ण सम्पर्क नहीं रह पाता। इस प्रकार शिलाओं का दृश्य विभिन्न दिशाओं से अलग-अलग दिखाई देता है। यदि ऊपर से देखा जाय तो चट्टाने सपाट, चिकनी और उन्नतोदर दिखाई देगी और नीचे से ऊपर की ओर देखने पर वे ही ऊबड़-खाबड़ दिखाई पडती हैं। इनके इस विषम रूप का **फ्लकजीर** (Fluckiger) नामक विद्वान ने पता लगाया था। इन भेड़-पीठ शिलाओं का रूप अलग-अलग जगह भिन्न-भिन्न होता है। कही तो ये ऊन के बोरे की तरह उठे रहते हैं तो कही आधे बेलन की तरह और कही बिलकुल गोल गुब्बारे की तरह उभडी रहती हैं।

इन शिलाओं के निर्माण के सम्बन्ध मे दो विचारधाराएँ प्रचलित है। प्राचीन मत के

---

1 S. W. Woolridge and R. S. Morgan ; *An Outline of Geomorphology*, p. 344

अनुसार ये मेष-शिलाएँ हिमनदी द्वारा न काटे जा सकने वाले कठोर चट्टानी भागों के अवशिष्ट चिह्न हैं जिनके ऊपर होकर हिमनदियाँ गुजर चुकी हैं। ये हिमनदी द्वारा काट-छाँट की अपूर्णता

चित्र 270—मेष शिला (रॉश मूटाने)

के द्योतक हैं और हिमनदी द्वारा क्षयात्मक विशेषताओं का प्रतिबिम्ब है। किन्तु **प्रो० डेविस का** कथन है कि भेड़-पीठ शिलाएँ हिमनदी के प्रवाह से पूर्व के स्थल रूप के अवशिष्ट भाग हैं, जिन्हें हिमनदी अपनी शक्ति से चौरस नहीं कर पायी है।

दूसरे मत के अनुसार इन शिलाओं की रचना में हिमनदी द्वारा क्षय होने की विशेषता छिपी है। हिमनदी लहरों के क्रम में आगे बढ़ती है और ज्योंही मार्ग में कोई ऊँचाई आयी, हिमनदी उसके ऊपर चढ़ने लगती है। इस चढ़ाव के समय हिम और चट्टान के बीच सीधा सम्पर्क होता है और क्षयात्मक-क्रिया अधिक तेजी से होने लगती है। फलतः अभिमुख ढाल पर सबसे अधिक दबाव पड़ता है और यह एक सिरे से दूसरे सिरे तक चिकना हो जाता है। हिम में फँसे हुए शिलाखण्डों से खरोंचें और धारियाँ पड़ जाती हैं। पीछे हटने समय हिम की कार्यशक्ति इतनी तेज नहीं होती, क्योंकि हिमनदी और चट्टान के बीच सम्पर्क बराबर लगातार नहीं होता। घर्षण केवल कुछ ही स्थानों पर तथा रुक-रुककर होता है, परिणामतः प्रवाह विमुख ढाल की चट्टान की काट-छाँट अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है और सम्पूर्ण चट्टानी धरातल सीढ़ी जैसा हो जाता है।

शृंग एवं पुच्छ (Crag and Tail)—जब हिमानी के मार्ग में कोई बहुत कठोर चट्टान आ जाती है तो वह उसे काट नहीं पाती। किन्तु कठोर चट्टान के अभिमुख ढाल के निकट कोमल चट्टानों को वह बहुत अधिक काट डालती है और दूसरी ओर यह शिला चूर्ण को जमा कर देती है। फलस्वरूप हिमानी के सामने वाला ढाल तो तीव्र हो जाता है और दूसरी ओर असंगठित अपोढ़ का लम्बी पूँछ के रूप में निक्षेप हो जाता है। अतः हिमानी की घाटी में ऐसे भू-आकार को **शृंग एवं पुच्छ भू-आकार** (Crag and Tail Topography) कहते हैं।
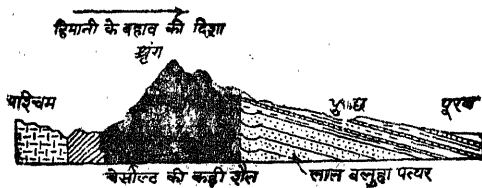
चित्र 271—शृंग-पुच्छ एवं भू-आकृति

फियोर्ड (Fiord)—उच्च अक्षांशों में कई बार हिमानियाँ समुद्रतटों तक पहुंच जाती है। यहाँ हिमानियाँ अपनी घाटियों को समुद्र-तल से अधिक गहरा काट देती है। इस प्रकार समूचा समुद्रतट अत्यधिक कट-फट जाता है। समुद्र में घुसी हुई ये हिम-घाटियाँ काफी लम्बी, चौडी एव गहरी होती है। कहीं-कहीं ये 5000 से 6000 फुट तक गहरी पायी जाती है। प्रायः ये घाटियाँ सीधी होती हैं और किनारे खड़े ढाल लिए होते हैं। समुद्र में डूबी हुई इन हिम-घाटियों को ही फियोर्ड (Fiord) कहा जाता है। वर्तमान अत्यधिक गहरे फियोर्ड इस बात का संकेत करते है कि घाटी से हिम पिघल जाने के उपरान्त सम्भवतः वहाँ भूमि का अवतलन हुआ है।[1] संसार मे मुख्यत नॉर्वे, ग्रीनलैण्ड, लैब्रेडोर, अलास्का, चिली एवं न्यूजीलैण्ड के समुद्रतटों पर फियोर्ड पाये जाते हैं। वर्तमान समय में अलास्का के तट पर बनी कुछ खाड़ियाँ और **टेकू** (Taku) तथा **रीड** (Reid) जैसी खाड़ियाँ फियोर्ड की रचना का प्रारम्भ ही हैं।

हिमानी-नदीय अपरदन
(Glacio fluvial Erosion)

जब किसी हिमानी प्रोथ (snout) अथवा हिम-चादर (ice sheet) से जल-धारा बह निकलती है तो उसका अपरदन पर उल्लेखनीय प्रभाव पडता है। यद्यपि यह प्रभाव मूलतः नदीय अपरदन से सम्बन्ध रखता है किन्तु यहाँ इसका उल्लेख इसलिए समीचीन होगा कि इसके परिणाम प्रायः सामान्य अपवाह विकास से बिलकुल भिन्न होते हैं। उदाहरणतः, जब उत्तरी तथा मध्य यूरोप महाद्वीपीय हिमावरण से ढके हुए थे तो हिमावरण के दक्षिणी छोर बहुत कुछ पूर्व-पश्चिम फैले हुए थे। दक्षिण की ओर मध्य यूरोप की उच्च भूमि के अवरोधस्वरूप पिघले हुए जल की बहुत बडी राशि पश्चिम की ओर उत्तरी सागर (जब यह जमा हुआ नहीं था) में हिमावरण की सीमा के सहारे बहने को बाध्य हुई। इस प्रवाह से पश्चिम-पूर्व गर्तों (depressions) का विकास हुआ जो जर्मनी मे **अर्स्ट्रोमटेलर** (Urstromtaler—प्राचीन नदी-घाटियाँ) और पोलैण्ड मे **प्राडोलिनी** (Pradoliny) के नाम से प्रसिद्ध है। कालान्तर मे ज्यो-ज्यों हिम-चादर का निवर्तन (retreat) हुआ त्यों-त्यों इन उथली और चौड़ी द्रोणियो के क्रम का विकास होता गया। ऐसी पाँच मुख्य रेखाओं का अनुरेखण (trace) किया जा सकता है। इनमे से चार बाल्टिक के अन्तिम हिमोढ के दक्षिण-पश्चिम में और एक पोमेरेनिया के पार उत्तर-पूर्व में है। वर्तमान में जो नदियाँ उत्तरी यूरोपीय मैदान को पार करती है उनकी सामान्य प्रवाह दिशा दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम है, किन्तु ये नदियाँ अनेक अर्स्ट्रोमटेलर के भागों का लाभ उठाती है। अर्स्ट्रोमटेलर के वे भाग जिनमें कोई जल-धाराएँ नहीं बहती उनमे जर्मनी की पश्चिम-पूर्व **मिटललैण्ड** (Mittelland) नहर प्रणाली बनाने में सहायता मिली है।

हिमानी का परिवहन कार्य
(Transportation by Glaciers)

सामान्यतः हिमानियों की गति इतनी मन्द होती है कि वे गतिहीन-सी लगती हैं। अतः हिमानी द्वारा किया जाने वाला परिवहन-कार्य महत्त्वहीन प्रतीत होता है। किन्तु हिमानी की परिवहन शक्ति का प्रमाण हमें उन शिलाखण्डो से मिलता हे जो अपने मूल स्थानों से सैकड़ों मील दूर हटा दिये गये है। इस प्रकार हिमानियों मे भी नदियों की भाँति परिवहन की अपार शक्ति है।

जिस प्रकार नदियाँ अपने साथ बड़ी मात्रा में शिलाखण्ड, कंकड़, पत्थर, बालू, बजरी एवं मिट्टी को परिवहित करती है, उसी प्रकार हिमानियाँ भी विशाल मात्रा मे हिमोढ़ (moraines) को बहा ले जाती हैं। किन्तु हिमानी का परिवहन कार्य नदी के परिवहन से भिन्न प्रकार का होता

---

[1] P.G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 289

है। हिमानियों की घाटियो में पार्श्विक अपरदन, तली अपरदन, हिम-शिलाओं के खण्डित होने तथा अपक्षय के कारण प्रचुर मात्रा मे जलोढ़क (load) एकत्र हो जाते है, जो हिमानी द्वारा परिवहित होते है। हिमानी द्वारा परिवहित इन पदार्थों में बड़े-बड़े शिलाखण्ड, गोलाश्म, पाषाण बटियाँ (cabble stones), गिट्टियाँ, (pebbles), बजरी, बालू, शैल-चूर्ण, मृत्तिका एवं वनस्पति आदि हो सकते हैं। इस प्रकार हिम द्वारा ढोये गये पदार्थ स्थूलता एव सूक्ष्मता के समस्त क्रमों (grades) के होते है। ये पदार्थ हिमानी के विभिन्न भागों मे जकड़े हुए पाये जाते हैं। कुछ उसकी तली पर **तलस्थ हिमोढ़** (gıound moraines) के रूप में, कुछ किनारों के साथ पक्तिबद्ध रूप में **पार्श्ववर्ती हिमोढ़** (lateral moraines) के रूप मे, कुछ उसके अग्रभाग में **अग्रान्तस्थ हिमोढ़** के रूप में बहते हैं। कुछ पदार्थ हिमानी की विभिन्न परतों के मध्य और कुछ हिमानी की ऊपरी सतह पर हिम में फँसा रहता है। इस प्रकार बडी मात्रा में पदार्थ हिमानी के विभिन्न भागों मे फँसे हुए परिवहित होते है। हिमानी द्वारा परिवहित पदार्थ प्रारम्भ में नुकीले हो सकते हैं किन्तु जब वे गतिशील होते है तो उनका स्वरूप बदल जाता है। प्रायः स्थूल पदार्थ पारस्परिक घर्षण से गोल तथा चिकने हो जाते है। उनके तल पर रेखाएँ खिच जाती है। बहुत से पदार्थ घिसकर चूर-चूर हो जाते हैं। हिमानियो द्वारा परिवहित इन पदार्थो के निक्षेप से स्थलाकृति मे महान परिवर्तन होते हैं।

हिमानी का निक्षेप कार्य

हिमानी के अपरदन कार्यों के फलस्वरूप उसका नितल विभिन्न प्रकार के चट्टानी पदार्थों से भरा रहता है। बहुत-से चट्टानी पदार्थ हिमानी के ऊपरी तल अथवा उसके मध्य में फँसे रहते है। हिमानी द्वारा ढोये जाने वाले इन पदार्थो में गोलाश्म, शिलाखण्ड, कंकड़, बजरी, बालू एवं मृत्तिका आदि सभी प्रकार के पदार्थ होते हैं। हिम के अतिरिक्त हिम के पिघलने से बनी जलधाराएँ भी इनको परिवहित करने में बड़ा योग देती है। हिमानी इन सब पदार्थों को परिवहित कर उस स्थान पर निक्षेपित कर देती है जहाँ हिम पिघलने लगता है। हिमानी द्वारा किये गये इन निक्षेपों से स्थलाकृति में अभूतपूर्व परिवर्तन हो जाता है।

हिमानी द्वारा निक्षेपित पदार्थों को **अपोढ़** (Drift) कहा जाता है। अपोढ़ मे मूल हिमानी पदार्थ एवं नदीय-हिमानी मलवा (Fluvio-glacial debris) दोनों सम्मिलित किये जाते है। इस प्रकार नदीय-हिमानी धाराओं द्वारा निक्षेपित अवक्षेप बालू तथा कंकड़ भी अपोढ़ ही कहलाते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यूरोपीय महाद्वीप का 36 प्रतिशत क्षेत्र एवं उत्तरी अमरीका का 23 प्रतिशत क्षेत्र अपोढ़ से ढका हुआ है।[1] हिम निक्षेपित अपोढ़ लम्बी पहाड़ियों के रूप मे अथवा असमान और ऊँची-नीची क्षैतिज तहों के रूप मे पड़ा हुआ हो सकता है। पृथ्वी के चतुर्थ कल्प मे धरातल पर कई बार हिमावरण हुआ। अतः यूरोप मे विभिन्न कालों मे निक्षेपित पदार्थों के बीच प्राचीन और नवीन अपोढ़ के रूप में भेद किया जाता है।

हिमानी निक्षेप द्वारा बने भू-आकार

पार्श्ववर्ती हिमोढ़—जब किसी घाटी हिमानी की हिम पिघलने लगती है तो उसके तल के पार्श्विक हिमोढ़ घाटी के किनारों के समीप छूट जाते है। घाटी हिमानी के किनारों के समीप एकत्रित इस मलवे की कटक (ridge) को ही पार्श्ववर्ती हिमोढ़ कहा जाता है। प्रायः ये हिमोढ एक सीधी रेखा में होते हैं। कई बार हिमनदित घाटी के समान्तर इन हिमोढ़ों की दो या तीन कटकें एक साथ जमी हुई देखी जाती हैं। हिमोढ़ की ये कटकें प्रायः घाटी की ओर एक समान और चिकने ढाल वाली होती हैं। ये हिमोढ सामान्यतः 100 फुट से अधिक ऊँचे पाये जाते हैं। अलास्का में

---

1 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 195

कई स्थानों पर इन हिमोढों की ऊँचाई 1,000 फुट तक देखी गयी है। ये हिमोढ अपनी संरचना और मिश्रण मे अन्तिम हिमोढ के सदृश होते है।

मध्यवर्ती हिमोढ़—जब दो हिमानियाँ परस्पर मिलती है और सगम-स्थल पर उनके भीतरी किनारों के पार्श्ववर्ती हिमोढ मिलकर एक हो जाते है। इस प्रकार हिमानी के मध्यवर्ती भाग मे
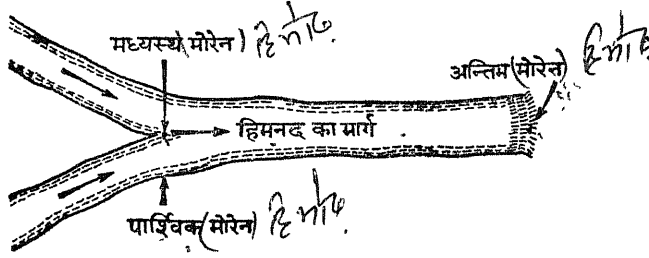
चित्र 272—**हिमोढ़ के प्रकार**

हिमोढ के टीले बन जाते है। इनको मध्यवर्ती हिमोढ कहा जाता है। ये हिमोढ एक सकीर्ण कटक के रूप मे हिमानी की प्रवाह दिशा में स्थित होते है। कभी-कभी ये हिमोढ हिम-प्रवाह के नीचे दब जाते है। प्राय: इन हिमोढों को भूमि पर पहचान पाना कठिन होता है। जब हिम नष्ट हो जाती है तो हिमोढ का निक्षेप हो जाता है, किन्तु इनमे तलस्थ हिमोढ का मलवा या अवक्षेप बालू व मिट्टी में मिल जाते है। जहाँ कही ये मिलते है ये अविकसित कटक के रूप मे घाटी के मध्य मे स्थित होते है।

तलस्थ हिमोढ़—जब कोई हिमानी शीघ्रता से पिघलने अथवा पीछे हटने लगती है तो वह अपने द्वारा ढोये गये मलवे को घाटी-तल पर बिना किसी क्रम के इधर-उधर फैला देती है। इस प्रकार निक्षेपित मलवे को तलस्थ हिमोढ कहा जाता है। ये अग्रान्तस्थ हिमोढ़ की भाँति पट्टियों अथवा समूह मे वितरित नहीं होते, अपितु ये अपोढ़ की हल्की चादर के रूप मे भूमि को ढक लेते है। संरचना की दृष्टि से ये पार्श्ववर्ती हिमोढ की भाँति ही होते हैं। इनमें शैल-चूर्ण के साथ-साथ धारीदार एवं खरोंचपूर्ण गोलाश्म भी होते है। सामान्यत: तलस्थ हिमोढ पतले होते है, इस कारण उनका ऊपरी तल नीचे उभार (lower relief) वाला होता है। चूंकि हिमानी द्वारा ढोये गये मलवे की मात्रा एकसमान नहीं होती इसलिए तलस्थ हिमोढ़ की मोटाई भी एक जैसी नहीं होती। सामान्यत: महाद्वीपीय हिमानी के केन्द्र से दूर ये अधिक मोटे होते हैं किन्तु उनके किनारों के समीप ये पतले होते है। किनारों के समीप हिम-जल के अपरदनस्वरूप ये बहा दिये जाते है। प्राय: इनका ऊपरी तल बडा ऊँचा-नीचा होता है। उनके ऊपर टीलो एवं गर्तो की भरमार होती है। अत: एक विशिष्ट तलस्थ हिमोढ़ के प्रदेश में—जैसे विसकनसिन, मिनीसोटा, मिनीटोवा और कनाडा के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र—हिमोढ द्वारा निर्मित गर्तों मे हजारो झीलें एवं दलदल पाये जाते है। संयुक्त राज्य अमरीका एवं कनाडा मे तलस्थ हिमोढ का क्षेत्र अन्य सभी प्रकार के हिमोढ एवं हिमानी नदीय निक्षेपों के सम्मिलित क्षेत्र से भी अधिक है। महाद्वीपीय हिमानियों की तुलना मे घाटी हिमानियो द्वारा निक्षेपित तलस्थ हिमोढ़ का क्षेत्र बहुत छोटा होता है।

अग्रान्तस्थ हिमोढ़—महाद्वीपीय अथवा घाटी हिमानियों के अन्तिम छोर पर जब हिम पिघलती है अथवा हिम पीछे हटती है तो हिमानी द्वारा परिवहित अपोढ वहाँ एकत्रित हो जाती है। हिमानियों के छोर पर एकत्रित इस अपोढ़ की मोटी राशि को ही अग्रान्तस्थ हिमोढ़ कहा जाता है। इन हिमोढ़ों का निक्षेप प्राय: श्रेणियो के रूप में होता है। प्रत्येक श्रेणी अर्द्ध-चन्द्राकार होती

है। ये श्रेणियाँ अपनी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई में विभिन्न होती हैं। ये सैकड़ों फुट ऊँची और पर्याप्त चौड़ी होती हैं। परस्पर मिले हुए मेहराब की भाँति हिमोढ़ की ये श्रेणियाँ सैकड़ों और

चित्र 273—हिमोढ़ और हिमोढ़-निर्मित झीलें

हजारों मील तक फैली रहती हैं। हिमोढ़ के इन निक्षेपों का ऊपरी तल बहुत ही ऊँचा-नीचा और असमान होता है। इनके तल पर असंख्य छोटे-छोटे गर्त, पहाड़ियाँ और कटकें होती हैं।

अग्रान्तस्थ हिमोढ़ अपनी संरचना और मिश्रण से एक जैसे नहीं होते। विभिन्न स्थानों पर निक्षेपित इन हिमोढ़ों में भिन्नता पायी जाती है। कुछ स्थानों पर अपोढ़ केवल ठोस चीका-मात्र

चित्र 274—टीले एवं गर्त भू-आकार

होती है, कुछ स्थानों पर चीका के साथ गोलाश्म मिले हुए पाये जाते हैं और कुछ स्थानों पर बालू या बालू और गोलाश्म मिलते हैं। ये सब पदार्थ समस्त सम्भावित अनुपातों में एक-दूसरे के साथ मिल जाते हैं। सस्केचवान, अलबर्टा और बड़ी झीलों के क्षेत्र में ऐसे हिमोढ़ के तल पर प्रति वर्गमील हजारों गोलाश्म पाये जाते हैं। मिशीगन के समीप 8 से 10 फुट बड़े गोलाश्म ही मिलते हैं। इन उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि इन हिमोढ़ों की कुल मोटाई में कैसे पदार्थ मिल सकते हैं। सामान्यतः ये हिमोढ़ स्तरहीन होते हैं और पदार्थों का कोई क्रम नहीं होता। लेकिन अनेक स्थानों पर विशेषतः हिमोढ़ के छोरों पर झीलों में निक्षेपित मिट्टी की असम्मित किन्तु

स्तरयुक्त तहें अथवा अवक्षेप मैदान मे बालू और बजरी की तहें पायी जाती है। बालू, बजरी एवं मिट्टी की इन तहों के बीच अपोढ भी पायी जाती है। कुछ हिमोढ बहुत ही स्पष्ट और समान्तर श्रेणियो के रूप मे मिलते है किन्तु हिम आगे-पीछे हटने के कारण इनकी रूपरेखा प्राय: टेढ़ी-मेढ़ी होती है। कही पर ये श्रेणियाँ बहुत ही साधारण मन्द ढालयुक्त और चिकने तल वाली होती है, परन्तु कई स्थानों पर ये बहुत ही जटिल टीलों और कटकों के रूप मे जिनके बीच-बीच में गर्त स्थित रहते है, फैली हुई रहती है। जहाँ कहीं इन हिमोढों मे केटलीनुमा गर्त अधिक मिलते है वहाँ उन्हें **केटल हिमोढ़** (Kettle Moraine) कहा जाता है और उससे उत्पन्न स्थलाकृति को **टीले एवं गर्त भू-आकार** (Knob and Basin or Kettle and Hummock Topography) कहा जाता है। जो हिमोढ केवल चीका द्वारा निर्मित होते है, उनमें केटल गर्त अल्प रूप में पाये जाते है और उनका ढाल मन्द होता है। जो हिमोढ गोलाश्म एवं कंकड़-पत्थर द्वारा निर्मित होते है उनका ढाल बहुत तीव्र होता है। यह तीव्र ढाल बर्फ की ओर होता है। इनके बीच केटल गर्त, झीले, पोखर एवं दलदल की प्रचुरता पायी जाती है।

अवकाशी हिमोढ़ (Recessional Moraines)—ऐसे हिमोढों की रचना हिम के कुछ बढ़ने और पीछे हटने के समय होती है। जब कोई हिमानी पीछे हटते समय किसी स्थान पर थोड़े समय के लिए ठहर जाती है तो पूर्व-निक्षेपित अग्रान्तस्थ हिमोढ से कुछ पीछे हटकर दूसरे अग्रान्तस्थ हिमोढ़ का टीला बन जाता है। इस प्रकार हँसियाकार टीलों की एक अनियमित पंक्ति बन आती है जिसे अवकाशी हिमोढ कहते है। इन टीलो के पीछे हिमानी का पिघला हुआ जल एकत्रित हो जाने पर झीलें बन जाती है।

अपक्षरण हिमोढ़ (Ablation Moraines)—जब पर्वतीय किनारो से शिलाखण्ड एवं विभिन्न आकार-प्रकार के पत्थर टूटकर हिमानियो के तल पर गिर जाते है तो वे हिम मे मिलकर सतह पर बहते हुए चलते है। ऐसे हिमोढ को अपक्षरण हिमोढ़ कहा जाता है। ग्रीनलैण्ड मे बहने वाली हिमानियो के ऊपर ऐसे हिमोढ विशेष रूप से देखे जाते है।

अन्तर्हिमानी हिमोढ़ (Englacial Moraines)—जो हिमोढ़ हिमानी की हिम मे फँसा हुआ होता है और जिससे ठोस हिम में स्तर बन जाते है उसे अन्तर्हिमानी हिमोढ कहते है। इनका कोई निक्षेपीय भू-आकार नही होता।

अधोहिमानी हिमोढ़ (Sub-glacial Moraines)—जो हिमोढ हिमानी की तली के समीप मिलते है वे अधोहिमानी हिमोढ़ कहलाते है।

गोलाश्म मृत्तिका (Boulder Clay)—जब कोई हिमानी पिघलने लगती है तो उसके द्वारा दो प्रकार के निक्षेप होते है। एक तो हिमानी से निकली जलधाराओं द्वारा और दूसरा स्वय हिम द्वारा। हिमानी से निकली जलधाराओं का निक्षेप परतदार और व्यवस्थित होता है जैसा कि अवक्षेप मैदान मे देखा जाता है, परन्तु हिम द्वारा निक्षेपित पदार्थ अव्यवस्थित और बिना किसी क्रम के होता है। इसमें मिट्टी से लेकर गोलाश्म तक सभी श्रेणी के पदार्थ होते है। हिम के ऐसे निक्षेप को गोलाश्म मृत्तिका (Boulder clay or Till) कहा जाता है।

यह मिट्टी काफी मोटी और बिना परतों वाली होती है। इसमे एकरूपता का भी अभाव रहता है। इसमें कई प्रकार की चट्टानों के टुकड़े मिले रहते है। अत: इसकी बनावट और रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं। इसमें महीन चीका से लेकर कई फुट व्यास के पत्थर तक मिलते है। इसका निक्षेप कई फुट गहरा होता है। परन्तु इसकी ऊपरी कुछ इंच मिट्टी ही खेती योग्य होती है। इसमे पाये जाने वाले मिट्टी के ढोके रगड के कारण चिकने और धारीदार हो जाते है। महाद्वीपीय हिमानियों द्वारा निक्षेपित तलस्थ हिमोढ ऐसा ही होता है। अतः गोलाश्म मृत्तिका के विशाल क्षेत्र संयुक्त राज्य अमरीका और उत्तरी यूरोप मे देखे जाते है।

विस्थापित शिलाखण्ड (Erratic Blocks)—हिमानी के साथ बहकर अथवा लुढककर बहुत से रोड़े आते है । कभी-कभी ये रोडे बहते हुए बहुत दूर पहुँच जाते है और हिम के पिघलने पर वही छूट जाते है । फलतः ये रोड़े आस-पास की चट्टानों से सर्वथा भिन्न होते है । अतः इन्हें विस्थापित शिलाखण्ड कहा जाता है । सयुक्त राज्य अमरीका के उत्तरी राज्यो मे इनकी बहुलता देखी जाती है ।

दु:स्थित शिलाखण्ड (Perched Blocks)—जब कभी कोई हिमानी पिघलने लगती है तो कभी-कभी कुछ पार्श्विक हिमोढ के शिलाखण्ड तलहटी के किनारो पर विलक्षण दशा मे चिपके रह जाते है । इनको दु:स्थित शिलाखण्ड कहते है । ये शिलाखण्ड चूँकि अपेक्षाकृत छोटी-सी जगह पर

चित्र 275—दु:स्थित शिलाखण्ड

स्थित होते हैं इसलिए उनका भार भली प्रकार सन्तुलित रहता है । इनको छूने पर प्राय: ये आगे-पीछे हिलने लगते है । संयुक्त राज्य अमरीका के न्यू इंगलेण्ड राज्य की पहाड़ियों पर ऐसे शिलाखण्ड बहुत पाये जाते हैं । कभी-कभी ये शिलाखण्ड हिमानी निक्षेप के ऊपर बड़ी तरतीब से ठहरे रह जाते हैं । ऐसी अवस्था में इन्हे फुन्सी पत्थर (pocking stones) कहते है ।

हिमनदोढ़ गिरि (Drumlins)—हिमनदोढ गिरि तलस्थ हिमोढ का एक विशिष्ट भू-रूप है । जब तलस्थ हिमोढ का थोड़ी-थोड़ी दूरी पर अण्डाकार टीलों के रूप मे निक्षेप होता है तो उन्हें हिमनदोढ़ गिरि[1] कहा जाता है । इनकी तुलना उल्टी नौकाओ से की जा सकती है । इनकी लम्बी पूँछ हिम-प्रवाह के समान्तर होती है । हिमानी के सम्मुख वाले भाग में इन टीलों अथवा पहाड़ियों का ढाल तीव्र एवं खुरदरा होता है जबकि विपरीत भाग मे ढाल साधारण और चिकना होता है । इस प्रकार हिमनदोढ गिरि अपनी आकृति मे मेष शिलाओं से उल्टी होती है । मेष शिलाओं और हिमनदोढ़ गिरि मे एक अन्तर और भी है । मेष शिलाओं की रचना कठोर स्थलखण्ड अथवा चट्टान के घिस जाने से होती है परन्तु हिमनदोढ गिरि की रचना बालू, बजरी एवं गोलाश्म मृत्तिका जैसे असंगठित पदार्थों से होती है ।

---

[1] "Drumlins are smooth, oval hills composed mainly of till but sometimes including lenslike masses of gravel and sand." —*A. K. Lobeck*

हिमनदोढ गिरि अपने आकार एवं ऊँचाई मे कई प्रकार के होते हैं। अधिकांश हिमनदोढ गिरि अपनी लम्बाई में चौड़ाई से दुगुने अथवा पाँच गुने लम्बे होते हैं। सामान्यतः इनकी लम्बाई $\frac{1}{2}$ मील से $1\frac{1}{2}$ मील के बीच पायी जाती है। ऊँचाई मे ये 20 फुट से 120 फुट के बीच होते हैं।[1]

चित्र 276—ड्रमलिन व गोलाश्म

हिमनदोढ़ गिरि सदैव समूह मे पाये जाते है। प्रायः सैकड़ो हिमनदोढ गिरि एक साथ मिलते हैं। दक्षिर्णी-पूर्वी विसकंसिन में लगभग 10,000 हिमनदोढ गिरि फैले हुए है। इसी प्रकार मिशीगन के अन्दर भी इनका बहुत बड़ा समूह मिलता है।

हिमनदोढ गिरि के कई रूप और प्रकार हैं। कई बार दो, तीन या उससे भी अधिक हिमनदोढ गिरि परस्पर मिले हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार छोटे हिमनदोढ गिरि के पृष्ठ-भाग बड़े हिमनदोढ गिरि के ऊपर और पार्श्व निकटवर्ती हिमनदोढ़ गिरि पर झुके हुए रहते हैं। कुछ हिमनद्रोढ़ गिरि पहाड़ियों के नीचे चट्टानी आधार होता है और उनके ऊपर पतली गोलाश्म मृत्तिका की परत जमी हुई मिलती हैं। ऐसे हिमनदोढ़ गिरि **चट्टानी हिमनदोढ़ गिरि** (Rock Drumlins) कहलाते है। कई बार हिमनदोढ गिरि आपस में मिल जाते है जिससे **हिमनदोढ़ गिरि उच्च प्रदेश** (Drumlin uplands) की रचना होती है।

हिमनदोढ गिरि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई एक मत है। कुछ हिमानी शास्त्रवेत्ताओं की धारणा है कि इनकी रचना बर्फ के नीचे विशिष्ट अवस्थाओं मे हुई है। लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि इनकी रचना बहुत कुछ मेष-शिलाओं की भाँति पुराने अपोढ़ के अपरदन के फलस्वरूप हुई है। पहले मत के अनुसार जो हिमानियाँ अपने साथ प्रचुर हिमोढ बहा लाती है, वे इनका निर्माण करती है। हिमोढ हिमानी मे स्थान-स्थान पर दरार अथवा छिद्र बनाकर तली में एकत्रित होता है। हिम चादर के नीचे हिमोढ का यह निक्षेप हिमानी के पीछे हट जाने के उपरान्त हिमन-दोढ़ गिरि का दृश्य उपस्थित करता है। **डेविस** का कहना है कि वे हिमनदोढ़ गिरि जलधारा मे बलुही रोधिका (Sand Bars) के समान हैं।[2] इसके विपरीत **लिव्रीटी** (Leverett) ने इनकी तुलना ऐसी शेल पहाड़ियों से की है जो हिमानी द्वारा खुरच दी गयी है। उसने हिमनदोढ़ गिरियों पर हिम-प्रवाह की दिशा मे बने खाँचों, नालियो और लम्बी धारियों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इस प्रकार **लिव्रीटी** की मान्यता है कि अवकाशीय हिमोढ के ऊपर पुनः हिमानी के बढ़

---

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 311

2 A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 307

आने से ही हिमनदोढ गिरियों का निर्माण होता है। वारसेस्टर ने भी इस मत को स्वीकार किया है।

जहाँ कही भी हिमनदोढ गिरि पाये जाते है वहाँ की भौतिक रचना अण्डाकार टीलों जैसी होती है। अतः दूर से देखने पर हिमनदोढ गिरि प्रदेश टोकरी मे रखे हुए अण्डो के सदृश्य प्रतीत होता है। इसलिए ऐसे भू-रूप को **अण्डों की टोकरी की स्थलाकृति** (Basket of eggs topography) कहा जाता है। ऐसे प्रदेश का जल-प्रवाह न तो नियमित होता है और न निश्चित ही। परिणामस्वरूप दो टीलो के बीच की भूमि मे दलदल बन जाते है। हिमनदोढ गिरि संयुक्त राज्य

चित्र 277—अण्डों की टोकरी की स्थलाकृति

अमरीका मे अधिक पाये जाते है। इनके समूह मुख्यतः दक्षिणी-पूर्वी विसकंसिन, ओण्टेरियो झील के दक्षिणी छोर के सहारे, उत्तरी न्यूयॉर्क और उत्तरी मिशीगन मे मिलते है।

हिमानी-नदीय निक्षेप
(Glacio-fluvial Deposits)

जब किसी हिमानी सतह से हिम पिघलता है तो वह या तो सतह पर ही धाराएँ बनाकर बहने लगता है या वह हिम-कूप (mouhim) द्वारा उसकी तली में पहुँच जाता है और वहाँ सुरंग बनाकर बहने लगता है। हिमानी के अन्तिम छोर के समीप विशेषत. हिम-चादरो के बाह्य सिरों के निकट बड़ी मात्रा मे हिम के पिघलने से अनेक बड़ी-बड़ी जल-धाराओं की उत्पत्ति हो जाती है। ये हिम के पिघलने से बनी जल-धाराएँ अपने साथ हिमानी द्वारा परिवहित सभी प्रकार के अपोढ़ (drift) एवं गोलाश्म मृत्तिका (till) को बहा ले जाती है। जब हिम जल-धाराएँ अन्तिम हिमोढ़ को काटकर अपना मार्ग बनाती हैं तो उनके जल में जलोढ़क (load) की मात्रा और भी बढ जाती है। इन सब पदार्थों में से कुछ अंश तो जल-धाराएँ हिमानी के सिरे के निकट जमा कर देती है और कुछ को वह दूर तक बहा ले जाती है। इस प्रकार हिम जल-धाराओं द्वारा परिवहित पदार्थ विभिन्न अवस्थाओ और विभिन्न रूपों मे जमा हो जाता है। इस निक्षेपण के कारण मूल धरातल की स्थलाकृति बिलकुल बदल जाती है। हिमानी-नदीय निक्षेप से जिन भू-आकारों की रचना होती है उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

अवक्षेप मैदान (Outwash Plain)—ये मैदान हिमानी के अग्रभाग मे अन्तिम हिमोढ अथवा हिम-चादरो के बाह्य किनारों के बाहर हिम-जल द्वारा निर्मित होते है। हिमानी के पिघलने पर जो हिम-जल बनता है वह जब अन्तिम हिमोढ़ से होकर गुजरता है तो हिमोढ के पदार्थों को हिम घाटी के आगे के भाग मे चादरवत फैला देता है। पदार्थों का निक्षेपण क्रमपूर्वक होता है। ऊपरी भाग में कंकड़ व खुरदरे पत्थर, मध्य भाग मे बालू और सिरे पर बारीक मृत्तिका बिछी होती है। इस प्रकार हिम-जल द्वारा निक्षेपित पदार्थों से पंखे की आकृति का मैदान बन जाता है। इस मैदान को ही **अवक्षेप मैदान** कहा जाता है। इन मैदानों का क्षेत्रफल मोटाई और ऊपरी तल का

---

[1] P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 313

ढाल अपने नीचे की भूमि, हिमानी की बर्फ और हिमोढ की मोटाई जिनसे होकर हिम जल-धाराएँ बहती है, आदि बातों पर आधारित है। कई अवक्षेप मैदान लगभग इतने समतल होते है कि उन्हें सहज ही झीलकृत मैदान समझा जा सकता है। किन्तु इनके ऊपरी तल का ढाल जो प्रति मील 10 फुट या अधिक होता है—इनकी उत्पत्ति को इंगित कर देता है।[1] फिर अन्तिम हिमोढ
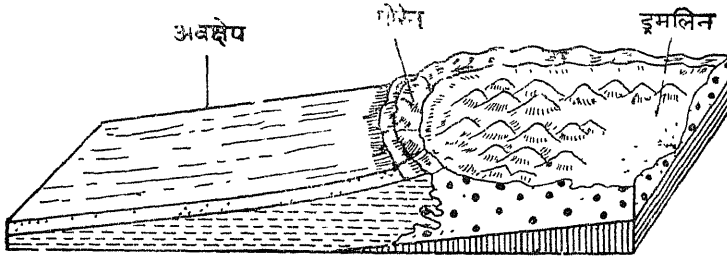
चित्र 278—हिमानी द्वारा निर्मित अवक्षेप मैदान

के निकट इनकी स्थिति और उन पदार्थो का मिश्रण जो इनको बनाते है, इनकी उत्पत्ति को स्पष्ट कर देते है। जहाँ ये मैदान ठीक अन्तिम हिमोढ़ से लगे हुए होते है, वहाँ इनका निर्माण करने वाले पदार्थों में कंकड़ो की अधिकता और मृत्तिका की कमी रहती है। अत ऐसे मैदानों को अवक्षेप कंकड़ के मैदान (outwash gravel plain) कहते है। अन्तिम हिमोढ से दूरी बढने के साथ-साथ
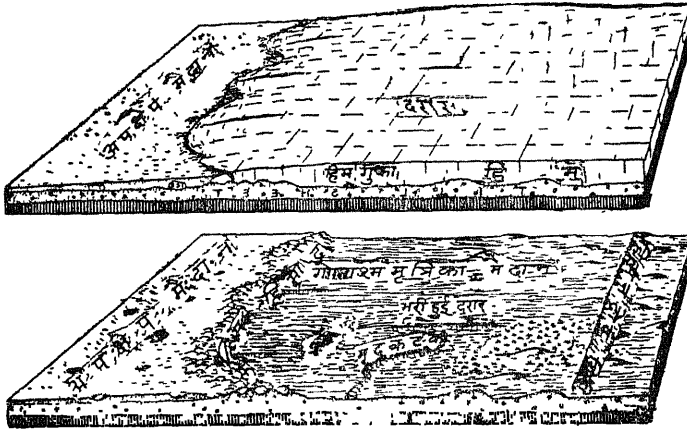
चित्र 279—हिमानी द्वारा निर्मित मैदान

अपोढ अधिकाधिक उम्दा होती जाती है। इन मैदानों के बाह्य सिरे पर अधिकांशत: उम्दा बालू और कॉप बिछी होती है। चीका भी इसमें सम्मिलित होती है। अत: यहाँ मैदान की रचना ठीक बाढ़ के मैदान की भाँति ही होती है। इसलिए इन्हें यहाँ अवक्षेप जलोढ़ पंख (Outwash Alluvial Fan or Delta) कहा जाता है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, भिन्न-भिन्न स्थानो पर अवक्षेप मैदान का विस्तार भिन्न-भिन्न होता है। जहाँ कहीं हिमानी का आक्रमण बड़ा प्रभावशाली होता है वहाँ इनका विस्तार विशाल क्षेत्र में होता है। इन मैदानों मे प्राय: गड्ढे (kettles) पाये जाते है। इन गड्ढों में पानी

---

1 P. G Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 313

भर जाने से झीले बन जाती है । अतः ऐसे मैदानों को गर्त वाले अवक्षेप मैदान (pitted outwash plains) कहते है ।

घाटी हिमोढ़ (Valley Train)—जब कोई हिमानी पिघलने लगती है तो उसके नीचे जल-धाराएँ उत्पन्न हो जाती है । ये जल-धाराएँ अपने साथ पथरीले अपोढ की विशाल राशि को बहा ले जाती है और घाटी में जहाँ-तहाँ निक्षेपित कर देती है । घाटी मे पथरीले अपोढ के इसी निक्षेप को **घाटी निक्षेप** (Valley Tiain) कहा जाता है । यद्यपि इनकी रचना अवक्षेप मैदान के सदृश ही होती है, किन्तु इनका विस्तार घाटी की दीवारों तक सीमित रहता है ।

कंकतगिरि (Kames)—हिमानी के अग्रभाग से निकलने वाली जल-धाराएँ बहुधा बजरी एवं बालू को ऊँचे-नीचे टीलों के रूप मे जमा कर देती है । बालू एव बजरी के इन ऊँचे-नीचे टीलो को ही **कंकतगिरि** कहा जाता है । इनका निर्माण पार्श्व तथा तलस्थ हिमोढ से होता है । ये प्रायः तलीय दरारो के भर जाने से बनते है । इनमे बालू तथा बजरी का क्रमिक निक्षेप होता है । अत. ये टीले स्तरयुक्त (stratified) होते है । इनका निर्माण असमान रूप से होता है जिससे इनकी

चित्र 280—**कंकतगिरि**

ऊँचाई 100 से 200 फुट तक होती है । कुछ स्थानों पर कंकतगिरि इतने प्रभूत मात्रा में और ऐसे रूपो मे फैले हुए पाये जाते हैं कि उन्हे **कंकत श्रेणी** (Kame iidge), **कंकत हिमोढ़** (Kame-moraines) अथवा **कंकत वेदिका** (Kame terraces) कहा जाता है ।

हिमनद मृदकटक या एस्कर (Easker)—हिमानी-नदीय निक्षेप द्वारा बने भू-आकारों के मृदकटक सबसे विचित्र भू-आकार है । यह हिमानी की प्रवाह दिशा में बनी एक लम्बी, संकीर्ण और चिकने तल वाली श्रेणी होती है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि इनकी रचना हिमानी में बनी सुरगो में बहने वाली धाराओं के निक्षेपण द्वारा होती है । हिमानी के अन्दर बहने वाली धाराएँ हिमानी के बारीक अपोढ को बहा ले जाती है । जब बालू एव मिट्टी से ये धाराएँ अवरुद्ध हो जाती है तो उनकी गति मन्द पड़ जाती है और फलस्वरूप बालू एव मिट्टी का निक्षेप होता है । हिम के पिघल जाने के उपरान्त बालू एवं मृतिका के ये निक्षेप ही मृदकटक का रूप लेते है । कुछ लोगों की यह भी मान्यता है कि मृदकटको (Easkeis) की रचना बर्फ के ऊपर बनी धाराओ मे होती है और हिम के पिघलने के साथ यह नीचे बैठती जाती है । चाहे कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि इनकी रचना हिमानी-नदीय निक्षेप के कारण होती है । सामान्यतः ये तलस्थ हिमोढ की स्थलाकृति से सम्बन्धित देखे जाते है । कभी-कभी निचले छोर अन्तिम हिमोढ से जा मिलते है ।

साधारणतः मृदकटक बालू, बजरी एवं मिट्टी से निर्मित एक लम्बी अथवा टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार श्रेणी होती है।[1] इनकी ऊँचाई अधिक नहीं होती। प्रायः ये 200 से 300 फुट चौड़ी होती

चित्र 281—हिमानी-निर्मित एस्कर

हैं। इनकी लम्बाई 5 से 20 मील और चौड़ाई 20 से 50 फुट तक देखी जाती है। सामान्यतः
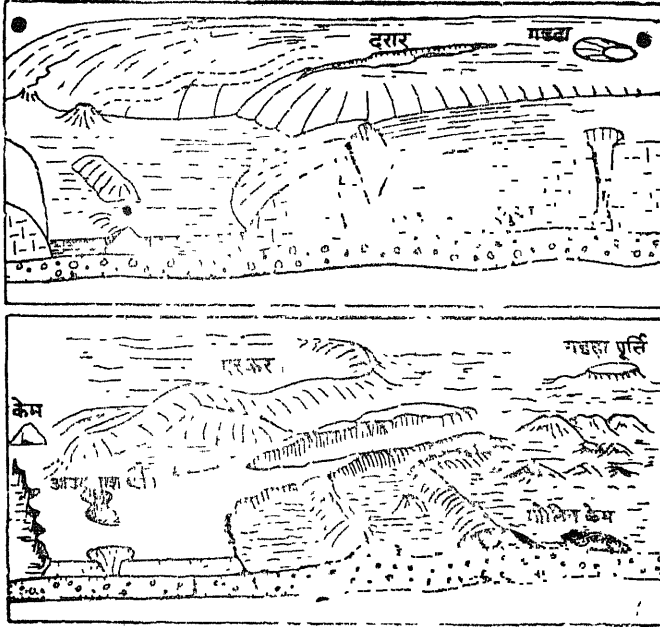
चित्र 282—हिमानी नदियों द्वारा निर्मित भू-आकार

---

1 "These are long, low, narrow ridges composed of stratified sand, silt and gravel that occasionally are found parallel with the walls of glaciated valleys." —*P. G. Worcester.*

इनके पार्श्व ढालू और ऊपरी सिरा सँकरा तथा गोलाकार रूप मे होता है। इनकी टेढी-मेढी पंक्तियाँ बाँध की भाँति दिखाई पडती है। इनसे सम्पूर्ण दृश्य लहरदार और ऊँचा-नीचा हो जाता है। कभी-कभी मृदकटक ढाल के ऊपर और कभी ढाल के नीचे की ओर उतरते हुए प्रतीत होते है। स्केण्डीनेविया मे ऐसी मृदकटको को **ओसार** (Osar) कहा जाता है। पर वस्तुतः 'एस्कर' आयरिश भाषा का शब्द है जिसका अर्थ पथ से होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिम प्रभावित भागों में ये एस्कर (मृदकटक) पथ के रूप में काम मे आते हैं।

साधारणतः मृदकटक हिमानी के किनारों के समीप बनते है। कुछ मृदकटक मध्यवर्ती एवं पार्श्ववर्ती हिमोढ के मध्य भी स्थित होते है। अधिकाश मृदकटक नीचे दलदली मैदानो मे पाये जाते है। इन कटको के एक या दोनो ओर भूमि कई बार बड़े गर्त के रूप मे पायी जाती है। इन्हे **मृदकटक द्रोणिका** (Easker trough) कहा जाता है। मृदकटक प्रायः सभी प्रकार की भूमि पर पाये जाते है। इन पर तल की स्थलाकृति का कोई प्रभाव नहीं होता। ये सैकडों फुट ऊँची पहाड़ी पर भी चढ़ते हुए देखे जाते हैं। कई मृदकटक अवकाशी हिमोढ़ के नीचे भी दबे हुए मिलते है। ये प्रायः डेल्टा में जा मिलते हैं।

मृदकटक की रचना हिम-घर्षण से उपलब्ध शिला-चूर्ण से होती है। अतः हिमानी के पीछे हटने की विशेषताओ के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न रूप हो जाते है :

(1) **मृदकटक पंख** (Easker Fan)—जो मृदकटक अग्रान्तस्थ हिमोढ के निकट पंखे के आकार मे बने होते है उन्हे मृदकटक पख कहा जाता है।

(2) **मृदकटक डेल्टा** (Easker Delta)—जब मृदकटक की रचना किसी स्थिर जल-राशि मे होती है तो इनके सामने तो ढाल हो जाता है तथा ऊपर का भाग चौरस व सपाट होता है। मृद्रकटक के ऐसे रूप को मृदकटक डेल्टा कहा जाता है।

(3) **अनुगामी मृदकटक** (Easker Trail)—कभी-कभी मृदकटके एक के पीछे एक बहुत दूर तक फैली हुई देखी जाती है। ऐसे भू-रूप को अनुगामी मृदकटक कहा जाता है।

(4) **मालाकार मृदकटक** (Beaded or Garland Easker)—जब कभी हिमानी में प्रवाहित धारा के सामने कुछ अवरोध आ जाता है तो वहाँ अधिक पदार्थ जमा हो जाता है। बाद मे यह अन्य मार्ग ग्रहण कर लेता है। ऐसी अवस्था मे मृदकटक के मार्ग मे कुछ ऊँचे टीले बन जाते हैं। ये टीले कभी-कभी दो मृदकटकों को परस्पर जोड़ते है। इससे सम्पूर्ण आकृति माला मे पिरोये हुए दानो के समान ज्ञात होती हैं। इसी को मालाकार मृदकटक कहते है।

(5) **दरार-पूरक** (Crevasse Infilling)—जब हिमानी में स्थित दरारो मे बालू एवं बजरी भर जाती है तो बाद में वे छोटी-छोटी कटकें बन जाती है। इन्ही को दरार-पूरक कहा जाता है। प्रायः मृदकटक और दरार-पूरक मे भेद करना कठिन हो जाता है, क्योंकि दोनों ही अपने रूप में सँकरी और तीव्र ढाल वाली होती है। किन्तु दरार-पूरक लम्बाई में छोटी होती हैं। वे कदाचित ही एक मील लम्बी होती है।

अनुवार्षिक निक्षेप (Varve Deposits)—हिम-जल द्वारा किसी झील मे किये गये बालू, मृत्तिका एव चीका के वार्षिक निक्षेप को अनुवार्षिक निक्षेप कहा जाता है। ये निक्षेप उन समस्त हिमानी झीलों में पाये जाते है जो किसी हिमानी के सामने बनी होती हैं। सामान्यतः ये निक्षेप परतों के रूप मे होते है। ग्रीष्म एवं वर्षाऋतु में हिम के अधिक पिघलने से जल-प्रवाह बहुत अधिक होता है जिससे मोटी गाद का निक्षेप होता है। शीतऋतु मे जल-प्रवाह की कमी से बहुत धीरे-धीरे केवल उम्दा चीका का निक्षेप होता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष नीचे मोटी गाद और ऊपर उम्दा चीका की परत जमा होती रहती है। सामान्यतः इस वार्षिक निक्षेप की मोटाई $\frac{1}{8}$ इंच से $\frac{1}{2}$ इंच

के बीच रहती है। वर्षा एवं हिम पिघलने की अनुकूल अवस्थाओं मे यह मोटाई अधिक भी सम्भव होती है। इसे प्रकार वार्षिक निक्षेप की परतो का क्रम अपनी विभिन्न मोटाइयो द्वारा जलवायु के परिवर्तन को इगित करता है। आजकल इन परतो की गणना के आधार पर उन क्षेत्रो की आयु ज्ञात की जा सकती है। इस शताब्दी के प्रारम्भ मे **बरोन गेरार्ड डी गिर** (Baron Gerard-de Geer) ने हिमानी के सम्मुख बनी झीलो में वार्षिक निक्षेप की परतो के आधार पर हिमानी के पीछे हटने की गति को निर्धारित करने की पद्धति की खोज की थी। इस पद्धति द्वारा किसी भी ऐसे प्रदेश मे जहाँ हिमावरण था, वहाँ से हिम के पीछे हटने और उसमें लगी अँवधि का सही-सही अनुमान लगाया जा सकता है। **एण्टेञ्ज** (Antevs) का कहना है कि इस रीति से गणना करने पर गलती एक प्रतिशत से अधिक नही होती। उसने उदाहरणस्वरूप बताया है कि हार्टफोर्ड से अन्तिम हिम-चादर वहाँ 170 मील दूर सेण्ट जोहन्सबरी को लगभग 4,400 वर्षो मे पीछे हटी अर्थात पीछे हटने की गति 200 फुट प्रतिवर्ष रही।[1]

हिमनदी द्वारा जल-प्रवाह में परिवर्तन—जब हिमनदी आगे बढ़ती है या पीछे हटती है तो हिमाच्छादन से पूर्व बहने वाली नदियो के प्रवाह-क्षेत्र इसकी लपेट मे आ जाते है जिससे कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाते है। हिमाच्छादन पूर्व की कई नदियाँ या तो (1) बिलकुल ही दब जाती है, या (2) उनकी प्रवाह-दिशा मे परिवर्तन हो जाता है, या (3) वर्तमान जल-प्रवाह को रोककर झीलो की उत्पत्ति हो जाती है।

(1) हिमनदी निक्षेप से नदी-घाटियाँ पूर्णतः या अशतः दब जाती है। फलस्वरूप पुरानी जल-प्रवाह प्रणाली विलीन हो जाती है और कालान्तर मे उसके स्थान पर नयी जल-प्रवाह प्रणाली का जन्म हो जाता है। इन अवस्थाओं मे गहरी घाटियाँ या कन्दराएँ (caves) बन जाती है और उनके दोनो ओर हिमनदी सचय की श्रेणियाँ स्थित हो जाती है। इन दशाओ से हिमाच्छादन पूर्व नदी प्रणाली सचय द्वारा पूर्णतः पुनः व्यवस्थित हो जाता है।

(2) जब कभी कोई हिमनदी जलधारा की घाटी पर जल-विभाजक अथवा उद्गम (source) की ओर से आक्रमण करती है तो उसमे बाढ आ जाती है और वह किनारे पर होकर बहने लगती है। इन्हीं बाढो के फलस्वरूप हिम सीमान्तो के समीप परस्पर समान्तर मोरेन श्रेणियाँ बन जाती हैं और इनके फलस्वरूप जल-प्रवाह की दिशा में स्थानीय परिवर्तन (local change in drainage pattern) हो जाता है। जल-प्रवाह की दिशा-परिवर्तन हिम-सीमान्त के समीप होती है, जहाँ रोका गया जल श्रेणियो को काटकर अपना मार्ग बनाने की चेष्टा करता है। फलतः नालियो (channels) की रचना हो जाती है जिनका हिमाच्छादन पूर्व के जल-प्रवाह से कोई सम्बन्ध नही होता। निम्न प्रदेशो मे मूल घाटियाँ हिमनदी सचय से भर जाती है, अतएव जल-प्रवाह घूमकर हिम सीमान्त के समान्तर बहने लगता है।

जब हिमनदी मुहाने की तरफ से जलधारा की घाटी में प्रवेश करती है तो नदी का जल स्थायी अथवा अस्थायी रूप से रुक जाता है और झीलें बन जाती हैं। ये झीले घाटी के नीचे की तरफ या हिम सीमान्त की ओर उठी हुई भूमि के बीच या दो मोरेन श्रेणियों के बीच होती है। बाँध टूट जाने से झीलों का जल नाली से निकलने लगता है और झीलें शुष्क हो जाती है किन्तु उनके जल से बनी नदियाँ जल प्रवाह को बिलकुल उलट देती है। जब हिम सीमान्त कई नदियों के जल को रोककर झीलें बना देता है तो इन झीलों का जल नालियों द्वारा एक-दूसरे से मिल जाता है। तेज बहने वाली जल की राशि इन नालियों को रच देती है। ये प्रवाह नालियाँ स्थायी जल-प्रवाह से असम्बन्धित होती है। ये अग्रलिखित प्रकार की होती है :

---

[1] P. G Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 327

(i) **सीधी नालियाँ** (Direct Channels)—जिनमें जल मुख्य जल-विभाजक के आरपार प्रवाहित होता है।

(ii) **पार्श्ववर्ती नालियाँ** (Lateral Channe'ls)—जो हिम के किनारे-किनारे होती है या पर्वत-शाखाओं को काटकर निकलती है। दोनों ही अवस्थाओ में नालियो की व्यवस्था या तो समान्तर प्रणाली मे होती है या सम्बन्धित प्रणाली में। समान्तर प्रणाली की रचना एक ही पर्वत-शाखा को विभिन्न तल पर काटने से हो जाती है, जबकि दूसरी घाटियों में विभिन्न झीलों को जोडने से सम्बन्धित प्रणाली की रचना होती है।

उपरोक्त दोनों ही प्रकार की नालियों की तली सपाट और चपटी होती है तथा दोनों ओर तीव्र ढाल वाली दीवारे खडी होती है जिससे इनका आकार सँकरी घाटी या कन्दरा की तरह का हो जाता है।

जल-प्रवाह में परिवर्तन होने के अतिरिक्त जल-प्रवाह मुड़ भी जाता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप उत्तर की तरफ ढाल वाली नदी-घाटियों का ढाल दक्षिण की ओर हो जाता है। यह अवस्था उस समय होती है जब हिमनदी तथा हिमनदी-जल के प्रभाव से जल-विभाजक (Water parting) नीचे हो जाते है या वर्तमान धारा की तलहटी में पदार्थों का संचय हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन मुख्यतः उत्तरी अमरीका में हुआ है जहाँ सेण्ट लॉरेन्स नदी की बहुत-सी सहायक नदियों की धाराएँ मुड़कर दक्षिण की ओर बहने वाली मिसीसिपी नदी में गिरने लगी हैं।

(3) हिमनदियों द्वारा झीलों की भी रचना होती है। किन्तु ऐसी झीलें बहुधा अस्थायी होती है और इनकी रूपरेखा टेढी-मेढी होती है। इन्हे रूप आकार के आधार पर मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(i) वे जो लम्बी होती है और जो हाथ की अँगुलियो के समान होती है, (ii) वृत्ताकार या चन्द्राकार (circular or crescent) झीले और (iii) ताड़ वृक्ष के पत्तों के समान विस्तृत शाखाओ वाली झीलें।

हिमनदियों द्वारा निर्मित झीले अधिकतर कनाडा, फिनलैण्ड और संयुक्त राज्य मे पायी जाती है।

स्थिति के अनुसार हिम-निर्मित झीलें तीन प्रकार की हो सकती है

(i) **बाह्य सीमान्त झीलें**, जो पहाड़ी क्षेत्रों एस्कर, कैम या ड्रमलिन के ढेरों के बीच में जल के इकट्ठा हो जाने से या हिम-जल निर्मित मैदानों में बालू के गड्ढों में जल के भर जाने से बन जाती है।

(ii) **सीमान्तीय झीलें**, जो बहुधा हिम-प्रवाह के नीचे के जल के अन्तिम मोरेन के पीछे रुक जाने से बन जाती है। हिमानी के पीछे हटने पर अन्तिम मोरेन के बीच केटलीनुमा गड्ढों में जल इकट्ठा हो जाने से भी ऐसी झीले बन जाती हैं।

(iii) **अन्तर-सीमान्तीय झीलें**, जो घाटी की तली में हिमनदी द्वारा बनाये गये गड्ढों में जल भर जाने से बन जाती है। इस प्रकार की झीले दो प्रकार की हो सकती है: (i) चट्टानी गड्ढो वाली झीले, जो मोरेन संचय द्वारा नदी के जल रुक जाने से बनती है; तथा (ii) घाटी मोरेन द्वारा निर्मित झीले।

हिमनदित प्रदेशों की विशेषताएँ
(Characteristics of Glaciated Regions)

धरातल के जो भाग हिम से प्रभावित होते है उनकी आकृति अन्य भागों से भिन्न होती है। हिम उन प्रदेशों की अपवाह प्रणाली और उच्चावचन मे इस प्रकार परिवर्तन कर देती है कि वहाँ का समस्त भू-आकार ही बदल जाता है। प्रायः हिम प्रभावित क्षेत्रो में अग्रलिखित विशेषताएँ देखी जाती हैं:

(1) **भू-आवरण**—सामान्यतः हिम से अप्रभावित क्षेत्र में एकसी बनावट के शिलाखण्ड तथा जल सोखने वाली मिट्टियाँ पायी जाती है। समस्त भूमि नदियों के प्रभाव से स्थान-स्थान पर कटी हुई होती है। इसके विपरीत हिमाच्छादित प्रदेश मे धरातल पर विभिन्न किस्म और आकार-प्रकार के कंकड़-पत्थर एव शिलाखण्ड फैले हुए मिलते है। इन कंकड़-पत्थरों का उस प्रदेश की संरचना से कोई सम्बन्ध नही होता। ये सब किसी दूर प्रदेश से लाये जाते है। भूमि पर इनके
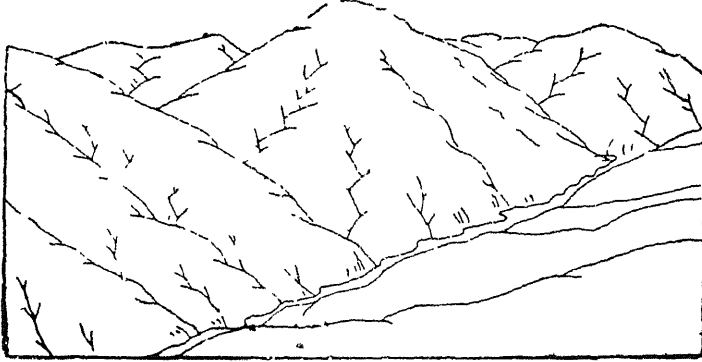
चित्र 283—पर्वतीय क्षेत्र हिमनदन के पूर्व
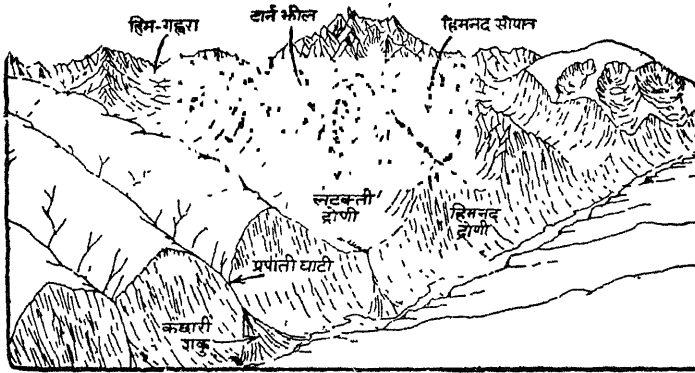
चित्र 284—पर्वतीय क्षेत्र हिमनदन के प्रभाव में
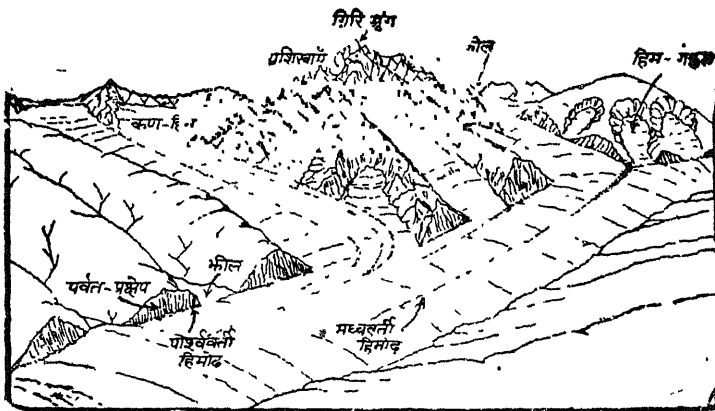
चित्र 285—पर्वतीय क्षेत्र हिमनदन के पश्चात

निक्षेप का विस्तार भी असमान रहता है। अन्य प्रदेशो की भाँति ये प्रदेश विखण्डित अथवा विच्छेदित नही होते।

(2) **चट्टानी धरातल**—हिम प्रभावित प्रदेशों का चट्टानी धरातल हिम-घर्षण के फलस्वरूप चिकना, चौरस और सपाट होता है। उसमे अन्य प्रदेशो की तरह ऊँचा-नीचापन नही पाया जाता है। हिम के कारण धरातल पर खरोंचे तथा खुरचाव अवश्य देखने मे आता है।

(3) **प्राकृतिक बनावट**—हिमावरण से विहीन क्षेत्रो की प्राकृतिक बनावट मे अपरदन के चिह्न अधिक देखे जाते है, परन्तु इसके विपरीत हिमाच्छादित प्रदेशो में निक्षेप का अधिक स्थान रहता है। हिम-निक्षेपण के द्वारा धरातल का ऊबड़-खाबडपन मिट जाता है। पर्वत और पहाडियाँ हिम-घर्षण से चिकनी तथा सुडौल बन जाती है। हिमानियो का अपरदन-कार्य उच्च पर्वतीय भागो तक सीमित रहता है। अपरदन के फलस्वरूप पर्वतीय भागों मे हिमगह्वर, U-आकार की लटकती घाटियाँ, विभाजक-पात्र, तली-पात्र, प्रशिक्षाएँ, कोल, कोमरिज, हार्न आदि भू-आकार बन जाते हैं।

अपवाह—हिम प्रभावित प्रदेशो की अपवाह प्रणाली मे भी भारी उलट-फेर देखा जाता है। हिम-प्रवाह के कारण समस्त प्रदेश में अनेक नयी झीले, सरिताएँ एव दल-दल विकसित हो जाते है। प्राचीन जल-प्रवाह प्रणाली नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

हिमनदीय अपरदन चक्र
(Glacial Cycle of Erosion)

अन्य बाह्य शक्तियो के समान हिममर्दित प्रदेशों मे भी कुछ विद्वानो ने हिमनदीय अपरदन चक्र का प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार हिम प्रदेशो मे हिमानी द्वारा होने वाला अपरदन विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि अधिकाश हिम अपरदित क्षेत्र या तो दुर्गम स्थानो मे है या हिम से ढके हुए है। ऐसी स्थिति मे वहाँ हिमनदीय अपरदन की विभिन्न अवस्थाओं का अवलोकन बडा ही कठिन है। अत 'सामान्य अपरदन चक्र' अथवा 'कार्स्ट चक्र' के समान 'हिमनदीय अपरदन चक्र' के सिद्धान्त का भली प्रकार प्रतिपादन नही किया जा सकता। जिन विद्वानो ने हिमनदीय अपरदन चक्र के बारे मे वर्णन प्रस्तुत किया है वह मात्र सैद्धान्तिक है। फिर हिमनदों द्वारा होने वाला अपरदन कभी भी समुद्र-तल से प्रभावित नहीं होता। इसलिए हिमनदीय अपरदन चक्र कभी अपनी अन्तिम अवस्था तक नहीं पहुँच पाता। इसके विपरीत हिम अपरदन मे विश्वास करने वाले विद्वानों का मत है कि हिम अपरदन से भूमि समतल होती है। ऊँचे अक्षांशों में हिम अपरदन द्वारा उत्पन्न कई समतलप्राय. मैदान देखे जा सकते हैं। हिम अपरदन से उत्पन्न ऐसे समतलप्रायः मैदानों के लिए **श्री डी० डी० केयरनेस** (D. D. Cairness) ने **'इक्वीप्लेनेशन'** (Equiplanation) शब्द का प्रयोग किया है। यदि समतलप्रायः मैदान अपोढ (Till) के निक्षेप से बनता है तो **एच० एम० ईकिन** (H. M. Eakin) ने उन्हें **आल्टीप्लेनेशन** (Altiplanation) कहना युक्ति-सगत माना है। हिम प्रदेशो मे हिम अपरदन से निर्मित समतलप्रायः मैदानो को **श्री ब्रायन किर्क** (Bryan Kirk) ने **क्रायोप्लेनेशन** की सज्ञा दी है। जहाँ तक हिम अपरदन की अन्तिम अवस्था का प्रश्न है इन विद्वानों की मान्यता है कि हिम अपरदन की अन्तिम अवस्था में समतलप्रायः मैदान की स्थिति आ सकती है। किन्तु इन मैदानों को सामान्य अपरदन चक्र के समतलप्रायः मैदानो की भाँति समुद्र-तल के बराबर लाने की कल्पना नहीं करनी चाहिए। चूंकि हिमनद ऊँचे पर्वतीय भागों में स्थित होते है इसलिए वहाँ हिमनद समस्त पर्वतीय भाग को काटकर इतना नीचा कर देते हैं कि उसका तल हिम-रेखा (Snow-line) से नीचा हो जाता है। इस प्रकार जब कोई हिम अपरदित क्षेत्र हिम-रेखा से नीचा हो जाता है तो हिमनद अधिक तापमान के कारण पिघलकर बह जाते है जिससे हिमनदों की समाप्ति हो जाती है। हिमनदों की समाप्ति के साथ ही साथ हिमनदीय अपरदन का एक चक्र पूर्ण हो जाता है। यद्यपि

हिमनदीय अपरदन चक्र के बारे मे भिन्न मत देखे जाते है लेकिन हिम अपरदित क्षेत्रों को देखने से यह स्पष्ट है कि वहाँ हिमनदों द्वारा होने वाला अपरदन कुछ निश्चित अवस्थाओं से होकर गुजरता है। हिमनदीय अपरदन चक्र की विभिन्न अवस्थाओ का विवरण नीचे दिया जा रहा है :

युवावस्था (Youthful Stage)—इस अवस्था मे सर्वप्रथम हिम पहले से बने हुए गड्ढों मे जमा होता है। हिम अपरदन तथा अपक्षय द्वारा इन गड्ढो का विस्तार होता है जिससे हिम-गह्वरो (Cirques) की रचना होती है। शनैः-शनैः हिमगह्वरों के विस्तार होते रहने से कई हिमगह्वर मिलकर सयुक्त हिमगह्वर (Compound cirque) की रचना करते है। हिमगह्वरो के विस्तार से पर्वतीय चोटियाँ घिसकर शृंग (Horn) के रूप मे बदल जाती है। दर्रों (Col) का कटाव होने लगता है। इस अवस्था में मुख्य हिम घाटी की अनेक सहायक हिम-घाटियाँ होती है किन्तु लटकती घाटियों (Hanging Valleys) का निर्माण अपूर्ण होता है।

प्रौढ़ावस्था (Matuie Stage)—इस अवस्था का प्रारम्भ उस समय होता है जबकि पर्वतीय क्षेत्रों की मुख्य हिमनद घाटियाँ मिलकर **बड़े-बड़े हिमनदों** (Trunk Glaciers) मे बदल जाते है। विभिन्न हिमनदों की अपनी विशेषताओं एव परिस्थितियो के कारण उनके द्वारा होने वाला अपरदन एकसमान नही होता। इससे लटकती घाटियों का बड़ी तेजी से विकास होता है। हिमगह्वरो की दीवारे तेजी मे पीछे हटती हैं जिससे शृग बहुत नुकीले हो जाते है। **तीक्ष्ण कटक** (Arete) यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते है। घाटी मे हिम सोपानो का एवं **पेटर नास्टर** झीलों का निर्माण हो जाता है। इस अवस्था मे हिम पात्र बडे हो जाते है और हिमगह्वरों का विकास इतना हो जाता है कि केवल ऊँचे शिखरों को छोडकर समस्त क्षेत्र हिमाच्छादित रहता है। ऊँचे पर्वतीय शिखर हिम के ऊपर **नुनाटक** (Nunatak) के रूप मे दिखाई पड़ते है। हिम क्षेत्रों में ये शैल शिखर **शैल द्वीप** (Rock Island) की भाँति दृष्टिगोचर होते है। प्रौढावस्था का अन्त उस समय होता है जबकि हिमगह्वर की शीर्ष दीवार एव घाटी की शीर्ष दीवार पीछे खिसकते-खिसकते आपस मे मिल जाती है।

जीर्णावस्था (Old Stage)—इस अवस्था के प्रारम्भ होने पर ऊँचे पर्वतीय भाग घिसकर नीचे होने लगते है। गड्ढे भरकर समतल बन जाते है। पर्वत श्रेणियाँ कटकर कंघीनुमा श्रेणियों मे बदल जाती है। विभिन्न रूपों में हिमोढ़ का निक्षेप होता है। अपोढ़ के निक्षेपों से समतल मैदानों का निर्माण हो जाता है। भूमि पर अनेक झीलें तथा दलदल बन जाते है। इस अवस्था में हिमनद पिघलकर पीछे हटने लगते है। हिमनदो के पीछे हटने के साथ ही अपरदन चक्र की समाप्ति हो जाती है।

पूर्वकालीन हिम-युग
(Past Ice-Ages)

संसार की जलवायु के अध्ययन से यह पता चलता है कि पृथ्वी के धरातल की जलवायु परिवर्तनशील रही है। पृथ्वी के इतिहास मे ऐसे कई युग हुए है जबकि भू-पृष्ठ के अनेक भाग हिम से ढके हुए थे। उदाहरणतः, कार्बन कल्प मे दक्षिणी गोलार्द्ध और अधिनूतन कल्प में उत्तरी गोलार्द्ध के अनेक हिस्से हिम आवरण से दबे हुए थे। इन हिम-युगो का प्रादुर्भाव किन कारणों से होता है, यह अभी भी एक विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी इन पूर्वकालीन हिम-युगों को स्पष्ट करने के लिए अनेक विद्वानों ने अपने विचार सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किये हैं। उनमें से कुछ सिद्धान्त यहाँ नीचे दिये जा रहे हैं :

सूर्य-ताप में अन्तर—वर्तमान समय मे वैज्ञानिक गवेषणा द्वारा यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि सूर्य-कलंकों (sun spots) की सख्या प्राय घटती-बढती रहती है। सूर्य-कलंकों की संख्या में कमी-बेशी होने का प्रभाव पृथ्वी पर प्राप्त सूर्य-ताप (insolation) की मात्रा पर होता है। अस्तु,

इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सम्भवतया किसी समय सूर्य-ताप की मात्रा मे बड़ी भारी कमी हो जाती है और इस तरह जब पृथ्वी पर प्राप्त सूर्य-ताप की मात्रा अत्यन्त क्षीण हो जाती है तो पृथ्वी पर हिम-युग का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस सिद्धान्त के पक्ष अथवा विपक्ष मे कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि इसको प्रमाणित करने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नही है।

कुछ ज्योतिषविदो की यह भी मान्यता है कि कभी-कभी सूर्य ऐसे नक्षत्रो के क्षेत्र में पहुँच जाता है जहाँ बड़ी भारी शीतलता रहती है। इस कारण सूर्य को वहाँ यथेष्ट गर्मी प्राप्त नहीं हो पाती। फलतः पृथ्वी पर भी तापमान की अत्यन्त कमी हो जाती है। यद्यपि यह सम्भव है कि सूर्य शीतल ग्रहों मे पहुँच जाता हो, परन्तु उससे पृथ्वी पर प्राप्त सूर्य-ताप की मात्रा मे कमी हो जाय, यह आधुनिक अध्ययन के अनुकूल नहीं है।

ध्रुवों का स्थानान्तरण—इस सम्बन्ध में अनेक लोगों का यह भी विचार है कि पृथ्वी के उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवो की स्थिति बदलती रही है। ध्रुवों के स्थानान्तरण से पृथ्वी की जलवायु सम्बन्धी कटिबन्ध भी स्थानान्तरित हुए है। इससे पृथ्वी पर की जलवायु मे महान परिवर्तन हुए होगे। किन्तु आधुनिक ज्योतिषविदों ने इस विचार का खण्डन किया है। उनका कहना है कि ध्रुवों की स्थिति मे बहुत अधिक परिवर्तन सम्भव नही है। यदि यह मान भी लिया जाय तो उसका पृथ्वी की संरचना पर अवश्य ही प्रभाव पड़ना चाहिए। परन्तु ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर उन्होंने ध्रुवों के विचलन के लिए आवश्यक शक्ति के बारे मे भी शका उठायी है।

पृथ्वी की धुरी की उत्केन्द्रता—प्रसिद्ध वैज्ञानिक केपलर के अनुसार पृथ्वी की धुरी की उत्केन्द्रता (eccentricity) का स्थिर नही होना ही हिमयुगो का प्रमुख कारण है। यद्यपि यह सही है कि पृथ्वी की धुरी की उत्केन्द्रता स्थिर नही है परन्तु उत्केन्द्रता के परिवर्तन आवर्तीय रूप से होते

चित्र 286—ध्रुवों का स्थानान्तरण

रहते है। अतः यदि इस सिद्धान्त को सही मान लिया जाय तो पृथ्वी पर अभी तक अनेक हिम-युग हो चुके होते, परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है।

वायुमण्डल में ज्वालामुखी राख की अधिकता—कुछ विद्वानों की धारणा है कि ज्वालामुखी विस्फोट के समय उद्गरित पदार्थो में से राख अथवा धूलि (ash) विस्फोट के उपरान्त वायुमण्डल मे छा जाती है। कभी-कभी वायुमण्डल में इसका आवरण इतना अधिक हो जाता है कि सूर्य की किरणें पृथ्वी पर नहीं पहुँच पातीं। यह स्वयं सूर्य के ताप को हड़प करने लगती हैं। फलतः धरातल पर सूर्य-ताप की मात्रा घट जाती है और उसका तापमान हिम-युग के अनुकूल हो जाता है।

इस सम्बन्ध मे परमियन और प्लीस्टोसीन हिम-युगो के पूर्व ज्वालामुखी उद्गार के प्रमाण भी प्राप्त हुए है । इस सम्बन्ध मे लोगो की मुख्य आपत्ति यह है कि जब हम प्लीस्टोसीन युग की हिमनदियो की अग्र एव पश्च गतियो और उस काल की ज्वालामुखी क्रिया के बीच सम्बन्ध बैठाने की चेष्टा करते है तो वह निष्फल होती है । फिर उनका यह भी कहना है कि ज्वालामुखी राख से ही हिम-युग का प्रादुर्भाव हो जाय, यह कदापि सम्भव नही है । ज्वालामुखी धूलि से आशिक रूप मे ही तापमान घट सकता है ।

महाद्वीपीय वहन—कई विद्वानों ने महाद्वीपीय प्रवाह (continental diift) को भी हिम-युग का कारण बताया है । उनका कहना है कि आज भिन्न-भिन्न महाद्वीपो मे एक ही काल के हिम-युगो के चिह्न मिलते है । अत यह सम्भव है कि वे सब पूर्व-काल मे परस्पर जुड़े हुए थे और बाद मे अलग हो गये । उदाहरणतः, दक्षिणी भारत, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया पहले आपस में जुड़े हुए थे । उन सब महाद्वीपो पर कार्बन कल्प के हिम-युग के चिह्न मिलते हैं । जहाँ तक इस सिद्धान्त का प्रश्न है कुछ विद्वानो ने इसके विपरीत यह सुझाव दिया है कि महाद्वीप और महासागर स्थायी रहे है । यदि महाद्वीपीय वहन को मान भी लिया जाये तो उससे सभी हिम-युगो का स्पष्टीकरण नही किया जा सकता । फिर अभी तक महाद्वीपो के वहन के लिए उपयुक्त शक्ति को नहीं खोजा जा सका है ।

वायुमण्डल में कार्बन एवं ओजोन गैस की कमी—कुछ विद्वानो ने वायुमण्डल मे विद्यमान कार्बन गैस को ही हिम-युगों का कारण माना है । वायुमण्डल में कार्बन गैस की मात्रा के घटने-बढ़ने से पृथ्वी का तापमान भी घट-बढ जाता है । प्रसिद्ध वैज्ञानिक चेम्बरलेन ने यह स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि वायुमण्डल मे कार्बन गैस की मात्रा के बढ जाने पर पृथ्वी पर तापमान भी बढ जाता है । इसका कारण यह है कि कार्बन गैस पृथ्वी से होने वाले ताप के विकिरण को रोकती है । फलतः पृथ्वी का तापमान बढ जाता है । किन्तु जब इसकी मात्रा घट जाती है तो पृथ्वी का तापमान भी कम हो जाता है । ऋतु-अपक्षय के अध्ययन मे हमने देखा था कि कार्बन और वाष्प दोनों का ही इसकी प्रक्रिया मे उपयोग होता है । अत जब कभी धरातल पर किसी नवीन स्थल का जन्म होता है तो ऋतु-अपक्षय (weathering) बढ जाता है । ऋतु-अपक्षय के बढ़ जाने से वायुमण्डल की वाष्प और कार्बन गैस दोनों की मात्रा घट जाती है । ऐसा होने पर धरातल पर शीतल जलवायु का जन्म होता है और कभी-कभी हिम-युग का भी सूत्रपात हो जाता है । कालान्तर में पुनः वायुमण्डल में कार्बन की मात्रा बढ़ती जाती है, क्योकि हिमावरण से ऋतु-अपक्षय का कार्य क्षीण हो जाता है और समुद्रों से बराबर काबन गैस बढती रहती है । जब वायुमण्डल मे कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है तो हिम-युग समाप्त हो जाता है ।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह स्पष्ट है कि कार्बन के घट जाने पर पृथ्वी का तापमान कम हो जाता है । परन्तु **हम्फी** ने गणित द्वारा बताया है कि कार्बन के 100 अथवा 50 प्रतिशत के कम हो जाने अथवा बढ़ जाने से पृथ्वी के तापमान पर कोई विशेष प्रभाव नही होता।[1] यह तभी सम्भव है जबकि इसकी मात्रा बहुत ही कम हो जाय । पर क्या ऐसा हो सकता है ? यह अभी सदिग्ध है ।

उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार रूसी वैज्ञानिको ने हाल ही मे अपनी आधुनिक गवेषणाओं के आधार पर नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । उन्होने अपनी गवेषणाओं द्वारा यह पता लगाया है कि वायुमण्डल में 30 किलोमीटर की ऊँचाई पर ओजोन (Ozone) गैस का एक अलग स्तर है । यह स्तर सूर्य-ताप का लगभग पाँचवाँ हिस्सा हड़प कर लेता है । वायुमण्डल में ओजोन की मात्रा प्रायः घटती-बढ़ती रहती है, इसलिए पृथ्वी के धरातल का तापमान भी घटता-बढ़ता

---

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 331

रहता है। इस विधि द्वारा जब पृथ्वी का तापमान बहुत ही कम हो जाता है तो हिम-युग का प्रादुर्भाव होता है। ओजोन की मात्रा का अवश्य ही तापमान पर प्रभाव होता है परन्तु केवल ओजोन की मात्रा कम हो जाने से ही हिम-युग सम्भव नही हो सकता।

कुछ भूगोल तथा भू-गर्भशास्त्रियो का कहना है कि धरातल पर हवाओ और जल-धाराओं की दिशाओ मे परिवर्तन, स्थल की ऊँचाई मे परिवर्तन और जल व स्थल के विन्यास मे परिवर्तन होने से ही हिम-युगो का प्रादुर्भाव हुआ है। इस सम्बन्ध मे केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि अधिनूतन हिम-युग (जो कि सबसे बाद का हिम-युग है) से लेकर आज तक जल और स्थल के विन्यास तथा हवाओ और जलधाराओ की दिशाओ मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुए है।

सिम्पसन का सिद्धान्त—सर जॉर्ज सिम्पसन ने हिम-युगो को स्पष्ट करने के लिए हाल ही मे सूर्य-ताप पर आधारित एक नवीन मत का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार अधिक सौर्य विकिरण के समय पृथ्वी के वायुमण्डल की गति बढ जाती है और वाष्प भी अधिक बनती है। अधिक वाष्प बनने से बादल भी अधिक बनेगे। बादलो की अधिकता होने पर पृथ्वी पर सूर्य-ताप की प्राप्ति मे बाधा उपस्थित होगी। ऐसी अवस्था मे पृथ्वी पर हिम-युग का प्रादुर्भाव होगा। किन्तु जब सौर्य-विकिरण लगातार बढता जायगा तो पुन हिम पिघलने लगेगी। यह काल हिमान्तर युग (inter-glacial period) होगा। तदनन्तर ज्यो-ज्यो सौर्य-विकिरण कम होता जायगा एक दूसरा हिम-युग प्रारम्भ होगा जिसका काल काफी बड़ा होगा। इस प्रकार सौर्य-विकिरण के पूर्ण दो चक्र (cycles) अधिनूतन हिम-युग के चार बार आगे बढने और पीछे हटने को स्पष्ट करते है।

उपसंहार—जलवायु के परिवर्तनो को स्पष्ट करने वाले उपरोक्त सिद्धान्तों पर विचार करने के बाद हमे यही प्रतीत होता है कि कोई सिद्धान्त पूर्ण नही है। प्रत्येक सिद्धान्त की कुछ न कुछ आलोचना की गयी है। अधिनूतन और मियोसीन हिम-युगो के बीच एक लम्बा शान्तिकाल बना रहा। इस शान्तिकाल का स्पष्टीकरण सिम्पसन का सिद्धान्त भी नही कर सका। **वारसेस्टर** (P. G. Worcester) के अनुसार कुछ आकस्मिक एव अनुकूल अवस्थाओं के कारण ही विशाल हिम-युगों का प्रादुर्भाव सम्भावित हो सकता है।[1] **थार्नबरी** (W. D Thornbury) का कहना है कि उपरोक्त सिद्धान्तों में से कुछ कारण सम्मिलित रूप से हिम-युगों के प्रादुर्भाव मे सहायक होते है।[2]

अधिनूतन हिम-युग
(Pleistocene Ice-age)

हमारी पृथ्वी का धरातल प्रारम्भ से ही न्यूनाधिक रूप मे हिम से प्रभावित रहा है। **लुई अगासीज** आदि विद्वानों ने सन् 1840 में इस बात को स्पष्ट प्रमाणित किया कि हमारी पृथ्वी वर्तमान समय की अपेक्षा पूर्व समय में हिम से विशेष प्रभावित हुई थी। इस प्रकार अब सभी लोग यह स्वीकार करते है कि हमारी पृथ्वी अनेक हिम-युगों से गुजर चुकी है। किन्तु विद्वानों ने दो हिम-युगों की ओर स्पष्ट संकेत किया है—(1) कार्बोनीफेरस हिम-युग, और (2) अधिनूतन हिम-युग। अधिनूतन हिम-युग पृथ्वी के इतिहास का सबसे अन्तिम और सबसे छोटा हिम युग है। अत इसके बारे में हमारी जानकारी अधिक है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि पृथ्वी के धरातल से लगभग 10,000 वर्ष पूर्व ही इस हिम-युग के चिह्न लुप्त हुए थे। विद्वानों की यह मान्यता है कि मियोसीन युग में पृथ्वी का धरातल हिम के प्रभाव से प्रायः मुक्त था। परन्तु उसके बाद से ही धरातल पर हिम का क्रमशः प्रभाव बढता गया और अन्त में वह युग आया जिसे हम अधिनूतन युग के नाम से पुकारते हैं।

---

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 334
2 W. D. Thornbury : *Principles of Geomorphology*, p. 334

अधिनूतन हिम-युग ससारव्यापी हिम-युग हुआ है । इस युग मे अनेक बार हिम-स्तर (Ice-sheets) आगे बढे व पीछे हटे है । वह समय जो हिम-स्तर के आगे बढने और पीछे हटने के बीच मे पाया जाता है, अन्तर हिमकाल (Inter glacial period) कहलाता है । इस समय हम उस युग से गुजर रहे है जबकि हिम-स्तर (Ice-sheets) पीछे की ओर हट गये है । अन्तर हिमकाल की अवधि प्राय. काफी लम्बी होती है । पूर्वकाल मे अन्तर हिम-काल हजारो वर्ष लम्बे रहे हैं । सर्वप्रथम प्रसिद्ध भू-गर्भवेत्ता **जेम्स गीक** (Jams Geike) ने इस ओर सकेत किया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '**ग्रेट आइस एज**' मे इसका विस्तृत वर्णन भी किया है । प्रारम्भ मे उसके विचारो की बडी तीव्र आलोचना हुई, परन्तु सन् 1909 मे आल्प्स पर्वत मे **पेक** तथा **ब्रूकनर** द्वारा की गयी खोजो के उपरान्त उनके विचारो को मान्यता प्राप्त हो गयी ।

चित्र 287—अधिनूतन कल्प में जलवायु की अवस्थाएँ और हिम की गतियों का सम्बन्ध

समस्त संसार मे प्रधान हिम-युग तथा अन्तर हिमकाल लगभग एक ही समय हुए है । यह बात अब ससार के विभिन्न भागों में हुई खोजो से स्पष्ट है । 19वी शताब्दी में ग्रीनलैण्ड, अण्टार्कटिका, स्केण्डिनेविया, आल्प्स, हिमालय तथा एण्डीज आदि की हिमानियाँ एक ही साथ सिकुड़ीं और पीछे हटी थी । साधारणत: अधिनूतन हिम-युग दस लाख वर्ष का माना जाता है। इस अवधि मे इसके विकास और हिमानियो के प्रसार के चार क्रम देखे जाते है । ये चार क्रम इस हिम-युग के चार उपयुग (Epochs) है, जो निम्न है :

(1) गुज (Gunj) अति प्राचीन,
(2) मिण्डेल (Mindel),
(3) रिस (Riss),
(4) वुर्म (Wurm) ।

उपरोक्त चार हिम-युगो मे गुज सबसे प्राचीन है । गुज के बाद क्रमश. मिण्डेल, रिस और वुर्म-युग हुए है । इन हिम-युगों के हिमोढ-निक्षेप मे भिन्नता पायी जाती है, जिनसे उपरोक्त हिम-युगो की उपस्थिति और उनका प्रसार सिद्ध होता है ।

हिम-युग की हिमानियो का पृथ्वी के धरातल और उसके विकास-क्रम पर गहरा प्रभाव होता है । धरातल के क्षय के अतिरिक्त हिम द्वारा स्थल और समुद्र के आपेक्षिक तल में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है । भू-सन्तुलन सिद्धान्त (Isostasy) के प्रतिपादित होने के पूर्व सन् 1865 में **मिसन** ने सिद्ध कर दिया था कि हिम-टोपियाँ (Ice-caps) के भार के कारण पृथ्वी का धरातल उस स्थान पर नीचे धँस जाता था और बर्फ के पिघलने के बाद पुन. ऊपर उठ जाता था । अधिनूतन हिम-युग मे स्थल और समुद्र के पारस्परिक तल (levels) में बड़ी मात्रा मे अन्तर हुआ है ।

हिम-स्तरो (Ice-sheets) के बनने के लिए बड़ी मात्रा मे जल की आवश्यकता होती है । इतनी बड़ी जल-राशि समुद्र मे ही उपलब्ध हो सकती है । धरातल पर प्रत्येक बार हिम-स्तर के बढ़ने के साथ समुद्र की सतह नीची हुई है और उसके पिघलने पर सतह पुन. ऊँची उठी है । इस तरह हिम-युगों मे पृथ्वी के धरातल पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है ।

उत्तरी अमरीका में हिमावरण का प्रभाव

उत्तरी अमरीका मे फैले हिमावरण के सम्बन्ध मे **लुई आगासीज** ने 1837 ई० में सर्वप्रथम अध्ययन कर उसके प्रभाव का पता लगाया । अधिनूतन हिम-युग में इस महाद्वीप के लगभग 40 लाख वर्गमील क्षेत्र मे हिमावरण था । इस हिमावरण के तीन प्रमुख केन्द्र थे—(1) किवाटिन

(Keewatin) केन्द्र, (2) लेब्रेडोर केन्द्र, (3) पश्चिमी कार्डिलेरा। इन तीनों ही केन्द्रों से हिम चारों ओर फैलनी प्रारम्भ हुई। किवाटिन हिम-केन्द्र हडसन की खाडी के निकट स्थित था। इस हिम-केन्द्र से उत्तर, दक्षिण व पश्चिम की ओर कई हजार वर्गमील क्षेत्र मे हिम का प्रसार हुआ। दक्षिण की ओर मिसौरी नदी इनकी सीमा बनाती है। लेब्रेडोर हिम-केन्द्र क्यूबेक के पठार पर स्थित था। इसने समूचे पठार को घेर रखा था। इस हिम-केन्द्र से लगभग 1,600 मील दक्षिण की ओर ओहियो नदी तक हिम का प्रसार हुआ था। इस हिमावरण की मोटाई लगभग 10,000 फुट थी। किवाटिन और लेब्रेडोर हिम-खण्ड अन्त मे परस्पर मिल गये थे। पश्चिमी कार्डिलेरा केन्द्र ब्रिटिश कोलम्बिया में रॉकीज एव तटीय-श्रेणियो पर स्थित था। इस हिम-खण्ड मे पर्वतपदीय एवं अल्पाइन हिमानियाँ फैली हुई थी। इस प्रकार यह हिम-खण्ड क्रमबद्ध और अनवरत रूप से नहीं फैला हुआ था।

उपरोक्त तीन हिम-केन्द्रों के अतिरिक्त न्यूफाउण्डलैण्ड में भी एक स्थानीय हिम-केन्द्र था। यद्यपि उत्तरी अमरीका का समस्त उत्तरी भाग हिमावरण से प्रभावित था, किन्तु अलास्का अपेक्षाकृत इसके प्रभाव से वंचित था।

उत्तरी अमरीका मे अधिनूतन हिम-युग मे हिम प्रसार एक ही बार न होकर कई बार हुआ। यहाँ हिम प्रसार के स्पष्ट चार काल हुए है। इन चार हिमकालो के बीच अन्तर-हिमानी-काल (inter-glacial period) पाये जाते है। ये चारो हिमकाल एवं अन्तर-हिमानी-काल निम्न प्रकार है :[1]

आधुनिक (अन्तर-हिमानी-काल)
विसकन्सिन (चतुर्थ हिम-काल)
सेनगामोन (अन्तर-हिमानी-काल)
इलीनॉयन (तृतीय हिम-काल)
यारमाउथ (अन्तर-हिमानी-काल)
कासन (द्वितीय हिम-काल)
आफटोनियन (अन्तर-हिमानी-काल)
जर्सियन या निब्रास्कन (प्रथम हिम-काल)

उत्तरी अमरीका में हुए आधुनिक हिमावरण के कारण वहाँ के धरातल में अभूतपूर्व परिवर्तन देखे जाते हैं। यहाँ की बड़ी झीलों की रचना क्रमशः हिमावरण के पीछे हटने का परिणाम है। हिमप्रवाह के कारण यहाँ की अपवाह व्यवस्था मे भी भारी उलट-फेर देखा जाता है। कई नदियाँ जो पहले सेण्ट लारेन्स की सहायक थी, अपवाह में परिवर्तन हो जाने से अब मिसीसिपी नदी की सहायक बन गयी है। इसी प्रकार ओहियो नदी जो पहले उत्तर की ओर बहती थी, अब दक्षिण की ओर बहती है। न्यू इगलैण्ड राज्य में हिमोढ के निक्षेपण से उपजाऊ भूमि बन गयी है। कनाडा में हिम-अपरदन से समस्त उपजाऊ मिट्टी बह गयी और वहाँ भूमि मे गड्ढों तथा खरोंचों की भरमार हो गयी। अतः कनाडा में सर्वत्र अनेक छोटी-बड़ी झीले एवं दलदल पाये जाते है।

यूरोप में हिमावरण का प्रभाव—उत्तरी अमरीका की भाँति यूरोप के उत्तरी भाग में भी एक विशाल हिम-चादर फैली हुई थी। इसका क्षेत्रफल लगभग 30 लाख वर्गमील था। इसका प्रधान केन्द्र स्केण्डीनेविया का उच्च प्रदेश था। इसके अन्य केन्द्र स्कॉटलैण्ड और यूराल पर्वत में स्थित थे। इन केन्द्रों से हिम का विस्तार सभी दिशाओ में हुआ। स्केण्डीनेविया हिम-चादर से

---

1 P. G. Worcester : *Text Book of Geomorphology*, p. 323

हिम का प्रसार पश्चिम में उत्तरी सागर, पूर्व मे फिनलैण्ड और रूस के अधिकांश उत्तरी-पश्चिमी भाग एवं दक्षिण मे डेनमार्क, हॉलैण्ड, जर्मनी एवं पोलैण्ड के उत्तरी भागों तक था। स्कॉटलैण्ड केन्द्र से जो हिम का प्रसार हुआ उसने समूचे आयरलैण्ड और ग्रेट ब्रिटेन को ढक रखा था। केवल ब्रिटेन का दक्षिणी छोर हिम से मुक्त था। यूराल हिम-चादर का विस्तार यूराल पर्वत के पूर्व में साइबेरिया के उत्तरी-पश्चिमी भाग तक था। इन तीन हिम-केन्द्रो के अतिरिक्त मध्य यूरोप मे आल्प्स एवं अन्य पर्वतों पर हिमावरण का बहुत बड़ा विस्तार था। उत्तरी अमरीका की भाँति यूरोप में भी हिमावरण के स्पष्ट चार हिमयुग—गुंज, मिण्डेल, रिस और वुर्म—हुए है। जर्मनी और हॉलैण्ड में पाये जाने वाले चार प्रकार के हिमोढ—इल्सटर (Elster), साले (Saale), फ्लेमिंग (Flaming) तथा विसेल (Weichsel), इन चार हिम-युगो के ही परिचायक है। अन्य स्थानों पर भी इन हिम-युगों के हिमोढ़ पाये जाते है। आल्प्स प्रदेशों में दो प्रकार के हिमोढ़ देखे जाते है—(1) नवीन हिमोढ़, जिन पर अभी अनाच्छादन का कोई प्रभाव नही हुआ है; (2) प्राचीन हिमोढ़, जिनका गहराई तक अपक्षय हुआ है और उनका अब असली स्वरूप देखने में नही आता।
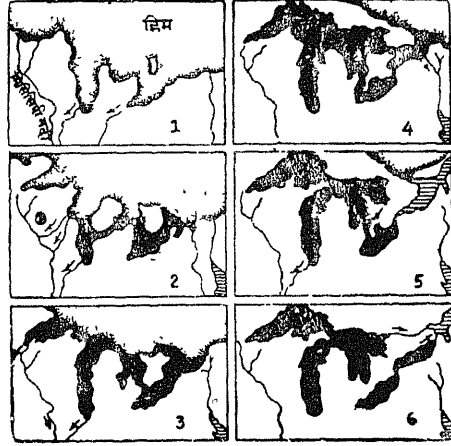
चित्र 288—पीछे हटते हुए हिमावरण के साथ बड़ी झीलों का विकास

उत्तरी अमरीका की भाँति यूरोपीय हिमावरण का बाल्टिक सागर के उत्तर में फिनलैण्ड, स्वीडन तथा नॉर्वे पर विशेष प्रभाव हुआ है। हिमावरण के कारण इस क्षेत्र की तमाम उपजाऊ भूमि बह गयी और उसके स्थान पर जहाँ-तहाँ हिम-निक्षेप की अनेक श्रेणियाँ बन गयी हैं। इस प्रकार नॉर्वे, स्वीडन तथा फिनलैण्ड की अधिकतर भूमि अनउपजाऊ हो गयी। यही नहीं, इसके प्रभाव से इस समस्त क्षेत्र में जगह-जगह झीले तथा दलदल बन गये है और सम्पूर्ण जल-प्रवाह में उथल-पुथल हो गयी है। नदियों में अनेक जल-प्रपातो की रचना हो गयी है जिससे यहाँ की नदियाँ जल-विद्युत के लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण है। किन्तु नौका-संचालन के लिए ये नितान्त ही अयोग्य सिद्ध हुई है। इस क्षेत्र मे नॉर्वे के प्रसिद्ध फियोर्ड्स की रचना भी हिमनदी घाटियो के जलमग्न होने से ही हुई है।

बाल्टिक सागर के दक्षिण मे मध्य जर्मनी और जटलैण्ड प्रायद्वीप के अन्दर समुद्रतट के सहारे पश्चिम से पूर्व की ओर सैकड़ों मीलो तक समान्तर रूप में फैली हुई हिमोढ़ की श्रेणियाँ पायी जाती है। इन श्रेणियों के उत्तर मे उपजाऊ मिट्टी पायी जाती है, परन्तु दक्षिण मे दलदली घाटियाँ तथा झीले पायी जाती हैं। यहाँ जगह-जगह अपरदित पदार्थो के निक्षेप पाये जाते है जो कि जल-धाराओ द्वारा इधर-उधर छितरा दिया गया है। उत्तरी-पश्चिमी जर्मनी और उत्तरी-पूर्वी हॉलैण्ड मे हिम जल-धाराओं का विशेष प्रभाव हुआ है। इन धाराओ के कारण यहाँ बालू व बजरी के विस्तृत निक्षेप हुए है और इन निक्षेपों के बीच यत्र-तत्र हीथ और मूर प्रदेश बन गये हैं।

उत्तरी अमरीका की बड़ी झीलों की भाँति यूरोप में बाल्टिक समुद्र का विकास भी हिम के पिघलने से हुआ। किन्तु इसका विकास एक ही बार में नही हुआ। हिम पिघलने से जैसे-जैसे हिमावरण पीछे हटता गया बाल्टिक समुद्र का रूप भी स्पष्ट होता गया। वस्तुतः हिमावरण के

उत्तर की ओर हटने के फलस्वरूप विशाल गर्तो की रचना हुई जिसमे जल भर जाने से विशाल समुद्र की रचना हुई ।

आल्प्स पर्वत पर फैली हिमानियो के प्रभाव से स्विट्जरलैण्ड तथा उत्तरी इटली मे अनेक झीलो की रचना हुई ।

हिमावरण के हटने के उपरान्त हिम-अपरदित पदार्थों की विशाल राशि समुद्रों मे भी निक्षेपित हुई, जिससे कई भागों मे महाद्वीपीय सागर बन गये । इसके अतिरिक्त हिमानी निक्षेप के कारण उत्तरी सागर मे डागर बैंक तथा न्यूफाउण्डलैण्ड के निकट ग्राण्ड बैंक की रचना हुई जो आज विश्व में मछली पकडने के अद्वितीय क्षेत्र माने जाते है ।

एशिया में हिमावरण का प्रभाव—यूरोप एव उत्तरी अमरीका की भाँति एशिया महाद्वीप पर भी हिमावरण का प्रभाव था । यूरोप के आल्प्स पर्वत की तरह मध्य एशिया के पठार एवं पर्वत श्रेणियाँ तथा हिमालय पर्वत विशाल हिमावरण से ढके हुए थे । यहाँ कई हिमानियाँ मैदानो तक फैली• हुई थी । हिमालय और उसकी कई श्रेणियों पर आज भी घाटी अथवा पर्वतपदीय हिमानियाँ पायी जाती है । ऐसा विश्वास किया जाता है कि साइबेरिया हिमावरण से मुक्त था । केवल पश्चिमी साइबेरिया ही यूराल हिम-क्षेत्र से ढका हुआ था । किन्तु रूसी विशेषज्ञो की यह मान्यता है कि समस्त साइबेरिया हिमावरण से प्रभावित था । उन्होने अपने मत की पुष्टि में अनेक ऐसे चिह्न खोज निकाले है जो हिमानी द्वारा छोड़े गये है ।

दक्षिणी गोलार्द्ध में हिमावरण का प्रभाव—अधिनूतन हिम-युग का प्रभाव ससारव्यापी था । उत्तरी गोलार्द्ध के समान दक्षिणी गोलार्द्ध मे भी अनेक क्षेत्र इस काल मे हिम से ढके हुए थे । आस्ट्रेलिया में न्यूसाउथवेल्स और टस्मानिया के अधिकाश भाग हिमावरण से प्रभावित थे । दक्षिणी अमरीका मे दक्षिणी चिली एव पेटेगोनिया, दक्षिणी अफ्रीका का केप प्रान्त व न्यूजीलैण्ड आदि भी हिम से ढके हुए थे ।

भारत में पूर्वकालीन हिम-युग—पृथ्वी पर पूर्व-काल मे एक के बाद एक अनेक हिम-युग हुए है । भारत भी इन हिम-युगो से प्रभावित रहा है । किन्तु यहाँ सभी हिम-युगो के चिह्न नही देखे जाते है । यहाँ तो धारवार, गोण्डवाना और अधिनूतन तीन हिम-युगो के ही स्पष्ट चिह्न देखे जाते है ।

धारवार हिम-युग के चिह्न दक्षिण भारत मे पाये जाते हैं । आर० बी० फुट ने बताया है कि दक्षिण मे कालड्रुग सम्पिण्डाश्यम (Kaldrug Conglomerate) की अष्टीलाओं पर हिमावरण के कारण अनेक खुरच के चिह्न बने देखे जाते हैं । ये चिह्न धारवार हिम-युग के ही प्रतीत होते है और भारत मे हिमावरण के सबसे प्राचीन प्रमाण है ।

धारवार के अतिरिक्त गोण्डवाना हिम-युग के चिह्न भी यहाँ कई स्थानों पर देखे जाते है । निम्न गोण्डवाना युग (Lower Gondwana Period) में उड़ीसा की तलचीर शिलाओं में हिमावरण के स्पष्ट चिह्न देखे जाते है । इन शिलाओं के निम्न भागों में गोलाश्म के स्तर (Boulder beds) पाये जाते है जो कि इस काल के हिम-युग को प्रमाणित करते है । ऐसे ही प्रमाण राजस्थान, मध्य प्रदेश, शिमला, हजारा और साल्टरेन्ज की शिलाओं मे भी देखे जाते है । फिर इस हिम-युग के प्रमाण गोण्डवाना भूमि के अन्य भागों—आस्ट्रेलिया और अफ्रीका—में भी देखे जाते हैं ।

भारत का सबसे अन्तिम हिम-युग अधिनूतन हिम-युग है । यह हिम-युग ससार-व्यापी था और इसका प्रभाव भी सबसे अधिक हुआ है । भारत में यद्यपि इसका प्रभाव उत्तरी भारत में ही सर्वाधिक हुआ है, किन्तु दक्षिण भारत की जलवायु भी इसके फलस्वरूप बहुत अधिक शीतल हो

चली थी। । दक्षिण भारत के नीलगिरि पर्वत में हिमालय प्रदेशीय जन्तुओं का पाया जाना इसको स्पष्ट प्रमाणित करता है। हिमालय प्रदेश में इस हिम-युग के प्रायः सभी चिह्न पाये जाते है।

हिमानियों का मानव-जीवन पर प्रभाव

हिमानियाँ अनाच्छादन का एक प्रमुख साधन है। अत. विगत काल के धरातल के जो भाग हिमावरण से प्रभावित थे, वहाँ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए है। हिम के अपरदन और निक्षेप-कार्यों से न केवल स्थलाकृति मे ही परिवर्तन आया है। अपितु परोक्ष रूप मे उसका मानव-जीवन पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का विशद विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :

(1) **कृषि भूमि का विस्तार**—हिमानी निक्षेप मे अपोढ का विशेष महत्त्व है। इसमें ककड़-पत्थर से लेकर बालू व चीका तक मिली होती है। इस अपोढ़ के निक्षेप से अनेक स्थानों पर भूमि समतल बन गयी। संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन व फ्रांस के कई भागो में आवरण शैल (mantle rock) की वृद्धि महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। ऐसे अनेक भाग जो अत्यन्त ढालू थे और कृषि के लिए अयोग्य थे, अपोढ़ के निक्षेप के बाद कृषि के योग्य बन गये। अपोढ के निक्षेप से कई स्थानों पर मिट्टी के गुणों मे भी सुधार हो गया। सामान्यतः यह मिट्टी उस मिट्टी की अपेक्षा अधिक उत्तम और उपजाऊ होती है जो हिमावरण के प्रभाव से पूर्व वहाँ स्थानीय चट्टानों के टूटने से बनी थी। इस प्रकार हिमानियो द्वारा बिछायी गयी उपजाऊ मिट्टी का विस्तार पूर्वी अंगलिया और प्रेरीज के मैदानों मे पाया जाता है, जो गेहूँ की पैदावार के लिए बहुत ही उपयुक्त है। ऐसी ही मिट्टी दक्षिणी इंगलैण्ड और उत्तरी-पूर्वी फ्रास मे भी पायी जाती है। इन भागों में हिमानी द्वारा निक्षेपित अपोढ के कारण न केवल कृषि-भूमि का विस्तार ही हुआ है, अपितु कृषि-पैदावार की भी भारी उन्नति हुई है। यह सत्य है कि कई भागों मे अपोढ़ के निक्षेपण से उपजाऊ कृषि-भूमि बेकार हो गयी है। उत्तरी जर्मनी और पोलैण्ड मे अपोढ के रूप में बालू के बिछ जाने से भूमि अनुपजाऊ हो गयी है, किन्तु ऐसी अनुपजाऊ भूमि का क्षेत्र कम है। कभी-कभी हिमानी निक्षेप के कारण एक ही क्षेत्र मे कई प्रकार की मिट्टियाँ मिलती है जो अपने उपजाऊपन मे एक-दूसरे से भिन्न होती हैं।

(2) **मानव आवास के लिए भूमि की सुविधा**—हिमानी के निक्षेपण कार्य से अनेक स्थानों पर गोलाश्म-मृत्तिका के मैदान बन गये है। इन मैदानों में उगे वनों को साफ करके मानव आवास के लिए बस्तियाँ बसाना सम्भव हुआ है। फिर ये मैदान कृषि के लिए भी अनुकूल सिद्ध हुए हैं। जहाँ कहीं हिमनदोढगिरि की स्थलाकृति पायी जाती है, वहाँ इन टीलो के ढालों पर बस्तियाँ बसायी गयी है। हिमानी की अपोढ मे उपयोगी इमारती पत्थर भी पाये जाते है, जिनसे मकान बनाये जाते हैं।

(3) **कच्चे माल की प्राप्ति**—हिमानी द्वारा निक्षेपित पदार्थो में ऐसे पत्थर एवं मिट्टियाँ पायी जाती है जो सीमेण्ट, चीनी-मिट्टी के बर्तन, मिट्टी के बर्तन तथा ईट और खपरैल बनाने के लिए उपयोगी होते है। अत. इन पदार्थो से कई उद्योगो को कच्चा माल प्राप्त होता है।

(4) **रेलें तथा सड़कें बनाने में सुविधा**—हिमनदन के फलस्वरूप कई स्थानों पर ढाल की विषमता कम हो गयी और उनकी दुर्गमता नष्ट हो गयी। फलस्वरूप वहाँ रेलें और सड़कें बनाना अधिक सरल हो गया जिससे परिवहन की सुबिधाओ में भारी सुधार हुआ है। इसके साथ ही कई स्थानो पर इसका विपरीत प्रभाव भी हुआ है।

हिमोढ के निक्षेपण वाले क्षेत्रों मे बालू, बजरी, कंकड़ एवं मिट्टी आदि पदार्थ बहुलता से प्राप्त होते है। इसका स्पष्ट प्रभाव रेल एव सड़क-मार्गो के बनाने पर पड़ता है। हिमोढ़ के क्षेत्रों मे सड़के बनाने का खर्च बहुत कम होता है।

(5) **अच्छे पोताश्रयो की सुविधा**—हिमानियो ने कई भागो मे समुद्र तटों पर फियोर्ड की रचना की है। ये फियोर्ड काफी गहरे और लम्बे होते है, जिससे ये जहाजो के लिए उत्तम पोताश्रयों

का निर्माण करते है। नार्वे, ब्रिटेन, कनाडा के पश्चिमी तट पर अनेक सुन्दर बन्दरगाहों का विकास इन फियोर्ड्स के कारण ही हुआ है।

(6) **नदियों के उद्गम स्रोत**—संसार की अनेक बड़ी नदियों का उद्गम हिमानियों द्वारा ही होता है। भारत मे गंगा, यमुना, सतलज, ब्रह्मपुत्र आदि बड़ी नदियाँ हिमालय में स्थित हिमानियों के द्वारा ही निकलती हैं। कई स्थानों पर हिमानियों ने झीलो की रचना की है जो नदियो को जन्म देती है। उदाहरणत', सेण्ट लारेन्स नदी हिमानी-निर्मित ईरी झील से निकलती है। झीलें केवल नदियो को जन्म ही नहीं देतीं वरन् उनके प्रवाह को नियमित एवं स्थायी बनाने मे भी योग देती है।

(7) **जल प्राप्ति की सुविधा**—हिमनदित क्षेत्रो मे असख्य झीलों की सृष्टि होती है। कनाडा व फिनलैण्ड इसके ज्वलन्त प्रमाण है। इन झीलो से न केवल मीठा पेय-जल ही प्राप्त होता है वरन् औद्योगिक कार्यो तथा कृषि-कार्यो के लिए भी जल उपलब्ध होता है।

सामान्यत हिम निक्षेपित अपोढ काफी मोटा होता है। यह अपोढ असगठित होता है जिससे वर्षा का जल इसमें शीघ्रता से प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार अपोढ अपने भीतर बड़ी मात्रा मे जल का सचय कर लेते है जो धीरे-धीरे पुनः बाहर आता रहता है। ऐसे भागो में कुओ द्वारा जल प्राप्त करने मे बड़ी सुविधा रहती है।

(8) **व्यापार मार्गो की सुविधा**—महाद्वीपीय हिमानियों ने कई स्थानों पर भूमि को खोदकर विशाल झीलो की रचना की है। ये झीलें वस्तुतः तली पात्र झीले है। ये झीलें स्टीमरो एव जहाजो के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। सयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा में बड़ी झीले बहुत ही सुन्दर व्यापारिक मार्ग प्रस्तुत करती है। इनमे कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका के व्यापार को आशातीत लाभ पहुँचा है। यदि ये झीले वहाँ न हो तो ……?

(9) **जल-विद्युत की सुविधा**—हिमनदित प्रदेशों की एक विशेषता वहाँ पायी जाने वाली टँगी घाटियाँ है। ये टँगी घाटियाँ उत्तम जल-प्रपातों की रचना करती है। हिमावरण के क्षेत्रों में जल-प्रपातो की अधिकता से जल-विद्युत के विकास मे बड़ी सुविधा हुई है। स्कैण्डिनेविया, फिनलैण्ड, कनाडा और पूर्वी संयुक्त राज्य अमरीका में जल-विद्युत शक्ति का जो इतना अधिक विकास हुआ है उसके पीछे वहाँ किया गया हिमानियों का कार्य ही मुख्य है।

(10) **सुरम्य स्थानों की रचना**—हिमानियों द्वारा पर्वतों एवं पठारों पर अनेक विचित्र भू-आकार बन जाते है। झीलो एव प्रपातो के रूप मे भी वे मनोरम स्थानों की सृष्टि करते हैं। स्विट्जरलैण्ड व अमरीका मे झीलों की सुन्दरता से आकर्षित होकर प्रतिवर्ष हजारों मनुष्य ग्रीष्मकाल मे यहाँ भ्रमण करने आते हैं।

हिमावरण का मानव-जीवन पर कितना व्यापक और गहरा प्रभाव होता है यह प्रो० डेविस (Davis) के निम्न शब्दों द्वारा और भी भली प्रकार समझा जा सकता है। उसका कहना है कि

"The vanished ice-sheets are of greater importance in American geography than the Indians in American history." We cannot accurately tell what would have been the condition of the country had a glacier not visited it……What-ever the origin of the drift and whenever it came, the present geographic con-ditions on opposite sides of their common boundary have given rise to differences in crops and in values, in the cost and facility of road and rail-road construction, in the occupations and thrift of the inhabitants, and even in the distribution and density of the population."[1]

---

[1] A. L. Seeman : *Physical Geography*, p. 256

29

बहते हुए जल का कार्य

(WORK OF THE RUNNING WATER)

बहता हुआ जल धरातल के अनाच्छादन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। अनुमान है कि नदियाँ प्रतिवर्ष लगभग 27,000 घन किलोमीटर जल स्थल से बहाकर समुद्र में पहुँचाती है। इस विशाल जल-राशि को समुद्र में पहुँचने से पूर्व लगभग आधा मील—समुद्रतल से स्थल की औसत ऊँचाई आधा मील है—नीचे उतरना पड़ता है। यदि यह समस्त जल-राशि आधे मील की ऊँचाई से खड़े रूप मे (vertically) नीचे गिरे तो सहज ही उसकी कल्पना की जा सकती है। नदियों के बहते हुए जल मे यही शक्ति निहित है। इसी शक्ति के द्वारा बहता हुआ जल धरातल पर विशाल परिवर्तन करने मे समर्थ होता है।

नदियाँ भू-पटल का बड़ा ही व्यापक और विशिष्ट भौतिक रूप है। इनकी उत्पत्ति भूमि के ढाल और वर्षा के कारण होती है। वर्षा के तुरन्त बाद वर्षा-जल का तात्कालिक वाह (immediate run off) एक चादर (sheet) के रूप मे प्रारम्भ होता है, किन्तु शीघ्र ही वह ढाल के रूप में बहने लगता है। जल के इस बहाव से भूमि पर एक लम्बी नाली (gash) की रचना होती है। धीरे-धीरे वह नाली एक बड़ी अवनालिका (gully) में परिणत हो जाती है। वर्षा के कारण शनैः-शनैः अवनालिका गहरी होती जाती है। जब वह पर्याप्त हो जाती है तो अधोभूमि जल भी उसमें बहने लगता है जिससे उनका रूप एक नदिका (rivulet) का हो जाता है। इस प्रकार अनेक नदिकाओं के संयोग से ही नदी (river) का जन्म होता है। धरातल पर नदी के बनने तथा उसके विकास में वर्षा-जल के अतिरिक्त झीलें, भूमिगत जल, झरने तथा हिमनदियाँ भी अपना महत्त्वपूर्ण योग देती है। यद्यपि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों (भूमि का ढाल, संरचना व जलवायु) में नदियों का रूप भिन्न-भिन्न (छोटी व बड़ी, अस्थायी व स्थायी) होता है किन्तु वे सभी जल-धाराएँ जो भूमि पर स्वाभाविक रूप से बहती है, नदियाँ (rivers) कहलाती है। **टार व मार्टिन** के अनुसार, "A river is a natural drainage line on the land." **मोन्कहाउस** के विचार मे, "A river is a mass of flowing water over the land surface, from its source in a spring, a marsh, at the end of a glacier or as the collected surface run-off of rain water, until it reaches its mouth which usually opens into the sea."

भूमि पर जितनी भी जल-धाराएँ जन्म लेती हैं वे सभी स्वतन्त्र नदी का रूप धारण कर नहीं बहती। कई छोटी-छोटी नदियाँ किसी बड़ी नदी में जाकर मिलती है। बड़ी नदी में मिलने वाली छोटी नदियाँ उसकी सहायक नदियाँ (tributaries) कहलाती हैं। जिस प्रदेश का अतिरिक्त

जल (surplus water) बहकर नदी अथवा उसकी सहायक नदियों मे आता है वह समूचा प्रदेश उस नदी का **अपवाह क्षेत्र** (Drainage area) अथवा **बेसिन** (Basin) कहलाता है। वह अपवाह क्षेत्र या बेसिन ही नदी का प्रमुख कार्य-क्षेत्र होता है।

नदियों का रूप
(Characteristics of Streams)

हम सब जानते है कि सभी नदियो का रूप एकसमान नही होता। नदियाँ एक-दूसरे से कई बातों में भिन्न होती है। कुछ नदियाँ बड़ी और कुछ छोटी होती है। कुछ नदियाँ हजारों मील लम्बी होती है, जबकि बहुत-सी नदियाँ कुछ मील ही लम्बी होती हैं। कुछ प्रदेशो मे नदियाँ पास और कुछ प्रदेशों मे वे दूर-दूर स्थित होती हैं। कुछ नदियाँ अपने साथ अपरिमित मात्रा मे जलोढक बहा ले जाती है जबकि कुछ नदियाँ अधिकांश समय बिलकुल साफ रहती है। कुछ नदियाँ साल भर बहती रहती है जबकि कुछ नदियाँ थोड़े समय के लिए ही बहती है। इनके अतिरिक्त नदियाँ अपनी घाटी के रूप आदि बातों में भी भिन्न होती है। किन्तु नदियो का रूप मुख्यत: उनके प्रवाह के ऊपर निर्भर करता है। अपने प्रवाह-काल के अनुसार नदियो के मुख्य तीन रूप है :

(1) **स्थायी जलधाराएँ** (Permanent Streams)—जो नदियाँ साल भर बहती रहती हैं उन्हें स्थायी नदियाँ कहते है। ऐसी नदियाँ अधिकतर झीलो अथवा हिम-क्षेत्रों से निकलती हैं, जिससे उन्हे निरन्तर जल की पूर्ति होती रहती है। कुछ नदियो को सीधे अवक्षेपण (precipitation) द्वारा ही जल प्राप्त होता है और उसी जल से वे अपना प्रवाह बनाये रखती है। इनके अतिरिक्त बहुत-सी नदियाँ जो स्थायी रूप से बहती रहती हैं, वे नदियाँ होती है जिन्होने अपनी घाटी को भूमिगत जल-तल (Ground Water Table) से नीचे तक काट दिया है। ऐसी नदियो को भूमिगत जल के निस्यंदन (seepage) से अनवरत रूप से जल प्राप्त होता रहता है।

(2) **आन्तरायिक जलधाराएँ** (Intermittent Streams)—वे जलधाराएँ जिनके जल प्राप्ति के साधन सामयिक रूप से बन्द हो जाते हैं, उन्हें आन्तरायिक जलधाराएँ कहा जाता है। ऐसी जलधाराएँ मुख्यतः मौसमी वर्षा अथवा हिमपात वाले प्रदेशों और विशेषकर अर्द्ध-शुष्क भागों में अधिक पायी जाती है। जो नदियाँ स्रोतों (springs) से निकलती है, उन्हें भूमिगत जल-तल के नीचे चले जाने पर जल प्राप्त नहीं हो पाता और जो नदियाँ धरातल पर होने वाली वर्षा या हिम पर आधारित होती है, वे वर्षा अथवा हिम के अभाव मे सूख जाती है। लम्बे सूखे (drought) की अवधि में भूमिगत जल-तल बहुत नीचे चला जाता है, फलस्वरूप ऐसे समय मे अनेक स्थायी नदियाँ आन्तरायिक नदियों में बदल जाती हैं।

(3) **अल्पकालिक जलधाराएँ** (Ephemeral Streams)—ये नदियाँ केवल वर्षा के साथ ही बहती हैं। इन नदियो का उद्गम झीलों अथवा हिम-क्षेत्रों से नही होता। अतः इन्हें स्रोतों एवं हिम पिघलने से जल प्राप्त नहीं होता। **मीन्जर** (Meinzer) के अनुसार जो नदियाँ लगातार एक माह भी नही बहतीं उन्हें अल्पकालिक नदियाँ कहा जाता है। ऐसी नदियाँ अर्द्ध-शुष्क एवं मरुस्थली प्रदेशो में अधिक पायी जाती हैं।

अपवाह प्रणाली
(Drainage System)

अपवाह प्रणाली से तात्पर्य किसी क्षेत्र में बहने वाली नदियों के क्रम से है। अतः अपवाह प्रणाली के अन्तर्गत किसी स्थान की नदियों और उनकी सहायक नदियों के क्रम का अध्ययन किया जाता है। किन्तु अपवाह प्रणाली के अर्थ को लेकर विद्वानों में थोड़े मतभेद हैं। **थार्नबरी के**

अनुसार, "अपवाह प्रणाली एक विशेष प्रकार की व्यवस्था है जिसका निर्माण एक नदी और उसकी सहायक नदियों की धाराओं के सम्मिलित रूप से होता है।"[1]

इसके विपरीत कुछ अतिवादी विचारकों ने किसी भी क्षेत्र की नदियों के प्रवाह-क्रम को अपवाह प्रणाली कहा है। इस विचारधारा के अनुसार अपवाह प्रणाली के अन्तर्गत किसी क्षेत्र मे बहने वाली समस्त नदियों का अध्ययन किया जाता है। किन्तु यह विचारधारा निश्चय ही बड़ी भ्रामक है। उदाहरणत, यदि यह कहें कि एशिया की अपवाह प्रणाली या अफ्रीका की अपवाह प्रणाली तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि एशिया अथवा अफ्रीका मे सभी नदियाँ एक निश्चित क्रम के अनुसार ही बहती हैं। यह बात नितान्त ही गलत है। फिर कई बार यह भी देखा जाता है कि एक क्षेत्र में बहने वाली कुछ नदियाँ तो ढाल के अनुसार बहती है परन्तु वहाँ की कुछ नदियाँ ढाल की परवाह किये बिना विपरीत दिशा मे बहती है। इस प्रकार उस क्षेत्र मे सभी नदियो के क्रम को अपवाह प्रणाली तो कहा जा सकता है किन्तु उन्हे निश्चित रूप नही दिया जा सकता। इसलिए अपवाह प्रणाली से आशय किसी क्षेत्र में बहने वाली नदियो की संख्या से नही लेना चाहिए, अपितु उस क्षेत्र में एक निश्चित क्रम मे बहने वाली नदियों और उनकी सहायक नदियों के क्रम से ही लेना चाहिए।

अपवाह प्रणाली के प्रकार (Kinds of Drainage Patterns)—किसी भी स्थान की अपवाह प्रणाली के विकास मे वहाँ बहने वाली नदियों की सख्या और उनकी स्थिति का बड़ा
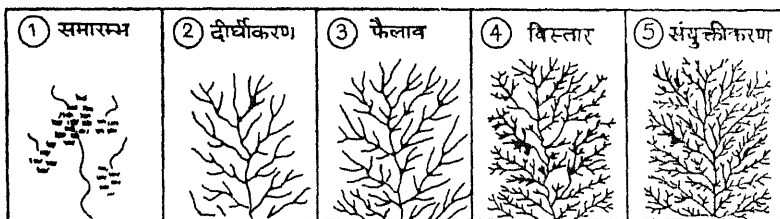
चित्र 289—अपवाह प्रणाली के प्रकार

हाथ होता है। इसके अतिरिक्त इनके विकास मे (1) भूमि के ढाल, (2) चट्टानों की कठोरता, (3) संरचनात्मक नियन्त्रण, (4) तात्कालिक पटल विरूपण, (5) अपवाह बेसिन के नवीन भू-गर्भिक इतिहास, एवं (6) जलधाराओ के लिए पर्याप्त वर्षा का होना आदि बातों का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जैसा कि हम जानते है, नदियों का स्वभाव मुख्यतः वहाँ की स्थलीय बनावट के अनुरूप हुआ करता है। चूँकि प्रत्येक स्थान की धरातलीय बनावट एकसी नही होती। अतः अपवाह प्रणालियों के रूप में भी पर्याप्त अन्तर उपस्थित हो जाता है। कही पर नदियाँ एक मध्यवर्ती केन्द्र से निकल कर चारों ओर प्रवाहित होती है तो कहीं पर वे चारों ओर से आकर एक मध्यवर्ती केन्द्र से मिल जाती है। कहीं पर नदियों के अनुरूप और कही पर ढाल के विपरीत बहती हुई देखी जाती है। इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर नदियों की स्थिति और उनकी अपवाह प्रणाली में बड़ा अन्तर पाया जाता है।

यद्यपि धरातल पर किन्ही दो स्थानो की अपवाह प्रणालियाँ ठीक एक जैसी तो नहीं मिलती फिर भी उनमें कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ होती है जिनके आधार पर उन्हें एक निश्चित अपवाह प्रणाली का रूप दिया जा सकता है और उस आधार पर अपवाह प्रणाली का कक्षा-विभाजन भी किया जा सकता है। सामान्यतः धरातल पर पायी जाने वाली अपवाह प्रणालियों को अग्रलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :

---

[1] "Drainage pattern refers to the particular plan or design, which the individual streams courses collectively form." —*Thornbury*

(1) **द्रुमाकृतिक प्रणाली** (Dendritic Pattern)—जब किसी अपवाह क्षेत्र मे सर्वत्र एकसी शैले बिछी होती है तो नदियों के प्रवाह मार्ग मे उनकी सरचना से कोई बाधा नही पहुँचती। ऐसे क्षेत्रो में प्रवाहित होने वाली मुख्य नदी वृक्ष के तने के सदृश और प्रत्येक दिशा से आकर मिलने वाली सहायक नदियाँ वृक्षो की शाखाओ की भाँति दिखाई पड़ती है। ऐसी वृक्षसम नदी प्रणाली को ही द्रुमाकृतिक प्रणाली कहा जाता है। इस प्रकार की नदी प्रणाली मे मुख्य नदी तो भूमि के ढाल के अनुरूप ही होती है, किन्तु सहायक एवं उप-सहायक नदियाँ बाद में अपवाह व्यवस्था से उत्पन्न होती है। इस प्रकार की नदी प्रणाली के विकास मे अक्रमवर्ती धाराओ का बड़ा योग होता है, इसलिए इस प्रणाली को अक्रमवर्ती अपवाह (Insequent Drainage) भी कहा जाता है। नदी प्रणालियों में यह प्रणाली बहुत ही सामान्य प्रणाली है। इसमे प्राय· सहायक नदियाँ मुख्य नदी से लघु कोण बनाती हुई मिलती है। अत· यह आकृति **पक्षाकार** (Pinnate) अथवा चिड़ियो के पखो जैसी भी कही जाती है। भारत मे वृक्षसम नदी प्रणाली के अनेक उदाहरण है। गंगा, गोदावरी व कृष्णा नदियो ने ऐसी ही प्रणालियो का विकास किया है।
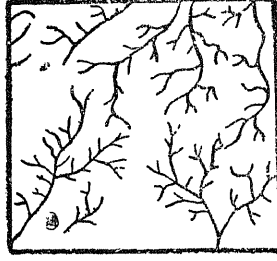
चित्र 290—द्रुमाकृतिक अपवाह प्रणाली

(2) **जलायित प्रणाली** (Trellis Pattern)—यह प्रणाली ऐसे चट्टानी क्षेत्रो मे पायी जाती है जहाँ कठोर तथा कोमल चट्टानें साथ-साथ पायी जाती है। ऐसी दशा मे नदियाँ कोमल चट्टानों को शीघ्रता से काट देती है परन्तु कठोर चट्टानी भाग उठे हुए रहते है। इस प्रकार कोमल चट्टानों वाले भाग मे तो घाटियाँ बन जाती है और कठोर चट्टानी भाग जल-विभाजक के रूप में खड़े रहते है। इन जल-विभाजकों के कारण दो नदियाँ और उनकी सहायक जल-धाराएँ अलग-अलग बँट जाती है। इस प्रकार बनी नदी-घाटियाँ लगभग समान्तर और सीधी होती है। अतः जब किसी स्थान की ढाल के अनुरूप बहने वाली मुख्य नदियाँ और सहायक नदियाँ इस प्रकार से व्यवस्थित हो कि उनका आकार एक चतुर्भुज अथवा जालीदार प्रतीत होने लगे तो जलायित प्रणाली कहा जाता है। **लोबेक** (A. K. Lobeck) के मतानुसार इस प्रकार की नदी प्रणाली के विकास मे तीन प्रकार की नदियाँ सहायक होती है। जैसे परवर्ती नदी और इसमे दोनों दिशाओ से आकर मिलने वाली प्रत्यानुवर्ती शाखाएँ एव नवानुवर्ती नदियाँ।[1] इस प्रकार की नदी प्रणालियाँ संयुक्त राज्य अमरीका मे दक्षिण अपेलेशियन पर्वत, फ्रास के जूरा पर्वत, दक्षिणी इंगलैण्ड के तटीय क्षेत्र एव हिमालय पर्वत पर देखी जा सकती है।
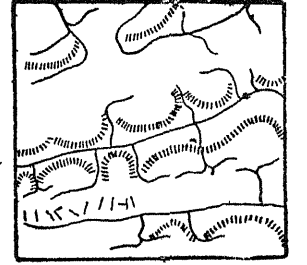
चित्र 291—जलायित अपवाह प्रणाली
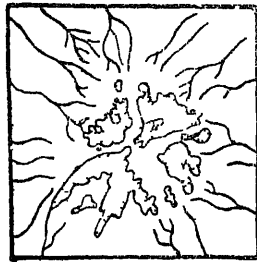
(3) **अरीय प्रणाली** (Radial Pattern)—जब किसी प्रदेश का मध्यवर्ती भाग ऊँचा हो और उसके चारों ओर का भाग नीचा हो तो वहाँ की नदियाँ मध्यवर्ती ऊँचे भाग से निकलकर चारो ओर बहती हैं। इस प्रकार की नदी प्रणाली गुम्बदाकार अथवा ज्वालामुखी जैसी उत्क्षेपित भू-आकारों के

चित्र 292—अरीय प्रणाली

1 A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 175

नदी अपहरण
(River Capture)

नदी अपहरण नदी-घाटी विकास की एक अवस्था है जिसकी ओर सर्वप्रथम जर्मन विद्वान **फिलिप्स** ने सन् 1886 में ध्यान आकर्षित किया था। यद्यपि नदी अपहरण की क्रिया युवावस्था में ही अधिक होती है तथापि प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था मे भी नदी अपहरण के उदाहरण मिलते हैं। वस्तुतः इस क्रिया मे एक बलवती और सक्रिय नदी, एक कमजोर नदी के जल-प्रवाह को हड़पकर अपने मे मिला लेती है। इस प्रकार जब कोई नदी किसी दूसरी नदी के जल का अपहरण कर लेती है तो उसे **नदी अपहरण** (River Piracy or River Capture) कहा जाता है।

नदी अपहरण के लिए आवश्यक बातें—नदी अपहरण की घटना न तो प्रत्येक नदी द्वारा सम्भव होती है और न प्रत्येक समय ही। नदी अपहरण की क्रिया कुछ विशेष परिस्थितियों में ही सम्भव होती है। उदाहरणतः, किन्ही दो नदियो मे से एक नदी घाटी की अपेक्षा अधिक गहरी है, उसमे जल की मात्रा अधिक है, उसका ढाल तीव्र है और वह मुलायम चट्टानो से होकर बह रही है तो निश्चय ही उस नदी की धारा अधिक प्रबल होगी। फलस्वरूप वह दूसरी नदी के जल का अपहरण कर लेगी। इस प्रकार अपहरणकर्ता नदी (Captor river) के लिए निम्न दशाओ का होना आवश्यक है (1)—नदी का ढाल अधिक हो, (2) नदी घाटी की चौड़ाई कम और गहराई अधिक हो, (3) नदी मे जल की आवश्यकता हो, (4) नदी कमजोर और मुलायम चट्टानो से होकर बहती हो, (5) नदी की धारा मे जलोढक की मात्रा कम हो ताकि नदी अपरदन निर्बाध रूप से चलता रहे तथा (6) नदी की स्थिति दूसरी नदी की तुलना में नीची हो।

नदी अपहरण के रूप—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो चुका है कि नदी अपहरण की घटना नदी के अपरदन द्वारा घटित होती है। किन्तु नदी अपरदन का कोई एक रूप नहीं है। नदी अपरदन के मुख्य तीन रूप हैं—**शीर्ष अपरदन** (headward erosion), **निम्न अपरदन** (downward cutting) और **क्षैतिज अपरदन** (lateral erosion)। इनमें से शीर्ष अपरदन और क्षैतिज अपरदन नदी अपहरण की क्रिया के लिए विशेष अनुकूल है। शीर्ष अपरदन द्वारा नदी अपहरण की घटना नदी की युवावस्था मे और क्षैतिज अपरदन द्वारा नदी अपहरण की घटना प्रौढावस्था में अधिक होती है। कभी-कभी नदी विसर्पो के परस्पर मिल जाने से भी नदी अपहरण की घटना होती है जो प्रायः नदी की वृद्धावस्था में होती है। यहाँ नदी अपहरण के विभिन्न रूपों का अलग-अलग उल्लेख किया जा रहा है :

(1) **शीर्ष अपरदन द्वारा अपहरण**—नदी अपहरण की अधिकांश घटनाएँ नदियो के शीर्ष अपरदन द्वारा ही हुआ करती हैं। सभी नदियों की प्रवृत्ति अपने शीर्ष की ओर अपरदन करने की होती है, जिससे जल विभाजक पीछे खिसकते जाते है। वस्तुतः जल-विभाजक के विपरीत ढालो पर भिन्न प्रकार से अपरदन होने अथवा किसी एक ही दिशा में अधिक अपरदन होने से जल-विभाजक के ढाल असमान हो जाते हैं। धीरे-धीरे क्रमिक ढाल की अपेक्षा तीव्र ढाल पर अपरदन अधिक तीव्रता से होने लगता है। परिणामस्वरूप जल-विभाजक पीछे धकेल दिया जाता है। यदि जलवायु और संरचना आदि तत्त्वों का सहयोग हुआ तो जल-विभाजक का इस प्रकार एक ही दिशा में विस्थापन और भी प्रखर हो जाता है। जल-विभाजक के किसी एक ओर तलहटी में कठोर चट्टान का होना तथा अपेक्षाकृत अधिक वर्षा का होना ऐसी ही परिस्थितियाँ है। जिस ओर अधिक वर्षा होती है

चित्र 294—नदी अपहरण के पूर्व की अवस्था

उस ओर जलधारा स्वभावत वेगवती होती है । दूसरी ओर जहाँ तलहटी में कठोर चट्टानें होती हैं वहाँ अपरदन में बाधा पड़ती है । इनके अतिरिक्त भू-गर्भिक शक्तियाँ, हिमनदियों का कार्य, ज्वालामुखी उद्गार तथा हिमशैलों का गिरना आदि कारण भी अपरदन की गति को बढा देते हैं जिससे जल-विभाजक के विनाश मे बड़ी सहायता मिलती है ।

जैसे ही जल-विभाजक नीचे से होकर पीछे हटा दिये जाते है अधिक शक्तिशाली नदी अपनी घाटी का प्रसार कर लेती है । अधिक शक्तिशाली नदी को कुछ प्रारम्भिक सुविधाएँ प्राप्त होती है, जैसे उसका कोमल चट्टानों पर होकर प्रवाहित होना तथा अधिक वर्षा का होना । इन सुविधाओ के कारण वह अपेक्षाकृत अपनी घाटी का अधिक विस्तार करने में सफल होती है और समीपवर्ती नदियाँ उसमे समा जाती हैं । अर्थात् कम सफल सहायक तथा मुख्य नदियों का प्रवाह अधिक शक्तिशाली नदी की ओर हो जाता है । इसे ही नदी का अपहरण (River capture) कहते है । अपहरण करने वाली नदी को "हारिणी" या चोर नदी (Pirate River) कहते है और जिसका जल हड़पा गया है उसे हरित या रुंडित नदी (Beheaved Stream) कहा जाता है । जहाँ पर नदी का हरण होता है वहाँ पर अपहरण नदी समकोण पर मुड़कर अपहरणकर्ता नदी के साथ मिल जाती है । इस मोड़ या घुमाव को **अपहरण की कुहनी** (Elbow of Capture) कहा जाता है । अपहरण के बाद स्वभावतः नदी मे जल कम हो जाता है और उसका विस्तार भी घट जाता है । इस प्रकार की नदी को अनुपन्न नदी (Misfit river) कहा जाता है । इस नदी में चूँकि घाटी के अनुपात से जल बहुत कम रहता है इसलिए इसे जीवन-युद्ध में हारी हुई समझा जाता है । नदी अपहरण मे जिस स्थान पर हड़पने की क्रिया होती है उस स्थान के ठीक नीचे एक शुष्क और खुला स्थान वन जाता है । इस स्थान को **वात दर्रा** (Wind gap) कहा जाता है । धीरे-धीरे अनुपन्न नदियाँ बिलकुल सूख जाती है और उनके स्थान पर शुष्क घाटियाँ बन जाती है । नदी घाटियो द्वारा बने इस प्रकार के वात दर्रे पर्वतो को पार कर सकने के सबसे अच्छे और सुगम मार्ग प्रदान करते हैं ।
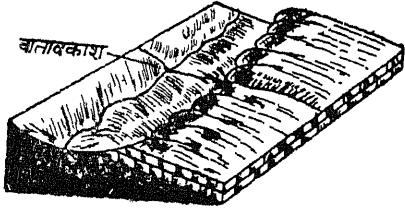
चित्र 295–नदी के अपहरण के बाद की अवस्था

चित्र 296—**नदी अपहरण**

नदी अपहरण उन स्थानों मे अधिक होता है जहाँ नदी व्यवस्था पूर्णतः विकसित होती है । जल-विभाजक सँकरे और कम चौड़े होते है और जहाँ बहुत-सी सहायक नदियाँ होती है । वलित चट्टानों के क्षेत्र में युवा एवं प्रौढ़ धाराओं का नदी अपहरण एक सामान्य घटना है ।[1] नदी अपहरण के अनेक उदाहरण हिमालय की नदियो में मिलते
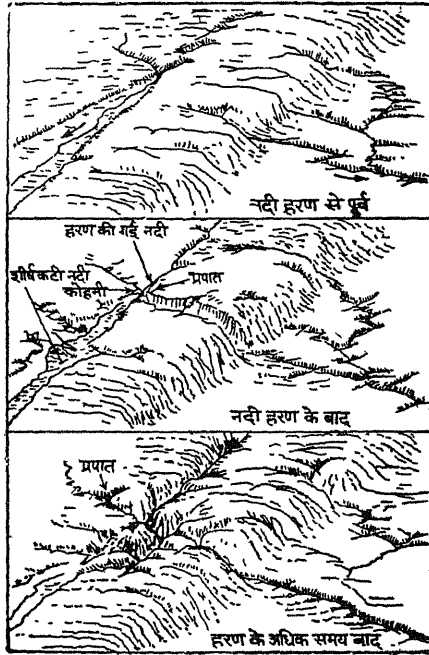
1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 150

हैं। इसका उत्कृष्ट उदाहरण हिमालय से निकलने वाली कोसी नदी है। कोसी नदी अरुण नदी का जो हिमालय जल-विभाजक के उत्तर से निकलती है, हरण करती है। इसी तरह गगा नदी ने भी अपहरण द्वारा अपने प्रवाह-क्षेत्र का विस्तार किया है।

(2) **क्षैतिज अपरदन द्वारा अपहरण**—क्षैतिज अपरदन द्वारा नदी अपहरण की क्रिया मुख्यतः प्रौढावस्था मे समतल मैदानी भागो में अधिक होती है। प्रौढ़ावस्था मे, नदी की घाटी के निम्न कटाव की अपेक्षा उसका चौड़ा होना अधिक सक्रिय होता है। दूसरे शब्दो मे, नदी द्वारा क्षैतिज अपरदन अधिक होता है। जब किसी परतदार सरचना वाले मैदान में दो अनुवर्ती नदियाँ प्रवाहित होती है तो क्षैतिज अपरदन के द्वारा दोनो नदियों की घाटियो का विस्तार बढता रहता है। अन्त मे एक समय ऐसा आता है जबकि दोनों नदियों की घाटियाँ परस्पर मिल जाती है। फलस्वरूप दोनो नदियो मे से अधिक क्रियाशील और बलवान नदी दूसरी नदी के जल का अपहरण कर लेती है।

(3) **नदी विसर्पों के मिलन द्वारा अपहरण**—जब नदी जीर्णावस्था मे आती है तो उसकी गति बहुत मन्द होती है। इस समय नदी मन्द ढाल वाले समतल मैदान मे बहती है, इसलिए वह बहुत ही धीमे-धीमे और मोड़ खाती हुई बहती है। ज्यों-ज्यो नदी जीर्णावस्था की ओर बढती है, त्यों-त्यो नदी के विसर्पो का आकार भी बढ़ता जाता है। जब कभी मैदान मे बहने वाली दो नदियों के विसर्प एक-दूसरे से मिल जाते है तो उसे प्रतिच्छेदन (Intersection) कहा जाता है। इस प्रकार के प्रतिच्छेदन से अधिक शक्तिशाली नदी दूसरी नदी के जल का अपहरण कर लेती है। इस प्रकार विसर्पों के प्रतिच्छेदन द्वारा हरण एवं क्षैतिज अपरदन द्वारा नदी हरण की क्रिया सामान्यतः एक ही तरह होती है।

नदी-घाटी का निर्माण
(Development of River-Valley)

घाटी की रचना करना प्रत्येक नदी का प्रमुख कार्य है। इस प्रकार प्राय. सभी नदियाँ अपनी स्वनिर्मित घाटियों मे बहती है। कभी-कभी नदियाँ सरचनात्मक (structural) अथवा हिमानीकृत घाटियों मे भी बहने लगती हैं। ऐसी अवस्था में नदियाँ अपनी पूर्व-निर्मित घाटियों में सुधार करती है।

प्रत्येक घाटी के तीन विस्तार होते है—गहराई, चौड़ाई एव लम्बाई। अतः घाटी-निर्माण से तात्पर्य नदियों द्वारा घाटी को गहरा करना (valley deepening), घाटी को चौड़ा करना (valley widening) और घाटी को लम्बा करना (valley lengthening) है। यद्यपि घाटी को गहरा, चौडा अथवा लम्बा करने की सीमा है। यह सीमा कई बातो से प्रभावित होती है। इन सबका विवेचन नीचे दिया जा रहा है :

घाटियों को गहरा करना (Deepening of Valleys)

भूमि पर जल का बहना प्रारम्भ करते ही वह गहरा कटाव करने लगता है। इससे जलधाराएँ गहरी घाटियों की रचना करती हैं। किन्तु सभी नदियों की घाटियाँ एक जैसी गहरी नही होतीं, क्योंकि घाटी का गहरा कटाव भूमि के ढाल, नदी के प्रवाह वेग, नदी में जल के आयतन और नदी जल में अवसादकों की मात्रा पर निर्भर करता है। इसलिए सामान्यतः अधिक वेगवती नदियाँ अधिक गहरी घाटियों की रचना करती हैं। यही कारण है कि नदियों के ऊपरी

चित्र 297—नदी घाटी का विकास

भाग में जहाँ धाराएँ वेगवती होती है, गहरी घाटियाँ बनती है किन्तु निचले भाग मे जहाँ धाराएँ मन्द होती है, उथली घाटियाँ पाई जाती है।

जिस गति से कोई नदी अपरदन करती है उसी के अनुसार घाटी की गहराई बढती है। नदी के अपरदन की गति कई बातों से प्रभावित होती है। इसलिए अन्य सब बाते समान होते हुए भी सामान्यतः एक बड़ी नदी छोटी नदी की अपेक्षा अपनी घाटी को शीघ्र गहरा कर उसे चरमस्तर को पहुँचा देगी। इसी प्रकार कोमल चट्टानो से होकर बहने वाली नदी कठोर चट्टानो से होकर बहने वाली नदी की अपेक्षा अपनी घाटी को अधिक गहरा कर देगी और अधिक शीघ्रता से उसे चरमस्तर तक नीचा कर देगी।

किसी नदी-घाटी की गहराई उस भू-भाग की ऊँचाई पर भी निर्भर करती है जिससे होकर नदी बहती है। जो नदी जितने अधिक ऊँचे भू-भाग से होकर बहेगी उसकी घाटी उतनी ही अधिक गहरी होगी। कोलोरेडो नदी की कैनियन इसका अच्छा उदाहरण है। मैदानी भागों मे ऐसी गहरी घाटियो की रचना कदापि सम्भव नही है। गहरी घाटियाँ वस्तुत पहाड़ी और पठारी भागो की विशेषता है। परन्तु ऐसे उच्च भू-भागो मे भी कोई घाटी जो गहराई प्राप्त कर सकती है वह नदी के ढाल और नदी-घाटी की समुद्र से दूरी पर निर्भर करेगी। अतः महाद्वीपो के तट के समीप नदी-घाटियाँ महाद्वीपों के भीतरी भागों मे स्थित उसी ऊँचाई की नदी-घाटियो से अधिक गहरी होगी।

प्रत्येक नदी के गहरे काटने की एक सीमा है। यह सीमा उसका आधार-तल (Base level) है। संसार की अधिकांश नदियाँ समुद्रो मे गिरती है। अत समुद्र-तल ही वह सीमा है जहाँ तक नदी अपनी घाटी को गहरा कर सकती है। कई नदियाँ झीलो एवं अन्य बड़ी नदियो मे जाकर मिलती है, इसलिए वही उनका आधार-तल है और उन्हीं के द्वारा घाटी की गहराई की सीमा निश्चित होती है। किन्तु कोई भी नदी घाटी की गहराई की इस सीमा पर केवल अपने मुहाने के निकट ही पहुँच सकती है। मुहाने से दूर नदी-घाटी के ऊपरी भाग मे वह सदैव ऊँचा रहता है।

घाटियों का चौड़ा होना (Widening of Valleys)

यदि किसी नदी-घाटी का विकास केवल गहरे कटाव (down cutting) द्वारा ही होता है तो उस घाटी की चौड़ाई उसके मध्य मे बहने वाली नदी की चौड़ाई से अधिक नही होगी। किन्तु अधिकांश नदी-घाटियाँ जलधाराओं की अपेक्षा बहुत अधिक चौड़ी होती हैं। अतः स्पष्ट है कि नदी-घाटी के विकास मे गहरे कटाव के अतिरिक्त अन्य कई बातें योग देती हैं। नदी-घाटियाँ अपने तल की अपेक्षा शीर्ष पर अधिक चौड़ी होती हैं। घाटियो की चौड़ाई कई प्रकार से बढ जाती है। मुख्य कारण निम्न हैं :
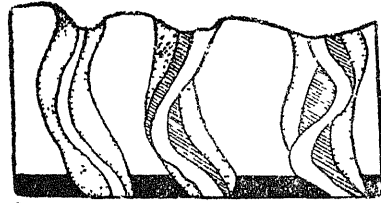
चित्र 298—नदी-घाटी का चौड़ा होना

(1) नदी-घाटी को चौड़ा करने में सर्वाधिक प्रभाव ऋतु-अपक्षय (weathering) का होता है। गहरे कटाव से ज्यो-ज्यों घाटी की गहराई बढती है, ऋतु-अपक्षय के अभिकर्त्ता (agents) घाटी के ऊपरी तेज किनारों को काटते रहते हैं। फलस्वरूप नदी के ऊपरी तेज किनारे नष्ट हो जाते है और घाटी की ऊपर से चौड़ाई बढ जाती है। घाटी के ऊपरी भाग में ऋतु-अपक्षय का कार्य निम्न प्रकार से होता है :

(क) जब घाटी के ढालो पर वर्षा होती है तो वर्षा का जल बहकर नदी-तल की ओर प्रवाहित होता है। ढालो से बहते समय वर्षा-जल अपने साथ बालू, मिट्टी व अन्य स्थूल पदार्थों को भी बहा ले जाता है। इससे घाटी के ढाल कट-कट कर चौड़े हो जाते है।

(ख) जब किसी घाटी के ढालों पर मिट्टी अथवा कोमल चट्टानें बिछी होती है तो वर्षा-जल से गीली होकर ढाल की ओर खिसकने लगती है। ऐसे अधोमुखी सचालन से घाटी चौडी होती है।
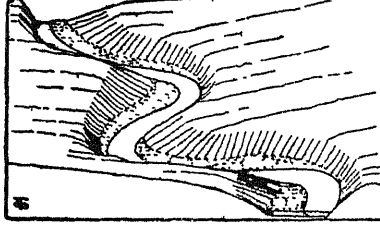
(ग) कभी-कभी घाटी के तीव्र ढालों की मिट्टी हवा उड़ाकर ले जाती है।

(घ) कभी घाटी के ढालों पर उगे हुए वृक्ष उखड जाते है। इससे मिट्टी व चट्टानो का घाटी तल की ओर स्खलन हो सकता है।
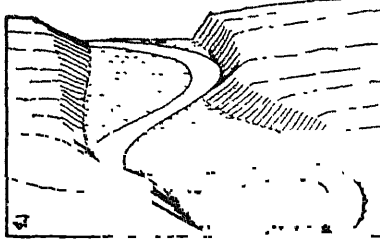
(ङ) घाटी के ढालों पर चलने वाले जानवर और मनुष्य भी न्यूनाधिक मात्रा मे उसके पदार्थ को ढीला कर देते है, जिससे घाटी के ऊपरी भाग से पदार्थों का संचालन सम्भव होता है।

अतः वे समस्त विधियाँ जो घाटी के ऊपरी ढालों की मिट्टी अथवा चट्टानों को शिथिल बनाने मे योग देती है और जो पदार्थों को घाटी के ढालों से खिसकाती है वे घाटी की चौड़ाई को बढ़ाती है।
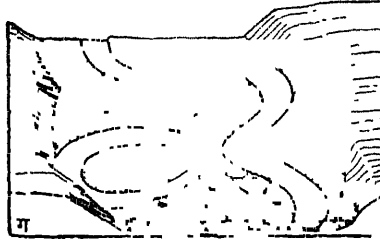
(2) किसी मुख्य नदी में मिलने वाली सहायक नदियाँ भी घाटी को चौड़ा करने मे योग देती है। विशेषत जिस स्थान पर सहायक नदी मुख्य नदी से मिलती है वहाँ घाटी बहुत चौड़ी हो जाती है।

(3) घाटी को चौडा बनाने वाली विधियों मे नदी स्वयं एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारक (factor) है, क्योंकि नदी घाटी को गहरा करने के साथ-साथ अपने किनारों को भी काटती रहती है। कभी-कभी नदी की धारा घाटी के एक किनारे की ओर इतने प्रबल वेग से बहती है कि वह घाटी के किनारे को नीचे से बहुत अधिक काट देती है जिसमे किनारे के ऊपरी भाग से पदार्थ खिसक पड़ता है। इस प्रकार नदी अपने पार्श्विक अपरदन (Lateral Erosion) द्वारा घाटी के किनारों को काटती रहती है और घाटी के ऊपरी ढालों से गिरे हुए पदार्थों अथवा भग्नाश्म राशि (Talus) को बहा ले जाती है, जिससे घाटी निरन्तर चौडी होती रहती है।

चित्र 299—पार्श्विक अपरदन द्वारा नदी-घाटी का चौड़ा होना

जब कोई नदी अपनी घाटी को गहरा काटते-काटते चरमस्तर को पहुँच जाती है तो फिर उसकी अपरदन शक्ति पार्श्विक अपरदन मे ही लगती है। अतः चरमस्तर की प्राप्ति के बाद नदी घाटी का ऊपरी भाग ऋतु-अपक्षय द्वारा और नदी-घाटी का तल पार्श्विक अपरदन द्वारा चौड़ा होता रहता है। इसके परिणामस्वरूप संलग्न घाटियाँ (adjacent valleys) यहाँ तक चौड़ी हो सकती हैं कि उनके बीच का विभाजक कटकर नष्ट हो जाये, किन्तु अधिकतर घाटियों के बीच के विभाजक पूर्णत नष्ट होने की अपेक्षा नीचे हो जाते है। जब कालान्तर मे एक समूचा क्षेत्र नदियों के पार्श्विक अपरदन से कटकर प्राय एक समतल मैदान बन जाता है तो समझना चाहिए कि वह स्थल भाग चरमस्तर को प्राप्त हो गया है।

घाटियों का लम्बा होना (Lengthening of Valleys)

ज्यो-ज्यों कोई नदी प्रौढता को प्राप्त होती जाती है; उसकी घाटी की लम्बाई भी बढ़ती जाती है। नदी अपनी घाटी को तीन प्रकार से लम्बा करती है :

(1) **अभिशीर्ष अपरदन** (Headward Erosion)—यद्यपि नदियाँ सामान्यत. अपने उद्गम के ऊपर अपरदन करने मे असमर्थ होती है, परन्तु उनमें अभिशीर्ष अपरदन की प्रवृत्ति पायी जाती है । पहाड़ी भागो में प्रायः भारी वर्षा के बाद अवनालिकाये (gullies) बन जाती है। इस प्रकार एक ही वर्षा मे बनी अवनालिकाये दूसरी वर्षा के समय अपने अभिशीर्ष पर उस जल द्वारा जो उसके शीर्ष पर बहकर आता है, लम्बी बन जाती है । यही बात नदी घाटियों के शीर्ष के लिए भी लागू होती है, क्योकि नदी-घाटियाँ कुछ अवस्थाओ मे अवनालिकाओ के समान ही होती है और वे अपने शीर्ष को अन्तरस्थल (inland) की ओर बढाती है ।

वस्तुत. अभिशीर्ष अपरदन द्वारा नदी का उद्गम पीछे की ओर खिसकता रहता है । नदी के उद्गम के पीछे खिसकने की यह क्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि स्थायी जल-विभाजक स्थापित नहीं हो जाता । कभी-कभी नदियाँ अभिशीर्ष अपरदन द्वारा अपनी घाटी को जल-विभाजक के परे तक काट देती हैं और इस तरह एक घाटी का शीर्ष दूसरी घाटी में पहुँच जाता है । तब दोनों घाटियाँ मिल कर एक हो जाती हैं । इस प्रकार अभिशीर्ष अपरदन द्वारा नदी-घाटियो की लम्बाई बढती रहती है ।

(2) **नदी विसर्पण** (River Meandering)—जब नदी मैदान मे बहती है तो मन्द ढाल के कारण उसका प्रवाह धीमा हो जाता है, जिससे नदी थोड़ा-सा अवरोध आने पर भी मोड खाकर बहने लगती है । इस अवस्था मे नदी कही अपरदन और कहीं निक्षेप करती है, इससे भी नदी के मार्ग मे विसर्पण बढ जाते है । जिस नदी मे विसर्पण जितने अधिक होंगे, उसकी लम्बाई उतनी ही अधिक होगी । उदाहरणत', मिसीसिपी नदी आयोग ने सन् 1929 से 1937 के बीच मिसीसिपी नदी के 13 विसर्पणों को काट दिया । फलतः नदी की लम्बाई 330·6 मील से घटकर 115·8 मील ही रह गयी ।[1]

(3) नदी-घाटी का लम्बा होना उसके मुहाने पर भी सम्भव है । कई नदियाँ अपने मुहाने पर बड़ी मात्रा में मिट्टी का निक्षेप करती है । इस प्रकार नदी के मुहाने का समुद्र की ओर विस्तार होता रहता है । कभी-कभी नदी के मुहाने के समीप की भूमि का उन्मज्जन हो जाता है, इससे भी घाटी की लम्बाई बढ जाती है । उदाहरणतः बसरा किसी समय ठीक फारस की खाड़ी के तट पर स्थित था, किन्तु दजला और फरात के द्वारा मुहाने पर मिट्टी जमा करने से अब वह तट से 50 मील भीतर की ओर स्थित है ।[2] इसी तरह भारत मे सूरत किसी समय ताप्ती नदी के मुहाने पर पश्चिमी तट का महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था, परन्तु अब वह समुद्र तट से बहुत भीतर की ओर स्थित है ।

नदियों की प्रवृत्ति
(River Regimes)

नदियाँ सदैव एक समान रूप से नही बहती । कभी उनमे जल की मात्रा अधिक और कभी बहुत कम होती है । नदियो की इस प्रवृत्ति का मानव-जीवन पर कई प्रकार से प्रभाव होता है । जब नदी के जल का आयतन बढ जाता है तो बाढ की भयानक समस्या उत्पन्न हो जाती है और जल का आयतन घट जाने से जल-विद्युत उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडता है । अत' पिछले कुछ वर्षो से नदियों की प्रवृत्तियो के अध्ययन की ओर वैज्ञानिकों का काफी ध्यान आकर्षित हुआ है ।

नदियों की प्रवृत्ति पर ऋतुवत अवक्षेपण (जल-वर्षा एव हिम-वर्षा दोनों), हिमनदियों तथा हिमक्षेत्र, अपवाह क्षेत्र में भूमि का ढाल, चट्टानो की प्रकृति एवं वनस्पति आदि सभी बातों का

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 201
2 C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 189

प्रभाव होता है। यदि कोई नदी हिम-क्षेत्रों से आती है और उनमे जल हिम पिघलने से ही प्राप्त होता है तो जाड़े के मौसम मे उसमें बहुत कम जल रहेगा। अपरदन क्षेत्र में प्राय. सभी नदियो में
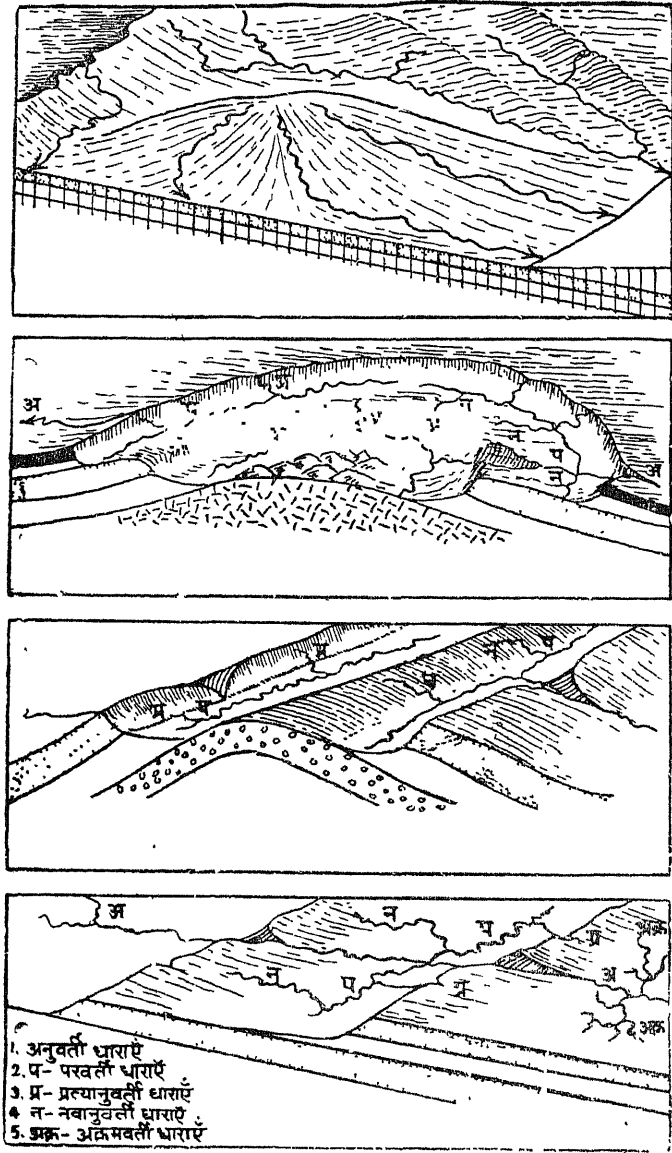
चित्र 300—विभिन्न प्रकार की नदियाँ

जाड़े की ऋतु में पानी कम हो जाता है जिससे जल-विद्युत उत्पादन में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। किन्तु ग्रीष्म के प्रारम्भ में हिम पिघलने के कारण इन नदियो में भारी बाढ़ आती है। अल्पाइन क्षेत्र में जहाँ ग्रीष्म में वर्षा होती है, वहाँ नदियों में जल की अधिकतम मात्रा जून व जुलाई मे तथा न्यूनतम मात्रा पतझड़ के अन्त में रहती है। इसके विपरीत जो नदियाँ केवल वर्षा पर आधारित होती हैं (जैसे सीन व सोने) उनमे ग्रीष्म में कम पानी रहता है, क्योंकि ग्रीष्म में वाष्पीकरण तथा वनस्पति की आवश्यकता दोनो अधिक होती हैं।

उष्ण कटिबन्धीय भागों में तापमान तथा वाष्पीकरण दोनों निरन्तर ऊँचे रहते है। अतः इन भागो मे नदियों मे बाढ अधिकतम वर्षा के समय ही आती है। जैसे श्रीलंका मे महाबली गंगा प्रायः मई के अन्दर लगभग सूख जाती है, परन्तु जुलाई मे ग्रीष्म के मानसून के साथ ही उसमें बाढ आनी आरम्भ हो जाती है। दक्षिणी-पूर्वी एशिया की सभी बड़ी नदियों में जैसे इरावदी, मिकोग व यांगटिसी आदि मे ग्रीष्म ऋतु में भयानक बाढे आती हैं, परन्तु जाड़े की ऋतु में शुष्क मानसून हवाओ के चलने से वर्षा का अभाव रहता है जिससे नदियों मे जल की कमी रहती है।

विषुवतरेखीय प्रदेश मे बहने वाली नदियों मे वर्ष भर खूब पानी रहता है। जैसे अमेजन तथा कांगो नदियों मे बराबर जल की अधिकता बनी रहती है। सूर्य की विषुव (equinoxes) स्थितियो मे वर्षा की अधिकता के साथ इनमें जल की अधिकतम मात्रा हो जाती है।

मिस्र व सूडान मे कृषि की सफलता अधिकाशत· नील नदी की बाढो पर निर्भर करती है। नील में बाढ आने का कारण ब्लू नील है। ब्लू नील अबीसीनिया पठार से आती है। वहाँ मानसून द्वारा भारी वर्षा होती है। ब्लू नील इस पानी को नील मे उँडेलकर बाढ उत्पन्न कर देती है। श्वेत नील पूर्वी अफ्रीका के विषुवतरेखीय पठार से आती है और इसका उद्गम एक झील से होता है। अत. इस नदी मे बराबर जल बना रहता है, किन्तु दक्षिणी सूडान के सड क्षेत्र (Sudd area) मे आने पर वाष्पीकरण के द्वारा इसका आयतन बहुत कम हो जाता है। यदि ब्लू नील नील की सहायक नही होती और सोबत तथा अतबारा जैसी नदियाँ इसमें न मिलती होती तो नील नदी कभी भी भूमध्यसागर तक नही पहुँच सकती थी।

इराक में दजला एव फरात दोनों नदियाँ अरमेनिया के पहाड़ों से निकलती हैं। फरात नदी कई बातों में नील के समान है। यद्यपि इसके लम्बे मार्ग मे कोई सहायक नदी नही मिलती, फिर भी भूमि के ढाल की अधिकता के कारण इसकी धारा बड़ी तेज रहती है। पतझड़ ऋतु में इसका प्रवाह न्यूनतम रहता है। दिसम्बर में जब टर्की में जाड़े की वर्षा होती है तो यह नदी बढ़ने लगती है। मई के अन्दर पर्वतीय क्षेत्रो मे हिम के पिघलने से इसमें जल की अधिकता हो जाती है। जल का सर्वाधिक आयतन इसी समय रहता है। इसके विपरीत दजला नदी जेग्रोस पर्वत से आती है। इसमें कई सहायक नदियाँ मिलती हैं। अतः इसमें प्रायः विनाशक बाढ़े आया करती है। इस नदी मे पतझड़ के अन्दर जल की न्यूनता और अप्रैल मे अधिकता रहती है। **प्रो० डब्ल्यू० बी० फिशर** ने बताया है कि फरात नदी सितम्बर मे 8800 क्यूसेक जल छोड़ती है, किन्तु मई के अन्दर वह 11 फुट ऊपर उठ जाती है और लगभग 64,300 क्यूसेक जल छोड़ने लगती है। दजला नदी सितम्बर में बगदाद के समीप 11,900 क्यूसेक जल छोड़ती है, किन्तु अप्रैल में वह 1,06,650 क्यूसेक जल छोड़ने लगती है।[1]

फ्रेंच वैज्ञानिक **एम० पार्दे** (M. Parde) ने विभिन्न कारणों को ध्यान में रखकर नदी प्रवृत्तियों के तीन प्रकार बताये हैं :[2]

(1) **साधारण प्रवृत्ति**—जब वर्ष भर में एक बार अधिकतम और एक बार न्यूनतम जल रहता है। जैसे यांगटिसी व वोल्गा।

(2) **द्वय प्रवृत्ति**—जिन नदियों में दो बार जल की अधिकता होती है, जैसे गेरोन में। ग्रीष्म के प्रारम्भ मे हिम के पिघलने तथा पतझड़ व जाड़ों में वर्षा के कारण अथवा वर्षा की अधिकता होने से, जैसे अमेजन व कांगो मे।

---

1 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 108

2 *Ibid*, p. 109

(3) **जटिल प्रवृत्ति**—विश्व की अधिकांश बड़ी नदियाँ जो विभिन्न जलवायु प्रदेशों से बह-कर आती है तथा जिनका अपवाह क्षेत्र बहुत विशाल होता है और जिनमे अनेक सहायक नदियाँ आकर मिलती हैं उनकी प्रवृत्ति जटिल होती है। वस्तुतः यह मिश्रित प्रवृत्ति का द्योतक है। राइन, डेन्यूब व मिसीसिपी ऐसी नदियों के उदाहरण हैं।

घाटियों का वर्गीकरण
(Classification of Valleys)

पर्वतों के समान घाटियाँ भी धरातल का एक महत्त्वपूर्ण स्थल-रूप है। सामान्यतः घाटियों से तात्पर्य अपने आसपास की सतह से नीचे भू-भाग से होता है। संक्षेप मे, धरातल के ऋणात्मक स्थल-रूपों को घाटियाँ कहा जाता है। कई विद्वान घाटी और नदी को एक ही अर्थ मे लेते है, किन्तु दोनों मे थोड़ा अन्तर है। घाटी से उसकी गहराई, चौड़ाई और ढाल का बोध होता है जबकि नदी से हमारा तात्पर्य उसमें प्रवाहित जल की मात्रा, प्रवाह गति, प्रवाह की दिशा एवं प्रवाहित जल के अपरदनामक तथा निक्षेपात्मक कार्य से होता है। घाटियों के विभाजन का कई विद्वानों ने प्रयास किया है। यहाँ घाटियो का विभिन्न आधारों पर एक सरल वर्गीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

1. **आनुवंशिक वर्गीकरण** (Genetic Classification)

यद्यपि **पावेल महोदय** ने सर्वप्रथम ढाल के अनुरूप उत्पन्न होने वाली घाटियों का वर्णन दिया, किन्तु उत्पत्ति के आधार पर बनने वाली घाटियो का क्रमबद्ध विभाजन **डेविस** ने ही प्रस्तुत किया। इसमे मुख्य घाटी के निर्माण के बाद अन्य घाटियो का क्रमिक रूप से विकास होता है और उन सब घाटियों का मुख्य घाटी से सम्बन्ध बना होता है। घाटियों को उनकी उत्पत्ति के आधार पर निम्न भागों में विभाजित किया जाता है :

(1) **अनुवर्ती घाटियाँ** (Consequent Valleys)—जब समुद्र के गर्भ से कोई स्थलखण्ड बाहर निकलता है तो उसका अपना एक विशेष ढाल होता है। इस स्थल-भाग का ढाल अपनी आसपास की पुरानी भूमि से बिल्कुल विपरीत नही तो भी कम से कम भिन्न अवश्य होता है। ऐसे स्थल-भाग के प्रकट होने के बाद उस पर जलधारो का प्रवाह भी शुरू हो जाता है। किन्तु प्रारम्भ मे नदी का प्रवाह ढाल के अनुरूप ही होता है, क्योंकि उसकी चेष्टा यथाशीघ्र नीचे पहुँचने की रहती है। कभी-कभी नदी को नीचे उतरने में ऊँचे पहाड़ी क्षेत्रों मे थोड़े-से भाग में ही मीलों चक्कर लगाना पड़ता है और तब कहीं वह उस भाग से बाहर निकल पाती है। इस प्रकार प्रारम्भ में नदी प्रवाह-मार्ग उसके वाह प्रदेश के ढाल के अनुसार होता है। दूसरे शब्दों में, नदियो का प्रारम्भिक प्रवाह पथ आरम्भिक स्थल की दशाएँ ही निर्धारित करती हैं। अतः भूमि के प्रारम्भिक ढाल के अनुरूप बहने वाली जलधाराओं को अनुवर्ती नदियाँ कहा जाता है।[1]
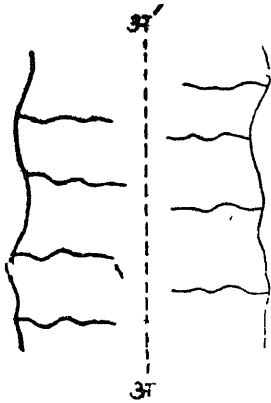
चित्र 301—अनुवर्ती अपवाह (बिन्दु रेखा जल-विभाजक है)

(2) **परवर्ती घाटियाँ** (Subsequent Valleys)—प्रारम्भिक ढाल के अनुरूप बहने वाली मुख्य नदी के दोनों किनारों

---

[1] "Stıeams that follow certain courses as a result of initial depressions in land surface or slopes that antedated the streams, are consequent streams."
—*P. G. Worcester*

पर वर्षा के कारण छोटी-छोटी सहायक नदियाँ बन जाती है। मुख्य नदी के दोनों किनारों पर दोनों दिशाओ से बहकर आने वाली इन सहायक नदियों को ही परवर्ती नदियाँ कहते है। अपरदन के द्वारा ढाल के अनुरूप बहने वाली मुख्य नदी के दोनों ओर का प्रदेश, मैदान व पहाड़ी श्रेणियो के रूप में ऊँचा-नीचा हो जाता है। अपरदन द्वारा बाद मे बने इस ढाल के अनुरूप ही सहायक नदियो की घाटियाँ पर्वत के ढाल के समान्तर रहती है। ये सहायक नदियाँ अपने जल-विभाजकों को पीछे की ओर काटती है और मुख्य नदी की दिशा से तिरछी होती है। ये नदियाँ चूंकि अपरदन के द्वारा कटी-फटी भूमि पर बहती है, इसलिए बाद मे बनी इन नदियों की घाटी चौड़ी व गहरी होती है।
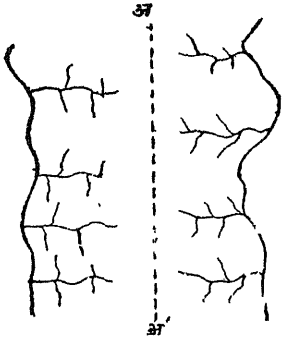
चित्र 302—परवर्ती अपवाह (बिन्दु रेखा जल-विभाजक है)

जब कभी इन नदियो का संयोगवश कोई सुविधाजनक स्तर और मिल जाता है—जैसे कमजोर व मुलायम चट्टान, दरार व सघ आदि—तो ये गहरे कटाव तथा उद्गम की ओर काट-छाँट करके अपनी घाटी का विस्तार करने लगती है। कभी-कभी तो ढाल के अनुरूप बहने वाली मुख्य नदी भी बाद में बनी तलहटी में से होकर बहने लगती है। परवर्ती नदियों की रूपरेखा तथा आकार सदा नियमित होता है।

परवर्ती नदी का प्रवाह मुख्य नदी के समान ढाल के अनुरूप ही होता है। ये सहायक नदियाँ मुख्य नदी से लम्ब रूप मे आकर मिलती है। कभी-कभी इनमें बनी नदी का जल विपरीत दिशा में बहने वाली नदी द्वारा हड़प लिया जाता है, जिससे वह वहाँ पर शुष्क बनी रह जाती है।

(3) **प्रत्यानुवर्ती घाटियाँ** (Obsequent Valleys)—ये धाराएँ परवर्ती धाराओं की सहायक नदियाँ है। ये परवर्ती धाराओ में समकोण बनाती हुई मिलती हैं। इनकी प्रवाह दिशा अनुवर्ती धाराओ के विपरीत होती है।[1] अनुवर्ती और परवर्ती धाराओं के बन जाने के बाद ही इन धाराओं की उत्पत्ति होती है। ये धाराएँ अधिकांशतः वर्षाऋतु में उत्पन्न होती हैं और पर्वतीय भागो मे क्रम प्रपात बनाती हुई बहती हैं। ये धाराएँ छोटी होती है किन्तु इनकी प्रवणता बहुत अधिक होती है।
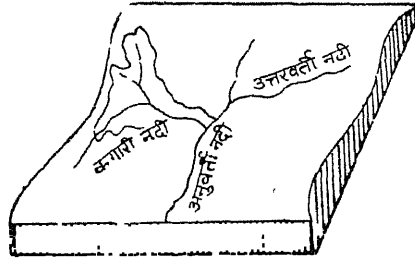
चित्र 303—अनुवर्ती, परवर्ती एवं प्रत्यानुवर्ती नदियाँ

(4) **अक्रमवर्ती घाटियाँ** (Insequent Valleys)—ये एक प्रकार की अनियन्त्रित धाराएँ हैं।[2] इन धाराओं पर किसी भी तरह का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता है। ये धाराएँ न तो संरचना का ही अनुसरण करती है और न उपस्थित ढाल का ही। ये किसी भी दिशा में प्रवाहित हो सकती हैं किन्तु ये अधिक बड़ी नहीं होती हैं। इनके द्वारा वृक्षसम अपवाह प्रणाली उत्पन्न होती है।

---

1 "An obsequent stream is one which flows in a direction opposite to the dip of formation and opposite to that to the original consequent stream of the region."
—*A. K. Lobeck*

2 "Streams that develop their valleys on flat-lying sediments or on massive rocks, such as granites, without strong structural control are called insequent streams."
—*P. G. Worcesten*

(5) **नवानुवर्ती घाटियाँ** (Resequent Valleys)—अनुवर्ती धाराओं की दिशा मे बनने वाली नवीन जल-धारा को नवानुवर्ती धारा कहा जाता है । वस्तुत: Recent (नव) और Consequent (अनुवर्ती) दोनो शब्दो के योग से ही Ressequent (नवानुवर्ती) शब्द बना है । इन जल-धाराओं की उत्पत्ति नग्न धरातल पर काफी समय बाद निम्न तल (lower level) पर होती है । ये निर्माण के झुकाव के नीचे की ओर बहती है और इनकी दिशा अनुवर्ती धाराओं के समान होती है ।

2 **संरचना की दिशा के आधार पर वर्गीकरण** (Classification according to Structural Trends)

कई बार घाटियों का विकास भूमि के ढाल और चट्टानो की संरचना के स्तर के अनुप्रस्थ दिशा मे हो जाता है । ऐसी घाटियो को उत्क्षेप विमुख घाटियाँ (Inconsequent Valleys) कहा जाता है । ये घाटियाँ प्राय: वलन अथवा भ्रंशन के आर-पार होती है । इनके दो भेद है :

(1) **पूर्ववर्ती अपवाह** (Antecedent Drainage)—भौतिक शक्तियो के कारण भू-पटल पर नित्य-प्रति नये परिवर्तन हुआ करते है । कभी स्थल का कोई भाग नीचे दब जाता है और कभी कोई भाग ऊपर को उठ जाता है । जब कभी किसी नदी के मार्ग मे कोई स्थल-भाग भू-चलन अथवा लावा के अन्तर्वेधन एवं बहिर्वेधन द्वारा ऊपर उठ जाता है तो नदी का प्रवाह रुककर भिन्न दिशा की ओर अग्रसर हो जाता है अथवा नदी प्रवाह और ऊँचे उठते हुए स्थल के बीच एक सघर्ष आरम्भ हो जाता है । यदि भूमि के ऊँचे उठने की गति नदी की घाटी को गहरा करने की गति से अधिक धीमी होती है तो उस प्रदेश की नदी पर उन्मज्जन (emergence) का कोई प्रभाव नही पड़ेगा । उस प्रदेश की नदी पूर्ववत बनी रहेगी और उसकी घाटी गहरी होती जायेगी । इस प्रकार जब कोई नदी विक्षेप उत्पन्न करने वाली शक्तियो (deflecting force) के तीव्र प्रभाव के विपरीत अपने मार्ग को बनाये रखने मे सफल होती है तो उसे पूर्ववर्ती नदी कहा जाता है । ऐसी धाराएँ और उनका मार्ग समीपवर्ती भूमि के ढाल से भिन्न होता है ।

चित्र 304—पूर्ववर्ती अपवाह प्रणाली का विकास

किसी भी प्रदेश मे पूर्ववर्ती जल-प्रवाह को पहचानने और उसको निश्चित करने के लिए वहाँ के उन्मज्जन के इतिहास को समझना आवश्यक होता है । नदी के मध्य भाग मे सँकरी घाटी और झील के मैदान आदि से पूर्ववर्ती नदी को पहचाना जा सकता है । उत्तरी अमरीका की कोलम्बिया नदी, नेपाल की अरुणा नदी तथा भारत मे बहने वाली सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, सतलज और तिस्ता आदि नदियाँ सब इसी प्रकार की नदियाँ है । भारत की ये नदियाँ हिमालय के निर्माण के पूर्व भी उत्तर से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती थी । बाद मे हिमालय के निर्माण के उपरान्त भी पूर्ववत् बहती रही । इसका कारण यह है कि हिमालय के ऊँचे उठने की गति की अपेक्षा नदियों के अपरदन की गति तीव्र अथवा लगभग समान थी । इसका प्रमाण यह है कि जहाँ ये नदियाँ हिमालय को पार करती है, वहाँ इनकी घाटियाँ काफी गहरी, तग और सपाट ढाल वाली है ।

(2) **अध्यारोपित अपवाह** (Super-imposed Drainage)—पृथ्वी की हलचलों के कारण कई बार नदियाँ भारी निक्षेप के नीचे पूर्णतया दब जाती हैं। कालान्तर मे इस निक्षेप के ऊपर पुन: नवीन नदियाँ बहने लगती है। इस प्रकार निक्षेप के ऊपर बहने वाली नवीन नदियों को ही अध्यारोपित प्रवाह (Super-imposed Drainage) कहा जाता है। अध्यारोपित प्रवाह तीन रीतियों से सम्भव हो सकता है—लावा निक्षेप के द्वारा, हिम निक्षेप के द्वारा और धरातल के समुद्र में डूब जाने पर सागरीय निक्षेप के द्वारा। इस प्रकार की नदियों के उदाहरण उत्तरी अमरीका और इंगलैण्ड के झील प्रदेश में देखे जाते हैं।
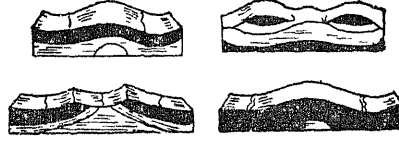
चित्र 305—अध्यारोपित नदी का विकास

अध्यारोपित नदी में प्रवाह कभी भी उसकी तलहटी की चट्टानों की संरचना के अनुसार नहीं होता। इसमें नदी का प्रारम्भ निक्षेपित पदार्थ अथवा मुलायम धरातल के ऊपर होता है, इसलिए उसका प्रवाह कोमल अथवा मुलायम चट्टानों के अनुरूप ही बनता है। धीरे-धीरे नदी अपनी घाटी की कोमल चट्टानों को काट डालती है और उसकी तलहटी मे कठोर चट्टाने निकल आती है। इन चट्टानों की संरचना ऊपरी चट्टानों से बिलकुल भिन्न होती है, फिर भी नदी इन चट्टानों पर पूर्ववत बहती रहती है और उनको काटती जाती हैं। यदि घाटी बनने के पूर्व आरम्भ मे इस प्रकार की चट्टानें धरातल पर होती तो नदी इनसे हटकर ही बहती। परन्तु अब इस समय तक घाटी इतनी स्थायी बन गयी होती है कि वह इन कठोर चट्टानों पर भी अपना मार्ग बनाये रहती है, क्योंकि चट्टानों के ऊपर आने के पूर्व जो अपवाह प्रणाली बन गयी थी वही इन चट्टानों पर भी आरोपित हो जाती है। इस कारण इसको अध्यारोपित (Exgenetic) अपवाह कहते हैं।[1]

अध्यारोपित अपवाह में नदी स्वाभाविक रूप से अपनी घाटी बनाती जाती है, परन्तु चट्टानों की संरचना में परिवर्तन हो जाने से उनमे भँवर व प्रपात आदि बन जाते है और उनका पाट भी तंग हो जाता है।

3. **संरचना के नियन्त्रण के आधार पर वर्गीकरण** (Classification according to the Controls of the Structure)

यहाँ संरचना से अर्थ चट्टानों की भू-गर्भिक संरचना से है। इस आधार पर घाटियों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) **एक दिग्नत घाटी** (Homoclinal or Uniclinal Valleys)—अब किसी स्थान पर शैल-स्तर समान कोण पर एक ही दिशा में झुके हुए होते है तो उसे एक दिग्नत सरचना कहते हैं। चट्टानों की ऐसी संरचना मे विकसित घाटी को एक दिग्नत घाटी कहा जाता है। ऐसी घाटियों का विकास स्तर के नतिलम्ब (strike) के सहारे होता है और घाटी के दोनों किनारे असमान ढाल वाले होते है। रॉकीज व अप्लेशियन पर्वत मे ऐसी घाटियों के कई उदाहरण मिलते है।

(2) **अपनति घाटी** (Anticlinal Valleys)—जब किसी स्थान पर घाटी की रचना अपनति अक्ष के सहारे होती है तो उसे अपनति घाटी कहते है।

(3) **अभिनति घाटी** (Synclinal Valleys)—जब किसी स्थान पर घाटी का निर्माण अभिनति अक्ष के सहारे होता है तो अभिनति घाटी कहा जाता है।

---

1 "Streams whose courses have been fore determined by the rocks in which they first started to cut their valleys are super-imposed." —*P. G. Worcester*

(4) **भ्रंश घाटी** (Rift Valley)—जब किसी घाटी का विकास भ्रंशन से उत्पन्न निम्न भागो मे होता है तो भ्रंश घाटी और भ्रंश रेखा के सहारे उत्पन्न घाटी को भ्रंश रेखा घाटी कहा जाता है।

(5) **सन्धि घाटी** (Joint Valley)—जब कही पर चट्टानों की सन्धियों के सहारे घाटी का विकास होता है तो उसे सन्धि घाटी कहते है।

नदी-परिच्छेदिका
(River Profiles)

यदि किसी प्रदेश मे वर्षा द्वारा प्राप्त जल भूमि पर तात्कालिक वाह के रूप मे चादरवत बहकर चला जाये तो उस प्रदेश मे किसी भी प्रकार की घाटी की रचना नही होगी। किन्तु हम जानते है कि वर्षा का जल ढाल के अनुसार बहता है और जब वह बहता है तो भूमि को काटकर नालियाँ बनाता है। धीरे-धीरे ये नालियाँ गहरी तथा चौड़ी होती रहती है जिससे नदी-घाटी की रचना होती है। यदि हम इस नदी-घाटी के रूप और उसकी दृश्य-भूमि का अध्ययन करना चाहें तो वह नदी-परिच्छेदिका के द्वारा ही भली प्रकार किया जा सकता है। नदी परिच्छेदिका से तात्पर्य उस पार्श्व चित्र से है जो नदी के उद्गम से लेकर उसके मुहाने तक के ढाल को काट देने मे प्राप्त होता है। ऐसे पार्श्व चित्र मे एक घाटी की सभी विशेषताएँ खण्ड रूप में प्रकट होंगी। नदी-परिच्छेदिका के दो रूप है : (1) अनुप्रस्थ परिच्छेदिका, और (2) अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका।

(1) **अनुप्रस्थ परिच्छेदिका** (Transverse Profile)—नदी की घाटी अपने उद्गम से लेकर अन्त तक किस प्रकार गहरी और चौड़ी होती है, यह अनुप्रस्थ परिच्छेदिका से ज्ञात होता है। प्रायः सभी नदियों का उद्गम पर्वतों से होता है। इस पर्वतीय अवस्था में नदी अधिक शक्तिशाली नहीं होती, क्योंकि इस समय नदी में जल की मात्रा और जलोढक दोनो ही कम होते है। किन्तु इस भाग मे भूमि का ढाल बड़ा ही तीव्र होता है जिससे नदी गहरी घाटी का निर्माण करती है। वस्तुतः पर्वतीय अवस्था मे लम्बवत अपदरन (vertical erosion) ही नदी का मुख्य कार्य होता है। फलस्वरूप यहाँ नदी की घाटी चौड़ी होने की अपेक्षा शीघ्र गहरी हो जाती है। इस भाग में घाटी के किनारे ऊँचे और खड़े ढाल वाले होते है, जिससे घाटी एक गार्ज अथवा कैनियन के सदृश लगती है। गहरी एवं संकीर्ण घाटियाँ इस भाग की विशेषता है।
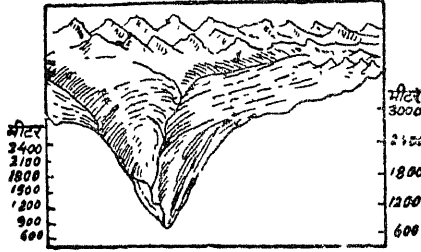
चित्र 306—वी-आकार की घाटी

पर्वतीय प्रदेश को छोड़ने के बाद नदी मैदान में प्रवेश करती है। मैदान में प्रवेश करने के साथ ही नदी के ढाल मे परिवर्तन आ जाता है। इससे नदी का प्रवाह मन्द पड़ जाता है और अपरदन की तीव्रता नष्ट हो जाती है। फिर भी नदी का लम्बवत अपरदन चलता रहता है। किन्तु इस अवस्था मे लम्बवत अपरदन की अपेक्षा पार्श्विक अपरदन अधिक होता है। फलस्वरूप नदी की घाटी यहाँ गहरी होने की तुलना मे चौड़ी अधिक होती है। इस भाग मे नदी के प्रवाह मार्ग की रूपरेखा ढाल कम होने की गति के अनुरूप होती है।

पर्वतीय भाग मे नदी अपने तीव्र प्रवाह के कारण मार्ग मे पडने वाली समस्त रुकावटों को बहाकर ले जाने मे समर्थ होती है, परन्तु मैदानी भाग में मन्द प्रवाह के कारण जल-धारा एक हल्के अवरोध से भी मुड जाती है। अत इस भाग मे नदी में अनेक विसर्प बन जाते हैं। इन विसर्पों के विकास के साथ-साथ नदी की घाटी अधिकाधिक चौड़ी होती जाती है। इस भाग में घाटी की

दीवारें पर्वतीय भाग की तरह सपाट तथा खडी नहीं होतीं। यहाँ दीवारें घाटी-तल से सीधी ऊपर उठने की अपेक्षा कुछ चौड़ी और ढाल लिए हुए होती है।

जब नदी मैदानी भाग छोडकर डेल्टाई भाग मे पहुँचती है तो वहाँ भूमि का ढाल नितान्त ही मन्द होता है। अतः यहाँ नदी का प्रवाह बहुत ही धीमा हो जाता है। इस भाग में घाटी को गहरा करने का कार्य प्रायः समाप्त हो जाता है। किन्तु जलोढकों की अधिकता के कारण नदी अपने किनारों को काटती रहती है जिससे नदी-घाटी बहुत चौड़ी हो जाती है। यहाँ तक कि नदी का V-आकार बिलकुल नष्ट हो जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ढाल के अतिरिक्त चट्टानों की संरचना का भी नदी-घाटी के विकास पर प्रभाव पडता है। धरातल पर बिछी कठोर एव मुलायम चट्टानो के परत विशेष दृश्य उत्पन्न करते हैं। मुलायम चट्टानों मे बनी घाटियाँ कठोर चट्टानो मे बनी घाटियों की अपेक्षा अधिक चौड़ी होती है। यही क्यों? एक ही नदी-घाटी में जब कठोर और मुलायम चट्टानें मिलती है तो कठोर चट्टानों वाले भाग मे नदी-घाटी खड़े किनारों वाली और मुलायम चट्टानों वाले भाग में नदी-घाटी खुली और मन्द ढाल के किनारों वाली होती है। जब नदी-घाटी में कठोर एवं मुलायम चट्टानों का क्षैतिज विस्तार होता है तो नदी एकसमान रूप से चौड़ी नही होती। ऐसी दशा मे कठोर चट्टानों में **'शिला पीठिका'** अथवा **सीढ़ियाँ** (Rock Benches) बन जाती है। इससे नदी-घाटी का V-रूप भ्रष्ट हो जाता है। जब किसी नदी-घाटी के एक तट पर मुलायम और दूसरे तट पर कठोर चट्टानें बिछी होती है तो मुलायम चट्टानो वाले तट पर अधिक अपरदन होता है जिससे उस तट का ढाल साधारण होता है। इसके विपरीत कठोर चट्टानों वाले तट पर अपरदन कम होता है जिससे तट तीव्र ढाल वाला होता है।
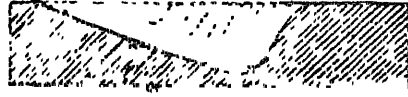
चित्र 307—वी-आकृति का नष्ट होना

अनुप्रस्थ परिच्छेदिका द्वारा इस प्रकार नदी-घाटी की अवस्था का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है। घाटी अनुप्रस्थ रूप में V-आकार की होती है। घाटी की प्रारम्भिक अवस्था में V-आकार बड़ा संकीर्ण होता है। बाद में धीरे-धीरे यह V-आकार चौड़ा हो जाता है। अतः पार्श्व चित्र के रूप में उद्गम के निकट घाटी V-आकार की और मुहाने के समीप U-आकार की होती है।

(2) **अनुदैर्घ्य परिच्छेदिका** (Long Profile)—किसी भी नदी का प्रारम्भिक प्रवाह मार्ग प्रारम्भिक स्थलखण्ड के ढाल के अनुरूप होता है। यदि नदी के मार्ग में सर्वत्र ही अपरदन एक समान रूप से होता है तो नदी का ढाल भी एकसमान बनता है। अतः यदि प्रारम्भिक स्थलखण्ड पूर्णतः चौरस हुआ तो उस पर नदी का लम्बात्मक पार्श्व चित्र एक रेखा की भाँति दिखाई पड़ेगा। किन्तु नदी के मार्ग में सर्वत्र एकसमान अपरदन होना सम्भव नहीं है। समुद्र तट के निकट नदी का गहरा कटाव समुद्र-तल से प्रभावित होता है। अतः यहाँ नदी समुद्र-तल से नीचे नही काट सकती। उद्गम के समीप भी नदी के गहरे काटने की शक्ति सीमित होती है, क्योंकि यहाँ नदी में जल की मात्रा और जलोढ़क दोनों ही कम होते हैं जिससे गहरा अपरदन अधिक नहीं हो पाता। सर्वाधिक गहरा कटाव नदी के मध्यवर्ती मार्ग में होता है। नदी-घाटी में अपरदन की इन विशेषताओं के फलस्वरूप प्रारम्भिक अवस्था में नदी-घाटी का एक अस्पष्ट (rough) अवतल पार्श्व चित्र विकसित होता है।

जब नदी मे गहरा कटाव (down cutting) तीव्रता पर होता है तो चट्टानों की कठोरता मे विभिन्नता के कारण नदी-घाटी के ढाल में अनेक विषमताएँ—जल-प्रपात एवं क्षिप्रिका आदि—

उत्पन्न हो जाती है। कुछ जल-प्रपात और क्षिप्रिकाएँ तो ढाल की स्वाभाविक विषमता के कारण बनती है, जैसे भ्रशन के कारण भू-पटल का एक भाग ऊँचा या नीचा हो जाता है तो भ्रंशन रेखा के समीप नदी मे जल-प्रपात बन जाता है। किन्तु ऐसे जल-प्रपात अस्थायी होते हैं। ऐसे जल-

चित्र 308—**सन्तुलित पार्श्विका**

प्रपात जो चट्टानों के अपरदन की भिन्नता के कारण उत्पन्न होते हैं, अधिक स्थायी और महत्त्वपूर्ण होते है। किन्तु अपरदन क्रिया से ऐसे प्रपात भी पीछे हटते-हटते अन्त में नष्ट हो जाते है। नदी की युवावस्था मे भिन्न सरचना की चट्टानों मे कभी-कभी उथली झीलें भी विकसित हो जाती है, परन्तु इनका जीवनकाल भी बड़ा अल्प होता है। नदी के गहरे काटने की क्रिया के साथ ज्यो-ज्यों नदी का मुहाना नीचा होता जाता है, इन झीलो का अस्तित्व नष्ट होता जाता है।

यदि दीर्घकाल तक नदी की अवस्थाओं मे किसी भी प्रकार व्याघात—स्थल का उत्क्षेप या विक्षेप—उत्पन्न न हो तो नदी अपने मार्ग की समस्त असमतलताओं को मिटाने में सफल हो जायगी। ऐसी दशा मे नदी अपने उद्गम से लेकर अन्त तक एकसार हो जायगी। नदी की इस अवस्था को **समतलावस्था** (graded stage) कहते है। इस अवस्था मे नदी का **लम्बात्मक ढाल-खण्ड** (long profile) अपने शीर्ष के निकट एकदम ढालू और मुहाने की ओर एकसमान मन्द ढाल वाला होगा। प्रत्येक नदी अपने मार्ग में इसी सन्तुलित अवस्था को पहुँचने का प्रयास करती है। ढाल खण्ड की इस अवस्था को ही **सन्तुलित पार्श्विका** (profile of equilibrium) कहा जाता है।

नदियों का चरम स्तर को पहुँचना
(Grading of Rivers)

धरातल पर जल का सन्तुलित बहाव ही नदी का ध्येय है। उसके प्रवाह प्रदेश का जल बिना किसी रुकावट के बह जाय और वह समुद्र मे पहुँच जाय, इस कार्य के निमित्त नदी अपनी घाटी को बराबर काटती-छाँटती रहती है। परन्तु उसके अपनी घाटी को काटने की भी एक सीमा है। अधिक से अधिक जिस गहराई तक नदी अपनी तलहटी को काट सकती है, वह आधार-तल (base level) कहलाता है। आधार तल और सागर तल (sea level) सदा समतल होते हैं क्योंकि सागर-तल के समीप पहुँचकर धारा अपनी तलहटी को गहरा करना छोड़ देती है। इसलिए आरम्भ से लेकर संगम तक धारा अपने मार्ग की तलहटी को उस समय तक बराबर गहरा करती रहती है जब तक धारा की तलहटी आधार-तल के बराबर न हो जाय।

संसार का सागर-तल ही सार्वभौमिक आधार-तल है। अतः समस्त बड़ी नदियाँ समुद्र में ही गिरती हैं। परन्तु सहायक नदियों का आधार-तल उसकी प्रमुख नदी ही होती है। जो नदियाँ झीलों में गिरती है उनका आधार-तल झील होती है। इस प्रकार के आधार-तल को स्थानीय आधार-तल (local base level) अथवा अस्थायी आधार-तल (temporary base level) कहते है। कुछ लोग इसे अपरदन की आधार रेखा भी कहते है। जर्मन भाषा में इसे **थालवेग** (Thalwag) कहा जाता है। जब नदी आधार-तल को पहुँच जाती है तो उसका बहाव बड़ा ही सरल हो जाता है। आधार-तल को पहुँच जाने पर जल इतनी सरलता से बहता है कि बड़ी-बड़ी नदियाँ बहुत ही क्रमिक ढाल अपना लेती हैं। मिसीसिपी नदी के निम्न भाग का ढाल प्रति मील दो से तीन इंच है, फिर भी यह नदी प्रति वर्ष अपने साथ 67,000 लाख घन फुट तलछट

निलम्बित (suspended) अवस्था मे, 7,500 घन फुट तलहटी के साथ लुढकाते हुए और 14,000 लाख घन फुट खनिज घोल के रूप में बहा ले जाती है। संक्षेप में, नदी की घाटी के ऐसे ढाल को जिस पर नदी का जल और प्रवाहित जलोढक सरलता से बह सके, **चरम-स्तर** (grade) कहते है। वस्तुत चरम-स्तर आवश्यक सन्तुलन की वह दशा है जो अपरदन (erosion) और निक्षेपण (deposition) के बीच होती है। दूसरे शब्दो मे, यह वह सम स्थिति है जब निक्षेप और अपरदन की क्रियाएँ बराबर होती हैं। जो नदियाँ चरम-स्तर को पहुँच चुकी होती है उनके मार्ग का ढाल ऐसा होता है कि समतल भाग नदी के मुँह और उत्तल भाग उद्गम के निकट होता है। वास्तव मे हरेक नदी की प्रवृत्ति अपरदन द्वारा "पूर्ण चरम-स्तर" (perfect grade) प्राप्त करने की रहती है। किन्तु पूर्ण चरम-स्तर की अवस्था एक कल्पना मात्र है क्योंकि यह कदापि सम्भव प्रतीत नहीं होता कि नदी का जलोढक, जल का आयतन और प्रवाह वेग इतने स्थायी हो जायँ कि नदी न तो अपरदन ही करे और न निक्षेपण ही। इसके अतिरिक्त जो चरम-स्तर की दशा बन पाती है वह चिरस्थायी नही होती। अन्य दशाओ के परिवर्तन के साथ वह भी बदलती रहती है। महासागर स्वयं लम्बी अवधि मे समान रूप से स्थिर नहीं रहते।

नदियों का पुनर्युवन
(Rejuvenation of Rivers)

भू-गर्भिक हलचलो के कारण पृथ्वी का भू-पटल ऊँचा-नीचा होता रहता है। भू-पटल पर इन परिवर्तन के फलस्वरूप किसी देश की नदी के इतिहास मे यकायक उथल-पुथल हो जाती है। किसी प्रदेश की भूमि के तनिक भी ऊँचा-नीचा होने से नदी के अपरदन-चक्र का क्रम उलट जाता है, जिससे नदी अपनी घाटी की पुन. काट-छाँट करने लगती है। फलस्वरूप एक पुरानी नदी में फिर से पुनर्युवन का सचार हो जाता है। संक्षेप मे, पुनर्युवन नदी की वह अवस्था है जबकि सन्तुलित अवस्था को प्राप्त नदी ढाल (profile of equilibrium) पर पुन: अपरदन कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

सामान्यत: नदी मे पुनर्युवन घटना प्राय. उस समय होती है जबकि वह चरम-स्तर को पहुँच चुकी होती है और उसके मार्ग में विसर्पण (meanders) बन चुके होते है। दूसरे शब्दों मे, नदी प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो जाती है। यद्यपि पुनर्युवन नदी-घाटी के विकास की किसी भी अवस्था में हो सकता है। पुनर्युवन के बाद उस प्रदेश मे प्रथम अपरदन चक्र के स्थान पर दूसरा अपरदन चक्र प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार एक प्रदेश अनेक अपरदन चक्रों से गुजर सकता है। अन्त में इसके परिणामस्वरूप उस प्रदेश में सामान्यत: भू-आकारो का उस प्रदेश की प्राकृतिक रचना से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

नदी में पुनर्युवन कई प्रकार से होता है। **थार्नबरी** के अनुसार पुनर्युवन के चार प्रकार है :[1]

(1) **गतिक पुनर्युवन** (Dynamic Rejuvenation)—यदि किसी सन्तुलित अवस्था को प्राप्त नदी की घाटी में भू-गर्भिक हलचलों के कारण भूमि का उत्क्षेप हो जाता है तो नदी का सन्तुलित ढाल बिगड जाता है। अतः नदी पुन: अपनी घाटी को काटना प्रारम्भ कर देती है, ताकि वह शीघ्र से शीघ्र सन्तुलित अवस्था को प्राप्त कर ले। इस प्रकार भूमि उत्क्षेप के कारण नदी मे पुनर्युवन की उत्पत्ति को 'गतिक पुनर्युवन' कहा जाता है।

(2) **समस्थितिक पुनर्युवन** (Eustatic Rejuvenation)—जब किसी भी रीति से समुद्र का जल-तल नीचा हो जाता है तो उससे उत्पन्न पुनर्युवन 'समस्थितिक पुनर्युवन' कहा जाता है। समुद्र के जल-तल में यह अन्तर **एडवर्ड सुवेस** के अनुसार पृथ्वी की 'पटल विरूपण समस्थितिका' (Diastraphic Eustatism) के कारण हो सकता है। इसके विपरीत **हेनरी बौलिंग** का कहना

---

1 W. D. Thornbury : *Principles of Geomorphology*, p. 142

है कि 'हिमानी समस्थितिकता' (Glacio Eustatism) का समुद्र के जल-तल पर प्रभाव पड़ता है। पटल विरूपण अथवा हिमयुगों के महासागरों मे जल की कमी हो जाने से जब समुद्र का जल-तल नीचा हो जाता है तो उसका प्रभाव तत्काल चरम-स्तर को प्राप्त नदियो के कार्य पर पड़ता है। समुद्र-तल के नीचा हो जाने पर नदियाँ अपनी घाटी को और गहरा काटने लगती है जिससे नदियों के मुहाने अधिक नीचे होने लगते है। उदाहरण के लिए, नीचे के चित्र मे अ ब एक प्रौढावस्था को प्राप्त नदी है। समुद्र के जल-स्तर के नीचा होने मे उसका ढाल अ' ब' हो सकता है। परिणामस्वरूप नदी का ढाल पहले की अपेक्षा बढ जायगा। ऐसी स्थिति मे नदी अपनी घाटी को पुनः गहरा काटने लगेगी। यह नदी की पुनः यौवनावस्था होगी। अ स ब नदी का प्रयत्न अपने पूर्व ढाल को प्राप्त करना रहेगा जो कि अ' स' ब' होगा। मुख्य नदी की शाखा द स को भी अपनी घाटी को अधिक गहरा करना पड़ेगा और स द नदी का ढाल बदलकर द' स' हो जायगा। सम्पूर्ण नदी-घाटी मे इस प्रकार पुनर्युवन लक्षित होता है।
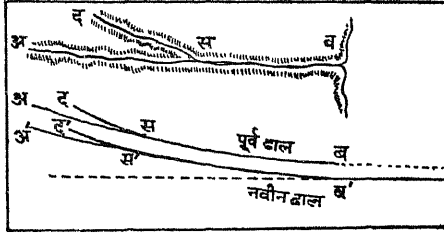
चित्र 309

(3) **स्थैतिक पुनर्युवन** (Static Rejuvenation)—जलवायु के परिवर्तन के कारण वर्षा की अधिकता से जब किसी नदी मे जल के आयतन बढ जाने या जलोढक की मात्रा अधिक हो जाने अथवा नदी स्रोत हरण या डेल्टे के निकट भूमि के धँस जाने आदि से पुनर्युवन होता है तो उसे स्थैतिक पुनर्युवन कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप यहाँ दिये गये चित्र में अ ब मुख्य नदी है और द स उसकी सहायक नदी है। जब द स नामक नदी आवश्यक भार लाने में असमर्थ हो जाती है तो मुख्य नदी के स ब भाग में भी भार की कमी हो जायगी जिससे वह अधिक काटने का कार्य करने लगेगी। इससे नदी का ढाल घटकर स' ब रह जायगा। दूसरी ओर अ स' का ढाल बढ जायगा जिससे इसका भी अधिक कटाव प्रारम्भ हो जायगा। अन्त मे नदी की अनुदैर्ध्य परिच्छेदिका अ ब स से बदल अ' व' स' हो जायगी।
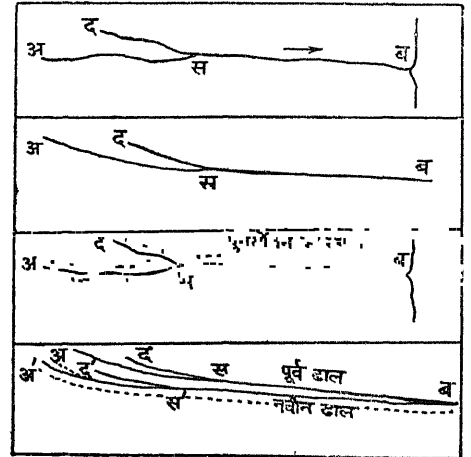
चित्र 310

उपर्युक्त किसी भी कारण से जब नदी का पुनर्युवन हो जाता है तो उससे निम्न भू-आकारों का विकास होता है:

(1) नदी-घाटी मे पुनः गहरे कटाव के कारण अपरदन के प्रथम चक्र में बनी खुली और चौरस घाटी मे एक बहुत ही सकीर्ण और खड़े ढाल वाली घाटी (valley in valley structure) वन जाती है।

(2) बाढ के मैदान मे पुनः गहरे कटाव के कारण नवीन घाटी के दोनों तटों पर वेदिकाओं (terraces) का निर्माण होगा। वेदिकाओ का ऊपरी भाग समतल कछारी मैदान होगा।

(3) पुनर्युवन से नदी के विसर्पण और अधिक गहरे हो जाते हैं। कठोर चट्टानी भागों

मे ऐसे विसर्पण शैलों के अन्दर भी बन जाते है जिन्हें अधःकर्तित विसर्प (incised meanders) कहते है। दामोदर नदी की घाटी मे ऐसे अनेक विसर्पण बने हुए है।

(4) जब नदी-घाटी मे कही भ्रंशन बन जाता है तो नदी-तल मे भ्रशन के सहारे यकायक परिवर्तन होता है, जिससे क्षिप्रिका (rapids) या जल-प्रपात उत्पन्न हो जाते है। भ्रशन के ऊपर और नीचे समान वृद्धावस्था के लक्षण पाये जाते है। किन्तु भ्रंशन वाले स्थल मे उभार के स्थान पर नदी पुनः गहरा कटाव प्रारम्भ कर देती है।

नदी के कार्य

भूमि पर प्रवाहित जल मुख्यतः तीन प्रकार के कार्य करता है—(1) अपरदन, (2) परिवहन, और (3) निक्षेप। नदी के इन कार्यों की विशद् विवेचना नीचे दी जा रही है :

नदी का अपरदन कार्य
(River Erosion)

नदी के प्रवाहित जल मे अपरिमित शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण वह शिलाखण्डों को ढोता है। शिलाखण्डों की इस ढुलाई से नदी का तल और किनारे कटते हैं जिससे नदी की घाटी गहरी और चौडी होती है। साथ ही शिलाखण्ड भी पारस्परिक घर्षण से घिसकर चूर्ण हो जाते है। इस प्रकार प्रवाहित जल से स्थल का तल बराबर कटता रहता है। यही नदी का अपरदन कार्य है।

नदियो द्वारा अपरदन दो प्रकार से होता है—(1) रासायनिक अपरदन (chemical erosion), (2) भौतिक अपरदन (mechanical erosion)। रासायनिक अपरदन में जल नदी-तल की घुलनशील चट्टानो को घुलाकर बहा ले जाता है और भौतिक अपरदन मे प्रवाहित जल नदी के किनारो और तल की चट्टानो को काटता है। किनारो के कटने से नदी चौड़ी और तल के कटने से गहरी होती है। अतः ऐसे अपरदन को क्रमश: पार्श्विक अपरदन (lateral erosion) एवं लम्बवत अपरदन (vertical erosion) कहा जाता हैं। नदी-घाटी के निर्माण में दोनों ही प्रकार के अपरदन कार्य योग देते हैं।

अपरदन की विधियाँ

नदी का अपरदन कार्य निम्न चार विधियो से होता है :

(1) संक्षारण क्रिया (Corrosion of Solution),
(2) जलीय दाब की क्रिया (Hydraulic Action),
(3) अपघर्षण (Corrosion or Abrasion),
(4) संनिघर्षण (Attrition)।

(1) **संक्षारण क्रिया** (Corrosion)—जल में पदार्थों को घुलाने की बड़ी शक्ति है। नदी जल की यह विलेयता उसके खारीपन, कार्बन डाइ ऑक्साइड और अन्य गैसों के सम्मिश्रण से और भी बढ जाती है। अतः प्रवाहित जल प्रतिवर्ष बड़ी भारी मात्रा में अपने मार्ग की चट्टानो को घुलाकर समुद्र में ले जाता है। **मरे** ने यह अनुमान लगाया है कि प्रति क्यूबिक मील नदी के जल में लगभग 7,62,587 टन खनिज पदार्थ घुले रहते हैं।[1] प्रतिवर्ष ससार की समस्त नदियाँ करीब 6,500 क्यूबिक मील पानी समुद्र को पहुँचाती है। यदि यह अनुमान सत्य है तो लगभग 5 बिलियन टन खनिज-पदार्थ हर वर्ष घोल के रूप में स्थल से समुद्र को पहुँचते है।[2]

---

१ P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 161

२ *Ibid* ; p. 161

(2) **जलीय दाब की क्रिया** (Hydraulic Action)—बहते हुए जल में अन्य बातों के साथ-साथ दबाव भी होता है। जल की इस दाब-क्रिया से उसके नीचे के ढीले कण बहकर चले जाते है। जब कभी नदी अच्छे जोड़ वाली चट्टानो से होकर बहती है तो जल की रगड और दाब के कारण जोड़ो से चट्टान के बड़े-बड़े टुकड़े उखड़कर धारा के साथ बह जाते है। जल की दाब-क्रिया से किनारे के पदार्थ भी ढीले पड़ जाते है और अन्त में नदी के साथ बहकर अलग हो जाते हैं।

(3) **अपघर्षण** (Corrosion or Abrasion)—बहते हुए जल मे कठोर चट्टानी रोड़े भूमि को काटने मे यन्त्र (tools) का काम करते है। तेज धार वाले रोड़े कोमल शैलों को घिसकर चिकना कर देते हैं। इस प्रकार अपघर्षण एक ऐसी भौतिक विधि है जिसमे चट्टानी टुकड़े एक-दूसरे से टकराकर घिसते रहते है।

नदी के स्वच्छ जल मे अपघर्षण की बड़ी अल्प-शक्ति होती है। किन्तु जो नदियाँ अपने साथ बालू, बजरी एवं गोलाश्म आदि बहाकर ले जाती है वे अपघर्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती हैं। अनेक जगह नदियों के दोनों किनारों पर गोल एवं चिकने गोलाश्म की उपस्थिति अपघर्षण का सुन्दर उदाहरण है। नदी-घाटी के चौड़े और गहरे होने के पीछे भी अपघर्षण ही एकमात्र कारण है।

(4) **संनिघर्षण** (Attrition)—यह एक यान्त्रिक अपरदन का रूप है। इसमें नदी के द्वारा प्रवाहित चट्टानी रोड़े एवं गोलाश्म घाटी की कठोर शैलों के पारस्परिक घर्षण द्वारा घिसते रहते हैं। अपक्षय द्वारा अलग हुए चट्टानों के टुकड़े नदी की धारा में पड़कर आपस मे टकराते है और चूर-चूर हो जाते हैं। छोटे टुकड़े बड़े टुकड़ो के नीचे पिस जाते है और कुछ पारस्परिक रगड़ से घिसकर नुकीले, गोल तथा चिकने हो जाते है। धीरे-धीरे चट्टानों की चूर-चार बजरी और अन्त में बालू का रूप ले लेती है।

अपरदन के आधार

किसी प्रकार का अपरदन बिना शक्ति के नहीं होता। बहते हुए जल में यह शक्ति उसके आयतन और उसके प्रवाह वेग द्वारा उत्पन्न होती है। इस शक्ति के अतिरिक्त नदी तल की शैली और प्रवाहित जल के जलोढक का भी अपरदन पर प्रभाव पड़ता है। सभी नदियों मे ये परिस्थितियाँ एकसी नहीं होतीं। अतः नदियों के अपरदन में भिन्नता होती है। किसी भी नदी द्वारा किया गया अपरदन निम्न बातों पर निर्भर करता है :

(1) नदी के जल का वेग,
(2) नदी के जल का आयतन,
(3) नदी के तल की रचना,
(4) नदी के जल मे जलोढक की मात्रा।

(1) **नदी के जल का वेग**—नदी के जल का वेग उसके ढाल और जल की मात्रा पर निर्भर करता है। जब नदी-घाटी का ढाल तीव्र होता है और नदी मे जल की मात्रा भी अधिक होती है तो नदी का वेग तीव्र होता है, किन्तु ढाल अथवा जल की मात्रा मे कमी हो जाने पर वेग मन्द पड जाता है। उत्तरी भाग की नदियो की अपेक्षा दक्षिणी भारत की नदियों का वेग तीव्र है, क्योकि वे अपेक्षतया तीव्र ढाल पर बहती हैं। वर्षाऋतु मे सभी नदियो का प्रवाह तीव्र होता है क्योकि उस समय नदियो मे जल का आयतन बहुत अधिक बढा हुआ रहता है। नदी जल का वेग नदी-घाटी की चौडाई पर भी निर्भर करता है। संकीर्ण घाटी मे प्रवाह तीव्र रहता है एवं चौड़ी घाटी मे प्रवाह मन्द होता है। **जेम्स बी० ईड्स** (James B. Eades) ने सन् 1875 में मिसीसिपी नदी की धारा को उसके डेल्टे के समीप संकीर्ण कर दिया। इससे धारा का वेग प्रबल हो गया

और डेल्टे के समीप निक्षपण की समस्या मिट गयी। तीव्र वेग के कारण नदी का जल भी स्वच्छ रहने लगा। इसके परिणामस्वरूप समुद्री जहाज जो पहले न्यू आर्लिअन्स बन्दरगाह तक नही पहुँच पाते थे, आने लगे और उसका व्यापार समृद्ध हो गया। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तीव्र वेग वाली नदियाँ अधिक अपरदन करती है और मन्द वेग वाली कम।

(2) **नदी के जल का आयतन**—किसी स्थान पर अपरदन की मात्रा नदी के जल के आयतन पर भी निर्भर करती है, क्योंकि नदी के जल के वेग का उसके आयतन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण है कि बाढ़ के समय जब नदियों मे जल का विसर्जन (discharge) अधिक होता है तो उनका प्रवाह वेग भी बढ जाता है। फलस्वरूप वे उस काल मे अधिक अपरदन करती है। शुष्क ऋतु में जब नदियाँ सूखी पड़ी रहती है तो उनके द्वारा कोई अपरदन नहीं होता।

नदियों मे जल की मात्रा उसके उद्गम तथा उसके संग्रहण क्षेत्र की वर्षा पर निर्भर करती है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों तथा हिम-क्षेत्रो से निकलने वाली नदियो मे जल की मात्रा सदैव अधिक रहती है। अत. नदियो का अपरदन कार्य आर्द्र प्रदेशों में ही अधिक होता है।

(3) **नदी-तल की बनावट**—नदी अपरदन पर उसके तल की बनावट का बड़ा प्रभाव होता है। यदि नदी-तल की चट्टाने कोमल होती है तो कटाव अधिक होता है। कोमल चट्टानें एक फ़ुट प्रतिवर्ष की गति से कट जाती है, जबकि ठोस क्वार्ट्ज चट्टानो के अपरदन की गति इतनी मन्द होती है कि उसे नापा भी नही जा सकता। नदी-तल की चट्टानों मे उपस्थित सन्धियाँ और दरारें भी अपरदन की तीव्रता में सहायक होती है।

(4) **नदी-जल में जलोढ़क की मात्रा**—नदी अपने जल मे स्थल से प्राप्त कई प्रकार के पदार्थो को बहाती है। कुछ पदार्थ जल मे घुले हुए, कुछ निलम्बित अवस्था मे और कुछ (कंकड़-पत्थर आदि) उसके तल के साथ लुढकते हुए बहते हैं। नदी-जल मे बहने वाले ये सभी पदार्थ जलोढक (load) कहलाते हैं।[1] नदी मे जलोढक कई प्रकार से प्राप्त होते हैं। जलोढक की अधिकांश मात्रा नदी-घाटी के किनारों के ऋतु-अपक्षय के फलस्वरूप ही धारा को प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त नदी की धारा स्वयं अपने किनारों और तल की कोमल चट्टानों को काटती और घिसती रहती है। कुछ उम्दा पदार्थ वृष्टि धोवन (rain wash) के रूप में और कुछ पदार्थ गुरुत्वाकर्षण के कारण घाटी के ढालों से खिसककर नदी मे मिल जाता है। नदी में इस जलोढ़क को बहाने की शक्ति नदी-जल के आयतन और वेग पर निर्भर करती है। यदि किसी नदी का वेग दुगुना कर दिया जाय तो उसमें जलोढ़क को बहाने की शक्ति 64 गुनी बढ जाती है। नदी का अपरदन कार्य उसके जलोढक से बहुत अधिक प्रभावित होता है। नदी-तल के साथ बहते हुए कंकड़, पत्थर, रोड़े एवं गोलाश्म नदी के यन्त्र के समान कार्य करते हैं। ये तल की चट्टानो को छेनी और रेती की भाँति काटते और घिसते चलते है। घाटी के किनारे भी इसी प्रकार कटते रहते है। अतः नदी-जल में जलोढक की मात्रा जितनी अधिक होती है, नदी द्वारा अपरदन कार्य भी उतना ही अधिक होता है। यही कारण है कि पकिल जल वाली नदियाँ स्वच्छ जल वाली नदियों की अपेक्षा अधिक अपरदन करती है।

किसी नदी द्वारा अपरदन सदैव उसके जलोढ़क के अनुपात में होता है। जब नदी में जलोढ़क की मात्रा उतनी ही होती है जितनी वह सामान्य रूप से ले जा सकती है तो ऐसी दशा में नदी द्वारा न तो अपरदन ही होता है और न निक्षेपण ही। किन्तु नदी में ऐसी अवस्था

---

1 "The sediment carried in suspension, together with the bed load, that is, gravel, pebbles and boulders rolled along the bottom of the channel, and the material carried in solution, constitute the stream's load." —*P. G. Worcester*

कदाचित ही मिलती है। साधारणतः नदी में जलोढक की मात्रा या तो पूर्ण मात्रा से कम या उससे अधिक रहती है। जब नदी मे जलोढक की मात्रा सामान्य मात्रा से अधिक होती है तो वह निक्षेप करने लगती है, किन्तु जब जलोढक की मात्रा सामान्य मात्रा से कम होती है तो वह अपरदन कार्य करती है। इस प्रकार नदी अपनी घाटी मे या तो अपरदन करती है या निक्षेप। यही नदी के अपरदन का मूल सिद्धान्त (basic principle of erosion) है।

अपरदन द्वारा उत्पन्न भू-आकार

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जब कोई नदी किसी स्थल भाग से होकर बहती है तो स्थल को काटती हुई चलती है। नदी की इस अपरदन क्रिया से घाटी की रचना होती है। किन्तु घाटी का रूप एक जैसा नहीं रहता। वह अपरदन की तीव्रता के साथ बदलता रहता है। अपरदन की क्रिया से घाटी में अनेक नवीन भू-आकार उत्पन्न हो जाते है। नदी के अपरदन द्वारा उत्पन्न प्रमुख भू-आकारो का विवरण नीचे दिया जा रहा है :

(1) **खाँचे** (Groovings)—नदी जब तेजी के साथ बहती है तो उसके साथ कंकड़ और रोड़े भी लुढकते है। ये कंकड़ और रोड़े जब लुढकते हैं तो तली मे घर्षण होता है जिससे तली चिकनी हो जाती है। ऐसा प्राय. कठोर चट्टानी तल वाली घाटियों मे होता है। वहाँ इनकी तुलना हिम अपरदित घाटियो से की जा सकती है। ये रोड़े और कंकड़ तली को चिकना बनाने के साथ-साथ उसमें अनेक खाँचे (grooving) भी बना देते है।

(2) **जलजर्गतिका** (Pot holes)—इनकी रचना नदी-घाटी में ऐसे स्थानो पर होती है जहाँ नदी-तल मे ठोस चट्टाने बिछी होती है। ठोस चट्टानी तल पर लुढ़कते हुए कंकड़ और रोड़े तलहटी में गड्ढे बना लेते है। ऐसे ही गड्ढो मे पड़ी बालू और कंकड़ जब भँवर (whirl) के साथ हो जाते है तो इनकी घर्षण क्रिया बहुत तीव्र हो जाती है। भँवर के साथ बालू और कंकडों के ऊपर-नीचे तथा गोल-गोल घूमने से गहरे गर्त बन जाते है। नदी-तल में बने ऐसे गर्तों को ही **जलजर्गतिका** कहा जाता है।

सामान्यतः जलजर्गतिकाओं की रचना क्षिप्रिकाओं (rapids) के ऊपर अथवा जल-प्रपात के नीचे होती है। इनका विकास धारा की तीव्रता और जलोढक की मात्रा पर निर्भर करता है। ये गर्त अनेक आकार-प्रकार और विस्मय में डालने वाले होते है। इसी विचित्रता के कारण कई स्थानों पर इनको जेकोब्स वेल (Jacob's well), विचेज केल्ड्रन (Witches Caldron) और बाथ टब (Bath tub) आदि नामों से पुकारा जाता है।

ये गर्त ऊपर से सँकरे और तल में चौड़े होते है। कभी-कभी भीतर की ओर ये गर्त परस्पर मिले हुए होते है। ऊपर से ये प्राकृतिक पुलो द्वारा पृथक ज्ञात पड़ते है। पुलों के नष्ट हो जाने पर ये कुण्ड (caldera) के सदृश प्रतीत होते हैं। भारत मे सोन, दामोदर एव चम्बल आदि नदियो की घाटियो मे कई स्थानो पर ऐसी जलज गर्तिकाएँ देखी जा सकती है। चम्बल नदी ने चूलिया प्रपात के नीचे के विशाल जलजगर्तों की रचना की है। यहां कई गर्त 40-50 फुट गहरे एवं 10-15 फुट चौड़े पाये जाते है।

(3) **आनति कुण्ड** (Plung Pools)—नदी अपनी घाटी की रचना करते समय कोमल चट्टानो को शीघ्र काट देती है। अतः घाटी मे जहाँ कही कठोर एव कोमल चट्टाने मिलती हैं या कठोर चट्टानो के नीचे कोमल चट्टाने बिछी होती है तो कोमल चट्टानो के शीघ्रता से कट जाने से ऊपरी कठोर चट्टाने आधारहीन हो जाती है। ऐसी दशा मे नदी का जल प्रपात रूप में नीचे गिरता है। नदी के जल प्रवाह के साथ रोड़े एव शिलाखण्ड भी धमाके के साथ नीचे गिरने लगते हैं। ये शिलाखण्ड नीचे बिछी चट्टानो को तोड़ते रहते है। नदी के तीव्र जल-प्रवाह और भँवर में पड़कर

नीचे की कोमल चट्टानो का घर्षण कर वहाँ गर्त का निर्माण कर देते हैं। धीरे-धीरे ये गर्त काफी बड़े होकर कुण्ड बन जाते है। अत: ऐसे कुण्डो को ही आनति गर्त (plung pools) कहा जाता है।

सामान्यत. जहाँ कही नदी प्रपात बनाती है वहाँ प्रपात के नीचे ऐसे गर्त बन जाते है। किन्तु इनकी रचना ऐसे क्षेत्रों में अधिक होती है जहाँ ऊपर बालू-पत्थर या चूना-पत्थर की तहें हों और उनके नीचे शेल चट्टान की परतें बिछी हों।

(4) **गार्ज** (Gorge)—सामान्यत: नदी की गहरी एवं संकरी घाटियो को गार्ज अथवा कन्दरा कहा जाता है। ऐसी नदी-घाटियो के पार्श्व अत्यन्त ढालू होते हैं। इन ढालों के ऊपरी भाग

चित्र 311—नर्मदा नदी का गार्ज

ऋतु-अपक्षय के द्वारा कटते रहते हैं किन्तु निचले भाग ऋतु-अपक्षय के प्रभाव से मुक्त रहते हैं। इसलिए ये घाटियाँ ऊपर से अपेक्षतया चौड़ी होती है। कभी-कभी गार्ज की दीवारे एकदम खडी होती है। जब कभी नदी घाटी को चौड़ा करने की अपेक्षा गहरा करने का कार्य अधिक तीव्रता से करती है तभी ऐसी संकीर्ण घाटियाँ बनती हैं। गार्ज की रचना कठोर चट्टानी भागो मे होती है। भारत मे नर्मदा, चम्बल, कृष्णा, सतलज, सिन्धु आदि नदियाँ कई स्थानों पर गार्ज बनाती हैं। भारत का सबसे ऊँचा भाखडा बाँध सतलज नदी के भाखड़ा गार्ज पर ही बनाया गया है।

(5) **कैनियन** (Canyon)—वस्तुत: कैनियन गार्ज का ही बडा रूप है। रचना की दृष्टि से एक गार्ज और कैनियन मे कोई स्पष्ट अन्तर नहीं होता। इसीलिए **वारसेस्टर** ने कैनियन और गार्ज की परिभाषा करते हुए कहा है कि "These are valleys whose walls are very steep and high in proportion to their width."[1] किन्तु सामान्यत. कैनियन एक गार्ज से बड़ी होती है। ऊँचे पहाडी और पठारी भागों मे जब नदी-घाटी के चौड़े होने की अपेक्षा गहरे होने की क्रिया तेज होती है तो ऐसी संकीर्ण घाटियाँ बनती है। साधारणत: एक कैनियन की रचना निम्न अवस्थाओं मे सुगमता से होती है :

(1) **ऊँचा पहाड़ी अथवा पठारी भाग**—ताकि नदी चरमस्तर को पहुँचने के पूर्व घाटी को काफी गहरा काट सके।

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 174

(2) **तीव्र ढाल**—अपरदन की तीव्रता तीव्र ढाल पर ही निर्भर करती है।

(3) **वेगपूर्ण प्रबल धारा**—ऐसी धाराएँ प्रायः सीधी बहती है और घाटी को गहरा काटने मे समर्थ होती हैं।

(4) **शुष्क जलवायु**—जलवायु शुष्क होने पर ढाल को धोने (slope-wash) की क्रिया मन्द होती है जिससे घाटी चौडी नही हो पाती।

(5) **चट्टानों की संरचना**—ठोस चट्टानी भागो में संकीर्ण घाटियो की रचना सरलता से होती है। ये कोमल चट्टानों की अपेक्षा अधिक सीधे ढालो के साथ खड़ी रहती है। चट्टानो में भ्रंशन और सन्धियाँ नदी के गहरे अपरदन मे योग देती है।

(6) **नदी का उद्गम हिमाच्छादित क्षेत्रों अथवा अति आर्द्र क्षेत्रों में हो,** ताकि नदी मे जल का आयतन काफी रहे।

(7) नदी मे जलोढक की मात्रा काफी आती हो।

संसार मे अनेक नदियों ने अपनी घाटियों में कैनियन की रचना की है। संयुक्त राज्य अमरीका मे कोलोरेडो नदी की कैनियन बडी ही अद्भुत है। यह 480 किलोमीटर से भी अधिक लम्बी, 1828 मीटर गहरी और 12 से 16 किलोमीटर चौड़ी है। इस घाटी की ऊपरी दीवारें क्षैतिज रूप से बिछी बालुका पत्थर, शेल व चूना-पत्थर से बनी है और नीचे की दीवारें मुख्यतः कैम्ब्रियन पूर्व की स्लेट, शिस्ट, क्वार्ट्ज और ग्रेनाइट चट्टानों से निर्मित है। इस कैनियन की दीवारो मे अनेक सीढियाँ, पीठिकाएँ, सर्पिल शिखर और शैल-स्तम्भ बने हुए पाये जाते है। हमारे देश मे सिन्धु, सतलज, नर्मदा, कृष्णा, कोसी, गण्डक, अलकनन्दा एवं ब्रह्मपुत्र नदियों ने भी कई स्थानों पर गहरी संकीर्ण घाटियो की सुन्दर रचना की है। सिन्धु नदी ने गिलगित में 20,000 फुट गहरे कैनियन की रचना की है। इसी तरह कृष्णा ने महाबलेश्वर के उत्तर-पूर्व में पश्चिमी घाट के सिरे पर 2,000 फुट गहरी सँकरी घाटी बनायी है। सतलज, गण्डक, कोसी आदि नदियो ने हिमालय क्षेत्र मे 6,000 से 12,000 फुट गहरी घाटियो की रचना की है।[1]

जल-प्रपात
(Water-Fall)

जल-प्रपात नदी-घाटी की रचना मे प्रकृति की एक अनुपम छटा है। इसके रूप-लावण्य की शोभा मानव मन को मन्त्र-मुग्ध कर देती है। इसलिए मनुष्य जब कभी अपने दैनिक-जीवन से ऊब उठता है तो वह प्रकृति के ऐसे ही क्रीडा-स्थल पर पहुँचकर अपना सन्ताप दूर करता है। फिर आज तो शक्ति के रूप (hydel power) मे जल-प्रपात मनुष्य के लिए वरदान ही बन गये है।

ऊँचे शैल-शिखरो से जब नदी बहती हुई आती है तो धरातल की प्रारम्भिक असमानता के कारण उसके मार्ग मे जल-प्रपात बन जाते है। कभी-कभी नदी के प्रवाह मार्ग मे जब कठोर चट्टानों की परत बिछी हुई होती है तो जल-प्रवाह उसे काट नही पाता और उसके ऊपर यह यकायक नीचे गिरने लगता है। अतः **प्रवाह की उस असमानता को जिसमें जल ऊपर से गिरता है जल-प्रपात कहते हैं।**

जल-प्रपात की रचना भूमि की असमतलता, भूमि का असमान अपरदन, भूकम्प, ज्वालामुखी तथा अन्य भू-गतियों आदि अनेक कारणों से होती है। अतः जल-प्रपात अपनी रचना के अनुसार दो प्रकार के होते है :

(i) साधारण जल-प्रपात, और

---

1 D. N. Wadia : *Geology of India*

(ii) जल-धारा के प्रवाह में किसी बाह्य शक्ति (outside force) द्वारा खड़े किये गये अवरोधस्वरूप बने जल-प्रपात ।

चित्र 312—**मैसूर का प्रसिद्ध जल-प्रपात**

(1) **साधारण जल-प्रपात**—जो प्रपात मूलतः अपरदन की भिन्नता के परिणामस्वरूप बनते हैं, वे साधारण जल-प्रपात (Normal water fall) कहलाते हैं। ऐसे जल-प्रपात चट्टानों की स्थिति के अनुसार निम्न प्रकार से बनते है।

चित्र 313—**जल-प्रपात**

(क) जब कोई नदी कठोर चट्टानी प्रदेश से बहती हुई कमजोर और मुलायम चट्टानों वाले भाग में पहुँच जाती है तो नदी मुलायम चट्टानों को सरलता-

पूर्वक और तेजी से काट देती है। ऐसी दशा में घाटी के तल की तहों में कठोर और मुलायम चट्टानों के सन्धि-स्थल (junction) पर असमानता पैदा हो जाती है और उस स्थान पर जल-प्रपात बन जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे अप्लेशियन पर्वत से निकल कर अन्ध महासागर मे गिरने वाली समस्त नदियो ने प्रपातो की रचना की है। ये सब प्रपात उन स्थानों पर पाये जाते हैं जहाँ नदियाँ प्राचीन कायान्तरित चट्टानों से निर्मित पीडमाण्ट पठार को छोड़कर नवीन उत्क्षेपित तटीय मैदान मे बहने लगती है। संयुक्त राज्य के पूर्वी भाग मे हडसन नदी से अप्लेशियन के दक्षिणी छोर तक इस प्रकार प्रपातों की एक रेखा-सी बन गयी है जो 'प्रपात रेखा' (Fall Line) के नाम से विख्यात है।
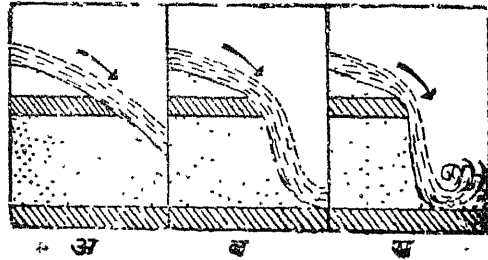
(ख) कभी-कभी नदी की घाटी मे चट्टानों की व्यवस्था ऐसी होती है कि कोमल चट्टानों के बीच कठोर चट्टान की परत लम्ब रूप मे (vertically) स्थित होती है। ऐसी अवस्था मे जल-प्रवाह कठोर चट्टान के नीचे नरम चट्टान को बड़ी आसानी से काट देता है। फलस्वरूप उसके मार्ग मे कठोर चट्टान का पिण्ड या तो ऊपर से लटका हुआ रह जाता है या वह लम्ब रूप मे खड़ा रह जाता है जिससे नदी का जल बड़े जोरो से इस पिण्ड के ऊपर से गिरता है और जल-प्रपात बन जाता है। ऐसे जल-प्रपात प्रायः अपने स्थान पर ही स्थित रहते है। पर धीरे-धीरे कठोर पिण्ड घिसता रहता है, जिससे उसकी ऊँचाई घटती रहती है और अन्त मे प्रपात लुप्त हो जाता है। अमरीका में यलोस्टोन नदी ने अपने मार्ग में ऐसे ही प्रपात की रचना की है।

जब कभी कठोर चट्टान की परत किसी कोमल चट्टान के ऊपर समान्तर रूप से बिछी होती है तो उस अवस्था मे भी प्रपात की रचना हो जाती है, क्योंकि कोमल चट्टानी तहें शीघ्र कट जाती है जिससे कठोर चट्टान के सिरे पर जल-प्रपात बन जाता है। जब पानी ऊपर से गिरता है तो कोमल चट्टान मे गड्ढे बन जाते है। ये गड्ढे बराबर बढ़ते रहते है और आनति गर्त (plung pool) का रूप ले लेते हैं। इन गर्तो मे गिरता हुआ जल उछलकर समीप की कोमल चट्टानों को काटता रहता है। इस विधि से थोड़े ही समय में नीचे की नरम चट्टान कटकर नष्ट हो जाती है जिससे ऊपर की कठोर चट्टान अधर मे लटकी रह जाती है। लटकती हुई यह चट्टान प्रवाह शक्ति अथवा अपने ही भार से टूट-टूटकर गिरने लग जाती है। इसके गिरने से जल-प्रपात पीछे को हटता जाता है। जल-प्रपात के इस प्रकार हटने पर भी प्रपात का शीर्ष कठोर चट्टानी परत के सिरे पर ही रहता है। नदियो की ऊपरी घाटी मे पर्वतीय जल-प्रपात प्रायः हटते-हटते नदी के उद्गम तक पहुँच जाते हैं और उद्गम को भी हटाकर जल-विभाजक तक को नष्ट कर देते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी जल-प्रपात स्वयं पीछे की ओर कटते जाते है और थोड़े ही दिनों में एक प्रपाती खड्ड (canyon) की रचना हो जाती है। जल-प्रपात के पीछे हटने का सर्वोत्तम उदाहरण नियाग्रा जल-प्रपात मे मिलता है।

नियाग्रा प्रपात सयुक्त राज्य अमरीका मे ईरी झील से निकलने वाली छोटी सी नियाग्रा नदी पर स्थित है। यह प्रपात बीच मे गोट द्वीप के आ जाने से दो भागो मे बँट गया है। इसका एक भाग कनाडा व दूसरा सयुक्त राज्य अमरीका में है। कनाडा मे इसे "होर्स शू फाल" (Horse Shoe Fall) कहा जाता है। कनाडा मे इसकी चौड़ाई 2,800 फुट और अमरीका मे 1,060 फुट है। इसकी अधिकतम ऊँचाई कनाडा मे 170 फुट और अमरीका मे 160 फुट ही है। इस प्रपात से प्रति सैकण्ड करीब 2,12,000 घन फुट जल गिरता है।[1] रचना की दृष्टि से इस प्रपात के ऊपर कठोर डोलोमाइट चट्टाने है और नीचे शेल तथा बालुका प्रस्तर चट्टाने है। यह प्रपात अपने

---

[1] Dr. R N. Dubey : *Physical Basis of Geography*, p. 297

निर्माण-काल से अब तक लगभग सात मील पीछे हट चुका है। यह औसतन तीन फुट प्रतिवर्ष की गति से पीछे खिसक रहा है।
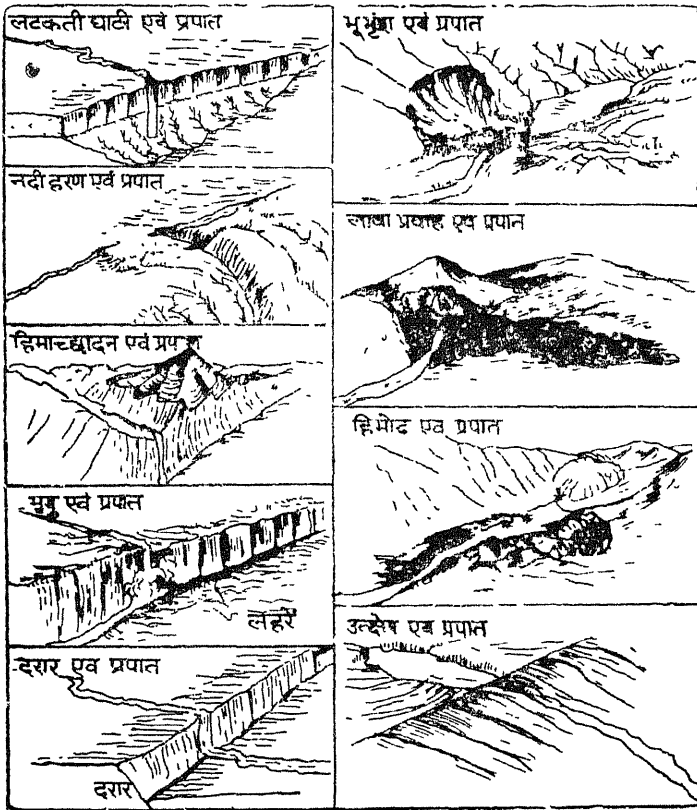
चित्र 314—विभिन्न प्रकार के प्रपात

(2) **जल-प्रवाह में उत्पन्न अवरोधस्वरूप बने प्रपात**—जल धारा के प्रवाह में जब कभी किसी कारणवश बाधा उपस्थित हो जाती है तो ऐसे जल-प्रपात बन जाते है। जल-प्रवाह में बाधा निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है :

(क) जल-धारा के मार्ग का नीचा हो जाना

(i) जब कोई नदी आधार-तल (base level) को पहुँच गयी होती है और यकायक वह पुनर्युवन (rejuvenation) को प्राप्त हो जाती है तो वह अपनी घाटी को पुनः शीघ्रतापूर्वक गहरा काट देती है। इससे उसकी कई शाखाएँ ऊपर लटकती हुई रह जाती है, जिससे जल-प्रवाह बन जाते हैं।

(ii) हिम प्रभावित क्षेत्रों में प्रमुख घाटी उसकी सहायक घाटियों की अपेक्षा घिसकर अधिक गहरी हो जाती है। फलस्वरूप सहायक घाटियाँ मुख्य घाटी के तल के ऊपर लटकी रहती है। अतः इन क्षेत्रों में हिम का प्रभाव नष्ट हो जाने के उपरान्त मुख्य तथा सहायक हिमनद घाटियों के संगम-स्थल (junction) पर जल-प्रपातों का निर्माण हो जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में 'यैसोमाइट' प्रपात इसका सुन्दर उदाहरण है।

(3) समुद्री लहरें अपने तट को बराबर काटती रहती हैं। कभी-कभी ये लहरें तट पर ऊँची भृगुओं (cliffs) का निर्माण कर देती हैं। भृगुओं की रचना से नदियों का मुहाना ऊपर

लटका रह जाता है और वह प्रपात का रूप ले लेता है। हवाई द्वीप मे नदियाँ समुद्र में मिलने पर ऐसा प्रपात बनाती है।

(ii) जब किसी जल-धारा के प्रवाह मार्ग में भ्रंशन अथवा संकुचन (warping) पैदा हो जाता है तो नदी का एक भाग ऊँचा और दूसरा भाग नीचा रह जाता है। ऐसी दशा में भी जल-प्रपात बन जाते है।

(ख) क्षणिक बाधाएँ

(1) जब आकस्मिक भू-स्खलन (landslide) द्वारा नदी अवरुद्ध हो जाती है तो प्रपात का निर्माण होता है।

(2) जब किसी नदी का मार्ग लावा प्रवाह के कारण अवरोधित हो जाता है तो प्रपात बन जाता है।

(3) नदी के मार्ग में हिमोढ का निक्षेप हो जाने से भी प्रपात की रचना सम्भव होती है।

(4) भूकम्प के कारण कभी-कभी नदी का तल ऊँचा हो जाता है जिससे प्रपात की रचना हो जाती है।

निम्न सारणी मे संसार प्रसिद्ध जल-प्रपात और उनकी ऊँचाई दी गयी है :[1]

नाम	ऊँचाई (फुट में)	देश
यैसोमाइट (Yesomite)	2,555	संयुक्त राज्य अमरीका (केलीफोर्निया)
सदरलैंण्ड (Sutherland)	1,904	न्यूजीलैण्ड
रोरिमा (Roraima)	1,500	ब्रिटिश गायना
कालाम्बो (Kalambo)	1,400	दक्षिणी अफ्रीका
ताकाकू (Takkakau)	1,346	ब्रिटिश कोलम्बिया
विक्टोरिया (Victoria)	400	दक्षिणी अफ्रीका
इगुयाजू (Iguazu)	230	ब्राजील
नियाग्रा	167	कनाडा
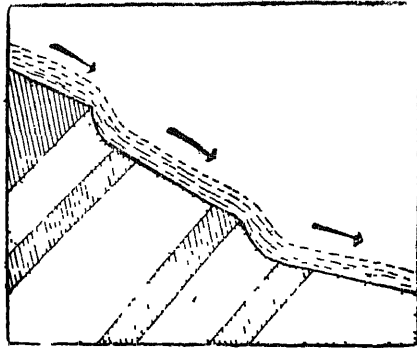
क्षिप्रिका (Rapids)—कभी-कभी नदियों की तलहटी असमतल होती है। इससे धाराओं में भँवर (whirls) उत्पन्न हो जाती है। घाटी के किसी-किसी भाग मे जल धारा बहुत ही वेगपूर्ण बहती है। नदी के इस प्रकार वेगपूर्ण बहाव को क्षिप्रिका (rapids) कहते हैं। प्रायः नदी की तलहटी एकसी नही होती। कहीं पर चट्टानें कठोर और कही वे नरम होती है। नरम चट्टाने तो शीघ्र ही कट जाती है परन्तु कठोर चट्टानो के कटने मे समय लगता है। अत. नदी के मार्ग मे क्षिप्रिका बन जाते हैं। नदी की तलहटी के ढाल के यकायक तीव्र हो जाने पर भी क्षिप्रिका बन जाते हैं। क्षिप्रिका बनने का मुख्य कारण नदी की तलहटी मे कठोर चट्टानों का आड़े-तिरछे रूप मे स्थित होना है। इन चट्टानों के उभरे भाग का क्षय बहुत कम होता है

चित्र 315—क्षिप्रिका

[1] T. W. Noyes : *The World's Great Waterfalls*, Natural Geography Magazine, vol. 50, p. 29-59

जिससे नदी का ढाल प्रत्येक कठोर चट्टान खण्ड पर कम हो जाता है, परन्तु उसके नीचे बढ़ जाता है। इस प्रकार इन कठोर चट्टान खण्डो पर नदी का जल उछलता हुआ चलता है जिससे क्षिप्रिका बन जाते है। प्राय. किसी जल-प्रपात की रचना चट्टानो की कठोरता के फलस्वरूप होती है तो पहले उसका प्रारम्भ क्षिप्रिका के रूप मे होता है। कठोर चट्टानो के निरन्तर घिसाव से प्रपात की ऊँचाई धीरे-धीरे कम होती जाती है और प्रपात का अन्त क्षिप्रिका में हो जाता है परन्तु ऐसा तभी होता है जबकि तलहटी मे कठोर चट्टाने बहाव की ओर झुकी हुई हो। जब प्रवाह का ढाल अधिक खड़ा होता है तो उसे **महाप्रपाती** (Cataract) कहते हैं। महाप्रपाती मे सीढ़ीदार उछाल होते हैं और जल की मात्रा अधिक होती है।

संरचनात्मक सोपान (Structural Benches)—कभी-कभी नदी के मार्ग में कठोर तथा कोमल चट्टानों की परतें एकान्तर क्रम से क्षैतिज अवस्था मे बिछी हुई पायी जाती है। ऐसी अवस्था में कठोर तथा मुलायम चट्टानो का अपरदन भिन्न गति से होता है। कठोर चट्टानों की अपेक्षा मुलायम चट्टानें अपरदन द्वारा शीघ्र घिस जाती है जबकि कठोर चट्टानें कम घिसने से आगे निकली हुई रहती है। इससे नदी घाटी में दोनों ओर सोपानाकार सीढियाँ बन जाती है। ये सोपान नदी-वेदिकाओ (river terraces) से भिन्न होते है। इन सोपानों की रचना चट्टानों की संरचना के कारण होती है, इसलिए इन्हें **संरचनात्मक सोपान** कहा जाता है।

चित्र 316—संरचनात्मक सोपान

नदी-वेदिकाएँ (River Terraces)—जब कभी प्रौढावस्था की नदी पुनर्युवन (rejuvenation) को प्राप्त हो जाती है तो वह अपनी घाटी को पुनः गहरा काटने का कार्य करने लगती है। ऐसी दशा मे पूर्व-निर्मित बाढ के मैदान नदी के तल से बहुत ऊँचे हो जाते हैं जिससे नदी-घाटी के दोनों ओर ये चौडी एवं ऊँची वेदिकाओं के समान प्रतीत होने लगते है। घाटी के गहरा हो जाने से इन ऊँची वेदिकाओं का छोर बहुत ढलुवाँ हो जाता है। अतः जल-धारा के दोनों ओर तीव्र छोर वाली ऊँची और चौड़ी स्थल पट्टियो को ही नदी-वेदिकाएँ अथवा कछारी सीढियाँ (Alluvial terraces) कहा जाता है। सामान्यतः ये सीढ़ियाँ ठोस चट्टानों मे कटी हुई होती हैं, यद्यपि इनके चपटे तल पर गोलाश्म एवं बजरी काफी गहराई तक बिछी हो सकती है। कुछ सीढ़ियाँ केवल कछार द्वारा बनी रहती है। जब नदी का बार-बार पुनर्युवन होता है तो सीढ़ियों (terraces) की रचना अधिक स्पष्ट और प्रखर होती है। ये सीढ़ियाँ कही सकीर्ण और कहीं मीलो चौड़ी होती है। सीढ़ियों के बीच की ऊँचाई भी कुछ फुट से लेकर सैकड़ो फुट तक होती है। इन नदी-वेदिकाओं पर अनेक जगह बड़े-बड़े नगर बसे हुए देखे जाते हैं।
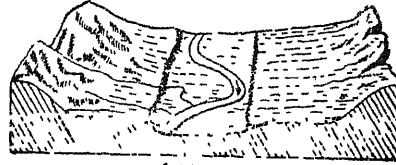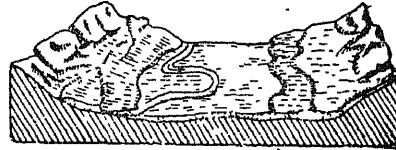
चित्र 317—नदी-वेदिकाओं का निर्माण

निक पंक्ति (Knick Punkte)—जब नदी के मार्ग में लम्बवत उद्गति और गभीरी विसर्प थोड़ी-थोड़ी दूर पर रुक-रुककर होते है तो नदी के तल में अक्षवत पार्श्व-चित्र (Axial Profile) के रूप में पीछे हटते सोपानो का निर्माण होता है, जिन्हें निक पंक्ति कहा जाता है। सामान्यतः इनकी उत्पत्ति समान चट्टानों में ही होती है।

विसर्पण (Meanders)—पर्वतीय भाग को छोड़कर जब नदी मैदानी भाग मे बहती है तो घाटी की प्रवणता (gradient) कम हो जाने से नदी का प्रवाह धीमा पड जाता है। प्रवाह गति मन्द पड़ जाने से नदी-जल मे बोझा ढोने की शक्ति भी घट जाती है। फलस्वरूप नदी अपने जलोढ़कों को किनारे पर छोड़ती चलती है। साथ ही मन्द प्रवाह के कारण उसके मार्ग मे तनिक भी अवरोध आ जाने पर वह मुड़ जाती है। टर्की की मियाण्डर नदी के मार्ग मे ऐसे अनेक मोड़ या विसर्पण है। इसीलिए नदी के मार्ग के इन चन्द्राकार प्रवाह मोड़ो को विसर्पण (Meanders) कहा जाता है।

नदी के मार्ग मे विसर्पण बनने के तीन प्रमुख कारण है :

(1) नदी की धारा केवल थोड़ी दूरी तक ही सीधी रह सकती है। (2) मैदानी भाग मे मन्द प्रवाह के कारण नदी किनारो पर इधर-उधर निक्षेप करती रहती है। इन निक्षेपो व अन्य अवरोधो से नदी-प्रवाह मुड जाता है। (3) पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमती रहने के कारण प्रत्येक प्रवाहित पदार्थ की गति विचलित हो जाती है और वह उत्तरी गोलार्द्ध में स्वभावत. ही दाहिनी ओर मुड़ जाता है।

विसर्पण केवल प्रौढ नदियो की ही विशेषता है। युवा नदियाँ जो अपनी घाटी को तीव्रता से गहरी काटती रहती है, कभी भी विसर्पण की रचना नही करती। प्रौढ़ नदियाँ जब बाढ़ के मैदान पर बहती है तो उसके मार्ग मे थोडी-सी बाधा आने पर अपने बाहरी तटों को काटती है और भीतरी तटो पर निक्षेप करती है, जिससे विसर्पण की रचना होती है। जब नदी मे जलोढक की मात्रा इतनी कम होती है कि भीतरी तट पर कोई निक्षेप नही कर पाती, तो ऐसी दशा में नदी अपने बाहरी तट को भी तीव्रता से नही काट पाती, जिससे विसर्पण बनने की सम्भावना कम हो जाती है।

नदी-घाटी मे बनने वाला प्रत्येक विसर्पण अपने विकास के साथ-साथ नदी के मार्ग मे नीचे की ओर खिसकता रहता है। नदी की धारा विसर्पण स्कन्ध की ऊपरी धारा के पार्श्व को काटती है जिससे छोटी कगारों (scrap) की रचना होती है। ये कगारें ही अधोरदित ढाल (undercut slope) बनाती है। इसके विपरीत अनुप्रवाह (down stream) भाग का स्कन्ध लम्बा और मन्द ढाल वाला होता है जिसे स्कन्ध का ढाल (slip-off slope) कहते हैं। जब किसी नदी में विसर्पण ठोस कठोर चट्टानी क्षेत्र मे होता है तो पार्श्विक अपरदन से अतिव्याप्त स्कन्ध (overlapping spurs), अन्तर्ग्रंथित स्कन्ध (interlocking spurs) एवं एकान्तर स्कन्ध (alternating spurs) का विकास होता है। परन्तु जब विसर्पण कोमल चट्टानो के क्षेत्र में होता है तो वहाँ स्कन्ध ढाल (slip-off slope), कतरित पुलिन (cut bank) तथा विसर्पण खराद (meandering scroll) का विकास होता है।

सामान्यत: विसर्पण का आकार धारा के आकार के अनुपात मे होता है। विसर्पण क्षेत्र की चौडाई मोटे रूप से उसको बनाने वाली धारा की औसत चौड़ाई से 18 गुनी होती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि नदी-घाटी मे विसर्पणो के विकास से नदी का ढाल घटता जाता है और उसका मार्ग लम्बा होता जाता है।

अधःकर्तित विसर्प (Incised Meanders)—जब नदी अपनी घाटी को काटते-काटते आधार तल को पहुँच जाती है तो उसकी गति मन्द पड़ जाती है। ऐसी अवस्था में नदी न तो अपरदन ही करती है और न परिवहन ही। इस समय नदी बड़ी ही मन्द चाल से इधर-उधर घूमती हुई बहती है। ऐसी दशा में यदि किसी कारणवश नदी का प्रवाह-क्षेत्र ऊँचा उठ जाय अथवा जलवायु के परिवर्तन के कारण नदी में जल की मात्रा बढ़ जाय तो नदी पुनः तीव्रता से अपनी घाटी का अपरदन करने लग जाती है। फलस्वरूप उसके उथले और संकरे विसर्पण फिर से गहरे

और चौड़े हो जाते है। इस प्रकार पुनः गहरे काटे हुए नदी विसर्पो को ही अधःकर्तित विसर्प कहा जाता है। ये विसर्प दो प्रकार के होते है : (1) अन्तःकर्तित विसर्प (Ingrown meanders), और (2) गभीरी विसर्प (Entrenched meanders)। (1) जब नदी-तल का अपरदन पार्श्विक अपरदन से बहुत अधिक नही होता तब अन्तःकर्तित विसर्प बनते है। इनके बाहुकूट (spurs) लम्बे तथा अधिक ढालू होते है। (2) जिन भागों में लम्बवत् उद्‌गति होती है वहाँ नदी-घाटियों मे गभीरी विसर्प की रचना होती है।

समप्राय मैदान (Peneplain)—जब कोई ऊँचा उठा हुआ स्थल-खण्ड नदी के अपरदन कार्य द्वारा एक आकृतिविहीन मैदान मे बदल जाता है तो उसे समप्राय मैदान कहा जाता है। सामान्यत. समप्राय मैदान नदी के अपरदन चक्र की अन्तिम अवस्था का प्रतीक होता है। इस अवस्था में घाटी का गहरा होना बन्द हो जाता है। केवल क्षैतिज अपरदन तथा अपक्षय द्वारा स्थल-खण्ड नीचा होता जाता है। कालान्तर मे नदी अपने आधार-तल को पहुँच जाती है। इस समय समूचा स्थल-खण्ड लगभग समतल हो जाता है। कठोर चट्टानों के अपवादस्वरूप यत्र-तत्र टीलों को **मोनेड-नॉक** (Monadnocks) कहा जाता है।

नदियों द्वारा परिवहन
(Transportation by Rivers)

बहते हुए जल के द्वारा चट्टानों के अपघर्षण और सक्षारण से जो जलोढक (load) तैयार होता है, जल-धारा उसे कभी स्थिर नही रहने देती। धारा की तरंगो की चपेट से वह निरन्तर जलमग्न होता रहता है और धारा के प्रवाह में पड़कर धारा के साथ आगे बढता रहता है। इस प्रकार बहता हुआ जल स्थल के ठोस पदार्थो को समुद्र तक पहुँचाने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। संसार की समस्त नदियाँ प्रतिवर्ष कल्पनातीत मात्रा मे स्थल पदार्थों को समुद्र में पहुँचाती हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि केवल संयुक्त राज्य अमरीका की नदियाँ ही प्रतिवर्ष लगभग 8,00,00,00,000 टन पदार्थ बहाकर समुद्र में ले जाती है।[1]

नदियों द्वारा प्रवाहित जलोढक (load) विविध आकार-प्रकार का होता है। नदियाँ अपने भार अर्थात जलोढ़क को कई प्रकार से स्थानान्तरित करती है। स्थानान्तरण की मुख्य निम्न विधियाँ है :

कर्षण द्वारा अथवा लुढ़ककर (By Traction)—नदियों मे चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े लुढ़कते हुए चलते है। चट्टानी टुकड़ों से लुढककर चलने की क्रिया को कर्षण कहा जाता है। इस विधि में चट्टानी टुकड़े नदी की तली के साथ लुढ़क या फिसलकर चलते हैं। इस प्रकार कर्षण द्वारा चट्टानी टुकड़े एक स्थान से दूसरे स्थान को और फिर दूसरे से तीसरे स्थान को धीरे-धीरे आगे चलते हैं।

निलम्बन द्वारा (By Suspension)—जल की उत्प्लावन शक्ति (Buoyancy) के कारण उसमें प्रत्येक वस्तु का भार कम हो जाता है। अतः जब चट्टानों के सूक्ष्म या मध्यम श्रेणी के पदार्थ पानी के साथ चलते हैं तो भार की कमी से वे निलम्बन की अवस्था में स्थानान्तरित होते हैं। ऐसा अनुमान है कि मिसीसिपी नदी अपने भार का 90 प्रतिशत भाग इसी रूप में परिवहित करती है।

विलयन द्वारा (By Solution)—चट्टानों के अनेक पदार्थ घुलनशील होते है। अतः ऐसे पदार्थ जल के साथ घुलकर अदृश्य रूप में प्रवाहित होते हैं।

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 157

उत्परिवर्तन द्वारा (By Saltation)—जब नदी मे चट्टानी टुकड़े तली पर उछल-उछलकर स्थानान्तरित होते है तो इस क्रिया को उत्परिवर्तन कहा जाता है। इस विधि मे चट्टानी पदार्थो का बहुत ही मन्द गति से परिवहन होता है।

यद्यपि नदियाँ उपरोक्त विधियो से बड़ी मात्रा में पदार्थों को बहाकर समुद्र मे ले जाती है, किन्तु उनके द्वारा पदार्थो का परिवहन निम्न तीन बातो पर निर्भर करता है ·

(1) नदी का वेग,

(2) नदी की प्रवृत्ति,

(3) पदार्थो का आपेक्षिक गुरुत्व (specific gravity) एव उनकी उत्प्लावकता (Buoyancy)।

(1) **नदी का वेग**—नदियों की परिवहन-शक्ति पर सबसे अधिक प्रभाव उसके वेग का होता है। सामान्यतः एक तीव्र वेग वाली नदी मन्द गति से प्रवाहित होने वाली नदी की अपेक्षा अधिक जलोढक बहा ले जाती है। किन्तु नदी की धारा का वेग मुख्यतः उसके ढाल, उसमें जल के आयतन और उसके आकार पर निर्भर करता है। यदि नदी की आकृति और ढाल एकसमान रहे किन्तु नदी में जल की मात्रा बढ जाय तो नदी का वेग बढ जायगा। यदि नदी का आकार और उसमे जल का आयतन अविरत (constant) रहे पर उसके ढाल मे वृद्धि हो जाय तो उसका वेग भी अधिक होगा। जहाँ नदी का ढाल और उसमे जल का आयतन एक जैसा रहता है तो अनियमित और विसर्पित जल धाराओ की अपेक्षा सीधी और नियमित धाराओ में वेग अधिक रहता है।

नदी-तल के जलोढको को परिवहित करने की नदी की क्षमता को आँकने के लिए कई परीक्षण किये गये है, किन्तु उनमे से कोई भी पूर्ण सन्तोषप्रद प्रमाणित नही हो सका है। अतः नदी के परिवहित करने की शक्ति और नदी के वेग के बीच सम्बन्ध को बताने के लिए विभिन्न आँकड़े प्रयोग मे लाये जाते है। **गिल्बर्ट** के अनुसार नदी के वेग और उसकी परिवहन शक्ति मे 3·2 से 4·0 घात (power) का अनुपात है।[1] अन्य विद्वान इस अनुपात को छठे घात (sixth power) तक मानते है।[2] अर्थात् यदि कोई नदी एक नियत गति पर 1 पौण्ड भार का टुकड़ा बहा ले जाती है तो उसका वेग दुगुना हो जाने पर उसकी परिवहन की शक्ति $=(2)^6=(2\times2\times2\times2\times2\times2)=64$ गुना बढ जायगी और वह 64 पौण्ड भार का पत्थर बहा ले जायगी। किन्तु जब नदी मिश्रित जलोढ़कों को प्रवाहित करती है तो शक्ति में केवल चौगुनी वृद्धि ही होती है। **गीकी** (Geikei) के अनुसार यदि किसी नदी का वेग $\frac{1}{6}$ मील प्रति घण्टा है तो वह उम्दा चीका (fine clay) को भी कठिनाई से परिवहित कर सकेगी। किन्तु $\frac{1}{4}$ मील प्रति घण्टा की गति होने पर वह उम्दा बालू (fine gravel) को, $\frac{1}{2}$ मील की गति पर मोटी रेत को, $\frac{2}{3}$ मील की गति पर उम्दा बजरी (fine gravel) को और $1\frac{1}{2}$ मील की गति पर वह एक इंच व्यास वाले ककड़ों को बहा ले जायेगी।[3]

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि नदी के वेग मे तनिक भी वृद्धि हो जाने पर उसकी परिवहन शक्ति असाधारण रूप से बढ जाती है। किन्तु साथ ही हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धारा के वेग मे कमी हो जाने पर उसकी परिवहन शक्ति मे गति के अनुपात मे कही अधिक कमी हो जाती है। यही कारण है कि वर्षाऋतु मे जब नदी मे जल की मात्रा और वेग दोनो ही अधिक होते है तो वह बडे-बड़े पत्थरो को भी सरलता से बहा ले जाती है, परन्तु शुष्क ऋतु मे जल और वेग की कमी हो जाने पर वह साधारण जलोढक को भी आगे नही धकेल पाती। नदी के वेग मे

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 158

2 Finch and Trewartha : *Elements of Geography*, p. 241

3 *Ibid.* : p. 242

कमी हो जाने पर उसकी परिवहन शक्ति इतनी नष्ट हो जाती है कि धारा के प्रवाह में जहाँ कहीं तनिक भी अवरोध आ जाता है वही धारा जलोढक का निक्षेप कर देती है।

(2) **नदी की प्रवृत्ति**—किसी जल-धारा मे परिवहन की शक्ति प्रधानतः उसके स्वभाव पर निर्भर करती है। धारा का प्रवाह सदैव समान और नियमित नही रहता। उसके किनारो की अपेक्षा मध्य भाग मे एवं उसकी तली की अपेक्षा ऊपरी भाग मे प्रवाह वेग अधिक रहता है। नदी के किनारो और तली मे घर्षण (friction) के कारण वेग कम हो जाता है। फिर चूँकि नदी के किनार ढालू होते हैं, अत. गुरुत्वाकर्षण के वशीभूत किनारों का जलोढक खिसककर नदी के केन्द्रीय भाग में चला जाता है, जिससे नदी का तल ऊबड़ खाबड़ बन जाता है। नदी-तल की यह विपमता धारा की दिशा मे कई परिवर्तन ला देती है, जिसका प्रभाव उसकी परिवहन शक्ति पर होता है।

(3) **पदार्थों का आपेक्षिक गुरुत्व**—पानी मे प्रत्येक वस्तु का भार कम हो जाता है। पानी की इस प्रकृति के कारण कम घनत्व वाले ठोस पदार्थ जल मे लटके रहते है और जल-धारा द्वारा दूर तक बहा ले जाये जाते है, किन्तु भारी पदार्थ नदी-तल मे बैठ जाते है। इन पदार्थों में प्लवनशीलता होती है। यह प्लवनशीलता जल मे घुले हुए लवणों के कारण और भी बढ जाती है। इस प्लवन-शीलता से उनका जल-धारा पर कम बोझ पड़ता है और वे धारा के साथ बहे चले जाते है।

कोई भी जल-धारा स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म एवं कम घनत्व के पदार्थों का अधिक भार वहन कर सकती है, क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ का प्रत्येक पौण्ड वजन स्थूल पदार्थ के प्रत्येक पौण्ड वजन की अपेक्षा जल-धारा की शक्ति पर कम भार डालता है। इसके अतिरिक्त जल-धारा की शक्ति का एक बड़ा हिस्सा स्थूल की अपेक्षा कम पदार्थों के परिवहन में लगता है।

नदी अपने अन्दर एक जलोढक की एक निश्चित मात्रा ही बहाकर ले जा सकती है। यदि जलोढक का वास्तविक भार उसकी प्रवाहित शक्ति से कम होता है तो अपरदन (erosion) बढ़ जाता है। यदि जलोढक का वास्तविक भार उसकी शक्ति के बराबर होता है तो ऐसी दशा में न अपरदन होता है और न निक्षेप ही। पर यदि वास्तविक भार उसकी शक्ति से अधिक होता है तो जलोढक का अतिरिक्त भार निक्षेपित होने लग जाता है।

नदियों द्वारा निक्षेपण
(Deposition by Rivers)

नदियों द्वारा निक्षेपण उनकी अपरदन क्रिया का प्रतिफल है। अपरदन क्रिया से भूमि कटती है और नदियाँ स्थल से बालू, बजरी एव मिट्टी आदि पदार्थों को बहा ले जाती है। सामान्यतः नदियाँ अपरदित पदार्थों को समुद्र मे ले जाकर एकत्रित करती है, किन्तु नदियाँ हमेशा ही सभी पदार्थों को सीधे समुद्र तक नही ले जा पाती, क्योंकि अपरदन पदार्थों का परिवहन धारा के वेग, भूमि के ढाल और मार्ग की रुकावटो आदि पर निर्भर करता है। अतः जब कभी नदी-घाटी का ढाल मन्द हो जाता है तो धारा का वेग कम पड़ जाता है। इसी प्रकार बाढ के कम होने पर अथवा नदी के विभिन्न धाराओं में बँट जाने पर या नदी के शुष्क प्रदेश से होकर बहने पर उसके जल का परिमाण घट जाता है और उसके प्रवाह वेग में कमी आ जाती है। जब नदी मे जलोढक (load) की मात्रा बढ जाती है उस समय भी नदी का वेग घट जाता है। इस प्रकार जब कभी किसी भी कारणवश धारा का वेग कम पड़ जाता है तो नदी अपरदित पदार्थों को मार्ग में ही तब तक के लिए छोड़ देती है जब तक कि उनके परिवहन की अनुकूल परिस्थितियाँ पुनः पैदा नहीं हो जाती। नदियाँ अपनी घाटी में निक्षेपण मूलत. उन्हीं स्थानों पर करती है जहाँ जल-प्रवाह में बाधा उपस्थित होती है। ऐसी बाधाएँ पर्वतीय ढालों के आधार पर जहाँ ढाल में यकायक परि-वर्तन आ जाता है, या मुहाने के समीप जहाँ नदी का जल स्थिर जल-राशि से जा मिलता है, अधिक पायी जाती है। नदी की मध्यवर्ती घाटी अथवा मैदानो में भी अत्यधिक मन्द ढाल और

नदी-जल के आयतन की तुलना में जलोढको की अधिक मात्रा के परिणामस्वरूप धारा के प्रवाह में बाधा आ जाती है। अतः इन भागों मे नदियाँ अपने निक्षेपण द्वारा कई प्रकार की स्थलाकृतियों को जन्म देती है। इन स्थलाकृतियों मे (1) जलोढ शंकु अथवा पख, (2) विसर्पण, (3) डेल्टा, (4) बाढ का मैदान, (5) तट-बाँध, (6) बालू-भीति एवं बालुका द्वीप प्रमुख है।

जलोढ़ शंकु अथवा पंख (Alluvial Cones or Fans)—जलोढ शकु अथवा पंख एक प्रकार का स्थलीय डेल्टा है। इसकी रचना यद्यपि नदी निक्षेपण द्वारा ही होती है किन्तु यह अपनी उत्पत्ति
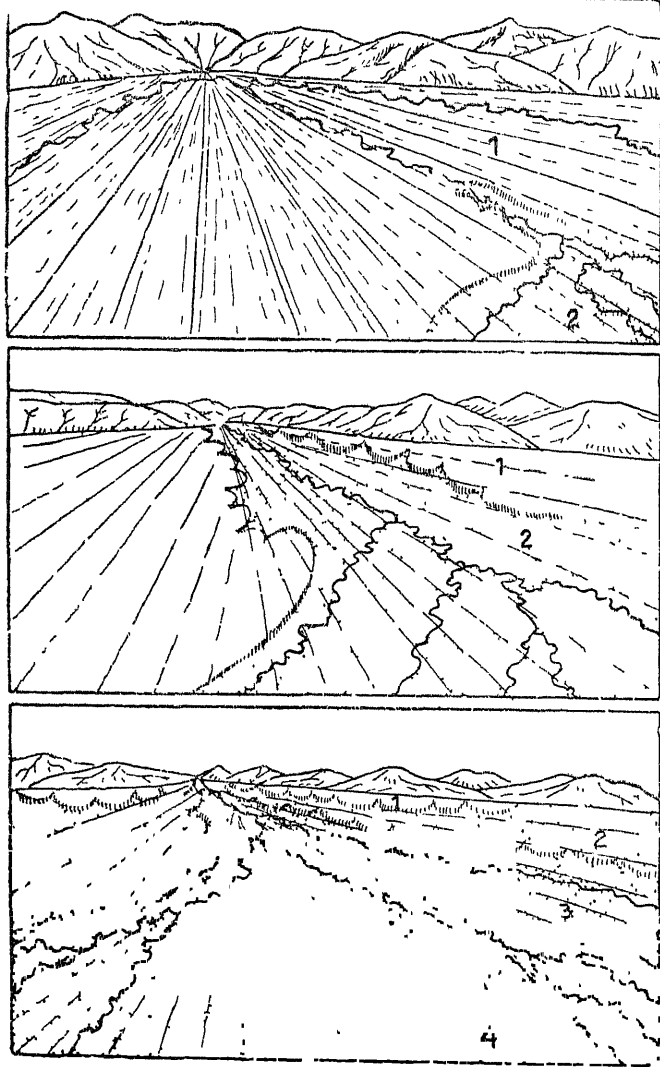
चित्र 318—जलोढ़ शंकु अथवा पंख

मे डेल्टा से भिन्न होता है। जब कोई नदी पर्वतीय भाग को छोडकर मैदान में उतरती है तो उसके ढाल में यकायक परिवर्तन आता है। ढाल परिवर्तन से नदी का प्रवाह धीमा हो जाता है। फलस्वरूप नदी अपने साथ बहाकर लाये हुए अधिकांश जलोढ़को को वही निक्षेपित कर देती है। नदी-तल मे इन जलोढ़कों का निक्षेपण तब तक होता रहता है जब तक कि नदी का ढाल इतना तीव्र न हो जाय कि

उसके द्वारा बहाकर लाये गये जलोढक सरलता से आगे परिवहित किये जा सकें। नदी-तल में जलोढकों के इस प्रकार के निक्षेपण से उसका प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है और नदी डेल्टे की भाँति अनेक धाराओं मे बँट जाती है। इससे जलोढक एक शंकु अथवा पंख के रूप मे फैल जाते है। सामान्यत मोटे तथा खुरदरे जलोढक पंख के सिरे पर और महीन तथा चिकने जलोढक पख के सबसे दूर वाले भाग मे निक्षेपित होते है। इस प्रकार पर्वतीय ढालों के नीचे नदियों द्वारा निक्षेपित जलोढक-राशि को ही जलोढ शंकु अथवा पंख कहा जाता है।

जलोढ शकु पंख की अपेक्षा अधिक प्रपाती ढाल वाला होता है। अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों मे शंकु की रचना अधिक होती है। इन प्रदेशो में जहाँ कही ढाल में आकस्मिक परिवर्तन होता है वहाँ उल्लेखनीय शकु मिलते है, क्योकि यहाँ यदाकदा होने वाली भारी वर्षा के कारण शक्तिशाली अस्थायी नदियों की उत्पत्ति हो जाती है जो बड़े शकुओं की रचना करने में समर्थ होती है। संयुक्त राज्य अमरीका के ग्रेट बेसिन मे पर्वतीय ढालों के सहारे ऐसे बड़े शंकु पाये जाते है। जब कहीं पर ढाल कम आकस्मिक होता है और नदियों मे जल की मात्रा अधिक और जलोढ़क कम और सूक्ष्म होते है तो वहाँ शकु के स्थान पर पंख की रचना होती है। सामान्यत. युवावस्था की सभी नदियाँ जब पर्वतीय भाग को छोड़ती है तो पर्वतीय ढालों के आधार पर पंख की रचना करती है। रॉकीज एव हिमालय पर्वत से उतरकर मैदान में आने वाली अधिकांश नदियाँ ऐसे पंखो का निर्माण करती है। भारत मे हरिद्वार के निकट ऐसा जलोढ़ पंख देखा जा सकता है। कभी-कभी ये पख काफी मोटे और बड़े विस्तार के होते है। जहाँ कही पड़ोसी नदियो द्वारा निर्मित पख एक-दूसरे से मिल जाते है वहाँ **पर्वत प्रान्तीय जलोढ़ मैदान** की रचना हो जाती है। भारत में हिमालय की तराई मे बने ऐसे ही मैदान को **भाबर** कहा जाता है।

जलोढ़ पंख और उससे बने मैदान कृषि की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी होते है। यहाँ पर बिछी कछारी मिट्टी बहुत ही उपजाऊ और मूल्यवान होती है। जब इन भागो मे कुओं और नहरों द्वारा सिचाई की व्यवस्था हो जाती है तो यहाँ की भूमि का मूल्य और उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। अर्द्ध-शुष्क भागों में तो जलोढ़ पंख कृषि के बहुमूल्य क्षेत्र बने हुए है।

छाड़न झील (Oxbow Lakes)—नदी मे ज्यों-ज्यों विसर्पण बढ़ते जाते है त्यों-त्यों विसर्पित ग्रीवा के स्कन्ध निकट आते जाते है। बाढ़ के समय नदी विसर्पण की संकीर्ण ग्रीवा को काट देती है जिससे विसर्पण का कुण्डलाकार भाग अलग हो जाता है और नदी की धारा सीधा मार्ग ग्रहण कर लेती है। धीरे-धीरे कटे हुए विसर्पण के सिरे बालू तथा मिट्टी से भर जाते है। नदी द्वारा छोड़े गये इन विसर्पणों मे जब जल स्थिर हो जाता है, तो उन्हें छाडन झील कहा जाता है। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि विसर्पण से नदी का मार्ग जितना लम्बा होता है, छाड़न झीलों द्वारा वह उतना ही छोटा होता जाता है।

चित्र 319—विसर्पण एवं छाड़न झील

डेल्टा (Delta)—जलधारा का वेग सदा ढाल के अनुसार होता है। जब नदी समुद्र में प्रवेश करती है तो वह आधार-तल (base level) तक पहुँच गयी होती है। दूसरे शब्दों में, वह बहुत ही मन्द ढाल पर बहती है। परिणामस्वरूप समुद्र मे गिरने के पूर्व नदी की शक्ति तथा वेग प्रायः क्षीण होता जाता है जिससे
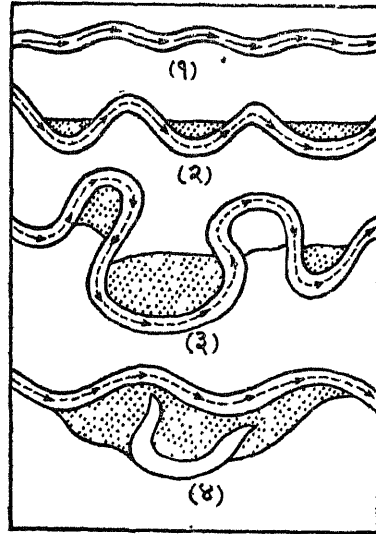
नदी अपना जलोढ़क मुहाने पर ही पटक देती है। यही नही, नदी का स्वच्छ जल जब समुद्र के खारे पानी से मिलता है तो नदी की अवसाद अथवा काँप शीघ्र ही ठोस रूप धारण कर नीचे जम जाती है। इस अवसाद का कुछ भाग समुद्री लहरे और धाराएँ बहाकर दूर ले चली जाती हैं।

चित्र 320—**एक आदर्श डेल्टा**

यदि समुद्री किनारा प्रबल धाराओ तथा ज्वार-भाटों से मुक्त होता है तो समुद्र मे नदी का निक्षेप एक मैदान के रूप में बढता रहता है। सतत रूप से नदी द्वारा अपने मुहाने पर मिट्टी के जमा करने से उसकी धारा अवरुद्ध हो जाती है। फलत नदी को अपना प्रवाह बनाये रखने के लिए नवीन मार्ग बनाना पड़ता है। इस प्रकार नदी अनेक शाखाओं में बँट जाती है और डेल्टे का निर्माण कर देती है। संक्षेप में, "**डेल्टा नदी के अन्तिम भाग का वह त्रिभुजाकार समतल मैदान है जो समुद्र अथवा झील में नदी निक्षेप द्वारा बनता है और जिस पर नदी का जल अनेक धाराओं में विभाजित होकर समुद्र में पहुँचता है।**" मुख्य धारा से निकली हुई अन्य शाखाएँ नदी की वितरक धाराएँ (distributaries) कहलाती है। इन वितरक धाराओं मे प्रमुख धारा की अपेक्षा जल की मात्रा कम हो जाती है। इससे इनकी गति बड़ी मन्द रहती है। जलोढ़क की अधिकता तथा अत्यन्त मन्द ढाल पर बहने के कारण भी इनकी गति बड़ी धीमी पड जाती है। फलतः निक्षेप बढ़ जाता है जिससे इनके बीच रेत के अनेक टापू और लम्बी बालू भीतियाँ (sand bars) बन जाती है। गंगा, सिन्धु तथा इरावदी नदियो के मुहानों पर ऐसे डेल्टे देखे जा सकते है। 'डेल्टा' ग्रीक भाषा का अक्षर है जिसका आकार त्रिभुजाकार है। नील नदी के निचले मैदान की आकृति ठीक इस अक्षर △ से मिलती-जुलती है। इसी समानता के आधार पर यूनानियों ने नील नदी के निम्न मैदान के लिए 'डेल्टे' शब्द का प्रयोग किया था जो आज भी प्रचलित है।

डेल्टा की रचना के लिए निम्नलिखित बातें आदर्श होती हैं :

(1) नदी का प्रवाह मार्ग काफी लम्बा होना चाहिए तथा उसकी अनेक सहायक नदियाँ होनी चाहिए जिससे समुद्र में बड़ी मात्रा में अवसाद (sediment) जमा हो सके।

(2) नदी अन्त में एक समतल मैदान से होकर बहती हो जिससे उसका प्रवाह धीमा हो सके तथा नदी के जल का समुद्र के जल से पूरा समागम हो सके और नदी की अवसाद समुद्र मे दूर न जा सके।

(3) समुद्र लहरों, धाराओं तथा ज्वार-भाटे के प्रवाह से मुक्त हो सके जिससे मुहाने पर अवसाद का निक्षेप बढ़ सके।

डेल्टे की संरचना और मोटाई—सामान्यतः डेल्टे के तीन भाग होते हैं (1) **ऊपरी भाग** (Top set)—यह एक मन्द ढाल वाला चौडा और समतल मैदान है जो समुद्र की सतह से कुछ ही ऊपर उठा हुआ होता है। (2) **अग्र भाग** (Fore set)—यह समुद्र मे डूबा हुआ सामने वाला
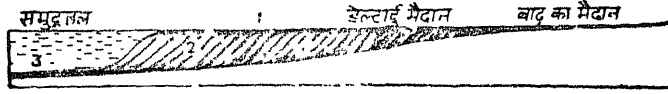
चित्र 321—डेल्टे के विभिन्न भाग . (1) ऊपरी भाग, (2) अग्र भाग, (3) निम्न भाग

भाग होता है। इसका ढाल एकदम खड़ा होता है। (3) **निम्न भाग** (Bottom set)—यह डेल्टे के नीचे का अन्तिम भाग है जो समुद्र-जल में बहुत दूर तक फैला रहता है। हिमानीकृत झीलों में बने छोटे डेल्टाओं मे ये सब भाग भली प्रकार से विकसित देखे जाते है। समुद्रों मे निर्मित डेल्टाओ मे ऊपरी भाग और अन्तिम निम्न भाग प्राय. एक साथ मिल जाते है।

डेल्टाओ के निक्षेप की मोटाई मुख्यतः डेल्टा की रचना की जाने वाले जल की गहराई पर निर्भर है। यह मोटाई डेल्टे के शीर्ष के समीप बहुत ही कम होती है। यह कहा जाता है कि नील नदी के डेल्टे की मोटाई 50 फुट से अधिक नही है। मिसीसिपी के डेल्टे मे दो हजार फुट गहरे कुएँ खोदे गये है, पर कहीं भी डेल्टा के निक्षेप का अन्त मालूम नही दिया।

डेल्टे की प्रगति—समुद्र की ओर धनुषाकार डेल्टाओं की प्रगति प्राय· सभी ओर समान रूप से होती है। नील का डेल्टा प्रतिवर्ष औसतन 12 फुट आगे बढता है।[1] पिछले 800 वर्षो मे पो नदी का डेल्टा एड्रियाटिक समुद्र मे 80 से 200 फुट प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ता रहा है। ईसा के पूर्व एड्रिया नामक नगर पो और एडिगी नदियों के बीच एक समुद्री बन्दरगाह था, किन्तु अब वह स्थल की ओर 14 मील भीतर स्थित है।[2] कैस्पियन सागर मे गिरने वाली टेरिक (Terek) नदी प्रतिवर्ष अपने डेल्टे को 1,000 फुट आगे बढा देती है। इसी प्रकार मिसीसिपी नदी 1908 मे औसतन 250 फुट प्रतिवर्ष के हिसाब से अपने डेल्टे को बढ़ा देती थी। सन् 1912 में उसकी यह गति बढकर 2,000 फुट प्रतिवर्ष हो गयी।[3]

डेल्टे के विभिन्न प्रवाह मार्गो और उसकी भुजाओं की प्रगति से समुद्र का कुछ भाग आबद्ध हो जाता है, जिससे डेल्टे की झीले बन जाती हैं। जैसे राइन नदी के डेल्टे पर ज्यूडियर जी (Zuyder Zee), ट्रिनीटी नदी के मुहाने पर टर्टल की (Turtle Bay), न्यूआर्लियन्स के समीप पोंचरट्रेन (Pontchartrain) एव नील नदी के मुहाने पर बोरोलोस व मेनजाला आदि झीले बन गयी है।

डेल्टे के प्रकार—डेल्टे अपने आकार की दृष्टि से कई प्रकार के होते है। डेल्टे का आकार नदी के जलोढक की मात्रा, जलोढ़क की प्रकृति और उस जल की गहराई जिसमे डेल्टे की रचना होती है आदि कई बातों पर निर्भर करता है। आकार की दृष्टि से डेल्टे निम्न प्रकार के होते है :

(1) **धनुषाकार डेल्टा** (Arcuate Delta)—नदी का जलोढक (load), अष्टीला, कंकड़, बालू और कुछ घुली हुई मिट्टी के रूप मे हो सकता है अथवा वह निन्तात ही बारीक कॉप और चूने की बड़ी मात्रा मे घुले हुए रूप में हो सकता है। जो डेल्टा खुरदरे पदार्थो जैसे कंकड़, बालू और कॉप आदि से बनता है वह एकदम सरन्ध्र (porous) होता है। ऐस निक्षेपित पदार्थों पर जब नदी की धारा बहती है तो वह अनेक शाखाओ और वितरक धाराओं मे बँट जाती है। अधिकतर धाराओं में जल-प्रवाह शिथिल होता है और वे बहुधा उच्च जल (high water) के

---

1 A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 233
2 *Ibid.*
3 *Ibid.*

समय अपना मार्ग बदल देती हैं। जल-प्रवाह अधिकतर पदार्थों के नीचे रहता है। ऐसी नदियों द्वारा निर्मित डेल्टे जिनकी अनेक वितरक धाराएँ होती है जैसे नील, राइन, ह्वांगहो, नाइजर और सिन्धु आदि नदियों के डेल्टा, धनुषाकार डेल्टा है। वस्तुत ससार के अधिकतर डेल्टे अपनी रूपरेखा मे अपेक्षतया सरल पंखे के अनुरूप (fan shaped) अथवा धनुषाकार और समुद्र की ओर उन्नतोदर होते है।

(2) **पंजाकार डेल्टा** (Bird's Foot or Dissected Delta)—जो नदियाँ अपने साथ बड़ी मात्रा में काँप मिट्टी और घोल के रूप मे चूना बहाकर लाती है, पजाकार डेल्टे की रचना करती है। ऐसी नदियों मे प्रवाह की साधारण व्यवस्था होती है। इनकी धाराएँ बड़ी साधारण होती हैं। इनमें वितरक धाराओ का समूह नही देखा जाता। इसका मूल कारण यह है कि ये नदियाँ अरन्ध्र पदार्थ का जो निक्षेप करती है वह जल को पदार्थों के नीचे होकर बहने से रोकता है। अतः जल कुछ ही बड़ी धाराओ मे होकर प्रवाहित होता है। मिसीसिपी नदी इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। यह नदी विशाल चूने के प्रदेशों तथा अवसादी चट्टानों से बह कर आती है इसलिए इसका तीन-चौथाई पदार्थ (जो यह मुहाने पर जमा करती है तलछट या काँप के रूप मे होता है। मिसीसिपी अपने डेल्टे को चार प्रमुख वितरक धाराओ द्वारा आगे बढ़ाती है। ये चारों धाराएँ एक ही बिन्दु से अलग होती है और डेल्टे को पूरा पजाकार रूप देती है।
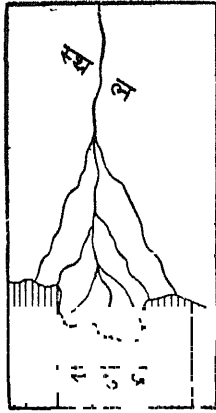
चित्र 322—**क्षीणाकार डेल्टा**

(3) **क्षीणाकार डेल्टा** (Lobate Delta)—जब नदी अनेक धाराओ में बँट जाती है तो कभी-कभी ये वितरक धाराएँ भी अलग से डेल्टे की रचना कर डालती है। परिणामस्वरूप मुख्य डेल्टे की प्रगति रुक जाती है अथवा कम हो जाती है। अतः ऐसे डेल्टाओं को क्षीणाकार डेल्टा कहा जाता है।

(4) **भग्नाकार डेल्टा** (Truncated Delta)—समुद्र में नदी द्वारा प्रवाहित जलोढक का अधिकतर भाग कभी-कभी धाराओ व ज्वार-भाटों के प्रभाव से बह जाता है। ऐसा होने पर डेल्टा भग्न हो जाता है। इन डेल्टाओं को भग्नाकार डेल्टा कहा जाता है।

(5) **एस्चुअरी** (Estuaries)—जिन नदियों के मुहाने नीचे धँस गये है अथवा अभी भी धँस रहे हैं, जैसे मैकेन्जी, एल्ब, विस्चुला, ओडर, लोयर हडसन आदि—वे अपना जलोढ़क एक लम्बी सँकरी धारा द्वारा ही जमा करती है। ज्वार-भाटा इनके कार्य मे सहयोग करता है। ज्वार-भाटा पदार्थों को बहा ले जाता है और डेल्टा बनने से रोकता है। अत इस प्रकार की नदियों के मुहानों को एस्चुअरी कहा जाता है। महासागरों की अपेक्षा सबसे अधिक और सुन्दर विकास झीलों अथवा अन्त.स्थली समुद्रों में बने डेल्टाओं का होता है। ये डेल्टे एकदम सुरक्षित होते है। बोनविली झील (Lake Bonnewille) में बना हुआ डेल्टा ऐसे ही डेल्टे का उदाहरण है। महासागरों में लहरे और धाराएँ डेल्टाओ के आकार को बदल देती हैं। इनके प्रभाव से महासागरों मे डेल्टाओ का आकार उभयाग्र (cuspate) हो जाता है अथवा बलुही भीतियों से घिर जाता है।
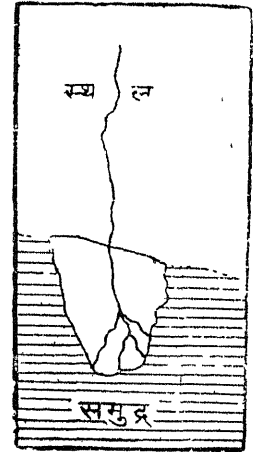
चित्र 323—**खण्डित डेल्टा**

समुद्र-तल से केवल 400 फुट ऊँचा है। अतः प्रति मील मैदान का ढाल $1\frac{1}{3}$ फुट ही है। मैदान में जमा होने वाला पदार्थ अधिकतर बारीक काँप है जो भीतरी लोयस से प्राप्त होती है। लोयस के पीले होने के कारण ही इस नदी को पीली नदी का नाम दिया गया है। मन्द ढाल होने से जब कभी नदी में बाढ आ जाती है तो वह अपना मार्ग छोड़ देती है। यही कारण है कि नदी का मुहाना अनेक बार 200 मील तक इधर-उधर हटता रहा है। जब नदी अपने किनारे छोड़ देती है तो भयंकर बाढें आती है। सन् 1887 मे ऐसी ही बाढ़ के द्वारा 50,000 वर्गमील उपजाऊ और घनी आबाद भूमि पर बाढ का पानी फैल गया जिससे अपरिमित हानि उठानी पड़ी।[2]

बाढ़ का मैदान (Flood Plains)—पर्वतीय प्रदेशों को छोड़कर, ज्योंही नदी आगे बढती है उसकी गति धीमी पड़ जाती है। साथ ही नदी की घाटी भी चौड़ी हो जाती है। ऐसी अवस्था मे जब कभी नदी में बाढ आती है तो नदी मे केवल जल की मात्रा ही नही बढ़ जाती बल्कि इसकी गति और शक्ति भी बढ जाती है। अतः नदी अपने मार्ग को गहरा करने के साथ-साथ किनारो को भी काटती जाती है। बाढ का पानी जब इतना अधिक हो जाता है कि नदी की धारा को छोड़कर किनारो से बाहर फैलने लगता है तो नदी का फाट दूर-दूर तक फैल जाता है। मुख्य धारा को छोड कर किनारों से दूर फैले हुए जल की शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है। जल एक प्रकार से स्थिर-सा हो जाता है, जिससे उसमे बहकर आने वाला अवसादी पदार्थ भूमि पर बैठने लगता है। इस प्रकार बाढ के पश्चात नदियो के दोनों किनारो की ओर जहाँ तक बाढ का पानी फैलता है मिट्टी की परते जम जाती है जो खेती के लिए बहुत लाभदायक होती है। भिन्न-भिन्न नदियाँ व भिन्न-भिन्न प्रदेशों मे इन परतों की मोटाई भिन्न होती है। ये परतें चार-पाँच फुट से लेकर बीस फुट तक मोटी पायी जाती है। इस प्रकार बाढ़ के समय नदियो की तलहटी के निक्षेप से जो मैदान बन जाता है उसे बाढ-निर्मित मैदान (flood plains) कहा जाता है।
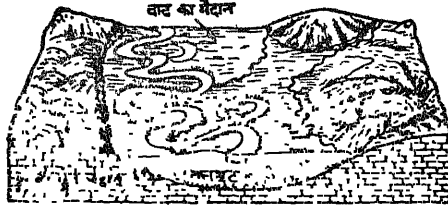
चित्र 326—बाढ़ का मैदान एवं प्रवाह मोड़

तट-बाँध (Levees)—बाढ के समय जल का आयतन इतना बढ जाता है कि वह धारा के दोनों ओर तटों के ऊपर चढकर सम्पूर्ण घाटी तल (valley floor) मे फैल जाता है। बाढ के जल की रुकावट सर्वप्रथम नदी के तटों के कारण होती है। अतः वह अपना अधिकाश जलोढ़क पदार्थ तटों के ऊपर ही जमा कर देती है। बाढ के समय तटों पर इस प्रकार के निक्षेप से नीचे बाँध (low embankment) से बन जाते है। नदी तटों पर बने इन बांधों को ही तट-बाँध (Levees) कहते हैं।

बाढ़ के दिनों मे तो नदी अपनी तलहटी को काटकर गहरा करती है। परन्तु बाढ का वेग कम पड़ते ही जल की गति धीमी पड़ जाती है जिससे उसमे बहने वाले पदार्थ तलहटी में जमा होने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप तलहटी ऊँची होने लगती है। इस प्रकार बार-बार बाढ आने से नदी बाढ के समय तो किनारों पर और बाढ़ के बीत जाने पर घाटी तल पर मिट्टी जमा करती है। इसका फल यह होता है कि नदी कुछ ही दिनों में अपने आसपास के प्रदेश से ऊँची भूमि पर बहने लगती है। किन्तु किनारे पर बाढ़ के समय का पदार्थ जमा होते रहने से किनारे तलहटी

1 A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 237
2 A. K. Lobeck ; *Geomorphology*, p. 235

से काफी ऊँचे रहते है। साधारणतः नदी के दोनो किनारों पर बाढ के मैदान के तल से 10 से 20 फुट ऊँचे तट-बाँध बन जाते है। इस प्रकार नदी के का तल उसके द्वारा बनाये गये बाँध के भीतर ही रुका रहता है। गगा, ह्वांगहो, मिसीसिपी और पो जैसी पुरानी नदियों की घाटियों मे कई स्थलों पर ऐसे बाँध देखे जा सकते है।
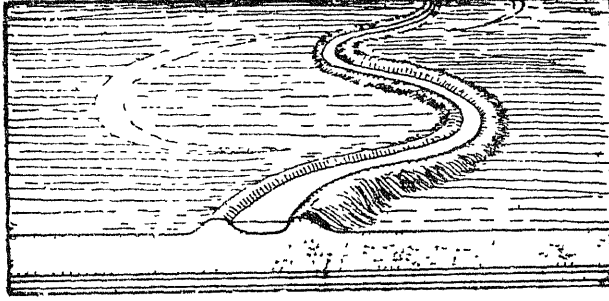
चित्र 327—तट बाँध

इस प्रकार के बाँध जब कभी टूट जाते है तब नदी के बाढ़ प्रदेशो मे त्राहि-त्राहि मच जाती है। ऐसी बाढ़ से अनेक उपजाऊ खेत और बस्तियाँ नष्ट हो जाती है। इसलिए इन बाँधों के ऊपर भी कृत्रिम बाँध बनाने की आवश्यकता पड़ती है। कई देशो मे ऐसे कृत्रिम बाँध बनाये भी गये है। किन्तु बाढ़ को रोकने का यह सर्वोत्तम उपाय नही है। कभी-कभी प्राकृतिक बाँध के टूट जाने से आसपास के प्रदेश से ऊँचे तल पर बहने वाली नदियाँ सदैव के लिए अपना मार्ग बदल देती है, जिससे भयंकर आपत्ति का सामना करना पड़ता है। चीन की ह्वागहो नदी के बाँध टूटने से सन् 1887 मे जो बाढ़ आयी उसमें लगभग 10 लाख मनुष्य डूबकर मर गये। सन् 1927 में मिसीसिपी नदी में इस प्रकार बाँध टूट जाने से जो बाढ़ आयी उसमे लगभग 25,000 वर्गमील भूमि नष्ट हो गयी। इसलिए बाढ़ से किसी प्रदेश को बचाने के लिए बाँध बनाने के साथ-साथ और उपाय भी करने पड़ते हैं। बाढ़ द्वारा स्थायी रूप से रक्षा नदी के मार्ग को सीधा करके, वर्षा ऋतु में ऊपरी प्रवाह प्रदेश (catchment area) पर जंगल लगा करके एव नालियाँ और संग्राहक (storage reservoirs) बना करके की जा सकती है।

नदियों द्वारा बहाकर लायी हुई गाद और मिट्टी आदि के निरन्तर निक्षेप होते रहने से तट-बाँध बराबर चौड़े हो जाते है और बाढ़ क्षेत्र साधारण सतह से काफी ऊँचे हो जाते है। अतः ये मनुष्यों के निवास के लिए उत्तम स्थान बन जाते है। यही कारण है कि यहाँ जनसंख्या का घनत्व सदा अधिक पाया जाता है। समतल होने से इन भागों मे सड़के तथा रेले बनाना भी सरल होता है।

बालू-भीति और बालुका द्वीप (Sand Bars and Island of Sand)—यह बताया जा चुका है कि जब नदी मे पानी की मात्रा बढ़ जाती है तो उसकी प्रवाह-शक्ति भी अधिक हो जाती है। इस बढ़ी हुई प्रवाह-शक्ति के कारण उसमे भार वहन करने की शक्ति बढ़ जाती है। परन्तु ज्यों ही बाढ़ का पानी उतरने लगता है उसकी बोझा ढोने की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। फलतः नदी अधिकाश जलोढ़क (load) तलहटी में ही छोड़ देती है। तलहटी में जलोढ़क के इस निक्षेप से बालू की भीतियाँ (sand bars) और बालू के द्वीप (islands of sand) बन जाते हैं और स्थान-स्थान पर अष्टीलाओं (shingles) का ढेर लग जाता है। अष्टीलाओं के इन निक्षेपो को गंगा की घाटी में रेती (reti) कहा जाता है। शुष्क मौसम मे यह रेती (reti) नदी के जल की सतह से ऊपर दिखाई पड़ती है। नदी के मार्ग मे इन रुकावटों के कारण प्रमुख धारा कई शाखाओं में

बँट जाती है। ये शाखाएँ मार्ग की आडी-टेड़ी रुकावटो के कारण कभी आपस मे मिलती हैं और कभी अलग हो जाती है। नदी धारा इस प्रकार कई शाखाओं में बँटकर जाल-सा बना देती है। ऐसी नदी को **गुम्फित नदी** (Braided iiver) कहते है।

सामान्य अपरदन चक्र
(The Normal Cycle of Erosion)

धरातल के अपरदन में यो तो नदियाँ, हिमनदियाँ, हवा तथा समुद्र की लहरे आदि सभी भाग लेते है, किन्तु उसमे सबसे अधिक हाथ नदियो का ही देखा जाता है। भू-पटल पर परिवर्तन लाने मे नदियो का कार्य अपरदन के अन्य साधनो की अपेक्षा अधिक व्यापक और महत्त्वपूर्ण होता है। इसकी व्यापकता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि पवन, हिमानियों, समुद्री लहरों व भूमिगत जल के कार्यों में भी जल का आंशिक हाथ रहता है। दूसरे शब्दों मे, नदियाँ ही धरातल पर अपरदन की सबसे अधिक सामान्य अभिकर्ता है। अत नदियों के अपरदन चक्र को ही **सामान्य अपरदन चक्र** (Normal Cycle of Erosion) कहा जाता है।

अपरदन के सामान्य चक्र का श्रीगणेश किसी भी प्रकार की आकृति और संरचना वाले धरातल पर हो सकता है। किन्तु इसका प्रारम्भ समुद्र-गर्भ से किसी भी स्थलखण्ड के उत्थान के साथ हो जाता है। जैसे ही कोई स्थलखण्ड समुद्र-तल के ऊपर उठ जाता है उस पर नदी का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। प्रारम्भ मे नदी की अपरदन गति की तुलना मे स्थलखण्ड के उत्थान की गति अधिक तेज होती है जिससे स्थलखण्ड की ऊँचाई बढती जाती है। कुछ समय के उपरान्त स्थलखण्ड का उत्थान रुक जाता है। फलस्वरूप अपरदन कार्य अधिक सक्रिय हो जाता है। यहाँ पर यह कल्पना करनी होगी कि समुद्र से उत्थित स्थलखण्ड एक लम्बे समय से स्थिर है और यह एक निश्चित समय मे अपरदन द्वारा कटकर अपने आधार-तल को पहुँच जाता है। जब कोई स्थलखण्ड कटकर अपने आधार-तल के बराबर हो जाता है तो वहाँ अपरदन का एक चक्र पूर्ण हो
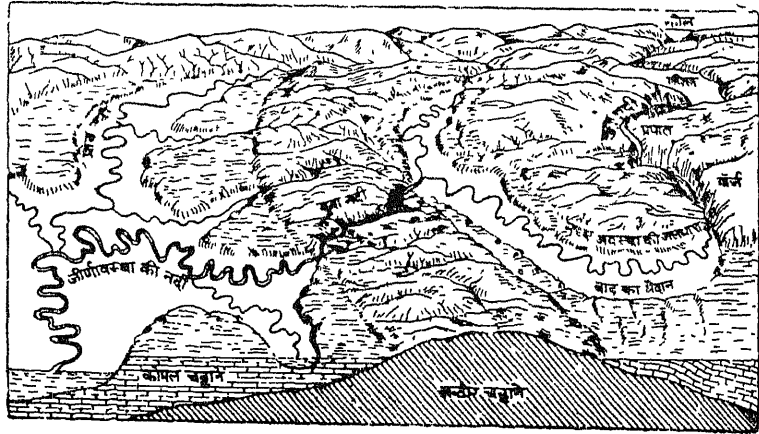
चित्र 328—**नदी की विभिन्न अवस्थाएँ**

जाता है। किन्तु एक स्थलखण्ड और उसके उत्थित भागों को आधार-तल तक पहुँचने के पूर्व कई अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है तथा इन अवस्थाओं के अन्तर्गत वहाँ भिन्न-भिन्न भू-आकारों की रचना होती है। **डेविस महोदय** ने सामान्य अपरदन चक्र की तीन अवस्थाएँ—युवावस्था, प्रौढावस्था एवं जीर्णावस्था—बतायी हैं। इन अवस्थाओं के दौरान स्थलखण्ड की प्रारम्भिक स्थलाकृति (Topography) तरुण (young) होती है जो कुछ समय उपरान्त प्रौढ हो जाती है और अन्त मे आधार-तल को पहुँचने पर जीर्ण हो जाती है। एक स्थलखण्ड की अवस्थाओं के

अनुसार नदियो की भी तीन अवस्थाएँ होती है—तरुण नदी (Young stream), प्रौढ नदी (Mature stream) एवं जीर्ण नदी (Old stream)। नदियों का मुख्य कार्य धरातल के ऊपर विद्यमान विषमताओ को मिटा कर उसे समतल करना होता है। इस कार्य के लिए वे धरातल के ऊँचे उठे हुए स्थलखण्ड को काटकर उसे आधार-तल (base level) तक लाने का प्रयास करती हैं। इस कार्य मे नदियाँ कहाँ तक सफल होती है यह बड़ा ही विवादास्पद विषय है, किन्तु विषय के सरलीकरण की दृष्टि से यह मान लिया जाता है कि नदियाँ अपने अपरदन द्वारा अन्ततः स्थलखण्ड को आधार-तल तक पहुँचा देती है। जब नदियाँ किसी स्थलखण्ड पर अपरदन कार्य प्रारम्भ करती है और अपरदन का थोड़ा-सा कार्य ही सम्पन्न हुआ रहता है तो उस समय मुख्य नदी और उसकी सहायक नदियाँ सभी तरुणावस्था मे होती है। किन्तु ये नदियाँ जब अपने कार्य का आधा भाग पूरा कर लेती है तो वे प्रौढावस्था मे पहुँची होती है, लेकिन जब नदियाँ अपना सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर देती है अर्थात् स्थलखण्ड अपरदित होकर आधार-तल को पहुँच जाता है तो नदियाँ अपनी जीर्णावस्था में होती है। सामान्यतः अपरदन चक्र की विभिन्न अवस्थाएँ—युवावस्था, प्रौढावस्था और जीर्णावस्था—एक दूसरी से आपस में जुड़ी हुई रहती हैं। इसलिए इनको किसी निश्चित अवधि में प्रकट नही किया जा सकता। यदि किन्ही दो स्थानों पर एक साथ अपरदन चक्र प्रारम्भ होते है तो यह आवश्यक नही कि दोनों ही स्थानों पर वे एक साथ ही समाप्त होंगे। एक स्थान पर चक्र अपनी युवावस्था मे और दूसरे स्थान पर प्रौढ़ावस्था में हो सकता है। वस्तुतः अपरदन चक्र की अवधि स्थलखण्ड की ऊँचाई, स्थलखण्ड के विस्तार, स्थलखण्ड की संरचना, समुद्र से दूरी, वर्षा की मात्रा और नदियों के रूप आदि बातों से प्रभावित होती है। फलस्वरूप चक्र की अवधि कही पर कम और कहीं पर अधिक हो सकती है। अब हम अपरदन के सामान्य चक्र की विभिन्न अवस्थाओं को भली प्रकार समझने के लिए एक आदर्श चक्र का उल्लेख कर रहे हैं।

चक्र का प्रारम्भिक रूप—यद्यपि सामान्य अपरदन चक्र का प्रारम्भ समुद्र से उत्थित किसी भी स्थलखण्ड पर हो सकता है, किन्तु फिर भी हम मानकर चलते है कि स्थलखण्ड का समुद्र से उत्थान हुआ है और इसका उत्थान कुछ समय तक अपरदन के साथ-साथ चलता है। इस स्थलखण्ड की संरचना सामान्य है। इसकी रचना कठोर तथा कोमल अवसादी शैलों द्वारा हुई है। यह स्थलखण्ड आर्द्र प्रदेश में स्थित है और यहाँ घनी वर्षा के कारण वर्ष भर नदियाँ बहती रहती है। इसके अतिरिक्त यह भी मान लिया गया है कि स्थलखण्ड दीर्घकाल तक समुद्र-तल के सापेक्ष में

चित्र 329—अपरदन चक्र की क्रमिक अवस्थाओं का पार्श्व-चित्र

स्थिर रहता है ताकि उस पर अपरदन का चक्र बिना किसी अवरोध के समाप्त हो सके। उपरोक्त अवस्थाओं में सामान्य अपरदन चक्र प्रारम्भ हो जाता है जिससे स्थलखण्ड तरुण, प्रौढ़ एवं जीर्ण अवस्थाओं से होकर गुजरता है। इन विभिन्न अवस्थाओं में स्थलखण्ड पर कौन-सी विशेषताएँ पायी जाती है, उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है :

तरुणावस्था (Young Stage)—सर्वप्रथम वर्षा के कारण उत्थित स्थलखण्ड पर उसके ढाल के अनुसार अनुवर्ती नदियों का उदय होता है। प्रारम्भ मे इन नदियो की संख्या बहुत ही कम रहती है। साथ ही इसकी लम्बाई भी थोड़ी होती है। इनकी सहायक नदियाँ भी अधिक नहीं होती। इस समय नदियों की अपेक्षा ढालो पर असख्य अवनालिकाएँ और छोटी-छोटी जल-धाराएँ पायी जाती हैं। ये जल-धाराएँ शीर्ष अपरदन द्वारा अपना विस्तार करती रहती हैं। शनैः-

शनैः प्रमुख नदी अपनी घाटी को गहरा करना प्रारम्भ कर देती है। इसके साथ ही उसकी सहायक नदियो का भी विकास हो जाता है जिससे समूचा अपवाह तन्त्र पादपाकार अपवाह प्रणाली (Dendritic drainage system) का रूप ले लेता है। इस अवस्था मे नदियाँ निम्न कटाव (Down cutting) अधिक करती है जिससे नदियो की घाटियाँ चौड़ाई की अपेक्षा सकीर्ण और गहरी अधिक होती है। ऐसी गहरी और सकीर्ण घाटियो को **गार्ज** अथवा **कैनियन** कहा जाता है। सामान्यत: घाटियो का रूप वी-आकार का होता है।

इस अवस्था में नदियो द्वारा क्षैतिज अपरदन (Lateral erosion) बहुत कम होता है जिससे नदियो के बीच के दोआब तथा जल-विभाजक बहुत अधिक विस्तृत और फैले हुए होते है। नदी के मार्ग में प्रतिरोधी शैलो के कारण प्रपात एव क्षिप्रिकाओ का निर्माण हो जाता है। ये स्थल रूप नदी की तरुणावस्था के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। चक्र के आगे बढ़ने पर प्रपात और क्षिप्रिकाएँ पीछे हटती जाती है। तरुणावस्था के अन्त तक इनका प्रायः लोप हो जाता है। इस समय नदी मे उसकी परिवहन शक्ति के अनुसार भार (load) नही होता जिससे नदी तीव्र वेग से बहती है। नदी की तली मे छेदक यन्त्रो (पत्थर के बडे-बड़े टुकड़ों) द्वारा जलजगर्तिकाओं (Pot holes) का विकास हो जाता है। नदी अपहरण (River capture) तरुणावस्था की बडी ही महत्त्वपूर्ण घटना है। नदियाँ अपने शीर्ष अपरदन द्वारा अपनी घाटी का विकास कर दूसरी नदियो के जल का अपहरण कर लेती है। इस अवस्था मे नदियो के बीच के दोआब (interfluves) काफी चौड़े और नीचे होते है। साधारण तौर पर देखने से उनका निर्धारण भी नही किया जा सकता। ज्यों-ज्यों नदी घाटी का विकास होता जाता है परवर्ती (subsequent) नदियों का आविर्भाव होता जाता है। इनके विकास से नदियों के बीच के दोआब सकीर्ण होते चले जाते हैं। उनकी चोटियाँ भी सँकरी और नीची हो जाती है। धीरे-धीरे धरातल की प्रारम्भिक अवस्था के सभी चिह्न लुप्त हो जाते हैं। जब ऐसी अवस्था आती है तो वह अपरदन चक्र की प्रौढ़ावस्था होती है।

प्रौढ़ावस्था (Mature Stage)—ज्योंही कोई नदी तरुणावस्था को छोड़कर प्रौढ़ावस्था मे आती है तो उसके साथ स्थलरूपो मे अन्तर आ जाता है। इस अवस्था मे नदी का ढाल कम हो जाता है जिससे उसका वेग भी मन्द हो जाता है। घाटी का गहरा कटाव रुक जाता है। इसके स्थान पर पार्श्विक अपरदन बढ जाता है। इस समय अपरदन की तुलना में निक्षेप कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। फलस्वरूप नदियाँ ऊपरी ढाल से ज्यों ही मैदान में उतरती हैं तो ढाल की तलहटी मे **जलोढ़ पंख** तथा **जलोढ़ शंकुओं** की रचना होने लगती है। शनैः-शनैः जलोढ़ पख मिलकर एक पर्वतीय ढालों के नीचे **पर्वत पदीय जलोढ़ मैदान** (Piedmont Alluvial Plains) की रचना कर देते हैं। इस समय क्षैतिज अपरदन की अधिकता से नदियों के बीच के दोआब कटकर सँकरे हो जाते हैं और कटक रूप ले लेते हैं। मुख्य नदी अपरदन द्वारा अपने आधार-तल को पहुँच जाती है जिससे वह क्रमबद्ध (graded) होकर **साम्यावस्था की परिच्छेदिका** (Profile of equilibrium) को ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दों मे, इस समय

चित्र 330—अपरदन चक्र की क्रमिक अवस्थाएँ · (क) तरुणावस्था, (ख) प्रौढ़ावस्था, (ग) जीर्णावस्था

नदी के अपरदन और निक्षेप कार्यो के बीच सन्तुलन स्थापित हो जाता है। नदी के क्रमबद्ध वक्र (graded profile) की प्राप्ति के साथ ही उसकी तरुणावस्था मे विकसित प्रपात एवं झीले घाटी से विलीन हो जाती है। इस समय नदियाँ समतल मैदानो मे बड़ी मन्द गति से विसर्पो से होकर बहती है। निक्षेप के कारण बाढ के मैदानो की रचना होती है। इन मैदानों पर बड़े-बड़े विसर्प तथा विसर्पों की बदलती स्थितियो के कारण छाड़न झीलों का आविर्भाव होता है। नदी तटों पर तलछट के निक्षेप से तट-बाँध बन जाते है।

जीर्णावस्था (Old Stage)—जीर्णावस्था मे प्रवेश करते ही नदी की सामान्य स्थिति मे बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। इस समय मुख्य नदी की सहायक नदियों मे कमी हो जाती है। मुख्य नदी सहित सभी सहायक नदियाँ आधार-तल को पहुँच जाती है। इस अवस्था मे निम्न कटाव बिलकुल समाप्त हो जाता है। क्षैतिज अपरदन की प्रधानता रहती है जिससे घाटी पर्याप्त चौड़ी हो जाती है। क्षैतिज अपरदन के साथ-साथ अपक्षय का कार्य भी सक्रिय रहता है। इससे स्थलखण्ड नीचा होता रहता है। नदियो के बीच के दोआबो की ऊँचाई कम हो जाती है और वे निम्न भाग (low regions) मे बदल जाते हैं। बाढ़ का मैदान अत्यन्त विस्तृत हो जाता है जिसमें नदियाँ विसर्पों के साथ बड़े धीमे-धीमे बहती है। नदी का वेग बहुत कम होता है। अतः उसकी परिवहन शक्ति भी घट जाती है। नदी मे भार (load) की मात्रा बहुत रहती है। घटी हुई परिवहन शक्ति के कारण वह समस्त भार को बहा नहीं पाती जिससे निक्षेप बढ जाता है। नदी अपने किनारों पर तट-बन्धो का निर्माण करती है। मुहाने पर डेल्टे की रचना होती है। इस अवस्था में समस्त क्षेत्र आधार-तल को पहुँच चुका होता है। प्रतिरोधी शैलों के कुछ भाग अपवाद रूप में सामान्य सतह से ऊपर उठे हुए रहते हैं। इन्हे मोनेडनॉक कहा जाता है। एक स्थल की ऐसी स्थिति आ जाने पर अपरदन चक्र समाप्त हो जाता है।

उपरोक्त वर्णन एक आदर्श चक्र की स्थिति का है जो कदाचित ही देखा जा सकता है। वस्तुतः कोई भी स्थलखण्ड इतनी लम्बी अवधि तक स्थिर नही रह पाता कि उस पर अपरदन का चक्र पूरा हो सके। अनेक कारणो से चक्र के बीच मे विक्षेप आ जाते है और नदियाँ पुन.-युवन द्वारा पुन. तरुणावस्था को प्राप्त हो जाती है जिससे दूसरे चक्र का प्रारम्भ हो जाता है। एक आदर्श चक्र की स्थिति केवल कल्पना मात्र ही है।

नदियों का मानव-जीवन पर प्रभाव

संयुक्त राज्य अमरीका मे डेलावेयर जल विवाद पर न्यायाधीश होम्स ने निर्णय देते हुए कहा कि "नदी मात्र-सुविधा नही है, यह एक निधि है।"[1] यदि हम इस कथन पर विचार करें तो विदित होगा कि होम्स के कथन में कही अतिशयोक्ति नहीं है। मनुष्य आदिकाल से इस प्राकृतिक निधि का उपयोग करता रहा है और आज भी यह उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। नदियाँ वस्तुतः मानव के लिए वरदान सिद्ध हुई है। मानव जीवन पर इनका कई प्रकार से प्रभाव पड़ता है।

(1) **नदियाँ और सिंचाई**—कृषि के लिए सिचाई अपरिहार्य है। सिचाई का महत्त्व शुष्क और अर्द्ध-शुष्क भागों के लिए अधिक है; किन्तु आर्द्र भागों मे भी इसकी आवश्यकता होती है। क्योंकि अनियमित और असमान वर्षा, तीव्र वाष्पीकरण और मिट्टी की किस्म आदि कई कारण ऐसे है जिससे आर्द्र भागों मे भी बिना सिंचाई के भली प्रकार खेती नही की जा सकती।

संसार की कुल भूमि के लगभग एक-तिहाई भाग में सफल कृषि के लिए सिचाई की आवश्यकता होती है। इसमे से बहुत थोड़े भाग में ही सदैव सिंचाई की जा सकती है। बहुत-से स्थानों पर बाँध बनाने के लिए उपयुक्त स्थल के अभाव, ऊबड़-खाबड़ भूमि, क्षारयुक्त अथवा

---

1 Seeman : *Physical Geography*, p. 295

अनउपजाऊ भूमि, प्राप्त जल की कमी आदि कारणो से सिचाई नही की जा सकती। शुष्क भागो मे अधिकाश भूमि उपजाऊ है और उसको उत्पादक बनाने के लिए केवल जल की ही आवश्यकता है।

ससार के सभी देशों में सिचाई के साधनों मे नदियाँ ही प्रमुख है। ससार मे सर्वत्र सिंचाई के लिए जितना जल उपयोग मे लाया जाता है उसका 90 प्रतिशत नदियो द्वारा ही प्राप्त होता है।[1] शुष्क और अर्द्ध-शुष्क भागो मे बहने वाली कई नदियाँ निकटवर्ती पहाड़ी क्षेत्रों से आती है। ग्रीष्म में बर्फ के पिघलने से इन नदियो मे जल की मात्रा बढ जाती है। अतः कई देशों मे इन नदियो पर बाँध बनाकर इनके जल का कृषि के लिए उपयोग किया जाता है। मिस्र इसका उदाहरण है। मिस्र का समस्त इतिहास ही सिचाई के कारण है। यही कारण है कि मिस्र को 'नील का दान' (Egypt is the gift of Nile) कहा जाता है।

ससार में सिचाई बहुत प्राचीन समय से की जाती रही है। मेसोपोटामिया (Mesopotamia) की प्राचीन सभ्यता प्रधानतः विस्तृत सिंचाई व्यवस्था पर ही आधारित थी। इसी प्रकार चीन में शुष्क तथा आर्द्र दोनों ही भागो मे विशाल पैमाने पर सिचाई की जाती है। भारत की सिचाई-व्यवस्था तो विश्व मे अद्वितीय है। यहाँ प्राचीनकाल से ही सिन्धु, गंगा एव अन्य नदियों द्वारा सिचाई के सहारे सफल कृषि की जाती रही है। आज भी संसार के कुल सिंचित क्षेत्र का लगभग एक-तिहाई भाग भारत मे है। वर्तमान समय मे हमारे देश मे लगभग 225 लाख हेक्टेयर भूमि मे सिचाई होती है। इसमें से 45 प्रतिशत भाग नहरो द्वारा सीचा जाता है।

(2) **नदियाँ और परिवहन**—परिवहन का मानव जीवन के लिए बड़ा महत्त्व है। परिवहन मानव की उन्नति का आधार है। यो परिवहन के रूप में कई साधन काम मे लाये जाते हैं किन्तु नदियों का परिवहन के रूप मे विशेष महत्त्व है। प्राचीन-काल मे जब परिवहन के साधनो का आज की भाँति विकास नही हुआ था, नदियाँ ही एक सुलभ साधन थीं। यदि मनुष्य स्थल से यात्रा करता तो उसे मार्ग को साफ करना पड़ता था। किन्तु नदियाँ उसके सम्मुख ऐसे प्राकृतिक मार्ग थे जिनको बनाने के लिए उसे कुछ भी नही करना पड़ता था। यह बात आज भी उतनी ही सत्य है। यही कारण है कि परिवहन के साधनों में नदियाँ न केवल सुलभ किन्तु सबसे सस्ता साधन है। उदाहरणस्वरूप, भारत मे गौहाटी से कलकत्ता तक ब्रह्मपुत्र नदी के मार्ग से नावों एवं स्टीमरों के द्वारा माल की ढुलाई 6 पैसे से 9 पैसे प्रति टन प्रति मील पड़ती है, जबकि सड़को द्वारा यह ढुलाई 19 पैसे से 36 पैसे और रेलों द्वारा 10 पैसे से 22 पैसे प्रति मील प्रति टन पड़ती है।[2] फिर नदी मार्ग से माल कलकत्ता 7 दिन में पहुँच जाता है जबकि रेलमार्ग द्वारा 15 से 20 दिन लगते है।[3] इस कारण विश्व के प्रमुख देशों मे रेलों और मोटरो के विकास के विपरीत आज भी नदियो का परिवहन के रूप मे उपयोग हो रहा है।[4]

आधुनिक समय मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की भारी वृद्धि के साथ-साथ नदियों का महत्त्व और भी बढ़ गया है। अतः सभी देशों मे नदी मार्गों का आजकल अधिकाधिक उपयोग किया जाता है। यूरोप के देश नदी मार्गों की दृष्टि से अधिक उन्नतिशील है। यूरोप में राइन, डेन्यूब, वोल्गा, वेजर, एल्ब, ओडर, सीन, नीपर, लॉयर, रोन आदि सभी नदियाँ परिवहन के अच्छे साधन प्रदान करती है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका मे मिसीसिपी, सेण्ट लॉरेन्स, एशिया में ह्वांगहो,

---

[1] Seeman : *Physical Geography*, p. 310

[2] डा० सी० बी० मामोरिया : **आर्थिक और वाणिज्य भूगोल**, पृ० 890

[3] **वही**, पृ० 891

[4] R. K. Mukerjee : *A History of Indian Shipping*, pp. 4-5

यांगटिसीक्यांग, सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र, दक्षिणी अमरीका में अमेजन, पेराना, पेरावे व ओरीनिको, अफ्रीका मे नील, नाइजर, कागो व जेम्बेजी तथा आस्ट्रेलिया मे मरे तथा डार्लिंग परिवहन के उत्तम साधन हैं।

(3) **नदियाँ और जल-विद्युत**—शक्ति के अनेक साधन है। इनमें कोयला, पेट्रोलियम और जल-विद्युत प्रमुख है। संसार में कोयले और पेट्रोलियम के साधन सीमित है। फिर शक्ति के साधनों में जल-शक्ति ही सबसे सस्ती पड़ती है एवं इसका उपयोग उत्पत्ति के स्थानों से काफी दूर किया जा सकता है। अतः आजकल जल-शक्ति ही आर्थिक महत्त्व का एक प्रमुख प्राकृतिक साधन है।

यों तो जल-शक्ति का प्रयोग मानव प्राचीन समय से करता आ रहा है, किन्तु 19वी शताब्दी में डायनामो एव टरबाइन के आविष्कार ने जल-शक्ति के विकास को अधिक प्रोत्साहित किया। पिछले 50 वर्षों मे जल-विद्युत के विकास ने ससार मे एक अभूतपूर्व क्रान्ति पैदा की है।

जल-विद्युत नदियों के जल से प्राप्त की जाती है। समस्त संसार मे जल-विद्युत की लगभग 65,70,00,000 अश्व-शक्ति सुरक्षित है। इस राशि का $14\frac{1}{2}\%$ अफ्रीका मे पाया जाता है जिसमे से $\frac{1}{2}$ से 1% तक उपयोग हुआ है। एशिया में विश्व की 22% सुरक्षित मात्रा है, किन्तु विकास 4% का ही हुआ है। उत्तरी अमरीका में सुरक्षित राशि का 13% और यूरोप में $10\frac{1}{2}\%$ पाया जाता है किन्तु वहाँ विकास क्रमशः 40% और 33% का हुआ है।[1] दक्षिणी अमरीका और आस्ट्रेलिया मे जल-विद्युत का बहुत ही कम विकास हुआ है।

आजकल जल-विद्युत का प्रयोग न केवल प्रकाश के लिए ही अपितु सिंचाई करने, खानें खोदने तथा कल-कारखानो मे मशीनें चलाने के लिए किया जाता है। कई ऐसे उद्योग जिनमें शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है जल-विद्युत ने बड़ी राहत पहुँचायी है, जैसे रासायनिक उद्योग, धातु-शोधन उद्योग, ऐलुमीनियम उद्योग, कृत्रिम रेशे, कागज तथा लुग्दी बनाने आदि के उद्योग। ससार मे जल-विद्युत का सबसे अधिक विकास यूरोप एवं उत्तरी अमरीका में हुआ है। व्यक्तिगत रूप से संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी शक्ति का 24%, कनाडा ने 28%, इटली ने 60%, फ्रास ने 48%, नार्वे ने 53%, स्वीडन ने 27%, स्विट्जरलैण्ड ने 67%, जर्मनी ने 54%, रूस ने 34% और भारत ने केवल 5% शक्ति का विकास किया है। विश्व के कई देशों, जैसे जापान, कनाडा, नार्वे, स्वीडन, रूस, जर्मनी व फ्रांस, इटली व संयुक्त राज्य अमरीका आदि, ने जल-विद्युत के द्वारा ही अपने यहाँ उद्योग-धन्धों को बढ़ाकर असाधारण आर्थिक विकास किया है।

(4) **नदियाँ और बाढ़ के मैदान**—सभी नदियाँ अपने दोनो किनारो की निकटवर्ती भूमि पर उपजाऊ मैदान की रचना करती है। नदियों मे जब बाढ आती है तो पानी नदी के किनारों को छोड़कर दूर-दूर तक फैल जाता है। बाढ़ के पानी में बड़ी मात्रा में मिट्टी घुली रहती है। यही मिट्टी बाढ के जल के स्थिर हो जाने पर अवसाद के रूप मे नीचे जम जाती है। इस प्रकार नदियाँ प्रतिवर्ष अपनी घाटी में बाढ के समय नयी मिट्टी लाकर बिछाती रहती है जिससे उपजाऊ बाढ़ के मैदान की रचना होती है। सिन्धु-गंगा, ह्वांगहो, यांगटिसीक्यांग, नील, मिसीसिपी, डेन्यूब आदि संसार की बड़ी-बड़ी नदियों की घाटियों मे ऐसे मैदान पाये जाते है। बाढ के मैदानों का विस्तार नदी मे वर्षाऋतु मे प्राप्त जल की मात्रा पर निर्भर करता है। अतः कई नदियों के बाढ़ के मैदान छोटे होते हैं जबकि कुछ नदियों ने विशाल मैदानों की रचना की है। ये बाढ़ के मैदान कृषि के लिए सर्वोत्तम भाग होते है। इन मैदानों में गेहूँ, चावल, कपास, गन्ना, तिलहन आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण फसलें पैदा की जाती है। ये मैदान समतल होते है जिससे इन पर न केवल कृषि करना ही सरल होता है, अपितु इन पर परिवहन एवं सिंचाई के साधनों का विकास और बस्तियाँ बसाना

---

[1] डा० सी० बी० मामोरिया : **आर्थिक और वाणिज्य भूगोल**, पृष्ठ 675

भी सहज होता है। यही कारण है कि ये मैदान घनी जनसंख्या के क्षेत्र होते हैं। संसार की कुल जनसंख्या का $\frac{9}{10}$ भाग मैदानो मे ही रहता है। जनसंख्या का घनत्व भी सर्वाधिक इन मैदानों मे ही मिलता है। हमारे देश मे कुल जनसख्या का 39% भाग गंगा एव सतलज के मैदान में ही रहता है। गगा के मैदान मे जनसंख्या का घनत्व 750 व्यक्ति प्रति वर्गमील है। इसी भाँति चीन के लाल नदी के डेल्टे मे औसत घनत्व 1000 व्यक्ति प्रति वर्ग मील पाया जाता है।[1] इस प्रकार नदियाँ न केवल मैदानो की रचना करती है, वरन् वहाँ पर घनी जनसख्या को भी जन्म देती है। यही कारण है कि नदी-घाटियाँ सभ्यता का पलना (cradle of civilization) कहलाती है। संसार की सभी बडी सभ्यताओं—चीन की सभ्यता, मिस्र की सभ्यता, सुमेरियन सभ्यता, रोम की सभ्यता और भारत की सभ्यता—का जन्म नदियों द्वारा निर्मित मैदानों मे ही हुआ है।

(5) **नदियाँ और सीमाएँ**—नदियाँ विभिन्न देशों के मध्य एक प्राकृतिक सीमा का कार्य करती है। इसी विशेषता के कारण कई देशों के बीच नदियाँ राजनीतिक सीमा बनाती हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त फ्रांस और जर्मनी के मध्य राइन नदी को ही सीमा स्वीकार किया गया। इसी प्रकार संसार में अन्य कई राज्यों के बीच नदियाँ ही सीमाएँ बनाती है।

नदियाँ कई बार अपना मार्ग बदल देती हैं। अतः सीमा-रेखा के रूप मे नदियाँ बहुत अधिक उपयुक्त नहीं कही जा सकती। कभी-कभी नदियों के मार्ग परिवर्तन के कारण महत्त्वपूर्ण सीमा-विवाद उठ खड़े होते हैं। हमारे देश मे असम और पूर्वी पाकिस्तान की सीमा कई जगह नदियो को माना गया है। इन नदियों के मार्ग-परिवर्तन के कारण दोनों देशों के बीच कई बार विवाद उठ चुके है।

(6) **नदियाँ और पेय-जल**—नदियाँ पेय-जल का सबसे बड़ा साधन हैं। संसार के अधिकांश भागों मे लोग नदियों द्वारा ही अपनी पेय जल की पूर्ति करते है। स्वच्छ पेय-जल की पूर्ति के कारण ही लोग नदियों के किनारे बसते है। पेय-जल के अतिरिक्त नदियों से औद्योगिक कार्यो के लिए भी जल प्राप्त होता है। यही कारण है कि कई बड़े औद्योगिक शहर—दिल्ली, कानपुर, कलकत्ता, लन्दन, हेमबर्ग, शघाई आदि—नदियों के किनारे ही बसे है।

(7) **नदियाँ और बाढ़ें**—नदियाँ मानव के लिए एक ओर वरदानस्वरूप है तो दूसरी ओर कालस्वरूप भी है। नदियों की भयानकता उनमें बाढ के समय दृष्टिगोचर होती है। जब नदियो मे भीषण बाढ आती है तो अपनी घाटी मे सर्वत्र ताण्डव-नृत्य उपस्थित कर देती हैं। बाढ से अपार धन-जन की क्षति होती है। बाढ के समय नदी मे अपार जल-राशि उमड़ पड़ती है और उसका वेग बड़ा ही विकराल हो जाता है। फलस्वरूप बाढ़ का जल जिधर भी बह निकलता है, उधर खेतों, सड़कों, पुलो, बाँधो, गाँवों तथा नगरों को नष्ट करता हुआ जाता है। संसार मे सबसे अधिक भयानक बाढ़े चीन की ह्वांगहो नदी में आया करती है। इसमे प्रतिवर्ष बाढ़ आया करती है। फलस्वरूप इसे 'चीन का शोक' कहा जाता है। इसमें सबसे भयंकर बाढ़ सन् 1887 मे आयी जिसका पानी 50,000 वर्गमील क्षेत्र मे फैल गया। इस बाढ से लगभग 10 लाख व्यक्ति मारे गये।[1] मिसीसिपी, नील, अमेजन, ब्रह्मपुत्र, इरावदी, सिन्धु नदी आदि नदियो में भी भयंकर बाढ़े आया करती है। आजकल नदियों की बाढ को रोकने के लिए उन पर बाँध बनाये जाते है। किन्तु जब कभी ये बाँध किसी कारणवश टूट जाते है तो बाढ का स्वरूप बड़ा ही भीषण हो जाता है। हमारे देश मे उत्तर प्रदेश राज्य के नानकशा बाँध के टूट जाने से जो अकारण ही बाढ से हानि हुई वह कल्पनातीत है।

---

[1] N. Ginsburg : *Pattern of Asia*

[2] A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 247

30
हवा का कार्य
(WORK OF WIND)

हवा भू-पटल पर अनाच्छादन का महत्त्वपूर्ण साधन है। जिस प्रकार आर्द्र प्रदेशो मे बहते हुए जल और उच्च अक्षाशो एव उच्च पर्वतीय प्रदेशो मे चलते हुए हिम का कार्य अत्यन्त प्रभावकारी होता है, उसी प्रकार शुष्क एव अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो मे हवा का प्रभाव होता है।

वायु परिवहन का बहुत बडा साधन है। परिवहन की शक्ति से अपरदन और निक्षेप भी होता है अत: ऐसे भागो मे जो वनस्पतिहीन है और जहाँ भूमि पर असंगठित पदार्थ पाये जाते है वायु अपना विलक्षण कार्य करती है। शुष्क ऋतु के पश्चात् जुते हुए खेतो मे धूल के बादल उठा करते है और शुष्क पुलिन (dry beach) से बालू की धाराएँ उठा करती है जो धरातल पर सीधे तौर पर प्रभाव डालती है। किन्तु यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि वायु का मौसम पर भी बहुत अधिक प्रभाव होता है। धरातल पर आर्द्रता का वितरण वायु द्वारा ही होता है। इसी से जल-वर्षा एव हिम-वर्षा होती है और नदियो तथा हिमनदियो का जन्म होता है। वायु की शक्ति से ही समुद्रो मे लहरे उत्पन्न होती है। अत धरातल पर नदियो, हिमनदियो और लहरो के कार्य वस्तुत: वायु के अप्रत्यक्ष कार्य ही है। वायु के कारण ऋतु-परिवर्तन होता है जो धरातल के अपक्षय का मूल कारण है।

आर्द्र प्रदेश मे वायु का कार्य अदृश्य होता है। समुद्र तटो के अतिरिक्त आर्द्र प्रदेशो मे सर्वत्र मिट्टी आर्द्रता के कारण बँधी रहती है। वनस्पति भी भूमि को जकड़े रखती है। इस कारण वायु का अपरदन कार्य आर्द्र भागो मे सीमित रहता है। किन्तु शुष्क एवं अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो मे वर्षा और वनस्पति के अभाव के कारण धरातल के कण असगठित और ढीले रहते है। फलस्वरूप यहाँ वायु अपना तांडव नृत्य उपस्थित कर देती है। जैसा कि **आर्थर होम्स** ने कहा है :

"The trials of desert warfare have made it hardly necessary to stress the fact that in arid regions the effects of the wind are unrestrained. The 'scorching sand-laden breath of the desert' wages its own war of nerves"

मरुस्थल भू-पटल के विशिष्ट भू-रूप है। ये मरुस्थल बालू के विशाल सागर है। यहा वायु द्वारा सम्पन्न कार्य को देखकर बुद्धि चकित रह जाती है। फिर भी यहाँ की कठोर परिस्थितियो के कारण वायु के कार्य का समुचित ज्ञान नही हो सका है। अभी बहुत अधिक खोज और अध्ययन की आवश्यकता है। इस दिशा मे जो कुछ ज्ञान हो सका है, वह **जे० वाल्टर** के उत्तरी अफ्रीका में, **पसार्ज** के कालाहारी मरुस्थल मे और **डेविस** के उत्तरी अमरीका के मरुस्थल मे किये कार्यो का फल है। अतः मरुस्थली क्षेत्रो के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान अत्यन्त सीमित है।

मरुस्थल और उनका विकास

पृथ्वी के धरातल के लगभग एक-तिहाई भाग मे मरुस्थलों में अर्द्ध-मरुस्थली दशाएँ पायी जाती है, किन्तु इसमे वे ध्रुवीय और उपध्रुवीय भाग सम्मिलित नही है जो **शीत मरुस्थल** (Cold Deserts) कहलाते हैं। मरुस्थलो के लिए सबसे प्रमुख बात शुष्कता है जिसका प्रभाव वनस्पति पर होता है। यहाँ वर्षा इतनी कम होती है कि वनस्पति प्राय: नही उगने पाती। यहाँ वर्षा का वार्षिक औसत वाष्पीकरण से कम रहता है। इस प्रकार मरुस्थल सीमित वर्षा के सीमित क्षेत्र है। संसार मे ऐसे शुष्क प्रदेश के दो समूह है।

शुष्क प्रदेशों के अन्तर्गत एक वे भाग है जो विषुवत रेखा के दोनों ओर 20° से 30° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपो के पश्चिमी भागो में सन्मार्गी पवनो के क्षेत्र मे स्थित है। ये उष्ण मरुस्थल कहलाते है। इसका सर्वाधिक विस्तार उत्तरी-पश्चिमी और दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया व पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे पाया जाता है। इनके अन्तर्गत लीबिया, सहारा, अरब, थार, विक्टोरिया, कालाहारी, आटाकामा और केलीफोर्निया के मरुस्थल आते है। ये मरुस्थल धीरे-धीरे अधिक आर्द्र भाग में विलीन हो जाते है। शुष्क प्रदेशो का दूसरा समूह मध्य अक्षांशों मे महाद्वीपो के भीतरी भागों मे पाया जाता है। ये मुख्यत: उच्च पर्वतीय प्रदेशों के बीच वृष्टिछाया क्षेत्र है। इनमे एशिया के गोबी और तुर्किस्तान के मरुस्थल एव उत्तर अमरीका में कोलोरेडो मरुस्थल मुख्य है। इन मरुस्थलों की निम्न विशेषताएँ है :

1. वनस्पति का आंशिक अथवा सर्वथा अभाव, 2. वर्षा की न्यूनता, 3. जल का पूर्ण अभाव, 4. भौतिक अपक्षय की तीव्रता।

चित्र 331—राजस्थान के मरुस्थल के एक दृश्य का रेखाचित्र

मरुस्थलों के प्रकार—मरुस्थल भू-पटल के वे शुष्क वनस्पतिहीन क्षेत्र हैं जहाँ नग्न भूमि पर वायु अपरदन, परिवहन और निक्षेपण सम्बन्धी कार्य करती है। वायु के इन कार्यो से निम्नलिखित पाँच प्रकार के मरुस्थलों का विकास होता है :

(1) **वास्तविक मरुस्थल** (True Deserts)—वे मरुस्थल जिनमें बालू की प्रचुरता पायी जाती है, **वास्तविक मरुस्थल कहे जाते हैं। इनको** सहारा में **इर्ग** (Erg) और **तुर्किस्तान में कूम** (Koum) **कहते है। इन मरुस्थलों में बालुका स्तूप** पाये जाते है।

(2) **पथरीले मरुस्थल** (Stony Deserts)—जिन क्षेत्रो मे बालू के विपरीत कोणीय कंकड़-पत्थर अनुप्रस्थ अवस्था मे फैले हुए पाये जाते है, वे **पथरीले मरुस्थल** कहलाते हैं। ऐसे मरुस्थलों को अल्जीरिया मे **रेग** (Reg) तथा लीबिया व मिस्र मे **सेरिर** (Serer) कहते है।

(3) **चट्टानी मरुस्थल** (Rock Deserts)—जिन मरुस्थली भागों में नग्न चट्टाने विस्तृत रूप से फैली हुई पाई जाती है वे **चट्टानी मरुस्थल** कहलाते है। वायु के सतत प्रहार से यहाँ चट्टाने घिसकर चिकनी हो जाती हैं और उनमे यारदग व ज्यूगेन आदि आकृतियाँ बन जाती है। ऐसे मरुस्थलों को सहारा में **हमादा** (Hammada) कहते है।

(4) **चट्टानी शीर्ष वाले मरुस्थल** (Actual Rock Peak Desert)—ऐसे मरुस्थलो में शीर्षयुक्त चट्टानी श्रेणियाँ पायी जाती हैं। संसार मे ऐसे मरुस्थल बहुत कम है। सिनाय प्रदेश की क्योटिक (Choatic), मध्य सहारा की टिबेसी (Tibesi) तथा अहागार (Ahaggar) श्रेणियाँ एवं पश्चिमी अरब और बलोचिस्तान की श्रेणियाँ इसके अच्छे उदाहरण हैं।

(5) **पठारी मरुस्थल** (Plateau Desert)—ऐसे मरुस्थलो मे नदियो द्वारा निर्मित गहरी केनियन बहुत पाई जाती है। पठार के पार्श्ववर्ती ढाल अत्यन्त तीव्र होते है। प्रायः अनाच्छादन के साधन लम्बे समय तक क्रियाशील रहने पर ऊपरी शैलों को काटकर नीचे की कठोर क्षैतिज चट्टानों को छोड़ देते है और नवीन पठारी भाग को धारीदार धरातल की तरह छोड़ देते है। ऐसे मरुस्थलीय रूप दक्षिणी-पश्चिमी सयुक्त राज्य अमरीका के कोलोरेडो, न्यूमेक्सिको, अरीजोना व केलीफोर्निया मे अधिक पाये जाते है। जहाँ मरुस्थलीय गर्त चारो ओर पर्वतों से घिरे हों तो उस भू-रूप को **पर्वत और बालसन मरुस्थल** (Mountain and Balson Desert) कहते है

वायु का अपरदन कार्य
(Erosive Work of the Wind)

शुष्क एवं अर्द्ध-शुष्क भागों में वायु अपरदन का शक्तिशाली साधन है। यहाँ वायु का अपरदन कार्य सामुद्रिक अपरदन से अधिक अविरल रूप से और नदियो की अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वायु के अपरदन का महत्त्व **ए० के० लोबेक** के निम्न कथन से और अधिक स्पष्ट हो जाता है—"Under the stimulus of aridity, wind scour becomes an erosive agent, more constant than the rains, more patent than streams and more persistent than the sea." वस्तुतः मरुस्थलीय प्रदेशो मे वर्षा के अभाव, वनस्पति की न्यूनता, तापमान की अधिकता, वाष्पीकरण की तीव्रता, दैनिक तापान्तर का अत्यधिक भेद और मेघरहित आकाश आदि बातों से वायु के अपरदन कार्य को बड़ी सहायता मिलती है। जिस प्रकार बहता हुआ जल कंकड़, पत्थर, बालू एवं जल मे घुली हुई मिट्टी की सहायता से अपरदन कार्य करता है, उसी प्रकार वेग से चलती हुई वायु भी बालूकणो अथवा धूल-कंकडो की सहायता से महान अपरदन कार्य को सम्पन्न करती है। वायु द्वारा मुख्यतः भौतिक अपरदन होता है, जो निम्न प्रकार से होता है :

1. अपघर्षण (Abrasion)
2. संनिघर्षण (Attrition)
3. अपवाहन (Deflation)

(1) **अपघर्षण** (Abrasion)—वेगपूर्ण वायु मे महान शक्ति होती है। इसी शक्ति से वह धूल एवं बालू को सरलतापूर्वक अपने साथ उड़ा ले जाती है। वायु मे निहित धूल एव बालू-कण ही उसके अपरदन के यन्त्र (tools) है। बालू में मिले हुए कठोर क्वार्ट्ज के कण अत्यन्त प्रभावशाली होते है। इसलिए आँधी के साथ उड़ने वाले बालू के कण चट्टानो पर बड़ा प्रचण्ड प्रहार करते हैं। **मार्गन** ने भी कहा है कि "Wind corrasion is the work of strong air currents

armed with sand grains." जिस प्रकार लकडी एवं इमारती पत्थरो को घिसने और साफ करने के लिए रेगमाल (sand blast) का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार वायु के प्राकृतिक रेगमाल का उन सभी पदार्थो पर, जो उसके मार्ग में पड़ते है, वही विनाशकारी प्रभाव होता है। इनके प्रभाव से चट्टाने घिसकर चिकनी हो जाती हैं। जो मोटरे वायु द्वारा उड़ायी गयी रेत के विरुद्ध चलती है, उनके सामने वाले काँच पर खरोच पड़ जाती है और उनका रोगन बालू की रगड़ से साफ हो जाता है। भौतिक अपक्षय द्वारा विलग हुए चट्टानी टुकड़े जो वायु द्वारा उड़ाये

चित्र 332—वायु द्वारा चट्टानों का अपघर्षण और उससे बनी शैल-पीठिकाएँ

नहीं जा सकते, पवनाविमुख दिशा में घिस जाते हैं। इनको तिपहल (ventifacts) कहा जाता है। धरातल के ऊपर बाहर निकली हुई चट्टानों पर इनका प्रभाव बडा चयनात्मक (selective) होता है। एक बहुत ही कोमल निर्घर्षण यन्त्र की भाँति बालू के थपेड़े चट्टान की संरचना की प्रत्येक बात को खोदकर बाहर निकाल देते हैं। कठोर कंकड़ और ग्रन्थिका (nodules) अपने कोमल स्थान पर तब तक खड़े रहते है जब तक वे गिर नही जाते। यदि बाहर निकली हुई चट्टानें भिन्न कठोरता वाली होती है तो भिन्न अपघर्षण के कारण उनमें उल्लेखनीय चट्टानें, लम्बी धारियाँ और जालियाँ बन जाती है। जिन भागों में समान कठोरता वाली शैलें क्षैतिज रूप से बिछी हुई पायी जाती हैं, वहाँ वायु द्वारा अपरदित **मरुस्थलीय फर्श** (Desert Pavements) बन जाते है। चट्टानों के कमजोर स्थलों पर वायु का तीक्ष्ण प्रभाव होता है। चट्टानों की सन्धियों पर प्रहार होने से शृंगनुमा भू-दृश्य उपस्थित हो जाता है। वायु में भारी पदार्थ भूमि के निकट अप्रवाहित होते हैं, अतः ये भूमि से एक-दो फुट ऊपर तक चट्टानों के नीचे से काटते हैं। चट्टानों के नीचे से कटाव के कारण

मरुस्थलों में **शैल पीठिका** (Rock-pedestal) बन जाती है तथा चट्टानी पहाड़ियों के सामने वाला भाग प्रपाती बन जाता है और उनके आधार पर गुफाएँ बन जाती है। चट्टानो पर बालू की मार इतनी तीव्र होती है कि उससे चट्टाने विभिन्न रूपों मे बदल जाती है। उदाहरणत., मरुस्थलों में ज्यूगेन, यारदांग, गारा, भू-स्तम्भ, तिपहल, त्रिकोटिका, इन्सेलबर्ग आदि रूप वायु के अपघर्षण का ही फल है।

(2) **संनिघर्षण** (Attrition)—वायु द्वारा अप्रवाहित बालू-कण निरन्तर गतिशील रहते है। इसका प्रभाव न केवल उस चट्टान पर ही होता है जिनके विरुद्ध वे टकराते है, अपितु परस्पर एक-दूसरे कण पर भी होता है। पारस्परिक रगड़ से बालू-कण छोटे, चिकने और गोल होते जाते हैं। बालू-कणों को गोल करने मे वायु का अनवरत कार्य बहते हुए जल की अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होता है। इसके निम्न कारण है: (1) वायु का अधिक वेग, (2) बालू-कणों द्वारा अधिक दूरी तय करना, (3) बालू-कणों का अधिक समय तक परस्पर रगड़ खाना और मरुस्थलो में लम्बे समय तक आगे-पीछे हटते रहना, (4) रक्षा करने वाले जल-कोष का अभाव। वायु की उपरोक्त विशेषताओं के कारण बालू-कण ज्वार के दानो के समान गोल बन जाते है। मरुस्थलीय अपरदन का ये मुख्य पदार्थ होते है। विस्तृत बालुका मरुस्थलो के ये प्रधान अवयव होते है।

(3) **अपवाहन** (Deflation)—'डिफ्लेशन' लैटिन शब्द 'डिफ्लेयर' से बना है, जिसका अर्थ बहा ले जाने से होता है। इस क्रिया मे वायु द्वारा कोई भी शुष्क और असगठित पदार्थ उडा ले जाया जाता है, जिससे भूमि का तल नीचा हो जाता है। धूल के महीन और उम्दा कण वायु में ऊपर रहते है और मीलो दूर तक अपवाहित होते है। इटली एवं दक्षिण फ्रांस और यदाकदा दक्षिणी इंगलैण्ड मे सहारा के लाल-धूल कण उड कर जमा होते है। बालू-कणो के रूप मे भारी पदार्थ 'धूल की आँधियों' के साथ आगे बढ़ते है जबकि और अधिक भारी पदार्थ सतह के निकट अनेक क्रमों में आगे खिसकता है।

वायु के अपवाहन के फलस्वरूप मिट्टी का कटाव (soil erosion) होता है। वायु द्वारा मिट्टी के कटाव का विलक्षण कार्य पश्चिमी सयुक्त अमेरिका के 'धूल का कटोरा' (Dust Bowl) वाले क्षेत्र मे देखा जाता है। मरुस्थलों मे छोटे एवं बड़े आकार के बने हुए वात गर्त अपवाहन के कारण ही बनते है। न्यूमेक्सिको तथा टैक्सास मे अन्तरपर्वतीय मैदान, जिन्हें **बोल्सन** (Bolson) कहा जाता है, वायु के अपवाहन के द्वारा ही बने है। **पसार्ज** ने भी पर्वत प्रान्तीय मैदानों (peneplanes) का निर्माण वायु की अपवाहन क्रिया द्वारा ही माना है।

वायु के अपरदन पर प्रभाव डालने वाले कारक

वायु द्वारा किया गया अपरदन कार्य सब स्थानो और समय मे एक जैसा नहीं होता। वायु के अपरदन कार्य पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है:

(1) **वायु के वेग**—वायु द्वारा अपरदन उसके वेग पर निर्भर करता है। वेगपूर्ण वायु में अधिक पदार्थ रहते हैं जिससे अपरदन भी अधिक होता है। वायु का वेग कम होने पर उसमे निहित पदार्थ जमा होने लगते है। मन्द वायु केवल हल्के कणों को उड़ा सकती है। तीव्र वायु में भारी बालू-कण उड जाते है। प्रचण्ड आँधी मे तो कंकड़-पत्थर भी उड़ जाते हैं। वायु मे मिले हुए बालू-कण और कंकड आदि ही अपरदन के साधन होते है। इसलिए वायु का वेग जितना अधिक होगा वायु मे बालूकणों की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। फलस्वरूप अपरदन भी अधिक तीव्र होगा। मरुस्थलों में होने वाला अपरदन अधिकांशतः प्रचण्ड आँधियों के द्वारा ही होता है।

(2) **धूल-कणों का आकार तथा ऊँचाई**—वायु के अपरदन पर धूल-कणो के आकार और ऊँचाई का गहरा प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः छोटे आकार के धूल-कण वायु के ऊपरी भाग मे

रहते हैं और मोटे कण धरातल के निकट रहते है। ऊँचाई के साथ-साथ धूल-कणों की मात्रा भी कम होती जाती है। यही कारण है कि धरातल के निकट अपरदन अधिक होता है। साधारणतः धरातल से एक-दो फुट की ऊँचाई तक अपघर्षण अधिक होता है। तदनन्तर अपघर्षण की मात्रा घटती जाती है। धरातल के निकट अपघर्षण की अधिकता से ही चट्टानों के विभिन्न भू-आकार बन जाते है।

(3) **चट्टानों की संरचना**—मरुस्थलों में वायु द्वारा उड़ायी गयी बालू मे क्वार्ट्ज के कण मिले होते है। ये अत्यन्त कठोर और तीक्ष्ण धार वाले होते है। ये चट्टानो को सरलता से घिस डालते है। किन्तु चट्टानों का क्षय उनकी सरचना पर निर्भर करता है। कोमल चट्टाने कठोर चट्टानो की अपेक्षा शीघ्र घिस जाती है। सिनाय प्रदेश का अधिकांश धरातल कोमल बलुआ पत्थर से बना हुआ है। कही-कही उसमें मैंगनीज के समानुस्तरण (concretions) मिलते है। अतः वहाँ वायु के दीर्घकाल से होने वाले अपरदन के कारण बलुआ पत्थर घिस गया है परन्तु मैंगनीज के स्तर पहले की भाँति ही मौजूद है। इसी प्रकार लीबिया के दक्षिणी भाग में कोमल चूने का पत्थर है। फलस्वरूप वहाँ वायु के अपरदन से चट्टानें चिकनी और नालीदार बन गयी है। इसका उत्तरी भाग बलुआ पत्थर से बना हुआ है जिसको घिसकर वायु ने ऊबड़-खाबड़ बना दिया है। मिस्र की प्रसिद्ध स्फिंक्स की मूर्तियाँ भी आँधी के थपेड़ो से बुरी तरह घिस गयी है।

(4) **जलवायु**—शुष्क प्रदेशों मे होने वाले अपरदन पर जलवायु का भी गहरा प्रभाव देखा जाता है। वहाँ कठोर शैलो के अपरदन में तापमान का परिवर्तन और ओस-कणों की उपस्थिति बड़ी सहायक होती है। सामान्यतः कठोर शैलों मे सन्धियाँ होती है। तापमान के परिवर्तन से शैलें फैलती और सिकुड़ती है जिससे अन्त मे चटक जाती है। इसी प्रकार चट्टानों की सन्धियों मे ओस-कणों के जम जाने से उनका आयतन बढ जाता है जिससे सन्धियाँ चौड़ी होती है और कालान्तर में चट्टान के भारी दबाव से टूट जाती है। इस तरह कठोर शैलो की परत नष्ट होती जाती है और चट्टानी टुकड़ों को हवा उड़ा ले जाती है। इस प्रकार वायु का अपरदन चक्र चलता रहता है।

वायु द्वारा अपरदित भू-आकार

वायु के अपरदन कार्य के फलस्वरूप शुष्क एव अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों में विचित्र भू-आकारों का आविर्भाव हो जाता है। कुछ प्रमुख भू-आकार निम्न हैं :

छत्रक या गारा (Mushrooms or Gara)—मरुस्थली प्रदेशो मे बालू से लदी हुई हवा चट्टानों के निचले भाग को तीव्रता से घिसती रहती है। हवा के इस अपघर्षण से ऊपर उठे हुए चट्टानी भागों में विशेष आकृतियाँ बन जाती है। चारो ओर से हवा के सतत प्रहार से चट्टानों का निचला भाग कटकर संकीर्ण हो जाता है और उसके ऊपर का भाग विशाल मेज की भाँति सपाट तथा चौड़ा बना रहता है। कभी-कभी ऊपरी भाग वर्षा के कारण गोलाकार एवं चिकना भी हो जाता है। इस प्रकार ये चट्टानें कुकुरमुत्ता नामक पौधे के सदृश प्रतीत होने लगती हैं। ऐसी चट्टानों को छत्रक (Mushroom rocks) कहा जाता है। सहारा मरुस्थल में इन्हें **गारा** (Gara or Gour) कहते हैं। कहीं-कहीं इन्हें **पिल्ज फेसलन** (Pilz Felsen) भी कहते हैं।
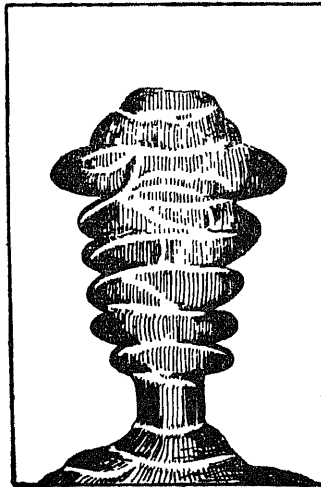
चित्र 333—छत्रक

ज्यूगेन (Zeugen)—जिन मरुस्थली प्रदेशों में कठोर चट्टानो के परत कोमल चट्टानों के ऊपर क्षैतिज (horizontal) रूप में बिछे हुए पाये जाते हैं, वहाँ ज्यूगेन नामक भू-आकार प्रकट होता है। सर्वप्रथम अपक्षय के कारण ऊपरी कठोर चट्टानो की सँधे चौड़ी होती है। जब धीरे-धीरे सँधे काफी चौड़ी हो जाती हैं तो नीचे की कोमल चट्टानी परत निकल आती है। इस कोमल चट्टानी परत को हवा शीघ्रता से काट देती है, इससे चट्टानों के बीच-बीच मे घाटियाँ-सी बन जाती है। इस प्रकार कठोर चट्टानी भाग कोमल चट्टानों के ऊपर टोपी की तरह अवस्थित रहता है। सहारा मे चट्टानो की ऐसी आकृतियो को ज्यूगेन (Zeugen) कहा जाता है। ऐसे ज्यूगेन प्रायः अपने निकटवर्ती क्षेत्र से 900 फुट से भी अधिक ऊँचे खड़े होते हैं। हवा के अपघर्षण से धीरे-धीरे इन टेबिल-नुमा चट्टानों के नीचे का भाग पूर्णरूप से घिस जाता है और ऊपर उठा हुआ भाग गिर जाता है जिससे धरातल फिर समतल हो जाता है।
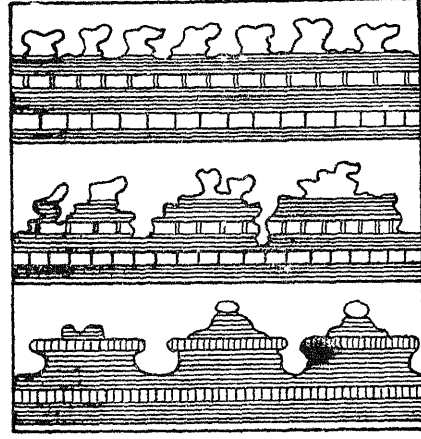
चित्र 334—ज्यूगेन

यारदांग (Yardange)—जब कहीं कठोर और कोमल शैलों की पट्टियाँ (bands) प्रचलित हवा की दिशा के अनुरूप फैली हुई पायी जाती हैं तो वहाँ कटक और खाँचें (ridge and furrow) का भू-दृश्य उत्पन्न हो जाता है। वस्तुतः हवा के निरन्तर एक ही दिशा में चलने से कोमल चट्टानें शीघ्र अपरदित हो जाती हैं और कठोर चट्टाने सामान्य धरातल से ऊपर उठी हुई दिखाई पड़ने लगती हैं। हवा के अपघर्षण से कटकों के पवनाभिमुख अग्र सुघड़ एव गोलाकार तथा उनके शिखर सुई के समान नुकीले बन जाते है। ये शिखर संकीर्ण खाँचो (grooves) द्वारा एक-दूसरे से अलग रहते है। मध्य एशिया के मरुस्थलों में हवा के अपघर्षण द्वारा निर्मित खम्भों की भाँति अधिक कटे हुए और असमान आकार के खड़े किनारों वाले भू-आकार **यारदांग** (Yardangs) कहलाते है। **सेवन हैडन** ने इन भू-आकारो का वहाँ विस्तृत अध्ययन किया है। वहाँ कटकों (ridges) का अपघर्षण इस विचित्र रूप से हुआ है कि सम्पूर्ण प्रदेश चट्टानी पसलियों की भाँति प्रतीत होता है। इनकी ऊँचाई 20 फुट के लगभग होती है और ये एक-दूसरे के समान्तर होती है। इनकी चौडाई 40 फुट से लेकर 150 फुट तक होती है। अटाकामा मरुस्थल में भी ऐसे भू-आकार देखे जाते है।

चित्र 335—यारदांग

इन्सेलबर्ग (Inselbergs)—शुष्क और अर्द्ध-शुष्क प्रदेशों मे जहाँ धरातल पर नग्न चट्टानें बिछी हुई पायी जाती है, वहाँ हवा के अपघर्षण (abration) और अपवाहन (deflation) के कारण चट्टानों का बडी मात्रा में घिसाव होता है। हवा के इस घिसाव से वहाँ धीरे-धीरे सभी प्रकार के गड्ढे (depressions) नष्ट हो जाते हैं और समूचा प्रदेश एक समतल मैदान मे परिणत हो जाता है। केवल कठोर चट्टाने धरातल के ऊपर टीलों के रूप मे खड़ी रहती हैं। वस्तुतः ये टीले मरुस्थलों के बीच तीव्र ढाल वाली छोटी-छोटी पहाड़ियाँ है, जिनका आकार गुम्बद अथवा पिरामिड के समान

होता है । जर्मन भू-गर्भवेत्ताओं ने कालाहारी मरुस्थल में पाये जाने वाले ऐसे पहाड़ी टीलों को **इन्सेल-बर्ग** अर्थात द्विपात्र गिरि नाम दिया है, क्योंकि दूर से ये टीले रेत के विस्तृत सागर में द्वीप के सदृश प्रतीत होते हैं । **बेली विलिस** (Baily Willis) ने इन टीलों का विस्तृत अध्ययन कर यह बताया है कि ग्रेनाइट से बने टीलों का आकार सदैव गुम्बदाकार होता है । इनके आधार पर ढाल लम्बवत होता है और वहाँ शैल मलबे (talus) का सर्वथा अभाव मिलता है । इन टीलों की आकृति मूलतः चट्टानों की प्रकृति पर निर्भर करती है । उत्तरी नाइजीरिया में समांग (homogenous) ग्रेनाइट चट्टानें अपक्षय और अपरदन के फलस्वरूप गुम्बदाकार रूप की रचना करती हैं । अल्जीरिया के कुछ क्षेत्रों में कठोर लाल पत्थर जिसमें लम्बवत सन्धियाँ पायी जाती हैं, खड़े स्तम्भों की रचना हुई है । इसके विपरीत, कोलोरेडो, ऊटाह और अरीजोना में कठोर और कोमल

चित्र 336—**उत्तरी नाइजीरिया में अँगुलियों की भाँति बने इन्सेलबर्ग**

चट्टानों के परत क्षैतिज रूप से बिछे हुए पाये जाते हैं, वहाँ सपाट पहाड़ियों (tabular hills) की रचना हुई है । ये पहाड़ियाँ खड़े ढाल वाली होती हैं । ऐसी छोटे आकार वाली पहाड़ियाँ **मेसा या बूटे** (Mesa or Buttes) कहलाती हैं ।

इन्सेलबर्ग की रचना के सम्बन्ध में कई मत हैं । **पसार्ज** ने इनकी रचना का मुख्य कारण वायु अपवाहन (wind deflation) को माना है । जर्मन भू-गर्भवेत्ताओं ने इसके विपरीत हवा और बहते हुए जल के क्रमिक अपरदन को ही इसकी रचना का कारण माना है । कुछ विद्वानों ने तो इसे मोनेडनॉक (Monadnock) के समान ही माना है । संसार में ऐसे भू-आकार दक्षिणी अफ्रीका, नाइजीरिया, यूगाण्डा, मोजाम्बिक आदि कई देशों में देखने को मिलते हैं । भारत में रायचूर के निकट 'कूपघाट' में भी ऐसे टीले मिलते हैं ।

भू-स्तम्भ (Demoiselles or Hoodos)—शुष्क मरुस्थलों में प्रायः ऐसे स्थानों पर भू-स्तम्भों की रचना होती है जहाँ असंगठित मलबे से युक्त चट्टानों के ऊपर कठोर चट्टानें बिछी हुई पायी जाती हैं । यहाँ हवा के सतत् प्रहार और अपवाहन से असंगठित चट्टानें घिस जाती हैं और कई ऊँचे-ऊँचे टीले बन जाते हैं । इन टीलों की रचना में वहाँ होने वाली अनायास भीषण वर्षा का भी बड़ा हाथ रहता है । इस वर्षा से वहाँ अस्थायी जलधारा उत्पन्न हो जाती है । यह जलधारा

यद्यपि बहुत अल्पकालिक होती है फिर भी अत्यधिक शिलचूर्ण और भीषण वेग के कारण वहाँ बड़ी मात्रा मे अपरदन करने में सफल होती है। इस प्रकार हवा और जल के सम्मिलित प्रभाव से वहाँ **मृत्तिका स्तम्भ** (earth pillars) बन जाते है। जिन स्तम्भों के शिखर पर कठोर पत्थर रखा हुआ रहता है, उन्हे **भू-स्तम्भ** (Demoiselles or Hoodos) कहा जाता है। दूरी से देखने पर ये भू-स्तम्भ कटी हुई चिमनी की तरह दिखाई पड़ते हैं इसलिए इन्हे **दुर्गीय चिमनी** (Castellated Chimmneys) भी कहते है।
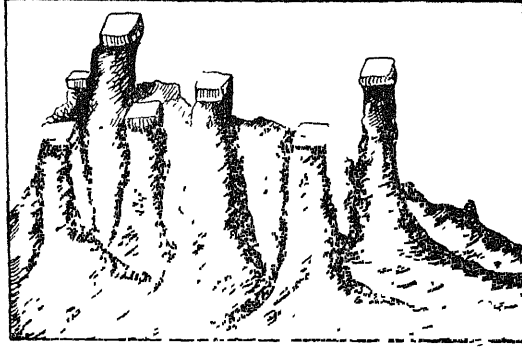
चित्र 337—**भू-स्तम्भ**

जालीदार शिला (Stone Lettice)—जब धूलकणों से लदी हुई हवा के मार्ग मे विभिन्न विचित्र कठोरता वाली चट्टान आ जाती है तो उसके प्रहार से चट्टान के कोमल भाग कटकर उड़ जाते हैं। फलस्वरूप चट्टान जालीनुमा हो जाती है। इन जालीनुमा चट्टानों को ही **जालीदार शिला** (Stone lettice) कहते है। रॉकी पर्वतीय क्षेत्र में बालुका प्रस्तर की जालीदार शिलाओं के दृश्य देखे जाते हैं।
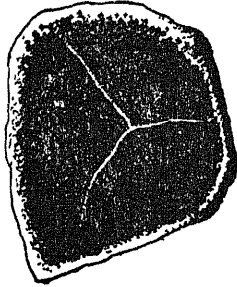
त्रिकोटिका या तिपहल (Dreikanter or Ventifacets)—आदिकाल में मनुष्य पत्थर के टुकड़ों को घिसकर विविध प्रकार के गोल व धार वाले शस्त्र बनाया करता था। ठीक उसी प्रकार के पत्थरों की रचना मरुस्थलो में वायु द्वारा होती रहती है। शुष्क मरुस्थलों मे और कहीं-कहीं वर्षा वाले प्रदेशों के बालू तटों पर चमकदार एवं निश्चित स्वरूप वाले चट्टानी टुकड़े पाये जाते हैं। इन भागों में बालू से लदी हवा धरती पर बिखरे हुए चट्टानी टुकड़ों पर प्रहार करती है, जिससे वे घिसकर चिकने हो जाते हैं या उनमें खरोंचें पड़ जाती हैं। ये पत्थर ऐसे प्रतीत होते है जैसे किसी मिस्त्री ने उन्हें छेनी से काट-छाँटकर और घिसकर रख दिया हो। इन पत्थरों के ऊपरी तल चिकने और कई पहल वाले हो जाते है। जहाँ दो पहल मिलते है वहाँ तीक्ष्ण धार बन जाती है। जिस पहल पर वायु का प्रकोप होता है, उसका आकार नीचे भूमि के पास चौड़ा और ऊपर की ओर पतला होता है। यदि पत्थर के टुकडे का रुख पलट जाता है या वायु की दिशा बदल जाती है तो उसके तीव्र नुकीले किनारेदार नगीने के पहल बन जाते है। इस प्रकार प्रत्येक चट्टानी टुकड़ा कई पहल वाला बन जाता है और उन पर विभिन्न प्रकार की नक्काशी मिलती है। अधिकतर ये टुकड़े लम्बे, दोनों सिरों पर नुकीले और तीन पहल वाले होते है। अपूर्व चमक के कारण ये बड़े ही सुन्दर प्रतीत होते है। ऐसे चट्टानी टुकड़ो को **त्रिकोटिया** या **तिपहल** कहते है। ये सहारा मरुस्थल मे अधिक पाये जाते है।

चित्र 338—**त्रिकोटिका या तिपहल**

वायु द्वारा रचित तिपहल न केवल सुन्दर ही होते है, वरन् इनका बहुत बड़ा भूतात्विक महत्त्व भी है। इनके द्वारा किसी प्रदेश की पूर्व परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। उत्तरी-पश्चिमी स्कॉटलैण्ड में वायु द्वारा घिसे हुए चट्टानी टुकड़ों की मोटी परत बिछी हुई पायी जाती

है। वर्तमान समय में वहाँ इतनी अधिक वर्षा होती है और वनस्पति की इतनी प्रचुरता है कि वहाँ वायु द्वारा ऐसे पत्थरो की रचना सम्भव नही है किन्तु तिपहल पत्थरो की उपस्थिति इस बात को प्रमाणित करती है कि किसी समय वहाँ की जलवायु अवश्य शुष्क रही होगी जिससे इनकी रचना सम्भव हो सकी।

पुल (Bridge)—जब कभी वायु के मार्ग मे ऐसी कोई कोमल चट्टान सामने आ जाती है, जिसमे किसी प्रकार का गर्त-सा हो तो वायु शनैः-शनैः उस गर्त को अधिकाधिक चौड़ा और गहरा करती रहती है। दीर्घकाल तक वायु की इस क्रिया से चट्टान मे आरपार छेद हो जाता है। कालान्तर मे यह छेद काफी बड़ा हो जाता है जिसे **खिड़की** (Window) कहा जाता है। वायु के निरन्तर अपघर्षण से चट्टान नीचे तक कट जाती है और वह मेहराब का रूप ले लेती है। चट्टानो मे प्राकृतिक रूप से बने ऐसे मेहराब को **पुल** (Bridge) कहते है।

वात गर्त (Blow out)—उष्ण मरुस्थली भागो में वायु के अपवाहन से यत्र-तत्र चौड़े एवं उथले गर्त बन जाते हैं। ऐसे गर्त पश्चिमी सयुक्त राज्य के धूल का कटोरा (Dust Bowl) वाले क्षेत्र नील घाटी के पश्चिम मे चूने के पत्थरों के पठारी भाग पर कालाहारी मरुस्थल, पश्चिमी मरुस्थल और मगोलिया मे देखे जाते हैं। यहाँ पाये जाने वाले गर्त छोटे व बड़े सभी प्रकार के होते है। इन गर्तों में सबसे बड़ा सहारा मे नील नदी के पश्चिम में **क्वातारा** (Quttara) गर्त है। इसका तल समुद्रतल से 440 फुट नीचा है। एक अन्य **फाइयुम** गर्त का तल समुद्र से 130 फुट नीचा है किन्तु इसके किनारे 1100 फुट ऊपर उठे हुए है।[1]

इन वात गर्तो की रचना के सम्बन्ध में कई विद्वानो के कई मत है। इन गर्तो के स्थानीय अपवाहन की शुरूआत किस प्रकार हुई यह जानना एक कठिन समस्या है। कुछ विद्वानों का विचार है कि भ्रंशन के कारण गर्त का प्रारम्भ हो सकता है। जब एक बार कठोर चट्टानी धरातल तोड़ दिया जाता है तो वायु उसके नीचे की कोमल चट्टानों को उखाड़ सकती है। जब इस प्रकार एक छोटा वात गर्त बन जाता है तो धीरे-धीरे वह चौड़ा और वायु-भँवर के प्रभाव से गहरा भी होता जाता है। उत्तरी अमरीका के मरुस्थल मे पाये जाने वाले छोटे वात गर्त वस्तुतः विभिन्न कठोरता वाली चट्टानो मे अपक्षय की भिन्नता के कारण ही बने हैं। इन गर्तों के चारों ओर किनारों पर अधिक कठोर चट्टाने मिलती हैं। कुछ विद्वानों का मत यह भी है कि वहाँ विगत काल मे अधिक आर्द्र जलवायु होने से घोल की क्रिया से ऐसे गर्तों का प्रारम्भ हुआ। कुछ गर्त प्रारम्भ मे इसी प्रकार बने हैं। कई स्थानों पर इन गर्तों मे मरुद्यान (oases) अथवा नमकीन झीलें पायी जाती हैं।

वायु का परिवहन
(Transportation by Wind)

वायुमण्डल मे लटके हुए समस्त ठोस पदार्थो के लघु कणों को धूल कहते हैं। इस धूल मे मृत्तिका के सूक्ष्म कण, धुएँ के कण, फूलों के परागकण, पौधो के बीज, छोटे-छोटे जीवाणु और ज्वालामुखी धूल आदि पदार्थ सम्मिलित रहते है। वायुमण्डल सदैव इन धूल-पदार्थों से व्याप्त रहता है। किसी भी आँधी के समय इस धूल को वायु में सरलता से देखा जा सकता है। जिस समय वायु पूर्णरूप से शान्त होती है उस समय भी उसमे धूल विद्यमान रहती है। वस्तुतः वायु सभी प्रकार के हल्के और असंगठित पदार्थो को सरलतापूर्वक उड़ा लेती है। इसलिए जब हवा वेग से चलती है तो गलियों मे जुते हुए खेतों और शुष्क धरातल से पर्याप्त मात्रा में धूल हवा मे

---

1 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 217

एकत्रित हो जाती है। यह वायुमण्डल मे पर्याप्त ऊँचाई तक विद्यमान रहती है। वनस्पति से आच्छादित भागों मे वायु मे बहुत कम धूल रहती है। आर्द्र और हिम से ढके प्रदेशो में तो वायु को कोई धूल प्राप्त ही नही होती। आर्द्र तथा वनस्पति एव हिम से आच्छादित प्रदेशों में मिट्टी के कण सगठित रहते है, अत. हवा उन्हें उड़ा नही पाती। यही कारण है कि हवा का प्रभाव केवल शुष्क मरुस्थली भागों में ही देखा जाता है।

हवा मे परिवहन की अपूर्व शक्ति है। मन्द हवा भी धरातल से शुष्क और ढीले कणों को उडा ले जाती है। धूल के हल्के कण वायु मे लटके रहते है और निलम्बित अवस्था मे ही परिवहित होते है। जब हवा वेग से चलती है तो वह न केवल बालू-कण बल्कि छोटी गिट्टियो (pebbles) और कंकड़ियों तक को उड़ा ले जाती है। इस प्रकार वायु के वेग और धूलकणो मे पारस्परिक सम्बन्ध है। एक मीटर प्रति सेकिण्ड ऊपर उठने वाली हवा 0 1 मिलीमीटर व्यास वाले धूल-कणो को सरलता से उड़ा ले जाती है। इसी प्रकार 3 मीटर प्रति सेकिण्ड ऊपर उठने वाली हवा 1 मिलीमीटर व्यास के धूल कणो को उड़ा ले जाने की शक्ति रखती है। लगभग 50 मील प्रति घण्टा चलने वाली आँधी मटर के आकार की बजरी को उड़ा ले जाती है। विद्वानो ने ऐसा अनुमान लगाया है कि 3 क्यूबिक फुट वायु मे 1 औस धूल-कण उपस्थित होते है अर्थात 1 किलोमीटर वायु में 2500 टन से भी अधिक धूल-कण रहते है। **टार और मार्टिन** के अनुसार, प्रति घन मील वायु मे 1,26,000 टन धूल-कण होते हैं।[1] एक अनुमान के अनुसार यदि आँधी का व्यास 300-400 मील हुआ तो वह अपने साथ लगभग 10,00,00,000 टन धूल उड़ा कर ले जा सकेगी। दूसरे शब्दों मे, धूल की यह मात्रा इतनी अधिक होगी कि इससे 190 फुट ऊँची और 2 मील चौड़ी एक पहाड़ी का निर्माण हो सकता है।

यद्यपि यह सही है कि आर्द्र प्रदेशो मे जलधाराओ द्वारा किये गये अपरदन कार्य की तुलना में मरुस्थलों मे वायु द्वारा किया गया अपरदन बहुत ही नगण्य होता है, फिर भी वायु की एक विशेषता जल से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। बहता हुआ जल उच्च प्रदेशो के अपरदित पदार्थों को निचले प्रदेशो में जमा करता है। इस प्रकार उसका प्रभाव जलधाराओं के अपवाह क्षेत्र तक सीमित रहता है। वायु इसके विपरीत धूल को उड़ाकर मरुस्थलो की सीमा से बहुत परे पहुँचा देती है। इंगलैण्ड मे एक बार आँधी के साथ 10,000 टन मिट्टी आकर गिरी जो 2500 मील की दूरी से उड़ाकर लायी गयी थी। यूरोप मे इसकी $\frac{1}{4}$ मिलीमीटर मोटी परत जमा हो गयी। यदि यह मात्रा प्रति पाँच वर्ष में गिरती रहे तो अनुमान है कि सौ वर्षो में 5 मिलीमीटर मोटी परत जम जायेगी। **पेट्री** नामक विद्वान ने हिसाब लगाकर बताया है कि पिछले 2600 वर्षो मे नील नदी के डेल्टे से 2·5 मीटर से अधिक मोटी धूल की परत वायु द्वारा हटायी जा चुकी है। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका में प्रतिवर्ष हवा 8500 लाख टन बालू 1440 मील दूर तक उड़ा ले जाती है। मिसीसिपी नदी की घाटी मे प्रतिवर्ष आँधी द्वारा $\frac{1}{4}$ इच मोटी मिट्टी की परत जमा की जाती है।[2]

शुष्क प्रदेशों में वायु अपवाहन का प्रबल साधन है। अपवाहन क्रिया जोते हुए खेतों और कछारी मैदानों मे भी खूब होती है। शुष्क प्रदेशों में सड़कों, खेतो और मैदानों से धूल के उठते हुए घने बादलों के कारण मकानों में धूल की जो मोटी परत जम जाती है उससे यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपवाहन के कारण किस प्रकार धरातल का पर्याप्त अंश उखड़-

---

1 Tarr & Martin : *College Physiography*, p. 70
2 A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 380-387

कर स्थान्तरित हो जाता है। सहारा मरुस्थल की आँधियों द्वारा उड़ायी गयी धूल भूमध्यसागर को पार कर बहुधा दक्षिणी यूरोप तक पहुँच जाती है और जब वायु काफी ठण्डी हो जाती है तो यह लाल मिट्टी वर्षा के साथ भूमि पर गिर पड़ती है। इस प्रकार की वर्षा को **रक्त-वर्षा** (Blood rain) कहते है। समुद्र मे चलने वाले जलयानो के डेक भी इस धूल से भर जाते है। लीबिया मरुस्थल से भी इसी प्रकार बड़ी मात्रा मे धूल उड़ा करती है। गोबी के मरुस्थल से उड़ने वाली धूल की अधिकाश मात्रा उत्तरी चीन में जाकर निक्षेपित होती है। सैकडों वर्षो से इस धूल के उड़कर जमा होने से उत्तरी चीन के मैदान पर लोयस मिट्टी की मोटी परत जमा हो गयी है।

वायु द्वारा धूल का अपवाहन मैदानों में ही नहीं, -समुद्रतटीय भागो में भी खूब होता है। समुद्र-तल की बालू निम्न ज्वार के समय सूख जाती है। वायु बालू के इन सूखे कणों को शनैः-शनैः उड़ाकर तटों से काफी दूर तक हटा देती है। दक्षिणी-पश्चिमी फ्रास मे यह बालू समुद्र-तट से 5 मील भीतर तक जमा की गयी है। सहारा के कई भागों मे 100 मील दूर की मिट्टी जमा हो गयी है। हॉलैण्ड तथा क्राइस्ट ने अनुमान लगाया है कि प्रतिवर्ष लगभग 1,30,000 टन नमक के कण कच्छ की खाड़ी से राजस्थान मे पहुँचते है। भू-वैज्ञानिकों का कथन है कि राजस्थान के थार मरुस्थल से प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा में बालू कण आकर पश्चिमी उत्तर प्रदेश मे जमा होते जा रहे है। यदि यह मात्रा निरन्तर बढती रही तो उत्तर प्रदेश का उपजाऊ मैदान एक दिन मरुस्थल में बदल जायेगा।

वायु मे धूल के संचालन के विषय मे जो जानकारी प्राप्त है उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भू-पटल के समस्त भू-भाग जो वायु को धूल-कण प्रदान करते है, आपस में धूल का आदान-प्रदान कर चुके है। उदाहरण के लिए, सन् 1883 के क्राकातोआ ज्वालामुखी उद्‌गार के समय निकली हुई धूल लगभग 14 दिनो मे पूर्णरूप से पृथ्वी के चारो ओर प्रवाहित हुई। कुछ धूल उद्‌गार से तीन वर्ष बाद तक भी वायु मे उपस्थित रही और कुछ धरातल पर स्थिर होने के पूर्व पृथ्वी का कई बार चक्कर लगा चुकी थी। यह धूल पृथ्वी के प्रायः समस्त भागों तक पहुँची थी।

वायु द्वारा निक्षेपण
(Deposition by Wind)

बहते हुए जल की भाँति हवा भी अपने अपवाहित पदार्थों का अधिक वहन नहीं कर पाती। हवा की गति मन्द पड़ने पर अपने भार-पदार्थों को उनके भार के अनुसार जगह-जगह छोड़ती चलती है। हवा के मार्ग में अवरोध आ जाने पर भी पदार्थों का निक्षेपण होने लगता है। यह निक्षेपण कभी-कभी अस्थायी होता है जो हवा के दूसरे झोको में पुनः आगे बढ़ जाता है। अधिकांश निक्षेपण स्थायी रहता है। स्थायी निक्षेपण **वायूढ़ निक्षेपण** (aeolin deposits) कहलाता है। यह निक्षेपण पदार्थों के आकार और भार के अनुसार क्रमबद्ध होता है। बालू के भारी कण निकट और बारीक धूल-कण मरुस्थलो से बाहर बहुत दूर निक्षेपित होते है। मरुस्थलों के बालू के निक्षेपण से बालू के स्तूप बन जाते है। समुद्रतटों अथवा झीलों के समीप बालू-कणो मे क्रम रूप से होने वाले निक्षेपण द्वारा धीरे-धीरे परत के परत जमा हो जाते है जो कालान्तर मे कठोर हो जाने पर **बालुका प्रस्तर** (sand stone) का रूप ले लेते हैं। मरुस्थलों से दूर निक्षेपित धूल से **लोयस** के मैदानो की रचना हो जाती है। इस प्रकार वायु के निक्षेपण के फलस्वरूप धरातल पर कई रूप बन जाते है।

बालुका स्तूप
(Sand Dunes)

बालुका स्तूप मरुस्थलीय भू-दृश्य का विशिष्ट रूप है। यह वायु के निक्षेपण का परिणाम है। ये अपने आकार-प्रकार मे बहुत भिन्न होते है। इनकी रचना पर निम्न बातों का प्रभाव होता है :

(1) **बालू की मात्रा**—बालुका स्तूप की रचना बालू की मात्रा पर निर्भर करती है। जहाँ बालू की प्रचुर मात्रा उपलब्ध होती है, वही इनकी रचना सम्भव होती है। समुद्रतटो एवं बालुका-प्रस्तर वाले क्षेत्रों मे अपक्षय के कारण प्रचुर मात्रा में बालू सुलभ हो जाती है। उदाहरणत., सहारा, कालाहारी, यूटाह और थार मरुस्थलो में इसी कारण बालुका-स्तूप अधिक पाये जाते है। इसके विपरीत, नेवादा राज्य में और दक्षिणी लीबिया मे चूने की चट्टानो के पाये जाने के कारण बालू का अभाव रहता है। अत शुष्क जलवायु होते हुए भी वहाँ बालुका-स्तूप नहीं पाये जाते।

(2) **वायु की दिशा और शक्ति**—बालुका-स्तूप के आकार-प्रकार, दिशा और विस्तार पर वायु की दिशा और शक्ति का गहरा प्रभाव होता है। प्रचण्ड रूप से चलने वाली आँधियाँ विशाल स्तूपों का सृजन करती है और मन्द पवन से केवल बालू पर ऊर्मि चिह्न (ripple marks) ही बनकर रह जाते है। बालुका-स्तूपो की आकृति का वायु दिशा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

(3) **वायुमार्ग में अवरोध**—बालुका-स्तूप की रचना के लिए बालू से लदी हुई वायु के मार्ग में अवरोध होना आवश्यक है। बालू का संचय अवरोधस्वरूप ही होता है। वृक्ष, झाड़ियाँ, ठूँठ, ऊँची चट्टाने, टीला, मकान, सघन वन और घास के मैदान सब अवरोधक का कार्य करते हैं। यहाँ तक कि बालू का टुकड़ा जो अपने आस-पास के क्षेत्र से ऊँचा होता है, वह भी अवरोध का कार्य करने लगता है।

(4) **बालू-संचय का स्थान**—किसी भी स्थान पर बालू का सचय वायु की गति मन्द पड़ जाने पर होता है। अतः उस स्थान की प्रकृति का उस पर बड़ा प्रभाव होता है। वह स्थान गहरी बालू से ढका है या केवल चट्टानो से, अथवा चट्टानें व कंकड़ मिले हुए पाये जाते है। स्थान की प्रकृति बालू के अवरोध के लिए कार्य करती है। अत बालुका-स्तूप का निर्माण-क्षेत्र काफी विस्तृत और अवरोध वाला होना चाहिए। इनके अतिरिक्त उस स्थान पर अधोभूमि जल की संतृप्तता का तल (level of saturation) काफी गहराई पर होना चाहिए। यदि अधोभूमि जल भूमि पर निकल आया तो वह बालू के निक्षेप और परिवहन को नियन्त्रित करेगा और वहाँ स्तूपों का निर्माण सम्भव नहीं होगा।

बालुका-स्तूप की रचना—बालुका-स्तूप की मरुस्थली भू-दृश्य का विशिष्ट भू-आकार है। इनकी रचना किसी स्थान पर बालू के निक्षेप के कारण होती है। रेतीले भागों मे वायु द्वारा अपवाहित बालू-कणों के एकत्रित हो जाने से यत्र-तत्र बालू के टीले बन जाते हैं। अतः वे टीले (mounds) और कटक (ridges) जो वायु द्वारा उड़ाकर लायी हुई बालू से बनते है, **बालुका-स्तूप** (sand dunes) कहलाते है। **होम्स** के अनुसार, "**बालू का कोई भी टीला या कटक जिसके शिखर** (crest) **होता है, बालुका-स्तूप कहलाता है।**" **बेगनोल्ड** (Bagnold) के अनुसार, "The word 'dune' in its true sense should be restricted or barkhans and self dunes. Other features of accumulated sand are known variously as 'shadows', 'drifts', 'sheets', 'undulations' and 'whole-backs'. The term is here used in its more general sense."

बालुका-स्तूप अपने आकार में कई प्रकार के होते है। यदि वे टीलो की आकृति में है तो

वे गोल अथवा अण्डाकार हो सकते है। किन्तु कुछ स्तूपो की रूपरेखा बड़ी अनियमित होती है। बालुका-स्तूपो की कटके (ridges) छोटी अथवा लम्बी, सीधी अथवा वक्र हो सकती है। इस प्रकार ये कही पूर्ण स्तूपाकार या चपटे या फैले हुए अथवा अर्द्ध-चन्द्राकार और कही छोटी पहाड़ियो के रूप मे एक-दूसरे से सटे हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार इनकी आकृति मे व्यापक भिन्नता मिलती है। किन्तु एक आदर्श बालुका-स्तूप मे पवनाभिमुख भाग लम्बा एवं मन्द ढाल वाला होता है और प्रतिवाती दिशा अधिक ढाल वाली होती है। वायु की दिशा की ओर वाले ढाल पर बालू आकर जमा होती है और दूसरी ओर खिसक जाती है। इसलिए प्रतिवाती दिशा **खिसकने वाली दिशा** (slip face) कहलाती है। पवनाभिमुख ढाल पर बालू के कण वायु द्वारा शीर्ष की ओर धकेल दिये जाते है जो प्रतिवाती ढाल पर अधिक-कोणिक झकाव के साथ एकत्र हो जाते है। प्रतिवाती ढाल पर बालू के कण जिस कोण पर रुकते है वह **विश्राम कोण** (angle of repose) कहलाता है। विश्राम कोण का झुकाव 20° से 40° तक होता है। यदि वायु निरन्तर एक ही दिशा से चलती रहती है तो स्तूप के दोनो पार्श्वो से वायु की दिशा मे दो बाहुएँ आगे निकल आती है जिससे स्तूप का आकार वायु की विपरीत दिशा से देखने पर अर्द्ध-चन्द्राकार प्रतीत होता है। इस प्रकार के स्तूप को बरखान कहा जाता है। जिन भागो मे वायु के चलने की दिशा बदलती रहती है वहाँ स्तूपो का कोई निश्चित आकार नही रह पाता। कभी-कभी बालुका-स्तूपो पर उगने वाली वनस्पति भी उनके आकार को अनियमित बना देती है।
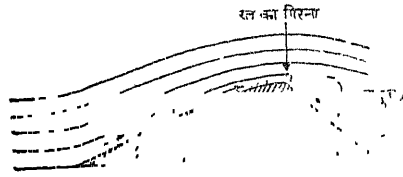
चित्र 339—बालुका-स्तूप की निर्माण क्रिया

बालुका-स्तूपो का आकार-प्रकार और विशालता बालू की प्रचुरता पर निर्भर करती है। जिन प्रदेशो मे बालू की अधिकता पायी जाती है और तेज आँधियाँ चला करती है उनमे बालुका-स्तूपो की साधारण ऊँचाई 100 फुट तक देखी जाती है। थार मरुस्थल मे 50 फुट से 200 फुट ऊँचे स्तूप पाये जाते है। अधिक ऊँचे स्तूप थार के पश्चिमी भाग मे मिलते है। कुछ स्तूप 2 मील तक लम्बे पाये गये है। सहारा मरुस्थल मे 600 फुट तक ऊँचे स्तूप पाये जाते हैं।

बालुका-स्तूपों का ऊपरी धरातल जल की हिलोरो की भाँति लहरों से युक्त होता है, इन्हें **ऊर्मि चिह्न** (Ripple marks) कहा जाता है। ये देखने मे ऐसे प्रतीत होते है जैसे किसी तालाब मे लहरें उठ रही हों। बालुका-स्तूपो के धरातल की यह विशेषता सब जगह पायी जाती है। ऐसे ही चिह्न उन जलमग्न स्थानो पर भी बन जाते है जहाँ पानी छिछला होता है और जल मे निरन्तर लहरे आती रहती है। गंगा आदि नदियो के बालुकामय तटो पर ऐसे चिन्ह ग्रीष्मऋतु मे कहीं भी देखे जा सकते है। जिन भागो मे वायु की दिशा बदलती रहती है उन भागो में ऊर्मि चिह्न भी बदलते रहते है। ये कभी आड़े, कभी तिरछे और कभी एक-दूसरे को काटते रहते हैं। वायु की दिशा बदलने के साथ ही साथ इनका रूप भी बदल जाता है।

बालुका-स्तूपों के प्रकार

हम बालुका-स्तूपो के उनकी स्थिति और रचना के अनुसार निम्न भेद कर सकते है :

(1) **समुद्रतटीय बालुका-स्तूप** (Coastal Sand Dunes)—जिन समुद्रों के निकट बालू तट पाये जाते है वहाँ बालुका-स्तूप बनने की सम्भावना रहती है। फ्रांस के पश्चिमी तट पर बिस्के की खाड़ी के समीप 5 मील चौड़ी और 150 मील लम्बी बालू की पट्टी है। इस बालू की पट्टी में 300 फुट तक ऊँचे बालुका-स्तूप पाये जाते है। इसी प्रकार हॉलैण्ड तथा बेल्जियम के तट पर भी कम ऊँचे किन्तु लम्बे बालुका-स्तूप मिलते है। पूर्वी प्रशा और डेनमार्क मे भी ऐसे स्तूप पाये जाते है। यहाँ के स्तूप अपनी तीव्र चाल के लिए प्रसिद्ध हैं। उत्तरी अमरीका के पूर्वी तट

पर केप कॉड के प्रिंस टाउन से लगाकर फ्लोरिडा तक बालुका-स्तूपों की एक लम्बी श्रृंखला चली गयी है। वर्जीनिया तट के पास भी बड़े मोहक स्तूप मिलते है। भारत मे पूर्वी तट के ऊपर बालासोर से पुरी तक बालुका-स्तूपों की भरमार देखी जाती है।

(2) **झीलतटीय बालुका-स्तूप** (Lake Sand Dunes)—कही-कही झीलों के तट पर भी बालुका-स्तूपो का आधिपत्य पाया जाता है। सुपीरियर और मिशीगन झीलों के तटों पर हिम-निक्षेपित बालू पर पछुवा हवाओ के प्रवाह से कई बालुका-स्तूप बन गये है। इन स्तूपो में से अधिकांश पर घास तथा वृक्ष उग आये है।

(3) **नदीतटीय बालुका-स्तूप** (River Bank Dunes)—अर्द्ध-शुष्क भागों मे बहने वाली नदियाँ काफी चौड़ी घाटियाँ बनाती है। इन नदियों की घाटियो के बीच में ग्रीष्मऋतु मे बालू-युक्त भागो मे छोटे-छोटे बालुका-स्तूप बन जाते हैं। स्थान, समय तथा विस्तार की दृष्टि से स्तूप बहुत क्षणिक होते है। गगा नदी मे पटना के निकट ग्रीष्मऋतु मे इस प्रकार के स्तूप दिखाई पड़ते है।

अर्द्ध-शुष्क भागो की अपेक्षा शुष्क भागो में बहने वाली नदियों के तटों पर बालुका-स्तूपों का अधिक विकास होता है। सयुक्त राज्य अमरीका मे अरकन्सास और उसकी सहायक नदियों मे बालुका-स्तूप बहुत पाये जाते है। इसका सर्वाधिक विकास तो कोलम्बिया और स्नेक नदियों की घाटियों मे पाया जाता है। यूरोप मे उत्तर के आर्द्र भागों मे बालुका-स्तूपो का प्राय: अभाव मिलता है, किन्तु दक्षिणी फ्रास और स्पेन मे इनकी प्रचुरता देखी जाती है। गार्डो की घाटी मे 30 से 40 फुट और ग्वाडलकीवर की घाटी मे 100 फुट से भी अधिक ऊँचे बालुका-स्तूप मिलते है। दक्षिणी रूस मे वोल्गा, डान और नीपर नदियों के किनारे भी ये स्तूप अधिक पाये जाते है। पाकिस्तान के सिन्ध प्रान्त मे भी ऐसे स्तूप देखने को मिलते है।

(4) **मरुस्थलीय बालुका-स्तूप** (Desert Sand Dunes)—विश्व में बालुका-स्तूपों का सर्वाधिक विकास मरुस्थलों मे देखा जाता है। यहाँ बालुका-स्तूपो की रचना एक सामान्य घटना है। यहाँ हवा के साथ उड़ते हुए बालू-कणों को रोकने के लिए न तो जल ही है और न वनस्पति ही। फलस्वरूप यहाँ विशाल बालुका-स्तूपों की रचना होती रहती है। किन्तु यह विश्वास कर लेना कि समस्त मरुस्थल बालू एवं बालुका-स्तूपो से ढके है, उचित नही है। ससार मे फैले हुए समस्त मरुस्थलों के लगभग 1/5 भाग मे ही बालू की प्रचुरता पायी जाती है। अतः बालुका-स्तूपों का विस्तार भी मरुस्थलो के कुछ ही भागों में मिलता है। बालुका-स्तूपो का सबसे अधिक विस्तार अरब मे देखा जाता है। किन्तु यहाँ भी सम्पूर्ण क्षेत्रफल का एक-तिहाई भाग (लगभग 4,00,000 वर्गमील) ही बालू से ढका है। सहारा मरुस्थल का भी नवाँ भाग (3,00,000 वर्गमील) ही अस्थायी बालू से आच्छादित है। मध्य एशिया मे बालू के विस्तृत मरुस्थल पश्चिम में सीरिया से लगाकर पूर्व की ओर ईरान, बलोचिस्तान, थार, पूर्वी तुर्किस्तान और मंगोलिया तक फैले हुए है। उत्तरी अमरीका मे बालुका-स्तूप नेवादा राज्य के ग्रेट बेसिन और कोलोरेडो तथा दक्षिणी कैलिफोर्निया के मोहवा मरुस्थल में अधिक पाये जाते है। संयुक्त राज्य अमरीका में सबसे मुख्य बालुका-स्तूप 500 वर्गमील क्षेत्र में एल्मो गोर्डो के निकट है जो जवाखार के बने हैं। दक्षिणी अमरीका मे अटाकामा मरुस्थल और आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया मरुस्थल में भी बालुका-स्तूप पाये जाते हैं।

मरुस्थलीय बालुका-स्तूप अपनी रचना की दृष्टि से निम्न प्रकार के होते हैं :

(क) अनुप्रस्थ बालुका-स्तूप (Transverse Sand Dunes)—जब दीर्घकाल तक हवा एक ही दिशा में चलती रहती है तो अनुप्रस्थ बालुका-स्तूपों की रचना होती है। इनका विस्तार वायु की दिशा के लम्बवत होता है। प्राय: ऐसे स्तूप गहरे बालू के प्रदेशो में मन्द वायु द्वारा निर्मित

होते है। इनकी आकृति अर्द्ध-चन्द्राकार होती है। इनकी चोटी वायु के वेग की विपरीत दिशा में होती है। इनका ढाल पवनाभिमुख भाग की ओर धीमा और उसके विपरीत दिशा मे तीव्र होता है। इन स्तूपो की दो समान्तर पक्तियों के मध्य मे एक छोटी पट्टी रहती है जिसमे वायु के भँवर पैदा होते है। ये भँवर यहाँ से बालू-कणों को उड़ा ले जाते है और मध्य भाग को गहरा करते रहते है जिससे इस प्रकार के स्तूप बन जाते है। इन स्तूपो की ऊँचाई तथा दो स्तूपों के बीच की दूरी वायु शक्ति तथा बालू कणो की मात्रा पर निर्भर करती है। कभी-कभी ये स्तूप एक-दूसरे से अलग भी रहते है जिनके बीच मध्यवर्ती भाग मे कुछ वनस्पति उग आती है। ये बालुका-स्तूप शुष्क एवं आर्द्र दोनो प्रकार के भू-भागो मे मिलते है। नदियो तथा झीलो के तटो पर ऐसे स्तूप अधिक पाये जाते है।

चित्र 340—**बालुका-स्तूप के मध्य वायु भँवर**

(ख) **परवलयिक बालुका-स्तूप** (Párabolic Dunes)—जिन स्थानो पर वायु का वेग अधिक होता है वहाँ से बालू को उड़ाकर वायु-प्रवाह के विपरीत मार्ग में जमा कर देने से ऐसे स्तूपो की रचना होती है। ये स्तूप लम्बे तथा परवलयाकार होते है। इनका ढाल वायु दिशा की ओर धीमा और प्रतिवाती दिशा की ओर तेज होता है। इन स्तूपों का सम्बन्ध सदैव वनस्पति से रहता है। इन पर बहुधा छोटी-छोटी घास उग आती है। इसलिए इन स्तूपों का आगे खिसकना बन्द हो जाता है। ऐसे स्तूप अधिकतर उन भागों मे बनते है जहाँ बालू के साथ बारीक मिट्टी के कण रहते है।

(ग) **अनुदैर्ध्य या समान्तर बालुका-स्तूप** (Longitudinal Dunes)—ये स्तूप बालू की प्रचुरता वाले स्थानों मे वायु की प्रवाह-दिशा के समान्तर बनते है। इनकी आकृति लम्बी पहाड़ी की भाँति होती है। ये पहाड़ियाँ प्राय समान्तर होती है और दाँत जैसी प्रतीत होती है। मरुस्थलों मे ये प्रायः कई मील लम्बाई मे फैली रहती है। बालू के इन स्तूपों को सहारा मे **सीफ्स** (seifs) कहते है। ये स्तूप प्रायः स्थिर होते है। ऐसे सीफ-स्तूपों (seif dunes) की लम्बी कतारें सहारा, लीबिया, दक्षिणी ईराक, थार मरुस्थल और पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरुस्थल में पायी जाती है।
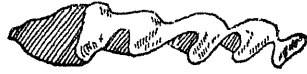
चित्र 341—**सीफ**

(क) (ख)
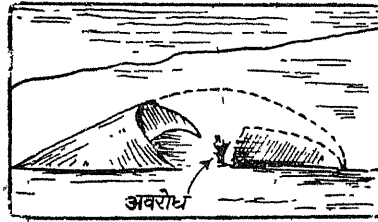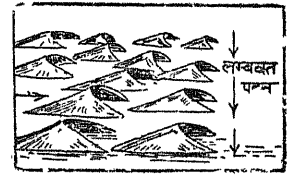
चित्र 342—**अनुदैर्ध्य बालुका-स्तूप का निर्माण**

इन बालुका-स्तूपों की रचना का ठीक-ठीक कारण अभी ज्ञात नहीं है। कुछ विद्वानो का यह मत है कि ये अनुप्रस्थ स्तूपों के ही परिमार्जित रूप हैं। ये बरखान की कतारों के सम्मिलित

हो जाने से बन जाते हैं। सम्भवतः जहाँ नियतवाही पवनों (prevailing winds) के अतिरिक्त अन्य आरपार चलने वाली हवाएँ यदाकदा जब समकोण बनाती हुई चलती है तो वे पूर्ववर्ती बरखान के पीछे के भागों को उडा ले जाती है। प्रबल वेग से चलने वाली हवा स्तूपों की कतारों के मध्य निम्न भाग (depiessions) मे सीधी बहती है और उन्हें बालू से मुक्त रखती है जबकि वायु की भँवरें स्तूप के किनारो को बनाने में मदद करती है। कभी-कभी ये स्तूप स्वतन्त्र रूप से भी बन जाया करते है। यदि आरम्भ मे बालुका-राशि पौधों द्वारा छोटे-छोटे टीलों के रूप में जमा की गयी हो और उसका फैला हुआ रूप वायु की दिशा के विमुख जा पड़ा हो तब भी ऐसे स्तूप बनेंगे। मानसूनी हवाओ द्वारा भारत के समुद्रतटों पर ऐसे स्तूपों की रचना होती है।

(घ) **बरखान** (Barkhans)—अर्द्ध-चन्द्राकार अथवा धन्वाकार स्तूपों को बरखान कहते हैं। ये स्तूप तुर्किस्तान मे अधिक मिलते है। इन स्तूपों मे उपरोक्त दोनो प्रकार के स्तूपों की विशेषता पायी जाती है। ये स्तूप हवा की अनुप्रस्थ दिशा मे पाये जाते है। इन स्तूपों के किनारो पर बहुत कम पदार्थ हटाने को रहता है, अतः हवा की दिशा मे इन स्तूपों के सीग निकल आते है। तुर्किस्तान मे ऋतु के अनुमार हवा बदलती रहती है। यहाँ हवा कभी उत्तर से और कभी दक्षिण से चलती है। हवा की दिशा के परिवर्तन के साथ ये स्तूप भी बदल जाते है। इन स्तूपों के सीग इधर-उधर होते रहते हैं।

चित्र 343—**बरखान**

बरखान 100 मील तक लम्बे और 600 फुट ऊँचे पाये जाते है। पवनाभिमुख दिशा में इनका ढाल मन्द तथा प्रतिवाती खिसकने वाली दिशा (slip face) मे तीव्र होता है। प्रतिवाती ढाल अवतल (conca\e) आकार का होता है क्योकि वायु की पिछली भँवर इसमे खोह बनाती रहती है। इन्हें मूल स्तूपों का परिवर्तित रूप समझा जा सकता है। इनका निर्माण साधारण बालुका राशि मे मध्यम वेग वाली वायु द्वारा होता है।

कई अन्य भू-आकारों के समान बरखान के सम्बन्ध में भी मूल समस्या उनके प्रारम्भ होने की है, क्योंकि इनका निर्माण बहुत बडी बाधाओं (obstacles) से सम्बन्धित नही है। इनका निर्माण खुले और समतल भागों में देखा जाता है। सम्भवतः कंकड़ों अथवा यकायक वायु दिशा में परिवर्तन से बालू का छोटा ढेर बनने लग जाता है जिससे बरखान जैसे आकार का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार इनका प्रारम्भ बहुत ही लघु रूप मे होता है। ये सन्तुलित ऊँचाई तक विकसित होते है और स्थान्तरित होने पर अर्द्ध-चन्द्राकार रूप धारण कर लेते हैं। वायु इनके आधार पर के बालू-कणों को उड़ाकर शीर्ष तक ले जाती है और विमुख भाग में निक्षेपित करती रहती है। इस प्रकार एक-एक कण करके स्तूप विमुख दिशा मे हटा दिया जाता है। निरन्तर एक ही दिशा से बहने वाली हवा ऊँचे मध्यवर्ती भाग की अपेक्षा दोनो बगलों को अधिक तेजी से आगे बढाती है। अत बरखान का रूप अर्द्ध-चन्द्र के समान प्रतीत होने लगता है। साधारणत. अधिक ऊँची चोटी वाले बरखान को **ओघर्ड** (Oghurd) कहा जाता है। अर्द्ध-विकसित बरखान सहारा में **सीफ** (Seif) कहलाते है।

बरखान यदाकदा विगलित (isolated) पहाड़ी के रूप में मिलते हैं किन्तु अधिकाशतः ये झुण्ड में मिलते है। कभी-कभी ये एकसी कतार में पाये जाते है और कभी-कभी बिना क्रम के इधर-उधर फैले हुए मिलते हैं। जहाँ कहीं मरुस्थलो मे बरखान बिना क्रम के फैले होते है तो उन्हें

पार करना बड़ा कठिन होता है। इनके बीच मे लम्बे मार्गों का पाया जाना सम्भव होता है। सहारा मरुस्थल मे बरखानो के मध्य पाये जाने वाले ऐसे मार्गों को **गासी** (gassı) कहा जाता है। ये स्थायी कारवाँ मार्ग होते है।

बालुका-स्तूपों का स्थानान्तरण (Migration of Sand Dunes)

बालुका-स्तूपों की बालू जब तक स्वतन्त्रतापूर्वक उड सकती है तब तक स्तूप कभी भी
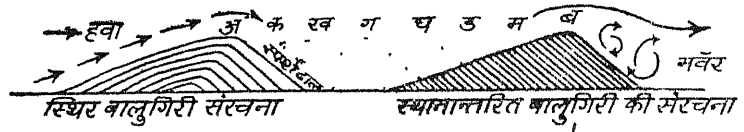
चित्र 344

स्थिर नही रह पाते। आँधी के वेग से न केवल नये धूल-कण ही उड़ते है वरन् स्तूपों के ढाल की बालू भी सरक-सरक कर आगे बढती जाती है और शिखर पर पहुँचकर दूसरी ओर के ढाल पर गिर जाती है। इस प्रकार स्तूप का एक ओर का पदार्थ शनैः-शनैः दूसरी ओर पहुँचकर जमा हो जाता है। साथ ही साथ आँधी के वेग के साथ शिखर भी आँधी चलने की दिशा में थोड़ा आगे बढ जाता है। धीरे-धीरे सम्पूर्ण स्तूप ही अपने स्थान से आगे बढ जाता है। सारी क्रिया इतनी धीरे-धीरे और क्रमानुसार होती है कि यदि आँधी का वेग और मार्ग निश्चित रहा तो स्तूप का आगे बढना मालूम भी नहीं पड़ता। परन्तु किसी प्रदेश का निरन्तर निरीक्षण करने से तुरन्त ज्ञात हो जाता है कि बालुका-स्तूप कितनी शीघ्रता से कितने आगे बढ़ गये है। अनुमान लगाया गया है कि तेज वायु के साथ बड़े बालुका-स्तूप वर्ष भर मे लगभग 20-25 फुट आगे बढ़ पाते हैं, जबकि छोटे-छोटे स्तूप 50 से 100 फुट तक आगे बढ़ जाते हैं।
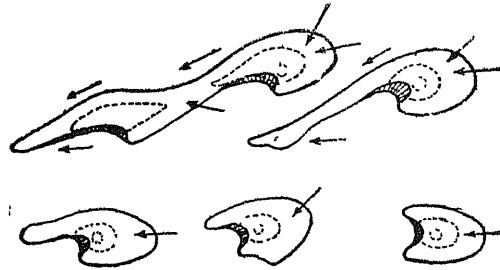
चित्र 345—वायु-दिशा एवं आड़े स्तूपों का पलायन

स्तूपों की यात्रा तभी समाप्त होती है जब उसके पथ में कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जो आंधी के वेग को रोक सके और इस प्रकार बालू को गतिविहीन करके आगे बढने से रोके। ऐसी बाधाएँ अधिकतर वृक्षादि की पक्तियाँ तथा वनस्पति से ढकी भूमि होती हैं। समुद्रतट से बालुका-स्तूपों की पंक्तियाँ स्थल की ओर बढते-बढते नीची भूमि को पाटती चली जाती है। जब इन टीलों की बालू मे घास आदि उगकर बालू को स्थिर कर देती है तभी उनकी यात्रा समाप्त होती है, अन्यथा बालू के ये टीले खेत, मैदान, जंगल और गाँव तक को ढकते आगे बढते चले जाते है। इनका प्रकोप जल धाराओ को बाढ से किसी भी प्रकार कम नहीं होता। केवल इतना अन्तर होता है कि इनकी यात्रा की गति मन्द होती है। फ्रांस तथा अन्य यूरोपीय प्रदेशों में समुद्रतट की ओर से बढ़ने वाले बालुका-स्तूपों की पंक्तियों से अनेक बार खेती-बाडी नष्ट हो चुकी है। साथ ही साथ सहस्रो गाँव और घने वन भी बालू मग्न हो गये हैं। बिस्के की खाड़ी के तट तथा बाल्टिक सागर के तटवर्ती प्रदेशो मे इस प्रकोप से रक्षा करने के लिए घने और ऊँचे वृक्षों की पक्तियाँ लगायी गयी हैं। प्राचीन काल के चेल्डीया और बेबीलोन के कई विख्यात नगर तथा मोहनजोदड़ो की सभ्यता के नष्ट हो जाने का कारण बालू की बाढ़ ही मानी जाती है। पूर्वी प्रशा के किनारे स्थित कुंजेन नगर सन् 1800 के प्रारम्भिक काल में एक इसी प्रकार की बालू की बाढ़ से दब गया था जो 60

वर्ष पश्चात् पुन· बालू के आगे बढने से निकल सका। कहना न होगा कि बालू की बाढ जल से भी अधिक भयानक होती है। जो प्रदेश जलधाराओ की बाढ से मग्न हो जाते है, थोड़े समय पश्चात् वे फिर स्वतन्त्र हो जाते है। परन्तु बालू के प्रकोप से नष्ट होने वाले प्रदेश की भूमि सदैव के लिए नष्ट हो जाती है। बालूका-स्तूपो की बाढ बहुत धीमी होती है। बिस्के की खाड़ी इस प्रकार की बाढ के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर लगभग 150 मील लम्बी और 6 मील चौडी भूमि की पट्टी बालुकामय है। इस प्रदेश से टीलो की यात्रा आरम्भ होती है और स्थल की ओर चलती है। इसकी गति अधिक से अधिक 100 फुट प्रतिवर्ष तक होती है। टीलों के आने के पूर्व ही बालू के कण आकर भूमि को ढकना आरम्भ कर देते है, जिससे खेतीबाड़ी नष्ट हो जाना आरम्भ हो जाती है। टीलो के आने के पूर्व ही भूमि पर बालू की मोटी तह जम जाती है। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी प्रदेश मे आजकल प्रतिवर्ष आँधियाँ राजस्थान के मरुस्थलो से बालू ला-लाकर जमा कर रही है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि थार का मरुस्थल प्रतिवर्ष आधे मील की रफ्तार से पिछले 50 वर्षो से बहावलपुर व फिरोजपुर रियासतो से होता हुआ पूर्वी पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ओर बढ रहा है। यह अन्देशा है कि कालान्तर मे पश्चिमी उत्तर प्रदेश की भूमि पर बालू की इतनी मोटी तह हो जायगी कि धीरे-धीरे यह भूमि भी मरुस्थलीय हो जायगी।

फ्रास के लैण्ड्स (Landes) प्रदेश मे बालुका-स्तूपो की बाढ से अनेक गाँव नष्ट हो चुके है। यहाँ के लेज (Lege) नामक स्थान पर बालू का प्रकोप होने से लोगो ने एक गिरजाघर को नष्ट होने से बचाने के लिए सत्रहवी शताब्दी मे उसे पुराने स्थान से हटाकर ढाई मील स्थल की ओर बनाया। सौ वर्ष उपरान्त उनको उसे यहाँ से भी हटाना पड़ा, क्योकि बालू यहाँ पर अपने टीले बनाने लगी थी।

कई बालुका-स्तूप गतिहीन भी होते है। ऐसे स्तूपों से ऊपर की बालू बहुत कम उडती है। वर्षा-जल इन स्तूपो के भीतर प्रवेश कर बालू को नम बना देता है जिससे बालू-कणों में स्थिरता आ जाती है, या घास एवं झाड़ियो के उग आने से ये स्तूप स्थिर हो जाते है। निब्रास्का में 18,000 वर्गमील मे फैली बालू की पहाड़ी एक ऐसा ही स्थिर स्तूप है। यह वनस्पति से आच्छादित तो कम है परन्तु इसमे मीलो लम्बी-लम्बी तराइयाँ पायी जाती है। अटाकामा, पीरू, आस्ट्रेलिया के मरुस्थल, बरमूडा एव प्रशान्त महासागर के अन्य कई द्वीपो में स्थिर बालुका-स्तूपो (fixed sand dunes) का विकास देखा जाता है।

बालुका-स्तूपों की उपयोगिता—यद्यपि अधिकांशत: बालुका-स्तूपो का कार्य विनाशक ही होता है, तथापि ये मानव के लिए उपयोगी भी सिद्ध होते है। बालू वर्षा के जल को सोख लेती है। अत: मरुस्थलों मे अति अल्प-वर्षा होते हुए भी बालुका-स्तूपों में समाये हुए जल के कारण भूमिगत जल-तल (water lable) ऊपर उठ जाता है और स्तूपों के आकार की रेखा के समान्तर ऊँचा-नीचा रहता है। फलस्वरूप कहीं-कहीं थोड़ी-सी भूमि खोदने पर ही प्रचुर मात्रा मे जल उपलब्ध हो जाता है। ऐसे स्थानो पर मरुद्यान (Oasis) बन जाते है जो मानव आवास के अच्छे स्थान होते है।

लोयस (Loess)

मरुस्थलों से प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा मे धूल वायु द्वारा उड़ाकर ले जायी जाती है। ससार के विभिन्न भागो में इस धूल के विस्तृत निक्षेप पाये जाते है। मरुस्थली क्षेत्रों के बाहर, वायु द्वारा अपवाहित इस अति सूक्ष्म कणीय धूल के वृहत् निक्षेपो को ही **लोयस** कहते है। **होम्स** के अनुसार, "Loess is an accumulation of wind-borne dust and silt, washed down from air by rain and retained by the protective grip of the grasses." इस प्रकार यदि संक्षेप मे कहें तो लोयस एक प्रकार का विशिष्ट वायूढ निक्षेपण है। सर्वप्रथम **रिचटोफन** (Richthofen) ने उत्तरी चीन का अध्ययन कर इसका पता लगाया था। वैसे इस निक्षेपण का यह नाम जर्मनी के

अल्सेस प्रान्त के लोयस गाँव के आधार पर पड़ा है। वहाँ ऐसी मिट्टी का प्रचुर निक्षेप पाया जाता है।

लोयस एक पीली अथवा हल्के भूरे रंग की मिट्टी है। इसके कण बालू-कणो से छोटे किन्तु मृत्तिका से बड़े होते है। यह जल मे सरलता से घुल जाती है। यह पूर्णतः सरन्ध्र होती है। इस मिट्टी में तहें नही पायी जाती। इसके विपरीत यह ढेर के रूप में मिलती है। यह विभिन्न मोटाई की ढीली-ढीली राशि होती है। उत्पत्ति की भिन्नता के अनुसार इसकी रासायनिक रचना भी भिन्न होती है। सामान्यतः इसकी रचना सिलिका, फेल्सपार, अभ्रक, क्वार्ट्ज, कैल्साइट, ऐलुमीनियम व मृत्तिका के कणों से होती है। इस मिट्टी मे स्थलीय जीवों के अवशेष पाये जाते है।

लोयस के निक्षेप ऊँचे-नीचे सभी स्थानों पर मिलते है। इसमे तहों के अभाव के कारण लम्बी खड़ी नलिकाएँ बनी हुई देखी जाती है। इसमे खड़ी पतली नलिकाएँ समय-समय पर दब जाने वाले वृक्ष के तनों और जड़ो के चिह्न-सी लगती है। ढीली होने के कारण इस मिट्टी को नदियाँ सरलता से काट देती है। अतः इसमे गहरी घाटियाँ होती है। घाटियो के पार्श्व में ऊँचे-ऊँचे खड़े कगार पाये जाते है। इसमें कई नलिकाएँ काफी गहराई पर पायी जाती है जो यह प्रमाणित करती है कि वनस्पतियों के समाप्त होने पर भी वायु द्वारा अपवाहित कण इसमे निक्षेपित होते रहे हैं।

यद्यपि लोयस का निक्षेपण आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड में भी पाया जाता है परन्तु इसका अधिकांश निक्षेपण उत्तरी गोलार्द्ध मे ही देखा जाता है।

एशिया में लोयस का निक्षेप—एशिया मे लोयस का निक्षेप चीन मे देखा जाता है। यहाँ लगभग 2,30,000 वर्गमील क्षेत्र मे लोयस मिट्टी पायी जाती है। यहाँ इसकी तहें सैकड़ो फुट गहरी है। कही-कहीं इसकी गहराई 1000 से 2000 फुट तक है। जलधाराओं द्वारा इसमे सैकड़ों गहरे दर्रो की रचना हो गयी है। इसी मिट्टी को बहाने के कारण चीन की ह्वांगहो नदी का नाम पीली नदी पड़ गया है। जिस सागर में यह पीली नदी अपना अवसाद जमा करती है उसका नाम भी पीला सागर (Yellow Sea) है। मध्य एशिया के गोबी मरुस्थल से चलने वाली आँधियाँ शताब्दियों से इस धूल को अपने साथ उडाकर लाती रही है और इस प्रदेश को पाटती रही है। चीन की लोयस मिट्टी में यूरोप तथा अमरीका की लोयस मिट्टी के मूल स्थानों से भिन्नता होते हुए भी रचना-विधि की अपूर्व समानता ध्यान देने योग्य है। चीन की बहुत-सी उपजाऊ धरती इसी लोयस मिट्टी के द्वारा बनी है। इसी मिट्टी में कँगारों के कटान में नैसर्गिक कन्दराओं की अपूर्व रचना हो गयी है। चीन के सहस्रों निर्धन कृषक इन्ही कन्दराओ में अपना घर बनाकर रहते हैं। यह मिट्टी बहुत उपजाऊ होती है अतः इसमे थोड़ा पानी मिलते ही उत्तम कृषि की जा सकती है। यही कारण है कि पिछले 4000 वर्षो से चीनी किसान इस मिट्टी में खेती करता रहा है।

यूरोप में लोयस का निक्षेप—यूरोप में आन्तर शुष्क-काल एवं हिम-काल के बाद महाद्वीपीय हिम-परतों के द्वारा असंगठित रूप में छोड़े गये बालू और चीका के कणों को उड़ाकर अन्यत्र जमा कर दिया गया। अतः यहाँ लोयस का प्रयोग हिम-काल में वायु द्वारा निक्षेपित उम्दा धूल के लिए किया जाता है। यहाँ इसके निक्षेप मध्य यूरोप की उच्च भूमि के उत्तर में जर्मनी, उत्तरी-पूर्वी बेल्जियम और फ्रांस मे पाये जाते हैं। फ्रांस एवं बेल्जियम में इस निक्षेप को **लिमोन** (Limon) कहा जाता है। यहाँ इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है क्योंकि नदियों ने इसका पुन. अपने उत्तलों पर निक्षेप किया है। इसका निक्षेप 5000 फुट की ऊँचाई तक सर्वत्र मिलता है। यह बाल्टिक सागर के अन्तिम हिमोढ़ के पश्चिम और दक्षिण मे मिलती है। यह क्षेत्र अन्तिम हिमावरण क्षेत्र की सीमा के बाहर है। इस प्रकार यह सम्भव है कि जल ने पुनः इसका वितरण किया हो, किन्तु वायु ने ही इसके वितरण में प्रमुख भाग लिया होगा।

अमरीका में लोयस के निक्षेप—यहाँ लोयस से बहुत अधिक मिलते-जुलते वायु द्वारा अपवाहित धूल के मोटे निक्षेप पश्चिमी राज्यो मे मिसौरी और मिसीसिपी नदियों की घाटियो में पाये जाते है। यहाँ इन निक्षेपों को **एडोबी** (Adobe) कहते है। इसका प्रारम्भ मे बहते हुए जल द्वारा निक्षेपण हुआ है। मिसीसिपी की घाटी के कुछ भाग बड़े मैदान (great plain) से आये हुए धूल-कणों से बने हैं। इनका विस्तार 2,30,000 वर्गमील क्षेत्र मे है। नदियो के किनारे ये सैकड़ो फुट मोटी तहों के रूप मे पाये जाते है। यहाँ लोयस के निक्षेप का दूसरा बडा क्षेत्र निब्रास्का तथा कन्सास से प्रारम्भ होकर मिसौरी तथा आईयोवा तक फैला हुआ है। यहाँ धूल-कण कोलोरेडो, बाइमोग एवं अन्य पश्चिमी राज्यो से आकर निक्षेपित होते है। पूर्वी आईयोवा मे इसके निक्षेप की 10-12 फुट मोटी तहे पायी जाती हैं जो अनुमानत. प्राचीन हिमनदी द्वारा निर्मित झीलो मे निक्षेपित हुई है। विसकान्सिन और इलीनियोस मे भी ऐसे ही निक्षेप मिलते है।

उपरोक्त महाद्वीपो के अतिरिक्त दक्षिणी अमरीका के पम्पाज के मैदान और न्यूजीलैण्ड के दक्षिणी द्वीपो मे भी इसी प्रकार के निक्षेपों का होना माना गया है।

लोयस प्रदेश में अपरदन-चक्र—लोयस की युवावस्था मे उच्च भूमि मे प्राकृतिक कुएँ एवं गह्वर पाये जाते है। ये गह्वर प्रायः नदियो, प्रपाती खड्डो और अवनालिकाओं (gullies) के किनारो पर ही मिलते है। यहाँ सतही जल रन्ध्रों द्वारा नीचे प्रवेश कर जाता है जिससे **लोयस कुआँ** (Loess well) का निर्माण हो जाता है। यहाँ कई अवनालिकाएँ भूमि के अन्दर होती हैं जो काफी लम्बी होती हैं। ये नदियो की घाटियों तक फैली रहती है। ये एक प्रकार से सुरगों (tunnels) की भाँति प्रतीत होती है। साधारणतः प्रपाती खण्डों के किनारों पर **लोयस नली** (loess pipe), नलिकाएँ (tubes), कुएँ (wells), गह्वर (sinks) एवं पुल (bridges) पाये जाते है। नदियों द्वारा जल-विभाजको के अपरदन से प्रौढता आती जाती है। इन जल-विभाजकों को लोयस भित्ति (loess dikes) कहते है। इनके कटने से समस्त भूमि उत्खात भूमि (bad land) में परिणत हो जाती है। ये आवागमन के मार्गों का काम देते है। वृद्धावस्था में यहाँ बहने वाली नदियाँ चौरस तल वाली घाटियों की रचना करती है। साथ ही यहाँ अनेक लोयस की शिखरिकाएँ (pinnacles) विकसित होती है। ये नुकीली अथवा शंकुवत कई आकारों की होती है। इन शिखरिकाओं को घाटियाँ पृथक करती है।

शुष्क प्रदेशों में जल कार्य

उष्ण मरुस्थली प्रदेशों मे वर्षा का प्राय. अभाव रहता है। यहाँ वर्षा का वार्षिक औसत 5 से 10 इच तक रहता है। वैसे तो यहाँ वर्षा कदाचित ही होती है किन्तु कभी-कभी कुछ ही समय मे भारी वर्षा हो जाती है। सन् 1954 में कुवैत के अन्दर नवम्बर-दिसम्बर में केवल 15 दिनों में 7″ वर्षा हो गयी। **इ० डी मारटोनी** (E. de Martonne) ने एक जगह वर्णन करते हुए लिखा है कि अल्जीरिया की वादी ऊरिरलू (Urirlu) में एक सैनिकों की बटालियन डेरा डाले पड़ी थी। यकायक वादी मे भीषण बाढ आ जाने से सैनिक भौचक्के रह गये और 28 सैनिक अन्ततः बाढ की भेट चढ गये।[1] इन प्रदेशों में बहने वाली धाराएँ कुछ ही समय के लिए प्रभावशाली रहती है। अत इन्हें फ्लेश फ्लड्स (flash floods) कहा जाता है। वनस्पति के अभाव के कारण भूमि पर इन धाराओं का अधिक प्रभाव होता है। मरुस्थली अपक्षय के फलस्वरूप इनके साथ प्रभूत मात्रा मे मलबा बहकर आता है। कभी-कभी नदियों में इतना मलबा आ जाता है कि वे पंक प्रवाह (mud flows) का रूप ले लेती हैं और अन्त मे शान्त हो जाती हैं। कम ढाल वाले भागों मे इनके मार्ग निश्चित नहीं हो पाते। इसलिए वे चादर की भाँति फैल जाती है।

---

1 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 225

ऐसी धाराओं को अमरीका मे **वाशेज** (Washes) कहते है। जो वाशेज पर्वतीय क्षेत्रो तक पहुँच जाती है वे **एरोयज** (Arroys) कहलाती है। कभी-कभी धाराएँ कई नालियों में बँट जाती है और घाटी के मुहाने अथवा पहाड़ी ढाल के नीचे **जलोढ़ शंकु** (Alluvial Cone) या **शुष्क डेल्टा** (Dry Delta) की रचना करती है। यहाँ नदियो द्वारा एकत्रित असगठित पदार्थ पर फिर वायु द्वारा प्रहार किया जा सकता है।

जब अनेक शुष्क धाराएँ ऐसे बेसिन (depiession) मे जाकर खुलती है जो चारो ओर से ऊँची पहाड़ियों से घिरा हुआ हो तो उस बेसिन के तल पर जलोढ अवसादो का निक्षेप हो जाता है। इस बेसिन के पदस्थलीय पहाडी किनारो पर कोणीय शैल-मलबा, बजरी और मोटा पदार्थ जमा रहता है। जहाँ बेसिन के किनारो पर कई जलोढ पख परस्पर मिल जाते है वहाँ मन्द ढालयुक्त बहुत कम ऊँचे-नीचे मैदान की रचना होती है। इनको **बाजदा** (Bajada) कहते है। बाजदा से आगे रेतीला क्षेत्र होता है और उसके आगे मध्य मे पंक-स्तर रहता है। बेसिन का यह मध्यवर्ती भाग कभी-कभी दलदल अथवा क्षणिक नमकीन झील मे बदल जाता है। प्राय. सभी मरुस्थलो मे ऐसे अन्तःअपवाह प्रणाली के बेसिन पाये जाते है। उत्तरी अमरीका व एशिया मे ऐसे बेसिन अधिक मिलते हैं। उत्तरी अमरीका मे बेसिन अधिकतर विशाल और अन्तरापर्वतीय होते है। इनको यहाँ **बोलसन** (Bolsons) कहते है। बेसिनो के मध्य जो झीले बन जाती है उन्हे संयुक्त राज्य अमरीका मे **प्लाया** (Playas), मेक्सिको मे **सेलिना** या **सालार** (Salar's), उत्तरी अफ्रीका मे **शोट्स** (Shootts), सहारा मे **सेबाच** (Sabchas), प्रशा मे **केवायर** (Kewire) और ट्रांस कैस्पिया मे **टाकायर** (Takyie) कहते है।

मरुस्थली पेडीमेण्ट्स
(Desert Pediments)

पेडीमेण्ट शुष्क एव अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो का विशिष्ट भू-रूप है। इन प्रदेशो मे प्राय. किसी उच्च भूमि—पर्वत, पठार अथवा इन्जेलबर्ग—के पदो (foot) में बहुत ही मन्द ढालयुक्त चट्टानी मैदान फैला हुआ पाया जाता है। इस प्रकार के चिकने चट्टानी चौरस मैदान को **पेडीमेण्ट** (Pediment) कहते है। इसका ऊपरी किनारा प्राय यकायक पर्वतीय अग्र-भाग मे परिणत हो जाता है और निचला किनारा क्रमशः मरुस्थल के बेसिन के निम्न भाग मे मलबे के नीचे शनैः-शनैः अभिनत होता है। अपरदन-चक्र के विकास के साथ-साथ पर्वतो की ओर इसकी चौड़ाई बढती जाती है। विकास की चरमावस्था के पूर्व पर्वत के अग्रिम भाग और पेडीमेण्ट के ढाल मे बडा अन्तर रहता है। यह अन्तर एक डिग्री से लेकर सात डिग्री तक मिलता है। किन्तु ढाल का औसत प्रायः ढाई डिग्री रहता है। किनारों के अतिरिक्त पेडीमेण्ट पर सर्वत्र पक की एक हल्की चादर बिछी हुई पायी जाती है। पर्वत की ओर ज्यों-ज्यों पेडीमेण्ट फैलता जाता है त्यों-त्यों पक की चादर उसी ओर बढती जाती है। कई पेडीमेण्ट घाटियों से होते हुए पर्वतों के भीतर तक प्रवेश कर जाते हैं जिनके मिश्रण से **शैल पंख** (Rock Fan) बन जाता है। कभी-कभी समस्त पेडीमेण्ट जलोढ पंख से ढक जाता है तो उसे **पंखायुक्त पेडीमेण्ट** (Fantopped Pediment) कहा जाता है। कहीं-कहीं पर पेडीमेण्ट ऊपर की ओर उठे हुए मिश्रित निक्षेपो पर बन जाते हैं और कभी-कभी जलोढ पंखों पर नये पेडीमेण्ट की रचना हो जाती है। ऐसे पेडीमेण्ट कोलोरेडो के सामने की पर्वत-श्रेणी में देखे जाते है। यद्यपि दूर से देखने पर पेडीमेण्ट बाजदा के मानिन्द दिखाई पड़ता है, किन्तु बाजदा और पेडीमेण्ट में बड़ा अन्तर है। बाजदा वस्तुतः एक ऊँचा-नीचा मैदान है जिसकी रचना मलबा एकत्रित होने से होती है जबकि पेडीमेण्ट स्वतन्त्र रूप से विभिन्न प्रकृति की चट्टानो में कटा हुआ मैदान है। एक ओर बाजदा की रचना अधिवृद्धि (aggradation) द्वारा होती है तो दूसरी ओर पेडीमेण्ट श्रेणीकरण (degiadation) का परिणाम है।

पेडीमेण्ट की उत्पत्ति को अभी तक पूर्णरूप से समझा नही जा सका है। अत. इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। **जॉनसन** (Johnson) ने पार्श्विक अपरदन को ही उसकी उत्पत्ति का कारण माना है। उनके मतानुसार पेडीमेण्ट के तीन भाग होते हैं। पहला पर्वत से ठीक लगा हुआ भाग है जहाँ लम्बवत् अपरदन अधिक होता है। दूसरे पहाडी आधार के चारों ओर मिलता है जहाँ मूलतः पार्श्विक अपरदन ही होता है। यही पेडीमेण्ट का मुख्य भाग होता है। तीसरा भाग निक्षेपण का रहता है। यहाँ जल का प्रभाव होते हुए भी वायु द्वारा उसका रूप परिवर्तित होता है। **डेविस** ने पार्श्विक अपरदन मत की सत्यता मे शंका प्रकट की है। उसके अनुसार यदि पेडीमेण्ट का निर्माण पर्वत के अग्रिम मे पार्श्विक अपरदन द्वारा होता है तो पर्वतीय कटक के ढालू किनारों के सामने सामान्य सतह से ऊँची अवशिष्ट प्रस्तर घुण्डी (knobs) शेष नही रह सकती। किन्तु अनेक स्थानों पर ऐसी घुण्डियाँ देखी जाती हैं।

गिलबर्ट ने पेडीमेण्ट की रचना मे सामान्य अपरदन-चक्र का ही महत्त्वपूर्ण हाथ माना है। इसके मतानुसार मरुस्थलीय नदियो मे मलबे की अधिकता रहती है जिससे उनकी लम्बवत अपरदन की गति शिथिल हो जाती है। लम्बवत अपरदन की शिथिलता से पार्श्विक अपरदन की महत्ता बढ़ जाती है। इसके द्वारा चट्टाने कटकर चौरस हो जाती है और उन पर पक का निक्षेपण हो जाता है।

मैकेंजी के अनुसार चादरवत बाढ़ (sheet flood) पेडीमेण्ट की रचना होती है। चादरवत बाढ से आधार-तल मैदान बन जाते है। जिन भागो मे अपवाह प्रणाली निरन्तर तटो की ओर ढालू होती जाती है वहाँ उसका विकास सम्भव प्रतीत होता है।

कुछ भूगोलवेत्ताओ ने पहाड़ी ढालो का पृष्ठ भाग की ओर उत्तरोत्तर हटते जाना ही पेडीमेण्ट के निर्माण का कारण माना है।

शुष्क प्रदेशों का अपरदन-चक्र
(Cycle of Erosion in Arid Regions)

शुष्क प्रदेशों मे अपरदन-चक्र की क्रिया एक जटिल प्रक्रम (process) है। अतः इसे सामान्य अपरदन-चक्र (normal cycle of erosion) की भाँति सरलता से ग्रहण कर सकना सम्भव नहीं है। अपरदन-चक्र का प्रारम्भ सदैव किसी नवीन स्थलखण्ड (initial surface) से होता है। अत· यदि यह मान लिया जाय कि किसी भी मैदानी अथवा मरुस्थल के जीवन की शुरूआत एक निम्न रूपरेखा वाले धरातल (surface of low relief) से हुई है तो यह सम्भव है कि वह अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं से किंचित ही परिवर्तित हुआ है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में धरातल शैल-मलबे (rock debris) से ढका हुआ होगा। शैल-मलबे के सनिघर्षण और वायु द्वारा उसके अपवाहन से वह भाग एक चट्टानी मैदान (rock plain) मे बदल जायगा। स्थलखण्ड की प्रारम्भिक रूपरेखा से वायूढ समप्रायः मैदान (aeolian peneplain) तक का परिवर्तन धरातल की कुछ गहराई तक ही सीमित होता है। क्या वायु द्वारा किसी भी प्रदेश का बहुत अधिक निम्नतल तक अपरदन सम्भव हो सकता है, यह सन्देहास्पद है। मरुस्थलों में जल और वायु के प्रभाव के सापेक्षिक महत्त्व पर अभी बहुत अधिक मतभेद है। शुष्क प्रदेशों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम **डब्ल्यू० एम० डेविस** ने शुष्क अपरदन-चक्र की एक रूपरेखा प्रस्तुत की किन्तु उसने इस तथ्य को स्वीकार किया कि इस चक्र के अनुसार निर्मित भू-आकार व्यावहारिक रूप में मरुस्थलो में नहीं देखे जा सकते। उसके अपरदन-चक्र की सैद्धान्तिक रूपरेखा निम्न प्रकार है :

युवावस्था—पृथ्वी की सचलनों द्वारा उत्थापित किसी भी ऐसे भाग मे जो ऊँचा-नीचा हो, शुष्क अपरदन-चक्र का प्रारम्भ हो सकता है। जब प्रारम्भिक उत्थान होता है तो अनेक

स्वतन्त्र अन्तरा-पर्वतीय बेसिन बन जाते है। ये बेसिन चक्र की स्थापना के लिए आदर्श स्थलखण्ड होते है। ऐसे बेसिन संयुक्त राज्य अमरीका और एशिया में बहुत देखे जाते है। शुष्क चक्र के प्रारम्भ होने के लिए अन्तरा-पर्वतीय बेसिन प्रारम्भिक स्थलखण्ड (initial relief) का निर्माण करते है। प्रारम्भ मे इन बेसिनो मे केन्द्रानुवर्ती अपवाह प्रणाली (centripetal consequent drainage) की स्थापना होती है। बेसिनो के तल यहाँ की नदियों के लिए स्थानीय आधार-तल (local base level) का कार्य करते है। इस अवस्था मे प्रत्येक बेसिन एक-दूसरे से अलग होता है। अतः निकटवर्ती बेसिनों की अपवाह प्रणालियो के बीच कदाचित ही सम्बन्ध स्थापित हो पाता है। वस्तुतः वाष्पीकरण की अधिकता से धाराओ मे बहुत कम जल रहता है। कई धाराएँ बेसिनों से ढालों पर पहुँचते-पहुँचते लुप्त हो जाती है। बेसिन के उच्च भागो में छोटी आन्तरायिक धाराएँ खादरों और अवनालिकाओं की रचना कर देती है जो धीरे-धीरे वाहियो और केनियन मे परिणत हो जाती है। धाराएँ अपरदित शैल-मलबे को समुद्रों तक परिवहित नही कर पातीं और उसे निकट ही गर्तो (depressions) मे फैला देती है। फलस्वरूप ये गर्त रेतीले मैदान मे बदल जाते हैं और अन्ततः नमकीन प्लाया झीलों का रूप धारण कर लेते है। अपरदन के कारण उच्च भागों के ढाल क्रमशः पीछे खिसक जाते है जिससे उनके सामने संकीर्ण शैल-पद बने रह जाते है और ऊपरी धरातल धीरे-धीरे घिसकर नीचा हो जाता है। बेसिनो में धाराओ द्वारा बराबर कछारी मिट्टी का निक्षेप होता रहता है जिससे बेसिन भर जाते है। फलस्वरूप बेसिनों के तल ऊँचे उठ जाते है। कालान्तर मे नदियों की निक्षेप-क्रिया में भी बाधा पड़ने लगती है। ऐसी अवस्था मे वायु द्वारा अपवाहन धाराओं के निक्षेप कार्य मे अवश्य मदद करते है। धरातल की ऊँचाई-निचाई समाप्त हो जाने पर वायु नये गर्त बनाती है और बालुका-स्तूपों का विकास होने लगता है और वे बालू की प्रचुरता वाले भागों से हटने लगते है। यद्यपि यह सही है कि बड़े पैमाने पर अपवाहन होने पर उच्च प्रदेश और बेसिनों के तल एक समान हो जाये।
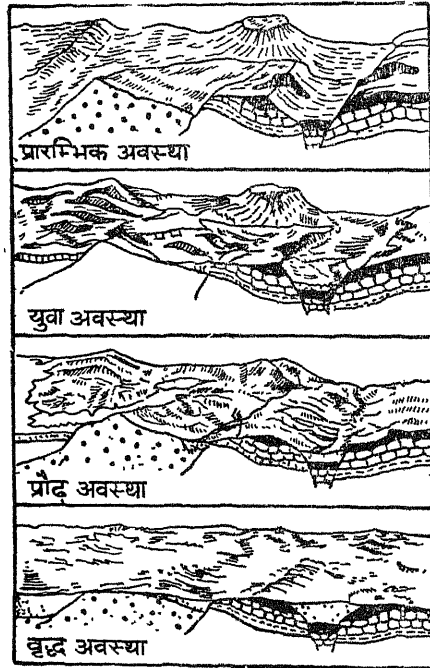
चित्र 346—शुष्क मरुस्थलीय प्रदेशों में अपरदन चक्र की अवस्थाएँ

प्रौढ़ावस्था—जब मरुस्थली बेसिन ऊपरी काट-छाँट के कारण भर जाते है तो अनुवर्ती नदियाँ अभिशीर्ष अपरदन करने लगती हैं जिससे बेसिनों को अलग करने वाले कुछ अवरोध नष्ट हो जाते है। इसके साथ ही नदी अपहरण की क्रिया सम्पन्न होती है। ऊँचे बेसिनों के निक्षेपों के अपरदन से उत्खात भू-दृश्य (bad land topography) का विकास होता है। इस क्रिया से उच्च बेसिनों के तल कटते जायेंगे और उनका जमा पदार्थ निम्न बेसिनों को स्थान्तरित होता जायगा। इस प्रकार कालान्तर मे एक अपवाह प्रणाली बन जायगी। यही प्रौढावस्था का चिह्न है। इस अवस्था में नदी-घाटियाँ चौड़ी होती जाती हैं और विस्तृत जलोढ़ पंखों की रचना होती है। विभिन्न जलोढ़ पंखों के सम्मिलन से **बाजदा** (Bajada) बन जाते हैं। इन पर कहीं-कहीं मीलों तक पंक की चादर बिछ जाती है। इनकी सतह आन्तरायिक धाराओं द्वारा कट कर विकृत हो जाती है।

ये धाराएँ उन्हीं में विलीन भी हो जाती है। कभी-कभी आकस्मिक बाढों द्वारा पंखो में गहरी घाटियाँ बन जाती है। इन्हे अमरीका में वाशेज (Washes) और सहारा व अरब में वादिज (Wadis) कहते है।

प्रौढ़ावस्था की प्रगति के साथ-साथ धरातल के उच्च भाग घिसकर नीचे होते जाते है। समस्त प्रदेश एक नितान्त ही चपटे मैदान मे बदल जाता है। इस पर कही-कही बजरी की फर्श बिछी हुई पायी जाती है। इसके विस्तृत भाग मे बालू और बालुका-स्तूप फैले रहते है। इसके साथ ही ज्यो ज्यों उच्च भागों का घिसाव होता जाता है उनके अवशिष्ट भाग शिखरिका व शैल-स्तम्भ आदि विस्तृत शैल-पदो से एकदम ऊपर उठे दृष्टिगोचर होते है।

वृद्धावस्था—जैसे-जैसे ढाल और वर्षा कम होते जाते है, जल का प्रभाव भी नष्ट होता जाता है। ऐसी अवस्था मे जल-धारा के स्थान पर वायु का प्रभाव सर्वोपरि हो जाता है। वायु के अपवाहन से बडी मात्रा मे धूल और बालू स्थान्तरित होकर दूर-दूर तक पहुँच जाती है। जहाँ पंक की तह पतली होती है वहाँ मिट्टी के कण बेसिन के किनारो की ओर हटा दिये जाने पर नीचे की चट्टाने बाहर दृष्टिगोचर होने लगती है। इस दशा मे वहाँ वायु छिछले गर्त बना देगी जो वहाँ की अपवाह प्रणाली मे गडबड़ उत्पन्न कर अन्त मे उसे छिन्न-भिन्न कर सकते है। यदि यह क्रिया बड़े परिमाण मे होती रहे तो उससे अनियमित 'पहाड़ी और गर्त' (hill and hollow) स्थलाकृति का विकास हो जायगा। अधिकाशतः ऐसे गर्त जल के साथ बहकर आये हुए अवसादों से भर जाते है। इस प्रकार मैदान के धरातल का वांछनीय चपटापन बना रहता है। इस अवस्था मे पर्वतीय शुष्क मैदान अथवा शैलपद (pediments) बन जाते है तथा हमादा और एर्ग मरुस्थलों का निर्माण होता है। राजस्थान का थार मरुस्थल इसी अवस्था मे है।

शुष्क प्रदेशो में अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्थाओ का कई स्थानों पर अवलोकन किया जा सकता है, किन्तु उनकी अन्तिम अवस्था और उसके प्रतीक मैदानो की उत्पत्ति और उनके वास्तविक लक्षणों के बारे में बडा सन्देह है। **पसार्ज** (Passarge) ने सन् 1904 में दक्षिणी अफ्रीका के शुष्क प्रदेशो का अध्ययन करते समय वहाँ विस्तृत रूप से फैले चौड़े-चपटे मैदान और उनके बीच जगह-जगह तीव्र ढाल वाली अवशिष्ट पहाड़ियाँ देखी। इन पहाड़ियों को जर्मन भाषा मे 'इन्जेल-बर्ग' (Inselberg) कहा जाता है। उसने इन स्थल-रूपों को शुष्क प्रदेशों में लम्बे समय से होते रहने वाले अपरदन का अन्तिम अथवा स्थायी आकार (limiting forms) माना है। ऐसा मानने का कारण उसका यह अनुमान है कि स्थान्तरण के कारण गहरे से गहरे प्रारम्भिक बेसिनो के तल से भी नीचा मैदान बनना चाहिए। ऐसा मैदान अन्तःअपवाह (inland drainage) क्षेत्र में स्थानीय आधार-तल से स्वतन्त्र होगा। शुष्क अवस्थाओ में यदि वहाँ अपघर्षण (corrasion) और अपवाहन की कोई निम्न सीमा हुई तो वह वहाँ के जल-तल द्वारा निर्धारित होगी। इस विचारधारा के आधार पर शुष्क प्रदेशो मे अपरदन-चक्र द्वारा उत्पन्न समतलप्राय मैदान का धरातल समुद्रतल से ऊँचा अथवा नीचा हो सकता है। यदि इनकी सामान्य समतलप्राय मैदान के रूप मे व्याख्या की जाय तो उनका वर्तमान रूप कई स्थानों पर यह प्रकट करता है कि बाद के समय में उनका तीव्रता से उन्मज्जन हुआ है। **पसार्ज** के इस विचार का **डब्ल्यू० एम० डेविस** ने विशेष समर्थन किया है।

पसार्ज ने बुचानालैण्ड और उसके प्रदेश में पाये जाने वाले जिन स्थल रूपों का वर्णन किया है, वैसे रूप अफ्रीका महाद्वीप में विस्तृत रूप से फैले हुए पाये जाते है। ऐसे रूप यूगाण्डा, मोजाम्बिक और नाइजीरिया में बड़ी मात्रा में देखे जा सकते हैं। **पसार्ज** ने इन स्थल-रूपो के निर्माण मे धूल व बालू के अपवाहन (deflation) पर विशेष बल दिया है, किन्तु बाद के लेखकों ने पसार्ज के उक्त विचार का समर्थन नही किया है। यद्यपि इसमे कोई सन्देह नही है कि हवा द्वारा धूल के उड़ा ले जाने और यदाकदा होने वाली कुछ वर्षा के द्वारा मरुस्थलों के स्थूल निक्षेपों

के ऊपर चपटे धरातल का निर्माण हो सकता है किन्तु अब यह प्रकट सत्य है कि ऐसे समतलप्राय मैदान प्रायः कठोर चट्टानों के बीच भी पाये गये है। अत: आजकल वाद-विवाद के केन्द्र-बिन्दु इन चट्टानी मैदानों की उत्पत्ति और इनसे सम्बन्धित 'इन्जेलबर्ग' है। यह कभी भी प्रामाणिकता के साथ स्पष्ट नही किया गया है कि साधारण धूल के प्रभाव से कठोर चट्टानो मे विस्तृत चपटे मैदानों की रचना हो सकती है और न यही बताया गया है कि 'इन्जेलबर्ग' के बनने का मूल कारण भी यही है। बाद के लेखको ने इस बारे में भिन्न मत दिये है। कुछ लोगों ने इन्हें परिवर्तित, शुष्क और आर्द्र अवस्थाओ मे होने वाले अपरदन का फल बताया है, किन्तु कुछ अन्य व्यक्तियो ने विशेषत. जर्मन भू-आकृतिविदों ने उन्हें मोनेडनोक की उपमा देकर आर्द्र अपरदन (humid erosion) के अवशिष्ट रूप बताये है।

अफ्रीका के भू-आकृति-विज्ञान (Geomorphology) के प्रसिद्ध विद्वान **एल० सी० किंग** ने हाल ही मे **पदस्थलीकरण-चक्र** (cycle of pediplanation) की अवधारणा प्रस्तुत की है। इस अवधारणा का लोगों ने डेविस की योजना से भी अधिक स्वागत किया है। इस अवधारणा के अनुसार उच्छिष्ट अवकाश (scrap retreat) एवं शैल-पद (pediment) बनने की प्रणाली के क्रियाशील रहने से चट्टानें अवतल (concave) रूप धारण कर लेती है। इनमे उत्थापन (aggradation) पर बहुत अधिक जोर नही दिया गया है, क्योंकि उत्थापन की क्रिया केवल कुछ विशिष्ट स्थानीय अथवा सरचना की अवस्थाओं मे ही महत्त्वपूर्ण होती है। यह माना गया कि युवावस्था मे नदी-अपरदन के फलस्वरूप समस्त धरातल तेज ढाल वाले खण्डो के क्रमों में बँट जायगा। इस प्रकार घाटी के किनारों पर जो तीव्र ढालो के विकास का प्रारम्भ होगा वे शैल-पदो को छोड़कर पीछे हट जायेगे। ये शैल-पद (pediment) पहले-पहल क्षेत्र मे बहुत सीमित होते है। किन्तु ज्यो-ज्यों उच्च भूमि का कटाव होता जाता है, शैल पदों का विस्तार बढता जाता है। प्रौढावस्था मे ये शैल-पद धरातलीय भू-दृश्य के प्रमुख भू-आकार होते है। पूर्व की उच्च भूमि इन्जेलबर्ग में परिणत हो जाती है। वृद्धावस्था मे धरातलीय भू-दृश्य का मुख्य रूप पदस्थलीय (pediplain) होता है। ये पदस्थलियाँ अनेक अवतल शैल-पदो (pediments) के मिलने से बनती है। इनके ऊपर दूर-दूर तक बिखरे हुए इन्जेलबर्ग और केसल कोप्जी (castle kopjes) पाये जाते है। यहाँ यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि पदस्थलीकरण चक्र की अन्तिम अवस्था प्राप्त हुए बिना धरातल की ऊँचाई मे विशेष कमी नहीं होने पाती।

ग्रेनाइट स्थलाकृति (Granite Topography)—ग्रेनाइट की रचना विभिन्न खनिजों के योग से होती है। इसका निर्माण करने वाले रवे प्राय. खुरदुरे होते है। इसमें सन्धियाँ भली प्रकार विकसित होती हैं। ग्रेनाइट की यही विशेषताएँ साधारणत. उसके भू-आकार को निर्धारित करती हैं।
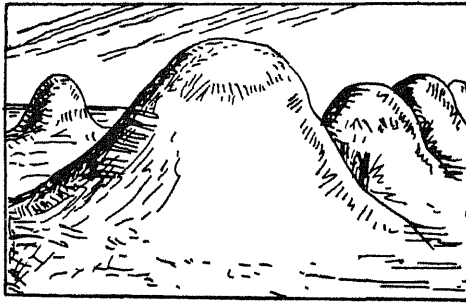
चित्र 347—**मरुस्थलों में ग्रेनाइट चट्टान के गुम्बदाकार टीले**

खुरदुरे दानों से निर्मित होने और उसमे सन्धियों तथा प्रसन्धियों के विकास के कारण ग्रेनाइट ऋतु-अपक्षय से शीघ्र प्रभावित होती है। चट्टान के बार-बार गरम और शीतल होने से वह टूट जाती है। उष्ण मरुस्थलों तथा शीतल जलवायु वाले भागों अथवा ऊँची पहाडी चोटियों पर जहाँ तापमान का अन्तर बहुत अधिक रहता है, ग्रेनाइट का शीघ्र क्षय होता है। आर्द्र भागों मे यह जलवायु के क्षय प्रभाव से बची रहती है। यद्यपि ग्रेनाइट विभिन्न

खनिजों से बनी होती है किन्तु वह एक समांग (homogenous) शैल की भाँति कार्य करती है। इस विशेषता के कारण ग्रेनाइट प्रदेशो मे गुम्बदाकार (dome-shaped) पहाड़ियों तथा गोल टीलों का निर्माण होता है तो ग्रेनाइट स्थलाकृति के अभिन्न अग है।

ग्रेनाइट के गुम्बदाकार रूप और गोल टीलों की रचना पहाड़ी चोटियो पर अधिक होती है। परन्तु पहाड़ी ढालों और घाटियो की तलहटियो मे भी इनका विकास देखा जाता है। इन रूपों का विकास धरातल पर बाहर निकली हुई चट्टानो की परतों के टूटने से होता है। सर्वप्रथम सन्धियों और प्रसन्धियो के किनारे ऋतु-अपक्षय द्वारा प्रभावित होते है और क्षय के कारण गोल बन जाते है। इनके गोल आकार ग्रहण करने पर चट्टान की अन्य भीतरी तह भी प्रभावित होती है जिससे वे फैल जाती है और धीरे-धीरे अलग होने लगती है। इससे बड़े-बड़े गुम्बदो का निर्माण होता है। इन गुम्बदो को चट्टान की परतो के अलग होने से बने गुम्बद (exfoliation dome) कहा जाता है।

गुम्बदो की रचना-विधि मे चट्टानो की परतों का टूटकर अलग होना (exfoliation) मुख्य है। यह क्रिया कई प्रकार से होती है :

(1) दैनिक तथा मौसमी तापान्तर के कारण धरातल की चट्टाने बार-बार फैलती और सिकुड़ती हैं। बार-बार फैलने और सिकुड़ने से चट्टानो के परत ढीले पड़ जाते है और अलग होने लगते है, जिससे गुम्बदाकार रूपों का विकास होता है।

(2) ग्रेनाइट चट्टान मे अभ्रक (mica), स्फटिक (quartz) तथा फेल्सपार (feldspar) खनिज मिले हुए होते है। फेल्सपार इनमें घुलनशील खनिज है। इस कारण जब चट्टान मे जल प्रविष्ट हो जाता है तो फेल्सपार के जलीकरण (hydration of feldspar) के कारण वह टूटने लग जाती है। टटने की क्रिया चट्टान के सभी भागो मे समान रूप से होती है, अतः उसकी आकृति गोलाकार हो जाती है।

(3) अन्य चट्टानो की तरह ग्रेनाइट में भी सन्धिया और प्रसन्धियाँ पायी जाती है। जब ये सन्धियाँ काफी चौड़ी हो जाती है तो इनके द्वारा जल चट्टान के भीतर पहुँचकर उसको तोड़ने मे सहायक होता है। इसी कारण ग्रेनाइट के बड़े-बड़े गोलाश्म (boulders) भी धीरे-धीरे टूटते है। प्रायः ये गोलाश्म अपने ही क्षय से बने बालू मे घुसे रहते है। कही-कही ये टीले खड़े दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण यह है कि चट्टानो के क्षय से जो रेत बनता है वह ढाल तथा जल प्रवाह के कारण बह जाता है और टीले अकेले खड़े रह जाते है।

अपदलन गुम्बद (exfoliation domes) विभिन्न जलवायु प्रदेशों मे देखे जाते है। सियरानेवदा के बर्फ से ठण्डे भागों, ब्राजील के उष्ण तथा आर्द्र पहाड़ी भागों और मिस्र तथा कालाहारी के गरम मरुस्थल आदि भागों मे इनका विकास पाया जाता है। इन सभी भागो में ग्रेनाइट नीस और ग्रेब्रो जैसी कठोर चट्टाने पायी जाती हैं। इन चट्टानों में मुख्य सन्धियाँ (master joints) इतनी अधिक पायी जाती है कि उसमें बड़े-बड़े शिलाखण्डों का निर्माण होता है। ये ही शिलाखण्ड गोलाकार बन जाते हैं या 'टार्स' (tors) अथवा खड़े ढाल वाले स्तम्भों मे बदल जाते हैं।

उष्ण तथा आर्द्र जलवायु वाले प्रदेशों मे खड़े ढाल वाले गुम्बदो की रचना होती है। ब्राजील में रियो डी जेनिरो के समीप ऐसे ही गुम्बद मिलते है। यहाँ इनकी ऊँचाई 1000 फुट से भी अधिक देखी जाती है। रियो बन्दरगाह पर झुकी हुई इस प्रकार की एक पहाड़ी को यहाँ **'सुगर लोफ'** (Sugar loaf) कहा जाता है। इससे बराबर महीन चट्टानी टुकड़े नीचे गिरा करते है।

दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, नाइजीरिया, मोजाम्बिक और कालाहारी मरुस्थल मे 'द्वीपाभगिरि' (inselbergs) का विकास पाया जाता है। द्वीपाभगिरि अपने आकार में गुम्बदों से भिन्न होते है। इनके किनारे एकदम खड़े होते है। इनका यह आकार क्षय-क्रिया का फल है। ऐसे आकार उष्ण तथा आर्द्र जलवायु वाले प्रदेशो मे ही मिलते है।

ऊँचे पर्वतीय भागों में गोल आकारो के विपरीत असम चोटियाँ (rugged peaks) ही मिलती हैं, क्योंकि तापमान के अन्तर तथा जल के प्रभाव से चट्टाने बराबर टूटती रहती है।

इस प्रकार ग्रेनाइट स्थलाकृति मे बड़े-बड़े स्थल-रूपो का अभाव रहता है। प्राय: गुम्बदाकार पहाड़ियाँ और गोल टीले ही चारों ओर बिखरे हुए पाये जाते है। ग्रेनाइट स्थलाकृति में सर्वत्र एकसा भू-दृश्य दृष्टिगोचर होता है। पहाड़ी ढालों तथा घाटियों में गोलाश्म (boulders) फैले हुए देखे जाते है। गुम्बदों के खड़े ढाल होने से सामान्यतः यहाँ मिट्टी का अभाव पाया जाता है। इसलिए गुम्बदों तथा ढालों पर कोई वनस्पति नहीं देखी जाती। तलहटियों में जहाँ चट्टान-चूर्ण आकर जमा होता रहता है और अधिक समय जल के संयोग में रहता है, मिट्टी पायी जाती है। यह मिट्टी रेतीली चिकनी (sandy clay) मिट्टी होती है। मिट्टी के कुछ अप्रवेश्य होने से यहाँ धरातल पर जल की अधिकता रहती है। सतह पर अनेक झरने (springs) और जल धाराएँ पायी जाती है। ऐसे ही स्थानों के निकट प्राय: जनसंख्या का जमाव पाया जाता है।

हमारे देश मे इस प्रकार के भू-दृश्य छोटा नागपुर के पठार, मध्यप्रदेश तथा दक्षिण के पठार के अनेक भागों में पाये जाते है।

बहुली चट्टानों की स्थलाकृति
(Sandstone Topography)

बालुका प्रस्तर (sandstone) एक प्रवेश्य चट्टान है। विखण्डन द्वारा यह कम प्रभावित होती है। शैल आदि चट्टानों की अपेक्षा इसमे क्षय से बचने की अधिक शक्ति होती है किन्तु इनकी यह शक्ति रवों के आकार, जोड़ने वाले पदार्थ और जोड़ों की उपस्थिति पर निर्भर रहती है। यदि इन्हे जोड़ने वाला पदार्थ (cementing material) सिलिका जैसा हुआ तो चट्टान मजबूत होती है पर यदि वह पदार्थ चूनेदार हुआ तो चट्टान कमजोर और रासायनिक क्षति से शीघ्र प्रभावित होने वाली होगी। इसी तरह चट्टान का निर्माण करने वाले रवों का आकार यदि मोटा हुआ तो तापमान के प्रभाव से यह शीघ्र प्रभावित होगी। रवों के अपघटन (decomposition) से चट्टान का शीघ्र ही क्षय हो जायगा।

साधारणतः बालुका-प्रस्तरो मे बड़ी-बड़ी पहाड़ियों और श्रेणियों की रचना होती है। विन्ध्याचल मे ऐसी पहाड़ियाँ और श्रेणियाँ देखी जा सकती हैं। परागम्य होने के कारण इन चट्टानी प्रदेशों में पृष्ठीय जल (surface water) की कमी हो जाती है। अधिकतर जल चट्टानों में नीचे भिद जाता है। इस कारण इन प्रदेशों मे नुकीली और लटकी हुई चोटियों का निर्माण होता है। पहाड़ियों में लगातार अवतल ढाल (concave slope) नही होता। यहाँ बहने वाली नदियाँ प्राय: संकीर्ण और गहरी घाटियों (gorges) का निर्माण करती हैं। शुष्क भागों में इन चट्टानों के खड़े जोड़ों पर अवशिष्ट स्तम्भों (residual pillars) की रचना होती है। जहाँ कहीं कायान्तरित बलुही चट्टानें मिलती है वहाँ खड़ी चोटियों और सपाट ढालों का विकास होता है, जैसा अरावली व राजगिरि की पहाड़ियों में देखा जाता है।

(क) **जलीय दाब-क्रिया** (Hydraulic Action)—समुद्र का जल कभी शुद्ध (Pure) नही होता। उसमे सदा कई प्रकार की अशुद्धियाँ (कंकड़, मिट्टी, रासायनिक पदार्थ आदि) मिली हुई रहती है। ये सब अशुद्धियाँ उसके क्षय-कार्य मे योग देती है। परन्तु जल के दबाव के रूप मे समुद्र शक्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। समुद्र-जल मे मिले हुए क्षय-पदार्थ जब तट-भूमि से टकराते है तो उनका प्रभाव ठीक हथौड़े की चोट के अनुरूप होता है। परिणामस्वरूप समुद्र-जल अन्त मे तट का भजन कर चट्टानों को नवीन रूप देने मे समर्थ होता है।

तट-भूमि के साथ जल क्रिया की तुलना किसी स्थान पर फेंके गये बम, और वायु की तुलना बम के विस्फोट से की जा सकती है। इस प्रकार तट-भूमि के साथ समुद्र जल की यह पूरी क्रिया दरारों अथवा संधों को चौड़ा करती है जिसमे अन्त मे तट-भूमि की चट्टाने खण्ड-खण्ड होकर चकना-चूर हो जाती है।

(ख) **संघर्षण क्रिया** (Corrosion Action)—जब समुद्री लहरों मे चट्टानों के टुकड़े मिले होते है तो वे तट-भूमि के खड़े ढाल पर जोर से फेंके जाते हैं। यही नही वे तट के अग्रभाग (fore shore) की चट्टानो के आरपार ज्वार द्वारा इधर-उधर भी हटते रहते है। इस क्रिया से तट-भूमि का बहुत सारा भाग कट जाता है।

(ग) **संनिघर्षण क्रिया** (Attrition Action)—जब समुद्र-जल मे मिले कंकड, पत्थर, बालू, बजरी आदि 'औजार' का कार्य करते है। ये स्वय आपस में बराबर टकराते रहने से घिस-पिटकर छोटे और महीन होते जाते है।

(घ) **चट्टानो की घुलाव क्रिया** (Corrosion Action)—समुद्र-जल की घोल अथवा रासायनिक क्रिया का प्रभाव चूने के पत्थरो से बने तटो के अतिरिक्त कही नही होता।

समुद्र का अपरदन-कार्य (Erosive Work of the Sea)

उपरोक्त विधियों से समुद्र का जल बराबर तट-भूमि को नष्ट करता रहता है। परन्तु तट-भूमि का कटाव अथवा तट-रेखा (coast line) का पीछे हटना निम्न बातो पर निर्भर करता है :

(1) लहरो की शक्ति (Strength of waves),
(2) तटीय शिलाओ की सरचना (Structure of rocks),
(3) तटीय शिलाओ की कठोरता (Hardness of rocks),
(4) तटीय शिलाओं का नमन (Dip of rocks),
(5) जलवायु का प्रभाव (Climatic influence),
(6) पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं का प्रभाव (Influence of plants and animals)।

(1) **लहरों की शक्ति** (Strength of Waves)—लहरों की शक्ति मुख्यतः उसके भार (load) तथा वातोर्मि क्षेत्र (fetch) पर आधारित होती है। लहरों के साथ मिले हुए रोड़े, बट्टड, बजरी, बालू एवं मिट्टी ही उसका भार होता है। लहरों में भार की मात्रा जितनी अधिक होती है उनकी शक्ति उतनी ही बढ़ जाती है। लहरों में भार की वृद्धि तटवर्ती खडी कगारों के गिरने, नदियों द्वारा प्रवाहित पदार्थो तथा स्वयं लहरों द्वारा तट-भूमि के कटाव से होती है। यह भार लहरों के साथ तट के ऊपर सतत रूप से आगे-पीछे परिवहन होता रहता है और तट के अपरदन में लहरों को अपूर्व योग देता है।

जल के उस विस्तार को जिस पर से होकर हवा बहती है, **वातोर्मि क्षेत्र** (fetch) कहते है। लहरों के आकार और उनकी शक्ति पर वातोर्मि क्षेत्र का गहरा प्रभाव होता है। हवा जितने अधिक विस्तृत जलक्षेत्र से होकर आती है वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली लहरो को जन्म देती है। एक छोटे वातोर्मि क्षेत्र से चलने वाली तीव्र हवा की अपेक्षा बडे वातोर्मि क्षेत्र से चलने वाली सामान्य प्रवाह की हवा अधिक शक्तिशाली लहरो को जन्म देने में सहायक होती है।

उपरोक्त बातों के अतिरिक्त ऋतु-परिवर्तन और हवाओं की प्रवाह दिशा एवं गति का भी इन पर गहरा प्रवाह होता है। इस प्रकार लहरो की शक्ति समय और स्थान तथा अन्य परिस्थितियो के अनुसार बदलती रहती है।

लहरो मे अपरदन की अपरिमित शक्ति होती है। लहरो की शक्ति का कुछ आभास निम्नाकित तथ्यों से हो जाता है। स्कॉटिश लाइट हाउस बोर्ड के मतानुसार अटलांटिक तट की लहरो का ग्रीष्मऋतु के पाँच महीनो में औसत दाब 611 पौण्ड प्रति वर्ग फुट रहता है। यही शक्ति शीतकाल के 6 महीना मे 2,086 पौण्ड हो जाती है। इसका सबसे अधिक दबाव 6 083 पौण्ड प्रति वर्ग फुट नापा गया है। पूर्वी-तट पर जल का प्रहार 6,000 पौण्ड से भी अधिक शक्तिशाली होता है। समुद्र की इन दीर्घकाय लहरो के तट से टकराने और फिर ऊंचाई से स्थल पर धड़ाम से गिरने से जल के दबाव का निम्न-तल पर कितना भयकर प्रहार होता होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। लहरों के इस भीषण प्रहार से तटवर्ती चट्टाने खण्ड-खण्ड ही नहीं वरन् कई स्थानो पर तट-भूमि मीलों समुद्र मे लीन हो जाती है। निश्चय ही इन शक्तिशाली तरंगों की चोटों का प्रभाव बड़ा अद्भुत होता है। सन् 1836 मे एक भीषण आंधी के वेग से उठने वाली लहरो ने फ्रांस के तट पर 20 फुट ऊँची दीवार के ऊपर से $3\frac{1}{2}$ टन भार वाले पत्थर बहा दिये थे। इसी प्रकार हार्लीहेड नामक बन्दरगाह के सामने हिलोरे रोकने वाली दीवार मे लगे हुए बड़े-बड़े पत्थरो को आँधी के वेग मे उठने वाली तरंगो ने बात की बात मे इधर-उधर छितरा दिया। स्काटलैण्ड के उत्तरी-पूर्वी छोर के विक नामक स्थान पर सागर जल के थपेड़ो से रक्षा करने के लिए बन्दरगाह के सामने ककरीट का एक विशाल स्तूप-सा बनाया गया था। इस स्तूप को स्थिर रखने के लिए बड़े भारी-भारी शिलाखण्डो को $3\frac{1}{2}$ इच मोटी लोहे की छड़ो मे बाँधकर लगर डाला गया था। सन् 1873 के दिसम्बर मास मे ककरीट का यह विशाल पिण्ड जिसका भार 1350 टन से अधिक था, सागर की लहरो द्वारा फूल की भाँति ऊपर उठाकर फेक दिया गया। उसके स्थान पर उससे भी अधिक भारी 2600 टन का पिण्ड रखा गया परन्तु वह भी सन् 1877 के एक तूफान की लहरों द्वारा बहा दिया गया। एक बार रोमन लोगों ने राइन नदी के मुहाने पर एक बडा भवन बनाया। सन् 1520 मे लहरे तट को काटती-काटती वहाँ तक आ पहुँची और सन् 1694 मे लहरों ने इस भवन को बिलकुल ही ध्वस कर दिया।

भीषण तूफान के दिनों मे समुद्र की लहरों में जिस दैवी-शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है उसके वेग को रोकने की सामर्थ्य थोड़ी ही वस्तुओ मे होती है। इन लहरो की पहुँच ज्वार की सर्वोच्च जल-रेखा के परे तक होना भी साधारण-सी बात है। स्कॉटलैण्ड के पश्चिमी तट पर एक बार तूफान से उत्पन्न लहरों ने एक प्रकाश-स्तम्भ से 14 टन के भार वाले पत्थर तोड़कर बहा दिये और सो भी उस स्थान से जो ज्वार के सर्वोच्च स्थान से 37 फुट अधिक ऊँचा था। इसी प्रकार इंगलिश चैनल के बिशप की चट्टान वाले प्रकाश स्तम्भ से 325 पौड का घण्टा सागर जल से 100 फुट ऊँचे स्थान से लहरो द्वारा तोड़कर बहा दिया गया। अन्यत्र इसी तरह भारी तूफान की लहरों से एक ऊँची दीवार ध्वस्त हो गयी और समुद्र-तल से 1176 फुट की ऊँचाई पर एक खिड़की लहर के वेग से टूटकर खुल गयी। उपरोक्त इन सभी उदाहरणो से लहरों की शक्ति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) **तटीय शिलाओं की बनावट** (Structure of Rocks)—तट-भूमि का कटाव चट्टानों की बनावट पर बहुत निर्भर करता है। यदि तट-भूमि पर सब कहीं एकसी चट्टानें बिछी होती हैं तो लहरो द्वारा चट्टानो का क्षय भी एक समान होता है। जैसे यदि तटवर्ती चट्टाने मुक्त या अबद्ध कणों (loose particles) से निर्मित हुईं तो लहरें स्वयं तट को काटने मे समर्थ होती है पर

यदि तट कठोर चट्टानो द्वारा निर्मित हुआ तो उस समय लहरो का कार्य अप्रत्यक्ष रूप से होता है। ऐसी अवस्था मे लहरो के साथ मिले कंकड़ आदि उछलकर किनारो से टकराते है और एक प्रकार से रेगमाल (sand paper) का काम करते हैं।

(3) **तटीय शिलाओं की कठोरता** (Hardness of Rocks)—कठोर चट्टानो की अपेक्षा कमजोर चट्टानों का क्षय बड़ी शीघ्रता से होता है। अतएव यदि किसी तट पर नरम तथा कठोर दोनो प्रकार की चट्टाने विद्यमान है तो तट की नरम चट्टाने शीघ्रता से कट जायेगी और कठोर चट्टानें समुद्र की ओर निकली रहेगी। इससे तट पर खाड़ियाँ बन जाती है। खाड़ियो का ज्यों-ज्यो भीतर की ओर विस्तार बढता जाता है, नरम चट्टानो पर लहरो का प्रभाव घटता जाता है और फिर कठोर चट्टानो पर लहरों का प्रहार होने लगता है। इस क्रिया से समयान्तर मे तट की कठोर से कठोर चट्टाने भी कट जाती है। आयरलैण्ड के पश्चिमी तट पर इस प्रकार का कटाव देखा जा सकता है।

(4) **तटीय शिलाओं का नमन** (Dip of Rocks)—तटवर्ती चट्टानो की रचना-विधि का क्षय-कार्य पर गहरा प्रभाव देखा जाता है। जैसे यदि तटवर्ती चट्टानो की अभिनति समुद्र की ओर तथा सन्धि स्थलो (joints) की दिशा भूमि की ओर हो तो चट्टानों के बड़े-बड़े टुकड़े सरलता से टूटकर तट से गिर पड़ेगे और इस प्रकार तट का अपरदन शीघ्रता से और बड़ी मात्रा मे होगा। परन्तु इसके विपरीत यदि शिलाओं का नमन स्थल की ओर तथा सन्धि-स्थलों की दिशा समुद्र की ओर हुई तो चट्टानो का क्षय बड़ी कठिनाई से होगा। शिलाओं के चटख जाने पर भी उनके टुकड़े सरलता से अलग नही हो पाते। ऐसी दशा में तट का अपरदन अपेक्षाकृत धीरे-धीरे और कठिनाई से होता है।
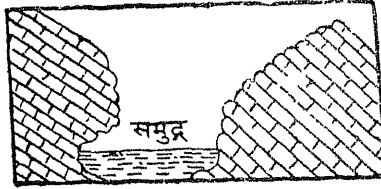
चित्र 348—तटीय-शिलाओं का नमन

(5) **जलवायु का प्रभाव** (Influence of Climate)—तट के अपरदन पर जलवायु भी बड़ा प्रभाव डालती है। जिन प्रदेशो मे वर्षा खूब होती है वहाँ लहरें तट को नीचे से काटती हैं और वर्षा का जल तट को ऊपर से काटता है। इस तरह तट का कटाव बड़ी शीघ्रता से होता है।

(6) **जीव-जन्तुओं और पेड़-पौधों का प्रभाव** (Influence of Animals and Plants)—कुछ समुद्री पेड़-पौधे और जीव-जन्तु भी शिलाओ मे छिद्र करके उन्हें कमजोर बना देते हैं। इससे लहरों को उन्हें काटने में आसानी हो जाती है।

(7) **लहरों के आक्रमण की दिशा**—जब लहरें तट पर सीधी आकर टकराती है तो तट-भूमि का क्षय सरलता से और अधिक होता है, परन्तु यदि लहरें तट पर तिरछी पहुँचती है तो उनका क्षयकारी प्रभाव कम होता है।

अपरदन कार्य

हम समुद्र की लहरों को तट पर आकर टकराते, और फिर नीचे से वापस जाते देख सकते हैं। इस नदी-तुल्य समुद्री प्रवाह का संहार-कार्य मे वैसा ही प्रभाव दिखाई पड़ सकता है जैसा पर्वतमालाओं में भीषण जल-स्रोतों या नदियों का। जिस प्रकार नदी की प्रक्रिया उसके जल के साथ बहने वाले रोड़ों, पत्थरों और बालू, कंकड़ों आदि के घर्षण से होती है उसी प्रकार सागर की लहरो के साथ आने वाले पत्थर, रोड़े आदि भी किनारो की चट्टानों पर आघात करने मे बड़ी सहायता पहुँचाते है। इनका काम ठीक वैसा ही होता है जैसा तोपों की गोलों की मार का किलों की दीवारों को नष्ट करने मे।

जब लहरें बराबर तट पर प्रहार करती रहती हैं तो शनैः-शनैः तट-भूमि कटती जाती है। इससे न केवल तट-रेखा पीछे हटती है, वरन् समुद्र में अनेक प्रकार के भू-आकार बन जाते हैं। समुद्री लहरों के अपरदन से बनने वाले कुछ विशेष भू-आकारों का विवरण नीचे दिया जा रहा है :
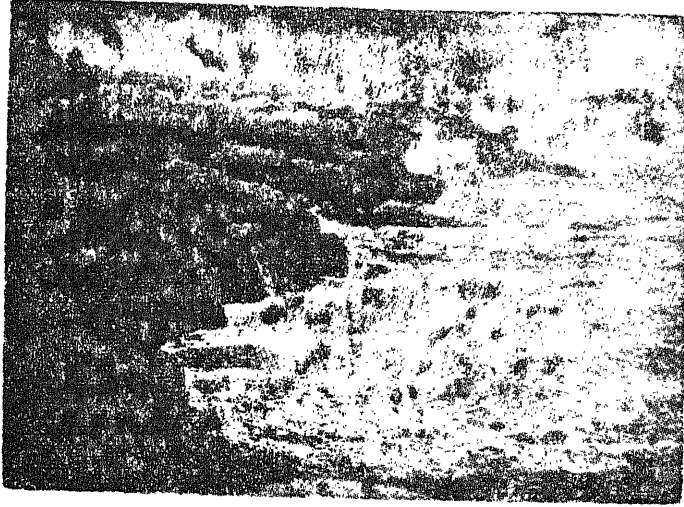
चित्र 349—**समुद्री लहरों द्वारा अपरदन**

भृगु (Cliff)—समुद्रतट पर लहरों के आक्रमण का सबसे अधिक आघात आधार वाली शिलाओं पर होता है। इस आघात के कारण शैलें अपने आधार से कट जाती हैं जिससे ऊपर का

चित्र 350—**तरंग-जनित भृगुएँ**

भाग धीरे-धीरे आगे बढ़कर लटकने लग जाता है। कालान्तर में यह आगे बढ़ा हुआ भाग अपने ही भार से टूटकर गिर जाता है। इससे तटों पर खड़े किनारों की रचना होती है, जिसको भृगु (cliff) कहा जाता है।

समुद्रतट के किसी भी स्थान पर भृगु का सही आकार शैलों की संरचना और उनकी प्रकृति, शैलों के स्तर और संधियों के क्रम तथा भ्रंश-स्तरों के निकट कमजोर स्थलों की उपस्थिति आदि कई बातों पर निर्भर करता है। प्राचीन लाल बलुआ पत्थर व ग्रेनाइट जैसी कठोर शैलें धीरे-धीरे घिसती हैं और बहुत ही खड़े ढाल की भृगु को जन्म देती हैं। किन्तु भृगु की रचना केवल कठोर शैलों के द्वारा ही नहीं होती। चाक जैसी शैलें भी उनकी रचना करती हैं। डोरसेट, पूर्वी केण्ट, वाइट द्वीप तथा ससेक्स के तटों पर चाक के द्वारा भृगुओं की रचना हुई है।

भृगु का आकार ऋतु-अपक्षय (weathe[illegible]ing) और सामुद्रिक अपरदन की सापेक्षिक गति पर भी निर्भर करता है।

यदि समुद्र की अपेक्षा ऋतु-अपक्षय प्रभावी होता है तो भृगु समुद्र की ओर ढालू होगी परन्तु यदि ऋतु-अपक्षय के विपरीत समुद्र अधिक तीव्रता से कटाव करता है तो भृगु समुद्र की ओर लटक जायेगी।

अन्त में, हमें यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सभी भृगुएँ समुद्री अपरदन का फल नहीं हैं। जिन क्षेत्रों में समुद्र तल परिवर्तित होता रहा है वहाँ भृगु केवल भूमि के तीव्र ढाल के रूप में विद्यमान हो सकती है। बाद में समुद्री अपरदन से इनकी आकृति में रूपान्तर हो सकता है। इसी प्रकार भ्रंशन के कारण भी शैलों का समुद्र की ओर खड़ा ढाल बन जाता है। स्कॉटलैण्ड में ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं।

खाड़ियाँ तथा समुद्राभिमुख कगारों का क्रम (Bays and Promontaries)

सामान्यतः कोमल चट्टानें कठोर चट्टानों की अपेक्षा बड़ी सरलता से कट जाती हैं। जब किसी तट पर कोमल तथा कठोर शैल-स्तर लम्ब रूप में साथ-साथ स्थित होते हैं तो समुद्र की लहरें कोमल शैलों को शीघ्रता से काट देती हैं, परन्तु कठोर शैलें बहुत कम घिसती हैं। फलस्वरूप कोमल शैलों में खाड़ियाँ (bays) बन जाती हैं और कठोर शैल-स्तर कगारों के रूप में समुद्र में आगे निकले हुए रह जाते हैं। इस प्रकार जो तट भिन्न प्रकार की चट्टानों से निर्मित होते हैं वहाँ खाड़ियों तथा समुद्राभिमुख कगारों का क्रम बन जाता है।

खाड़ियों के स्थल की ओर विस्तार की एक सीमा होती है, क्योंकि खाड़ियों में स्थित जल हवा के प्रभाव से मुक्त रहता है और उनके सिरों पर लहरें बहुत कमजोर होती हैं। खाड़ी जितनी अधिक गहरी होती है उसके सिरे पर पहुँचने वाली लहरें उतनी ही कमजोर होती हैं, जिससे अपरदन बहुत धीमा होता है। इसके अतिरिक्त इनके शान्त जल में बालू तथा बट्टड़ आदि पदार्थ एकत्र हो जाते हैं जो तट की रक्षा करते हैं। दक्षिणी-पश्चिमी आयरलैण्ड के तट पर स्थित खाड़ियाँ सम्भवतः इसी प्रकार बनी हैं। यहाँ कार्बोनिफेरस काल के चूने के पत्थरों के स्तर के सहारे खाड़ियाँ बन गयी हैं और प्राचीन लाल बलुआ पत्थरों के स्तर कगार रूप में स्थित हैं।

अण्डाकार कटान (Coves)—जब किसी समुद्रतट पर कोमल व कठोर शैलों की स्थिति तट के समान्तर होती है तो समुद्री लहरें सम्मुख पड़ने वाली कठोर शैलों की सन्धियों के मार्ग से भीतर घुस जाती हैं और वहाँ शनैः-शनैः कोमल शैलों का अपरदन करती हैं। इस प्रकार कोमल शैलों में खोखले स्थान बन जाते हैं। इन खोखले स्थानों का आकार अण्डे के समान होता है। अतः ऐसे कटान को **अण्डाकार कटान** (Cove) कहा जाता है। जब कभी समीपवर्ती अण्डाकार कटानों के मध्य की कोमल शैल घुलकर नष्ट हो

चित्र 351—अण्डाकार कटान

जाती है तो कठोर शैल छोटे-छोटे टापुओं के सदृश समुद्र मे खडे रह जाते है। इंगलैण्ड के दक्षिणी तट पर इस प्रकार की स्थलाकृतियाँ देखी जाती है।

समुद्रतटीय गुफाएँ (Sea Caves)—जब किसी कठोर तटीय कगार के निचले भागो में कोई कमजोर स्थल होता है तो समुद्री लहरे उस कमजोर स्थल को शीघ्र ही घिसकर खोखला बना देती है। लहरो के आक्रमण के समय उस खोखले स्थान के भीतर की वायु दब जाती है और लहरों के पीछे हटने से फैल जाती है। वायु के इस प्रकार बार-बार सिकुड़ने और फैलने से खोखला गड्ढा गहरा होता जाता है और कालान्तर मे एक गुहा का आकार ग्रहण कर लेता है। इन गुहाओं की रचना लहरो की शक्ति और तटीय शिलाओं की स्थिरता पर निर्भर करती है।

चित्र 352—समुद्री गुहाएँ

लहरो के अपरदन से समुद्रतटीय गुहा कटकर बहुत दूर स्थल की ओर चली जाती है। कालान्तर मे इन गुहाओं की छत टूटकर नष्ट हो जाती है और ये गुहाएं लम्बी सकीर्ण खाड़ियो का रूप ले लेती है। इस प्रकार की छतविहीन गुहाओं को स्कॉटलैण्ड तथा फेरो द्वीप के समुद्री तटों पर **ज्यो** (geo) कहा जाता है। यहाँ ज्यो का तात्पर्य छोटी खाड़ी (creek) से होता है।

धमि छिद्र (Blow Holes or Gloup)—जब समुद्रतटीय गुहाओ पर लहरों का आक्रमण होता है तो उस समय उनका द्वार जल भर जाने से बन्द हो जाता है। इस समय गुहा के भीतर की वायु बहुत ही सकुचित हो जाती है और बाहर निकलने का प्रयास करती है। गुहा के भीतर की यह वायु कभी-कभी गुहा की छत को फाडकर छिद्र बनाने मे सफल हो जाती है। ऐसे छिद्रो को धमि छिद्र (blow holes) कहते है। प्राय. ये छिद्र चट्टानो के भ्रश-स्तर या सँध पर बनते है। गुहा के भीतर वायु के सकोचन और दबाव के कारण चट्टानो के बड़े-बड़े टुकड़े उखड़कर गिर जाते है और छिद्र अधिकाधिक चौड़े हो जाते है। कभी-कभी ये छिद्र सैकड़ो फुट लम्बे होते है। ज्वार के समय इनमे लहरो द्वारा धकेली गई हवा सीटी बजाती हुई बाहर निकलती है और साथ ही पानी फव्वारे के रूप मे बाहर निकलता है। इसलिए इन छिद्रो को **उछलने वाले छिद्र** (spouting horns) भी कहते है। इगलैण्ड के वाइट द्वीप के निकट ऐसे दृश्य देखे जाते है।

मेहराब (Arch)—जब किसी तट पर तटीय-शैल का कुछ भाग समुद्र के भीतर फैला हुआ हो और उसके मध्य मे कोई निर्बल अश हो, तो लहरो के सतत प्रहार से उसका निर्बल अश कट जाता है और उस शैल के आर-पार छिद्र बन जाता है। कालान्तर मे ये छिद्र चौड़े होकर एक विशाल द्वार का रूप ले लेते हैं जिन्हें मेहराब कहते है। इंगलैण्ड के डन्कन्सबी के प्राचीन लावा बलुआ पत्थर में ऐसे मेहराब देखे जाते है।

अलग्न स्तम्भ (Stack and Skarnes)—समुद्र में बनी मेहराब की छत जब लहरों के अपरदन अथवा अन्य कारणवश टूटकर गिर जाती है तो मुख्य शैल से उसका एक अश अलग खड़ा रह जाता है। इसे **अलग्न स्तम्भ** अथवा **चिमनी** (Stack and Skarnies) कहते है। इन स्तम्भों के, शैलों की बनावट के अनुसार कई आकार होते है। कही-कही ये स्तम्भ टापू का रूप ले लेते है परन्तु ये स्थायी नही होते। वाइट द्वीप के पश्चिम में ऐसे भू-आकार मिलते है।

तरंग-घर्षित महावेदी (Wave Cut Platform)—समुद्री लहरे तटीय कगार पर जब निरन्तर प्रहार करती है तो उसके निचले भाग में कटान बन जाती है। धीरे-धीरे कटान बड़ी

होती है जिससे कगार का आधार नष्ट हो जाता है। अब कगार का ऊपरी भाग निराश्रित हो जाने से टूटकर गिर पड़ता है। लहरें इन टूटे हुए शिलाखण्डों को बहा ले जाती है। तट पर लहरों द्वारा इस प्रकार के अपरदन से महावेदी की रचना हो जाती है। इसे तरग-घर्षित महावेदी (wave cut platform or bench) कहते है।

चित्र 353—मेहराब

अपतटीय सोपान (Off-shore Benches or Terraces)—कभी-कभी समुद्रतट के उथले भागों पर लहरों द्वारा समान्तर कटाव होता रहता है। धीरे-धीरे यह कटाव बढता जाता है जिससे सीढ़ीनुमा कटाव हो जाता है। ऐसे कटाव को अपतटीय सोपान या वेदिका कहा जाता है।

सन्तुलित पार्श्विका
(The Profile of Equilibrium)

उपयुक्त परिस्थितियों मे मार्ग मे कुछ अवसाद तरंग-घर्षित महावेदी (wave cut platform) के आगे गहरे जल में एकत्र होता है जिससे पुलिन वेदिका (shoreface terrace) की रचना होती है। धीरे-धीरे इस पुलिन-वेदिका का विकास होता रहता है जिससे वह एक चौड़ी दीवार का रूप ग्रहण कर लेती है। इस दीवार का ऊपरी भाग महावेदी के समान ही समतल होता है। सभी परिस्थितियों मे समुद्रतट का तटीय एवं अपतटीय (off-shore) धरातल अपरदन और निक्षेप की सम्मिलित क्रियाओं का प्रतिफल होता है। अपरदन और निक्षेप दोनों ही क्रियाओ में स्थान और समय के अनुसार बड़ा विभेद देखा जाता है। उदाहरणतः, अवसाद (sediment) की प्राप्ति अपनी मात्रा और वितरण दोनों ही दृष्टियो से अनियमित होती है क्योंकि अवसाद की प्राप्ति, भृगु के क्षय, महावेदी के घर्षण तथा नदियों और धाराओं से होती है। किन्तु ये सभी साधन ऐसे हैं जिनसे अवसाद की प्राप्ति बराबर घटती-बढ़ती रहती है। अवसाद को हटाने की प्रक्रिया में भी बड़ी परिवर्तनशीलता देखी जाती है। यह प्रक्रिया प्रमुखतः तट के ढाल और समुद्र की ओर उसकी अविच्छिन्नता से प्रभावित होती है। अपेक्षाकृत तीव्र ढाल होने पर स्थल की ओर से अवसाद बड़ी शीघ्रता से हटते हैं जिससे ढाल मन्द पड़ जाता है। इसके विपरीत, मन्द ढाल होने पर स्थल की ओर पुलिन निक्षेप (beach deposition) होता है। परिणामस्वरूप ढाल तीव्र हो जाता है। इस प्रकार

समुद्रतटीय धरातल का सतत रूपान्तरण होता रहता है और यह रूपान्तरण कुछ इस प्रकार होता है कि प्रत्येक बिन्दु पर यह सही ढाल प्राप्त करता है जिससे कि आने वाले अवसाद की सम्प्राप्ति उसी शीघ्रता से हटायी जा सके जिस शीघ्रता से वह प्राप्त होती है। जब पार्श्विका (profile) का निर्धारण इस प्रकार हो जाता है कि वह सन्तुलन अवस्था को प्राप्त कर लेती है तो उस अवस्था को **सन्तुलित पार्श्विका** (profile of equilibrium) कहा जाता है। इस प्रकार अपरदन और निक्षेप दोनो की प्रवृत्ति समुद्रतट की सन्तुलित पार्श्विका को जन्म देने की होती है। इससे एक ऐसे ढाल की रचना होती है जहाँ अवसाद के जमाव की मात्रा उसके हटाये जाने की मात्रा से सन्तुलित रहती है। किन्तु इस प्रकार का सन्तुलन बहुत ही अस्थायी होता है और बड़ी सरलता से भग किया जा सकता है। उदाहरणतः, बहुत ही उच्च ज्वार और प्रचण्ड तूफान से सन्तुलन नष्ट हो जाता है परन्तु तूफान निकल जाने के उपरान्त पुन: सामान्य प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और सन्तुलन की दशा प्राप्त हो जाती है, जो तट के ऊपर उपलब्ध औसत अवस्थाओं का परिणाम है। वस्तुतः प्रत्येक प्रकार की अवस्थाओ के लिए एक उपयुक्त ढग की सन्तुलित पार्श्विका होती है। जिस प्रकार अवस्थाएँ बदलती है उसी प्रकार वास्तविक पार्श्विका में भी परिवर्तन होता रहता है।

सामुद्रिक परिवहन
(Marine Transportation)

लहरे (Waves)—सामुद्रिक परिवहन का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन लहरें है। तट के ऊपर नदियों तथा अन्य साधनो द्वारा जो पदार्थ जमा किया जाता है वह लहरों द्वारा परिवहित होता रहता है। तटों के ऊपर पदार्थो का यह परिवहन दो प्रकार से होता है.

(क) अपतटीय बहाव (Off shore Drifting)—जब तट के ऊपर लहरे सीधी पहुँचती है तो पदार्थ तट से दूर समुद्र की ओर परिवहित होता है। भग्नोर्मि (breakers) के साथ पदार्थ पुलिन (beach) के ऊपर पहुँचता है और प्रतिधावन (backwash) के साथ पुनः नीचे गहरे जल को चला आता है।

(ख) **प्रतितटीय बहाव** (Long-shore Drifting)—जब लहरें तट के ऊपर तिरछी होकर पहुँचती है तो तट के ऊपर पदार्थो का बहाव तट के साथ ही एक स्थान से दूसरे स्थान को होता है। लहरो के तिरछे पहुँचने पर लौटते समय पदार्थ लहरों के साथ सीधे नही बह पाते, क्योंकि पीछे से दूसरी लहरे तिरछी आकर टकराती हैं। अतः पदार्थ के बहने का मार्ग टेढा-मेढा हो जाता है। पदार्थो के इस प्रतितटीय बहाव मे ज्वार की लहरों अथवा भग्नोर्मि द्वारा अधिक योग प्राप्त होता है। इगलैण्ड के दक्षिणी-तट पर हवाएँ तथा लहरे दक्षिण-पश्चिम दिशा में पहुँचती है। अतः वहाँ पदार्थो का बहाव तट के सहारे पूर्व से पश्चिम को होता है। यह प्रतितटीय बहाव का उत्तम उदाहरण है।

धाराएँ (Currents)—लहरों के अतिरिक्त धाराएँ भी सामुद्रिक परिवहन का महत्त्वपूर्ण साधन है। जब तीव्र अधोधारा (undertow) का प्रवाह होता है तो वह बट्टड, बालू और पक को समुद्र की ओर बहा ले जाती है। इसी प्रकार प्रबल झंझा (strong gale) के समय पुलिन के ऊपर विशाल जलपुंज बहुत ही ऊँचाई तक जमा हो जाता है तो वह जलपुंज पुलिन से होकर पुनः लौटता है। परिणामस्वरूप तट का बडी मात्रा मे कटाव होता है। ज्वार-लहरें भी पदार्थ के बहाव का बड़ा प्रभावी साधन है। तटीय-धाराएँ (long shore currents) भी प्रायः महीन पदार्थों को तट के समानान्तर निम्न ज्वार-तल (low tied level) के नीचे तक परिवहित करती हैं।

हवा (Wind)—हवा भी परिवहन का एक उल्लेखनीय साधन है। खुले हुए तटों पर बड़ी मात्रा में बालू के क्षेत्र हवा से प्रभावित होते हैं। नीचे ज्वार (low tide) के समय जब हवा

प्रचण्ड रूप से बहती है तो वह अपने साथ पर्याप्त मात्रा में बालू को स्थल के भीतर परिवहित करती है।

सामुद्रिक निक्षेप
(Marine Deposition)

समुद्र के तटवर्ती भू-भाग से जो अपरदित पदार्थ प्राप्त होते है वे प्रायः समुद्र मे निक्षेपित होते है। इस निक्षेपण मे लहरो के साथ-साथ धाराएँ भी सहायता करती है। समुद्र मे लहरो का प्रभाव कम गहराई तक सीमित होता है। इसलिए भूमि से प्राप्त पदार्थ समुद्र मे गहराई तक नही पहुँच पाते। अधिकाश पदार्थ ज्वार की नीची जल-सीमा से परे नही पहुँच पाते। कभी-कभी बारीक पदार्थ ज्वार के नीचे जल मे दूर पहुँच जाते है, जिसमे मग्नतटो की रचना होती है।

समुद्र में पदार्थो का निक्षेपण क्रम मे होता है। पहले भारी शिलाखण्ड जमा होते है और बाद मे छोटे, अन्त मे बालू और मिट्टी रहती है। किन्तु लहरो के वेग मे अन्तर पड़ने पर कभी-कभी यह क्रम भग हो जाता है। समुद्र मे पदार्थों के निक्षेप के स्तर बिछते जाते है जो कालान्तर मे अवसादी शैलो का रूप ले लेते है।

सामान्यतः नदियो द्वारा बहाकर लाये गये पदार्थ और तट-भूमि के अपरदन से प्राप्त पदार्थ लहरो द्वारा समुद्र मे जमा किये जाते है, परन्तु सदा ही ऐसा नही होता। यदि कोई धारा तट से सटकर बहती है तो बालू, मिट्टी आदि पदार्थ तट के सहारे उसके साथ बहेंगे। इस प्रकार यद्यपि पदार्थ भूमि के एक भाग मे हटा दिये जाते है परन्तु वे भूमि के दूसरे भाग मे जमा कर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ इगलैण्ड के पूर्वी-तट पर समुद्र कई स्थानो पर भूमि की ओर आगे बढ़ रहा है परन्तु वाश (Wash) और रामनी मार्श (Romney Marsh) आदि स्थानो पर समुद्र मे भूमि का विस्तार हो रहा है। यहा भूमि का यह विस्तार कुछ अशो मे समुद्र के प्रभाव के फलस्वरूप ही हो रहा हैं। धाराओं द्वारा पदार्थों का तट के सहारे बहाव इगलैण्ड के पूर्वी और दक्षिणी तट पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

समुद्र मे लहरो और धाराओं द्वारा पदार्थों के निक्षेपण से अनेक आकृतियाँ बन जाती है। ये आकृतियाँ निक्षेप की स्थिति एव ज्वार-भाटा तथा लहरो और धाराओ की परिस्थितियों पर निर्भर करती है। निक्षेप की कुछ विशेष आकृतियो का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

चित्र 354—तरंग-जनित महावेदी

तरंग-जनित महावेदी (Wave-built Platform)—लहरे तटीय कगार एव तट के अपरदन से जो पदार्थ प्राप्त करती हैं उसका कुछ अंश समुद्र के भीतरी भाग का परिवहित हो जाता है और कुछ समुद्र के उथले तट पर इस निक्षेप से वेदिकाएँ बन जाती हैं। ये वेदिकाएँ प्रायः जलमग्न रहती है, परन्तु कभी-कभी ये जल की सतह के ऊपर भी निकल आती है। समुद्र मे बनी इस प्रकार की वेदिकाओं को **तरंग-जनित महावेदी कहते हैं।**

पुलिन कूट (Beach Ridges)—जिन पुलिन तटों पर निरन्तर पदार्थों का निक्षेपण होता रहता है वहाँ पुलिन कूटों की रचना हो जाती है। गिल्बर्ट के मतानुसार जब प्रवाहित बालू लहरों द्वारा पुलिन के समुद्राभिमुख भाग की ओर धकेल दी जाती है तो कूट की रचना हो जाती है, किन्तु ऐसा तूफान के समय ही होता है। ये कूट कहीं-कहीं पिछले गड्ढों द्वारा अलग कर दिये जाते है। इन गड्ढों को स्वेल्स (swales) कहा जाता है। जब प्रचुर मात्रा में पदार्थ उपलब्ध होता है तो पुलिन कूटे शीघ्रता से बढ़ती हैं। संलग्न भित्तियों के सिरो पर इसका विस्तार और भी तेजी से होता है। न्यूयार्क के निकट रोकवे पुलिन के सिर पर तेईस वर्ष की अवधि मे पाँच कूटे

बन गयी। फ्लोरिडा तथा डंगनेस जैसी चौड़ी पुलिनों पर प्राय कई कूटे देखी जाती हैं। ये कूटें एक सिरे से दूसरे सिरे तक लगभग 200 फुट की दूरी पर स्थित है।

पुलिन उभयाग्र (Beach Cusps)—जब पुलिन तट के सहारे लगभग समान दूरी पर बालू तथा अन्य अवसाद का त्रिकोण के रूप में निक्षेपण होता है तो उसे पुलिन उभयाग्र कहा जाता है। त्रिकोण निक्षेप का लम्बा शीर्ष समुद्र की ओर अभिमुख होता है। इनकी रचना लहरों द्वारा समुद्र की ओर प्रक्षिप्त स्थल के अपरदन तथा खाड़ियों मे निक्षेपण के कारण होती है। जब कभी तूफानी लहरें आती है, इनको यकायक भ्रष्ट कर पुनः एकसे ढाल वाले तट का निर्माण कर देती है।

पुलिन (Beaches)—लहरो द्वारा तट अपरदन से जो पदार्थ प्राप्त होता है वह अधिकांशत. तट के समीप ही हो जाता है। इस निक्षेप के फलस्वरूप तट के समीप का क्षेत्र उथला हो जाता है। जलमग्न तट का यह उथला क्षेत्र ही पुलिन (beach) कहलाता है। **मोन्कहाउस** के अनुसार वह क्षेत्र जो दीर्घ ज्वार की नीची जल-सीमा और तूफानी लहरों के उच्चतम बिन्दु के मध्य स्थित होता है और जिस पर पदार्थों का निक्षेपण होता है, पुलिन कहते है। इस पुलिन क्षेत्र पर ऊँची तूफानी लहरो के समय ही पानी पहुँच पाता है। पुलिन की रचना बालू, कंकड़ एवं पत्थरों से होती है। पुलिन पर एकत्रित पदार्थों का श्रेणीकरण होता है। भारी तथा मोटा पदार्थ तटीय कगारों के निकट रहता है। आगे कंकड एव बालू जैसे हल्के पदार्थ रहते है। पुलिन की आकृति प्रायः चन्द्राकार होती है। अधिक बालू तटो पर जहाँ अपरदन तीव्र होता है, पुलिन का अभाव देखा जाता है वहाँ भृगु के नीचे केवल रोड़े तथा बट्टड़ राशि एकत्रित रहती है। इसके विपरीत कम ढाल वाले तटो पर रेतीला क्षेत्र मिलता है जो बहुत ही मन्द रूप मे ढालू होता है। नीचे ज्वार के समय इस रेत का विशाल क्षेत्र पानी के बाहर निकल आता है, जैसा दक्षिणी-पश्चिमी लंकाशायर तट के सहारे मरकाम्बे खाड़ी के वहाँ देखा जाता है। चट्टानी तटों पर बनी खाड़ियों तथा कटानों के सिरो पर प्राय· रेत का एक छोटा चन्द्राकार रूप बन जाता है, इनको **संयमिका पुलिन** (bay head or pocket beaches) कहते है। इनकी रचना पीछे हटते हुए समुद्रतट पर होती है। संयुक्त राज्य अमरीका के न्यू-जर्सी तट पर ऐसी पुलिने देखी जाती है।

जब किसी निचले तटीय प्रदेश में पुलिन की रचना समुद्र तट के समान्तर होती है तो वह **रोधी-पुलिन** (barrier beach) कहलाती है। ऐसी पुलिनो की रचना जब केवल बालू से होती है तो उसे बालू की दीवार (sand wall) कहा जाता है। भारत के पश्चिमी तट पर बालू की ऐसी दीवारे मिलती है। जब कभी नदियों द्वारा समुद्रतट पर निक्षेप अधिक होता है तो रोधी पुलिने समुद्र की ओर आगे खिसक जाती है। ऐसी अवस्था में रोधी पुलिनों एवं तट के मध्य मे झीले बन जाती है जिन्हें अनूप (lagoon) कहा जाता है। रोधी पुलिन की रचना उसी अवस्था मे होती है जब पदार्थो का परिवहन तट के समान्तर होता है।
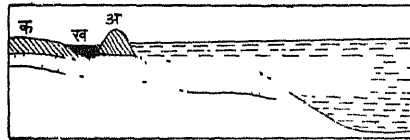
चित्र 355—**(ख) अनूप, (अ) अवरोधक पुलिन, (म) महाद्वीपीय सागर**

पुलिन तट एक अस्थायी रूप है। समुद्र की शक्तिशाली तरंगें कुछ ही घण्टों मे उनके आकार को भ्रष्ट कर देती है। यदि पुलिनो की वृद्धि निरन्तर होती रहे तो जलमग्न तट का विस्तार सकुचित होता जायगा।

अपतटीय बलुई भित्तियाँ (Offshore Bar)—जब लहरों द्वारा निर्मित बलुई भित्ति तट से दूर खुले समुद्र मे बनती है तो उसे अपतटीय बलुई भित्ति कहते है। सामान्यतः यह तट-रेखा

के समान्तर होती है। इसका ऊपरी भाग जल की सतह से ऊपर उठा हुआ रहता है। इसकी रचना के सम्बन्ध में विद्वानो में बड़ा मतभेद है किन्तु यह सर्वमान्य तथ्य है कि इनकी रचना लहरो के निक्षेपण द्वारा होती है। वैसे इनकी रचना अनेक कारणों की मिली-जुली प्रतिक्रिया का फल है। सम्भवत: तट के ऊपर लहरों की क्रिया, पुलिन पर लहरों की प्रतिधावन और तटों पर चलने वाली तटीय धाराएँ (long-shore currents) सब इसकी रचना मे योग देती है। कालान्तर में इन बलुई भित्तियो के पीछे दलदल (marshes), पंक क्षेत्र (mud flats) और अनूप (lagoons) आदि विकसित हो सकते हैं। कभी-कभी भित्ति लहरो के आक्रमण के कारण स्थल की ओर खिसक जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिण-पश्चिम में इसके उदाहरण मिलते हैं।

संलग्न भित्तियाँ (Spits)—जब लहरो द्वारा निर्मित भित्ति का एक सिरा स्थल से संलग्न रहता है और दूसरा समुद्र की ओर निकला होता है तो उसे सलग्न भित्ति (spit) कहा जाता है। यह बालू अथवा बट्टड़ दोनों में से किसी एक अथवा दोनो पदार्थों से बनती है। यदि इन भित्तियो का समुद्राभिमुख सिरा नुकीला होता है तो इन्हे शिखर (cusp) कहते है। हैम्पशायर तट पर हर्स्टकैसल संलग्न भित्ति अपनी अद्भुत आकृति के कारण संलग्न भित्ति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है।

चित्र 356—संलग्न भित्ति और बालू पुलिन

संयोजक रोधिका या अर्गला (Connecting Bar or Tombolo)—जब कभी लहरों द्वारा ऐसी संलग्न भित्तियों का निर्माण होता है जो तटवर्ती छोटे-छोटे द्वीपो के परस्पर हों अथवा किसी द्वीप को मुख्य स्थल से जोड़ती हों तो उन्हें संयोजक रोधिका (connecting bar) कहा जाता है। इटली में ऐसी भित्तियों को **संयोजक अर्गला** (tombolo) कहते है।

चित्र 357—संयोजक अर्गला तथा अनूप
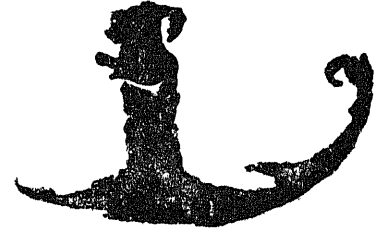
चित्र 358—अंकुश

अंकुश (Hook)—जब किसी संलग्न भित्ति का एक सिरा टेढ़ा हो जाता है तो उसे अंकुश (hook) कहा जाता है। कभी-कभी एक ही संलग्न भित्ति में कई टेढ़े सिरे बन जाते हैं। ऐसे अंकुश बहुमुखी अंकुश (compound hook) कहलाते है। अंकुश के निर्माण में तिरछी लहरों का विशेष महत्त्व है। इंगलैण्ड में हम्बर नदी के मुहाने से कुछ दूर स्पर्नहेड के समीप अंकुश के सुन्दर रूप देखे जा सकते हैं।

धन्वाकार रोधिका (Looped Bar)—जब किसी संलग्न भित्ति का समुद्राभिमुख सिरा मुड़कर संयोजक रोधिका का रूप ग्रहण करते-करते पुन: स्थल से आ मिले तो उसे धन्वाकार रोधिका कहते है। कभी-कभी जब किसी द्वीप के चारों ओर संलग्न भित्ति का निर्माण हो जाता है, तो वह धन्वाकार रोधिका बन जाती है।

खाड़ी रोधिका (Bay Bar)—यदि किसी संलग्न-भित्ति की लम्बाई मे विकास होता रहे तो वह अन्त मे खाड़ी के दोनों सिरो को जोड़ देती है जिससे खाड़ी-रोधिका (bay bar) बन जाती है। प्रायः भूमि और रोधिका के बीच अनूप तथा दलदल स्थापित हो जाते है। डिंगल की खाड़ी (Dingle Bay) के समीप ऐसी ही रोधिका पायी जाती है।

उभयाग्र रोधिका एवं डंगनेस (Cuspate Bar and Forelands)—सामान्यत. दो संलग्न भित्तियों के परस्पर मिल जाने पर जो रोधिका बन जाती है उसे उभयाग्र रोधिका (cuspate bar) कहा जाता है। इसी प्रकार जब दो संलग्न भित्तियो का एकसमान अभिसरण होता है तो उसे **उभयाग्र अग्र प्रदेश** (cuspate foreland) कहा जाता है। इन्हें डंगनेस (dungness) के नाम से भी पुकारते हैं। फ्लोरिडा के तट पर इसके सुन्दर उदाहरण देखने को मिलते हैं।
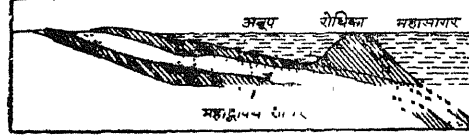
चित्र 359—अनूप, रोधिका एवं महाद्वीपीय सागर

32

अपरदन चक्र की संकल्पना

(THE CONCEPT OF CYCLE OF EROSION)

अपरदन चक्र की संकल्पना का प्रमुख प्रणेता स्कॉटिश भू-विज्ञानवेत्ता **जेम्स हटन** था। सन् 1785 में अपने भू-वैज्ञानिक निरीक्षणों के समय उसका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उसने विभिन्न क्षेत्रों मे अपरदन के कार्यों को देखकर कहा कि 'There is no vestige of a beginning; no prospect of an end.' अर्थात् 'न तो आदि का कोई लक्षण है और न अन्त की कोई आशा।' उसका यही विचार अन्त मे अपरदन चक्र की सकल्पना मे परिणत हुआ। 19वी शताब्दी मे प्रसिद्ध अमरीकी भूगोलवेत्ता विलियम मोरिस डेविस ने अपरदन चक्र की धारणा को विधिवत प्रस्तुत किया। डेविस की मान्यता है कि धरातल पर किसी भी दृश्य भूमि (landscape) का निर्माण तथा उसका विकास यकायक ही नही हो जाता। यह विकास एक विशेष प्रक्रम (process) द्वारा कई अवस्थाओ (stages) मे होकर एक चक्र रूप में सम्पन्न होता है। अपने विचार को स्पष्ट करते हुए उसने बताया कि पृथ्वी पर आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार की शक्तियाँ कार्य करती हैं। आन्तरिक शक्तियो मे ज्वालामुखी, भूकम्प तथा पटल विरूपण की शक्तियां आती है जो धरातल पर विषमता उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दो में, इनके द्वारा धरातल पर पर्वत, पठार, मैदान, झीलों व समुद्र आदि का निर्माण होता है। बाह्य शक्तियों मे, अपक्षय तथा अपरदन के सभी साधन (सूर्य, पाला, वर्षा, नदी, हिमनदी, पवन, भूमिगत जल तथा समुद्री लहरें आदि) आते है जो आन्तरिक शक्तियों द्वारा उत्पन्न धरातल की विषमताओ को मिटाने का कार्य करती है। इसीलिए इनको समतल स्थापक शक्तियाँ (forces of gradation) कहा जाता है। इन शक्तियों के वशीभूत धरातल का कोई भी ऊँचा उठा हुआ स्थल खण्ड कट-क्टाकर समतल प्रायः हो जाता है। किन्तु समतल होने की क्रिया कई अवस्थाओ (तरुण, प्रौढ़ तथा जीर्ण) मे सम्पूर्ण होती है। इस प्रकार **उस अवधि तथा विभिन्न अवस्थाओं के सम्मिलित रूप को, जिससे होकर एक ऊँचा उठा हुआ स्थल खण्ड अपसम और अपरदन द्वारा समतल रूप में बदल जाता है, अपरदन चक्र कहते हैं।** डेविस ने इस अपरदन चक्र को भौगोलिक चक्र (geographical cycle) भी कहा है। उसने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि **भौगोलिक चक्र समय की वह अवधि है जिसके अन्दर एक उत्थित स्थल-खण्ड अपरदन की प्रक्रिया द्वारा एक आकृतिहीन नीचे समतल मैदान में बदल जाता है।** सामान्यत: विद्वानों ने डेविस के अपरदन चक्र को स्वीकार किया है, किन्तु **वोरसेस्टर** (P. G. Worcester) आदि कई विद्वान डेविस के भौगोलिक चक्र को केवल अपरदन चक्र कहना ही अधिक युक्तिसंगत **मानते है। वोरसेस्टर** ने अपरदन चक्र की परिभाषा निम्न प्रकार दी है : "The cycle of erosion is the time required for streams to reduce newly formed landmass to base

level." अर्थात अपरदन चक्र एक समय है जिसके अन्तर्गत नदियाँ एक नवीन उत्थित स्थलखण्ड को काटकर आधार तल को पहुँचा देती है।

यहाँ अपरदन चक्र (cycle of erosion) तथा भू-आकृतिक चक्र (geomorphic cycle) के बीच के अन्तर को स्पष्ट समझ लेना समीचीन होगा। ऊपर जैसा बताया गया है कि अपरदन चक्र एक अवधि है लेकिन उस अवधि मे उत्पन्न दृश्य-भूमि (landscape) भू-आकृतिक चक्र का प्रतिफल होती है। इस प्रकार वोरसेस्टर के शब्दों मे Geomorphic cycle is the topography developed during the various stages of cycle of erosion. अर्थात भू-आकृतिक चक्र से आशय उस स्थलाकृति से है जो अपरदन चक्र के दौरान विभिन्न अवस्थाओं में विकसित होती है। डेविस ने तो दृश्य-भूमि के विकास मे अनेक उपकरणो का उल्लेख कर उनकी विशद विवेचना भी प्रस्तुत की है। डेविस ने अपने भौगोलिक चक्र की व्याख्या पर यह स्पष्ट कर दिया है कि अपरदन चक्र की समाप्ति पर चट्टानों की संरचना के साथ-साथ अपदरन के साधनो (agents of erosion) की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस प्रकार अपरदन चक्र का स्वभाव उसमे भाग लेने वाले प्रक्रम (process) अर्थात अपरदन के साधनो—नदी, हिमानी, भूमिगत जल, पवन तथा समुद्री लहरों—के अनुरूप निर्धारित होता है। अपरदन चक्र भिन्न-भिन्न प्रक्रमों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इस आधार पर अपरदन चक्रों के कई भेद किये गये है, जैसे (1) अपरदन का सामान्य चक्र (Normal cycle of erosion or River cycle of erosion), (2) पवन अपरदन चक्र (Wind cycle of erosion), (3) हिम अपरदन चक्र (Glacial cycle of erosion), (4) समुद्री तरंग अपरदन चक्र (Wave cycle of erosion) आदि। उपर्युक्त अपरदन चक्रों के अनुसार भू-आकृतिक चक्र भी भिन्न-भिन्न होते है। डेविस ने प्राय. सभी प्रक्रमो द्वारा भौगोलिक चक्र तथा भू-आकृतिक चक्र का वर्णन किया है और साथ ही भौगोलिक चक्र तथा भू-आकृतिक चक्र के सिद्धान्त को सभी प्रकार की दृश्य-भूमि के विकास के लिए लागू किया है। किन्तु अनेक विद्वान डेविस के इस मत से सहमत है।

डेविस ने सन् 1899 मे अपने भौगोलिक चक्र की संकल्पना को प्रतिपादित किया। तब से इस संकल्पना का महत्त्व बराबर बना हुआ है। यद्यपि कई विद्वानों ने इसकी आलोचना की है और चक्र शब्द को भ्रामक बताया है किन्तु अपरदन चक्र की मूल धारणा से सभी सहमत है। फलस्वरूप डेविस के बाद प्रायः सभी प्रक्रमों (अपरदन के कारक, नदी, हिम नदी, भूमिगत जल, पवन तथा समुद्री लहरो) के साथ चक्रीय पद्धति को जोड़ कर अध्ययन किया जाने लगा। डेविस ने सन् 1905 मे **'शुष्क अपरदन चक्र'** (arid cycle of erosion) के विचार को रखा। उसके बाद बीदी ने 1911 में, स्वीजिक ने 1918 में तथा सैण्डर्स ने 1921 मे 'कार्स्ट अपरदन चक्र' की धारणा को प्रस्तुत किया। इसके बाद अन्य कई विद्वानों ने 'हिमानी अपरदन चक्र', 'परिहिमानी अपरदन चक्र' तथा 'सागरीय अपरदन चक्र' की संकल्पनाओं को प्रतिपादित किया।

सी० एच० क्रीकमे ने सन् 1933 में डेविस के अपरदन चक्र मे संशोधन कर डेविस के 'पेनीप्लनेशन' के स्थान पर 'पानप्लनेशन' को उचित बताया। कई अन्य विद्वानों ने जब भूपटल के कुछ भागों में निर्मित स्थल रूपो को स्पष्ट करने के लिए डेविस के भौगोलिक चक्र को अपर्याप्त पाया तो उन्होंने नवीन चक्रों का प्रतिपादन कर डाला। उदाहरणतः सन् 1948 मे **एल० सी० किंग** ने अफ्रीका के शुष्क तथा सवाना प्रदेशों के स्थल रूपों के विकास को स्पष्ट करने के लिए 'पेडीप्लनेशन चक्र' को प्रस्तुत किया। सन् 1950 में **पेल्टियर** नामक विद्वान ने परिहिमानी क्षेत्रो में कॉजेली फैक्शन तथा कांजेलीटर्वेशन के प्रक्रमों द्वारा **'परिहिमानी अपरदन चक्र'** (periglacial cycle of erosion) का विचार प्रस्तुत किया। सन् 1966 में **पक** तथा **टामस** ने अफ्रीका के शुष्क तथा अर्ध शुष्क सवाना प्रदेशों में भू-आकृतियो के विकास के लिए 'सवाना अपरदन चक्र' की नवीन

संकल्पना को जन्म दिया। डेविस के अपरदन चक्र को स्ट्रावर (1952), हैक (1960) तथा शोर्ले (1962) ने भ्रामक बताया और कहा है कि 'जब तक अपरदनात्मक तथा निक्षेपात्मक क्रियाओं को नियन्त्रित करने वाले कारको मे कोई परिवर्तन नही होता, तब तक स्थल रूपो में समय के अनुसार कोई नया परिवर्तन नहीं होता।' इस प्रकार इन लोगो ने डेविस के अपरदन चक्र का खण्डन कर उसके स्थान पर 'गतिक सन्तुलन सिद्धान्त' (Dynamic Equilibrium Theory) को प्रस्तुत किया।

उत्थान एवं अपरदन चक्र
(Upliftment and Cycle of Erosion)

यद्यपि इस बात से सभी सहमत है कि दृश्य-भूमि (Landscape or Landform of Topography) का विकास अपरदन का परिणाम है और अपरदन चक्र का प्रारम्भ किसी भी स्थलखण्ड के उत्थान के साथ होता है, किन्तु मतभेद इस बात पर है कि उत्थान और अपरदन के बीच वास्तविक सम्बन्ध क्या है? क्या उत्थान और अपरदन साथ-साथ चलते है या उत्थान के बाद अपरदन प्रारम्भ होता है? क्या उत्थान और अपरदन चक्र की समाप्ति तक चलता रहता है या उत्थान पहले ही समाप्त हो जाता है? इस प्रकार उत्थान और अपरदन के बीच अनेक सम्भावनाएँ हो सकती है। इस सम्बन्ध मे अलग-अलग विद्वानो के अलग-अलग विचार है। डेविस की मान्यता है कि जब स्थलखण्ड का उत्थान पूर्णतया समाप्त हो जाता है उसके बाद ही अपरदन शुरू होता है। इसके विपरीत **वाल्टर पेंक** की धारणा है कि स्थलखण्ड का उत्थान और उसका अपरदन साथ-साथ प्रारम्भ होते हैं और कुछ समय उपरान्त उत्थान समाप्त हो जाता है और अन्त मे केवल अपरदन ही सक्रिय रहता है। स्थलखण्ड के उत्थान और अपरदन के मध्य उपर्युक्त दोनो संयोगो के आधार पर डेविस तथा पेंक की भौगोलिक चक्र की विचारधाराओं का विस्तृत विवेचन आगे किया जा रहा है।

डेविस का भौगोलिक चक्र
(Concept of W. M. Davis on Geographic Cycle of Erosion)

सामान्य परिचय—भूगोल में अपरदन चक्र की धारणा **डेविस** की एक महान देन है। डेविस ने सर्वप्रथम 1899 में अपरदन चक्र की धारणा को प्रस्तुत करते हुए कहा कि भूपटल पर किसी भी स्थल रूप (landform) का आविर्भाव अचानक ही नहीं हो जाता अपितु वह विकास की अनेक अवस्थाओं—युवावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा जीर्णावस्था—से होकर गुजरता है। संक्षेप मे प्रत्येक स्थल रूप का अन्तिम स्वरूप अपरदन के चक्रीय रूप का प्रतिफल होता है। अर्थात जहाँ से अपरदन प्रारम्भ होता है, एक नियत समय के बाद वहीं पर समाप्त हो जाता है। डेविस के अनुसार अपरदन चक्र समय की एक अवधि है जिसके अन्तर्गत एक उत्थित स्थलखण्ड अपरदन के प्रक्रम द्वारा अपरदित होकर, एक आकृतिविहीन समतल मैदान में बदल जाता है। "The cycle of erosion is a period of time during which an uplifted landmass undergoes its transformation by process of land sculpture ending in low featureless plain."

अपरदन के चक्र में भू-पटल पर विभिन्न प्रकार की दृश्य भूमियों (landscapes) का विकास होता है। इन दृश्य भूमियों के विकास मे चक्रीय पद्धति का प्रयोग डेविस की संकल्पना का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। डेविस के अनुसार कोई भी 'दृश्य-भूमि संरचना, प्रक्रम और अवस्था का परिणाम होती है'—"A landscape is a function of structure, process and stage." दृश्य-भूमि के विकास में इन तीनों तत्त्वों के महत्त्व का यहाँ थोड़ा विश्लेषण कर देना समीचीन होगा।

संरचना (Structure)—सरचना से अर्थ यहाँ भू-पटल पर दिखाई पड़ने वाले स्थल-रूपों से नही है, अपितु संरचना से तात्पर्य एक प्रदेश की कुल भू-तात्विक रचना से है, अतः किसी भी स्थान की संरचना में विभिन्न खनिजों एवं रासायनिक मूल तत्त्वों का योग ही प्रभावशाली होता है अर्थात किसी स्थान की चट्टानें ठोस पिण्डवत है अथवा अवसादी, सरन्ध्र हैं अथवा अरन्ध्र, कठोर

हैं अथवा मुलायम। इस प्रकार किसी स्थान की संरचना भौतिक अथवा रासायनिक किसी भी प्रतिक्रिया का फल हो सकती है।

यदि हम किसी प्रदेश और उसमे विकसित दृश्य-भूमि का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो पहले हमे उस प्रदेश की सरचना को स्पष्ट समझना होगा। यदि कोई प्रदेश सरचना की दृष्टि से एक इकाई है तो उसका एक या दो शब्दों मे ज्ञान कराया जा सकता है, जैसे मैदान, पठार, अवरोधी पर्वत, गुम्बदाकार पर्वत, वलित पर्वत व ज्वालामुखी आदि। इन शब्दों द्वारा संरचना का न केवल विवरण ही ज्ञात होता है, अपितु इनसे संरचना की व्याख्या प्राप्त हो जाती है।[1]

किसी स्थान पर इस संरचना का महत्त्व ही सर्वोपरि होता है, क्योंकि सरचना का प्रभाव वहाँ के अन्य सभी भू-आकारो पर होता है। वस्तुतः सरचना का निर्माण प्रथम क्रिया है और भू-आकारों का निर्माण बाद की घटना है।[2] इस प्रकार कही पर भी सरचना का निर्माण पहले हो चुका होता है अथवा पटल-विरूपण द्वारा वह धीरे-धीरे भी हो सकता है। किन्तु भू-आकारों का विकास बाद में ही होता है। फलस्वरूप भू-आकारो के निर्माण मे सरचना की अमिट छाप रहती है। जैसा कि **थार्नबरी** ने कहा है, "Geologic structure is a dominant control factor in the evolution of landforms."[3]

यद्यपि भू-आकारो के विकास मे संरचना का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है किन्तु कहीं-कही पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि वहाँ भू-आकारो के विकास मे संरचना का कोई स्थान नही है। वस्तुत सरचना का कार्य तो चल रहा होता है परन्तु हम उसके प्रभाव को देखने में असफल रहते हैं।

प्रक्रम (Process)—दृश्य-भूमि के विकास मे जहाँ संरचना की स्पष्ट छाप होती है वहाँ प्रक्रम का भी कम प्रभाव नही होता। स्थल की मूल आकृति को बदलने मे प्रक्रम का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। अतः किसी भी प्रदेश में दृश्य-भूमि का विकास प्रक्रम का फल है। **प्रो० थार्नबरी** के शब्दों में भू-आकृतिक प्रक्रम स्थलरूपो पर अपनी अमिट छाप छोड़ते है तथा प्रत्येक भू-आकृतिक प्रक्रम स्वयं का स्थल रूपो का विशिष्ट समुदाय विकसित करता है। ("Geomorphic process leave their distinctive imprints upon landforms and each geomorphic process develops its own characteristic assemblage of landform.") प्रक्रिया निर्माणकारी अथवा विध्वंसकारी कैसी भी हो सकती है। किन्तु प्रत्येक प्रकार के प्रक्रम का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। अतः जिस प्रदेश में जो प्रक्रम कार्यशील होता है वहाँ दृश्य-भूमि का विकास उसी के अनुरूप होता है। जैसे यू-आकार की घाटियाँ हिमानियों द्वारा और बाढ के मैदान की रचना नदियों द्वारा ही होती है। यह सम्भव है कि कही पर केवल एक ही प्रक्रम सक्रिय हो। ऐसी दशा मे प्रक्रम का निर्णय करना बहुत ही सहज होता है और एक शब्द-मात्र से समस्त प्रक्रम का कार्य समझ में आ जाता है। उदाहरणतः हिम-प्रभावित (glaciated), वायु द्वारा अपरदित (wind eroded), लहर द्वारा निर्मित (wave-cut) तथा नदी द्वारा अपक्षयित (river dissected) आदि। कहीं-कहीं पर निर्माणकारी एव विध्वंसकारी दोनों ही प्रकार के प्रक्रम साथ-साथ कार्य कर सकते है। इस प्रकार दृश्य-भूमि का विकास दोनों के सम्मिलित प्रभाव से भी हो सकता है।

प्रक्रम स्थलाकृति के निर्माण का महत्त्वपूर्ण साधन है। अतः जब हम किसी भी स्थलाकृति अथवा दृश्य-भूमि का यथोचित ज्ञान करना चाहें तो हमे पहले उसके विकास के प्रक्रम को ही

---

1 "The structural features of rocks are much older than the geomorphic forms developed upon them." —*W. D. Thornbury*

2 W. D. Thornbury, *Principles of Geomorphology*, p. 17

3 A. K. Lobeck : *Geomorphology*, p. 15

समझना पड़ेगा। अत: हमे यह ज्ञात होना चाहिए कि कौन-कौन से प्रक्रम है, और किस प्रक्रम का क्या परिणाम होता है। अर्थात् विभिन्न प्रक्रम स्थलरूपों को कैसे और किस सीमा तक प्रभावित करते है। प्रक्रमो के कार्य एव प्रभाव के आधार पर ही दृश्य-भूमियों का भली प्रकार अध्ययन किया जा सकता है।

अवस्था (Stage)—एक विशिष्ट संरचना के स्थलखण्ड पर प्रक्रम के प्रभाव को अवस्था द्वारा ही भली प्रकार समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों मे, प्रक्रम किस सीमा तक अपना कार्य कर चुका है, यह अवस्था से ज्ञात होता है। अवस्था को बताने के लिए युवावस्था (youthful stage), प्रौढ़ावस्था (matuie stage) एवं वृद्धावस्था (old stage) आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु 'अवस्था' शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद रहा है, क्योंकि इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया। कुछ विद्वानों ने 'अवस्था' शब्द का अर्थ दृश्य-भूमि के विकास में लगे समय से लिया है। पर अवस्था दृश्य-भूमि के विकास में प्रयुक्त समय का ज्ञान कराये यह जरूरी नही है। विभिन्न संरचना के प्रदेशों मे प्रक्रमों द्वारा दृश्य-भूमि की रचना शीघ्र भी हो सकती है और देरी से भी। वस्तुतः प्रक्रमों द्वारा धरातल पर प्रयुक्त समय का उसके प्राप्त भू-आकार से कोई विशेष सम्बन्ध नही है। सभी प्रक्रम धरातल की संरचना से नियन्त्रित होते है और कम-अधिक समय में विशिष्ट अवस्था को जन्म देते है। एक कमजोर संरचना वाले प्रदेश मे स्थलाकृति की युवा एवं परिपक्वावस्थाएँ शीघ्र पार हो सकती है, जबकि कठोर संरचना की भूमि पर एक लम्बे समय तक युवावस्था बनी रह सकती है। अतः अवस्था से यहाँ तात्पर्य दृश्य-भूमि के विकास मे परिवर्तन की एक निश्चित स्थिति से है। जैसा कि **वोन एन्जिल** ने कहा है—"Stage is meant to indicate that its development by process has proceeded to a given one of the characteristic points in the series of changes that must ensue between a beginning and an end condition."[1]

संरचना, प्रक्रम और अवस्था के उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि दृश्य-भूमि (landscape) का विकास कोई आकस्मिक घटना नही है अपितु उसकी रचना में तीनो बाते महत्त्वपूर्ण है। अत: डेविस (W. M. Davis) का यह कथन कि दृश्य-भूमि का विकास संरचना, प्रक्रम और अवस्था का संयुक्त फल है[1] (Landscape is a function of structure, process and stage.) युक्तिसगत प्रतीत होता है।

उत्थान तथा अपरदन
(Upliftment and Erosion)

भूगोल तथा भू-आकृतिक विज्ञान के क्षेत्र मे अपरदन चक्र का विचार सर्वप्रथम डेविस ने प्रस्तुत किया था। इसलिए डेविस को **अपरदन चक्र की विचारधारा** का पिता कहा जाता है—'W. M. Davis is said to be the father of the concept of cycle of erosion.' डेविस ने अपरदन चक्र की धारणा का प्रयोग अपरदन के सभी प्रक्रमों—नदी, हिमनदी, पवन, समुद्री तरगे आदि के लिए किया है और इस प्रकार अपरदन चक्र की विचारधारा को एक व्यापक रूप प्रदान किया।

अपरदन चक्र के सम्बन्ध में डेविस का मत

डेविस किसी भी अपरदन चक्र का प्रारम्भ स्थलखण्ड का उत्थान मानते है। उनके मतानुसार स्थलखण्ड के उत्थान की अवधि छोटी होती है और जब तक स्थलखण्ड का उत्थान पूर्ण नहीं हो जाता तब तक अपरदन प्रारम्भ नही होता। इस प्रकार स्थलखण्ड के उत्थान के दौरान अपरदन नही होता है। किन्तु प्रयोग मे यह बात सम्भव नही जान पड़ती। सामान्यतः समुद्रतल से किसी

[1] O. D. Von Engel : *Geomorphology*, p. 76

स्थलखण्ड के ऊपर उठते ही उस पर अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। लेकिन डेविस के अपरदन चक्र में सबसे उल्लेखनीय बात यही है कि अपरदन और उत्थान कही पर भी साथ-साथ नहीं चलते। स्थलखण्ड के उत्थान के बाद ही अपरदन कार्यशील होता है।

उत्थान	अपरदन	
(छोटी अवधि)	(लम्बी अवधि)	चक्र का अन्त

अपरदन चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन—यहाँ डेविस के अपरदन चक्र को ग्राफ द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। नीचे दिये गये चित्र में क ख एक लम्बवत रेखा है, जिसके सहारे स्थलखण्ड की ऊँचाई तथा क्षैतिज रेखा क ग के सहारे समय को प्रकट किया गया है। अपरदन के प्रक्रम के रूप मे नदी के कार्य को लिया गया है।

दिये गये चित्र मे दो वक्र, ऊपरी वक्र तथा निचला वक्र (upper curve and lower curve) दिये गये है। इनमे अ ब तथा स द रेखाएँ क्रमशः प्रारम्भिक औसत ऊँचाई तथा अन्तिम
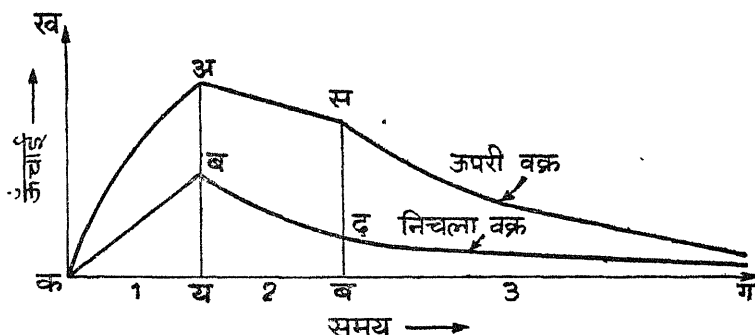
चित्र 360—डेविस के अपरदन चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन

अधिकतम उच्चावचन को प्रदर्शित करती है। समुद्रतल को दर्शाने वाली क ग रेखा अपरदन का आधार तल (base level) है। इस चक्र को अब तीन भागो मे बाँट दिया गया है। प्रथम अवस्था में स्थल खण्ड का केवल उत्थान हो रहा है। दूसरी व तीसरी अवस्था में स्थल खण्ड अपरदन के साधनों द्वारा नीचा हो जाता है। इस प्रकार पहली अवस्था अर्थात् उत्थान को चक्र मे शामिल नही किया जा सकता। शेष दो अवस्थाओं में चक्र क्रमशः तरुणावस्था, प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था में होकर गुजरता है।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि प्रथम अवस्था में उत्थान पूरा हो जाता है और तब तक अपरदन की क्रिया प्रारम्भ नहीं होती। दूसरी अवस्था मे उत्थान समाप्त हो जाता है और साथ ही अपरदन प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ अपरदन नदियों की निचली घाटियों से शुरू होता है ताकि उत्थान पूरी तरह समाप्त हो जाए। इस समय अपरदन बड़ी तीव्र गति से होता है। तीसरी अवस्था में अपरदन की क्रिया बड़ी मन्द हो जाती है। इसमें लम्बवत अपरदन की अपेक्षा क्षैतिज अपरदन अधिक होता है। इसके कारण समतल प्राय मैदान (peneplain) की स्थिति उत्पन्न होती है।

डेविस के मत की आलोचना—डेविस के अपरदन चक्र की धारणा का जहाँ एक ओर भारी स्वागत हुआ वहाँ दूसरी तरफ उसकी कठोर आलोचना भी की गयी है। अपरदन चक्र की विचार-धारा के सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों ने निम्न आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं :

(1) डेविस के मतानुसार स्थलखण्ड के उत्थान के बाद ही अपरदन प्रारम्भ होता है। अपरदन चक्र मे डेविस के इस विचार की सबसे अधिक आलोचना की गयी है। यह सम्भव प्रतीत नही होता कि अपरदन की प्रक्रिया तब तक रुकी रहेगी जब तक कि स्थलखण्ड का उत्थान पूर्ण नही

हो जाता । डेविस ने इस आलोचना से बचने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया कि स्थलखण्ड का उत्थान कम समय में बड़ी तीव्र गति से होता है । अर्थात् उत्थान इतना शीघ्र होता है कि अपरदन का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ पाता । किन्तु यह बात वास्तविकता से भिन्न है । वस्तुतः होता यह है कि जैसे ही कोई स्थलखण्ड ऊपर उठने लगता है उसके साथ-साथ अपरदन का कार्य भी प्रारम्भ हो जाता है । **प्रो० वुलरोज** तथा **मार्गन** का कहना है कि "सामान्यतः चक्र का प्रारम्भ पहले से उत्थित स्थलखण्ड पर अपरदन के साथ नहीं माना जाना चाहिए । अपरदन तथा उत्थान मे कुछ सीमा तक अनिवार्यतः अतिव्यापन (overlapping) होता है तथा निश्चय ही चक्र समुद्र की तली के प्रथम उन्मज्जन अथवा स्थलखण्ड की प्रथम विरूपकारी हलचल के साथ प्रारम्भ हो जाता है ।" (In general the cycle should not be regarded as beginning with erosion of an already uplifted landmass. Erosion and uplift inevitably overlap to some extent and the cycle begins with the first emergence of a sea floor, or the first movement of deformation of a landmass.")

(2) कई विद्वानों ने 'चक्र' शब्द को ही भ्रामक बताया है । 'चक्र' शब्द से आशय यह है कि अपरदन जहाँ से प्रारम्भ हो, पुनः वही पर समाप्त होना चाहिए । किन्तु वस्तुस्थिति इससे बिलकुल विपरीत है ।

(3) डेविस के अनुसार कोई भी स्थलरूप सरचना, प्रक्रम और अवस्था का परिणाम होता है किन्तु पेंक ने इसको स्वीकार नही किया है । इसके विपरीत पेंक ने स्थल रूप को उत्थान एवं निम्नीकरण की दरो (rate) एव अवस्थाओं (phases) के सम्बन्धों का प्रतिफल माना है— Geomorphic forms are in relation to the phase and rate of upliftment in relation to the rate of degradation[1] पेंक ने डेविस की युवावस्था, प्रौढावस्था एवं जीर्णावस्था आदि अवस्थाओ को भी नही माना है । उसने इनके लिए भिन्न नामावलियों का प्रयोग किया है । इस सम्बन्ध में डेविस का कहना है कि जर्मन विद्वानों ने ईर्ष्यावश ही नामावलियो की आलोचना की है । वस्तुतः अपरदन चक्र में अवस्था की विचारधारा कई कठिनाइयो को जन्म देती है । अपरदन चक्र की अवस्थाओं की तुलना मानव जीवन की अवस्थाओं से करना कदापि सगत नही लगता । मानव जीवन में युवावस्था, प्रौढावस्था एवं वृद्धावस्था आती है किन्तु प्रत्येक का आगमन और अन्त एक निश्चित समय के अनुसार होता है । यही बात किसी स्थलरूप के जीवन इतिहास मे सम्भव नही होती । यदि कोई स्थलखण्ड कमजोर और मुलायम चट्टानों का बना हुआ है तो अपरदन की तीव्रता से युवा एवं प्रौढ़ावस्थाएँ शीघ्र समाप्त हो जायेगी और वृद्धावस्था आ जायगी । इसके विपरीत यदि कोई स्थलखण्ड कठोर सरचना वाला है तो वहाँ लम्बे समय तक युवा एवं प्रौढ़ अवस्थाएँ रहेंगी । डेविस ने उपरोक्त कठिनाइयो को स्वीकार किया है और उन्हे असाधारण स्थितियाँ माना है ।

(4) ओ० माल (O. Mall) का कहना है कि डेविस ने अपरदन चक्र की सकल्पना को अधिक सरल बनाकर प्रस्तुत किया है, जबकि वास्तव में यह सकल्पना इतनी सरल नहीं है । डेविस ने भू-तात्त्विक रचना के विभेदों का कोई ध्यान नही रखा है । एक जैसी रचना वाले भाग में पूर्व उत्थान मानकर वहाँ अपरदन चक्र की कल्पना की गयी है जो नितान्त ही गलत है ।

(5) डेविस के उत्थान की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी आपत्तियाँ उठायी गयी हैं । डेविस के अनुसार स्थलखण्ड का उत्थान अनायास और तीव्र गति से कम समय में हो जाता है । किन्तु स्थलखण्ड का उत्थान एक लम्बी अवधि की प्रक्रिया होती है तथा उत्थान की गति भी बराबर नही होती । अतः डेविस की उत्थान की धारणा भी गलत है ।

---

1 Von Engel : *Geomorphology*, p. 261

(6) डेविस के मतानुसार उत्थान के पूर्ण हो जाने पर अपरदन प्रारम्भ होता है और समस्त युवावस्था तक स्थलखण्ड का उत्थान समवत (still stand) रहता है। किन्तु अपरदन के लिए एक स्थलखण्ड का लम्बे समय तक समवत अवस्था मे रहना सम्भव नही लगता।

अपरदन चक्र की धारणा के सम्बन्ध में प्रस्तुत उपरोक्त आपत्तियों के बारे में डेविस का कहना है कि स्थलखण्ड के पूर्व-उत्थान को अपरदन चक्र के सरलीकरण के लिए ही माना गया है, अन्यथा चक्र की अवधारणा बहुत ही जटिल हो जाती। साथ ही उत्थान की विभिन्न दशाओं का उल्लेख भी इसी कारण नही किया गया है। यदि हम उपरोक्त आलोचनाओं पर गहराई से विचार करें तो प्रतीत होगा कि कुछ बातों को छोड़कर अधिकांश आपत्तियाँ निराधार है। जर्मन विद्वानों ने ईर्ष्यावश ही डेविस की कटु आलोचना की है। वास्तव में डेविस के अपरदन चक्र का विचार भूगोल एवं भू-आकृतिक-विज्ञान के क्षेत्रो मे बडा ही महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अपरदन चक्र के सम्बन्ध में पैंक का मत
(Concept of W. Penck on Cycle of Erosion)

सामान्य परिचय—**वाल्टर पैंक** उन जर्मन विद्वानो मे अग्रणीय है जो डेविस की विचार-धारा के कटु आलोचक रहे है। यद्यपि पैंक ने अपरदन चक्र के विचार को अन्य आलोचकों की भाँति नितान्त काल्पनिक और निराधार नही माना है, किन्तु वे डेविस के मत को असम्भव मानते है। अत. पैंक ने अपरदन चक्र के सम्बन्ध में अपना अलग से मत प्रतिपादित किया है जिसका विवेचन आगे किया जा रहा है :

उत्थान एवं अपरदन के सम्बन्ध में पैंक का मत—जैसा पहले बताया जा चुका है कि पैंक तीव्रता से और कम समय मे होने वाले उत्थान मे विश्वास नही करते। उनकी मान्यता है कि उत्थान एक ही गति से न होकर विभिन्न गतियों से पूरा होता है। इसके अतिरिक्त जैसे ही स्थल-खण्ड समुद्रतल से ऊपर उठता है उस पर अपरदन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि यह सम्भव हो सकता है कि प्रारम्भ मे उत्थान की दर इतनी अधिक हो कि अपरदन को देखा न जा सके किन्तु उत्थान और अपरदन दोनों ही साथ-साथ प्रारम्भ होते है। कुछ समय उपरान्त उत्थान समाप्त हो जाता है परन्तु अपरदन चक्र के अन्त तक चलता रहता है। पैंक का मत है कि उत्थान प्रारम्भ से अन्त तक एक ही दर से नही होता। प्रारम्भ में उत्थान की दर सर्वाधिक होती है। फिर मध्य मे समान दर से और अन्त में बहुत कम दर से उत्थान सम्पन्न होता है। स्थलखण्ड के उत्थान की दर के आधार पर पैंक ने उत्थान को तीन अवस्थाओ में बाँटा है जिसमे अपदरन भी उत्थान की गति का अन्धाधुन्ध अनुसरण करता है। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थलरूपों का आविर्भाव होता है। उसके अनुसार, "स्थल रूप उत्थान की प्रावस्था (phase) तथा दर (rate of uplift) और निम्नीकरण (degradation) के पारस्परिक सम्बन्धों का फल होता है। पैंक की मान्यता है कि उत्थान और अपरदन साथ-साथ क्रियाशील रहते है। परन्तु उत्थान विभिन्न दरों से घटित होता है। पैंक ने उत्थान को तीन अवस्थाओ मे विभक्त किया है जो निम्न हैं :

(1) **आफस्तीजिण्डे**—यह उत्थान की प्रथम अवस्था है जिसमें स्थल खण्ड तीव्रता से ऊपर उठता है।

(2) **ग्लीखफार्मिग**—यह उत्थान की दूसरी अवस्था है जिसमें उत्थान समान गति से होता है।

(3) **आब्स्तीजिण्डे**—यह उत्थान की अन्तिम अवस्था है जिसमे उत्थान बहुत धीरे-धीरे होता है। पैंक का अपरदन चक्र उत्थान के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है और कुछ समय उपरान्त उत्थान समाप्त हो जाता है किन्तु अपरदन की क्रिया अन्त तक चलती रहती है। उसने अपने चक्र की पाँच दशाएँ बतायी है।

स्थलखण्ड के उत्थान के अतिरिक्त अपरदन चक्र के प्रारम्भ होने की आवश्यक दशा के सम्बन्ध में भी पैक का भिन्न मत है। डेविस ने पहले से ही उत्थित स्थलखण्ड को जो भिन्न संरचनात्मक इकाइयों का हो सकता है, अपरदन चक्र की शुरूआत के लिए आवश्यक माना है। इसके विपरीत पैक ने चक्र के प्रारम्भ होने के लिए समान सरचना वाले तथा विभिन्न गतियों से फैलते हुए (ऊँचा उठते हुए) गुम्बद को आधार माना है। ऐसा स्थलखण्ड प्रारम्भ में न तो अधिक ऊँचा ही होता है और न इस पर कोई महत्त्वपूर्ण उच्चावचन (relief) ही होता है। यह एक प्रकार से प्रारम्भिक समप्राय मैदान (peneplane) जैसा होता है। इसको पैक ने **प्राइमारम्प** (primarump) नाम दिया है। इस प्रकार प्राइमारम्प स्थल की प्रारम्भिक इकाई होती है जिस पर विभिन्न दर से उत्थान तथा अपरदन द्वारा स्थलरूपो का जन्म होता है। चक्र की अन्तिम अवस्था मे जब प्राइमारम्प घिस-घिसकर समतलप्राय हो जाता है तो पैक ने ऐसे स्थलखण्ड को **इण्ड्रम्प** (endrumpf) कहा है। यों प्राइमारम्प और इण्ड्रम्प ऊँचाई तथा उच्चावचन की दृष्टि से एक जैसे होते है किन्तु इनमे प्राइमारम्प चक्र की प्रारम्भिक अवस्था और इण्ड्रम्प चक्र की अन्तिम दशा का द्योतक है। पैक ने इन दोनों मे स्पष्ट अन्तर किया है। प्राइमारम्प का ढाल उन्नतोदर होता है, जबकि इण्ड्रम्प का ढाल नतोदर होता है।

पैक के अपरदन चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन—नीचे दिये गये रेखाचित्र द्वारा पैक के अपरदन चक्र का दो वक्रो मे प्रदर्शन किया जा रहा है। इसमे ऊपरी वक्र अधिकतम औसत ऊँचाई को तथा निचला वक्र निम्नतम औसत ऊँचाई को प्रकट करता है। साथ ही इसमें लम्बवत रेखा क ग
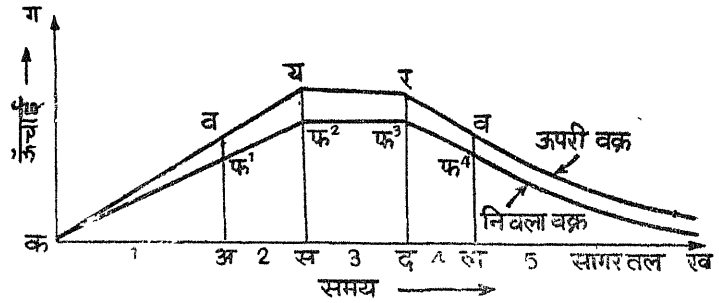
चित्र 361—पैक के अपरदन चक्र का ग्राफ द्वारा प्रदर्शन

के सहारे ऊँचाई को और आधार रेखा क ख के सहारे समय को बताया गया है। समस्त चक्र को पाँच अवस्थाओ मे बाँटा गया है। किन्तु इन अवस्थाओं का अर्थ यहाँ डेविस की 'stages' से नहीं है। यहाँ अवस्था से तात्पर्य उच्चावचन के विकास की दशाओं से है। रेखाचित्र में उच्चावचन के विकास की पाँचों दशाओ को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है :

(1) **प्रथम अवस्था**—इस अवस्था में यद्यपि उत्क्षेप और अपरदन दोनो की प्रधानता रहती है, किन्तु घाटी के गहरे होने की अपेक्षा उत्क्षेप अधिक होता है जिससे भूमि की ऊँचाई बढ़ जाती है। इस अवस्था मे नदियो के मध्य के दोआब (interfluves) चौरस होते हैं। ये अपरदन द्वारा कम घिसते हैं जिससे दोआब नुकीले नहीं होने पाते और चौरस रहते हैं।

(2) **द्वितीय अवस्था**—इस अवस्था मे भी अपरदन और उत्क्षेप दोनों ही महत्त्वपूर्ण बने रहते है। किन्तु घाटियाँ शीघ्रता से चौड़ी होने लगती है जिससे दोआब की भूमि पर्वतनुमा तीक्ष्ण होने लगती है। तत्पश्चात जिस गति से घाटियाँ नीची होती हैं उसी गति से दोआब भी नीचे होते जाते हैं। यद्यपि इस दशा में दोआब उत्क्षेप के परिमाण और घाटी के गहरे होने के अन्तर जितना

ही शनैः-शनैः ऊपर उठता है, फिर भी घाटी का लम्बवत अपरदन पिछड जाता है। फलस्वरूप दोआब की ऊँचाई तो बढ़ती है परन्तु उच्चावचन में कोई विशेष अन्तर नही आता।

(3) **तृतीय अवस्था**—इस अवस्था मे सतत् उत्क्षेप के साथ घाटी की गहराई भी शीघ्रता के साथ बढती है। इस अवस्था मे उत्क्षेप और अपरदन मे प्रतिस्पर्धा-सी लगी रहती है और अन्त मे उत्क्षेप और अपरदन कार्य तुल जाते है। फलस्वरूप ऊँचे भू-भागों की औसत ऊँचाई भी एक जैसी रहती है। अतः उच्चावचन मे कोई अन्तर नही आता।

(4) **चतुर्थ अवस्था**—इस अवस्था मे भूमि उत्क्षेप की क्रिया शिथिल हो जाती है। नदी-घाटियों का गहरा होना चालू रहता है, इसलिए धरातलीय अन्तर कम नही होने पाता। अपरदन द्वारा दोआब की भूमि नीची होने लग जाती है।

(5) **पंचम अवस्था**—इस अवस्था में उत्क्षेप के साथ-साथ नदी घाटियो का गहरा होना भी मन्द पड़ जाता है। नदी घाटियो के मध्य पर्वतनुमा, नुकीले एवं उभरे हुए दोआब गोलाकार और नीचे हो जाते है। इससे ऊँचाई और उच्चावचन दोनो ही घट जाते है। यह उस प्रदेश की वृद्धावस्था होती है।

पैंक के प्रथम आदर्श-चक्र पर विचार करते हुए कई महत्त्वपूर्ण बिन्दुओ पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। प्रथम तो इस अपरदन चक्र की अवस्थाओ को किसी भी दशा मे प्राकृतिक या अवश्यम्भावी नही समझा जाना चाहिए। यद्यपि ये सभी अवस्थाएँ सम्भावित हो सकती है परन्तु ये उत्क्षेप और अपरदन की गति के सम्बन्ध पर निर्भर करती है। यद्यपि पैंक का अपरदन चक्र पुस्तको मे रोचक प्रतीत होता है किन्तु कई विद्वानों ने इसकी प्रायोगिकता में सन्देह व्यक्त किया है। जैसा कि **डेविस** ने प्रश्न किया है कि क्या प्रयोग करने पर ये सब अवस्थाएँ प्राप्त की जा सकती है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि पैंक के विचार अनुमानित है और इसलिए किसी स्वतन्त्र व्यक्तिगत उदाहरण मे ठीक नही उतरे। स्पष्ट है यदि हम सतत उत्क्षेप के विपरीत भिन्न उत्क्षेप की कल्पना करें तो उनसे अन्य निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

पैंक के अपरदन-चक्र की सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था वह है जिसमे उसने उत्क्षेप और अपरदन को समान माना है। पैंक के अनुसार ऐसी अवस्था आल्प्स मे घटित हो चुकी है। पैंक का यह अनुमान सच हो भी सकता है। कुछ लोगों ने इसमें शंका प्रकट की है। यदि ऐसा सम्भव हो भी सकता है तो वह ऊँचे पर्वत-श्रेणियों के मध्यवर्ती भाग में ही, क्योंकि वहाँ दीर्घकाल तक उत्क्षेप होता रहता है। इस प्रकार पैंक का प्रथम आदर्श अपरदन-चक्र पर्वतों के अक्षीय (axial) भाग मे और दूसरे एवं तीसरे आदर्श अपरदन-चक्र पार्श्ववर्ती भागों मे सम्भावित हो सकते है।

डेविस तथा पैंक के मतों की तुलना—यदि हम डेविस तथा पैंक दोनों के अपरदन चक्रों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि दोनों के मतो मे बहुत अन्तर है। इस अन्तर को भली प्रकार समझने के लिए नीचे दोनों का तुलनात्मक विश्लेषण किया जा रहा है :

डेविस का मत	पैंक का मत
1. डेविस के मतानुसार अपरदन से पहले उत्थान समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में उत्थान और अपरदन साथ-साथ नही चलते।	1. पैंक के मतानुसार उत्थान और अपरदन साथ-साथ चलते है। कुछ समय बाद उत्थान रुक जाता है और अन्त तक केवल अपरदन ही सक्रिय रहता है।
2 स्थलखण्ड के उत्थान की दर बहुत तीव्र होती है।	2. स्थलखण्ड के उत्थान की दर कभी भी एक समान नही होती।
3. उत्थान की अवधि बहुत कम होती है।	3. उत्थान का काल लम्बा भी हो सकता है। यह समय मध्यम प्रकार का एवं कम भी हो सकता है।

4. चक्र का प्रारम्भ संरचना की दृष्टि से भिन्न भागों पर होता है ।	4. चक्र का प्रारम्भ समान संरचना वाले फैलते हुए गुम्बद अर्थात प्राइमारम्प से होता है ।
5. चक्र तीन विभिन्न अवस्थाओं (तरुणावस्था, प्रौढावस्था एवं जीर्णावस्था) से होकर पूरा होता है ।	5. पैंक के अपरदन-चक्र में कोई अवस्थाएँ नहीं होती । डेविस की अवस्थाओं के विपरीत पैंक ने स्थलखण्ड के उत्थान की (i) आफस्टीजिण्डे (बढती गति), (ii) ग्लीख-फार्मिग (समान गति), (iii) आब्सीजिण्डे (घटती गति से उत्थान) तीन दशाओ को बताया है ।
6. डेविस के अनुसार दृश्य-भूमि संरचना, प्रक्रम और अवस्थाओं का प्रतिफल होता है । (Landscape is a function of structure, process and stage.)	6. पैंक के अनुसार दृश्य-भूमि उत्थान की दर तथा निम्नीकरण की दर के सम्बन्ध का परिणाम होता है । (Landscape is an expression of the phase and rate of upliftment in relation to the rate of degradation)
7. डेविस ने अपने चक्र में ढालों को कोई विशेष महत्त्व नही दिया है ।	7. पैंक ने ढालो के विकास को विशेष महत्त्व प्रदान किया है । ढालो से ही स्थलरूपो का विकास होता है ।
8. डेविस के चक्र में तीन अवस्थाएँ मानी गयी है । इनमे प्रथम व द्वितीय अवस्थाओ मे उच्चावचन बढता है और तृतीय अवस्था में कम होता है । किसी भी अवस्था मे उच्चावचन स्थिर नही रहता ।	8. पैंक के चक्र में पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं । प्रथम दशा मे उच्चावचन बढता है । दूसरी, तीसरी व चौथी दशाओ में उच्चावचन स्थिर रहता है । अन्तिम अवस्था में वह घटता है ।
9. डेविस ने चक्र की अन्तिम अवस्था को समतलप्राय मैदान (peneplain) की संज्ञा दी है ।	9. पैंक ने चक्र की अन्तिम अवस्था को इण्ड्रम्प (endrumpf) की सज्ञा दी है ।

निष्कर्ष—उपरोक्त तुलना से स्पष्ट है कि दोनों ही मतो मे महान अन्तर है । इसीलिए एक ओर डेविस को अपरदन चक्र का मास्टर कहा जाता है तो दूसरी ओर पैंक को उसका विरोधी। वस्तुतः दोनों के कार्यक्षेत्र भिन्न थे । इस कारण उनके मतों में भी भिन्नता पायी जाती है । पैंक का कार्य क्षेत्र मध्य यूरोप का पर्वतीय क्षेत्र था और वह वहाँ की समान संरचना से बड़ा प्रभावित हुआ था । वहाँ उसके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य यह जानना था कि वर्तमान स्थलाकृति का पहले क्या रूप था ? इस प्रकार पैंक का विचार वर्तमान से भूतकाल की ओर ले जाने वाला है । इसी कारण पैंक की विचारधारा को रूढिवादी तथा पीछे देखने वाली विचारधारा (backward looking concept) कहा जाता है । इसके विपरीत डेविस का कार्यक्षेत्र संयुक्त राज्य अमरीका था । वहाँ यह स्थलीय संरचना में पर्याप्त अन्तर से प्रभावित हुआ था । अतः स्थलाकृति के विकास में उसने सरचना को प्रमुख स्थान दिया । डेविस का मुख्य उद्देश्य स्थल के वर्तमान रूप का अध्ययन करना था । अतः उसने स्थलरूपो के विकास की संरचना, प्रक्रम और अवस्था का फल बताया । इस प्रकार डेविस का सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है और इसीलिए उसकी विचारधारा को अग्रिम दृष्टि वाली विचारधारा (forward looking concept) कहा जाता है ।

अपरदन चक्र की बाधाएँ

सामान्यतः अपरदन चक्र के दौरान एक उत्थित स्थलखण्ड अपरदन की प्रक्रिया द्वारा युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एव जीर्णावस्था से गुजर कर एक समतलप्राय मैदान में बदल जाता है । यह अपरदन के पूर्ण चक्र की एक सामान्य अवस्था है । किन्तु धरातल पर अपरदन चक्र की आदर्श

अवस्थाएँ बहुत ही कम अंशो मे दृष्टिगोचर होती है। किसी भी स्थलखण्ड के समतलप्राय मैदान की अवस्था को प्राप्त कर लेना बहुत ही कठिन है, क्योकि अनेक कारणों से चक्र में बाधा पड़ जाती है जिससे चक्र असन्तुलित हो जाता है। चक्र मे बाधा उपस्थित होने का प्रमुख कारण स्थलखण्ड या प्रक्रम मे नवोन्मेष (rejuvenation) का होना है। यह नवोन्मेप निम्न कारणो से हो सकता है :

(1) **स्थलखण्ड का ऊँचा उठना**—भू-गर्भ मे घटित होने वाली महाद्वीप अथवा पर्वत-निर्माणकारी हलचलो के कारण कई बार स्थल ऊपर उठ जाता है। स्थल के इस प्रकार ऊपर उठ जाने से अपरदन चक्र पर गहरा प्रभाव होता है। यदि कोई नदी किसी स्थलखण्ड मे अपरदन चक्र के दौरान युवा एवं प्रौढावस्था को पार कर जीर्णावस्था में पहुँच चुकी हो और तभी अगर स्थल-खण्ड में उत्थान प्रारम्भ हो जाता है तो चक्र मे बाधा पड़ जायगी। स्थलखण्ड मे उत्थान होने से नदियो मे नवोन्मेष आ जायगा जिससे नदियाँ पुनः गहरा काटने का कार्य प्रारम्भ कर देंगी और इस प्रकार चक्र भी पुनः युवावस्था मे लौट जायगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चक्र की किसी भी अवस्था में यदि स्थल के उत्थान होने से आधारतल में धनात्मक (positive) परिवर्तन आ जाता है तो चक्र छिन्न हो जाता है और नवोन्मेष के कारण नवीन चक्र का शुभारम्भ हो जाता है।

(2) **स्थलखण्ड का नीचे धँसकना**—भू-गर्भिक शक्तियो के कारण यदि किसी स्थलखण्ड का अव-तलन हो जाता है तब भी चक्र मे विघ्न आ जाता है। यदि कोई स्थलखण्ड अपरदन चक्र की प्रौढा-वस्था मे चल रहा हो और वह अनायास ही नीचे धँसकर निकटवर्ती स्थल भाग के बराबर हो जाता है तो वहाँ चक्र की अवधि कम हो जायगी। चक्र शीघ्र जीर्णावस्था मे पहुँचकर समाप्त हो जायगा।

(3) **समुद्र-तल में परिवर्तन**—स्थलखण्ड के ऊँचा-नीचा होने के समान समुद्र तल भी ऊँचा-नीचा होता रहता है। स्थलखण्ड के ऊँचा-नीचा होने का स्थानीय प्रभाव होता है। किन्तु समुद्र-तल मे परिवर्तन का विश्वव्यापी प्रभाव होता है। समुद्र-तल मे व्यापक रूप से परिवर्तन हिमनदियों के फैलाव और उनके सिकुड़ने के साथ होता है। समुद्र-तल मे परिवर्तन का नदियो के अपरदन कार्य पर बड़ा प्रभाव पडता है। समुद्र-तल नदियों का स्थायी आधार तल होता है। इसलिए जब कभी समुद्र-तल नीचा हो जाता है तो नदियो में नवोन्मेष आ जाता है और वे पुनः अपनी घाटियों को गहरा काटने लगती है। इसके विपरीत यदि समुद्र-तल ऊपर उठ जाता है तो नदियो का गहरा काटने का कार्य समाप्त हो जाता है और वे बाढ के मैदानो का निर्माण करने लगती है।

(4) **निकास का नीचा हो जाना**—यदि किसी स्थान पर नदी का निकास—जहाँ से नदी बाहर निकलती है जैसे झील आदि से—नीचा हो जाता है तो नदी का ढाल तीव्र हो जायगा और नदी में जल की मात्रा बढ़ जायगी। इससे नदी में नवोन्मेष हो जायगा और नदी का अपरदन कार्य तेज हो जायगा। फलस्वरूप अपरदन चक्र मे अन्तर आ जायगा।

(5) **ज्वालामुखी क्रिया**—ज्वालामुखी क्रिया से कई बार नदियो के मार्ग में लावा आदि पदार्थो का जमाव हो जाता है जिससे इनके अपरदन चक्र मे बाधा आ जाती है। यदि कोई नदी अपने चक्र की अन्तिम अवस्था में चल रही हो और अचानक उसका मार्ग लावा आदि में जमाव से अवरुद्ध हो जाता है तो नदी का अपरदन कार्य पुनः तेज हो जायगा और अपरदन चक्र भी लौटकर प्रौढ़ावस्था में आ जायगा।

(6) **नदी में जलोढ़क (load) की मात्रा में कमी**—नदी की अपरदन गति पर उसके जलोढकों की मात्रा का गहरा प्रभाव होता है। जब नदी में जलोढक की मात्रा अधिक होती है तो नदी का प्रभाव मन्द होता है। लेकिन जब नदी मे जलोढक कम होता है तो उसकी प्रवाह गति तीव्र हो जाती है अर्थात नदी में नवोन्मेष हो जाता है जिससे अपरदन का कार्य भी बढ़ जाता है।

(7) **नदी अपहरण द्वारा नदी के जल में वृद्धि**—जब कभी एक नदी किसी दूसरी नदी का अपहरण कर उसके जल को अपने अन्दर आत्मसात कर लेती है तो उस नदी में जल की मात्रा बढ़ जाती है जिससे नदी मे नवोन्मेष आ जाता है और वह अधिक तेजी से काटने का कार्य करने लग जाती है।

(8) **जलवायु में परिवर्तन**—पृथ्वी पर जलवायु में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते है। विगत काल मे कुछ प्रदेश पहले गरम, फिर ठण्डे और पुनः गर्म जलवायु वाले रह चुके है। इसी प्रकार कुछ प्रदेश पहले आर्द्र, फिर शुष्क और पुनः आर्द्र जलवायु वाले हो चुके हैं। जलवायु के इन परिवर्तनो से नदियों मे नवोन्मेष होता है और उसके परिणामस्वरूप अपरदन चक्र मे बाधा पड़ती है।

इस तरह अपरदन-चक्र (cycle) मे अनेक बाधाएँ खडी हो जाती है जो चक्र को कभी पूरा नहीं होने देतीं। फिर भी संसार मे समतलप्राय मैदानो के अनेक उदाहरण देखने को मिलते है। कनाडा में हडसन की खाड़ी के चारो ओर, साइबेरिया और रूस के पठारी भागो और भारत के अरावली प्रदेश में इस प्रकार के विस्तृत समतलप्राय मैदान देखे जाते है।

अपरदन-चक्र की अन्तिम अवस्थाएँ—अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्थाओ में स्थल के उन्मज्जन तथा जलवायु की दशाओं के कारण चाहे कितने ही विभेद उपस्थित हो जाते हों, परन्तु अन्तिम अवस्था प्रायः सभी दशाओं मे समान होनी चाहिए। वस्तुतः विकसित भू-रूप और उनके निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे केवल अनुमान ही किया जा सकता है क्योंकि वर्तमान अपरदन-चक्र द्वारा वृद्धावस्था प्राप्त भू-रूप केवल स्थानीय एवं सीमित रूप मे ही पाये जाते है। यद्यपि हमारे अध्ययन के लिए प्राचीन अपरदन-चक्रों द्वारा विकसित अन्तिम भू-रूप पर्वत-शिखरों के मैदानों (hill top planes) में सुरक्षित है, लेकिन इनका निर्माण किस प्रकार हुआ यह आज भी विवादास्पद है।

रूढिवादी विचारको के अनुसार अपरदन-चक्र की अन्तिम अवस्थाओं मे दोआबों (interfluves) का क्रमिक ह्रास ऋतु-अपक्षय द्वारा ही होता है। घाटी के गहरे होने की क्रिया के समाप्त हो जाने के उपरान्त भी यह प्रक्रिया चलती रहती है जिससे प्रौढ उच्चावचन (relief) की तीक्ष्णता विलुप्त हो जाती है और अन्ततः ऊबड़-खाबड़ समतल भूमि का विकास होता है जिस पर मन्द गति वाली नदियाँ प्रवाहित होती हैं। इन नदियों की घाटियो को सामान्य ऊँची भूमि अलग करती है। इस प्रकार के धरातल को **डेविस** ने समतलप्राय मैदान (peneplain) नाम दिया है। ऐसे समतलप्राय मैदान पर चट्टानों की कठोरता का भू-आकारों के निर्माण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी स्थानीय कठोर चट्टानो के क्षेत्र आधार-तल तक के अपरदन से बचे रह सकते है जिनसे अवशिष्ट पहाड़ियो की रचना होती है। ऐसी पहाड़ियों को न्यू हैम्पशायर के माउण्ट मोनेडनोक के नाम पर मोनेडनोक (Monadnock) कहा जाता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार बना समतलप्राय मैदान पूर्णरूप से चौरस नहीं हो सकता। निश्चय ही इसका तटरेखा की ओर ढाल होगा और विशाल क्षेत्र के मध्यवर्ती भाग मे भूमि समुद्र-तल की अपेक्षा ऊँची होगी। यह भी प्रकट है कि ऐसे मैदान की रचना मे समय भी काफी लगेगा, क्योंकि स्थल के उच्चावचन (relief) के घटने के साथ-साथ अपरदन कार्य में भी उत्तरोत्तर कमी आती जायेगी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि यदि नदी अपरदन की वर्तमान गति बराबर बनी रहे तो उत्तरी अमरीका महाद्वीप घिसकर 1,50,00,000 वर्षों में पूर्णतः समतल बन जायगा।[1]

---

1 S. W. Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline of Geomorphology*, p. 168

यदि किसी प्रकार प्रक्रिया मे शिथिलता आ जाय जोकि अनिवार्य है तो इस कार्य के लिए दुगुना या तिगुना समय आवश्यक होगा।

उपरोक्त बातों एवं महाद्वीपों की अस्थिरता को ध्यान मे रखते हुए कुछ लेखको का यह कहना है कि अपरदन-चक्र पूर्णरूप से कभी पूरा हो ही नही सकता और इसलिए समतलप्राय मैदान की धारणा नितान्त ही अप्राप्य एव अशक्य विचार है—"The cycle of erosion can never have run its full course, and that the 'peneplain' is an unrealised and unrealizable abstraction"[1] यह असदिग्ध रूप से सत्य है कि आज महाद्वीपो पर वर्तमान समुद्र-तल से सम्बन्धित विस्तृत समतलप्राय मैदान या तो सीमित है या वे बिलकुल है ही नही। लेकिन यह तर्क विशेष महत्त्वपूर्ण नही है क्योंकि भू-गर्भिक दृष्टि से इन भू-भागो का उन्मज्जन अभी हाल में ही हुआ है और ये अब अपरदन की क्रियाओ से तीव्रता के साथ घिसते जा रहे है। यदि हम पीछे लम्बे भू-गर्भित-कालो की ओर ध्यान दौड़ाये तो हम ऐसी कई नीची तल वाली भूमि (surface of relief) को पहचान सकते है जिनका निर्माण समतलप्राय मैदान की भाँति ही हुआ होगा। ये समतलप्राय मैदान निम्न दो प्रकार से बन सकते है—(1) उद्‌गति के कारण पठार अथवा पहाड़ी शिखरो पर समतल क्षेत्र बने हों। (2) समतलप्राय मैदान बाद के अवसादों के नीचे दब जाये और भू-गर्भित असंगतियों के रूप मे बदल जाये।

अनाच्छादन द्वितीय प्रकार के मैदानो को कुछ अशो में पुनः अनावृत कर सकता है। इस प्रकार नीचे दबे हुए भू-आकार पुन दृश्य-भूमि मे दृष्टिगोचर हो सकते है।

धरातल पर प्राप्त ऐसे मैदानों का अस्तित्व यह है कि उच्चावचन (relief) का पूर्णतः परिवर्तन हो सकता है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष तो कदापि नही निकाला जा सकता कि ऐसे स्थल भागों की सतह समतलप्राय बन गयी थी। यहाँ दो सम्भावनाओं पर और विचार कर लेना सगत होगा। प्रथम तो ब्रिटिश भू-गर्भशास्त्रियो ने चौरस उच्च भूमि तथा असगत तलों (planes of unconformity) को सामुद्रिक अपरदन का परिणाम माना है। जहाँ कही असंगत-तल पर समुद्री निक्षेपण है वहाँ समतलप्राय मैदान को समुद्री अपरदन का प्रतीक माना जा सकता है। किन्तु इसके विपरीत भी हो सकता है। यदि सम्पूर्ण सतह पर सामुद्रिक एवं भू-पृष्ठीय (sub-aerial) अपरदन साथ-साथ हो तो भू-पृष्ठीय की तुलना मे सामुद्रिक अपरदन का प्रभाव बहुत ही मन्द होगा। गिकी (Geikie) का कहना है कि जब तक समुद्र प्रति शताब्दी 10 फुट स्थल की ओर अग्रसर होकर तटीय क्षेत्र की थोडी भूमि को काटेगा तब तक भू-पृष्ठीय अपरदन समूचे स्थल को काटकर समुद्र में बहा देगा। डेविस की भी मान्यता है कि स्थल की थोड़ी-सी उद्‌गति होने पर प्रायः समुद्र को नये सिरे से कार्य प्रारम्भ करना पड़ता है किन्तु इस उद्‌गति से भू-पृष्ठीय अपरदन थोड़ा तीव्र हो जाता है। परन्तु **डी० डब्ल्यू० जॉनसन** इन तर्कों को अन्तिम नही मानता। उसके विचार में गिकी ने भू-पृष्ठीय अपरदन को बहुत अधिक बढा-चढाकर बताया है। आजकल कुछ विद्वानों की आम धारणा यह सिद्ध करने की बन गयी है कि कुछ प्राचीन समतलप्राय मैदान सामुद्रिक अपरदन द्वारा ही बने है। परन्तु समतलप्राय मैदानों पर सामुद्रिक निक्षेपणो की प्राप्ति से यह निष्कर्ष निकाल लेना कि उनकी उत्पत्ति समुद्रों द्वारा ही हुई है, असगत होगा। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि भू-पृष्ठीय अपरदन द्वारा समतलप्राय मैदान की रचना हुई और बाद मे समुद्र ने उस पर प्रभाव जमा लिया हो।

हाल ही मे **सी० एच० क्रीकमे** (C. H. Criekmay) ने समतलप्राय मैदान की रचना पर अपना भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उसने दोआबों के नष्ट होने की गति को अतिशयोक्तिपूर्ण बताया है। उसके अनुसार पार्श्विक अपरदन द्वारा समतलीकरण (planation) जो कि नदी के

---

1 *Ibid.*

प्रथम सन्तुलन काल से ही प्रारम्भ हो जाता है और घाटी के तीव्र लम्बवत के रुक जाने के बाद भी चलता रहता है, अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पार्श्विक अपरदन अपरदन-चक्र की अन्तिम अवस्थाओं मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेता है। इसके द्वारा पक की हल्की चादर से ढके चौड़े बाढ के मैदानो की रचना हो जाती हैं। उसने विसर्पणो के विकास और खिसकाव मे भी पार्श्विक अपरदन की शक्ति के प्रमाण दिये है। इसके अतिरिक्त उसने बाढ़ के मैदानों के किनारों की भृगुओं की तुलना समुद्रतटो की भृगुओं से की है और यह स्पष्ट किया है कि नदियो का पार्श्विक अपरदन समुद्री लहरों के अपरदन से अधिक शक्तिशाली है। चक्र की अन्तिम अवस्थाओ तक बाढ के मैदान की भृगुओ के ढाल खड़े होते है। इस प्रकार विकसित दृश्य-भूमि का रूप समतलप्राय मैदान से सर्वथा भिन्न होगा। उसकी यह मान्यता है कि बाढ के मैदान के विकास की चरमसीमा उनके एकीकरण में है। इस प्रकार से बनी समतल भूमि वास्तविक समतलप्राय मैदान से अधिक चपटी होगी और इसका सामान्य ढाल समुद्र की ओर होगा। इसमे भी दोआबों का विनाश होगा किन्तु कुछ क्षेत्र मोनेडनोक की भाँति बिना घिसे ही रह जायेगे। इस प्रकार से अन्त मे सम्मिलित बाढ के मैदान की सतह को उसने **पानप्लेन** (Panplane) या **पानफान** (Panfan) का नाम दिया है।[1] उसके मतानुसार वृद्धावस्था में भी पार्श्विक अपरदन की गति बहुत अधिक धीमी नही होती। अतः इस मत के आधार पर यह मान लेना सम्भव लगता है कि समतलप्राय अवस्था के विरोध मे पानप्लेन अवस्था अधिक शीघ्रता से पहुँच जाती है।

यद्यपि क्रीकमे के सिद्धान्त की लोगो ने कुछ आलोचना की, किन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि उसने अपरदन-चक्र के सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। ऐसा सम्भावित हो सकता है कि उच्च भागो के सीमित विस्तार वाले पेनीप्लेन वस्तुत पानप्लेन ही हो। अन्य अवस्थाओ में यह भी सम्भव लगता है कि भू-पृष्ठीय अपरदन द्वारा विकसित भूमि पानप्लेन तथा पेनीप्लेन दोनों ही विधियो के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप बनी हो।[2]

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपरदन द्वारा विकसित नीची समतल भूमि निम्न रीतियों से बन सकती है :

(1) साधारण पेनीप्लेन की क्रिया द्वारा,
(2) सामुद्रिक अपरदन द्वारा,
(3) पानप्लेन की क्रिया द्वारा।

अधिकांशतः नीची भूमि का विकास उपरोक्त प्रक्रियाओं में से दो या सभी के सम्मिलित सहयोग द्वारा सम्पादित होता है।

भूगोल में अपरदन-चक्र की महत्ता

धरातल का ज्ञान भूगोल विषय का अभिन्न अंग है। इसमें विभिन्न स्थल-रूपों का अध्ययन अपरिहार्य है। धरातल के विभिन्न स्थल-रूप और उनके विकास-क्रम का अध्ययन भूगोल की एक विशिष्ट शाखा भू-आकृति-विज्ञान (geomorphology) द्वारा किया जाता है। अपरदन-चक्र इनके अध्ययन का मूल आधार है। चक्र की धारणा (cycle concept) के अभाव में स्थलखण्डों के विकास-क्रम को समझना दुष्कर ही नही, असम्भव है। भूगोल मे चक्र की धारणा **पोवेल** (Povaell) और **गिलबर्ट** (Gilbert) आदि विद्वानो की देन है। इन विद्वानों ने 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपरदन-चक्र के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार प्रकट किये थे। किन्तु इन विचारों को सुव्यवस्थित करने और अपरदन-चक्र के सिद्धान्त को अपने सही रूप में रखने का श्रेय **डेविस** को ही है। अतः

---

1 S. W. Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline of Geomorphology*, p. 170
2 *Ibid*,

यहाँ उसके कार्य की जितनी प्रशंसा की जाय, थोडी है। डेविस और उसके अनुयायियों की देन इतनी अमूल्य है कि भूगोल-जगत उनके विचारो का सदा ऋणी रहेगा।

चक्र की धारणा वस्तुतः भूगोल के आधुनिक अध्ययन की आधारशिला है। इस धारणा के विकसित होने के पूर्व स्थलखण्डों का अध्ययन सरचना (structure) के आधार पर होता था। किन्तु चक्र की धारणा से अब अध्ययन के लिए एक नवीन आधार प्राप्त हुआ है। फलतः स्थलखण्डों का अध्ययन और वर्गीकरण अब आनुवंशिक (genetic) आधार पर किया जाता है। आनुवंशिक आधार के माध्यम द्वारा अब सम्पूर्ण स्थल-रूप की रचना और अवस्था सरल और थोड़े-से शब्दों मे व्यक्त की जा सकती है। भूगोल को अपरदन-चक्र की यह देन अमूल्य है। इससे एक भूगोलवेत्ता का कार्य बहुत ही सक्षिप्त हो गया है। इस धारणा के कारण अब किसी स्थलखण्ड का वर्णन करने के लिए उसके प्रत्येक अंग का हाल बताना आवश्यक नही रहा। अब तो किसी स्थल-रूप के बारे में केवल इतना प्रकट कर दिया जाय कि वह प्रौढ़ावस्था (mature stage) में है तो उसके विषय मे सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

कई विद्वानों ने अपरदन-चक्र को ठीक न समझकर उसकी कड़ी आलोचना की है। **चेम्बरलिन, सैलिसबरी** और **पासारजे** इन आलोचकों मे अग्रणीय है। इन विद्वानो ने 'चक्र' शब्द का बहुत ही कठोर (rigid) अर्थ लगाकर चक्र की धारणा को गलत बताने और उसे खण्डित करने की चेष्टा की है। इन लोगो का कहना है कि 'चक्र' शब्द से आरम्भिक दशा में लौटने का अभिप्राय है, जो कभी भी सम्भव नही है। अतः 'चक्र' शब्द एकदम भ्रामक ही नही अनुपयुक्त भी है। किन्तु वस्तुत. 'चक्र' शब्द का कोई ऐसा कठोर आशय नही है। न चक्र का यही अभिप्राय है कि एक स्थलखण्ड अपने विकास-क्रम के पूर्ण चक्र को प्राप्त हो। चक्र के विचार का मूल उद्देश्य तो केवल यह प्रकट करता है कि अन्त में स्थलखण्ड के सभी आकार विलीन हो जाते हैं। वस्तुतः चक्र की अवधारणा एक ऐसा मानसिक पैमाना (mental scale) है जिसके द्वारा स्थलखण्ड के वास्तविक तथ्यो की तुलना की जाती है। फिर यह सोचना भी गलत है कि चक्र की धारणा का विस्तार और सुधार हो ही नही सकता। वास्तव मे, चक्र की धारणा ने व्यवस्थित क्रम (ordered sequence) पर जोर देकर भूगोल को एक अमूल्य देन दी है। इस विचार ने मृत विषय मे नवीन जीवन का संचार किया है और नीरस विषय को सरल बना दिया है। किसी भी स्थलखण्ड का वास्तविक महत्त्व चाहे वह मानचित्र अथवा धरातल पर देखा गया हो अथवा रेल मे बैठे हुए खिड़की से, तभी मालूम देता है जब हमें स्मरण रहे कि इनके जीवन का विकास हुआ है और हो रहा है।[1]

---

1 S W. Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline of Geomorphology*, p. 172

33
पृथ्वी की हलचलें
(EARTH MOVEMENTS)

पृथ्वी के धरातल का रूप सर्वत्र एकसा नही है। इस पर एक ओर महाद्वीप और महासागर जैसे विशाल भू-आकार है तो दूसरी ओर पर्वत, पठार, मैदान एवं झीलो आदि के सदृश स्थल के गौण रूप भी है। भू-पटल के ये विविध रूप स्थायी नही है। भू-गर्भिक इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि हिमालय पर्वत के स्थान पर किसी समय टेथिस नामक विशाल महासागर लहराया करता था और गगा-सिन्धु के मैदान की जगह विशाल द्रोणी थी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भू-पटल पर विभिन्न भू-आकार बनते और बिगड़ते रहते है। भू-पटल पर भू-आकारो के विकास और विनाश का यह कार्य पृथ्वी की निम्न दो शक्तियों द्वारा प्रतिपादित होता है :

(1) आन्तरिक शक्तियाँ (Endogenetic forces),

(2) बाह्य शक्तियाँ (Exogenetic foices)।

(1) **आन्तरिक शक्तियाँ** (Endogenetic Foices)—पृथ्वी के भीतर अदृश्य रूप से क्रियाशील शक्तियो को **आन्तरिक** अथवा **भू-गर्भिक शक्तियाँ** कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति भू-गर्भ में पर्याप्त गहराई पर आन्तरिक ताप, भीतरी चट्टानों के प्रसार अथवा सकुचन, तेजोद्गार पदार्थों से उद्विकसित ताप, विभिन्न रासायनिक तत्त्वों के योग तथा मैग्मा के इधर-उधर हटने आदि अनेक कारणों से होती है। ये शक्तियाँ भीतर से ही अपना कार्य करती है। इन भू-गर्भिक शक्तियो को **विवर्तनिक हलचले** (Tectonic foices) भी कहते है। ये हलचले धरातल पर **पटल-विरूपण** (Diastrophism) और **ज्वालामुखी** (Vulcanism) दो रूपों से प्रकट होती है। पटल-विरूपण में वे समस्त प्रक्रम (process) सम्मिलित है जिनका भू-पटल के उन्मज्जन, निमज्जन या किसी एक भाग के सम्बन्ध में दूसरे भाग का विस्थापन और उसके टूटने, मुड़ने तथा सवलित होने मे योग होता है।[1] ज्वालामुखी के अन्तर्गत वे प्रक्रम (process) आते हैं जो भू-गर्भ में द्रव पदार्थ को एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थान्तरित करते हैं या उसे भू-पटल के बाहर निकालते हैं।[2] इस प्रकार भू-गर्भिक अथवा विवर्तनिक हलचलों द्वारा पृथ्वी के धरातल की ऊँचाई में असमानता पैदा हो जाती है। इनसे कहीं भू-पटल ऊँचा उठ जाता है तो कही नीचे धँस जाता है। कही-कहीं लावा निक्षेप से भू-पटल पर विशाल ऊँचाई के भू-आकार बन जाते हैं।

(2) **बाह्य शक्तियाँ** (Exogenetic Forces)—पृथ्वी के धरातल पर काट-छाँट करने वाली

---

1 Finch and Trewartha : *Elements of Geography*, p. 223

2 *Ibid.*

शक्तियाँ बाह्य शक्तियाँ कहलाती हैं। इनका सम्बन्ध वायुमण्डल से होता है और ये भू-पटल पर सूर्य की सहायता से कार्य करती है। ट्रिवार्था ने इनको **श्रेणीकरण की शक्तियाँ** (forces of gradation) कहा है। ये शक्तियाँ मुख्यतः पवन, बहते हुए जल, हिम तथा जैविक साधनों द्वारा कार्य करती है। श्रेणीकरण (gradation) का कार्य दो प्रकार—(1) **निम्नीकरण** (degradation), और (2) **अधिवर्धन** (aggradation)—से होता है। निम्नीकरण के द्वारा वे समस्त भू-भाग जो समुद्र-तल (final slope or grade) से ऊँचे उठे हैं, तल के बराबर लाये जाते है। इसके विपरीत **अधिवर्धन** (aggradation) द्वारा भूमि की वृद्धि होती है। भू-पटल पर जो भी निम्न आखात, द्रोणियाँ, झीलें तथा समुद्र है वे अवसादों के निक्षेपण द्वारा भरे जाते हैं और उनको तल के बराबर लाया जाता है। इस प्रकार भू-पटल पर आन्तरिक शक्तियों द्वारा जो असमानता पैदा होती है उसे श्रेणीकरण की शक्तियाँ काट-छाँटकर पुन. बराबर कर देती है।

यदि हम देखें तो भू-पटल पर आन्तरिक और बाह्य दोनो शक्तियो के बीच अविरल रूप से संग्राम चलता रहता है। इसके फलस्वरूप भू-पटल का उत्थान और पतन होता रहता है। भूमि के उत्थान और पतन के इस चक्र को भू-म्युत्थान चक्र (evolutionary cycle) कहते है।
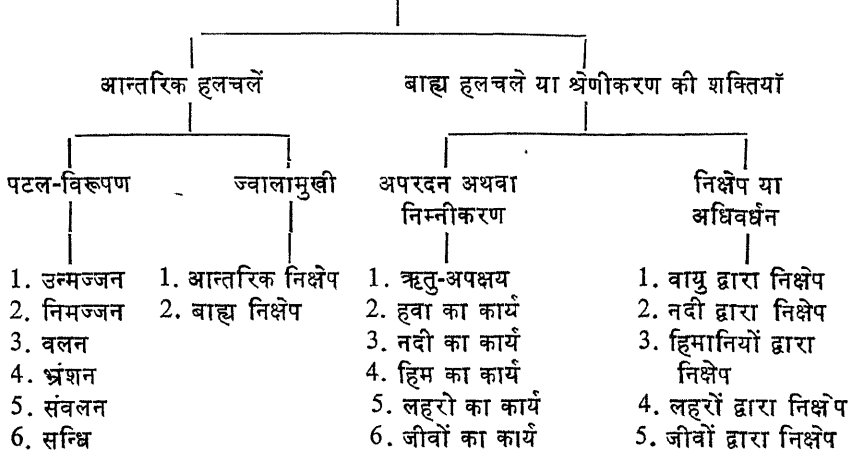
पटल-विरूपण
(Diastrophism)

भू-पटल के वे सभी विक्षोभ (disturbance) तथा स्थान भ्रंश (dislocation) जिनसे पृथ्वी का पपड़ा झुकता है, मुड़ता है और टूट जाता है और परिणामस्वरूप धरातल पर बड़ी विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं, पटल-विरूपण कहा जाता है। **फिंच व ट्रिवार्था** के अनुसार, "**पटल विरूपण से आशय उन समस्त प्रक्रमों** (processes) **से हैं जिनका भू-पटल के उन्मज्जन, निमज्जन या किसी एक भाग के सम्बन्ध में दूसरे भाग के विस्थापन और उसके टूटने, मुड़ने तथा संवलित होने में योग होता है।**"[1]

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि पटल निरूपण भू-गतियों का परिणाम है। इन भू-गतियों के स्पष्ट दो भेद है :

---

[1] "Diastrophism includes those processes which are involved in breaking, bending and working of the earth's crust and the elevation depression or displacement of one part with respect to another." —*Finch and Trewartha*

(1) महाद्वीप निर्माणकारी हलचले (epeirogenetic or continent building forces),

(2) पर्वत-निर्माणकारी हलचले (orogenetic or mountain building forces)।
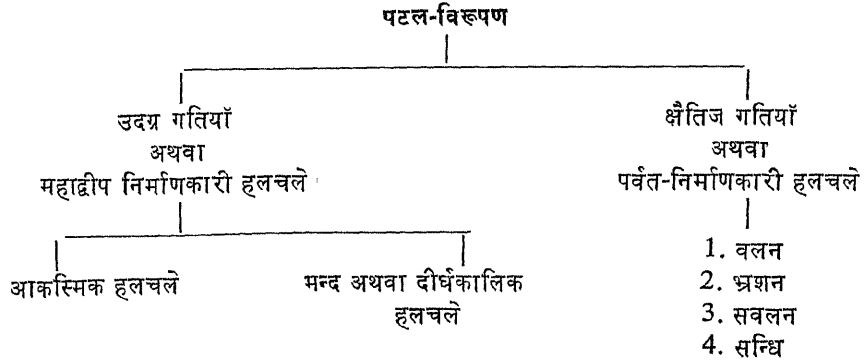
महाद्वीप निर्माणकारी हलचलें
(Epeirogenetic Movement)

ग्रीक भाषा मे 'epeiros' शब्द का अर्थ महाद्वीप से होता है। 'Epeiros' शब्द से ही epeirogenetic शब्द बना है। अत. वे हलचले जिनसे महाद्वीपों का निर्माण होता है महाद्वीप निर्माणकारी हलचले कहलाती है। वस्तुत. ये हलचलें भू-गर्भ की उदग्र गतियाँ है जो सदैव लम्बवत दिशा मे क्रियाशील रहती है। इनसे समतल धरातल विषम हो जाता है अर्थात् भू-पटल के कुछ भाग ऊपर उठ जाते है और कुछ नीचे धँस जाते हैं। इस प्रकार इन हलचलों से भू-पटल का उन्मज्जन और निमज्जन होता है जिससे पृथ्वी पर महाद्वीप, पठार तथा मैदान की रचना होती है। यूरोपीय रूस का मैदान, मिसीसिपी का अफ्रीका का पठार तथा विन्ध्याचल के श्रृंग तथा पठार ऐसी ही हलचलो से निर्मित हुए हैं। दिशा के आधार पर इन्हें दो वर्गो मे बाँटा जा सकता है : (i) ऊपरीमुखी सचलन तथा (ii) अधोमुखी संचलन।

(i) **ऊपरीमुखी संचलन** (Upward Movement)—इस प्रकार के संचलन के कारण महाद्वीपो में दो प्रकार से उत्थान होता है—प्रथम, जब महाद्वीप का कोई भाग समीपीय सतह से ऊपर उठ जाता है। इसे उत्थान (up-liftment) या उभार कहा जाता है। द्वितीय, जब महाद्वीप का तटीय भाग समुद्र-तल से ऊपर उठ जाता है। इसे निर्गमन (emergence) कहा जाता है।

(ii) **अधोमुखी संचलन** (Downward Movement)—इसमे महाद्वीपीय भाग दो तरह से नीचे धँसता है—प्रथम, जब स्थल का कोई भाग अपनी समीपीय सतह से नीचे धँस जाता है। इसको अवतलन (subsidence) कहा जाता है। द्वितीय, जब कोई स्थल भाग सागर तल से नीचे बैठ जाता है अथवा जलमग्न हो जाता है। इसको निमज्जन (sub-mergence) कहते है। अवतलन की क्रिया कही भी हो सकती है, किन्तु निमज्जन की क्रिया तटीय भागों में ही होती है। उपरोक्त गतियों से पृथ्वी पर महाद्वीप, पठार तथा मैदानों की रचना होती है।

इन निर्माणकारी हलचलों के दो भेद हैं :

(1) आकस्मिक (Sudden or Rapid),

(2) मन्द और दीर्घकालिक (Slow and Secular)।

(1) **आकस्मिक हलचलें** (Sudden Movements)—इसके अन्तर्गत भूकम्प तथा ज्वालामुखी की घटनाएँ आती हैं। ये घटनाएँ भू-पटल पर यकायक परिवर्तन उपस्थित कर देती

है। उदाहरणतः, सन् 1885 मे एक भूकम्प के प्रभाव से न्यूजीलैण्ड में कुछ स्थल भाग 9 फुट ऊँचा उठ गया था। इसी प्रकार जापान के भूकम्प के कारण सन् 1891 मे भूमि का कुछ भाग 20 फुट नीचे धँस गया। भारत मे सन् 1819 के कच्छ के भूकम्प से कोई दो हजार वर्गमील क्षेत्र 15 फुट तक भूमि में धँस गया और 600 वर्गमील का एक अन्य स्थलखण्ड ऊपर उठ गया था। इस प्रकार आकस्मिक अथवा तीव्र हलचलो से धरातल के कई भाग ऊपर-नीचे हो जाते है, किन्तु इनका प्रभाव केवल स्थानीय (local) रहता है।

(2) **मन्द अथवा दीर्घकालिक हलचले** (Slow and Secular Movement)—इन हलचलों से भू-पटल का विस्तृत क्षेत्र प्रभावित होता है। इन गतियो के कारण धरातल के विशाल भू-भाग धीरे-धीरे ऊपर उठ जाते है अथवा नीचे धँस जाते है। धरातल के विशाल क्षेत्रों का इस प्रकार ऊपर उठना और नीचे धँसना भू-सन्तुलन सम्बन्धी परिवर्तन अथवा समुद्र-जल के तल-परिवर्तन के कारण होता है। इन दोनो ही परिवर्तनों का धरातल की रचना पर एकसमान प्रभाव होता है। जब धरातल पर भू-सन्तुलन सम्बन्धी परिवर्तन होते है तो समुद्र की सतह पर उसका प्रभाव केवल स्थानीय (local) होता है। परन्तु समुद्र-जल के तल मे जो परिवर्तन होता है वह विश्वव्यापी होता है। समुद्र-जल के तल में हुए इस विश्वव्यापी परिवर्तन को **सुस्थितिक** (Eustatic) परिवर्तन कहा जाता है। समुद्र की सतह मे विश्वव्यापी परिवर्तन हिम-युगों में हिमनदियो के आगे-पीछे हटते समय कई बार हुआ है।

महाद्वीपकारी हलचलो के फलस्वरूप भूमि के ऊपर उठने और नीचे धँसने के अनेक प्रमाण धरातल पर देखे जाते है। उनमे से कुछ प्रमाण नीचे दिये जा रहे है

भूमि के उन्मज्जन के प्रमाण (Evidences of Emergence)

(1) भूमि के उन्मज्जन का सर्वोत्तम उदाहरण धरातल की प्रस्तरीभूत चट्टाने हैं। हम यह भली प्रकार जानते है कि सभी प्रस्तरीभूत चट्टानों का जन्म समुद्र-गर्भ मे हुआ है। अतः यह प्रकट है कि धरातल की सभी प्रस्तरीभूत चट्टाने कभी न कभी समुद्र-गर्भ से ही ऊपर उठी है। स्वीडन के दक्षिणी-पूर्वी तट के अध्ययन से यह पता चला है कि वह पिछले 100 वर्षो के भीतर लगभग 3 फुट ऊपर उठ गया है। इसी प्रकार फ्लोरिडा और पश्चिमी समूह के तटों के समीप भी उन्मज्जन के प्रमाण मिले है। यद्यपि भूमि के उन्मज्जन की यह गति बहुत ही धीमी है परन्तु यदि हम यह समझ ले कि हमारी पृथ्वी करोड़ों वर्ष पुरानी है तो हमे उन्मज्जन के परिमाण का कुछ आभास हो सकता है। पृथ्वी की आदि-अवस्था में इस प्रकार की हलचले बहुधा होती रही होगी, जिसके फलस्वरूप महाद्वीपों की रचना सम्भव हुई होगी।

(2) धरातल के अनेक स्थानो पर समुद्र की वर्तमान सतह से काफी ऊँचाई पर समुद्री गुफाएँ (sea caves), तरंग-जनित वेदिकाएँ (platforms), समुद्री कगारें (sea cliffs) आदि पायी जाती हैं जो धरातल के उन्मज्जन का स्पष्ट प्रमाण है।

(3) समुद्र की सतह से काफी ऊँचाई पर समुद्री जीवों के अवशेषो से बनी चट्टानों का विद्यमान होना भी उन्मज्जन को ही प्रमाणित करता है। प्रशान्त तट पर कई स्थानो पर मूँगे की चट्टानें (coral reefs) समुद्र-तल से बहुत अधिक ऊँचाई पर पायी गयी है। इस प्रकार सौराष्ट्र के तट पर चोटीला पर्वत के 1173 फुट ऊँचे शिखर पर कंगुकाश्म (Miliolite) नामक चूने का पत्थर पाया जाता है जो कगुक नामक समुद्री जीव के अवशेषों से बना है।

(4) कई स्थानों पर समुद्री जीवों के कर्पर (shells) और ऐसी चट्टाने जिनमें जीवों द्वारा निर्मित सुराख है, पाये गये है। मकरान तट समुद्र-तट से 100 फुट की ऊँचाई पर तथा भारत के पूर्वी तट पर 50 फुट से 100 फुट की ऊँचाई पर समुद्री जीवो के कर्पर (shells) प्राप्त हुए है। पश्चिमी द्वीप समूह और दक्षिणी अमरीका के तटों पर समुद्र की सतह से काफी ऊँचाई पर ऐसी

चट्टाने देखी गयी है जिनमे समुद्री जीवों द्वारा निर्मित सुराख है। अतः ये सब प्रमाण भूमि के उन्मज्जन को ही इंगित करते है।

भूमि के निमज्जन के प्रमाण (Evidences of Submergence)

महाद्वीपकारी हलचलों के कारण भूमि का उन्मज्जन ही नही होता बल्कि उसका निमज्जन भी होता है। समुद्र के गर्भ मे छिपे रहने के कारण यद्यपि निमज्जन के प्रमाण बहुत ही कम देखने मे आते है किन्तु फिर भी अनेक स्थानो पर ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए है जो भूमि के निमज्जन को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। ऐसे कुछ प्रमाण नीचे दिये जा रहे है :

(1) बंगाल मे कलकत्ता के समीप झील क्षेत्र मे इमारतो और वृक्षो के ऐसे कई अवशेष प्राप्त हुए है जो स्पष्टत. भूमि के निमज्जन के द्योतक है। यहाँ पर कई वृक्ष, इमारतें व गलियाँ भूमि मे नीचे धँसी हुई है।

(2) यूरोप के उत्तरी सागर के तट तथा पाण्डिचेरी के निकट ऐसे जीर्णक निक्षेपों (peat-bogs deposits) का पता चला है जो अधिनूतन और अभिनव काल में भूमि के नीचे धँसने को प्रमाणित करते है।

(3) पश्चिमी भारतीय तट पर बम्बई के समीप और. पूर्वी-तट पर टिन्नेवैली के समीप ऐसे जगलो का पता चला है जो भूमि के निमज्जन के कारण अब भूमि के नीचे दबे हुए है। सन् 1878 मे बम्बई के समीप तट की खुदाई के समय ऐसे कई वृक्ष पाये गये जो उच्च ज्वार की सीमा से 33 फुट नीचे धँसे हुए थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि वहाँ कम से कम 33 फुट भूमि नीचे धँस गयी थी। यहाँ पाये गये सैकड़ों वृक्ष अपनी मूल स्थिति मे ही खड़े थे और कुछ झुकी हुई दशा मे पाये गये थे। धरातल के निमज्जन का यह बहुत सुन्दर उदाहरण है।

(4) उपरोक्त प्रमाणो के अतिरिक्त धरातल के निमज्जन का उत्कृष्ट उदाहरण इटली मे नेपल्स नगर के सेरापीज का मन्दिर है। इस मन्दिर के खण्डहरों के अध्ययन से पता चलता है कि वह छह-सात बार समुद्र में विलीन हो चुका है और फिर ऊपर उठ गया है। इस मन्दिर के तीन खम्भे अभी तक सुरक्षित विद्यमान है। ये खम्भे धरातल से 12 फुट ऊँचाई तक एकदम चिकने है और 12 से 21 फुट की ऊँचाई तक इनमे समुद्री जीवों द्वारा निर्मित छिद्र बने हुए है। इससे यह प्रमाणित होता है कि उक्त मन्दिर 21 फुट तक नीचे धँसा हुआ था। इसके खम्भों मे 12 फुट तक समुद्री जीवो द्वारा निर्मित कोई छिद्र नही देखे जाते। फिर समयान्तर मे यह पुनः ऊपर उठ गया।

पर्वत-निर्माणकारी हलचलें
(Orogenetic Movements)

ग्रीक भाषा मे **'ओरोज'** शब्द का अर्थ पर्वत से होता है। इस 'ओरोज' शब्द से ही **'ओरोजेनिटिक'** शब्द बना है, जिसका आशय पृथ्वी की उन हलचलों से है जिनसे पर्वतों की रचना होती है। वस्तुत. ये हलचले पृथ्वी की क्षैतिज गतियाँ हैं जिसमें तरंगें एक ओर से दूसरी ओर को चलती है। यद्यपि इन गतियो का प्रभाव भू-पटल के सीमित क्षेत्र मे ही होता है, परन्तु इनसे भू-पटल की शैलो मे भारी उथल-पुथल हो जाती है। इन गतिविधियों के कारण भू-पटल की शैलें मुड़ जाती है, टूट जाती है, अथवा उलट जाती हैं। भू-पटल की शैलों के मुड़ने से ही पर्वतो की रचना होती है।

पर्वतो की रचना करने वाली क्षैतिज गतियों में दो प्रकार की शक्तियाँ कार्यशील होती है :

(क) सम्पीडन गति (Compressional movement),

(ख) तनाव-मूलक गति (Tensional movement)।

उपरोक्त दोनों प्रकार की गतियो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब भू-पटल के किसी एक भाग मे सम्पीडन होता है तो दूसरे भाग में तनाव उत्पन्न हो जाता है और यदि कही तनाव होता है तो अन्यत्र सम्पीडन उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार भू-पटल पर उत्पन्न एक प्रकार की हलचल से दूसरी प्रकार की हलचल पैदा हो जाती है। धरातल पर पर्वतो की रचना इन दोनो ही शक्तियों के सयुक्त प्रभाव का फल है। कुछ विद्वान केवल सम्पीडन गति को ही पर्वत-निर्माण का कारण मानते है। किन्तु पर्वत-निर्माण के सीमित क्षेत्र मे शक्तियाँ क्षैतिज न होकर सम्पाती रूप में (tangentially) कार्य करती है जिससे चट्टानो के स्तरो में काफी तनाव होता है। इस प्रकार पर्वत-निर्माण में सम्पीडन एवं तनाव दोनों ही शक्तियाँ काम करती है। वस्तुत. सम्पीडन और तनाव-मूलक गतियो मे समय और स्थान द्वारा पृथक्करण कदापि सम्भव नही है।

पर्वत-निर्माणकारी हलचलो का भू-पटल पर चार प्रकार से प्रभाव पड़ता है :

(क) वलन (Folding),
(ख) भ्रंशन (Faulting),
(ग) संवलन (Warping)
(घ) सन्धि (Jointing)

वलन (Folding)

भू-पटल पर जब अवसादी शैलो की रचना होती है तो प्रारम्भ से उसके स्तर (layers) समतल होते है। किन्तु पृथ्वी की सम्पीडन गति के कारण जब इन पर विपरीत दिशा में दबाव पड़ता है तो उनमें सिकुड़न पैदा होती है और वे मुड़ जाती है। फिंच के अनुसार, **"शैल स्तरों के इस प्रकार बहुत अधिक मुड़ जाने को ही वलन** (Folding) **कहा जाता है।"**[1]

वलन मे शैलो की रचना लहरदार हो जाती है जिससे उनमे ऊर्ध्व तथा गर्त बन जाते है। लहरदार मोड़ के ऊर्ध्व को **अपनति** (Anticline) और गर्त को **अभिनति** (Syncline) कहते है। **अपनति** में शैल-स्तर मोड़ शिखर से विपरीत दिशा की ओर झुके रहते है। इनके निर्माण-काल में

चित्र 362—अपनति और अभिनति

शीर्ष भाग मे तनाव बहुत अधिक होता है अतः वहाँ बहुत अधिक तोड़-मरोड़ होती है। **अभिनति में शिला स्तर की** भुजाओ का झुकाव एक-दूसरे के सम्मुख होता है और वे दोनों मोड़ के पेंदे

1 "The class bending of rock layers is called folding."
—*Finch*, *Trewartha* and *Shearer*

(bottom) मे मिलती है। इस प्रकार इसकी आकृति अपनति के विपरीत होती है। भू-पटल के शैलो मे पड़ने वाली असाधारण लहरे जब अपनति के रूप मे अपने उत्पन्न होने वाले स्थान पर ही बनी रहती है तो इस लहरदार क्षेत्र को **स्वस्थानिक पट्टी** (Autochthonous belt) कहा जाता है।

सम्पीडन के कारण भू-पटल की शैलों में पड़ने वाले मोड़ कभी भी सरल रूप मे नही पाये जाते। प्रायः सम्पीडन और तनाव की गति, दिशा और तीव्रता मे बड़ा अन्तर होता है। फलस्वरूप भू-पटल के विभिन्न भागो मे शैलों में पड़ने वाले मोड़ भी विभिन्न आकार, विस्तार एवं झुकाव के देखे जाते हैं। जब सम्पीडन गति केवल एक ओर से होती है और दूसरी ओर कोई स्थिर कठोर भाग होता है तो भू पटल पर पडने वाली मोड़े नीची और चौड़ी होती हैं। इससे अपनति और अभिनति का साधारण क्रम बन जाता है। किन्तु स्थिर कठोर भाग के समीप ऊँची अपनतियाँ बनती है और गति वाले भाग की ओर उनकी ऊँचाई क्रमशः नीची होती जाती है। ऐसे मोडो को **विवृत वलन** (open fold) कहा जाता है। यदि सम्पीडन गति दोनो ओर से बड़ी तीव्रता के साथ कार्यशील होती है तो भू-पटल पर वलन पड़ने की क्रिया इतनी शीघ्र और जटिल होती है कि जिससे शैले टूटकर उलट जाती है अथवा खिसक जाती है।

स्तर-विन्यास अवसादी शैलों की सरचना का प्रथम गुण है। इनमे विभिन्न प्रकार के अवसादो का निक्षेप क्रम से एक स्तर के बाद दूसरे स्तर के रूप मे होता है। प्रारम्भ में अधिकांश अवसादों का निक्षेप समतल अथवा बहुत ही कम झुके हुए धरातलों पर हुआ। अतः अवसादी शैलो के स्तर समतल और समान्तर रूप से ही होने चाहिए। किन्तु धरातल के कई भागों मे विशाल मोटाई के शिला-स्तर पर्वत-निर्माणकारी हलचलो से मुड़ गये हैं। इसलिए वे अब झुकी हुई दशा मे स्थित पाये जाते है। कभी-कभी इनकी यह स्थिति मीलों तक देखी जाती है। ये मुड़े हुए शिला-स्तर प्रायः किसी ऊपर उठे हुए चौड़े वलन का एक किनारा होता है। ये शिला-स्तर अधिकाशतः एक ही दिशा में झुके हुए होते है। धरातल मे इन मुड़े हुए शिला-स्तर की स्थिति नमन (dip) द्वारा प्रकट की जाती है। **समतल धरातल के मोड़ के कारण जो ढाल का कोण बनता है, उसे नमन (dip) कहा जाता है।**[1] इसका आधार क्षितिज के लम्बवत रेखा होती है, यद्यपि यह केवल काल्पनिक रेखा ही होती है, इसको कम्पास की दिशाओ मे प्रकट किया जाता है। जैसे उत्तर-पूर्व की दिशा मे 15 का नमन है। इस प्रकार इस कोण का आधार क्षितिज दिशा के लम्बवत बनने वाली काल्पनिक रेखा है। **किसी तल की उस दिशा को जो नमन की दिशा की समतल रेखा से समकोण बनाती है, उसे अनुदैर्ध्य** (strike) **कहते है।**[2] अनुदैर्ध्य के कोण को नापने का आधार स्वयं क्षितिज रेखा होती है। अनुदैर्ध्य को बताने के लिए भी कम्पास दिशाओ का प्रयोग किया जाता है। अनुदैर्ध्य हमेशा धरातल के ऊपर की ओर नापा जाता है। भू-पटल पर बिछे शिला-स्तरों के नमन की दिशा और उसके झुकाव
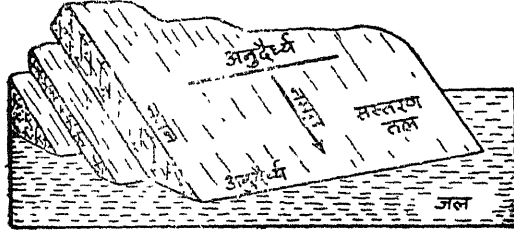
चित्र 363—अनुदैर्ध्य दिशा और नमन

---

1 "The dip in both the direction of the maximum slope down a bedding plane and the angle between the maximum slope and the horizontal." —*A. Holms*

2 "The strike of an inclined bed is the direction of any horizontal line along a bedding plane," —*A. Holms*

की मात्रा का बहुत बड़ा महत्त्व होता है, क्योंकि इनके द्वारा ऊपरी धरातल से दी हुई दूरी तक स्तरों की गहराई ज्ञात की जा सकती है। भू-पटल पर किसी शैल-स्तर का दिखाई देने वाला धरातल **दृश्यांश** (outcrap) कहलाता है।

वलन के प्रकार (Kinds of Folds)

सम्पीडन की तीव्रता और शैलो की संरचना के अनुसार भू-पटल पर कई प्रकार के वलन पड़ जाते है। वलन के प्रमुख रूप निम्न है.

(1) सुडौल या समित वलन (Symmetrical folding),
(2) बेडौल या असमित वलन (Asymmetrical folding),
(3) एकनत वलन (Monoclinal folding),
(4) समनत वलन (Isoclinal folding),
(5) परिवलन (Recumbent folding),
(6) पखाकार वलन (Fan folding),
(7) अधिक्षिप्त वलन (Overthrust folding),
(8) ग्रीवाखण्ड या नापे (Nappes)।

(1) **संमित वलन** (Symmetrical Fold)— इस प्रकार के वलन में उसकी भुजाएँ सुडौल होती है। वलन की दोनो भुजाओ का झुकाव समान होता है इसकी अक्ष-रेखा लम्बवत रहती है और वलन खुले हुए तथा सीधे होते है।
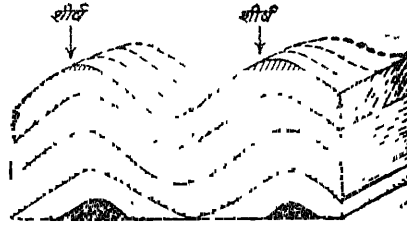
(2) **असंमित वलन** (Asymmetrical Fold)—इस प्रकार के वलन मे एक भुजा लम्बी और दूसरी छोटी होती है। लम्बी भुजा का ढाल क्रमिक और छोटी भुजा का तीव्र होता है। दूसरे शब्दों में, जब छोटी भुजा का झुकाव लम्बी भुजा की अपेक्षाकृत अधिक होता है तो उस वलन को असंमित वलन कहा जाता है।

चित्र 364—संमित वलन
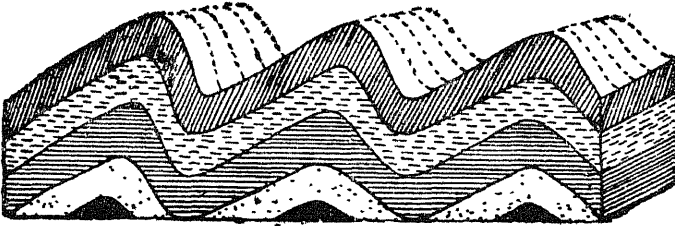
चित्र 365—असंमित वलन

(3) **एकनत वलन** (Monoclinal Fold)—जब वलन की एक भुजा बिलकुल लम्बवत होती है और दूसरी भुजा का झुकाव बहुत कम रहता है तो उसे एकनत वलन कहा जाता है। इसका निर्माण सम्पीडन गति द्वारा न होकर पृथ्वी की उदग्र गति द्वारा होता है। उदग्र गति के कारण इसकी एक भुजा ऊपर उठ जाती है और दूसरी भुजा या तो नीचे दब जाती है या यथास्थान बनी रहती है। कालान्तर में यह भ्रंशन का रूप ले लेती है;

चित्र 366—एकनत वलन

(4) **समनत वलन** (Isoclinal Fold)—जब सम्पीडन के कारण दोनो दिशाओ से समान दबाव पड़ता है तो मोड़ की दोनों भुजाएँ एक ही दिशा मे झुक जाती है और एक-दूसरी के समान्तर भी होती है। शैलो के ऐसे वलन **समनत वलन** कहलाते हैं।

चित्र 367—**समनत वलन**

(5) **परिवलन** (Recumbent Folding)—जब किसी शिला-स्तर पर सम्पीडन के कारण विपरीत दिशा से इतना अधिक दबाव पडे कि उसकी एक भुजा दूसरी भुजा के ऊपर चढ़ जाय तो उससे परिवलन की रचना हो जायगी। वस्तुतः जब वलन की दोनो भुजाएँ प्राय. क्षैतिज दिशा मे झुक जाती हैं तो उसे **परिवलन** कहते हैं।

(6) **पंखाकार वलन** (Fan Folding)—जब किसी क्षेत्र में दोनो ओर से सम्पीडन का दीर्घकाल तक प्रभाव होता रहता है तो उसका मध्यवर्ती भाग मेहराब के रूप मे ऊपर उठ जाता है और उसके दाये-बाये मोड़ो का प्रसार हो जाता है। शिलाओं मे मोड़ो की इस प्रकार रचना हो जाने से उसका रूप पंखाकार हो जाता है। अतः ऐसे वलन **पंखाकार वलन** कहलाते है।

चित्र 368—**पंखाकार वलन**

(7) **अधिक्षिप्त वलन** (Overthrust Fold)—जब भू-पटल की शैलो पर सम्पीडन अत्यधिक बढ़ जाता है तो परिवलन मोड़ अपनी धुरी पर टूट जाता है और उसका एक वृहत शिलाखण्ड खिसककर दूसरे खण्ड पर आरोपित हो जाता है। इस प्रकार शैलो के क्रम में उलट-पुलट हो जाने को **उत्क्रम** (Thrust) कहते है। जिस तल से होकर शिलाखण्ड आगे बढता है उसे **उत्क्रम तल** (Thrust plane) कहते है। वलन का ऊपरी उठा हुआ भाग **अधिक्षिप्त वलन** कहा जाता है। शैलों में इस प्रकार के वलन पड़ जाने से प्राचीनकाल की शैले नवीन शैलो के ऊपर पहुँच जाती है।

चित्र 369—**अधिक्षिप्त वलन**

(8) **ग्रीवाखण्ड** (Nappes)—फ्रांसीसी भाषा मे 'नापे' का अर्थ मेजपोश से होता है। जिस प्रकार मेजपोश अपनी मेज से भिन्न होता है, उसी प्रकार नापे (ग्रीवाखण्ड) की चट्टाने अपने नीचे की चट्टानो से भिन्न होती है। जब कभी सम्पीडन के अधिक बढ जाने से परिवलित मोड़ का शिलाखण्ड समूह टूटकर अपने मूल स्थान से बहुत दूर पहुँच जाते है तो उसे **नापे** अर्थात् **ग्रीवाखण्ड या प्रच्छेद** कहा जाता है। इसमे परिवर्तित मोड़ों की ऊपरी शिलाएँ विभंग तल (plane of fracture) के सहारे मीलों दूर खिसक जाती हैं। अत. इनकी शैलों का उस स्थान की शैलों की रचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आल्प्स तथा हिमालय पर्वतों में ऐसे अनेक ग्रीवाखण्ड पाये जाते हैं।

चित्र 370—**ग्रीवाखण्ड**

भ्रंश-तल कोण (Hade)—भ्रंश-तल लम्ब से जिस कोण का निर्माण करता है उसे **भ्रंश-तल कोण** कहा जाता है।

चिह्न (Trace)—शिला-स्तरों की सतह पर पाये जाने वाले भ्रंश-तल के दृश्यांश (outcrap) को **चिह्न** कहते है।

भ्रंशन के प्रकार (Kinds of Fault)

(1) **समान्तर भ्रंश** (Parallel Fault)—जब किसी पर्वत-श्रेणी की रचना सम्पीडन की अधिकता से होती है तो उससे अनुदैर्ध्य के समान्तर भ्रशों का निर्माण होता है। ऐसे भ्रश **समान्तर भ्रंश** कहलाते है।

(2) **सामान्य भ्रंश** (Normal Fault)—जब भ्रंशन के कारण भ्रंश-तल के एक ओर के शिला-स्तर टूट कर नीचे धँस जाते है और शीर्ष-भित्ति अधःक्षेपित खण्ड की ओर होती है तो उसे **सामान्य भ्रंश या गुरुत्व भ्रंश** (gravity fault) कहा जाता है। इसमे प्रायः भ्रशन के दोनो किनारे विपरीत दिशा मे खिसक जाते है। इस प्रकार के भ्रश मे भ्रंशित तहों का प्रसार हो जाता है। इसमें लम्बवत शक्ति बहुत अधिक कार्यशील होती है किन्तु तनाव के कारण फैलाव हो जाता है।
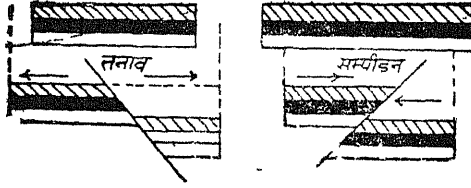
चित्र 372—सामान्य भ्रंश और व्युत्क्रम भ्रंश

(3) **व्युत्क्रम भ्रंश** (Reversed Fault)—यह सामान्य भ्रश का विपरीत रूप है। जब भ्रंश-तल का झुकाव तथा अधःक्षेप की दिशा दोनों ही दायीं अथवा बायीं ओर होती है तो व्युत्क्रम भ्रंश का निर्माण होता है। इसमें भ्रश-तल के ऊपरी भाग की शैलें सम्पीडन के कारण निचले भाग की अपेक्षा ऊपर अधिक उठ जाती है और भ्रश-तल के एक ओर की शैलें दूसरी ओर के शिला-स्तर पर चढ जाती हैं। इस भ्रश में शीर्ष-भित्ति उत्क्षेपित खण्ड की ओर होती है। ऐसे भ्रंशन सम्पीडन शक्ति के कारण बनते है। अतः इन्हें **सम्पीडन भ्रंश** (compressional fault) भी कहते हैं। भू-पटल पर इससे प्रभावित क्षेत्र भ्रश-तल के सहारे कम हो जाता है। भ्रश-तल के ऊपरी भागों में परिवलित मोड़ों की मध्यवर्ती शाखाओं मे व्युत्क्रम भ्रश पड़ने की गति उत्पन्न हो जाती है।

(4) **नमन भ्रंश** (Dip Fault)—इसमे शैलो का खिसकाव नमन कोण की दिशा के समान्तर होता है। इस ंशन मे सम्बन्धित शिला-स्तरों की अनुदैर्ध्य दिशा सीधी आर-पार होती है।

(5) **अनुदैर्ध्य भ्रंश** (Strike Fault)—इसमे भ्रशन सम्बन्धित शिला-स्तरो की अनुदैर्ध्य दिशा के समान्तर होता है।

(6) **क्षेप भ्रंश** (Thrust Fault)—यह भ्रंश उत्क्रम भ्रंश की एक विशेष अवस्था है। इससे भ्रंश-कोण अत्यन्त न्यून और शिला-स्तरो का विस्थापन (displacement) अभिस्पन्दित (heaved) होता है। यदि क्षेप-भ्रश के तल का नमन कम होता है तो उसे **न्यूनकोण क्षेप** (Low angle thrust) कहा जाता है। वलित पर्वतो के क्षेत्रों मे ऐसी आकृतियाँ बहुत मिलती हैं। प्रायः इन आकृतियों के दो रूप देखे जाते है—(i) **वाही उत्क्रम** (Over thrust), और (ii) **अन्तः उत्क्रम** (Under thrust)। वाही उत्क्रम मे शैलों का खिसकाव और टूटना ऊपर की ओर होता है जबकि अन्तः उत्क्रम भ्रश में नीचे की ओर।
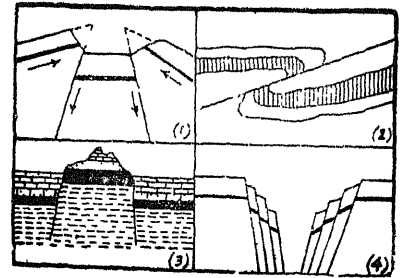
चित्र 373—1. सोपान भ्रंश; 2. उत्क्रम भ्रंश, 3. कटक भ्रंश, 4. विभ्रंश घाटी

(7) **सोपान भ्रंश** (Step Fault)—जब कई सामान्य भ्रंशो का एक ही दिशा मे निर्माण होता है तो वे सोपान की भाँति दिखाई पड़ते है। ऐसे भ्रशो को **सोपान भ्रंश** कहा जाता है।

(8) **आड़ा भ्रंश** (Oblique Fault)—जब अनुदैर्ध्य दिशा के आर-पार किसी भी दिशा में शिला स्तरों के खिसकने से भ्रंशन होता है तो उसे **आड़ा भ्रंश** कहा जाता है।

(9) **तिर्यक भ्रंश** (Tear Fault)—यह एक प्रकार का लम्बवत भ्रशन है किन्तु इसमें भ्रश-तल के एक भाग के सापेक्ष दूसरे भाग की लम्बवत गति होने की अपेक्षा, विस्थापन भ्रंश-रेखा के सहारे क्षैतिज रूप मे होता है। कभी-कभी भूकम्पो के समय इनका प्रभाव देखा जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका के सेन एण्ड्रियाज भ्रश मे एक बार यकायक गति आ जाने से सेन फ्रांसिस्को नगर मे भूकम्प आ गया था। ब्रिटेन मे स्कॉटलैण्ड का ग्रेट ग्लेन (Great Glen) का भ्रशन विश्व के बड़े-बड़े तर्यक भ्रशनो मे से एक है। यहाँ शिला-स्तरो का क्षैतिज विस्थापन लगभग 65 मील की दूरी तक हुआ है।

भ्रंश जनित भू-आकार (Landforms Resulting from Faults)

भू-पटल पर भ्रंशन के कारण निम्नलिखित भू-आकारो का निर्माण होता है :

(1) कगार भ्रश (Fault scrap),
(2) कटक भ्रश (Ridge faulting),
(3) चूल भ्रंश (Hinge faulting),
(4) घूर्णी भ्रंश (Rotary faulting),
(5) द्रोणी भ्रंश (Trough faulting)।

(1) **कगार भ्रंश** (Fault Scrap)—जब तनाव द्वारा भू-पटल मे भ्रंशन की क्रिया होती है तो उससे शिला-पिण्ड का एक भाग ऊपर उठ जाता है और दूसरा नीचे धँस जाता है। शिलाओं के इस प्रकार खिसक जाने से एक ढालू किनारे याले पर्वत का रूप बन जाता है। इसी ढालू पर्वतीय रूप को **कगार भ्रंश** कहते हैं। ये कगार भ्रंश उन भागों मे पाये जाते हैं जहाँ कुछ ही समय पूर्व भू-गतियाँ हुई हों और जहाँ की जलवायु शुष्क तथा ऋतु-अपक्षय की गति मन्द हो, क्योंकि ऋतु-अपक्षय के कारण इसके ढालू कगार धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।
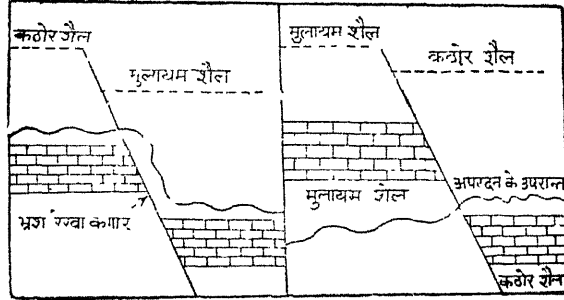
चित्र 374—कगार भ्रंश

ऐसे कगार भ्रश संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी भाग मे अधिक देखे जाते है।

जब भ्रंशन असमान कठोरता वाली शैलों मे होता है तो नीचे की मुलायम शैल शीघ्रता से घिस जाती है जिससे सतह मे अधिक अन्तर पैदा हो जाता है। इनकी कगार भ्रंश रेखा प्रारम्भिक कगार भ्रश रेखा के समान होती है। अतः इन्हे मूल **भ्रंश रेखा कगार** (Resequent fault line scrap) कहते है।

जब कगार भ्रंश मे कठोर शैलें नीचे और मुलायम शैले ऊपर होती हैं तो क्रमिक ढाल की उत्पत्ति होती है। इसमे भ्रंश रेखा कगार प्रारम्भिक कगार भ्रंशन से बिलकुल विपरीत होती है। इसको **प्रत्यानुवर्ती भ्रंश रेखा कगार** (Obsequent fault line scrap) कहते हैं।

(2) **कटक भ्रंश** (Ridge Faulting)—कभी-कभी तनाव द्वारा भू-पटल पर गहरे भ्रंश बन जाते है। जब दो समान्तर भ्रशों का मध्यवर्ती भाग उद्गति (upheaval) द्वारा ऊपर उठ

जाता है अथवा समान्तर भ्रंशों के बाहर का भाग अधोगति (subsidence) द्वारा निमज्जित हो जाता है तो दोनों ही अवस्थाओं मे मध्यवर्ती भाग ऊपर उठे हुए कटक (ridge) के समान प्रतीत होता है, अतः इसको **कटक भ्रंश** कहा जाता है। जर्मनी मे इन्हें **अवरोधी पिण्ड या होर्स्ट** (Hoist) कहते है। फ्रांस मे **वॉसजेस,** जर्मनी में **हर्ज** पर्वत तथा **ब्लैक फॉरेस्ट** के पर्वत **होर्स्ट पर्वतों** के अच्छे उदाहरण हैं।

(3) **चूल भ्रंश** (Hinge Faulting)—जब भ्रंशन मे एक किनारे की शैलें यथास्थान स्थित रहती है और दूसरे किनारे की शैलों में विस्थापन होता है तो उसे **चूल भ्रंश** कहते है।

(4) **घूर्णी भ्रंश** (Rotary Faulting)—जब भ्रशन चूल की गति का होता है और उसमें चट्टानी तहों का एक भाग ऊपर उठा हुआ तथा दूसरा नीचे की ओर धँसा हुआ होता है तो उसे **घूर्णी भ्रंश** कहते है।

(5) **द्रोणी भ्रंश या भ्रंश घाटी** (Trough Faulting or Rift Valley)—यह होर्स्ट का विपरीत रूप है। जब दो समान्तर भ्रंशो का मध्यवर्ती भाग नीचे धँस जाता है तो उसे द्रोणी भ्रंश या भ्रंश घाटी कहते है। जर्मन भाषा मे इस प्रकार की घाटी को **ग्रेबन** (Graben) कहा जाता है। सर्वप्रथम **ग्रेगरी** ने पूर्वी अफ्रीका की महान भ्रंश घाटी (Great Rift Valley) को देखकर ही भ्रंश घाटी (rift valley) शब्द का प्रयोग किया। उसने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है, "A long strip of country let down between normal faults—or a parallel series of step faults—as if a fractured arch had been pulled apart by tension so that the key-stone dropped in a block or in strips." ग्रेगरी के अनुसार यद्यपि कुछ भ्रंश-घाटियों के तल (floors) स्पष्ट रूप से निमज्जित हुए है परन्तु कई ऐसे उदाहरण भी है जिनसे यह प्रकट होता है कि वे समीपीय पठारी धरातल के ऊपर उठने की अवधि में केवल पीछे रह गये है।
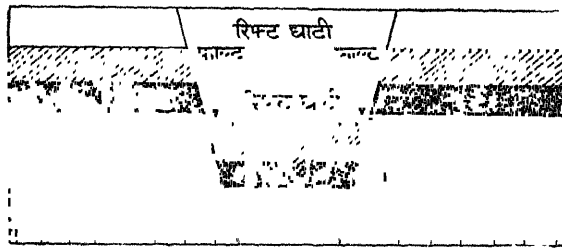
चित्र 375—रिफ्ट घाटी

भ्रंश घाटियों की उत्पत्ति

भ्रंश घाटियो की उत्पत्ति का प्रश्न बड़ा विवादास्पद है। इस सम्बन्ध मे प्रतिपादित निम्न परिकल्पनाएँ उल्लेखनीय हैं :

(1) **तनावमूलक परिकल्पना** (Tensional Hypothesis)—लगभग एक शताब्दी पूर्व राइन भ्रंश घाटी की तुलना मेहराब के गिरे हुए आधार पत्थर (keystone) से की गयी थी। इसी से तनावमूलक परिकल्पना की उत्पत्ति हुई। इस परिकल्पना के अनुसार किसी भवन के मेहराब के बीच वाले सबसे ऊपरी भाग में स्थित आधार पत्थर जब मेहराब मे दरार के कारण नीचे खिसक जाता है तो बीच में रिक्त स्थान बन जाता है। इसी भाँति धरातल पर चट्टानों मे तनाव के कारण दो स्थल-खण्डों के विपरीत दिशा में खिसक जाने के कारण उनके बीच का भाग जब नीचे खिसक जाता है तो वहाँ रिक्त स्थान बन जाता है। इस रिक्त स्थान को ही भ्रंश घाटी (rift valley) कहा जाता है।

भ्रंश घाटी के निर्माण के सम्बन्ध में उपरोक्त परिकल्पना कई गलत धारणाओं पर आधारित है। जैसे भवन के मेहराब के नीचे रिक्त स्थान होता है, फलस्वरूप आधार पत्थर सरलता से नीचे

खिसक सकता है। किन्तु धरातल की चट्टानों के नीचे ऐसा कोई रिक्त स्थान नही होता। अतः मध्यवर्ती चट्टाने नीचे नही खिसक सकेंगी। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि वह नीचे स्थित मैगमा को हटा देने मे समर्थ हो सके। यदि यह सम्भव हुआ तो भ्रंश घाटी के निर्माण के समय ज्वालामुखी क्रिया होनी चाहिए। किन्तु संसार की कुछ अत्यन्त गहरी द्रोणियो के समीप ज्वालामुखी के कोई चिह्न नही पाये गये। इससे स्पष्ट है कि भ्रंश घाटियो के निर्माण में उपरोक्त प्रक्रिया सदैव आवश्यक नहीं है। हाल ही में किये गये पर्यवेक्षणों से यह पता चला है कि भ्रंश घाटी के निर्माण के समय ज्वालामुखी क्रियाएँ शान्त हो गयी थी। यह तभी हो सकता है जबकि लावा के बाहर निकलने का मार्ग बन्द हो गया हो। सम्पीडन द्वारा सकुचन होने पर ही लावे का निकलना बन्द हो सकता है, न कि तनाव द्वारा विस्तार के कारण भ्रंश घाटी के निर्माण होने से। अस्तु आजकल तनावमूलक परिकल्पना अमान्य कर दी गयी है।

(2) **सम्पीडन मूलक परिकल्पना** (Compressional Hypothesis)—इस मत के अनुसार भ्रंश घाटियो की रचना भू-गर्भ मे गहराई पर होने वाले सम्पीडन के कारण होती है। इस मत के मुख्य प्रतिपादक वेलैण्ड, बेली बिलिस, वारेन डी० स्मिथ तथा बलार्ड है। इनके मतानुसार सम्पीडन के कारण उत्क्रम भ्रंश (thrust fault) के सहारे किनारे वाले खण्ड (horst) ऊपर की ओर सरकते है। इन्हें अधिक्षेपण रिफ्ट ब्लॉक (over-thrusting rift block) कहते है। ऊपर उठते हुए किनारो के कारण जो दबाव उत्पन्न होता है उसके कारण मध्यवर्ती भाग नीचे खिसक जाता है। इसे 'रिफ्ट ब्लॉक' (rift block) कहा जाता है। रिफ्ट ब्लॉक ऊपर से सँकरा और नीचे से चौड़ा होता जाता है। किनारे की ऊपर उठी हुई दीवालों से चट्टानों का सर्पण (slumping) होता है। इसलिए ऊपर उठी हुई दीवाले सामान्य भ्रंश के सदृश्य दिखाई पड़ती है। अल्बर्ट झील की भ्रंश घाटी मे सम्पीडन के स्पष्ट प्रमाण मिलते है।

बलार्ड की परिकल्पना (Hypothesis of Ballard)—सन् 1933-34 मे बलार्ड द्वारा किये गये घनत्व सर्वेक्षण के परिणामों से भ्रंश घाटियों की उत्पत्ति पर नवीन प्रकाश पड़ा। उसने बताया कि भ्रंश घाटी का रिफ्ट ब्लॉक गुरुत्व के कारण मेहराब के आधार पत्थर की भाँति नीचे नहीं खिसक सकता। इस प्रकार रिफ्ट घाटी का निर्माण तनाव द्वारा नही हो सकता। रिफ्ट घाटी का निर्माण दोनों किनारो से सम्पीडन बल के प्रभाव से ही हो सकता है। इस प्रकार बलार्ड भी यद्यपि सम्पीडनात्मक मत को ही मानने वाला है किन्तु इसने अपने विचारों को अधिक स्पष्ट रूप से रखा। इसके द्वारा भ्रंश घाटी की अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है।

भ्रंश घाटियों की उत्पत्ति की समस्या अभी भी पूरी तरह हल नही हो सकी है। अब तक जो प्रमाण मिले हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि अफ्रीका की भ्रंश घाटियो की उत्पत्ति के कारण एकसे नही है। लाल सागर और मृत सागर की उत्पत्ति तनाव के कारण भूमि के नीचे धँस जाने के कारण हुई है। **बेली विलिस**, जिसने अफ्रीका की पूर्वी और पश्चिमी भ्रंश घाटियों का अध्ययन किया है, के मतानुसार पूर्वी भ्रंश घाटियो की रचना भू-गर्भ में मैग्मा के पिघलने और फैलने से उत्पन्न हुए सम्पीडन के कारण हुई है और पश्चिमी भ्रंश घाटियों का निर्माण भूमि में सिकुड़न पड़ने से हुआ है। भ्रंश घाटियो की रचना में ज्वालामुखी क्रिया का क्या भाग रहा है, यह अभी भी पूरी तरह नहीं समझा जा सका है। अफ्रीका की भ्रंश घाटियाँ, जो संसार के प्रमुख विवर्तनिक भू-आकार (tectonic features) है, आगे की जाने वाली खोजो और अन्वेषण के लिए महत्त्वपूर्ण क्षेत्र प्रदान करती है।

संसार की प्रमुख भ्रंश घाटियाँ

भ्रंश घाटियाँ भू-पटल का बड़ा ही आश्चर्यजनक भू-आकार हैं। जहाँ अनाच्छादन के द्वारा इनकी रूपरेखा में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है वहाँ इनका दृश्य अत्यन्त मनोहारी और

चकित करने वाला होता है। संसार में वैसे तो कई भ्रंश घाटियाँ हैं किन्तु इन सब में पूर्वी अफ्रीका की भ्रंश घाटियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये उत्तर में सीरिया से लेकर दक्षिण मे जेम्बेजी नदी तक 3000 मील की लम्बाई में फैली हुई है। इस विस्तृत भ्रंश के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध जोर्डन की घाटी, मृत सागर, अकाबा की खाड़ी, लाल सागर एवं टैंगेनिका, रुडोल्फ, न्यासा आदि पूर्वी अफ्रीका की झीलें स्थित है। यह भ्रश घाटी अपनी समस्त लम्बाई मे केवल एक ही द्रोणी नहीं है। वस्तुत इस भ्रंश घाटी के कई अलग-अलग खण्ड हैं; जैसे—(1) न्यासा झील और उसके विभिन्न खण्ड, (2) पश्चिमी भ्रश घाटी जिसमें टैंगनिक झील से अल्बर्ट झील तक का क्षेत्र सम्मिलित है, (3) ग्रिगोरी या पूर्वी भ्रंश घाटी जो विक्टोरिया झील के पूर्व मे है, (4) रुडोल्फ झील और अबीसीनिया खण्ड, तथा (5) अकाबा-मृतसागर खण्ड। अन्तिम दो खण्डों के मध्य लाल सागर स्थित है। इन भ्रश घाटियों मे कुछ बहुत पुरानी है और इनके किनारे अनाच्छादन से घिस गये है, किन्तु कुछ घाटियाँ नवीन हैं जिससे उनके किनारे बहुत ऊँचे और तेज ढाल वाले है। जोर्डन की घाटी ऐसी ही है। इसके दोनों किनारे एकदम दीवार की भाँति है जिसमें एक तरफ ज्यूडिया का पठार और दूसरी ओर जोर्डन के नग्न पहाड़ खडे है। इन्ही के मध्य स्थित भ्रश द्रोणी में मृत सागर है। अफ्रीका में कुछ भ्रश घाटियो के साथ लावा के निक्षेप देखे जाते है जो इस बात को प्रमाणित करते है कि भ्रशन के पूर्व तथा बाद मे दरारों से जो लावा निकला वह इसके इर्द-गिर्द जमा हो गया। अबीसीनिया और पूर्वी अफ्रीका की भ्रंश घाटी के चारों ओर लावा के अतुल निक्षेप देखे जाते हैं। पूर्वी भ्रश घाटी के बाहर किलीमांजरो और केनिया के ऊँचे ज्वालामुखी पर्वत लावा निक्षेप के ही परिणाम है। इसके विपरीत पश्चिम की ओर टैंगेनिका जैसी गहरी झील के निकट ज्वालामुखी उद्गार के कोई चिह्न नही देखे जाते।

अफ्रीका की भ्रंश घाटियों की चौड़ाई प्राय: एकसी है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है।[1]

अल्बर्ट झील	35-45 किमी	मृतक सागर	35 किमी
उत्तरी टैंगेनिका झील	50 ,,	अकाबा की खाड़ी	50 ,,
दक्षिणी ,, ,,	40 ,,	रुडोल्फ झील	55 ,,
रुकवा ,, ,,	55-70 ,,	न्यासा झील	40-60 ,,

अफ्रीका की भ्रंश घाटियों की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इनके दोनों ओर के ऊँचे भाग अथवा पठार एकसी ऊँचाई के नहीं हैं। कई घाटियो के किनारे एक ओर बहुत ऊँचे किन्तु दूसरी ओर नीचे हैं। इन घाटियों के तल (floor levels) में बड़ा अन्तर पाया जाता है। जहाँ टैंगेनिका झील समुद्र-तल से 2150 फुट और मृत सागर 2600 फुट तथा न्यासा झील 1005 फुट नीची है वहाँ किवू झील के दक्षिण का भाग समुद्र-तल से 5000 फुट व अल्बर्ट झील के निकट 2000 फुट ऊँचा है। पश्चिमी भ्रंश घाटी की विशेषता यह है कि इसका पार्श्ववर्ती रूवनजोरी पर्वत घाटी से 16,794 फुट ऊँचा है। पूर्वी भ्रंश घाटी भीतरी वाह (drainage) का मुख्य क्षेत्र माना जा सकता है जिसमें धरातल की असमानताओं के कारण कई स्वतन्त्र घाटियाँ बन गयी हैं।[2]
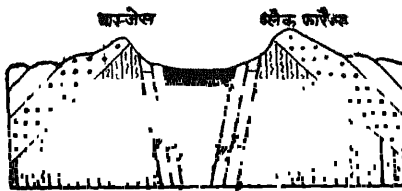
चित्र 376—राइन भ्रंश घाटी का पार्श्व-चित्र

विश्व की अन्य प्रसिद्ध भ्रश घाटियो में जर्मनी में वॉसजेस और काले जंगल के बीच राइन

---

1 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 436

2 *Ibid* : p. 438

भ्रंश घाटी व स्कॉटलैण्ड में **मिडलैण्ड** की भ्रंश घाटी विशेष उल्लेखनीय हैं। राइन की घाटी 35 से 45 किमी तथा मिडलैण्ड की 70-80 किमी चौडी है। बेकाल झील और लाल सागर भ्रंश घाटियों के ही रूप है किन्तु लाल सागर (200-300 किमी) एक अन्य प्रकार की रचना है।

संवलन (Warping)

कभी-कभी महाद्वीप निर्माणकारी हलचलो के कारण भू-पटल पर संवलन हो जाता है। संवलन मे भू-पटल का विस्तृत क्षेत्र लहर के समान ऊपर-नीचे हो जाता है। सवलन के ऊपर उठे हुए भाग को **भू-अपनति** (geo-anticline) और नीचे धँसे हुए भाग को **भू-अभिनति** (geo-syncline) कहा जाता है। पर्वत निर्माणकारी हलचलों के सम्पीडन के कारण धरातल पर जो वलन (folding) पड़ जाते है उनसे चट्टानों के बहुत कम स्तर प्रभावित होते हैं। इसके विपरीत महाद्वीप निर्माणकारी हलचलों से बने सवलन से भू-पटल की शिलाओं के वृहद् स्तर प्रभावित होते है तथा इनका क्षेत्र भी बहुत व्यापक होता है। उत्तरी अमरीका का पश्चिमी मैदान भू-अपनति का द्योतक है, जबकि यूरोप मे बाल्टिक सागर भू-अभिनति का प्रतीक है। भू-अपनति तथा भू-अभिनति में अनेक छोटे-छोटे (folds) एवं भ्रंश (faults) देखे जा सकते हैं।

सन्धि (Jointing)

स्थानीय तनाव एवं सिकुड़न के कारण कभी-कभी कमजोर शैले चटक जाती हैं। जब इन शिलाओं में किसी प्रकार का कोई विस्थापन (displacement) नहीं होता तो इन शैलों मे तनाव के कारण पड़ी दरारों को **सन्धियाँ** (jointing) कहा जाता है। ये सन्धियाँ शिलाओ की कठोरता, शक्ति, दिशा और क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। शिलाओं मे सन्धियाँ निम्नलिखित अवस्थाओं में बनती है :

(i) जब भू-पटल ठण्डा होता है तो आग्नेय शैलें ठण्ड से सिकुडती है जिससे उनमे सँधें पड़ जाती है।

(ii) अवसादी शैल जब सूखती है तो सिकुडती हैं। फिर सामान्य उत्क्षेप के अनुसार इन पर प्रादेशिक तनाव (regional tension) भी पड़ता है। परिणामस्वरूप इनमें जटिल सन्धियाँ पड़ जाती हैं।

(iii) कुछ शैलो की रचना स्फटीय होती है जिससे उनके स्तर अलग हो जाते है। इन्हीं स्तरों के सहारे सँधें पड़ जाती हैं।

(iv) जब शैलों में मोड़ पड़ता है तो सम्पीड़न और तनाव के कारण भी उनमे सँधें बन जाती है।

आग्नेय शैलों मे सँधो का आकार साधारणत: स्तम्भ की भाँति होता है। किन्तु अवसादी शैलों मे इनके तीन रूप देखे जाते है :

(1) **विदलन सन्धि** (Cleavage Joint)—जब शैलों मे पड़ने वाली सँध परतों के समानान्तर होती है तो उन्हें विदलन सन्धि कहा जाता है। ये सँधें उन शैलों मे मिलती हैं जिन पर दबाव अधिक पड़ता है।

(2) **नमन सन्धि** (Dip Joint)—ये सन्धियाँ तहों के झुकाव अथवा अत्यधिक ढाल वाली दिशा के समान्तर होती है। इन सन्धियों को नमन सन्धि कहा जाता है।

(3) **अनुदैर्घ्य सन्धि** (Strike Joint)—ये सन्धियाँ परतों के झुकाव पर लम्बाकार खींची गयी रेखा के समान्तर होती है। इनको अनुदैर्घ्य सन्धियाँ कहते है।

जहाँ ये एक-दूसरे को काटती है वहाँ समकोण बनता है। इन जोड़ों के कारण विभिन्न चट्टानों का रचना-क्रम बड़ा ही जटिल हो जाता है। आग्नेय शैलो को तोड़ने पर पंचभुजाकार खण्ड अलग हो जाते है। अवसादी शैले घनरूप पिण्डो मे टूटती है।

सँधो (joints) के कारण शैलों की तहे बड़ी कमजोर हो जाती है, क्योंकि धरातल पर सभी प्रकार की सँधो पर ऋतु-अपक्षय का शीघ्र प्रभाव होता है। वर्षा, पाला, पवन तथा पौधो की जड़ों के द्वारा वे शीघ्रता से खुल जाती है। संस्तरण-तल (bedding planes) और सँधों (joints) के इस प्रकार खुल जाने से ही पर्वतीय कगार और चोटियाँ प्रायः राजगीर के द्वारा तराशी गयी प्रतीत होती है। समुद्र तटों के ऊपर भी लहरें सँधों के सहारे ही आक्रमण करती हैं। इन सँधों के ढाँचे का खाड़ियो व गुफाओं के विकास एवं नदी के प्रवाह-मार्ग पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

34
ज्वालामुखी एवं ज्वालामुखी क्रिया
(VOLCANOES AND VULCANCITY)

सभी प्राकृतिक घटनाओं में ज्वालामुखी एक अति विचित्र घटना है। ज्वालामुखी उद्भेदन से न केवल ठोस पृथ्वी ही हिलने लगती है अपितु उसके कठोर भू-पटल को फोड़कर धुआँ, राख, वाष्प एवं गैसे बाहर फूट पड़ती है। यही नही, ज्वालामुखी विवर से अति तप्त लावा बाहर निकलकर देखते ही देखते धरातल पर विनाश-लीला फैला देता है जिससे बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित हो जाता है। प्रकृति के इस भयानक रूप को देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित रह जाता है। यही कारण है कि मानव अति प्राचीनकाल से ज्वालामुखी उद्गारों को दैवी प्रकोप मानकर उनकी पूजा करता रहा है। ज्वालामुखी से प्रभावित जापानवासी आज भी अपने यहाँ के प्रसिद्ध फ्यूजीयामा ज्वालामुखी को पवित्र और देवरूप मानकर उसकी पूजा करते हैं। हमारे देश मे पंजाब में ज्वालामुखी स्थान को भी इसी प्रकार पवित्र देवी रूप मानकर लोग पूजा किया करते है।

ज्वालामुखी शब्द ज्वाला+मुखी दो शब्दों से मिलकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है "ऐसा मुख जिसमें से ज्वाला निकलती हो।" वस्तुतः कई बार ज्वालामुखी से आग की ज्वालाएँ उठती हुई दिखाई पड़ती है। कारण स्पष्ट है कि ज्वालामुखी उद्गार के समय कई बार ज्वलनशील गैसें जैसे हाइड्रोजन आदि निकलती हैं जिनके प्रज्वलित होने से आग की ज्वालाएँ उठती हुई दीख पड़ती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा तथा अन्य शैल खण्ड इतने तप्त होते हैं कि वे दहकते हुए अंगार की भाँति प्रतीत होते हैं। इन सब बातों से ज्वालामुखी से आग की लपटें निकलने का आभास हो जाता है। इसीलिए साधारण लोग प्रायः इसका यही अर्थ लगाते हैं, किन्तु सचमुच में ज्वालामुखी का आग की ज्वाला से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्राचीन समय मे भूमध्यसागर मे स्थित वोलकेनो द्वीप रोमवासियों द्वारा पातालपुरी का प्रवेश-द्वार माना जाता था। अतः इस द्वीप के नाम पर ही इसे वोलकेनो (volcano) ज्वालामुखी कहा जाने लगा। आधुनिक समय में वैज्ञानिकों ने ज्वालामुखियों को **प्रकृति का सुरक्षा कपाट** (safety valves of nature) कहा है।

प्रो० गीकी के अनुसार, "ज्वालामुखी लगभग शंक्वाकार पर्वत है जो भू-गर्भ से नली के द्वारा उष्ण वाष्प, गैसे, लावा तथा अन्य चट्टानी पदार्थो का प्रवाह धरातल पर लाता है।"

फ्रेडनर के अनुसार, "ज्वालामुखी एक सपाट शंकु है जो एक नली के द्वारा पृथ्वी की गहराई से सम्बन्धित होता है और जो भू-गर्भ से गैसें, ठोस तथा जलते हुए पदार्थों को बाहर निकालने में निकास का कार्य सम्पन्न करता है।"

वोरसेस्टर (Worcestor) के अनुसार, "ज्वालामुखी प्रायः एक गोल अथवा लगभग

गोलाकार आकृति का छिद्र अथवा खुला भाग होता है, जिससे होकर अत्यन्त तप्त भू-गर्भ से गैसें जल, तरल लावा एव चट्टानी टुकड़े आदि गरम पदार्थ पृथ्वी के धरातल पर प्रकट होते है ।"[1]

कभी-कभी ज्वालामुखी का अर्थ उस पर्वत अथवा शंकु से लगाया जाता है जो कि ज्वालामुखी से निकलने वाले पदार्थो के निक्षेप से बनता है । किन्तु पर्वत या शकु तो ज्वालामुखी क्रिया का परिणाम है । वह ज्वालामुखी नही कहा जा सकता ।

सामान्यत: हम ज्वालामुखी एवं ज्वालामुखी क्रिया (valcanoes and vulcancity) में कोई भेद नही करते है, किन्तु भूगोल तथा भू-गर्भशास्त्र में ये दोनो भिन्न बाते है । अत: यहाँ इन दोनों की व्याख्या करना आवश्यक है । ज्वालामुखी से हमारा आशय उस छिद्र अथवा दरार से है जिससे होकर गर्म लावा, गैसे, चट्टानों के टुकड़े एवं धूल आदि पदार्थ बाहर निकला करते है ।

ज्वालामुखी क्रिया ज्वालामुखी से भिन्न है । **ऊलरिज** तथा **मार्गन** के अनुसार, 'ज्वालामुखी क्रिया के अन्तर्गत वे सभी क्रियाएँ सम्मिलित की जाती है जिनके द्वारा भूगर्भ मे स्थित मैगमा अथवा लावा भूपटल मे ऊपर उठता है या भूपटल से बाहर निकलकर ठोस स्फटिक अथवा अर्ध स्फटिक चट्टान के रूप में जम जाता है ।"[2]

फिंच एवं ट्रिवार्था तथा वारसेस्टर ने ज्वालामुखी क्रिया (vulcancity) के लिए "vulcanism" शब्द को काम में लिया है । इन विद्वानो के अनुसार, 'ज्वालामुखी क्रिया' से तात्पर्य उन समस्त क्रियाओ से है जिनके द्वारा गर्म लावा भू-पटल की ओर अथवा भू-पटल के बाहर आता है । वारसेस्टर के शब्दों मे, "Vulcanism includes all phenomena connected with movement of heated material from the interior to or towards the surface of the earth."[3]

ऊपर की गयी व्याख्या से स्पष्ट है कि ज्वालामुखी क्रिया के दो रूप है, आभ्यन्तरिक एव बाह्य । आभ्यन्तरिक क्रिया मे पृथ्वी का भीतरी लावा धरातल की ओर अग्रसर होता है और धरातल के नीचे ही जमकर ठोस बन जाता है । इससे धरातल के नीचे बैथोलिथ, लैकोलिथ, फैकोलिथ, सिल तथा डाइक आदि अनेक रूप बन जाते है । बाह्य क्रिया में लावा आदि पदार्थ धरातल के ऊपर प्रकट होते है । धरातल के ऊपर ये ज्वालामुखी (volcanoes), धरातलीय प्रवाह (fissure flows), गेसर (geysers), धुँआरे (fumaroles) एवं गर्म जल के स्रोत (hot springs) आदि के रूप मे प्रकट होते हैं । उपरोक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट है कि ज्वालामुखी-क्रिया (vulcancity of vulcanism) बहुत ही व्यापक क्रिया है । इसमे अनेक क्रियाएँ सम्मिलित है । ज्वालामुखी भी इसी क्रिया का एक अंग है । फिर भी हम व्यवहार में समस्त ज्वालामुखी क्रियाओ को भी ज्वालामुखी शब्द से ही सम्बोधित करते है ।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि ज्वालामुखी का पृथ्वी के गर्भ से घनिष्ठ सम्बन्ध है । अत: वे सभी प्रक्रियाएँ (processes) जिनके द्वारा भू-गर्भ का लावा भू-पटल की ओर अथवा भूपटल पर बाहर आता है, ज्वालामुखीय क्रिया कहलाती है । किन्तु ज्वालामुखी से तात्पर्य केवल उस छिद्र अथवा दरार से है जिसके द्वारा भू-गर्भ से लावा, गैसे, वाष्प एवं राख आदि पदार्थ समय-समय

---

1 "A volcano is a vent, or opening, usually circular or nearly circular in form, through which liquid lava and fragments of rocks are ejected from the highly heated interior to the surface of the earth "—P. G. Worcester, *A Text Book of Geomorphology*, p. 646

2 "The term vulcancity covers all those processes in which molten rock material or magma rises into the crest, or is poured out on its surface, there-to solidity as a crystalline or semicrystalline rock."—Woolridge, S. W. and Morgan, R. S. : *An Outline of Geomorphology*, p. 97, 1960

3 Worcester P. G. : *A Text Book of Geomorphology*, p. 646

पर बाहर निकलते रहते है। कभी-कभी ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा तथा अन्य शैल खण्ड इतने तप्त होते है कि वे दहकते हुए अगार की भाँति प्रतीत होते है। कई बार ज्वालामुखी से बहुत ही प्रज्ज्वलित गैसे भी निकलती है। इन सब बातो से ज्वालामुखी से आग की ज्वालाएँ निकलने का आभास हो जाता है। इसलिए इसको ज्वालामुखी कहा जाता है। प्राचीन समय में भूमध्यसागर
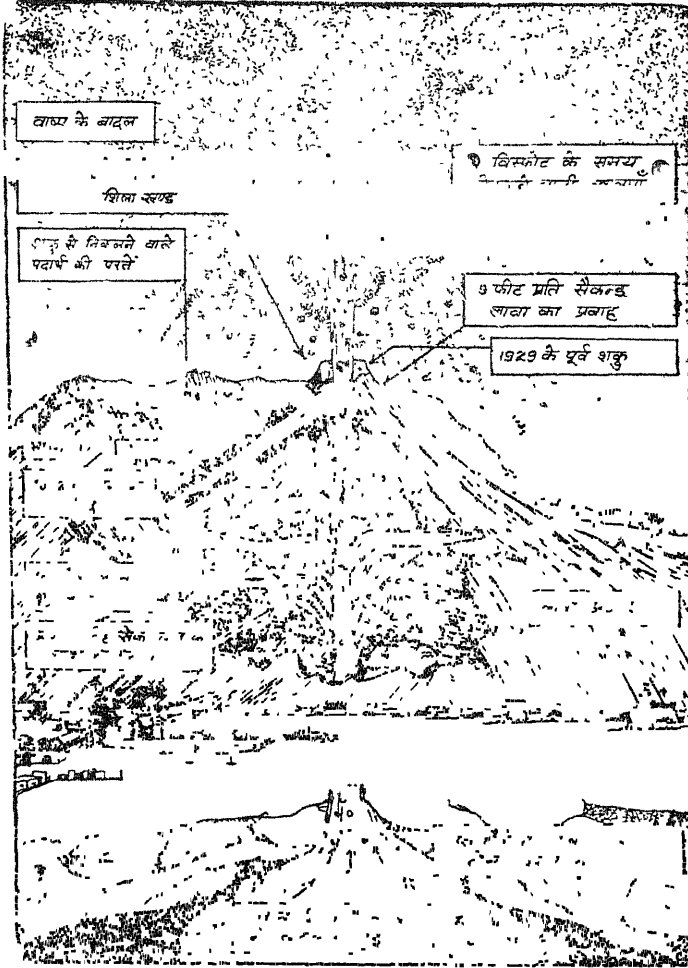
चित्र 377—विसुवियस ज्वालामुखी का पार्श्व-चित्र

में स्थित वोलकेनो द्वीप रोमवासियो द्वारा पातालपुरी का प्रवेश-द्वार माना जाता था। अतः इस द्वीप के नाम पर ही **ज्वालामुखी** (volcano) नाम पड़ा है। आधुनिक समय में **वैज्ञानिकों** ने ज्वालामुखियों को **प्रकृति के सुरक्षा कपाट** (safety valves of nature) कहा है।

ज्वालामुखीय क्रिया के भेद

जैसा ऊपर बताया गया है वे सभी क्रियाएँ जो भू-गर्भ में लावा के भू-पटल की ओर होने वाली गति से सम्बन्धित हैं वे ज्वालामुखीय क्रियाएँ कहलाती है। ये ज्वालामुखीय क्रियाएँ स्पष्टतः दो वर्गों में विभक्त की जा सकती है :

(1) अन्तर्वर्ती (Intrusive),
(2) बहिर्वर्ती (Extrusive)।

(1) **अन्तर्वर्ती क्रियाएँ**—इसमे भू-गर्भ की अतल गहराई में दुबका हुआ लावा भू-पटल की ओर गतिशील होता है और वह भू-पटल पर न पहुँचकर मार्ग मे ही रुककर शीतल एव ठोस बन जाता है। इस प्रकार लावा की वे सब क्रियाएँ जो भू-गर्भ के अन्दर होती है और जिसके कारण भू-पटल के नीचे अनेक रूप बन जाते है वे सब अन्तर्वर्ती क्रियाएँ कहलाती है।

(2) **बहिर्वर्ती क्रियाएँ**—वे सभी क्रियाएँ जिनके द्वारा भू-गर्भ के तप्त पदार्थ बाहर निकल कर धरातल पर निक्षेपित हो जाते है, बहिर्वर्ती क्रियाएँ कहलाती है। इन क्रियाओं के अन्तर्गत ज्वालामुखी, दरारी प्रवाह, ऊष्ण स्रोत, गाइजर, पक-प्रवाह और धुआँरे आदि आते है।

ज्वालामुखी की रचना—सामान्यत. ज्वालामुखी एक वृत्ताकार छिद्र अथवा दरार के रूप मे प्रारम्भ होता है। उस छिद्र का सम्बन्ध भू-गर्भ मे अति गहराई से रहता है। भीतरी उद्वेग से इस छिद्र की रचना होती है। इस छिद्र से भीतरी गरम लावा, तप्त गैसे, उष्ण वाष्प तथा अन्य शैल पदार्थ बाहर निकलते हैं। ज्वालामुखी का यह छिद्र कदाचित ही कुछ सौ फुट से अधिक व्यास का होता है। इसको प्रायः **ज्वालामुखी नली** (volcanic pipe) कहा जाता है। इस नली के ऊपरी भाग को **ज्वालामुखी** (crater) कहते हैं। उद्भेदन के समय ज्वालामुखी से निकला हुआ पदार्थ मुख के आसपास जमा हो जाता है जिससे वहाँ एक ऊँचा टीला बन जाता है। कभी-कभी ये टीले बहुत ऊँचे होते है जिससे इन्हे **ज्वालामुखी पर्वत** कहा जाता है। कई बार ज्वालामुखी पूर्ण शंकु के आकृति वाले होते है। यद्यपि प्रायः ज्वालामुखी शंक्वाकार पर्वत के रूप मे नही मिलते है। किन्तु ज्वालामुखी ऐसे आकार भी नहीं रखते है।

ज्वालामुखी उद्गार की सूचना—जब कहीं ज्वालामुखी उद्भेदन होने वाला होता है तो उसकी सर्वप्रथम सूचना जोरों की गड़गड़ाहट की आवाज से प्राप्त होती है। धीरे-धीरे यह आवाज अधिक तीव्र होती जाती है और साथ ही भूकम्प के धक्के आने प्रारम्भ हो जाते है। भूकम्प के धक्के उत्तरोत्तर बढते जाते है। इसके अतिरिक्त उद्गार के पूर्व ज्वालामुखी के निकटवर्ती क्षेत्र का ताप बढ़ जाता है। कई बार भूमि नीचे धँस जाती है। उद्भेदन के पूर्व कुओं और स्रोतों का प्रवाह बन्द हो जाता है। कभी-कभी उनमे कीचडयुक्त गँदला पानी आने लगता है। समुद्रो में जल ऊपर-नीचे होने लगता है। पर कई बार ज्वालामुखी उद्भेदन बिना किसी सूचना के बिलकुल आकस्मिक होता है।

ज्वालामुखीय क्रिया के कारण
(The Causes of Volcanism)

ज्वालामुखीय क्रिया के सम्भावित कारणो पर किसी भी प्रकार का विचार-विमर्श हमे अत्यन्त गूढ सैद्धान्तिक भू-गर्भ-विज्ञान के क्षेत्र मे ले जाता है। वस्तुतः भू-गर्भ की भौतिक एवं रासायनिक अवस्थाएँ ही ज्वालामुखीय क्रिया के लिए उत्तरदायी है। अतः ज्वालामुखी की क्रिया के कारणों को समझने से पूर्व हमे भू-गर्भीय संरचना का विश्लेषण करना होगा जो भू-गर्भ विज्ञान प्रदान करता है। भू-पटल के नीचे कुछ ही दूरी पर जो भौतिक एव रासायनिक अवस्थाएँ पायी जाती हैं उनका अभी भी सही-सही ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। पृथ्वी की आन्तरिक अवस्थाओ के सम्बन्ध में हमारे जो कुछ विचार है वे बहुत ही सीमित ज्ञान पर आधारित है। यही कारण है कि भू-गर्भीय अवस्थाओं के सम्बन्ध में विभिन्न भू-गर्भशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं। अतः ज्वालामुखीय क्रिया को स्पष्ट करने के लिए हमे कई बातों पर विचार करना होगा। **वारसेस्टर** ने ज्वालामुखीय क्रिया के स्पष्टीकरण के लिए निम्न कारण सुझाए है :[1]

(1) **ज्वालामुखी का वितरण**—संसार मे ज्वालामुखियो का वितरण देखने से स्पष्ट होता

---

[1] P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 174

है कि इनका पृथ्वी के कमजोर भागों से निकट का सम्बन्ध है। संसार के अधिकांश जाग्रत ज्वालामुखी एक बड़ी शृंखला मे स्थित है, जैसे—प्रशान्त महासागर के चारों ओर के तटीय क्षेत्र, पूर्वी एवं पश्चिमी द्वीपसमूह, एल्यूसियन, हवाई तथा जापान द्वीपसमूह और आइसलैण्ड। ये सब क्षेत्र भू-पटल के अस्थिर (unrest) क्षेत्र है।

(2) **दरारी उद्गार का संघटन**—यद्यपि ज्वालामुखी से उद्गरित पदार्थों मे कई प्रकार की शैले होती है, किन्तु **डेली** का कहना है कि दरारी उद्गार के कुल परिमाण का 90 से 95 प्रतिशत बेसाल्ट चट्टानें ही होती हैं। बेसाल्ट चट्टाने भू-गर्भ के अन्दर बहुत ही ऊँचे तापमान वाले क्षेत्र मे पायी जाती है।

(3) **केन्द्रीय ज्वालामुखी के लावा का संगठन**—केन्द्रीय ज्वालामुखी के उद्गार से निकलने वाले लावा मे प्राय: सभी प्रकार की शैलें मिलती है। किसी ज्वालामुखी लावा मे ग्रेनाइट, किसी मे डायोराइट और किसी मे ग्रेबो बेसाल्ट जैसी शैलों का संघटन होता है। जब हम लावा की उत्पत्ति पर विचार करते है और दरारी उद्गार की प्रक्रिया की केन्द्रीय ज्वालामुखी उद्गार से तुलना करते है तो शैलों का यह विभिन्न सघटन बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

(4) **लावा का स्रोत**—ज्वालामुखी के निकलने वाले पदार्थो मे लावा मुख्य है। भू-गर्भ में लावा का स्रोत क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु विभिन्न भू-गर्भशास्त्रियों ने लावा के स्पष्ट तीन स्रोत स्वीकार किये है, जो निम्न है :

(क) **बेसाल्टिक अधःस्तर**—अधिकांश भू-गर्भवेत्ताओं एवं भू-भौतिकशास्त्रियों का यह विश्वास है कि भू-पटल से औसत 36 मील नीचे बेसाल्ट की मोटी परत है जो पृथ्वी के केन्द्रों को पूरी तरह से घेरे हुए है। बेसाल्ट की यह परत महासागरो के नीचे कम गहराई पर और महाद्वीपों के नीचे अधिक गहराई पर पायी जाती है। संसारव्यापी दरारी उद्गारो में बेसाल्ट की प्रधानता इस आम धारणा को मजबूत बनाती है कि प्राय सभी दरारी उद्गार तथा अनेक केन्द्रीय प्रकार के उद्गार मे निकलने वाला लावा मुख्यतः भू-पटल में पड़ी विशाल सँधों तथा दरारों के द्वारा बेसाल्टिक अधःस्तर से, अपने सघटन मे बिना किसी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के पृथ्वी के धरातल पर आता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह अध.स्तर सदैव स्थितिज द्रव अवस्था (potentially liquid state) में रहता है। अर्थात् यहाँ तापमान इतना ऊँचा रहता है कि सामान्य वायुदाब के अन्दर यह चट्टानों को द्रवित कर सकता है। किन्तु भू-पटल से 20 या 30 मील नीचे ऊपरी दाब इतना अधिक होता है कि चट्टाने वस्तुतः ठोस अवस्था में रहती है। परन्तु पृथ्वी के भीतर किसी भी प्रकार के तनाव अथवा भिंचाव के पड़ने से दरारें बन जाती है जो बेसाल्टिक अधःस्तर तक चली जाती है। जब भू-पटल पर कही दबाव कम हो जाता है तो वहाँ भू-गर्भ में कुछ चट्टानें द्रव रूप में परिवर्तित हो जाती है और गैसें एकत्रित हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में लावा ऊपर उठता है और लम्बे पक्तिवत विदरों मे दरारी उद्गार (fissure flows) अथवा केन्द्रीय उद्गार के रूप में बाहर फूट पड़ता है।

(ख) **स्थानीय कुण्ड**—कई वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि लावा मुख्यतः केन्द्रीय प्रकार के उद्गारों में बेसाल्टिक अधःस्तर से नहीं आता। इसके विपरीत उनका विश्वास है कि भू-पटल के निकट कई स्थानीय कुण्ड (reservoirs) है। इन स्थानीय कुण्डों तक कुछ शैल विभंग (fractures) पहुँच जाते है, जो वहाँ दबाव में कमी उत्पन्न कर देते है जिससे लावा धरातल पर ऊपर उठ आता है।

(ग) **बैथोलिथ भण्डार**—आग्नेय शैलों के सन्दर्भ मे बैथोलिथ के निर्माण का थोड़ा वर्णन किया जा चुका है। इन बैथोलिथ शैलों का वलित पर्वतो के प्रदेशों में वितरण बहुत ध्यान देने

योग्य है। सामान्यतः बैथोलिथ मैग्मा से परिपूर्ण होता है। जब बैथोलिथ का गरम और द्रव मैग्मा ऊपर उठता है तो वह अपने सम्पर्क मे आने वाली शैलों को पिघलाकर अपने मे मिला लेता है। फलस्वरूप बैथोलिथ के रासायनिक संघटन मे परिवर्तन आ जाता है।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि बैथोलिथ की ऊपरी सतह बहुत ही ऊँची-नीची होती है। इसके ऊँचे उठे भागो के मध्य प्रायः गर्त पाये जाते है। बैथोलिथ के ऊँचे उठे हुए भागो को गुम्बद (cupolas) कहते है। गैसीय एवं द्रव पदार्थो मे सवहन के कारण अति तप्त लावा गुम्बद मे एकत्रित होता है। जहाँ कही भू-पटल कमजोर होता है वहाँ विभग उत्पन्न हो जाते है। फलस्वरूप बैथोलिथ के गुम्बदो के ऊपर मुख्यतः केन्द्रीय प्रकार के ज्वालामुखी बन जाते है। जब बैथोलिथ पूर्णतः ठोस हो जाता है तो स्वाभाविक रूप से ज्वालामुखी शान्त हो जाता है।

(5) **ताप का स्रोत**—हमारी पृथ्वी सौरमण्डल का अंग है। सूर्य से ही इसकी उत्पत्ति हुई है। सूर्य द्वारा पृथ्वी की उत्पत्ति में विश्वास करने वालो का यह मत है कि पृथ्वी का आन्तरिक ताप सूर्य का ही अवशिष्ट ताप है। इस मत के अनुसार पृथ्वी सूर्य से अलग होने के बाद से अभी तक पूरी तरह से ठण्डी नही हुई है। कुछ विद्वानो की मान्यता है कि पृथ्वी के भीतर रेडियोधर्मी पदार्थ पाये जाते है। इनके विघटन से ताप उत्पन्न होता है। अतः भू-गर्भ में जो बहुत ऊँचा ताप पाया जाता हैं उसका कारण रेडियोधर्मी खनिजों का विघटन ही है। कुछ वैज्ञानिको के अनुसार भू-गर्भिक हलचलों एवं रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण ताप उत्पन्न होता है किन्तु **थार्नबरी** के अनुसार यह सम्भव है कि उपरोक्त अवस्थाओ मे एक से अधिक अवस्थाओ के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप ही पृथ्वी के भीतर ऊँचा तापमान पाया जाता है।

(6) **गैसों की उत्पत्ति**—ज्वालामुखी उद्भेदन मे गैसे ही मुख्य नोदक शक्ति (propelling force) के रूप मे कार्य करती है। इन ज्वालामुखी गैसों में 80 से 65 प्रतिशत भाग जलवाष्प का होता है। हाइड्रोजन, सल्फेट एवं कार्बन अन्य महत्त्वपूर्ण गैसें मूल मैग्मा के अवयव (constituents) है।

ज्वालामुखी गैसों में जलवाष्प सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ज्वालामुखी विस्फोट मे यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। ज्वालामुखी उद्भेदन के समय जिस परिमाण में वाष्प बाहर निकलती है उसे देखकर विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मूल मैग्मा के अतिरिक्त इसकी उत्पत्ति के कई अन्य स्रोत होने चाहिए। वस्तुतः इस जलवाष्प का अधिकांश भाग उस भूमिगत जल से प्राप्त होता है जो ज्वालामुखी विवरो द्वारा भू-पटल के हजारो फुट नीचे तप्त चट्टानों तक पहुँच जाता है। यद्यपि यह सत्य है कि धरातल से कुछ ही मील नीचे ऊपरी दबाव के कारण सभी शैलरन्ध्र एवं दरारें बन्द हो जाती है। अतः यह असम्भव प्रतीत होता है कि समुद्र अथवा स्थल का नीचे उतरता हुआ जल लावा के स्रोतो तक पहुँच सके। किन्तु आन्तरिक हलचलों के कारण जब भू-गर्भ की चट्टानो में विभगन अथवा भ्रंशन होता है तो वे जल के नीचे उतरने के लिए सहज मार्ग प्रस्तुत कर देते है।

समुद्रतटो के समीप स्थित ज्वालामुखियों मे समुद्र-जल निश्चित ही जलवाष्प निर्माण में सहायक होता है। कई ज्वालामुखियो के आधार और उनके शकु समुद्रतल से काफी नीचे होते है। ज्वालामुखी के निरन्तर विस्फोट के कारण शंकु टीले तथा गुम्बद फट जाते है, फलस्वरूप समुद्र का जल तप्त लावा के प्रदेशों मे सुगमता से पहुँच जाता है।[1]

कुछ स्थानों पर ऊपर उठता हुआ मैग्मा अपने साथ चूने के पत्थर को मिला लेता है

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 484

जिससे कार्बन गैस की उत्पत्ति हो जाती है। यह कार्बन गैस भीतर प्रचण्ड दबाव उत्पन्न करती है, फलस्वरूप लावा ऊपर उठ जाता है।

ज्वालामुखी उद्गार में लावा का नि.सृत होना—ज्वालामुखी ग्रीवा मे लावा का ऊपर उठना गैसो की सहायता से होता है। तप्त लावा के साथ सदैव गैसो का सयोग रहता है। भू-गर्भ मे लावा के साथ मिली ये गैसे अपरिमित दबाव उत्पन्न करती है। गैसो के प्रचण्ड दबाव से लावा भू-पटल की ओर अग्रसर होता है और जहाँ कही भू-पटल पर कमजोर स्थल होता है वहाँ ये गैसे भूमि को फोड़कर भारी विस्फोट के साथ बाहर निकल पडती है। इसके साथ ही लावा, शैलखण्ड एव राख भी धरातल पर बरस पड़ती है। लावा के भूमि से बाहर निकलने की क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जैसे सोडावाटर की बोतल खोलते ही गैस के साथ कुछ सोडावाटर भी बाहर निकल पड़ता है। लावा की निःसृत होने की यह क्रिया **टी० ए० जैगर** (T. A. Gaggar) के निम्न शब्दो से और अधिक स्पष्ट हो जाती है :

"The ascent of lava, then, is actuated by the release of pressure on magma when a fracture plane over the magma yields, and the dissolved gas starts vesiculation and consequent liquefaction The fixed gases react with each other and with air. This heats the system and increases mobility The heating and forthing find out let through the fracture The result is lava outflow."[1]

ज्वालामुखी से निःसृत पदार्थ
(Materials Ejected from the Volcanoes)

जब ज्वालामुखी का उद्भेदन होता है तो उसमे से कई प्रकार के पदार्थ बाहर निकलते है। ये पदार्थ मुख्यत तीन प्रकार के होते है, जो निम्न है :

(1) वाष्प तथा गैसे (Vapour and gases), (2) ठोस पदार्थ (Solid materials), (3) द्रव पदार्थ (Liquid materials)।

वाष्प तथा गैसें—वाष्प तथा गैसे ज्वालामुखी उद्गार की प्रेरक शक्ति है। अतः जब कभी ज्वालामुखी का विस्फोट होता है तो तीव्र गर्जना के साथ गैसे तथा वाष्प बाहर निकलती है। ज्वालामुखी से निकलने वाली गैसों मे जलवाष्प सबसे मुख्य है। भीतर से निकलने वाली विभिन्न प्रकार की गैसों मे 90 प्रतिशत अंश जलवाष्प का ही होता है। यही कारण है कि जिन ज्वालामुखियों से लावा आदि पदार्थ तो कम निकलते है, किन्तु वाष्प में गैसें ज्यादा निकलती है वे गैसों के दबाव के कारण उद्गार के समय भीषण विस्फोट करते है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुछ ज्वालामुखी प्रतिदिन जलवाष्प के रूप मे लगभग 50 लाख गैलन जल निकालते हैं। मार्टनीक द्वीप के ज्वालामुखी के एक उद्गार के समय एक ही बार मे इतनी वाष्प निकली जितनी विश्व के समस्त कारखानो के बायलरों मे हो सकती है। एक बार एटना पर्वत से 100 दिन मे कोई 1,00,000 घन मीटर वाष्प निकल गयी।[2] वाष्प के अतिरिक्त ज्वालामुखी से अन्य कई प्रकार की गैसे निकलती है। इनमे से कुछ बहुत ही प्रज्वलनशील गैसे होती है जिससे उद्गार के समय लपटे उठती हुई दिखाई पड़ती है। इन गैसों मे हाइड्रोजन सल्फाइड (H_2S) व कार्बन डाई-सल्फाइड मुख्य है। कुछ गैसें अत्यन्त ही जहरीली होती है। जैसे कार्बन मोनो-ऑक्साइड व सल्फर डाई-ऑक्साइड व क्लोरीन आदि। इनके अतिरिक्त हाइड्रो-क्लोरिक एसिड (HCl), अमोनियम क्लोराइड व अन्य कई दूसरी गैसें भी निकलती हुई पायी जाती है। उद्गार के समय धुएँ के विशाल बादल भी आकाश में उठते हुए देखे जाते है। माउण्ट

1 W. D. Thornbury : *Principles of Geomorphology*, p. 485

2 M. B. Pithawala ; *Marvels of the Earth*, pp. 27-28

पेली के सन् 1902 के उद्भेदन के समय ज्वालामुखी से निकलने वाले धुएँ ने आकाश को इस प्रकार आच्छादित कर दिया कि मध्याह्नकाल भी अर्द्ध-रात्रि मे परिणत हो गया। धुएँ का यह विशाल बादल आकाश में 8 मील तक ऊपर उठ गया था। ज्वालामुखी उद्गार के समय कई बार वाष्प की बड़ी मात्रा घोर वर्षा के रूप मे बरस पड़ती है। वर्षा से ज्वालामुखी ढालों पर पड़ी उष्ण एवं जल में घुलकर कीचड़ का रूप धारण कर लेती है। इस पंक-प्रवाह से अपार क्षति होती है।

ठोस पदार्थ (Solid Materials)—ज्वालामुखी विस्फोट के समय गैसो के साथ-साथ बड़ी मात्रा में ठोस पदार्थ भी उद्गरित होते है। ठोस पदार्थो मे कुछ तो भू-पटल की टूटी हुई चट्टानों के शैलखण्ड, जो ज्वालामुखी ग्रीवा की दीवारों अथवा शकुओ के टूटने से बनते है, कुछ ठोस लावा के भाग जो ज्वालामुखी नली मे पिघले उद्गार के समय लावा के जम जाने से बनते है और कुछ लावा के वे ठोस पदार्थ जो लावा के बाहर आने पर हवा मे उछलते समय शीतल और ठोस हो जाने से और कुछ लावा में गैसो के बाहर निकल जाने से बनते है, सम्मिलित किये जाते है। ये सब पदार्थ खण्डित पदार्थ (fragmental products) कहलाते है।

ज्वालामुखी उद्गार मे निकलने वाले ठोस पदार्थ अनेक आकार-प्रकार के होते हैं। ये बारीक धूल-कणों से लेकर टनो भार के शिलाखण्ड तक होते है। इन पदार्थों में ज्वालामुखी धूल और राख (volcanic dust or ashes), अंगार (cinders), पिण्ड (blocks), बम (bomb), लैपली (lapilli) व झामक (pumice) उल्लेखनीय है। ज्वालामुखी से नि:सृत बारीक कण वाली धूल एवं मटर के दानो के समान कणो को क्रमशः ज्वालामुखी धूल एव राख कहा जाता है। कटमाई ज्वालामुखी के भीषण विस्फोट के समय शंकु के उड़ जाने से इतनी धूल और राख आकाश में फेंकी गयी कि उसकी कुल राशि 5 घन मील अनुमानित की गयी है। क्रेकेटोआ के उद्गार से निकली धूल व राख तो कल्पना के भी परे है। इस उद्गार में उठे धूल और राख के बादल आकाश में 20 मील की ऊँचाई तक पहुँच गये और प्रबल आँधी के वेग से विश्व के कई चक्कर काटे। इस मात्रा में धूल ने लगभग 82,000 मील की यात्रा 700 मील प्रति घण्टे की चाल से पूरी की। धूल के बादल को 3-4 बार धरती की परिक्रमा करते तो साधारण लोगों ने भी देखा था। विस्फोट के दो वर्षो तक आकाश से इस धूल की लगातार वर्षा होती रही जिससे लाखो वर्गमील भूमि पर धूल फैल गयी।

ज्वालामुखी उद्गार में धूल के अतिरिक्त बड़े आकार के शैलखण्ड भी निकलते हैं। सुपारी के आकार के टुकड़े **लैपली** कहलाते है। एक इंच से लेकर कई फुट व्यास वाले कोणात्मक शैलखण्ड **ब्लाक्स** अथवा **पिण्ड** (blocks) कहलाते है। भू-गर्भ से पिघला हुआ लावा उद्गार के समय जब काफी ऊँचाई तक वायु में पहुँच जाता है तो वह वायु में चक्कर काटते समय गोलाकार अथवा अण्डाकार रूप धारण कर लेता है। साथ ही वह शीतल होकर ठोस बन जाता है। ठोस लावा के ऐसे खण्ड जब भूमि पर गिरते है तो उन्हें **बम** (bomb) कहा जाता है। मटर के आकार के ज्वालामुखीय रोड़े प्रायः **स्कोरी** (scory) नाम से पुकारे जाते है। ठोस नुकीले चट्टानी ढोकों को **ब्रेसिया** (breccia) कहते है। ये बन्दूक की गोली की भाँति गिरते हैं। लावा या पथरीले ढोकों के साथ गैस के मिश्रण से वायु में जमकर छिद्रमय बने रोड़े झामक (pumice) कहलाते हैं। ये स्पंज की भाँति हल्के और फूले हुए होते है जिससे पानी मे डूबते नही है। इस प्रकार ज्वालामुखी से निकलने वाले ठोस पदार्थो की रचना मे बड़ी विचित्रता पायी जाती है। कुछ पदार्थ तो पत्थर की भाँति ठोस और घने होते हैं और कुछ मधुमक्खी के छत्ते के समान अनेक छिद्रमय। **प्लिनी** ने प्रसिद्ध विसूवियस ज्वालामुखी का आँखों-देखा वर्णन करते हुए बताया है कि इस विस्फोट में केवल पत्थर, ढोके, राख व बम ऊपर फेंके गये थे किन्तु लावा का उद्गम नही हुआ था। **कोसेगुइना**

ज्वालामुखी के उद्गार के समय शिला-चूर्ण, राख व अंगार के साथ इतनी विशाल मात्रा में झामक का उद्गार हुआ कि जिनके कारण समुद्र मे जहाजों को अपनी यात्रा में भारी बाधा उठानी पड़ी।

द्रव पदार्थ (Liquid Materials)—ज्वालामुखी उद्गार के समय उसके मुख से द्रव रूप मे लावा बाहर निकलता है। भू गर्भ मे बहुत गहराई पर अत्यधिक गर्मी के कारण हर प्रकार की चट्टाने एव खनिज ऊपरी दबाव के कम हो जाने पर पिघली हुई अवस्था में बदल जाते है। भू-गर्भ मे रहने पर इसी द्रवित पाषाण राशि को **मैग्मा** (magma) कहा जाता है। जब यह मैग्मा किसी उद्वेग के फलस्वरूप ऊपर उठता है और धरातल पर ज्वालामुखी विवर से बाहर निकलता है तो उसे **लावा** (lava) कहते है। इस प्रकार लावा मैग्मा का ही दूसरा रूप है।

जब लावा ज्वालामुखी से बाहर निकलता है तो वह दहकते हुए रूप मे श्वेत या लाल रंग धारण किये रहता है। किन्तु जब उसकी गर्मी कुछ शान्त होने लगती है तो उसका रग बादामी और धीरे-धीरे गहरा हो जाता है। ज्वालामुखी उद्गार के समय निकलने वाला लावा सर्वत्र एक-जैसा नही होता। समीपवर्ती दो ज्वालामुखियो के लावा की रचना में भी विशेष भेद पाये जा सकते है। इटली के समीपवर्ती ज्वालामुखी एटना, स्ट्राम्बोली तथा वल्केनों द्वारा नि.सृत लावा इसका प्रमाण है। हवाई द्वीप के ज्वालामुखियों मे भी यह भेद पाया जाता है। इतना ही नहीं, एक ही ज्वालामुखी से निकले लावा की रचना मे भी सदा एकरूपता नही पायी जाती। संयुक्त राज्य अमरीका मे यलोस्टोन नेशनल पार्क के ज्वालामुखियों के कटे-फटे भागों के अध्ययन से उपर्युक्त बात स्पष्ट हो जाती है। लावा मे विभिन्न प्रकार की गैसे तथा खनिज मिले हुए रहते है। इस आधार पर लावा के कई भेद होते है। किन्तु सैकता (silica) की मात्रा के आधार पर लावा के प्रमुख दो भेद होते हैं .

(1) आम्लिक लावा (Acid Lava),

(2) पैठिक लावा (Basic Lava)।

(1) **आम्लिक लावा**—इस लावा में सिलिकन तत्त्व की प्रधानता पायी जाती है। यह भार में हल्का किन्तु गाढ़ा होता है। यह अधिक ताप पर पिघलता है। इसका रंग बादामी होता है। गाढ़ा होने से यह बहुत धीरे-धीरे बहता है। हल्के गुलाबी रंग की 'रामोलाइट' नामक चट्टान इसी लावा के ठण्डे होने से होती है।

आम्लिक लावा बहुत चिपचिपा होता है और इसमे गैसे भी अधिक मिली होती है। इसलिए जब यह लावा बाहर निकलता है तो भयानक विस्फोट होता है। इसलिए वे ज्वालामुखी जिनसे आम्लिक लावा का उद्गार होता है, विस्फोटीय ज्वालामुखी होते हैं। आम्लिक लावा की सतह बहुत ऊबड-खाबड होती है क्योंकि इसमें से बाहर निकलने वाली गैसे इसको ऊँचा-नीचा कर देती है। सामान्यतः इसकी सतह शुष्क और ऐंठनदार होती है।

(2) **पैठिक लावा**—इस लावा मे सैकता की मात्रा कम होती है। इसकी रचना में अधिकाश वे पदार्थ होते है जो धातु-वर्ग के तत्त्वों के ऑक्सीजन के साथ यौगिक होते है। ये पदार्थ सैकता तत्त्व की अपेक्षा कम तापमान पर पिघल जाते है। इस कारण पैठिक लावा शीघ्र पिघलने वाला और पतला होता है। इसी कारण यह तीव्र गति से प्रवाहित होता है। यह लावा भस्मीय द्रव-प्रधान होने से भारी होता है। यह गहरे अथवा काले रग का होता है। इसमे गैसे कम रहती हैं। धरातल पर आने पर यह शीघ्र ठण्डा हो जाता है। अतः यह शीशे की भाँति परतों में जमता है। इस लावा के जमने से 'बेसाल्ट' एवं 'ऐण्डेसाइट' चट्टानो की रचना होती है। पैठिक लावा में गैसों की न्यूनता होने से उद्गार के समय कोई धड़ाका या विस्फोट नही होता। ऐसे लावा का निःसृण प्रायः दरारों के द्वारा शान्तिपूर्वक होता है।

आम्लिक एवं पैठिक लावा में गैसों के बाहर निकलने पर कभी-कभी उनके बाह्य-पृष्ठ पर

छिद्र बन जाते हैं। अतः ऐसे छिद्रमय लावा को **स्पंज लावा** (spongy lava) कहा जाता है। जब लावा मे छिद्र अधिक बड़े होते है तो उन लावा-पिण्डो को **अवस्कर** (scoria) कहते है। जो लावा अत्यधिक छिद्रयुक्त और हल्का होता है तथा पानी पर तैरने लगता है तो उसे **झामक** (pumice) कहा जाता है।

लावा द्रव पदार्थ होने से बहता है। किन्तु इसकी प्रवाह गति भूमि के ढाल और लावा की तरलता पर निर्भर करती है। अधिक ढालू भूमि पर इसका प्रवाह तेज होता है। इसी प्रकार पैठिक लावा आम्लिक लावा की अपेक्षा अधिक गतिशील होता है। सामान्यत. पैठिक लावा की गति 5 से 10 मील प्रति घण्टा होती है किन्तु सन् 1805 मे प्रसिद्ध विसूवियस के उद्गार के समय लावा का वेग 50 मील प्रति घण्टा पाया गया था। इसके विपरीत, एटना ज्वालामुखी के उद्गार मे लावा की गति $\frac{1}{4}$ मील प्रति घण्टे से भी कम थी।[1] लावा-प्रवाह से धन-जन की अपार क्षति होती है। एटना के सन् 1928 के उद्गार के समय एक 100 फुट चौड़े लावा की धारा 20 फुट प्रति मिनट की चाल से प्रवाहित होकर समुद्र तक पहुँच गयी। लावा की इस धारा से एक नगर पूरी तरह लुप्त हो गया।

लावा गोंद या डामर की भाँति चिपचिपा पदार्थ होता है। इसलिए अन्य तरल पदार्थों की भाँति शीघ्र नही बह पाता। कभी-कभी इसका प्रवाह इतना मन्द होता है कि वह गतिहीन सा लगता है। किन्तु जब तक वह शीतल होकर कठोर नही हो जाता, बहता रहता है। पर वस्तुत: लावा बहता नहीं लुढकता है। ऊपर का अंश ही सामने की ओर लुढककर आगे बढ जाता है। परन्तु ऊपर का अंश शीघ्र ही ठण्डा होने लगता है और ठण्डा होने से जमकर कठोर हो जाता है। इसलिए कभी-कभी ऐसा होता है कि ऊपर की पपड़ी ठण्डी होकर स्थिर हो जाती है परन्तु उसके अन्दर का लसलसा पदार्थ गरम और द्रव अवस्था मे ही बने रहने के कारण आगे की ओर लुढ़कता रहता है। ऐसी दशा में बहुधा यह होता है कि ऊपर की ओर पपड़ी खिचाव के कारण विभिन्न आकार-प्रकार के पिण्डो (blocks) मे टूट जाती है। ये असम्बद्ध पिण्ड भी नीचे के खिसकते हुए पदार्थ पर डगमगाते हुए आगे बढ जाते हैं। अन्त में जब लावा ठण्डा होकर प्रवाह-शून्य हो जाता है तो इन अगणित पिण्डों के कारण उसका धरातल ऊबड़-खाबड़ और ऐंठा हुआ रूप धारण कर लेता है। हवाई द्वीप में इस प्रकार के विचित्र धरातल वाले लावा को **कर्कश** (aa-a hah) कहते हैं। इसे **पिण्ड लावा** (block lava) कहते है। कभी-कभी लावा के ठण्डे होने पर उसका ऊपरी धरातल चिकना, गोल और मोटे टीलों वाला रूप ग्रहण कर लेता है। दूर से देखने पर लावा का यह धरातल 'कछुए की खोपड़ी' अथवा 'गेंडे की खाल' की भाँति प्रतीत होता है। लावा के ऐसे धरातल को हवाई निवासी **पाहो-हो** (pahoe-hoe) कहते है। ऐसे लावा को **रज्जुसम लावा** (papy lava) भी कहा जाता है। जब इस प्रकार का लावा समुद्र-जल अथवा किसी शीतल जल राशि में पहुँच जाता है तो वहाँ इसका निक्षेप तकियों के ढेर की भाँति हो जाता है। इसलिए इसको **शिरोधान लावा** (pillow lava) कहा जाता है।

कई बार लावा जब ज्वालामुखी के नीचे की ओर अग्रसर होता है तो बहुधा उसकी ऊपरी पपड़ी शीतल होकर गतिहीन हो जाती है परन्तु भीतरी लसलसा पदार्थ ढाल के नीचे की ओर लुढ़कता जाता है, जिससे पपड़ी के नीचे खोखला स्थान रह जाता है जो एक कन्दरा का रूप धारण कर लेता है। अनेक ज्वालामुखी क्षेत्रो मे लावा की बनी चट्टानों में इस प्रकार की कन्दराएँ पायी जाती हैं। ज्वालामुखी के शान्त हो जाने पर उसके मुख मे जो वर्षा जल एकत्रित हो जाता है वह इन कन्दराओं के द्वारा कहीं झरने और कहीं स्रोतों के रूप में बह निकलता है।

---

[1] जगपति चतुर्वेदी : **ज्वालामुखी**, पृष्ठ 16

ज्वालामुखी उद्भेदन के प्रकार
(Forms of Volcanic Erruptions)

ज्वालामुखी उद्भेदन के समय भू-गर्भ से लावा, वाष्प, गैसे तथा शैल-चूर्ण आदि पदार्थ भू-पटल पर किसी एक निश्चित पद्धति के अनुसार बाहर नही आते है। भू-गर्भ से पदार्थो को ऊपर फेकने की शक्ति के आधार पर ज्वालामुखी उद्गार के तीन रूप है .

(1) विस्फोटक अथवा केन्द्रीय उद्भेदन (Explosive or Central Erruption),

(2) अपस्यावी अथवा शान्त उद्भेदन (Effusive and Quiet Erruption),

(3) दरारी उद्भेदन (Fissure Flows or Mass Erruption)।

(1) **विस्फोटक अथवा केन्द्रीय उद्भेदन**—जब ज्वालामुखी उद्गार किसी एक केन्द्रीय मुख से भारी धडाको के साथ होता है तो उसे केन्द्रीय अथवा विस्फोटक उद्भेदन कहते है। इस प्रकार के उद्गार मे प्रचण्ड विस्फोटक ध्वनि तथा कम्पन होता है और चारो ओर गडगडाहट की आवाज सुनाई पडती है। आकाश मे भयानक काले-काले बादल छा जाते है। नुकीले टुकड़ो की बौछार के साथ-साथ लावा निकलना आरम्भ होता है। इस प्रकार के उद्गारो मे भूकम्प आ जाते हैं और चारो तरफ बडा भयानक दृश्य हो जाता है। किन्तु इनके द्वारा महत्त्वपूर्ण भू-रचना नही होती। इस प्रकार के विस्फोटक उद्गार सिसली के एटना, इटली के माउण्ट विसूवियस, जापान के फ्यूजीयामा और लिपारी द्वीप-पुंज के बाल्कन ज्वालामुखी मे बहुत आते है।

जब पृथ्वी ठण्डी होने लगती है तो विस्फोटक उद्गार इतना भीषण हो जाता है कि आसपास के क्षेत्र नष्ट होकर कागज की भाँति उड़ जाते है, किन्तु ऐसा उस समय होता है जबकि पृथ्वी के भीतर चट्टानो के ठोस पड़ने से पिघली चट्टानो की राशि मे लावा का अश कम हो जाता है और उसके स्थान पर गैसे इकट्ठी होती रहती हैं, जो बड़े धड़ाके से धरातल पर आती है। इनके साथ राख और ठोस टुकड़े भी आते है।

(2) **अपस्यावी या शान्त उद्भेदन** (Effusive or Quiet Erruption)—इन ज्वालामुखी उद्गारों द्वारा पृथ्वी के गर्भ से कुछ ही स्थानों पर पिघला हुआ लावा आदि निकलकर जम जाता है और लावा गुम्बद का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार के उद्गार भीषण नही होते। ज्वालामुखी की नली मे भम्मा उबलता रहता है और झाग या फेन की भाँति ऊपर उठ आता है। लावा के साथ धुआँ भी निकलता रहता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी उद्गारो के मुख्य उदाहरण हवाई, समोआ, स्ट्राम्बोली और आइसलैण्ड के ज्वालामुखी है।

(3) **दरारी उद्भेदन** (Fissure Erruption)—यद्यपि दरारी उद्भेदन भी ज्वालामुखी ही है किन्तु इसमें लावा का उद्गार किसी एक मुख से न होकर भू-पटल पर पड़ी अनेक दरारो से होता है। इन दरारों से उबल-उबलकर लावा बाहर आकर भूमि पर फैलता जाता है। दरारी उद्गार मे गैसों तथा चट्टानी पदार्थो का पूर्ण अभाव रहता है। फलस्वरूप दरारी उद्भेदन में भीषणता नही होती। ये उद्गार प्रायः शान्त होते है। इनसे निकलने वाला लावा चारो ओर फैलकर कठोर परतों के रूप में जम जाता है। स्थल-भाग पर ऐतिहासिक काल मे दरारी उद्गार बहुत ही कम हुए है। आइसलैण्ड में सन् 1873 मे एक 17 मील लम्बी दरार की अनायास ही रचना हुई जिससे लावा फूटकर बाहर आने लगा। इस लावा-प्रवाह ने अपने समीपवर्ती 218 वर्गमील क्षेत्र को घेर लिया जिससे इस द्वीप के $\frac{1}{5}$ निवासी मर गये। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भारत, फ्रांस और उत्तरी-पश्चिमी सयुक्त राज्य अमरीका के विस्तृत लावा के पठार टर्शरी-काल में हुए बृहत् दरारी उद्भेदनो के परिणामस्वरूप ही बने है। संयुक्त राज्य अमरीका के वाशिंगटन तथा ओरेगोन-राज्यों मे कोई 2,50,000 वर्गमील क्षेत्र मे 4000 फुट मोटा लावा जमा हुआ है जो निश्चय ही दरारी उद्भेदन का फल है। लावा के इस पठार का वर्णन करते हुए **गीकी** ने लिखा है,

"We had been riding for two days over fields of basalt, level as lak-bottoms.... ....It was as if the great plain had been filled with molten rock which had kept its level and wound in and out along the bays and promontories of the mountains slopes as a sheet of water would have done."[1] आइसलैण्ड, ग्रीनलैण्ड, स्कॉटलैण्ड व ब्राजील के लावा-क्षेत्र दरारी उद्भेदन के अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। दरारी उद्भेदन मे मुख्यत: बेसाल्टिक लावा ही निकलता है। इस लावा की एकसमान रचना यह प्रकट करती है कि इस लावा का प्रवाह सीधा नीचे की सीमा (sima) से होता है और मार्ग मे कही भी यह दूषित नही होने पाता।

आधुनिक ज्वालामुखीय क्रिया सम्बन्धी कोई भी बड़ा दरारी उद्भेदन ज्ञात नही है। किन्तु छोटे-छोटे गौण उद्गार होते रहते हैं। सन् 1935 मे मौनालोआ के समीप एक दरार खुल गयी थी। इससे लावा निकलकर पर्वतीय ढाल के नीचे बह चला और नगर की जलदाय योजना को खतरे मे डाल दिया। किन्तु फिर यह अधिक विनाश करने के पूर्व ही बन्द हो गया।

ज्वालामुखी उद्भेदन के विशिष्ट रूप

न तो संसार के समस्त ज्वालामुखियों का उद्गार एक समय मे ही होता है और न उनका स्वरूप ही एकसा होता है। यहाँ तक कि एक ही ज्वालामुखी के विभिन्न काल के उद्गारों में भी अत्यधिक असमानता पायी जाती है। इसलिए ससार के समस्त ज्वालामुखियो के उद्गार का कारण एक ही शक्ति है, इस बात मे भी शंका होने लगती है। फिर भी अनेक ज्वालामुखियों के उद्गारो की अवस्था का मनन करने पर उनमें ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो क्षीण क्रम-विन्यास द्वारा एक अभिन्न श्रेणी का रूप धारण कर लेता है। फिर भी उन उद्गारो की विशेषताओं के अनुसार हम उन्हें अलग-अलग श्रेणियों मे विभाजित कर सकते हैं।

ज्वालामुखी के स्वरूप

जर्मन भू-तत्त्ववेत्ताओं ने उद्गार के स्वरूप के अनुसार ज्वालामुखियो की सात श्रेणियाँ निर्धारित की है। एक ही ज्वालामुखी समय-समय पर विभिन्न श्रेणियो के अन्तर्गत आ सकता है। ये श्रेणियाँ उन ज्वालामुखियों के उद्गारों के अनुसार निश्चित की गयी है जो आजकल जाग्रतावस्था में है। ये श्रेणियाँ निम्न हैं:[2]

(1) **हवाई तुल्य** (Hawaian Type)—इस प्रकार के ज्वालामुखी में भीषण विस्फोट कदाचित ही होते है। वस्तुत: इसमे लावा बहुत तरल होता है जो प्राय शान्तिपूर्वक बाहर निकलता है। तरल लावा का प्रवाह बडी द्रुत गति से होता है और वह एक विस्तृत क्षेत्र में फैल जाता है। यहाँ लावा से धागे के समान पतले लावा-पिण्डों की रचना हो जाती है जिनको हवा उड़ा ले जाती है। ऐसे पतले लावा-पिण्डों को यहाँ हवाई की अग्नि-देवी 'पीली' के नाम पर **पीली के केश** (Pele hair) कहा जाता है। इन ज्वालामुखियों में गैसें भी कम और धीरे-धीरे बिना किसी विस्फोट के निकलती है। हवाई द्वीप का **मोनालोआ** ज्वालामुखी इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। इस द्वीप के अधिकांश ज्वालामुखी इसी प्रकार के हैं।

(2) **स्ट्राम्बोली तुल्य** (Strombolian Type)—भूमध्यसागर में सिसली द्वीप के उत्तर में स्थिर स्ट्राम्बोली ज्वालामुखी के आधार पर इस वर्ग का नाम रखा गया है। इस प्रकार के ज्वालामुखी में बेसाल्ट लावा ही निकलता है किन्तु यह लावा हवाई प्रकार के लावा से कम तरल होता है। फलस्वरूप ज्वालामुखी से निकलने वाली गैसों के मार्ग में बाधा पड़ती है जिससे कभी-कभी भयानक विस्फोट होता है। उद्गार के साथ बम, अवस्कर, झामक व राख आदि पदार्थ बाहर निकलते

---

1 S W. Woolridge and R. S. Morgan : *An Outline of Geomorphology*, p. 104.

2 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, pp. 461-62

देखे जाते है। तरल लावा हवा में काफी ऊँचाई तक फेका जाता है जो ठण्डा एवं ठोस होकर पुनः कुछ ज्वालामुखी मे और कुछ उसके ढालों पर गिर पडता है। स्ट्राम्बोली मे लगभग निरन्तर उद्गार होता रहता है। इससे धुएँ के बादल नही उठते अपितु प्रज्ज्वलित गैसे बाहर निकलती रहती है। इसी कारण स्ट्राम्बोली को **भूमध्य सागर का प्रकाश-गृह** कहा जाता है।

चित्र 378—**ज्वालामुखी उद्भेदन के विभिन्न रूप**

(3) **वलकेनो तुल्य** (Vulcanian Type)—स्ट्राम्बोली के निकट ही लिपारी द्वीप में वलकेनी ज्वालामुखी स्थित है। इसी के आधार पर इस समूह के ज्वालामुखियों का नामकरण किया गया है। इस प्रकार के ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा बहुत गाढा होता है जिससे प्रत्येक लावा-प्रवाह के उपरान्त मुख बन्द हो जाता है। अतः प्रत्येक नये उद्गार के साथ भीषण विस्फोट होता है और लावा की जमी ठोस ऊपरी पपड़ी तोड़ दी जाती है। इस कारण उद्भेदन के बाद प्रायः शैलखण्ड बाहर फेंके जाते है। इसके अतिरिक्त उद्भेदन के समय बडी

चित्र 379—**वेलकेनो तुल्य ज्वालामुखी**

मात्रा मे बाष्प और धूल बाहर निकलती है, जिससे 'गोभी के फूल की भाँति' (cauliflower-like) काला बादल ज्वालामुखी के ऊपर छा जाता है। इस प्रकार के ज्वालामुखी स्ट्राम्बोली की भाँति प्रज्ज्वलित नही होते। इनमे आम्लिक और पैठिक दोनो प्रकार का लावा निकलता हुआ देखा जा सकता है किन्तु ऐसा एक ही ज्वालामुखी से नहीं होता। इन ज्वालामुखियों में भीषण विस्फोट बहुत होते है।

(4) **पीलियन तुल्य** (Pelean Type)—पीली पश्चिमी द्वीपसमूह में मार्टिनिक द्वीप का ज्वालामुखी है। इसमें सर्वाधिक भीषण विस्फोट होता है। इसमे से निकलने वाला लावा बहुत लसदार होता है, इस कारण ज्वालामुखी ग्रीवा में कठोर पट्टी पड जाती है। उद्गार के समय गैसो के प्रसार से धड़ाके की आवाज होती है। इससे निकलने वाली गैसे इतनी सतृप्त होती है कि आकाश में मँडराते हुए बादल प्रकाशवान हो जाते है। ज्वालामुखी के निकट अनेक रंगों मे प्रज्ज्वलित गैसें देखी जाती हैं। विस्फोट के समय बड़ी मात्रा में धूल व अन्य शिला प्रकार के शिलाखण्ड बाहर निकलते है जिससे समस्त वातावरण धूलमय हो जाता है। 8 मई, 1902 ई० में पीली के उद्गार

के समय गैस एवं धूल का एक अत्यन्त काला बादल उत्पन्न हुआ। इसकी गति इतनी तीव्र थी कि समीपवर्ती वन मे धूल-कणो से वृक्षों की हरी छाल उड़ गयी थी।

(5) **विसूवियस तुल्य** (Visuvias Type)—विसूवियस इटली का प्रसिद्ध ज्वालामुखी है। इसमे से निकलने वाला लावा अधिक गैसयुक्त होने से विस्फोटित होता है। अतः इसमे उद्गार के साथ भयानक विस्फोट होता है। इस उद्गार मे गैसें काफी ऊँचाई तक जाती हैं और फूलगोभी के आकार का बादल बन जाती है। ऊपर उठती हुई गैसे अपने साथ राख और अन्य विखण्डित पदार्थो को भी ले चली जाती है, जिससे उद्गार के काफी समय बाद तक राख बरसती रहती है।
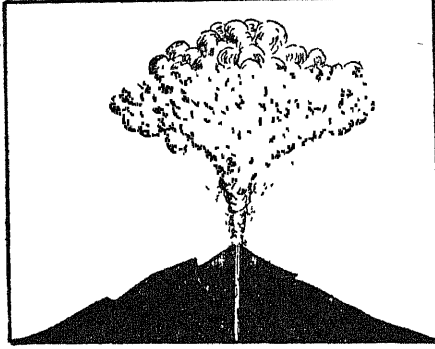
चित्र 380—विसूवियस तुल्य ज्वालामुखी

विसूवियस के प्रथम ऐतिहासिक उद्गार का **प्लिनी** ने अपने मित्र टैसिटस को पत्रों द्वारा ऐसा सुन्दर वर्णन भेजा कि विसूवियस के उस उद्गार जैसे अन्य ज्वालामुखी उद्गारो को उसी के नाम पर प्लिनियन तुल्य नाम दे दिया गया है। ताम्बोरो, क्रैकेटोआ, सेण्टा मेरिया और कटमाई के प्रसिद्ध उद्गारो की गणना इसी श्रेणी में की जाती है।

(6) **मिश्रित उद्गार** (Mixed Type)—ऐसे ज्वालामुखी उद्गारो में लावा के साथ-साथ कुछ अशों में शैलखण्ड विस्फोटक ध्वनि के साथ निकलते है। अधिकांश ज्वालामुखी उद्गार इसी श्रेणी में आते है।

(7) **अर्द्ध-ज्वालामुखी उद्गार**—इस श्रेणी के अन्तर्गत वे उद्गार आते है जिनमें न तो राख या धूल ही निकलती है और न लावा का ही प्रवाह होता है। इसके विपरीत इनमें कभी-कभी केवल वाष्प का उद्गार होता है और धडाके होते है। जापान के शिरेन (1882), बन्दाईसान (1886), अजूमासान (1893) तथा जावा के गैलूँलुंग ज्वालामुखियो के उद्गार इसी श्रेणी के है। लासेनपीक के विचित्र धड़ाके भी इसी श्रेणी मे आते हैं।

ज्वालामुखी द्वारा निर्मित भू-आकार
(Landforms formed by Volcanoes)

जैसा पहले बताया चुका है, ज्वालामुखी क्रियाओ के दो भेद है : (1) अन्तर्वर्ती क्रियाएँ, और (2) बहिर्वर्ती क्रियाएँ। इन दोनों में ही भिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा भिन्न प्रकार के भू-रूप बनते है।

अन्तर्वर्ती भू-आकार (Intrusive Landforms)

जब अन्तर्वर्ती ज्वालामुखीय क्रियाओ के द्वारा भू-गर्भ की गहराई से लावा ऊपर उठकर भू-पटल की ओर अग्रसर होता है और मार्ग मे ही विभिन्न गहराइयों पर शीतल होकर ठोस बन जाता है तो उसके फलस्वरूप धरातल के नीचे कई प्रकार के भू-आकार बन जाते है। इन भू-आकारों मे **बैथोलिथ** (Batholiths), **लैकोलिथ** (Laccoliths), **पैकोलिथ** (Pacoliths), **लोपोलिथ** (Lopoliths), **डाइक्स** (Dykes), **सिल** (Sill) तथा **स्कन्ध व वृत-स्कन्ध** (Stocks and Bosses) आदि विशेष उल्लेखनीय है। ये भू-आकार धरातल के नीचे भू-गर्भ मे बनते है इसलिए इन्हे अन्तर्वर्ती भू-आकार कहा जाता है। इन समस्त भू-आकारों का वर्णन **आग्नेय चट्टानों** के अन्तर्गत किया जा चुका है। अतः यहाँ इनका विवरण नही दिया जा रहा है।
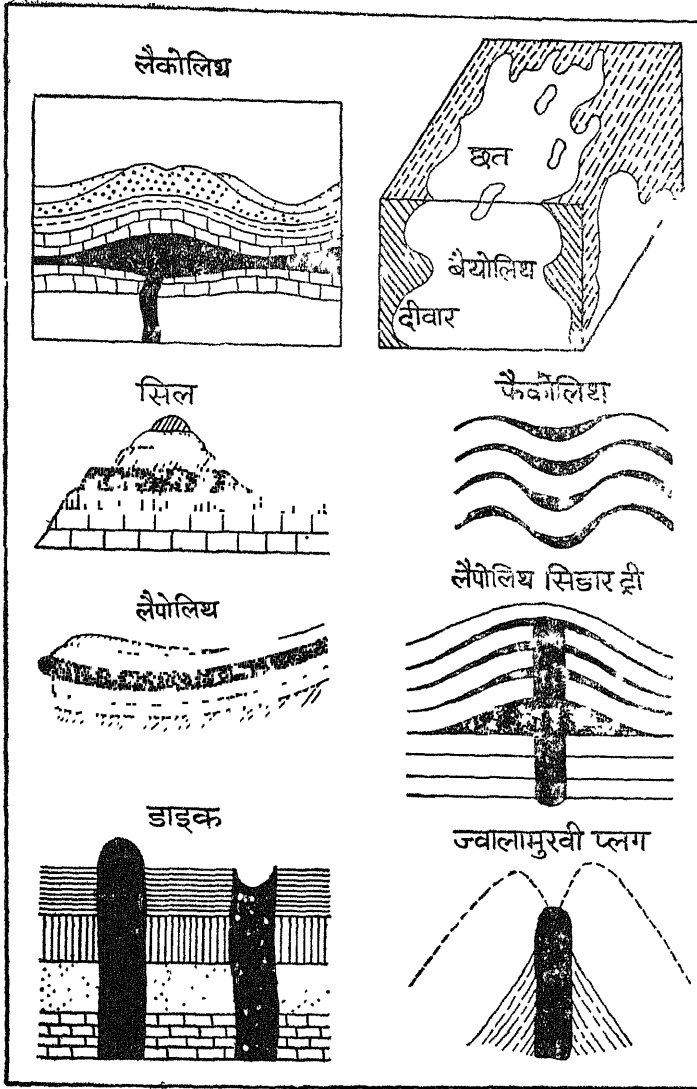
चित्र 381—ज्वालामुखी द्वारा निर्मित विभिन्न अन्तर्वर्ती स्थलाकृतियाँ

बहिर्वर्ती भू-आकार (Extrusive Landforms)

जब बहिर्वर्ती ज्वालामुखीय क्रियाओं के द्वारा भू-गर्भ के विभिन्न प्रकार के पदार्थ धरातल के ऊपर आकार निक्षेपित हो जाते है तो उससे अनेक प्रकार के भू-आकार बन जाते है। ये भू-आकार अन्तर्वर्ती भू-आकारों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते है, क्योंकि इनका प्रभाव स्थानीय अवस्थाओं पर पड़ता है। इन भू-आकारों का वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

उत्थित भू-आकार (Elevated Landforms)

ज्वालामुखी शंकु (Volcanic Cones)—ज्वालामुखी का उद्‌भेदन जब केन्द्रीय प्रकार (central erruption) का होता है तो उसमें से निकलने वाला पदार्थ मुख के चारों ओर जमा हो जाता है और शंकु का रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार बना शंकु ज्वालामुखी शंकु कहलाता है। इसकी रचना के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं :

(1) **क्रेटर प्रक्षिप्त सिद्धान्त** (Crater Ejection Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार शकु की रचना ज्वालामुखी उद्गार के समय निकलने वाले पदार्थो के क्रेटर के आसपास जम जाने से होती है। प्रत्येक उद्गार के बाद पदार्थो का निक्षेप बढता जाता है जिससे शकु का रूप निखरता जाता है।

(2) **क्रेटर-उत्थापन सिद्धान्त** (Crater Elevation Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार शकु की रचना भू-गर्भीय धक्को के कारण क्रेटर के समीप की भूमि के ऊपर उठ जाने से होती है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान **वान बुश** एव **वान हम्बोल्ट** ने इन शंकुओ को शरीर पर उठे फोड़े की तरह माना है। किन्तु वैज्ञानिकों ने शंकु के पदार्थो का विश्लेषण कर इस सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर दिया है।

शंकु और उसके प्रकार
(Cones and their Kinds)

ज्वालामुखी शकु एक छोटे टीले से लेकर ऊँचे पर्वतो के समान होते है। किन्तु इनकी रचना उद्गरित पदार्थों की प्रकृति, पदार्थो के विश्राम कोण, वायु की दिशा, उनकी एकत्रीभूत शक्ति, उद्भेदन की दशा और लावा की रासायनिक रचना आदि कई बातों पर आधारित होती है। ज्वालामुखी उद्गार मे राख, धूल, बम, स्कोरिया, झामक, शैलखण्ड एव लावा कई प्रकार के पदार्थ निकलते है। अत शंकु की रचना पर इन पदार्थो के स्वभाव और उनके योग का पर्याप्त प्रभाव पडता है। इसी प्रकार धरातल पर इन पदार्थो के विश्राम कोण का भी शकु की आकृति पर प्रभाव होता है। उद्भेदन के समय निकलने वाली वाष्प और उससे होने वाली वर्षा भी शकु रचना को प्रभावित किये बिना नही रहती।

शकु के निर्माण में लावा का अधिक हाथ होता है। रासायनिक रूप मे लावा दो प्रकार का होता है। आम्लिक लावा अधिक गाढा और लसलसा होता है जबकि पैठिक लावा पतला होता है। आम्लिक लावा गाढ़ा होने से शीघ्र नही बहता परन्तु पैठिक लावा तीव्र गति से बहता है। फलस्वरूप शंकु की रचना पर लावा का विशेष प्रभाव पडता है।
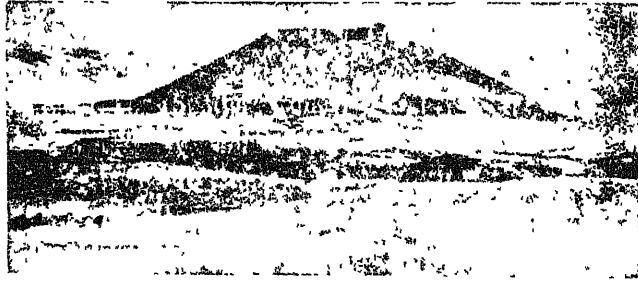
चित्र 382—एक ज्वालामुखी शंकु और उसका क्रेटर

शंकु की रचना विस्फोटों की दशा पर भी निर्भर करती है। यदि विस्फोट शीघ्र और तीव्र होते है तो शंकु की आकृति बदल जाती है। प्रचण्ड विस्फोट से शंकु नष्ट हो जाते हैं अथवा खण्डित हो जाते है या उड़ जाते हैं।

धरातल पर चलने वाली स्थायी हवाओं का भी शंकु की आकृति पर प्रभाव पड़ता है। ज्वालामुखी उद्भेदन के समय निकलने वाला पदार्थ हवा की दिशा से प्रवाहित होकर प्रवाह दिशा में अधिक लम्बा हो जाता है जिससे शकु का रूप परिवर्तित हो जाता है।

ज्वालामुखी शकु अपने आकार-प्रकार एवं रचना के अनुसार निम्न प्रकार के होते हैं :

(1) लावा शंकु (Lava cones),

(2) सिण्डर अथवा राख शंकु (Cinder cones);

(3) मिश्रित शंकु (Composite cones),
(4) लावालव शंकु (Spatter cones),
(5) शील्ड शंकु (Shield cones),
(6) परजीवी या आश्रित शंकु (Parasite cones)।

(1) **लावा शंकु** (Lava Cones)—जब किसी शकु की रचना भू-गर्भ से निकलने वाले केवल लावा के द्वारा होती है तो उसे लावा-शंकु कहते है। लावा से बने ये शंकु लावा की द्रवण-शीलता के अनुसार भिन्न होते हैं। इनके मुख्य दो भेद है :

(क) **आम्लिक लावा शंकु** (Acid Lava Cones)—रासायनिक रचना के अनुसार आम्लिक लावा मे मिलिका तत्त्व की प्रधानता होती है। अतः यह अत्यन्त चिपचिपा होता है। इसकी गति बहुत मन्द होती है। फलस्वरूप ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा मुख के आसपास ही जमा हो जाता है। लावा की परत के ऊपर परत चढती जाती है। इस प्रकार आम्लिक लावा से अत्यन्त संकीर्ण और तीव्र ढाल वाले शंकु की रचना होती है। इटली मे स्ट्राम्बोली ज्वालामुखी शकु इसका अच्छा उदाहरण है।
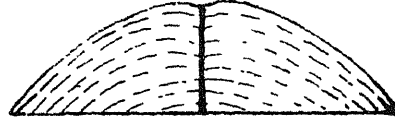
चित्र 383—आम्लिक लावा शंकु

(ख) **पैठिक लावा शकु** (Basic Lava Cones)—पैठिक लावा मे बेसाल्ट की प्रचुरता और सिलिका की न्यूनता होती है। अतः यह लावा अधिक तरल और पतला होता है। तरलता के कारण वह शीघ्र बह जाता है। परिणामस्वरूप पैठिक लावा से बहुत ही मन्द ढाल वाले शंकुओं की रचना होती है। सामान्यतः ऐसे शंकुओं का ढाल 5° से 10° तक होता है। हवाई द्वीप मे मोनालोआ ज्वालामुखी का शंकु ऐसा ही है।
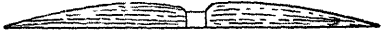
चित्र 384—पैठिक लावा शंकु

(2) **सिण्डर अथवा राख शंकु** (Cinder oı Ash Cones)—इस प्रकार के शकुओं की रचना प्रायः विस्फोटीय ज्वालामुखियो द्वारा होती है। ये शंकु ढीले और असंगठित पदार्थो से बनते है। इसमें राख तथा अंगार (cinder) की मात्रा अधिक होती है। ये अपनी रचना में पूर्ण शंकुवत होते है। इनके किनारे अवतल ढाल वाले होते है। ढीला और असंगठित शैलचूर्ण बाह्य किनारों पर अपने विश्राम कोण के अनुसार जमा होता है। राख 30° और अंगार 45° पर विश्राम करते हैं। ज्वालामुखी विस्फोट की प्रचण्डता और उसकी अवधि के अनुसार ये शंकु छोटे अथवा बड़े होते है। यदि विस्फोटीय उद्गार थोड़े समय के लिए और हल्का होता है तो शंकु नीचा और चौड़ा बनता है। किन्तु यदि विस्फोट काफी समय तक और भीषण होता है तो शंकु पर्याप्त ऊँचे और संकीर्ण होते है।

इन शंकुओं की रचना में वायु की गति और दिशा का बड़ा प्रभाव होता है। यदि ज्वालामुखी विस्फोट के समय तीव्र हवा होती है तो राख एवं अंगार का निक्षेप प्रतिवाती ढाल की ओर अधिक होता है। इस प्रकार तीव्र वायु मे विषम शंकु बनते है। यदि हवा शान्त होती है तो चारों ओर समान निक्षेप होता है जिसमें सम शंकुओं की रचना होती है।
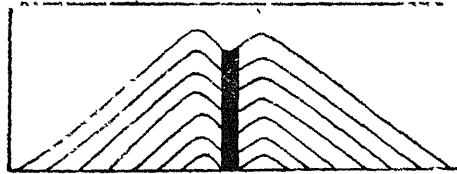
चित्र 385—राख चूर्ण शंकु

राख शंकुओं का मुख काफी बड़ा होता है। आर्द्र प्रदेशों में इन शंकुओं के ऊपरी भाग से

राख व अंगार शीघ्र बह जाती है। इस राख द्वारा शंकु के निचले भागो मे प्राय: पंख बन जाते है। जब धरातल पर कठोर और मोटा पदार्थ—बम स्कोरिया आदि बच रहता है तो मूल शकु का रूप काफी लम्बे समय तक बना रहता है।

ऐसे शंकु हवाई द्वीप मे अधिक मिलते है। इटली मे माउण्ट नोवो तथा एटना और मेक्सिको में जोरुल्लो ज्वालामुखी शकु भी ऐसे ही है। लेसेन ज्वालामुखीय राष्ट्रीय पार्क का राख शंकु तो जगत-प्रसिद्ध है। ऐसे शंकु समुद्रों मे भी बन जाते है। एजोर्स द्वीपसमूह के निकट सर्वीना एव सिसली के निकट ग्राहम शकु इसके उदाहरण है।

(3) **मिश्रित शंकु** (Composite Cones)—ये शकु ज्वालामुखी के विस्फोटीय एव शान्त उद्गारो द्वारा बनते है। इनमे लावा और खण्डित पदार्थों की एकान्तर क्रम से तहे बनी होती हैं। लावा की ठोस परते शंकु का दृढ आधार तैयार करती है जबकि क्रेटर से निकला खण्डित पदार्थ हवा मे उछलकर शकु के रूप को सँवारता है। खण्डित पदार्थों मे धूल से लेकर भीमकाय रोड़े तक होते है। इनका विश्राम कोण 35° तक पाया जाता है जो ऐसे पदार्थों के लिए विश्राम की अधिकतम सीमा है। ऊँचे कोण पर शैलखण्ड ढाल से लुढ़क जाते है। एक मिश्रित शंकु का खण्ड-चित्र मोटे तौर पर परतदार संरचना को प्रकट करता है। शकु की परतदार रचना के कारण इन्हें **परतदार शंकु** (Strato cones) भी कहते है।
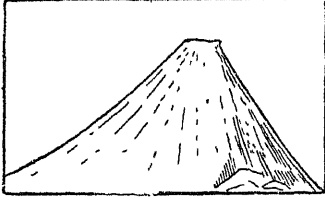
चित्र 386—**मिश्रित शंकु**

मिश्रित ज्वालामुखी शकुओं की रूपरेखा बहुत ही सुन्दर तथा समान होती है। इनकी चोटियाँ तीव्र ढालयुक्त होती है जो नतोदर ढाल द्वारा लगभग चपटे आधारतल तक पहुँच जाती है। संसार के अधिकांश बड़े-बड़े ज्वालामुखी मिश्रित शकु वाले ही है। जापान का फ्यूजीयामा पर्वत मिश्रित शंकु का सर्वोत्तम उदाहरण है। यह शंकु अपने चारों ओर के क्षेत्र से लगभग 9000 फुट ऊँचा है। फिलीपाइन द्वीपसमूह का मेयॉन, मेक्सिको का पोपोकेटीपीटल, संयुक्त राज्य अमरीका के हुड़; रेनियर, शास्ता एवं इटली के विसूवियस और एटना मिश्रित शंकु के अच्छे उदाहरण है।

(4) **लावालव शंकु** (Spatter Cones)—केन्द्रीय अथवा दरारी उद्गार से लावा के निकलते समय उसमें गैस के रह जाने से बुलबुले बन जाते है। अनेक बुलबुले एकत्रित होकर फूट जाते है। इसके परिणामस्वरूप अनेक छोटे अव्यवस्थित शंकु बन जाते है जो लावालव शकु (spatter or driblet cones) कहलाते हैं। ये शंकु कुछ ही फुट ऊँचे होते है।

(5) **शील्ड शंकु** (Shield Cones)—शील्ड शंकुओ की रचना बेसाल्टिक लावे के निक्षेप से होती है। मुख के चारों ओर लावे की समान्तर तहों के जम जाने से ही ऐसे शंकु बनते हैं। लावा के तीव्रगामी प्रवाह से शंकु का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है। यद्यपि ऐसे शंकुओं की ऊँचाई बहुत हो सकती है किन्तु लावा के विस्तृत क्षेत्र मे फैल जाने से उस क्षेत्र की तुलना में शंकु कम ऊँचा रहता है। ये शकु साधारण ढाल वाले पठारों की भाँति प्रतीत होते है। इसलिए इनको **पठारी शंकु** भी कहा जाता है। ऐसे शंकु हवाई द्वीप में बहुत मिलते हैं। मोनालोआ ज्वालामुखी शंकु शील्ड शंकु का सर्वोत्तम उदाहरण है। यह शंकु 13,675 फुट ऊँचा है। आधार के निकट इसका ढाल केवल 20° है, किन्तु ऊपर की ओर ऊँचाई पर यह 10° तक हो गया है। 10,000 फुट की ऊँचाई पर यह चपटे तथा कम ढाल वाले गुम्बद के रूप मे बदल गया है।

(6) **परजीवी या आश्रित शंकु** (Parasitic Cones)—मिश्रित शंकु अपनी संरचना में बहुत अधिक कठोर नहीं होते। इसलिए मिश्रित शंकु की दीवारें बहुधा विस्फोट से फट जाती हैं

और उसके पार्श्व मे अनेक दरारें बन जाती हैं। इन दरारो से निकलने वाले पदार्थ के निक्षेप से एक छोटा शकु बन जाता है, जो आश्रित शंकु कहलाता है। प्रत्येक नये शंकु से जिसे वोका कहते है, लावा की धारा बह निकलती है। लावा की यह सँकरी धारा ढाल पर से होकर कुछ दूरी तक फैल जाती है।

गुम्बद या टीले (Domes or Mounds)—जब ज्वालामुखी विवर के चतुर्दिक आम्लिक लावे का गुम्बदाकार रूप मे निक्षेप हो जाता है तो उसे गुम्बद कहा जाता है। **विलियम्स** ने इन गुम्बदों को तीन समूहो मे विभाजित किया है: (1) **डाटवत गुम्बद** (Plug Domes)—ये गुम्बद ज्वालामुखीय क्रिया के शान्त हो जाने के बाद विवर मे लावा के जमकर ठोस हो जाने और कालान्तर में उसके ऊपर उठ आने से बनते है। (2) **अन्तर्जात गुम्बद** (Endogeneous Domes)—ये मूलत. लावा के भीतर से प्रसार होने के फलस्वरूप बनते है। (3) **बहिर्जात गुम्बद** (Exogenous Domes)—ये प्राय: केन्द्रीय प्रकार के ज्वालामुखी के मुख के आसपास लावा निक्षेप के कारण बनते है। इन गुम्बदों को शील्ड शकु भी कहते है।

ज्वालामुखी पर्वत—ज्वालामुखी उद्गार के समय जो लावा, आदि पदार्थ बाहर निकलता है वह मुख के चारों ओर शकु के आकार से जमा होता रहता है। धीरे-धीरे यह ज्वालामुखी शंकु ऊँचा उठकर पर्वत का रूप धारण कर लेता है। सन् 1943 में मेक्सिको नगर से 200 मील दूर पेरिकुटिल ज्वालामुखी ने अपने प्रथम उद्गार में ही 100 फुट ऊँचे टीले की रचना कर डाली। एक सप्ताह के उद्गार के बाद इसकी ऊँचाई 500 फुट हो गयी। सात महीनो मे यह ऊँचाई बढकर 1500 फुट हो गयी। इसी ज्वालामुखी से 50 मील की दूरी पर एक ज्वालामुखी सन् 1759 मे पहली बार विस्फोटित हुआ और विस्फोट के पाँच महीनों की छोटी अवधि में ही इसने 10,000 फुट ऊँचे पर्वत की रचना कर डाली। जापान का फ्यूजीयामा पर्वत ज्वालामुखी पर्वत का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

लावा-निर्मित पठार—जब ज्वालामुखी उद्गार सँधों अथवा दरारो के द्वारा होता है तो उससे बड़ी मात्रा मे लावा फूट-फूटकर बाहर आता है। लावे का यह शान्त दरारी उद्गार कभी-कभी वर्षो तक सतत रूप से होता रहता है। इस लावा प्रवाह से समीपवर्ती क्षेत्र में बाढ़-सी आ जाती है। फलस्वरूप समस्त प्रदेश लावा से ढक जाता है। सतत उद्गार से लावा के परत के परत जम जाते है जिससे विस्तृत ऊँचे प्रदेश बन जाते है जो बाद मे पठार कहलाते है। लावा से बनने के कारण इन्हें लावा-निर्मित पठार कहा जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका मे कोलम्बिया का पठार लावा-निर्मित पठार का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसका कुल क्षेत्रफल 1,00,000 वर्ग-मील से अधिक है। इस पठार के कुछ भागों में लावा की मोटाई 5000 फुट मे अधिक है और कही 2000 फुट ही है। समस्त पठारी भाग की औसत ऊँचाई लगभग आधा मील है। ऐसा अनुमान है कि पठार के अधिकाश भाग से कम से कम 1000 फुट लावा अपरदन के फलस्वरूप हट गया है। इस पठारी क्षेत्र पर कम से कम लावा की 20 स्पष्ट परतें गिनी जा सकती है। प्रत्येक परत की मोटाई 10 से 20 फुट तक के बीच पायी जाती है।[1]

इस प्रदेश मे दरारी उद्गार आदि नूतन कल्प (Eocene Epoch) मे प्रारम्भ हुआ जो आन्तरायिक रूप से अतिनूतन कल्प (Pliocene Epoch) तक होता रहा। इस लम्बी अवधि में कोई 50,000 से 60,000 क्यूबिक मील लावा भू-गर्भ से निकलकर धरातल पर आया और उससे जो पठार की रचना हुई वह समुद्र-तल से 4000 फुट से कम ऊँचा नही है।[2]

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 480

2 *Ibid.*

जब से इस पठार की रचना हुई है यह अनेक स्थानो पर वलित एव भ्रंशित हो गया है। इसके कई भाग ऊँचे उठ गये और कई क्षेत्र 1000 से 4000 फुट तक नीचे धँस गये। कई स्थानों पर स्नेक व कोलम्बिया नदियों ने गहरी घाटियाँ बना दी है। समस्त पठार असख्य छोटी-बड़ी नदियो द्वारा कट-फट गया है।

दकन का पठार लावा द्वारा निर्मित पठार का दूसरा बड़ा उदाहरण है। यह कोलम्बिया पठार से अधिक विस्तृत है। इस प्रदेश का लावा अधिक गाढ़ा और अधिक गहरा है। इस प्रदेश मे कम से कम 1,00,000 क्यूबिक मील लावा भूमि से निकलकर जम गया और विशाल पठार को जन्म दिया। कोलम्बिया की भाँति यह पठार भी अब बहुत कट-फट गया हे और कई स्थानो पर ऊँचा-नीचा हो गया है।

ज्वालामुखीय मैदान—ज्वालामुखी उद्भेदन से निकलने वाली राख तथा लावे के द्वारा मैदानो की रचना हो जाती है। ज्वालामुखी उद्गार से निकली राख निकटवर्ती प्रदेश में जमा हो जाती है जिससे ऊँची-नीची भूमि समतल हो जाती है। यह राख बहुत ही उपजाऊ होती है। इटली मे विश्व-प्रसिद्ध विसूवियस ज्वालामुखी से निकली राख से नेपल्स नगर के निकट उपजाऊ मैदान बन गया था।

ज्वालामुखी लावा से भी उपजाऊ मैदानों की रचना होती है। किन्तु ये मैदान लावा के पठारो से बहुत कम भिन्न होते है। लावा के पठार और मैदान मे भिन्नता केवल लावा की मोटाई की होती है। इनके ऊपरी तल की रूपरेखा मे भी कोई विशेष अन्तर नहीं होता। पठारो पर घाटियाँ थोडी अधिक गहरी होती है। हमारे देश मे 'काली मिट्टी का प्रदेश' तथा संयुक्त राज्य अमरीका में 'वाशिंगटन क्षेत्र' लावा-निर्मित मैदान के ही उदाहरण है।

लावा-निर्मित मेसाज तथा बूटे—कई प्रदेशों में दरारों से लावा निकलकर पुरानी चट्टानों पर फैल गया। बाद मे नदियों ने लावा के नीचे बिछी चट्टानो में बड़ी गहराई तक घाटियों की रचना कर डाली। घाटियों के मध्य की भूमि अपेक्षतया कठोर लावा की परतों के कारण अपक्षयित होने से बच गयी। फलस्वरूप एक प्रदेश मे कहीं-कही एकाकी मेसा अथवा बूटे भू-रूप बन गया। कहीं-कही एक ही प्रदेश मे नदी-घाटियों द्वारा अलग किये गये अनेक मेसाज तथा बूटे बन गये। ऐसे मेसाज तथा बूटे संयुक्त राज्य अमरीका के न्यू मेक्सिको, कोलोरेडो एवं विमोंग राज्यों मे देखे जा सकते है। यहाँ कुछ मेसाज तो इतने बड़े है कि उन्हे पठार की संज्ञा दी जा सकती है। पश्चिमी-मध्य कोलोरेडो का **ग्राण्ड मेसा** ऐसा ही है। दक्षिणी कोलोरेडो और न्यू मेक्सिको की सीमा पर स्थित रेटन (Raton Mesa) दूसरा सुन्दर उदाहरण है। इस पर लावा की मोटाई केवल 1000 फुट ही है, फिर भी इसका पश्चिमी पार्श्व समीपवर्ती घाटी तल से 6000 फुट ऊँचा है।

ज्वालामुखी द्वीप—जब ज्वालामुखी का उद्गार स्थल पर न होकर समुद्र के भीतर होता है तो ज्वालामुखी विवर से निकलने वाला लावा, राख एवं शैल-चूर्ण समुद्र की तली पर जमकर कठोर हो जाता है। ज्यो-ज्यों ज्वालामुखी पदार्थ का निक्षेप बढ़ता जाता है त्यों-त्यों समुद्रों की तली पर राख अथवा लावा का शंकु या गुम्बद ऊपर उठता जाता है। कालान्तर में राख अथवा लावा का यह शकु समुद्र तल से ऊपर उठ जाता है और एक द्वीप का रूप ग्रहण कर लेता है। कभी-कभी समुद्र मे बनी लावा की पहाड़ी या पठार भूमि के उन्मज्जन से ऊपर उठ आता है और द्वीप बन जाता है। प्राय. ज्वालामुखी उद्गारों से निर्मित द्वीप काफी बड़े और स्थायी होते है। कुछ तो समुद्र-तल से हजारो फुट ऊँचे होते है। कभी-कभी विस्फोटों के कारण द्वीप नष्ट भी हो जाते है। प्रशान्त महासागर में हवाई द्वीप, एल्यूसियन द्वीप एवं जापान द्वीप ज्वालामुखी द्वीप ही हैं।

डाट (Plugs)—जब मिश्रित प्रकार के ज्वालामुखी शान्त हो जाते है तो प्रायः उनका छिद्र (vents) ठोस लावा से भर जाता है। ज्यों-ज्यों शकु का अपक्षय होता जाता है त्यो-त्यों प्रतिरोधी डाट बाहर प्रकट होता जाता है। कई स्थानो पर ज्वालामुखी शकु तो पूर्णतः नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर डाट ही बच रहता है। जब लावा ज्वालामुखी छिद्र अथवा नली मे भरा रहता है तो ऐसे डाट को कभी-कभी ज्वालामुखी ग्रीवा (volcanic necks) कहा जाता है।

चित्र 387—प्लग अथवा डाट
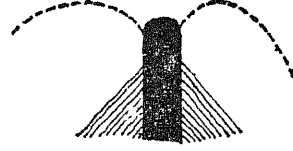
शृंग एवं चोटियाँ (Crags and Cliffs)—कई बार ज्वालामुखी के भीषण विस्फोटों से पर्वतीय शिखर एवं शंकु के पार्श्व टूटकर भ्रष्ट हो जाते है। पुराने क्रेटर नष्ट हो जाते है। लावा प्रवाह में भी बडी मात्रा मे गैसे एकत्रित हो जाती है जो लावा के पिण्डो को उड़ा ले जाती है। फलस्वरूप अपरदन के पश्चात् इन लावा निक्षेपों मे अनेक अनियमित आकृतियाँ, गुफाएँ और शृंग आदि बन जाते हैं।

निमज्जित भू-आकार (Depressed Form)

क्रेटर (Craters)—साधारणत. ज्वालामुखी शंकु के शिखर पर कीप की आकृति का एक गड्ढा होता है। इस कीपाकार गड्ढे का सबसे निचला भाग ज्वालामुखी के उस छिद्र से मिला रहता है जिसमे से होकर उद्गरित पदार्थ धरातल पर आते है। इस प्रकार संक्षेप में क्रेटर इस गर्त का नाम है जो ज्वालामुखी द्वार के ऊपर बना होता है। शकु अथवा टीले के विकास के साथ-साथ क्रेटर भी शीर्ष भाग पर बढता जाता है। सामान्यतः क्रेटर के भीतरी और बाहरी ढाल ढीले पदार्थो और शैलखण्डो से निर्मित होते है। हवाइयन प्रकार के क्रेटर इसके विपरीत ठोस पदार्थों से निर्मित होते है। केवल ऊपरी भाग मे खण्डित शैल-पदार्थ का पतला आवरण होता है।

क्रेटर अपने आकार-प्रकार मे बहुत ही भिन्न होते है। ये क्षुद्र गर्त से लेकर सैकड़ो मील व्यास के विशाल गर्त होते है। अलास्का के शान्त ज्वालामुखी एनीयेकचाक (Aniakchak) का क्रेटर लगभग 6 मील व्यास का है। इसकी दीवारे 1200 से 3000 फुट तक ऊँची हैं। यदि संयुक्त राज्य अमरीका मे ओरेगान राज्य की क्रेटर झील को वस्तुत क्रेटर ही माना जाय तो यह और भी अधिक प्रभावशाली रूप है। इसकी दीवारे 4000 फुट ऊँची है किन्तु बहुत सम्भव यह केलडेरा है।[1]

आन्तर क्रेटर (Nested Crater)—कई ज्वालामुखियों के क्रेटर के भीतर क्रेटर होता है। फिलीपाइन द्वीपसमूह के **ताल** ज्वालामुखी के तीन क्रेटर है। विसूवियस मे भी किसी समय स्पष्ट रूप से तीन अलग-अलग क्रेटर थे। माउण्ट एटना में दो छोटे क्रेटर थे। आन्तर क्रेटर की अवस्था इस बात का द्योतक है कि प्रथम क्रेटर के निर्माण के उपरान्त ज्वालामुखी शक्तियाँ शिथिल हो रही हैं।

गौण क्रेटर (Adventive Crater)—कभी-कभी पुराने ज्वालामुखी शकु के पार्श्व में छोटे क्रेटर पाये जाते है। ये पुरानी चट्टानो के भ्रशित तथा खण्डित हो जाने से बनते है। भू-गर्भ का लावा तथा गैसे इन दरारों से धरातल पर बड़े भारी विस्फोट के साथ फूट पड़ते हैं और वहाँ गौण क्रेटर की रचना कर डालते है।

केलडेरा (Caldera)—'केलडेरा' एक स्पेनिश भाषा का शब्द है जिसका अर्थ कड़ाहा से होता है। अत ज्वालामुखी शकु के शीर्ष पर एक विस्तृत कड़ाहनुमा चौकोर गड्ढे को ही केलडेरा कहते है। 'केलडेरा' शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे कई वैज्ञानिकों मे मतभेद है। कुछ लेखकों के अनुसार पूर्णरूप में दीवारो से आबद्ध एक विस्तृत ज्वालामुखी क्रेटर को ही केलडेरा कहा जाता है।

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 477

संयुक्त राज्य अमरीका के भू-गर्भिक सर्वेक्षण विभाग ने उस ज्वालामुखी क्रेटर को केलडेरा माना है जिसका निमज्जन द्वारा काफी वर्द्धन हो जाता है। **डेली** का सुझाव है कि निमज्जित गर्तो को ज्वालामुखी सिंक (volcanic sinks) कहना चाहिए और केलडेरा से आशय उस विशाल ज्वालामुखी क्रेटर से लिया जाना चाहिए जो विस्फोट के कारण बनता है यद्यपि यह कह सकना कठिन है कि केलडेरा निमज्जन से बना गर्त है अथवा विस्फोट से निर्मित गर्त है। यदि इसकी उत्पत्ति के प्रश्न को अलग रखकर देखें तो स्पष्ट ही यह विदित होगा कि केलडेरा के तल का व्यास ज्वालामुखी छिद्र से बहुत अधिक बड़ा होता है।

वास्तव मे बडे-बड़े और अधिक समय तक जाग्रत रहने वाले ज्वालामुखी पर्वतो के शिखर पर ही ज्वालामुखी के निमज्जन से केलडेरा बन जाता हे। बहुधा इसका मुख उद्गार के इधर-उधर हटकर हो जाने से नष्ट हो जाता है। बार-बार के विनाश से ज्वालामुखी निमज्जन से बने कुण्ड का विस्तार इतना बढ जाता है। इस समय ससार मे सबसे प्रसिद्ध केलडेरा ओरेगोन राज्य की क्रेटर झील का केलडेरा है। इस झील के बीच जाग्रत ज्वालामुखी पर्वत के अन्दर धँस जाने के बाद बना है। कनारी द्वीप का **ला केलडेरा** भी विश्व-प्रसिद्ध है। जापान मे असो ज्वालामुखी का केलडेरा 14 मील और 10 मील चौड़ा है। अलास्का मे **कटमाई** इण्डोनेशिया के **क्रेकाटोआ** और न्यू मेक्सिको मे **वेलिस** ज्वालामुखियों के केलडेरा अन्य प्रसिद्ध केलडेरा है।

चित्र 388—**केलडेरा**

ज्वालामुखीय झीलें—ज्वालामुखीय क्रिया के स्थल पर कई प्रकार की झीलें बन जाती है। जब कोई जाग्रत ज्वालामुखी शान्त हो जाता है तो उसका मुख (crater) लावा के जम जाने से बन्द हो जाता है। कालान्तर मे क्रेटर जब वर्षा के जल से भर जाता है तो वह क्रेटर झील मे बदल जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में ओरेगोन राज्य की क्रेटर झील इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। अफ्रीका की विक्टोरिया झील भी ऐसी ही है। फ्रास, जर्मनी, इटली, न्यूजीलैण्ड, अलास्का, मेक्सिको, संयुक्त राज्य अमेरिका, पूर्वी द्वीपसमूह, फिलीपाइन व अफ्रीका में ऐसी अनेक झीले पायी जाती है।

कभी-कभी ज्वालामुखी उद्गार से निकलने वाला लावा किसी नदी के मार्ग मे पडकर उसकी धारा को अवरुद्ध कर देता है जिससे नदी झील बन जाती है। अबीसीनिया की **ताना झील** और कैलिफोर्निया की **टाहो झील** इसी प्रकार बनी हुई है।

ज्वालामुखी के प्रकार
(Kinds of Volcanoes)

संसार में ज्वालामुखी के अनेक प्रकार देखे जाते है। ज्वालामुखी उद्गार में निःसृत पदार्थो की भिन्नता के कारण उनकी आकृतियों मे भिन्नता पायी जाती है। उद्भेदन के स्वभाव का भी उनके रूप पर बुरा प्रभाव पड़ता है। **लेक्रोइक्स** नामक फ्रांसीसी विद्वान ने उद्भेदन के स्वभाव के आधार पर ही ज्वालामुखियों के भेद किये है। प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान **काटन** ने ज्वालामुखियो के वर्गीकरण का आधार निःसृत पदार्थों की भिन्नता को माना है। कई विद्वानों ने ज्वालामुखी शंकुओं के आधार पर भी इनके भेद किये है किन्तु ज्वालामुखियों का उद्भेदन के आधार पर वर्गीकरण अधिक तर्कसगत प्रतीत होता है। उद्भेदन के आधार पर ज्वालामुखियों के **अग्रलिखित भेद किये जा सकते हैं :**

चित्र 389—एक ज्वालामुखी केलडेरा का हवाई दृश्य

(1) सक्रिय ज्वालामुखी (Active volcanoes),
(2) प्रसुप्त ज्वालामुखी (Dorment volcanoes),
(3) निर्वापित ज्वालामुखी (Extinct volcanoes),
(4) विस्फोटीय ज्वालामुखी (Explosive volcanoes),
(5) निःस्रावी ज्वालामुखी (Effusive volcanoes),
(6) मिश्रित ज्वालामुखी (Mixed volcanoes)।

(1) **सक्रिय ज्वालामुखी** (Active Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनके मुख से सदैव धूल, धुँआ, वाष्प, गैसें, राख, शैलखण्ड अथवा लावा आदि पदार्थ बाहर निकलते रहते है उन्हें
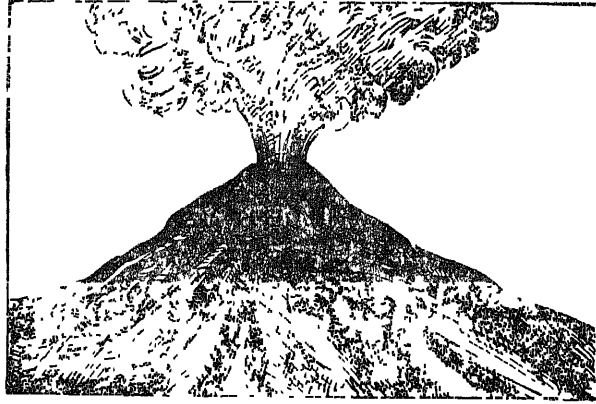
चित्र 390—सक्रिय ज्वालामुखी

सक्रिय ज्वालामुखी कहा जाता है। इन ज्वालामुखियों मे प्रायः उद्भेदन होता रहता है या उद्भेदन की किसी भी समय आशा की जा सकती है। इनका मुख सदैव खुला रहता है। मुख के पास वनस्पति का अभाव रहता है। विभिन्न ज्वालामुखियों के सक्रियता की अवधि भिन्न-भिन्न होती है। इटली का एटना पर्वत ढाई हजार वर्षो से सक्रिय है। इक्वेडोर का कोटेपेक्सी ज्वालामुखी (19,600 फुट) विश्व का सबसे ऊँचा सक्रिय ज्वालामुखी है। इस समय समस्त संसार में लगभग 500 सक्रिय ज्वालामुखी है।

(2) **प्रसुप्त ज्वालामुखी** (Dormant Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जो दीर्घकाल तक शान्त रहने के उपरान्त जब अकस्मात किसी समय सक्रिय हो जाते हैं तो उन्हे प्रसुप्त ज्वालामुखी कहा जाता है। ऐसे ज्वालामुखी के उद्भेदनों के मध्य प्रायः लम्बा अन्तर रहता है। कभी-कभी यह अन्तर सैकड़ों वर्षो का होता है। लम्बे समय तक उद्गार नही होने से लोगों को प्रायः इनके शान्त रहने का भ्रम हो जाता है, जिससे लोग निःसंकोच इनके समीप जाकर बस जाते है। किन्तु जब कभी इनमें अनायास विस्फोट होता है तो
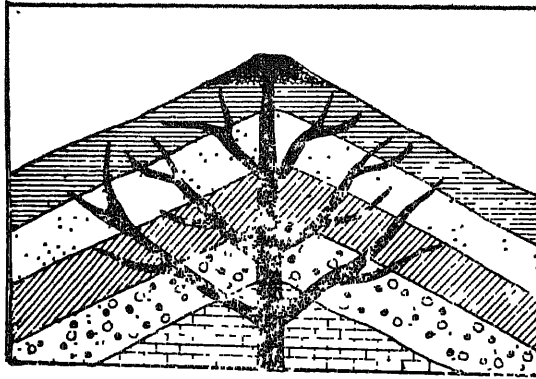
चित्र 391—प्रसुप्त ज्वालामुखी

धन-जन की अपार हानि होती है। सन् 79 ई० में **विसूवियस** ज्वालामुखी के **विस्फोट से पाइप और**

हरकुलेनियम नगर पूर्णतः नष्ट हो गये थे। विसूवियस पिछले 700 वर्षों से शान्त था। वर्तमान समय में चिली का अकाकागुआ और इक्वेडोर का चिम्बरोजो प्रसुप्त ज्वालामुखी के उदाहरण है।

(3) **निर्वापित ज्वालामुखी** (Extinct Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनसे अब कोई उद्गार नही होता और न उद्गार होने की कोई आशा ही रहती है उन्हें निर्वापित ज्वालामुखी

चित्र 392—निर्वापित ज्वालामुखी

कहते है। इनके छिद्र ज्वालामुखी पदार्थों के भर जाने एवं लावा के जम जाने से बन्द हो जाते है। ज्वालामुखी का मुख बन्द हो जाने से कालान्तर में वह झील मे बदल जाता है। ऐसे ज्वालामुखी के शिखर पर पेड़-पौधे उग आते है। इस प्रकार के ज्वालामुखी विश्व मे कम पाये जाते है। बर्मा का पोपा ज्वालामुखी निर्वापित ज्वालामुखी है।

(4) **विस्फोटीय ज्वालामुखी** (Explosive Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनमें उद्भेदन भीषण विस्फोट के साथ होता है, विस्फोटीय ज्वालामुखी कहलाते है। इनमें गैसें, वाष्प एवं अन्य पदार्थ धड़ाके के साथ बाहर निकलता है। माउण्ट पीली, क्रैकाटोआ और माउण्ट ताल विस्फोटीय ज्वालामुखी के उदाहरण है।

(5) **निःस्रावी ज्वालामुखी** (Effusive Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनमे लावा तथा गैसों का उद्गार बिना किसी विस्फोट के होता है, निःस्रावी ज्वालामुखी कहलाते है। इनमें लावा का निःस्रण बिना किसी ध्वनि के होता है। हवाई द्वीप के कई ज्वालामुखी इस वर्ग में आते है।

(6) **मिश्रित ज्वालामुखी** (Mixed Volcanoes)—वे ज्वालामुखी जिनमे उद्गन कभी विस्फोट के साथ और कभी शान्त रूप से होता है, मिश्रित ज्वालामुखी होते हैं। विसूवियस, एटना व केनिया आदि ज्वालामुखी इसी वर्ग में आते हैं।

उष्णोत्स अथवा गेसर (Geysers)

गेसर ज्वालामुखी क्रिया का एक गौण रूप है। उद्गार के समय जिस प्रकार ज्वालामुखी से गर्म लावा निकलता है उसी प्रकार गेसर से समय-समय पर गर्म जल तथा वाष्प निकला करती है। वस्तुतः 'गेसर' शब्द आइसलैण्ड की भाषा के 'गेसिर' (geysir) से बना है जिसका अर्थ 'तेजी से उछलता हुआ' (gusher) अथवा 'फुहार छोड़ने वाला' (spouter) होता है। इससे स्पष्ट है कि 'गेसर' गरम पानी के उन स्रोतों को कहते है जिनसे समय-समय पर उष्ण जल और वाष्प फुहारों के रूप में बड़ी तीव्रता से ऊपर उठती है। कभी-कभी इनकी ऊँचाई 250 से 300 फुट तक होती है। **आर्थर होम्स** ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि "Geysers are hot springs from

which a column of hot water and steam is explosively discharged at intervals, spouting in some cases to heights of hundreds of feet."[1]

वारसेस्टर के अनुसार, "गेसर गरम जल के सविराम स्रोत हैं जो अपने मुख से समय-समय पर गर्म जल तथा वाष्प की फुहारें छोड़ते रहते है।"[2]

ज्वालामुखी की भाँति गेसर में भी एक छिद्र होता है जिसका सम्बन्ध प्रायः एक सँकरी व टेढ़ी-मेढी नली (geyser tube) द्वारा भू-गर्भ मे स्थित जल भण्डार से होता है। गेसर के मुख को घेरे हुए एक छोटा या बड़ा टीला होता है, जो गेसर के जल मे घुले खनिज-पदार्थों के जमा हो जाने से बन जाता है और ज्वालामुखी के शकु का प्रतिरूप मालूम पडता है। इस टीले के मध्य मे एक गोल बेसिन होती है। इस बेसिन तथा गेसर-नली में खौलता हुआ जल भरा रहता है जिसका तापमान 75° से 90° सेण्टीग्रेड के बीच होता है। गेसर मे गर्म जल तथा वाष्प इसी नली द्वारा फुहार के रूप में बाहर निकलती है। चूँकि गेसर (geyser) तथा गर्म जल स्रोत (hot springs) एक समान प्रतीत होते हैं इसलिए कुछ विद्वानो ने गर्म जल-स्रोत को गेसर का ही एक प्रकार बताया है। किन्तु दोनो में पर्याप्त अन्तर है। गर्म जल स्रोत से वाष्प तथा उष्ण जल अविराम रूप से (constant) निकलता रहता है जबकि गेसर मे इसके विपरीत वाष्प तथा गर्म जल सविराम रूप से (with intervals) रुक-रुक कर ऊपर उठता है। इसके अतिरिक्त गर्म जल स्रोत मे वाष्प तथा जल कुछ ऊँचाई तक ही उछलता है, गेसर में यह बहुत अधिक ऊँचाई (100 से 300 फुट) तक ऊपर उठ जाता है। संसार मे जितने भी गेसर पाये जाते है वे सब सक्रिय ज्वालामुखी क्षेत्रो में ही पाये जाते हैं जबकि उष्ण जल स्रोत अन्यत्र भी देखे जाते है। इन सब कारणों से गर्म जल स्रोतों को गेसर की श्रेणी मे नहीं रखा जा सकता।

गेसर न केवल अपने आकार-प्रकार मे ही भिन्न होते हैं अपितु उनकी क्रियाओं में भी पर्याप्त भिन्नता देखी जाती है। कुछ गेसर ऐसे देखे जाते हैं जिनसे अत्यधिक मात्रा में गर्म जल तथा वाष्प निकलती है और कुछ गेसर बहुत कम मात्रा मे वाष्प तथा जल निकालते है। इसी प्रकार कुछ गेसरों में उद्‌गार एक निश्चित अवधि के पश्चात् नियमित रूप से होता है जबकि कई गेसरों के उद्‌गार तथा विराम काल के समय मे कोई नियमितता नही देखी जाती। कुछ गेसरो से गरम जल तथा वाष्प बहुत अधिक ऊँचाई (100 से 300 फुट) तक फुहारों के रूप में उछलती है जबकि कुछ गेसरों में ऐसा उद्‌गार कुछ इंच से लेकर कुछ फीट तक ही सीमित देखा जाता है। इस प्रकार गेसर का कोई एक निश्चित रूप नही होता। प्रत्येक गेसर की अपनी अलग विशिष्टता होती है। गेसर का प्राकृतिक दृश्य बड़ा ही मनोहारी होता है इसलिए ये पर्यटकों के आकर्षण केन्द्र होते है।

बहुधा गेसर का उद्‌गार निश्चित अवधि के पश्चात् नियमित रूप से होता है और उद्‌गार काल भी बहुधा निश्चित-सा ही रहता है। गरम सोतों और गेसरो मे वही सम्बन्ध समझना चाहिए जो शान्त ज्वालामुखियों (जिनसे लावा का प्रवाह सदैव शनैः-शनैः होता रहता है) और उन ज्वालामुखियों में है जिनसे समय-समय पर विस्फोटक उद्‌गार होता है। आइसलैण्ड का 'ग्रेट-गेसर' संसार का सबसे प्रसिद्ध गेसर है। इसका शंकु 120 फुट व्यास के वृत्त में है और ऊँचाई में वह 13 फुट है। शंकु की चोटी पर जो मुख-गर्त है उसका व्यास लगभग 60 फुट और गहराई 5 फुट है। गेसर की नली भी 10 फुट व्यास की है। नली और मुख-गर्त में भरे खौलते जल का तापमान लगभग 75° से 90° फा० तक रहता है। परन्तु 70 फुट की गहराई पर जल का तापमान

---

1 A. Holmes : *Principles of Physical Geology*, p. 138

2 "Geysers are intermittent hot springs that from time to time spout steam and hot water from their craters."—Worcester, P. G. : *A Text Book of Geomorphology*, p. 452

130° फा० से भी अधिक हो जाता है। लगभग प्रति 24 घण्टे के उपरान्त गड्ढे का जल उफनने लगता है और उफनकर 100 फुट ऊँचे जल-स्तम्भ के रूप मे वायु मे उठ जाता है तथा फुब्बारे के समान चारो ओर बरसने लगता है।

सयुक्त राज्य अमरीका के यलोस्टोन पार्क मे कई एक गेसर है, जैसे—जाइण्ट (Giant), जाइण्टेस (Giantess), केसल (Castle), ओल्ड फेथफुल (Old faithful), बी हाइव (Bee hive), मिनिट्स मेन (Minit's man) एवं लोन स्टार (Lone star) आदि। इनमे **ओल्डफेथफुल** गेसर एक प्रमुख गेसर है। इसमें प्रति 65 मिनट के पश्चात उद्गार होता है और प्रत्येक उद्गार 4 मिनट तक चालू रहता है। रात-दिन, प्रत्येक ऋतु में इस गेसर का यह क्रम नियमपूर्वक युगों से चला आ रहा है। इसलिए लोगों ने इसका नाम 'Eternity's Timepiece' (**अनन्त की घड़ी**) रख दिया है। इसका टीला 145 फुट लम्बा तथा 215 फुट चौड़ा है और चोटी 20 × 54 फुट आकार की है। चोटी की ऊँचाई 12 फुट है। नली की चौड़ाई $2\frac{1}{2}$ फुट है। मुख के पास 8 फुट ऊँची भीत बनी है जो 6 इंच से लेकर 3 फुट व्यास के गोल पत्थरो मे बनी हुई है।

यलोस्टोन पार्क मे स्थित गेसरों मे **दानव गेसर** (Giant Geyser) दूसरा प्रमुख गेसर है। इसका उद्गार अनिश्चित रूप से और यदाकदा ही होता है। इसके मुख की चौड़ाई 18 फुट है। उद्गार के समय इसमें विचित्र गड़गड़ाहट सुनाई देती है और मुख मे खौलता जल उफनने लगता है। थोड़ी देर मे विचित्र शब्द करता हुआ तप्त जल उछलने लगता है और चारों ओर भाप के बादल छा जाते है। मोटी जलधारा का फुहारा 50-60 फुट की ऊँचाई तक उठ जाता है और तब इस फुहारे की धारा के सिरे से 5-6 छोटी-छोटी और धाराएँ (6 इंच से 15 इंच व्यास की मोटाई वाली) निकलकर 200-250 फुट ऊँची चली जाती है। उद्गार का समय लगभग 20-25 मिनट तक रहता है। फिर जल नीचे बैठने लगता है और गड़गड़ाहट की ध्वनि भी बन्द हो जाती है।

गेसर का रुक-रुककर उद्गार करना बड़ा मनोरजक है। बुन्सन नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने गेसर के उद्गार का कारण जानने के लिए आइसलैण्ड के महान गेसर के उद्गार और उसकी
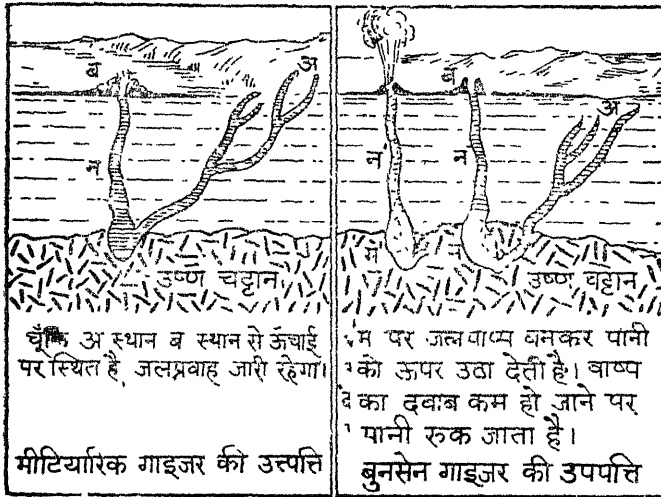
चित्र 393—बुनसेन के अनुसार गेसर की उत्पत्ति

रचना का अध्ययन करके यह निश्चित किया है कि गेसर का रुक-रुककर उद्गार होना जल के

वाष्पीकरण के ताप और दबाव के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण है। साधारणतः वायुमण्डल के दबाव मे समुद्र-तल पर जल 212° फा० पर भाप मे परिणत होने लगता है। यदि दबाव बढ़ा दिया जाय तो तापांश भी बढ जाता है। गेसर की नली मे भरे हुए जल के नीचे के भाग मे ज्यो-ज्यो हम अधिक नीचे की ओर चलते जायेंगे त्यों-त्यों जल के वाष्पीकरण का तापांश अधिक होता जायगा, क्योंकि अधिक नीचे के जल को ऊपर के जल के दबाव के कारण अधिक तापमान पर भाप बनने का अवसर मिलता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों हम गेसर की नली मे नीचे उतरते जायेंगे, त्यों-त्यों जल का तापमान अधिक होता जायगा। अधिक तापमान के कारण नीचे का जल ऊपर की ओर उठता है और यदि गेसर की नली चौडी और सीधी होती है तो संवहन की क्रिया से समस्त नली का जल लगभग एक ही तापांश पर पहुँच जाता है और मुख पर जल का फुहारा उठने के स्थान पर खौलता हुआ पानी का कुण्ड बन जाता है जिससे जल चारों ओर उफन-उफनकर बहता रहता है। परन्तु यदि नली सँकरी और टेढ़ी-मेढी होती है तो संवाहन की क्रिया मे रुकावट पड़ जाती है और नली के किसी भी भाग मे क्षण भर मे तापांश वाष्पीकरण के तापाश के लगभग निकट पहुँच जाता है और इससे जो भाप बनती है वह ऊपर के जल-स्तम्भ को ऊपर धकेल देती है। ऊपर उठने से जल गेसर के मुख से बाहर उछलकर बहने लगता है, जिससे नीचे के उस स्थान पर दबाव में कमी पडती है। दबाव मे कमी होते ही उस स्थान पर जल एकदम भाप मे परिणत हो जाता है तथा इस भाप के दबाव से ऊपर का जल और भाप फुहारे के रूप मे ऊँचे उछलने लगते है। जब जल का उद्‌गार समाप्त हो जाता है तब आभ्यन्तरिक जल से गेसर की नली फिर भर जाती है और फिर कुछ कालपर्यन्त वही दिशा उत्पन्न हो जाती है जो जल को ऊपर उछाल देती है।

संसार मे गेसरों के वितरण का कोई निश्चित क्रम नहीं है। ये ध्रुववर्ती क्षेत्रों से लेकर विषुवत रेखीय भागों तक फैले हुए देखे जाते हैं। अफ्रीका एवं दक्षिणी अमरीका को छोड़कर अन्य सभी महाद्वीपों में गेसर पाये जाते है जैसे उत्तरी अमरीका में 'यलोस्टोन नेशनल पार्क', एशिया मे तिब्बत, यूरोप में आइसलैण्ड तथा न्यूजीलैण्ड मे ये अधिकता से पाये जाते हैं।

धूम्रछिद्र (Fumaroles)

जिन प्रदेशों मे गेसर पाये जाते है उनमे तथा ज्वालामुखी पर्वतों के अन्य क्षेत्रों में धरातल से चट्टानों की दरारों और छिद्रों से भाप और धुएँ के घने बादल उठते पाये जाते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों के सुषुप्त हो जाने पर भी उनके मुख-गर्तों से तथा उनके शंकुओं के पार्श्वों की दरारों से भाप और गैसों का धुआँ बराबर इस प्रकार निकलता मालूम होता है जैसे ईंटो के भट्टों की चिमनियो से निकला करता है। इसी प्रकार लावा के मोटे स्तरों की दरारों से भी धुएँ के बादल उठते देखे जाते है। जाग्रत ज्वालामुखी के क्षेत्रों अथवा सुषुप्त ज्वालामुखी प्रदेशों मे इस प्रकार भाप और धुआँ उगलने वाली चिमनियों का पाया जाना आश्चर्यजनक नहीं है। परन्तु इस प्रकार के धूम्रछिद्र ऐसे क्षेत्रों में भी पाये जाते है जहाँ ज्वालामुखी के उद्‌गार के कोई भी चिह्न देखने में नही आते। इन धुआँरों से भाप के बादल कभी तो वेग से और कभी धीरे-धीरे निकलते रहते हैं। इनको धूम्रछिद्र (fumaroles) के नाम से पुकारा जाता है। अलास्का में 'दस सहस्र धूम्रछिद्रों की घाटी' (valley of ten thousand smokes) संसार मे धुआँरो का सबसे बड़ा क्षेत्र
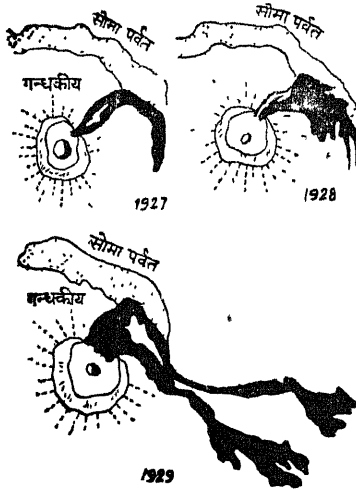
चित्र 394—गन्धकीय धुआँरा

है। इटली, न्यूजीलैण्ड व कैलिफोर्निया मे भी ऐसे धूम्रछिद्र अधिक पाये जाते है। इटली व कैलीफोर्निया मे धुआँरों की गरम भाप से विद्युत तैयार की जाती है। इनमे धुआँरो से निकलने वाले धुएँ का 80 प्रतिशत अंश बहुधा भाप होती है। शेष 20 प्रतिशत मे कार्बन डाइऑक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड, हाइड्रोजन सल्फाइड और मीथेन आदि गैसों का मिश्रण रहता है। कुछ धुआँरो से विशेष रूप से गन्धक का ही धुआँ निकलता है। ये धुआँरे 'गन्धकीय धुआँरे' (Solfatara) कहलाते है। इटली मे नेपल्स के समीप **सोलफटारा** नामक एक गन्धकीय धुआँरा है। उसी के नाम से ऐसे समस्त धुआँरे सोलफटारा कहलाते है।

पंक ज्वालामुखी
(Mud Volcanoes)

खौलते हुए पानी के स्रोतों के प्रदेशों मे सूक्ष्म आकार के कुछ ऐसे शकु भी देखने में आते है, जिनके मुख-गर्त से यदाकदा भाप और पानी के उद्गार के स्थान पर कीचड़ का उद्गार होता है, साथ ही थोडी भाप और कुछ जल भी निकलता रहता है। इन शंकुओ का निर्माण इसी कीचड़ और मिट्टी द्वारा होता है। विभिन्न खनिजो और रासायनिक पदार्थो के मिश्रण से इन शकुओ से निकलने वाला पक लाल, पीला, काला तथा सफेद होता है और इस कारण लोग इन छिद्रों को जिनसे पक का उद्गार होता है, 'रग का गढा' या 'पक का गढा' कहते है।

इन गढो की उत्पत्ति वास्तव में खौलते पानी के स्रोतों मे अपर्याप्त जल के होने से होती है। जब तक सोते मे जल पर्याप्त रहता है, उससे खौलता पानी उफन-उफनकर बहता रहता है। जब सोते में अभ्यान्तरिक जल का आना कम हो जाता है तब पानी उफनना बन्द हो जाता है, परन्तु वाष्पीकरण के कारण गढे के जल में कमी होती रहती है। धीरे-धीरे जल की कमी से पानी मे गॅदलापन बढने लगता है, क्योकि उसमे पाषाणो की चूरचार की मात्रा अधिक हो जाती है। थोड़े ही काल पश्चात् यह गॅदलापन कीचड़ का रूप धारण कर लेता है और कीचड़ दिन-प्रतिदिन अधिक गाढ़ा हो जाता है। अधिक गाढा और सूखा हो जाने से कीचड़ की पपडी कड़ी हो जाती है और उसका खौलना बन्द हो जाता है। कड़ी पपड़ी के नीचे जब कभी भाप का वेग बढ जाता है तब इसे उछालकर ऊपर फेक देती है। इस उद्गार के समय भाप, कीचड और कभी-कभी पाषाण-खण्ड भी निकलते है। भाप का वेग कम होते ही पंक फिर जमने लगता है और फिर भाप का वेग बढने से पंक का उद्गार होता है। इस उद्गार मे भी भाप के कारण धडाके होते हैं। इस प्रकार के सोते "**पंक ज्वालामुखी**" कहलाते हैं। बर्मा के अराकान तट पर और इरावदी नदी की घाटी में एवं बलोचिस्तान के मकरान तट पर इस प्रकार के पंक ज्वालामुखी देखने में आते हैं। इनसे कभी-कभी ज्वाला भी निकलती दिखाई पड़ती है। बर्मा के पक ज्वालामुखियों का सम्बन्ध पेट्रोलियम के कुओ की गैसो से बताया जाता है, जो समय-समय पर वेग बढ जाने से धरातल की ओर ऊपर निकलने की चेष्टा करती है। इन्ही गैसो के प्रज्ज्वलन से ज्वालाएँ उत्पन्न होती है, क्योकि ये गैसे अत्यधिक प्रज्ज्वलनशील होती हैं। पक ज्वालामुखी के शंकु कहीं-कही 300 फुट की ऊँचाई तक पहुँचते देखे गये हैं।

ज्वालामुखियों की संख्या एवं वितरण
(Number and Distribution of Volcanoes)

ज्वालामुखियों की संख्या—वर्तमान समय मे विश्व के अन्दर सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या लगभग 500 है।[1] इनमे कई ज्वालामुखी लम्बे समय से प्रसुप्त है, किन्तु उन्हें विलुप्त समझ

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 467

लेना भूल होगी। महासागरो के भीतर भी कई सक्रिय ज्वालामुखी होने का अनुमान है, किन्तु उनकी निश्चित संख्या ज्ञात करना कठिन है। **सौपर** के अनुसार, पृथ्वी पर सक्रिय ज्वालामुखियों की संख्या केवल 430 है। इनमें से 275 उत्तरी गोलार्द्ध और 155 दक्षिणी गोलार्द्ध मे स्थित
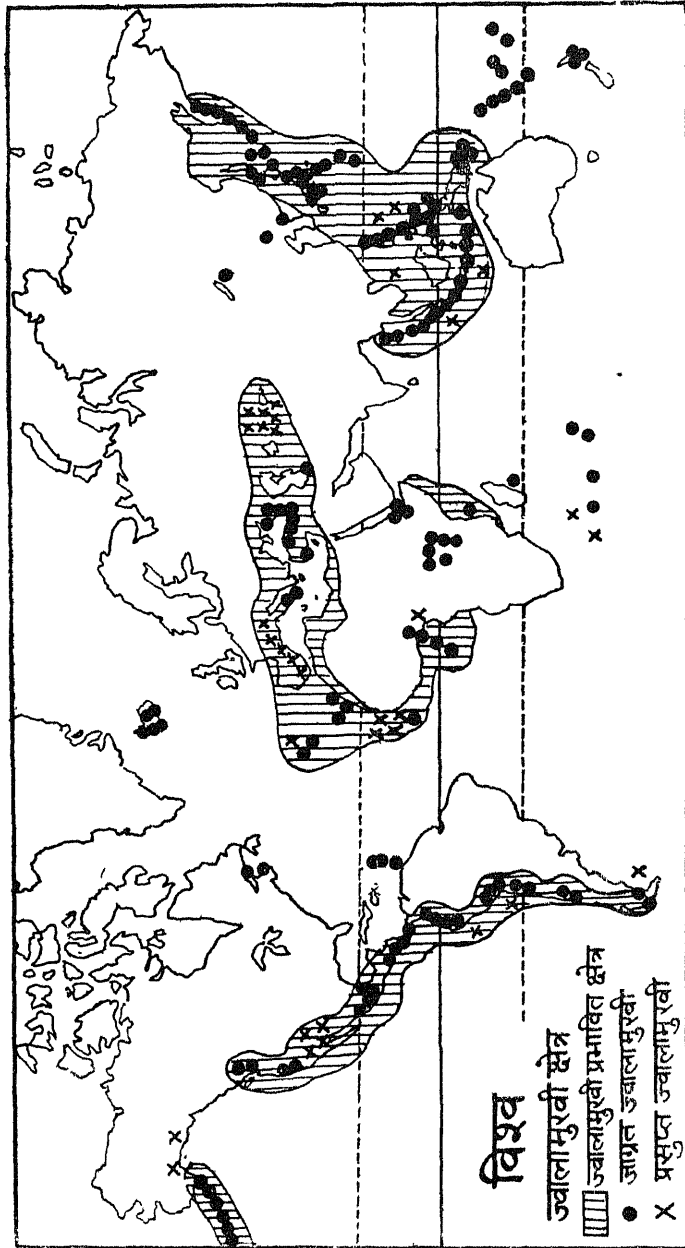
चित्र 395—संसार के ज्वालामुखियों का वितरण

बताये हैं। यदि प्रसुप्त एवं विलुप्त ज्वालामुखियों की संख्या भी सक्रिय ज्वालामुखियों के साथ जोड़ दें तो संसार में अभी कुल ज्वालामुखियों की संख्या कई हजार होगी।

ज्वालामुखियों का भौगोलिक वितरण—चित्र 395 ससार में सक्रिय एवं प्रसुप्त ज्वालामुखियो के वितरण को प्रकट करता है। यदि हम इस मानचित्र को ध्यानपूर्वक देखे तो ज्ञात होगा कि इनका वितरण किसी विशेष क्रम के अनुसार है। अधिकांशतः ये समुद्रो के निकट या द्वीपों पर अथवा महाद्वीपों के किनारो पर स्थित है। इनकी यह स्थिति इस बात का द्योतक है कि इनका पृथ्वी के निर्बल क्षेत्रो से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ससार मे ज्वालामुखियो की पेटियाँ सामान्यत. भूकम्प क्षेत्रो के साथ-साथ ही पायी जाती है। यह तथ्य दोनों ही समस्याओ के निकटवर्ती सम्बन्ध को प्रकट करता है।

जहाँ कही ज्वालामुखी महाद्वीपो के भीतर स्थित है, वहाँ वे या तो नवीन वलित पर्वतों के पार्श्व मे या भू-पटल पर पड़ी दरारो के निकट अथवा ज्वालामुखियों के पास पाये जाते है। अफ्रीका की विशाल भ्रंश घाटी के समीप ज्वालामुखियों की स्थिति इसका प्रमाण है।

यह बात स्मरणीय है कि ससार में ज्वालामुखी प्रायः सभी प्रदेशों में पाये जाते है। ये उत्तर मे आइसलैण्ड से लेकर सुदूर दक्षिण मे अण्टार्कटिका महाद्वीप तक फैले हुए देखे जाते है। किन्तु अधिकतर ये निश्चित मेखलाओ (belts) मे स्थित है। कई ज्वालामुखी अपवादस्वरूप भी हैं जो अपनी स्वतन्त्र और एकाकी स्थिति रखते है।

ससार मे ज्वालामुखियो की पक्तियाँ लम्बी नियमबद्ध पेटियों में फैली हुई हैं। इस प्रकार की पेटियाँ निम्न है :

(1) **परि-प्रशान्त महासागर की तटीय पेटी** (Circum Pacific Belt)—प्रशान्त महासागर मे स्थित द्वीपों और उसके चारों ओर तटीय भागों मे ज्वालामुखियों का अधिक विस्तार है। पूर्वी द्वीपसमूह इस पेटी का प्रधान केन्द्र है। अकेले जावा द्वीप में ही 43 ज्वालामुखी है। यहाँ से यह शृखला 'छोटे-छोटे द्वीपों में होकर फिलीपाइन द्वीपसमूह को पहुँचती है और फिर उत्तर की ओर फारमोसा एवं लूचू द्वीपों मे होती हुई जापान को जाती है। जापान से आगे यह क्यूराइल द्वीपसमूह, कामचटका प्रायद्वीप और एल्यूसियन द्वीपों मे होकर अलास्का में प्रकट होती है। यहाँ अनेक ज्वालामुखी जाग्रत अवस्था मे है। अलास्का के पश्चिमी तट से यह शृंखला कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी तट से होकर मध्य अमरीका मे पहुँचती है। यद्यपि आजकल कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका में एक भी सक्रिय ज्वालामुखी नहीं है, किन्तु मेक्सिको और मध्य अमरीका में यह पंक्ति पुनः उग्र रूप धारण कर लेती है। यहाँ से आगे यह पंक्ति दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट के सहारे एण्डीज पर्वत के साथ सुदूर दक्षिणी छोर टेराडेलफ्यूगो तक चली गयी है। यही शृंखला अण्टार्कटिका महाद्वीप के निकट ग्राहम द्वीप से जहाँ इरेबुस (Erebus) और टेरर (Terror) दो ज्वालामुखी हैं, निकलकर न्यूजीलैण्ड के द्वीपों में होती हुई न्यूहेब्रिडीज, सोलोमन द्वीप तथा न्यूगिनी के तट से होकर फिलीपाइन द्वीपसमूह के दक्षिणी टापुओं को पहुँच जाती है। इस समस्त प्रशान्त महासागर के इर्द-गिर्द ज्वालामुखियों की शृंखला पायी जाती है। इसी कारण इस पेटी को **'प्रशान्त महासागर का अग्नि वृत्त'** (Fiery Ring of the Pacific) भी कहा जाता है।

प्रशान्त महासागर की उस तटीय पेटी मे सक्रिय, प्रसुप्त और विलुप्त सभी प्रकार के ज्वालामुखी स्थित हैं। संसार में इन सभी प्रकार के ज्वालामुखियों की कुल सख्या का 88 प्रतिशत इस पेटी में है। **होम्स** के अनुसार विश्व के 2/3 सक्रिय एवं प्रसुप्त ज्वालामुखी इसी पेटी मे स्थित है। होम्स ने इनका वितरण अग्रलिखित प्रकार बताया है :[1]

---

1 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 473

अल्पाइन हिमालय श्रेणी का दक्षिणी-पूर्वी भाग				प्रशान्त महासागरीय पेटी	
1. सुमात्रा	11	1 पश्चिमी कनाडा	—	1. एल्यूसियन एव अलास्का प्रायद्वीप	35
2 जावा	19				
3 लघु सुण्डा द्वीप	15	2. प० सयुक्त राज्य	1	2. कामचटका	9
4. मल्लका द्वीप	3	3. मेक्सिको	9	3. क्यूराइल द्वीप	13
		4. ग्वाटेमाला	14	4. जापान द्वीप	33
		5. निकारगुआ	7	5. फिलीपाइन द्वीप	98
		6. कोस्टारिका	5	6. द० पू० न्यूगिनी	15
		7. लघु एण्टीलीज द्वीप	9	7. सोलोमन द्वीप	2
		8. उत्तरी एण्डीज	11	8. न्यू हेब्रेडीज	7
		9 मध्यवर्ती एण्डीज	9	9. टोंगा द्वीप	6
		10. दक्षिणी एण्डीज	22	10. न्यूजीलैण्ड	4
		11. दक्षिणी एण्टीलीज	2		

(2) **मध्य महाद्वीपीय पेटी** (Mid Continental Belt)—यह पेटी यूरेशिया महाद्वीप के मध्यवर्ती भागों मे नवीन वलित पर्वतों के सहारे पूर्व से पश्चिम को फैली हुई है। यह आइसलैण्ड के हेकला पर्वत से प्रारम्भ होकर स्कॉटलैण्ड मे होती हुई अफ्रीका के केमरून पर्वत की ओर जाती है। कनारी द्वीप पर इसकी दो शाखाएँ हो जाती है—एक पश्चिम की ओर और दूसरी पूर्व की ओर। पूर्व की ओर यह शाखा स्पेन, इटली, सिसली, टर्की, काकेशिया, आरमेनिया, ईरान, अफगानिस्तान एवं पाकिस्तान, भारत, बर्मा व मलाया होती हुई पूर्वी द्वीपसमूह तक चली गयी है। इसके अतिरिक्त अरब मे जोर्डन की रिफ्ट घाटी व लाल सागर होती हुई एक श्रृंखला अफ्रीका की विशाल रिफ्ट घाटी तक फैली हुई है। यूरोप की राइन रिफ्ट में भी अनेक ज्वालामुखी है।

(3) **अन्ध महासागरीय पेटी** (Atlantic Belt)—प्रशान्त महासागर की तुलना मे अन्ध महासागर मे ज्वालामुखियों की संख्या नगण्य है। अन्ध महासागर में केवल मध्य अमरीका की ज्वालामुखी श्रृंखला लघु एण्टीलीज द्वीपो में प्रवेश कर पश्चिमी द्वीप समूह तक जाती है। यह श्रृंखला फिर अन्ध महासागर के पार पूर्वी तट पर एजोर्स केपवर्डे तथा कनारी द्वीपों में चली गयी है। यूरोप के पश्चिमी तट पर उत्तर की ओर आइसलैण्ड में कई सक्रिय ज्वालामुखी हैं। प्रशान्त महासागर की भित्ति का अन्ध महासागर के चारों ओर ज्वालामुखियों का कोई घेरा नहीं है।

(4) **अन्य बिखरे हुए ज्वालामुखी** (Scattered Volcanoes)—ज्वालामुखियों के उपरोक्त क्षेत्रो के अतिरिक्त संसार में कई बिखरे हुए ज्वालामुखी भी देखे जाते है। उदाहरणतः हिन्द महासागर में मैडागास्कर, कमोरो, रीयूनियन, मारीशस तथा अन्य कई द्वीपों पर प्रसुप्त एव निर्वापित ज्वालामुखी पाये जाते हैं। अण्टार्कटिका महाद्वीप मे रास सागर के तटीय क्षेत्रों में इरेबुस तथा टेरर जैसे सक्रिय एवं प्रसुप्त ज्वालामुखी देखे जाते हैं। इसी प्रकार संसार में अन्य कई छुट-पुट ज्वालामुखी बिखरे हुए पाये जाते है।

ज्वालामुखियों का समय के अनुसार वितरण—भू-गर्भीय इतिहास से विदित होता है कि ज्वालामुखीय क्रिया न तो आकस्मिक घटना ही है और न अस्थायी क्रिया ही। ज्वालामुखी पृथ्वी के इतिहास के सम्भवतः सभी कल्पों और सभी क्षेत्रों मे सक्रिय रहे है। ज्वालामुखी का समय और स्थान दोनों ही प्रकार के वितरण से यह प्रकट होता है कि पृथ्वी के व्यवस्थित विकास में ज्वालामुखी का विशिष्ट स्थान है।

जेगर के हवाई ज्वालामुखियों के अध्ययन के अनुसार उद्गार का चक्र लगभग ग्यारह वर्ष की लम्बी अवधि का होता है। इससे भी अधिक 65, 130 और 260 वर्षों की अवधि के लम्बे चक्र भी पहचाने गये है। भू-गर्भिक इतिहास द्वारा हमे लाखो वर्ष की अवधि के लम्बे चक्र भी ज्ञात हुए है। उग्र ज्वालामुखीय क्रिया का अन्तिम विश्वव्यापी काल सम्भवत: एक करोड़ वर्ष पूर्व मध्य कल्प (Miocene period) के साथ समाप्त हो गया था। उसके बाद से संसार मे सर्वत्र ज्वालामुखीय क्रिया क्षीण होती जा रही है। किन्तु भविष्य मे सम्भवत· आज से हजारों या कुछ लाख वर्ष बाद मध्य कल्प की भाँति पृथ्वी पर पुन. ज्वालामुखीय क्रिया प्रारम्भ हो जायगी और वर्तमान प्रत्यक जाग्रत ज्वालामुखी के पीछे हजारो ज्वालामुखी होंगे। मध्य कल्प की ज्वालामुखी क्रिया के परिणाम हम विश्व के वर्तमान विशाल ज्वालामुखी पर्वतो, पठारो एवं मैदानों के रूप मे देख ही रहे है।

संसार के कुछ प्रसिद्ध ज्वालामुखी

विसूवियस—इटली का प्रमुख ज्वालामुखी पर्वत—विसूवियस—न केवल ससार का सबसे प्रसिद्ध ज्वालामुखी है, वरन् पुरातन भी है। इसके विषय मे लोग बहुत पूर्व भाँति-भाँति की किवदन्तियाँ सुनते आये है तथापि मनुष्य की स्मृति मे इसका उद्गार हुए इतना अधिक काल व्यतीत हो चुका था कि इसके उद्गार की बात लोग एकदम भूल ही गये थे। अचानक ही 79 ई० में इसकी ज्वाला फूट पड़ी। यह उद्गार इतना प्रचण्ड और भीषण हुआ कि मानव समाज पर प्रलय

चित्र 396—इटली का विसूवियस ज्वालामुखी

का-सा आंतक छा गया। कई शताब्दियों तक इनकी स्मृति मनुष्यों को भुलाये न भूलती थी। रोमन सभ्यता के जगमगाते हुए हरक्यूलेनियम, पाम्पाई और स्टेवियाई नामक नगर न केवल एकदम तहस-नहस हो गये वरन् ज्वालामुखी की उगली हुई राख, धूल और आग्नेय की चूर-चार के इतने मोटे परत से ढक गये जिसे हटाना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात थी। इस उद्गार की विशेषता यह थी कि इसके उगले हुए पदार्थो मे राख, धूल, भाप गैसो तथा चट्टानों के खण्ड चूर-चार की आग्नेय बौछारों के अतिरिक्त लावा का तनिक भी प्रवाह नही हुआ। भाप की अधिकता से इतनी भीषण वर्षा हुई कि हरक्यूलेनियम नगर पर जमी हुई राख व धूल कीचड़ मे परिणत हो

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 468

गयी और कीचड़ कालान्तर मे जमकर कठोर चट्टान बन गया । पाम्पाई नगर ज्वालामुखी के मुख से लगभग 6 मील दूर स्थित है । इतनी दूरी पर भी आग, राख, धूल, भाप और वर्षा की भीषण बौछारों के फलस्वरूप इस पर 30 फुट मोटी परत जम गयी थी । राख, धूल और भाप के बादलों ने आकाश मे ऐसा घटाटोप अँधेरा कर दिया था कि सूर्य उसके पीछे विलुप्त हो गया प्रतीत होता था ।

इसके उपरान्त इस ज्वालामुखी में कई बार प्रचण्ड ज्वाला भडकी है और बीच-बीच मे शान्ति और सुषुप्तावस्था की कई एक लम्बी अवधियाँ बीती है जो कई बार शताब्दियो तक रही । सन् 1139 से 1631 तक की 500 वर्ष की लम्बी अवधि मे इसमे केवल एक बार सन् 1500 मे एक सूक्ष्म उद्गार देखने मे आया था । परन्तु इस युग की समाप्ति पर इसमे बहुत जल्दी-जल्दी उद्गार होने लगे । सन् 1906 मे इसका आधुनिक युग का सबसे प्रचण्ड उद्गार हुआ ।

स्ट्राम्बोली—भूमध्यसागर मे एटना और स्ट्राम्बोली नामक दो और ज्वालामुखी है जो विसूवियस के समान ही महत्त्वपूर्ण है । स्ट्राम्बोली विगत 2000 वर्षों से निरन्तर उद्गार करता रहा है । साधारणत. इसके उद्गार के समय अत्यन्त तरल लावा और उसमे उबलते हुए गैस के बुलबुले निकलते है । आधुनिक शताब्दी मे भी सन् 1907, 1912, 1915 और 1921 मे इसके प्रचण्ड उद्गार हुए है । जून 1921 में इसके उद्गार के समय इतना विषैला और गन्धकमय धुआँ निकला कि इस द्वीप के अधिकांश निवासी (2800) स्ट्राम्बोली द्वीप छोडकर भाग गये । सितम्बर 1930 में इस ज्वालामुखी मे फिर भीषण खलबली मची थी । लावा का प्रवाह शकु के आधार को छोड़कर प्रचण्ड रूप से होने लगा और भीषण धड़ाकों से पर्वत का शिखर ही उड़ गया । स्ट्राम्बोली से बहुधा भाप का ही उद्गार होता है जो देखने में धुँआ-सा लगता है । क्रेटर की भूमि की दरारों से प्रज्ज्वलित लावा की चमक जब भाप के इन बादलो पर पड़ती है तब वे अति प्रकाशमान हो जाते है । इसीलिए स्ट्राम्बोली को **'भूमध्य सागर का प्रकाश स्तम्भ'** कहते हैं ।

एटना—यह सिसली द्वीप के पूर्वी-भाग मे स्थित है । समुद्र-तल से यह 10,000 फुट की ऊँचाई पर है । इसकी वृत्ताकार परिधि 87 मील लम्बी है । इससे निकला हुआ लावा इसके आधार के दूने क्षेत्रफल की खेती-बाडी के काम आता है परन्तु ऊपर की भूमि केवल उजाड़ खण्ड है । शंकु की ऊँचाई लगभग 1100 फुट है । इसके क्रेटर से भाप और गन्धकमयी गैसें निरन्तर निकलती रहती है । कभी-कभी लावा भी बह निकलता है । एटना का उद्गार इसी प्रकार निरन्तर लगभग 400 वर्ष ई० पूर्व से होता आ रहा है । इसका सबसे महत्त्वपूर्ण उद्गार सन् 1669 मे हुआ । इस उद्-गार के समय पर्वत का सम्पूर्ण शिखर उड़ गया और उसके स्थान पर पर्वत के पार्श्व में 6 फुट चौड़ा और अनन्त गहराई वाला एक गर्त उत्पन्न हो गया जो लगभग 12 मील लम्बा था । पाँच गर्त और भी बन गये थे । इन सबमें पिघला हुआ लावा भर गया और पीछे यह जमकर कठोर चट्टान की दीवार बन गया । शिखर मे 27 मील की दूरी पर जगल मे एक दरार उत्पन्न हो गयी जिससे बालू, राख आदि उछल-उछलकर गिरने लगीं । ये एक-दूसरे छोटे, गौण शंकु के रूप मे जमा हो गयीं । यह शंकु 400 फुट ऊँचा हो गया । आजकल इस ज्वालामुखी में ऐसे लगभग 500 शंकु हैं और इनमें से एक तो लगभग 750 फुट ऊँचा है ।

क्रैकेटोआ—इतना भीषण उद्गार आधुनिक काल के उन दो महत्त्वपूर्ण उद्गारो मे से है जिनके कारण समस्त भू-मण्डल डोल उठा था । इनमें से एक क्रैकेटोआ का अगस्त 1883 का उद्गार और दूसरा मई 1902 का मांट पेली का है । क्रैकेटोआ, जावा और सुमात्रा के बीच सुण्डा जल-डमरूमध्य का प्रसिद्ध ज्वालामुखी है और मांट पेली पश्चिमी द्वीपसमूह के मारटीनिक टापू का प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत है ।

क्रेकेटोआ का यह महाभीषण उद्गार सन् 1883 मे हुआ था। इसके पूर्व सन् 1680 में भी यह ज्वालामुखी भडक चुका था। परन्तु इसके उपरान्त इसने सुषुप्तावस्था धारण कर ली थी। मई 1883 मे इसमे से धुएं के बादल उठते देखे गये और अगस्त तक धुएँ का उद्गार निरन्तर होता रहा। अब धुएं के उद्गार के साथ भीषण धडाको के शब्द भी सुनाई पड़ने लगे। धड़ाकों के घन-घोर शब्द से वायुमण्डल कम्पित हो उठा और समस्त भू-मण्डल के वायुदाव मे अप्रत्याशित उतार-चढाव होने लगा। सबसे भीषण धड़ाका 27 अगस्त, 1883 को प्रात.काल हुआ। इस धड़ाके के साथ ही टापू का दो-तिहाई भाग उड गया और पर्वत के स्थान पर तीन-चार सौ गज से भी अधिक गहरा सागर लहराने लगा। इस धड़ाके की आवाज 3000 मील दूर भी साफ सुनाई पड़ी थी।
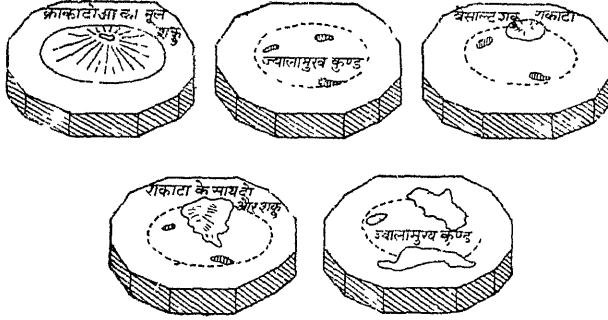
चित्र 397—क्रेकेटोआ ज्वालामुखी के उद्गार की विभिन्न अवस्थाएँ

94 मील दूर बटेविया के लोग धडाको को सुनकर मृत्यु आशंका से अध-मरे हो गये। धड़ाके की गूँज 4 घण्टे बाद ही हिन्द महासागर के पार 3080 मील दूर रोडरीक्यूज द्वीप पर साफ सुनाई पडी थी। इस धड़ाके के प्रभाव से समुद्र मे अति वेगवान लहरें उठी और इन लहरो ने विरोधी दिशाओं में पलायन करके समस्त पृथ्वी के जलमण्डल को डॉवाडोल कर दिया। आस-पास के टापुओं पर 50 फुट गहरे जल की बाढ आ गयी और लहरों के थपेड़ो से जावा और सुमात्रा के तटवर्ती लगभग 300 गाँव बह गये और 36,000 से अधिक मनुष्य डूबकर मर गये।

इस उद्गार के समय लावा का सर्वथा अभाव रहा। केवल राख, धूल और विखण्डित चट्टानों की अपार राशि ने आकाश मे उड़कर लगभग 3,00,000 वर्गमील भूमि को ढक लिया था। समुद्र में तैरने वाले झामक (pumice) के कारण जलयानो के मार्ग अवरुद्ध हो गये थे। वायुमण्डल मे इस प्रचण्ड उद्गार से जो कम्पन उत्पन्न हुआ उसकी विशाल तरंगों ने सारे ससार के वायुदाब को हिला दिया। वायुमण्डल मे इन तरगो का सात बार दौरा हुआ। प्रत्येक लहर 72 घण्टे के क्रेकेटोआ से चलकर फिर वही लौट आती थी। इस विस्फोट के पश्चात् ज्वार की ऐसी भीषण धारा उत्पन्न हुई कि एक बड़े भारी जहाज को ज्वार तरगे भूमि की ओर डेढ़ मील बहा लायी और पचास-पचास टन वाले शिलाखण्ड ज्वार तरंगो मे बहकर तीन मील भूमि पर चढ़ गये।

मांट पेली—मई 1902 मे माट पेली का ताण्डवीय उद्गार आरम्भ हुआ। पिछले 45 वर्षों से इस ज्वालामुखी की ज्वाला बुझी पड़ी थी। इस पर्वत का फैलाव आधा मील व्यास के वृत्त मे था। इसके क्रेटर की मुडेर 2000 फुट की ऊँचाई पर थी। सन् 1762 और 1851 से इसमें थोड़ी-बहुत खलबली देखने मे आयी थी परन्तु सन् 1852 से 1902 तक तो यह प्रसुप्त ही रहा। अप्रैल 1902 में इसमे थोड़ी बहुत सक्रियता मालूम पड़ी थी, परन्तु इससे आशंकित होने का कोई विशेष कारण नही था। भाप, गैस और राख के गुब्बारे उठते रहे और कोई-कोई तो 1300 फुट की ऊँचाई तक पहुँचे। ज्वालामुखी के क्रेटर के धरातल मे तीन बड़े-बड़े छेद हो

गये। इन्हीं से ज्वाला फूटने लगी, परन्तु शीघ्र ही धुएँ से गन्धक की तीव्रता बढने लगी और इस विषैले धुएँ ने सेण्ट पियरे नगर की सड़कों पर घोड़ो को मूर्च्छित करके गिराना आरम्भ कर दिया। थोडी ही देर मे धुएँ, राख और धूल की अधिकता से राह चलना दूभर हो गया।

इस समय भूकम्प आने आरम्भ हुए और तोपों की गर्जन-सी गड़गड़ाहट सुनाई पडने लगी। भूकम्प के वेग से टापू के पास समुद्री तार नष्ट-भ्रष्ट हो गये। गड़गडाहट की आवाज 300 मील दूर तक सुनाई पडती थी। अचानक 8 मई, 1902 को एक विशाल काले घटाटोप बादल ने क्रेटर से निकलकर अति तीव्र गति से महाप्रलयंकर आँधी के समान, ब्लेच नदी की घाटी मे होकर पाँच मील दूर बसे सेण्ट पियरे नगर की इमारतो, वृक्षों तथा खम्भों को झकझोरना आरम्भ कर दिया। क्षण भर मे नगर तहस-नहस हो गया। मकान गिरकर मिट्टी में मिल गये। वृक्ष उखाड़-कर कही के कही फेक दिये गये। सारा नगर धू-धूकर विशाल लपटो मे जलकर भस्म होने लगा। दो-चार क्षण उपरान्त नगर पर कीचड़ और पत्थरों की भीषण वर्षा होने लगी। नगर के तीस हजार वासियो मे दो को छोड़कर शेष उसी मे मर गये। अनेक जन तो विषैले धुएँ और प्रचण्ड अग्नि की लपटों मे गिरकर मर गये थे।

यह उत्पात कई मास तक होता रहा। अगस्त 1902 मे इसका रूप फिर वीभत्स हो गया और आसपास के प्रान्तों के 2000 मनुष्यो ने फिर इसकी चपेट में आकर प्राण गँवाये। भाप और राख के बादल छह-सात मील ऊँचे उठकर आकाश मे छा जाते थे। तदुपरान्त घनघोर वृष्टि होती थी जिसमें राख, धूल और कीचड़ गिरता था।

ला-साउफ्रियरे—जिस समय मांट पेली का उद्गार हो रहा था लगभग उन्ही दिनों और सम्भवत. एक ही भू-गर्भिक शक्ति से प्रेरित होकर 90 मील की दूरी पर सेण्ट विसेण्ट नामक टापू का ला-साउफ्रियरे (La-Sufriere) नामक ज्वालामुखी भी ज्वाला उगलने लगा। इसका उद्गार भी मांट पेली के सदृश ही वीभत्स और प्रलयात्मक था। परन्तु इसके आसपास घना बसा हुआ नगर न होने के कारण इस उद्गार मे केवल 1350 मनुष्य ही काम आये। दोनों ज्वालामुखियों से निकली हुई धूल बहुत दूर तक उड़कर पहुँची। सेण्ट विसेण्ट मे इस धूल की 60 फुट गहरी परत जम गयी। इस ज्वालामुखी से भी लावा का प्रवाह बिलकुल ही नही हुआ।

स्काप्ता—आधुनिक काल मे लावा का भयंकर उत्पात सन् 1783 मे आइसलैण्ड मे स्काप्ता (Skapta) नामक ज्वालामुखी के उद्गार के समय देखने में आया। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस ज्वालामुखी से जो विशाल राशि लावा की 25 दिनो के उद्गार मे बह निकली थी वह विसूवियस और एटना के दो सहस्र वर्षों के निरन्तर उद्गार की समग्र लावा राशि से भी कही अधिक थी।

सेण्टामेरिया—सन् 1902 के महत्त्वपूर्ण वर्ष में मध्य अमरीका में भी ज्वालामुखी की आग भड़क उठी। निकारगुवा के मोसाया, सालवेडोर के इजाल्को और ग्वाटेमाला के सेण्टामेरिया के ज्वालामुखियों के उद्गार इसी वर्ष में हुए। इनमें सेण्टामेरिया का उद्गार अति प्रचण्ड और भयावह था। यह ज्वालामुखी बहुत दिनो से सोया हुआ पड़ा था। 24 अक्टूबर, 1902 को अचानक यह फूट पड़ा और इसका उद्गार एक वर्ष तक निरन्तर होता रहा। परन्तु उद्गार की प्रचण्डता प्रतिदिन कम होती गयी। राख और धूल की अपार राशि ने लाखों वर्गमील भूमि को आच्छादित कर दिया।

कटमाई—अलास्का के कटमाई नामक ज्वालामुखी का सन् 1912 का उद्गार भी बिना लावा का उद्गार था। इसमें से निकली हुई राख और धूल इतनी अधिक उत्तप्त और प्रज्ज्वलित थी कि जिस घाटी मे यह भर गयी थी उसमें से बहुत समय तक आग की लपटें निकलती रहीं

और इसलिए लोगो ने उस घाटी का नाम सहस्र लौ वाली घाटी (The valley of ten thousands of smokes) रख दिया ।

ताम्बोरो—इसी प्रकार का सूखा उद्गार सन् 1815 में लावा में सुम्बा के निकट ताम्बोरो नामक ज्वालामुखी का हुआ था । इस उद्गार में इतनी अधिक राख और धूल की राशि निकली थी कि ज्वालामुखी के चारो ओर 20 मील व्यास के वृत्त के भीतर का प्रत्येक गाँव और नगर इसमें दबकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया । यह अनुमान किया जाता है कि इस उद्गार मे लगभग 150 घन किलोमीटर राख एव धूल निकलकर भूमि पर गिरी होगी ।

ससार के ज्वालामुखियो के उद्गारो के इतिहास मे प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीपो के ज्वालामुखियो के उद्गार अपना विशेष महत्त्व रखते है । इन द्वीपो की दोनों समान्तर श्रेणियो मे असंख्य ज्वालामुखी पर्वत हैं । बहुत से द्वीप तो सागर की तली मे बने हुए ज्वालामुखी के शंकुओं की चोटी के ही वे भाग है जो जल के ऊपर निकल आये है ।

मौनालोआ और किलाऊ—हवाई द्वीप पर स्थित मौनालोआ और किलाऊ नामक ज्वालामुखी आजकल भी जाग्रत है । किलाऊ का उद्गार इतना विलक्षण होता है कि उसके प्रचण्ड उद्गार की प्रतीक्षा की जाती है, जिससे उसका अध्ययन किया जा सके । यों तो अनेक विस्फोटक उद्गार भी इस ज्वालामुखी मे हो चुके है, परन्तु साधारणतः इसका उद्गार शान्त ही होता है । साधारण उद्गारो के समय एक प्रकार का तरल लावा बहता है । यह लावा मधु-सदृश गाढ़ा होता है और उसी के समान बहने वाला होता है । इसका मुख-गर्त एक विशाल आकार का कड़ाह है, जिसकी आकृति और आकार मे समय-समय मे परिवर्तन होता रहता है । आजकल यह 3 मील लम्बे और एक मील चौड़े अण्डाकार विशाल गर्त के रूप मे है । इसके आधे आकार का एक और छोटा गर्त इसकी पेंदी मे है । इस लघु गर्त का धरातल जमे हुए लावा पदार्थ का बना है । इस लघु गर्त में एक और गर्त है जो पिघले हुए लावा से भरा हुआ है और **'लावा की झील'** कहलाता है । इसका नाम **हालमाऊ माऊ** है । हालमाऊ माऊ की दिशा भी निरन्तर बदलती रहती है । 1912 में इस झील की लम्बाई-चौड़ाई 800×500 फुट थी और इसके लावा का तापमान $950°-1185°$ सेण्टीग्रेड था । तरल लावा से धुएँ के बादल ऊपर उठते थे जो कभी तो बहुत ऊँचे उठ जाते थे और कभी कम । कभी कभी धुएँ का उद्गार इतना प्रबल होता था कि उबलते लावा की धाराएँ उसके साथ-साथ ऊपर उठ जाती थी ।

मौनालोआ और किलाऊ के उद्गारो में अपूर्व असमानता पायी जाती है, यद्यपि दोनों ज्वालामुखी पास-पास है । मौनोलोआ का विशाल चपटा शंकु 40 मील व्यास के धरातल पर 15,000 फुट ऊँचा है । इससे बहने वाला लावा भी हालमाऊ माऊ की भांति ही अति तरल अवस्था मे रहता है । इसके उद्गार मे किसी प्रकार का ठोस पदार्थ नही निकलता । लावा का प्रवाह क्रेटर से तो बहुत ही कम होता है, परन्तु वह शकु के पार्श्वो को फोड़ता हुआ बह निकलता है । लावा प्रवाह का स्थान भी प्रति नवीन उद्गार के साथ ही बदलता रहता है । सन् 1868 मे लावा का प्रचण्ड उद्गार हुआ था । सागर-तल से 3000 फुट से भी अधिक ऊँचाई के लावा के फुवारे छूटने आरम्भ हुए । इस द्वीप की ओर से यात्रा करने वाले जलयानो के यात्रियों ने देखा था कि उस समय द्वीप का सम्पूर्ण पूर्वी भाग आग की विकराल लपटो में धू-धू कर जलता प्रतीत होता था । इस ज्वालामुखी से प्रवाहित लावा की धारा चालीस-पचास मील चलकर जब समुद्र मे गिरती है तब लावा ठण्डा होकर काली बालू में परिणत हो जाता है । इसके विपरीत, किलाऊ के क्रेटर से निकलने वाले लावा का प्रवाह कभी भी क्रेटर को लाँघकर बाहर नही गया । सन् 1924 के प्रचण्ड उद्गार के अतिरिक्त और भी अनेक प्रचण्ड उद्गार किलाऊ में हो चुके है । सन् 1789 का उद्गार पूर्वोक्त उद्गार की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचण्ड और भीषण था । इसमें

चट्टानों के अंशात्मक पदार्थ की अपार राशि का उद्गार हुआ था और साथ ही अति भीषण विस्फोट भी। यद्यपि इस भीषण उद्गार का विशेष हाल लोगो को नही मालूम है, तथापि इसके बृहत् गर्त के मुख शिखर पर जमी हुई महीन धूल की परत इसी प्रचण्ड उद्गार की स्मृति सजग किये हुए है। सन् 1848 से 1855 तक किलाऊ प्रसुप्तावस्था मे रहा। इस बीच मे झील से निकलने वाला धुआँ और गैसे भी इतनी कम हो गयी कि झील का लावा भी ठण्डा होकर जम गया। ठण्डी होकर जमी हुई लावा की ऊपरी पपड़ी भीतर की गैसो की भाप के कारण गुम्बदाकार रूप में ऊपर उठ गयी। गुम्बद 300 फुट से भी अधिक ऊँचा हो गया है। अगले वर्ष बसन्त ऋतु में इस गुम्बद को फोडकर 40-50 फुट ऊँची लावा की धारा बह निकली और बहुत जोर से धड़ाके हुए। थोड़े दिनो मे यह गुम्बद नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

इस प्रकार के गुम्बद अन्य ज्वालामुखियो में भी बनते पाये गये है। बहुधा ये गुम्बद उन ज्वालामुखियों के सन्धि-स्थानों पर बन जाते है जिनसे अत्यन्त लसलसे लावा का प्रवाह होता है। इन गुम्बदों में मुख-गर्त नहीं होता और न इनसे लावा ही बहता है। इन गुम्बदों का पार्श्व अत्यन्त ढालू और कभी-कभी एकदम सीधा होता है। जापान के होकेडो द्वीप के तारूमाई नामक ज्वालामुखी के गर्त मे सन् 1909 में इसी प्रकार का एक गुम्बद बनते देखा गया था। एल्यूसियन द्वीप-समूह के उत्तरी समुद्र में सन् 1796, 1883, 1906 और 1909 में इसी प्रकार के गुम्बद उठकर बोगोस्लाफ द्वीप बन गये।

भारत में ज्वालामुखीय क्रिया का वितरण
(Volcanic Activity in India)

यद्यपि वर्तमान मे भारत के अन्दर सक्रिय ज्वालामुखियों के कोई चिह्न नहीं हैं किन्तु अतीत में हमारे यहाँ बड़ी मात्रा में ज्वालामुखी उद्गार हुए थे। धारवाड़ युग में दकन के पठार पर हुए ज्वालामुखी उद्गार के प्रमाण है। इसी काल मे बिहार की डालमा श्रेणी में भी ज्वालामुखीय क्रिया हुई थी। कड़प्पा युग में मध्य भारत और कड़प्पा में विस्फोट हुए थे। विन्ध्यन युग मे तो ज्वालामुखीय क्रिया बहुत ही उग्र हो उठी। इस युग मे अरावली और पंजाब मे अनेक विस्फोट हुए। कार्बन युग में काश्मीर में हुए ज्वालामुखी विस्फोट के चिह्न मिलते है। इनका प्रभाव पीर पंजाल और लद्दाख श्रेणी मे अधिक हुआ। जुरसिक युग मे बिहार की राजमहल पहाड़ी और आसाम की अबोर पहाड़ी ज्वालामुखी के उद्गार हुए थे। मीयोसिन युग के अन्त मे और टर्शरी युग के प्रारम्भ मे दकन के पठार पर भारी दरारी उद्गार हुए। इन उद्गारों से निकला हुआ लावा लगभग दो लाख वर्गमील क्षेत्र में फैल गया था। अब तो ज्वालामुखीय क्रिया के नाम पर भारत मे यत्र-तत्र गरम पानी के स्रोत मिलते है। बगाल की खाड़ी मे बेरम द्वीप मे प्रसुप्त ज्वालामुखी है जिसमें से यदाकदा गन्धकीय गैस व धुआँ निकलने लगता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऐतिहासिक काल मे भारत के अन्दर ज्वालामुखी क्रिया के कुछ विशिष्ट क्षेत्र रहे है। डा० **चिम्बर** ने भारत को निम्नलिखित ज्वालामुखी क्षेत्रों में बाँटा है :

(1) **बिहार का डालमा क्षेत्र**—यह क्षेत्र पूर्व-पश्चिम दिशा में फैला हुआ है। डालमा श्रेणी के ज्वालामुखी इसी भाग में आते हैं। इस क्षेत्र में धारवाड़ युग मे उद्गार हुए थे।

(2) **कड़प्पा, बिजावर और ग्वालियर क्षेत्र**—यह क्षेत्र उत्तर-दक्षिण दिशा में फैला हुआ है। यहाँ कड़प्पा युग में ग्वालियर, बिजावर और कड़प्पा के निकट उद्गार हुए थे।

(3) **मलानी एवं किराना श्रेणी क्षेत्र**—इस क्षेत्र मे विन्ध्य-युग में जोधपुर की मलानी श्रेणी और पंजाब की किराना श्रेणी से उद्गार हुए थे। यह क्षेत्र भी उत्तर-दक्षिण को विस्तृत है।

(4) **निचला हिमालय क्षेत्र**—यह क्षेत्र उत्तरी पर्वतीय प्रदेश मे उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को फैला हुआ है। इस क्षेत्र मे पुराजीव महाकल्प मे विस्फोट हुए थे। पीर पजाल श्रेणी, सतलज की ऊपरी घाटी, गढवाल, भुवाली एव नैनीताल आदि इसी क्षेत्र मे सम्मिलित हैं।

(5) **राजमहल तथा अबोर श्रेणी क्षेत्र**—यह क्षेत्र आसाम से बिहार तक उत्तर-पूर्व से दक्षिण व दक्षिण-पश्चिम को फैला हुआ है। यहाँ मध्य कल्प मे राजमहल और अबोर श्रेणियों मे ज्वालामुखीय क्रिया हुई थी।

(6) **दकन का पठारी क्षेत्र**—यह क्षेत्र ज्वालामुखीय क्रिया का सबसे महत्त्वपूर्ण और विशाल क्षेत्र है। इस क्षेत्र में क्रिटेशस युग एवं नवजीव-कल्प के प्रारम्भ मे भीषण दरारी उद्गार हुए थे, जिससे नि.सृत लावा द्वारा पठार का अधिकांश भाग ढक गया था।

ज्वालामुखी का मानव जीवन पर प्रभाव

कई शताब्दियो तक भूमध्य सागर के इर्द-गिर्द का क्षेत्र, जहाँ ज्वालामुखी एव भूकम्प की प्रधानता रही है, मानव-जाति के विचार और संस्कृति का केन्द्र रहा। परिणामस्वरूप लोगो की धारणा बन गयी कि पृथ्वी के धरातल पर होने वाले परिवर्तन सदैव विनाश से जुडे रहते है। आदिकाल से ही मनुष्य प्रलयवादी रहा है। पृथ्वी पर एकरूपतावाद का स्पष्ट रूप में प्रारम्भ उन लोगो द्वारा किया गया जो धरातल पर ऐसे भागों में रहते थे जहाँ भू-गर्भिक क्रियाएँ बहुत ही मन्द और शान्त रूप से आगे बढीं।

आकस्मिक घटनाओं मे ज्वालामुखी का मानव पर बहुत ही गहरा और दूरगामी प्रभाव होता है। इसका विनाशकारी प्रभाव बडा ही हृदय-विदारक होता है। सन् 79 के विसूवियस, सन् 1883 के क्रेकेटोआ और सन् 1902 के मांट पेली आदि ज्वालामुखियों के उद्गारों की विनाश-कहानी अभी तक मानव द्वारा भुलायी नही जा सकी है। ध्वमकारी उद्गारों की विनाशता इसलिए और भी अधिक बढ जाती है कि ये उद्गार बड़े अचानक होते है तथा इनमे से बडी मात्रा में तप्त लावा, गरम गैसें, वाष्प, धूल, धुआँ एवं अन्य कई प्रकार के शैलखण्ड धड़ाके के साथ बाहर निकलते हैं। कुछ उद्गारों के आने की पूर्व-सूचना भी कभी-कभी भूमि के कम्पन अथवा थरथराहट की आवाज एव पशु-पक्षियो की घबराहट, करुणोत्पादक वोली से मिल जाती है किन्तु अन्य समय इस प्रकार की कोई सूचना नही मिलती और तब जो उद्गार अचानक होते हैं उनकी भयकरता का अनुमान लगाना असम्भव है। ज्वालामुखी के ध्वंसकारी प्रभाव का कुछ चित्र नीचे दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

ज्वालामुखी से निकलने वाली वस्तुओं मे गैसें सबसे खतरनाक होती है। कई बार इनसे जहरीली गैसें निकलती हैं जो वायु में मिलकर समस्त वायुमण्डल को विषाक्त बना देती हैं जिससे पशु-पक्षी तथा मनुष्य थोड़े समय में ही काल-कवलित हो जाते हैं। पश्चिमी द्वीपसमूह मे मारटिनीक द्वीप में सन् 1902 में मांट पेली नामक ज्वालामुखी ने सहसा अपना विकराल मुख खोल दिया। बड़े वेग से विस्फोट हुआ और उसमें से राख, शैलखण्ड, वाष्प आदि वस्तुओ की वर्षा होने लगी। कुछ ही समय में इसने विषाक्त काला धुआँ उगलना प्रारम्भ कर दिया। यह विषाक्त धुआँ पर्वतीय ढाल से उतरकर सेण्ट पारी नगर की ओर बढा। देखते ही देखते इस नगर के 30,000 व्यक्ति इस विषाक्त धुएँ की चपेट में सदा के लिए सो गये। केवल एक हब्शी अपराधी बचा, जो भू-गर्भ मे एक कोठरी में बन्द था और जिसे दो-चार दिन मे ही फाँसी होने वाली थी। फिर इससे निकलने वाली गैस का तापमान इतना ऊँचा था कि इसने समस्त वस्तुओं को झुलसा दिया। भोजन, वस्त्र, फल, कॉफी के बेर एवं फरनीचर आदि सबको इसने कार्बनयुक्त बना दिया। संयुक्त राज्य अमरीका के यलोस्टोन पार्क मे अभी भी कई स्थानों पर जहरीली कार्बन गैस बाहर निकलती है जो अपने निकट आने वाले भालुओं को मार डालती है।

ज्वालामुखी से निकलने वाले शैलखण्ड, उष्ण वाष्प, गरम राख एवं धूल आदि भी उतने ही भीषण सिद्ध होते है जितनी कि गैसें। अगस्त 1883 में हुए क्रेकेटोआ का विस्फोट इसका सबूत है। 27 अगस्त, 1883 को भयानक धडाको के साथ इसका विस्फोट प्रारम्भ हुआ। इस विस्फोट से क्रेकेटोआ द्वीप का दो-तिहाई भाग उड़ गया और पर्वत के स्थान पर 1000-1200 फुट गहरा समुद्र लहराने लगा। इस उद्गार मे लावा का सर्वथा अभाव था। केवल राख, धूल, वाष्प और शैलखण्डो की अपार वर्षा होने लगी। इससे निकली धूल ने आकाश मे उड़कर लगभग 3,00,000 वर्गमील भूमि को ढक लिया। इसके विस्फोट से 100 मील दूर स्थित बटाविया नगर में दीवारें और खिड़कियाँ टूट गयी। प्रबल धडाकों से समुद्र मे 100 फुट ऊँची प्रलयंकारी लहरें उत्पन्न हो गयी जो 400 मील प्रति घण्टे के वेग से जावा और सुमात्रा के तटों से जा टकरायी। इन लहरो के थपेड़ो से जावा और सुमात्रा मे लगभग 300 तटवर्ती गाँव बह गये और 36,000 व्यक्ति काल के मुँह में चले गये। सन् 79 के ऐतिहासिक विसूवियस उद्गार के समय जो राख, धूल और वाष्प की प्रचण्ड वर्षा हुई, उसके फलस्वरूप 6 मील दूर स्थित पाम्पाई नगर 30 फुट मोटी धूल की परत में दब गया और उसके 20,000 निवासी सदैव के लिए समाधिस्त हो गये। इस ज्वालामुखी विस्फोट के बाद जो भीषण वर्षा हुई उसने ज्वालामुखी राख पर पड़कर गरम कीचड़ को जन्म दिया। इस कीचड़ ने बहकर हरक्यूलेनियम नगर को जा दबोचा और नगर 60 फुट मोटी कीचड़ की तह में सो गया।

ज्वालामुखी उद्गार के समय जो वाष्प निकलती है वह प्राय उष्ण वर्षा के रूप में बरसती है। यह उष्ण वर्षा जले पर नमक छिड़कने के समान होती है। इसके अतिरिक्त, ज्वालामुखी से निकलने वाला तप्त लावा लंका-दहन की आग की भाँति शंकु के ढाल के चारों ओर या कुछ निश्चित दिशा मे बहकर फैल जाता है। इस लावा प्रवाह से यद्यपि जन-हानि तो कदाचित ही होती है परन्तु अनेक नगर उसके नीचे दब जाते है। मांट एटना से एक समय निकलने वाली लावा की धारा ने समस्त लहलहाते खेतों की समाधि बना डाली। आइसलैण्ड मे लावा प्रवाह की रौद्रता तो रोगटे खड़े कर देने वाली है। यहाँ जून 1783 में स्केप्टर जोकल ज्वालामुखी के विस्फोट से 15 मील लम्बी धरती फट गयी और उस दरार से जो लावा उमड-उमड़ कर निकलने लगा उसने बडा ही लोमहर्षक दृश्य उपस्थित कर दिया। दो वर्ष तक बराबर लावा का उद्गार जारी रहा। इस उद्गार से लावा अनेक धाराओं में बहने लगा। इसकी एक धारा 12 से 15 मील चौडी और 50 मील लम्बी थी। इससे अनुमान हो सकता है कि कितनी विशाल मात्रा में लावा-राशि का उभाड हुआ। इस लावा प्रवाह से नदियों के मार्ग अवरुद्ध हो जाने से प्रलय-लीला मच गयी। देश भर में भारी जल-प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया। इस जल-प्रलय मे अनेक गाँव डूब गये जिससे अपार धन-जन की हानि हुई। इसी प्रकार लावा की बाढ मे भी कितने ही गाँव दब गये। इस उत्पात से आइसलैण्ड में लगभग 10,000 व्यक्ति, 2,00,000 भेड़ें, 28,000 घोड़े तथा 11,000 पशु नष्ट हो गये।[1]

ज्वालामुखी उद्भेदन से धन-जन की हानि तो होती ही है, परन्तु धरातल पर भी उथल-पुथल मच जाती है। भूमि पर विशाल दरारे पड जाती है, कई स्थानों पर द्वीप नष्ट हो जाते है, कई नदी, घाटियाँ और झीले लावा में डूब जाती हैं, समुद्र मे प्रचण्ड लहरें उत्पन्न हो जाती है, कई स्थानों पर लावा निक्षेप से भूमि ऊँची-नीची हो जाती है और कई स्थानों पर लावा, धूल, राख और शैलचूर्ण से विशाल पर्वत बन जाते है। कई स्थानों पर भूमि नीचे बैठ जाती है और कई

---

[1] जगपति चतुर्वेदी : **ज्वालामुखी**, पृ० 206

स्थानों पर भूमि ऊपर उठ जाती है। इन समस्त उत्पातों से मनुष्य के शान्तिपूर्ण जीवन में अनायास ही बाधाएँ आ जाती है जो उसकी प्रगति मे बाधक होती हैं।

यद्यपि ज्वालामुखी के विनाश की विभीषिका का स्मरण करते ही रोमांच हो आता है, किन्तु इसका रचनात्मक पक्ष भी कम आकर्षक नहीं है। ज्वालामुखी क्रिया से मानव को जो लाभ हुआ है, वह बडा महत्त्वपूर्ण है।

ज्वालामुखी उद्गार से नि:सृत लावा से उपजाऊ मिट्टी की रचना होती है। लावा मिट्टी के क्षेत्र समार के उपजाऊ क्षेत्रो मे गिने जाते है। हमारे देश में दकन के पठार में जहाँ इनका क्षेत्र हजारो वर्गमील मे फैला हुआ है, वहाँ 2000 वर्षो मे बिना खाद दिये उत्तम कपास की खेती की जा रही है। इस मिट्टी मे गेहूँ, गन्ना, तम्बाकू तथा मक्का आदि कई प्रकार की फसलों की सफल खेती होती है। इटली मे एटना और विसूवियस पर्वतो की तलहटी मे ऐसे ही उपजाऊ मैंदान है जिनमे फलो की अच्छी खेती होती है। लावा मिट्टी के ऐसे ही प्रदेश ब्राजील, इथोपिया व सयुक्त राज्य की स्नेक व कोलम्बिया नदियो की घाटियो मे पाये जाते है जो कहवा, फल, कपास व गेहूँ आदि फसलो के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है।

ज्वालामुखी उद्गारों के कारण ही भू-पटल पर कई खनिज पदार्थों का निक्षेप हो जाता है। स्वीडन मे पाया जाने वाला लोहा भू-गर्भ से निकले द्रव पदार्थ के धरातल के निकट जम जाने से ही बना है। कई खनिज उद्गार के समय निकलने वाले गरम जल और गैसो मे घुलकर धरातल पर आकर जम जाते है। जापान, इटली और सिसली मे गन्धक के निक्षेप इसी प्रकार बने हुए है। कई उद्गारों के समय खनिजो की धारियाँ छोटी-छोटी दरारो मे जमा हो जाती है जो कालान्तर मे पृथ्वी के धरातल पर दृष्टिगोचर हो जाती है। जस्ता, चाँदी, सीसा आदि खनिज इसी प्रकार की धारियों मे मिलते है।

ज्वालामुखी लावा तथा राख आदि पदार्थो के नीचे जो नगर तथा पशु-पक्षी एवं अन्य वस्तुएँ दब जाती है वे कालान्तर मे फॉसिल के रूप में प्राप्त होती हैं। इनका अध्ययन कर प्राचीन काल के जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है। विसूवियस के उद्गार के कारण ही हम अब प्राचीन रोमन सभ्यता के बारे में यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर सके है।

ज्वालामुखीय क्रिया से स्थल पर अनेक प्रकार के भू-आकार बन जाते है। कई स्थानो पर पर्वत, पठार तथा मैंदान बन जाते है। कई ज्वालामुखी शान्त हो जाने के बाद उनके क्रेटर झीलो मे बदल जाते है। कई स्थानो पर भूमि पर बड़ी-बड़ी दरारे बन जाती है और कई जगह समुद्र में द्वीपों की रचना हो जाती है।

ज्वालामुखीय क्रिया ने हमारी पृथ्वी के इतिहास को जानने मे भी बडी सहायता पहुँचायी है। इसके भू-गर्भ से निकलने वाले पदार्थो से पृथ्वी की आन्तरिक भौतिक एवं रासायनिक अवस्थाओं को समझने मे बड़ी मदद पहुँचायी है।

ज्वालामुखी उद्गार के समय निकलने वाली वाष्प और गैसे बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। **डॉ० प्रेलर** ने अनुमान लगाया है कि यदि सन् 1928 मे हुए एटना पर्वत के उद्गार के समय नि:सृत शक्ति को एकत्रित कर लिया जाता तो उससे समस्त इटली को तीन वर्ष तक बिजली दी जा सकती थी। कैलिफोर्निया मे एकत्रित भाप से विद्युत उत्पादन का कार्य किया जाता है।

आइसलैण्ड तथा न्यूजीलैण्ड मे गरम पानी के स्रोतों से लोग भोजन पकाने और वस्त्र धोने का काम लेते हैं।

लावा के निक्षेप से बनी चट्टाने इमारती कार्यो के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। उद्गार के साथ निकली कार्बन डाइ ऑक्साइड से चूने का पत्थर बनता है।

ज्वालामुखी उद्गार से बनी झीलें सिचाई के लिए बड़ी उपयोगी होती है। मिस्र की नील नदी ऐसी ही एक विक्टोरिया झील से निकलती है जिससे समस्त मिस्र हरा-भरा बना हुआ है।

ज्वालामुखी अध्ययन द्वारा भविष्य मे होने वाले विस्फोटो के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी की जा सकती है, जिससे अपार धन-जन की हानि को बचाया जा सकता है। यही क्यों, लोगो को कलात्मक विचार और धर्म के सम्बन्ध मे भी ज्वालामुखियो का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। संसार के ऐसे ज्वालामुखियों में माउण्ट अरारात और फ्यूजीयामा विशेष उल्लेखनीय है। मनुष्य ने जब से इनको देखा है किसी मे भी कोई बड़ा उद्गार नही हुआ है। अरारात विश्व के बड़े ज्वालामुखियो में से एक है। इसकी ऊँचाई लगभग 17,000 फुट है। इसका सम्मित रूप और हिमधवल चोटी अत्यन्त ही आकर्षक है। यदि लोगों ने इसके सम्बन्ध में ऐसी कई कहानियाँ गढ डाली है जो मानव जाति के इतिहास से गहन सम्बन्ध रखती है तो कोई आश्चर्य की बात नही है।

मेक्सिको के एजटेक्ट लोग दानवो को प्रसन्न करने के लिए पोपोकेटीपीटल ज्वालामुखी को बलि चढ़ाया करते थे। ससार के किसी भी पर्वत ने देश के कलात्मक जीवन मे उतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नही किया जितना फ्यूजीयामा ने किया है। इसका सुन्दर और सुघड़ शंकु-रूप विश्व में अद्वितीय है।

35

भूकम्प

(EARTHQUAKES)

पृथ्वी-तल पर अनेक प्रकार के प्राकृतिक उपद्रव हुआ करते हैं। कभी बिजली चमकती है, कभी बादल गरजते है, कभी तूफान आता है, कभी नदियो मे बाढ आ जाती है और कभी ज्वालामुखी से भयकर अग्नि-वर्षा होती है। अधिकाश अवसरो पर इन सब उपद्रवो से मनुष्य अपनी रक्षा कर लेता है। पर जिस प्राकृतिक उपद्रव का वर्णन हम करने जा रहे हैं उससे सुरक्षित रहने का कोई उपाय ही नही है। उसका बिलकुल अचानक स्वरूप बड़ा ही भीषण और प्रभाव महानाशक होता है। यह प्राकृतिक उपद्रव भूकम्प या भू-डोल है। इसके कारण इतनी बड़ी पृथ्वी सिर्फ काँपने ही नही लगती बल्कि कभी-कभी झूले की तरह झूलने भी लगती है। सैकडो मकान गिर पड़ते है, अनगिनत व्यक्ति काल के मुँह मे चले जाते है, पृथ्वी मे बडी-बडी दरारे हो जाती है, नदियाँ अपना मार्ग बदल देती है, समुद्र का पानी बाँसो उछलने लगता है और उसमे नये टापू निकल आते हैं। जल की जगह स्थल और स्थल की जगह जल-क्षेत्र की उत्पत्ति हो जाती है। यह भूकम्प क्षण-भर में महाप्रलय का भीषण दृश्य उपस्थित कर देते है।

भूकम्प क्या है ?

'भूकम्प' शब्द का साधारण अर्थ है "पृथ्वी का हिलना"। पर केवल इतने अर्थ से ही भूकम्प का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। भूकम्प का सही-सही ज्ञान करने के लिए उसकी तार्किक और वैज्ञानिक व्याख्या की आवश्यकता होती है। **सेलिसबरी** ने उसकी व्याख्या करते हुए कहा है, "**भूकम्प धरातल के वे प्रकम्प** (tremours) **अथवा कम्प** (quakes) **है जो मानव से असम्बन्धित क्रियाओं के फलस्वरूप होते है।**"

जे० बी० मेकलवेन (J. B. Macelwane) ने भूकम्प की परिभाषा करते हुए बताया है: "An earthquake is a vibration or oscillation of the surface of the earth caused by a transient disturbance of the elastic or gravitational equilibrium of the rocks at or beneath the surface."

यद्यपि भूकम्प की व्याख्या करने का कई विद्वानो ने प्रयत्न किया है पर सबसे अधिक सफलता **राबर्ट मैलेट** नामक भू-गर्भशास्त्री को मिली। उसने भूकम्प सम्बन्धी बहुत-सी बातो का भली प्रकार विवेचन करके निश्चय किया कि "**जब उद्वेग के किसी एक अथवा अधिक केन्द्रों के ऊपर-नीचे, अगल-बगल या किसी ओर को आकुंचक और प्रसारक तरंगें पृथ्वी की परिधि के किसी अंश में उठती हैं तब यदि वह अंश स्थल हुआ तो उसमें भूकम्प आता है और यदि वह जल हुआ तो उसमें भारी लहरें आने लगती हैं।**" उद्वेग के केन्द्रों से यहाँ अभिप्राय उन स्थानो से है जहाँ पृथ्वी के अन्दर बड़ी-बड़ी चट्टाने अन्दर की ओर गिरती है, झीलो और स्रोतों में बाढ़ आ जाती है, गुफाओ और दरारो मे भरी हुई गैसे आदि जोर से निकलकर इधर-उधर फैलती है अथवा इसी प्रकार के और दूसरे उपद्रव होते हैं। यदि मनुष्य को इन्हीं सब बातों की ठीक-ठीक जानकारी हो जाय तो

यह भूकम्प के नाशक प्रभाव से बहुत कुछ बच सकता है। इसीलिए बड़े-बड़े विद्वान इन सब बातों का पता लगाने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे है।

भूकम्प के कारण

प्राचीन धारणाएँ—भूकम्प के कारणों के सम्बन्ध मे प्राचीन समय मे भिन्न-भिन्न देशों में विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं। प्रारम्भ में अधिकांश लोग इसे दैवी प्रकोप मानते थे। कुछ लोगों की यह भी मान्यता थी कि जब पृथ्वी पर पाप बढ जाता है तो पापों के भार से पृथ्वी हिल उठती है। बाद में सभी देशो के निवासियों को यह विश्वास हो चला कि कोई जानवर पृथ्वी को उठाये हुए है और उसके हिलने से पृथ्वी मे कम्पन होता है। भारत मे लोगो का यह विश्वास था कि पृथ्वी शेषनाग पर ठहरी हुई है। जब शेषनाग हिलता है तो पृथ्वी भी हिलती है। तुर्की, बलगेरिया, बोर्नियो तथा बाल द्वीप मे लोग समझते थे कि पृथ्वी एक भैंसे के सीगों पर टिकी हुई है। जब भैंसा पृथ्वी को एक सीग से दूसरे सीग पर बदलता है तो भूकम्प आता है। इसी प्रकार उत्तरी अमरीका में कछुए, ईरान मे केंकड़े, तिब्बत मे मेंढक और सिलेवीज द्वीप मे सुअर पर पृथ्वी स्थित मानी गयी थी। इन देशों के निवासियों का विश्वास था कि इन जानवरो के हिलने से ही पृथ्वी हिल उठती है।

आधुनिक मत—जिस भूकम्प का प्रभाव इतना भीषण और नाशक होता है, उसके कारणो का पता लगाने का विद्वानों ने अब तक बहुत कुछ प्रयत्न किया है। आधुनिक भू-गर्भवेत्ताओं का मत है कि भूकम्प के कुछ विशिष्ट कारण हुआ करते है और कुछ लोगो का कहना है कि इसके अनेक कारण होते हैं। पर साधारणत यही मालूम होता है कि भूकम्प किसी एक कारण से आ सकता है और अनेक मिले-जुले कारणो से भी, अथवा यह भी सम्भव है कि एक कारण से दूसरे और भी अनेक कारणो की सृष्टि हो जाती है और इससे भूकम्प के आने में सहायता मिलती हो।

भूकम्प के कारणों को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है—एक, **वास्तविक या प्राथमिक** और दूसरे, **गौण**। पृथ्वी की भीतरी गर्मी का धीरे-धीरे शान्त होना, सूर्य आदि ग्रहों के प्रभाव और गुरुत्वाकर्षण प्रभावों मे अन्तर आदि वास्तविक या प्राथमिक कारण है। कभी-कभी तो स्वयं इन्ही कारणो से भूकम्प होता है और कभी-कभी इनके द्वारा दूसरे औपचारिक कारणों की सृष्टि हो जाती है। पृथ्वी-तल का प्रसारण और आकुचन, तापमान में अन्तर, वायुदाब, वर्षा, आँधी, सूर्य और चन्द्रमा का जल तथा स्थल मे तरंगें उत्पन्न करने का आकर्षक प्रभाव, प्राकृतिक कारणों से पुरानी चट्टानो आदि का नाश और नयी चट्टानों की सृष्टि और भू-गर्भ के समताप तलों मे परिवर्तन आदि गौण या औपचारिक कारण हैं।

(1) प्रसिद्ध विद्वान **हम्बोल्ट** (Humbolt) का मत था कि जिस कारण पर्वतों में से ज्वाला निकलती है वही कारण भूकम्प का भी है। उसके विचार से **'पृथ्वी के भीतर की ज्वाला का उसके ठोस तल पर प्रत्याघात'** ही इन दोनों का कारण है। इसी के आधार पर कुछ वैज्ञानिकों ने निश्चय किया है कि पृथ्वी के अन्दर की भाप कभी-कभी फूटकर दरारो आदि से बाहर निकलने लगती है और उससे भी भूकम्प आता है। पृथ्वी के अन्दर की जो गर्मी शान्त हो रही है उसके कारण भाप का बनना भी स्वाभाविक है और बहुत बढ़कर स्वयं उसका फूट निकलना भी। इसलिए इस सिद्धान्त के मानने मे भी किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती है और कदाचित इसीलिए कुछ भूकम्प के झटके भिन्न-भिन्न और भारी होते हैं।

(2) ज्वालामुखी द्वारा उत्पन्न भूकम्पों (volcanic earthquakes) की विशेषता यह है कि जब तक उद्गार होता रहता है तब तक भूकम्प का संवेग भी जारी रहता है और जैसे ही उद्गार धीमा पड़ता है भूकम्प का वेग भी कम होता जाता है। प्राय: इन भूकम्पों का प्रकोप ज्वालामुखी के चारों ओर आसपास के क्षेत्रफल तक ही सीमित रहता है, चाहे भूकम्प कितना ही

भीषण क्यों न हो। ज्वालामुखी के विस्फोट से उत्पन्न भूकम्प का अनुभव दूरस्थ प्रदेशों में कदाचित ही होता है। ज्वालामुखी क्षेत्रों मे आने वाले भूकम्प इस मत की पुष्टि करते है। सन् 1883 मे इस्क्रिया द्वीप —जो नेपल्स की खाड़ी मे स्थित है—मे एक प्रचण्ड भूकम्प के आघात से कैसामिशिओला नामक नगर का पूर्णतया विध्वस हो गया, परन्तु 22 मील दूर स्थित नेपल्स नगर पर इसका तनिक भी प्रभाव न पडा। नेपल्स मे भूकम्प के आघात का अनुभव भी सूक्ष्म रूप से ही हुआ। इसी प्रकार सन् 1886 मे मौनालोआ नामक ज्वालामुखी के उद्गार के समय हवाई द्वीप का दक्षिणी अर्द्ध-भाग विकट वेग से प्रकम्पित हो उठा। उद्गार के 6 दिन पूर्व ही मे भूकम्प के धक्के आने आरम्भ हो गये थे जो प्रति बार अधिकाधिक प्रचण्ड होते गये। ज्यो-ज्यो उद्गार का समय निकट आता गया इनका वेग महाभीषण होता गया और इनके फलस्वरूप विध्वंस और सर्वनाश के दृश्य उपस्थित होने लगे। परन्तु जब उद्गार आरम्भ हुआ तब भूकम्प का वेग अति शीघ्र कम हो गया। इतने प्रचण्ड और विध्वसकारी भूकम्प का प्रभाव भी सीमित क्षेत्रफल में ही हुआ। स्वयं हवाई द्वीप का उत्तरी भाग अक्षत और शान्त बना रहा। यहाँ तक कि 150 मील की दूरी पर तो इन आघातो का किसी को आभास भी न हुआ।

मध्य अमरीका मे आने वाले अति प्रचण्ड भूकम्प भी इसी प्रकार एक संकीर्ण क्षेत्रफल तक ही सीमित रहते है। एटना, विसूवियस तथा अन्य ज्वालामुखी पर्वतो के उद्गार मे भी इसी प्रकार के भूकम्प आये थे। परन्तु कतिपय उदाहरण ऐसे भी है जिनमे ज्वालामुखी द्वारा उत्पन्न भूकम्प का प्रभाव हजारों मील पड़ते देखा गया है। सन् 1883 का प्रसिद्ध क्रेकेटोआ का विस्फोट ऐसी ही प्रचण्ड घटना थी। इस घटना से आसपास के क्षेत्र मे तो भूचाल की अति प्रचण्ड लहरे उठी ही, किन्तु सबसे अचरज की बात यह थी कि उसके धक्के से समुद्र मे एक ऊँची लहर उमड़कर 8000 मील दूर दक्षिणी अमरीका के केपहार्न तट से जा टकरायी।

ज्वालामुखी क्षेत्रों मे कभी-कभी ऐसे भूकम्प आते है जिनका सम्बन्ध किसी ज्वालामुखी के विस्फोट से नही होता। इन भूकम्पो का वेग तथा ध्वसात्मक प्रभाव उसी प्रकार का होता है जैसा ज्वालामुखी के क्षेत्रो के बाहर के प्रदेशों में आने वाले भूकम्पो का होता है। इन भूकम्पों के आने के कारण वही होते है जो अन्य साधारण भूकम्पो के होते है।

(3) पृथ्वी के भीतरी भाग मे कहाँ-कहाँ क्या-क्या वस्तुएँ हैं, कोई मनुष्य इस विषय में निश्चयपूर्वक नही बता सकता। परन्तु फिर भी यह बात निर्विवाद है कि उसमे बहुत अधिक गर्मी अवश्य है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह गर्मी दिन पर दिन शान्त होती जा रही है। उस गर्मी के शान्त होने के कारण पृथ्वी का भीतरी भाग कुछ सिकुड़ता है जिससे स्तर-भ्रंश होता है और भूकम्प आता है।

(4) अधिकांश नाशक भूकम्पों का केन्द्र समुद्र के गर्भ मे होता है। जिन स्थानो पर भूमि या चट्टानो की तहो के जमने का क्रम बराबर जारी रहता है, वे स्थान यदि जल के पास हों तो जल के भीतर झरने के कारण वहाँ अनेक ज्वालामुखी विवर बन जाते है और उन्ही के संयोग से प्राय: भूकम्प आया करता है।

इस सम्बन्ध मे मैलेट ने भी यह विचार प्रकट किया कि समुद्र-तल मे जो दरारें हो जाती है उनसे होकर भीतर की अग्नि तक समुद्र का पानी पहुँचता है। जब तक यह पानी नीचे उतरता रहता है तब तक आरम्भ में हल्का कम्प या धमक होती है और जब वह पानी अग्नि तक पहुँच जाता है तब एक या अधिक धडाके होते है जिनके कारण भूकम्प के भारी झटके लगते है।

(5) भू-पृष्ठ की चट्टानों पर तनाव (tension) या भिचाव (compression) पड़ने पर चट्टान चटक जाती है और उनकी परतो मे अव्यवस्था हो जाती है जिससे धरातल पर धक्के लगते है और कम्पन उत्पन्न होता है।

जिस रेखा पर चिप्पड की चट्टानें चटकती या खिसकती है उसे भ्रंश (fault) कहते हैं। लगभग सभी बडे-बड़े भूकम्पों में इस प्रकार के भ्रंश होते है। कही-कही ये भ्रश धरती की ऊपरी सतह तक दिखाई पड़ते है। सन् 1906 के सैनफ्रांसिस्को के भूकम्प मे इस भ्रंश रेखा के ऊपर धरती में एक चौडी दरार हो गयी थी जो 500 मील लम्बी थी। इसे सैन एण्ड्रियास की घाटी (San Andieas Rift) कहते है। इस रेखा के एक ओर की भूमि दक्षिण की ओर खिसक गयी। प्रत्येक वस्तु (सड़क, भित्ति, पाइप आदि) जो इस रेखा को पार करती थी, दो भागों मे बँटकर उत्तर-दक्षिण हो गयी। कही-कहीं इन दोनो खण्डो मे 21 फुट तक का अन्तर हो गया। इस प्रकार के दृश्य आसाम और जापान के भूकम्पो के समय भी देखने को आये है। कही-कही भूमि ऊपर-नीचे खड़ी हो जाती है, जैसे अलास्का के सन् 1889 के भूकम्प मे समुद्र का एक भाग 47 फुट ऊँचा उठ गया था।
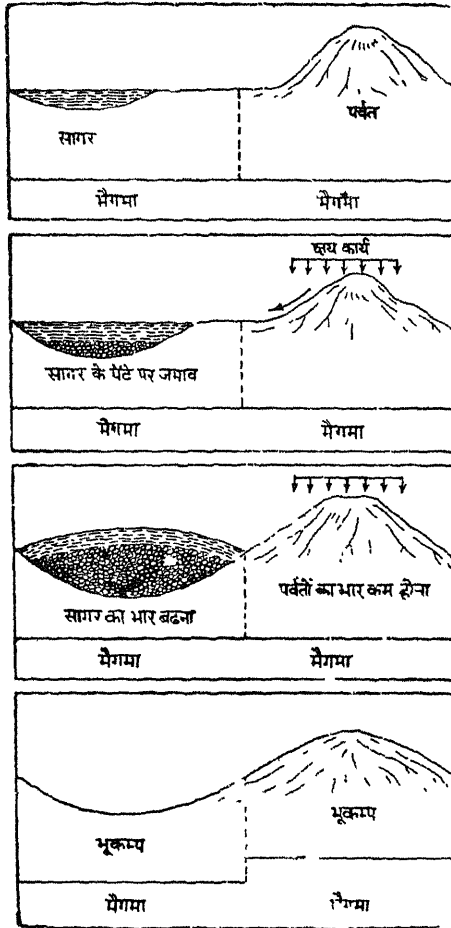
चित्र 398—सन्तुलन सम्बन्धी भूकम्प

इन भ्रशो और दरारों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों मे मतभेद है। कुछ वैज्ञानिक इन भ्रशो को भूकम्प का कारण मानते हैं और कुछ भूकम्पों के कारण इनकी सृष्टि होती बताते है। जो कुछ भी हो, प्राय यह सभी विद्वान स्वीकार करते है कि भूकम्पों का एक प्रधान कारण भू-पृष्ठ की चट्टानों पर पड़ने वाला तनाव व भिचाव है।

(6) कभी-कभी जल की रासायनिक क्रिया द्वारा जमीन भीतर से बहुत कुछ पोली हो जाती है और कुछ समय उपरान्त ऊपर की जमीन ठीक उसी प्रकार धँस जाती है जिस प्रकार बड़ी-बडी खानें खुदाई के कारण नीचे धँस जाती है। इस धँसाव के कारण न केवल कम्पन ही होता है बल्कि शब्द भी होता है।

(7) कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जब किन्ही कारणों से भू-सन्तुलन बिगड़ जाता है तो उसको ठीक रखने के लिए भू-गर्भ में लावा इधर-उधर होता है। लावा की इस क्रिया से चट्टानों में हलचल होती है जिससे हल्के-हल्के धक्के आते है।

(8) एक अमरीकन भू-गर्भशास्त्री का मत है कि भू-गर्भ का ताप तो भूकम्प का कारण अवश्य है, पर भाप और गैसों आदि के विस्फोट के कारण भूकम्प नहीं आता
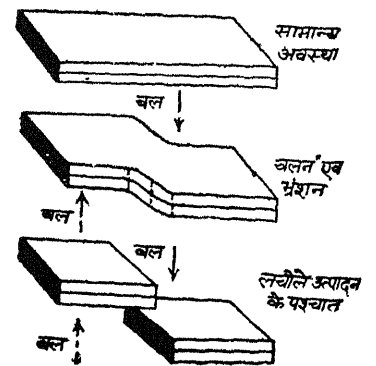
चित्र 399—प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धान्त के अनुसार भूकम्प की उत्पत्ति

बल्कि भू-गर्भ के जलते हुए भाग में जो तरगें उत्पन्न होती है उन्हीं के कारण भूकम्प आता है। उसका कहना है कि जिस प्रकार समुद्र की लहरों के कारण उस पर चलने वाला जहाज हिलता है उसी प्रकार भू-गर्भ के जलते हुए तरल पदार्थों की तरंगों के कारण भूकम्प होता है अर्थात जिस समय भू-गर्भ की अग्नि में किसी प्रकार का क्षोभ होता है उस समय भूकम्प भी होता है।

(9) प्रसिद्ध अमरीकी भू-गर्भवेत्ता **डॉ० एफ० एस० रीड** ने भू-गर्भ की चट्टानों के अध्ययन के आधार पर यह मत प्रकट किया है कि भूकम्प की क्रिया भूमिगत शैलों के लचीलेपन पर निर्भर करती है। उसके अनुसार भू-गर्भ की चट्टानें रबर के समान लचीली है। इसलिए उनमें बढ़ने और घटने का गुण है। जब किसी स्थान की चट्टानों पर तनाव पड़ता है तो चट्टानें अपने लचीले स्वभाव के कारण उसे सहन करती रहती है। किन्तु जब तनाव चट्टान के लचीलेपन की सीमा से बढ़ जाता है तो चट्टान टूट जाती है। चट्टान के टूटने पर उनके दो अलग-अलग खण्ड हो जाते है। ये दोनों खण्ड एक दरार के द्वारा अलग हो जाते है। ज्योंही दरार पड़ती है दोनों ओर के चट्टान-खण्ड विपरीत दिशा में खिसक जाते है। इस भ्रंश क्रिया से चट्टान का तनाव समाप्त हो जाता है और चट्टान के दोनों खण्ड पुन: अपने स्थान पर आने की चेष्टा करते है। इस प्रकार तनाव द्वारा उत्पन्न दबाव भ्रंश-क्रिया से समाप्त हो जाता है और दरार के सहारे सघर्षण से मिलकर भूकम्प उत्पन्न करता है। भूकम्प की उत्पत्ति सम्बन्धी डा० रीड के इस मत को **प्रत्यास्थ प्रतिक्षेप सिद्धान्त** (Elastic rebound theory) कहा जाता है।[1]

(10) भूकम्पों के उपरोक्त प्रमुख कारणों के अतिरिक्त कई एक सामान्य कारण भी है। उदाहरणत:, चूने के क्षेत्रों में कन्दराओं की छतो के ढह जाने, समुद्रतटों पर ऊँची भृगुओ के गिरने तथा पर्वतीय क्षेत्रो में भू-स्खलन (land slide) एव हिम-अवधान (avalanches) और भूमि में बम विस्फोट आदि सामान्य कारणों से भी भूकम्प आया करता है। किन्तु ऐसे भूकम्पों का प्रभाव केवल स्थानीय होता है।

भूकम्प के प्रकार
(Kinds of Earthquakes)

धरातल पर आने वाले भूकम्प कई प्रकार के होते हैं। भूकम्प के कारणों के आधार पर इन्हें दो प्रमुख वर्गो में विभाजित किया जा सकता है :

(1) कृत्रिम भूकम्प (Artificial Earthquakes),
(2) प्राकृतिक भूकम्प (Natural Earthquakes)।

(1) **कृत्रिम भूकम्प**—वे भूकम्प जो किसी मानवीय क्रिया के कारण उत्पन्न होते हैं, **कृत्रिम भूकम्प** कहलाते है। हम अपने साधारण ज्ञान से यह जानते हैं कि जब कोई भारी मोटरगाड़ी सड़क से गुजरती है तो उससे आसपास के क्षेत्र मे बहुत ही मन्द कम्पन होता है। इसी प्रकार बड़े वेग से जब कोई रेल किसी स्थान से गुजरती है तो उससे निकटवर्ती समस्त क्षेत्र हिल उठता है। कुएँ खोदते समय अथवा खानों में चट्टानों को तोड़ने के लिए जब सुरंग लगायी जाती है तो उससे भी हल्की धमक उत्पन्न हो जाती है। बम विस्फोट से किसी स्थान का कम्पित हो जाना तो साधारण बात है। उपरोक्त सभी उदाहरण मनुष्य द्वारा उत्पन्न गौण भूकम्पों के कारणों को स्पष्ट करते हैं। ये भूकम्प बहुत ही हल्के होते हैं। इनका मनुष्य पर कोई प्रभाव नही होता।

(2) **प्राकृतिक भूकम्प**—वे भूकम्प जो किसी प्राकृतिक कारण से उत्पन्न होते है, **प्राकृतिक भूकम्प** कहलाते है। प्रतिबल (stress) की स्थिति और कारण के आधार पर प्राकृतिक भूकम्प के निम्न तीन उपभेद हैं :

(क) ज्वालामुखी भूकम्प—वे भूकम्प जो ज्वालामुखी उद्‌भेदन के फलस्वरूप आते है उन्हें

[1] J. Gilluey, A. C. Waters and A. O. Woodford : *Principles of Geology*, p. 389

ज्वालामुखी भूकम्प कहा जाता है। जब ज्वालामुखी उद्गार होता है तो भू-गर्भ मे लावा, वाष्प, गैसे तथा अन्य पदार्थ बड़ी तीव्रता से नली में ऊपर उठते है। ज्वालामुखी नली मे इनके उद्वेग से भूमि पर कम्पन होने लगता है। भूमि पर यह कम्पन तब तक होता रहता है जब तक लावा आदि पदार्थों का उद्गार होता रहता है। कभी-कभी गैसों तथा वाष्प का दबाव इतना बढ जाता है कि उससे भयानक विस्फोट होता है। इस ज्वालामुखी विस्फोट की तीव्रता के अनुसार ही भूकम्प की तीव्रता होती है। ये भूकम्प ज्वालामुखी उद्गार के पूर्व, उद्गार के साथ-साथ और प्राय: उद्गार के बाद भी आते रहते है। किन्तु सामान्यत ज्वालामुखी के शान्त हो जाने के बाद भूकम्प का आना भी बन्द हो जाता है। यद्यपि ज्वालामुखी क्षेत्रो मे ऐसे भूकम्प संख्या मे बहुत आते हैं किन्तु प्राय· ये उग्र नही होते। ऐसे भूकम्पो का प्रभाव सामान्यत: 100-150 मील तक अनुभव किया जा सकता है, परन्तु कभी-कभी ये भूकम्प भी बहुत उग्र होते है। उदाहरणत, क्रेकेटोआ ज्वालामुखी के सन् 1883 के उद्भेदन के समय जो भूकम्प उत्पन्न हुआ उसका प्रभाव 8000 मील दूर दक्षिणी अमरीका के हार्न अन्तरीप तक अनुभव किया गया था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि अधिकांश ज्वालामुखी उद्भेदनो के साथ भूकम्प आता है परन्तु सभी ज्वालामुखी उद्गारों के साथ भूकम्प आना आवश्यक नहीं है।

(ख) **विवर्तनिक भूकम्प**—वे भूकम्प जो पृथ्वी की आकस्मिक हलचलो के कारण उत्पन्न होते है उन्हें विवर्तनिक भूकम्प कहते है। ये भूकम्प प्राय. भू-पटल के नीचे 3 से 15 मील की गहराई पर उत्पन्न होते है। भू-गर्भ मे जब कही आकस्मिक हलचले होती है तो उससे भू-गर्भ की चट्टानो पर खिचाव (tension) एव सम्पीडन (compiession) बल उत्पन्न होता है। खिचाव बल से चट्टाने अलग-अलग अथवा ऊपर-नीचे खिसक जाती है जिससे भू-गर्भ में दरारे उत्पन्न होती है। दरारों के उत्पन्न होने से भूमि के अन्दर भारी प्रतिघात होता है। फलस्वरूप पृथ्वी के ऊपर भूकम्प पैदा हो जाता है। सम्पीडन बल से भू-गर्भ की चट्टानो मे वलन (folding) उत्पन्न होता है जिससे अन्ततः चट्टानें टूट जाती है। चट्टानो के टूटने से भू-गर्भ मे जो प्रतिघात पैदा होता है उसी से धरातल के ऊपर भूकम्प आता है। सयुक्त राज्य अमरीका में सैन एण्ड्रियाज की घाटी का भूकम्प भू-गर्भ मे विशाल दरार उत्पन्न हो जाने से ही आया था। 15 अगस्त, 1950 को आसाम मे आने वाला भूकम्प भी विवर्तनिक भूकम्प का अच्छा उदाहरण है। विवर्तनिक भूकम्प तीव्रता मे बहुत अधिक भिन्न होते है। किन्तु प्राय: ये भूकम्प बहुत शक्तिशाली और कोई-कोई तो अत्यन्त ही तीव्र और विनाशक होते है।

(ग) **पातालीय भूकम्प**—अन्य भूकम्पों की अपेक्षा पातालीय भूकम्पो के सम्बन्ध मे बहुत कम जानकारी है। अत. इनके कारणो को समझ पाना भी थोड़ा कठिन है। ये भूकम्प प्राय: उत्पन्न नहीं होते। इनका उद्गम भू-गर्भ मे 150 से 420 मील की गहराई पर होता है। चूँकि ऐसी गहराई पर भारी दबाव रहता है, इसलिए सामान्यत: भू-गर्भशास्त्रियों का मत है कि वहाँ किसी प्रकार चट्टानो का आकस्मिक हलचलों से टूटना या भ्रंशन का पैदा होना सम्भव नहीं है। अत. भू-गर्भविदों ने पातालीय भूकम्पों को स्पष्ट करने के लिए बहुत ही सैद्धान्तिक कारण जैसे रासायनिक विस्फोट, खनिजो का पुनः क्रिस्टलन (re-crystallization), खनिजों में लावणिक परिवर्तन और ऐसे ही अन्य कारण बताये हैं।

(घ) **सन्तुलन-मूलक भूकम्प**—जब कोई भूकम्प किसी कारणवश भू-पटल की चट्टानों मे सन्तुलन के बिगड़ जाने से उत्पन्न होता है तो ऐसे भूकम्प को सन्तुलन-मूलक भूकम्प कहते हैं। ऐसे भूकम्प प्रायः नवीन मोड़दार पर्वतों के क्षेत्रो मे अधिक आते है। सन् 1949 मे हिन्दुकोह मे आया भूकम्प सन्तुलन-मूलक भूकम्प ही था।

गुटनबर्ग और रिचटर (Gutenberg and Richter) ने अति गहराई पर आने वाले

भूकम्पो का विश्लेषण कर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि भूकम्प के धक्कों के उद्गम की क्रिया-विधि सभी गहराइयों पर समान ही है।

गुटनबर्ग और रिचटर ने भूकम्पो को उनके प्रघात की गहराई के अनुसार निम्न भागो में बाँटा है :

(1) **साधारण भूकम्प**—वे भूकम्प जिनका प्रघात (shock) 30 मील या उससे कम गहराई पर उत्पन्न होता है उन्हे साधारण भूकम्प कहा जाता है।

(2) **मध्यम भूकम्प**—जब प्रघात 45 से 100 मील के बीच उत्पन्न होता है तो वे मध्यम प्रकार के भूकम्प होते है।

(3) **गहरे भूकम्प**—जब भूकम्प के प्रघात की गहराई 150 से 420 मील के बीच होती है तो उन्हें गहरे भूकम्प कहते है।

पृथ्वी के धरातल पर स्थिति के अनुसार भूकम्पों के दो भेद किये जा सकते है :

(1) **स्थलीय भूकम्प**—वे भूकम्प जो धरातल के केवल स्थल भागों मे आते है उन्हें स्थलीय भूकम्प कहते है।

(2) **सामुद्रिक भूकम्प**—भूमि के ठोस भाग पर तो भूकम्प आते ही है किन्तु अनेक भूकम्प समुद्र की तलो मे भी उत्पन्न होते है। ये भूकम्प तटीय क्षेत्रो में अधिक आते है। इसलिए कभी-कभी भूकम्प समुद्र के नीचे प्रारम्भ होते है और वहाँ से स्थल भाग मे फैल जाते हैं। तटीय भागो के अतिरिक्त ये भूकम्प मध्य अन्ध महासागरीय कगार, महासागरीय गर्तो के निकट और प्रशान्त महासागर की तली पर तो अभूव[1] के दौरान दिन मे 200 से 300 तक भूकम्प दर्ज किये गये है।
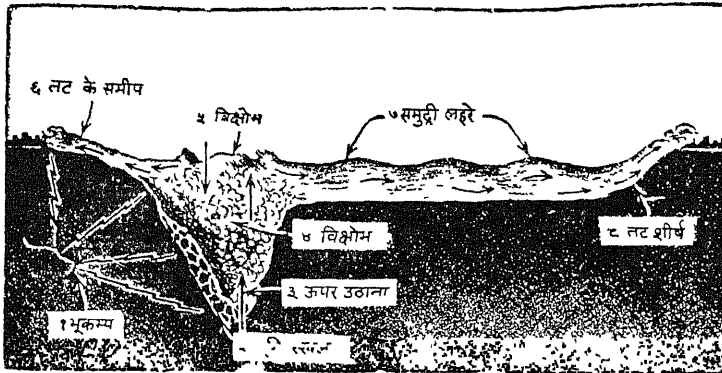
चित्र 400—**सामुद्रिक भूकम्प और उससे उत्पन्न सुनामिस**

समुद्र की तली मे जन्म लेने वाले इन भूकम्पो से वहाँ क्या परिवर्तन होते है, यह पूर्ण स्पष्ट तो नहीं है, किन्तु इतना विदित है कि इनसे तली में विशाल गर्तो की रचना हो जाती है। तली के फटने से समुद्र मे पडे हुए तार (cables) टूट जाते है। इससे भी विशेष बात यह है कि इनसे समुद्रों मे विकराल लहरे उत्पन्न होती है, जो भूकम्प से भी अधिक विनाशक सिद्ध होती है। भूकम्पजनित ये लहरें कदाचित ही 3-4 फुट से अधिक ऊँची होती हैं। परन्तु कभी-कभी विशाल आकार-प्रकार की लहरे भी उत्पन्न होती देखी गयी हैं। कई बार ये लहरें 40-50 फुट ऊँची और 100 मील से भी अधिक लम्बी होती है। ये 300 से 500 मील प्रति घण्टा की आश्चर्यजनक गति से चलती है। जापान में भूकम्पजनित इन लहरों को **सुनामिस** (Tsunamis) कहा जाता है।

समुद्रों में बडी सुनामिस कदाचित ही आती है। प्रशान्त महासागर में प्रति दो वर्ष के बाद कही एक-आध दर्ज होती है। छोटी सुनामिस प्रायः और कभी-कभी तो नित्य ही आती रहती है।

1 अंभूव का अर्थ अन्तरराष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष से है।

अन्ध महासागर मे इसी तरह की सुनामिस पैदा होती है। प्रशान्त महासागर के द्वीप इन प्रबल लहरो से प्रायः आतंकित रहते है। सन् 1946 मे अलास्का के निकट एल्यूसियन द्वीपो के सागर-तल मे एक भूकम्प आया था, उसके आघात से पैदा हुई लहरे 490 मील प्रति घण्टा की चाल से हवाई की तरफ चल पडी थी। ये दो या तीन फुट से अधिक ऊँची नही थी। उनकी आपसी दूरी कोई 100 मील थी। भूकम्प के 4 घण्टे 34 मिनट बाद ये हवाई पहुँचने पर तली को स्पर्श करके धीमी हो गयी। उन्होंने अपनी अपार ऊर्जा 50-50 फुट ऊँची सफेद सिर वाली तरगो मे संचित कर दी। हर तरंग के पीछे भारी जोर के साथ लौटता सागर भूमि पर चढता गया। हर बार पानी उतरता तो अपने साथ दानवी हाथो की तरह जमीन पर से मकानों और लोगो को समेटता जाता था। कुछ ही समय मे सैकडो लोग और मकान समुद्र की भेट चढ गये। सन् 1896 मे जापान के निकट टस्कारो गर्त मे आये प्रबल भूकम्प से तीन विशाल दैत्याकार सुनामिस पैदा हुई। सबसे प्रबल सुनामिस 50 फुट ऊँची थी। इसने जापान के तट पर पहुँचकर क्षण-भर मे 20,000 व्यक्तियों और 12,000 मकानों को नष्ट कर डाला। इस भूकम्प के 7 घण्टे 45 मिनट बाद 3590 मील दूर होनोलूलू और 10 घण्टे 30 मिनट बाद 4790 मील दूर सैनफ्रासिस्को नगर मे लहरो का प्रचण्ड वेग हुआ था। सन् 1883 के क्रेकेटोआ भूकम्प के कारण 135 फुट ऊँची लहरो का जन्म हुआ, जिन्होने जावा, सुमात्रा और निकटवर्ती द्वीपो को बुरी तरह रौद डाला। इन दानवी लहरों के प्रहार से कोई 30,000 इण्डोनेशियायी लोगो को प्राणो से हाथ धोना पड़ा।

भूकम्पों की आवृत्ति
(Frequency of Earthquakes)

भूकम्प पृथ्वी के धरातल पर होने वाली एक सामान्य घटना है। प्रतिदिन भू-पटल पर अनेक भूकम्प आते है। वर्ष भर मे जितने भूकम्पो का अभिलेख होता है उनकी संख्या के आधार पर पृथ्वी पर औसत रूप से हर दो-ढाई घण्टे उपरान्त कही न कही भूकम्प आता है। पृथ्वी के कमजोर भागों में प्रतिदिन अनेक भूकम्प आते रहते है। किन्तु अधिकांश भूकम्प बहुत ही हल्के होते हैं और उनको यन्त्रों की सहायता से पहचाना जा सकता है। पनामा नहर के लिए स्थान के चुनाव में उस स्थान पर भूकम्पों की प्रचण्डता और उनके बार-बार होने के प्रभाव को ज्ञात करने के लिए प्रस्तावित मार्ग के पूर्वी छोर पर स्थित सेन जोस नामक नगर मे सन् 1901 से 1904 के बीच 40 महीनों मे 169 भूकम्पों का अभिलेख किया गया था। इन भूकम्पो मे से केवल 43 सामान्य प्रकम्प (tremors) थे, 91 हल्के धक्के थे और 53 प्रबल धक्के थे। यूनेस्को की रिपोर्ट के अनुसार ससार के समस्त भूकम्प लेखी यन्त्रो द्वारा प्रतिवर्ष लगभग 60,000 प्रकंपन रिकार्ड किये जाते है, परन्तु इनमें से केवल 4000 प्रकपन ही मानचित्रो पर अंकित किये जाते हैं।

भूकम्पों की लहरें—भूकम्प के सम्बन्ध मे दो बातो का भेद करना बहुत ही आवश्यक है। यह भेद उसकी लहरों और गति के प्रकार तथा कारणों का है। पहले पृथ्वी के गर्भ मे किसी प्रकार का उद्वेग या उपद्रव होता है और तब उसके कारण उसमें तरंगे उठती है। पृथ्वी के उद्वेग का मुख्य भीतरी स्थान **कम्प-केन्द्र** (focus, centrum or hypocentre) कहलाता है और उसके ठीक ऊपर पृथ्वी पर जो स्थान होता है उसे **अधि-केन्द्र** (epicentre) कहते हैं और शेष जिन ऊपरी प्रदेशों मे भूकम्प आता है उन्हें भूकम्प क्षेत्र कहते है। भू-पटल पर कम्पन का सबसे अधिक प्रभाव अधि-केन्द्र के निकट ही होता है। इसके दूरी बढ़ने पर प्रभाव घटता रहता है।
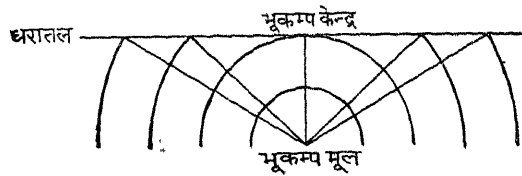
चित्र 401—**भूकम्प केन्द्र**

भूकम्प का उद्वेग-केन्द्र पृथ्वी के नीचे बहुत ही गहराई में होता है। भूकम्पों के वेग और बल आदि का हिसाब लगाकर वैज्ञानिकों ने यह निश्चय किया है कि उनका उद्गम पृथ्वी के नीचे तीन से बीस मील तक की गहराई मे होता है, परन्तु कभी-कभी यह केन्द्र पृथ्वी के नीचे सौ से पाँच सौ मील तक की गहराई पर भी पाया जाता है। भीतरी गर्मी और भाप अथवा भू-सन्तुलन के कारण जो भूकम्प आते है उनकी गहराई हमेशा अधिक होती है। 1 फरवरी, 1929 को एटोबाबाद मे जो भूकम्प आया था उसका कम्प-केन्द्र 100 मील की गहराई पर स्थित था। किन्तु इसके विपरीत 31 मई, 1935 के क्वेटा वाले भूकम्प का उद्गम-केन्द्र सतह से बहुत ही कम गहराई पर था। **डा० जे० एच० ओल्डम** (J H. Oldham) ने भूकम्पों की प्रकृति का विशेष अध्ययन करने के लिए इटली के 5000 भूकम्पों की छान-बीनकर पता लगाया कि उसमे 90 प्रतिशत 5 मील से भी कम गहराई से, 8 प्रतिशत 5 मील से लेकर 19 मील तक की गहराई से और शेष केवल 2 प्रतिशत इससे भी अधिक गहराई से उत्पन्न हुए थे।

भूकम्प के कारण पृथ्वी मे चलने वाली लहरें ठीक वैसी ही होती है जैसी तालाब में पत्थर फेकने से उठती है। पत्थर जब पानी की सतह से कुछ नीचे जाता है तब दूसरी लहर उठती है। इस प्रकार ज्यो-ज्यों वह पत्थर नीचे की ओर जाता है त्यो-त्यो लहरे उठतीं और आगे बढ़ती जाती है। पत्थर खड़े बल में गिरता है और उसी खड़े बल मे लहरो की उत्पत्ति होती है। परन्तु स्वयं लहरो की गति आड़े बल मे होती है। ठीक इसी प्रकार की लहरें पृथ्वी में भी होती है, जिनकी गति आड़े बल में होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जल बहुत हल्का पदार्थ होता है इसलिए उसमें थोड़े-से क्षोभ से ही लहरें उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी बहुत भारी है इसलिए उसमें तरंगे उत्पन्न करने के लिए भारी क्षोभ की आवश्यकता होती है।
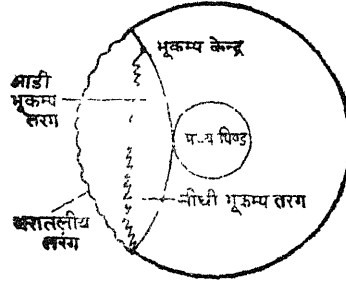
चित्र 402—**भूकम्प की तरंगें**

भूकम्प के उत्पत्ति स्थानों से चलने वाली लहरे न तो एक समान ही होती है और न उनकी गति ही एकसी होती है। इन लहरों की गति और शक्ति, जिस प्रकार के भू-भाग मे होकर वे गुजरती है उन पर निर्भर करती हैं। ये लहरें जब आरम्भ होती है तो पहले अधि-केन्द्र पर पहुँचती है और फिर वहाँ से ये लहरे बाहरी परिक्रमा और यात्रा करने मे लग जाती हैं। प्रधानतः कम्प केन्द्र से तीन प्रकार की कम्पन लहरे चलती है :
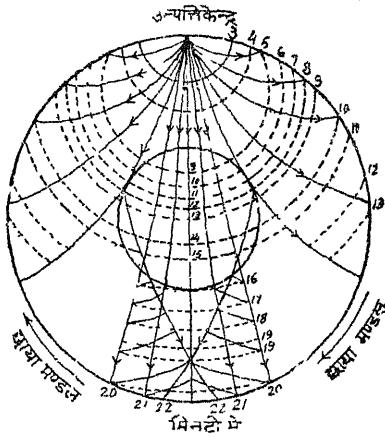
चित्र 403—**पृथ्वी के विभिन्न स्तरों में भूकम्प तरंगों का मार्ग**

(क) प्रधान या लम्बी लहरें (Primary, Push or Longitudinal Waves)—ये लहरे सबसे अधिक गतिशील और तेज होती है। इनकी गति 5 से 9 मील प्रति सैकण्ड तक होती है। ये ठोस और तरल पदार्थों को समान रूप से पार कर जाती हैं। धरातल पर सबसे पहले पहुंचने वाली लहरें (waves) ये ही होती है।

(ख) **आड़ी या गौण लहरें** (Transverse, Secondary, Shear or Shake Waves)—ये लहरें प्रधान लहरों के समकोण पर चलती है। इनकी गति 3-4 मील प्रति सैकण्ड से अधिक नही होती। ये प्रधान लहरों की अपेक्षा पृथ्वी मे बहुत गहराई तक चलती है। पर ये द्रव पदार्थ मे से होकर नही गुजर पातीं।

(ग) **धरातलीय लहरें** (Surface or Long Waves)—ये लहरें समुद्र की लहरो के समान पृथ्वी के धरातल पर चलने वाली लहरें है। भूकम्प के उद्गम स्थान से भूकम्प-केन्द्र पर पहुँचकर ये लहरे वहाँ से पृथ्वी की बाहरी परिक्रमा और भीतरी यात्रा करने लग जाती है। यही कारण है कि किसी-किसी स्थान पर इन लहरों का दो बार प्रभाव होता दिखाई पडता है। अधिक गहराई पर इनका प्रभाव मालूम नही देता। इनकी गति 2 से 3 मील प्रति सैकण्ड तक होती है। धरातल पर अपार धन-जन की हानि इन्ही लहरों द्वारा होती है।

भूकम्प की माप—यदि भूकम्प आने के उपरान्त आप किसी से पूछिए कि भूकम्प किस दिशा से आया था और किधर की ओर उसकी गति थी तो कदाचित यही उत्तर मिलेगा कि चारों ओर से पृथ्वी हिलने लगी थी। साधारणत. लोगों को जो अनुभव होता है उससे दिशा आदि का पता नही चल पाता। गति की दिशा और उसका वेग तथा दो कम्पों के बीच का समय आदि बातों का ठीक-ठीक अनुमान केवल बड़े यन्त्रों से ही लगता है। भूकम्प की लहरो की गति नापने के लिए **कम्प लेखक यन्त्र** (seismograph) का उपयोग किया जाता है। इस यन्त्र द्वारा पृथ्वी के किसी भी भाग में आये हुए भूकम्प को अंकित कर लिया जाता है। भूकम्प का जो अकन इस यन्त्र द्वारा कागज पर किया जाता है उसे **'सीसमोग्राम'** (seismogram) कहते हैं। यन्त्र द्वारा कागज पर अकित होने वाली रेखाओ से सहज ही यह मालूम किया जा सकता है कि कम्पन किस दिशा से प्रारम्भ हुआ तथा उद्गम-केन्द्र कितनी दूरी पर स्थित है। समुद्र में होने वाला कम्प भी इसकी सहायता से मालूम हो जाता है। भूकम्प की लहरों का सबसे अधिक प्रभाव अधिकेन्द्र पर होता है। अन्य दिशाओ में इसका वेग निर्बल होता जाता है। भूकम्प का प्रभाव जिन स्थानो पर एक ही समय मालूम हो यदि उन्हें चित्र मे एक ही रेखा द्वारा मिला दिया जाय तो इस प्रकार बनने वाली रेखाओ को **'सह भूकम्प रेखाएँ'** (homoseismal lines) कहते हैं। फिर जिन स्थानो पर भूकम्प की तरंगो का एकसा प्रभाव पड़ा हो तथा एकसी हानि का अनुभव हुआ हो उनको यदि मानचित्र में एक ही रेखा द्वारा मिला दिया जाय तो ये रेखाएँ **'सम-भूकम्प रेखाएँ'** (isoseismal lines) कहलायेंगी।
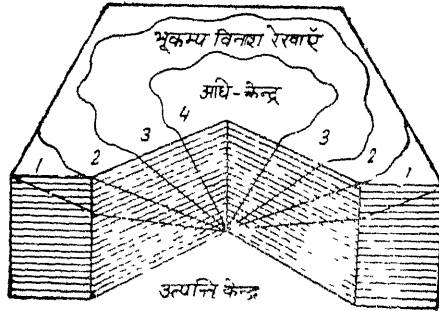
चित्र 404—कम्प केन्द्र और उससे उत्पन्न तरंगों का अधि-केन्द्र से सम्बन्ध

यदि किसी स्थान पर भूकम्प दरार बनाकर प्रारम्भ हुआ हो तो सम-कम्पन रेखाएँ वृत्ताकार होंगी जिनका केन्द्र कम्प-केन्द्र होगा। किन्तु यदि भूकम्प बिना दरार आदि के ही आरम्भ हुआ हो तो रेखाएँ अण्डाकार होंगी। अर्थात् कम्प-केन्द्र एक बिन्दु न होकर रेखा में है, जिसका केन्द्र अण्डाकार धरातल पर रेखा के रूप मे है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रायः भूकम्प आन्तरिक हलचलों के कारण होते है जिनका भूकम्प केन्द्र ठीक कम्प-केन्द्र के अथवा स्तर भ्रंश क्षेत्र (zone of fracture) के ऊपर होता है।

भूकम्प के धक्कों की तीव्रता—भूकम्प के धक्कों की वास्तविक तीव्रता को निश्चित कर पाना बड़ा कठिन है, क्योंकि यह तरंगों के कोणांक (amplitude), त्वरण (acceleration), आवृत्ति

(frequency) एवं कई अन्य गणितीय बातो पर आधारित होती है। भूकम्प के झटकों की आभासी तीव्रता (appaıent intensity) मकानों, छतो, पुलो एवं कारखानों आदि को होने वाली क्षति तथा भूमि पर मिट्टी और चट्टानो मे होने वाले व्याघात से मालूम होती है। सामान्यतः दृढ एवं ठोस चट्टानों पर बने मकानो को भूकम्प से कम क्षति होती है। जो मकान कमजोर अवसादी चट्टानों अथवा ढीली बालू या काँप भूमि पर खड़े किये जाते है उन्हें भारी आघात पहुँचता है। फिर भूकम्प द्वारा विनाश अधि-केन्द्र (epicentre) के निकट अधिक और अधि-केन्द्र से दूर कम होता है। इसके अतिरिक्त धक्कों की तीव्रता उसके मूल आघात की प्रचण्डता, भूमि तल पर भूकम्प लहरो के पहुँचने के कोण तथा धरातल पर स्थान विशेष की कम्प-केन्द्र (focus) से दूरी आदि बातों पर निर्भर करती है। सामान्यत. गहराई से आने वाले धक्को से कम हानि होती है जबकि कम गहराई से उठने वाले झटके भारी विनाश करते है। प्रायः भारी भरकम मकानो, छतो, महराबों एव बहुमजिले भवनों पर कम्पन का प्रहार अधिक तीव्र होता है जबकि एक-मजिले और हल्के छोटे मकानों पर कम्पन का प्रभाव बहुत कम हो पाता है।

भूकम्प द्वारा की गयी हानि को मापने के लिए जो पैमाना स्थिर किया गया है, उसे **मरकेली पैमाना** (Mercalli Scale) कहते हैं। इसका विवरण नीचे दिया जा रहा है [1]

पैमाना	**विवरण**
1	भूकम्प का आना बहुत ही कम व्यक्तियों को ज्ञात होता है।
2.	ऊपर की मंजिल में आराम करते हुए व्यक्तियो को कुछ हल्का कम्पन मालूम होता है। झूलते हुए पदार्थ फिरने लगते है।
3.	प्रायः पहली मंजिल के फर्शो पर कम्पन मालूम होता है। मोटर-ट्रक के आने की-सी आवाज होती है।
4.	व्यक्ति को दिन के समय घर के अन्दर अधिक कम्पन महसूस होता है। रात के समय कम्पन से कुछ व्यक्ति जग जाते है। मकानो की खिडकियाँ और दरवाजे जोर-जोर से हिलने लगते है। दीवारें घरघराहट की आवाज करती है और ऐसा ज्ञात होता है मानो कोई भारी ट्रक मकान से टकरा गया हो।
5.	कम्पन का प्रभाव सभी व्यक्तियों द्वारा अनुभव किया जाता है। कई भवनो की दीवारो का चूना गिरने लगता है। अस्थायी पदार्थ गिर जाते है। खम्भे, पेड़ो और अन्य ऊँचे भवनो का गिरना तथा दीवार घड़ियों का चलना बन्द हो जाता है।
6.	सभी लोग कम्पन का सार्वभौमिक प्रभाव महसूस करते है। बहुत-से डर के मारे मकानों से बाहर दौड़ने लगते है। भारी फर्नीचर हिलने लगता है तथा मकानों की चिमनियाँ आदि गिर पडती है। मकानों को हल्का नुकसान होता है।
7.	सभी व्यक्ति डर के मारे बाहर दौड़ते हैं। बनावट के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के भवनों को कम-ज्यादा हानि होती है।
8.	मकानों आदि को अत्यधिक हानि होना। दीवारों, खम्भों, चिमनियो और मेहराबों आदि का गिरना, भारी फर्नीचर का लुढक जाना। भू-गर्भ मे से कीचड़ और बालू के फुहारो का छूटना। कुओं के जल में परिवर्तन हो जाना।
9.	विशेष प्रकार से बने भवनों को भारी क्षति, कई मकानो का धराशायी हो जाना। मकानो की नींवों का हिलना और खिसककर पृथ्वी का फट जाना।

---

1 A. Holms : *Principles of Physical Geology*, p. 363

10. कई मकानों का नीव-सहित गिर जाना। भू-पटल पर गहरी दरारें पड़ना। रेलमार्गो का मुड़ जाना। नदियों के किनारो की भूमि का टूट-टूट कर गिरना तथा बालू और कीचड़ का उछाला जाना।
11. कुछ ही भवन स्थिर रह पाते हैं। पुल नष्ट हो जाते है। भूमि में चौड़े और गहरे गड्ढे बन जाते है। पानी के नल टूट जाते है। मुलायम भूमि मे बड़े-बड़े ढोको का गिरना। रेलमार्गो मे अधिक मुड़ाव।
12. सम्पूर्ण हानि। धरातल पर लहरो का प्रत्यक्ष अनुभव। सभी पदार्थों का हवा मे उठना और पुनः धरातल पर गिर पड़ना।

उपरोक्त पैमाने के अनुसार क्षेत्र विशेष की हानि का अनुमान लगाकर इसको मानचित्र मे अंकित कर एकसी हानि वाले स्थानों को भिन्न-भिन्न रेखाओं द्वारा मिला दिया जाता है।

संसार के भूकम्प क्षेत्र

भूकम्पों के सम्बन्ध मे खोज करने पर यह प्रतीत हुआ है कि धरातल के कुछ विशेष भागो में ही भूकम्पो के आघात अधिक होते हैं। जिस प्रकार ज्वालामुखियो का विस्तार धरातल के कुछ विशेष भागों में है उसी प्रकार भूकम्पों का प्रकोप भी कुछ विशेष क्षेत्रों तक सीमित है। ससार के भूकम्प-मानचित्र को देखने से प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध धरातल के वलित पर्वतों, ज्वालामुखियों एवं समुद्रतटो से विशेष रूप से है। भूकम्प के क्षेत्र और ज्वालामुखी क्षेत्र धरातल के कुछ भागों में समस्थलीय हैं। कुछ भागो मे इन दोनों में इतना अधिक अन्तर पाया जाता है कि भूकम्पो का ज्वालामुखियो से किसी प्रकार का सरल सम्बन्ध स्थापित करना उचित नही प्रतीत होता। प्रसिद्ध भूकम्पविद् **काउन्ट डी मांटेसस डी बैलोर** ने संसारव्यापी भूकम्पो का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि "अधिकांश भूकम्प नवीन वलित पर्वतो के सहारे फैले हुए अस्थिर प्रदेशों अथवा उन भागो मे जहाँ स्थलाकृति के उच्चावचन (relief) मे भारी अन्तर पाया जाता है, आते है।" **डटन** (Dutton) ने उपरोक्त मत का समर्थन करते हुए कई प्रमाण प्रस्तुत किये है। उसने बताया है कि पूर्वी एवं पश्चिमी द्वीपसमूह जहाँ दो महाद्वीप और दो महासागरीय द्रोणियाँ मिलती है, भूकम्पो के विशिष्ट क्षेत्र है। इसी प्रकार एल्यूसियन द्वीपमाला के पूर्व की ओर का भाग ससार के प्रमुख भूकम्प प्रजनन क्षेत्रो मे से एक है।[1] वस्तुत· ससार के जिन प्रदेशो मे विशिष्ट भू-गर्भिक अवस्थाएँ पायी जाती है वे ही भूकम्पो से अधिक प्रभावित होते हैं। संसार मे भूकम्पो की प्रमुख पेटियाँ निम्न है :

(1) **प्रशान्त महासागर की तटीय पेटी**—इस पेटी में प्रशान्त महासागर के चारों ओर के समुद्रतटीय भाग सम्मिलित है। यह ज्वालामुखी क्षेत्रों की मुख्य पेटी है। ज्वालामुखी विस्फोटों के कारण इसमे बहुधा भूकम्प आया करते है। इस पेटी मे संसार के लगभग 63% भूकम्प आते हैं। यहाँ अधिकांश भूकम्प जापान, अलास्का, कैलिफोर्निया, मेक्सिको व चिली मे आया करते है। जापान मे तो भूकम्प इतने अधिक आते रहते है कि टोकियो आदि शहरों मे प्रायः भूकम्प के बारे में लोग प्रतिदिन उसी प्रकार चर्चा करते रहते हैं जैसे हम अपने देश में मौसम के बारे मे चर्चा करते है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि सत्रहवी शताब्दी से तो प्रत्येक $2\frac{1}{2}$ वर्ष मे जापान मे औसत रूप से एक बड़ा भूकम्प आ ही जाता है। पिछले 1500 वर्षो मे अब तक वहाँ 223 विनाशकारी भूकम्प आ चुके हैं। जापान के विभिन्न भागो मे आने वाले भूकम्पो का वार्षिक औसत

---

[1] C. S. Fox : *Physical Geography for Indian Students*, p. 244

1500 तक आता है अर्थात् प्रतिदिन लगभग 4 भूकम्प आते है ।[1] टोकियो में तो बड़ा भूकम्प प्रति तीसरे दिन आना माना गया है ।[2]
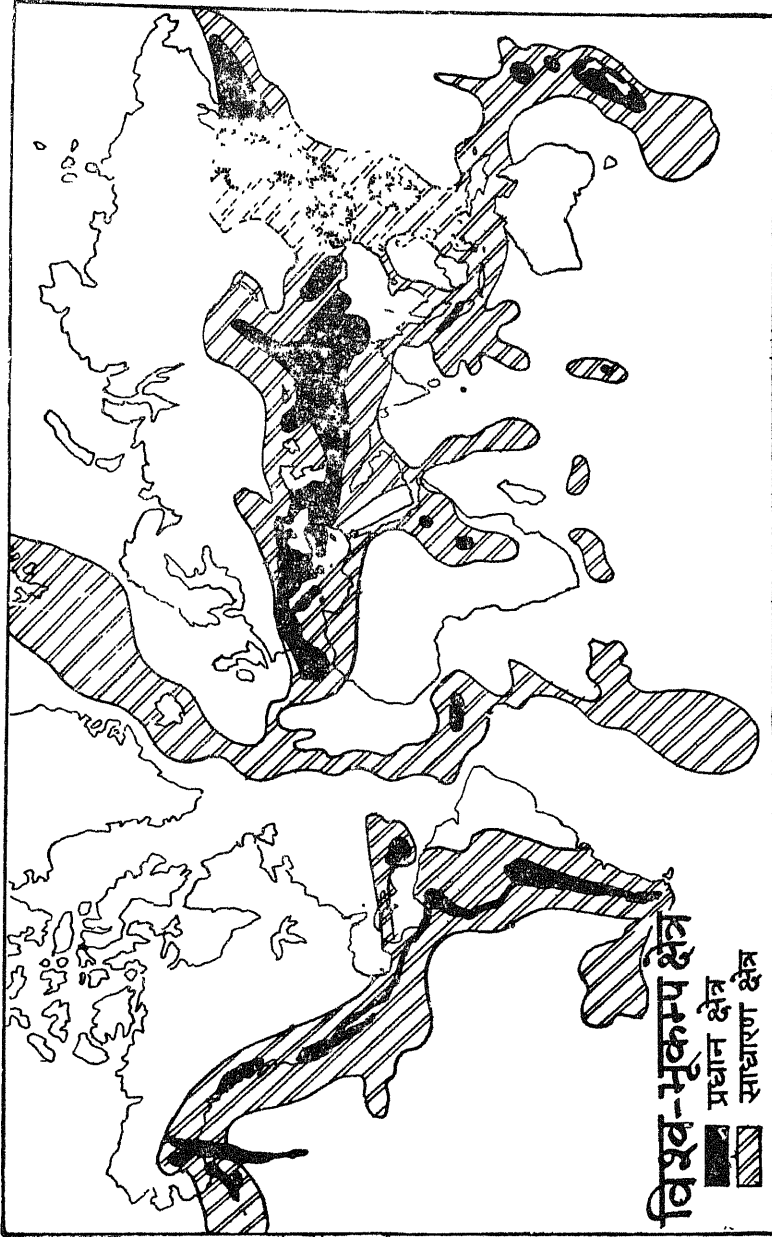
चित्र 405—संसार के भूकम्प क्षेत्र

(2) **मध्यवर्ती पेटी**—यह पेटी यूरेशिया महाद्वीप के बीच नवीन वलित पर्वतों के सहारे पूर्व से पश्चिम को फैली हुई है । पिरेनीज, आल्प्स, काकेशस और हिमालय पर्वत-श्रेणियाँ इसी

1 Finch and Trewartha : *Elements of Geography*, p. 290

2 Tarr and Martin : *College Physiography*, p. 422

पेटी में आती हैं। यहाँ बहुधा स्तर-भ्रंश एवं सन्तुलन की क्रिया के कारण भूकम्प आते हैं। संसार के 21 प्रतिशत भूकम्प इसी भाग में आते है। इसी पेटी की एक शाखा मध्य अन्ध महासागरीय तट पर विस्तृत है और दूसरी शाखा जोर्डन की घाटी से होती हुई पूर्वी अफ्रीका के भ्रंशघाटी क्षेत्र तक फैली हुई है। इसकी एक शाखा अरब प्रायद्वीप मे होती हुई हिन्द महासागर में चली गयी है।

(3) **भूकम्प शून्य क्षेत्र**—भूकम्प के क्षेत्र वास्तव में उन स्थानों के द्योतक है जहाँ बहुधा भूकम्प आते रहते है, परन्तु इसके अपवादस्वरूप ऐसे स्थान भी है जो इन क्षेत्रो के बाहर है। इन भागों मे कभी सौ-दो सौ वर्षों में भूकम्प का साधारण आघात हो जाता है। अतः ये भूकम्पों से अप्रभावित क्षेत्र कहलाते है। उदाहरणतः, सन् 1929 में न्यू इंगलैण्ड और नोवास्कोसिया के बीच केबट जल-सन्धि में भूकम्प के तीव्र आघात लगे थे। इस प्रकार सन् 1935 मे हेलेना व मोण्टाना के निकट भूकम्प के प्रचण्ड धक्के अनुभव किये गये थे। कठोर चट्टानो से बने हुए विश्व के अति प्राचीन भू-भाग भूकम्पों से प्राय अप्रभावित रहते है। भारत मे दक्षिण का पठार, ब्राजील का पठार, कनाडा एवं उत्तरी रूस आदि ऐसे ही क्षेत्र है। ये सब प्राचीन गोंडवाना भूमि, अगारा भूमि और लारेंशिया भूमि के अंश हैं। इन क्षेत्रो का सन्तुलन स्थिर हो चुका है। फिर पृथ्वी का कोई भी भाग पूर्णरूप से भूकम्प से अप्रभावित नही कहा जा सकता।[1]

संसार के कुछ प्रमुख भूकम्पों का विवरण

(1) **लिस्बन भूकम्प**—लिस्बन नगर में सन् 1755 में एक महाप्रचण्ड भूकम्प आया, जिसने 6 मिनट के अल्पकाल मे उस महानगरी को मटिया-मेट कर डाला था। 60,000 मनुष्यों से भी अधिक इस भूकम्प की भेट चढ़ गये। नगर के पास की पर्वत-शृखलाओं के शिखर खण्ड-खण्ड होकर नीचे घाटियों मे ढुलक पड़े और पर्वत-शृंखलाएँ चौडी-चौड़ी दरारों से भर गयी। भूकम्प से आतकित सहस्रों नर-नारियों ने समुद्रतट पर सगमरमर के बने एक चौड़े घाट पर शरण ली, परन्तु दुर्भाग्य ने उनका पीछा वहाँ भी न छोड़ा। क्षण भर में सहस्रों लोगों को लिये हुए यह विशाल घाट जल मे इस प्रकार विलुप्त हो गया कि एक भी शव तैरता हुआ दिखाई न दिया। समस्त यूरोप से चार गुने अधिक विस्तार के क्षेत्रफल में इस भूकम्प का प्रबल धक्का लगा।

लिस्बन के निकट भूकम्प-काल मे, सागर में एक विशेष खलबली मची और फलतः एक अति वेगवती दैत्याकार तरंग उठकर भूकम्प के कुछ क्षण उपरान्त ही 20 गज ऊँची पानी की भित्ति के रूप में तट से भीषण रूप से टकरायी। दैत्याकार तरंग के वेग मे पडे सैकड़ों जलयान, नौकाएँ और बजरे भूमि पर ला पटके गये। जब यह तरंग लौटने लगी तब वह अगणित नर-नारियों को अपने साथ बहा ले गयी। केवल लिस्बन नगर मे ही नहीं, इस प्रकार की तरंगो का उत्पात ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड और पश्चिमी द्वीपसमूह के तटो पर भी भीषण रूप से हुआ। आयरलैण्ड के किंसेल नामक स्थान पर सागर का जल बन्दरगाह मे इस वेग से बढ़ा कि घाट को पार करके शहर के भीतर हाट तक फैल गया। अनेक जलयानो, नौकाओं और बजरों को क्षति पहुँची। पश्चिमी द्वीपों के तट पर साधारणतः ज्वार के वेग के कारण 2 फुट ऊँची तरंग आती है। परन्तु इस भूकम्प के धक्के से सहसा 20 फुट ऊँची ज्वार-तरंग भयंकर काले दैत्य के रूप में तट पर चढ़ आयी। इस भूकम्प के प्रभाव से अमरीका की झीलों तक में ज्वार उत्पन्न हुआ।

(2) **कालाब्रियन भूकम्प**—इटली के कालाब्रियन प्रायद्वीप मे फरवरी 1883 से दिसम्बर 1886 तक भूकम्प के कई आघात लगे। सिसली टापू के मेस्सीना नगर मे इन भूकम्पों का विशेष प्रभाव हुआ। कहा जाता है कि भूकम्प के प्रथम आघात से ही 2 मिनट के समय में कालाब्रिया

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 86

अल्ट्रा में एपिनाइन्स के पश्चिमी पार्श्व से लेकर मेस्सीना नगर तक जितने भी गाँव, कस्बे और नगर थे सब मटिया-मेट हो गये। बड़ी-बड़ी सभी अट्टालिकाएँ धूल-धूसरित हो गयी और भूमि विचित्र रूप से ऊँची-नीची हो गयी। इसके 6 सप्ताह उपरान्त ही एक दूसरा भूकम्प आया और उसके प्रभाव से कालाब्रिया की ग्रेनाइट पाषाण-श्रेणियो में नौ-दस मील लम्बा एक गर्त उत्पन्न हो गया। जल की भाँति ही धरातल भी लहराता दिखाई देता था। राजमार्ग में बिछे पाषाण-खण्ड उलट-पुलट हो गये। कुछ इमारतों के आधे भाग धँस गये थे और आधे ज्यों के त्यों लटके रह गये थे। स्थान-स्थान पर रन्ध्र तो केवल क्षण-भर के लिए खुले और मकानो, पशुओं तथा मनुष्यों को हड़प-कर फिर तुरन्त बन्द हो गये। मानो किसी दानव ने भक्षण के लिए मुँह खोलकर फिर बन्द कर लिया हो। इससे भी विचित्र दृश्यो का अभाव न था। एक-दो स्थानो पर होने वाले रन्ध्रों में समा गये मनुष्य क्षण भर मे फिर बाहर फेंक दिये गये और सो भी एकदम अक्षतावस्था मे। एक गज व्यास के अगणित छोटे गर्तो की स्थान-स्थान पर रचना हो गयी जिनसे बालू, जल और कीचड़ उफनता था। नदियो के मार्ग अवरुद्ध हो जाने से स्थान-स्थान पर झीलो और सरोवर की रचना हो गयी, जिनकी संख्या लगभग 215 थी। इनमे से एक झील का विस्तार तो दो मील लम्बी और एक मील चौड़ी भूमि मे था। एक स्थान पर जैतून के वृक्षों की एक सम्पूर्ण वाटिका सैकड़ो फुट नीची घाटी में खिसक गयी। फिर भी अगले वर्ष इन वृक्षो पर अच्छी फसल निकली। एक समूचा घर गृहवासियो सहित 200 फुट नीचे खन्दक में चला गया और आश्चर्य की बात यह भी कि किसी पर तनिक भी आँच न आयी—न घर को और न मनुष्यो को। इसी प्रकार पोलिस्टना नगर का अधिकांश भाग नदी पार आधा मील दूर खिसक गया। पीछे भग्नावशेष खोजने पर उसमें अनेक नगर-निवासी जीवित पाये गये। भूमि का रूप इस प्रकार उलट-पुलट हो गया कि वहाँ की सरकार को लोगो की जमीन-जायदाद की सीमा निर्धारित करने के लिए 10 लाख एकड़ भूमि की नये सिरे से पैमाइश करानी पड़ी थी।

(3) **चिली का भूकम्प**—सन् 1822 में भूकम्प के आघात से चिली प्रदेश की समुद्रतट की जलमग्न भूमि स्थायी रूप से ऊँची हो गयी। 1,00,000 वर्गमील भूमि सागर से निकलकर स्थल में सम्मिलित हो गयी। सुप्रसिद्ध भूतत्त्ववेत्ता **लियल** ने इस भू-खण्ड का आयतन 57 घन मील आँका था, अर्थात 'महान पिरामिड' से 1,00,000 गुना अधिक।

(4) **मिसीसिपी घाटी का भूकम्प**—मिसीसिपी नदी की घाटी में 1811-12 ई० में अनेक बार प्रबल भूकम्पों के आघात हुए। उन दिनों यदि उस स्थल की जनसख्या आजकल-सी घनी होती तो जन-हानि का वारापार न होता। भूकम्प के आघातों से धरती मे इतनी अधिक रन्ध्रें उत्पन्न होती थीं कि लोग वृक्ष काट-काटकर धरती पर बिछा देते थे जिससे दरारो को पार करने मे वृक्षो के तने पुल का काम दें।

(5) **कैलिफोर्निया का भूकम्प**—यह भूकम्प 18 अप्रैल, 1906 को कैलिफोर्निया और उसके समीपवर्ती भागों मे आया था। यह विवर्तनिक भूकम्प का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी तट के सहारे दक्षिण से उत्तर-पश्चिम दिशा को लगभग 400 मील लम्बा एक विशाल सैन एण्ड्रियाज भ्रंश फैला हुआ है। इस भ्रंशन के सहारे अप्रैल 1906 में आकस्मिक रूप से क्षैतिज गति प्रारम्भ हुई, उसी से यह भूकम्प उत्पन्न हुआ। इस भूकम्प का कोई एक केन्द्र नहीं था, बल्कि इसका केन्द्र भ्रंशन के सहारे 190 मील की लम्बाई में एक रेखा के रूप मे वर्तमान था। इसकी गहराई लगभग 3 मील थी। इस भूकम्प के समय भ्रंश रेखा के सहारे एक भू-खण्ड 8 फुट से 20 फुट तक उत्तर-पूर्व को खिसक गया। साथ ही एक भू-खण्ड 4 फुट अधिक ऊँचा हो गया। यद्यपि इस भूकम्प का झटका एक मिनट भी नही रहा फिर भी सैनफ्रांसिस्को नगर और कैलिफोर्निया के तटवर्ती भागों मे इससे भारी विनाश हुआ। भूकम्प के धक्कों के बाद

सैनफ्रांसिस्को नगर में आग लग गयी। चूँकि भूमि में दरारें पड़ जाने से सड़कें, बिजली के तार, पानी के नल आदि सभी कट गये थे, इसलिए आग को बुझाने के लिए जल प्राप्त नहीं हो सका और एक-चौथाई सैनफ्रांसिस्को नगर जलकर भस्म हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका के इतिहास का यह सबसे विनाशक भूकम्प था।
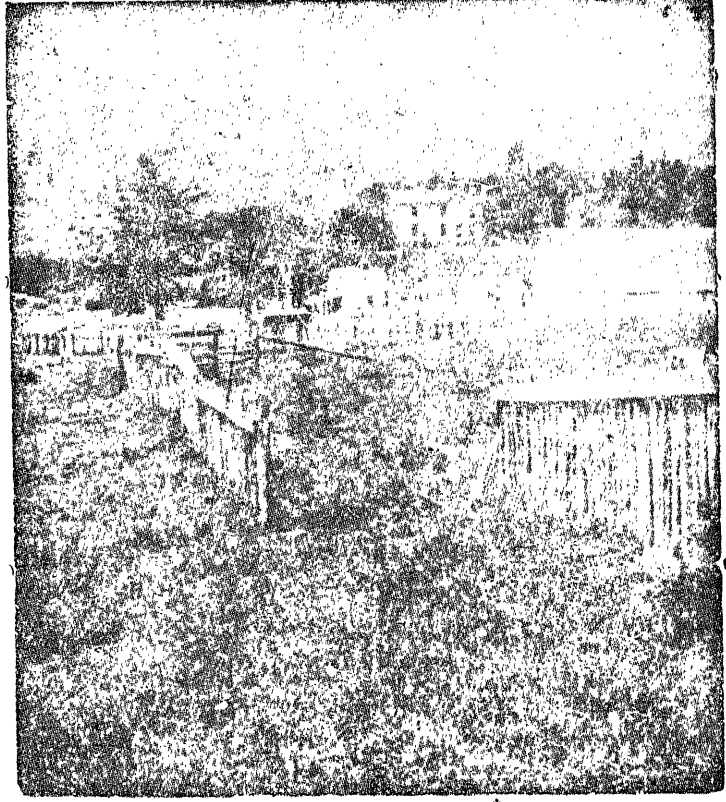
चित्र 406—भूकम्प के कारण क्षैतिज विस्थापन

(6) **टोकियो भूकम्प**—यह भूकम्प जापान की राजधानी टोकियो में 1 सितम्बर, 1923 को आया था। यह आधुनिक समय का सर्वाधिक भयंकर और महाविनाशक भूकम्प था। इस भूकम्प की उत्पत्ति सगामी खाड़ी के निकट 1800 फुट लम्बी एक विशाल दरार पड़ जाने के कारण हुई थी। इस प्रचण्ड भू-गर्भिक हलचल के कारण खाड़ी के सिरे की ओर का भाग ऊपर उठ गया। इस भूकम्प का सबसे बड़ा धक्का 1 सितम्बर को लगा जो कुछ ही सैकिण्ड ठहरा था किन्तु इस अल्प अवधि में ही इसने 1,40,000 लोगों को मौत के मुँह में पहुँचा दिया। इस भूकम्प के बाद धक्कों का क्रम चार दिनों तक बराबर लगा रहा। चार दिनों में कोई 936 धक्कों का अभिलेख किया गया था। भूकम्प के इन धक्कों से टोकियो नगर में जो आग फैली उसने रही सही कमी पूरी कर दी। समस्त नगर धू-धू करके आग की लपटों में जलने लगा जिससे मकान, खेत, कारखाने आदि सभी जलकर भस्म हो गये। अनुमान है कि इस भूकम्प से $2\frac{1}{2}$ बिलियन डालर की हानि हुई थी।[1]

---

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 86

भारत के भूकम्प क्षेत्र
(Earthquake Zones of India)

भू-तात्त्विक दृष्टि से भारत के सभी भाग एकसमान नही हैं। कुछ भाग अति प्राचीन और स्थिर अवस्था मे है जबकि कुछ भाग नवीन और अस्थिर दशा मे है। अत भारत के कई भागो में जब-तब भूकम्प का अनुभव किया जाता है। अनुमान है कि प्रति 9 वर्षो में एक बड़ा भूकम्प आ जाता है। यों छोटे-छोटे हल्के भूकम्प तो कई बार आ जाते है।

भारत के भूकम्प क्षेत्रो का देश के प्रमुख प्राकृतिक भागो से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रचना के अनुसार भारत के मुख्य प्राकृतिक भागो के आधार पर देश को तीन भूकम्प क्षेत्रो मे बाँटा जा सकता है :

(1) हिमालय प्रदेश (The Himalayan Region),
(2) उत्तरी मैदान (The Great Northern Plain),
(3) दक्षिण का पठार (The Deccan Plateaus)।

(1) **हिमालय प्रदेशीय भूकम्प क्षेत्र**—भू-रचना की दृष्टि से यह हमारे देश का एक नवीन भाग है। यह अभी भी अपनी निर्माण की अवस्था मे है। अत भू-सन्तुलन की दृष्टि से यह एक अस्थिर क्षेत्र है। दूसरे शब्दो मे यह बडा ही हलचल वाला क्षेत्र है, इस कारण इस क्षेत्र मे सबसे अधिक भूकम्प आया करते हैं। भूकम्पों से विशेष प्रभावित होने से इस क्षेत्र को zone of maximum intensity कहा गया है। इस क्षेत्र मे कई बार घातक भूकम्पों—कश्मीर (1885), काँगड़ा (1905), मुँगेर (1934), धुबरी (1930) तथा क्वेटा (1935)—का अनुभव किया जा चुका है।
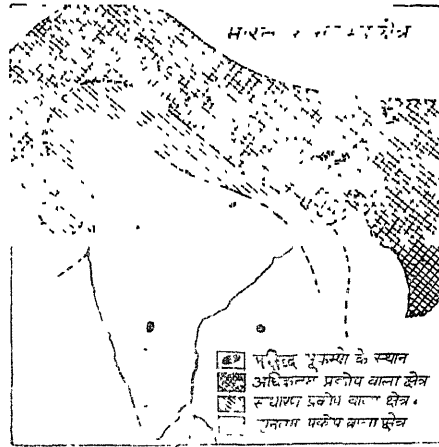
चित्र 407—भारत के भूकम्प क्षेत्र

(2) **उत्तरी मैदान का भूकम्प क्षेत्र**—यह क्षेत्र हिमालय के दक्षिण मे सिन्धु, गगा और ब्रह्मपुत्र नदियो का मैदान है। यह उत्तरी पर्वतीय क्षेत्र के निकट स्थित है। इसलिए यहाँ अधिकांशत. संवेदात्मक भूकम्प आते हैं। इस मैदान की रचना असगठित जलोढ़क मिट्टी से हुई है। हिमालय के निर्माण के समय सम्पीडन के फलस्वरूप इस मैदान मे कई दरारे वन गयीं। अत: भू-गर्भिक हलचलों से यह प्रदेश शीघ्र कम्पित हो जाता है। हिमालय पर्वत के किनारे जो भूकम्प उत्पन्न होते है उनकी लहरों से मैदानी क्षेत्र प्राय: हिल उठता है। भारत के भू-गर्भशास्त्रियो के अनुसार इस भाग में एक तो तलछट की पुन: व्यवस्था के कारण और दूसरे भू-स्खलन के द्वारा भूकम्प आया करते है। सामान्यत इस क्षेत्र मे आने वाले भूकम्प कम प्रभावशाली होते है। इसी से इस क्षेत्र को सामान्य प्रभाव का क्षेत्र (zone of comparative intensity) कहा जाता है। इस क्षेत्र के भूकम्पों में दिल्ली (1720), कलकत्ता (1737), असम (1897), बगाल (1885), उत्तरी बिहार (1934), कच्छ (1819) और दिल्ली (1956) विशेष उल्लेखनीय है।

(3) **दक्षिण के पठार का भूकम्प क्षेत्र**—यह भारत का सबसे प्राचीन और कठोर स्थल-खण्ड है। भू-सन्तुलन की दृष्टि से यह एक **स्थिर भाग है**। इसलिए इस क्षेत्र में बहुत ही कम भूकम्प आते है। भूकम्पों की दृष्टि से यह **न्यूनतम प्रभाव का क्षेत्र** (zone of minimum intensity)

है। इस क्षेत्र में कदाचित जो भूकम्प आते है वे बहुत ही सामान्य होते है। यहाँ प्राय: संवेदनात्मक भूकम्प ही आते है। किन्तु कोयना भूकम्प ने एक प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर दिया है।

भारत में भूकम्पों का प्रादेशिक वितरण निम्न प्रकार है :

(1) उत्तरी-पूर्वी भारत (सिक्किम व नेपाल सहित) 31
(2) दक्षिणी भारत 2
(3) उत्तरी-पश्चिमी भारत (चित्राल व कश्मीर सहित) 21

भूकम्पों का उपरोक्त विवरण यह बताता है कि प्राय जितने भी विनाशकारी भूकम्प आते है वे सब उत्तरी मैदान और निकटवर्ती पहाड़ी भाग में आते है।

भारत के कुछ प्रमुख भूकम्पों का विवरण

(1) 16 **जून,** 1819 **का भूकम्प**—यह भूकम्प कच्छ मे आया था। यह बहुत ही प्रचण्ड भूकम्प था। इसका झटका समस्त भारत मे अनुभव किया गया था। इस भूकम्प के कारण कच्छ में पूर्व-पश्चिम की दिशा में 80 मील लम्बी एक दरार बन गयी। इस दरार के उत्तर मे भूमि 30 फुट ऊँची हो गयी और दक्षिण के भाग जलमग्न हो गये। उत्तरी भाग के ऊँचे उठ जाने से सिन्धु नदी की एक शाखा का मार्ग अवरुद्ध हो गया, जिससे एक बाँध बन गया। इस बाँध को **अल्लाह बांध** (Dam of Allah) कहते हैं। दक्षिणी भाग के नीचे बैठ जाने से सिद्री का नगर और बन्दरगाह जलमग्न हो गया। कच्छ प्रायद्वीप पर कुछ काल के लिए बाढ आ गयी। इस भूकम्प से अहमदाबाद, भड़ौच, सूरत, पूना और भुज आदि नगरों को भारी क्षति पहुँची। भुज नगर तो पूरी तरह नष्ट हो गया और 2000 व्यक्ति मर गये। अहमदाबाद में 15वीं शताब्दी की प्रसिद्ध सुल्ताना मस्जिद धराशायी हो गयी। अन्य नगरों में भी इसी तरह काफी नुकसान हुआ।

(2) 26 **अगस्त,** 1833 **का भूकम्प**—यह भूकम्प बिहार में आया था। इसका विशेष प्रभाव उत्तरी बिहार पर पड़ा। नेपाल की राजधानी काठमांडू भी इससे प्रभावित हुए बिना न रही। काठमांडू मे लगभग 100 घर गिर पडे। उत्तरी बिहार के नगरों को भी इससे काफी क्षति हुई थी।

(3) 19 **फरवरी,** 1842 **का भूकम्प**—यह उत्तरी-पश्चिमी भारत में आया था। इसका केन्द्र जलालाबाद मे था। इसलिए जलालाबाद और पेशावर नगरो को इससे हानि उठानी पड़ी। इसका प्रभाव काबुल से दिल्ली तक के क्षेत्र पर पड़ा था।

(4) 10 **जनवरी,** 1860 **का भूकम्प**—यह असम के कछार क्षेत्र मे आया था। इस भूकम्प का केन्द्र शिलांग के पठार के उत्तर-पूर्व में था। इसका प्रभाव 2,50,000 वर्गमील क्षेत्र पर पड़ा। इससे भूमि में अनेक दरारे पड़ गयीं।

(5) 30 **मई,** 1885 **का भूकम्प**—इस भूकम्प का केन्द्र **श्रीनगर** के कुछ मील दूर पश्चिम की ओर था। इसका प्रभाव 1,10,000 वर्गमील क्षेत्र पर पड़ा। समस्त कश्मीर की घाटी इससे प्रभावित हुई। लगभग 3000 व्यक्ति इस भूकम्प से मारे गये।

(6) 20 **दिसम्बर,** 1892 **का भूकम्प**—यह एक विशाल भूकम्प था जो बलोचिस्तान में आया था। इसका प्रमुख कारण खोजक पर्वत के पश्चिमी ढाल के निकट एक लम्बी दरार का फट जाना माना गया। इससे रेलमार्ग बिलकुल मुड गया है। रेलमार्ग के पश्चिम की भूमि लगभग 1 फुट नीची हो गयी और पूर्व की ओर $2\frac{1}{2}$ फुट आगे खिसक गयी।

(7) 12 **जून,** 1897 **का असम का भूकम्प**—यह ऐतिहासिक काल में आये भूकम्पों में बहुत ही भीषण था। इसका प्रभाव 17,50,000 वर्गमील से भी अधिक क्षेत्र पर पड़ा। इसका प्रमुख केन्द्र शिलांग के निकट था। यह केवल $2\frac{1}{2}$ मिनट तक रहा, किन्तु इसने महाप्रलय उपस्थित कर दिया। इससे शिलांग, गौहाटी, नवगाँव, गोलपारा व सिलहट आदि नगरों मे भारी उत्पात

हुआ व मकान गिर पड़े तथा हजारो व्यक्ति बे-घरबार हो गये । कलकत्ता मे भी कई मकान गिर गये थे । असम में यातायात के सभी साधन नष्ट-भ्रष्ट हो गये । पहाडियों से सहस्रों पाषाण घाटियों में लुढ़क पड़े । कई स्थानों पर लम्बी-चौड़ी दरार पड गयीं, जिनसे जल और बालू की अपार राशि उफन-उफन कर बाहर निकलने लगी थी । भूमि पर ऐसे-ऐसे विचित्र ऊँचे-नीचे आकार बन गये थे जिन्हें देखकर यह विश्वास करना कठिन होता था कि सूक्ष्म अवधि मे इतना महान परिवर्तन कैसे हो सकता है । इस भूकम्प के काफी समय बाद तक हल्के-हल्के धक्के बराबर आते रहे ।

(8) 4 **अप्रैल**, 1905 **का कांगड़ा का भूकम्प**—यह एक बहुत ही विनाशक भूकम्प था जो कॉगड़ा घाटी में 4 अप्रैल को आया था । इसका प्रभाव 16 लाख वर्गमील क्षेत्र मे हुआ । इसकी उत्पत्ति हिमालय के विपरीत दरारो में काफी गहराई पर गतिशीलता होने के कारण हुई थी । यह भूकम्प सूर्योदय के पूर्व आया था, इसलिए 20 हजार व्यक्ति सोते के सोते ही रह गये । काँगड़ा, धर्मशाला एव समीपवर्ती सभी गाँव इस भूकम्प से नष्ट हो गये ।

(9) **जनवरी**, 1934 **का विहार का भूकम्प**—यह भारतीय इतिहास के अत्यन्त भयानक भूकम्पों मे से एक था । इसका प्रभाव नेपाल तथा उत्तरी बिहार के कोई 19 लाख वर्गमील क्षेत्र मे हुआ था । इसकी उत्पत्ति मैदान के नीचे बनी दरारो के सहारे गतिशीलता उत्पन्न होने से हुई । प्रमुख केन्द्र एक मील लम्बी दरार थी जो मोतीहारी से सीतामढी होती हुई मधुबनी तक फैली हुई थी । इस भूकम्प से बिहार के मुँगेर, सीतामढी, पटना, मुजफ्फरपुर और मधुबनी नगरों को भारी क्षति पहुँची । पश्चिम बगाल मे दार्जिलिग नगर और नेपाल के कई नगरों मे भी इससे धन-जन की काफी क्षति हुई । इस भूकम्प मे 10,000 व्यक्तियों को अपने प्राण गँवाने पड़े ।

(10) 31 **मई**, 1935 **का क्वेटा का भूकम्प**—यह एक छिछला भूकम्प था, जिसका केन्द्र 68 मील लम्बी एक सँकरी पट्टी पर स्थित था जो क्वेटा से मास्तुग तक फैली हुई थी। यद्यपि इसका प्रभाव 1,00,000 वर्गमील क्षेत्र पर पड़ा किन्तु इसकी प्रचण्डता केन्द्र के निकट ही रही । क्वेटा नगर बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट हो गया । कोई 25,000 व्यक्तियो की क्वेटा में आहुति लग गयी ।

(11) 15 **अगस्त**, 1950 **का असम का भूकम्प**—भारत में आने वाले भूकम्पों मे यह वर्तमान समय का सबसे असाधारण भूकम्प था । इसकी उत्पत्ति तिब्बत और चीन की सीमा के निकट भू-गर्भ स्थित दरारों मे हलचल के कारण हुई थी । इसका केन्द्र 29° उत्तरी अक्षान्तर और 97° पूर्वी देशान्तर के ऊपर था । यह भूकम्प इतना उग्र था कि समस्त असम इससे हिल उठा । समस्त पूर्वी भारत मे इसके धक्को को अनुभव किया गया । यद्यपि भूकम्प के धक्के 4 से 8 मिनट तक रहे किन्तु इस स्वतन्त्रता दिवस को असम में विनाश का जो ताण्डव प्रारम्भ हुआ वह बड़ा ही हृदय-विदारक था । असम के कई भागो में भूमि फट गयी, कई स्थानों पर भूमि नीचे बैठ गयी, नदियो के मार्ग अवरुद्ध हो गये जिससे भयंकर बाढ़ें आ गयी, रेल की पटरियाँ मुड़ गयी, पुल टूट गये, सड़के नष्ट हो गयी, चाय के बगीचे उजड़ गये, कृषि-भूमि बजर हो गयी, असंख्य मकान धराशायी हो गये और लगभग 500 व्यक्ति मौत के मुँह मे चले गये । इस भूकम्प से विशेष हानि लखीमपुर, जोरहट, सिलसागढ, डिबरूगढ, मिसमी और अमर की पहाडियों में हुई ।

(12) 11 **दिसम्बर**, 1967 **का कोयना का भूकम्प**—यह पिछले 250 वर्षों मे भारत में आने वाले आठ बड़े भूकम्पों में से एक है । पूना की वेधशाला के अनुसार यह भूकम्प 4 बजकर 22 मिनट पर आया । इसका उद्गम पूना से 150 किलोमीटर की दूरी पर कोयना नगर था । इस विनाशकारी भूकम्प की गूँज, गड़गड़ाहट और झटके लगभग 45 सैकण्ड तक अनुभव किये जाते रहे । अगले दिन भी सौ झटके आये । इस भूकम्प की प्रचण्डता इससे प्रकट है कि पूना वेधशाला के सर्वोत्तम भूकम्प-लेखी ने रिचटर स्केल पर 10 में से 7·5 चिह्न तक कांतिमान (magnitude) चिह्नित किये जो 4 बजकर 24 मिनट के आसपास इस क्षेत्र मे उत्पन्न हुए ।

इस भूकम्प ने समूचे दक्षिण-पश्चिम भारत को हिला डाला। इस विनाशकारी भूकम्प से कोयना नगर के 80 प्रतिशत मकान ढह गये, 200 व्यक्ति मर गये, 2000 से अधिक घायल हुए और 12,000 से अधिक लोग बे-घरबार हो गये। इस भूकम्प के तीव्र झटको ने पूना, बम्बई, सूरत, पणजी, गोआ, हैदराबाद, उज्जैन, बगलौर, धारवाड़, मगलौर व बेलारी आदि नगरों को भी हिला डाला और उन्हें क्षति पहुँचायी।[1]

इस भूकम्प ने भारत के समस्त वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। यह भूकम्प भारत के ऐसे क्षेत्र में आया जो भूकम्प से अप्रभावित क्षेत्र माना जाता है। दक्षिण का पठार संरचना की दृष्टि से कठोर एव दृढ चट्टानों से बना हुआ है और बहुत ही सन्तुलित अवस्था में समझा जाता है। इस पठारी भाग पर ऐसा प्रचण्ड भूकम्प अब तक कभी नही आया। इसलिए वैज्ञानिकों के लिए इसने एक प्रश्न उपस्थित कर दिया है। भारत सरकार ने इसके कारणों की जाँच के लिए एक वैज्ञानिक दल नियुक्त किया है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार कोयना झील मे पानी के भार से सन्तुलन बिगड़ गया, इसी से यह भूकम्प आया है। किन्तु अधिकांश वैज्ञानिकों ने इस कारण को अस्वीकार किया है। हैदराबाद के प्रसिद्ध भू-गर्भशास्त्री डा० हरिनारायण और डा० एम० एस० कृष्णन् के अनुसार पृथ्वी-तल के नीचे और ऊपर होने वाली उथल-पुथल से ही यह भूकम्प उत्पन्न हुआ।

भूकम्प का स्थलाकृति पर प्रभाव
(The Effects of Earthquakes on Topography)

यद्यपि भूकम्पो का स्थलाकृति पर अपेक्षाकृत कम प्रभाव होता है, फिर भी अनेक छोटे प्रभावों को स्पष्ट देखा जा सकता है। भूकम्प से प्रायः भू-स्खलन होता है। भूमि की ऊपरी मिट्टी में दरारें पड़ जाती है और वे ढह जाती है। छोटे ज्वालामुखी क्रेटर की भाँति भूमि पर छोटे वृत्ताकार गड्ढे बन जाते हैं। भूकम्प को जन्म देने वाले भ्रशनों के समान्तर या आड़े रूप मे असम्मिलित तिरकनें (cracks) बन जाती है। ये सब भू-आकार यद्यपि अपने आप मे स्थलाकृति के कोई विशेष महत्त्वपूर्ण रूप नही है, किन्तु ये बाद मे होने वाले अपरदन मे बहुत योग देते है। भूमि के नीचे धँसने अथवा ऊपर उठने एव भूमि मे दरारें पड़ने से कई बार अपवाह व्यवस्था (drainage system) अस्त-व्यस्त हो जाती है। भूकम्प से होने वाले भू-स्खलन से नदियों के मार्ग अवरुद्ध हो जाते है और वह झील में बदल जाती है। कई बार भूमि के अन्दर चट्टानों की उथल-पुथल से स्थल पर नवीन झरने फूट पडते है।

भूकम्प क्षेत्रों में मानव-निर्मित इमारतें—भूकम्प क्षेत्रो के अपने पिछले अनुभवों के आधार पर इंजीनियरों तथा स्थापत्यकलाविदों ने विशाल भवन-निर्माण के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अतः अब ऐसी पद्धतियाँ निकाल ली गयी है जिससे मकान भूकम्प के धक्कों को सहन कर सके। कई पूर्वी देशो में भूकम्प के धक्को से बचने के लिए हल्के बाँस के मकान बनाते हैं। किन्तु भीषण भूकम्प के समय वे मकान ठहर नही सकते। उनका निश्चित विनाश होता है। इसी भाँति हल्की ईंटों और सस्ते चूने द्वारा लापरवाही से बनाये गये मकानो के गिर पड़ने की सम्भावना रहती है। किन्तु भली प्रकार से बने हुए लकड़ी के मकान भूकम्प को अच्छी तरह सहन कर लेते हैं। सीमेण्ट, कंकरीट तथा इस्पात के ढाँचों पर बनाये गये मकान प्रायः भूकम्प के तीव्र झटकों को भी सहन कर जाते हैं। यदि सम्भव हो तो बड़ी-बड़ी इमारतों को ठोस चट्टानी आधार पर खडा किया जाना चाहिए। यदि कहीं मकानों का निर्माण बालू अथवा कमजोर चट्टानों के क्षेत्रों में करना आवश्यक हो तो उनकी नींव काफी गहरी ली जानी चाहिए और नींव को सीमेण्ट,

---

[1] शशि चौधरी : **हिन्दुस्तान**, 15 दिसम्बर, 1967

कंकरीट से भरा जाना चाहिए। भूकम्प-निरोधक भवनों की रचना में सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसका लचीलापन है, ताकि वह भूकम्प के धक्कों को सरलता से झेल सके। भूकम्प क्षेत्रों में बनाये जाने वाले न केवल भवनों बल्कि बाँधों, पुलों, वाटर-पाइप, गन्दे पानी के नाले आदि सभी निर्माणों के ऊपर कुशल इंजीनियर सदैव उपरोक्त बातों का ध्यान रखते हैं।

भूकम्पों का मानव-जीवन पर प्रभाव—पृथ्वी को हम जन्म से ही स्थावर समझते आये हैं और उसकी अचलता का हमें पूरा-पूरा विश्वास होता है। पर जब वही अचल और स्थावर पृथ्वी जोरों से हिलने लगती है तब हमारा सारा ज्ञान और अनुभव क्षण भर में दूर हो जाता है। जब कोई अज्ञात शक्ति अनायास ही पृथ्वी को झकझोर देती है और अपना विनाशकारी कार्य आरम्भ कर देती है तो लोगों के होश-हवास गुम हो जाते हैं, यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी बुरी तरह घबरा जाते है। कैरेकेस नगर के भीषण भूकम्प के उपरान्त बहुत से लोग पागल हो गये थे। अल्जीरिया के सन् 1856 वाले भूकम्प के समय बहुत-से वाचाल मनुष्य गूँगे हो गये थे और ब्रोसा के सन् 1855 वाले भूकम्प के समय बहुत-से लोगों का गठिया रोग स्वयं और अचानक अच्छा हो गया था। साधारणतः सभी पशु भूकम्प के समय एक-दूसरे के साथ सटकर काँपने लगते है और कुत्ते जोर-जोर से भौकने लगते है। एक बार एक भूकम्प के उपरान्त कोयल तथा दूसरे गाने वाले पक्षियों के मुँह से एक सप्ताह तक एक भी शब्द नही निकला।

भूकम्प के कारण जितने थोड़े समय मे जितनी अधिक प्राण-हानि होती है उतने थोड़े समय में उतनी अधिक प्राण-हानि और किसी उपद्रव या दैवी प्रकोप के कारण नही होती। अर्जेण्टाइना की राजधानी मेंडोजा के सारे मकान एक मिनट में गिरकर ढेर हो गये थे, जिनके नीचे 16,000 आदमी दब कर मरे। सन् 1783 मे भूकम्प के कारण कैलेब्रिया में तीन सौ नगर और गाँव ढह गये थे। सन् 1505 में एक भूकम्प के कारण प्रायः सारा काबुल नष्ट हो गया था। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि मानव इतिहास के आरम्भ से लगाकर अब तक लगभग 150 लाख मनुष्य भूकम्पो के द्वारा हताहत होकर काल-कवलित हो गये है।[1]

जिस समय भूकम्प आता है उस समय कही-कही पृथ्वी फट जाती है और उसमें दरारें पड़ जाती है। प्रायः सभी बड़े-बड़े भूकम्पो के समय पृथ्वी में बड़ी-बड़ी दरारें हो जाती है। ये दरारें कभी-कभी बहुत ही घातक होती है और उनके कारण मकानों तथा मनुष्यों आदि की बहुत हानि होती है। कभी-कभी भूकम्प के कारण पृथ्वी मे से जहरीली गैसे और आग की लपटे भी निकलती हुई देखी जाती है।

जिन प्रदेशों में भूकम्प आता है उस प्रदेश की नदियों, सोतों, झीलो तथा जलाशयों में भी बड़ा ही विलक्षण परिवर्तन और क्षोभ होता है। भारी भूकम्प के समय जल में कभी-कभी लहरे उत्पन्न होती है और उनका पानी या तो बहुत बढ जाता है या बहुत घट जाता है। पृथ्वी में सदा ही बहुत निश्चित भाग में बहुत ही शक्तिशाली नि.शब्द कम्प होता है। यह कम्प ठीक समुद्र की तरंगो के समान होता है। किन्तु ये तरंगे बहुत ही मन्द और गति इतनी नपी हुई और निश्चित होती है कि कई पीढियों तक लोगों को उनका तथा उनके परिणाम का पता भी नहीं लगता। ये शक्तिशाली तरगे पहाड़ों को नीचा कर देती हैं और समुद्र के तल को ऊँचा उठा देती है। लेकिन उनका यह सारा काम इतने अधिक समय मे और इतना धीरे-धीरे होता है कि साधारणतः उससे किसी को तनिक भी हानि नही होती। पृथ्वी ठीक उसी प्रकार उठती और धँसती रहती है जिस प्रकार किसी लेटे हुए व्यक्ति के साँस लेने के समय उसकी छाती ऊपर-नीचे हिलती रहती है। सन् 1755 मे लिस्बन में एक भीषण भूकम्प आया था। कहते है कि संसार का कोई

1 G. Fletcher : *Earth Science*, p. 228

ऐसा भाग या अंश नही बचा जो इस भीषण भूकम्प के समय कुछ न कुछ हिला न हो, तथापि पूर्णरूप से यह भूकम्प सब मिलाकर 3300 मील लम्बे और 2000 मील चौड़े प्रदेश मे अर्थात् सारी पृथ्वी के ग्यारहवे भाग मे ही आया था। इस भूकम्प ने केवल सारे यूरोप को ही अच्छी तरह नही हिला डाला था बल्कि अमरीका और अफ्रीका के बहुत बड़े भाग को भी प्रभावित किया था। सारे यूरोप के अनेक नगरों के मकान भी गिर पड़े थे और नदियों मे बडी-बडी लहरे उठने लगी थी। स्विट्जरलैण्ड में एक पहाडी पर एक सोता निकल आया था। प्रसिद्ध ज्वालामुखी विसूवियस जो उस समय आग उगल रहा था, शान्त हो गया और उसके अन्दर होने वाली भीषण गरज भी बन्द हो गयी। अनेक स्थानों पर समुद्र का पानी 8-10 फुट बढ गया। उसी समय मोरक्को की राजधानी के पास में रेगी स्थान के बीच मे 10,000 व्यक्तियों की एक बस्ती पूरी की पूरी जमीन में समा गयी। ये सब उपद्रव और अनर्थ एक ही भूकम्प के कारण हुए थे।

हमारे देश में भी समय-समय पर भूकम्प के भारी आघात होते रहे है। इन आघातो के कारण देश मे अवर्णनीय क्षति हुई है। सन् 1905 मे काँगड़ा मे जो भूकम्प आया उससे लगभग 2,00,000 व्यक्ति काल-कवलित हो गये। काँगड़ा के आस-पास के गाँव पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट हो गये। 15 जनवरी, 1934 में उत्तरी बिहार मे भयंकर भूकम्प आया जिसका प्रभाव 19,00,000 मील तक हुआ। इस भूकम्प के द्वारा 10,000 व्यक्ति हताहत हो गये तथा लाखो बे-घरबार हो गये थे। साथ ही लाखो जानवर तथा इमारते नष्ट हो गयी। अभी 15 अगस्त, 1960 को असम के डिबरूगढ़ जिले मे जो भूकम्प आया उसके कारण हुई क्षति का अनुमान ही लोगो के दिलो को दहला देता है।

भूकम्प के उपरोक्त कार्यो को देखकर यह अनुमान लगा लेना गलत होगा कि उसका प्रभाव एकदम विनाशकारी होता है। भूकम्प से जहाँ विनाश होता है वहाँ निर्माण भी होता है। भूकम्प के आघातो द्वारा पृथ्वी पर कई बार पर्वतो, पठारो, झीलो तथा कई द्वीपो का निर्माण हो जाता है। भू-तल पर इन विभिन्न रूपों का मानव-जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये मानव-जीवन को उपयोगी और सार्थक बनाने तथा पूर्णरूप से वातावरण के साथ योगायोग साधन मे अभूतपूर्व सहयोग देते हैं। इसके विपरीत भूकम्प के द्वारा जब पृथ्वी मे उद्वेग होता हे तो पृथ्वी तल मे छिपी हुई कई प्रकार की धातुएँ तथा उनसे युक्त चट्टानें धरातल के समीप आ जाती हैं। ये ही बाद में सुगमतापूर्वक खोदी जाकर उपयोग मे लायी जाती है। बड़े-बड़े भूकम्पो के साथ कभी-कभी बड़े वेग से लावा बहने लगता है। यद्यपि प्रारम्भ मे लावा का बहाव बड़ा हानिकारक सिद्ध होता है, परन्तु बाद में वही लावा उपजाऊ मिट्टी को जन्म देता है। दक्षिणी भारत में पायी जाने वाली काली मिट्टी का जन्म प्राचीन समय में इसी प्रकार हुआ था। भूकम्प के द्वारा पृथ्वी सदा कहीं उभरती और कही नीची दिखाई देती है। इस क्रिया के द्वारा पृथ्वी का धरातल कभी भी सम नही रहता। इस प्रकार कहीं पहाड़ उभर आते है तो कहीं खाड़ियों और झीलों का निर्माण हो जाता है। पहाड़ आदि वाष्प-युक्त पवनों को रोककर वर्षा होने में योग देते हैं और झीलें तथा खाड़ियाँ मछली मारने तथा नावें चलाने के उपयोग में आती हैं। मछली उद्योग तथा जहाजरानी का आज के आर्थिक ढाँचे मे क्या स्थान है, यह हम सब भली प्रकार जानते हैं।

इस प्रकार भूकम्प का अध्ययन जहाँ हमें मानव प्रयत्नों की निस्सारता और जीवन की क्षण-भंगुरता का पाठ पढ़ाता है वहाँ यह मनुष्य के चारों ओर फैले प्राकृतिक वातावरण मे नित्य नवीन परिवर्तन कर भूगोल के अध्ययन को चिर-नूतनता प्रदान करता है।

36

प्रमुख स्थल रूप—मैदान एवं पठार

(MAJOR LANDFORMS—PLAINS AND PLATEAUS)

भू-आकारों का वर्गीकरण
(Classification of Relief Features)

हम जानते है कि पृथ्वी का धरातल साधारण ग्लोब की भाँति समतल (smooth) नही है। इसके ऊपर एक ओर विशाल ऊँचे पर्वत खड़े है तो दूसरी ओर अतल गहरी द्रोणियाँ है। इस प्रकार धरातल पर बहुत बड़ी विषमता विद्यमान है। किन्तु यदि हम पृथ्वी को थोड़ी अधिक दूरी से देखे, मानलो चन्द्रमा से, तो विशाल पृथ्वी की तुलना में उसके धरातल की विषमताएँ बहुत ही छोटी दिखाई पड़ेंगी। अतः पृथ्वी के भू-आकारों के वर्गीकरण मे सन्दर्श (perspective) ही सबसे महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है।

यदि हम स्थलमण्डल के धरातल का वास्तविक रूप समझना चाहें तो हमें ऐसे स्थलमण्डल की कल्पना करनी चाहिए जो जल, हिम तथा वनस्पति-विहीन हो। ऐसी नग्न अवस्था मे स्थलमण्डल पर विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े असख्य भू-आकार दिखाई पड़ेगे। प्रथम दृष्टि में ये सब भू-आकार बिना किसी क्रम अथवा व्यवस्था के जान पड़ेंगे। किन्तु यदि हम उन सबको उनकी उत्पत्ति एवं सन्दर्भ के आधार पर समझने की चेष्टा करे तो हमें उनके वितरण मे कुछ व्यवस्था दिखाई पड़ेगी। स्पष्ट ही स्थलमण्डल के किसी विशेष भाग को भू-आकार कहने के लिए उसमे निम्न विशेषताएँ होनी चाहिए :

(1) इसका धरातल अन्य भू-आकारों से पूर्णतः भिन्न होना चाहिए।

(2) इसकी चट्टानो की बनावट तथा इसकी साधारण रचना स्पष्ट और प्रधान होनी चाहिए।

(3) यह इतना प्रत्यक्ष होना चाहिए कि उसे भौतिक घटना सम्बन्धी शास्त्र की किसी भी व्याख्या मे सम्मिलित किया जा सके।

उपरोक्त सभी बातो पर विचार कर स्थलमण्डल के भू-आकारों को निम्न तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(क) प्रथम श्रेणी के भू-आकार, (ख) द्वितीय श्रेणी के भू-आकार, और (ग) तृतीय श्रेणी के भू-आकार।

प्रथम श्रेणी के भू-आकार
(Relief Features of the First Order)

पृथ्वी के जल और स्थल के धरातल का कुल क्षेत्रफल लगभग 19,70,00,000 वर्ग-मील है। इसमे से विश्वव्यापी समुद्र—अन्ध महासागर, प्रशान्त महासागर, हिन्द महासागर और उत्तरी ध्रुव एव दक्षिणी ध्रुव महासागर—कुल स्थलमण्डल का 14,10,00,000 वर्गमील क्षेत्र

घेरे हुए है। वर्तमान में इन महासागरों में इतना अधिक जल है कि उससे न केवल विशाल द्रोणियाँ (basins) ही भरी हुई है, वरन् महाद्वीपीय पठारों के लगभग 1,00,00,000 वर्गमील भाग को भी ढक रखा है।[1]

महासागरीय द्रोणियाँ (Ocean Basins)—ये स्थलमण्डल के धरातल के निमज्जित भाग है। ये द्रोणियाँ अपेक्षाकृत बहुत ही छोटे महाद्वीपीय पठारों के बीच स्थित हैं। इनका कुल क्षेत्रफल लगभग 13,10,00,000 वर्गमील है। इस प्रकार ये द्रोणियाँ वर्तमान महासागरों से करीब 1,00,00,000 वर्गमील छोटी है।

महासागरीय द्रोणियो के तल की औसत गहराई समुद्र-तल मे लगभग 2·6 मील है। इन द्रोणियों के तल की स्थलाकृति बहुत ही ऊँची-नीची है। महासागरीय तल के ऊपर कई स्थानों पर विशाल गर्त है जिनकी गहराई सभी महासागरीय द्रोणियों की औसत गहराई से बहुत अधिक है। इन गर्तो के विपरीत महासागरीय तल के जो दूसरे भाग हैं उनकी ऊँचाई समुद्र-तल की ओर क्रमिक रूप से अथवा आकस्मिक रूप से बढ़ती है। यदि हम महासागरो के एक बड़े प्राकृतिक नक्शे के द्वारा उनका ध्यानपूर्वक अध्ययन करे तो हमें स्पष्ट विदित हो जायेगा कि महासागरीय तल कितना असम्मित (irregular) है। महासागरो के विशाल आकार-प्रकार और उनकी अतल गहराई के कारण महासागरीय द्रोणियो की स्थलाकृति के सम्बन्ध मे यद्यपि हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं है फिर भी आधुनिक सर्वेक्षणों से इतना तो निश्चित हो गया है कि महासागरीय तल भी वैसा ही ऊँचा-नीचा है जैसा कि स्थल। इसके ऊपर भी ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं, श्रेणियाँ हैं, विशाल मैदान है, पठार है, खड़े ढाल है और छोटे-छोटे अनेक गर्त है।

महाद्वीपीय पठार (Continental Platforms)—उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका, यूरेशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अण्टार्कटिका के महाद्वीपीय पठार स्थलमण्डल के धरातल के बहुत ही ऊँचे उठे हुए भाग है। इन महाद्वीपीय पठारो का क्षेत्रफल लगभग 6,60,00,000 वर्गमील है। जैसा पूर्व में बताया गया है, महासागरो ने इनके निचले भागों को ढक रखा है। समुद्रों से ढका हुआ यह क्षेत्र करीब 1,00,00,000 वर्गमील है। इसीलिए महाद्वीपो का क्षेत्रफल केवल 5,60,00,000 वर्गमील ही है, जबकि महाद्वीपीय पठारों का क्षेत्रफल 6,60,00,000 वर्गमील है।

महाद्वीपीय भग्नतट (continental shelves) महाद्वीपीय पठारों के वे भाग हैं जो महासागरों के नीचे डूबे हुए हैं। ये अपने ढाल के अनुसार समुद्रो में महाद्वीपों से विभिन्न दूरियों तक फैले हुए पाये जाते है। भग्नतट कई स्थानों पर अपनी बाह्य सीमा से परे महासागरीय द्रोणियों के साथ तीव्र ढाल के साथ मिलते है। महासागरीय द्रोणियों और महाद्वीपीय पठारो को मिलाने वाले ढाल महाद्वीपीय भग्न ढाल (continental slopes) कहलाते है। ये ढाल यूकाटन, न्यू फाउण्डलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्वी तट के समीप अपेक्षाकृत बहुत मन्द हैं जबकि पीरू, कैलीफोर्निया और जापान के निकट बहुत तीव्र है।

महाद्वीप (Continents)—उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाद्वीप महाद्वीपीय पठारों के ही वे भाग हैं जो समुद्रो से ऊपर उठे हुए हैं। यदि महाद्वीपों की इस परिभाषा को ले तो कई द्वीप जैसे ब्रिटिश द्वीपसमूह व उत्तरी अमरीका के उत्तर में स्थित द्वीपसमूह आदि उन निकटवर्ती महाद्वीपों के ही अंग हैं, क्योंकि ये सम्बन्धित महाद्वीपीय पठारों के ही भाग हैं। किन्तु कई द्वीप जैसे हवाई और ऐजोर्स आदि जो महासागरीय तल से एकदम ऊँचे उठे हुए है, उन विशाल पठारों से ऊँचे शिखर है जो अपने समीपवर्ती समुद्र तली (ocean floors) से ऊपर उठे हुए हैं किन्तु समुद्र-तल से काफी नीचे है।

---

[1] P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 15

यद्यपि हम महाद्वीपों के धरातल की विस्तृत चर्चा आगे सम्बन्धित अध्यायों में करेंगे किन्तु यहाँ पर इतना बता देना समीचीन होगा कि इनका धरातल समुद्र की तली मे भी बहुत अधिक ऊँचा-नीचा है। पटल-विरूपण (diastrophism), ज्वालामुखीय क्रिया (vulcanism) और अपरदन तथा ऋतु-अपक्षय की शक्तियो के कारण महाद्वीपो की स्थलाकृति भूतकाल मे भी काफी बदली जा चुकी है और अब भी निरन्तर बदली जा रही है। स्थल पर सबसे अधिक ऊँचा भाग हिमालय पर्वत का शिखर माउण्ट एवरेस्ट है जिसकी ऊँचाई 29,000 फुट है। इसी तरह स्थल का सबसे नीचा भाग इजरायल मे मृत सागर है जो समुद्र-तल से 2500 फुट नीचा है।

यदि महाद्वीपो के समस्त ऊँचे भागो को समतल कर दिया जाये जिससे समूचे स्थल-भाग एकसमान हो जायें तो महाद्वीपो की समुद्र तल से औसत ऊँचाई लगभग 2500 फुट रहेगी। इससे प्रकट है कि समुद्र की तली (floor) के ऊपर महाद्वीपों की औसत ऊँचाई करीब 3 मील है। यदि हम इन महाद्वीपीय पठारो को भी पूरी तरह घिसकर इनका पदार्थ महासागरीय द्रोणियो पर समान रूप से बिछा दे और स्थलमण्डल के धरातल को समतल कर दे तो समूचे स्थलमण्डल के ऊपर दो मील गहरा समुद्र लहराने लगेगा।[1]

द्वितीय श्रेणी के भू-आकार
(Relief Features of the Second Order)

स्थलमण्डल के प्रथम श्रेणी के भू-आकारो पर कई ऐसी स्थलाकृतियाँ पायी जाती है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली होती है। ऐसी स्थलाकृतिया पर्वत, पठार और मैदान है। इन्हें द्वितीय श्रेणी के भू-आकार कहते है। ये भू-आकार महाद्वीपीय पठार और महासागरीय द्रोणियो दोनों पर समान रूप से पाये जाते है। यद्यपि पर्वत, पठार और मैदान महाद्वीपो के ही विशिष्ट भू-रूप गिने जाते है; किन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि महासागरीय द्रोणियो पर महाद्वीपो की अपेक्षाकृत अधिक सख्या मे और अधिक बड़े मैदान तथा पठार पाये जाते है। महासागरो मे किये गये ध्वनिकरण के द्वारा सागर-तल पर कई पर्वतो की उपस्थिति का भी पता चला है। सागर-तल पर स्थित कई पर्वत तो इतने ऊँचे है कि वे जल से बाहर निकले हुए है। हवाई द्वीप का मौनालोआ ज्वालामुखी पर्वत ऐसा ही है। यह समुद्र की तली से 29,675 फुट ऊपर उठा हुआ है। समुद्र-तल (sea-level) के ऊपर इसकी ऊँचाई 13,675 फुट है, शेष 16,000 फुट यह समुद्र-तल से नीचे है। इस प्रकार मौनालोआ वस्तुतः माउण्ट एवरेस्ट से लगभग 700 फुट अधिक ऊँचा है।

विभिन्न महाद्वीपों पर पर्वतो, पठारों और मैदानों की स्थिति मे कुछ समानताएँ ध्यान देने योग्य है। सामान्यतः अधिकांश पर्वत महाद्वीपीय किनारों के समीप स्थित पाये जाते है। पठार मोटे रूप से बड़ी पर्वत-श्रेणियों के किनारे अथवा उनके बीच में स्थित मिलते है। विशाल बड़े मैदान महाद्वीपो के बीच मे या उनके तटों पर स्थित मिलते है।

स्थलमण्डल के द्वितीय श्रेणी के भू-आकारों की उत्पत्ति पृथ्वी की आन्तरिक हलचलो के कारण होती है। स्थल के रूप मे परिवर्तन करने वाली इन आन्तरिक हलचलों को पटल-निरूपण द्वारा व्यक्त किया जाता है। यदि ये हलचलें महाद्वीप के विशाल भाग को प्रभावित करती है तो उन्हें महाद्वीप निर्माणकारी हलचले कहा जाता है और यदि वे स्थल के कुछ भाग को पर्वत-निर्माण क्रिया के रूप मे प्रभावित करती हैं तो उन्हे पर्वत-निर्माणकारी हलचले कहा जाता है। अतः स्पष्ट ही पर्वत, पठार और मैदान पृथ्वी की रचनात्मक शक्तियो का परिणाम है। इसलिए द्वितीय श्रेणी के इन भू-आकारों को प्राय. रचनात्मक भू-आकार (constructional landforms) कहा जाता

---

[1] P. G. Worcester, *A Text Book of Geomorphology*, p. 18

हवा द्वारा निर्मित भू-आकारों के प्रकार--(क) अपरदित रूप जैसे—यारदंग, ज्यूगेन, त्रिकोटिका, (ख) अवशिष्ट रूप जैसे—बालुका-स्तूप और लोयस आदि ।

स्थल की उपरोक्त सभी गौण विषमताएँ पर्वत, पठार और मैदानों को अधिक विशिष्टताएँ प्रदान करती है । जिस प्रकार एक शिल्पी ग्रेनाइट अथवा सगमरमर के टुकड़े पर कार्य प्रारम्भ करते हुए धीरे-धीरे उसे छेनी द्वारा सुन्दर मूर्ति का रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार प्रकृति भी रूपहीन स्थलमण्डल पर अनवरत कार्य करते हुए सुन्दर भू-आकार का विकास करती है ।[1]

उपरोक्त सभी प्रकार के भू-आकार भू-तात्त्विक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण है । प्रथम श्रेणी के भू-आकार एक विशाल रगशाला के समान है, जिस पर सभी भौतिक घटनाएँ घटित होती हैं । इस रगशाला का मच (stage) बराबर बदलता रहता है, उसी प्रकार द्वितीय श्रेणी के भू-आकार भी बदलते रहते है । तृतीय श्रेणी के भू-आकार उन दृश्यों के समान है जो नाटक की अवधि में मंच पर बदलते रहते है । **वान ऐंजिल** के शब्दों मे, "They constitute, as it were, the theatres, in which geological dramas are enacted. Stages, which in theatres are frequently altered and rebuilt to fit the succession of productions, may be figuratively compared with the plains, plateaus and mountains of the second order of relief and stage scenery, which may be many times shifted during the progress of a single play, matches the items of the third order of relief."[2]

मैदान
(Plains)

मानव उपयोग की दृष्टि से मैदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भू-आकार है । ये अपनी सरल रचना, विशाल क्षेत्रफल तथा अति उर्वरा भूमि के कारण आदिकाल से मनुष्य के आकर्षण बिन्दु रहे हैं । ससार की भिन्न-भिन्न संस्कृतियो को अपने अचल मे प्रश्रय देकर इन्होने मानव सभ्यता के अभ्युदय में अमूल्य योग दिया है । आज भी सभ्य समाज के समस्त प्रगतिशील तत्त्व मैदानो मे ही पल रहे है । पर्वतो एवं पठारों की अपेक्षा कई गुने अधिक लोग मैदानो मे ही रहते है । अपनी भरण-पोषण की क्षमता, अपेक्षाकृत नीची और समतल भूमि, परिवहन तथा आवागमन की सुविधा आदि बातों के कारण मैदान एक प्रकार से ससार की घनी जनसख्या के केन्द्रस्थल बने हुए है ।

साधारणत 'मैदान' शब्द से आशय समतल और निम्न भू-भाग से लिया जाता है । किन्तु धरातल पर वास्तविक रूप से समतल भू-भाग बहुत कम देखे जाते है । इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए **सीमैन** ने कहा है, "Plains are not flat, they may range from rather flattish to undulating land."[3] अतः यह धारणा बना लेना गलत होगा कि पृथ्वी के जो बिलकुल समतल भाग है वे ही मैदान है । वस्तुत मैदान के अन्तर्गत असमतल और यहाँ तक कि कुछ सीमा तक पहाड़ी (hilly) भाग भी सम्मिलित किया जा सकता है । इसी प्रकार ऊँचाई भी मैदानों की कोई मुख्य कसौटी नही है । यद्यपि **वोरसेस्टर** की इस परिभाषा से, "Plains are the low lands of the earth."[4] यह विदित होता है कि पृथ्वी के नीचे स्थल-भाग ही मैदान है । किन्तु कई मैदान ऐसे हैं जिनकी ऊँचाई पठारों और पहाडों से भी अधिक है । उदाहरणतः उत्तरी अमरीका के बड़े मैदान वस्तुतः अप्लेशियन पठार से अधिक ऊँचे है । ये मैदान अप्लेशियन पर्वत की कई श्रेणियों और

---

1 P G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 29
2 G. D. Van Engel : *Geomorphology*, p. 17
3 Seeman : *Physical Geography*, p. 155
4 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 506

शिखरो से भी ऊँचे है। रॉकीज पर्वत-श्रेणी की ओर तो ये मैदान क्रमशः ऊपर उठते-उठते 6000 फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाते है, किन्तु फिर भी निम्न उच्चावचन (low relief) के कारण ये मैदान ही है। कोई भी भू-भाग मैदान तभी कहा जा सकता है जबकि उस प्रदेश की स्थानीय भूमि का ऊँचा-नीचापन कुछ सौ फुट से अधिक न हो। **फिंच** एवं **ट्रिवार्था** के अनुसार, "The term plain is applied to all land that is relatively low with respect to sea-level and has a local relief of less than about 500 feet."[1] **सीमेन** के अनुसार, "Plains have low relief and have more flat land than slope."[2] उपरोक्त दोनो परिभाषाओं से स्पष्ट है कि धरातल के सभी भू-भाग जो एक समान रचना वाले हो, अपेक्षाकृत समतल, क्रमिक ढालयुक्त हो एवं निम्न उच्चावचन वाले हों, मैदान कहे जाते हैं।

मैदानों का वर्गीकरण
(Classification of Plains)

सामान्यतः मैदान एक दूसरे से अनेक बातों मे भिन्न होते है। कुछ मैदान समुद्र-तल से अत्यधिक ऊँचे और कुछ समुद्र-तल से भी नीचे है। उदाहरणतः, उत्तरी अमरीका का बड़ा मैदान पश्चिम की ओर 1500 फुट तक ऊँचा उठ गया है जबकि जोर्डन नदी की घाटी और हालैण्ड के पोल्डर्स समुद्र-तल से भी नीचे है। इसी प्रकार कुछ मैदान बहुत ही असमतल और कुछ बहुत ही विशाल और कुछ बहुत ही छोटे, कुछ उष्ण एव आर्द्र और कुछ शुष्क एवं शीतल, कुछ उपजाऊ और कुछ अनुपजाऊ, कुछ समुद्रतट के निकट और कुछ समुद्रतट से दूर, कुछ भूमि के उन्मज्जन और निमज्जन और कुछ अपरदन एवं निक्षेप द्वारा बने हुए है। इस प्रकार मैदान अपनी स्थिति, विस्तार, उत्पत्ति, ऊँचाई, जलवायु एवं वनस्पति आदि बातों मे बहुत ही भिन्न होते है। अतः मैदानो को किसी एक आधार पर वर्गीकृत करना बड़ा ही कठिन है। वस्तुतः मैदानो को कई प्रकार से विभाजित किया जा सकता है। नीचे मैदानों के कुछ सम्भावित वर्ग प्रस्तुत किये जा रहे है जिनका प्रादेशिक भूगोल की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व है :

(क) जलवायु के अनुसार मैदानो के भेद—जलवायु की परिस्थितियों के अनुसार मैदानो के निम्न भेद किये जा सकते है—(1) उष्ण तथा आर्द्र मैदान (Humid-tropical Plains), (2) उष्ण-शुष्क मैदान (Arid-tropical Plains), (3) उपध्रुवीय शीतल मैदान (Sub-arctic Plains), तथा (4) अन्य सामान्य प्रकार के मैदान। मैदानो के इस वर्गीकरण में भू-आकार निर्माण में योग देने वाले सबसे प्रमुख तत्त्व—जलवायु—को प्रधानता दी गयी है।

(ख) स्थिति के अनुसार मैदानों के भेद—महाद्वीपो के अन्दर मैदानों की स्थिति कैसी है, इस आधार पर मैदानो के दो वर्ग किये जा सकते है—(1) तटीय मैदान (Coastal Plains) जैसे फ्लोरिडा का मैदान एव भारत का पूर्व-तटीय मैदान, (2) अन्तरस्थलीय मैदान (Interior Plains) जैसे यूरोप का बडा मैदान।

(ग) भू-गर्भिक रचना के अनुसार मैदानों के भेद—मैदानो को उनकी भू-गर्भिक रचना के अनुसार भी वर्गीकृत किया जा सकता है; जैसे (1) अनुप्रस्थ अवसादी शैलों के मैदान, (2) प्राचीन स्फाटीय शैलों के प्रायःसम मैदान, (3) हिमानी निक्षेप के मैदान।

(घ) भूमि की ऊँचाई-निचाई के अनुसार मैदानों के भेद—भौगोलिक दृष्टि से भूमि की ऊँचाई-निचाई मैदानो के वर्गीकरण का सबसे महत्त्वपूर्ण आधार है। यह एक ऐसा तत्त्व है जो मैदानों के मानव उपयोग के विभिन्न पहलुओं को प्रकट कर देता है। जैसे अपवाह की स्वतन्त्रता,

---

1 Finch and Trewartha : *Elements of Geography*, p. 257

2 Seeman : *Physical Geography*, p. 155

भूमि-अपरदन की तीव्रता एव कृषि की सुविधा आदि । इसके अतिरिक्त इसको स्थानीय भिन्नता की दृष्टि से कुछ हद तक सही-सही नापा जा सकता है । **फिंच** एव **ट्रिवार्था** ने भूमि की स्थानीय ऊँचाई-निचाई के अनुसार मैदानों के निम्न भेद बताये है :[1]

(1) **समतल मैदान** (Flat Plains)—वे मैदान जिनके विभिन्न भागो के बीच की ऊँचाई-निचाई का अन्तर 50 फुट से अधिक नही होता ।

(2) **असमतल मैदान** (Undulating Plains)—वे मैदान जिनके अति ऊँचे और अति नीचे भागों के बीच का अन्तर 50 फुट से 150 फुट तक होता है । इन मैदानो में बडा उतार-चढाव होता है ।

(3) **लहरदार मैदान** (Rolling Plains)—ये मैदान समतल मैदानो से नितान्त ही भिन्न होते है । इनमे जगह-जगह गोलाकार टीले पाये जाते है । इनमे उच्चतम एवं निम्नतम स्थानो के बीच का अन्तर 150 फुट से 300 फुट तक होता है ।

(4) **विषम कटे-फटे मैदान** (Rough Dissected Plains)—जैसा नाम से प्रकट है, ये मैदान बहुत ही ऊबड़-खाबड होते है । इनमें विभिन्न भागों की ऊँचाई-निचाई का अन्तर 300 फुट से 500 फुट तक होता है ।

(ङ) **उत्पत्ति के अनुसार मैदानों के भेद**—भू-पटल पर पाये जाने वाले समस्त मैदान भूमि की रचनात्मक अथवा ध्वसात्मक क्रियाओं द्वारा निर्मित होते हैं । अतः **डॉ० दुबे** ने मैदानों को उनकी निर्माण-विधि के अनुसार निम्न भागों में बॉटा है :[2]

(अ) ध्वंसात्मक मैदान (Destructional Plains),

(ब) निक्षेपात्मक मैदान (Depositional Plains),

(स) रचनात्मक अथवा तटीय मैदान (Constructional or Coastal Plains) ।

ध्वंसात्मक मैदान (Destructional Plains)

इन मैदानों की रचना ऋतु-अपक्षय और अपरदन के द्वारा होती है । किन्तु इनके निर्माण पर अपरदन के साधनो की भिन्नता—बहता हुआ जल, हिमानी, भूमिगत जल, हवा एव लहरे और भूमि की संरचना का बड़ा प्रभाव पड़ता है । अत. अपरदन के साधनों के अनुसार इनके निम्न भेद किये जाते है :

(1) प्राय. सम अथवा नदी-घर्षित मैदान,

(2) कार्स्ट मैदान,

(3) हिम-अपरदित मैदान,

(4) मरुस्थलीय मैदान ।

(1) **समप्राय मैदान** (Peneplains)—ये मैदान भूमि के अपरदन द्वारा बने मैदानो के सुन्दर उदाहरण है । ऐसे मैदान पर्वतों एवं पठारो के घिसकर समतल हो जाने से बनते है । यद्यपि इनके अपरदन मे जल, वायु, हिम आदि सभी बाह्य शक्तियाँ योग देती है, किन्तु इन सबमे नदियों का ही विशेष महत्त्व है । नदियाँ जब पर्वतों और पठारो से निकलकर बहती हैं तो उनकी प्रवृत्ति उस भू-भाग को समतल बनाने की होती है । नदियों का यह अपरदन-कार्य तब तक चलता रहता है जब तक वे अपने चरम स्तर (base level) को नहीं पहुँच जाती । चरम स्तर को प्राप्त हो जाने पर उस भू-भाग की ऊँचाई लगभग समुद्र-तल (sea level) के बराबर हो जाती है । इस प्रकार धरातल के विस्तृत भू-भाग नदियों से प्रभावित होकर समतल मैदान में बदल जाते है । रूस,

---

[1] Finch and Trewartha : *Elements of Geography—Physical and Cultural*, p. 258

[2] Dr. R. N. Dubey : *Physical Basis of Geography*, p. 182

फ्रांस, इंगलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया, ब्राजील और भारत मे ऐसे मैदान देखे जा सकते है।

जब ये मैदान अपने अपक्षय की प्रारम्भिक अवस्था मे होते है तो ये समुद्र-तल से काफी ऊँचे होते हैं। इस अवस्था मे नदियाँ अपने मैदान को जगह-जगह काट देती हैं। नदियो की घाटियाँ सँकरी और गहरी होती है। अतः नदियो में प्राय बाढ आया करती है। मैदान के स्थान-स्थान पर कट जाने से भूमि बेकार हो जाती है। सयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिणी डकोटा राज्य मे इस प्रकार की भूमि को **उत्खात भूमि** (Bad lands) कहा जाता है। यहाँ से भूमि अपने अपक्षय की प्रारम्भिक अवस्था में ही है। ऐसे भागो मे नदियों के बीच की ऊँची और समतल भूमि ही खेती तथा आवागमन के प्रयोग मे आती है।

इन मैदानों की मध्य और अन्तिम अवस्था मे नदियों के बीच की भूमि कट-कटाकर विशाल घाटियों में बदल जाती है। इस प्रकार नदियों की घाटियों का बहुत अधिक विस्तार हो जाता है। लगभग समस्त भू-भाग समतल मैदान बन जाता है। यत्र-तत्र कुछ ऊँचे अवशिष्ट शैल (monadnocks) अवश्य दिखाई पड़ते है। अवशिष्ट शैल इन मैदानो की विशेषता है। ये कठोर चट्टानो से बने होने से अपने आसपास की मुलायम चट्टानो की अपेक्षा कम घिसते है। इसलिए मैदान में जहां-तहाँ ये ऊँचे खड़े रह जाते है। इन अवशिष्ट चट्टानो को **'मोनेडनॉक'** (monadnock) कहा जाता है।

धरातल पर आज जितने भी प्रायःसम मैदान देखने को मिलते है वे सब अपनी आदर्श अवस्था में नही है। आज भी उनमे बहने वाली नदियो का प्रवाह वेग और अपरदन की तीव्रता देखी जाती है, जो आदर्श अवस्था के प्रतिकूल है। ऐसा भू-गर्भिक हलचलों के कारण धरातल के ऊपर उठ जाने से होता है। पेरिस बेसिन, अमेजन बेसिन का दक्षिणी भाग, मिसीसिपी बेसिन का ऊपरी भाग, रूस का मध्यवर्ती भाग, पूर्वी इंगलैण्ड का मैदान और अरावली पर्वत का क्षेत्र प्रायः सम मैदान (peneplain) के विशिष्ट उदाहरण है।

नदियों की अपरदन-क्रिया से बनने वाले ऐसे प्राय. सम मैदानो का आकार वहाँ की चट्टानों की रचना पर निर्भर करता है। यदि मैदान की रचना सर्वत्र एकसी चट्टानों की है तो मैदान मे सभी स्थानों पर नदी के अपरदन का प्रभाव एकसा होगा। अत ऐसी अवस्था मे मैदान की रूप-रेखा भी एकसी होगी। किन्तु यदि इसके विपरीत कठोर तथा मुलायम दोनों ही प्रकार की चट्टाने पास-पास स्थित हुई तो इन पर नदी के अपरदन का प्रभाव असमान होगा और परिणामस्वरूप मैदान के आकार में भी एकरूपता नही होगी। ऐसी अवस्था मे मैदान लहरदार होगा।

कठोर और मुलायम चट्टानो के साथ-साथ होने से मुलायम चट्टाने शीघ्र घिस जाती हैं, किन्तु कठोर चट्टानें बहुत देर से घिसेंगी। चट्टानो के घिस जाने पर इस असमान प्रभाव से मैदान मे कठोर चट्टानों की एक श्रेणी बन जायगी। मैदान में जहाँ कही इन कठोर चट्टानो की श्रेणी का ढाल मैदान के भीतरी भाग की ओर खड़ा और बाहर की ओर क्रमश: होता है तो उस पहाड़ी श्रेणी को **कुएस्टा** (cuesta) कहा जाता है और इस प्रकार के मैदान को **कुएस्टा आकार** (cuestiform) **का मैदान** कहते है। पेरिस बेसिन और लन्दन बेसिन इस प्रकार के मैदान के सर्वोत्तम उदाहरण है।

(2) **कार्स्ट मैदान** (Karst Plains)—पृथ्वी के धरातल पर कई भू-भाग ऐसे है जो चूने की चट्टानों से बने हुए हैं। ये चट्टानें कही तो धरातल के ऊपर निकली हुई पायी जाती है और कहीं ऊपर से मिट्टी आदि पदार्थों से ढकी हुई होती हैं। ये चट्टाने प्रायः घुलनशील होती है। इस प्रकार बहते हुए जल का इन पर अति शीघ्र प्रभाव होता है। बहता हुआ जल इन्हें बराबर घुलाता रहता है और कालान्तर में उस भू-भाग का रूप ही बदल देता है। ऐसे भागों में जल का प्रवाह

ऊपर धरातल पर कम और भीतर अधिक होता है, क्योंकि ऐसे भागों में शीघ्र घुलनशील चट्टानों को पानी जल्दी ही नष्ट-भ्रष्ट कर वहाँ बड़े-बड़े गर्त बना देता है। तब उस प्रदेश में बहने वाला समस्त जल ऊपर न बहकर उन गर्तों मे समाने लगता है। यह भू-गर्भवर्ती जल भीतरी भाग को बराबर खोखला करता रहता है। इस प्रकार ज्यो-ज्यों घुलने की क्रिया बढती जाती है त्यों-त्यों धरातल के ऊपर और नीचे परिवर्तन होता जाता है। धीरे-धीरे उस प्रदेश में बने सभी गर्भ घुलन क्रिया के द्वारा बडे होते जाते हैं और अन्त मे मिलकर एक हो जाते है। इस प्रकार कई स्थानों पर भूमि के भीतर से खोखली हो जाने से ऊपर की छतें नीचे बैठ जाती हैं। इस प्रकार चूने का समस्त प्रदेश ही घुल-घुलकर समतल हो जाता है। ऐसे मैदान अधिकतर यूगोस्लाविया मे एड्रियाटिक सागर के समीप पाये जाते है। वहाँ इन मैदानो को कार्स्ट मैदान कहा जाता है। अत. इनके समान बने सभी मैदान **कार्स्ट मैदान** (Karst Plain) कहलाते है। इस प्रकार के मैदान यूगोस्लाविया के अतिरिक्त सयुक्त राज्य के एरीजोना, कैण्टको, टैनेसी, कोकोनीनो, कैबाब, फ्लोरिडा, यूकाटन, क्यूबा और दक्षिणी फ्रास (Causses) मे पाये जाते है।

(3) **हिम-अपरदित मैदान** (Glacial Plains)—पृथ्वी के इतिहास मे धरातल के अनेक भाग कई बार हिम द्वारा प्रभावित हुए है। हिम के प्रभाव से धरातल की पुरानी रूपरेखा बिलकुल ही बदल जाती है। हिम प्रवाह के कारण पर्वतीय श्रेणियों और घाटियों मे अभूतपूर्व परिवर्तन होता है। पहाड़ियाँ गोलाकार और घाटियाँ चौड़ी हो जाती है। धीरे-धीरे घाटियो का विस्तार बढ़ता जाता है और तली में खरोंच के कारण गड्ढे तथा चिह्न बन जाते है। घाटियो के किनारों पर हिम के साथ बहकर आये हुए शिलाखण्ड एकत्र हो जाते है। अनेक स्थानों पर मिट्टी बिलकुल बह जाती है। जहाँ-तहाँ उथली झीले और दलदल पाये जाते है। नदियों का प्रवाह बड़ा ही अनियमित रहता है। इस प्रकार हिम प्रवाह से बने मैदान बड़े ही ऊबड़-खाबड़ होते है। इनमे खेती नहीं हो सकती। यहाँ केवल वन ही पाये जाते है। हिम-प्रवाहित मैदानों के विशिष्ट उदाहरण कनाडा, फिनलैण्ड और स्वीडन मे मिलते है।

(4) **मरुस्थलीय मैदान** (Desert Plains)—ये मैदान ऋतु-अपक्षय, वायु और अस्थायी परन्तु तेज बहने वाली नदियों के प्रभाव से बनते है। इन भागो मे वर्षा की कमी के कारण ऋतु-अपक्षय द्वारा होने वाला विलयन और विखण्डन बड़ा ही धीरे-धीरे होता है। किन्तु वनस्पति के अभाव से यहाँ वायु द्वारा होने वाला अपरदन अधिक होता है। छोटी-छोटी बरसाती नदियाँ भी बडी तीव्रता से काट-छाँट करती है। मरुस्थलीय मैदान प्राय. अन्तरस्थलीय अपवाद (inland drainage) के क्षेत्र होते है। स्थान-स्थान पर झीलें मिलती है। मानव उपयोग की दृष्टि से ये मैदान किसी काम के नही होते है।

निक्षेपात्मक मैदान (Depositional Plains)

जब धरातल के असमतल भाग किसी भी साधन द्वारा निक्षेपित पदार्थों से समतल कर दिये जाते है तो ऐसे मैदान निक्षेपात्मक मैदान कहलाते है। ससार के अधिकांश मैदान निक्षेप द्वारा ही बने हुए हैं। धरातल पर निक्षेप-कार्य मुख्यतः नदियों, हिमनदियो, पवन, समुद्र तथा ज्वालामुखी द्वारा होता है। अतः निक्षेप के साधन और निक्षेप के स्थान के अनुसार इन मैदानों के निम्न भेद किये जा सकते है :

1. जलोढ मैदान, 2. अपोढ के मैदान, 3. झील के मैदान, 4. लावा के मैदान, 5. लोयस मैदान।

(1) **जलोढ़ मैदान** (Alluvial Plains)—नदियाँ जब ऊँचे पर्वतीय भागों से बहकर आती है तो वह अपने साथ बड़ी मात्रा में जलोढक बहाकर लाती है। इस जलोढक को नदियाँ अपनी घाटी में क्रमानुसार यत्र-तत्र छोड़ती जाती हैं। इस प्रकार नदियों की घाटियों मे जलोढ़क के निक्षेप

से विशाल मैदानो की रचना हो जाती है। जलोढ़क के निक्षेप से बनने के कारण इन मैदानो को जलोढ मैदान कहा जाता है। ससार के अधिकाश बड़े-बड़े मैदान—मिसीसिपी का मैदान, गंगा-

चित्र 409—नदियों द्वारा निर्मित मैदान
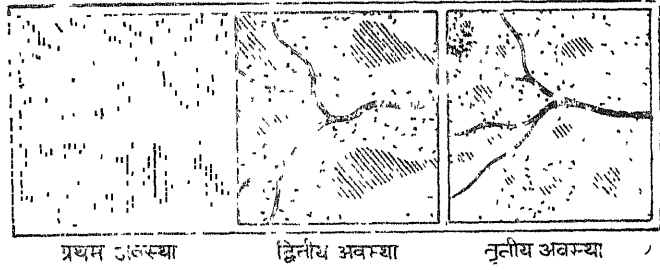
सिन्धु का मैदान, ह्वांगहो और यांगटिसीक्यांग का मैदान, वोल्गा और डेन्यूब का मैदान और नील का मैदान—जलोढक द्वारा निर्मित मैदान ही है।

नदी की घाटी में सर्वत्र जलोढक का निक्षेप एकसमान नही होता। घाटी की विभिन्न अवस्थाओ में नदी का निक्षेप कार्य भिन्न होता है। जलोढक के निक्षेप की भिन्नता के अनुसार **फिंच** (Finch) ने मैदानों को तीन भागो में बाँटा है :

(अ) पर्वत-पदीय मृत्तिका अथवा भाबर (Piedmont Alluvial Fan)

(ब) बाढ का मैदान (Flood plain)

(स) डेल्टा मैदान (Delta plain)।

उपरोक्त तीनों मैदानों को ऊपरी घाटी, मध्य घाटी और निम्न घाटी के मैदान भी कहते हैं।

(अ) पर्वत-पदीय मृत्तिका पंख अथवा भाबर (Piedmont Alluvial Fan)—प्रारम्भ मे नदी जब पहाडो को छोड़कर मैदान में प्रवेश करती है तो उसकी घाटी चौड़ी हो जाती है और प्रवाह वेग मन्द पड़ जाता है। प्रवाह वेग के मन्द पड़ जाने से जो भी जलोढक नदी अपने साथ पहाड़ों को बहा लाती है, सब वही छोड देती है। इस प्रकार पहाड़ो की तलहटियों मे नदियों द्वारा लाया हुआ पदार्थ एकत्र होता जाता है और धीरे-धीरे पंखे के आकार मे फैलता जाता है। इन पंखों का विस्तार, बहाकर लाये गये पदार्थो की मात्रा पर निर्भर रहता है। इनमे अधिकतर बजरी व बालू की अधिकता होती है। इनकी सतह पर वर्षा-जल द्वारा लाये गये बड़े-बड़े गोलाश्म का विस्तार देखा जाता है। इन मैदानों का ढाल पहाड़ो की ओर अधिक और मैदान की ओर क्रमश: रहता है। अनपजाऊ और पारगम्य मिट्टी तथा सिचाई के अभाव से ये मैदान खेती के अयोग्य होते है। यहाँ केवल कुछ घास और झाड़ियाँ ही पैदा होती हैं। जब कभी अनेक पर्वत-पदीय पंख एक साथ मिल जाते हैं तो विशाल पर्वत-पदीय मैदानों की रचना हो जाती है। इस प्रकार के मैदानों को हमारे देश मे **'भाबर'** कहा जाता है।

(ब) बाढ़ के मैदान (Flood plain)—नदी अपनी मध्यावस्था में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है उसकी घाटी विस्तृत और प्रवाह धीमा पडता जाता है। ऐसी अवस्था में नदी केवल सूक्ष्म पदार्थों को ही अपने साथ बहा पाती है। मोटे-मोटे कण मार्ग मे घिसकर सूक्ष्म रूप ले लेते है। ये ही सूक्ष्म पदार्थ नदी में आ जाने के कारण घाटी के आसपास के प्रदेशों मे जमा हो जाते है और इस प्रकार मैदान बन जाते है। किन्तु इनका विस्तार क्षय-पदार्थों की मात्रा के निक्षेप पर निर्भर करता है।

नदी के मध्य भाग तक पहुँचते-पहुँचते कई छोटी-छोटी नदियाँ और नाले उसमे मिलते है। ये सहायक नदियाँ जब मुख्य नदी मे मिलती हैं तो उनका प्रवाह धीमा हो जाता है। अत: ये अपने साथ लाये हुए पदार्थ को मार्ग मे ही जमा करने लगती है। इनमें शनै: शनै: मैदानी क्षेत्र का

विस्तार होता जाता है और ये मुख्य नदी के मैदान से जा मिलते हैं। अत: ऐसे मैदानों को **'दोआब'** —दो नदियों के बीच का मैदान—कहा जाता है।

चित्र 410—बाढ़ का मैदान

नदियों की बाढ़ द्वारा बने ये मैदान अत्यन्त उपजाऊ होते हैं क्योंकि नदियाँ प्रतिवर्ष उपजाऊ मिट्टी ला-लाकर मैदान में बिछाती रहती हैं। यही कारण है कि ये मैदान संसार के घने बसे हुए भाग हैं।

(स) डेल्टा मैदान (Delta Plains)—नदी अपनी अन्तिम अवस्था में जब समुद्र में प्रवेश करती है तो उसकी प्रवाह गति बिलकुल ही शिथिल हो जाती है। इस अवस्था में उसका भार (load) बहुत अधिक बढ़ जाता है। यहाँ नदी का क्षय-कार्य प्रायः समाप्त हो जाता है। अतः नदी अपना समस्त भार मुहाने के समीप पटकती जाती है। धीरे-धीरे मुहाना इतना अधिक भर जाता है कि वह जीभ की तरह समुद्र में बढ़ जाता है। काँप के धीरे-धीरे जमा होते रहने से इसका विस्तार भूमि की ओर भी बढ़ता जाता है और एक त्रिभुजाकार आकृति का रूप बन जाता है। संसार की सभी बड़ी-बड़ी नदियाँ अपने मुहानों पर इस प्रकार के डेल्टाओं का निर्माण करती हैं।

डेल्टा मैदान प्रायः समतल और सपाट होता है। यत्र-तत्र दलदल और उथली झीलें पायी जाती हैं। इसकी ऊँचाई-निचाई बहुत ही कम होती है। यहाँ नदियों के तटों के समीप तट बाँध (levees) पाये जाते हैं। इनके कारण बहुधा नदी अनेक वितरक धाराओं में बँट जाती है। गंगा, सिन्धु, नील, पो, ह्वांगहो और मिसीसिपी आदि नदियों ने मुहानों पर बड़े-बड़े डेल्टाओं का निर्माण किया है। ये मैदान ऊपजाऊ होने के कारण घनी आबादी के केन्द्र बन गये हैं।

(2) **अपोढ़ के मैदान** (Drift Plains)—बड़े-बड़े हिमनद जब पहाड़ों से नीचे उतरते हैं तो अपने साथ बड़ी मात्रा में कंकड़, पत्थर, शिलाखण्ड और बालू, बजरी आदि बहा लाते हैं। जब ये हिमनद हिम-रेखा (snow line) को पहुँचते हैं तो वे पिघलने लगते हैं। अतः उनके साथ आया हुआ सब पदार्थ वहीं छूट जाता है। धीरे-धीरे इन पदार्थों का निक्षेप बढ़ता जाता है और कालान्तर में मैदान का रूप धारण कर लेता है। धरातल पर इस प्रकार के मैदान अधिकतर उस समय बने जब महाद्वीप हिम-चादरों से ढके हुए थे और हिम चादरें आगे-पीछे हटने लगी थीं।

उत्तरी-पश्चिमी यूरोप और मध्य कनाडा में ऐसे मैदानों के सर्वोत्तम उदाहरण मिलते हैं। अपनी उत्पत्ति और रचना-विधि के अनुसार ये मैदान तीन प्रकार के होते हैं :

(अ) बट्टड़ मृत्तिका मैदान, (ब) अपक्षेप मैदान, और (स) हिमोढ़ के मैदान।

(अ) **बट्टड़ मृत्तिका मैदान** (Till Plains)—ये मैदान हिम के नीचे पड़े हुए निक्षेप से बनते हैं। ये अपनी रचना मे लहरदार होते हैं। यहाँ मैदान में लम्बे-चौड़े तथा कम ऊँचे टीले पाये जाते

चित्र 411—अपोढ़ का मैदान

हैं। इन टीलों के बीच-बीच में उथले गर्त बने हुए रहते है। अतः इस प्रकार के मैदान में दलदल बहुतायत से पाये जाते है। इस प्रकार के मैदान का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण न्यू इंगलैण्ड का प्रदेश है।

(ब) **अपक्षेप मैदान** (Outwash Plains)—इस प्रकार के मैदान पिघलते हुए हिम से बनी धाराओ द्वारा फैलाये गये निक्षेप से बनते है। जल द्वारा बनने के कारण इन मैदानों में बालू, बजरी और मिट्टी की परते पायी जाती है। क्रम रूप से तहो का होना इन मैदानों की विशेषता है। परतों के बीच मे छोटे-मोटे गोलाश्म भी पाये जाते है। इन मैदानों की मोटाई भिन्न-भिन्न होती है। इन मैदानो मे कही पत्थरों की अधिकता होती है और कही ये केवल बालू के ही बने हुए होते हैं। स्थान-स्थान पर मैदानों मे केटली के आकार के छोटे-छोटे गर्त (kettle ponds) पाये जाते है। प्रायः ये मैदान उपजाऊ कम होते है। किन्तु इन मैदानों मे आलू की खेती अच्छी होती है।

(स) **हिमोढ़ के मैदान** (Moraine Plains)—ये मैदान हिम-नदी के अन्तिम अथवा पार्श्ववर्ती हिमोढ़ के निक्षेप से बनते है। ये निक्षेप चन्द्राकार अथवा अर्द्धचन्द्राकार श्रेणियों मे होते है। इनका आकार तथा विस्तार विभिन्न प्रकार का होता है। ये बहुत ही ऊबड़-खाबड होते है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा मे ऐसे मैदान बहुत मिलते है।

चित्र 412—झीलकृत मैदान हॉलैण्ड के पोल्डर्स

(3) **झील के मैदान** (Lacustrine Plains)—झीलों मे गिरने वाली नदियाँ प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा मे झीलों के पेटे में अवसाद का निक्षेप करती रहती हैं। जब कभी अवसाद के निक्षेप से झीलो की तली भर जाती है और झील सूख जाती है तो वह मैदान में बदल जाती है। ऐसे मैदान प्रायः शुष्क प्रदेशों और हिम प्रवाहित क्षेत्रों में अधिक देखे जाते है। ये मैदान अपने रूप में ठीक तटीय मैदानों के अनुरूप लगते हैं। इन मैदानों में मिट्टी, बालू और तलछट की परतें होती हैं। जल प्रवाह ठीक न होने से इन मैदानों के बहुत से भाग दलदली होते है और कुछ भाग जल से आर्द्र रहते

है। ये मैदान सपाट और उपजाऊ होते है इसलिए खेती के लिए बडे उपयुक्त होते है। इस प्रकार के मैदान सयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और उत्तरी-पश्चिमी यूरोप मे पाये जाते है।

(4) **लावा के मैदान** (Lava Plains)—जब ज्वालामुखी का उद्गार होता है तो उसके भीतर से उष्ण और द्रव पदार्थ बाहर निकलता है। यह पदार्थ लावा कहलाता है। लावा बाहर निकल कर आस-पास धरातल पर फैलने लगना है। लावा का यह निक्षेप धरातल की सभी असमानताओ को दूर कर देता है। कभी-कभी लावा का निक्षेप हजारो मील की लम्बाई और सैकड़ों फुट की मोटाई मे होता है। लावा के इस प्रकार के निक्षेप से विशाल उपजाऊ मैदानों की रचना हो जाती है। इटली में नेपल्स के समीप विसूवियस ज्वालामुखी से निकले लावा से इस प्रकार के मैदान का निर्माण हुआ है। पश्चिमी द्वीप-समूह तथा जावा द्वीप मे भी इस प्रकार के मैदान पाये जाते है।

(5) **लोयस मैदान** (Loess Plains)—नदियो की तरह हवा भी अपरदित पदार्थों का एक स्थान से दूसरे स्थान को निक्षेप करती रहती है। परन्तु हवा की प्रवाह शक्ति बहुत ही कमजोर होने से वह अपने साथ केवल बारीक मिट्टी को ही उड़ाकर ले जा सकती है। वह अपने साथ लायी हुई मिट्टी को मार्ग मे जहाँ कही रुकावट मिल जाती है छोड देती है। इस प्रकार हवा धरातल के कई भागो की असमतलता दूर कर विस्तृत समतल मैदानों की रचना कर देती है। कभी-कभी हवा मिट्टी को बड़ी दूर तक उडा ले जाती है। हवा अपने साथ यह मिट्टी या तो मरुस्थलों से अथवा वनस्पतिहीन भागो से लाती है और फिर अन्यत्र जमा कर देती है। उत्तरी चीन का मैदान अधिकतर हवा द्वारा उडाकर लायी हुई मिट्टी से ही बना है। इस मैदान की गहराई कही-कही पर सैकड़ो फुट है। ऐसे मैदानो की मिट्टी बड़ी उपजाऊ होती है। परन्तु कभी-कभी इनमे बडी भयंकर बाढ़े आ जाती है जिससे भारी क्षति होती है। चीन मे ह्वांगहो नदी मे प्रतिवर्ष ऐसी बाढे आया करती है, इस कारण उसको **'चीन का शोक'** (China's Sorrow) कहा जाता है। इन मैदानो मे बहने वाली नदियों में बाढ आने का कारण यह है कि मिट्टी का कटाव जल द्वारा बड़ी सुगमता से हो जाता है। इसलिए बड़ी मात्रा मे मिट्टी बहकर नदियों के मुहानों पर जमा हो जाती है। इससे नदियों का मार्ग बन्द हो जाता है और पानी चारों ओर फैल जाता है।

लोयस के बने मैदानों मे परते नही होतीं। परन्तु यह मिट्टी बहुत ही पारगम्य होती है। इसी कारण इनमें लम्बाकार धाराएँ पायी जाती है। इनमे कहीं-कही प्राचीन वनस्पति के अवशेष भी देखे जाते है। यह मिट्टी बहुत ही उपजाऊ है और इनका सबसे अधिक निक्षेप स्टेप प्रदेश में हुआ है। रूसी तुर्किस्तान, उत्तरी-पश्चिमी चीन और मिसीसिपी नदी के किनारे लोयस का बड़ा जमाव देखा जाता है।

रचनात्मक अथवा तटीय मैदान (Constructional or Coastal Plain)

धरातल पर पाये जाने वाले अधिकतर मैदान या तो पृथ्वी की बाह्य शक्तियों की अपरदन-क्रिया के द्वारा बने है या अपरदित पदार्थों के निक्षेप होने से। परन्तु भू-पटल पर कुछ ऐसे भी मैदान है जिनका सम्बन्ध उपरोक्त दोनो कारणों से नहीं है, अपितु वे भू-पटल गति (diastrophism) के कारण निर्मित होते है। पृथ्वी की आन्तरिक हलचलो के कारण कभी-कभी महाद्वीप मग्नतट (continental shelf) ऊपर उठ जाते हैं और तटीय मैदान (coastal plain) का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए तटीय मैदानों को महाद्वीपों का एक भाग ही समझना चाहिए। समुद्र मे प्रवेश करने वाली सभी नदियाँ अपने साथ लाये हुए पदार्थ को महाद्वीपीय मग्नतट पर फैलाती रहती है। इस कारण महाद्वीपीय मग्नतट तलछट के जमाव से समतल बने रहते है। यही भाग जब ऊपर उठ जाते हैं तो समतल मैदान बन जाते है। इन नवीन उत्थापित मैदानो का विस्तार तट की पूर्ववर्ती रचना

के अनुसार होता है। यदि तटीय भू-भाग पहले से ही मैदानी है तो नवीन उत्थापित तटवर्ती मैदान चौड़ा होगा। किन्तु यदि तटीय भू-भाग पर्वतीय है तो नवीन तटवर्ती मैदान एक सँकरी पट्टी के रूप में होगा।

रचना की दृष्टि से तटीय मैदान साधारण और मिश्रित दोनो ही प्रकार के होते है। साधारण मैदानों मे निरन्तर क्रमिक तहे विद्यमान होती है। मिश्रित मैदान समुद्र के बार-बार आगे-पीछे हटते रहने से बनते है। इस कारण मिश्रित मैदानो मे भिन्न-भिन्न पदार्थों वाली अनुक्रमिक तहें देखी जाती है। कुछ तटीय मैदान धरातल की निम्न भूमि पर और कुछ धरातल की ऊँची या विषम प्रकृति वाली भूमि पर आधारित होते है।

चित्र 413—तटीय मैदान

तटीय मैदान अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे प्रायः समतल होते हैं परन्तु उनमें स्पष्ट ढाल का अभाव रहता है। स्थान-स्थान पर बड़े-बडे गर्त (depression) विद्यमान रहते है। सम्पूर्ण मैदान आकृतिहीन और नीचा होता है। मैदान में सर्वत्र छिछली झीलें और दलदल देखे जाते है। इनमे जल-प्रवाह पूर्णतः अविकसित होता है। उच्च ज्वार के समय इन मैदानों में समुद्र का जल भर जाता है। मैदान मे सर्वत्र बालू और कॉप की समान्तर और लहरदार पट्टियाँ देखी जा सकती है।

तटीय मैदान अधिक दिनों तक समतल नहीं बने रहते। जल-प्रवाह के विकसित होते ही इनके रूप में परिवर्तन होने लग जाता है। अतः कालान्तर में नदियो और लहरों के प्रभाव से इनका समतल रूप नष्ट हो जाता है। ढीली कॉप और बालू से बनी होने के कारण ऋतु-अपक्षय और अपरदन का इन पर शीघ्र प्रभाव होता है।

समुद्री लहरों द्वारा कहीं-कहीं तटीय मैदानों पर बालू व मिट्टी आदि एकत्र होती रहती है जिससे तटीय मैदान का समुद्र की ओर विस्तार होता जाता है। कही-कही तटों के समीप बालू की भित्तियाँ खड़ी हो जाती है जो मैदानो के विस्तार को समुद्र में दूर तक पहुँचा देती हैं। इन भित्तियो के कारण यहाँ जहाजों के ठहरने के लिए सुरक्षित स्थान बन जाते हैं। स्थल की ओर ये मैदान जहाँ पुरानी तट-रेखा के समीप मिलते है वहाँ यकायक ढाल होता है। इन पुराने तटों के अधिक ढालू होने के कारण यहाँ बहने वाली नदियों में जल-प्रपात बन जाते है। सयुक्त राज्य अमरीका में अटलाण्टिक तट पर बनी हुई प्रपात रेखा (fall line) इसका उदाहरण है।

तटीय मैदान यों तो प्रायः सभी महाद्वीपों में पाये जाते हैं परन्तु महत्त्वपूर्ण तटीय मैदानों के उदाहरण बेल्जियम, हॉलैण्ड और जर्मनी में देखने को मिलते हैं। इनके अतिरिक्त उत्तरी

अमरीका में मेक्सिको खाड़ी और अटलाण्टिक महासागर का तटीय मैदान, अफ्रीका का गिनी तट और भारत का मलाबार तथा कारोमण्डल तट के मैदान विशेष उल्लेखनीय है।

मैदानों का मानव-जीवन पर प्रभाव

धरातल के अन्य सभी भू-आकारों की अपेक्षा मैदानो का मानव-जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव देखा जाता है। मानव-जीवन की अधिकाश आर्थिक गतिविधियाँ एव कार्यकलाप मैदानों मे ही देखने को मिलते हैं। मैदान मानव के लिए महत्त्वपूर्ण क्रीड़ा क्षेत्र है। मानव जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ मैदानों से ही पूरी होती हैं। अत मैदान कई प्रकार से बड़े महत्त्वपूर्ण है।

मैदान और जनसंख्या का वितरण—भूमि की प्राकृतिक बनावट का भी जनसंख्या के वितरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह बात इसी से सिद्ध होती है कि सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या का 9/10 भाग भूमि के उन प्रदेशों मे निवास करता है जो साधारण समुद्र-तल से 2000 फुट से भी कम ऊँचे है। मैदान मे जीवन-निर्वाह की सुविधाएँ अधिक पायी जाती हैं। विस्तृत भू-तल सपाट होने के कारण आवागमन के मार्गों की सुगमता और कृषि, पशुपालन अथवा औद्योगिक प्रयत्नों के करने की भूमि सुविधाओं के कारण मैदानो मे जनसख्या का जमाव घना होता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से ही नदियो के मैदानो—दजला, फरात, गगा, सिन्धु, यांगटिसीक्याग, नील आदि नदियो के मैदानो—मे जनसंख्या अधिक पायी जाती है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय खेती करना रहा है। इन्ही प्रदेशो मे सभ्यता का जन्म हुआ और यही वह फली-फूली और क्रमशः विश्व के अन्य भागो मे फैली। वर्तमान समय मे प्राय सभी बड़े-बड़े नगर, औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्र जो वास्तव मे घनी आबादी के जमाव है, मैदानो मे ही स्थित है जबकि उच्च पर्वतीय प्रदेश बिलकुल निर्जन है।

भूमि की उर्वरा-शक्ति किसी स्थान विशेष पर जनसख्या को आकर्षित करती है। जिन भागों में भूमि उपजाऊ होती है, वहाँ मनुष्य खेती करके अपना जीवन निर्वाह करते है। किसी स्थान मे खेती के आरम्भ होते ही वहाँ की जनसंख्या बढने लगती है क्योकि वह उद्यम बहुत ही सरल और उपादेय हुआ करता है। इसके द्वारा थोड़ी मेहनत से ही सरलतापूर्वक जीवन निर्वाह हो सकता है। जितनी भूमि एक गाय के लिए आवश्यक है उतनी भूमि पर अन्न उत्पन्न करने से 8 मनुष्यो का पालन हो सकता है। अतएव प्रति वर्गमील भूमि पर खेती करके अधिक मनुष्य निर्वाह कर सकते हैं। किसान का अपनी भूमि से इतना निकट का सम्बन्ध होता है कि वह अपनी भूमि छोड़कर अन्यत्र नही जा सकता। खेतीबाड़ी के लिए उपजाऊ भूमि, यथेष्ट जल और गर्मी की आवश्यकता होती है। अस्तु, जिन प्रदेशों में ये तीनो बातें पायी जाती है वहाँ खेतीबाड़ी खूब हो सकती है और परिणामतः वहाँ जनसंख्या का जमाव भी अधिक होता है। यही कारण है कि उपजाऊ भूमि वाले नदियों के विस्तृत मैदान तथा भारत का सिन्धु-गंगा का मैदान, समुद्रतटीय-मैदान, चीन मे यांगटिसीक्यांग का बेसिन, मिस्र में नील की घाटी आदि भागों में मध्य एशियाई पर्वतों अथवा अफ्रीका के पहाड़ों से लायी गयी उपजाऊ मिट्टी के जम जाने से तथा मानसूनी जलवायु के कारण पर्याप्त गर्मी और पानी की उपलब्धता होने के कारण जनसंख्या का विस्तार बहुत अधिक पाया जाता है। भारत, चीन तथा जापान के उपजाऊ प्रदेशों मे क्रमशः 312, 500 और 300 मनुष्य प्रतिवर्गमील मे पाये जाते हैं। भूमि की इस उर्वरा-शक्ति के कारण ही सिन्धु-गंगा के मैदानों मे 40 करोड़, जावा में 1·5 करोड़ और थाईलैण्ड-इण्डोचीन मे 1 से 1·5 करोड तक मनुष्य रहते हैं। यहाँ कई भागों में प्रतिवर्गमील पीछे 1000 से 2000 तक व्यक्ति रहते है। पूर्वी बंगाल में जनसंख्या का घनत्व 600 से 1000 और ग्रामीण चीन मे 600 से 800 व्यक्ति प्रति वर्गमील का है। उत्तरी-पश्चिमी यूरोप के विस्तृत मैदानो का विशेषकर हॉलैण्ड, बेल्जियम, डेनमार्क, जर्मनी

और रूस के मैदानों का भी यही हाल है। उत्तरी अमेरिका मे वैज्ञानिक रीति की खेती, बड़े-बड़े कल-कारखाने, व्यापार और घनी आबादी के क्षेत्र मिसीसिपी के मैदान, अटलाण्टिक तटीय मैदान और महाद्वीपीय तटीय मैदान मे ही स्थित है। वास्तव मे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के मानसूनी प्रदेश और यूरोप के शीतोष्ण खण्डो मे विश्व की $\frac{1}{7}$ भूमि पर सम्पूर्ण जनसंख्या का $\frac{2}{3}$ भाग पाया जाता है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कृषक जातियों को शिकारी तथा पशु चराने वाली जातियों की भाँति भोजन के लिए प्रतिदिन की दौड़-धूप नही करनी पड़ती। इस कारण ये जातियाँ कृषि-प्रधान देशों मे अवकाश का समय शिक्षा, साहित्य, कला तथा अन्य विद्याओ के अध्ययन मे व्यतीत करती हैं।

मैदान और मानव सभ्यता—आदिकाल से ही मैदान सभ्यता के केन्द्र रहे है। विस्तृत मैदानों में सभ्यता का विकास होता है जिससे मानव की भावनाएँ परिष्कृत और विशाल होती है किन्तु पहाड़ी भागों में एक छोटे देश की सभ्यता ठूँठ पेड की भाँति रह जाती है जिसमे न पत्तियाँ होती है, न फूल और न फल। मैदानों मे अनेक जातियो के मिश्रण से विचारो में विशालता आती है। मानव मुख्यतः दयालु, अहिंसक और परोपकारी बन जाता है। भारत की सभ्यता बहुत प्राचीन है। इसका जन्म गंगा, सिन्धु के किनारे प्राचीन आर्यो द्वारा हुआ। इसी प्रकार चीन की सभ्यता का केन्द्र वीहो नदी की घाटी और मिस्र की सभ्यता का स्रोत नील नदी की घाटी था। यहाँ भी घाटियाँ चारों ओर पर्वतों से घिरी थी। अतः बहुत काल तक विदेशी आक्रमणकारियों का कोई प्रभाव नही पड़ सका। इस प्राचीन सभ्यता मे मनुष्य खेती द्वारा भरण-पोषण करके शेष समय दर्शनशास्त्र के अध्ययन, उसके मनन और अन्य बातो के सोचने में व्यतीत करता था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं और सरलतापूर्वक सन्तुष्ट भी हो जाती थीं किन्तु आधुनिक सभ्यता मे इन बातों का कोई स्थान नहीं है। आज की सभ्यता भौतिक सभ्यता है, क्योंकि आज के मानव की आवश्यकताएँ असीम है और उनमे से प्रत्येक का पूरा करना भी बड़ा कठिन है। जिस घाटी अथवा प्रदेश में होकर नदियाँ बहती हैं उसे वे धनवान और समृद्धशाली बना देती है। वर्तमान भौतिक सभ्यता का जन्म-स्थान पश्चिमी यूरोप का वह निचला भाग है, जिसे नदियों ने बनाया है।

मैदान और मानव के व्यवसाय—मैदानो में जलवायु और मिट्टी के अनुसार अनेक प्रकार के व्यवसाय किये जाते हैं। जहाँ उपयुक्त जलवायु और उपजाऊ मिट्टी मिल जाती है, वे मैदान कृषि के प्रधान क्षेत्र बन जाते है। गगा, सिन्धु, ह्वांगहो, नील, दजला, फरात और मिसीसिपी नदियाँ इसके उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करती है। इनमे कृषि स्थायी रूप से की जाती है। गंगा और सिन्धु के मैदानों में गेहूँ, चावल, तिलहन, गन्ना, कपास, ज्वार, बाजरा तथा तम्बाकू बहुत पैदा होती है। ह्वागहो की घाटी में चावल, सोयाफली; नील की घाटी में कपास, गेहूँ, गन्ना, तम्बाकू और मिसीसिपी के मैदान में कपास, रुई, मकई विस्तृत पैमाने पर पैदा की जाती हैं। किन्तु साइबेरिया के निचले भू-भाग और अमेजन की घाटी तथा दलदली भूमि अत्यधिक सर्दी और गर्मी के कारण कृषि-कार्यो के लिए अनुपयुक्त हैं। कृषि की दृष्टि से मिसीसिपी के मैदान अधिक महत्त्वपूर्ण है। पहले यहाँ पशु-पालन तथा बिसन भैंसों का शिकार ही किया जाता था किन्तु अब इनमें खाद्यान्न, उत्पादन और वैज्ञानिक ढगों से पशु-पालन किया जाता है। नदियों द्वारा सिंचाई की जाकर एक बहुत बड़े क्षेत्र को उत्पादक बनाया जाता है। इसी कारण भारत को गंगा का दान, मिस्र को नील का दान और पाकिस्तान को सिन्धु नदी का दान कहा जाता है। किन्तु कभी-कभी ये नदियाँ बाढ़ के समय अपने निकटवर्ती क्षेत्रों में बड़ा विनाशकारी दृश्य उपस्थित कर देती है। वर्षाऋतु में भारत में ब्रह्मपुत्र, गंगा, कोसी, दामोदर, महानदी, गोदावरी, जमुना; चीन में ह्वांगहो और अमरीका मे मिसीसिपी नदियाँ ऐसे ही दृश्य उपस्थित कर देती है जिससे अपार जन-धन की हानि होती है। अतएव नदियों पर अब बाँध बनाकर इनके जल को नियन्त्रित किया जा रहा है।

तटीय मैदानों में जल के एकत्रित होते रहने तथा जल-प्रवाह के ठीक न होने के कारण दलदल बन जाते है। ऐसे भागो मे न केवल मिट्टियाँ खारी जलयुक्त होती है वरन् मैंग्रोव-प्रभृति वन मिलते हैं तथा जनसंख्या का अभाव होता है। किन्तु अब मानव ने इन प्रदेशों के दलदलों को वैज्ञानिक ढंगो से सुधारने का प्रयत्न किया है। बेल्जियम और हॉलैण्ड में इस प्रकार के प्रयास बड़े सफल हुए है। नीदरलैण्ड्स मे तीन-चौथाई क्षेत्र समुद्र के धरातल से भी नीचा है, अत. अनेक बार लहरो के साथ समुद्र का जल भूमि की ओर बढ आता था। राइन, म्यूज तथा अन्य छोटी नदियो के डेल्टा मे दलदली भूमि का आधिक्य होने से कृषि और अधिवास के लिए अनुपयुक्त स्थिति थी। अतः इस भूमि का पुनरुद्धार करने का कार्य आरम्भ किया गया। इसके अन्तर्गत निचले भागों से समुद्री जल को हटाया गया है। इसके तटीय भागो में बाँध बनाने का कार्य 10वीं शताब्दी से प्रारम्भ किया गया है। किन्तु महत्त्वपूर्ण योजना ज्वीडरजी को सुखाने की है। इसके अन्तर्गत ऊपरी भाग मे बाँध बनाया गया है। इसकी लम्बाई लगभग 300 फुट है।

समुद्रतटीय मैदानों मे मछली पकड़ने, मोती, घोंघे तथा सीपें एकत्रित करने का कार्य भी किया जाता है। अनेक मैदानी भागों मे खनिज पदार्थ भी निकाले जाते हैं। टैक्सास तथा कम्बे, बंगाल की खाड़ी, थार के मरुस्थल आदि क्षेत्रो में पेट्रोलियम के विशाल भण्डार अनुमानित किये गये है। रूमानिया में भी मिट्टी का तेल निकाला जाता है। जर्मनी, बेल्जियम और फ्रांस के मैदानी भागों में कोयला मिलता है तथा भारत में स्वर्णरेखा और सोना नदियों की बालू से सोना प्राप्त होता है।

मैदान और यातायात के साधन—मैदानी भू-भागों में समतल भूमि और मुलायम धरातल होने से यातायात के साधनों के बनाने मे बड़ी सुविधा होती है। मैदानों मे न केवल रेले और सड़के ही सुगमता से बनायी जा सकती है बल्कि नदियाँ भी धीमी बहने के कारण उत्तम जल-मार्ग प्रदान करती है। रेल-मार्गो की कमी के कारण यातायात का कार्य भारत की गंगा और ब्रह्मपुत्र; पाकिस्तान की सिन्धु, चीन की यांगटिसीक्यांग; यूरोप की राइन, रोन, डेन्यूब और वोल्गा तथा अमरीका की सेण्ट लॉरेंस और मिसीसिपी तथा दक्षिणी अमरीका की अमेजन नदियों पर निर्भर है। झील-प्रदेश, फ्रांस, जर्मनी या इंगलैण्ड और रूस के मैदानों मे नहरों द्वारा भी यातायात की सुविधा होती है। सपाट भूमि होने के कारण वायुयान ठहरने के स्थान भी मैदान मे ही बनाये जाते हैं।

मैदान और सुरक्षा—मैदान चारो ओर से खुले और समतल होते है। अत. मैदानों मे सुरक्षा का अभाव रहता है। कोई भी शत्रु आसानी से ऐसे भागों मे पहुँच कर आक्रमण कर सकता है। भारत मे गंगा, सिन्धु का मैदान और यूरोप मे बड़ा मैदान तथा चीन मे ह्वांगहो व यांगटिसीक्याग नदियों के मैदान प्राचीन समय मे आक्रमणकारियों के लक्ष्य रहे है। आज भी मैदानी भाग युद्ध के सर्वप्रथम कोपभाजन बनते है। द्वितीय महायुद्ध में जर्मन सेनाओं ने बिना कारण ही हॉलैण्ड और बेल्जियम को—मैदानी भाग होने से—रौंद डाला था।

मैदानों से जहाँ मानव को बहुत से लाभ है वहाँ बहुत-सी हानियाँ भी है। मैदानों में प्रायः खनिज पदार्थो का अभाव पाया जाता है जो आज की औद्योगिक उन्नति के लिए बहुत ही आवश्यक है। कुछ मैदान इतने गरम होते है कि वहाँ रहना बड़ा ही कष्टप्रद होता है। फिर ऐसे मैदान भी पाये जाते हैं जो या तो मरुस्थल है या घने जंगलों से ढके है। अतः ऐसे मैदानों का मानव के लिए कोई उपयोग नही है।

पठार
(Plateaus)

पठार धरातल का एक विशिष्ट स्थल-रूप है। सम्पूर्ण धरातल का लगभग 18 प्रतिशत

भाग पठारो से घिरा हुआ है ।[1] यद्यपि मानव आवास की दृष्टि से इनका अपेक्षाकृत कम महत्त्व है, किन्तु खनिज पदार्थो के तो ये अमूल्य कोष हैं । ससार के अधिकांश बहुमूल्य खनिज पठारों से ही प्राप्त होते है । इसके अतिरिक्त पठारों ने मानव-जीवन को अन्य कई प्रकार से भी प्रभावित किया है । अत भौगोलिक अध्ययन में पठारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

सामान्यत· पठार ऐसे भू-भाग को कहा जाता है जो अपने आसपास के स्थल से पर्याप्त ऊँचा हो और ऊपर से काफी चौडा और चपटा हो । **वोरसेस्टर** के अनुसार, "Plateaus aie highlands with laige summit areas" किन्तु उक्त परिभाषा से पठार की सभी विशेपताएँ प्रकट नही होतीं । अपितु यह एक बहुत ही भ्रमपूर्ण परिभाषा है, क्योकि उच्च प्रदेश एक सापेक्षिक शब्द है । कई बार पठार पर्वतों से ऊंचे भी होते हैं जबकि कई स्थानों पर मैदान पठारों से भी ऊँचे है । अत: ऊँचाई की दृष्टि से पठारो और पर्वतों तथा पठारों और मैदानों में भेद करना सम्भव नही होता । पठार ऊपर से मेज की भाँति चपटे होते है जबकि पर्वत ऊपर से शिखरयुक्त होते है । मैदानो में ढाल सर्वत्र मन्द होता है और उसकी एक सीमा पर यकायक ऊँची भूमि आ जाती है, जबकि पठारों की एक सीमा ऐसी आती है जहाँ एकदम सपाट ढाल आ जाता है और यकायक नीची भूमि प्रारम्भ हो जाती है । **अतः धरातल पर ऊँचे उठे हुए वे भाग जो ऊपर से समतल किन्तु एक अथवा उससे अधिक और अपने आसपास के भू-भाग से ढाल द्वारा अलग हो जाते है, पठार कहलाते है ।**

पठार की कुछ विशेष परिभाषाएँ निम्न प्रकार है :

"Tabular uplands having a relief of more than 500 feet may be arbitrarily defined as plateaus." —*Finch and Trewartha*

"A plateau is an extensive flattish area that has been uplifted without essential deformation." —*Freeman and Raup*

"Plateaus are those larger land features which have considerable relief, and at the same time, a surface more flat than sloping." —*Seeman*

"Plateaus are characteristic of the youthful stage of the cycle of erosion." —*Dr. R. N. Dubey*

साधारणतः पठारों की ऊँचाई 600 फुट से 3000 फुट मानी गयी है परन्तु ससार मे इनसे भी कई ऊँचे पठार हैं । उदाहरणतः संयुक्त राज्य अमरीका मे कोलम्बिया पठार की ऊँचाई 7000 से 8000 फुट है । दक्षिणी अमरीका मे बोलिविया का पठार 10,000 से 12,000 फुट ऊँचा है और एशिया मे तिब्बत का पठार 20,000 फुट ऊँचा है । अधिकांश बड़े-बड़े पठार और कुछ छोटे पठारो का पर्वतो से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । इन पठारो की रचना या तो पृथ्वी की आन्तरिक हलचलो के कारण समतल भू-भाग के ऊपर उठ जाने से अथवा उनके आसपास के भू-भाग के नीचे खिसक जाने से अथवा ज्वालामुखी क्रिया के कारण होती है । बहुत-से छोटे-छोटे पठार जो अपने निकटवर्ती स्थल से ऊपर उठे हुए पाये जाते हैं, अपरदन के परिणामस्वरूप बनते हैं ।

जब किसी भी प्रकार से पठारों की रचना हो जाती है तो उन पर बाह्य शक्तियों का बड़ा शीघ्र प्रभाव होता है । ऊँचे उठे हुए होने के कारण इनका अपरदन बड़ी तीव्रता से होता है । स्थान-स्थान पर ये कट-फट जाते हैं । नदियों के कारण इन पर यत्र-तत्र गहरी और संकीर्ण घाटियाँ बन जाती हैं । कभी-कभी नदियों द्वारा इनका कटाव इतना अनोखा होता है कि इनका स्वरूप बिलकुल बदल जाता है । कही पर इनकी आकृति पर्वतों के समान और कहीं मैदानों के अनुरूप दिखाई पडने लगती है । **वोरसेस्टर** के शब्दो में, "The surfaces of plateaus may be plains like

[1] N. A. Bengston and W. Van Royen : *Fundamentals of Economic Geography*, p. 32

in quality, very flat, rolling or hilly, or they may be so dissected by streams and glaciers that it is difficult to recognise their original plateau characteristics."
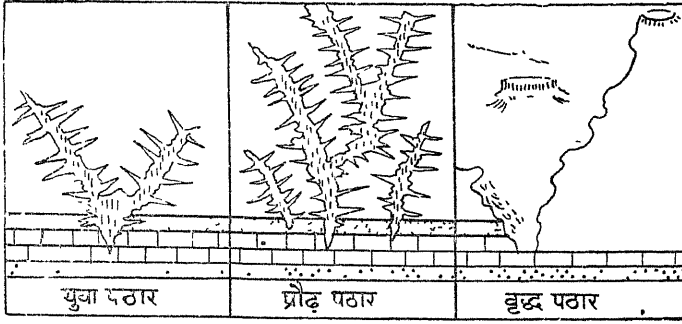
चित्र 414—पठारों की रचना

ऐसी अवस्था मे इन भू-भागों के बीच भेद करना अति कठिन हो जाता है। डा० दुबे ने इसीलिए पठारों को अपरदन-चक्र की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक कहा है।[1]

पठारों का वर्गीकरण
(Classifications of Plateaus)

पठार अपनी स्थिति, संरचना, आकृति, जलवायु एवं उत्पत्ति आदि बातो मे एक-दूसरे से बहुत ही भिन्न होते है। इस कारण पठारों को किसी एक आधार पर विभाजित करना सम्भव नहीं है। प्रयोजन के अनुसार पठारों को कई प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है .

(क) उत्पत्ति के आधार पर,
(ख) स्थिति के आधार पर,
(ग) जलवायु के आधार पर,
(घ) आकृति के आधार पर,
(ङ) संरचना के आधार पर।

उत्पत्ति के आधार पर पठारों का वर्गीकरण

पठारों के निर्माण की प्रक्रिया के आधार पर उनके निम्न भेद किये जा सकते है—(1) जलीय पठार, (2) वायव्य पठार, (3) हिम्य पठार, और (4) उत्स्यन्द पठार।

(1) **जलीय पठार** (Plateaus of Acqueous Origin)—जैसा इनके नाम से प्रकट है, इन पठारों की उत्पत्ति जल के द्वारा होती है। प्राय: जल मे मिश्रित पठारो की ही उत्पत्ति होती है, परन्तु कभी-कभी साधारण पठार भी बन जाते है। जब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती है तो अपनी तलछट वही जमा कर देती है। यही तलछट कालान्तर मे शिलाओं का रूप ले लेती है। कभी-कभी भू-गर्भिक हलचलो के कारण ये शिलाएँ पठार के रूप में समुद्र से बाहर आ जाती हैं। भारत का विन्ध्य पठार इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। डा० **चिब्बर** के अनुसार यह पठार पूर्णतया बलुआ पत्थर से बना हुआ है। असम में चेरापूँजी का पठार बलुआ पत्थर की एक किस्म **'चेरा'** पत्थरों से बना हुआ है। कई जगह पठार केवल चूने की चट्टानो से ही बने पाये जाते है। जैसे बर्मा का शान पठार चूने के पत्थरों से ही बना है।

---

1 Dr. R. N. Dubey : *Physical Basis of Geography*, p. 194

(2) **वायव्य पठार** (Plateaus of Aeolian Origin)—ऐसे पठार वायु के परिवहन एवं निक्षेपण से बनते है। इन पठारो का सर्वोत्तम उदाहरण चीन के उत्तर-पश्चिम मे स्थित लोयस पठार है। कुछ लोगो ने इस पठार की उत्पत्ति जल से मानी है परन्तु जर्मन वैज्ञानिक **रिचटोफेन** ने इसकी उत्पत्ति पछुआ हवाओ द्वारा स्वीकार की है। इस पठार के भीतर स्थल-जीवो के अनेक अवशेष मिले है जो वायु द्वारा इसकी उत्पत्ति को स्पष्ट करते है। इस पठार मे नदियो ने बहुत ही गहरी घाटियाँ बना दी है। कई स्थानों पर घाटियो की दीवारे एकदम सीधी और सैकड़ो फुट ऊँची है। पश्चिमी पाकिस्तान के रावलपिण्डी जिले का पोटवार का पठार भी ऐसा ही पठार है। इसमे भी अनेक गहरी घाटियाँ है।

(3) **हिम्य पठार** (Plateaus of Glacial Origin)—धरातल के कई भू-भाग हिमानियो के अपरदन अथवा निक्षेप के फलस्वरूप पठारों मे बदल गये है। जैसे कई स्थानो पर हिमानियों ने अपने मार्ग मे पड़ने वाली पहाड़ियों को घिस-घिसाकर पठार मे बदल दिया है। ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका के पठार महाद्वीपीय हिमनदो के प्रभाव का ही फल है। उत्तर प्रदेश मे गढवाल का पठार भी हिम-घर्षित पठार बताया जाता है।

बहुत से पठार हिमानियो द्वारा निक्षेपित पदार्थों से बन गये है। जैसे जर्मनी के उत्तर-पूर्व मे प्रशा का पठार इसी तरह बना है। कश्मीर मे पाये जाने वाले 'मार्ग' (Margs) भी हिमानियों के निक्षेप का फल है।

(4) **उत्स्यन्द पठार** (Plateaus of Effusive Origin)—ऐसे पठारो की उत्पत्ति ज्वालामुखी के उद्गार से निकले लावा के चारो ओर फैलकर जम जाने से होती है। भारत मे दक्षिण का पठार और संयुक्त राज्य अमरीका में कोलम्बिया का पठार इसके सर्वोत्तम उदाहरण है। दक्षिण का पठार क्रिटेसियस (Creataceous) युग के अन्त में तथा कोलम्बिया का मियोसीन (Miocene) युग में लावा फैल जाने से बने हैं।

स्थिति के आधार पर पठारों का वर्गीकरण

स्थिति के अनुसार पठारो के चार भेद किये जाते है—(1) अन्तरपर्वतीय पठार, (2) पर्वतपदीय पठार, (3) महाद्वीपीय पठार और (4) तटीय पठार।

(1) **अन्तरपर्वतीय पठार** (Intermont Plateau)—जो पठार चारों ओर से पर्वतमालाओ द्वारा घिरे होते हैं, वे अन्तरपर्वतीय पठार कहलाते हैं। ये प्रायः काफी ऊँचे होते है, पर इनका विस्तार कम होता है। संसार के सर्वोच्च पठार इसी श्रेणी में आते हैं। इन पठारों का जन्म पर्वतों के बनने अथवा पर्वतों मे मोड़ पड़ने के समय होता है। वस्तुतः ये पठार दो अभिनतियों अथवा सीमान्त श्रेणियों के बीच विस्तृत मध्यपिण्ड (median mass) हैं। यही कारण है कि ये पठार ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं के बीच स्थित होते है। विश्व के सर्वोच्च पठार इसी श्रेणी मे आते है। एण्डीज पर्वतो मे स्थित बोलिविया का पठार समुद्र तल से 10-15 हजार फुट ऊँचा है। हिमालय से घिरा हुआ तिब्बत का पठार भी समुद्र-तल से तीन मील ऊँचा है। मंगोलिया और तारीम के पठार भी ऐसे ही पठार है। कभी-कभी ये पठार आन्तर-अपवाह प्रदेश बन जाते है।
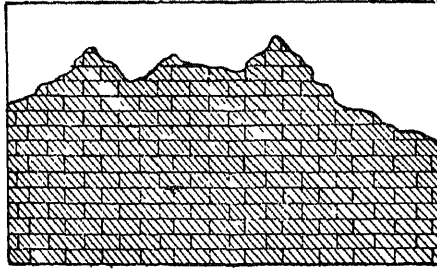
चित्र 415—अन्तरपर्वतीय पठार

(2) **पर्वतपदीय पठार** (Piedmont Plateau)—ऐसे पठार ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की तलहटी मे स्थित होते है । वस्तुत. ये पर्वतों के तल और मैदानो के बीच उठे हुए समतल भाग है । ये किसी ऊपर उठते हुए पर्वत के साथ मैदान के ऊपर उठ जाने से बनते है । साधारणत. ये पठार कुछ अपवादो को छोडकर बडे ही सकीर्ण और छोटे होते है और इनका ढाल प्राय: खड़ा होना है । दक्षिणी अमरीका मे पैटेगोनिया का पठार इसी श्रेणी मे सम्मिलित किया जाता है । अप्लेशियन पहाड के पूर्व और पश्चिम मे भी ऐसे पठार देखे जाते हैं ।
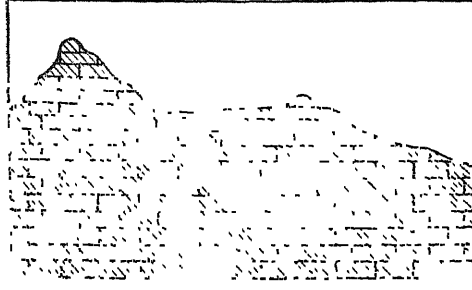
चित्र 416—**पर्वतपदीय पठार**

(3) **महाद्वीपीय पठार** (Continental Plateau)—ऐसे पठार धरातल के ऊपर उठ जाने के कारण बनते है । परन्तु कभी-कभी लावा के अपरिमित निक्षेप से भी इनका जन्म हो जाता है । भारत में दक्षिण का पठार लावा की अनेक परतो के जमने से ही बना है । ये पठार स्थल के विशाल और विस्तृत उच्च प्रदेश है । ऐसे पठार समीप के भू-भाग से स्पष्ट ही ऊपर उठे हुए दिखाई देते है और सभी ओर खड़ा ढाल होता है । साधारणत: इन पठारों का विस्तार बहुत अधिक होता है किन्तु कही-कही पर ये कम विस्तार के भी देखे जाते है । कम विस्तार वाले पठार अधिक विस्तार वाले पठारो के कट जाने के कारण बनते है । भारत मे दक्षिण का पठार, यूरोप मे बोहेमिया तथा स्पेन का पठार, आस्ट्रेलिया मे पश्चिमी भाग का पठार तथा अरब और दक्षिणी अफ्रीका के पठार सब इसी श्रेणी में सम्मिलित किये जाते है ।
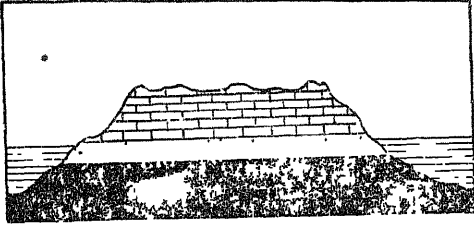
चित्र 417—**महाद्वीपीय पठार**

(4) **तटीय पठार** (Coastal Plateau)—जो पठार समुद्र-तल पर स्थित होते है उन्हें तटीय पठार कहा जाता है । भारत मे कारोमण्डल का पठार ऐसा ही पठार है ।
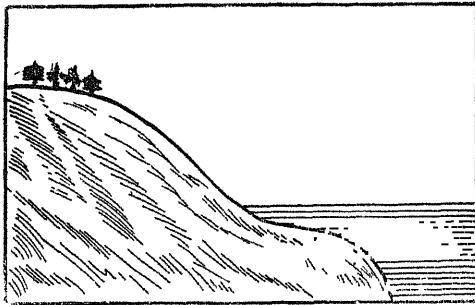
चित्र 418—**तटीय पठार**

जलवायु के आधार पर पठारों का वर्गीकरण

जलवायु के आधार पर पठारों के तीन भेद किये जाते है—(1) शुष्क पठार, (2) आर्द्र पठार, और (3) हिम पठार।

(1) **शुष्क पठार** (Arid Plateaus)—जो पठार शुष्क अथवा मरुस्थलीय प्रदेशों मे स्थित होते है वे शुष्क पठार कहे जाते है। शुष्कता के कारण इन पठारों की भूमि प्राय. समतल होती है। यहाँ बहने वाली नदियाँ गहरी घाटियों का निर्माण करती है। विशेषकर जो नदियाँ बहुत ही घनी वर्षा वाले भागो से बहकर आती है वे शुष्क पठारो में अत्यन्त ही गहरी घाटियाँ काट देती है।
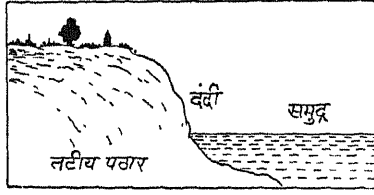
चित्र 419—तटीय पठार

इन पठारों में बहने वाली नदियाँ कभी-कभी समुद्रों में न गिरकर अन्त:प्रवाही होती है। अत: वे किसी झील या बडी नदी में मिल जाती है, जैसे—तारिम के शुष्क पठार की नदियाँ। ऐसे पठारों की श्रेणी मे पाकिस्तान का पोटवार का पठार भी शामिल किया जा सकता है।

(2) **आर्द्र पठार** (Humid Plateaus)—जो पठार घनी वर्षा वाले भागों मे स्थित होते है, उन्हें आर्द्र पठार कहा जाता है। घनी वर्षा के कारण नदियाँ इन भागों के पठारों को काटकर ऊबड-खाबड़ रूप दे देती है। असम मे चेरापूंजी का पठार इसी कारण स्थान-स्थान पर कटा हुआ है। कही-कहीं पर नदियाँ पठार को इतना अधिक काट-छाँट देती है कि उस पठार का रूप ही बदल जाता है। जैसे आस्ट्रेलिया के पठार के पूर्वी भाग का पठारी रूप बिलकुल ही समाप्त हो चुका है परन्तु आस्ट्रेलिया के पश्चिमी पठार का रूप ज्यों का त्यों बना हुआ है। स्पष्ट है कि आस्ट्रेलिया का पूर्वी भाग आर्द्र है और पश्चिमी भाग शुष्क। अत: पूर्वी भाग का पठार कट-कटाकर एक पर्वत के रूप में बदल गया है और पश्चिमी पठार बिलकुल अप्रभावित है।

(3) **हिम पठार** (Ice Plateaus)—ये पठार सुदूर ध्रुव प्रदेशों में स्थित पाये जाते है और सदा बर्फ से ढके रहते हैं। ग्रीनलैण्ड और अण्टार्कटिका इसके सर्वोत्तम उदाहरण है।

आकृति के आधार पर पठारों का वर्गीकरण

आकृति के अनुसार भी पठारों का भेद किया जा सकता है। इस दृष्टि से पठारों के चार भेद किये जा सकते है—(1) गुम्बदाकार पठार, (2) विच्छेदित पठार, (3) सीढीनुमा पठार और (4) पुनर्युवित प्राय:सम मैदान।

(1) **गुम्बदाकार पठार** (Dome-shaped Plateaus)—ऐसे पठारों का बाह्य रूप गुम्बद के समान गोलाकार होता है, इसलिए इन पठारो को गुम्बदाकार पठार कहते है। भारत में छोटा नागपुर का पठार इसका उदाहरण है।

(2) **विच्छेदित पठार** (Dissected Plateaus)—ऐसे पठार नदी-नालो के प्रभाव से बहुत ही कटे-फटे होते हैं, जैसे—असम का पठार।

(3) **सीढ़ीनुमा पठार** (Step-like Plateaus)—जैसा इनके नाम से विदित होता है, इन पठारों का धरातल सीढियों के अनुरूप होता है। अत. ये सीढीनुमा पठार कहलाते हैं। विन्ध्य का पठार इसका अच्छा उदाहरण है।

(4) **पुनर्युवित प्राय:सम मैदान** (Rejuvenated Peneplain)—अरावली प्रदेश ऐसे ही मैदान का उदाहरण है।

संरचना के आधार पर पठारों के भेद

मैदानो की भाँति पठार भी सरचना मे बहुत भिन्न होते है। संरचना की दृष्टि से पठारों के निम्न वर्ग किये जा सकते है—(1) अनुप्रस्थ शैल-स्तर वाले पठार, (2) बेसाल्ट लावा के पठार, एवं (3) प्राचीन स्फटीय चट्टानों के पठार।

(1) **अनुप्रस्थ शैल-स्तर वाले पठार**—ऐसे पठारो मे आधारभूत स्फाटीय चट्टानो के ऊपर अवसादी शैले लगभग अनुप्रस्थ रूप से बिछी हुई पायी जाती है। कोलम्बिया का पठार इसका उत्तम उदाहरण है। दक्षिणी अफ्रीका के विशाल पठार के ऊपर भी अवसादी शैल का ही प्रभुत्व देखा जाता है।

(2) **बेसाल्ट लावा के पठार**—पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका मे कोलम्बिया का पठार लावा के पठार का अच्छा उदाहरण है। लावा के दरारी उद्‌भेदन मे ऐसे पठारो की रचना होती है। इन पठारों पर लावा की अनुप्रस्थ तहें विभिन्न मोटाई की होती है। भारत मे दकन के पठार के उत्तरी-पश्चिमी भाग की संरचना इसी प्रकार की है।

(3) **प्राचीन स्फटीय चट्टानो के पठार**—बाह्य शक्तियो के अपरदन के वशीभूत कई ऊँचे-पर्वत घिसकर समतल उच्च प्रदेश मे बदल जाते है। पश्चिमी आस्ट्रेलिया का पठार इसका उदाहरण है। इसके अतिरिक्त पूर्वी ब्राजील, मध्य अफ्रीका एवं प्रायद्वीपीय भारत के पठार भी इसी श्रेणी में सम्मिलित किये जा सकते है।

पठारों का मानव-जीवन पर प्रभाव

यद्यपि पठार अपनी ऊबड-खाबड़ प्रकृति के कारण मानव आवास की दृष्टि से विशेष उपयोगी नही होते, फिर भी उष्ण कटिबन्धीय भागो में गर्मियो मे जहाँ मैदान बहुत अधिक गरम हो जाते है और लोगो का जीवन कष्टप्रद हो जाता है वहाँ पठार अपनी ऊँचाई के कारण लोगों को अपनी शीतलता से बड़ी राहत पहुँचाते हैं। यही कारण है कि उष्ण कटिबन्ध मे अधिकांश लोग पठार पर ही बसना पसन्द करते है। इसके अतिरिक्त पठार मानव-जीवन को अन्य कई प्रकार से प्रभावित करते है जिनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है :

पठार और खनिज सम्पत्ति—सामान्यत. पठारी प्रदेश प्राचीन कठोर चट्टानों से बने होते है। अधिकाश खनिज कठोर चट्टानो में ही पाये जाते है। अतः पठारी प्रदेश सदैव ही खनिजो के भण्डार होते है। उदाहरणत विश्व में दक्षिणी अफ्रीका का पठार, दकन का पठार, पश्चिमी आस्ट्रेलिया का पठार, साइबेरिया में लीना का पठार, यूरोप में बोहेमिया का पठार, संयुक्त राज्य अमेरिका मे कोलोरेडो, अरीजोना, यूटाह, ओहियो के पठार, केनेडियन शील्ड व ब्राजील का पठार अपनी सचित खनिज निधि के लिए प्रसिद्ध है। दक्षिणी अफ्रीका के पठार पर विश्व प्रसिद्ध हीरे, सोने व ताँबे की खाने है। लीना, पश्चिमी आस्ट्रेलिया व संयुक्त राज्य अमरीका मे रॉकीज मे स्थित पठार सोने के उत्पादन मे बहुत ही अग्रणीय हैं। भारत मे अधिकांश कोयला, लोहा, मैगनीज व अभ्रक छोटा नागपुर के पठार और मुख्य दकन के पठार से ही खोदा जाता है। यूरोप के पठारी प्रदेश मे लोहे व कोयले के अतुल भण्डार हैं। ब्राजील का पठार हीरे, सोना, मैगनीज व लोहा आदि खनिजों के लिए प्रसिद्ध है। किसी भी देश की समुचित उन्नति वहाँ पाये जाने वाले खनिजो पर ही आधारित है। इसी दृष्टि से पठार किसी भी स्थान के आर्थिक जीवन को बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं।

पठार और परिवहन के साधन—पठारी प्रदेश धरातल के अपेक्षाकृत कम ऊँचे भाग है। किन्तु इसका धरातल ठोस और दृढ़ होता है। यहाँ पत्थर एव कंकड़ सरलता से उपलब्ध होते है। अतः पठारी भागो मे सड़के व रेले बनाना सुगम होता है। भारत मे अधिकांश पक्की सडके दक्षिण के पठारी भाग पर ही बनी हुई है। पठारो पर बनी सड़कों को बार-बार मरम्मत करने

की आवश्यकता नही पड़ती। यद्यपि ऊँचे पठारी भागों मे रेले निकालना थोड़ा कठिन होता है, परन्तु कम ऊँचे पठार रेलमार्ग बनाने के लिए उत्तम होते है। छोटा नागपुर के पठार की उन्नति मे बहुत बड़ा योग वहाँ की सड़कों और रेलों का ही है।

पठार और वनस्पति—पठारी भाग प्राय: प्राकृतिक वनस्पति मे बहुत ही सम्पन्न होते है। अच्छी वर्षा वाले पठारो पर संघनन जगल मिलते है जो देश को आर्थिक समृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक होते है। कई पठारों पर वर्षा की कमी के कारण अच्छी घास पैदा होती है। सामान्यत पठारो के निचले ढालों पर भी घास पायी जाती है। ऐसे सभी पठार जहाँ प्रचुर मात्रा में घास पैदा होती है, पशुपालन व्यवसाय के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते है। दक्षिणी अफ्रीका का वेल्ड का पठार और आस्ट्रेलिया के पूर्वी पठार घास की प्रचुरता के कारण ही पशुपालन व्यवसाय मे उन्नति कर गये हैं। पेटेगोनिया, साइबेरिया और एशिया माइनर का पठार भेड-पालन के लिए प्रसिद्ध है। इन प्रदेशों से काफी ऊन निर्यात होती है।

पठार और जनसंख्या—पठार अधिकतर पथरीले तथा ऊँचे-नीचे होते है। अत. पठारी भागों पर समतल उपजाऊ भूमि का अभाव पाया जाता है। समतल भूमि के अभाव के कारण यहाँ कृषि की विशेष उन्नति नही हो पाती है। परिणामस्वरूप वहाँ जनसख्या भी अपेक्षाकृत कम पायी जाती है। कुछ पठार अपवादस्वरूप बहुत उपजाऊ होते है। ऐसे स्थानों पर जनसंख्या भी अधिक मिलती है। उदाहरणत', भारत मे मालवा का पठार लावा से बना होने से बहुत ही उपजाऊ है और घना बसा हुआ है। अधिकांश पठारो पर जनसंख्या खनिज-केन्द्रों के आसपास बढ़ जाती है। जैसे ग्रेट आस्ट्रेलियन मरुस्थल पर कालगूर्ली और कूलगार्डी नगर और दक्षिणी अफ्रीका के पठार पर किम्बरले तथा छोटा नागपुर के पठार पर रानीगज, झरिया, बोकारो आदि नगर इसी प्रकार जनसंख्या के घने केन्द्र बने हैं। पठारों पर अधिकाश लोग लकड़ी काटने, गोंद, लाख व छाल आदि पदार्थ एकत्रित करने व भेड़ चराने आदि का कार्य करते है। इन व्यवसायों में अधिक जनसंख्या की गुजर एक जगह नही हो सकती। यही कारण है कि पठारो पर जनसख्या कम पायी जाती है। पठारों पर ज्यादातर घुमक्कड़ (nomads) और पिछड़े हुए आदिवासी जाति के लोग रहते हैं।

पठार और जलवायु—किसी भी स्थान पर मानव-जीवन की उन्नति बहुत कुछ वहाँ पायी जाने वाली जलवायु पर निर्भर करती है। यद्यपि पठारों की औसत ऊँचाई 2000 फुट मानी गयी है किन्तु कुछ पठार पर्वतों से भी अधिक ऊँचे है। उदाहरणत:, बोलविया का पठार 12,000 फुट और तिब्बत का पठार 18,000 फुट ऊँचा है। ऐसे कुछ और भी ऊँचे पठार है। इन पठारों की अत्यधिक ऊँचाई के कारण यहाँ की जलवायु बहुत ठण्डी है। कई पठार अपनी स्थिति के कारण सदैव हिम से ढके रहते है, जैसे ग्रीनलैण्ड एव अण्टार्कटिका। ये एक प्रकार के शीत मरुस्थल हैं। कुछ पठार ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं से घिरे होने से समुद्री हवाएँ वहाँ पहुँचने मे असमर्थ रहती हैं। अत. ये वृष्टि-छाया प्रदेश हो गये है। कई पठार अयन रेखाओं पर स्थित होने से प्रचलित हवाओ से दूर पड जाते है, अत ऐसे पठार वर्षा से वचित रह जाते हैं। वर्षा न होने से ये पठार बिलकुल शुष्क रहते हैं, जैसे तिब्बत का पठार और पश्चिमी आस्ट्रेलिया का पठार आदि। सामान्यत: पठारों पर घनी वर्षा होती है। किन्तु घनी वर्षा से लाभ होने के बजाय हानि ही अधिक होती है। जिन पठारी भागो में जल-प्रवाह की उत्तम व्यवस्था नहीं होती वे दलदल में परिणत हो जाते है और मलेरिया आदि रोगों के घर बन जाते है। इस प्रकार कई पठार अत्यधिक ठण्डी, शुष्क अथवा आर्द्र जलवायु के कारण मानव-निवास के लिए अनुपयोगी होते हैं। इसके विपरीत कई पठार अपनी स्वास्थ्यवर्द्धक जलवायु के कारण मानव के आकर्षण-केन्द्र होते है।

पठार और कृषि—कृषि मानव का प्रमुख व्यवसाय है। कृषि के लिए समतल व उपजाऊ भूमि चाहिए। परन्तु पठारों पर समतल भूमि का अभाव पाया जाता है। पठारों की भूमि बहुत ही ऊबड़-खाबड़ होती है। अतः वहाँ कृषि करना सम्भव कम होता है। कई पठार अत्यधिक शीतलता अथवा शुष्कता के कारण कृषि के लिए अनुकूल नही होते। कई पठारो पर यद्यपि कृषि के लिए समतल भूमि उपलब्ध है किन्तु पानी की कमी, सिंचाई की असुविधा व ऊँचाई आदि कारणो से आवागमन की कठिनाइयो के फलस्वरूप वहाँ कृषि का विकास नहीं हो पाता। इसके विपरीत, कुछ पठार जो सामान्य ऊँचाई वाले है तथा उपजाऊ लावा मिट्टी से बने हुए है, कृषि के लिए बड़े ही महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन गये है। जैसे भारत मे दकन के पठार पर कपास की अच्छी खेती की जाती है।

37

प्रमुख स्थल रूप—पर्वत

(MAJOR LANDFORMS—MOUNTAINS)

पृथ्वी के प्रमुख स्थल-रूपो का उनकी रचना के आधार पर अध्ययन भूगोल का बड़ा ही रुचिकर क्षेत्र है। जिस रीति से इन स्थल-रूपों का विकास हुआ है वह उनके वर्गीकरण का ठोस आधार प्रदान करती है। स्थल-रूपो का ऐसा वर्गीकरण और भू-पटल पर उनका वितरण, पृथ्वी पर मनुष्य के वर्तमान वितरण और वातावरण के साथ उसके विभिन्न सम्बन्धों को समझने के लिए अधिक उत्तम विचार प्रस्तुत करता है।

पृथ्वी का धरातल सर्वत्र एकसा नही है। यह कही ऊँचा और कही नीचा है, कही समतल और कही ऊबड़-खाबड़ है। कही इस पर घाटियाँ और कही दरारे हैं, कही ज्वालामुखी और कही
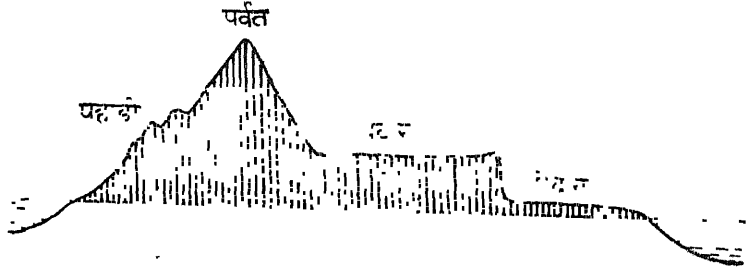
चित्र 420—पर्वत, पठार तथा मैदान

द्वीप हैं, कहीं पठार और कही पर्वत हैं। इस प्रकार धरातल पर अनेक स्थल-रूप दिखाई पड़ते है, किन्तु प्रधान स्थल-रूप तीन हैं—(1) पर्वत, (2) पठार और (3) मैदान। मानव-जीवन पर इन तीनों स्थल-रूपों का प्रभाव पड़ता है।

पर्वत धरातल के ऊँचे स्थल-भाग हैं। पृथ्वी के स्थल-रूपों में इनका विशिष्ट स्थान है। इनका रूप इतना मनोरम और कौतूहलपूर्ण होता है कि ये बरबस ही मानव-मन को आकर्षित कर लेते है। यद्यपि सम्पूर्ण धरातल का केवल 27 प्रतिशत भाग ही पर्वतों से घिरा हुआ है[1] किन्तु फिर भी ये मानव-जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। ये न केवल मनुष्य के लिए मनोरंजन एवं स्वास्थ्यवर्द्धक स्थल ही प्रस्तुत करते है अपितु ये मानव के व्यवसाय, व्यापार, परिवहन

[1] N. A. Bengston and W. Van Royen : *Fundamentals of Economic Geography*, p. 32.

मार्ग, जलवायु और जनसंख्या आदि पर जिस प्रकार प्रभाव डालते है उसके फलस्वरूप पर्वतों का अध्ययन भूगोल का एक अपरिहार्य और अभिन्न अग बन गया है।

पर्वत प्रमुख रूप से धरातल के ऊँचे स्थल-भाग है। ये अपने आस-पास के क्षेत्र से यथेष्ट ऊँचे उठे हुए होते है। आधार की अपेक्षा इनका शीर्ष-क्षेत्र छोटा और पृष्ठ (surface) का अधिकांश भाग तीव्र ढालयुक्त होता है। समतल भूमि से इनका ढाल प्राय 26° से 35° का कोण बनाते हुए होता है। ये अपनी ऊँचाई, ढाल और सकीर्ण शीर्ष-क्षेत्रो के द्वारा ही मैदानों एवं पठारों से भिन्न होते है। अधिकांशतः पर्वत अपने आकार, प्रकार और रूप मे इतने विचित्र और भिन्न होते है कि प्राय: एक विस्तृत पहाडी और पर्वत मे कोई अन्तर ज्ञात नही होता। किन्तु पर्वत सामान्यत पहाड़ियो की अपेक्षा अधिक ऊँचे और अधिक बड़े होते है। पहाड़ियों की अपेक्षा पर्वत अधिक विषम और जटिल प्रकृति के होते है। यो विशाल पर्वत सहज ही अलग पहचाना जा सकता है परन्तु एक नीचे पर्वत और पहाड़ी मे भेद करना प्राय: असम्भव होता है। क्योंकि समुद्र-तल से किसी पर्वत और पहाडी की ऊँचाई का कोई महत्त्व नही है। महाद्वीपो के भीतर स्थित कई पर्वत और पहाड़ियों के आधार ऊँचाई में अक्सर सैकड़ों फुट होते है। अत· पर्वत और पहाड़ी के बीच अन्तर मुख्यत स्थानीय ऊँचाई-नीचाई के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रो० फिंच के अनुसार **जो भू-भाग अपने आसपास के क्षेत्र से** 2000 **फुट से अधिक ऊँचा हो, पर्वत कहलाता है।** इस दृष्टि से ऊँचे-नीचे तल वाले ऐसे अनेक भू-भाग जो स्थानीय रूप से पर्वत कहे जाते है, सहज ही पर्वतो के क्षेत्र से अलग हो जाते है।

सेलिसबरी ने पर्वतो की व्याख्या करते हुए कहा कि **"पर्वत स्थल के वे भाग हैं जो अपनी पर्याप्त ऊँचाई के कारण अपने समीपवर्ती क्षेत्र की अपेक्षा बहुत स्पष्ट होते है, किन्तु उनके शीर्ष का विस्तार बहुत कम होता है।"**

("Mountains are consrpicuously highlands which have but slight summit areas.")

फ्रीमेन के अनुसार, "Mountains are earth features of greater relief than hills, their surfaces normally have less level land than plateaus or plains."

सीमेन के अनुसार, "Mountains are those major landforms which have slight summit area and considerable relief."

पर्वतों की ऊपर वर्णित विशेषताओं को दृष्टिगत रखकर कह कहा जा सकता है कि स्थल का वह भू-भाग जो अपने समीपीय क्षेत्र से कम से कम 2000 फुट से अधिक ऊँचा हो और शीर्ष चोटीनुमा तथा पृष्ठ तीव्र ढालयुक्त हो, पर्वत कहलाता है।

पर्वतों की उत्पत्ति
(Origin of Mountains)

पर्वतो की उत्पत्ति का विषय बड़ा ही विवादास्पद है। यद्यपि पर्वतों की रचना में सम्पीडन (compression) ही प्रमुख शक्ति है। किन्तु यह सम्पीडन शक्ति कहाँ से और कैसे उत्पन्न होती है, इस बारे में विद्वानो में बड़ा मतभेद है। इसके अतिरिक्त पर्वतों की निर्माण-क्रिया के सम्बन्ध में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार है। अत. पर्वतों के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों की विवेचना नीचे प्रस्तुत की जा रही है :

(1) **तापीय संकुचन का सिद्धान्त** (The Thermal Contraction Theory)—हम यह भलीभाँति जानते है कि पृथ्वी को अपने वर्तमान रूप तक आने मे कई अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ा है। पृथ्वी का आदि-रूप भट्टी मे खौलते हुए पदार्थो के समान था। धीरे-धीरे ठण्डी होकर पृथ्वी द्रव अवस्था को प्राप्त हुई और अन्त में द्रव से वह ठोस अवस्था में बदल गई। इस प्रकार

पृथ्वी का ऊपरी धरातल सर्वत्र ही ठोस है परन्तु उसका अन्तरंग (interioi) आज भी उत्तप्त है। किन्तु पृथ्वी के शीतल होने की क्रिया बराबर जारी है। विकिरण (radiation) द्वारा पृथ्वी की आन्तरिक गर्मी निरन्तर नष्ट होती रहती है जिससे पृथ्वी शीतल हो रही है। शीतल होने पर प्रत्येक पदार्थ सिकुड़ता है और अपने आयतन में घट जाता है। पृथ्वी के अन्तरंग मे भी ताप की कमी के साथ-साथ संकुचन हुआ जिससे उसका पदार्थ सिकुड़ गया। अन्तरग के पदार्थ के सिकुड़ने पर उसका पृथ्वी के ऊपरी ठोस स्तर से अलगाव हो गया। पृथ्वी का ऊपरी ठोस स्तर अब बिना सहारे के रह गया। फलत. गुरुत्वाकर्षण शक्ति के वशीभूत अब वह नीचे की ओर धंसने लगा जिससे उस पर दबाव पडा। इस दबाव के कारण ही पृथ्वी का धरातल ऊँचा-नीचा हो गया और उस पर पर्वत बन गये।

शीतल होने पर प्रत्येक पदार्थ सिकुडता है और वह अपने आयतन मे घट जाता है। इस आधार पर पृथ्वी का शीतल होना भी कुछ समझ में आता है। किन्तु इस सिद्धान्त में तेजोद्गार (radio-active) पदार्थों का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। इन पदार्थों के वियोजन से पृथ्वी के भीतर बड़ी मात्रा मे ताप उद्विकसित होता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी के भीतर इन पदार्थों से विकसित ताप की मात्रा विकिरण द्वारा खोये हुए ताप की मात्रा से अधिक होती है। अतः भू-पटल के सिकुड़ने का कोई प्रश्न ही नही उठता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त तेजोद्गार पदार्थों के विचार के अभाव मे असत्य सिद्ध होता है।

उपरोक्त सिद्धान्त के गलत सिद्ध हो जाने पर जैफ्रे (Geffreys) ने इसकी पुनः जाँच की। काफी खोजबीन के बाद वह गणित द्वारा इसकी नवीन व्याख्या देने मे सफल हुआ। इसकी इस नवीन व्याख्या से तापीय संकुचन का सिद्धान्त फिर से मान्य हो उठा।

जैफ्रे की धारणा है कि भू-पृष्ठ की रचना से लेकर आज तक पृथ्वी के भीतरी मध्य भाग के तापमान मे विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। उसने गणना करके बताया है कि इस भाग पर शीतल होने की क्रिया का कोई प्रभाव नही हुआ। किन्तु इसके ऊपर की विभिन्न परतों में शीतल होने की क्रिया घटित होती है। इन परतो मे से कोई भी परत एक नियत अवधि में अपने से नीची वाली परत से अधिक शीतल हो जाती है। शीतल होने पर वह सिकुड़ने की चेष्टा करती है। परन्तु नीचे की उष्ण परत उसके सिकुड़ने मे बाधा डालती है। फलतः वहाँ प्रत्याबल की अवस्था (state of stress) उत्पन्न हो जाती है। ये प्रत्याबल इस प्रकार वहाँ नीचे बराबर एकत्रित होते रहते है और जब उनकी शक्ति चट्टानो की परिदृढता (rigidity) से बढ़ जाती है तो पर्वत-निर्माणकारी हलचलें प्रारम्भ हो जाती है। ये हलचलें तब तक होती रहती है जब तक कि प्रत्याबल की अवस्था एकत्र नहीं हो जाती। प्रत्याबलों के समाप्त हो जाने पर पर्वत-निर्माण क्रिया भी बन्द हो जाती है। किन्तु धीरे-धीरे जब प्रत्याबल पुन बहुत अधिक एकत्रित हो जाते हैं तो फिर से पर्वत-निर्माण क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार पर्वत-निर्माण का यह चक्र बराबर चलता रहता है।

यद्यपि इस सिद्धान्त ने पर्वत-निर्माण क्रिया को समझने में बड़ी सहायता पहुँचाई है किन्तु अनेक बातों से इसकी यथार्थता सिद्ध नही होती।

इस सिद्धान्त को मान लेने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यदि पृथ्वी के शीतल होने और भीतरी भागों मे सिकुड़न पड़ने से ही धरातल पर पर्वतों की रचना होती है तो फिर भू-पटल पर सर्वत्र पर्वत रचना होनी चाहिए, परन्तु पर्वत रचना धरातल के कुछ विशेष भागों में ही सीमित देखी जाती है। दूसरे जैफ्रे की धारणा के अनुसार धरातल पर पर्वतों का निर्माण निरन्तर होते रहना चाहिए था परन्तु अध्ययन करने से यह पता चलता है कि पर्वतों का निर्माण कुछ निश्चित समय के अन्तर पर ही हुआ है। जैफ्रे ने इस सम्बन्ध में यह उक्ति प्रस्तुत की है कि 'प्रत्याबल चट्टानों की इस सीमा से अधिक नहीं हो जाता तब तक चट्टानों पर उसका कोई प्रभाव नही होता, इसलिए

पर्वत-निर्माण के समय मे अन्तर रहता है। उसने धरातल पर बिछी हुई ग्रेनाइट चट्टानो को आधार मानकर गणना द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि पृथ्वी के जन्म से लेकर आज तक धरातल पर पर्वत-निर्माण के पाँच युग हुए हैं। यद्यपि उसका यह निष्कर्ष बहुत कुछ सही है परन्तु उसमे एक त्रुटि है। जैफ्रे के अनुसार, ज्यो-ज्यो पृथ्वी शीतल होती गयी, त्यो-त्यो पर्वत-निर्माण की अवधि मे भी अन्तर बढ़ता गया। परन्तु इसके विपक्ष में ऐसे कई प्रमाण है जिनसे यह सिद्ध होता है कि पर्वत-निर्माण के बीच का अन्तर प्रायः समान रहा है।

जैफ्रे ने धरातल का सकुचन केवल शीतल होने की क्रिया से ही माना है। जबकि धरातल मे यह संकुचन भीतरी द्रव पदार्थ (magma) मे रवे बनने की क्रिया तथा अन्तरंग से वाष्प तथा गैसो के निकलने से भी होता है। किन्तु उसने इनकी कोई गणना नही की है। अत अपनी गणना से जितना संकुचन वह मानता है वह वास्तविक सकुचन के बराबर नही है।

कई विद्वानों ने यह भी शंका प्रकट की है कि क्या दो अरब वर्षो में पृथ्वी इतनी शीतल हुई होगी कि जिससे आल्प्स और हिमालय जैसे पर्वतों की रचना हो सके। वस्तुतः इन पर्वतों की रचना के लिए जिस संकुचन मात्रा की आवश्यकता है वह पृथ्वी की शीतल होने की क्रिया से असम्भव प्रतीत होती है।

(2) **डेली की महाद्वीपों के विसर्पण सम्बन्धी परिकल्पना** (Daly's Theory of Sliding Continents)—पर्वत-निर्माण के सम्बन्ध मे डेली (Daly) की धारणा यह है कि जब भू-अभिनति (geo-syncline) के अवसाद की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है तो वह भार के कारण नीचे दबती जाती है। इस प्रकार के दबाव अथवा पदार्थ के नीचे धँसने से उसकी गहराई बढ़ती जाती है और उसकी ओर स्थलखण्डो का अधःसर्पण (down-sliding) होने लगता है। इस अधःसर्पण के फलस्वरूप उसका नितल (bottom) फट जाता है जिससे स्थलखण्डों के अनेक टुकड़े बेसाल्ट मे नीचे धँस जाते है। धरातल के इस अधः-स्तर में ताप की अधिकता रहती है। ताप की अधिकता से यहाँ स्थल के टुकडे तथा भू-अभिनति के अवसाद गरम होकर फैलने लगते है। फैलने की उनकी इस क्रिया से धरातल से लगी हुई अवसादी चट्टानो मे उदग्र गति होने लगती है जिससे पर्वत-निर्माण होता है।

इस परिकल्पना की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि जहाँ इससे उन्मज्जन अथवा उदग्र गति स्पष्ट हो जाती है वहाँ यह क्षितिजोत्तर गति को स्पष्ट करने मे एकदम असफल रही है। पर्वतों में मोड़ अथवा भजन किस प्रकार हुआ इस पर डेली ने कोई विचार ही नही किया है।

(3) **वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त** (Continental Drift Theory of Wegner)—महाद्वीपो के जन्म के बारे मे अध्ययन करते समय हम पीछे वेगनर के प्रवाह सिद्धान्त पर भली प्रकार विचार चुके है। प्रवाह सिद्धान्त केवल महाद्वीपो की उत्पत्ति को ही स्पष्ट नही करता, अपितु यह पर्वत-निर्माणकारी हलचलों को भी समझाता है। वेगनर का कहना है कि प्रवाहित महाद्वीपो के अग्र भाग (frontal edges) जब महासागरो के अवरोधी (resistant) नितल से टकराते है तो वे अग्र भंजित (falded) हो जाते है अथवा उनमे दरार पड़ जाती है। विश्व के सभी बड़े-बड़े पर्वतों की रचना इसी प्रकार हुई हैं। इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध भू-गर्भशास्त्री आरगण्ड (Argand) और स्टॉब (Staub) ने अपना मत प्रकट करते हुए बताया है कि अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर की ओर प्रवाहित होने से टेथिस महासागर के पदार्थ भंजित हुए और उनसे आल्प्स पर्वतमाला की रचना हुई। इसी प्रकार एशिया के अवरोधी स्थलखण्ड साइबेरिया के दक्षिण की ओर खिसकने से गोंडवाना भूमि से टक्कर हुई जिससे हिमालय पर्वतमाला का निर्माण हुआ। रॉकीज तथा एण्डीज पर्वतो की रचना भी उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के प्रवाहित होने व प्रशान्त महासागर की तली से टक्कर होने के कारण हुई बताते है।

यह सिद्धान्त यद्यपि वर्तमान समय में बहुत अधिक मान्य हुआ है किन्तु इसे ज्यों का त्यों मान लेने मे सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जिन शक्तियो के वशीभूत महाद्वीप प्रवाहित होते है उन शक्तियों के बारे मे वेगनर ने कोई चर्चा नही की है। दूसरे, वेगनर ने महाद्वीपो को इतनी भिन्न दिशाओं में खिसकते हुए बताया कि उनका कोई सूत्र ही समझ मे नही आता। अत जब तक उन शक्तियों का स्पष्टीकरण नही हो जाता, जिनसे महाद्वीपों का प्रवाह हुआ है तब तक यह सिद्धान्त स्वीकार नही किया जा सकता।

(4) **भू-सन्तुलन के पुनःस्थापन का सिद्धान्त** (Theory of Isostatic Re-adjustments)–भू-सन्तुलन सिद्धान्त के प्रणेता प्रसिद्ध अमरीकी भू-गणितवेत्ता (geodesists) **हेफोर्ड** तथा **बोवी** है। इन विद्वानो की मान्यता है कि यदि हम भू-पटल के ऊपरी स्तर को समान आधार (base) मान लें तो भू-पटल को समान ऊँचाई वाले एक से स्तम्भों मे बाँटा जा सकता है। साधारणत. इन स्तम्भो मे सन्तुलन बना रहता है। किन्तु अनाच्छादन की शक्तियाँ धरातल के उच्च भागो को सदैव काटती रहती हैं। फलत उच्च भू-भाग अपरदन के कारण घिसकर क्षीण होते जाते है और उनका भार घटता जाता है। इसके विपरीत अपरदित पदार्थ महासागरो मे जमा होता जाता है जिससे उनका भार बढता जाता है। अत' जब धरातल के पर्वत-स्तम्भो का भार बहुत अधिक घट जाता है और सागर-स्तम्भों का भार बढ जाता है तो सन्तुलन की दशा बिगड़ जाती है। फलतः सन्तुलन को ठीक बनाये रखने के लिए धरातल के लम्बवत भू-खण्ड ऊपर-नीचे होते है। पर्वत-स्तम्भ हल्के होने से ऊपर उठ जाते है और सागर-स्तम्भ भारी होने से नीचे बैठ जाते है। इस प्रकार धरातल के लम्बवत भू-खण्ड रूपी स्तम्भो के ऊपर उठने और नीचे धंसने से पर्वतो का निर्माण होता है।

यह सिद्धान्त सरल और सहजग्राह्य है किन्तु जैसा पर्वतों की रचना के लिए आवश्यक है, इसमे क्षितिजोत्तर हलचलो (horizontal movements) का कोई उल्लेख नहीं है। केवल उदग्र गतियों से ऐसे वलित पर्वत नही बन सकते। सम्भव है कि सन्तुलन की दशाओ का पर्वत-निर्माण पर प्रभाव होता हो परन्तु उससे विशाल पर्वतो की रचना नही हो सकती। अतः यह सिद्धान्त पूर्ण सत्य न होकर आंशिक रूप से ही सत्य है।

(5) **पृथ्वी की आवर्तन गति में अन्तर पड़ने का सिद्धान्त** (Change in Earth's Rotation)—कई वैज्ञानिकों का यह मत है कि महासागरो मे उत्पन्न ज्वार-लहर उथले सागरों मे पहुँचने पर उसकी तली को धक्का लगाती है जिससे इस भू-भाग में कुछ सिकुड़न (contraction) होती है। इस सिकुड़न के कारण पृथ्वी की भ्रमण गति मन्द पड़ जाती है। किसी भी भ्रमणशील वस्तु का आकार सदैव उसके घूमने की गति के अनुरूप ही होता है। यदि घूमने की गति मे अन्तर पड़ता है तो उसके आकार में अन्तर पड़ना भी निश्चित और स्वाभाविक है, अतः संकुचन के कारण पृथ्वी की भ्रमण गति मे अन्तर पड़ने से भूमध्य रेखा के समीप एकत्रित पदार्थ ध्रुवों की ओर बढ़ने लगता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप भू-पटल पर तनाव और खिचाव पैदा होता है जिससे धरातल पर ऊँचे-नीचे स्थान बन जाते है।

पर्वत-निर्माण के सम्बन्ध मे यह सिद्धान्त बड़ा ही दोषपूर्ण है। अनेक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्धान्त असत्य सिद्ध हो चुका है। प्रथम तो ऐसा कोई प्रमाण हमें उपलब्ध नही होता कि भूमध्य रेखा पर एकत्रित पदार्थ ध्रुवों की ओर हट रहा है। दूसरे, अनेक प्रमाणों द्वारा यह भी सिद्ध किया जा चुका है कि इस प्रकार के संघर्ष से उत्पन्न सकुचन पर्वत-निर्माणकारी हलचलो के लिए कदापि पर्याप्त नही हो सकता।

(6) **जौली का तापीय-चक्र सिद्धान्त** (Thermal Cycle Theory of Jolly)—इस सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना पीछे महाद्वीपों की उत्पत्ति पर विचार करते समय की जा चुकी है। जौली की मान्यता है कि महाद्वीपीय भाग जो सियाल (sial) के बने हुए है सीमा (sima) पर

तैर रहे हैं। महाद्वीपों के नीचे सीमा वाले स्तर को अध स्तर (substratum) कहा जाता है। इस अधःस्तर मे बडी मात्रा में तेजोद्गार पदार्थ विद्यमान है जिनके वियोजन से काफी परिमाण मे ताप उत्पन्न होता है। सियाल के स्तर मे सीमा से भी अधिक तेजोद्गार पदार्थ पाये जाते है। परन्तु इस स्तर मे विकसित ताप का कुछ भाग विकिरण द्वारा नष्ट हो जाता है, किन्तु यहाँ इतनी अधिक मात्रा मे ताप विकसित होता है कि विकिरण द्वारा खोये हुए ताप की पूर्ति सरलता से हो जाती है। सीमा मे विकसित ताप बाहर न निकल सकने के कारण वही एकत्रित होता रहता है। एक लम्बी अवधि मे वहाँ इतना अधिक ताप बढ जाता है कि उसका ऊपरी भाग पिघल जाता है। सीमा के पिघलने से उसका घनत्व कम हो जाता है जिससे उस पर आधारित महाद्वीप नीचे धँस जाते है और उनके निम्न भाग महासागर में डूब जाते है। एक लम्बी अवधि के पश्चात जब अधःस्तर में एकत्रित ताप पुनः महासागरों से होकर निकलने लगता है तो पहले की अवस्था बिलकुल पलट जाती है। प्रारम्भ मे जब अधःस्तर द्रवित अवस्था में था तो ऊपरी धरातल ठोस दशा में था और उस पर तनाव पड़ रहा है। किन्तु अब अध स्तर ताप के निकल जाने से शीतल होकर सिकुड़ता है जिससे उसका आयतन कम होने लगता है। इसके ऊपर का धरातल ठोस होने के कारण साथ-साथ सिकुड़ने में असमर्थ रहता है अतः ऊपरी धरातल अध.स्तर की अपेक्षा बड़ा रह जाता है। ऐसी दशा मे ऊपरी धरातल बिना सहारे हो जाता है। फलत गुरुत्वाकर्षण शक्ति के द्वारा वह नीचे धँसने लगता है। नीचे धँसने से उसमे सम्पीडन (compression) होता है। इस सम्पीडन के कारण महासागरों का तल महाद्वीपो से टकराता है जिससे महाद्वीपों के किनारे पर्वतो की रचना हो जाती है। सागर-तल में भी इस भिचाव के कारण अनेक उभार और गड्ढे बन जाते है।

इस सिद्धान्त के विषय मे विद्वानो ने अनेक शकाएँ प्रकट की है। उनका कहना है कि तापीय चक्र से जो दबाव उत्पन्न होगा वह इतना अधिक नही होगा कि उससे पर्वतों की रचना हो सके।

प्रशान्त महासागरो के चारों ओर बनी अन्य पर्वत-श्रेणियाँ इस सिद्धान्त द्वारा अवश्य स्पष्ट हो जाती है परन्तु धरातल पर बनी अन्य पर्वत-श्रेणियाँ इससे स्पष्ट नही हो पाती। साथ ही साथ अटलाण्टिक महासागर के तट पर इस प्रकार की पर्वत-श्रेणियों का अभाव इस सिद्धान्त के बारे में शंका उत्पन्न कर देता है।

(7) **होम्स का संवाहन-परिवाह सिद्धान्त** (Convection Current Theory of Holms)—**होम्स** का मत है कि पृथ्वी के ऊपर और भीतर होने वाली समस्त हलचलों का कारण तापमान ही है। भू-गर्भ में ताप के थोड़ा-सा बढ जाने पर प्रसार और घट जाने पर संकुचन होने लगता है। इन क्रियाओं से धरातल के सन्तुलन में व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाता है जिससे भू-पटल पर अनेक हलचले होती हैं। अत यह मान लेना असगत न होगा कि धरातल पर होने वाली पर्वत-निर्माण-कारी हलचलो का सम्बन्ध भी ताप से अवश्य है।

पृथ्वी का प्रारम्भिक रूप द्रव था। द्रव अवस्था से पृथ्वी ठोस अवस्था को प्राप्त हुई है। पृथ्वी के शीतल होने की क्रिया मे सवाहन का निश्चय ही बड़ा हाथ रहा होगा। होम्स ने सुझाया है कि पृथ्वी के शीतल होने की प्रारम्भिक अवस्था मे उसके अध.स्तर (substratum) मे सवाहन की धाराएँ उत्पन्न हुई होगी। अध स्तर से आने वाली इन धाराओं के कारण भीतरी उष्ण और हल्का पदार्थ भी साथ-साथ ऊपर उठा होगा और कुछ स्थानों पर ठीक धरातल के नीचे पहुँच गया होगा। संवाहन की तीव्रता से कही-कही पदार्थ बाहर भी निकल पड़ा होगा। सवाहन धाराएँ जब ऊपर उठकर धरातल तक पहुँचती है तो वे चारों ओर फैल जाती है। धरातल पर चलने वाली ऐसी दो धाराएँ जब किसी स्थान पर परस्पर मिलती हैं तो टकराकर पुनः धरातल के नीचे की ओर चलने लगती है। नीचे की ओर चलने वाली धाराएँ प्रायः शीतल होती है। उनके साथ वाला पदार्थ भी

अपेक्षाकृत शीतल और भारी होता है। इस प्रकार धरातल पर ऊपर उठने वाली तथा धरातल से नीचे जाने वाली धाराओ के बीच तापमान मे अन्तर होता है। धाराओ के साथ आने-जाने वाले पदार्थ के ताप और घनत्व मे भी अन्तर रहता है। पदार्थ के घनत्व का यह अन्तर तथा ताप का विभेदन सवाहन क्रिया को आवश्यक शक्ति प्रदान करता है। सवाहन-परिवाह का क्रम उस समय तक बराबर चलता ही रहता है जब तक कि पदार्थ पूर्णत शीतल होकर जमने नहीं लग जाता।

विद्वानो ने प्रारम्भ मे सवाहन-परिवाह के सम्बन्ध मे कई सन्देह प्रकट किये। उनका कहना था कि सवाहन द्वारा पृथ्वी के शीतल होने की क्रिया बहुत ही लम्बे समय तक न चली होगी। सचालन, विकिरण और आग्नेय क्रियाओं के द्वारा सतत रूप से ताप पृथ्वी के आभ्यन्तर से निकलकर नष्ट होता रहता है। इस प्रकार ताप की निरन्तर कमी से सवाहन धाराओं का क्रम टूट गया होगा क्योंकि संवाहन-परिवाह निरन्तर रूप से ताप की उपलब्धि पर निर्भर है। पृथ्वी के गर्भ मे विद्यमान अनेक तेजोद्गार पदार्थ (यूरेनियम, रेडियम, थोरियम) अपने वियोजन द्वारा निरन्तर ताप विकसित करते रहते है जिससे पृथ्वी के खोये हुए ताप की सरलता से पूर्ति हो जाती है और वह संवाहन क्रिया को बनाये रखने के लिए पर्याप्त भी है। अत. इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे प्रारम्भ मे उठायी गयी यह शंका अब निर्मूल सिद्ध हो गयी है।

भू-गर्भ से आने वाली सवाहन धाराएँ जब धरातल के समीप पहुँचकर क्षितिजोत्तर दिशा मे प्रवाहित होने लगती है तो उनका धरातल के ऊपर बडा भारी प्रभाव होता है। ऊपर उठकर जहाँ कही ये धाराएँ चारो ओर अपसरित (diverge) होती है वहाँ धरातल पर खिचाव अथवा तनाव (tension) उत्पन्न होता है और जहाँ ये धाराएँ अभिबिन्दुक (converge) होती है वहाँ धरातल पर सम्पीडन (compression) पैदा होता है। अत इस मत के अनुसार धरातल पर पर्वतों की रचना उन्हीं स्थानो पर होती है जहाँ सवाहन धाराएँ भिन्न दिशाओं से आकर मिलती हैं और संघर्षस्वरूप भूमि में नीचे की ओर चलने लगती है।

धरातल के नीचे चलने वाली सवाहन धाराओ का प्रवाह वेग कही भी सदा रुका नही रहता। धाराओ का प्रवाह वेग प्रायः घटता-बढता रहता है। यही नहीं, किसी-किसी स्थान पर प्रवाह वेग क्षीण होते-होते धाराएँ बिलकुल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार भूमि के किसी एक भाग में जब संवाहन धाराओं की व्यवस्था नष्ट हो जाती है तो नवीन भू-भाग में सवाहन की नवीन परिवाह व्यवस्था प्रतिस्थापित हो जाती है। इस प्रकार इस सिद्धान्त से धरातल के विशेष भागों मे पर्वतो की रचना का कारण स्पष्ट हो जाता है।

होम्स के सवाहन-परिवाह सिद्धान्त की **ग्रिग्स** (Griggs) ने अपने प्रयोगों द्वारा भी पुष्टि की है। ग्रिग्स ने पृथ्वी से मिलते-जुलते पदार्थ लेकर पृथ्वी का एक प्रतिरूप (model) तैयार किया। इस प्रतिरूप मे संवाहन धाराओं के सस्थापन के लिए दो घूमने वाले ढोल (rotating drums) बनाये गये। इन ढोलों को जब सलग्न चित्र मे बताये गये तीरो की दिशा मे घुमाया जाता है तो उनका ऊपरी धरातल बीच से नीचे की ओर धँसकने लगता है। ज्यों-ज्यों परिभ्रमण का वेग बढता है त्यों-त्यों धँसाव अधिकाधिक होता है पर जैसे-जैसे परिभ्रमण का वेग घटता है नीचे धँसा हुआ धरातलीय भाग पुनः ऊपर उठता जाता है। धरातल पर होने वाली पर्वत-निर्माण क्रिया भी कुछ इसी प्रकार होती है। इस तरह ग्रिग्स के प्रयोगों व सिद्धान्त में निहित अन्य बातों के आधार
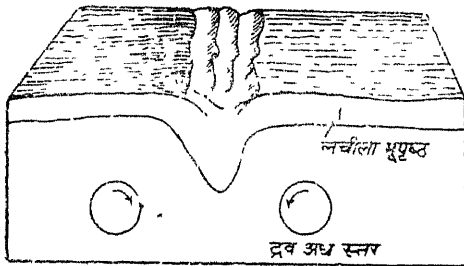
चित्र 421—**ग्रिग्स के अनुसार पर्वत-निर्माण**

पर पर्वत-निर्माण के सिद्धान्तों में सवाहन-परिवाह का सिद्धान्त ही अधिक बुद्धिसगत प्रतीत होता है।

(8) **कोबर का भू-अभिनतीय पर्वत-निर्माण का सिद्धान्त** (The Geo-synclinal Origin Theory of Kober)—कोबर मूलत सकुचन मत का मानने वाला था। उसने पृथ्वी के भू-पटल का अध्ययन कर यह धारणा निश्चित की कि पृथ्वी के अति कठोर प्राचीन भू-भाग—जो रूस, चीन, साइबेरिया, भारत, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, कनाडा, अफ्रीका एव अण्टार्कटिका मे स्थित थे—तथा गतिशील निर्बल क्षेत्र—भू-अभिनतियाँ—सदा एक-दूसरे के निकट स्थित रहे है। कठोर भू-भागों और निर्बल क्षेत्रों की यह स्थिति पर्वत-निर्माण की दृष्टि मे बड़ी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संकुचन के कारण निर्बल क्षेत्र ही पर्वतो के रूप मे ऊपर उठे। इस प्रकार सकुचन कोबर के पर्वत-निर्माण का मुख्य तथ्य है।

कोबर ने ससार में फैली पर्वत-श्रेणियो का भली-भाँति विश्लेषण कर अपने मत का प्रतिपादन किया। उसकी मान्यता है कि भू-अभिनतियो मे निक्षेपित अवसाद के द्वारा ही पर्वतों की रचना होती है। किन्तु भू-अभिनतियो के रूप के बारे मे उसके भिन्न विचार है। **हॉग** ने भू-अभिनति को एक सकीर्ण द्रोणी माना था किन्तु **कोबर** के अनुसार भू-अभिनति काफी लम्बी और चौड़ी द्रोणी थी। उसके अनुसार भू-अभिनति के दोनो ओर के अग्र प्रदेश संड़ासी के दोनो सिरो की भाँति एक-दूसरे के निकट आये जिससे उनके बीच मे स्थित निर्बल क्षेत्र का अवसाद भिच गया। उसने यह स्वीकार किया कि एक अग्र प्रदेश दूसरे से अधिक गतिशील रहा हो, किन्तु इस भिचाव से अन्ततोगत्वा अग्र प्रदेश के दोनों किनारो पर दो श्रेणियाँ बन जाती है। इन दोनों श्रेणियों को **किनारे की श्रेणियाँ** अथवा **रैण्डकेटन** (Border Ranges or Randketten) कहते हैं। यदि सम्पीडन की मात्रा बहुत अधिक हुई तो दोनो अग्र प्रदेश एक-दूसरे के बिल्कुल निकट आकर मिल जाते हैं। ऐसी अवस्था मे दोनों किनारों की श्रेणियाँ मिल कर ऊँची उठ जाती है। जिस रेखा पर वे दोनों मिलती है उस रेखा को **नार्ब** (Narbe) कहते हैं। स्विट्जरलैण्ड की आल्प्स श्रेणी एक ऐसा उदाहरण है।[1] जब दोनों अग्र प्रदेशों मे से किसी एक की गति या वेग कम होता है और किनारे की श्रेणियों के मध्य का भाग भिचाव से प्रभावित नहीं होता तो उस मध्यवर्ती भाग को ही **मध्यपिण्ड** (median mass) कहते हैं। इस मध्यपिण्ड के कारण दोनों ओर का मुलायम पदार्थ दो विपरीत दिशाओं में धकेल दिया जाता है जिससे वलन भी दो विपरीत दिशाओं में बन जाते है। कोबर ने यूरोप के वलित पर्वतो में कई मध्यपिण्ड बताये है। उसके मतानुसार कार्पेथियन और डिनारिक आल्प्स के बीच हंगरी का मैदान तथा वाल्कन प्रायद्वीप मे रोडोप का पठार और तुर्की मे अनातूलिया का पठार मध्यपिण्ड है। इसी तरह भूमध्यसागर के पश्चिम मे भी एक मध्यपिण्ड

चित्र 422—कोबर के अनुसार पर्वत-निर्माण
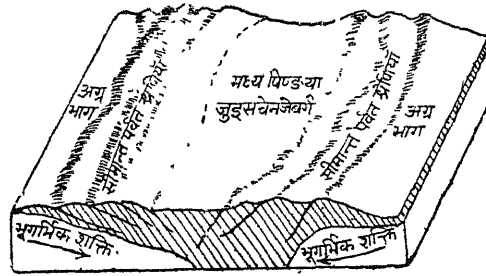
चित्र 423—मध्यपिण्ड

1 J. A. Steers : *Unstable Earth*, p. 146

था जो अब जलमग्न हो गया है। भूमध्यसागर में वर्तमान कार्सिका और सार्डीनिया द्वीप डरबी मध्यपिण्ड के अवशिष्ट भाग हैं।

यद्यपि पर्वत-निर्माण के सम्बन्ध मे स्वेस तथा कोबर के विचारो मे बहुत कुछ समानता पायी जाती है, किन्तु दोनो के विचारों में एक मुख्य भेद हैं। कोबर एक के स्थान पर दो अग्र प्रदेश मानता है। दोनों अग्र प्रदेशों के आगे बढने से ही भू-अभिनति का अवसाद भिचता है जिससे दोनों अग्र प्रदेशों के किनारो पर पर्वत-श्रेणियाँ बनती है। किन्तु स्वेस के अनुसार एक अग्र प्रदेश (foreland) और एक पृष्ठ प्रदेश (hinterland) होता है। पृष्ठ प्रदेश की ओर से भिचाव उत्पन्न होता है जिससे अग्र प्रदेश के सहारे एक पर्वत श्रेणी बन जाती है।
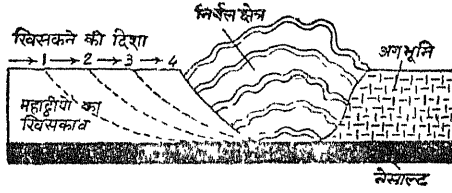
चित्र 424—स्वेस के अनुसार पर्वत-निर्माण

पर्वतों का वर्गीकरण
(Classification of Mountains)

ससार में पाये जाने वाले पर्वतो के अनेक रूप और प्रकार देखे जाते है। ये अपनी निर्माण प्रक्रिया, आयु, रूप, बनावट, चट्टानो और भू-आकारो मे एक-दूसरे से इतने भिन्न होते हैं कि कोई भी दो पर्वत आपस मे एकसमान नहीं होते।[1] इनका अध्ययन करने वालों के समक्ष प्रत्येक श्रेणी एक चुनौती प्रस्तुत करती है। अत पर्वतो के इतने प्रकार हो सकते है कि उन सबका वर्णन करना कदापि सम्भव नही हो सकता। यही कारण है कि पर्वतो का कोई सर्वसम्मत वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकता। कुछ विद्वानो ने पर्वतो का निम्न आधारों पर बर्गीकरण करने का प्रयास किया है :

(1) भौगोलिक व्यवस्था के आधार पर,
(2) ऊँचाई के आधार पर,
(3) आयु के आधार, पर,
(4) उत्पत्ति के आधार पर।

भौगोलिक व्यवस्था के आधार पर पर्वतों के भेद

प्रो० पी० जी० वोरसेस्टर ने पर्वतों को उनकी भौगोलिक व्यवस्था के अनुसार निम्न भागों मे बाँटा है :[2]

(1) **पर्वत समूह** (Cardillera)—एक ऐसे सामान्य उच्च प्रदेश को, जिसमे विभिन्न काल की और विभिन्न विधियों से बनी पर्वतमालाएँ, पर्वत-क्रम एवं पर्वत श्रेणियाँ विद्यमान हों, पर्वत समूह कहा जाता है। उत्तरी-पश्चिमी सयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटिश कोलम्बिया का कार्डिलेरा पर्वत समूह इसका उदाहरण है।

(2) **पर्वत तन्त्र** (Mountain System)—पर्वत तन्त्र एक ही काल और एक ही पर्वत से निर्मित अनेक पर्वत-श्रेणियों एवं पर्वत वर्गो से बना होता है। संयुक्त राज्य अमरीका का अप्लेशियन पर्वत इसका उत्तम उदाहरण है।

(3) **पर्वत-श्रेणी** (Mountain Range)—जब एक ही प्रकार से बने एक समान उम्र के अनेक पर्वत एक लम्बी तथा सँकरी पट्टी में व्यवस्थित होते हैं तो उसे पर्वत-श्रेणी कहा जाता है।

---

1. P G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 523
2. *Ibid* : p. 24-25

यद्यपि इनमें चट्टानों की बनावट और सरचना के कई स्थानीय भेद हो सकते है किन्तु समस्त पर्वत-श्रेणी का भू-आकृति इतिहास एकसमान होता है। हिमालय पर्वत-श्रेणी इसका उदाहरण है।

(4) **पर्वत-शृंखला** (Mountain Chain)—उत्पत्ति एवं आयु की दृष्टि से असमान पर्वत जब लम्बी और सँकरी पट्टियों में पाये जाते हैं तो उन्हें पर्वत शृखला कहा जाता है। यह शब्द ज्वालामुखी पर्वतो के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। उदाहरणतः, हवाई, एल्यूसियन और जापान के ज्वालामुखी।

(5) **पर्वत वर्ग** (Mountain Group)—कई स्थानो पर ऐसे उच्च स्थल-खण्ड पाये जाते है जो कई पर्वतों से मिलकर बने होते है, परन्तु उसमे पर्वतो की कोई निश्चित व्यवस्था नही पायी जाती। ऐसे सभो स्थल-भाग पर्वत वर्ग कहलाते है। सयुक्त राज्य अमरीका मे कोलोरेडो राज्य मे स्थित सान जुआन पर्वत वर्ग इसका अच्छा उदाहरण है। यह पर्वत हजारों वर्गमील क्षेत्र में फैला हुआ है और इसमें अनेक ऊँचे पर्वत है, परन्तु उनमे कोई व्यवस्था नही है।

(6) **पर्वत कटक** (Mountain Ridge)—जब कोई स्थलमण्डल वलन अथवा भ्रंशन क्रिया के कारण एक मेहराब के रूप में ऊपर उठ जाता है तो उसे पर्वत कटक कहा जाता है। सामान्यतः पर्वत कटक लम्बे और सँकरे होते हैं। अप्लेशियन पर्वत की नीली पर्वत कटक (blue ridge) इसका उदाहरण है।

(7) **एकाकी पर्वत** (Isolated Mountains)—कभी-कभी किसी स्थलभाग के अत्यधिक अपरदन के कारण अथवा ज्वालामुखीय क्रिया के कारण एकाकी पर्वतो की रचना हो जाती है। ये पर्वत अपवादस्वरूप ही मिलते है।

ऊँचाई के आधार पर पर्वतों के भेद

प्रो० फिंच ने ऊँचाई के आधार पर पर्वत को निम्न भागों में विभाजित किया है :[1]

(1) **नीचे पर्वत** (Low Mountains)—वे पर्वत जिनकी स्थानीय ऊँचाई 2000 से 3000 फुट तक होती है, उन्हें नीचे पर्वत कहते है।

(2) **कम ऊँचे पर्वत** (Rough Mountains)—वे पर्वत जिनकी स्थानीय ऊँचाई 3000 से 4500 फुट तक होती है; उन्हें कम ऊँचे पर्वत कहा जाता है।

(3) **साधारण ऊँचे पर्वत** (Rugged Mountains)—वे पर्वत जिनकी स्थानीय ऊँचाई 4500 से 6000 फुट तक होती है, उन्हे साधारण ऊँचे पर्वत कहा जाता है।

(4) **अधिक ऊँचे पर्वत** (Siessan Mountains)—वे पर्वत जिनकी स्थानीय ऊँचाई 6000 फुट से अधिक होती है उन्हें अधिक ऊँचे पर्वत कहते है।

आयु के आधार पर पर्वतों का वर्गीकरण

पृथ्वी पर अधिकांश बड़े-बड़े पर्वतों की उत्पत्ति भू-गर्भ में घटित होने वाली पर्वत-निर्माणकारी हलचलों के कारण होती है। ये पर्वत-निर्माणकारी हलचले अत्यन्त मन्द गति से दीर्घकाल तक होती रहती है। किन्तु भू-गर्भिक इतिहास के सन्दर्भ मे ये विप्लव की भाँति अल्पकालिक ही होती हैं क्योकि इनके बाद एक लम्बा शान्ति का काल रहता है। ये एक निश्चित काल में घटित होकर पुनः शान्त हो जाती है। इन हलचलो का क्षेत्र भी निश्चित नही है। ये धरातल के किसी एक सीमित भाग मे क्रियाशील होती है। अब तक पृथ्वी के भू-गर्भिक इतिहास में ऐसी नौ हलचलें हो चुकी है। इनमें से छह हलचलें कैम्ब्रियन काल के पूर्व और तीन उसके पश्चात् घटित हुई। कैम्ब्रियन काल के पूर्व में घटित हलचलों का विशेष महत्त्व नहीं है।

---

1 Finch and Trewartha : *Elements of Geography—Physical and Cultural*, p. 370

भू-गर्भिक इतिहास में पृथ्वी पर पर्वत-निर्माण के चार महत्त्वपूर्ण काल हुए है जो पर्वत-निर्माणकारी हलचलों से सम्बन्धित है। ये पर्वत-निर्माणकारी हलचलें भू-गर्भिक इतिहास के विभिन्न कालों में हुई जो क्रमशः निम्न प्रकार है :

(i) चर्नियन हलचले, (ii) केलीडोनियन हलचले,
(iii) हरसीनियन हलचलें, (iv) अल्पाइन हलचलें।

उपरोक्त चारों हलचलो के समय ही पृथ्वी पर बड़े-बड़े पर्वतो का जन्म हुआ। अतः पर्वतों को उनके निर्माण के काल के अनुसार चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :

(i) **चर्नियन हलचले**—कैम्ब्रियन तथा पूर्व-कैम्ब्रियन युग में आज से लगभग 40 करोड वर्ष पूर्व एक पर्वत-निर्माणकारी हलचल हुई जिसे चर्नियन हलचले कहा जाता हैं। इन हलचलो के समय पृथ्वी पर जो पर्वत बने उन्हें चर्नियन पर्वत कहा जाता है। इन पर्वतों के उदाहरण भारत में अरावली, धारवाड़, छोटा नागपुर, कुडप्पा एवं दिल्ली क्रम के रूप मे आज भी देखे जाते हैं। उत्तरी अमरीका में ग्रेट लेक्स के निकट तथा यूरोप मे फेनोस्कैण्डीनेविया मे भी इसके उदाहरण मिलते है।

(ii) **कैलिडोनियन हलचले**—आज से लगभग 32 करोड़ वर्ष पूर्व सिलूरियन और डेवीनियन युगों के मध्य जो हलचल हुई उसे कैलिडोनियन हलचल कहा जाता है। इस हलचल के फलस्वरूप उत्तरी अमरीका में अप्लेशियन पर्वत, यूरोप मे स्कॉटलैण्ड, स्कैण्डीनेविया, उत्तरी आयरलैण्ड, यूरीगियन वागलैण्ड पर्वत, अफ्रीका मे सहाराई वलन, आस्ट्रेलिया मे नारीगुण्डा एवं एशिया मे बेकाल झील के निकट पर्वतों का निर्माण हुआ।

चित्र 425—**पर्वत-निर्माणकारी हलचलें और बने पर्वत**

(iii) **हरसीनियन हलचले**—लगभग 22 करोड वर्ष पूर्व भू-गर्भिक इतिहास के कार्बन और परमियन कल्पो के बीच एक पर्वत-निर्माणकारी हलचल हुई। इस हलचल को **हरसीनियन, वरिस्कन, आरमोरिकन, अप्लेशियन** अथवा **अल्टाइड हलचल** के नाम से भी पुकारा जाता है। इन हलचलों के कारण यूरोप में पेनाइन, हार्ज, वास्जेज, ब्लेकफारेस्ट, बोहेमिया, फ्रास का मध्यवर्ती उच्च प्रदेश, स्पेन का मेसीटा, एशिया मे थ्यानशान अल्टाई, खिगन, जुगेरिया, तारिम बेसिन, नानशान आदि; तथा आस्ट्रेलिया मे पूर्वी कार्डिलेरा आदि पर्वतों का निर्माण हुआ। अनाच्छादन के फलस्वरूप आज ये सब पर्वत घिसकर अवशिष्ट पर्वतों के रूप मे दिखाई पडते है।

(iv) **अल्पाइन हलचलें**—आज से लगभग 3 करोड़ वर्ष पूर्व अल्पाइन हलचले हुई थीं, जिनके फलस्वरूप वर्तमान समय के सबसे ऊँचे पर्वतों की रचना हुई। आल्प्स पर्वत इसी काल मे बना था। इसलिए अन्य सब पर्वत भी अल्पाइन पर्वत के नाम से पुकारे जाते है। रॉकीज, एण्डीज, पौण्टिक, एल्बुर्ज, जैग्रास, हिन्दूकुश, हिमालय, क्यूनलून, कराकोरम, अराकान आदि पर्वत इसके अन्य उदाहरण हैं। ये सब पर्वत पृथ्वी पर सबसे बाद में बने हुए है। अतः इन्हे नवीन मोडदार पर्वत (new folded mountains) भी कहा जाता है।

उत्पत्ति के आधार पर पर्वतों के भेद

संसार में पाये जाने वाले सभी पर्वतों का निर्माण समान रूप से नहीं हुआ है। विभिन्न पर्वतों की निर्माण प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। सामान्यत: पर्वतों के निर्माण में स्थल के उभार,

अपरदन के प्रभाव, ज्वालामुखी उद्गार एव सम्पीडन तथा खिचाव की शक्तियों का योग होता है। किन्तु यह आवश्यक नही है कि किसी पर्वत के निर्माण में उपरोक्त सभी शक्तियों का सहयोग हो ही। कई पर्वतो का निर्माण केवल एक ही साधन से हो जाता है जबकि कई पर्वतों के निर्माण में एक से अधिक शक्तियों का सहयोग रहता है।

निर्माण की प्रक्रिया अथवा उत्पत्ति के आधार पर **प्रो० ए० एल० सीमेन** ने पर्वतों के **दो** मुख्य भेद किये है :

(क) मौलिक अथवा विवर्तनिक पर्वत।

(ख) परवर्ती अथवा अवशिष्ट पर्वत।

(क) मौलिक अथवा विवर्तनिक पर्वत
(Original or Tectonic Mountains)

इनके अन्तर्गत उन पर्वतों को सम्मिलित किया गया है जो पृथ्वी की पटल विरूपण तथा ज्वालामुखी क्रियाओं के फलस्वरूप बने है और जिनका पृथ्वी के भू-पटल पर गहरा प्रभाव पड़ा है। चूँकि ये पर्वत विभिन्न प्रकार की भू-हलचलों—दबाव, तनाव व उभार—के कारण बनते हैं इसीलिए इन्हें मौलिक अथवा विवर्तनिक पर्वत कहा जाता है। इन पर्वतों की रचना मे भाग लेने वाली प्रमुख शक्तियों के आधार पर इनके निम्न उपभेद किये जा सकते है :

1. **मोड़दार अथवा वलित पर्वत** (Folded Mountains)

इन पर्वतो को इनमें पड़े **मोड़** (folds) **के आधार पर** दो भागों मे बाँटा जाता है :

(i) **साधारण मोड़दार पर्वत** (Simple Folded Mountains)—ऐसे पर्वत का विकास उस समय होता है जबकि दबाव की शक्ति सामान्य होती है। सामान्य दबाव से चट्टानों में अपनति तथा अभिनति का विकास क्रम से होता है। अतः ऐसे पर्वत जिनमे साधारण मोड़ होते है तथा अपनतियाँ एवं अभिनतियाँ सामान्य रूप से व्यवस्थित होती हैं उन्हे साधारण मोड़दार पर्वत कहा जाता है।

चित्र 426—**साधारण मोड़दार पर्वत**

(ii) **जटिल मोड़दार पर्वत** (Complex Folded Mountains)—ऐसे पर्वतों का विकास उस समय होता है जबकि दबाव की शक्तियाँ बहुत तीव्र होतीं हैं। दबाव की तीव्रता के कारण चट्टानों में परिवलन मोड़ (recumbent fold) बन जाते है। कभी-कभी इससे मोड़ का अग्र भाग टूट कर दूसरे मोड़ पर चढ़ जाता है जिससे ग्रीवा खण्डों का निर्माण होता है। अतः इस प्रकार के जटिल मोड़ वाले पर्वतों को ही जटिल मोड़दार पर्वत कहा जाता है।

आयु के आधार पर भी मोड़दार पर्वतों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है :

(i) **युवा मोड़दार पर्वत** (Young Folded Mountains)—वे मोड़दार पर्वत जिन पर अपरदन के साधनों का प्रभाव अधिक नहीं हुआ हो, युवा मोडदार पर्वत कहलाते है। ऐसे पर्वत कदाचित ही देखने को मिलते है। वस्तुतः पर्वत निर्माण तथा वलन की क्रिया बड़ी ही मन्द प्रक्रिया है जिससे पर्वतो का निर्माण धीरे-धीरे ही होता है। पर्वत निर्माण के साथ ही अपरदन की शक्तियाँ अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है फलस्वरूप पर्वत निर्माण की समाप्ति के पूर्व ही उनमें परिपक्वता आ जाती है।

(ii) **परिपक्व मोड़दार पर्वत** (Matuie Folded Mountains)—वे मोडदार पर्वत जिन पर अपरदन के साधनो का गहरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, परिपक्व मोड़दार पर्वत कहलाते है।

इन पर्वतों में अपरदन के कारण गहरी घाटियाँ पायी जाती है। एकनत कटक (monoclinal ridges) तथा एकनत घाटियाँ (monoclinal valleys) ऐसे पर्वतों की खास विशेषता होती है, जिससे इनकी आकृति बड़ी ऊबड-खाबड़ प्रतीत होती है।

निर्माण के समय के आधार पर भी इन पर्वतो के दो भेद किये जाते है :

(i) **नवीन मोड़दार पर्वत** (New Folded Mountains)—वे मोड़दार पर्वत जिनका निर्माण तृतीय महाकल्प अर्थात् टर्शियरी युग में हुआ, उन्हे नवीन मोड़दार पर्वत अथवा अल्पाइन पर्वत कहा जाता है। ये पर्वत ससार के सर्वाधिक ऊँचे पर्वत है। इनकी चोटियाँ सदैव बर्फ से ढकी रहती हैं। इन पर्वतों में अत्यधिक जटिल मोड़ पाये जाते है। अत्यधिक दबाव के कारण इनमे
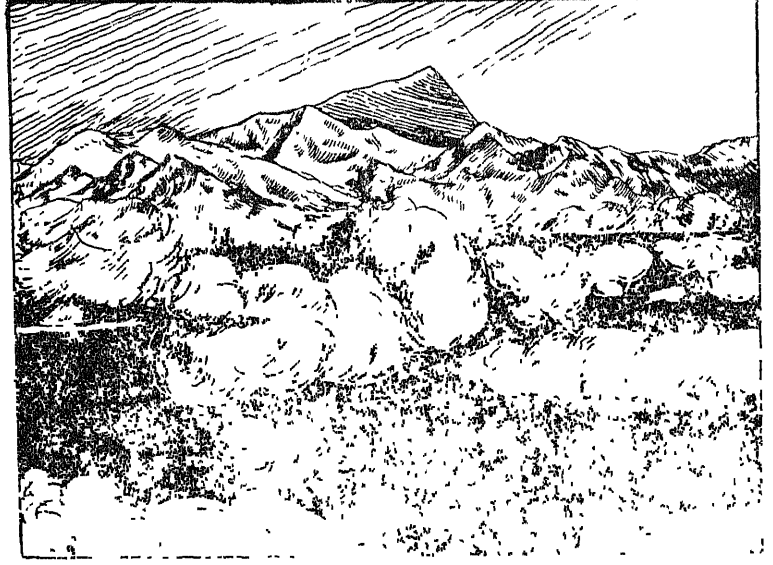
चित्र 427—**पूर्वी हिमालय—एवरेस्ट तथा अन्य चोटियाँ (नवीन मोड़दार पर्वत)**

रूपान्तरण भी अधिक देखा जाता है। ये प्राय: अपनी मौलिक स्थिति में मिलते है। रॉकीज, एण्डीज, आल्प्स, हिमालय तथा एशिया के पूर्वी भाग मे फैले हुए कई पर्वत नवीन मोड़दार पर्वतों की श्रेणी मे ही आते है।

(ii) **प्राचीन मोड़दार पर्वत** (Old Folded Mountains)—वे मोड़दार पर्वत जिनका निर्माण टर्शियरी युग के पूर्व हुआ, उन्हें प्राचीन मोड़दार पर्वत कहा जाता है। कैलिडोनियन तथा हर्सीनियन युगों के मोड़दार पर्वत इसी श्रेणी मे आते हैं। अनाच्छादन तथा उत्थान की क्रियाओं के कारण इन पर्वतों मे बड़ी जटिलताएँ पायी जाती है। वर्तमान समय में ये पर्वत अपनी मौलिक अवस्था में नहीं पाये जाते। अपरदन के कारण कई पर्वत घिस कर अवशिष्ट पर्वत के रूप में बदल गये हैं। इन पर्वतों में मोनेडनोक (monadnock) संगत शिखर, कटे-फटे गुम्बद तथा चोटियाँ अनियमित रूप से फैले हुए पाये जाते है। यूरोप में स्कॉटलैण्ड के पर्वत, स्केण्डीनेविया तथा यूराल पर्वत, उत्तरी अमरीका में अप्लेशियन पर्वत तथा भारत में विन्ध्याचल तथा अरावली पर्वत इनके उदाहरण हैं।

वलित पर्वतों की विशेषताएँ

(1) ये पर्वत अवसादी शैलों से बने होते हैं।

(2) इन पर्वतो की शैलों में समुद्री जीवाश्म मिलते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि इनकी रचना समुद्रों मे हुई है ।

(3) इनकी आकृति वक्राकार होती है जिससे यह प्रकट होता है कि इनकी रचना में नतोदर पार्श्व की ओर से भिचाव शक्ति का प्रभाव पड़ा है ।

(4) वलित पर्वतों की मोटाई यद्यपि हजारो फुट होती है किन्तु शैल-पदार्थों से यह प्रतीत होता है कि इनकी रचना उथले समुद्रों से सम्बन्धित है ।

(5) इन पर्वतों का विस्तार लम्बाई मे अधिक और चौड़ाई मे कम होता है ।

(6) संसार मे अधिकतर वलित पर्वतो का ही प्रसार है । वलित पर्वतो की उपरोक्त विशेषताओं से यह विदित होता है कि इनकी रचना लम्बे, सँकरे तथा उथले समुद्रों में हुई है । ऐसे समुद्रों को विस्तीर्ण अभिनति (geo-syncline) कहा जाता है । अतः **वोरसेस्टर** का यह कथन कि "All great folded ranges stand on the sites of former geo-synclines" बहुत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

2. अवरोधी अथवा ब्लाक पर्वत (Block Mountains)

पृथ्वी की आन्तरिक हलचलों के कारण जब धरातल के किसी भाग मे तनाव अथवा खिचाव की शक्तियों द्वारा दरारे या भ्रंश पड़ जाती है तो धरातल का कुछ भाग ऊपर उठ जाता है तथा कुछ भाग नीचे धँस जाता है । इस प्रकार वहाँ बडे-बड़े भ्रंशोत्थ उत्पन्न हो जाते है जिससे ब्लाक पर्वतो की रचना होती है । ये पर्वत सामान्यत. दो दरारो के मध्य में स्थित होते है । इनकी चोटी मेज की भाँति होती है तथा ढाल एकदम सपाट होता है । इन पर्वतों का निर्माण दरार या भ्रंश पड़ने के कारण होता है इसीलिए इन्हे भ्रंशोत्थ पर्वत भी कहते है । इन पर्वतो की रचना कई रूपो मे होती है । निम्न अवस्थाओं में इनका निर्माण होता है ·

(क) जब कभी दो सामान्य दरारों के मध्य का भाग ऊपर उठ जाता है तो इस ऊपर उठे हुए स्थल खण्ड को **'ब्लाक पर्वत'** अथवा **'होर्स्ट'** कहते हैं । इस प्रकार से बने हुए ये ब्लाक पर्वत ऊपर से मेज की भाँति सपाट होते है किन्तु इनके किनारे तीव्र ढाल के होते है ।

चित्र 428—ब्लाक अथवा भ्रंशोत्थ पर्वत

(ख) जब कभी दरार की रचना के समय मध्यवर्ती भाग के दोनो ओर के स्थल खण्ड नीचे धँस जाते है और मध्यवर्ती स्थल खण्ड अपनी जगह स्थिर रहता है तो मध्यवर्ती भाग ऊपर उठा हुआ प्रतीत होता है । इसी को ब्लाक पर्वत कहा जाता है । चौड़े गुम्बदो अथवा ऊँचे पठारी भागों में ऐसे पर्वत अधिक बनते है ।

(ग) जब कभी दो समानान्तर दरारो के बीच का स्थल भाग नीचे धँस जाता है तो दरार के किनारे वाले भाग ऊपर उठे हुए होते हैं जो ब्लाक पर्वत के सदृश्य ही प्रतीत होते हैं । मध्य का नीचे धँसा हुआ भाग दरारी घाटी (rift valley) कही जाती है ।

ससार मे ब्लाक पर्वत सभी महाद्वीपो मे देखे जाते हैं । उत्तरी अमरीका का सियरा नेवादा पर्वत ससार का सबसे बड़ा ब्लाक पर्वत है । यह 400 मील लम्बा, 50 मील चौड़ा तथा आठ से बारह हजार फीट ऊँचा है । एलबर्ट, वारनर तथा वासाच रेंज यहाँ के अन्य महत्त्वपूर्ण ब्लाक पर्वत हैं । यूरोप में ब्लैक फारेस्ट तथा वासजेस पर्वत ब्लाक पर्वतों के सुन्दर उदाहरण हैं । पाकिस्तान की साल्ट रेंज भी ब्लाक पर्वत ही है ।

ब्लाक पर्वतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है । इस सम्बन्ध में दो मत उल्लेखनीय हैं :

(1) **दरार सिद्धान्त** (Fault Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार ब्लाक पर्वतों की उत्पत्ति भू-पटल की चट्टानों में बड़े पैमाने पर दरारें पड़ने के कारण होती है । दरारों के निर्माण के समय स्थल का एक बड़ा खण्ड ऊपर अथवा नीचे चला जाता है जिससे ब्लाक पर्वतों की रचना हो जाती है । इस मत के प्रमुख प्रतिपादक कलेरैन्स किंग, गिलबर्ट तथा लूडर बैक आदि विद्वान हैं । बाद में डेविस महोदय ने भी इस मत का समर्थन किया ।
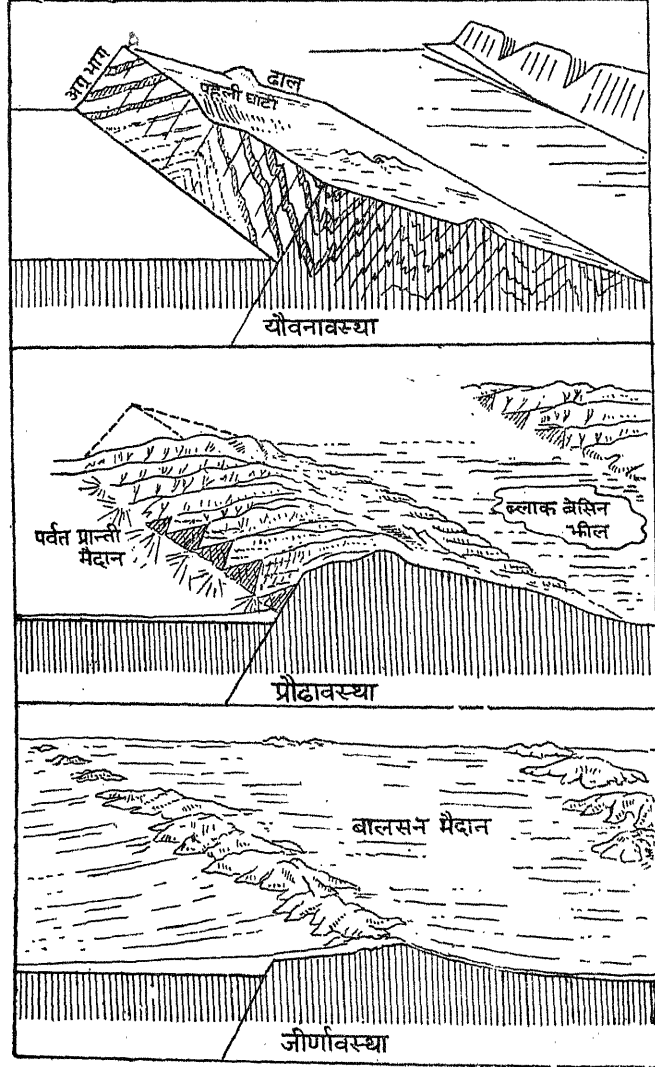
चित्र 429—ब्लाक पर्वत का विकास चक्र

(2) **अपरदन सिद्धान्त** (Erosion Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार ब्लाक पर्वतों की उत्पत्ति दरारों से न होकर विभेदक अपरदन (differential erosion) के परिणामस्वरूप होती है । स्पर महोदय इस मत के प्रमुख प्रतिपादक हैं । इन्होंने ग्रेट बेसिन रेंज के अनेक पर्वतों का अध्ययन

कर यह मत प्रतिपादित किया है कि ब्लाक पर्वतो का वर्तमान रूप अपरदन का ही परिणाम है। किन्तु अनेक विद्वान उपरोक्त मत से सहमत नही है। वस्तुतः ब्लाक पर्वतो के निर्माण में स्थल विरूपण का हाथ ही प्रमुख होता है। अत. ब्लाक पर्वतो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दरार सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

3. **गुम्बदाकार पर्वत** (Dome Mountains)

भू-पटल की चट्टानो में जब कही पर अर्ध-वृत्त के रूप मे उभार होता है तो उसे गुम्बद कहा जाता है। धरातली चट्टानो मे ये उभार जब नगण्य होते है तो वहाँ कोई विशिष्ट स्थल रूप की
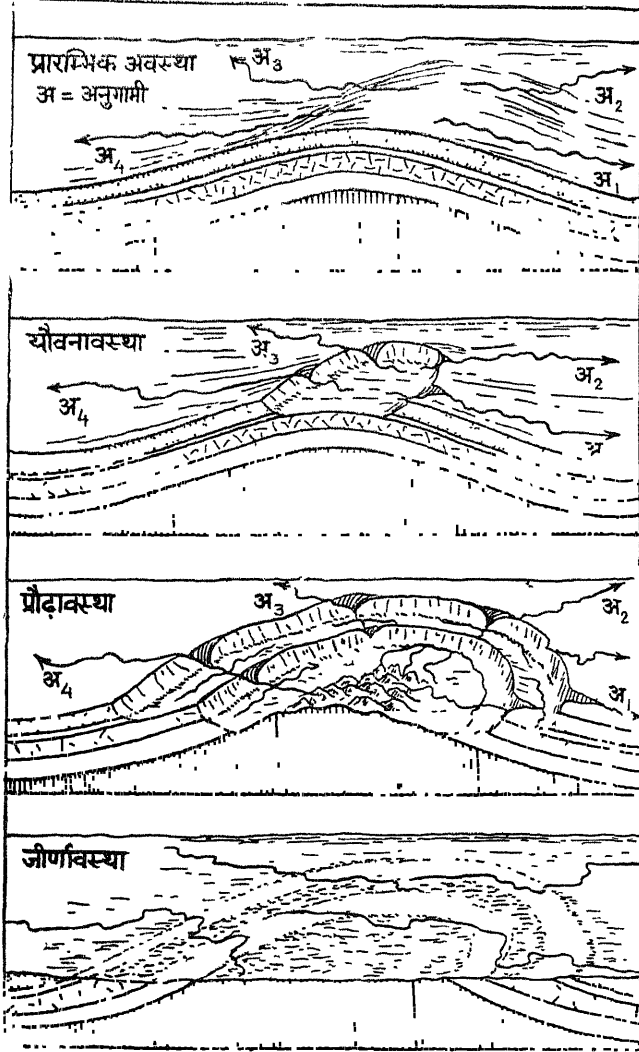
चित्र 430—गुम्बदाकार पर्वत का विकास-चक्र

रचना नहीं होती। किन्तु जब ये उभार काफी अधिक होते है तो **गुम्बदाकार पर्वत** की रचना हो जाती है। किन्तु ये गुम्बद कई आकार-प्रकार के होते हैं। इनमें छोटे-छोटे उभार से लेकर ऊँचे-ऊँचे गुम्बद तक होते है। इसी तरह इनका विस्तार भी कुछ सौ मीटर से लेकर कई किलोमीटर

और उसके उत्थान पर एक नवीन भू-रूप की रचना हो जाती है। इस प्रकार अपरदन की शक्तियों द्वारा प्रारम्भिक स्थल रूपो के कटकर नीचा हो जाने पर उसका अवशिष्ट भाग दिखाई पड़ता है। ऐसे अवशिष्ट भाग जब पर्याप्त ऊँचाई लिए हुए होते हैं, तो वे अवशिष्ट पर्वत कहे जाते है। चूँकि ये पर्वत अन्य प्रकार के पर्वतों के अत्यधिक अपरदन के कारण घिस जाने से बनते है, इसी कारण इन्हें **परवर्ती पर्वत** (subsequent mountains), **घर्षित पर्वत** (circum erosional) अथवा **अवशिष्ट पर्वत** (relict mountains) कहा जाता है। इन अवशिष्ट पर्वतो का आकार-प्रकार मूलतः अपरदन के साधन और इन शैलो के चरित्र एवं इनकी व्यवस्था पर निर्भर करता है जिनसे ये पर्वत बनते है। संयुक्त राज्य अमरीका मे **आजार्क्स पर्वत** तथा केटस्कील पर्वत अवशिष्ट पर्वतो के उदाहरण है। यहीं कोलोरेडो राज्य में भावी अवशिष्ट पर्वतो के निर्माण की प्रक्रियाएँ स्पष्ट देखी जा सकती है। भारत में विन्ध्याचल, अरावली, पारसनाथ, पश्चिमी घाट, सतपुडा एवं महादेव पर्वत अवशिष्ट पर्वतों के ही उदाहरण है। अरावली पर्वत किसी समय हिमालय से भी ऊँचा पर्वत था जो अब घिसकर केवल पहाड़ियाँ मात्र रह गयी है।
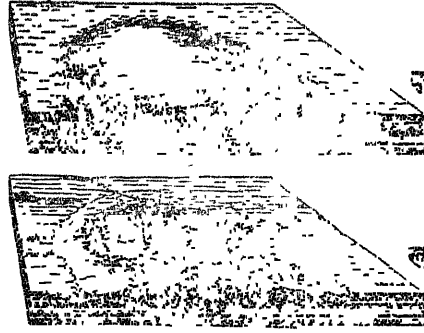
चित्र 431—अवशिष्ट लैकोलिथ पर्वत

भू-अभिनतियाँ
(Geo-synclines)

पृथ्वी के भू-गर्भिक इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि संसार के महाद्वीप एव महासागरों का वर्तमान स्वरूप उनके प्राचीन रूप से बिल्कुल भिन्न है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि वर्तमान महाद्वीप प्रारम्भ में छुट-पुट बिखरे हुए भू-खण्ड थे। इन प्रारम्भिक भू-खण्डो को आजकल दृढ़ भू-खण्ड (rigid masses) कहा जाता है, क्योंकि ये भूगर्भिक इतिहास के प्राचीन-काल से लेकर आज तक अविचल रहे है। इस प्रकार प्राचीन, कठोर एवं स्थिर स्थल भागों को ही दृढ भू-खण्ड (rigid masses) नाम दिया गया है। इन दृढ़ भू-खण्डो का विकास होने से ही वर्तमान महाद्वीपो का आविर्भाव हुआ। ये सभी दृढ़ भू-खण्ड जलीय भागो से घिरे हुए थे। ये जलीय भाग भूर्गभिक इतिहास में सदैव परिवर्तन-शील तथा अस्थिर रहे है। इन अस्थिर जलीय भागों को ही भू-अभिनतियाँ (geosynclines) कहा गया है। दूसरे शब्दों मे, भू-अभिनतियो का अर्थ ऐसे जलीय भागों से है जिनमें अवसादों का निक्षेप होता रहता है। समुद्रों में निक्षेपित इन अवसादों से अवसादी चट्टानो का निर्माण होता है। संसार में फैले हुए समस्त वलित पर्वत अवसादी चट्टानों से बने हुए है। अतः आजकल सभी विद्वान यह मानते है कि वलित पर्वतों का जन्म भू-अभिनतियों से हुआ है। यदि वर्तमान वलित पर्वतों की ऊँचाई और उनका निर्माण करने वाली अवसादी शैलों की असीम गहराई की ओर ध्यान दिया जाय तो भू-अभिनतियों को काफी गहरा होना चाहिए। किन्तु इन पर्वतो की चट्टानों में मिलने वाले
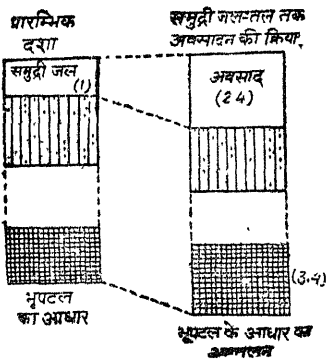
चित्र 432—अवसाद निक्षेप की सन्तुलन प्रतिक्रिया

जीवाश्म उथले समुद्रो के रहने वाले है। इस आधार पर भू-अभिनतियाँ उथले जलीय भाग सिद्ध होती है। पर चूंकि एक लम्बे, सँकरे व उथले जलीय भाग के द्वारा अवसादी शैलो की अपरिमित गहराई को कदापि स्पष्ट नही किया जा सकता, अत: यही कल्पना की जा सकती है कि अवसादो का निक्षेप ऐसे संकीर्ण और छिछले जल गर्तो में होता रहा है जो निरन्तर नीचे धँसते रहे हैं। साथ ही साथ यह भी देखा गया है कि विशाल मोटाई वाले वलित पर्वतो की लम्बाई उनकी चौडाई से कई गुना अधिक है। इसी से भू-अभिनतियों को लम्बे तथा सँकरे जलीय भाग माना गया है। भू-अभिनतियों की उपरोक्त विशेषताओं को दृष्टिगत रखकर विद्वानों ने इसे कई प्रकार से परिभाषित किया है। कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं :

"भू-अभिनतियाँ वे उथले जलीय भाग है, जिनमें अवसादो के निक्षेप के साथ ही उनकी तलियाँ भी नीचे धँसती रहती हैं।"[1]

"भू-अभिनतियाँ वे जलीय भाग होते है, जिनमे अनवरत रूप से अवसाद का निक्षेप होता रहता है।"[2]

"भू-अभिनतियाँ लम्बे सँकरे तथा उथले जलीय भाग होती है, जिनमे अवसादों के निक्षेप के साथ-साथ धँसाव होता रहता है।"[3]

प्रो० जे० ए० स्टीयर्स के अनुसार, "सामान्यत: भू-अभिनतियाँ लम्बे और अपेक्षाकृत सँकरे जलीय गर्त है, जो अवसादो के निक्षेप के साथ ही नीचे धँसते रहे है।"[4]

भू-अभिनतियों की विशेषताएँ

भू-अभिनतियो की निम्न विशेषताएँ उल्लेखनीय है :

(1) भू-अभिनतियाँ सामान्यत: दो दृढ भू-खण्डों (rigid masses) के मध्य स्थित होती हैं। इनके तटीय भागों को अग्र प्रदेश (foreland) कहा जाता है।

(2) भू-अभिनतियों का रूप सदैव एक समान नही रहता। भू-गर्भिक क्रियाओं के कारण इनके आकार, प्रकार, विस्तार एव स्थिति में परिवर्तन होता रहता है।

(3) ये भू-गर्भिक इतिहास के कई युगो में पायी जाती हैं।

(4) ये धरातल पर लम्बे, सँकरे तथा उथले जलीय भाग के रूप में होती है।

(5) ये प्राय: गतिशील रहती हैं।

भू-अभिनति की संकल्पना का विकास

भू-अभिनतियों की अवधारणा हाल तथा डाना नामक विद्वानों की देन है। इन्होंने वलित पर्वतों के निर्माण की व्याख्या करते समय भू-अभिनति के विचार को प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम सन् 1873 मे डाना ने लम्बे, सँकरे तथा निरन्तर धँसते हुए छिछले समुद्रों को भू-अभिनति नाम से

---

[1] "Geosynclines are shallow water areas in which sedimentation and subsidence take place simultaneously."

[2] "Geosynclines are water areas in which sedimentation take place more or less regularly."

[3] "Geosynclines are long but narrow and shallow water depressions characterized by sedimentation and subsequent subsidence."

[4] "In general, the geosynclines have been long and relatively narrow depressions, which seem to have subsided during the accumulation of sediments in them."

सम्बोधित किया । किन्तु भू-अभिनति के विचार को सिद्धान्त रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय **हाग** (Haug) को ही है । स्टीयर्स के शब्दों में,

"While the theory of geosynclines is due to Haug, the concept of idea belongs to Hall and Dana."

हाग ने सर्वप्रथम पुरा भौगोलिक काल के मानचित्र तैयार किये और उनमे भू-अभिनतियों के वितरण को दर्शाया । वर्तमान समय मे पृथ्वी पर फैली हुई बडी-बड़ी पर्वत श्रेणियाँ उन्हीं भू-अभिनतियो का प्रतिनिधित्व करती है ।

हाल तथा डाना का मत—सर्वप्रथम डाना ने अपने अध्ययन और खोज के द्वारा यह पता लगाया कि वलित पर्वतों का निर्माण करने वाली चट्टाने मुख्यत· अवसादी चट्टाने है जिनकी रचना समुद्रों मे हुई है । इन चट्टानों का निक्षेप ऐसे समुद्रो मे हुआ है जो लम्बे, सँकरे तथा उथले थे । ऐसे समुद्री भागो को ही सर्वप्रथम डाना ने भू-अभिनति नाम दिया । उसने अपने विचार को और अधिक स्पष्ट करते हुए बताया कि भू-अभिनतियाँ न केवल लम्बे, सँकरे व उथले समुद्री भाग ही है अपितु वे निरन्तर नीचे धँसते हुए क्षेत्र भी होते है ।

भू-अभिनतियो और वलित पर्वत-श्रेणियों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर उसे स्पष्ट करने का श्रेय हाल को है । उसके मतानुसार पर्वतो की अवसादी शैलो की रचना किसी छिछले समुद्र में हुई है । पर्वतो का निर्माण करने वाला 20 से 30 हजार फुट मोटा पदार्थ केवल सागर को पाट ही न देगा, वरन् ऊपर भी उठ जायगा । अत यह निष्कर्ष निकाला गया कि अवसादन के साथ-साथ समुद्र की तली भी नीचे धँसती रहती है । ऐसी दशा मे ही वहाँ अपार मात्रा मे अवसाद जमा हो सकते है और उनके ऊपर जल की गहराई भी सम्पूर्ण भू-अवनति काल तक एक-सी रही होगी ।

हाग का मत—यद्यपि भू-अभिनति के विचार का प्रतिपादन हाल तथा डाना ने किया था, किन्तु इस विचार को सिद्धान्त रूप मे प्रस्तुत करने का श्रेय **हाग** को ही है । उसके अनुसार भू-अभिनतियाँ अपेक्षाकृत गहरे जल के भाग होते है, जिनकी लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा अधिक होती है । इनमें अवसादों का निरन्तर निक्षेप होता रहता है । इन अवसादो के बीच में जीवाश्म भी एकत्रित होते रहते है । अवसादो की मोटाई और जीवाश्मों के प्रकार को देखकर भू-अभिनतियों की गहराई का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है । किन्तु भू-अभिनतियो का विकास इतना सीधा व सरल नही है, जैसा कि हाग ने कल्पना की है ।

सर्वप्रथम हाग ने पैल्योजोइक कल्प का मानचित्र बनाया और उस पर भू-अभिनतियों को प्रदर्शित किया । इस मानचित्र के द्वारा उसने स्पष्ट किया कि वर्तमान समय मे जहाँ पर्वत श्रेणियाँ खडी है वहाँ पहले भू-अभिनतियाँ फैली हुई थीं । इन भू-अभिनतियों की स्थिति प्राचीन दृढ भू-खण्डों के बीच गतिशील क्षेत्रों के रूप मे थी । उसने बताया कि मेसोजोइक कल्प में पाँच प्राचीन दृढ़ भू-खण्ड थे—(1) उत्तरी अटलाण्टिक भू-खण्ड, (2) सिनो-साइबेरियन भू-खण्ड, (3) अफ्रीका-ब्राजील भू-खण्ड, (4) आस्ट्रेलिया-इण्डिया-मैडेगास्कर भू-खण्ड, तथा (5) पैसेफिक भू-खण्ड । इन भू-खण्डों के बीच निम्न भू-अभिनतियो के गतिशील क्षेत्र थे—(1) राकीज भू-अभिनति, (2) यूराल भू-अभिनति, (3) टेथीज भू-अभिनति, (4) परिप्रशान्त भू-अभिनति । इस प्रकार हाग ने मेसोजोइक कल्प मे जल भागों (भू-अभिनतियो) की तुलना मे दृढ--भूखण्डो का विस्तार अधिक बताया ।

हाग ने उपरोक्त मानचित्र के द्वारा न केवल भू-अभिनतियों के आकार और उनकी विशेषताओं पर ही प्रकाश डाला अपितु उनके विकास की व्याख्या भी प्रस्तुत की । उसके अनुसार भू-अभिनतियो मे अवसाद का निक्षेप एक क्रम से होता है । भू-अभिनति के किनारे मध्यवर्ती भाग की अपेक्षा उथले होते है । इन किनारो पर समुद्री अतिक्रमण (transgression) तथा निवर्तन (regression) का स्पष्ट प्रभाव होता है । भू-अभिनति के किनारों पर मोटे तथा मध्यवर्ती भाग में

बारीक अवसाद का निक्षेप होता है। इन अवसादों के बीच में जीवाश्म (fossils) भी निक्षेपित होते रहते हैं। अवसादों की मोटाई और जीवाश्मो के प्रकार को देखकर भू-अभिनतियो की गहराई का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु भू-अभिनतियों का विकास इतना सीधा व सरल नही है, जैसाकि हाग ने कल्पना की है। जब कभी भू-अभिनतियों के पार्श्व भागों से दबाव पड़ता है तो भू-अभिनति के अवसादो मे भिचाव के कारण मोड अथवा वलन की क्रिया होने लगती है। परिणामस्वरूप वलित पर्वतों की रचना होती है। परन्तु यह आवश्यक नही है कि एक भू-अभिनति अवसादो के निक्षेप, धँसाव, भिचाव एव वलन क्रिया आदि विकास की सभी अवस्थाओं को पार करे। कभी-कभी भू-अभिनति मे लम्बे समय तक अवसादो के निक्षेप होते रहने पर भी पर्वतों का निर्माण नही होता जबकि एक स्थान पर कई बार भू-अभिनति की अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और वहाँ कई बार पर्वत निर्माण कार्य होता है।

आलोचना—यद्यपि हाग ने भू-अभिनति की संकल्पना को सिद्धान्त रूप प्रस्तुत कर बड़ा ही सराहनीय कार्य किया परन्तु उसके सिद्धान्त में कई असंगतियाँ भी पायी जाती हैं जो निम्न है :

(1) हाग ने मेसोजोइक कल्प मे दृढ़ भू-खण्डों के विस्तार का गलत वर्णन किया। जल की अपेक्षा स्थल के विस्तार को अधिक बताया जबकि संसार मे स्थल की अपेक्षा जल का विस्तार सदैव ही अधिक रहा है।

(2) उसने अत्यधिक गहरी भू-अभिनतियो की कल्पना की जो तथ्यों के विपरीत है।

(3) भू-वैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वलित पर्वतों मे पायी जाने वाली चट्टानों का निक्षेप उथले समुद्रों में हुआ है।

(4) उसने अपने मत की पुष्टि के लिए कल्पित तथ्यों का समावेश किया।

शूकर्ट (Schucheit) **का मत**—शूकर्ट की मान्यता है कि भू-अभिनतियों का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं है। उसने भू-अभिनतियों के तीन प्रकार बताये हैं :

(1) **एकाकी भू-अभिनतियाँ** (Mono Geosynclines)—ये एक प्रकार के लम्बे और अपेक्षाकृत सँकरे सागर हैं जिनकी तली अवसाद के भार से बराबर नीचे धँसती रही है। ये भू-अभिनतियाँ छिछले सागर मे ही बनती है। इसलिए अवसाद की अधिक मोटाई समुद्र की तली के
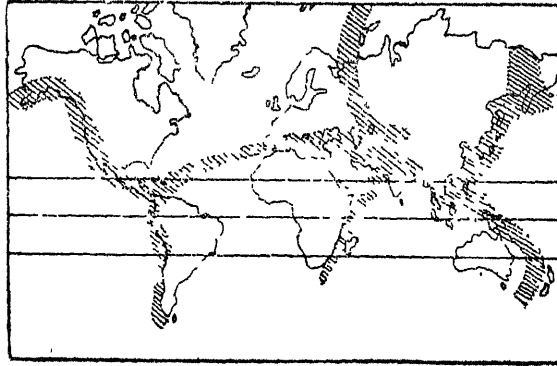
चित्र 433—संसार में भू-अभिनतियों का वितरण

निमज्जन से ही सम्भव होती है। अप्लेशियन पर्वत के पदार्थो की विशाल मोटाई इसका प्रमाण है। ये भू-अभिनतियाँ महाद्वीपों के भीतर अथवा उसके किनारे कही भी स्थित हो सकती है। ये भू-अभिनतियाँ ठीक 'हाल' और 'डाना' की कल्पना के अनुकूल हैं।

(2) **बहु भू-अभिनतियाँ** (Foly-Geosynclines)—ये भू-अभिनतियाँ एकाकी भू-अभिनतियो की अपेक्षा चौड़े एवं विस्तृत सागर रहे है। इनमें अवसाद का निक्षेप भी अधिक काल तक होता रहा। इनकी स्थिति ठीक एकाकी भू-अभिनतियो के समान ही होती है परन्तु इनके अवसाद के सम्पीडन की अवस्था मे कई भू-अपनतियों (geoanticlines) की उत्पत्ति हुई। इन भू-अपनतियों के स्थान पर ही समान्तर पर्वत-श्रेणियाँ बनी। शूकर्ट के अनुसार रॉकीज और यूराल पर्वत बहु भू-अभिनतियों के स्थान पर ही बने है।

(3) **मध्य भू-अभिनतियाँ** (Meso-Geosynclines)—मध्य भू-अभिनतियाँ लम्बे, सँकरे एवं गतिशील समुद्र रहे है जो वास्तव मे महाद्वीपो से घिरे हुए थे। ये भू-अभिनतियाँ बहुत ही गहरी होती है। ये एक से अधिक भू-अभिनति अवस्थाओ से गुजर चुकी होती हैं। टेथिज नामक महासागर ऐसी ही भू-अभिनति थी। उसी के स्थान पर आज आल्प्स और हिमालय पर्वत खड़े है। **हाग** ने ऐसी मध्य भू-अभिनतियों की ही कल्पना की थी।

इवान्स का मत—**जे० डब्ल्यू० इवान्स** भू-अभिनति को **अवसादन की अधोगति** (sedimentation subsidence) कहना अधिक बुद्धिसगत मानते है। उनके मतानुसार भू-अभिनति का आकार बदलता रहता है। इसके कई आकार हो सकते है। इसकी स्थिति भी कई प्रकार की हो सकती है। इवान्स ने इसकी चार स्थितियाँ बतायी है :

(1) महाद्वीपो के समीप समुद्री किनारों के निकट,

(2) किसी बड़ी नदी के मुहाने के निकट,

(3) दो महाद्वीपो के मध्य भीतरी सागरों में,

(4) पर्वत या पठारों के समीप मैदानों में।

इवान्स के अनुसार जहाँ भी बड़ी मात्रा मे अवसादों का निक्षेप होता है वहीं अवसादों के भार के कारण क्षेत्र का निमज्जन होता है। भू-पटल की अधोगति चाहे अवसादों के भारस्वरूप हो अथवा उनके खिचाव के कारण, प्रत्येक अवस्था में उनके नीचे का सीमा (sima) पदार्थ हट जाता है जिससे भू-सन्तुलन की व्यवस्था भंग हो जाती है और विक्षेपित अवसाद अधिकाधिक सम्पीडित होते जाते है जिससे भू-अभिनतियो के स्थान पर ही पर्वत-श्रेणियाँ बन जाती हैं।
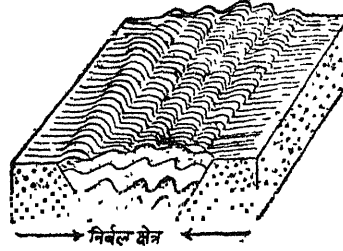
चित्र 434—भू-अभिनति के पदार्थों का सम्पीडन द्वारा मुड़ाव

होम्स का मत—होम्स ने भू-अभिनतियों के विभिन्न प्रकारों का विशद अध्ययन कर उनकी उत्पत्ति को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया। साथ ही साथ उसने भू-अभिनतियों में अवसादों के निक्षेप तथा उनकी तली के धँसाव की क्रिया को पूरी तरह समझाया। होम्स की मान्यता है कि अवसादों के भार के कारण यद्यपि भू-अभिनति की तली का धँसाव होता है, परन्तु धँसाव की यह क्रिया बड़े पैमाने पर नही हो सकती। तली का अत्यधिक धँसाव भू-गर्भिक शक्तियों द्वारा सम्भव होता है। इसमे भी धँसाव की गति बड़ी मन्द होती है। उदाहरणत: अप्लेशियन भू-अभिनति में 40 हजार फुट मोटे अवसादो के निक्षेप का कार्य 30 करोड़ वर्षों में पूरा हुआ। दूसरे शब्दों में प्रति फुट अवसादो का निक्षेप 7500 वर्षो में सम्भव हो सका। होम्स के अनुसार भू-अभिनतियों का उद्भव तथा विकास अग्रलिखित प्रकार से होता है :

(1) **मैगमा के स्थानान्तरण द्वारा**—पृथ्वी की संरचना की व्याख्या करते हुए होम्स ने बताया कि पृथ्वी के ऊपरी भू-पटल अथवा क्रस्ट (chrust) की रचना तीन विभिन्न परतों द्वारा हुई है—(1) सर्वप्रथम परतदार शैलों के ऊपरी आवरण के नीचे बाह्य परत है जो 10 से 12 किलोमीटर मोटी है तथा ग्रेनोडायोराइट शैलों से बनी हुई है। (2) इसके नीचे मध्यवर्ती परत है जो 20 से 25 किलोमीटर मोटी है तथा एम्फीबोलाइट शैलों से बनी है। (3) मध्यवर्ती के नीचे इकलोजाइट तथा पेरिडोटाइट शैलों से निर्मित सबसे निचली परत है। इस निचली परत का ऊपरी भाग रवेदार तथा नीचे का भाग काँच के समान है। होम्स की मान्यता है कि मध्यवर्ती परत के नीचे मैगमा का स्थानान्तरण हो जाने से धँसाव होने लगता है जिससे भू-अभिनतियों का निर्माण होता है। कोरल, तस्मान, अराफुरा, वेडल तथा रास सागर इस प्रकार उत्पन्न भू-अभिनतियों के प्रमुख उदाहरण है। कई विद्वानों ने इस मत की कटु आलोचना की है। उनके मतानुसार मैगमा के स्थानान्तरण से इस प्रकार की भू-अभिनतियों का आविर्भाव कदापि सम्भव नही है।
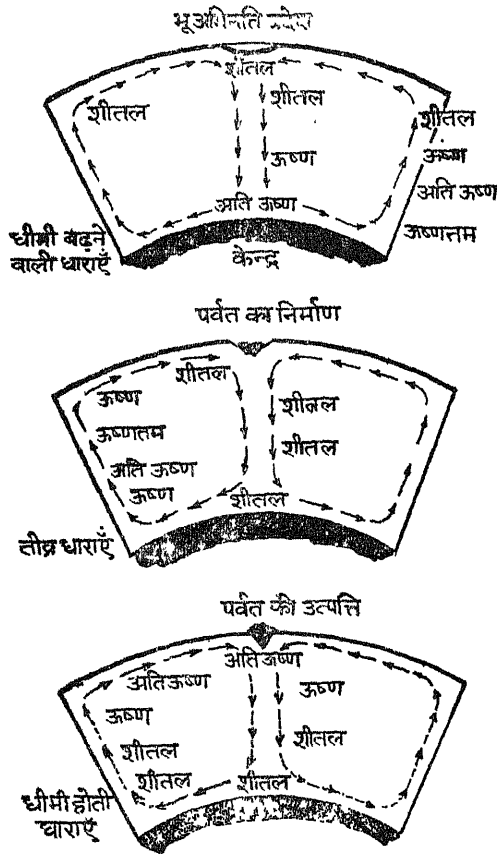
चित्र 435—आर्थर होम्स की भू-अभिनति परिकल्पना

(2) **रूपान्तरण द्वारा**—होम्स की मान्यता है कि धरातल के नीचे जहाँ कहीं ताप की दो सवाहन धाराएँ परस्पर मिलती है वहाँ सम्पीडन होने लगता है। सम्पीडन की इस क्रिया से निचली परत मे चट्टानों का कायान्तरण होने लगता है जिससे उनका घनत्व बढ जाता है। घनत्व बढने से निचली परत में अवतलन और धँसाव की क्रिया होती है। परिणामस्वरूप उस स्थान पर भू-अभिनति का आविर्भाव हो जाता है। भूमध्यसागर तथा कैरेबियन सागर इस प्रकार की भू-अभिनतियों के प्रतीक हैं। कई विद्वान होम्स के उपरोक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि निचली परत में सवाहन धाराओं के मिलने पर ताप की वृद्धि होगी जिससे वहाँ चट्टानें पिघलकर द्रव रूप में बदल जायँगी। इस प्रकार वहाँ बड़े पैमाने पर चट्टानों का रूपान्तरण सम्भव नही हो सकता। अतः रूपान्तरण द्वारा भू-अभिनतियों का निर्माण सम्भव नही लगता।

(3) **सम्पीडन द्वारा**—सम्पीडन के कारण जहाँ बड़े-बड़े पर्वतों का निर्माण होता है वहाँ भू-अभिनतियों का भी इससे जन्म होता है। पर्वतों की उत्पत्ति के समय अग्रप्रदेश (foreland) की ओर पर्वतो के सामने दबाव की शक्तियों द्वारा स्थल का भाग नीचे धँस जाता है और वहाँ भू-अभिनति का जन्म हो जाता है। सिन्ध-गंगा का खड्ड तथा फारस की खाड़ी ऐसी ही भू-अभिनतियाँ है।

(4) **सियाल परत के पतला होने से**—जब किसी महाद्वीपीय धरातल के नीचे दो संवाहन धाराएँ एक-दूसरे की विपरीत दिशा मे प्रवाहित होती हैं तो वहाँ दो स्थितियाँ उत्पन्न होने की सम्भावनाएँ होती हैं : प्रथम स्थिति में इन धाराओ के विपरीत दिशा में चलने के कारण तनाव उत्पन्न होता है। इस तनाव के कारण सियाल परत नीचे से पतली होती रहती है, जिसके फल-स्वरूप दो स्थलखण्डों में फैलाव होने से भू-अभिनतियों का जन्म होता है। टेथीज नामक भू-अभिनति का निर्माण इसी प्रकार हुआ है। दूसरी स्थिति में संवाहनीय धाराओं के अत्यधिक तीव्र हो जाने से तनाव भी अत्यधिक बढ जाता है। अत्यधिक तनाव पड़ने के कारण दो स्थलखण्ड एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं और वहाँ भू-अभिनति का आविर्भाव हो जाता है। यूराल भू-अभिनति इसका उदाहरण है।

उपरोक्त विद्वानों के अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने भी भू-अभिनतियो की विशेषताओं तथा उनकी स्थितियो की विवेचनाएँ प्रस्तुत की है। इन विद्वानो में **डस्टर, स्टील** तथा **केई** महोदय प्रमुख है। डस्टर महोदय ने पर्वत श्रेणियों की रचना के आधार पर भू-अभिनतियों को तीन भागों मे विभाजित किया है—(1) अन्तर-महाद्वीपीय भू-अभिनति (Inter-continental Geosyncline), (2) परि-महाद्वीपीय भू-अभिनति (Circum-continental Geosyncline) तथा (3) परि-सागरीय भू-अभिनति (Circum-oceanic Geosyncline)।

पृथ्वी के धरातल पर भू-अभिनतियो जैसे महत्त्वपूर्ण रूप क्यो बनते हैं, इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। अभी वह समय दूर है जबकि इनके निर्माण के विषय में कोई निश्चित मत स्थिर किया जा सकेगा।

पर्वतीकरण चक्र
(Orogenic Cycle)

संसार में फैले हुए सभी पर्वतों का एक जीवन-इतिहास है। पर्वतो के इतिहास द्वारा यह विदित होता है कि उनके विकास-क्रम की कुछ निश्चित अवस्थाएँ है। प्रारम्भ में धरातल का पदार्थ सँकरे व गहरे समुद्रों—अभिनतियों—में जमा होता है। यह पदार्थ अपने ही बढ़ते हुए भार तथा किनारों के सम्पीडन के कारण धीरे-धीरे गहराई मे पहुँचता जाता है। तत्पश्चात भू-गर्भिक हल-चलों के कारण वह गहराई से ऊपर उठता है और उसमें वलन पड़ते है। सम्पीडन के अनुसार उसमें वलन पड़ने की क्रिया और ऊँचाई दोनों ही बढ़ते जाते हैं। धरातल के ऊपर उठ जाने के उपरान्त अनाच्छादन के साधनों द्वारा उनका पुनः अपक्षय प्रारम्भ हो जाता है। उनकी ऊँचाई धीरे-धीरे कम होने लगती है और उनके शिखर समतल हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त पर्वतीय प्रदेश कालान्तर में घिस-घिसाकर एक खुला हुआ पहाड़ी प्रदेश बन जाता है। पर्वतों से कट-कटकर नष्ट होने वाला पदार्थ पुनः समुद्रों में पहुँचकर नवीन पर्वतों की आधारशिला रखता है। इस प्रकार पर्वतों के निर्माण और उनके अन्त के बीच की विभिन्न अवस्थाएँ एक चक्र का निर्माण करती है। पर्वतों के उत्थान-पतन के इसी चक्र को 'पर्वतीकरण चक्र' कहा जाता है। कभी-कभी पर्वत अपनी अन्तिम अवस्था को प्राप्त होने के पूर्व ही नवजीवन प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी दशा में पुनः उनकी ऊँचाई बढ़ जाती है।

पर्वत निर्माण की अवस्थाएँ (Phases in Mountain Building)

यद्यपि प्रत्येक पर्वत की अपनी विशेषताएँ होती है और उसके निर्माण मे अनेक जटिलताएँ देखी जाती हैं, किन्तु फिर भी वलित पर्वतों के जीवन इतिहास को साधारणतः तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

(1) **भू-अभिनति अवस्था** (Lithogenesis)—यह पर्वत-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था
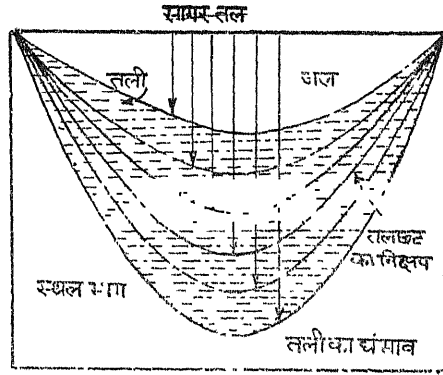
चित्र 436—भू-अभिनति अवस्था

है। इस अवस्था मे पर्वतो की रचना के लिए भू-अभिनति का निर्माण होता है जो नदियों द्वारा लाये गये अवसाद (sediment) से पटती रहती है और अवसाद के भार के साथ नीचे धँसती रहती है।

(2) **पर्वत-निर्माण अवस्था** (Orogenesis)—यह पर्वत-निर्माण की दूसरी अवस्था है। इस
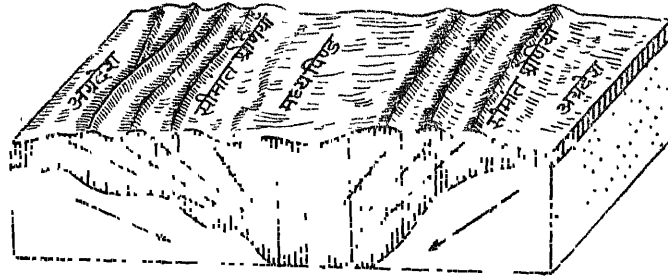
चित्र 437—पर्वत-निर्माण अवस्था

अवस्था में क्षितिजोत्तर दबाव के कारण भू-अभिनति के स्तरों मे वलन (fold) पड़ जाते हैं तथा भ्रंशन (faulting) होता है जिससे पर्वत प्रदेश का निर्माण होता है।

(3) **आकार-निर्माण अवस्था** (Glyptogenesis)—यह पर्वत-निर्माण की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में पर्वत श्रेणियों की अनाच्छादन के साधनों द्वारा काट-छाँट प्रारम्भ हो जाती है, जिससे उनकी ऊँचाई क्रमश: घटने लगती है और उनके विशिष्ट आकार बन जाते हैं।

यदि हम इस प्रश्न पर थोड़ा गहराई से विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि पर्वत-निर्माण क्रिया के आरम्भ के लिए सबसे पहली और अनिवार्य अवस्था ऐसे निम्न भू-भाग अर्थात—भू-अभिनति—का पाया जाना है जो साधारणतः काफी गहरी हो और उसमें समीपीय उच्च प्रदेशों के अवसाद (sediments) आकर जमा होते हों। यह निम्न भू-भाग अर्थात भू-अभिनति एकत्रित अवसाद के भार से शनैः-शनैः नीचे धँसती जाती है। संक्षेप में, इस प्रक्रिया को 'अवसाद की अधोगति' (sedimentation subsidence) कहा जा सकता है किन्तु इस प्रक्रिया द्वारा जो धँसाव होता है उसकी एक निश्चित सीमा होती है। परन्तु भू-अभिनतियों में एकत्रित 'अवसादों का जमाव इतना अधिक हुआ है जो इस प्रकार कदापि स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इसका एक सम्भव कारण यह हो सकता है कि धरातल पर सम्पीडन (compression) उत्पन्न होने पर भू-अवनति

के स्तर मुड़ जाते हों और उसके दोनों छोर एक-दूसरे के निकट आ जाते हों। भू-अभिनति के छोरो के समीप आ जाने से उसकी गहराई बढ जाती है। इस क्रिया को **'सम्पीडन की अधोगति'** (compression subsidence) कहते है। इस क्रिया द्वारा यद्यपि भू-अभिनति की गहराई और सकीर्णता बढती जाती है परन्तु सामान्यतः भू-अभिनति मे अवसादों का निक्षेप उसके गहरे होने की अपेक्षा अधिक तीव्रता से होता है। अतः कालान्तर मे भू-अभिनति अवसादों द्वारा पूर्णतः भर जाती है।

भू-अभिनति के पूर्ण भर जाने के उपरान्त जब और सम्पीडन उत्पन्न होता है तो पर्वत-निर्माण की वास्तविक अवस्था प्रारम्भ होती है। दो विरोधी दशाओं से पड़ने वाले सम्पीडन के कारण भू-अभिनति का अवसाद भंजित हो जाता है और उसमें अनेक मोड़ पड़ जाते है। जब सम्पीडन की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है तो उसमे भ्रंश (faults) उत्पन्न हो जाते है। भ्रंशन के कारण प्रायः एक स्तर दूसरे पर चढ़ जाता है। इस प्रकार वलन (folding) और भ्रंशन (faulting) अथवा दोनो की क्रियाओ से परत के ऊपर परत के चढ़ते रहने से भू-अभिनति के अवसादों के निक्षेप की मोटाई बढ़ती जाती है जिससे भू-अभिनति के भार की मात्रा अधिक हो जाती है। भार के बढ जाने पर भू-अभिनति नीचे धँस जाती है। भू-अभिनति की इस अधोगति को वलन या भ्रंशन की अधोगति (folding and faulting subsidence) कहते हैं। किन्तु इस प्रकार सतत रूप से होते रहने वाले धँसाव से हल्की चट्टाने (कम घनत्व वाली) सीमा (sima) में बहुत दूर तक घुस जाती है, जिससे सीमा वहाँ से हट जाती है। पर्वत-निर्माण अवस्था के अन्त मे भू-अभिनति का पदार्थ धरातल की साधारण सतह से चाहे कितना ही ऊपर उठे उससे कई गुना अधिक वह नीचे धँस जाता है, क्योंकि भू-अभिनति के ऊपर उठते हुए पदार्थ को अपना सन्तुलन कायम रखना जरूरी है। कभी-कभी जब सम्पीडन जारी रहता है तो अवसादन की अधोगति अपने किनारों (sides) से पड़ने वाले सम्पीडन के कारण बन्द हो जाती है। जैसे यदि हम किसी लकड़ी के टुकड़े को अपने तैरने की सामान्य स्थिति से नीचे दबाये तो हम उसको उस स्थिति मे तभी बनाये रख सकते है जबकि उसके ऊपर कोई वजन रख दें अथवा उसके किनारों को विपरीत दिशाओं से जोर से दबा दें। परन्तु ज्योंही दबाव कम होगा वह टुकड़ा पुनः ऊपर उठ जायेगा। यही बात पर्वतों के सम्बन्ध मे भी है। इस प्रकार पर्वत-निर्माण क्रिया के बहुत बाद की अवस्था मे वलन और भ्रंश बन चुकने के काफी बाद—प्रायः पर्वत ऊँचे उठ जाते है। कुछ विद्वानों ने पर्वतो के ऊँचे उठने का और ही कारण सुझाया है। उनका कहना है कि सम्पीडन के कारण पर्वतों की जड़े अध स्तर में बहुत नीचे तक प्रवेश कर जाती है। अधःस्तर में भीषण गर्मी के कारण वे फैल जाती हैं। पर्वतों की जड़ो के इस प्रकार फैलने से ही बाद में पर्वत ऊँचे उठते है। पर्वतो के ऊपर उठने के इन दोनों कारणों का सापेक्षिक प्रभाव जो कुछ भी हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि वलन (folding) की समाप्ति पर क्षितिजोत्तर सम्पीडन और पर्वतों का ऊँचा उठना दोनों ही विशिष्ट घटनाएँ है।

पर्वत-निर्माण की इस अवस्था के बाद पर्वत-श्रेणियाँ बन जाती हैं तो धरातल पर कार्यशील अनाच्छादन की शक्तियाँ उसकी काट-छाँट प्रारम्भ कर देती हैं। इन शक्तियों के वशीभूत पर्वत-श्रेणियों की ऊँचाई पुनः धीरे-धीरे कम होने लगती है। इन शक्तियों का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि हाल ही में ऊपर उठे हुए आल्प्स पर्वत मे पश्चिमी आल्प्स की श्रेणियाँ अपक्षय के प्रभाव से आठ-नौ मील घिसकर नष्ट हो चुकी है, किन्तु पूर्वी आल्प्स की श्रेणियाँ जो कम ऊँची उठी हुई थी अनाच्छादन से कम प्रभावित हुई।

वलित पर्वतों की संरचना (Structure of Folded Mountains)

पृथ्वी के धरातल पर बने पर्वतों मे वलित पर्वत ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसकी यह

महत्ता विशिष्ट ऊँचाई अथवा धरातल पर विस्तृत फैलाव के कारण ही नहीं अपितु इनकी संरचना के कारण ही सर्वाधिक है। संरचना की दृष्टि से ये अन्य पर्वतों से एकदम भिन्न और कई विशेषताएँ लिए हुए होते है। इसलिए इन पर्वतो का विशेष अध्ययन आवश्यक है।

साधारणतः वलित पर्वत समुद्रतटो के समान्तर ही अधिक फैले हुए देखे जाते है। संसार के प्राय. सभी प्रमुख वलित पर्वत—रॉकीज, एण्डीज, आल्प्स, एटलस आदि—इसके उदाहरण है। रॉकीज तथा एण्डीज की श्रेणियाँ उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी तट के बराबर-बराबर उत्तर से दक्षिण को फैली हुई है। आस्ट्रेलिया मे ग्रेट डिवाइडिंग श्रेणी भी पूर्वी तट पर उत्तर से दक्षिण को चली गयी है। अफ्रीका मे एटलस पर्वत उत्तरी तट पर पूर्व से पश्चिम को फैला हुआ है। इसी प्रकार यूरेशिया की श्रेणियां दक्षिणी तट के सहारे पूर्व से पश्चिम को चली गयी है। इससे भी अधिक चकित करने वाली बात तो यह है कि सब कही इन पर्वत-श्रेणियो की आकृति टेढी-मेढ़ी अर्थात वक्र-रूप मे मिलती है। इनका यह वक्र-रूप अपने समीपीय भाग के पूर्व रूप से बहुत अधिक मेल खाता देखा गया है। जैसे यूरोप मे आल्प्स पर्वत अपने समीप विद्यमान फ्रांस तथा बोहेमिया के पठार की आकृति के अनुसार मुड़ गया है। इसी प्रकार कारपेथियन पर्वत भी बोहेमिया और रूमानिया के पठारों के अनुसार वक्र हो गया है। भारत में हिमालय पर्वत की आकृति भी दक्षिण के पठार के अनुरूप ही है। वलित पर्वतों मे उनके वक्र-रूप के साथ-साथ कई श्रेणियाँ भी देखी जाती है। संसार मे कोई भी ऐसा पर्वत नहीं है जिसमे श्रेणियों की अधिकता न हो। ये सब श्रेणियाँ भी मुख्य पर्वत श्रेणी के अनुसार टेढी होती है। इस प्रकार वलित पर्वतो में श्रेणियों का पाया जाना और उन सबका टेढा-मेढ़ा होना इनके बनावट की प्रमुख विशेषता है। इस विशेषता के आधार पर ही यह माना जाता है कि वलित पर्वतो का जन्म क्षितिजोत्तर दबाव के कारण ही हुआ होगा। इस बात की सत्यता इनमें पायी जाने वाली **प्रतिनति ग्रीवा क्षेत्र** (nappe zone) से भी प्रकट होती है।

वलित पर्वतों मे सम्पीडन के कारण अनेक वलन पड़ जाते है जिससे उनमें सब कही अपनति (anticline) और अभिनति (syncline) का निर्माण होता है। जब कभी दबाव एक ही दिशा से और निरन्तर रूप से आता रहता है तो वलनों की बनावट मे बड़ी जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती है। कई बार एक के ऊपर एक कई वलन (over fold) जमा हो जाते हैं। यदाकदा जब सम्पीडन बहुत अधिक होता है तो अपनति (anticline) का ऊपरी भाग (ग्रीवा) टूटकर सैकड़ो मील दूर चला जाता है। अपने मूल स्थानों (roots) से हटकर आने वाले इन ग्रीवाखण्डो का उस स्थान की सरचना से कोई सम्बन्ध नही होता। कभी-कभी एक ग्रीवाखण्ड के ऊपर दूसरा आरोपित होता देखा जाता है। ग्रीवाखण्डों की यह व्यवस्था आल्प्स व हिमालय आदि सभी बड़े-बड़े पर्वतों मे देखी जाती है। पर्वतों में जहाँ ऐसे ग्रीवाखण्ड पाये जाते है उन्हे **'ग्रीवा क्षेत्र'** (nappe zone) कहा जाता है। संरचना की दृष्टि से ये ग्रीवा क्षेत्र पर्वतीय वलन की सबसे बड़ी जटिलता है। किन्तु जहाँ कही नवीन चट्टानों के ऊपर स्थित पुरानी चट्टाने घिस-घिसकर नष्ट हो गयी हैं वहाँ नीचे की नवीन चट्टाने दिखाई पड़ने लगी है। इस प्रकार दिखाई पड़ने वाले नवीन चट्टानी भाग को **'संरचना द्वार'** (structural window) कहा जाता है। ये संरचना द्वार ही उस स्थान की वास्तविक सरचना को प्रकट करते हैं। नीचे हिमालय के कुछ क्षेत्रों की संरचना का विवरण दिया जा रहा है।

हिमालय के कश्मीर व शिमला क्षेत्र की संरचना

डॉ० डी० एन० वाडिया ने हिमालय के कश्मीर क्षेत्र के तीन संरचना तत्त्व बताये हैं : (1) प्राचीन चट्टानी अग्र प्रदेश का आगे निकला हुआ भाग जो अल्प-नूतन और आदि-नूतन युग की चट्टानो के नीचे दबा हुआ है। (2) यथास्थानीय पट्टी (autochthonous belt) जो अगार

युग और आदि-नूतन (Eocene) युग की वलित चट्टानों से बनी है। (3) भीतरी हिमालय का ग्रीवा क्षेत्र जो पंजाल वितोदन (Panjal thrust) के समान्तर फैला हुआ है। कश्मीर का ग्रीवा क्षेत्र पूर्व-कैम्ब्रियन की परतों और नवीन स्लेट से बना है। ग्रीवा क्षेत्र मे सब कहीं वलन बने हुए है। आगे की ओर वितोदन के कारण सब वलन पंजाल वितोदन पर एकत्रित हो गये है।

कश्मीर ग्रीवा क्षेत्र के पूर्व में उसके मूल भागों से महा हिमालय श्रेणी (Great Himalayan ıange) खड़ी है। यह आर्कियन और पूर्व-कैम्ब्रियन युग की परतदार चट्टानों से बनी हुई है। इसकी परतदार चट्टाने विस्तीर्ण अपनति (geo-anticline) का निर्माण करती है।

कश्मीर की घाटी और पीर पंजाल की श्रेणियाँ ग्रीवा क्षेत्र के ही भाग है। यहाँ की चट्टाने तिब्बत क्षेत्र की चट्टानों से सर्वथा भिन्न हो गयी है। परन्तु मध्य हिमालय के पूर्वी भाग की चट्टानें इससे बहुत अधिक समानता रखती हैं।

हिमालय के शिमला क्षेत्र का **पिलग्रिम** (Pilgrim) और **वेस्ट** (West) प्रभृति विद्वानों ने भली प्रकार अध्ययन कर पता लगाया है कि इस क्षेत्र में विभिन्न स्थानो पर **विभिन्न** काल की चट्टानें पायी जाती है। ये चार या पाँच स्थानो पर टूट गयी हैं। इन टूटे हुए स्थानों से ही अलग-अलग काल की चट्टानें व्यक्तिगत रूप से पहचानी जा सकती है। इस भाग मे सबसे पहले **मुख्य सीमान्त वितोदन** (main boundary fault) मिलता है जो शिवालिक पर्वत को हिमालय पर्वत से अलग करता है। हिमालय की चट्टानी पट्टी को यहाँ यथास्थानीय पट्टी (autochthonous belt) कहते है। इस स्थानीय पट्टी को **क्रोल** (Krol) **वितोदन** ने तोड़ डाला है। क्रोल वितोदन के आगे क्रोल चट्टानें आ गयी है और उसके बाद ग्रीवा क्षेत्र आ जाता है। इस ग्रीवा क्षेत्र में **चेल** और **जुतोघ** चट्टाने मिलती है। ग्रीवा क्षेत्र के दोनो ओर
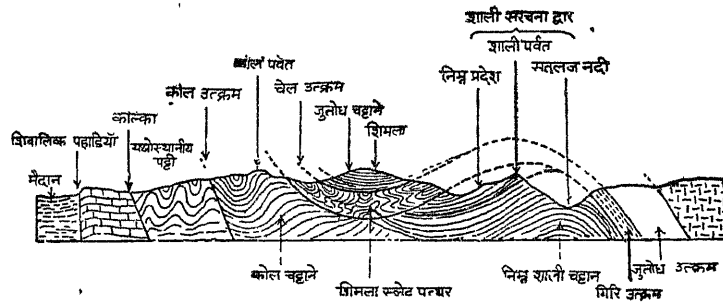
चित्र 438—**हिमालय के शिमला क्षेत्र की संरचना**

जुतोघ और गिरी वितोदन है। उत्तर में **शाली** शिखर आ गया है। इसके समीप **चेल वितोदन** ने यहाँ सरचना द्वार (structural window) खोल दिया है जिससे हिमालय के निर्माण-काल का बहुत कुछ पता चल जाता है।

उपरोक्त वर्णन से पर्वतों की संरचना के मूल तत्त्वों तथा उसकी जटिलताओं का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

आल्प्स पर्वत की उत्पत्ति (Formation of Alps)

आल्प्स पर्वत वलित पर्वतों का सर्वोत्तम उदाहरण है। संसार के पर्वतों में सबसे अधिक अध्ययन आल्प्स पर्वत का ही हुआ है। अतः आल्प्स के बारे में सबसे अधिक जानकारी उपलब्ध है। यद्यपि अभी भी इसकी रचना से सम्बन्धित कई ऐसे प्रश्न हैं जिनके बारे मे वैज्ञानिकों में मतभेद है, परन्तु फिर भी इसकी रचना की मोटी रूपरेखा सामान्यतः सभी भू-गर्भवेत्ताओं द्वारा स्वीकार कर ली गयी है।

टेथिस महासागर आल्प्स का निर्माण-स्थल रहा है। संसार के मानचित्र मे यद्यपि आज **'टेथिस'** का कोई चिह्न नहीं है, किन्तु उसका प्रतिरूप **'भूमध्यसागर'** आज भी वहाँ विद्यमान है। जिस स्थान पर आज भूमध्यसागर फैला हुआ है वहाँ किसी समय टेथिस नामक महासागर लहराया करता था। कार्बन युग (Carboniferous period) के अन्त मे यह महासागर समस्त मध्य यूरोप और उत्तरी अफ्रीका को घेरे हुए था और पूर्व की ओर सुदूर एशिया मे फैला हुआ था। इस प्रकार इस महासागर के उत्तर मे यूरोपीय स्थलखण्ड और दक्षिण मे अफ्रीका स्थलखण्ड था। इन दोनो ही स्थलखण्डों से आने वाली नदियाँ निरन्तर इस महासागर मे अपरदित पदार्थ जमा करती थीं। यह क्रिया लाखो वर्षो तक चलती रही। क्रिटेशस युग के अन्त मे आन्तरिक हलचलों से महासागर का नितल धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा और दक्षिण से आने वाले धक्कों से पदार्थ उत्तर की ओर जमने और मुडने लगा। क्रिटेशस युग (Cretaceous period) में पुनः भीषण भू-गर्भिक हलचले प्रारम्भ हुई जिससे यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीप खिचकर निकट आने लगे। इस खिंचाव अथवा दबाव से महासागरीय पदार्थ भिचने लगा और उसमें वलन (folds) पड़ने लगे। सम्पीडन के धीरे-धीरे और निरन्तर पड़ते रहने से पदार्थ ऊँचा उठता गया और वलन बढते गये जिससे वह पर्वत रूप मे बदल गया। तृतीय कल्प (Tertiary period) के अन्त तक पृथ्वी की अधिकाश क्षितिजोत्तर हलचले (horizontal movements) बन्द हो गयी। आल्प्स पर्वत की ऊँचाई मुख्यतः चतुर्थ कल्प (Quaternary period) मे बढी।[1]

आल्प्स का आकार वक्राकार है। इसका नतोदर भाग दक्षिण की ओर तथा उन्नतोदर भाग उत्तर की ओर है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पर्वत निर्माणकारी दबाव अधिकतर दक्षिण से ही आया। आल्प्स के आकार-निर्माण पर उत्तर तथा पश्चिम की ओर कठोर चट्टानों (stable rocks) की स्थिति का भी पूर्ण प्रभाव रहा है। इस पर्वत-निर्माण में दबाव की गति अफ्रीका से यूरोप की ओर रही है। यूरोप के जूरा आदि प्राचीन पर्वत अग्र प्रदेश के भाग है और डिनारिक आल्प्स जो पहले अफ्रीका के भाग थे, पृष्ठ प्रदेश के भाग हैं। इस प्रकार बनावट की दृष्टि से आल्प्स पर्वत चट्टानी पर्तो का एक बड़ा समूह है। आल्प्स चट्टानो की एक के ऊपर एक परत जमी हुई है। ये चट्टानी परते दक्षिण से लायी जाकर उत्क्रम तल (thrust plane) के सहारे धकेल दी गयी। यूरोप के जूरा पर्वत और बोहेमिया का पठार (Bhomain highlands) उत्क्रम तल थे। अतः सम्पीडन का पूर्ण प्रभाव इन्ही पर हुआ। दक्षिण से आने वाले दबाव का प्रभाव इतना अधिक था कि आल्प्स के अनेक वलन टूट कर अपने मूल स्थान से दूर हट गये। पर्वत के ऐसे टूटे हुए वलनों को ग्रीवा खण्ड (Nappe) कहा जाता है। आल्प्स मे अनेक ग्रीवा खण्ड एक-दूसरे पर आरोपित देखे जाते है। आल्प्स की प्रसिद्ध ऊँची चोटियाँ **सिम्पलन, ग्रेट सेण्ट बर्नार्ड, मोण्टेरोजा** तथा **दाँ ब्लांश** आदि टूटे हुए ग्रीवा खण्ड ही हैं। आल्प्स का विख्यात **मैटरहार्न पहाड़** दाँ ब्लाँश ग्रीवा खण्ड का अवशिष्ट भाग ही है।

इन ग्रीवाखण्डो मे प्राचीन चट्टानें ऊपरी भाग में और सबसे नवीन चट्टाने नीचे दबी हुई पायी जाती है। इन ग्रीवाखण्डों के बीच ऐसे पहाड़ मिलते है जिनकी चट्टानों के आस-पास मीलों दूर तक पायी जाने वाली चट्टानो से कोई मेल नही होता। मैटरहार्न ऐसे ही पहाड़ का एक उदाहरण है। यह **नीस** (Gneiss) नामक चट्टानों से बना है जो उसके आसपास नहीं पायी जातीं।

आल्प्स पर्वत के वर्तमान सर्वेक्षण (surveying) द्वारा यह ज्ञात हुआ कि अल्पाइन हलचले

---

1 Samuel Rappart and Helen Wright द्वारा सम्पादित *'The Crust of the Earth'* में Samuel J. Shand का लेख *'The Problem of Mountains'*, p. 113

अभी भी पूरी तरह समाप्त नही हुई है और आल्प्स का अग्र भाग अभी तक उत्तरी मैदान के ऊपर बढ रहा है जो पहाडों के सामने नीचे धँस रहा है।[1]

आल्प्स पर्वत उन अनेक वलित पर्वतो में से एक है जो तृतीय युग (Tertiary period) की भू-गर्भिक हलचलों के द्वारा बने है। इन पर्वतों की शृंखला पिरेनीज से प्रारम्भ होकर आल्प्स, हिमालय और पूर्वी द्वीपसमूह को चली गयी है। यह शृखला नयी दुनिया में पश्चिमी द्वीपसमूह, मेक्सिको, उत्तरी वेनेजुएला और उत्तरी अमरीका में रॉकीज तथा दक्षिणी अमरीका में एण्डीज मे भी फैली हुई पायी जाती है। जापान, फिलीपाइन और प्रशान्त द्वीपसमूह इन्हीं पर्वत-शृखलाओ के ऊपरी सिरे है।

आल्प्स के इतिहास से हमे यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्वत निर्माणकारी हलचले कभी भी निरन्तर रूप से नहीं हुई हैं। ये हलचलें बीच-बीच मे ठहरकर हुई हैं। किन्तु जब हम विश्व के विभिन्न भागों की पर्वत-श्रेणियों की तुलना करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि पर्वत-निर्माण का समय मोटे तौर पर भिन्न-भिन्न और दूर स्थानों पर लगभग एक ही रहा है। जब यूरोप में आल्प्स पर्वत अपना रूप धारण कर रहा था तो उत्तरी अमरीका में रॉकीज, एशिया मे हिमालय और अन्य पर्वत-श्रेणियाँ तथा उत्तरी अफ्रीका में एटलस पर्वत भी ऊपर उठ रहे थे। यूरोप मे क्रिटेशस युग की हलचलो से बनी मोडें उत्तरी अमरीका के अप्लेशियन और दक्षिणी अफ्रीका मे केप श्रेणियों के समकालीन है। यूरोप मे सिलुरियन युग के अन्त मे पर्वतीकरण हुआ है। इस समय स्कॉटलैण्ड व नार्वे में बडी-बड़ी श्रेणियों का उदय हुआ। वर्तमान समय मे ये पहाड़ अपरदन के प्रभाव से केवल अवशिष्ट-मात्र ही है। इसी तरह कैम्ब्रिज काल मे भी संसार के अधिकतर भाग में पृथ्वी के धरातल पर बड़ी भारी हलचले हुईं।

हिमालय की उत्पत्ति (Formation of Himalayas)

संसार मे फैले मोडदार पर्वतों में हिमालय सबसे बडा पर्वत है। हिमालय की रचना भी आल्प्स के समान ही हुई है। जिस प्रकार टेथिस महासागर आल्प्स का निर्माण-स्थल रहा है उसी तरह हिमालय का जन्म भी टेथिस महासागर से ही हुआ है। इस महासागर के उत्तर की ओर अंगारालैण्ड (Angaraland) और दक्षिण मे गोंडवानालैण्ड (Gondwanaland) नामक भूमि थी।

लगभग 7 करोड़ वर्ष पूर्व मध्यजीव (Mesozoic) कल्प के अन्त मे उपर्युक्त भौगोलिक परिस्थिति में अचानक परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के फलस्वरूप गोडावानालैण्ड और अंगारालैण्ड के मध्य मे सागर लहराता था, उसका तल-प्रदेश भू-गर्भ के उत्पातों के कारण ऊपर उठते-उठते सागर जल की सतह तक आ पहुँचा और उसके जल ने गोंडवानालैण्ड के कुछ निम्न भागो को ढक लिया। इस प्रकार गोडवाना महाद्वीप टूटकर उसके स्थान पर हिन्द महासागर की सृष्टि हुई। किन्तु टेथिस महासागर के तल-प्रदेश का उत्थान इतने पर भी समाप्त न हुआ। भू-गर्भिक हलचलो के कारण वह अधिकाधिक ऊँचा उठता गया और उसके फलस्वरूप ऐसी पर्वत श्रेणियों का निर्माण हुआ जो आज चीन से लेकर यूरोप तक फैली हुई पायी जाती है। हिमालय भी इन्हीं पर्वत-श्रेणियों में से एक है।

इस प्रकार प्रायद्वीपीय भारत एक ओर तो गोडवानालैण्ड से पृथक होकर स्वतन्त्र भू-खण्ड बना और दूसरी ओर इस घटना के साथ ही साथ उत्तर में अगारालैण्ड के दक्षिण की ओर खिसकने से टेथिस में एकत्रित भू-पदार्थ पर्वत-श्रेणियों में परिणत होने लगा। अत. सक्षेप मे हिमालय का जन्म उत्तर की ओर से भारतीय प्रायःद्वीप की ओर आने वाले धरातलीय धक्को—जो भू-परिवर्तन के कारण

---

1 Samuel Rappart and Helen Wright द्वारा सम्पादित *'The Crust of the Earth'* मे Samuel J. Shand का लेख *'The Problem of Mountains,'* p. 113

उत्पन्न हुए थे—के फलस्वरूप हुआ है। इन धक्कों के कारण एक के बाद एक कई मोड़दार पर्वत बने जो प्रायद्वीप की ओर बढ़कर उस पर अपना दबाव डालने लगे। ये धरातलीय धक्के दक्षिण की ओर अग्रसर होते गये परन्तु दक्षिण की ओर से इन पर प्रायद्वीपीय अग्र प्रदेश (foreland) तथा उत्तर-पश्चिम से अरावली और उत्तर-पूर्व से असम की पहाड़ियो का दबाव पड़ा। इसलिए हिमालय पर्वत का रूप वक्राकार हो गया।

हिमालय की रचना का एक लम्बा इतिहास है। इसकी समूची रचना एक ही बार मे पूर्ण नहीं हुई बल्कि इसके उत्थान की कई अवस्थाएँ है। लगभग 7 करोड वर्ष पूर्व हिमालय का प्रथम उत्थान हुआ जिससे हिमालय की सृष्टि हुई। इस श्रेणी का निचला भाग अजीव चट्टानो और ऊपरी भाग प्रस्तरीभूत चट्टानो का बना हुआ था। पर्वत बनते ही उन पर से नदियाँ बहने लगी जो पर्वत के ऊपरी भाग की चट्टानों को काट-काटकर बालू और मिट्टी के रूप में समुद्र में बहाकर ले जाने लगी। फलस्वरूप कालान्तर मे मुख्य हिमालय पर्वत-श्रेणी का ऊपरी प्रस्तरीभूत चट्टानों द्वारा निर्मित भाग कटकर नष्ट हो गया और निचला अजीव चट्टानों वाला भाग बाहर निकल आया।

हिमालय की मुख्य श्रेणी के बन जाने के उपरान्त उस पर से निकलने वाली नदियाँ इस पर्वत-श्रेणी के दक्षिण मे जो खाई बन गयी थी उसमे जाकर गिरती थी। इन खाडियों के जल में उस समय जल-जीवों का खूब विस्तार हुआ और उनके तल-प्रदेश पर जल-जीवो के अवशेष तथा नदियों द्वारा लायी तलछट आदि जमा होने लगी। इस तरह यहाँ एक नवीन प्रकार की प्रस्तरीभूत चट्टानों का निर्माण हुआ। आज से 3 करोड़ वर्ष पूर्व मियोसीन (Miocene) युग मे हिमालय का द्वितीय उत्थान प्रारम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप पूर्व-निर्मित मुख्य हिमालय श्रेणी और ऊँची उठ गयी तथा तत्कालीन सिन्धु और पूर्वी खाडियो का तल-प्रदेश भी ऊँचा उठने लगा। इससे मुख्य हिमालय के दक्षिण मे उसके समान्तर रूप मे एक और पर्वत श्रेणी खड़ी हो गयी जो आजकल लघु हिमालय (lesser Himalayas) के नाम से प्रसिद्ध है।

अधिनूतन काल के मध्य मे हिमालय का तृतीय उत्थान हुआ। इस समय भू गर्भ में प्रलय-कारी उत्पात मचा, जिसके परिणामस्वरूप समस्त धरातल डॉवाडोल हो उठा तथा हिमालय काफी ऊँचा उठ गया। इन हलचलों से हिमालय की इतनी ऊँचाई हो गयी कि उसकी तलहट में बहने वाली इण्डोब्रह्म नदी लुप्त हो गयी और तलहटी धरातल से लगभग 5 हजार फुट ऊँची उठकर हिमालय के समान्तर एक पर्वत-श्रेणी के रूप मे बदल गयी। यही पर्वत-श्रेणी आजकल शिवालिक (Shivalic ranges) की श्रेणियाँ, बाहरी हिमालय (outer Himalaya) अथवा हिमालय पदीय श्रेणियों (Himalayan foot hills) के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर प्रदेश के नैनीताल और देहरादून जिले, हिमाचल प्रदेश के दक्षिणी भाग, शिमला आदि की पहाड़ियाँ इसी इण्डोब्रह्म नदी के तल-प्रदेश के ऊँचे उठने से बनी हुई शिवालिक श्रेणी के अन्तर्गत है। हरिद्वार के निकट की पहाड़ियाँ भी इसी में समाविष्ट होती है। इन भागों की चट्टानों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ये नदी द्वारा बहाकर लाए हुए कंकड़-मिट्टी आदि से बने है। इनमें इण्डोब्रह्म की घाटी में निवास करने वाले प्राणियों के ककालों के पृथक-पृथक भाग और आदि-मानव की सभ्यता के अवशेष प्राप्त होते है। उक्त घटना के साथ-साथ कारेवाँ (Karewas) सरोवर जो—जो कश्मीर में था—का तल भी ऊपर उठ आया जिससे कश्मीर को पंजाब से अलग करने वाली पीर पंजाल पर्वत-श्रेणी और कश्मीर की घाटी का निर्माण हुआ। कश्मीर की वर्तमान झीलें इसी विशाल सरोवर के अवशेष है।

उपरोक्त विवरण से यही समझ लेना चाहिए कि हिमालय की रचना का कार्य पूरा हो चुका है। इस पर्वत के गर्भ में प्रलय भरा हुआ है और यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि

कब हिमालय का चतुर्थ उत्थान प्रारम्भ हो जाय। पिछले समय में नेपाल, बिहार और असम में आये भूकम्प सूचित करते है कि हिमालय अभी और ऊँचा उठना चाहता है।

पर्वतों का मानव-जीवन पर प्रभाव

पर्वत स्थल के ऊँचे प्रदेश है। सामान्य लोग इन ऊँचे प्रदेशों को मानव के लिए अनुपयोगी समझने की भूल कर लेते है। यद्यपि यह सही है कि इनकी अनिश्चित बनावट, सँकरी घाटियाँ, उपजाऊ मिट्टी के अभाव, परिवहन के साधनो की कठिनाई, जलवायु की विषमता, समतल भूमि के अभाव आदि बातों के कारण ये मानव-निवास के लिए बहुत कम उपयोगी होते है। फिर भी अपनी अटूट प्राकृतिक सम्पदा के कारण ये मानव-जीवन के लिए वरदानस्वरूप हैं। यही नही, इनका मानव-जीवन पर अप्रत्यक्ष रूप से बड़ा गहरा प्रभाव होता है।

(1) **पर्वत और कृषि**—समतल भूमि का अभाव होने के कारण खेती के लिए अधिकतर सूर्य का प्रकाश प्राप्त करने वाले ढाल चुने जाते है, जहाँ वर्षा की मात्रा भी पर्याप्त होती है अथवा घाटियों के निचले भाग जहाँ पर्वत-श्रेणियों द्वारा हवा की तीव्रता से बचाव हो जाता है। अतः अधिकाश गाँव और खेत इन्हीं भागों मे मिलते है किन्तु पहाड़ी घाटियों में कई बार हानिकारक पाले पड़ते हैं। अत पहाड़ी ढाल ही कृषि के लिए उपयुक्त है। इन ढालो पर निश्चित ऊँचाई तक ही खेती सम्भव होती है। उदाहरण के लिए, विषुवतरेखीय अक्षांशों पर 3 से 10 हजार फुट की ऊँचाई तक, 30° अक्षाशों पर 8 हजार फुट तक, 45° अक्षांशों पर $4\frac{1}{2}$ हजार फुट और 55° अक्षांशों पर केवल 700 फुट की ऊँचाई तक ही कृषि सम्भव मानी गयी है।

पहाडी भागों में भूमि के ऊँची-नीची होने, मिट्टी के तीव्र गति से कटकर बह जाने, पतली और पथरीली मिट्टी की अधिकता के कारण खेती करने मे बड़ी कठिनाई पड़ती है। डॉ० हंटिंगटन के अनुसार यद्यपि पर्वतों पर मैदानी भागो की अपेक्षा अधिक मिट्टी बनती है, किन्तु अधिक कटाव के कारण वहाँ पत्थरो की अधिकता हो जाती है जिससे यहाँ खेती करना हानिकारक होता है। यहाँ मुख्यतः सरकती हुई या स्थान्तरित (shifting or migratory) खेती की जाती है।

(2) **पर्वत और वन व्यवसाय**—पहाड़ी भागों में ढालो पर जलवायु तथा ऊँचाई के अनुसार विभिन्न प्रकार के वन पाये जाते है। हिमालय के ढालों पर विषुवतरेखीय वनो से लगाकर कोणधारी वन तक मिलते है, किन्तु रॉकीज और आल्प्स पर्वतों तथा एण्डीज पर मुख्यतः कोणधारी वनों का साम्राज्य पाया जाता है। इन वनों से व्यापारिक कार्यो के लिए विभिन्न किस्मों की लकड़ियाँ प्राप्त की जाती है। यहाँ के निवासियो का मुख्य व्यवसाय इन वनो की लकड़ियाँ काटना, इन्हें बहाकर कारखानों तक लाना, आदि है। इन पर आश्रित उद्योग कनाडा मे कागज और लुग्दी बनाना, जापान में रेशम के कीड़े पालना, संयुक्त राज्य अमरीका और पश्चिमी यूरोप में कागज, दियासलाई, तारपीन का तेल और लुग्दी आदि तैयार करना है।

लकड़हारों का जीवन भी अस्थायी होता है। एक क्षेत्र के वन कट जाने पर उन्हें अन्यत्र जाना पड़ता है, फलतः जनसंख्या भी सघन नही होती।

(3) **पर्वत और जलवायु**—पहाड़ किसी देश की जलवायु पर भी अपना प्रभाव डालते हैं। पहाड़ों के कारण किसी देश की जलवायु न केवल ठण्डी हो जाती है, किन्तु वहाँ वर्षा भी बहुत होती है क्योंकि जो भाप भरी हवाएँ पहाडों के निकट आती है उन्हें पार करने के लिए इन्हें विवशतः ऊँचा उठना पड़ता है और इस क्रिया में हवा नम होकर अपनी सारी नमी वर्षा के रूप मे वहाँ छोड़ देती है। कहा जाता है कि भारत में हिमालय पर्वत न होता तो सारा उत्तरी भारत सहारा की तरह मरुस्थल होता। पहाड़ों के वायुमार्गों की दिशा (windward) में उसकी विपरीत दिशा (ice-ward) की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है तथा जो भाग पहाड़ों के निकट होते है वहाँ दूर होने वाले स्थानों की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है।

ग्रीष्मकाल में अधिक ठण्डे होने के कारण पहाड़ी भागो मे कई उत्तम हवाखोरी के स्थल बन गये हैं। भारत मे इस प्रकार के स्थानों की अधिकता है जहाँ प्रतिवर्ष मैदानों के निवासी प्रचण्ड और तीव्र गर्मी से बचने के लिए इन स्थानों को चले जाते है। पहाडी भागो की ठण्डी और स्वास्थ्य-वर्द्धक जलवायु, धूप की अधिकता, सुन्दर प्राकृतिक छवि और एकाकीपन के कारण घर के बाहर खेलकूद एवं भ्रमण का अवसर मिलता है। स्विट्जरलैण्ड और कश्मीर आज इसी कारण विश्व के आकर्षणकेन्द्र बने हुए है।

पहाड न केवल वर्षा ही देते है, बल्कि किसी देश को ठण्डी हवाओं से भी बचाते है। उत्तरी रूस की ओर से आने वाली ठण्डी हवाएँ हिमालय पर्वत के कारण भारत मे नही आ सकतीं और इसीलिए भारत एक गरम देश रह जाता है। उत्तरी कनाडा से आने वाली ठण्डी हवाएँ दक्षिणी संयुक्त राज्य अमरीका तक शीतकाल मे चली जाती है इसलिए वहाँ का तापमान बहुत नीचा हो जाता है। अगर रॉकीज और एण्डीज पर्वत उत्तर से दक्षिण होने की अपेक्षा पूर्व से पश्चिम की ओर फैले होते तो उत्तरी-दक्षिणी अमरीका की जलवायु भारत की तरह सुन्दर होती।

(4) **पर्वत और सुरक्षा**—पहाड़ देश को बाहरी आक्रमण से भी बचाते है। भारत के उत्तरी और पूर्वी भागों पर अभेद्य पर्वतों के कारण ही विदेशी भारत में न आ सके। परन्तु उत्तरी-पश्चिमी भागों मे खैबर, बोलन आदि दर्रों के कारण सदैव ही विदेशी आक्रमणकारी आते रहे।

(5) **पर्वत और जनसंख्या**—पहाड़ मैदानो की अपेक्षा कम बसे होते है। विश्व के बहुत ही थोड़े नगर पहाड़ी भागों मे बसे है। यही कारण है कि उच्च हिमालय, आल्प्स, रॉकीज या एण्डीज पर्वत अथवा मध्य एशिया के पहाड़ी भाग मानव से शून्य है जबकि गंगा, राइन अथवा सेण्ट लॉरेंस के मैदान मानव-निवास से परिपूर्ण है। दक्षिणी नॉर्वे का धरातल पहाड़ी होने के कारण समुद्री जलवायु के होते हुए भी बहुत ही कम आबाद है। यहाँ प्रति वर्गमील 25 से भी कम व्यक्ति निवास करते है। अत प्रत्यक्ष रूप से धरातल की बनावट किसी प्रदेश की आर्थिक उन्नति की सीमा को निर्धारित करती है। ऊँचे पहाडों से भरे हुए प्रदेशों में आर्थिक उन्नति अधिक नही हो सकती क्योंकि उपजाऊ भूमि के अभाव और पथरी ढालू भूमि के प्रतिकूल जलवायु के कारण न तो यहाँ खेतीबाड़ी ही अधिक हो सकती है, न उद्योग-धन्धों की ही उन्नति हो सकती है और न मार्गों की ही सुविधा है। यही कारण है कि ऐसे प्रदेशों मे आबादी घनी नही होती। साधारणतया जनसंख्या का जमाव सँकरी घाटियों अथवा नदियों के किनारे पर होता है। अन्य निवास-स्थान दर्रो के निकट, जहाँ बाहरी व्यापारियों से सम्पर्क बना रहता है एवं खनिज केन्द्रों पर स्थापित होते हैं। युद्ध की दृष्टि से कई स्थान महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। जनसंख्या का जमाव सभी पर्वतीय भागो में समान नही होता। उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में अधिकतर निवास ऊँचाई पर ही मिलते है। उदाहरण के लिए, मध्य अमरीका, दक्षिणी अमरीका और मेक्सिको मे अधिकांश जनसख्या 2000 मीटर से ऊपर मिलती है। इसी प्रकार पीरू और बोलिविया में तीन-चौथाई जनसंख्या 11 हजार फुट की ऊँचाई पर रहती है। इसके विपरीत सम-शीतोष्ण पहाड़ी भागों में जनसंख्या अधिकतर निचले भागों में पायी जाती है, क्योंकि थोड़ी-सी ऊँचाई पर ही जलवायु रहने योग्य नहीं मिलती। यहाँ बहुधा मैदानी और पहाड़ी क्षेत्र के बीच के भागों में ही अधिवास पाये जाते है।

पहाड़ी भागों मे एक विशेष बात देखने को मिलती है। यहाँ अधिकांश मनुष्य मौसम के अनुसार स्थान्तरण करते हैं। ग्रीष्म में अधिक ऊँचे भागों पर और शीतकाल में निचले भागों में चले जाते हैं। अतः जनसंख्या का जमाव स्थायी नही होता। यह स्थान्तरण न केवल दैनिक ही होता है वरन् अनेक भागों मे मौसमी भी। प्रो० ब्रून्स के अनुसार मौसमी स्थान्तरण के दो मुख्य कारण है : (1) मनुष्यों की घुमक्कड़ प्रवृत्ति (migratory habit), और (2) जलवायु में परिवर्तन।

स्विट्जरलैण्ड में आल्प्स पर्वतों पर वर्ष में चार, एटलस पर्वत पर कहीं चार और कहीं-कहीं दो स्थान्तरण होते है ।

(6) **पर्वत और सामाजिक जीवन**—पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी प्राचीन जन-जातियाँ पायी जाती हैं । आने-जाने के मार्गों की कठिनाइयों तथा पहाडो मे बने मार्गो और पगडण्डियो से विदेशियों के अपरिचित होने के कारण पहाड़ों के भीतरी भागों तक पहुँचना बहुत असम्भव है । अत' पहाड़ी निवासियों के जीवन पर न तो बाहरी आक्रमण का कोई प्रभाव ही पडता है और न उनके रीति-रिवाज और भाषा आदि पर ही कोई प्रभाव पड़ता है । भारत के छोटा नागपुर के कोल, संथाल, हो, भील और नीलगिरि की टोडा आदि जातियों के आचार-विचार, धर्म, रीति-रिवाज, वेश-भूषा आदि सभी प्राचीन ढग के है । समय का उनके जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है । यूरोप मे कार्नवाल और वेल्स की वेल्स जाति, फ्रांस की ब्रिटेन, लका की वेद्द, फिलीपाइन की एटाज और मलाया की सोमांग जाति इसी श्रेणी की है । जिन पहाड़ी भागों में समीपवर्ती मैदानों की जातियाँ रहती है वहाँ भी पहाड़ियों ने उन पर अपना प्रभाव डाला है । पहाडी भागों में अजीब सामाजिक रूप मिलते है । उदाहरणार्थ, अप्लेशियन और ओजार्क के हिलबिली (Hill-billy) या दरिद्रगोरे, स्कॉटलैण्ड के हाइलैण्डर (Highlander), दक्षिण कैरोलिना के सैण्डहिलर (Sandhiller), जॉर्जिया के क्रैकर (Craker) और चैकोस्लोवाकिया के स्लोवाक (Slovak) प्राय पिछड़े हुए और रूढिवादी होते है । इसलिए आज भी पहाडी क्षेत्रों में अन्धविश्वास, रूढ़िवाद, विदेशियो के प्रति अविश्वास की भावना, व्यक्तिवादी और स्वतन्त्रताप्रेमी, तीव्र धर्मान्धता और अपने निवास-स्थान तथा अपने परिवार के प्रति अटूट प्रेम पाया जाता है । निरन्तर परिस्थितियो से लड़ते रहने के कारण वे बड़े वीर, साहसी, परिश्रमी, उद्योगी, ईमानदार और मितव्ययी होते हैं । इनके पुट्ठे और पाँव बडे मजबूत, छाती चौड़ी और स्वास्थ्य सुन्दर होता है । इनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य 'To have and to hold' रहता है । संकुचित आर्थिक आधार होने के कारण ये बड़े गरीब होते हैं । इनकी दरिद्रता ही इन्हें झगड़ालू और चिडचिड़ा बना देती है । परिवार के प्रति इनका अगाध स्नेह होता है अतः यदि कोई किसी की हत्या कर दे तो उससे बदला लेना अपना कर्तव्य मानते हैं । वास्तव मे सभ्य समाज से विलग होने के कारण तथा आधुनिक परिस्थितियों से अपरिचित रहने के कारण वे बड़े अज्ञानी और अनपढ रह जाते है । फलत. न तो उनमें किसी प्रकार की उन्नति ही हो सकी है और न इन क्षेत्रों का व्यापार अथवा वाणिज्य ही बढ सका है ।

(7) **पर्वत और खनिज पदार्थ**—पहाडों का सबसे अधिक लाभ इस बात में है कि उनकी चट्टानों में अनेक प्रकार के बहुमूल्य खनिज पदार्थ प्राप्त होते है । अत. पहाडी भागो में बहुत समय से खानें खोदना एक मुख्य व्यवसाय हो गया है । अत्यन्त प्राचीनकाल मे ही मानव ने पर्वतों से खनिज पदार्थ प्राप्त करने का प्रयास किया है । इसका एक उदाहरण मिस्र के शासकों द्वारा भेजी गयी खान खोदने वाली टुकड़ियो से मिलता है जिन्होंने सिनाई पहाड़ियो पर ताँबे की खुदाई सर्वप्रथम की । ये खानें सबसे प्राचीन समझी जाती है और उनमे आज भी प्राचीन सुरंगें मिलती है जो इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इनसे किसी समय ताँबा निकाला जाता था । भारत के दक्षिणी पठार पर मैगनीज, लोहा, सोना आदि पदार्थ, दक्षिणी अफ्रीका और ब्राजील मे सोना तथा हीरा और बिहार तथा उडीसा में कोयला आदि पाये जाते है । रूस के यूराल, अमरीका के रॉकीज और एण्डीज पर्वतों में विशाल खनिज भण्डार मिलते है । टर्की, मेक्सिको आदि में तेल-भण्डार पाये जाते है । इन पदार्थों से औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिलता है तथा देश का व्यापार बढता है । शीतोष्ण प्रदेश में पहाड़ों से निकलने वाले झरनों से जल-विद्युत शक्ति का विकास भी किया जाता है । नॉर्वे, स्वीडन, जापान, कनाडा, स्पेन, स्विट्जरलैण्ड, इटली तथा दक्षिणी भारत में

ऐसे ही अनेक जल-प्रपातों से जल-विद्युत शक्ति प्राप्त की गयी है, जिससे लकड़ी चीरने, लुग्दी व कागज बनाने, एल्यूमीनियम तथा हवा से नाइट्रोजन प्राप्त करने का उद्योग, सूती, रेशमी व ऊनी कपड़ों के कारखाने चलाये जाते हैं।

(8) **पर्वत और उद्योग**—यातायात के मार्गों की असुविधा के कारण पहाड़ी भागों में उद्योग और यातायात का पूर्ण विकास नहीं होता। पहाड़ी जातियाँ केवल ऐसा सामान तैयार करती हैं जो मूल्य में अधिक परन्तु वजन मे हल्का होता है। यही कारण है कि स्विट्जरलैण्ड के निवासी घड़ियाँ बनाने, फीता बनाने, लकडी पर खुदाई का काम करने और लोहे तथा ताँबे पर नक्काशी का कार्य करने, दवाइयाँ और बिजली का सामान बनाने में बडे चतुर हो गये है। कश्मीर में शाल-दुशाले, पश्मीने और अन्य ऊनी माल तथा लकड़ी पर खुदाई का काम, चाँदी, ताँबे के बर्तनों पर मीनाकारी और गलीचो पर बेल-बूटों आदि का काम अच्छा होता है। नार्वे और स्वीडन में भी लकड़ी पर खुदाई का काम अच्छा किया जाता है।

ज्यूरा और ब्लैक फारेस्ट मे हर प्रकार की घडियाँ बनायी जाती हैं। पर्वतीय वातावरण मे प्रकृति की क्रूरता स्पष्ट है। अतः उद्योगशील मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए नाना प्रकार के साधनों की ओर हाथ बढाता है। उदाहरण के लिए, एक अध्यापक बढईगीरी का काम भी कर लेता है, वकील लुहारी का, मन्त्री एक राजा का और सभी छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों पर खेती कर लेते है। धन और समय दोनों के अभाव के कारण अपने मस्तिष्क का पूर्णरूप से विकास नहीं कर पाते, अतः समाज की यथोचित सेवा करने मे असमर्थ रहते है।

(9) **पर्वत और यातायात के साधन**—पर्वत यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों के विकास में बाधा डालते हैं क्योंकि समतल भूमि के अभाव मे सडकें अथवा रेलें आदि नहीं बनायी जा सकतीं और यदि बनायी भी जायें तो उनके निर्माण मे बड़ा व्यय पड़ता है। अतः यह प्रदेश उद्योग और व्यापार के विकास मे अति सीमित और पिछड़े हुए होते है। माल ढोने के लिए हिमालय पर्वतों में बैल, याक, बकरियाँ, खच्चर, गधे; एण्डीज और रॉकीज पर्वतों पर लामा और अल्पाका अथवा कई क्षेत्रों में मनुष्य को ही बोझा ढोने मे हाथ बँटाना पड़ता है। फिर भी मनुष्यों ने पहाड़ों द्वारा प्रस्तुत की गयी बाधाओ को पार करके उनमें सुरंगें खोदकर रेलमार्ग और मोटर-मार्ग निकाल लिये है। आल्प्स पर्वत में होकर स्विट्जरलैण्ड को जाने के लिए छह बड़ी बड़ी सुरंगें हैं यथा सिम्पलन, सैण्टगोथार्ड, ब्रैनर और माउण्ट सेनिस आदि जिनमें होकर बिजली की रेलें दौड़ा करती हैं। इन्हीं रेलमार्गों द्वारा स्विट्जरलैण्ड की इतनी उन्नति हुई है। इसी प्रकार पूर्वी संयुक्त राज्य को जाने के लिए पश्चिमी रॉकीज पर्वत में किकिंग हार्स पास और कैलगरी दर्रों में होकर रेलमार्ग निकाले गये है। भारत मे पश्चिमी घाट में थालघाट और भोरघाट दर्रों द्वारा उत्तर और दक्षिण तथा उदयपुर और जोधपुर डिवीजन के बीच पीपलीघाट के दर्रों मे होकर रेल-मार्ग बनाये गये है, जिनसे आना-जाना सुलभ हो गया है।

(10) **पर्वत और सीमाएँ**—पर्वत विभिन्न देशों के बीच बहुत ही सुरक्षित सीमाओं को बनाते है। इसलिए एक देश की जनता दूसरे देश से बिलकुल अलग हो जाती है। ये प्राकृतिक सीमाएँ ही कई बार राजनीतिक सीमाओ का रूप ले लेती है। जैसे भारत और बर्मा के बीच एवं भारत और तिब्बत के बीच पर्वत ही राजनीतिक सीमाएँ बनाते हैं। इसी प्रकार इटली और स्विट्जरलैण्ड के बीच आल्प्स एव यूरोपीय रूस और साइबेरिया के बीच यूराल पर्वत प्राकृतिक सीमा का और फ्रांस व स्पेन के बीच पिरेनीज पर्वत प्राकृतिक एवं राजनीतिक दोनों प्रकार की सीमा का निर्धारण करते हैं।

(11) **पर्वत और शरण-गृह**—पर्वत न केवल डाकुओं के लिए ही अपितु हारी हुई सेनाओं अथवा पराजित जातियों के लिए भी शरण-गृह का कार्य करते हैं। कई बार मैदानी जीवन के

संघर्ष से हारकर कई जातियाँ पर्वतों में शरण ले लेती हैं। भारत में भील, सन्थाल, नागा, टोडा आदि ऐसी ही जातियाँ हैं।

(12) **पर्वत और मनोरंजन**—पर्वत प्रदेश अपने हिम-मण्डित शिखरों, सुरम्य घाटियों, मनोरम प्रपातों और रंग-बिरंगे फूलों तथा हरे-भरे सघन वनों के कारण बहुत ही आकर्षक दृश्य प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि पर्वत प्रदेश बरबस ही लोगो को अपनी ओर आकर्षित कर लेते है। ऊँचाई के कारण ये प्रदेश बड़े शीतल होते हैं। कई स्थानों पर सुन्दर झीलों से इनकी छटा अद्वितीय हो जाती है। अतः पर्वत प्रदेशों में कई सुरम्य नगर स्थापित हो गये हैं। जैसे श्रीनगर, शिमला, मसूरी, नैनीताल, दार्जिलिंग आदि। प्रतिवर्ष हजारों यात्री इन नगरों की यात्रा कर वहाँ की प्राकृतिक छटा का अवलोकन करते है। इन स्थानों पर मनोरजन के लिए नौका-बिहार, स्केटिंग, पर्वतारोहण आदि कई आकर्षण रहते हैं। अतः पर्वत प्रदेश सदैव ही मानव के लिए रहस्य, रोमाच और आनन्द के स्थल रहे है।

38
झीलें और द्वीप
(LAKES AND ISLANDS)

प्रकृति की सुरम्य रचनाओ में झीलों का विशेप स्थान है। ये अपने शीतल जल से मनुष्य, पशु और वनस्पति की प्यास ही नही बुझातीं, अपितु मनुष्य के मनोरंजन के लिए ऐसा मनोरम दृश्य प्रस्तुत करती है जहाँ वह अपनी समस्त यातनाओं को भूलकर इनके रूप मे विभोर हो जाता है। प्रकृति का यह अनुपम रूप धरती पर सर्वत्र ही बिखरा हुआ मिलता है, परन्तु इनका रूप कभी एकसा नही होता। कुछ झीले बहुत ही विशाल, कुछ साधारण स्वरूप वाली और कुछ बहुत ही छोटी होती है। ऐसी दशा मे किसे झील कहा जाय और किसे न कहा जाय यह एक प्रश्न बन जाता है। सामान्यतः हम जल के छोटे गड्ढों को पोखर या तलैया, कुछ बड़े रूप को ताल या तालाब, विशेष बड़े रूप को झील या सरोवर और विशाल रूप को सागर कहने लगते हैं। किन्तु ये सब भेद अवास्तविक है। वास्तव में **वे सभी जलराशियाँ जो स्थल पर बने किसी बेसिन को घेरे रहती हैं, झीलें कहलाती हैं।** कुछ विद्वानों ने भूमि पर पायी जाने वाली उस स्थिर जल-राशि को जो भूमि पर जल के स्वतन्त्र बहाव के विरुद्ध किसी अवरोध के कारण बनती है, झील कहा है। **सैलिसबरी** के अनुसार, 'झील' शब्द का प्रयोग कभी-कभी (1) किसी नदी के चौड़े भाग के लिए भी होता है; (2) जल के उन भण्डारो के लिए भी होता है जो समुद्रतटों के निकट होते हैं, चाहे उनका तल समुद्र-तल के समान ही हो; (3) उन जल-राशियो के लिए भी होता है जिनका समुद्र से सीधा सम्बन्ध होता है।[1] **वोरसेस्टर** के अनुसार, 'Lakes are inland bodies of standing water.' **मोन्कहाउस** के अनुसार, 'A lake may be defined as hollow, more or less extensive, in earth's surface which contains water.'[2] अत: झीलें वे आन्तरिक जलाशय हे जो विभिन्न आकार एवं विस्तार के चट्टानी बेसिनों मे बन जाते है।

विश्व की कुछ विशिष्ट झीलें

झीले अपने आकार-प्रकार, विस्तार, गहराई एवं स्थिति आदि की दृष्टि से इतनी भिन्न होती है कि उन सबका यथोचित वर्णन करना यहाँ सम्भव नही है। संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा की पाँच बडी झीलें—सुपीरियर, ह्यूरिन, मिशीगन, इरी और अण्टेरियो—संसार में झीलों की सबसे बडी श्रृंखला है। झीलों की दूसरी बड़ी श्रृंखला अल्बर्ट, एडवर्ड, कीवा, टैंगेनिका, न्यासा और विक्टोरिया झीलें बनाती हैं जो पूर्वी मध्य अफ्रीका में स्थित हैं। कनाडा के मनीटोबा प्रान्त की विनीपेग, विनीपेगोसिस एवं मनीटोबा और पश्चिमी कनाडा की अथाबास्का, ग्रेट स्लेव, ग्रेट

---

1 R. D. Salisbury : *Physiography*, p. 264-65

2 F. J. Monkhouse : *Principles of Physical Geography*, p. 211

बेरियर और अन्य लगी हुई झीलें भी इसी श्रेणी मे आती है। विश्व की ज्ञात सर्वोच्च झील बोलिविया की **टीटीकाका झील** (12,000 फुट) है। सबसे नीची झील इजरायल का **मृत सागर** (समुद्र-तल से 1290 फुट) नीचे है। क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ी झील यूरेशिया का **कैस्पियन सागर** (17,00,000 वर्गमील) है। साइबेरिया की **बेकाल झील** (1700 फुट) ससार की सर्वाधिक गहरी झील है। उत्तरी अमरीका की **सुपीरियर झील** सबसे बड़ी मीठे पानी की झील है, जबकि **मृत सागर** सर्वाधिक खारी और **कैस्पियन सागर** सबसे बड़ी खारे पानी की झील है। संसार के सभी महाद्वीपों में विशिष्ट प्रकार की और महत्त्वपूर्ण झीलें पायी जाती हैं। नीचे विश्व की कुछ प्रमुख झीलो की गहराई और उनका क्षेत्रफल दिया जा रहा है :

विश्व की कुछ महत्वपूर्ण झीलें[1]

नाम	क्षेत्रफल (वर्गमीलो मे)	समुद्र-तल से ऊपरी सतह की ऊँचाई	गहराई
कैस्पियन सागर	1,70,000	—85	3,200
चाड़	10,000-50,000	840	820
सुपीरियर	31,200	602	1,040
विक्टोरिया	26,000	3,800	240
अरल सागर	25,050	160	1,200
मिशीगन	22,500	581	870
ह्यू्रिन	23,320	581	700
न्यासा	14,200	1,500	2,300
बेकाल	13,000	1,700	5,600
टैंगेनिका	12,000	2,700	4,706
टीटीकाका	3,260	12,500	700
मृतसागर	360	—1,268	1,300
क्रेटर	25	6,177	1,996

झीलों का वितरण

स्थल के समस्त भू-आकारो में झीलों का वितरण ही सबसे अधिक देखा जाता है। झीलें धरातल पर लगभग समस्त अक्षांशों में फैली हुई है। निम्न अक्षांशों की अपेक्षा ये उच्च अक्षांशों—मुख्यत: उत्तरी अमरीका, दक्षिणी अमरीका एवं पश्चिमी यूरोप में अधिक मिलती है। कई तटीय झीलें तो महाद्वीपों की सीमा पर ही स्थित है, लेकिन अधिकतर महाद्वीपों के भीतर स्थित हैं। उत्तरी अमरीका के हिमनदित भीतरी भाग मे हजारों झीले हैं। अफ्रीका महाद्वीप के भीतरी भाग में भी अनेक झीलें हैं। भू-पटल की अधिकांश झीलें आर्द्र अथवा हिमनदित क्षेत्रों में मिलती हैं। ये पर्वतों, पठारो एवं मैदानों के सभी भागो में समान रूप से देखी जाती है। मरुस्थली तथा अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो मे भी कई झीलें हैं। इन प्रदेशों की झीले छिछली होती है। ऋतु के अनुसार ये कभी दिखाई पड़ती हैं और कभी लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार इनका क्षेत्र भी घटता-बढ़ता रहता है। कुछ झीलें द्वीपों तथा ज्वालामुखी के क्रेटरों में भी मिलती हैं।

झीलों की उत्पत्ति

भू-पटल पर झीलों के अस्तित्व के लिए दो बातों की आवश्यकता है—(1) जल-संग्रह के लिए बेसिन अर्थात् गड्ढा, और (2) जल की पूर्ति।

(1) **बेसिन**—झीलो का आविर्भाव उपयुक्त बेसिनों पर निर्भर है। भू-पटल पर ये बेसिन कई प्रकार से बन जाते है। कुछ विवर्तनिक हलचलो के कारण, कुछ ज्वालामुखी क्रिया के कारण

1 P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 339

कुछ क्रम-स्थापन शक्तियों (giadational forces) के कारण और कुछ जीव-जन्तुओं के कारण तथा कुछ मनुष्य द्वारा निर्मित होते हैं। कई झीलो मे नदियाँ-आकर प्रवेश भी करती है और उनसे पुनः बाहर भी निकलती है। अत. इस झील का अस्तित्व तभी बना रह सकता है जबकि उसका बेसिन जल के निकास मार्ग से नीचा होता है। ऐसे गहरे बेसिनो मे जल भरने पर ही वह झील बनती है।

(2) **जल की पूर्ति**—जलहीन गर्त केवल गर्त ही है। स्थल पर बना हुआ कोई भी बेसिन अर्थात् श्रेणी या गर्त झील तभी कहलाता है जब उसमें जल भरा होता है। अतः जल की पूर्ति का होना झीलो के अस्तित्व के लिए जरूरी है। बेसिनों मे जल की पर्याप्त पूर्ति वर्षा, नदी, हिम-नदी, भूमिगत जल आदि कई साधनों से होती है। यदि झीलो का नितल पारगम्य शैलों के स्थायी-पन के लिए अपर्याप्त है तो जल की पर्याप्त पूर्ति की आवश्यकता बनी रहेगी। झील के नितल मे अपारगम्य शैले बिछी होने पर जल-पूर्ति की अधिक आवश्यकता नही होती।

झीलों का वर्गीकरण

धरातल पर कई प्रकार की झीले पायी जाती है। ये झीलें अपनी बनावट, जल के स्वभाव तथा उत्पत्ति आदि कई बातो मे भिन्न होती हैं। अतः झीलो को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है ·

बनावट के आधार पर झीलों के भेद

बनावट के आधार पर झीलो के मुख्य दो भेद है :

(1) **प्राकृतिक झीलें**—जो झीलें भू-गर्भिक हलचलों एवं धरातलों की बाह्य शक्तियो के अपरदन और निक्षेप-कार्यों द्वारा बनती हैं, वे प्राकृतिक झीले कहलाती हैं। अमरीका की बडी झीले, यूरोप की कैस्पियन झील, अफ्रीका की न्यासा, टैंगेनिका और विक्टोरिया झीले एव भारत की डल और वुलर तथा मानसरोवर झील आदि प्राकृतिक झीलें ही है।

(2) **कृत्रिम झीले**—मानव द्वारा निर्मित झीले कृत्रिम झीलें कहलाती है। ऐसी कृत्रिम झीलें नीची भूमि अथवा नदियों के विरुद्ध बाँध बनाने से तैयार होती है। भाखड़ा बाँध की गोविन्द सागर झील, चम्बल की गाँधी सागर बाँध झील तथा उदयपुर के समीप जयसमुद्र, राजसमुद्र और पीछोला आदि कृत्रिम झीलें है।

जल की प्रकृति के आधार पर झीलों के भेद

जल की प्रकृति की दृष्टि से झीलों के दो मुख्य भेद हैं :

(1) **खारी झीलें**—यद्यपि धरातल पर पायी जाने वाली अधिकांश झीलें मीठे जल की है। परन्तु इनमें से कई झीलें खारी भी हैं। प्रायः जिन झीलों में जल का प्रवाह नहीं होता, वे खारी होती हैं। वे ऐसी झीलें हैं जिनमें नदियाँ गिरती है परन्तु उनसे निकलती नही है। नदियाँ अनेक प्रकार की चट्टानों से बहकर आती हैं। नदियाँ चट्टानों के खनिजों को पानी मे घुलाकर बहा ले जाती हैं और झीलो में एकत्र कर देती हैं। ऐसी खारी झीलों के पानी में सोडियम क्लोराइड, मैग्नेशियम, सल्फेट, मैग्नीशियम क्लोराइड, सोडियम कार्बोनेट आदि कई प्रकार के लवण मिलते हैं। मृतसागर सबसे खारी झील है। इसका खारापन 273% है। संसार की सबसे बड़ी खारे पानी की झील कैस्पियन सागर है। राजस्थान की साँभर और एशिया की मृतसागर तथा कैस्पियन सागर इसी प्रकार की खारी झीलें हैं। इन झीलों से खाने का नमक एवं अन्य प्रकार के रासायनिक पदार्थ प्राप्त होते हैं।

(2) **ताजा मीठे पानी की झीलें**—जिन झीलों से नदियाँ निकलती हैं उनका पानी मीठा होता है। ऐसी झीलो को ताजा पानी की झीलें कहते हैं। जब किसी झील से नदी निकलती है तो वह अपने साथ झील मे एकत्र नमक को घुलाकर बहा ले जाती है। जिन झीलों मे ताजे जल की प्राप्ति अधिक होती है और वाष्पीकरण कम होता है तो उसका पानी भी ताजा और मीठा

रहता है । पर्वतीय भागो तथा शीतोष्ण प्रदेशो में मीठे जल की झीलों के पाये जाने का यही कारण है । मीठे पानी की झीलों मे एशिया की बेकाल, यूरोप की जनेवा, अमरीका की टीटीकाका एव भारत की नैनीताल, भीमताल, कोडाई और केनाल झीले प्रसिद्ध है ।

उत्पत्ति के आधार पर झीलों के भेद

झीलों का वास्तविक वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति के आधार पर ही किया जा सकता है। झीलों की उत्पत्ति अनेक साधनो द्वारा होती है । अतः उत्पत्ति के साधनों के अनुसार झीलों के मुख्य निम्न भेद किये जा सकते हैं :

विवर्तनिक हलचलों द्वारा बनी झीलें

भू-गर्भिक हलचलों से धरातल पर कई प्रकार से झीलों के लिए उपयुक्त बेसिन बन जाते है।
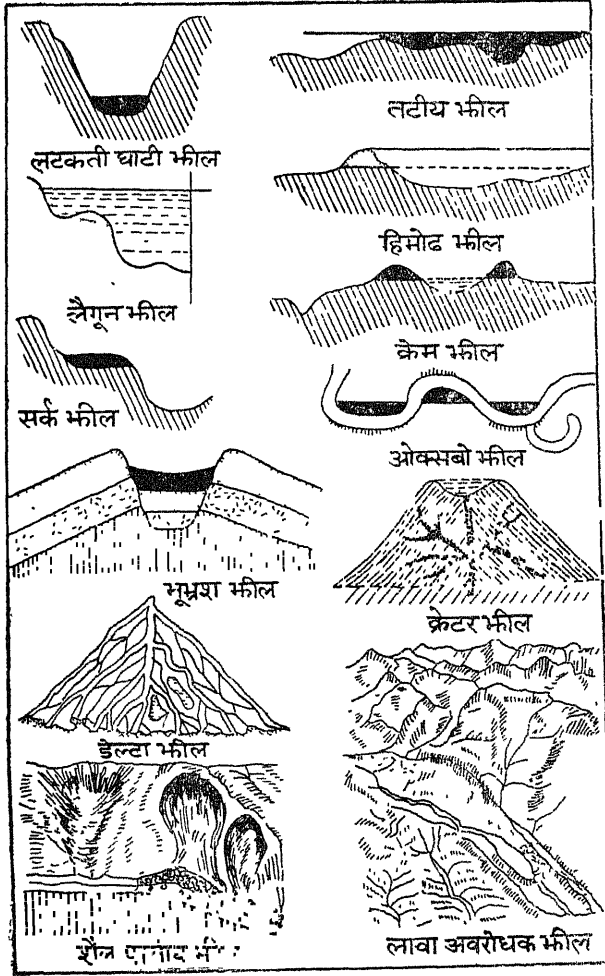
चित्र 439—विभिन्न प्रकार की झीलें

नइ हलचलों से धरातल का कोई प्रदेश ऊँचा और कोई नीचा हो जाता है । कही पर विशाल मोड़ **अथवा भ्रंश** बन जाते है । इन सब बातों से स्थल पर जल-संग्रह के लिए बेसिन तैयार हो जाते

है। संसार की अधिकाश बडी झीलें विवर्तनिक हलचलों द्वारा ही बनी हुई है। भू-गर्भिक हलचलो से बनी झीलो के निम्न उपभेद है :

(1) **नवीन उत्क्षेप झीलें**—कभी-कभी महाद्वीपीय मग्नतट आन्तरिक बल से ऊपर उठ जाता है और स्थल मे परिणत हो जाता है। जल से बाहर निकलने वाला यह समुद्री भाग ऊँचा-नीचा होता है जिसमे जल भर जाने पर अनेक उथली झीलें बन जाती है। भारत के कारोमण्डल तट तथा संयुक्त राज्य अमरीका के फ्लोरिडा तट पर ऐसी अनेक झीले पायी जाती है।

(2) **वलन क्रिया द्वारा बनी झीले**—जब भू-पटल पर पर्वत-निर्माणकारी हलचले कार्य करती है तो धरातल पर कई दिशाओं से दबाव पडता है जिससे उस पर मोड़ पड जाते हैं। वलन क्रिया से भूमि पर कही अभिनतियो और कही अपनतियों का निर्माण हो जाता हैं। अभिनतियो में जल भर जाने पर झीलें बन जाती है। स्विट्जरलैण्ड की जनेवा झील और अफ्रीका की एडवर्ड एवं जॉर्ज झीले अभिनतियों द्वारा बनी झीले ही है। वलन क्रिया से जब कोई अपनति किसी नदी के पेटे मे बन जाती है तो वह नदी के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है और नदी झील में बदल जाती है। पश्चिमी सयुक्त राज्य के रेन्ज प्रान्त मे ऐसी झीले पायी जाती है।

(3) **भ्रंशन द्वारा बनी झीलें**—भू-गर्भिक हलचलों के कारण जब भूमि का कोई भाग नीचे धँस जाये अथवा ऊपर उठ जाये तो धरातल पर बेसिन का निर्माण हो जाता है। जल से भर जाने पर ये बेसिन झीले बन जाते है। ऐसी झीलें ससार के कई भागो मे पायी जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका की सैन एण्ड्रीयाज झील इसका अच्छा उदाहरण हे। भूकम्प द्वारा भूमि के नीचे धंसक जाने पर भी ऐसी झीले बन जाती है। मिसीसिपी नदी-घाटी की रील फुट झील इसका उदाहरण है।
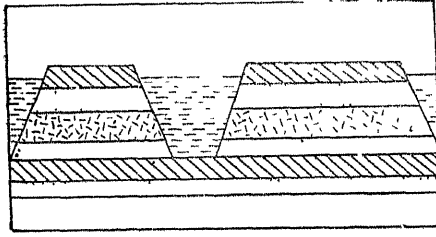
चित्र 440—रीफ्ट घाटी की झील

(4) **रीफ्ट घाटी की झील**—जब दो समान्तर दरारो का मध्यवर्ती स्थल भाग नीचे धँसक जाता है तो वहाँ विशाल की गर्त रचना हो जाती है। ऐसे गर्तो में जल भर जाने पर झीले बन जाती हैं। ये झीलें लम्बी, सॅकरी और गहरी होती है। इन्हें रीफ्ट घाटी की झीले कहा जाता है। बेकाल, टैंगेनिका और मृतसागर इसी प्रकार की झीले है।

ज्वालामुखी द्वारा बनी झीलें

ज्वालामुखी क्रिया से भू-पटल पर कई प्रकार की झीलें बन जाती है। ऐसी झीलें कही पर लावा के अवरोधस्वरूप, कही लावा के असमतल धरातल के कारण और कहीं ज्वालामुखी क्रेटर अथवा केल्डेरा मे जल भर जाने से बनती है। इन झीलों में निम्न उपभेद हैं :

(1) **लावा बाँध से बनी झीलें**—ज्वालामुखी उद्‌गार के समय निकलने वाला द्रव लावा जल की भाँति नीचे की ओर बहता है। यह लावा जम जाने पर कठोर चट्टान बन जाता है। अतः जब कभी ज्वालामुखी से निकलने वाला लावा उसके समीपवर्ती किसी नदी घाटी या हिमानी घाटी में प्रवेश कर उस घाटी को अरुद्ध कर देता है तो वह नदी अथवा हिमानी घाटी झील मे बदल जाती है। मध्य अमरीका की **निकारगुआ**, मध्य फ्रांस की **अदात** और **पेविन झीले**, अबीसीनिया की **ताना**, फिलिस्तीन की **तबैरीस** एवं केलिफोर्निया की **टाहो** आदि ऐसी ही झीलें हैं। ये झीलें ज्वालामुखी पर्वतो के आसपास अधिक मिलती हैं। इन झीलों को **कूली झीलें** (Coulee lakes) भी कहा जाता है।

(2) **लावा प्रदेश की झीले**—केन्द्रीय अथवा दरारी उद्‌गार के समय कई बार बड़ी मात्रा मे लावा निकलकर विशाल क्षेत्र मे फैल जाता है। लावा के जमने पर वह समूचा प्रदेश असमतल

बन जाता है। अतः लावा प्रदेश में जहाँ भी जल के एकत्रित होने के लिए उपयुक्त गड्ढे **बन** जाते हैं, वे कालान्तर में वर्षा-जल से भर जाने पर झीलों में बदल जाते है।

(3) **क्रेटर झीलें**—जो ज्वालामुखी शान्त हो चुके है उनके मुख में वर्षा-जल के भर जाने पर झील बन जाती हैं। ऐसी झीले अलास्का, मेक्सिको, संयुक्त राज्य अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड, इटली, फ्रांस व पूर्वी द्वीपसमूह मे बहुत पायी जाती हैं। अफ्रीका की **विक्टोरिया झील**, संयुक्त राज्य अमरीका में ओरेगोन राज्य की **क्रेटर झील**, इटली की **एवरनन**, मेक्सिको की **गस्टेविला** और एण्डीज पर्वत की **टीटीकाका** झीलें सब क्रेटर झीलें ही हैं।
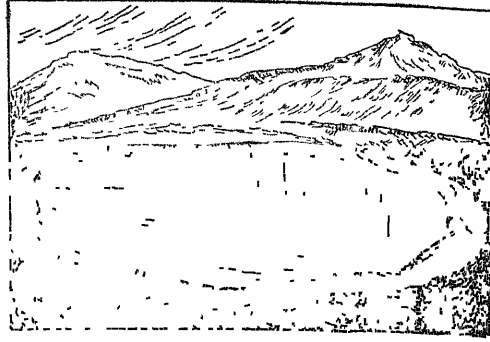
चित्र 441—क्रेटर झीलें

हिमानियों द्वारा बनी झीलें

संसार मे पायी जाने वाली झीलों में हिमानी द्वारा बनी झीलें ही अधिक देखी जाती हैं। इन झीलों के वितरण और पूर्वकालीन हिमानियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन झीलों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक झीलों के बेसिनों का निर्माण हिमनदी अथवा हिमानी निक्षेप के कारण हुआ है। हिमानी द्वारा निर्मित झीलों के निम्न उपभेद किये जा सकते है :

(1) **तलस्थ हिमोढ़ द्वारा बनी झीलें**—हिमानियाँ अपनी घाटी के तल मे तलस्थ हिमोढ़ का निक्षेप करती है। तलस्थ हिमोढ़ का निक्षेप बड़े ही असमान रूप से होता है। फलस्वरूप उनके ऊँचे-नीचे ढेरो के बीच अनेक बेसिन बन जाते है जिनमें जल भर जाने पर झीले बन जाती हैं। यूरोप एवं उत्तरी अमरीका मे महाद्वीपीय हिमानियों ने पीछे हटते समय तलस्थ हिमोढ का बड़े विशाल रूप में निक्षेप किया। अतः वहाँ इस हिमोढ द्वारा बनी हजारों झीलें पायी जाती है। सामान्यतः ये झीलें छोटी एव उथली होती है। किन्तु कई स्थानों पर बहुत बड़ी झीले भी देखी जाती है।

(2) **अग्रान्तस्थ हिमोढ़ द्वारा बनी झीलें**—घाटी हिमानियाँ पीछे हटते समय अग्रान्तस्थ हिमोढ का निक्षेप करती चलती है। इनका निक्षेप क्रम-रूप में होता है। अग्रान्तस्थ हिमोढ़ का प्रत्येक निक्षेप हिमानी के पिघलने की अवस्था को प्रकट करता है। इन हिमोढ़ के ढेरों के बीच हिमानी जल के भर जाने से झीले बन जाती है। कोलोरेडो राज्य में ग्राण्ड झील, जिसकी गहराई 285 फुट है इसी प्रकार बनी हुई है। हिमानदित क्षेत्रों में ऐसी सैकड़ों झीलें पायी जाती है।

(3) **मध्यवर्ती हिमोढ़ द्वारा बनी झीलें**—जब कहीं दो हिमानियाँ परस्पर मिलती हैं तो अनेक पार्श्ववर्ती हिमोढ़ भी आपस में मिल जाते है जिससे मध्यवर्ती हिमोढ़ बनते हैं। प्राय. मध्यवर्ती हिमोढ़ के पीछे बेसिन की रचना हो जाती है जिसमे जल एकत्रित होने पर झील बन जाती है।
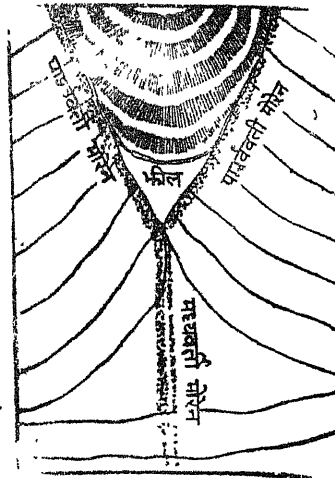
चित्र 442—मध्यवर्ती हिमोढ़ द्वारा बनी झील

(4) **हिम-बाँध द्वारा बनी झीले**—कभी-कभी घाटी-हिमानियाँ सहायक घाटियों को बिलकुल अवरुद्ध कर देती है जिससे झीलों के बेसिन बन जाते हैं।

स्विट्जरलैण्ड मे **'मारजिनल समुद्र'** नामक झील हिमानी द्वारा नदी के अवरुद्ध हो जाने से ही बनी है। प्रायः ये झीलें उथली होती है।

(5) **हिम-अपरदन द्वारा बनी झीले**—महाद्वीपीय एव घाटी हिमानियाँ दोनों ही बड़े पैमाने पर चट्टानो का अपरदन करने मे समर्थ होती है। सामान्यतः जब ये हिमानियाँ कोमल चट्टानों से गुजरती है तो कठोर चट्टानों की अपेक्षा उनका अधिक अपरदन करती है। फलस्वरूप कोमल चट्टानो मे गहरे गड्ढे बन जाते है। कभी-कभी कठोर चट्टानों को भी खुरच डालती है और उनमें भी गड्ढे बना देती है। इस प्रकार हिमानी क्षेत्रों में हिमानी अपरदन के कारण अनेक बेसिन बन जाते है जो कालान्तर मे जल संग्रह होने पर सुन्दर झीलों मे बदल जाते है। सयुक्त राज्य अमरीका के न्यूयार्क एव न्यू इंगलैण्ड राज्य में ऐसी सैकड़ो झीलें पायी जाती है। सामान्यत. ये झीलें **ग्लिण्ट** (Glint), **टार्न** (Tarn) अथवा **कोरी** (Corrie) झीलें कहलाती हैं। कनाडा, इटली, स्वीडन व फिनलैण्ड आदि देशों मे ऐसी झीलें बहुत मिलती हैं।

(6) **पार्श्ववर्ती हिमोढ़ द्वारा बनी झीलें**—अल्पाइन हिमानियां अपनी घाटियों में घाटी की दीवारों से कुछ दूरी पर समान्तर रूप में पार्श्ववर्ती हिमोढ का निक्षेप करती है। जब पार्श्ववर्ती हिमोढ और घाटी की दीवार के मध्य का भाग भू-स्थान अथवा तलछट के निक्षेप के कारण आपस मे जुड़ जाता है तो एक लम्बी झील बन जाती है।
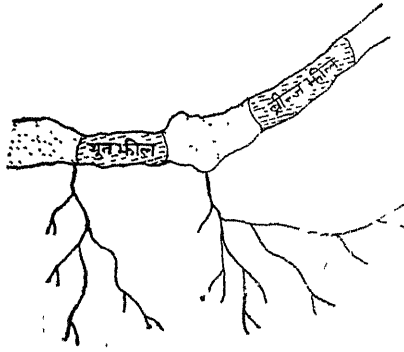
चित्र 443—घाटी मोरेन झीलें

कई घाटी हिमानियाँ अपनी घाटियो से काफी दूर नीचे तक फैल जाती है। इन हिमानियों के पार्श्ववर्ती हिमोढ़ कभी-कभी सहायक हिमानी घाटियो को अवरुद्ध कर देते हैं जिससे वह झील मे परिणत हो जाती है। अग्रान्तस्थ हिमोढ़ की भाति बनी ये झीलें भी प्रायः अल्पकालिक होती है।

नदियों द्वारा बनी झीलें

नदियों को झीलों का घातक शत्रु कहा गया है। फिर भी कुछ अवस्थाओं में नदियों द्वारा भी झीलों की रचना हो जाती है। सामान्यतः नदियों द्वारा निर्मित झीलें छिछली और अल्पकालीन होती है। नदियों द्वारा बनी झीलों के निम्न उपभेद हैं :

(1) **आनति गर्त झीलें**—प्रायः जल-प्रपातों के नीचे आनति गर्त बन जाते हैं। जहाँ कही जल-प्रपात अपने नीचे नदी द्वारा घाटी के गहरा करने की अपेक्षा अधिक तीव्रता से पीछे हटते है तो आनति गर्त का विस्तार हो जाता है जिससे वह अन्ततः झील बन जाता है। वाशिंगटन में ग्राण्डफूली झील इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

(2) **छाड़न या गोखुर झीलें**—मैदान में बहते समय नदियाँ विसर्पण बनाती हुई बहती हैं। जब कभी नदी सीधा मार्ग ग्रहण कर लेती है तो विसर्पण का छूटा हुआ भाग झील बन जाता है। ऐसी झीलो को **छाड़न झीले** या **गोखुर झीलें** (Oxbow Lakes) कहा जाता है। ब्रिटेन में ऐसी झीलों को **मृत झीलें** (Moıt Lakes) कहा जाता है।

(3) **नदी अपरदन द्वारा बनी झीले**—नदियाँ अपनें मार्ग की घुलनशील चट्टानो को धीरे-धीरे घुलाकर बहा देती हैं। फलस्वरूप नदी-घाटी में अनेक लम्बे-चौड़े गड्ढे बन जाते हैं। ये गड्ढे जल भर जाने पर झील का रूप ले लेते हैं। उत्तरी आयरलैण्ड में **लोनी और डर्ग** झीलें इसी प्रकार की है।

(4) **जलोढ़-पंख की झीलें**—जब नदियाँ पहाडी भागों को छोड़कर मैदानों में प्रवेश करती है तो ढाल में यकायक परिवर्तन आ जाने से उनकी गति मन्द पड़ जाती है और इसमें बहकर आये हुए पदार्थ वही जलोढ-पख के रूप मे जमा हो जाते हैं। जब इस निक्षेप से नदी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तो वहाँ झीले बन जाती हैं। चूँकि ये झीले पर्वतो और मैदानों के संगम पर बनती है अत इन्हें **पर्वतपदीय झीले** (Piedmont Lakes) भी कहा जाता है। **फ्री** ने पश्चिमी सयुक्त राज्य अमरीका के शुष्क प्रदेश मे ऐसी अनेक झीलो का वर्णन किया है। कैलिफोर्निया की ओवेन्स झील इसी प्रकार बनी हुई है।

(5) **बाढ़ के मैदान की झीलें**—बाढ के मैदानो मे मिट्टी के निक्षेप के कारण तश्तरीनुमा उथले गड्ढे बन जाते है। इन गड्ढों मे पानी भर जाने पर झीले बन जाती है। आस्ट्रेलिया में मेर नदी बिलीबॉग झील इसका अच्छा उदाहरण है। बाढ के मैदान मे जब कोई नदी अपना मार्ग परिवर्तन कर लेती है तो उसके पुराने मार्ग मे कई झीले बन जाती है।

(6) **डेल्टा की झीलें**—डेल्टा प्रदेश मे नदियों का मार्ग बड़ा अनियमित होता है। मिट्टी के निक्षेप से प्राय धारा का मुँह अवरुद्ध हो जाता है जिससे इन्हें नया मार्ग अपनाना पडता है। इस प्रकार नदी की छूटी हुई पूर्व-धारा झील बन जाती है। निक्षेप के कारण डेल्टाई प्रदेश ऊँचा-नीचा हो जाता है। नीचे प्रदेश मे जल भरने से झीलें बन जाती है। इन झीलो को नाइजर नदी के डेल्टा मे **मेरीगेट**, मिसीसिपी नदी में **बेबोन**, नील में **मायेह** और गंगा नदी मे **बील** के नाम से पुकारा जाता है। मिसीसिपी नदी के डेल्टा की **पोंचरट्रेन झील** ऐसी झीलों का उत्तम उदाहरण है।

(7) **रेफ्ट झीलें**—नदी के मार्ग मे वनस्पति उग आने अथवा घाटी के आर-पार पेड़-पौधों के गिर जाने पर उनके सहारे बालू व मिट्टी आदि जमा हो जाती है। कालान्तर मे यह अवरोध बाँध का रूप ले लेता है, जिसके पीछे झील बन जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका की लाल नदी तथा अमरीका की श्वेत नदी की घाटी में ऐसी झीले पायी जाती है।

पवन द्वारा बनी झीलें

भू-पटल पर हवा के निक्षेप अथवा अपरदन के कारण अनेक बेसिन बन जाते है जो बाद में झीलों मे परिणत हो जाते है। ये झीलें मूलतः शुष्क और अर्द्ध-शुष्क प्रदेशो मे ही पायी जाती हैं। ये झीलें कदाचित ही स्थायी होती है। इनके निम्न उपभेद हैं :

(1) **वायु अपरदन द्वारा बनी झीलें**—शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क प्रदेशो में हवा बड़ी मात्रा मे मिट्टी को उड़ा ले जाती है। फलस्वरूप इन भागों में यत्र-तत्र अनेक गड्ढे बन जाते है। इन गड्ढों में वर्षा-जल के भर जाने पर छिछली एवं अस्थायी झीले बन जाती है। जल के सूख जाने पर ये झीले लुप्त हो जाती है। कभी-कभी वायु द्वारा उठाकर लायी गयी रेत के भर जाने से भी ये झीलें नष्ट हो जाती है। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमरीका मे विमोंग, कोलोरेडो एवं निब्रास्का राज्यों में ऐसी सैकड़ों झीले देखी जा सकती है।

(2) **बालुका-स्तूप झीलें**—मरुस्थलों मे हवा के द्वारा बालू के टीले बनते और बिगड़ते रहते हैं। इन टीलों का रूप बड़ा असमान होता है। अतः इनके द्वारा बना धरातल भी असमतल बन जाता है। इन टीलों के बीच यत्र-तत्र गड्ढे बन जाते है जिनमे पानी भर जाने पर उथली झीले बन जाती है। ऐसी झीले क्षारमय होती हैं। इन झीलो को **प्लाया** झीलें कहा जाता है। ये झीले बहुत कम गहरी व अस्थायी होती हैं। सूडान की **चाड** झील इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। यद्यपि यह झील केवल 8 से 20 फुट तक गहरी है। किन्तु क्षेत्रफल मे यह ससार की
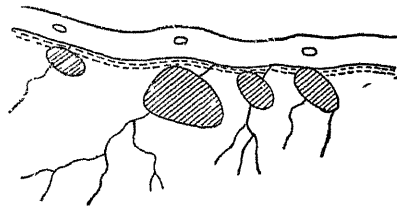
चित्र 444—बालुका-स्तूप झीलें

ज्ञात झीलो में सबसे बड़ी है। शुष्क ऋतु में इसका क्षेत्रफल केवल 10,000 वर्ग मील रहता है। परन्तु वर्षा ऋतु में इसका विस्तार 50,000 वर्गमील क्षेत्र में हो जाता है।[1]

समुद्री लहरों और धाराओं द्वारा बनी झीलें

समुद्री लहरें और तटीय धाराएँ कभी-कभी संयोजी रोधिका (connecting bars) का निर्माण करती है। जब ऐसी रोधिकाएँ कभी घाटी के डूबे हुए शीर्ष अथवा खाड़ियों के मुँह के विरुद्ध बन जाती है तो झीलों में बदल जाती हैं। कभी-कभी लहरें तट के समीप अपतटीय रोधिकाओं (off-shore bars) की इस प्रकार रचना कर देती हैं कि उनके पीछे का जल लैगून में परिणत हो जाता है। उपयुक्त अवस्थाओं में इस लैगून का सम्बन्ध समुद्र से कट जाता है और रोधिका के पीछे छोटी-सी झील रह जाती है। समुद्रतटों पर प्राय: ऐसी झीलें मिलती हैं। भारत के पूर्वी तट पर बनी चिल्का लैगून इसका अच्छा उदाहरण है।

भू-स्खलन, पंक प्रवाह एवं विदलन द्वारा बनी झीलें

पर्वतीय एवं पठारी भागो में भू-स्खलन एवं मृदा-सर्पण एक सामान्य घटना है। इन घटनाओं से कई स्थानों पर झीलो के उपयुक्त बेसिन तैयार हो जाते हैं। भूमि पर कई जगह कोमल, घुलनशील चट्टानें पायी जाती हैं। जल के घुल जाने पर इन चट्टानी प्रदेशों मे अनेक बेसिन बन जाते है।

(1) **भू-स्खलन द्वारा बनी झीलें**—जब पहाड़ी भागों में भू-स्खलन की भारी घटना होती है तो उससे कभी-कभी घाटियाँ एवं धाराएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। घाटियो और नदी धाराओं के अवरुद्ध हो जाने पर वे झीलो मे बदल जाती हैं। सन् 1892 (1884 बिरही गंगा पर पहाड़ी टूट पड़ने से) में गगा की ऊपरी घाटी में ऐसे ही अवरोध से, 5 मील लम्बी गोहाना झील बन गयी थी। यह उत्तर प्रदेश की सबसे बडी और नैनीताल झील से तिगुनी बड़ी थी। आल्प्स पर्वत में भी ऐसी कई अवस्थाएँ पायी गयी हैं। ऐसी झीले प्रायः थोड़े समय के लिए ही रहती हैं। कभी-कभी विशाल भू-स्खलन से बहुत बड़े बाँध तैयार हो जाते हैं, जिससे काफी लम्बे समय तक झील बनी रहती है। गंगा नदी की गोहाना झील दो वर्ष बाद बाढ़ के कारण अवरोध टूट जाने से समाप्त हो गयी थी और 20 जुलाई, 1970 की भीषण बाढ़ से झील दलदल से भरकर 86 वर्ष की अल्प आयु में ही पूरी तरह समाप्त हो गयी।[2]

(2) **विलयन द्वारा बनी झीलें**—ऐसी झीलें चूने के प्रदेशों मे अधिक पाई जाती हैं। चूने की चट्टाने कार्बनयुक्त जल से शीघ्र घुल जाती है। अतः चूने के प्रदेशों में वर्षा-जल के तात्कालिक वाह एव जलधाराओं से चट्टाने घुल जाती हैं जिससे वहाँ अनेक बेसिन या गर्त बन जाते है। ये ही गर्त बाद मे झीलों में परिणत हो जाते है। फ्लोरिडा, यूकटान एवं यूगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश में ऐसी अनेक झीलें मिलती है। चूने की चट्टानों के अतिरिक्त अन्य भागों में भी घुलाव क्रिया से छिछले बेसिन तैयार हो जाते है जो झीलों में बदल जाते हैं।

जैविक साधनों द्वारा बनी झीलें

धरातल पर पायी जाने वाली कई झीलें जैविक साधनों द्वारा निर्मित होती हैं। ऐसी झीलें वनस्पति, जीव-जन्तु और मनुष्य द्वारा बनायी जाती हैं। ये झीलें अपेक्षाकृत छोटी होती हैं। इन झीलों के निम्न उपभेद हैं :

(1) **वनस्पति द्वारा बनी झीलें**—**रसल** के अनुसार, यूरेशिया और उत्तरी अमरीका के टुण्ड्रा प्रदेश मे आर्कटिक तट के सहारे ऐसी अनेक छिछली झीलें पायी जाती है जो लिचन, काई,

---

[1] P. G. Worcester : *A Text Book of Geomorphology*, p. 338

[2] नवभारत टाइम्स, 27 जुलाई, 1970

माँस व अन्य वनस्पति के निक्षेप के कारण बन गयी हैं। उनका मत है कि ये झीलें शनैः-शनैः पिघलने वाले हिम-तटों के सहारे कई वर्षों तक वनस्पति के इकट्ठे होते रहने से स्पष्ट बेसिन तैयार हो जाने से बनती हैं।

(2) **जीव-जन्तुओं द्वारा बनी झीलें**—कई जीव-जन्तु भूमि को खोदकर गड्ढे बना देते हैं। इन जीवों मे बीवर विशेष उल्लेखनीय है। ये बाँध-निर्माण करने वाले महत्त्वपूर्ण जीव है। संयुक्त राज्य अमरीका के पश्चिमी राज्यों में बीवरों द्वारा बने 200 फुट लम्बे और 5-6 फुट ऊँचे अनेक बाँध देखे जा सकते है। एक स्थान पर तो बाँधों की लम्बाई हजारों फुट तक नापी गयी है।[1] कई स्थानों पर बीवर झीलें अन्ततः तलछट से भर जाती हैं और दलदल में परिणत हो जाती है। इन झीलों से कभी-कभी बड़े पैमाने के कछारी मैदान भी बन जाते है।

(3) **मानव द्वारा निर्मित झीलें**—मनुष्य भू-पटल के मंच का नवीनतम अभिनेता है। मनुष्य ने अपने बुद्धिबल से स्थल पर बहने वाले जल का सिंचाई व जल-विद्युत आदि मे उपयोग करने के लिए अनेक स्थानों पर विशाल बाँधों की रचना की है। ये नदियों के मार्ग में सीमेण्ट, कंकरीट, मिट्टी, पत्थर, इस्पात आदि वस्तुओं से बनाये जाते है जो बहुत ही विशाल और दृढ होते है। **सदरलैण्ड** के अनुसार, ससार मे 100 फुट से अधिक ऊँचे 600 से ज्यादा बाँध है। 100 फुट से कम ऊँचे तो हजारों बाँध है। भारत मे तो मिट्टी के बने तालाबो की सख्या हजारो है। ससार मे मानव द्वारा निर्मित विशाल ऊँचे बाँधो मे मिस्र का असवानी बाँध, संयुक्त राज्य अमरीका मे बाउल्डर व ग्राण्ड कूली, आस्ट्रेलिया में हैमिल्टन और भारत में गोविन्दसागर, कृष्ण राजा सागर एवं गाँधीसागर उल्लेखनीय हैं।

झीलों का भविष्य

धरातल के भू-आकारों में झीलें अत्यन्त अस्थायी भू-आकार हैं। बड़ी से बड़ी झीलें अवरोध समाप्त हो जाने पर लुप्त हो जाती है। वस्तुतः भू-पटल पर जहाँ कहीं भी झीलें पायी जाती हैं, वे दृश्य-भूमि (landscape) के विकास की एक अवस्था को प्रकट करती है। ज्यों-ज्यों दृश्य-भूमि का विकास होता जाता है, झीलें लुप्त हो जाती है। कई झीलें जो पहले विद्यमान थीं अब नहीं रहीं और जो अभी वर्तमान है वे भविष्य में नहीं रहेंगी। झीलो के इस अस्थायी रूप होने के निम्न कारण है :

(क) झीलों से निकलने वाली नदियाँ निरन्तर अपने निकास-मार्ग (outlets) को नीचा करती रहती हैं जिससे झीलों की गहराई कम होती जाती है। जब कभी नदी अपने निकास-मार्ग को झील के पेट से भी नीचा काट देती है तो झील नष्ट हो जाती है।

(ख) झीलों के बेसिन अनेक प्रकार से भर जाते है। बेसिन के भरने से झील उथली होती जाती है और अन्ततः उसका रूप बिल्कुल नष्ट हो जाता है। झीलों के बेसिन निम्न प्रकार से भर जाते है :

1. झीलों में गिरने वाली सभी नदियाँ अपने साथ तलछट बहाकर लाती है और झीलों मे जमा करती रहती है। झीलों मे जमा की जाने वाली तलछट की मात्रा अलग-अलग नदियों के साथ भिन्न होती है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि संयुक्त राज्य की मीड़ झील में कोलोरेडो नदी प्रतिवर्ष 1,37,000 एकड़ फुट अवसाद का निक्षेप करती है। इस हिसाब से झील 225 वर्षों में पूर्णतः भर जायगी। अतः अवसाद के निक्षेप से झीलों का पेटा धीरे-धीरे भरता जाता है और अन्त में झीलें लुप्त हो जाती है।

2. कई झीलों के छिछले तटों पर वनस्पति उग आती है। धीरे-धीरे वनस्पति झीलों मे आगे से आगे बढ़ती जाती है और अन्त में पूरी झील उससे ढक जाती है। हिमनदित प्रदेशों में

---

1 A. Gieke ; *A Text Book of Geology*, p. 494

हजारो झीलें वनस्पति के कारण दलदलो मे बदल गयी है। कई स्थानो पर तो वनस्पति के कारण झीलों का रूप पूर्णतः नष्ट हो चुका है।

3. झीलो की लहरें बराबर उनके तटो को काटती रहती है। स्थल का कटा हुआ यह मलबा झील मे पहुँचता रहता है जिससे उसकी गहराई निरन्तर घटती रहती है। कई बार समुद्री लहरें जब बालू की भित्तियों को तोड देती है तो तट पर बनी झीले—लैगून—नष्ट हो जाती है।

4. झीलो में असख्य कवचधारी जीव निवास करते है। इन जीवों के मरने पर उनके कवच जल में एकत्रित होते रहते है जिससे झीलों की गहराई कम होती जाती है।

5. पर्वतीय एव पठारी भागो मे प्रायः भू-स्खलन, स्थल-सर्पण, हिम-अवधाव आदि की घटनाएँ होती है। इन सब घटनाओ से बड़ी मात्रा मे मलबा वहाँ की झीलों मे पहुँचता रहता है जिससे वे उथली होती जाती हैं।

6. शुष्क प्रदेशो मे प्रतिवर्ष बड़ी मात्रा मे बालू और धूल हवा द्वारा उड़ा कर झीलों में पहुँचायी जाती रहती है। कुछ झीलों में ज्वालामुखी राख भी पहुँचती रहती है। इनसे धीरे-धीरे झीलें पूर्णतः पट जाती हैं।

7. घाटियों में स्थित झीलों के अन्दर जब हिमानी द्वारा हिमोढ का निक्षेप हो जाता है तो झील का पानी बह जाता है और झील नष्ट हो जाती है।

(ग) कई झीलें अवरोध के समाप्त हो जाने पर नष्ट हो जाती है। जैसे पहाड़ी भागों मे नदियों के मार्ग से अवरोध हटने पर झीलें विलीन हो जाती है। इसी प्रकार आगे बढ़ती हुई हिमानी हिमोढ़ के बाँध को हटा सकती है जिससे झील नष्ट हो जाती है।

(घ) कई झीलें जलवायु परिवर्तन के कारण नष्ट हो जाती है। कई प्रदेशों मे वर्षा की मात्रा घट जाने से झीलें सूख जाती है। कई झीलो से नदियाँ नही निकलतीं किन्तु वाष्पीकरण अधिक होने से वे सूख जाती है।

(ङ) कई झीले भू-गर्भिक हलचलों के कारण नष्ट हो जाती है। जब कोई नदी भूकम्प आदि कारणों से अपना मार्ग बदल देती है तो घाटी की झीलें सूख जाती है। इसी प्रकार पृथ्वी की हलचलों से जब किसी झील का पेटा ऊपर उठ जाता है तो सम्पूर्ण झील लुप्त हो जाती है।

झीलों का मानव-जीवन पर प्रभाव

मनुष्य के लिए झीलों का बड़ा महत्त्व है। छोटी-बड़ी सभी झीलें मानव-जीवन को कई प्रकार से प्रभावित करती हैं, अतः मनुष्य के लिए झीलों की उपयोगिता को भली भाँति समझा जा सकता है :

(1) धरती पर मनुष्य को जीवित रहने के लिए एक आवश्यक वस्तु जल की प्राप्ति है। घरेलू तथा औद्योगिक सभी कार्यों के लिए मनुष्य को जल की आवश्यकता पड़ती है। जल के अभाव में उसका जीवन एक क्षण भी आगे नहीं बढ सकता, अतः मनुष्य को जीवित रहने तथा जीवन को विकसित करने मे झीलें आवश्यक सुलभता प्रदान करती हैं। कई शहरों में पीने का पानी इन्हीं से प्राप्त किया जाता है। कई स्थानों पर औद्योगिक कार्यों के लिए भी झीलों से ही जल प्राप्त किया जाता है। इंगलैण्ड में लंकाशायर और यार्कशायर जैसे औद्योगिक प्रदेशों मे जल की पूर्ति लेक डिस्ट्रिक्ट और पिनाइन की पहाड़ी की झीलों से ही की जाती है।

(2) झीलों से जल ही प्राप्त नहीं होता बल्कि मनुष्य के भोजन के लिए सुस्वाद मछलियाँ भी प्राप्त होती हैं। यही नहीं, उसके अन्दर कई ऐसे पौधे भी मिलते है जो पशुओं के लिए उत्तम भोजन का काम देते है। साथ ही साथ वहाँ ऐसे पदार्थ भी मिलते हैं जो दवाइयों की तरह उपयोग में लाये जा सकते हैं।

(3) परिवहन साधनों में जल-परिवहन सबसे उत्तम और कम खर्चीला माना गया है। विश्व-व्यापार अधिकतर जलमार्गो द्वारा ही सम्पन्न होता है। झीलें भी भीतरी जलमार्ग के रूप में काम आती है। आज उत्तरी अमरीका में जितना माल बड़ी झीलो के द्वारा होकर गुजरता है उतना पनामा नहर के द्वारा भी नही गुजरता।

(4) आजकल के औद्योगिक युग में रासायनिक पदार्थो का प्रयोग अनिवार्य ही नहीं अपरिहार्य हो गया है। ये रासायनिक पदार्थ अधिकतर खारी झीलों से प्राप्त होते है। मनुष्य के खाने के नमक का साधन भी झीलें ही है। भारत मे साँभर झील, अफ्रीका मे चाड़ झील, फिलिस्तीन मे मृत सागर और संयुक्त राज्य अमरीका मे नमक की झील (Salt Lake) से खाने का नमक तथा अन्य रासायनिक पदार्थ प्राप्त किये जाते है।

(5) कम गहरी झीले जब सूख जाती है तो अपने पीछे उपजाऊ मैदान छोड जाती है। कैस्पियन सागर के उत्तर मे इसी प्रकार का मैदान बढ़ता जा रहा है। हगरी की निम्न भूमि तथा सयुक्त राज्य की ग्रेट बेसिन का लगभग 20,00,000 वर्ग मील मैदानी भाग जल के सूख जाने से ही उन्नत कृषि-भूमि मे परिणत हुआ है।

(6) पहाडी भागो मे झीलों मे एकत्रित जल से विद्युत उत्पादन का कार्य किया जाता है। पश्चिमी घाट पर स्थित लोनावाला झील इसका सुन्दर उदाहरण है। यहाँ से उत्पादित बिजली 30 मील दूर बम्बई को पहुँचायी जाती है।

(7) झीलो मे अनेक प्रकार की घासे एव वनस्पतियाँ पैदा होती है जिनसे चटाइयाँ, टोकरियाँ आदि वस्तुएँ बनायी जाती है। कश्मीर मे डल और वूलर झील से प्राप्त घास को खाद के काम में लाया जाता है।

(8) कभी-कभी झीलो से सिचाई का काम लिया जाता है। राजस्थान में जल-समुद्र और राज-समुद्र जैसी विशाल झीलों से सिचाई का पूरा लाभ उठाया जाता है।

(9) बड़ी झीलें अपने आसपास की जलवायु को सम बनाये रखती है। झीलो के आसपास की जलवायु न अधिक गरम और न अधिक शीतल, बड़ी ही स्वास्थ्यवर्द्धक रहती है।

(10) जिन नदियों के मार्ग मे झीलें पड़ती हैं, उनका बहाव बड़ा सुनिश्चित-सा रहता है। उनमें न कभी बाढ ही आ पाती है और न कभी वे सूख पाती है। ये दोनो बुराइयाँ झीलों के कारण दूर हो जाती है।

(11) झीलों से मनुष्य को आर्थिक लाभ तो होता ही है; परन्तु इससे भी अधिक झीलें मनोरंजन का अपूर्व साधन हैं। संसार की कई झीले अपनी सुरम्यता और नैसर्गिक छटा के लिए प्रसिद्ध है। हमारे देश मे नैनीताल और मंसूरी, स्विट्जरलैण्ड की जिनेवा और केन्सटेन्स तथा इंगलैण्ड की विण्डरमियर और ग्राम्समियर अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और स्वास्थ्यवर्द्धकता के लिए सदा से ही अद्वितीय रही है।

(12) झीलों की भू-दृश्यावली चलचित्रो के निर्माण के लिए बड़ी आकर्षक होती है।

(13) झीले नौका-रोहण के लिए बहुत उपयुक्त होती है।

दलदल (Swamps)

सामान्यत: ऐसे बेसिन जो पूर्ण अथवा आंशिक रूप से जल, मिट्टी एवं वनस्पति के मिश्रण से भरे होते है, दलदल कहलाते है। विभिन्न दलदलों में जल, मिट्टी एवं वनस्पति के अनुपात में बहुत भिन्नता पायी जाती है। यहाँ 'दलदल' शब्द से अर्थ उस सभी पक-भूमि से है जो अपने रूप मे बहुत कुछ दलदल के समान ही है। जैसे स्वेल (Swale), मार्श (Marsh), बॉग (Bog), मोराश (Morass) एवं मशकेग (Muskeg) आदि। यद्यपि स्वाम्प और मशकेग मे काफी वृक्ष, यहाँ तक कि वन भी सम्मिलित होते है; जबकि मार्श, स्वेल और बोग की वनस्पति घास, माँस

एवं लिचन के रूप में होती है। दलदल का पानी स्वच्छ, मीठा अथवा खारा हो सकता है। झीलों की भाँति दलदल भी संसार मे सर्वत्र फैले हुए पाये जाते है। साधारणतः दलदल भूमि नवीन हिमनदित प्रदेशों में अधिक पायी जाती है। आर्द्र प्रदेशो मे तटीय मैदानो, बाढ के मैदानों और डेल्टा क्षेत्रों में भी ये बहुलता से पायी जाती हैं। शुष्क प्रदेशों में ये कम पायी जाती है।

दलदल की रचना विभिन्न प्रकार से होती है। अधिकांश दलदल हिमानी बेसिनो की वनस्पति से ढक जाने से बन गये है। पंक भूमि का एक बड़ा समूह तटीय मैदानों के समुद्रवर्ती भाग की ओर पाया जाता है। इनकी रचना समुद्र की तली के कुछ ऊपर उठ जाने अथवा लैगून में तलछट और वनस्पति के भर जाने से होती है। बाढ के मैदानो तथा डेल्टाओ मे भी दलदलों की भरमार देखी जाती है। यहाँ नदी की त्यागी हुई धाराएँ वनस्पति से भर जाने से दलदल बन जाती हैं। शुष्क प्रदेशों मे प्लाया अथवा खारी झीलो के समीप दलदलों की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि कई प्रकार की वनस्पतियाँ खारे जल मे ही उत्पन्न होती है। जब झीलें जल से पूरी भरी होती है तो वनस्पति जल से ढक जाती है, किन्तु जब झीलों का पानी कम हो जाता है तो वनस्पति बाहर दिखाई देने लगती है।

द्वीप (Islands)

चारो ओर जल से घिरे हुए स्थल-भाग को द्वीप कहते है। ये अपने आकार और विस्तार मे बहुत ही भिन्न होते है। जो अपने आकार और क्षेत्रफल मे बहुत ही विशाल होते हैं उन्हे महाद्वीप कहा जाता है, जैसे आस्ट्रेलिया। संसार मे छोटे-छोटे द्वीपों की संख्या ही अधिक है। छोटे द्वीप जो समुद्र-तल से कुछ ही फुट ऊँचे होते है, समुद्री लहरों और ज्वार-भाटे द्वारा निरन्तर घिसते रहते हैं। अतः ये धरातल पर स्थल के अल्पकालिक बिन्दु-मात्र हैं। धरातल पर कई बड़े द्वीप भी है। उदाहरणतः ग्रीनलैण्ड, जिसका क्षेत्रफल 8,26,000 वर्गमील है। बड़े द्वीप लम्बे समय तक धरातल पर बने रहते है। सामान्यतः द्वीपों पर स्थलाकृतियो का अभाव मिलता है किन्तु ब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड, मेडागास्कर व जापान जैसे बड़े द्वीपों पर वे सभी स्थलाकृतियाँ—पूर्ण-विकसित पर्वत, पठार और मैदान तथा अन्य गौण भू-आकार—पायी जाती हैं जो महाद्वीपों पर देखी जाती हैं।

द्वीपों का वर्गीकरण

संसार में कई प्रकार के द्वीप मिलते है। स्थिति एवं निर्माण के आधार पर इनके कई भेद किये जा सकते है :

(क) स्थिति के आधार पर वर्गीकरण

स्थिति के अनुसार द्वीपों के मुख्य तीन भेद किये जा सकते हैं :

(1) **महाद्वीपीय द्वीप**—जो द्वीप महाद्वीपों के समीप हों और अपनी बनावट में महाद्वीप से मिलते-जुलते हो उन्हें महाद्वीपीय द्वीप कहते है। ये प्रायः महाद्वीपीय जलमग्न तट पर स्थित होते है और मुख्य स्थल-भाग से उथले समुद्र भाग द्वारा अलग होते है। भू-गर्भीय हलचलों द्वारा जब कभी महाद्वीप के तटवर्ती भाग नीचे धँस जाते हैं तो उसके निचले भाग जलमग्न हो जाते हैं और ऊँचे भाग द्वीप में ऊपर उठे रह जाते है।

(2) **महासागरीय द्वीप**—वे द्वीप जो गहरे महासागरों के बीच स्थित होते हैं, महासागरीय द्वीप कहलाते हैं। इन द्वीपों की बनावट और चट्टानों की संरचना का समीपीय स्थल-भाग की बनावट तथा संरचना से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ये वस्तुतः समुद्री पेटे के उभरे भाग होते हैं। इनकी रचना समुद्र मे जल-तत्त्व में परिवर्तन होने अथवा भू-गर्भीय हलचलों द्वारा समुद्री पेटे के ऊपर उठ जाने से होती है। फिलीपाइन महासागरीय द्वीप इसका अच्छा उदाहरण है।

(3) **आभ्यान्तरिक द्वीप**—जो द्वीप महाद्वीपों पर झीलों अथवा नदियों के बीच स्थित होते हैं, वे आभ्यान्तरिक द्वीप कहलाते है। ऐसे द्वीप बहुत ही छोटे और अस्थायी होते हैं।

(ख) उत्पत्ति के आधार पर द्वीपों का वर्गीकरण

द्वीपों की उत्पत्ति कई प्रकार से होती है। उत्पत्ति के आधार पर द्वीपों के निम्न भेद किये जा सकते है :

(1) **विवर्तनिक द्वीप**—पृथ्वी के गर्भ में सदैव हलचल होती रहती है। जब कभी इन हलचलों का वेग बढ जाता है तो भू-पटल पर उथल-पुथल हो जाती है। संसार के कई बड़े और असंख्य छोटे द्वीप ऐसी उथल-पुथल का ही परिणाम है। भू-गर्भिक हलचलो मे कहीं भूमि नीचे धँस जाती है, कहीं समुद्र का नितल ऊपर उठ जाता है, कही महाद्वीपों एवं महासागरीय बेसिनों मे दरारे पड़ जाती है और कहीं महाद्वीपों का अंश टूटकर अलग हो जाता है। फलस्वरूप द्वीपों की रचना हो जाती है। विवर्तनिक हलचलों से बने द्वीपो के निम्न भेद किये जा सकते है :

(अ) **स्थल के निमज्जन से बने द्वीप**—भू-गर्भिक हलचलो के कारण जब कोई भू-भाग नीचे धँस जाता है तो उससे द्वीप की रचना हो जाती है। ब्रिटिश द्वीप समूहों की उत्पत्ति समीपवर्ती स्थल-भाग के नीचे धँसक जाने से ही हुई है। यूरोप के मुख्य स्थलखण्ड और इन द्वीपों के मध्य का उथला समुद्री भाग पहले यूरोप महाद्वीप का ही अंग था। ऐसा विश्वास है कि उत्तरी अमरीका और आर्कटिक महासागर के मध्य स्थित असख्य द्वीप वहाँ भूमि के निमज्जन के कारण ही बने हैं। ब्रिटिश कोलम्बिया के तट के समीप अनेक द्वीप समीपवर्ती पहाड़ी प्रदेश के धँसक जाने से ही बन गये है।

(ब) **समुद्री नितल के उन्मज्जन से बने द्वीप**—कभी-कभी भू-गर्भिक हलचलों से समुद्र का पेंदा ऊपर उठ जाता है जिससे द्वीपों का निर्माण हो जाता है। पश्चिमी द्वीपसमूह मे क्यूबा और अन्य कई द्वीप इसी प्रकार बने है। प्रशान्त महासागर मे अनेक द्वीप वर्तमान समय मे 3000 फुट तक ऊपर उठ गये है। ऐसी मान्यता है कि अन्ध महासागर में पठार पर स्थित एजोर्स द्वीप मूलतः उन्मज्जन के फलस्वरूप ही बने है। यद्यपि मेडागास्कर द्वीप की उत्पत्ति के तीन कारण बताये जाते हैं किन्तु **विलिस** (Willis) इसे विशाल उत्क्षेपित खण्ड मानता है। इसके पूर्व में 700 मील से अधिक लम्बी प्रपाती भ्रंश कगार है और पश्चिम में अत्यन्त गहरा और ढालू नीचे धँसा हुआ भाग है जो मोजाम्बिक की खाड़ी के नीचे है।

(स) **भू-भ्रंश से बने द्वीप**—भू-गर्भिक हलचलो से कभी-कभी महाद्वीपो के तटवर्ती भाग भ्रंशन के कारण टूटकर अलग हो जाते हैं और द्वीप बन जाते हैं। मेडागास्कर की उत्पत्ति के प्राचीन मत के अनुसार यह द्वीप विशाल भ्रंश घाटी के कारण ही अफ्रीका महाद्वीप से अलग हो गया था।

(द) **महाद्वीपीय प्रवाह से बने द्वीप—वेगनर** के महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त के मानने वालों का मत है कि आइसलैण्ड, ग्रीनलैण्ड के पश्चिम मे स्थित अनेक द्वीपसमूहों का निर्माण उस समय हुआ जबकि उत्तरी अमरीका अपनी पूर्व-स्थिति से यूरोप के विरुद्ध पश्चिम की ओर प्रभावित हुआ। इस मत के अनुसार मेडागास्कर द्वीप भी किसी समय अफ्रीका और भारत से जुड़ा हुआ था। लेकिन जब दक्षिणी एशिया उत्तर-पूर्व की ओर प्रवाहित हुआ तो यह उससे अलग हो गया।

(2) **निक्षेपमूलक द्वीप**—धरातल पर बहने वाली नदियाँ और हिमनदियाँ अपने साथ बड़ी मात्रा में रेत, मिट्टी, कंकड़, बजरी व गोलाश्म आदि बहाकर लाती है। ये अपने मार्ग में इनका निक्षेप करती जाती है। बाद में निक्षेपित पदार्थों के ये ढेर जब जल से घिर जाते हैं तो द्वीप बन जाते है। इन निक्षेप-मूलक द्वीपो के निम्न भेद है :

(अ) **हिमानी निक्षेप से बने द्वीप**—हिमानियाँ अपने प्रवाह मार्ग में यत्र-तत्र मलबे का निक्षेप छोड़ती जाती है। इन हिमानी निक्षेप से ड्रमलिन, केम तथा मोरेन आदि भू-आकार बन जाते हैं। संयोग से यदि आसपास का क्षेत्र नीचा हुआ तो वहाँ झील बन जायगी और ड्रमलिन

केम तथा मोरेन के टीले द्वीप के रूप मे खड़े रहेंगे। यदि हिमानी निक्षेप का क्षेत्र समुद्रतट के समीप हुआ तो वहाँ समुद्र-जल के बढ आने पर हिमानी निक्षेप के द्वीप बन जायेंगे। सामान्यत: ऐसे द्वीप बहुत छोटे होते है। ये असंगठित पदार्थों से बने होते है जिससे ये शीघ्र ही घर्षण द्वारा नष्ट हो जाते है।

(ब) **नदी निक्षेप से बने द्वीप**—नदियां अपनी घाटी में कई स्थलो पर काँप का निक्षेप करती जाती है। जब काँप मिट्टी के ढेर जल से आवृत्त हो जाते हैं तो नदीकृत द्वीप बन जाते है। ये द्वीप बहुत ही अस्थायी और छोटे होते हैं। नदी के डेल्टा प्रदेश मे ऐसे द्वीप अधिक बनते और बिगड़ते रहते है।

(स) **तरंग निक्षेप द्वारा बने द्वीप**—कभी-कभी समुद्रतटों पर समुद्री तरंगों के द्वारा बालू का ऐसा ढेर निक्षेप हो जाता है जो बाद मे एक टापू का रूप धारण कर लेता है। किन्तु ऐसे टापू बहुत ही अस्थायी होते है।

(3) **अपरदन मूलक द्वीप**—भू-पटल को प्रवाहित करने वाली शक्तियाँ धरातल की कोमल चट्टानों को कठोर चट्टानो की अपेक्षा शीघ्र घिस देती हैं। फलस्वरूप कोमल चट्टानी भाग घिसकर नीचे हो जाते है और कठोर चट्टानी भाग ऊपर खड़े रह जाते है। कालान्तर में नीचे भागों में जल भर जाने से ऊँचे भाग द्वीपों का रूप ग्रहण कर लेते है। अपरदनमूलक द्वीपों के निम्न भेद हैं :

(i) **हिमानी अपरदन से बने द्वीप**—हिमानियों की अपरदन क्रिया के फलस्वरूप तटीय भागो में ऐसे द्वीपो की रचना देखी जाती है। अधिनूतन युग में महाद्वीपीय हिमानियों ने कई तटों को घिसकर नीचा कर दिया था। जैसे ग्रीनलैण्ड, नॉर्वे एवं उत्तरी अमरीका का उत्तरी-पूर्वी तट हिमानियों के प्रभाव से काफी घिस गये थे। हिम-युग की समाप्ति पर जब पुनः हिम पिघलने लगा

चित्र 445—प्रशान्त महासागर में स्थित एक ऊँचा ज्वालामुखी द्वीप। साथ ही छोटा प्रवाल द्वीप भी है।

तो समुद्र-तल ऊँचा उठ गया। समुद्र-तल के ऊपर उठने से तटीय क्षेत्र जलमग्न हो गया। तटीय भाग में ऊँची पहाड़ियाँ और कगारें द्वीपों में बदल गयीं। ग्रीनलैण्ड और नॉर्वे के तट पर ऐसे द्वीप अधिक पाये जाते हैं।

(ii) **नदी अपरदन से बने द्वीप**—नदियों के अपरदन द्वारा मैदानी भाग में अनेक विसर्पण बन जाते है। कई बार नदियाँ बाढ़ के समय अथवा पार्श्विक अपरदन के द्वारा इन विसर्पणों के मार्ग को छोड़कर सीधा मार्ग अपना लेती हैं। ऐसी अवस्था में विसर्पण के बीच में घिरा हुआ

स्थल-भाग द्वीप बन जाता है। डेल्टाई क्षेत्रों में जब नदी की वितरक धाराएँ कोई नया मार्ग बनाती है तो वहाँ भी ऐसे द्वीप बन जाते है।

(iii) **समुद्री तरंगों के अपरदन से बने द्वीप**—समुद्रतटो के समीप समुद्री तरगे तटवर्ती चट्टानो को काटकर स्थल के कुछ भाग को मुख्य स्थल से अलग कर देती हे जिससे वहाँ द्वीप बन जाते है। समुद्री तरगें कई बार अपने तट की कोमल चट्टानों को तो घिस डालती है लेकिन कठोर चट्टानें खडी रह जाती है। इस प्रकार समुद्रतटो पर कठोर चट्टानो के खण्ड द्वीप का रूप ले लेते हैं। तटों के समीप जल में खड़े स्तम्भ (stacks) एक प्रकार के टापू ही है।

(4) **ज्वालामुखी द्वीप**—समुद्र के नितल पर ज्वालामुखी उद्गारो से निकला हुआ लावा, कीचड़, राख आदि पदार्थ जमा होते रहते है और कालान्तर मे पर्वत बन जाते है। जब समुद्र में बने ये ज्वालामुखी समुद्र-तल से ऊपर उठ जाते है तो द्वीप बन जाते है। ये द्वीप समुद्र नितल से हजारो फुट ऊँचे उठे होते है। इस प्रकार ये द्वीप बहुत ही विशाल और स्थायी होते है। प्रशान्त महासागरो मे ऐसे द्वीपो की भरमार है। जापान, हवाई तथा एल्यूशियन द्वीप इसके उदाहरण है।

(5) **प्रवाल द्वीप**—प्रवाल उष्ण समुद्रो का जीव है। यह समुद्र-तल से चूना ग्रहण कर अपने शरीर से पुनः एक रस निकालकर अपने शरीर के निचले भाग के चारो ओर एक घरौदा-सा बना लेता है। चूने के इस घरौदे मे कीड़े बडे आराम से रहते है। कालान्तर मे इस घरौदे से अंकुर निकलते है जिनमे नये कीड़े उत्पन्न हो जाते है। जब मृत कीड़ो के ढाँचे समुद्र की पेंदी पर जमा होते जाते है और मृत जीवों का ढेर समुद्र-तल के ऊपर निकल आता है तो वह द्वीप बन जाता है। ऐसे द्वीपो को प्रवाल द्वीप कहा जाता है। लंकाद्वीप, मालद्वीप, बरमूडा द्वीप आदि इसी प्रकार के द्वीप है।

BIBLIOGRAPHY

INTRODUCTION

S. W. Woolridge and R. S. Morgan : An Outline of Geomorphology.
W. M. Smart : The Origin of the Earth.
B. Levin : The Origin of the Earth and Planets.
H. Jeffreys : The Earth.
G. Gamow : The Creation of the Universe.
T. C. Chamberlin : Origin of the Earth.
W. H. Hobbs : Earth's Evolution and its Facial Expression.
R. A. Lyttleton : The Modern Universe.
G. Gamow : Biography of Earth.
H. N. Russell : The Solar System and its Origin.
F. Hoyal : The Nature of the Universe.
Fletcher and Wolf : The Earth Science.
J. A. Steers : Unstable Earth.
O. Schimidt : A Theory of the Earth's Origin.
R. Carrington : A Guide to Earth History.
A. Bauling : The Changing Sea Level.
R. A. Daly : The Changing World of the Ice Age.
B. Gutenberg : Internal Constitution of the Earth.
J. Joly : The Surface History of the Earth.
J. W. Gregory : The Making the Earth
F. A. V. Meinesz : Gravity Expeditions at Sea.
Gilluly, Waters and Woodford : Principles of Geology.
Bowie : Isostasy.
J. Jeans : The Universe Around Us.
Parker : Element of Astronomy.
Howell : Introduction to Geophysics.

ATMOSPHERE

G. T. Trewartha : An Introduction to Weather and Climate.
T. A. Blair : Weather Elements.
A. E. M. Geddes : Meteorology.
Byres : General Meteorology.
W. G. Kendrew : Climatology.
A. Miller and Austin : Climatology.
T. A. Blair : Climatology—General and Regional.
C. E. P. Brooks : Climate Through the Ages.
Haurwitz and Austin : Climatology.
Petterssen : Introduction to Meteorology.
Petterssen : Weather Analysis and Forecasting
D. Brunt : Meteorology.
I. R. Tannehill : Hurricanes, Their Nature and History.
O. G. Sutton : Understanding Weather.
C. E. Koppe and G. C. De Long : Weather and Climate.
W. J. Humphreys : Ways of the Weather.

W. D. Thornbury : Principles of Geomorphology.
Von Engeln : Geomorphology.
W. G. Worcester : A Text Book of Geomorphology
C. A. Cotton : Geomorphology.
N. E. A. Hinds : Geomorphology.
B. W. Spark : Geomorphology.
Woolridge and Morgan : An Outline of Geomorphology.
R. D. Salisbury :
R. S. Tarr and L. Martin :
C. E. Tolman : Ground Water.
C. R. Longwell, A. Knopf and R. F Flint :
: A Text Book of Geology.
Gilluly, Waters and Woodford : Principles of Geology.
R. F. Flint : Glacial and Pleistocene Geology
W. B. Wright : The Quaternary Ice Age.
R. A. Bagnold : The Physics of Blown Sand and Desert Dunes
M. N. Hill : The Sea-Ideas and Observation, Vol. I.
D. W. Johnson : Shore Processes and Shoreline Development.
V. Cornish : Ocean Waves and Kindred Geophysical Phenomena.
A. Rittmann : Volcanoes and Their Activity.
Guilcher : Coastal and Submarine Morphology.
C. A. Cotton : Volcanoes as Landscape Forms.
J. D. Dana : Characteristics of Volcanoes.
R. A. Daly : Igneous Rocks and Their Origin.
G. W. Tyrell : Volcanoes
N. H. Heck : Ehrthquakes.
P. Byerly : Seismology.
R. A. Daly : Our Mobile Earth.
J. Milne : Eearthquakes and Other Earth Movement
H. Jeffreys : Earthquakes and Mountains.
J. Joly : Surface History of the Earth.
J. A. Steers : Unstable Earth.
B. Gutenberg : Internal Constitution of the.Earth.
Miller : The Skin of the Earth.
Gregory : Earthquakes and Volcanoes.
White : Study of the Earth-Geophysical Science.
Roderick Peattie : Mountain Geography.
J. Geikie : Mountains—Their Origin, Growth and Decay.
J. W. Gregory : Geography—Structural, Physical and Comparative.
J. E. Marr : The Scientific Study of Scenery.
Finch and Trewartha : Physical Elements of Geography.
Freeman : Essentials of Geography.
Defant : Physical Geography.
Kellaway : A Background of Physical Geography.
N. K. Horrocks : Physical Geography and Climatology.